अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे द्वादशं प्रसूनम्

आदिकविश्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिविरचितः

योगवासिष्ठः

द्वितीयो भागः

[स्थित्युपशमप्रकरणद्वयात्मकः]

श्रीमदच्युतग्रन्थमाला-विश्वनाथपुस्तकालयाध्यक्षेण साहित्याचार्य-
पण्डितश्रीश्रीकृष्णपन्तशास्त्रिणा
विरचितेन भाषानुवादेन
समलङ्कृतः

अनुवादकमहोदयेन तथा वेदान्ताचार्यपण्डितश्रीमूलशङ्करशास्त्रिणा
सम्पादितः

प्रकाशनस्थानम्—
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,
काशी ।

संवत्
२००४

प्रथमावृत्तिः १५००] [मूल्यम्

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

मुद्रक—
ह० मा० सप्रे,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस।

योगवासिष्ठके द्वितीय भागकी विषय-सूची

[स्थिति-प्रकरण १५८३–२०८६]

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय **पृष्ठ**

ॐ

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

योगवासिष्ठ

[भाषानुवादसहित]

स्थितिप्रकरणम्

प्रथमः सर्गः

अथोत्पत्तिप्रकरणादनन्तरमिदं शृणु ।
स्थितिप्रकरणं राम ज्ञातं निर्वाणकारि यत् ॥ १ ॥

पहला सर्ग

[प्रसिद्ध चित्रसे जगद्रूप चित्रकी विलक्षणतावर्णनपूर्वक सांख्य आदिके मतोंका खण्डन कर ब्रह्ममात्रताका साधन]

उत्पत्तिप्रकरणमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं) इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक सब श्रुतिवाक्योंका अद्वितीय ब्रह्ममें जगत्के अध्यारोपप्रदर्शन द्वारा तटस्थलक्षणरूपसे तात्पर्यदर्शनपूर्वक जगत् और जीवके भेदका खण्डन कर प्रत्यग्ब्रह्मैकरसताका बोध कराया । अब 'येन जातानि जीवन्ति' (उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते हैं), 'येन द्यौः पृथिवी दृढा' (जिससे द्युलोक और पृथिवी दृढ़ हैं), 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (हे गार्गि, इसी अक्षरकी आज्ञामें नियमित होकर सूर्य और चन्द्रमा अपना-अपना कार्य करते हैं), 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादेष ह्येवानन्दयाति' (यदि यह सर्वसाक्षिभूत हृदयाकाशमें स्थित बुद्धिगुहामें निहित आनन्दरूप आत्मा न होता, तो कौन निश्वासक्रिया करता और कौन उच्छ्वासक्रिया करता, यही आत्मा लोकको आनन्दित करता है) 'भीषास्माद्वातः पवते' (इसके भयसे वायु बहता है), 'एको दाधार भुवनानि विश्वा' (जो अकेले सम्पूर्ण भुवनोंको धारण करते हैं), 'य एको

एवं तावदिदं विद्धि दृश्यं जगदिति स्थितम् ।
अहं चेत्याद्यनाकारं भ्रान्तिमात्रमसन्मयम् ॥ २ ॥
अकर्तृकमरङ्गञ्च गगने चित्रमुत्थितम् ।
अद्रष्टृकं चाऽनुभवमनिद्रं स्वप्नदर्शनम् ॥ ३ ॥

जालवानीशत ईशनीभिः परमशक्तिभिः' (जो अद्वितीय मायावी ईशनीनामक परमशक्तियोंसे इन लोकोंके ऊपर शासन करता है), 'अनुज्ञाता ह्ययमात्मास्य सर्वस्य स्वात्मानं ददाति' (अनुज्ञा करनेवाला यह आत्मा इस सब जगत्को अपनी आत्मा देता है यानी अपनी सत्तासे सत्तावान् करता है) इत्यादि वर्तमान जगत्की स्थितिके निर्वाहका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंका और 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य, सृष्टिके पहले यह सत् ही था), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (यह जगत् सृष्टिके पूर्वमें अद्वितीय आत्मा ही था) इत्यादि प्रलयकालमें जगत्की सत्ताके निर्वाहका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंका भी पुरुषोंकी बुद्धिकी विचित्रतासे उत्पन्न हुए विविध तात्पर्योंके उत्प्रेक्षणसे युक्त भ्रान्तिजनित वैचित्र्यके निरास द्वारा सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्ममें सच्चिद्रूपताके उपपादन द्वारा और तटस्थलक्षणके तात्पर्यके प्रदर्शन द्वारा विस्तारपूर्वक उपपादित ब्रह्मैक्यज्ञानको स्थिर करनेके लिए स्थिति-प्रकरणका आरम्भ करते हुए भगवान् श्रीवसिष्ठजी उत्पत्तिप्रकरणके साथ स्थिति-प्रकरणकी संगति दर्शाते हुए कहते हैं—**'अथ'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उत्पत्तिप्रकरणके बाद आप इस स्थितिप्रकरणको सुनिये । उत्पत्ति स्थितिमें हेतु है, इसलिए इन दोनों प्रकरणोंकी हेतुहेतुमद्भाव संगति है । एककार्यत्वरूप संगति भी दोनोंकी है, ऐसा कहते हैं— **'ज्ञातम्'** से । जो स्थितिप्रकरण ज्ञात होनेपर निर्वाणपद (मुक्ति) देता है ॥१॥

जगदुत्पत्तिमें मिथ्यात्व दर्शानेके लिए पहले जो युक्तियां दिखलाई हैं, वे स्थितिप्रकरणमें समान हैं, ऐसा अतिदेशसे दर्शाते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जगत्रूपसे स्थित इस सम्पूर्ण दृश्यको और अहम्को आप आकाररहित भ्रान्तिमात्र और असन्मय जानिये ॥ २ ॥

साधारण अन्य चित्रका कोई कर्ता होता है, वह रंग आदि उपकरणोंसे बनता है, भीत आदि आधारमें बनाया जाता है, पर यह जगद्रूप चित्र अन्य चित्रोंसे विलक्षण है । न तो इसका कूँची, रंग आदि उपकरणोंसे युक्त कोई चितेरा है,

भविष्यत्पुरनिर्माणं चित्तसंस्थमिवोदितम् ।
मर्कटानलतापान्तमसदेवाऽर्थसाधकम् ॥ ४ ॥
ब्रह्मण्यनन्यदन्याभमम्भ्वावर्तवदास्थितम् ।
सद्रूपमपि निःशून्यं तेजः सौरमिवाऽम्बरे ॥ ५ ॥
रत्नाभापुञ्जमिव खे दृश्यमानमभित्तिमत् ।
गन्धर्वाणां पुरमिव दृश्यं नित्यमभित्तिमत् ॥ ६ ॥
मृगतृष्णाम्भिवाऽसत्यं सत्यवत् प्रत्ययप्रदम् ।
सङ्कल्पपुरवत्प्रौढमनुभूतमसन्मयम् ॥ ७ ॥
कथार्थप्रतिभानात्म न क्वचित् स्थितमस्थितम् ।
निःसारमप्यतीवाऽन्तःसारं स्वप्नाचलोपमम् ॥ ८ ॥

न उपादानभूत रञ्जक पदार्थ हैं, न कोई आधार है, यह चित्र आकाशमें उदित हुआ है। जिसका अनुभव होता है, वह चित्र अपनेसे भिन्न द्रष्टाके रहनेपर ही अनुभूत होता है। इससे अतिरिक्त कोई द्रष्टा नहीं है, इसलिए जगत्‌रूप चित्र द्रष्टारहित अनुभवरूप है। निद्रा होनेपर ही स्वप्न दिखाई देता है, पर यह जगद्रूप चित्र निद्रारहित स्वप्नदर्शन है ॥ ३ ॥

चित्तमें स्थित भावी नगरके निर्माणकी तरह यह उदित हुआ है। बन्दरों द्वारा शीतकी निवृत्तिके लिए कल्पित गुञ्जाफल और गेरू आदिके कंकरोंके संचयरूप अग्निके तापके तुल्य असद् होता हुआ भी कार्यकारी है। उससे भी बन्दरोंकी शीतनिवृत्ति होती है, यह ऐतिह्य प्रमाणसे सिद्ध है। इस आशयसे असद् होता हुआ भी कार्यकारी है, यह कहा ॥ ४ ॥

यह जगद्रूप चित्र ब्रह्मसे अभिन्न है फिर भी जलमें आवर्तके तुल्य ब्रह्ममें अन्य-सा स्थित है। यह जगद्रूप चित्र सद्रूप होता हुआ भी आकाशमें सूर्यके प्रकाशके समान सर्वथा शून्य है ॥ ५ ॥

आकाशमें दिखाई दे रहे रत्नोंकी कान्तिके समूहके तुल्य यह भित्तिरहित है। गन्धर्वोंके नगरके समान दिखाई देता हुआ भी सदा आधाररहित है ॥ ६ ॥

मृगतृष्णाके जलके समान असत्य है; परन्तु सत्यके समान प्रतीति कराता है। मनोरथकल्पित नगरके समान विस्तृत है। खूब अच्छी तरह अनुभवमें आता है, किन्तु है असन्मय ॥ ७ ॥

कवियों द्वारा कल्पित कथाके पदार्थभूत नगर, पर्वत आदि अवयवोंकी

भूताकाशमिवाऽऽकारभासुरं शून्यमात्रकम् ।
शरदभ्रमिवाऽग्रस्थमलमक्षयमक्षतम् ॥ ९ ॥
वर्णो व्योमतलस्येव दृश्यमानमवस्तुकम् ।
स्वप्नाङ्गनारताकारमर्थनिष्ठमनर्थकम् ॥ १० ॥
चित्रोद्यानमिवोत्फुल्लमरसं सरसाकृति ।
प्रकाशमपि निस्तेजश्चित्रार्कानलवत्स्थितम् ॥ ११ ॥
अनुभूतं मनोराज्यमिवाऽसत्यमवास्तवम् ।
चित्रपद्माकर इव सारसौगन्ध्यवर्जितम् ॥ १२ ॥
शून्ये प्रकचितं नानावर्णमाकारितात्मकम् ।
अपिण्डग्रहमाशून्यमिन्द्रचापमिवोत्थितम् ॥ १३ ॥

प्रतीतिके समान इसका स्वरूप है, यह किसी देश या कालमें स्थित नहीं रहता, इसलिए असत् है। यह स्वप्नमें देखे गये पर्वतके तुल्य सारहीन होता हुआ भी अत्यन्त दृढ़ है ॥ ८ ॥

यह जगद्रूप चित्र उलटकर रक्खे हुए इन्द्रनील मणिके बड़े भारी कड़ाहके तुल्य देदीप्यमान भूताकाशके सदृश शून्यरूप है। शरत्कालके मेघके तुल्य जबतक सामने रहता है तभीतक धूपके निवारण आदिमें समर्थ, काटनेके अयोग्य और अविच्छिन्न है ॥ ९ ॥

यह जगद्रूपी चित्र आकाशतलकी नीलिमाके समान दिखाई देता हुआ भी वास्तविक नहीं है। स्वप्नाङ्गनाके रतके तुल्य भोगरूप अर्थक्रियाकारी होता हुआ भी असत्य है ॥ १० ॥

चित्रलिखित उद्यानके समान यह जगद्रूपी चित्र मकरन्द आदिसे रहित होता हुआ भी सरस प्रतीत होता है। चित्रलिखित तेजरहित सूर्य और वह्निके तुल्य प्रकाशमान स्थित है ॥ ११ ॥

अनुभवमें आरूढ़ मनोराज्यके समान यह स्वतः असत्य है और फलतः भी अवास्तविक है। चित्रलिखित कमलोंसे पूर्ण तालाबके समान मकरन्द, पराग और सुगन्धिसे रहित है। आकाशमें स्फुरित हुए विविध वर्णोंसे युक्त, कल्पित आकारवाले, मूर्तिसे रहित, चारों ओरसे शून्य इन्द्रधनुषके समान यह जगद्रूप चित्र उदित हुआ है ॥ १२–१३ ॥

परामर्शेन शुष्यद्भिर्भूतपेलवपल्लवैः ।
कृतं जडमसारात्म कदलीस्तम्भभासुरम् ॥ १४ ॥
स्फुरितेक्षणदृष्टान्धकारचक्रकवर्तनम् ।
अत्यन्तमभवद्रूपमपि प्रत्यक्षवत् स्थितम् ॥ १५ ॥
वार्बुद्बुदमिवाऽभोगि शून्यमन्तः स्फुरद्वपुः ।
रसात्मकं चाऽप्यरसमविच्छिन्नक्षयोदयम् ॥ १६ ॥
नीहार इव विस्तारि गृहीतं सन्न किञ्चन ।
जडशून्यास्पदं शून्यं केषाञ्चित् परमाणुवत् ॥ १७ ॥
किञ्चिद्भूतमयोऽस्मीति स्थितं शून्यमभूतकम् ।
गृह्यमाणोऽप्यसद्रूपो निशाचर इवाऽस्थितम् ॥ १८ ॥

परमात्माके थोड़ेसे विचारसे सूख रहा महाभूतरूपी कोमलपल्लवोंसे बनाया गया, जड़, सारहीन यह जगद्रूपी चित्र वायु, सूर्य और मनुष्योंके थोड़ेसे आघातसे सूख रहे कोमल पत्तोंसे रचित्त जलमय निःसार केलेके खम्भेके तुल्य है ॥ १४ ॥

नेत्ररोगसे (रतौंधीसे) देखे गये अन्धकारके चक्रके तुल्य जिसका रूप अत्यन्त असम्भावित है, ऐसा यह जगद्रूपी चित्र प्रत्यक्षके तुल्य स्थित है। जलके बुद्बुदोंके समान इसने अपने आकारकी कल्पना कर रक्खी है। भीतरमें यह शून्य है। इसका स्वरूप देदीप्यमान है। आपाततः रमणीय होता हुआ भी परिणाममें अत्यन्त कटु है। इसके जन्म और मरण अविच्छिन्न हैं ॥ १५,१६ ॥

कुहरेके समान यह विस्तार युक्त है और गृहीत होनेपर कुछ भी नहीं है। सांख्यवादियोंने केवल जड़रूपसे इसकी कल्पना कर रक्खी है। वेदान्तियोंने इसको अविद्यारूप माना है। माध्यमिक इसे शून्य मानते हैं। योगाचार क्षणिक होनेके कारण कालतः इसे परमाणुतुल्य मानते हैं। सौत्रान्तिक और वैभाषिकोंके मतमें कालतः और देशतः परमाणुतुल्य है। वैशेषिक और नैयायिक इसको केवल देशतः ही परमाणुवत् मानते हैं और जैनियोंने इसे अनियतस्वभाव परमाणुके तुल्य माना है। इस प्रकार वादियोंने इसकी विविधरूपसे कल्पना कर रक्खी है ॥१७॥

बाह्य जगत्में उक्त न्यायको आध्यात्मिक जगत्में भी दिखाते हुए कहते हैं—**'किञ्चित्'** इत्यादिसे।

मैं किंचित् भूतमय हूँ, इस प्रकार शून्य और अभौतिकरूपसे स्थित, ग्रहण

श्रीराम उवाच

महाकल्पक्षये दृश्यमास्ते बीज इवाऽङ्कुरः ।
परे भूय उदेत्येतत्तत एवेति किं वद ॥ १९ ॥
एवंबोधाः किमज्ञाः स्युरुत ज्ञा इति च स्फुटम् ।
यथावद् भगवन् ब्रूहि सर्वसंशयशान्तये ॥ २० ॥

वसिष्ठ उवाच

इदं बीजेऽङ्कुर इव दृश्यमास्ते महाशये ।
ब्रूते य एवमज्ञत्वमेतत्तस्याऽस्ति शैशवम् ॥ २१ ॥
शृण्वेतत् किमसम्बन्धं कथमेतदवास्तवम् ।
विपरीतो बोध एष वक्तुः श्रोतुश्च मोहकृत् ॥ २२ ॥

किया जाता हुआ भी असद् निशाचरके तुल्य यह जगद्रूप चित्र स्थित नहीं है ॥१८॥

यदि ऐसा है, तो जगत् स्वतः तो सत्ताशून्य है, ब्रह्मसत्तासे जगत्का कोई स्पर्श नहीं है, ऐसी अवस्थामें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सत्कार्यवादी श्रुतियोंका और उक्त श्रुतियोंके अनुसारी व्यास, कपिल आदिके सूत्रोंका सामाञ्जस्य कैसे होगा ? ऐसा समझते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'महाकल्प०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, बीजमें अङ्कुरके समान महाप्रलय होनेपर दृश्य परमें रहता है, फिर उसीसे यह उत्पन्न होता है, इस प्रकार जो व्यास आदिने कहा है, उसकी संगति कैसे होगी, यह आप कृपाकर मुझसे कहिये ॥ १९ ॥

भगवन्, प्रलयमें अपनी सत्तासे कारणमें जगत् है, इस प्रकारके बोधवाले कपिल आदि क्या अज्ञानी हैं अथवा ज्ञानी हैं ? यह बात मुझसे स्पष्टरूपसे सब संशयोंकी शान्तिके लिए यथायोग्य कहिये ॥ २० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, महाप्रलयमें बीजमें अङ्कुरके तुल्य यह दृश्य रहता है ऐसी अज्ञानभरी बात जो कहता है, उसका यह जगत्की सत्यतामें दृढ़ विश्वासरूप बालकपन ही है ॥ २१ ॥

आगे कही जानेवाली मेरी युक्तियोंको सुनिये । उत्पत्तिके पहले कारणमें कार्य है जो ऐसा कहता है, उससे पूछना चाहिये कि वह सामान्य सत्तासे है अथवा बीजादिकी सत्तासे है या अङ्कुरादिकी सत्तासे है ? प्रथम पक्षमें उस अङ्कुरादिका किससे सम्बन्ध नहीं होगा । यानी सामान्यसत्ता सर्ववस्तुसाधारण है,

बीजे किलाऽङ्कुर इव जगदास्त इतीह या ।
बुद्धिः सा सत्प्रलापार्थं मूढा शृणु कथं किल॥ २३ ॥
बीजं भवेत् स्वयं दृश्यं चित्तादीन्द्रियगोचरम् ।
यवधानादि धान्यानि (देः ?) युक्तस्तत्राऽङ्कुरोद्भवः ॥ २४ ॥
मनःषष्ठेन्द्रियातीतं यत् स्यादतितरामणु ।
बीजं तद् भवितुं शक्तं स्वयंभूर्जगतां कथम् ॥ २५ ॥

इसलिए उत्पन्न होनेवाले अङ्कुर आदिका सब वस्तुओंसे सम्बन्ध प्राप्त हो जायगा । यदि कहो, हो, हमें दृष्टापत्ति है, तो खेतमें अथवा अङ्कुरित बीजमें देखा गया ही अङ्कुरादि वास्तविक है और कोठिलामें रक्खे गये बीजमें अथवा पत्थरके टुकड़ेमें यह अवास्तविक है, यह कैसे होगा ? दूसरे पक्षमें भी बीजसत्तासे अङ्कुरसम्बन्धका और घट, पटादिके सम्बन्धका स्वरूपतः वैलक्षण्यनिरूपण न होनेसे जिसके साथ बीजका सम्बन्ध न हो, ऐसी कौन वस्तु होगी यानी धान आदिके बीजमें सम्पूर्ण जगत्‌की सत्ता प्राप्त होगी । यदि कहिये, इष्टापत्ति है, तो अंकुरित बीजमें अंकुर आदि ही वास्तविक हैं घट, पट आदि वास्तविक नहीं हैं, यह कैसे होगा ? तीसरे पक्षमें अंकुरकी स्वरूपसत्तासे बीजसम्बन्धका और घट आदिके सम्बन्धका भेदनिरूपण न होनेसे जिसके साथ अंकुरसत्ताका सम्बन्ध न हो, ऐसी कौन वस्तु होगी अर्थात् सर्वत्र अंकुरके सद्भावका प्रसंग होगा, यदि इष्टापत्ति मानिये, तो बीज आदिमें अंकुर आदि वास्तविक हैं अन्यत्र नहीं हैं, यह कैसे होगा ? दूसरी बात यह भी है कि साधारण सत्तासे असाधारण अङ्कुर आदि है, कारणसत्तासे कार्य है और कार्यसत्तासे कारण है—इन तीनों पक्षोंमें भी पूर्वोक्त उक्तिका सम्भव नहीं घटता, इसलिए यह बोध विपरीत ही है । यह श्रोता और वक्ता दोनोंको मोहमें डालनेवाला है ॥२२॥

बीजमें अङ्कुरके समान प्रलयमें जगत् है, यह दृष्टान्त विषम है; क्योंकि कूटस्थ चिदेकरस आत्मामें बीजत्वका ही सम्भव नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'बीज०'** इत्यादिसे ।

बीजमें अङ्कुरके तुल्य प्रलयमें जगत् है, इस प्रकारकी प्रलयमें जगत्सत्ताका दृष्टान्त देनेके लिए जो बुद्धि है, वह भ्रान्ति है । कैसे भ्रान्ति है ? यह यदि कहिये, तो सुनिये ॥ २३ ॥

स्वयं दृश्य बीज चित्तादि इन्द्रियोंका गोचर है, इसलिए तुषसहित यवादि धान्योंमें अङ्कुर आदिकी उत्पत्ति उचित है । जो स्वयम्भू पदार्थ पाँच इन्द्रियों

आकाशादपि सूक्ष्मस्य परस्य परमात्मनः ।
सर्वाख्यानुपलम्भस्य कीदृशी बीजता कथम् ॥ २६ ॥
तत्सूक्ष्ममसदाभासमसदेव ह्यतादृशम् ।
कीदृशी बीजता तत्र बीजाभावे कुतोऽङ्कुरः ॥ २७ ॥
गगनाङ्गादपि स्वच्छे शून्ये तत्र परे पदे ।
कथं सन्ति जगन्मेरुसमुद्रगगनादयः ॥ २८ ॥
न किञ्चिद्यत्कथं किञ्चित्तत्राऽऽस्ते वस्तु वस्तुनि ।
अस्ति चेत्तत् कथं तत्र विद्यमानं न दृश्यते ॥ २९ ॥
न किञ्चिदात्मना किञ्चित् कथमेति कुतोऽथवा ।
शून्यरूपाद् घटाकाशाज्जातोऽद्रिः क कुतः कदा ॥ ३० ॥

और छठे मनका अगोचर है और अत्यन्त अणु है, वह जगतोंका बीज होनेमें कैसे समर्थ हो सकता है। भाव यह है कि जिसमें बीजत्व ही दुर्घट हो, उसमें जगत्‌की स्वसत्तासे स्थिति तो बहुत दूरकी बात ठहरी ॥ २४, २५ ॥

आकाशसे भी सूक्ष्म सम्पूर्ण नामोंसे रहित परमात्मामें बीजता कैसी और कैसे हो सकती है ? ॥ २६ ॥

इस प्रकार तत्त्वदृष्टिसे बीजत्वका परमात्मामें असम्भव कहकर अज्ञानियोंकी दृष्टिसे भी परमात्मामें बीजत्वका असम्भव कहते हैं—**'तत्'** इत्यादिसे ।

वस्तुतः सदेकरस भी वह सूक्ष्म होनेके कारण नहीं दिखाई देनेसे असत्‌के तुल्य प्रतीत होता है, इसलिए असत् ही है। इस प्रकारके परमात्मामें बीजता कैसे और बीजके अभावमें जगदङ्कुरकी उत्पत्ति कैसे ? आकाशकी अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म शून्य उस परम पदमें जगत, मेरु, समुद्र, आकाश आदि कैसे स्थित हैं ? ॥ २७, २८ ॥

जो वस्तु कुछ भी नहीं है, उस वस्तुमें कुछ भी कैसे रह सकता है। यदि है, तो वहांपर रहती हुई वह क्यों नहीं दिखाई देती। 'अथात आदेशो नेति नेति' इस श्रुतिसे सबके निषेधस्वरूप आत्मासे क्या वस्तु, कैसे और कहांसे उत्पन्न होगी ? शून्यरूप घटाकाशसे कहां, कैसे और कब पर्वत उत्पन्न हुआ यानी शून्यरूप घटाकाशसे जैसे पर्वतका उत्पन्न होना असम्भव है वैसे ही सर्वनिषेधस्वरूप परमात्मासे इसकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं है ॥ २९,३० ॥

प्रतिपक्षे कथं किञ्चिदास्ते च्छायाऽऽतपे यथा ।
कथमास्ते तमो भानौ कथमास्ते हिमोऽनले ॥ ३१ ॥
मेरुरास्ते कथमणौ कुतः किञ्चिदनाकृतौ ।
तदतद्रूपयोरैक्यं क्व च्छायातपयोरिव ॥ ३२ ॥
साकारवटधानादावङ्कुराः सन्ति युक्तिमत् ।
नाकारे तन्महाकारं जगदस्तीत्ययुक्तिकम् ॥ ३३ ॥
देशान्तरे यच्च नरान्तरे च बुद्ध्यादिसर्वेन्द्रियशक्तिदृश्यम् ।
नाऽस्त्येव तत्तद्विधबुद्धिबोधे न किञ्चिदित्येव तदुच्यते च ॥ ३४ ॥

चिदेकरससत्ता जड़ अनेकरससत्ताकी विरोधिनी है, इसलिए भी चिदेकरस-सत्तामें जगत्सत्ताकी सम्भावना नहीं की जा सकती, ऐसा कहते हैं— **'प्रतिपक्षे'** इत्यादिसे ।

जैसे धूपमें छाया नहीं रह सकती, जैसे सूर्यमें अन्धकार नहीं रह सकता और जैसे अग्निमें हिम नहीं रह सकता वैसे ही अपने विरोधी चिदेकरससत्तामें जगत्की सत्ता कैसे रह सकती है ? यानी नहीं रह सकता है ॥ ३१ ॥

अणुमें मेरु कैसे रह सकता है ? निराकार परमात्मामें यह जगत् कैसे स्थित हो सकता है ?

भले ही भेदसे परमात्मामें जगत्की स्थिति न हो, उसके साथ अभेदसे तो उसकी स्थिति होगी ही, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं— **'तदतद्रूपयोः'** इत्यादिसे ।

छाया और आतपके तुल्य परस्पर भिन्नरूपोंकी एकता कहां हो सकती है ? ॥३२॥

साकार वटबीज आदिमें अङ्कुर हैं, यह बात तो युक्तियुक्त है । लेकिन आकार-रहित परमात्मामें यह विशालकाय जगत् है, यह कहना तो अनहोनी बात है ॥३३॥

यहाँपर यह विचार करना चाहिये कि सांख्यवादियोंने कारणमें जगत्की सत्ताकी जो कल्पना कर रक्खी है, वह क्या लौकिक प्रमाणके बलसे कर रक्खी है अथवा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुतिके बलसे कर रक्खी है ? पहला पक्ष ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं— **'देशान्तरे'** इत्यादिसे ।

जो बुद्धि आदि सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी शक्तिसे दृश्य यानी अनुभवके योग्य घट, पट आदि हैं, वे अपने अधिकरणदेशसे अन्य देशमें या अपने अधिकरणकालसे अतिरिक्त कालमें स्वयं द्रष्टा रहने या अन्य पुरुषके द्रष्टा रहने और न रहनेपर तत्-तत्

कार्यस्य तत्कारणतां प्रयातं वक्तीति यस्तस्य विमूढबोधः ।
कैर्नाम तत्कार्यमुदेति तस्मात् स्वैः कारणाद्यैः सहकारिरूपैः ॥ ३५ ॥
दुर्बुद्धिभिः कारणकार्यभावं सङ्कल्पितं दूरतरे व्युदस्य ।
तदेव तत्सत्यमनादिमध्यं जगत्तदेतत्स्थितमित्यवेहि ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे स्थितिप्रकरणे जन्यजनि-
निराकरणं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

प्रकारके प्रत्यक्ष, अनुमान आदि बुद्धिवृत्तिरूप बोधमें नहीं हैं यानी भासित नहीं होते हैं। अतः उक्त दृश्यके अदर्शन आदिके योग्य अनुपलब्धिसे कुछ भी नहीं हैं यानी असत् ही हैं, ऐसा सब लौकिक प्रामाणिक कहते हैं, इसलिए प्रलयमें जगत्के सद्भावकी कल्पना सब लौकिकोंकी अनुपलब्धिसे विरुद्ध है, यह भाव है ॥ ३४ ॥

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'कार्यस्य'** इत्यादिसे ।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियोंमें कार्य और कारणकी दो सत्ताएँ प्रतीत नहीं होतीं। यदि कार्य और कारणकी पृथक् पृथक् सत्ता मानी जाय, तो 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुतिवाक्यसे विरोध होगा। यहाँपर यह विचार करना चाहिये कि क्या कार्य ही सत् है, कार्यकी सत्ता ही कारणतामें आरोपित है, ऐसा श्रुति कहती है या कारण ही सत् है, कारणकी सत्ता ही कार्यमें आरोपित है, ऐसा श्रुति कहती है, अथवा सत् ही सत् है, सत्की सत्ता ही कार्य और कारण दोनोंमें आरोपित है, ऐसा श्रुति कहती है ? तीन पक्षोंमें सांख्यका बोध यदि प्रथम पक्षके अनुसारी हो, तो वह भ्रम ही है, क्योंकि उस पक्षमें 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि कार्यको असत् कहनेवाली श्रुति अनुकूल नहीं है और कारणको असत् कहनेसे अपने सिद्धान्तका भी बाध होता है, ऐसा कहते हैं— **'कैर्नाम'** इत्यादिसे ।

कारणके गुणोंके असत्य होनेसे वह महदादि कार्य किन कारणोंसे उत्पन्न होगा। जब कारण ही नहीं है तब कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता। अतएव कारण ही सत् है कारणकी सत्ता ही कार्यमें आरोपित है, यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यके अभावमें तद्घटित तत्-तत् कारणताका निरूपण नहीं हो सकता। अतः परिशेषात् तीसरा ही कल्प उचित है और युक्तियुक्त भी है, ऐसा उत्तर श्लोकसे कहते हैं ॥ ३५ ॥

इसलिए यानी कार्य और कारणके भेदकी सत्यता श्रुतिसम्मत नहीं है, अतः

द्वितीयः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथैतदभ्युपगमे वच्मि वेद्यविदां वर ।
समस्तकलनातीते महाचिद्व्योम्नि निर्मले ॥ १ ॥
जगदाद्यङ्कुरस्तत्र यद्यस्ति तदसौ तदा ।
कैरिवोदेति कथय कारणैः सहकारिभिः ॥ २ ॥
सहकारिकारणानामभावे त्वङ्कुरोद्गतिः ।
बन्ध्याकन्येव दृष्टेह न कदाचन केनचित् ॥ ३ ॥

सांख्यवादियों द्वारा कल्पित कार्यकारणभावको उनके सहकारी कारण, निमित्त, प्रयोजन आदि भेदोंके साथ दूर करके (ये असत् हैं यों खण्डन करके) जो कुछ अवशिष्ट आदि, मध्य और अन्तसे रहित सन्मात्र वस्तु है, वही जगद्रूपसे अवस्थित है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, ऐसा जानिये ॥ ३६ ॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

[युक्तियोंसे स्वरूपभेदवश जगत्की स्थितिका खण्डन करके अवशिष्ट पूर्णानन्दस्वरूप सन्मात्रकी स्थितिका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी, प्रलयकालमें इसजगतका पृथक् अस्तित्व माननेमें दोषोंको कहता हूँ ।

यदि कोई शङ्का करे कि यदि प्रलयमें जगत् नहीं है, तो सृष्टि ही सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उत्पत्ति क्रिया किसी कर्तासे होती है । कर्ताके न रहनेपर वह सिद्ध नहीं हो सकती । और उत्पद्यमानसे अतिरिक्त कोई कर्ता भी नहीं है । यदि कहिये ब्रह्म ही सत् होनेसे कर्ता है, तो वही उत्पन्न होगा न कि जगत् उत्पन्न होगा । कूटस्थ ब्रह्मका उत्पत्ति आदि विकारोंसे सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसलिए उत्पत्तिकी सिद्धिके लिए प्रलयमें जगत्की सत्ता अवश्य माननी चाहिये, इस आशंकाका अनुवाद कर खण्डन करते हैं—**'समस्त०'** इत्यादिसे ।

सब कल्पनाओंसे रहित निर्मल महाचिदाकाशमें यदि जगदादि अङ्कुर है, तो प्रलयके अनन्तर किन सहकारी कारणोंसे वह उदित होता है, उन्हें आप

सहकारिकारणानामभावे यद्यवोदितम् ।
मूलकारणमेवाऽङ्ग तत्स्वभावस्थितिं गतम् ॥ ४ ॥
सर्गादौ सर्गरूपेण ब्रह्मैवाऽऽत्मनि तिष्ठति ।
यथास्थितमनाकारं क्व जन्यजनकक्रमः ॥ ५ ॥
अथ पृथ्व्यादयोऽन्ये वा केचिदत्रोपकुर्वते ।
सहकारिकारणत्वं तत्पूर्वं चाऽत्र दूषणम् ॥ ६ ॥
तस्मात् पदे जगच्छान्तमास्ते तत्सहकारिभिः ।
चित्तात् प्रसरतीत्युक्तिर्बालस्य न विपश्चितः ॥ ७ ॥

कहिये। सहकारी कारणोंके अभावमें जगद्रूप अङ्कुरकी उत्पत्ति बन्ध्याकी कन्याके समान किसीने कहींपर नहीं देखी है ॥ १—३ ॥

यदि सहकारी कारणोंके अभावमें भी रज्जुमें सर्पादिके समान जगद्रूपी अङ्कुर आविर्भूत हुआ है, ऐसा मानते हैं, तो हे श्रीरामचन्द्रजी, मूलकारण ही भ्रान्तिवश जगत्स्वभावताको प्राप्त हुआ है, वस्तुतः जगत्की सृष्टि नहीं हुई है; इसलिए प्रलयमें जगत्की कल्पना व्यर्थ है ॥ ४ ॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं—'**सर्गादौ**' इत्यादिसे।

सृष्टिके आरम्भमें सृष्टिरूपसे यथास्थित निराकार ब्रह्म ही अपने स्वरूपमें स्थित होता है, इसलिए जन्यजनकसम्बन्ध कहाँ ? ॥ ५ ॥

यदि कोई कहे, प्रलयमें सम्पूर्ण जगत्की सत्ताका स्वीकार करनेसे सहकारी कारणोंकी दुर्लभता नहीं है, क्योंकि जगत्के अन्तर्गत पृथिवी आदिसे परस्परका उपकार हो सकता है, इस शङ्काका खण्डन करते हैं—'**अथ**' इत्यादिसे।

यदि पृथिवी आदि अथवा अन्य कोई जगत्की उत्पत्तिमें उपकार करते हैं, तो पृथिवी आदिकी सहकारिकारणता पृथिवी आदिकी उत्पत्तिके बाद होगी, ऐसी अवस्थामें पृथिवी आदिकी उत्पत्तिकी सिद्धि होनेपर उनकी सहकारिताकी सिद्धि होगी और सहकारिताकी सिद्धि होनेपर उत्पत्तिकी सिद्धि होगी, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष यहाँपर उपस्थित है ॥ ६ ॥

इस प्रकार सांख्य आदिकी कल्पना बालककी कल्पनाके तुल्य है, यों उपसंहार करते हैं—'**तस्मात्**' इत्यादिसे।

इसलिए प्रलयकालमें प्रकृतिसहित पुरुषमें जगत् तिरोहित रहता है और सहकारी

तस्माद् राम जगन्नासीन्न चाऽस्ति न भविष्यति ।
चेतनाकाशमेवाऽऽशु कचतीत्थमिवाऽऽत्मनि ॥ ८ ॥
अत्यन्ताभाव एवाऽस्य जगतो विद्यते यदा ।
तदा ब्रह्मेदमखिलमिति तद् राम नाऽन्यथा ॥ ९ ॥
पूर्वं प्रध्वंसनान्योन्याभावैर्यदुपशाम्यति ।
न शाम्यत्येव तच्चित्ते शाम्यत्येव तु दृश्यते ॥ १० ॥
अत्यन्ताभाव एवाऽस्य भावैर्यदुपशाम्यति ।
न शाम्यत्येव सच्चित्ते क्व शाम्यत्येव दृश्यता ॥ ११ ॥

कारणों द्वारा वह चित्तसे आविर्भूत होता है, यह उक्ति बालककी ही है, विद्वान्‌की नहीं है ॥ ७ ॥

अन्य मतके खण्डित होनेपर अब अवशिष्ट अपने सिद्धान्तको दिखलाते हैं— **'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत् न तो था, न है और न होगा । चिदाकाश ही शीघ्र अपनेमें इस प्रकार स्फुरित हुआ है ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जब इस जगत्‌का अत्यन्ताभाव ही है तब सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यही श्रुतिका तात्पर्य है ॥ ९ ॥

श्रुतिके निषेधसे पहले जगत्‌के घट, पट आदि मुद्गरप्रहार आदिसे नाश द्वारा और अन्य वस्तुके रूपसे अन्योन्याभाव द्वारा जो शान्त होते हैं यानी 'यह इस समय नष्ट हो गया 'घट, पटादि यह नहीं है' इस प्रकार ग्रहण किये जा रहे अभावको प्राप्त होते हैं, वे शान्त नहीं होते यानी वह उपशम नहीं है; किन्तु तिरोहित होनेसे चक्षु आदि द्वारा दृश्यताका उपरममात्र है, क्योंकि चित्तमें वासनारूपसे वे शान्त नहीं ही होते । इसी न्यायको प्रागभाव और अत्यन्ताभावमें भी लगाना चाहिये । अपनी सत्तासे अथवा ब्रह्मसत्तासे सत् घट आदिकी बाधके बिना कहींपर भी असत्ता नहीं होती, क्योंकि मृत्पिण्ड, भूतल आदिमें घटके अदर्शनकी तिरोधानसे भी उपपत्ति हो सकती है ॥ १० ॥

जब दृश्य काम, कर्म, वासना आदि बीजोंके साथ नष्ट हो जाता है तब इस जगत्‌का आत्यन्तिक उच्छेद होता है । चित्त यदि रहे तो काम आदि भावनाओंका उच्छेद न हो सकनेके कारण दृश्य शान्त नहीं ही होता, इसलिए ज्ञानके बिना

अत्यन्ताभाव एवाऽतो जगद्दृश्यस्य सर्वथा ।
वर्जयित्वेतरा युक्तिर्नास्त्येवाऽनर्थसंक्षये ॥ १२ ॥
चिदाकाशस्य बोधोऽयं जगद् भातीति यत्स्थितम् ।
अयं सोऽहमिदं नाऽहं लोके चित्रकथा यथा ॥ १३ ॥
इदमन्द्रयादि पृथ्व्यादि तथेदं वत्सरादि च ।
अयं कल्पः क्षणश्चाऽयमिमे मरणजन्मनी ॥ १४ ॥
अयं कल्पान्तसंरम्भो महाकल्पान्त एष सः ।
अयं स सर्गप्रारम्भो भाव्यभावक्रमस्त्वसौ ॥ १५ ॥
लक्ष्माणीमानि कल्पानामिमा ब्रह्माण्डकोटयः ।
एते चेमे परिगता इमे भूय उपागताः ॥ १६ ॥

दृश्यता कहाँ शान्त हो सकती है ? अर्थात् दृश्यकी शान्ति दुर्लभ ही है ॥११॥

दृश्यके उपशममें अधिष्ठानसाक्षात्कारसे दृश्यका सर्वथा बाध होना ही एकमात्र युक्ति है। इसके सिवा दूसरी युक्ति दृश्यरूप अनर्थके क्षयमें यानी मोक्षमें नहीं ही है ॥ १२ ॥

जब जगत्के तत्त्वके साक्षात्कारसे चिदाकाशका बोध हो जाता है यानी बोधैकरस चिदात्मा ही है, अणुमात्र भी अचिद्रूप नहीं है, ऐसा परिनिष्ठित ज्ञान हो जाता है तब (देवदत्त नामक) विशिष्ट माता-पितासे उत्पन्न प्रत्यभिज्ञाय-मान देह ही मैं हूँ, परकीय देह, भित्ति आदि मैं नहीं हूँ, इस प्रकार लोकमें प्रसिद्ध पामर जनोंका व्यवहार चित्रकथाके तुल्य हो जाता है। अर्थात् जैसे भित्तिमें लिखा गया चित्र सभीकी दृष्टिमें परमार्थरूपसे एकमात्र भित्तिरूप ही है तथापि चित्रगृहकी भित्तिमें यह भित्ति है, ऐसा व्यवहार होता है, किन्तु चित्रभूत मनुष्य, गज आदिमें यह व्यवहार नहीं होता वैसे ही यह पूर्वोक्त व्यवहार है ॥१३॥

पृथिवी आदिमें भी चित्रकथान्यायको ही दर्शाते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे।

ये पर्वत आदि, ये पृथिवी आदि, ये वर्ष आदि, यह कल्प, यह क्षण, ये जन्म मरण, यह प्रलयका आडम्बर, यह महाकल्पान्त, यह सृष्टिका आरम्भ, यह श्रुति, पुराण आदिमें प्रसिद्ध स्रष्टव्य आकाश आदिका सृष्टिक्रम, ये कल्पोंके लक्षण, ये वर्तमान करोड़ों ब्रह्माण्ड, ये अतीत करोड़ों ब्रह्माण्ड, ये पुनः उत्पन्न हुए करोड़ों ब्रह्माण्ड, ये चौदह प्रकारसे भिन्न देव, मनुष्य आदिके भिन्न भिन्न लोक, ये सप्तद्वीप आदि देशोंकी तथा कृत, त्रेता, द्वापर आदि कालोंकी कल्पनाएँ अनन्त अनावृत महा-

इमानि धिष्ण्यजालानि देशकालकला इमाः ।
महाचित्परमाकाशमनावृतमनन्तकम् ॥ १७ ॥
यथापूर्वं स्थितं शान्तमित्येवं कचति स्वयम् ।
परमाणुसहस्रांशुभास एता महाचितेः ॥ १८ ॥
स्वयमन्तश्चमत्कारो यः समुद्गीर्यते चिता ।
तत्सर्गभानं भातीदमरूपं न तु भित्तिमत् ॥ १९ ॥
नोद्यन्ति न च नश्यन्ति नाऽऽयान्ति न च यान्ति च ।
महाशिलासु लेखानां सन्निवेशा इवाऽचलाः ॥ २० ॥
इमे सर्गाः प्रस्फुरन्ति स्वात्मनाऽऽत्मनि निर्मले ।
नभसीव नभोभागा निराकारा निराकृतौ ॥ २१ ॥

चिदाकाश ही हैं । इस प्रकारसे वर्णित चित्रकथाके न्यायसे परमाकाश ही अपनेमें स्वयं स्फुरित होता है । वह यथापूर्वस्थित और शान्त है । जैसे झरोखेके छिद्रसे भीतर आये हुए परमाणुओंमें सूर्यकी प्रभा परिच्छिन्न है वैसे ही मनसे निकले हुए करोड़ों ब्रह्माण्डोंमें परिच्छिन्न ये चित्की प्रभाएँ हैं । जैसे आकाशमें विस्तृत सूर्यप्रकाशमें विभिन्न परमाणुओंके भ्रमण आदि नहीं दिखाई देते वैसे ही महाचित्परमाकाशमें इनका भ्रमण नहीं दिखाई देता है ॥ १४—१८ ॥

ऐसी अवस्थामें मनरूप परिच्छेदसे पीड़ित हुई चित् अपने अन्तर्गत जगत्को मानो उगलती है, ऐसा कहते हैं—**'स्वयं'** इत्यादिसे ।

चित् स्वयं ही अपने अन्दर विद्यमान जो जगद्रूप चमत्कार है, उसको उगलती है । वही सृष्टिरूपसे प्रतीत होता है । यह रूपरहित और भित्तिरहित है ॥ १९ ॥

स्फटिक शिलाके भीतर नेत्रदोषसे दिखाई दे रही रेखाओंके तुल्य पदार्थ-भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'नोद्यन्ति'** इत्यादिसे ।

जैसे महाशिलाओंके अन्दर रेखाओंके अमिट स्वरूप दिखाई देते हैं वैसे ही ये सृष्टियाँ दिखाई देती हैं । न तो ये उत्पन्न होती हैं और न नष्ट होती हैं, न आती हैं और न जाती हैं ॥ २० ॥

जैसे निराकार आकाशमें निराकार आकाशभाग स्फुरित होते हैं, वैसे ही निर्मल आत्मामें ये सृष्टियाँ अपने-आप स्फुरित होती हैं । जैसे आकाशसे आकाश-भागकी पृथक् सत्ता नहीं है वैसे ही आत्माकी सत्तासे इन सृष्टियोंकी पृथक् सत्ता नहीं है, यह दर्शानेके लिए 'नभसीव' दृष्टान्त दिया है ॥ २१ ॥

द्रवत्वानीव तोयस्य स्पन्दा इव सदागतौ ।
आवर्ता इव चाऽम्भोधेर्गुणिनो वा यथा गुणाः ॥ २२ ॥
विज्ञानघनमेवैकमिदमेवमवस्थितम् ।
सोदयास्तभयारम्भमनन्तं शान्तमाततम् ॥ २३ ॥
सहकार्यादिहेतूनामभावे शून्यतो जगत् ।
स्वयम्भूर्जायते चेति किलोन्मत्तकफूत्कृतम् ॥ २४ ॥
प्रशान्तसर्वार्थकलाकलङ्को निरस्तनिःशेषविकल्पतल्पः ।
चिराय विद्रावितदीर्घनिद्रो भवाऽभयो भूषितभूः प्रबुद्धः ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे स्थितिबीजोपन्यासो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

जलके द्रवत्वके समान, वायुके स्पन्दके समान, समुद्रके आवर्तोंके समान, गुणीके गुणोंके समान, उत्पत्ति और विनाशसे युक्त यह सारा जगत् उक्त दृष्टान्तोंके अनुसार सर्वत्र व्याप्त शान्त ब्रह्म ही विस्तृत है, भाव यह है कि जैसे द्रवत्व जलसे पृथक् नहीं है, स्पन्द वायुसे पृथक् नहीं है, आवर्त समुद्रसे पृथक् नहीं है और गुण गुणीसे पृथक् नहीं है वैसे ही यह उत्पत्तिविनाशशील जगत् अनन्त, शान्त ब्रह्म ही है, उससे पृथक् नहीं है ॥ २२, २३ ॥

ऐसी अवस्थामें सहकारी कारणोंके न रहनेपर कर्ताके विद्यमान रहनेपर भी उत्पत्ति आदिकी सिद्धि नहीं होती है, अतः सांख्योंकी जो कल्पना है, वह उन्मत्तकी चेष्टाके तुल्य है, यों उपसंहार करते हैं—'**सहकार्या०**' इत्यादिसे ।

उत्पत्तिके पहले पृथक्‌रूपसे स्वीकृत भी पदार्थ सहकारी आदि कारणोंके अभावमें शून्यकल्प प्रधानसे उत्पन्न होता है, यह कथन उन्मत्त पुरुषोंके फूत्कारके तुल्य है ॥२४॥

जिनका सम्पूर्ण पदार्थोंकी कल्पनारूपी कलङ्क दूर हो गया है, सब पदार्थोंके स्वप्नदर्शनमें कारण होनेसे विकल्परूपी शय्या जिन्होंने छोड़ दी है तथा जिन्होंने विकल्परूपी शय्या बिछानेवाली अविद्याको आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे हटा दिया है, ऐसे ज्ञानवान् आप निर्भय तथा ब्रह्मवेत्ताओंकी सभाभूमिको भूषित करनेवाले होइए ।

दूसरा सर्ग समाप्त

तृतीयः सर्गः

श्रीराम उवाच

महाकल्पान्तसर्गादौ प्रथमोऽसौ प्रजापतिः ।
स्मृत्यात्मा जायते मन्ये स्मृत्यात्मैव ततो जगत् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

महाप्रलयसर्गादावेवमेतद् रघूद्वह ।
स्मृत्यात्मैव भवत्यादौ प्रथमोऽसौ प्रजापतिः ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग

[जगत्‌की विवर्तरूपताका स्थापन करके बोधदृष्टिसे उसके बाधका प्रदर्शन तथा अज्ञ पुरुषकी दृष्टिमें जगत्‌की अनन्तताका वर्णन]

यद्यपि बाह्य घट आदि पदार्थोंकी उत्पत्तिमें उत्पत्तिकर्तासे अतिरिक्त सहकारी कारणोंकी अपेक्षा हो सकती है, तथापि जगत्‌को आपने हिरण्यगर्भके मनः-संकल्पसे जन्य उनकी स्मृति तथा मनोराज्यके तुल्य बतलाया है। स्वप्नराज्यमें तो सहकारी कारणकी अपेक्षा कहीं नहीं देखी गई है। इस तरह प्रलयकालमें अपनी सत्तामें छिपकर विद्यमान ही मनोरूप प्रजापति स्मृतिरूप उत्पन्न होता है और उस प्रजापतिमें संस्काररूपसे सत् ही जगत् स्मृतिस्वरूप ही उत्पन्न होता है, तो सहकारी कारणोंके अभावमें जगत्‌की उत्पत्तिमें क्या विरोध है? इस गूढ़ अभिप्रायसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'महाकल्पान्त०'** इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, महाप्रलयके अनन्तर सृष्टिके आरम्भमें सर्वप्रथम यह प्रजापति स्मृतिरूप उत्पन्न होता है, इससे मैं समझता हूँ कि जगत् स्मृतिरूप ही उनसे उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्तिमें सहकारी कारणोंकी अपेक्षा नहीं है, यह भाव है ॥ १ ॥

यह ठीक है, परन्तु प्रलयकालमें जगत्‌की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि स्वप्न, मनोरथ और स्मृतिके विषयोंकी अपने कालमें भी जब सत्ता नहीं रहती है, तब स्मृतिके बलसे प्रलयकालमें उसकी सत्ताकी कल्पना नहीं हो सकती, इस गूढ़ अभिप्रायसे ही श्रीवसिष्ठजी अभ्युपगमपूर्वक समाधान करते हैं—**'महाप्रलय०'** इत्यादिसे।

तत्सङ्कल्पात्मकजगत् स्मृत्यात्मैवमिदं ततः ।
भाति सङ्कल्पनगरं स्थितं पूर्वं प्रजापतेः ॥ ३ ॥
स्मृतिर्न सम्भवत्येव सर्गादौ परमात्मनः ।
जन्माभावात् कथं कुत्र नभसीव महाद्रुमः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

न सम्भवति किं ब्रह्मन् सर्गादौ प्राक्तनी स्मृतिः ।
महाप्रलयसम्मोहैर्नश्यति प्राक्स्मृतिः कथम् ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, महाप्रलयके बाद सृष्टिके आरम्भमें इसी तरह (जैसा कि आप कहते हैं) यह जगत् स्मृतिरूप ही है, पहले-पहल सर्वप्रथम प्रजापति स्मरणरूपसे ही उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इस कारण उसका संकल्पभूत यह जगत् स्मृतिरूप ही है, प्रजापतिका प्राथमिक संकल्पका नगर ही इस जगत्‌रूपसे भासित होता है ॥ ३ ॥

अस्तु, मनसे अतिरिक्त बाह्यविकारविषयरूपसे यह जगत् भले ही सत्य न हो; परन्तु मनोविकाररूपसे तो सत्य ही है। जैसे कि चित्राङ्कित घोड़ा मांसविकाररूपसे सत्य नहीं है; परन्तु रंगके विकाररूपसे तो सत्य ही है, श्रीरामचन्द्रजीकी ऐसी शङ्काको लक्षणोंसे पहचान कर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—**'स्मृतिर्न'** इत्यादिसे।

सृष्टिके आरम्भमें परमात्माकी स्मृति नहीं हो सकती है। भाव यह है कि स्मरणकर्ताके रहनेपर स्मृति आदि मनके परिणाम हो सकते हैं। सांख्यवादियों द्वारा परिकल्पित प्रधान स्मृतिकर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह मिट्टी आदिकी तरह अचेतन है। पुरुषोंमें भी स्मृतिकर्तृत्वका सम्भव नहीं है, क्योंकि सांख्यवादियोंने उन्हें असङ्ग, उदासीन एवं निर्विकार माना है। यदि पुरुषोंमें स्मृतिका सम्भव नहीं है, तो परस्परभेदक धर्मके न माननेके कारण भेदकी सिद्धि न होनेसे परमात्माके साथ उनका अभेद होनेसे उनमें सुतरां स्मृतिका सम्भव नहीं है। और 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादि श्रुतियोंने परमात्माके मनका निषेध किया है। मनके निषेध द्वारा स्मृतिकर्तृत्वका भी निषेध सिद्ध हुआ। चूँकि स्मृतिका जन्म ही असम्भव है और जन्मके अभावसे जन्ममूलक उसके विकार जगत्‌का भी सम्भव नहीं है, इसलिए आकाशमें महावृक्षके तुल्य स्मृतिके विकारभूत जगत् कहाँ और कैसे हो सकते हैं ? ॥ ४ ॥

जैसे प्रतिदिनकी सुषुप्ति है वैसे ही प्रलय भी है। सुषुप्ति-अवस्थामें लीन

वसिष्ठ उवाच

ये महाप्रलये प्राज्ञाः सर्वे ब्रह्मादयः पुरा ।
किल निर्वाणमायातास्तेऽवश्यं ब्रह्मतां गताः ॥ ६ ॥
प्राक्तनः कः स्मृतेः कर्ता तस्मात् कथय सुव्रत ।
स्मृतिर्निर्मूलतां याता स्मर्तुर्मुक्ततया यतः ॥ ७ ॥
अतः स्मर्तुरभावेन स्मृतिर्वोदेति किं कथम् ।
अवश्यं हि महाकल्पे सर्वे मोक्षैकभागिनः ॥ ८ ॥

मनके जाग्रत्कालमें आविर्भावके तुल्य प्रलयकालमें लीन मनका सृष्टिके आरम्भमें आविर्भाव होनेसे तदवच्छिन्न प्रजापति अथवा अन्यके स्मर्ता होनेमें क्या विरोध है ? इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'न सम्भवति'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, सृष्टिके आरम्भमें पूर्वकल्पीय स्मृति क्यों नहीं हो सकती ? महाप्रलयके प्रबल सम्मोहसे पूर्वकल्पीय स्मृति कैसे नष्ट हो जाती है ? ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके अभिप्रायका प्रकाशन करते हुए श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—**'ये महाप्रलये'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, क्या यह आपकी शङ्का—हिरण्यगर्भ-रूप एक ही जीव अपने मनसे अनेक जीव, शरीर आदिके भेदकी कल्पना कर संसारको प्राप्त होता है—इस मतसे है अथवा अनेक जीव अपने-अपने उपभोगके योग्य प्रपञ्चकी कल्पना करते हुए अपनी बुद्धिके अनुसार सबकी सृष्टि करनेवाले हिरण्यगर्भकी भी कल्पना करते हैं—इस मतसे है । इन दोनों कल्पोंमें से द्वितीय कल्पमें 'महाकल्पान्तसर्गादौ प्रथमोऽसौ प्रजापतिः' इत्यादि आपकी शङ्काके उपक्रमसे विरोध है तथा प्रथम कल्पमें बहुत श्रुतियोंकी अनुकूलता है, अतः प्रथम कल्प ही उचित होनेसे परिशिष्ट रहता है । इस पक्षमें जो पूर्वकल्पीय जीव तथा जगत् महाप्रलयकालमें हिरण्यगर्भकी मुक्तिसे मुक्त हो गये, वे सभी ब्रह्मीभूत हो गये। यदि अन्य कोई जीव अवशिष्ट रहा नहीं, तो हे सुव्रत, बतलाइये, पूर्वोत्पन्न कौन स्मर्ता है ? क्योंकि स्मर्ताके मुक्त हो जानेसे स्मृति निर्मूलताको प्राप्त हो गई है । इसलिए क्या स्मरणकर्ताके अभावसे किसी तरह स्मृति उत्पन्न हो सकती है ? महाप्रलयमें सब लोग अवश्य मोक्षके भागी हो गये, इसलिए इस सर्गकी सिद्धि नहीं हो सकती है ॥ ६–८ ॥

नानुभूतेऽनुभूते च स्वतश्चिद्व्योम्नि या स्मृतिः ।
सा जगद्भूरिति प्रौढा दृश्या साऽस्त्येव चित्प्रभा ॥ ९ ॥
भाति संवित्प्रभैवेयमनाद्यन्ताऽवभासिनी ।
यत्तदेतज्जगदिति स्वयंभूरिति च स्थितम् ॥ १० ॥
अनादिकालसंसिद्धं यद् भानं ब्रह्मणो निजम् ।
स आतिवाहिको देहो विराजो जगदाकृतिः ॥ ११ ॥
परमाणाविदं भाति त्रिजगत् सवनाभ्रखम् ।
देशकालक्रियाद्रव्यदिनरात्रिक्रमान्वितम् ॥ १२ ॥
परमाणुः प्रविततस्तस्याऽऽस्ते तादृगेव च ।
भाति भासुरताकारि तादृग्गिरिकुलं पुनः ॥ १३ ॥

पूर्वकल्पीय सर्ग स्मृतिरूप ही हैं, वे भी सिद्ध नहीं होंगे, इसलिए अनुभूत या अननुभूत स्वतःसिद्ध चिदाकाशमें जिसकी आपने स्मृतिरूपसे आशङ्का की है, वह प्रौढ़ एवं दृश्य जगत्स्थिति चित्प्रभा ही है और वह सदा स्थित है । यही सत्कार्यवादी श्रुतियोंका आशय है, यह भाव ॥ ९ ॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट कहते हैं—**'भाति'** इत्यादिसे ।

जो यह जगत्‌रूपसे और स्वयंभूरूपसे (उत्पत्तिके पहले पृथक्‌सत्तासे माने गये पदार्थरूपसे) स्थित है, वह अनादि अनन्त प्रकाशमान यह चेतनकी प्रभा ही भासित होती है ॥ १० ॥

अनादि कालसे सिद्ध जो ब्रह्मके स्वरूपका भान है, वही ब्रह्माण्डशरीरका उपादान कारण जगदाकार सूक्ष्म शरीर है, वह परमात्मा ही है । इस तरह ब्रह्म ही सूक्ष्म-स्थूल भावोंके आरोपके द्वारा जगद्रूपसे भासित होता है, यह भाव है ॥११॥

जगत्‌का स्वभाव अव्यवस्थित है । इसलिए भी जगत्‌की सत्ता जगद्रूपसे नहीं है, किन्तु ब्रह्मरूपसे ही है, इस आशयसे जगत्‌के अव्यवस्थित स्वभावका उपपादन करते हैं—**'देशकाल०'** इत्यादिसे ।

जङ्गल, मेघ, आकाश आदि पदार्थोंके सहित तथा देश, काल, क्रिया, द्रव्य, दिन और रात्रिके क्रमसे युक्त ये तीनों जगत् परमाणुमें भासित होते हैं ॥ १२ ॥

उस पूर्व परमाणुके अन्तर्गत अन्य विस्तृत परमाणु है, वह भी पूर्व परमाणुके सदृश ही है तथा उसमें भी वैसा ही जङ्गल, मेघ, आकाश आदिके साथ प्रकाशमान पर्वतसमूह आदि जगत् भासित होता है । उस परमाणुके भीतर भी वैसा ही

तत्राऽपि तादृगाकारमेव प्रत्यनुसन्ततम् ।
दृश्यमाभाति भारूपमेतदङ्ग न वास्तवम् ॥ १४ ॥
इत्यस्त्यन्तो न सद्दृष्टेरसद्दृष्टेश्च वा क्वचित् ।
अस्यास्त्वभ्युदितं बुद्धं नाबुद्धं प्रति वाऽनघ ॥ १५ ॥
बुद्धं प्रतीदं ब्रह्मैव केवलं शान्तमव्ययम् ।
अबुद्धं प्रति बुद्ध्येतद् भासुरं भुवनान्वितम् ॥ १६ ॥
यथेदं भासुरं भाति जगदण्डकजृम्भितम् ।
तथा कोटिसहस्राणि भान्त्यन्यान्यप्यणावणौ ॥ १७ ॥
यथा स्तम्भे पुत्रिकाऽन्तस्तस्याः स्वाङ्गेषु पुत्रिका ।
तस्याश्च पुत्रिकाऽस्त्यङ्गे तथा त्रैलोक्यपुत्रिका ॥ १८ ॥
ना भिन्ना नापि संख्येया यथाऽद्रौ परमाणुकाः ।
तथा ब्रह्मबृहन्मेरौ त्रैलोक्यपरमाणवः ॥ १९ ॥

विस्तृत परमाणु है, उसमें भी उसी तरह जङ्गल, मेघ आकाश आदिसे विस्तृत यह दृश्य जगत् भासित होता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह केवल भानरूप ही है। सत्य नहीं है ॥ १३, १४ ॥

तत्त्वज्ञोंके प्रति सन्मात्रदृष्टि जैसे स्वतः अनन्त है वैसे ही अज्ञोंके प्रति असत्, अनृत जगत्की दृष्टि संख्यासे अनन्त है, यह कहते हैं—**'इति'** इत्यादिसे।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह परम अभ्युदय यानी आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त ज्ञानीके प्रति इस सद्दृष्टिका अन्त कहीं नहीं है और अज्ञके प्रति इस असत् जगत्की दृष्टिका अन्त कहीं नहीं है ॥ १५ ॥

इसी सिद्धान्तको स्पष्ट करके दिखलाते हैं—**'बुद्धम्'** इत्यादिसे।

यह जगत् ज्ञानीके प्रति केवल, शान्त, अविनाशी ब्रह्म ही है और अज्ञोंके प्रति बुद्धिमात्रसे भासमान नाना लोकोंसे युक्त है ॥ १६ ॥

ब्रह्माण्डमें वृद्धिको प्राप्त यह भासमान जगत् जैसे भासित हो रहा है वैसे ही करोड़ों हजारों अन्यान्य जगत् भी एक-एक अणुमें भासित होते हैं ॥ १७ ॥

जैसे स्तम्भके (खम्भेके) अन्दर प्रतिमा रहती है, उस प्रतिमाके अङ्गोंमें भी प्रतिमा रहती है तथा उसके अङ्गमें भी प्रतिमा रहती है, वैसे ही ब्रह्मस्तम्भमें अणु-अणुमें त्रैलोक्यरूपी प्रतिमा है ॥ १८ ॥

जैसे पर्वतमें परमाणु पर्वतसे अभिन्न तथा असंख्य हैं वैसे ही ब्रह्मरूपी

सूर्याद्यंशुषु संख्यातुं शक्यन्ते लघवोऽणवः ।
उत्पद्यन्ते चिदादित्ये त्रैलोक्यपरमाणवः ॥ २० ॥
यथाऽणवो वहन्त्यर्कदीप्तिष्वप्सु रजःसु च ।
तथा वहन्ति चिद्व्योम्नि त्रैलोक्यपरमाणवः ॥ २१ ॥
शून्यानुभवमात्रात्म भूताकाशमिदं यथा ।
सर्गानुभवमात्रात्म चिदाकाशमिदं तथा ॥ २२ ॥
सर्गस्तु सर्गशब्दार्थतया बुद्धो नयत्यधः ।
स ब्रह्मशब्दार्थतया बुद्धः श्रेयो भवत्यलम् ॥ २३ ॥

महामेरुपर्वतमें त्रैलोक्यरूपी परमाणु न तो उससे भिन्न हैं और न गिनने योग्य हैं यानी असंख्य तथा ब्रह्मसे अभिन्न हैं ॥ १९ ॥

यदि सूर्य आदिकी किरणोंमें छोटे-छोटे परमाणुओंकी गणना हो सके, तो चिद्रूप आदित्यमें जो त्रैलोक्यपरमाणु उत्पन्न होते हैं; उनकी भी गणना हो सकेगी। अर्थात् वे सूर्यकिरणोंमें दिखाई देनेवाले परमाणुओंकी तरह असंख्येय हैं ॥ २० ॥

जैसे सूर्यकी दीप्तिमें, जलमें तथा धूलिपुञ्जमें परमाणु भ्रमण करते हैं वैसे ही चिदाकाशमें त्रैलोक्यरूपी परमाणु भ्रमण करते हैं ॥ २१ ॥

यदि कोई कहे कि निष्प्रपञ्च कूटस्थ ब्रह्मका सविकार सृष्टिरूपसे भान कैसे होता है ? तो नीरूप, अशून्य आकाशका जैसे स्वरूपविरुद्ध शून्यरूपसे या नील-त्वेन भान होता है वैसे ही कूटस्थ ब्रह्मका भी सर्गरूपसे भान होता है, ऐसा कहते हैं—'**शून्यानुभव०**' इत्यादिसे ।

जैसे वास्तवमें पूर्ण (अशून्य) और नीरूप इस भूताकाशका आवरणाभाव (शून्य) और असत्य नीलरूपसे अनुभव होता है वैसे ही चिदाकाशका सर्गरूपसे अनुभव होता है ॥ २२ ॥

सृष्टिरूपमें समझी गई यह सृष्टि अधोलोकको प्राप्त कराती है। श्रुतिने भी कहा है—'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' अर्थात् इस ब्रह्ममें जो जरा-सा भी भेद करता है यानी 'यह अन्य है, मैं अन्य हूँ' ऐसा भेद देखता है, उस भेदके दर्शनसे उस अनात्मदर्शी पुरुषको भय होता है। ब्रह्मरूपसे समझी गई यह सृष्टि परम मङ्गलमय हो जाती है, क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मदर्शी पुरुष शोकको प्राप्त नहीं होता है) ऐसी श्रुति है ॥ २३ ॥

विज्ञानात्मा शासिता विश्वबीजं ब्रह्मैवाऽलं स्वं चिदाकाशमात्रम् ।
यस्माज्जातं यत्तदेवेति विद्याद्वेद्यं स्वान्तबोधसंबोधमात्रम् ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे जगदानन्त्य-वर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इन्द्रियग्रामसंग्रामसेतुना भवसागरः ।
तीर्यते नेतरेणेह केनचिन्नाम कर्मणा ॥ १ ॥
शास्त्रसत्सङ्गमाभ्यासात् सविवेको जितेन्द्रियः ।
अत्यन्ताभावमेतस्य दृश्यस्याऽप्यवगच्छति ॥ २ ॥

जैसा कि नैयायिक परमात्माको तटस्थरूप (निमित्तमात्ररूप) मानते हैं वैसे तटस्थ-रूपसे ज्ञात ब्रह्म क्या मङ्गलमय नहीं है ? नहीं, ऐसा कहते हैं—'**विज्ञानात्मा**' इत्यादिसे।

जो विज्ञानस्वरूप जीव है और जो इस विश्वका परम कारण ईश्वर है, वे दोनों परमार्थदृष्टिसे परिशोधन करनेपर पूर्ण, चेतन, एकरस, चिदाकाश ब्रह्म ही हैं। जिस ब्रह्मसे बाह्य तथा आन्तर दोनों उपाधियाँ उत्पन्न हैं। 'तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः' इत्यादि न्यायसे जो जिससे उत्पन्न है, वह तद्रूप ही है, इस तरह सभी वेद्य प्रपञ्चको स्वात्मबोध होनेपर शुद्ध, सम्बोधस्वरूप चिन्मात्र ही समझना चाहिये। भाव यह है कि परमार्थदृष्टिसे जगन्मात्रको ब्रह्म जाननेसे ही मोक्षप्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि 'उदरमन्तरं कुरुते' ऐसी श्रुति है ॥ २४ ॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

[इन्द्रिययुक्त मन ही जगत्‌की स्थितिका मूल है, उसका समूल उच्छेद होनेपर दृश्यका असंभव देखनेसे जगत् शून्य हो जाता है, यह कथन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियसमूहके ऊपर विजयप्राप्तिरूपी पुलसे संसाररूपी सागर तरा जा सकता है, अन्य किसी भी कर्मसे इसका तरण नहीं हो सकता है ॥ १ ॥

इन्द्रियोंपर विजय पानेके लिए विवेक श्रेष्ठ उपाय है। विवेककी प्राप्तिमें एकमात्र

एतत्ते कथितं सर्वं स्वरूपं रूपिणां वर ।
संसारसागरश्रेण्यो यथाऽऽयान्ति प्रयान्ति च ॥ ३ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन मनः कर्मद्रुमाङ्कुरः ।
तस्मिंश्छिन्ने जगच्छाखी छिन्नः कर्मतनुर्भवेत् ॥ ४ ॥
मनः सर्वमिदं राम तस्मिन्नन्तश्चिकित्सिते ।
चिकित्सितो वै सकलो जगज्जालामयो भवेत् ॥ ५ ॥
तदेतज्जायते लोके मनो मननमाकुलम् ।
मनसो व्यतिरेकेण देहः क्व किल दृश्यते ॥ ६ ॥
दृश्यात्यन्तासम्भवेन ऋते नाऽन्येन हेतुना ।
मनःपिशाचः प्रशमं याति कल्पशतैरपि ॥ ७ ॥

सज्जन और शास्त्रोंमें निष्ठा रखना उत्तम उपाय है, इस आशयसे कहते हैं—**'शास्त्र०'** इत्यादिसे ।

बार-बार शास्त्रपर्यालोचन और सत्संगति करनेसे विवेकशील और जितेन्द्रिय हुआ पुरुष इस दृश्यका अत्यन्ताभाव जानता है ॥ २ ॥

किये गये इन्द्रियविजयका प्रकृतमें सम्बन्ध कहनेके लिए पूर्वोक्त पदार्थका पुनः स्मरण कराते हैं—**'एतद्'** इत्यादिसे ।

हे रूपवान् पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, ये संसारसागरकी श्रेणियाँ जैसे प्राप्त होती हैं और विनष्ट होती हैं, वह सब स्वरूप मैंने आपसे कहा ॥ ३ ॥

इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या मतलब है, मन ही कर्मरूपी वृक्षका अङ्कुर है । मनके नष्ट होनेपर भोक्ताके भोग्यभोगाकारमें परिणत विहित और निषिद्ध कर्मरूप शरीरवाला जगत्रूपी वृक्ष कट जाता है ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सारा जगत् मन ही है । मनका प्रतीकार होनेपर सब जगज्जालरूपी रोगका प्रतीकार हो जाता है ॥ ५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि मनकी चिकित्सा होनेपर भी देहाधीन सुख और दुःख होंगे ही ? उसपर कहते हैं—**'तदेतत्'** इत्यादिसे ।

जैसे मनका मननरूप ही स्वप्न कार्यमें समर्थ होता है वैसे ही मनका देहके आकारसे मननरूप ही देह, जो कि कार्य करनेमें समर्थ है, उत्पन्न होती है । भला बताइये तो सही, मनसे भिन्नरूपसे देह कहाँ दिखाई देती है ? ॥ ६ ॥

तो मनकी चिकित्साके लिए कौन ओषधि उपयुक्त है, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'दृश्या०'** इत्यादिसे ।

एतच्च सम्भवत्येव मनोव्याधिचिकित्सिते ।
दृश्यात्यन्तासम्भवात्म परमौषधमुत्तमम् ॥ ८ ॥
मनो मोहमुपादत्ते म्रियते जायते मनः ।
तत्त्वचिन्ताप्रसादेन बध्यते मुच्यते पुनः ॥ ९ ॥
स्फुरतीदं जगत्सर्वं चित्ते मननमूर्च्छिते ।
शून्यमेवाऽम्बरे स्फारे गन्धर्वाणां पुरं यथा ॥ १० ॥
मनसीदं जगत्कृत्स्नं स्फारं स्फुरति चाऽस्ति च ।
पुष्पगुच्छ इवाऽऽमोदस्तत्स्थं तस्मादिवेतरत् ॥ ११ ॥

दृश्यकी अत्यन्त असंभावना (बाध) के सिवा दूसरे किसी भी उपायसे मनरूपी पिशाचका विनाश एक कल्पमें तो क्या सैकड़ों कल्पोंमें भी नहीं हो सकता है ॥ ७ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि मनरूपी रोग आभ्यन्तर है, दृश्य तो बाह्य है ऐसी अवस्थामें बाह्य पदार्थोंके अत्यन्त बाधसे आभ्यन्तर मनकी चिकित्सा कैसे हो सकती है ? इसपर कहते हैं—**'एतत्'** इत्यादिसे ।

यह दृश्यका अत्यन्त अभावरूप सर्वोत्तम परम ओषधि मनरूप व्याधिकी चिकित्सामें अमोघ उपाय है ॥ ८ ॥

बाह्य दृश्यका अत्यन्ताभाव मनकी चिकित्सामें कैसे उपाय होता है, इसे कहते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

मनकी आभ्यन्तरता और पदार्थोंकी बाह्यता वास्तविक नहीं है, किन्तु मन ही द्वैविध्य आदिकी कल्पना द्वारा मोह को प्राप्त होता है, मरता है, उत्पन्न होता है यानी जन्म, मृत्यु, बन्ध, मोक्ष आदिकी कल्पना करता है, अर्थात् विषयचिन्तनके प्रभावसे बन्धनमें पड़ता है और आत्मतत्त्वके विचारके प्रतापसे मुक्त होता है ॥९॥

यह कैसे प्रतीत हुआ ? ऐसा प्रश्न होनेपर अन्वय-व्यतिरेकसे हमने यह जाना है, यह कहते हैं—**'स्फुरतीदम्'** इत्यादिसे ।

जैसे विशाल आकाशमें शून्य ही (असत् ही) गन्धर्वोंका नगर स्फुरित होता है, वैसे ही विषयोंके चिन्तनसे वृद्धिको प्राप्त मनमें यह सम्पूर्ण संसार स्फुरित होता है ॥ १० ॥

और विचार करनेपर जगत् मनका धर्म ही है, इसलिए धर्मी मनके निवृत्त

यथा तिलकणे तैलं गुणो गुणिनि वा यथा ।
यथा धर्मिणि वा धर्मस्तथेदं चित्तके जगत् ॥ १२ ॥
रश्मिजालं यथा सूर्ये यथाऽऽलोकस्तु तेजसि ।
यथौष्ण्यं चित्रभानौ च मनसीदं तथा जगत् ॥ १३ ॥
शैत्यं यथैव तुहिने यथा नभसि शून्यता ।
यथा चञ्चलता वायौ मनसीदं तथा जगत् ॥ १४ ॥
मनो जगज्जगदखिलं तथा मनः
परस्परं त्वविरहिते सदैव हि ।
तयोर्द्वयोर्मनसि निरन्तरं क्षिते
क्षितं जगन्न तु जगति क्षिते मनः ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे स्थित्यङ्कुरकलनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

होनेपर वह रह नहीं सकता है, इस आशयसे दृष्टान्तोंको कहते हैं—**'मनसि'** इत्यादिसे ।

जैसे फूलोंके गुच्छेमें सुगन्धि स्फुरित होती है और उसमें रहती भी है वैसे ही मनमें यह विशाल जगत् स्फुरित होता है और रहता भी है, धर्मोंमें धर्मीका भेद वास्तविक नहीं है, यह द्योतन करनेके लिए अन्तिम इवकार है ॥ ११ ॥

जैसे तिलोंमें तेल रहता है अथवा जैसे गुणीमें गुण रहता है या जैसे धर्मीमें धर्म रहता है वैसे ही यह जगत् चित्तमें स्थित है । जैसे सूर्यमें किरणोंका समूह है, जैसे तेजमें प्रकाश है और जैसे अग्निमें उष्णता है वैसे ही मनमें यह जगत् है । जैसे बरफमें ठण्डक है, जैसे आकाशमें शून्यता है और जैसे वायुमें चञ्चलता है वैसे ही मनमें यह जगत् है ॥ १२—१४ ॥

मन और जगत्का धर्मी और धर्मभावसे अभेद होनेपर भी धर्मी मनका नाश होनेसे ही जगत्का नाश हो जाता है, विपरीततासे नहीं होता यानी धर्म जगत्का नाश होनेपर धर्मी मनका नाश नहीं होता, क्योंकि ऐसा ही लोकमें देखा जाता है, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

पञ्चमः सर्गः

श्रीराम उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ पूर्वापरविदां वर ।
अयं मनसि संसारः स्फारः कथमिव स्थितः ॥ १ ॥
यथाऽयं मनसि स्फारः संसारः स्फुरति स्फुरन् ।
दृष्टान्तदृष्ट्या स्फुटया तथा कथय मेऽनघ ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथैन्दवानां विप्राणां जगन्त्यवपुषामपि ।
स्थितानि जातदार्ढ्यानि मनसीदं तथा स्थितम् ॥ ३ ॥

मन ही सम्पूर्ण जगत् है और सम्पूर्ण जगत् ही मन है। वे दोनों सदा ही परस्पर अविनाभूत हैं। उन दोनोंमें से मनके अत्यन्त नष्ट होनेपर जगत् नष्ट हो जाता है, पर जगत्के नष्ट होनेपर मन नष्ट नहीं होता है ॥ १५ ॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

[भृगु ऋषिके समाधिस्थ होनेपर पर्वतपर खेल रहे शुक्राचार्यके, अप्सराको देखनेपर, मोहवश प्राप्त अप्सरोभावका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन् , आप सकल धर्मोंके ज्ञाता हैं, पूर्वापरके ज्ञाताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिए कृपया यह बतलाइये कि यह विशाल संसार मनमें कैसे स्थित है ? ॥ १ ॥

हे पुण्यचरित, प्रकाश हो रहा यह विशाल संसार जैसे मनमें स्फुरित होता है वैसे स्पष्ट दृष्टान्तके प्रदर्शन द्वारा आप मुझसे कहिये ॥ २ ॥

पूर्वोक्त ऐन्दव आदिके जगत् ही इसमें दृष्टान्त हैं, ऐसा कहते हुए श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्थूल शरीरसे रहित भी ऐन्दव ब्राह्मणोंके मनमें दृढ़ताको प्राप्त अनेक जगत् स्थित थे वैसे ही यह जगत् मनमें स्थित है ॥ ३ ॥

लवणस्य यथा राज्ञश्चेन्द्रजालाकुलाकृतेः ।
चण्डालत्वमनुप्राप्तं तथेदं मनसि स्थितम् ॥ ४ ॥
भार्गवस्य चिरं कालं स्वर्गभोगबुभुक्षया ।
यथा भोगाधिनाथत्वं संसारित्वं बभूव च ॥ ५ ॥
भोगेश्वरत्वं च यथा तथेदं मनसि स्थितम् ।

श्रीराम उवाच

भगवन् भृगुपुत्रस्य स्वर्गभोगबुभुक्षया ॥ ६ ॥
कथं भोगाधिनाथत्वं संसारित्वं बभूव च ।

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम पुरावृत्तं संवादं भृगुकालयोः ॥ ७ ॥
सानौ मन्दरशैलस्य तमालविटपाकुले ।
पुरा मन्दरशैलस्य सानौ कुसुमसङ्कुले ॥ ८ ॥

इन्द्रजालसे व्याकुल चित्तवाले राजा लवणको जिस प्रकार चण्डालत्व प्राप्त हुआ था वैसे ही यह जगत् मनमें स्थित है ॥ ४ ॥

शुक्राचार्यके उपाख्यानका भी यहाँपर दृष्टान्तरूपसे उपक्षेप करते हैं—**'भार्गवस्य'** इत्यादिसे ।

जैसे शुक्राचार्यकी चिरकालतक स्वर्गके भोगोंको भोगनेकी इच्छासे अप्सराओंके उपभोगमें स्पृहा, संसारिता (अप्सराओंके भोगके लिए स्वर्गादि गमनरूप जन्मान्तर) एवं स्वर्गमें अप्सराओंका भोग हुआ वैसे ही यह जगत् मनमें स्थित है ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, महर्षि भृगुके पुत्र शुक्राचार्यको स्वर्गीय भोगोंको भोगनेकी इच्छासे अप्सराओंके उपभोगमें स्पृहा और स्वर्गगमनरूप अन्य जन्म कैसे प्राप्त हुआ ? ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, प्राचीन कालमें मन्दराचलके शिखरपर, जो कि तमालके वृक्षोंसे खूब हराभरा था, महर्षि भृगु और कालका जो संवाद हुआ था, उसे आप सुनिये ॥

प्राचीन कालमें मन्दराचलके विविध फूलोंसे व्याप्त किसी एक शिखरपर भगवान् श्रीभृगुजी कठोर तपस्या करते थे । उनके पूर्ण चन्द्रमाके तुल्य सुन्दर, प्रकाशके समान देदीप्यमान, तेजस्वी, महामति पुत्र श्रीशुक्राचार्य, जो कि तब बालक ही थे,

अतप्यत तपो घोरं कस्मिंश्चिद् भगवान् भृगुः ।
तमुपास्ते स्म तेजस्वी बालः पुत्रो महामतिः ॥ ९ ॥
शुक्रः सकलचन्द्राभः प्रकाश इव भासुरः ।
भृगुर्वनवरे तस्मिन् समाधावेव संस्थितः ॥ १० ॥
सर्वकालं समुत्कीर्णो वनोपलतलादिव ।
शुक्रः कुसुमशय्यासु कलधौताजिरेषु च ॥ ११ ॥
मन्दरोद्दामदोलासु बालो रमणलीलया ।
विद्याविद्यादृशोर्मध्ये शुक्रो प्राप्तमहापदः ॥ १२ ॥
त्रिशङ्कुरिव रोदोन्तरवर्तत तदाऽऽकुलः ।
निर्विकल्पसमाधिस्थे स कदाचित् पितर्यथ ॥ १३ ॥
अव्यग्रोऽभवदेकान्ते जितारिरिव भूमिपः ।
ददर्शाऽप्सरसं तत्र गच्छन्तीं नभसः पथा ॥ १४ ॥
क्षीरोदमध्यलुलितां लक्ष्मीमिव जनार्दनः ।
मन्दारमालावलितां मन्दानिलचलालकाम् ॥ १५ ॥
हारझाङ्कारिगमनां सुगन्धितनभोनिलाम् ।
लावण्यपादपलतां मदघूर्णितलोचनाम् ॥ १६ ॥

उनकी सेवा-शुश्रूषा करते थे। महर्षि भृगु उस उत्तम वनमें वनके पत्थरसे काट-छाँटकर बनाई गई प्रस्तरमूर्तिके सदृश निश्चल हो सदा समाधिमें ही स्थित रहते थे। बालक शुक्राचार्य फूलोंकी शय्याओंमें, चाँदी तथा सोनेकी वेदियोंपर और मन्दराचलके बड़े बड़े हिँडोलोंपर खेलते थे। उस समम शुक्राचार्य जैसे राजा त्रिशङ्कु द्युलोक और पृथिवीके मध्यमें स्थित हुए थे वैसे ही पारमार्थिक आत्म-तत्त्वदृष्टि और पामर आदिमें प्रसिद्ध जगत्सत्यतादृष्टि—इन दोनोंके बीचमें स्थित थे, अतएव वे राग आदिसे व्याकुल रहते थे। किसी समय जब कि उनके पिता श्रीभृगुजी निर्विकल्पक समाधिमें बैठे थे, जिसने अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्तकर ली हो, ऐसे राजाके तुल्य वे अन्य विषयोंसे अव्याक्षिप्तचित्तवाले हुए। वहाँपर उन्होंने जैसे भगवान्‌ने क्षीरसागरके मध्यसे मन्थन द्वारा उत्पादित श्रीलक्ष्मी-जीको देखा था वैसे ही क्षीरसागरके मध्यसे मन्थनपूर्वक उत्पादित, आकाश मार्गसे जा रही एक अप्सराको देखा। वह मन्दारकी मालाओंसे विभूषित थी, मन्द-मन्द वायुसे उसके अलक हिल रहे थे, हारसे उसका गमन झङ्कारसे पूर्ण

अमृतीकृततद्देशां देहेन्दूदयदीप्तिभिः ।
कान्तामालोक्य तस्याऽभूदुल्लसच्चरलं मनः ॥ १७ ॥
दृष्टनिर्मलपूर्णेन्दुवपुरम्बुनिधेरिव ।
साऽप्यालोक्य शुक्रमुखं तथा परवशा ह्यभूत् ॥ १८ ॥
मनसिजेषुपराहतमारशयं स परिबोध्य मनस्तदनूशना ।
विगलितेतरवृत्तितयाऽऽत्मना स च वधूमय एव बभूव ह ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गवो-
पाख्याने भार्गवस्खलनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

था, उसने आकाशमें वायुको सुगन्धित कर दिया था, वह ऐसी सुन्दरी थी कि उसे यदि लावण्यरूपी वृक्षकी लता कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी, मदसे उसके नेत्र चढ़े हुए थे तथा अपने शरीररूपी चन्द्रमासे उदित हुई किरणोंसे उसने उस प्रदेशको अमृतमय कर दिया था। उस सुन्दरीको देखकर शुक्राचार्यका मन, जिसने निर्मल पूर्ण चन्द्रमा देखा है, ऐसे समुद्रके शरीरके तुल्य उल्लासको प्राप्त हुआ और चञ्चल हुआ। वह अप्सरा भी शुक्राचार्यका मुख देखकर वैसे ही परवश हुई (मोहित हुई) ॥ ५–१८ ॥

शुक्राचार्यजी अप्सराको देखनेके पश्चात् कामदेवके बाणोंसे घायल हुए मनको यथाशक्ति विवेक द्वारा समझा-बुझाकर यानी प्रेयसीके अनुसरण आदि शारीरिक व्यापारोंको रोककर, एकाग्रताको प्राप्त करके भी एकमात्र अप्सरामें एकाग्रचित्त होनेके कारण वे अप्सराके रूपसे अप्सामय हो गये ॥ १९ ॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

षष्ठः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ तां मनसा ध्यायंस्तत्रैवाऽऽमीलितेक्षणः ।
आरब्धवान् मनोराज्यमिदमेकः किलोशना ॥ १ ॥
एषा हि ललना व्योम्नि सहस्रनयनालये ।
संप्राप्तोऽयमहं स्वर्गमालोलसुरसुन्दरम् ॥ २ ॥
इमे ते मृदुमन्दारकुसुमोत्तंससुन्दराः ।
द्रवत्कनकनिष्यन्दविलासिवपुषः सुराः ॥ ३ ॥
इमास्ता लोचनोल्लासदृष्टनीलाब्जदृष्टयः ।
मुग्धहासविलासिन्यः कान्ता हरिणदृष्टयः ॥ ४ ॥
इमे ते कौसुमोद्योता अन्योन्यप्रतिबिम्बिताः ।
विश्वरूपोपमाकारा मरुतो मत्तकाशिनः ॥ ५ ॥

छठा सर्ग

[शुक्राचार्यका मनसे स्वर्गमें गमन वहांपर इन्द्रका उन्हें सम्मानके साथ अपने समीपमें बैठाना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वहांपर नेत्र बन्द करके मनसे उसी अप्सराका ध्यान कर रहे अकेले श्रीशुक्राचार्यने आगे कहे जानेवाले इस मनोराज्यका आरम्भ किया ॥ १ ॥

यह आकाशमें मेरे आगे आगे जा रही अप्सरा इन्द्रलोकमें जाती है। इसका अनुगमन कर रहा यह मैं स्वर्गमें, जो कि इधर-उधर घूमनेसे कुछ चञ्चल हुए देवताओंसे बड़ा मनोहर है, आ पहुँचा हूँ ॥ २ ॥

कोमल मन्दारके फूलोंकी शिरोमालाओं और कर्णपूरोंसे विभूषित ये देवता हैं, इनके शरीर बह रहे सुवर्णके द्रवके समान सुन्दर हैं ॥ ३ ॥

प्रत्यक्ष देखे गये नीलकमलोंके तुल्य जिनकी दृष्टियाँ हैं, मनोहर हाससे विभूषित तथा हरिणशावाक्षी ये वे कान्ताएँ हैं ॥ ४ ॥

फूलोंसे बनाई गई मालाओंसे जगमगा रहे, परस्पर एक दूसरेमें प्रतिबिम्बित अतएव विश्वरूप सर्वाकार भगवान् हरिके आकारके सदृश तथा खूब सन्तुष्ट और दीप्तिमान् ये देववृन्द हैं ॥ ५ ॥

ऐरावणकटामोदविरक्तमधुपश्रुताः ।
इमास्ताः काकलीगीता गीर्वाणगणगीतयः ॥ ६ ॥
इयं सा कनकाम्भोजचलद्वैरिञ्चसारसा ।
मन्दाकिनी तटोद्यानविश्रान्तसुरनायका ॥ ७ ॥
एते ते यमचन्द्रेन्द्रसूर्यानलजलानिलाः ।
लोकपालास्तनुद्योतकीर्णदीप्तानलार्चिषः ॥ ८ ॥
अयं स रणवृत्तान्तहेतिकण्डूयिताननः ।
ऐरावणो रणे दन्तप्रोतदैत्येन्द्रमण्डलः ॥ ९ ॥
इमे ते भूतलस्थानाद् व्योम्नि तारकतां गताः ।
वैमानिकाश्चरच्चारुचामीकरमयातपाः ॥ १० ॥
मेरूपलतलास्फालसीकराकीर्णदेवताः ।
एतास्ताः कीर्णमन्दारा गङ्गासलिलवीचयः ॥ ११ ॥
एताः प्रसूतमन्दारमञ्जरीपुञ्जपिञ्जराः ।
दोलालोलाप्सरःश्रेण्यः शक्रोपवनवीथयः ॥ १२ ॥

ऐरावतके कपोलोंके मदजलकी अतिसुगन्धिमें भी आसक्तिरहित हुए (मदजलतकका त्याग करके) भँवरों द्वारा सुने गए, अत्यन्त मधुर और अस्पष्ट ध्वनिसे गाये गये, ये देवताओंके गीत हैं ॥ ६ ॥

यह मन्दाकिनी है, इसके स्वर्णमय कमलोंपर ब्रह्माजीके हंस और सारस घूम रहे हैं, तीरके उद्यानोंमें मुख्य-मुख्य देवगण विश्राम ले रहे हैं ॥ ७ ॥

ये यम, चन्द्र, इन्द्र, सूर्य, अग्नि, जल और वायु लोकपाल हैं, इन्होंने अपनी शरीरकान्तिसे चारों ओर दीप्त वह्निकी ज्वालाएँ फैला रक्खी हैं ॥ ८ ॥

युद्धोंमें शस्त्रास्त्रोंके प्रहारोंसे जिसका मुँह खुजलाया गया है, ऐसा यह ऐरावत है, इसने संग्राममें अनेक दैत्योंको अपने दांतोंमें पिरो दिया था ॥ ९ ॥

ये भूतलसे आकाशमें तारेरूप बने हुए विमानसे चलनेवाले सिद्ध लोग हैं, जिनके शरीर और विमानकी कान्तियाँ संचरणशील सुन्दर सुवर्णमय-सी प्रतीत हो रही हैं ॥ १० ॥

मन्दारके फूल जिनमें व्याप्त हैं, ऐसी ये गंगाजलकी लहरें हैं, इन्होंने मेरुपर्वतके पत्थरोंपर टकरानेके कारण जलबिन्दुओंसे देवताओंको भर दिया है ॥ ११ ॥

ये इन्द्रके नन्दनवनकी वीथियाँ हैं, गिरी हुई मन्दारमञ्जरीके गुच्छोंसे

इमे ते कुन्दमन्दारमकरन्दसुगन्धयः ।
चन्द्रांशुनिकराकाराः पारिजातसमीरणाः ॥ १३ ॥
पुष्पकेसरनीहारपटवासरणोत्सुकैः ।
लताङ्गनागणैर्व्याप्तमिदं तन्नन्दनं वनम् ॥ १४ ॥
कान्तगीतरवानन्दप्रनर्तितसुराङ्गनौ ।
इमौ तौ वल्लकीस्निग्धस्वरौ नारदतुम्बुरू ॥ १५ ॥
इमे ते पुण्यकर्तारो भूरिभूषणभूषिताः ।
व्योमन्युड्डीयमानेषु विमानेषु च संस्थिताः ॥ १६ ॥
मदमन्मथमत्ताङ्ग्य इमास्ताः सुरयोषितः ।
देवेश्वरं निषेवन्ते वनं वनलता इव ॥ १७ ॥
इन्द्राश्मजालकुसुमाश्चिन्तामणिगुलुच्छकाः ।
कल्पवृक्षा इमे पक्वफलस्तबकदन्तुराः ॥ १८ ॥
इह तावदिमं शक्रमहमासनसंस्थितम् ।
द्वितीयमिव त्रैलोक्यस्रष्टारमभिवादये ॥ १९ ॥

ये पीली हो गई हैं और अनेक अप्सराएँ इनमें झूला झूल रहीं हैं ॥ १२ ॥

चन्द्रमाकी किरणोंकी नाईं आनन्द देनेवाले शीतलता और मन्दता आदिसे युक्त, कुन्द और मन्दारके मकरन्दसे सुगन्धित ये पारिजातके वायु हैं ॥ १३ ॥

फूलों, केसरों और हिम तथा मकरन्दके कणों और वस्त्रोंको सुगन्धित करनेवाले परागोंसे जो एक दूसरेसे परस्पर ताडनरूप संग्राम है, उसमें आसक्त लताओं और अङ्गनाओंसे व्याप्त यह नन्दनवन है ॥ १४ ॥

सुन्दर गानकी ध्वनिसे आनन्दपूर्वक देवाङ्गनाओंको नचानेवाले वीणाके समान मधुर स्वरवाले ये नारद और तुम्बुरु ऋषि हैं ॥ १५ ॥

ये अनेक पुण्यात्मा पुरुष हैं, जो विविध भूषणोंसे विभूषित होकर आकाशमें उड़ रहे विमानोंमें स्थित हैं ॥ १६ ॥

मदसे उत्पन्न कामदेवसे मत्त अङ्गवाली ये देवाङ्गनाएँ जैसे वनलताएँ वनकी सेवा करती हैं वैसे ही देवराज इन्द्रकी सेवा कर रही हैं ॥ १७ ॥

इन्द्रनील मणियाँ ही जिनके फूल हैं, चिन्तामणियाँ जिनके कलियोंके गुच्छे हैं तथा पके हुए फलोंके गुच्छोंसे लदे हुए ये कल्पवृक्ष हैं ॥ १८ ॥

यहांपर सिंहासनपर विराजमान इन देवराज इन्द्रको, जो दूसरे त्रिलोकी-स्रष्टाके (ब्रह्माके) तुल्य हैं, मैं अभिवादन करता हूँ ॥ १९ ॥

इति सञ्चिन्त्य शुक्रेण मनसैव शचीपतिः ।
तेनाऽभिवादितस्तत्र द्वितीय इव खे भृगुः ॥ २० ॥
अथ सादरमुत्थाय शुक्रः शक्रेण पूजितः ।
गृहीतहस्त आनीय समीपमुपवेशितः ॥ २१ ॥
धन्यस्त्वदागमे नाथ स्वर्गोऽयं शुक्र शोभते ।
उष्यतां चिरमेवेह शक्र इत्थमुवाच तम् ॥ २२ ॥
अथ तत्रोपविश्याऽसौ भार्गवः शोभिताननः ।
श्रियं जहार शशिनः सकलस्याऽमलस्य च ॥ २३ ॥
सकलसुरगणाभिवन्दितोऽसौ भृगुतनयः शतमन्युपार्श्वसंस्थः ।
चिरतरमतुलामवाप तुष्टिं नरपतिसत्तमलालनं बभूव ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने भार्गवमनोराज्यं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

यह सोचकर उन शुक्राचार्यने मनसे ही शचीपति इन्द्रको आकाशमें स्थित दूसरे महर्षि भृगुके तुल्य अभिवादन किया ॥ २० ॥

तदुपरान्त इन्द्रने सिंहासनसे उठकर शुक्राचार्यका आदरपूर्वक पूजन किया । उनका हाथ पकड़कर उन्हें अपने समीपमें लाकर बैठाया ॥ २१ ॥

हे श्रीशुक्राचार्यजी, यह स्वर्ग आपके शुभागमनसे धन्य होकर सुशोभित हो रहा है, हे प्रभो, आप चिरकालतक यहां निवास कीजिये, यों शुक्राचार्यसे इन्द्रने स्वर्गमें रहनेका अनुरोध किया ॥ २२ ॥

तदुपरान्त सुन्दरमुखकमलवाले श्रीशुक्राचार्यजीने वहांपर बैठकर सोलहों कलाओंसे युक्त निर्मल चन्द्रमाकी शोभाको हर लिया ॥ २३ ॥

सब देववृन्दोंसे अभिवन्दित एवं देवराज इन्द्रके समीपमें बैठे हुए श्रीशुक्राचार्यको चिरकालतक अतुल सन्तोष प्राप्त हुआ और वे नृपतियोंमें सर्वश्रेष्ठ देवराज इन्द्रके पुत्र आदिके तुल्य लालनीय हुए ॥ २४ ॥

छठा सर्ग समाप्त

सप्तमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति शुक्रः पुरं प्राप्य वैबुधं स्वेन तेजसा ।
विसस्मार निजं भावं प्राक्तनं व्यसनं विना ॥ १ ॥
मुहूर्तमिव विश्रम्य तस्य पार्श्वे शचीपतेः ।
स्वर्गं विहर्तुमुत्तस्थौ स्वर्गामिपरिमोदितः ॥ २ ॥
स्वाश्रियं स समालोक्य लोललोचनवाञ्छिताम् ।
स्त्रैणं द्रष्टुं जगामाऽसौ नलिनीमिव सारसः ॥ ३ ॥
तत्र तां मृगशावाक्षीं कान्तामध्यगतामसौ ।
ददर्श विपिनान्तस्थां भृगुश्चूतलतामिव ॥ ४ ॥
साऽपि तं भार्गवं राम दृष्ट्वा परवशाऽभवत् ।
तामालोक्य लसल्लोलविलासवलिताकृतिम् ।
आसीद् विलीयमानाङ्गो ज्योत्स्नामिन्दुमणिर्यथा ॥ ५ ॥

सातवाँ सर्ग

[स्वर्गमें शुक्रका पुनः अपनी प्रियाको देखना और परस्परके प्रेमाधिक्यसे दोनोंका संगम होना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त मनोराज्यके प्रभावसे शुक्राचार्य देवलोकमें पहुँचकर अपने पुण्यप्रतापसे मरण-दुःखके विना ही अपने प्राक्तन भावको (शुक्राचार्यताको) भूल गये ॥ १ ॥

इन्द्रके समीपमें एक मुहूर्तभर विश्राम कर श्रीशुक्राचार्य स्वर्गमें चलनेवाले देवताओंसे उत्साहित होकर स्वर्गमें विहार करनेके लिए उठ खड़े हुए ॥ २ ॥

स्वर्गकी शोभाको और अपनी सुन्दरताको स्त्रीजनोंकी अत्यन्त अभीष्ट जानकर जैसे सारस कमलिनीको देखनेके लिए जाता है वैसे ही वे अप्सराओंके समूहको देखनेके लिए गये ॥ ३ ॥

श्रीशुक्राचार्यजीने वनके मध्यमें स्थित आम्रलताके समान वहाँपर अप्सराओंके मध्यमें बैठी हुई मृगछौनेके नयनके तुल्य नयनवाली उस पूर्वदृष्ट अप्सराको देखा ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह अप्सरा भी श्रीशुक्राचार्यको देखकर मोहित हो गई

विलीयमानसर्वाङ्गस्तामवैक्षत कामिनीम् ।
चन्द्रकान्त इव ज्योत्स्नां शीतलां खे विलासिनीम् ॥ ६ ॥
तेनाऽवलोकिता साऽपि तत्परायणतां गता ।
निशान्ते चक्रवाकेन कान्तेव परिकूजिता ॥ ७ ॥
रसाद्विकसिता नूनमन्योन्यमनुरक्तयोः ।
प्रातरर्कनलिन्योर्या शोभा सैव तयोरभूत् ॥ ८ ॥
सङ्कल्पितार्थदायित्वाद्देशस्याऽभूच्च तेन सा ।
सर्वाङ्गं विवशीकृत्य कामायैव समर्पिता ॥ ९ ॥
पेतुः स्मरशरास्तस्या मृदुष्वङ्गेषु भूरिशः ।
पलाशेष्विव पद्मिन्या धारा इव पयोमुचः ॥ १० ॥
सा बभूव स्मरोद्धूता लोलालिवलयाकुला ।
मन्दवाताभिनुन्नाया मञ्जर्याः सहधर्मिणी ॥ ११ ॥

और शुक्राचार्य भी स्फुरित हो रहे चञ्चल हावभावरूपी विलासोंसे सराबोर आकारवाली उसको देखकर मोहित हो गए। जैसे चाँदनीको देखकर चन्द्रकान्त-मणिके सब अवयव गलने लगते हैं वैसे ही उसे देखकर मारे पसीनेके शुक्राचार्यके सब अवयव तर हो गये ॥ ५ ॥

पसीनेसे सराबोर शरीरवाले शुक्राचार्यजीने उस सुन्दर अप्सराको ऐसे देखा, जैसे कि चन्द्रकान्तमणि आकाशमें शोभित होनेवाली शीतल चाँदनीको देखती है ॥६॥

रात्रिमें वियोग होनेके उपरान्त रोदन करनेवाली चक्रवाकी जैसे प्रातःकालमें चक्रवाक द्वारा देखी जाती है वैसे ही शुक्राचार्यके प्रति अनुरक्त वह भी शुक्राचार्यसे देखी गई। अत्यन्त प्रेम होनेके कारण उसकी शोभाका ठिकाना न रहा। परस्पर एक दूसरेपर अनुरक्त हुए सूर्य और कमलिनीकी प्रातःकालमें जो शोभा होती है, वही उन दोनों की हुई ॥ ७, ८ ॥

चूँकि स्वर्गरूप देश संकल्पित अर्थको देनेवाला है, अतएव सम्पूर्ण अङ्गको विवश करके उसके द्वारा वह कामके लिए अर्पित हुई ॥ ९ ॥

जैसे कमलिनीके पत्तोंपर मेघोंकी धाराएँ गिरती हैं वैसे ही उसके कोमल अङ्गोंपर कामके एक-आध नहीं अनेकों बाण गिरे ॥ १० ॥

कामदेवसे कम्पित तथा भँवरके तुल्य चञ्चल कंकणोंसे युक्त वह मन्द-मन्द वायुसे हिलाई गई भँवरोंसे व्याप्त मञ्जरीके सदृश हुई ॥ ११ ॥

नीलनीरजनेत्रां तां हंससारसगामिनीम् ।
मदनः क्षोभयामास गजः कमलिनीमिव ॥ १२ ॥
अथ तां तादृशीं दृष्ट्वा शुक्रः सङ्कल्पितार्थभाक् ।
तमः सङ्कल्पयामास संहार इव भूतभुक् ॥ १३ ॥
त्रिविष्टपस्य देशोऽसौ बभूव तिमिराकुलः ।
भूलोकस्यान्धतमसा लोकालोकतटो यथा ॥ १४ ॥
लज्जान्धकारतीक्ष्णांशौ तस्मिंस्तिमिरमण्डले ।
प्रतिष्ठामागते तस्य मिथुनस्येव मण्डले ॥ १५ ॥
तेषु सर्वेषु भूतेषु गतेष्वभिमतां दिशम् ।
तस्मात् प्रदेशाद् भूलोके दिनान्ते विहगेष्विव ॥ १६ ॥
सा दीर्घचञ्चलापाङ्गी प्रवृद्धमदनव्यथा ।
आजगाम भृगोः पुत्रं मयूरी वारिदं यथा ॥ १७ ॥

जैसे मदोन्मत्त हाथी कमलिनीको रौंद डालता है वैसे ही नीलकमलके सदृश नयनवाली तथा हंस और सारसके समान चलनेवाली उस सुन्दरीको कामदेवने क्षोभित कर डाला ॥ १२ ॥

तदनन्तर सफल संकल्पवाले शुक्राचार्यने उस सुन्दरीकी वैसी दशा देखकर जैसे रुद्र प्रलयकालमें अन्धकारका संकल्प करते हैं वैसे ही अन्धकारका संकल्प किया ॥ १३ ॥

जैसे भूलोकके अन्धकारसे लोकालोक पर्वतका तट भर जाता है वैसे ही शुक्राचार्य द्वारा संकल्पित अन्धकारसे स्वर्गका नन्दनवनरूपी प्रदेश भर गया ॥१४॥

लज्जारूपी अन्धकारके लिए सूर्यस्वरूप यानी लज्जारूपी अन्धकारका निवारण करनेवाली उक्त अन्धकारराशिके नन्दनवनमें स्त्रीपुरुषोंके जोड़ेके तुल्य स्थिरताको प्राप्त होनेपर तथा उसकी सब सखियोंके सायंकालके समय—भूलोकमें चिड़ियोंकी नाईं—उस प्रदेशसे अपने-अपने अभिमत स्थानोंमें चले जानेपर बड़े-बड़े और चञ्चल नेत्रप्रान्तवाली तथा बढ़ी-चढ़ी कामपीड़ावाली वह जैसे मयूरी मेघके समीप जाती है वैसे ही भृगुपुत्र श्रीशुक्राचार्यके समीपमें आई ॥ १५—१७ ॥

धवलागारमध्यस्थे पर्यङ्के परिकल्पिते ।
विवेश भार्गवस्तत्र क्षीरोद इव माधवः ॥ १८ ॥
सा करावलम्ब्याऽस्य विवेशाऽवनतानना ।
रराज च सुरेभस्य हृदि लग्नेव पद्मिनी ॥ १९ ॥
उवाच चेदं मधुरं रसस्नेहाक्तया गिरा ।
वचो मधुरमानन्दविलासवलिताक्षरम् ॥ २० ॥
पश्याऽमलेन्दुवदन मण्डलीकृतकार्मुकः ।
अबलामनुबध्नाति मामेष किल नाङ्ककः ॥ २१ ॥
पाहि मामबलां नाथ दीनां त्वच्छरणामिह ।
कृपणाश्वासनं साधो विद्धि सच्चरितव्रतम् ॥ २२ ॥
स्नेहदृष्टिमजानद्भिर्मूढैरेव महामते ।
प्रणया अवगण्यन्ते न रसज्ञैः कदाचन ॥ २३ ॥
अशङ्कितोपसम्पन्नः प्रणयोऽन्योन्यरक्तयोः ।
अधःकरोति निष्यन्दं चन्द्रमाह्लादनं प्रिय ॥ २४ ॥

जैसे श्रीविष्णु भगवान् क्षीरसागरमें प्रवेश करते हैं वैसे ही शुभ्र भवनके मध्यमें स्थित सजे-सजाये पलंगपर भार्गवने प्रवेश किया ॥ १८ ॥

वह सुन्दरी भी भृगुपुत्रके हाथोंको पकड़कर वहाँपर प्रविष्ट हुई। मारे लज्जाके नतवदन वह सुन्दरी ऐरावतके हृदयमें लगी हुई पद्मिनीके समान सुशोभित हुई ॥ १९ ॥

प्रेम और स्नेहसे सराबोर वाणीसे उसने यह मधुर वचन कहा। उसके उस मधुर वचनमें प्रत्येक अक्षर आनन्दके विलाससे व्याप्त था ॥ २० ॥

हे चन्द्रवदन, देखिये, यह कामदेव अपने धनुषको पूर्णरूपसे तानकर मुझ अबलाको पशोपेशमें डाल रहा है ॥ २१ ॥

इसलिए हे नाथ, आप मेरी रक्षा कीजिये। मैं अबला हूँ और दीन हूँ। आप ही यहाँपर मेरे शरण हैं। हे सज्जनशिरोमणे, दीनोंको आश्वासन देना सच्चरित्र लोगोंका व्रत है, ऐसा आप जानिये ॥ २२ ॥

हे महामते, स्नेहदृष्टिको न जाननेवाले मूढजन ही अत्यधिक प्रीतिकी अवहेलना करते हैं, रसज्ञ लोग कदापि प्रीतिकी अवहेलना नहीं करते हैं ॥ २३ ॥

हे प्रियतम, एक दूसरेपर अनुरक्त हुए स्त्री-पुरुषोंका विच्छेद, अपराधगणना

न तथा सुखयत्येषा चेतस्त्रिभुवनेशिता ।
यथा परस्परानन्दः स्नेहः प्रथमरक्तयोः ॥ २५ ॥
त्वत्पादस्पर्शनेनेयं समाश्वस्ताऽस्मि मानद ।
चन्द्रपादपरामृष्टा यथा निशि कुमुद्वती ॥ २६ ॥
संस्पर्शामृतपानेन तव जीवामि सुन्दर ।
चन्द्रांशुरसपानेन चकोरी चपला यथा ॥ २७ ॥
मामिमां चरणालीनां भ्रमरीं करपल्लवैः ।
आलिङ्ग्याऽमृतसम्पूर्णे स्वपद्महृदये कुरु ॥ २८ ॥
इत्युक्त्वा पुष्पमृद्वङ्गी सा तस्य पतितोरसि ।
व्याघूर्णितालिनयना सुतरोरिव मञ्जरी ॥ २९ ॥

आदिकी शंकासे रहित उत्पन्न हुआ प्रेम, अमृत बरसानेवाले आनन्ददायक चन्द्रमासे बढ़-चढ़ कर है । जिलानेवाले और आनन्द देनेवाले एक दो नहीं हजारों चन्द्रमाओंसे भी प्रियतमका प्रेम बढ़ा-चढ़ा है, यह भाव है ॥ २४ ॥

यह त्रिलोकीका ऐश्वर्य चित्तको वैसा आनन्द नहीं देता जैसा कि पहले-पहल अनुरक्त हुए प्रियतमोंका परस्पर आनन्द देनेवाला प्रेम सुख देता है ॥ २५ ॥

हे संमान करनेवाले शुक्राचार्यजी, जैसे रात्रिमें चन्द्रमाकी किरणोंसे संस्पृष्ट कुँई विकासको प्राप्त होती है वैसे ही आपके चरणोंके स्पर्शसे यह मैं आश्वासनको प्राप्त हुई हूँ ॥ २६ ॥

हे सुन्दर, जैसे चपल चकोरी चन्द्रमाकी किरणोंके रसपानसे जीवित रहती है वैसे ही मैं आपके स्पर्शरूपी अमृतपानसे जीवित हो रही हूँ ॥ २७ ॥

हे प्राणनाथ, चरणोंमें लीन हुई इस भ्रमरीरूप मेरा हाथरूपी पल्लवोंसे आलिङ्गन कर आप मुझे स्नेह-दयारूपी अमृतसे भरे हुए अपने कमलरूपी हृदयमें धारण कीजिये ॥ २८ ॥

यह कहकर कल्पवृक्षकी मञ्जरीके तुल्य जिसके नयनरूपी भँवर मदसे घूम रहे थे, तथा फूलोंके तुल्य कोमल अंगवाली वह उसके वक्षस्थलपर गिर गई ॥ २९ ॥

तौ दम्पती तत्र विलासकान्ती विवेशतुस्तासु वनस्थलीषु ।
किंजल्कगौरानिलघूर्णितासु रक्तौ द्विरेफाविव पद्मिनीषु ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने नवसङ्गमो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति चित्तविलासेन चिरमुत्प्रेक्षितैः प्रियैः ।
प्रणयैर्भार्गवस्याऽऽसीत्तुष्टये सुसमागमः ॥ १ ॥
मन्दारमालाकलया विबुधासवमत्तया ।
तदा तेन तया सार्द्धं द्वितीयेनाऽमलेन्दुना ॥ २ ॥
विहृतं मत्तहंसासु हेमपङ्कजिनीषु च ।
तटीष्वमरवाहिन्याः सह चारणकिन्नरैः ॥ ३ ॥

जैसे केसरसे पीले हुए वायुसे कम्पित पद्मिनीमें परस्पर अनुरक्त भँवरी और भँवर प्रवेश करते हैं वैसे ही हावभाव आदि विलासोंसे अधिक कान्तिवाले वे दम्पती उन वनस्थलियोंमें प्रविष्ट हुए ॥ ३० ॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

[स्वर्गीय विविध सुखोंके भोगके अनन्तर भूलोकमें आये हुए शुक्रका वासनावश अनेक जन्मोंका तथा तपस्विताका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार चित्तके विलाससे चिरकाल तक कल्पित प्रिय प्रणयोंसे अप्सराका सुन्दर समागम श्रीशुक्राचार्यकी मनस्तुष्टिके लिए हुआ ॥ १ ॥

मन्दारके फूलोंकी मालाओंसे लदी हुई तथा देवताओंके उपभोगयोग्य अमृत या मदिरासे मस्त हुई उस अप्सराके साथ दूसरे निर्मल चन्द्रमाके तुल्य उक्त शुक्राचार्यने मन्दाकिनीके तटोंपर, जिनमें मदोन्मत्त हंस भ्रमण करते थे और सोनेके कमल खिले थे, चारण और किन्नरोंके साथ विहार किया ॥ २,३ ॥

पीतमिन्दुदलस्यन्दैर्देवैः सह रसायनम् ।
पारिजातलताजालनिलयेषु विलासिना ॥ ४ ॥

चारुचैत्ररथोद्यानलतालीलासुदोलया ।
चिरं विलसितं व्यग्रैः सह विद्याधरीगणैः ॥ ५ ॥

नन्दनोपवनाभोगो मन्दरेणेव वारिधिः ।
भृशमालोड्यतां नीतः प्रमथैः सह शाम्भवैः ॥ ६ ॥

बालहेमलताजालजटालासु नदीषु च ।
भ्रान्तमुन्मत्तनागेन मैरवीष्वब्जिनीष्विव ॥ ७ ॥

कैलासवनकुञ्जेषु तया सह विलासिना ।
हरेन्दुधवला रात्र्यः क्षपिता गणगीतिभिः ॥ ८ ॥

गन्धमादनशैलस्य विश्रम्योपरि सानुषु ।
सा तेन कनकाम्भोजैरापादमभिमण्डिता ॥ ९ ॥

चन्द्रमाकी कलाओंसे निर्मितशरीरवाले देवताओंके साथ उस विलासीने पारिजातकी लताओंके निकुञ्जोंमें रसायनका पान किया ॥ ४ ॥

झूला झूलनेके लिए व्यग्र हुई विद्याधरियोंके साथ कुबेरके मनोहर चैत्ररथ नामक उद्यानमें लीलाके लिए लताओंसे बने हुए सुन्दर झूलेसे चिरकाल तक क्रीड़ा की ॥ ५ ॥

जैसे मन्दराचल समुद्रमें अवलोडन करता है वैसे ही उसने श्रीशिवजीके पार्षदोंके साथ नन्दनवनके एक छोरसे दूसरे छोर तक खूब परिभ्रमण किया ॥६॥

नूतन-नूतन सुवर्णकी लताओंसे व्याप्त सुमेरुपर्वतकी नदियों और भूमियोंमें उसने इस प्रकार भ्रमण किया जिस प्रकार कि उन्मत्त हाथी कमलोंसे भरे हुए तालाबमें भ्रमण करता है ॥ ७ ॥

उस विलासीने उस अप्सराके साथ कैलासवनके कुञ्जोंमें श्रीशिवजीके मस्तकपर विराजमान चन्द्रमासे सदा (कृष्णपक्षमें भी) चाँदनी रातें शिवजीके गणोंके गीतोंके साथ बिताईं ॥ ८ ॥

श्रीशुक्राचार्यने गन्धमादन पर्वतके ऊपरके शिखरोंपर विश्राम लेकर उस सुन्दरीको सिरसे लेकर पैरतक सुवर्णके कमलोंसे विभूषित किया ॥ ९ ॥

लोकालोकतटान्तेषु विचित्राश्चर्यहारिषु ।
क्रीडितं कृतहासेन राम तेन तया सह ॥ १० ॥
मन्दरान्तरकच्छेषु सार्धं हरिणशावकैः ।
अवसत् स समाः षष्टिं कल्पितामरमन्दिरे ॥ ११ ॥
क्षीरार्णवतटीष्वस्य वनितासहचारिणः ।
क्षीणं कृतयुगादर्द्धं श्वेतद्वीपजनैः सह ॥ १२ ॥
गन्धर्वनगरोद्यानलीलाविरचनैरसौ ।
स्रष्टाऽनन्तजगत्सृष्टेः कालस्याऽनुकृतिं गतः ॥ १३ ॥
अथाऽवसदसौ शुक्रः पुरन्दरपुरे पुनः ।
सुखं चतुर्युगान्यष्टौ हरिणेक्षणया सह ॥ १४ ॥
पुण्यक्षयानुसन्धानात् ततश्चाऽवनिमण्डले ।
तयैव सह मानिन्या पपातोपहताकृतिः ॥ १५ ॥
परालूनसमस्ताङ्गो हृतस्यन्दननन्दनः ।
चिन्तापरवशो ध्वस्तः समितीव हतो भटः ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, लोकालोक पर्वतके तटोंके आसपासकी भूमियोंमें, जो विविध आश्चर्योंसे भरपूर थीं, हँसते हुए उसने उस अप्सराके साथ क्रीड़ा की ॥१०॥

मन्दराचलके मध्यवर्ती जलप्राय शीतल प्रदेशोंमें उसने मृगछौनोंके साथ अपने मनसे कल्पित देवमन्दिरमें साठ वर्षोंतक निवास किया ॥ ११ ॥

स्त्रीके साथ निवास करनेवाले श्रीशुक्राचार्यका क्षीरसागरके तटोंमें श्वेतद्वीपके लोगोंके साथ आधा सत्ययुग बीत गया ॥ १२ ॥

गन्धर्वनगरके उद्यानोंकी क्रीड़ाओंके निर्माणसे एकमात्र मनोरथ द्वारा अनन्त संसारोंकी सृष्टिका सर्जनहार होकर शुक्र ही कालकी समताको प्राप्त हुआ ॥ १३ ॥

तदनन्तर श्रीशुक्राचार्यने उस मृगनयनीके साथ पुनः स्वर्गमें सुखपूर्वक आठ चौकड़ियों तक निवास किया ॥ १४ ॥

तदुपरान्त स्वर्गसे पतनके स्मरणके भयसे जिनका दिव्य शरीर गल गया था, ऐसे श्रीशुक्राचार्य पुण्यक्षयसे उस सुन्दरीके ही साथ भूमिपर गिर पड़े ॥ १५ ॥

जिनके सब दिव्य अङ्ग-प्रत्यङ्ग कट गये थे और विमान, नन्दनवन तथा वस्त्र, आभूषण आदिके उपभोगके साधन जिनसे छीने गये थे एवं चिन्ताग्रस्त श्रीशुक्राचार्य युद्धमें मारे गये भटकी नाईं नीचे गिर गये ॥ १६ ॥

पतितस्याऽवनौ तस्य चिन्तया सह दीर्घया ।
शरीरं शतधा जातं शिलापातीव निर्झरः ॥ १७ ॥
संशीर्णयोर्देहकयोश्चित्तके व्यसनाविले ।
विचेरतुस्तयोर्व्योम्नि निर्नीडौ विहगौ यथा ॥ १८ ॥
तत्राऽऽविविशतुश्चान्द्रं ते चित्ते रश्मिजालकम् ।
प्रालेयतामुपेत्याऽऽशु शालितामथ जग्मतुः ॥ १९ ॥
शालींस्तान् भुक्तवान् पक्वान् दशार्णेषु द्विजोत्तमः ।
स शुक्रः शुक्रतामेत्य तद्भार्यातनयोऽभवत् ॥ २० ॥
ततो मुनीनां संसर्गात्तपस्युग्रे व्यवस्थितः ।
अवसन्मेरुगहने मन्वन्तरमनिन्दितः ॥ २१ ॥
तत्र तस्य समुत्पन्नो मृग्याः पुत्रो नराकृतिः ।
तत्स्नेहेन परं मोहं पुनरप्यापययौ क्षणात् ॥ २२ ॥
पुत्रस्याऽस्य धनं मेऽस्तु गुणाश्चाऽऽयुश्च शाश्वतम् ।
इत्यनारतचिन्ताभिर्जहौ सत्यामवस्थितिम् ॥ २३ ॥

दीर्घ चिन्ताके साथ भूमण्डलपर गिरे हुए उनके शरीरके शिलाके ऊपर गिरे हुए झरनेकी धारके समान सौ टुकड़े हो गये ॥ १७ ॥

उन दोनोंके खण्ड-खण्ड हुए दो शरीरोंके लिङ्गशरीर दुःखसे मलिन होकर जिनके घोंसले नष्ट हो गये हों, ऐसे पक्षियोंके तुल्य आकाशमें घूमने लगे ॥१८॥

आकाशमें वे दो लिङ्गशरीर चन्द्रमाकी किरणोंमें प्रविष्ट हुए। तदनन्तर तुरन्त ओसकी बूँद बनकर धानके रूपमें परिणत हो गये ॥ १९ ॥

पके हुए उन धानोंको दशार्णदेशनिवासी ब्राह्मणने खाया। वह शुक्राचार्य वीर्य बनकर उस ब्राह्मणकी भार्याका पुत्र हुआ ॥ २० ॥

ब्राह्मणके घर जन्म लेनेके अनन्तर मुनियोंके साथ संगति होनेसे घोर तपस्यामें स्थित हुआ वह पुण्यवान् एक मन्वन्तरतक मेरुपर्वतके गहन वनमें रहा ॥ २१ ॥

वहाँपर उसका शापवश मृगी बनी हुई उस अप्सरासे नराकार पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्रके स्नेहसे वह फिर भी तुरन्त अत्यन्त मोहको प्राप्त हो गया ॥ २२ ॥

मेरे इस पुत्रके धन हो, बड़े उत्तम गुण हों, बड़ी आयु हो इस प्रकार सदा बनी रहनेवाली चिन्ताओंसे उसने ध्यान आदिकी निष्ठाका परित्याग कर दिया ॥२३॥

धर्मचिन्तापरिभ्रंशात् पुत्रार्थं भोगचिन्तया ।
क्षीणायुषं तमहरन्मृत्युः सर्प इवाऽनिलम् ॥ २४ ॥
भोगैकचिन्तया सार्धं समुत्क्रान्तचेतनः ।
प्राप्य मद्रेशपुत्रत्वमासीन्मद्रमहीपतिः ॥ २५ ॥
मद्रदेशे चिरं कृत्वा राज्यमुत्सन्नशात्रवम् ।
जरामभ्याजगामाऽत्र हिमाशनिमिवाऽम्बुजम् ॥ २६ ॥
मद्रराजतनुं चारुं तपोवासनया सह ।
तत्याज तेन जातोऽसौ तपस्वी तापसात्मजः ॥ २७ ॥
समङ्गाया महानद्यास्तटमासाद्य तापसः ।
तपस्तेपे महाबुद्धिः स राम विगतज्वरः ॥ २८ ॥
विविधजन्मदशां विविधाशयः समनुभूय शरीरपरम्पराः ।
सुखमतिष्ठदसौ भृगुनन्दनो वरनदीसुतटे दृढवृक्षवत् ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने शुक्रविविधजन्मानुभवो नामाऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

—०—

पुत्रके लिए भोगोंकी चिन्तासे धर्मके चिन्तनसे विमुख होनेके कारण क्षीणायु हुए उसको मृत्युने ऐसे ग्रसा जैसे कि साँप वायुको ग्रसता है ॥ २४ ॥

एकमात्र भोगोंकी चिन्ताके साथ उसके प्राणपखेरू उड़े थे, अतएव वह मद्रदेशाधिपतिका लड़का बनकर समय आनेपर मद्रदेशका शासक बना ॥२५॥

मद्रदेशमें चिरकालतक निष्कण्टक राज्य करके जैसे कमल हिमरूपी वज्रको प्राप्त होता है वैसे ही वह बुढ़ापेको प्राप्त हुआ ॥ २६ ॥

तपकी वासनाके यानी वानप्रस्थके धर्मचिन्तनके साथ उसने वह सुन्दर मद्रराजका शरीर छोड़ा था, इस कारण वह तपस्वीका लड़का और स्वयं तपस्वी हुआ ॥ २७ ॥

हे श्रीरामजी, शान्ति आदिसे राग आदि सन्तापोंका निरास कर चुके उस महामति तपस्वीने समङ्गा नामकी महानदीके तटपर पहुँचकर तपस्या की ॥ २८ ॥

वह पूर्वोक्त शुक्राचार्य नाना प्रकारकी वासनाओंसे वासित होकर उन वासनाओंके अनुसार प्राप्त होनेवाली विविध जन्मदशाओंको प्राप्तकर, शरीर

नवमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति चिन्तयतस्तस्य शुक्रस्य पितुरग्रतः ।
जगामाऽतितरां कालो बहुसंवत्सरात्मकः ॥ १ ॥
अथ कालेन महता पवनातपजर्जरः ।
कायस्तस्य पपातोर्व्यां छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ २ ॥
मनस्तु चञ्चलाभोगं तासु तासु दशासु च ।
बभ्रामाऽतिविचित्रासु वनराजिष्विवैणकः ॥ ३ ॥
भ्रान्तमुद्भ्रान्तमभितश्चक्रार्पितमिवाऽऽकुलम् ।
मनस्तस्य विशश्राम समङ्गासरितस्तटे ॥ ४ ॥

परम्पराओंका भली भाँति अनुभव कर भाग्यवश प्राप्त हुई वैराग्य आदिकी साधन-सम्पत्तिसे समङ्गा नामकी बड़ी नदीके सुन्दर तटपर विक्षेपशून्य हो, दृढ़वृक्षके समान यानी छेदन, भेदन आदि हजारों विक्षेप होनेपर भी अचल रहनेवाले वृक्षके तुल्य स्थित रहा ॥ २९ ॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नवाँ सर्ग

[भृगुऋषिके समीपमें स्थित मृतप्राय शुक्रशरीरके पतन और सूखनेका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार पिताके आगे मनोराज्योंसे कल्पना कर रहे श्रीशुक्राचार्यका अनेक वर्षका लम्बा समय बीत गया ॥१॥

इसके अनन्तर अधिक समय बीतनेके कारण वायु और धूपसे जर्जरित हुआ शुक्राचार्यका शरीर, जिसकी जड़ कट गई हो, ऐसे वृक्षके तुल्य, पृथिवीपर गिर पड़ा ॥ २ ॥

किन्तु चञ्चल शरीरवाले मनने तो पुनः पुनः अपनेसे कल्पित स्वर्गगमन आदि अति विचित्र दशाओंमें जैसे अत्यन्त विचित्र वनश्रेणियोंमें मृग भ्रमण करता है वैसे ही भ्रमण किया ॥ ३ ॥

उसके मनको, जिसने विविध भोगोंकी कल्पनाओंसे भ्रमण किया, जन्ममरण-

अनन्तवृत्तान्तघनां पेलवां सुदृढामपि ।
तां संसृतिदशां शुक्रो विदेहोऽनुभवन् स्थितः ॥ ५ ॥
मन्दराचलसानुस्था सा तनुस्तस्य धीमतः ।
तापप्रसरसंशुष्का चर्मशेषा बभूव ह ॥ ६ ॥
शरीररन्ध्रप्रवहद्वातसीत्काररूपया ।
चेष्टादुःखक्षयानन्दात् काकल्येव प्रगायति ॥ ७ ॥
मनोवराकमवटे लुठितं भवभूमिषु ।
हसतीवेति शुभ्राभ्रसितया दन्तमालया ॥ ८ ॥
दर्शयन्ती जगच्छून्यं वपुरक्ष्णोरकृत्रिमम् ।
मुखारण्यजरत्कूपरूपया गर्तशोभया ॥ ९ ॥

परम्पराओंकी कल्पनासे चक्रमें रक्खे हुएकी तरह व्याकुलतापूर्वक चारों ओर ऊपर-नीचे चक्कर काटा, समज्ञानदीके तटपर विश्रान्ति मिली ॥ ४ ॥

शुक्राचार्य अपने शरीरकी कुछ भी परवाह न कर अनन्त वृत्तान्तोंसे भरी हुई, मनकी कल्पनामात्र होनेके कारण अत्यन्त कोमल तथा यह सत्य है, इस भ्रान्तिवश पूर्व देहके विस्मरणसे अत्यन्त दृढ़ उस संसारदशाका अनुभव करते रहे ॥ ५ ॥

उस धीमान्‌का मन्दराचलके शिखरपर स्थित वह स्थूल शरीर तापकी अधिकतासे सूखकर बाहर केवल चर्मशेष रहा और भीतर केवल हड्डी ही उसमें रह गई ॥ ६ ॥

वह शरीर अभिमानदुःखके क्षयसे प्राप्त आनन्दके कारण शरीरके छिद्रोंमें बह रहे वायुके, बाँसके छिद्रोंमें बह रहे वायुकी वेणुध्वनिके तुल्य, सीत्कारोंसे हुई काकलीसे (मीठी महीन तानसे) देहकी ऐसी गति होती है, यों देहकी चेष्टाओंको मानो गाता था ॥ ७ ॥

वह शरीर संसारभूमियोंमें भोगाशारूपी गड्ढेमें पूर्वोक्त रीतिसे गिरे हुए बेचारे मनका सफेद मेघोंके सदृश सफेद दन्तपङ्क्तिसे मानो उपहास करता था ॥ ८ ॥

वह शरीर मुखमण्डलरूपी अरण्यमें पुराने अंधे कुओंके तुल्य नाक, आँख, मुँह आदिके गड्ढोंकी शोभासे जगत्‌की स्वाभाविक असद्रूपताको (शून्यताको) विवेकी पुरुषोंके चर्मचक्षुओंके सामने दर्शाता हुआ-सा स्थित था ॥ ९ ॥

तापोपतप्ता संसिक्ता वर्षाजलभरेण सा ।
प्रागनुस्मरणोल्लासमिव बाष्पं विमुञ्चति ॥ १० ॥
चण्डानिलविलासेन लुलिता वनभूमिषु ।
धारानिकरपातेन विनुन्ना जलदागमे ॥ ११ ॥
प्रावृण्निर्झररूपेण प्लुता गिरिनदीतटे ।
पांशुना पवनोत्थेन दुष्कृतेनेव रूषिता ॥ १२ ॥
शुष्ककाष्ठवदालोला वातेषु कृतखाकृतिः ।
तारमारुतसीत्कारे वने तप इवाऽऽस्थिता ॥ १३ ॥
वक्रा शुष्कान्त्रतन्त्री च भूतभाङ्कारकारिणी ।
अरण्यलक्ष्मीर्बाल्येव शून्या चर्ममयोदरी ॥ १४ ॥
रागद्वेषविहीनत्वात् तस्य पुण्याश्रमस्य तु ।
महातपस्त्वाच्च भृगोर्न भुक्ता मृगपक्षिभिः ॥ १५ ॥

पहले सूर्यसंतापसे तपाया गया, तापसे तपनेके बाद वर्षाऋतुकी मूसलाधार वृष्टिसे सींचा गया वह शरीर मानो अपने बन्धुरूप पूर्वपूर्व शरीरोंकी परम्पराके स्मरणसे उत्पन्न हुए दुःखसे या आनन्दसे बढ़नेवाले बाष्पको छोड़ता था ॥ १० ॥

चण्डानिलके (तेज आँधीके) विलाससे वनभूमियोंमें इधर-उधर लुढ़कता था और वर्षाऋतुके आनेपर वृष्टिकी धाराओंके निपातसे ताड़ित होता था, पर्वतकी नदीके तटपर वर्षाऋतुके झरनेके तुल्य गेरु आदि धातुओंके रंगसे रंगा गया था, आँधीसे उड़ी हुई धूलीसे, जो पापके सदृश थी, वह सना था ।

सूखे काठके समान वह चञ्चल था, वायु बहनेपर आकाशमें भाँजनेसे उत्पन्न हुआ तलवारका-सा शब्द करता था, तेजवायुकी सायँ-सायँसे भरे हुए वनमें मानो वह तपस्या करता था । वह शुक्राचार्यका शरीर टेढ़ा हो गया था, उसके आंतरूपी तन्तु सूख गये थे, वह प्राणियोंको डरानेवाली भीषण ध्वनि करता था, वह अलक्ष्मीके तुल्य था, आहारसे शून्य था, अतएव उसके पेटमें केवल चमड़ा ही बच गया था ॥ ११–१४ ॥

उस पवित्र आश्रममें राग-द्वेषकी कहीं गन्ध भी न थी और महर्षि भृगुजी महातपस्वी थे, अतएव शुक्राचार्यके शरीरको मांसाहारी पशुपक्षियोंने नहीं खाया ॥१५॥

यमनियमकृशीकृताङ्गयष्टिश्चरति तपः स्म भृगूद्वहस्य चेतः ।
तनुरथ पवनापनीतरक्ता चिरमलुठन्महतीषु सा शिलासु ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने भार्गवकलेवरवर्णनं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ वर्षसहस्रेण दिव्येन परमेश्वरः ।
भृगुः परमसम्बोधाद् विरराम समाधितः ॥ १ ॥
नाऽपश्यदग्रे तनयं विनयावनताननम् ।
सामन्तं गुणसेनायाः पुण्यं मूर्तमिव स्थितम् ॥ २ ॥
अपश्यत् केवलं कायकङ्कालं पुरतो महत् ।
देहयुक्तमिवाऽभाग्यं दारिद्र्यमिव मूर्तिमत् ॥ ३ ॥

शुक्राचार्यका चित्त, जिसने कि यम और नियमोंसे अपनी शरीरयष्टिको कृश बना डाला था, तपस्या करता था और उनका वह पूर्वशरीर, जिसके रुधिरको वायुने सुखा दिया था, बड़ी-बड़ी शिलाओंपर चिरकालतक बराबर लुढकता रहा ॥ १६ ॥

नवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

[पुत्रका शरीर देखनेसे भृगुजीका कालके प्रति क्रोध तथा कालका आत्मविद्यासे भृगुजीको बोधित करना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर देवताओंके हजार वर्ष बीतनेपर भगवान् भृगुजी भगवान्‌का साक्षात्कार करानेवाली समाधिसे उठे ॥ १ ॥

उन्होंने विनयसे अवनत, सैकड़ों सद्गुणोंके आकर, मूर्तिमान् पुण्यके सदृश पुत्र श्रीशुक्रको अपने आगे नहीं देखा किन्तु उन्होंने पुत्रके बदले अपने आगे देहधारी दुर्भाग्यके सदृश तथा मूर्तिमान् दारिद्र्यके तुल्य शुक्राचार्यका केवल महान् देहपञ्जर (शव) देखा ॥ २, ३ ॥

तापशुष्कवपुः कृत्तिरन्ध्रस्फुरिततित्तिरि ।
संशुष्कान्त्रोदरगुहाछायाविश्रान्तदर्दुरम् ॥ ४ ॥
नेत्रगर्तकसंसक्तप्रसूतनवकीटकम् ।
पर्शुकापञ्जरप्रोतकोशकारकृमिव्रजम् ॥ ५ ॥
प्राक्तनीमुपभोगेहामिष्टानिष्टफलप्रदाम् ।
धाराधौतान्त्रया तद्वद् भृशं शुष्कास्थिमालया ॥ ६ ॥
शिरोघटेन शुभ्रेण मसृणेनेन्दुवर्चसा ।
विडम्बयच्च कर्पूराप्लुतलिङ्गशिरःश्रियम् ॥ ७ ॥
ऋज्व्या संशुष्कशिरया स्वास्थिमात्रावशेषया ।
ग्रीवयाऽऽत्मानुसृतया दीर्घीकुर्वदिवाऽऽकृतिम् ॥ ८ ॥
मृणालिकापाण्डुरया धारावभृतमांसया ।
नासाग्रास्थिकया वक्त्रे कृतसीमाकृतिं दधत् ॥ ९ ॥

उक्त नरकङ्कालका ही वर्णन करते हैं—'**ताप०**' इत्यादिसे ।

धूपसे उसका शरीर सूखकर कांटा हो गया था, उसके चमड़ेके छेदोंमें तीतिर फुदुक रहे थे, उदररूपी गुहाकी, जिसकी आंते सूख गई थीं, छायामें मेंढक आराम कर रहे थे, आँखोंके गड्ढोंमें नये-नये कीड़े सटे थे, बच्चे देनेसे उनकी संख्या कहीं अधिक बढ़ गई थी और पसलीरूपी पिंजड़ेमें मकड़ियोंके दलके दल गुँथे थे ॥ ४, ५ ॥

वह कङ्काल वर्षाकी धाराओंसे धोई हुई अँतड़ीसे और खूब सूखी हुई हड्डियोंकी मालासे भला और बुरा फल देनेवाली पूर्वकालकीभोगवासनाका अनुकरण करता था एवं सफेद, चिकने तथा चन्द्रमाके समान प्रकाशमान सिररूपी घड़ेसे कपूरसे लिप्त शिवलिङ्गके सिरकी शोभाका अनुकरण करता था ॥ ६,७ ॥

वह सीधी गर्दनसे, जिसकी नसें सूख गई थीं, एकमात्र हड्डी शेष रह गई थी एवं जो वासनासे व्याप्त आत्माका अनुसरण-सा कर रही थी, अपने आकारको ऊँचा कर रहा था ॥ ८ ॥

वह कमलकी जड़के तुल्य सफेद नासिकाके अग्रभागकी छोटी हड्डीसे, जिसका कि वृष्टिकी धाराओंसे मांस गिर गया था, मुँहमें सीमा जाननेके लिए गाड़े हुए पत्थर आदिके आकारको धारण करता था ॥ ९ ॥

दीर्घकन्धरया नूनमुन्नतीकृतवक्त्रया ।
प्रेक्षमाणमिव प्राणानुत्क्रान्तानम्बरोदरे ॥ १० ॥
जङ्घोरुजानुदोर्दण्डैर्द्विगुणां दीर्घतां गतैः ।
प्रतिष्ठानमिवाऽऽशान्तं दीर्घाध्वश्रमभीतितः ॥ ११ ॥
उदरेणाऽतिरिक्तेन चर्मशेषेण शोषिणा ।
प्रदर्शयदिवाऽज्ञस्य हृदयस्याऽतिशून्यताम् ॥ १२ ॥
प्रेक्ष्य तच्छुष्ककङ्कालमालानं दुःखदन्तिनः ।
पूर्वापरपरामर्शमकुर्वन् भृगुरुत्थितः ॥ १३ ॥
आलोकसमकाले हि प्रतिभानं ततो भृगोः ।
चिरमुत्क्रान्तजीवः किं मत्पुत्रोऽयमिति क्षणात् ॥ १४ ॥
अचिन्तयत एवाऽस्य भविष्यं तनयं ततः ।
कालं प्रति बभूवाऽऽशु कोपः परमदारुणः ॥ १५ ॥

वह कंकाल ऊँची गर्दनसे, जिसने उसके मुँहको ऊँचा किया था, मानो आकाशमें उड़े हुए प्राणपखेरुओंको देख रहा था ॥ १० ॥

दीर्घ परलोकमार्गके परिश्रमसे उसे भय था, अतएव फूल कर दुगुने हुए आठ अङ्गोंसे—जाँघ, घुटनों, बाहुदण्डों और उरुओंसे—आठ दिशाओंके प्रति प्रस्थान करता हुआ-सा वह स्थित था। भाव यह कि उनसे पृथक् होकर वह भागना चाहता था ॥ ११ ॥

अत्यन्त रिक्त, सूखे हुए एवं चमड़ा ही जिसमें शेष है, ऐसे उदरसे अज्ञानीके हृदयकी शून्यताको मानो वह दर्शा रहा था ॥ १२ ॥

अपने दुःखरूपी हाथीके बन्धनस्तम्भके तुल्य उस सूखे हुए कङ्कालको देखकर पूर्वापरका विचार न करते हुए भृगु उठ खड़े हुए ॥ १३ ॥

तदनन्तर पुत्रके कंकालको देखते ही भृगुके मनमें तुरन्त यह वितर्क उत्पन्न हुआ कि क्या मेरे लड़केके प्राणपखेरू चिरकालसे उड़ गये हैं ! ॥ १४ ॥

अवश्यम्भावी वस्तुका विचार न कर रहे महर्षि भृगुको पुत्रको मरा देखकर तुरन्त कालके प्रति बड़ा गुस्सा आया ॥ १५ ॥

अकाल एव मत्पुत्रो नीतः किमिति कोपितः ।
कालाय शापमुत्स्रष्टुं भगवानुपचक्रमे ॥ १६ ॥
अथाऽकलितरूपोऽसौ कालः कवलितप्रजः ।
आधिभौतिकमास्थाय वपुर्मुनिमुपाययौ ॥ १७ ॥
खड्गपाशधरः श्रीमान् कुण्डली कवचान्वितः ।
षड्भुजः षण्मुखो बह्व्या वृतः किङ्करसेनया ॥ १८ ॥
यच्छरीरसमुत्थेन ज्वालाजालेन वल्गता ।
फुल्लकिंशुकवृक्षस्य बभाराऽद्रेः श्रियं नभः ॥ १९ ॥
यत्करस्थत्रिशूलाग्रनिःसृतैरग्निमण्डलैः ।
विरेजुरुदितैराशाः कानकैरिव कुण्डलैः ॥ २० ॥
यत्परश्वसनापास्तशिखरा मेदिनीभृतः ।
दोलामिव समारूढाश्चेलुः पेतुश्च घूर्णिताः ॥ २१ ॥
यत्खड्गमण्डलोद्योतैः श्यामं बिम्बं विवस्वतः ।
कल्पदग्धजगद्धूमपर्याकुलमिवाऽऽबभौ ॥ २२ ॥

हे क्रूर काल, अकालमें ही तुमने मेरे पुत्रको क्यों मारा ? यों कुपित हुए भगवान् भृगु कालको शाप देनेके लिए तैयार हुए ॥ १६ ॥

मुनिजीके शाप देनेके लिए उद्यत होनेपर लोगोंको कवलित करनेवाला रूपरहित भी यह काल आधिभौतिक शरीर धारण कर मुनिजीके पास आया ॥ १७ ॥

उसकी शोभा अद्भुत थी, उसके हाथमें खड्ग और पाश था, वह कुण्डलोंसे विभूषित था और कवच पहने था । प्रत्येक ओर उसकी छः भुजाएँ (बारह मासरूप बारह भुजाएँ) थीं, छः (ऋतुरूपी) मुख थे, अपनी बड़ी भारी किंकरोंकी सेनासे वह घिरा था। उस समय उसके शरीरसे उत्पन्न हुई और चारों ओर फैल रही ज्वालाओंसे फूले हुए पलाशके वृक्षोंसे पूर्ण पर्वतकी शोभाको आकाश धारण करता था। उसके हाथमें स्थित त्रिशूलके शिखरोंसे बाहर निकल रहीं अग्निकी ज्वालाओंसे, जो सुवर्णके कुण्डलोंके तुल्य प्रतीत होती थीं, दसों दिशाएँ सुशोभित हुईं ॥१८–२०॥

उसके तेज श्वासवायुसे छिन्न-भिन्न शिखरवाले हुए पर्वत झूलेमें बैठे हुएकी तरह इधर-उधर झूलते और चक्कर काटकर गिर पड़ते थे ॥ २१ ॥

उसके तलवारके मण्डलकी चमकसे काला हुआ सूर्यका बिम्ब प्रलयकालमें जले हुए जगत्के धुँएसे व्याकुल हुआ-सा मालूम पड़ता था ॥ २२ ॥

स उपेत्य महाबाहो कुपितं तं महामुनिम् ।
कल्पक्षुब्धाब्धिगम्भीरं सान्त्वपूर्वमुवाच ह ॥ २३ ॥
विज्ञातलोकस्थितयो मुने दृष्टपरावराः ।
हेतुनाऽपि न मुह्यन्ति किन्तु हेतुं विनोत्तमाः ॥ २४ ॥
त्वमनन्ततपा विप्रो वयं नियतिपालकाः ।
तेन सम्पूज्यसे पूज्यः साधो नेतरयेच्छया ॥ २५ ॥
मा तपः क्षपयाऽबुद्धे कल्पकालमहानलैः ।
यो न दग्धोऽस्मि मे तस्य किं त्वं शापेन धक्ष्यसि ॥ २६ ॥
संसारावलयो ग्रस्ता निगीर्णा रुद्रकोटयः ।
भुक्तानि विष्णुवृन्दानि क्व न शक्ता वयं मुने ॥ २७ ॥
भोक्तारो हि वयं ब्रह्मन् भोजनं युष्मदादयः ।
स्वयं नियतिरेषा हि नाऽऽवयोरेतदीहितम् ॥ २८ ॥

हे महाबाहो श्रीरामचन्द्रजी, वह काल कुपित हुए भृगुजीके पास आकर प्रलयकालमें क्षुब्ध हुए समुद्रके तुल्य गंभीर स्वरसे शान्तिपूर्वक उनसे बोला ॥२३॥

हे मुनिजी, लोककी मर्यादाको जाननेवाले एवं पूर्वापर व्यवहारोंको देखे हुए उत्तम लोग दूसरेसे अपराध होनेपर भी मोहको प्राप्त नहीं होते। अपराधरूप हेतुके न रहनेपर तो कहना ही क्या है ? ॥ २४ ॥

भगवन्, आप महातपस्वी ब्राह्मण हैं। हम नियमका पालन करनेवाले हैं, हे साधो, आप पूज्य हैं, इसलिए हम आपकी पूजा करते हैं। शापके भय आदिसे उत्पन्न हुई इच्छासे हम आपकी पूजा नहीं करते ॥ २५ ॥

हे बुद्धिरहित * मुनिजी, आप तपका नाश न कीजिये। जो मैं प्रलयकाल-रूपी महावह्नियोंसे भी नहीं जलाया गया, उसका आप अपने शापसे क्या जलायेंगे ? ॥ २६ ॥

हमने संसारकी पंक्तियोंकी पंक्तियाँ निगल डालीं हैं, करोड़ों रुद्र चबा डाले हैं, एक नहीं, हजारों विष्णुओंको ग्रस डाला है। हे मुनिजी, किस विषयमें हम समर्थ नहीं हैं ? उसे जरा उदाहरणरूपसे उपस्थित तो कीजिये ॥ २७ ॥

हे ब्रह्मन्, हम लोग भोक्ता हैं और आप लोग हमारे भोजन हैं, यह

---

* बुद्धिके ज्ञानसे बाधित होनेके कारण हे अबुद्धे यानी हे अविद्यमानबुद्धे यों मुनिकी प्रशंसा ही की है।

स्वयमूर्ध्वं प्रयात्यग्निः स्वयं यान्ति पयांस्यधः ।
भोक्तारं भोजनं याति सृष्टिं चाऽप्यन्तकः स्वयम् ॥ २९ ॥
इदमित्थं मुने रूपं ममेह परमात्मनः ।
स्वात्मनि स्वयमेवाऽऽत्मा स्वत एव विजृम्भते ॥ ३० ॥
नेह कर्ता न भोक्ताऽस्ति दृष्ट्या नष्टकलङ्कया ।
बहवश्चेह कर्तारो दृष्ट्याऽनष्टकलङ्कया ॥ ३१ ॥
कर्तृताकर्तृते ब्रह्मन् केवलं परिकल्पिते ।
असम्यग्दर्शनेनैव न सम्यग्दर्शनस्य ते ॥ ३२ ॥
पुष्पाणि तरुखण्डेषु भूतानि भुवनेषु च ।
स्वयमायान्ति यान्तीह कल्पते हेतुनामभिः ॥ ३३ ॥

स्वाभाविक मर्यादा है। इच्छा, द्वेष आदि किसी अन्य निमित्तसे हम लोगोंका यह भोग्यभोक्तृत्व व्यवहार नहीं है ॥ २८ ॥

अग्नि अपने-आप ऊपरकी ओर जलती है और जल स्वभावतः नीचेकी ओर बहता है, भोजन स्वभावतः भोक्ताके पास आता है और विनाशकाल भी जितने जन्य पदार्थ हैं उनके पास स्वभावतः आता है ॥ २९ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि आपकी यह सर्वभोक्तृता कहाँसे आई और आपका क्या स्वरूप है ? तो उसपर कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे ।

यह मूर्तामूर्त जगत् परमात्मारूप मेरा यों भोज्यरूपसे ही अपनेमें कल्पित रूप है, क्योंकि परमात्मा अपनेमें स्वयं ही जगत्‌रूपसे विकासको प्राप्त होता है, अतः स्वयं ही इसका उपसंहार करता है, यह भावार्थ है ॥ ३० ॥

यह भी औपनिषदव्यवहारदृष्टिसे कहा है, परमार्थदृष्टिसे तो कहते हैं—**'नेह'** इत्यादिसे ।

कलङ्करहितदृष्टिसे (परमार्थदृष्टिसे) न तो यहाँ कोई कर्ता है और न कोई भोक्ता है, किन्तु कलङ्कयुक्त दृष्टिसे (कर्मकाण्डियोंकी दृष्टिसे) यहाँपर बहुत-से कर्ता हैं ॥ ३१ ॥

हे ब्रह्मन्, कर्तृत्व और अकर्तृत्व असम्यग्दृष्टि पुरुषसे केवल कल्पित हैं। आपको तो तत्त्वसाक्षात्कार हो चुका है। आपकी दृष्टिमें कर्तृत्व और अकर्तृत्व हैं ही नहीं ॥ ३२ ॥

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' (भगवान् मनुष्योंके कर्तृत्व

अब्बिम्बितस्य चन्द्रस्य चलने कर्त्रकर्तृते ।
न सत्ये नाऽनृते यद्वत्तद्वत् कालस्य सृष्टिषु ॥ ३४ ॥
मनो मिथ्याभ्रमाभोगे कर्तृताकर्तृतामयीम् ।
करोति कलनां रज्वां भ्रान्तेक्षण इवाऽहिताम् ॥ ३५ ॥
तेन मा गा मुने कोपमापदामीदृशः क्रमः ।
यद्यथा तत्तथैवाऽऽशु सत्यमालोकयाऽऽकुलः ॥ ३६ ॥
न वयं प्रतिभार्थेहा नाऽभिमानवशीकृताः ।
स्वतो हि तात वशगाः केवलं नियतौ स्थिताः ॥ ३७ ॥

और शुभाशुभ कर्मोंकी सृष्टि नहीं करते हैं) इत्यादि भगवान् द्वारा प्रदर्शित पक्षका अवलम्बन करके कहते हैं—**'पुष्पाणि'** इत्यादिसे ।

विविध वृक्षोंमें रंग विरंगके फूलोंकी तरह इन भुवनोंमें प्राणी स्वयं आते हैं और जाते हैं । इस विषयमें कर्ता आदि शब्दोंसे काल ही कल्पित होता है ॥३३॥

जैसे जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके चलनमें कर्तृता और अकर्तृता परमार्थ-दृष्टिसे—उसका अभाव होनेके कारण—सत्य नहीं हैं और व्यवहारदृष्टिसे—संवाद होनेके कारण—वे असत्य भी नहीं हैं वैसे ही सृष्टियोंमें कालरूप परमात्माके कर्तृत्व और अकर्तृत्व परमार्थदृष्टिसे सृष्टिका अभाव होनेसे सत्य नहीं हैं और व्यवहार दृष्टिसे असत्य भी नहीं हैं ॥ ३४ ॥

जैसे दूषित दृष्टिवाला पुरुष रस्सीमें सर्पत्वकी कल्पना करता है वैसे ही मनने मिथ्याभ्रममें कर्तृत्व और अकर्तृत्वरूप कल्पना कर रक्खी है ॥ ३५ ॥

हे मुनिजी, पूर्वोक्त रीतिसे मेरे अपराधका संभव न होनेसे आप व्याकुल होकर कोप न कीजिये । आपत्तियोंका ऐसा ही क्रम है । जो जैसा है वह वैसा होकर ही रहेगा, इसे आप सत्य समझिये ॥ ३६ ॥

राग, अभिमान आदिके कारण यदि मैंने आपके पुत्रका विनाश किया होता तो वैसी स्थितिमें मुझमें अपराधिता हो सकती थी, पर वे मुझमें हैं ही नहीं, ऐसा कहते हैं—**'न वयम्'** इत्यादिसे ।

हे पूज्य, भ्रान्तिसे कल्पित ख्याति, पूजा आदिमें अनुराग रखनेवाले हम लोग नहीं हैं और न अभिमानके ही वशीभूत हैं । आपके समीपमें हमारा आगमन भी आपके क्रोधके भयसे नहीं हुआ है, किन्तु तपस्वियोंका सम्मान करना चाहिए,

प्रकृतव्यवहारेहानियतीर्नियतेर्वशात् ।
प्राज्ञाः समभिवर्तन्ते नाऽभिमानमहातमः ॥ ३८ ॥
कर्तव्यमेव नियतं केवलं कार्यकोविदैः ।
सुषुप्तिवृत्तिमाश्रित्य कदाचित्त्वं न नाशय ॥ ३९ ॥
क्व सा ज्ञानमयी दृष्टिः क्व महत्त्वं क्व धीरता ।
मार्गे सर्वप्रसिद्धेऽपि किमन्ध इव मुह्यसि ॥ ४० ॥
स्वकर्मफलपाकोत्थामविचार्य दशां मुने ।
किं मूर्ख इव सर्वज्ञ मुधा मां शप्तुमिच्छसि ॥ ४१ ॥
देहिनामिह सर्वेषां शरीरं द्विविधं मुने ।
किं न जानासि तं देहमेकमन्यन्मनोभिधम् ॥ ४२ ॥

इस नियमके कारण ही हुआ है । हे तात, हम स्वयं भी अपने वशमें नहीं हैं केवल नियतिके वशमें स्थित हैं ॥ ३७ ॥

मेरी नियतिकी वशवर्तिता उचित है, क्योंकि सब प्राज्ञ पुरुष उसका अनुसरण करते हैं, और आपको क्रोध, अभिमान और अज्ञानका वशवर्ती होना उचित नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'**प्रकृत०**' इत्यादिसे ।

सब प्राज्ञ पुरुष जगत्की मर्यादाके पालक ईश्वरकी इच्छारूप महानियतिके बलसे अवान्तर प्रकृतव्यवहारेच्छारूप नियतिका अनुवर्तन करते हैं, अभिमानरूप महातमका अनुवर्तन नहीं करते ॥ ३८ ॥

व्यवहारचतुर पुरुषोंको अपनी-अपनी उचित मर्यादाका अवश्य पालन करना चाहिये । आप तमोवृत्तिका अवलम्बन करके कदापि उसका नाश न कीजिये ॥३९॥

आपकी वह ज्ञानमयी दृष्टि कहाँ, वह महत्त्व कहाँ, वह धैर्य कहाँ ? सब प्राज्ञ पुरुषोंके परिचित मार्गमें भी आप अन्धेकी नाईं क्यों मोहमें पड़े हैं ॥ ४० ॥

हे मुनिजी, अपने कर्मके फलकी परिणामरूप दशाका विचार न कर हे सर्वज्ञ, मूर्खकी नाईं आप मुझे व्यर्थ शाप देना चाहते हैं ॥ ४१ ॥

हे मुनिजी, आप क्या नहीं जानते हैं कि यहाँपर सब प्राणियोंके दो प्रकारके शरीर होते हैं । उनमें से एक स्थूल शरीर है और दूसरा मननामक सूक्ष्म शरीर है ॥ ४२ ॥

तत्र देहो जडोऽत्यर्थमाविनाशपरायणः ।
मनस्तुच्छं च नियतं कदर्थीक्रियते तव ॥ ४३ ॥
चतुरेण यथा साधो रथः सारथिनोह्यते ।
कुर्वता किञ्चन स्नेहाद् देहोऽयं मनसा तथा ॥ ४४ ॥
असत्सङ्कल्पः क्रियते सच्छरीरं विनाश्यते ।
क्षणेन मनसा पङ्कपुरुषः शिशुना यथा ॥ ४५ ॥
चित्तमेवेह पुरुषस्तत्कृतं कृतमुच्यते ।
तद्बद्धं कलनाहेतोः कलनास्तं विमुच्यते ॥ ४६ ॥
अयं देह इवाऽत्रस्थमिदमङ्गमिदं शिरः ।
इदं स्फारविकारं तन्मन एवाऽभिधीयते ॥ ४७ ॥
मनो हि जीवाज्जीवाख्यं निश्चयैकतया नु धीः ।
अहङ्कारोऽभिमन्तृत्वान्नानाता स्वयमेव हि ॥ ४८ ॥

उनमें से देह अत्यन्त जड़ और थोड़ेसे भी निमित्तसे नष्ट होनेवाला है एवं मन मोक्षतक स्थिर रहनेवाला और प्रातिभासिक है । वही आपका मनरूप सूक्ष्म शरीर क्रोध आदिसे पीड़ित हो रहा है ? ॥ ४३ ॥

हे सज्जनशिरोमणे, जैसे अभिमानसे कुछ कर रहे चतुर सारथि द्वारा रथ चलाया जाता है वैसे ही अभिमानसे 'इस प्रकारका' यों विशेषरूपसे जो नहीं कहा जा सकता, ऐसे आभ्यन्तर व्यापारको कर रहे मन द्वारा यह शरीर चलाया जाता है । जैसे बच्चा कच्चे मिट्टीके खिलौनेको, जो विद्यमान नहीं है, बनाता है और पहलेसे बने हुएका नाश करता है वैसे ही यह मन असत् (अविद्यमान) देहका संकल्प करता है और पूर्व विद्यमान देहका नाश करता है ॥ ४४–४५ ॥

इस लोकमें चित्त ही पुरुष है । उसका किया हुआ ही कृत कहा जाता है । वह चित्त असत् सङ्कल्परूप कल्पनासे बद्ध है । कल्पनाका विनाश होनेपर विमुक्त हो जाता है । मनका देहकल्पनाप्रकार इस प्रकार है—यह देह है, इसमें स्थित यह अङ्ग है, यह सिर है, यों विविध विकारोंसे वह मन ही इन रूपोंसे कहा जाता है । मन ही पूर्व जीवसे अन्य जीवकी संज्ञावाला होता है । [एक ही मन जैसे पूर्वपूर्व जीवसे अन्य जीवकी संज्ञावाला होता है वैसा जीवटोपाख्यानमें कहा जायगा] उसके बाद मनसे सङ्कल्पित अर्थमें निश्चय होनेसे मन बुद्धि होता है । मन ही अभिमान करनेके कारण अहङ्कार होता है । इस प्रकार मन

देहवासनया चेतस्त्वन्यानि स्वानि चेच्छया ।
पार्थिवानि शरीराणि ह्यसन्ति परिपश्यति ॥ ४९ ॥

आलोकयति चेत्सत्यं तदाऽसत्यमयीं मनः ।
शरीरभावनां त्यक्त्वा परामायाति निर्वृतिम् ॥ ५० ॥

तन्मनस्तव पुत्रस्य समाधौ त्वयि संस्थिते ।
स्वमनोरथमार्गेण दूराद् दूरतरं गतम् ॥ ५१ ॥

इममौशनसं त्यक्त्वा देहं मन्दरकन्दरे ।
प्रयातो वैबुधं सद्म नीडोड्डीनः खगो यथा ॥ ५२ ॥

तत्र मन्दरकुञ्जेषु पारिजाततलेषु च ।
नन्दनोद्यानखण्डेषु लोकपालपुरेषु च ॥ ५३ ॥

मुने चतुर्युगान्यष्टौ विश्वाचीं देवसुन्दरीम् ।
असेवत महातेजाः षट्पदः पद्मिनीमिव ॥ ५४ ॥

स्वयं ही नानात्वको प्राप्त होता है। मन देहकी वासनासे अन्य या अपने पार्थिव शरीरोंको, जो कि विद्यमान नहीं है, इच्छासे देखता है ॥ ४६—४९ ॥

मनकी यह देह आदि कल्पना आत्मसाक्षात्कारतक ही होती है, उसके बाद नहीं होती, ऐसा कहते हैं—'**आलोकयति**' इत्यादिसे ।

यदि मन सत्य तत्त्वका साक्षात्कार करता है, तो उस समय असत्य शरीर-भावनाका त्यागकर परम निर्वृतिको प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

इस प्रकार भृगुको ज्ञानोपदेश देकर एकमात्र मनोविलाससे किये गये उनके पुत्रके वृत्तान्तको कहते हैं—'**तत्**' इत्यादिसे ।

आपके समाधिमें स्थित होनेपर आपके पुत्रका वह मन अपने मनोरथके मार्गसे बहुत दूर चला गया। वह इस भार्गवशरीरका मन्दराचलकी कन्दरामें त्यागकर स्वर्गमें ऐसे चला गया जैसे कि घोंसलेसे उड़ा हुआ पक्षी आकाशमें जाता है। हे मुनिजी, वहांपर मन्दराचलके निकुञ्जोंमें, पारिजात वृक्षोंके तले, नन्दनवनके उद्यानोंमें और लोकपालोंके नगरोंमें महातेजस्वी आपके पुत्रने आठ चौकड़ीतक विश्वाचीनामक अप्सराओंका ऐसे सेवन किया जैसे भ्रमर पद्मिनीका सेवन करता है॥ ५१—५४ ॥

तीव्रसंवेगसम्पन्नस्वसङ्कल्पोपकल्पिते ।
अथ पुण्यक्षये जाते नीहार इव शार्वरे ॥ ५५ ॥
प्रम्लानकुसुमोत्तंसः खिन्नाङ्गावयवोल्लसः ।
स पपात तया सार्द्धं कालपक्वं फलं यथा ॥ ५६ ॥
वैबुधं तत् परित्यज्य नभस्येव शरीरकम् ।
भूताकाशमथाऽऽसाद्य वसुधायां व्यजायत ॥ ५७ ॥
आसीद्विप्रो दशार्णेषु कोसलेषु महीपतिः ।
धीवरोऽथ महाटव्यां हंसस्त्रिपथगातटे ॥ ५८ ॥
सूर्यवंशे नृपः पौण्ड्रः सौरशाल्वेषु देशिकः ।
कल्पं विद्याधरः श्रीमान् धीमानथ मुनेः सुतः ॥ ५९ ॥
मद्रेष्वथ महीपालस्ततस्तापसबालकः ।
वासुदेव इति ख्यातः समङ्गायास्तटे स्थितः ॥ ६० ॥
अन्यास्वपि विचित्रासु वासनावशतः स्वयम् ।
विषमास्वेव पुत्रस्ते चचाराऽन्तरयोनिषु ॥ ६१ ॥

स्वर्गकी तरह पुण्यके क्षयसे स्वर्गसे पतन भी मनकी कल्पनासे ही हुआ, इस आशयसे कहते हैं—'**तीव्र०**' इत्यादिसे ।

तीव्र वेगसे उत्पन्न अपनी कल्पनासे कल्पित पुण्यक्षयके रात्रिके कुहरेकी तरह प्राप्त होनेपर उसके पुष्पोंकी शिरोमालाएँ म्लान हो गईं । अङ्गके अवयवोंका उल्लास धीमा पड़ गया । वह कालसे पके हुए फलकी नाईं उस अप्सराके साथ स्वर्गसे गिरा । उस दिव्य शरीरका आकाशमें ही परित्याग कर वह भूताकाशमें आया । तदुपरान्त पृथ्वीमें उत्पन्न हुआ ॥ ५५—५७ ॥

पहले वह दशार्ण देशमें ब्राह्मण हुआ । तदनन्तर कोसल देशमें वह राजा हुआ । उसके बाद महाटवीमें वह धीवर हुआ । धीवरयोनिके उपरान्त वह गंगाजीके तटपर हंस हुआ । तदनन्तर सूर्यवंशमें पौंड्र देशका राजा हुआ । सौरशाल्व देशमें दूसरोंको उपदेश देनेवाला मन्त्रसिद्ध हुआ । एक कल्पतक वह सुन्दरविद्याधर हुआ । तदनन्तर वह सुन्दर बुद्धिमान् मुनिपुत्र हुआ । उसके बाद मद्रासमें वह राजा हुआ फिर तपस्वीका पुत्र वासुदेव इस नामसे प्रसिद्ध समंगा-नामक नदीके तटपर स्थित रहा । वासनावश और और भी विचित्र और विषम अन्यान्य योनियोंमें आपका पुत्र भ्रमण करता रहा ॥ ५८—६१ ॥

अभूद्विन्ध्यनगे भूयः किरातः कैकटेषु च ।
सौवीरेष्वथ सामन्तस्त्रिगर्तेषु च गर्दभः ॥ ६२ ॥
वंशगुल्मः किरातेषु हरिणश्चीनजङ्गले ।
सरीसृपस्तालवृक्षे तमाले वनकुक्कुटः ॥ ६३ ॥
अयं स पुत्रो भवतो भूत्वा मन्त्रविदां वरः ।
प्रजजाप पुरा विद्यां विद्याधरपुरप्रदाम् ॥ ६४ ॥
तेनाऽसावभवद् ब्रह्मन् व्योम्नि विद्याधरो महान् ।
हारकुण्डलकेयूरलीलानिचयलालकः ॥ ६५ ॥
नायिकानलिनीभानुः पुष्पचाप इवाऽपरः ।
विद्याधरीणां दयितो गन्धर्वपुरभूषणः ॥ ६६ ॥
स कल्पावधिमासाद्य द्वादशादित्यधामनि ।
जगाम भस्मशेषत्वं शलभः पावके यथा ॥ ६७ ॥

फिर विन्ध्यपर्वतमें वह किरात हुआ, तदनन्तर कैकट नगरमें किरात हुआ। किरातयोनिके बाद सौवीर देशमें वह सामन्त राजा हुआ। उस योनिमें किये गये पापोंसे उसे तिर्यक्, स्थावर आदि अनेक जन्म भोगने पड़े। सामन्त होनेके बाद त्रिगर्त देशमें गधा हुआ। किरात देशमें बांसकी कोठी हुआ। चीनके जंगलमें हरिण हुआ, फिर ताड़के वृक्षमें वह साँप हुआ। तमालके वृक्षमें वनमृग हुआ ॥ ६२-६३ ॥

हे मुनिजी, आपके इस पुत्रने मन्त्रवेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ होकर विद्याधर-नगरमें पहुँचानेवाली विद्याका पहले जप किया था। इसलिए हे ब्रह्मन्, यह आकाशमें श्रेष्ठ विद्याधर हुआ, जो कि हार, केयूर आदि भूषणोंसे एवं विविध लीलाओंसे स्त्रियोंको आह्लाद देनेवाला हुआ ॥ ६४, ६५ ॥

दूसरे कामदेवकी नाईं नायिकारूपी नलिनियोंको प्रकाशित करनेवाला विद्याधरियोंका अत्यन्त प्रिय एवं गन्धर्व नगरका भूषण हुआ ॥ ६६ ॥

कल्परूपी अवधिको प्राप्त कर प्रलयकालके एक साथ उदित हुए बारह आदित्योंकी ज्योतिमें जैसे फतिंगा अग्निमें भस्मताको प्राप्त होता है वैसे ही वह भस्मशेष हो गया। तदनन्तर जैसे घोंसलेसे रहित चिड़िया आकाशमें घूमती है वैसे ही उसकी वासना जगन्निर्माणरहित विशाल आकाशमें घूमती थी। तदनन्तर

जगन्निर्माणरहिते स्फारे नभसि सा ततः ।
वासना तस्य बभ्राम निर्नीडा विहगी यथा ॥ ६८ ॥
अथ कालेन सञ्जाते विचित्रारम्भकारिणि ।
संसाररचनारम्भे ब्राह्मे रात्रिविपर्यये ॥ ६९ ॥
सा मुने वासना तस्य वातव्याचलिता सती ।
कृते ब्राह्मणतामेत्य जातोऽद्य वसुधातले ॥ ७० ॥
वासुदेवाभिधानोऽसौ मुने विप्रकुमारकः ।
जातो मतिमतां मध्ये समधीताखिलश्रुतिः ॥ ७१ ॥
कल्पं विद्याधरो भूत्वा नद्यास्त्वथ महामुने ।
तपश्चरति ते पुत्रः समङ्गायास्तटे स्थितः ॥ ७२ ॥
विविधविषयवासनानुवृत्त्या खदिरकरञ्जकरालकोटरासु ।
जगति जठरयोनिषु प्रयातो गहनतरासु च काननस्थलीषु ॥ ७३ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने कालवचनं नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

समय पाकर विचित्र-विचित्र विविध कर्म करनेवाले संसारकी सृष्टिके आरम्भसे युक्त ब्रह्माका प्रातःकाल होनेपर हे मुनिजी, आपके पुत्रकी वह वासना वायुसे परिचालित होकर सत्य युगमें ब्राह्मणताको प्राप्त होकर इस भूमण्डलमें उत्पन्न हुई ॥६७–७०॥

हे मुनिजी, वह ब्राह्मणका कुमार वासुदेवनामसे उत्पन्न हुआ, विद्वान् लोगोंके बीचमें उसने समस्त वेदोंका अध्ययन किया। हे महामुने, एक कल्पतक विद्याधर होकर वह आपका पुत्र इस समय समङ्गा नदीके किनारे बैठ कर तप करता है ॥ ७१, ७२ ॥

मुने, वह इस जगत्में विविध विषयोंकी वासनाओंके अनुवर्तनसे खैर और करौंदेके कांटोंसे भीषण पर्वतकी गुफाओंके तुल्य विभिन्न गर्भवासोंमें तथा घनी लता और झाड़ियोंसे अत्यन्त व्याप्त वनस्थलियोंमें भी भटका ॥ ७३ ॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

एकादशः सर्ग

काल उवाच

अद्योद्दामतरङ्गौघभाङ्काररणितानिले ।
तीर एव तरङ्गिण्यास्तपस्तपति ते सुतः ॥ १ ॥
जटावानक्षवलयी जितसर्वेन्द्रियभ्रमः ।
तत्र वर्षशतान्यष्टौ संस्थितस्तपसि स्थिरे ॥ २ ॥
यदीच्छसि मुने द्रष्टुं तं स्वप्नाभं मनोभ्रमम् ।
तत्समुन्मील्य विज्ञाननेत्रमाशु विलोकय ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्ते जगदीशेन कालेन समदृष्टिना ।
मुनिः सञ्चिन्तयामास ज्ञानाक्ष्णा तनयेहितम् ॥ ४ ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

[महर्षि भृगुके योगदृष्टिसे भलीभाँति पुत्रवृत्तान्तप्रदर्शनसे तथा कालके संवादसे जगत्की स्थिति मनका खेल है, यह वर्णन]

कालने कहा—हे मुनिजी, समङ्गा नदीके तटपर, जहां बड़ी-बड़ी तरङ्गोंकी पङ्क्तियोंकी गंभीर ध्वनियोंसे वायु प्रतिध्वनित होते हैं, आपका पुत्र तपस्या कर रहा है। उसने जटा धारण कर रक्खी है, रुद्राक्षकी मालाओंके कङ्कण पहन रक्खे हैं और सब इन्द्रियोंके अपने-अपने विषयोंमें भ्रमणको रोक दिया है। इस प्रकारकी गतिविधिसे युक्त वह आठ सौ वर्षोंसे वहांपर अटल तपस्यामें स्थित है ॥ १, २ ॥

हे मुनिजी, यदि आप पुत्रचरित्ररूप पुत्रके मनोभ्रमको, जो स्वप्नके तुल्य है, देखना चाहते हैं, तो योगदृष्टिको भलीभाँति खोल कर शीघ्र उसे देखिये ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जगतोंके एकमात्र अधिपति सर्वत्र समदृष्टि कालके यों कहनेपर महर्षि भृगुने योगदृष्टिसे पुत्रके चरित्रका ध्यान किया ॥ ४ ॥

ददर्श च मुहूर्तेन प्रतिभानवशादसौ ।
पुत्रोदन्तमशेषेण बुद्धिदर्पणबिम्बितम् ॥ ५ ॥
पुनर्मन्दरसानुस्थां स्वस्थां कालाग्रसंस्थिताम् ।
समङ्गायास्तटादेत्य विवेश स्वतनुं भृगुः ॥ ६ ॥
विस्मयस्मेरया दृष्ट्या कालमालोक्य कान्तया ।
वीतरागमुवाचेदं वीतरागो मुनिर्वचः ॥ ७ ॥
भगवन् भूतभव्येश बाला वयमनुज्ज्वलाः ।
त्वादृशामेव धीर्देव त्रिकालामलदर्शिनी ॥ ८ ॥
नानाकारविकाराढ्या सत्येवाऽसत्यरूपिणी ।
विभ्रमं जनयत्येषा धीरस्याऽपि जगत्स्थितिः ॥ ९ ॥

उन्होंने ध्यानवश एक क्षणमें बुद्धिरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित पुत्रके वृत्तान्तको आदिसे लेकर अन्ततक सम्पूर्ण देख लिया ॥ ५ ॥

फिर समङ्गा नदीके तटसे आकर मन्दराचलके शिखरपर कालके आगे स्थित अपने स्वस्थ शरीरमें भृगुने प्रवेश किया * ॥ ६ ॥

आश्चर्यसे विकसित सुन्दर दृष्टिसे रागद्वेषशून्य कालको देखकर पुत्रके प्रति रागरहित हुए मुनि भृगुजीने यह वचन कहा ॥ ७ ॥

हे भगवन्, हे भूत और भविष्यत्के अधिपति, हम लोगोंका चित्त स्नेह आदिसे मलिन है, इसलिए हम लोग अज्ञानी हैं। हे देव, आप ऐसे त्रिकालज्ञ पुरुषोंकी ही बुद्धि भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंको साफ-साफ देखती है ॥ ८ ॥

तरह तरहके विकारोंसे भरी हुई और असत्य स्वरूपवाली यह जगत्स्थिति सत्य-सी प्रतीत होती हुई विद्वान्को भी भ्रमयुक्त करती है ॥ ९ ॥

---

* यहांपर भृगु अपने शरीरसे निकलकर उन-उन समङ्गातटपर्यन्त सब प्रदेशोंमें क्रमशः पुत्रके वृत्तान्तको देखकर फिर वापिस आकर अपने शरीरमें प्रविष्ट हुए, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि योगबलसे अपने स्थानमें सब कुछ देखा जा सकता है और निकल कर घूमनेपर भी भूत और भविष्यत् वृत्तान्तका दर्शन योगदृष्टिके बिना नहीं हो सकता। इसलिए 'समङ्गा नदीके तटसे आकर अपने शरीरमें प्रविष्ट हुए' इस उक्तिका तात्पर्य उसके चिन्तनको छोड़कर उन्होंने केवल शरीरका संधान किया, इसमें समझना चाहिये।

त्वमेव देव जानासि त्वदभ्यन्तरवर्ति यत् ।
रूपमस्या मनोवृत्तेरिद्रजालविधायकम् ॥ १० ॥
मत्पुत्रस्याऽस्य भगवन् मृत्युः किल न विद्यते ।
तेनेमं मृतमालोक्य जातः सम्भ्रमवानहम् ॥ ११ ॥
अक्षीणाजीवितं पुत्रं कालो मे नीतवानिति ।
नियतेर्वशतो देव तुच्छापीच्छा ममोदिता ॥ १२ ॥
ननु विज्ञातसंसारगतयो वयमापदाम् ।
सम्पदां चैव गच्छामो हर्षामर्षवशं विभो ॥ १३ ॥
अयुक्तकारिणि क्रोधः प्रसादो युक्तकारिणि ।
कर्तव्य इति रूढेयं संसारे भगवन् स्थितिः ॥ १४ ॥
इदं कार्यमिदं नेति यावत्कार्यं जगद्भ्रमः ।
तस्यैतत्सम्परित्यागो हेय एव जगद्गुरो ॥ १५ ॥

विषयभूत जगत्-स्थितिकी तरह करणभूत मनका रूप भी हम लोगोंके लिए दुर्ज्ञेय है, ऐसा कहते हैं—'**त्वमेव**' इत्यादिसे ।

हे देव, इस मनोवृत्तिका जो स्वरूप आपके अन्दर रहता है और इन्द्रजालके तुल्य माया और मोहकी सृष्टि करता है, उसे आप ही जानते हैं ॥ १० ॥

भगवन्, मेरे इस पुत्रकी महाकल्पतक मृत्यु नहीं है, ऐसा मुझे ज्ञात था । इसीलिए उसे मृत देखकर मुझे यह व्यामोह हुआ है ॥ ११ ॥

हे देव, मेरे पुत्रकी आयु अभी क्षीण नहीं हुई है फिर भी काल उसे ले गया, इस प्रकारकी मेरी तुच्छ इच्छा भगवदिच्छासे उत्पन्न हुई ॥ १२ ॥

हे विभो, यद्यपि हम लोग संसारकी गतिको भलीभाँति जान चुके हैं तथापि भगवदिच्छावश हम आपत्तियों और सम्पत्तियोंके हर्ष और क्रोधके वशीभूत होते हैं ॥ १३ ॥

भगवन्, अपकार या अनुचित कार्य करनेवाले व्यक्तिपर क्रोध करना चाहिए और उचित कर्मकारीपर प्रसन्नता प्रगट करनी चाहिए, इस प्रकारका नियम संसारमें चिरकालसे चला आ रहा है, इसलिए मैंने आपके प्रति क्रोध किया है ॥ १४ ॥

जबतक यह अवश्य करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए यों इष्ट और

केवलं तावकीं चिन्तामनालोक्य यदा वयम् ।
भगवन् भवते क्रुद्धा याताः स्मस्तेन बाध्यताम् ॥ १६ ॥
त्वयेदानीमहं देव स्मारितस्तनयेहितम् ।
समङ्गायास्तटे तेन दृष्टोऽयं तनयो मया ॥ १७ ॥
मनो जगति भूतानां द्वे शरीरेऽत्र सर्वगम् ।
मन एव शरीरं हि येनेदं भाव्यते जगत् ॥ १८ ॥

काल उवाच

सम्यगुक्तं त्वया ब्रह्मन् शरीरं मन एव च ।
करोति देहं सङ्कल्पात् कुम्भकारो घटं यथा ॥ १९ ॥

अनिष्ट साधनोंका फल सत्य है, ऐसी प्रतीति रहती है तभीतक जगत्की भ्रान्ति है । हे जगद्गुरो, इस समय उस भ्रान्तिका तत्त्वज्ञानसे त्याग हो चुका है, इसलिए क्रोध और प्रसन्नता करनी चाहिये, यह नियम भी हेय हो गया है । इस समय आपपर क्रोध करना अनुचित ही है ॥ १५ ॥

पूर्व वर्णित रीतिसे अपराधके रहते भी क्रोध करना उचित नहीं है, यदि अपराध बिलकुल न हो, उसे अपराध मानकर क्रोध किया जाय, तो क्रोध करनेवाले-को ही दण्ड देना उचित है, ऐसा कहते हैं—**'केवलम्'** इत्यादिसे ।

भगवन्, केवल आपके एकमात्र नियमपरिपालनरूप कार्यका विचार न कर यानी आप केवल नियमका परिपालन करते हैं किसीके प्रति रागद्वेषसे किसीका हनन नहीं करते इसका विचार न कर जब हम आपके लिए क्रुद्ध हुए तब हमीं आपके दण्डनीय हो गये हैं ॥ १६ ॥

हे देवाधिदेव, आपने इस समय मुझे मेरे पुत्रके चरित्रका स्मरण कराया है, इस कारण समङ्गा नदीके तीरपर योगदृष्टिसे मैंने अपना पुत्र देखा है ॥ १७ ॥

इस जगत्में मन ही भौतिक शरीरकी कल्पना करता है, इसलिए सर्वत्र जानेवाला मन ही प्राणियोंका स्थूल और सूक्ष्म शरीर है । मनसे इस जगत्की भावना होती है ॥ १८ ॥

इस तरह विनयपूर्ण वार्तालापसे एवं अपने द्वारा उपदिष्ट सूक्ष्मतत्त्वके ग्रहणसे काल सन्तुष्ट हुए थे, अतएव उनकी उक्तिकी प्रशंसा करते हुए

करोत्यकृतमाकारं कृतं नाशयति क्षणात् ।
सङ्कल्पेन मनो मोहाद् बालो वेतालकं यथा ॥ २० ॥
तथा च संभ्रमस्वप्नमिथ्याज्ञानादिभासुराः ।
गन्धर्वनगराकारा दृष्टा मनसि शक्तयः ॥ २१ ॥
स्थूलदृष्टिदशां त्वेतामवलम्ब्य महामुने ।
पुंसो मनः शरीरं च कायौ द्वाविति कथ्यते ॥ २२ ॥
मनो मननिर्माणमात्रमेतज्जगत्रयम् ।
न सन्नाऽसदिव स्फारमुदितं नेतरन्मुने ॥ २३ ॥
चित्तदेहाङ्गलतया भेदवासनयेद्धया ।
द्विचन्द्रत्वमिवाऽज्ञानान्नानातेयं समुत्थिता ॥ २४ ॥

कालने कहा—ब्रह्मन्, आपने मन ही शरीर है, ऐसा जो कहा है, वह बहुत ठीक कहा है, क्योंकि जैसे कुम्हार घड़ेको बनाता है, वैसे ही मन संकल्पसे देहका निर्माण करता है ॥ १९ ॥

जैसे बालक अज्ञानवश अविद्यमान वेतालकी कल्पना करता है वैसे ही मन संकल्पसे पूर्वमें नहीं बनाये गये आकारका क्षणभरमें निर्माण करता है और पूर्वकृत आकारका क्षणभरमें विनाश करता है ॥ २० ॥

मनकी असत् पदार्थके निर्माणकी शक्ति सब लोगोंके अनुभवसे सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—**'तथा च'** इत्यादिसे ।

देखिये न, भ्रम, स्वप्न, मिथ्याज्ञान आदिसे भासुर तथा गन्धर्वनगरके तुल्य आकारवाली शक्तियाँ मनमें देखी गई हैं ॥ २१ ॥

हे महामुनिजी, इस स्थूलदृष्टिकी अवस्थाका अवलम्बन कर पुरुषके मनरूप सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर दो देह हैं, ऐसा कहा जाता है ॥ २२ ॥

तब सूक्ष्म दृष्टि कौन है ? इस शङ्कापर कहते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

हे मुनिजी, एकमात्र मननसे बने हुए ही ये तीनों जगत् हैं, क्योंकि ये मनके सदृश ही न सत् हैं और न असत् हैं यानी मनके सदृश ही सत्त्व और असत्त्वसे अनिर्वचनीयरूपसे बड़े आटोपके साथ उदित हैं, ये मनसे अतिरिक्त नही हैं ॥२३॥

जैसे अज्ञानवश आकाशमें द्विचन्द्रताका उदय होता है वैसे ही चित्तरूपी देहकी अवयवभूत लताके तुल्य फैल रही बढ़ी-चढ़ी भेदवासनासे यह जगद्भेद उदित हुआ है ॥ २४ ॥

भेदवासनया पश्यत् पदार्थनिचयं मनः ।
भिन्नं पश्यति सर्वत्र घटावटपटादिकम् ॥ २५ ॥
कृशोऽतिदुःखी मूढोऽहमेताश्चाऽन्याश्च भावनाः ।
भावयत् स्वविकल्पोत्थां याति संसारितां मनः ॥ २६ ॥
मननं कृत्रिमं रूपं ममैतन्न यतोऽस्म्यहम् ।
इति तत्त्यागतः शान्तं चेतो ब्रह्म सनातनम् ॥ २७ ॥
यथा प्रविततास्भोधौ द्रुतानेकतरङ्गिणि ।
शाम्यत्स्पन्दतयाऽनेककल्लोलावलिशालिनि ॥ २८ ॥
वार्यात्मनि समे स्वच्छे शुद्धे स्वादुनि शीतले ।
अविनाशिनि विस्तीर्णे महामहिमनि स्फुटे ॥ २९ ॥
ह्रस्वस्तरङ्गः स्वं रूपं भावयन् स्वस्वभावतः ।
ह्रस्वोऽस्मीति विकल्पेन करोति स्वेन भावनाम् ॥ ३० ॥

भेदवासनासे पदार्थसमूहको देख रहा मन सब जगह घट, गर्त, वस्त्र आदिको भिन्न-भिन्न देखता है ॥ २५ ॥

मैं दुबला-पतला हूँ, मैं बड़ा दुःखी हूँ, मैं मूर्ख हूँ इन भावनाओंकी तथा इनसे अतिरिक्त अन्यान्य अनेक भावनाओंकी भावना कर रहा मन अपने ही विकल्पसे आविर्भूत हुई संसारिताको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

मनका संसारमें आनेका क्रम दर्शा कर अब मनकी संसारसे निवृत्तिका उपाय कहते हैं—**'मननम्'** इत्यादिसे ।

मनन मेरा बनावटी रूप है, कारण कि यह मैं नहीं हूँ, इस प्रकार बनावटी रूपके परित्यागसे चित्त शान्त सनातन ब्रह्म ही है। कृत्रिम मननरूपका त्याग करनेपर अकृत्रिम स्वरूपस्थिति स्वयं अर्थात् प्राप्त है, यह तात्पर्य है ॥ २७ ॥

जैसे फैली हुई अनेक लहरोंसे भरपूर, अनेक बड़े-बड़े कल्लोलोंसे शोभित होनेवाले तथा दूरगमनरूप स्पन्दन न होनेके कारण स्पन्दनरहित विशाल समुद्रमें, जो जलमय, सम, स्वच्छ, शुद्ध, स्वादु, शीतल, अविनाशी, विस्तारयुक्त, महामहिमशाली और प्रत्यक्ष है, छोटी तरङ्ग अपने स्वभावके अनुसार अपने स्वरूपकी भावना करती हुई अपने विकल्पसे मैं छोटी हूँ, ऐसी भावना करती है। बड़ी तरंग अपने स्वभावसे अपने स्वरूपकी भावना करती

दीर्घस्तरङ्गः स्वं रूपं भावयन् स्वस्वभावतः ।
दीर्घोऽस्मीति विकल्पेन करोति स्वेन भावनाम् ॥ ३१ ॥
ह्रस्वश्चैव परिभ्रष्टरूपोऽस्मीति तलातलम् ।
भावयन् भूतलं याति तादृग्भावनया स्वया ॥ ३२ ॥
उत्पन्नश्च पलादूर्ध्वमुत्थितोऽस्मीति भावितः ।
सरश्मिरत्नजालस्तु शोभते दीप्तया श्रिया ॥ ३३ ॥
तुषारकरबिम्बस्थः शीतलोऽस्मीति बिम्बति ।
सतटाचलदावाग्निप्रतिबिम्बो ज्वलद्वपुः ॥ ३४ ॥
बिभेति बत दग्धोऽस्मीत्यात्तमौनश्च कम्पते ।
प्रतिबिम्बितवेलाद्रितटपक्षवनद्रुमः ॥ ३५ ॥
महदारम्भसंरम्भसंयुक्तोऽस्मीति राजते ।
विशल्लोलानिलात्यन्तध्वस्तलोलशरीरकः ॥ ३६ ॥

हुई अपने विकल्पसे मैं बड़ी हूँ, ऐसी भावना करती है। छोटी तरङ्ग पातालकी भावना करती हुई मेरा स्वरूप परिभ्रष्ट हो रहा है, यों पतनके भयसे अपनी उक्त भावनावश तटभूमिको प्राप्त होती है। उत्पन्न होकर थोड़े समयके बाद मैं भोगयोग्य जन्मको प्राप्त हुई हूँ, ऐसा अभिमान करती हुई भाग्यवश पर्वतकी नाईं उज्ज्वल मणियोंकी किरणोंसे विभूषित होकर दीप्त कान्तिसे शोभा पाती है। मैं भूषित हूँ, यों समझकर प्रसन्न होती है, यह अर्थ है ॥ २८—३३ ॥

उसकी और-और भी अनेक हर्ष और भयकी अवस्थाओंको दिखलाते हैं—**'तुषार०'** इत्यादिसे ।

चन्द्रमाके प्रतिबिम्बमें उपाधिरूपसे स्थित होकर उक्त तरङ्ग अपनेको शीतल समझती है, तटवर्ती पर्वतकी वनाग्निके प्रतिबिम्बसे युक्त वह जलते हुए स्वरूपवाली होकर मैं जल गई हूँ, यों समझकर भयभीत होती है और मौन धारण कर काँपती है। समुद्रके तटवर्ती पर्वतके तटोंके परोंके तुल्य वनवृक्ष जिसमें प्रतिबिम्बित हैं, ऐसी वह तरङ्ग राज्यप्राप्तिरूप फलवाले कार्याडम्बरसे मैं कृतार्थ हूँ, यों सुशोभित होती है। अपने स्वरूपमें घुस रहे चञ्चल वायुसे खूब तहस-नहस अतएव चञ्चल शरीरवाली वही तरङ्ग मैं टुकड़े-टुकड़े हो गई हूँ, यों रोती हुई-सी ध्वनियुक्त होती है।

खण्डशः परियातोऽस्मीत्याचक्रन्द इवाऽऽरवी ।
न चोर्मयस्ते जलधेर्व्यतिरिक्ताः पयोभरात् ॥ ३७ ॥
न चैकं रूपमेतेषां किञ्चित् सन्नाऽप्यसन्मयम् ।
न चैते ह्रस्वदैर्घ्याद्या गुणास्तेषु न तेषु ते ॥ ३८ ॥
नोर्मयः संस्थिता ह्यब्धौ न तत्तत्र न संस्थिताः ।
केवलं स्वस्वभावस्थसङ्कल्पविकलीकृताः ॥ ३९ ॥
नष्टा नष्टाः पुनर्जाता जाता जाताः पुनः पुनः ।
परस्परपरामर्शान्नाऽन्यतामुपयान्त्यलम् ॥ ४० ॥
एकरूपाम्बुसामान्यमया एव निरामयाः ।
तथैवाऽस्मिन् प्रवितते सिते शुद्धे निरामये ॥ ४१ ॥
ब्रह्ममात्रैकवपुषि ब्रह्मणि स्फाररूपिणि ।
सर्वशक्तावनाद्यन्ते पृथग्वदपृथक्कृताः ॥ ४२ ॥

दृष्टान्तमें पूर्वोक्त रीतिसे आरोप कह कर अपवाद दिखलाते हैं—**'न च'** इत्यादिसे ।

जलसमूहरूप सागरसे वे तरङ्गें पृथक् नहीं हैं, इनका न तो सन्मय और न असन्मय कोई एक रूप है और न ह्रस्व, दीर्घ आदि गुण उनमें हैं और न उन गुणोंमें तरङ्गें ही हैं ॥ ३४—३८ ॥

तरङ्गें समुद्रमें स्थित नहीं हैं। 'समुद्रमें स्थित नहीं हैं' ऐसा जो कहा गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि अधिष्ठानरूपसे समुद्रमें उनकी सत्ता है, विवर्तरूपसे तो प्रतियोगीकी सिद्धि न होनेसे ही उनके अभावकी सिद्धि नहीं होती। तब वे तरङ्गें क्या हैं ? इस शङ्कापर कहते हैं कि—केवल अपने स्वभावमें स्थित सङ्कल्पसे अल्प की गई हैं यानी परिच्छेदकृत भेदसे कल्पित हैं ॥ ३९ ॥

ये तरङ्गें नष्ट होकर फिर उत्पन्न होती हैं, उत्पन्न हो-होकर फिर-फिर समुद्रमें नष्ट होती हैं, परस्परके संमेलनसे अत्यन्त भेदको प्राप्त नहीं होती हैं । ये एकमात्र जलमय और निर्विकार ही हैं। वैसे ही इस सर्वव्यापक, ज्योतिस्वरूप, शुद्ध, निर्विकार, एकमात्र निरंकुश बृंहणस्वभाववाले अतएव 'ब्रह्म' शब्दसे पुकारे जानेवाले परिपूर्णरूप सर्वशक्तिसम्पन्न, जन्मनाशशून्य परम तत्त्वमें आश्चर्यपूर्ण विचित्र जन्म-मरण आदि व्यापारोंसे चञ्चल जगत्, जो उससे पृथक्

संस्थिताः शक्तयश्चित्रा विचित्राचारचञ्चलाः ।
नानाशक्तिर्हि नानात्वमेति स्वे वपुषि स्थितम् ॥ ४३ ॥
बृंहितं ब्रह्मणि ब्रह्म पयसीवोर्मिमण्डलम् ।
स्त्रीपुमान्व्यङ्गरूपेण ब्रह्मैव परिवर्तते ॥ ४४ ॥
कल्पनाऽन्या जगन्नाम्नी नाऽऽसीदस्ति भविष्यति ।
ब्रह्मणो जगतो भेदो मनागपि न विद्यते ॥ ४५ ॥
सम्पूर्णं खल्विदं ब्रह्म जगद् ब्रह्मैव केवलम् ।
इति भावय यत्नेन ह्यन्यत् सर्वं परित्यज ॥ ४६ ॥
नानारूपिण्येकरूपा वैरूप्यशतकारिणी ।
नियतिर्नियताकारा पदार्थमधितिष्ठति ॥ ४७ ॥
जडाजडमुपादत्ते चित्तमायाति चिन्मये ।
वासनारूपिणी शक्तिः स्वस्वरूपा स्थिताऽऽत्मनः ॥ ४८ ॥

नहीं हैं, पृथक्के तुल्य स्थित हैं। विविध विचित्र शक्तिवाला ब्रह्म ही अपने शरीरमें भिन्नताको प्राप्त होता है ॥ ४०—४३ ॥

जैसे जलमें अनेक लहरें वृद्धिको प्राप्त होती हैं वैसे ही ब्रह्ममें ब्रह्म ही जगत्-रूपसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है। स्त्री, पुरुष और नपुंसक रूपसे ब्रह्म ही परिवर्तित होता है ॥ ४४ ॥

ब्रह्मसे भिन्न जगत् नामकी न तो कोई कल्पना कभी थी, न है और न होगी। जगत्का ब्रह्मसे रत्तीभर भी भेद नहीं है ॥ ४५ ॥

यह सब ब्रह्म ही है, जगत् एकमात्र ब्रह्म ही है, ऐसी भावना प्रयत्नपूर्वक कीजिये और सबका परित्याग कीजिये ॥ ४६ ॥

अन्यके परित्यागमें उपायरूपसे सबके अधिष्ठान सन्मात्रका बोध कराते हैं—

नानारूपवाली होनेपर भी एकरूपवाली, अपने सैकड़ों विकृतरूप धारण करनेवाली होनेपर भी सदा सर्वत्र एकरूपवाली सत्ता पदार्थोंमें अधिष्ठानरूपसे विद्यमान है ॥ ४७ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि जड़ और अजड़ पदार्थोंमें अधिष्ठानरूपसे विद्यमान सत्ता सदा सर्वत्र एकाकार कैसे हो सकती है? तो इसपर चित्त द्वारा कल्पित जड़ और अजड़के विकल्पोंसे सन्मात्रकी एकरूपताकी क्षति नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं—'**जडा०**' इत्यादिसे।

ब्रह्मैवाऽनघ तेनेदं स्फाराकारं विजृम्भते ।
नानारूपैः प्रतिस्पन्दैः परिपूर्ण इवाऽर्णवः ॥ ४९ ॥
नानातां स्वयमादत्ते नानाकारविहारतः ।
आत्मैवाऽऽत्मन्यात्मनैव समुद्राम्भ इवाऽम्भसि ॥ ५० ॥
व्यतिरिक्ता न पयसो विचित्रा वीचयो यथा ।
व्यतिरिक्ता न विश्वेशात् समग्राः कल्पनास्तथा ॥ ५१ ॥
शाखापुष्पलतापत्रफलकोरकयुक्तयः ।
यथैकस्मिंस्तथा बीजे सर्वदा सर्वशक्तिता ॥ ५२ ॥
विचित्रवर्णता यद्वद् दृश्यते कठिनातपे ।
विचित्रशक्तिता तद्वद् देवेशे सदसन्मयी ॥ ५३ ॥

चिदाभासके चित्तको प्राप्त होनेपर उससे व्याप्त अहङ्कारको ही आत्मरूपसे तथा उससे अतिरिक्तको अनात्मरूपसे मान रहा मन अनाध्यात्मिक जड़ है और आध्यात्मिक अजड़ है, ऐसा भेद करता है। यह चित्तके भेदवासनारूपिणी शक्ति यदि अधिष्ठानसन्मात्रसे अतिरिक्त मानी जाय, तो मिथ्या हो जायगी, इसलिए वह आत्माकी स्वरूप ही है, इसलिए सत्ताकी एकरसताकी हानि नहीं हैं ॥ ४८ ॥

इस प्रकार पूर्ववर्णित दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी समता अक्षुण्ण रही, ऐसा कहते हैं—'**ब्रह्मैव**' इत्यादिसे ।

हे निष्पाप मुनिजी, इससे सिद्ध हुआ कि जैसे पूर्ण सागर ही भाँति-भाँतिकी लहरों, आवर्तों और बुद्बुदोंसे विकसित होता है, वैसे ही ब्रह्म ही विशाल आकारवाले इस जगत्‌रूपसे विकसित होता है ॥ ४९ ॥

जैसे समुद्रके जलमें समुद्रका जल विविध प्रकारकी गतिविधियोंसे अपने-आप भेदको प्राप्त करता है वैसे ही आत्मामें आत्मा ही अपने-आप ही नाना प्रकारके विचरणोंसे नानात्व (भेद) को धारण करता है ॥ ५० ॥

जैसे विविध आकार-प्रकारकी लहरें जलसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ये समस्त कल्पनाएँ परमात्मासे भिन्न नहीं हैं ॥ ५१ ॥

जैसे एक बीजमें शाखा, फूल, लता, पत्ते, फल, कलीकी स्थिति है, वैसे ही परमात्मामें सदा सर्वशक्तिता विद्यमान है ॥ ५२ ॥

परिणामवादके दृष्टान्तोंसे ब्रह्मसे जगतकी अभिन्नताका उपपादन कर अब

विचित्ररूपोदेतीयमविचित्रात् स्थितिः शिवात् ।
एकवर्णात् पयोवाहाच्छक्रचापलता यथा ॥ ५४ ॥
अजडाज्जडतोदेति जाड्यभावनहेतुका ।
ऊर्णनाभाद् यथा तन्तुर्यथा पुंसः सुषुप्तता ॥ ५५ ॥
अचितश्चेतसः शक्तिं स्वबन्धायेच्छया शिवः ।
तनोति तान्तवं कोशं कोशकारकृमिर्यथा ॥ ५६ ॥
स्वेच्छयाऽऽत्माऽऽत्मनो ब्रह्मन् भावयित्वैष विस्मृतिम् ।
करोति कठिनं बन्धं कोशकारकृमिर्यथा ॥ ५७ ॥

विवर्तवादमें प्रसिद्ध दृष्टान्तसे भी ब्रह्म-जगत्के अभेदका उपपादन करते हैं—**'विचित्र०'** इत्यादिसे ।

जैसे तेज धूपमें विचित्र वर्णता दिखाई देती है, वैसे ही परमात्मामें सदसन्मयी विचित्रशक्तिता है ॥ ५३ ॥

जैसे एक रङ्गके मेघसे रङ्ग-विरङ्गके इन्द्रधनुषकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही विचित्रतारहित, कल्याणमय परमात्मासे विचित्ररूपवाली यह जगत्स्थिति उत्पन्न होती है ॥ ५४ ॥

चेतनसे अचेतनकी उत्पत्तिमें भी परिणामवाद और विवर्तवाद—इन दोनों वादों के अनुरूप दो दृष्टान्त कहते हैं—**'अजडात'** इत्यादिसे ।

जैसे चेतन मकड़ीसे अचेतन मकड़ीके जालेकी उत्पत्ति होती है और जैसे चेतन पुरुषसे स्वप्नके रथ आदि उदित होते हैं, वैसे ही अजड़ परमात्मासे जड़ताकी भावनावश जड़ता उदित होती है ॥ ५५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि जब चित्का एक रूप है, तब उसके कार्यभूत अचित्में भेद कैसे सिद्ध हुआ ? इसपर कहते हैं—**'अचितः'** इत्यादिसे ।

जैसे रेशमका कीड़ा अपने बन्धनके लिए तन्तुओंका लच्छा फैलाता है, वैसे ही आत्मा अपने बन्धनके लिए अपने इच्छानुसार अचित् चित्तकी वासनाकी विचित्रताका विस्तार करता है ॥ ५६ ॥

हे ब्रह्मन्, जैसे रेशमका कीड़ा तन्तुजालकी रचनाकर अपने कठिन बन्धनकी स्वयं रचना करता है, वैसे ही यह आत्मा अपनी इच्छासे अपने स्वरूपकी विस्मृतिकी भावना कर अपने कठिन बन्धनकी सृष्टि करता है ॥ ५७ ॥

स्वेच्छयाऽऽत्माऽऽत्मनो ब्रह्मन् भावयित्वा स्वकं वपुः ।
संसारान्मोक्षमाप्नोति स्वालानादिव वारणः ॥ ५८ ॥
यथैव भावयत्यात्मा सततं भवति स्वयम् ।
तथैवाऽऽपूर्यते शक्त्या शीघ्रमेव महानपि ॥ ५९ ॥
भाविता शक्तिरात्मानमात्मतां नयति क्षणात् ।
अनन्तमखिलं प्रावृण्मिहिका महती यथा ॥ ६० ॥
या शक्तिरुदिता शीघ्रं याति तन्मयतामजः ।
य एवर्तुः स्थितिं यातस्तन्मयो भवति द्रुमः ॥ ६१ ॥
न मोक्षो मोक्ष ईशस्य न बन्धो बन्ध आत्मनः ।
बन्धमोक्षदृशौ लोके न जाने प्रोत्थिते कुतः ॥ ६२ ॥
नाऽस्ति बन्धो न मोक्षोऽस्ति तन्मयस्त्विव लक्ष्यते ।
ग्रस्तं नित्यमनित्येन मायामयमहो जगत् ॥ ६३ ॥

जैसे हाथी अपने बन्धनस्तम्भसे छुटकारा पाता है वैसे ही आत्मा अपनी इच्छासे अपने पूर्ण स्वरूपका अनुभव कर संसारसे मुक्त होता है ॥ ५८ ॥

आत्मा सदा जैसी भावना करता है, स्वयं वैसा हो जाता है और महान् होता हुआ भी मनकी शक्तिसे वैसा पूर्ण हो जाता है ॥ ५९ ॥

जैसे वर्षा ऋतुका विपुल कुहरा सम्पूर्ण आकाशको अपने रूपमें रंग देता है वैसे ही भावित शक्ति (वासना) व्यापक आत्माको एक क्षणमें अपने रूपको प्राप्त कर देती है ॥ ६० ॥

जैसे छः ऋतुओंमें जो ऋतु जिस समय रहती है, उस समय वृक्ष तन्मय हो जाता है, वैसे ही जो शक्ति उदित होती है आत्मा शीघ्र तन्मय बन जाता है ॥ ६१ ॥

यह बन्ध और मोक्षकी कल्पना अज्ञकी दृष्टिसे है, तत्त्वदृष्टिसे तो उनकी संभावना ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'न मोक्षः'** इत्यादिसे ।

जो लोकमें मोक्ष कहा जाता है, वह परमात्माका मोक्ष नहीं है और बन्ध भी आत्माका बन्ध नहीं है । न मालूम ये बन्ध-मोक्षदृष्टियाँ लोकमें कहाँसे टपकीं यथार्थतः बन्ध-मोक्षकी कथा ही नहीं है ॥ ६२ ॥

वास्तवमें न तो मोक्ष है और न बन्ध है, फिर भी यह आत्मा बन्ध-मोक्षरूप

यदैव चित्तं कलितं किलाऽनेनाऽकलात्मना ।
कोशकारवदात्माऽयमनेनाऽऽवलितस्तदा ॥ ६४ ॥
अन्योन्यरूपास्त्वत्यन्तं विकल्पितशरीरकाः ।
मनःशक्तय एतस्मादिमा निर्यान्ति कोटयः ॥ ६५ ॥
तज्जास्तत्स्थाः पृथग्रूपाः समुद्रादिव वीचयः ।
तज्जास्तत्स्थाः पृथक्स्थाश्च चन्द्रादिव मरीचयः ॥ ६६ ॥
अस्मिन् स्पन्दमये स्फारे परमात्ममहाम्बुधौ ।
चिज्जले विततामोगे चिन्मात्ररसमालिनि ॥ ६७ ॥

विकारोंसे युक्त-सा भ्रान्तिसे प्रतीत होता है; क्योंकि इसका नित्य, पूर्ण परमात्म-रूप अनित्य अविद्याजनित भोक्तृ, भोग्य आदि भावसे तिरोहित है, वही मायामय जगत् है ॥ ६३ ॥

इस अखण्ड आत्माने जभी चित्तकी कल्पना की, उसी समय जैसे रेशमके कीड़ेको रेशमके तन्तु लपेट लेते हैं वैसे ही इसको चित्तने लपेट लिया यानी बांध दिया ॥ ६४ ॥

परस्पर मिलते-जुलते रूपवाली, सर्वथा विकल्पित आकारवाली ये करोड़ों मनकी शक्तियाँ इस परमात्मासे ही उत्पन्न हुई हैं ॥ ६५ ॥

जैसे समुद्रसे उत्पन्न हुईं और समुद्रमें ही विद्यमान तरङ्गें समुद्रसे पृथक्-सी प्रतीत होती हैं और जैसे चन्द्रमासे आविर्भूत और चन्द्रमामें स्थित किरणें चन्द्रमासे पृथक्-सी स्थित रहती हैं, वैसे ही ये मनकी शक्तिरूप सृष्टियाँ परमात्मासे उत्पन्न हैं और उसीमें स्थित हैं फिर भी पृथक्-सी प्रतीत होती हैं। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियोंके भेदसे अथवा तामस और सात्त्विक भेदसे सृष्टिविभागको कहनेके लिए यहांपर क्रमशः दो दृष्टान्त दिये गये हैं, यह समझना चाहिये ॥ ६६ ॥

मुख्य और अमुख्य बन्धरूप उपाधिवाले जीवरूप संविद्भेदोंको ही नाम-रूप-क्रियाके वैचित्र्यसे विस्तारपूर्वक दर्शानेके लिए भूमिका रचते हैं—**'अस्मिन्'** इत्यादिसे।

इस स्पन्दमय, विशाल, परमात्मरूप महासागरमें, जिसमें चैतन्य ही जल है और जिसका विशाल आकार है एवं एकमात्र चिद्रससे जो सुशोभित होता है, कोई

काश्चित् स्थिरा ब्रह्मविष्णू काश्चिद् रुद्रत्वमागताः ।
काश्चित् पुरुषतां प्राप्ताः काश्चिद् देवत्वमागताः ॥ ६८ ॥

[लहर्यः प्रस्फुरन्त्येताः स्वभावोद्भावितात्मकाः ।
काश्चिद् यममहेन्द्रार्कवह्निवैश्रवणादिकाः ॥ १ ॥
घ्नन्ति कुर्वन्ति तिष्ठन्ति लहर्यश्चपलैषणाः ।
काश्चित् किन्नरगन्धर्वविद्याधरसुरादिकाः ॥ २ ॥
उत्पतन्ति पतन्त्युग्रा लहर्यः परिवल्गिताः ।
काश्चित् किञ्चित्स्थिराकारा यथा कमलजादिकाः ॥ ३ ॥
काश्चिदुत्पन्नविध्वस्ता यथा सुरनरादिकाः ।]

कृमिकीटपतङ्गाहिगोमशाजगरादिकाः ।
काश्चित्तस्मिन् महाम्भोधौ स्फुरन्त्येतेऽम्बुबिन्दुवत् ॥ ६९ ॥
काश्चिच्चला नरमृगगृध्रजम्बुलकादिकाः ।
स्फुरन्ति गिरिकुञ्जेषु वेलावनतटेष्विव ॥ ७० ॥
सुदीर्घजीविताः काश्चित् काश्चिदत्यल्पजीविताः ।
अतुच्छकलनाः काश्चित् काश्चित्तुच्छशरीरकाः ॥ ७१ ॥

स्थिर जीवनामक संविद्भेद ब्रह्मा, विष्णु हुए हैं, कोई रुद्रत्वको प्राप्त हुए हैं, कोई कोई पुरुषत्वको प्राप्त हुए हैं और कोई देवत्व को प्राप्त हुए हैं ॥ ६७ ॥

[अपने स्वभावसे जिन्होंने अपने स्वरूपकी कल्पना की है, ऐसी कोई ये लहरें यम, महेन्द्र, सूर्य, अग्नि, कुबेर आदिरूपसे स्फुरित होती हैं। चञ्चल वृत्तिवाली ये लहरियाँ आपसमें एक दूसरेका विनाश करती हैं, स्वोचित व्यवहार करती हैं और अपना स्वरूप बनाये रखती हैं। किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर, देव आदि कोई लहरियाँ ऊपरको उठती हैं और कोई नीचे गिरती हैं। कोई कुछ स्थिर आकारवाली हैं जैसे कि ब्रह्मा आदि और कुछ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती हैं जैसे देवता, मनुष्य आदि ॥ १—३½ ॥]

महासागरमें जलके बुद्बुदोंकी तरह कृमि, कीट, पतङ्ग, सर्प, गौ, मच्छर, अजगर आदि कोई जीवसंवित् इस चैतन्यरूपी महासागरमें अत्यल्प समयके लिए स्फुरित होती हैं। पर्वतके कुञ्जोंमें तथा समुद्रकी तीरभूमिके वनमें वृक्ष, लता आदिके तुल्य चञ्चल कोई मनुष्य, मृग, गृध्र, शृगाल आदि रूपवाली जीवसंवित् कुछ समयके

संसारस्वप्नसंरम्भे काश्चित् स्थैर्येण भाविताः ।
सुविकल्पहताः काश्चिच्छङ्कन्ते सुस्थिरं जगत् ॥ ७२ ॥
अल्पाल्पभावनाः काश्चिद् दैन्यदोषवशीकृताः ।
कृशोऽतिदुःखी मूढोऽहमिति दुःखैर्वशीकृताः ॥ ७३ ॥
काश्चित् स्थावरतां याताः काश्चिद् देवत्वमागताः ।
काश्चित् पुरुषतां प्राप्ताः काश्चिदर्णवतां गताः ॥ ७४ ॥
काश्चित् स्थिता जगति कल्पशतान्यनल्पाः
काश्चिद् व्रजन्ति परमं पदमिन्दुशुद्धाः ।
ब्रह्मार्णवात् समुदिता लहरीविलोला-
श्चित्संविदो हि मननापरनामवत्यः ॥ ७५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने संसारप्रवृत्तिदर्शनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

लिए आविर्भूत होती हैं। इन जीवसंविदोंमें किन्हींकी आयु बहुत लम्बी है, कोई बहुत थोड़े दिनोंतक जीवित रहती हैं, किन्हींकी शरीरकल्पना विशाल है, किन्हीं-का शरीर अत्यन्त तुच्छ है। इस संसाररूपी स्वप्नमें कोई अपनी चिरस्थायिताकी भावना करती हैं, कोई दृढ़ विकल्पोंसे मोहित होकर जगत्को स्थिर समझती हैं। कुछ दीनता आदि दोषोंसे आक्रान्त होकर अपने जीवनकी अत्यन्त अल्पताकी भावना करती हैं। मैं दुबला हूँ, अत्यन्त दुःखी हूँ और अत्यन्त मूढ़ हूँ, इस तरह दुःखोंसे परवश होकर कोई जीव स्थावरताको प्राप्त हुए हैं कोई देवत्वको प्राप्त हुए हैं, कोई पुरुषताको प्राप्त हुए हैं और कोई मोहसागरताको प्राप्त हुए हैं ॥७४॥

सागरसे उत्पन्न हुई लहरीके समान चञ्चल कुछ जीव, जिनका कि मनन दूसरा नाम है, ब्रह्मरूपी अर्णवसे उत्पन्न हुए हैं। उनमें विशाल शरीरवाले कुछ तो सैकड़ों कल्पतक जगत्में रहते हैं और कुछ ज्ञानरूपी अमृतसे पूर्ण होनेके कारण चन्द्रमाके तुल्य स्वच्छ होकर स्वरूपावस्थितिरूप मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ७५ ॥

ग्यारहवां सर्ग समाप्त

द्वादशः सर्गः

काल उवाच

सुरासुरनराकारा इमा याः संविदो मुने ।
ब्रह्मार्णवादभिन्नास्ताः सत्यमेतन्मृषेतरत् ॥ १ ॥

मिथ्याभावनया ब्रह्मन् स्वविकल्पकलङ्किताः ।
न ब्रह्म वयमित्यन्तर्निश्चयेन ह्यधोगताः ॥ २ ॥

ब्रह्मणो व्यतिरिक्तत्वं ब्रह्मार्णवगता अपि ।
भावयन्त्यो विमुह्यन्ति भीमासु भवभूमिषु ॥ ३ ॥

या एताः संविदो ब्राह्मयो मननैककलङ्किताः ।
एतत्तत्कर्मणां बीजमप्यकर्मैव विद्धि ताः ॥ ४ ॥

बारहवाँ सर्ग

[समुद्र और तरङ्गके दृष्टान्तसे प्राप्त हुई आत्माविकारिताके वारणपूर्वक मोहसे उत्पन्न हुई विचित्रताकी विवर्तरूपताका वर्णन]

पहले सब जीवोंकी ब्रह्मैकता और भेदक प्रपञ्चकी असत्यताका उपपादन करनेके लिए कहते हैं—**'सुरासुर०'** इत्यादिसे ।

कालने कहा—हे मुनिजी, देव, असुर और नरके आकारवाले ये जीव ब्रह्मरूपी सागरसे अभिन्न हैं, यही बात सत्य है, इससे अतिरिक्त मिथ्या है ॥ १ ॥

यदि उससे अभिन्न हैं, तो क्यों वैसा (हम अभिन्न हैं यों) अनुभव नहीं करते ? इसपर कहते हैं—**'मिथ्या०'** इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन् , अपने विकल्पसे कलङ्कित वे जीव देहमें आत्मत्वकी भ्रान्तिसे हम ब्रह्म नहीं हैं, इस आन्तरिक निश्चय द्वारा शोचनीय दशाको प्राप्त हुए हैं । यानी यद्यपि वे ब्रह्मरूपी सागरमें स्थित हैं, तथापि ब्रह्मसे अपनी भिन्नताकी (परिच्छिन्नताकी) भावना करते हुए नरकके तुल्य योनियोंमें घूमते हैं ॥ २,३ ॥

जो ये ब्रह्मसंविद्रूपी जीव हैं, वे एकमात्र देहात्मभावके पुनः पुनः अनुसन्धानसे कलङ्कित है, वही देहात्मभावका अनुसन्धान पाप और पुण्यकी प्रवृत्तियोंका बीज है । देहात्मभावके अनुसन्धानसे कलङ्कित होनेपर भी उन जीवोंको आप निर्विकार ब्रह्म ही जानिये ॥ ४ ॥

संकल्परूपयैवाऽन्तर्मुने कलनयैतया ।
कर्मजालकरञ्जानां बीजमुष्ट्या करालया ॥ ५ ॥
इमा जगति विस्तीर्णाः शरीरोलपपङ्क्तयः ।
तिष्ठन्ति परिवल्गन्ति रुदन्ति च हसन्ति च ॥ ६ ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं स्पन्दनैः पवनो यथा ।
उल्लसन्ति निलीयन्ते म्लायन्ति विहसन्ति च ॥ ७ ॥
ता एताः काश्चिदत्यच्छा यथा हरिहरादयः ।
काश्चिदल्पविमोहस्था यथोरगनरामराः ॥ ८ ॥
काश्चिदत्यन्तमोहस्था यथा तरुतृणादयः ।
काश्चिदज्ञानसंमूढाः कृमिकीटत्वमागताः ॥ ९ ॥
काश्चित्तृणवदुह्यन्ते दूरे ब्रह्ममहोदधेः ।
अप्राप्तभूमिका एता यथोरगनगादयः ॥ १० ॥
सत्त्वमात्रं समालोक्य काश्चिदेवमुपागताः ।
जाता जाता निखन्यन्ते कृतान्तजरठाखुना ॥ ११ ॥

हे मुनिजी, संकल्परूपी इस कल्पनासे ही, जो कराल विविध कर्मरूपी कञ्जोंके बीजोंकी मुट्ठीके तुल्य है, जगत्में विस्तीर्ण हुई ये शरीररूपी लताओंकी पंक्तियाँ स्थित हैं, इधर-उधर चलती फिरती हैं, रोती और हँसती हैं। जैसे वायु अपने स्पन्दनों द्वारा उल्लासको प्राप्त होता है और लीन हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मासे लेकर वृक्षपर्यन्त ये शरीरपङ्क्तियाँ भी उल्लासको प्राप्त होती हैं, तिरोहित हो जाती हैं, म्लान हो जाती हैं और हँसती हैं ॥ ५–७ ॥

इनमें से कोई ये जीव अत्यन्त निर्मल हैं, जैसे कि विष्णु, हर आदि। कोई ज्ञानाधिकारकी योग्यताके पानेसे अल्प मोहमें स्थित हैं, जैसे नाग, मनुष्य और देवता आदि। कोई अत्यन्त मोहमें स्थित हैं, जैसे वृक्ष, तृण आदि। कोई अज्ञानसे मोहयुक्त होकर कृमि और कीड़ोंकी योनियोंको प्राप्त हुए हैं। कृमि-कीटोंमें इष्ट और अनिष्टमें प्रवृत्ति और निवृत्तिकी क्षमता होनेसे स्थावरयोनियोंके तुल्य अत्यन्त मोह नहीं है, यह भाव है ॥ ८, ९ ॥

कुछ जीव शास्त्रप्रतिकूल प्रवृत्तिसे ब्रह्मरूपी महासागरके यानी मुक्तिके दूर बहाये जाते हैं, उन्हें भूमि प्राप्त नहीं होती है। वे हैं सर्प, वृक्ष आदि ॥ १० ॥

इस संसारमें आनेके क्रमसे मनुष्य आदि भावको प्राप्त हुए कुछ जीव संसारमें

काश्चिदन्तरमासाद्य ब्रह्मतत्त्वमहाम्बुधेः ।
गतास्तत्तां समं कार्यैर्हरिब्रह्महरादिकाः ॥ १२ ॥
अल्पमोहात्मिकाः काश्चित्तमेव ब्रह्मवारिधिम् ।
अदृष्टपारभूम्योघमवलम्ब्य व्यवस्थिताः ॥ १३ ॥
काश्चिद्भोक्तव्यजन्मौघभुक्तजन्मौघकोटयः ।
वन्ध्याः प्रकाशतामस्यः संस्थिता भूतजातयः ॥ १४ ॥
काश्चिदूर्ध्वादधो यान्ति यथा हस्तान्महत् फलम् ।
ऊर्ध्वादूर्ध्वतरं काश्चिदधस्तात् काश्चिदप्यधः ॥ १५ ॥
बहुसुखदुःखकराकराऽक्षयेयं
परमपदास्मरणात् समागतेह ।
परमपदावगमात् प्रयाति नाशं
विहगपतिस्मरणाद् द्विपव्यथेव ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने संसारोत्पत्तिविस्तारवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

आनेसे उत्पन्न हुए परिश्रमकी विश्रान्तिमें हेतुभूत योगभूमिके अस्तित्वको शास्त्रसे सुनकर योगसाधनामें बार बार उन्मुख होकर भी कालरूपी बूढ़े चूहेसे पीड़ित होते हैं ॥११॥

कुछ विष्णु, ब्रह्मा, हर आदि जीव ब्रह्मतत्त्वरूप महोदधिसे कुछ भेदक विशुद्ध ज्ञानोपाधिको पाकर कार्योंके साथ ब्रह्ममहासागरताको प्राप्त हुए हैं यानी जीवन्मुक्त हो गये हैं ॥ १२ ॥

अल्पमोहवाले कोई जीव, जिसकी सीमा नहीं है ऐसी पूर्णतावाले, उसी ब्रह्मरूपी महासमुद्रका समाधिसे अवलम्बन करके स्थित हैं ॥ १३ ॥

कुछ जीव, अवश्य भोगने योग्य जन्मसमूहोंसे जिन्होंने करोड़ों जन्मोंका भोग कर लिया है फिर भी मोक्षकी प्राप्ति न होनेसे वन्ध्य तथा अधिकारी देहकी प्राप्तिसे प्रकाशमें भी राग आदिसे अन्धे होनेके कारण तामसिक वृत्तिवाले होकर स्थित हैं। कोई जीव ऊपरसे नीचे गिरते हैं जैसे हाथसे बड़ा भारी फल गिरे, कोई ऊपरसे और अधिक ऊपर चढ़ते हैं और कोई नीचेसे और नीचे गिरते हैं ॥ १४,१५ ॥

बहुत प्रकारके सुख-दुःख देनेवाले जन्मोंकी आकररूप, ज्ञानके बिना कभी क्षीण

त्रयोदशः सर्गः

काल उवाच

एतासां भूतजातीनामूर्मीणामिव सागरात् ।
विविधानां विचित्राणां लतानामिव माधवे ॥ १ ॥
भव्या जितमनोमोहा दृष्टलोकपरावराः ।
जीवन्मुक्ता भ्रमन्तीह यक्षगन्धर्वकिन्नराः ॥ २ ॥
अन्ये तु काष्ठकुड्याभा मूढाः स्थावरजङ्गमाः ।
अपरे क्षीणमोहास्ते किं तेषां प्रविचार्यते ॥ ३ ॥

न होनेवाली यह जीवता परमपदका स्मरण न करनेसे संसारिताको प्राप्त हुई है । जैसे भगवान् विष्णुके स्मरणसे गजेन्द्रकी पीड़ा नष्ट हुई थी वैसे ही परमपदके ज्ञानसे वह नाशको प्राप्त होती है ॥ १६ ॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

[मनकी शक्तियोंका वर्णन करके भृगु और कालका शुक्रके समीपमें जानेके लिए उठना]

पूर्वोक्त जीवजातियोंमें से जीवन्मुक्त ही कृतकृत्य हैं और नहीं, ऐसा कहते हैं—**'एतासाम्'** इत्यादिसे ।

कालने कहा—हे भृगुजी, सागरसे उत्पन्न हुई लहरोंकी भाँति और वसन्त-ऋतुमें उत्पन्न हुई विविध विचित्र लताओंके तुल्य इन जीवजातियोंमें जिन्होंने मनके मोहपर विजय पा ली है और लोकके ऊँच-नीच विविध व्यवहार देख लिये हैं, ऐसे जीवन्मुक्त अतएव कृतकृत्य *यक्ष, गन्धर्व, किन्नर जगत्में भ्रमण करते हैं ॥१,२॥

और उनसे अतिरिक्त जो चराचर प्राणी हैं, वे काठ और भीतके तुल्य मूढ हैं, पुनः पुनः जन्ममरणको प्राप्त होते हैं । और दूसरे क्षीणमोह (तत्त्वज्ञानी) हैं । साधनचतुष्टयसे युक्त अज्ञानी ही शास्त्रविचारके अधिकारी हैं तत्त्वज्ञानी अधिकारी नहीं है ॥ ३ ॥

---

* यहांपर यक्ष आदि तीनोंका ग्रहण केवल उदाहरणके लिए है परिगणनके लिए नहीं है, क्योंकि मनुष्य आदिमें भी जीवन्मुक्तोंका संभव है ।

लोके प्रबुध्यमानानां भूतानामात्मसिद्धये ।
विहरन्तीह शास्त्राणि कल्पितान्युदितात्मभिः ॥ ४ ॥
संप्रबुद्धाशया ये तु दुष्कृतानां परिक्षये ।
तेषां शास्त्रविचारेषु निर्मला धीः प्रवर्तते ॥ ५ ॥
विलीयते मनोमोहः सच्छास्त्रप्रविचारणात् ।
नभोविहरणाद् भानोः शार्वरं तिमिरं यथा ॥ ६ ॥
अक्षीयमाणं हि मनो मोहायैव न सिद्धये ।
नीहार इव संछाद्य वेताल इव वल्गति ॥ ७ ॥
सर्वेषामेव देहानां सुखदुःखार्थभाजनम् ।
शरीरं मन एवेह न तु मांसमयं मुने ॥ ८ ॥

वे किस लिए देहधारण करते हैं? ऐसी यदि शङ्का हो, तो उसपर शास्त्र-रचना द्वारा अज्ञानियोंके उद्धारके लिए ही वे देहधारण करते हैं, इस आशयसे कहते हैं—**'लोके'** इत्यादिसे ।

लोकमें जो लोग आत्मज्ञानके लिए जागरूक हैं, उन प्राणियोंकी आत्मज्ञानकी सिद्धिके लिए ज्ञानी महात्माओं द्वारा रचे गये शास्त्र इस संसारमें विहार करते हैं, गरजते हैं ॥ ४ ॥

पापकर्मका क्षय होनेपर पुरुषको ज्ञानप्राप्ति होती है, इस अर्थवाले स्मृतिवचनके बलसे शास्त्र भी जिनका चित्त शुद्ध हो गया है, ऐसे ही पुरुषोंके प्रति फलदायक होते हैं, औरोंके लिए नहीं, ऐसा कहते हैं—**'संप्रबुद्धाशया'** इत्यादिसे ।

पापोंका विनाश होनेपर जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, उन्हींकी निर्मल बुद्धि शास्त्रविचारमें प्रवृत्त होती है ॥ ५ ॥

जैसे सूर्यके आकाशमें भ्रमण करनेसे रात्रिका अन्धकार मिट जाता है वैसे ही आध्यात्मिक सत् शास्त्रोंके विचारसे मनरूपी मैल नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

क्षीणताको प्राप्त न होता हुआ मन मोहके लिए ही होता है, न कि सिद्धिके लिए। वह कुहरेके समान ढककर बेतालके समान नाचता है यानी कुहरा जैसे आकाशको आवृत कर देता है वैसे ही अक्षीयमाण मन तत्त्वको आवृत कर देता है और जैसे बेताल नाच द्वारा विक्षेप करता है वैसे ही वह विक्षेप करता है ॥ ७ ॥

हे मुनिजी, देहात्मताको प्राप्त हुए (देहमें आत्मबुद्धि करनेवाले) सभी

योऽयं मांसास्थिसंघातो दृश्यते पाञ्चभौतिकः ।
मनोविकल्पनं विद्धि न देहः परमार्थतः ॥ ९ ॥
मनःशरीरेण तव पुत्रोऽयं कृतवान् मुने ।
तदेव प्राप्तवानाशु वयं नाऽत्राऽपराधिनः ॥ १० ॥
स्वया वासनया लोको यद् यत् कर्म करोति यः ।
स तथैव तदाप्नोति नेतरस्येह कर्तृता ॥ ११ ॥
स्वानुसंहितमन्तर्यन्मनोवासनया स्वया ।
को नाम भुवनेशोऽस्ति तत् कर्तुं यस्य शक्तता ॥ १२ ॥
ये सर्गा नरकाभोगा या जन्ममरणैषणाः ।
स्वमनोमननेनेदं स निष्पन्दोऽपि दुःखदः ॥ १३ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन शब्दसंग्रहकारिणा ।
उत्तिष्ठ भगवन् यामो यत्र ते तनयः स्थितः ॥ १४ ॥

जीवोंका सुख-दुःख आदिका भाजन मनोरूप ही शरीर है, मांसमय शरीर उक्त सुख-दुःख आदिका भाजन नहीं है ॥ ८ ॥

जो यह मांस और हड्डियोंका समूहरूप पाञ्चभौतिक देह दिखाई देती है, यह एकमात्र मनकी कल्पना है । वह देह वास्तिविक नहीं है ॥ ९ ॥

हे मुनिजी, आपके पुत्रने मनरूपी शरीरसे जो कुछ किया, उसीको वह प्राप्त हुआ । इस विषयमें हमारा तनिक भी अपराध नहीं है ॥ १० ॥

जो आदमी अपनी वासनासे जो जो कर्म करता है, वह वैसे ही उसको प्राप्त होता है, उसमें अन्य किसीकी कर्तृता नहीं है ॥ ११ ॥

प्राणी अपनी केवल मनोवासनासे (अनुसन्धानमात्रसे) अपने मनमें सोचे गये जिसका एक क्षणमें निर्माण करता है; कौन ऐसा भुवनोंका अधिपति है, जिसे उसे करनेकी सामर्थ्य है यानी लोकाधिपति हम लोग बड़े प्रयत्नसे चिरकालसे भी उसे नहीं कर सकते हैं, इसलिए भी हम लोगोंका अपराध नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

जो सृष्टियाँ, जो नरकोंके विस्तार और जो जन्म-मरणकी इच्छाएँ हैं, वे सब मनके स्फुरणसे हैं, वह मनका किञ्चिन्मात्र स्फुरण भी दुःखदायी है ॥ १३ ॥

इस विषयमें केवल शब्दोंका श्रवण करानेवाले (न कि तत्त्वप्रदर्शक) बहुत कथनसे क्या लाभ है ? भगवन्, आप उठिये, वहाँ चलें, जहाँपर आपका लड़का तपस्यामें स्थित है ॥ १४ ॥

सर्वं चित्तशरीरेण भुक्त्वा शुक्रः क्षणादिव ।
तथेन्दुरश्मिसंघट्टात् समङ्गातापसः स्थितः ॥ १५ ॥
तत्प्राणपवनश्चित्तान्मुक्त इन्दंशुवत् फलम् ।
अवश्यायतया भूत्वा वीर्यं तेनाऽन्तरा स्थितः ॥ १६ ॥
इत्युक्त्वा भगवान् कालो हसन्निव जगद्गतिम् ।
हस्ताद्धस्तेन जग्राह भृगुमिन्दुमिवांऽशुमान् ॥ १७ ॥
अहो नु चित्रा नियतेर्व्यवस्थेति वदञ्छनैः ।
भगवान् भृगुरुत्तस्थावुदयाद्रेर्यथा रविः ॥ १८ ॥
तेजोनिधी ह सममङ्ग समुत्थितौ तौ
भातस्तदाऽम्बरतले सतमालजाले ।
तुल्योदयाविव नभस्यमले विहर्तु-
मभ्युत्थितौ सजलदौ सकलेन्दुसूर्यौ ॥ १९ ॥

स्वर्गके सब भोगोंका चित्तशरीरसे एक क्षणमें भोग कर तदुपरान्त आकाश आदिके क्रमसे भूमिमें अवतीर्ण हुआ आपका पुत्र शुक्र चन्द्रमाकी किरणोंके सम्बन्धसे ओषधियोंमें प्रवेश कर अन्न आदिके रूपसे जन्मपरम्पराको पाकर समङ्गाके तटपर तपस्वी बनकर बैठा है ॥ १५ ॥

चन्द्रमाकी किरणोंके सम्बन्धसे, ऐसा जो कहा है, उसे स्पष्ट करते हैं—**'तत्प्राण०'** इत्यादिसे ।

शुक्रका प्राणवायु चेतनशक्तिसे संमूर्च्छित होकर नीहाररूपसे चन्द्रमाकी किरणोंके साथ सम्पर्क होनेसे चन्द्रकिरणके तुल्य होकर धान द्वारा उसका फल चावल आदि होकर पुरुषमें प्रविष्ट हो वीर्य बनकर स्त्रीके गर्भमें स्थित हुआ ॥१६॥

यह कहकर जगत्की स्थितिपर हंस-से रहे भगवान् कालने हाथ फैलाकर अपने हाथसे भृगुजीको ऐसे पकड़ा, जैसे सूर्य चन्द्रमाको पकड़े ॥ १७ ॥

भगवदिच्छारूप नियतिकी व्यवस्था बड़ी विचित्र है, ऐसा धीरे-धीरे कह रहे भगवान् भृगु उदयाचलसे सूर्यके तुल्य उठ खड़े हुए ॥ १८ ॥

तमालके वृक्षोंके झुण्डसे युक्त मन्दराचलमें एक ही साथ खड़े हुए वे दोनों तेजके निधान उस समय बादलोंसे युक्त, निर्मल आकाशमें विहार करनेके लिए एक साथ उदित हुए पूर्ण चन्द्र और सूर्यके समान सुशोभित हुए ॥ १९ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
　　सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
　　श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने भृगुसमाश्वासनं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

॥ अष्टमो दिवसः ॥

चतुर्दशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ कालभृगू देवौ मन्दराचलकन्दरात् ।
गन्तुं प्रवृत्ताववनौ समङ्गासरितस्तटम् ॥ १ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—श्रीमुनिजीके इतना कह चुकनेपर दिवस बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलको चले गये, ऋषियोंकी सभा महामुनिको नमस्कार करके सायंकालकी सन्ध्याविधि आदिके लिए स्नानार्थ चली गई। दूसरे दिन रात बीतनेपर सूर्यके उदय होनेके साथ फिर आ गई ॥ २० ॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ दिवस

चौदहवाँ सर्ग

[समङ्गा नदीके किनारेपर जाकर काल और भृगु ऋषिका शुक्राचार्यको समाधिसे जगाना, पूर्व वृत्तान्तका स्मरण दिलाना और वहाँसे आनेकी इच्छाका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके अनन्तर काल और भृगु ये दोनों देवता मन्दराचलकी कन्दरासे पृथ्वीतलमें उतरकर समङ्गा नदीके तटपर जानेके लिए तत्पर हुए ॥ १ ॥

तौ शैलादवरोहन्तौ दृष्टवन्तौ महाद्युती ।
नवहैमलताजालकुञ्जसुप्तनभश्चरान् ॥ २ ॥
वल्लीवलयदोलाभिः क्रीडतो गगनाङ्गणे ।
हरिणीमुग्धमुग्धाक्षिप्रेक्षितस्मारितोत्पलान् ॥ ३ ॥
सिद्धानध्यासितोत्तुङ्गशिलाशकलविष्टरान् ।
धृताकारानिवोत्साहान् हेलादृष्टजगत्त्रयान् ॥ ४ ॥
कृताजस्रपतत्पुष्पधारासारनिमज्जनान् ।
तालोत्तालकरानूर्ध्वहस्तान् हस्तिघटापतीन् ॥ ५ ॥
मदावलेपनिद्रालून् मदान् मूर्तानिव स्थितान् ।
पुष्पकेसररक्ताङ्गपवनारुणवालधीन् ॥ ६ ॥
चञ्चलांश्चमरांश्चारून् भूभृन्मण्डलचामरान् ।
कृताजस्रपतत्पुष्पधारासारनिमज्जनान् ॥ ७ ॥
किन्नरान् भूमखर्जूरान् शाखासरलतां गतान् ।
परस्परफलाघातक्ष्वेडावर्जितकीचकान् ॥ ८ ॥

पर्वतसे उतर रहे उन दोनों महातेजस्वियोंने अभिनव, सुवर्णमयी लताओंके समूहोंके निकुञ्जोंमें सोये हुए देवताओं और पक्षियोंको, जो गगनाङ्गणमें लताओंसे वेष्टित झूलोंके द्वारा क्रीड़ा कर रहे थे, देखा। वे हरिणियोंके तुल्य मनोहर अपने कटाक्षोंसे कमलका स्मरण करा रहे थे ॥ २, ३ ॥

ऊँचे शिलाखण्डरूपी आसनपर बैठे हुए तथा लीलासे तीनों जगतोंको देखनेवाले सिद्धोंको भी, जो शरीरधारी उत्साहके तुल्य थे, देखा ॥ ४ ॥

जिनमें निरन्तर फूल गिर रहे थे, ऐसे धाराके प्रवाहोंमें, जो नहा चुके थे तथा ताल वृक्षकी तरह लम्बे, मोटे और ऊपर उठाये हुए सूँड़वाले गजयूथपोंको देखा, वे मदके आधिक्यके कारण आलस्यसे झपकी ले रहे थे, मूर्तिधारी मदके तुल्य थे और फूलोंके केसरोंसे रञ्जित पवनसे उनकी पूँछ लाल हो गई थी ॥ ५,६ ॥

एवं चञ्चल और मनोहर चमरोंको, फूलोंके केसरोंसे रञ्जित पवनसे जिनकी पूँछ लाल हो गई थी और जो पर्वतराजके चँवरके तुल्य प्रतीत होते थे, देखा। जिनमें निरन्तर फूल गिर रहे थे, ऐसे धाराके प्रवाहमें निमज्जन किये हुए किन्नरोंको, शाखापर्यन्त सीधे हुए उत्तम जातिके खर्जूरवृक्षोंको और खर्जूरके फलोंसे

धातुपाटलदुर्वक्त्रान्मर्कटान्नटनोत्कटान् ।
लतावितानसञ्छन्नसानूपवनमन्दिरान् ॥ ९ ॥
सिद्धानमरनारीभिर्मन्दारकुसुमाहतान् ।
धातुपाटलनिर्द्धारपयोदपटसंवृतान् ॥ १० ॥
तटानजनसंसर्गान् बौद्धान्प्रव्रजितानिव ।
सरितः कुन्दमन्दारपिनद्धलहरीघटाः ।
सागरोत्कृतयेवाऽऽत्तमधुमासप्रसाधनाः ॥ ११ ॥
पुष्पभारपिनद्धाङ्गान्वृक्षान्पवनकम्पितान् ।
क्षीबानिव मधुप्राप्तौ घूर्णन्मधुकरेक्षणान् ॥ १२ ॥
शैलराजश्रियं स्फीतां पश्यन्तौ तावितस्ततः ।
प्राप्तवन्तौ वसुमतीं पुरपत्तनमण्डिताम् ॥ १३ ॥

परस्पर ताड़नरूपी क्रीड़ा द्वारा बांसको भी फलयुक्त बनानेवाले बन्दरोंको भी, जिनके विरूप मुख गेरुके तुल्य लाल थे और जो उछलने-कूदनेमें मस्त थे, देखा। पर्वतके शिखरभागके उपवनमें जिनके मन्दिर लताओंके विस्तारसे ढके हुए थे, जिन्हें रतिकालका सूचन करनेके लिए देवाङ्गनाएँ मन्दारके फूलोंसे मार रही थीं, ऐसे सिद्धोंको भी देखा और उन पर्वतके प्रपात देशोंको भी देखा, जो गेरुसे लाल और सघन बादलके समूहोंसे आच्छन्न तथा मनुष्योंके संचारसे शून्य थे, उनकी बौद्धोंके संन्यासियोंसे तुलना की जा सकती है, क्योंकि वे भी गेरु आदिसे लाल और सघन वस्त्रसे आवृत रहते हैं और जनसंसर्गसे शून्य होते हैं; कुन्द और मन्दारके फूलोंसे जिनकी लहरें आच्छन्न थीं, ऐसी नदियोंको, जिन्होंने मानो समुद्ररूपी कान्तके प्रति अत्यन्त उत्सुकताके कारण मधुमाससम्बन्धी पुष्प, पल्लव आदि अलङ्कार धारण किये हैं तथा फूलोंके भारसे आच्छन्न पवनसे हिलते हुए वृक्षोंको भी देखा, मानो वे वृक्ष मधुमासके (वसन्तके) प्राप्त होनेपर चञ्चल भ्रमररूपी नेत्रोंसे युक्त थे, अतएव मद्य पीनेपर नशेमें चढ़े हुए नेत्रवाले पागल-से लगते थे ॥ ७–१२ ॥

इस तरह वे दोनों इधर-उधर बढ़ी-चढ़ी पर्वतकी शोभाको देखते हुए गाँव तथा शहरोंसे सुशोभित पृथ्वीतलको प्राप्त हुए ॥ १३ ॥

क्षणादवापतुस्तत्र पुष्पलोलतरङ्गिणीम् ।
समङ्गां सरितं साधु सर्वपुष्पमयीमिव ॥ १४ ॥
ददर्शाऽथ तटे तस्मिन् कस्मिंश्चित्तनयं भृगुः ।
देहान्तरपरावृत्तं भावमन्यमुपागतम् ॥ १५ ॥
शान्तेन्द्रियं समाधिस्थमचञ्चलमनोमृगम् ।
सुचिरादिव विश्रान्तं सुचिरश्रमशान्तये ॥ १६ ॥
चिन्तयन्तमिवाऽनन्ताश्चिरभुक्ताचिरोज्झिताः ।
संसारसागरगतीर्हर्षशोकनिरन्तराः ॥ १७ ॥
नूनं निश्चलतां यातमतिभ्रमितचक्रवत् ।
अनन्तजगदावर्तविवर्तातिशयादिव ॥ १८ ॥
एकान्तसंस्थितं कान्तं कान्त्यैकाकिनमाश्रितम् ।
उपशान्तेहसंभग्नचित्तसम्भ्रमसङ्गमम् ॥ १९ ॥
निर्विकल्पसमाधिस्थं विरतं द्वन्द्ववृत्तितः ।
हसन्तमखिलां लोकगतिं शीतलया धिया ॥ २० ॥

पृथिवीपर क्षणमात्रमें फूलोंसे चञ्चल तरङ्गोंसे युक्त समङ्गा नदीपर पहुँचे । मालूम होता था कि वह सम्पूर्णतः पुष्पोंसे ही बनी हुई है ॥ १४ ॥

वहाँ पहुँचनेके अनन्तर समङ्गा नदीके किनारे कहींपर भृगु ऋषिने अपने पुत्रको देखा, उसने दूसरी देहका परिवर्तन किया था, अतएव वह शुक्राचार्यसे विलक्षण भावको प्राप्त हुआ था, उसकी इन्द्रियां शान्त हो गई थीं, समाधिस्थ होनेसे उसका मनरूपी मृग स्थिर हो गया था, मानो वह पुरुष अनादि संसारश्रमको दूर करनेके लिये बहुत दिनोंसे विश्राम ले रहा था तथा अनादिकालसे भुक्त, थोड़े ही दिनोंसे परित्यक्त और हर्ष, शोकसे भरी हुई संसारसागरकी गतिओंका विचार कर रहा था, मानो अवश्य ही वह अनन्त जगद्रूपी आवर्तमें अतिशय भ्रमणसे जोरसे घुमाये हुए चक्रके तुल्य निश्चल हो गया था ॥ १५–१८ ॥

वह एकान्तमें अकेला स्थित था, शरीरकान्तिसे अत्यन्त कमनीय था । उसकी सारी चेष्टाएँ शान्त हो गई थीं, अतएव उसके चित्तके सम्भ्रमका समागम नष्ट हो गया था ॥ १९ ॥

वह निर्विकल्प समाधिमें स्थित था, अतएव शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वकी वृत्तियोंसे

विगताखिलवृत्तान्तं विगताशेषभोक्तृतम् ।
निरस्तकल्पनाजालमालम्बितमहापदम् ॥ २१ ॥
अनन्तविश्रान्तितते पदे विश्रान्तमात्मनि ।
प्रतिबिम्बमगृह्णन्तं सितं मणिमिवाऽऽस्थितम् ॥ २२ ॥
हेयोपादेयसङ्कल्पविकल्पाभ्यां समुज्झितम् ।
संप्रबुद्धमतिं धीरं ददर्श तनयं भृगुः ॥ २३ ॥
तमालोक्य भृगोः पुत्रं कालो भृगुमुवाच ह ।
वाक्यमब्धिध्वनिनिभं तव पुत्रस्त्वसाविति ॥ २४ ॥
विबुध्यतामिति गिरा समाधेर्विरराम सः ।
भार्गवोऽम्भोदघोषेण शनैरिव शिखण्डभृत् ॥ २५ ॥
उन्मील्य नेत्रे सोऽपश्यदन्ते कालभृगू प्रभू ।
समोदयाविवाऽऽयातौ देवौ शशिदिवाकरौ ॥ २६ ॥

शून्य था। मानो वह अपनी शान्त बुद्धि द्वारा सम्पूर्ण लोकव्यवहारका उपहास कर रहा था ॥ २० ॥

सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ उससे पृथक् हो गई थीं, सम्पूर्ण कर्मफलोंसे वह शून्य था और उसने सम्पूर्ण कल्पनाजालका परित्याग कर दिया था, अतएव अपरिच्छिन्न आत्मसुखसे वह पूर्ण था ॥ २१ ॥

वह अनन्त सुखपूर्ण व्यापक आत्मतत्त्वमें विश्रान्त था अतएव प्रतिबिम्बका ग्रहण नहीं कर रही स्वच्छ मणिके तुल्य स्थित था ॥ २२ ॥

'यह अग्राह्य है' तथा 'यह ग्राह्य है' इस सङ्कल्प-विकल्पसे शून्य तथा आत्मबोधको प्राप्त हुए अपने धीर पुत्रको भृगुजीने देखा ॥ २३ ॥

उस भृगुके पुत्रको देखकर कालने भृगुजीसे समुद्रके निर्घोषके तुल्य गम्भीर स्वरसे कहा—"यही आपका पुत्र है" ॥ २४ ॥

जैसे मेघके गम्भीर स्वरसे मोर जाग जाता है वैसे ही 'जागो' इस वाणीसे वह भृगुपुत्र समाधिसे धीरे-धीरे जाग उठा ॥ २५ ॥

उसने आँखे खोलकर समीपमें आये हुए एक साथ उदित हुए सूर्य और चन्द्रमाके तुल्य काल और भृगुको देखा ॥ २६ ॥

कदम्बलतिकापीठादथोत्थाय ननाम तौ ।
समौ समागतौ कान्तौ विप्रौ हरिहराविव ॥ २७ ॥
मिथःकृतसमाचाराः शिलायां समुपाविशन् ।
मेरुपृष्ठे जगत्पूज्या ब्रह्मविष्णुहरा इव ॥ २८ ॥
अथ शान्तजपो राम स समङ्गातटे द्विजः ।
तावुवाच वचः शान्तममृतस्यन्दसुन्दरम् ॥ २९ ॥
भवतोर्दर्शनेनाऽहमद्य निर्वृतिमागतः ।
सममागतयोर्लोके शीतलोष्णरुचोरिव ॥ ३० ॥
यो न शास्त्रेण तपसा न ज्ञानेनाऽपि विद्यया ।
विनष्टो मे मनोमोहः क्षीणोऽसौ दर्शनेन वाम् ॥ ३१ ॥
न तथा सुखयन्त्यन्तर्निर्मलामृतवृष्टयः ।
यथा प्रहर्षयन्त्येता महतामेव दृष्टयः ॥ ३२ ॥
चरणाभ्यामिमं देशं भवन्तौ भूरितेजसौ ।
कौ पवित्रितवन्तौ नः शशाङ्कार्काविवाऽम्बरम् ॥ ३३ ॥

कदम्बलताके आसनसे उठकर उसने एक साथ आये हुए, विप्रवेषधारी विष्णु-शिवके तुल्य समान कान्तिवाले उन दोनोंका प्रणाम किया ॥ २७ ॥

तत्कालोचित परस्पर अभिनन्दन आदि व्यवहार कर लेनेपर वे लोग शिलापर सुमेरु पृष्ठपर जगत्पूज्य ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरके तुल्य बैठे ॥ २८ ॥

तदनन्तर हे श्रीरामचन्द्रजी, समङ्गाके तटमें समाधिसे विरत उस ब्राह्मणने इन दोनोंसे (काल और भृगुसे) अमृतबिन्दुके तुल्य सुन्दर शान्त वचन कहा ॥ २९ ॥

हे भगवन्, इस लोकमें एक साथ आये हुए चन्द्रमा और सूर्यके समान आप लोगोंके दर्शनसे आज मैं परम सुखको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ३० ॥

जो मनोमोह शास्त्राभ्यास, तपश्चर्या, उपासना तथा ब्रह्मज्ञानसे नष्ट नहीं हुआ था, वह मेरा मनोमोह आप लोगोंके दर्शनसे दूर हो गया है। (उन लोगोंकी प्रशंसाके लिये यहाँपर अतिशयोक्ति है) ॥ ३१ ॥

निर्मल अमृतकी वृष्टि अन्तरात्माको वैसा सुखी नहीं बनाती जैसा कि आप महात्माओंकी केवल यह दृष्टि सुखी बना रही है ॥ ३२ ॥

हे भगवन्, आकाशको चन्द्रमा और सूर्यके तुल्य इस हमारे देशको अपने चरणोंसे पवित्र बनानेवाले महातेजस्वी आप लोग कौन हैं? ॥ ३३ ॥

इत्युक्तवन्तं प्रोवाच भृगुर्जन्मान्तरात्मजम् ।
स्मराऽऽत्मानं प्रबुद्धोऽसि नाऽज्ञोऽसीति रघूद्वह ॥ ३४ ॥

प्रबोधितोऽसौ भृगुणा जन्मान्तरदशां निजाम् ।
मुहूर्तमात्रं सस्मार ध्यानोन्मीलितलोचनः ॥ ३५ ॥

अथाऽसौ विस्मयात् स्मेरमुखो मुदितमानसः ।
वितर्कमन्थरां वाचमुवाच वदतां वरः ॥ ३६ ॥

जगत्यविदितारम्भा नियतिः परमात्मनः ।
यद्वशादिदमाभोगि जगच्चक्रं प्रवर्तते ॥ ३७ ॥

ममाऽनन्तान्यतीतानि जन्मान्यविदितान्यपि ।
दशाफलान्यनन्तानि कल्पान्तकलितादिव ॥ ३८ ॥

दृष्टाः कठिनसंरम्भा विभवोऽप्यर्जनभ्रमाः ।
विहृतं वीतशोकासु चिरं मेरुस्थलीषु च ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, शुक्रके यह कहनेपर भृगुजीने जन्मान्तरके अपने पुत्रसे कहा—तुम अपना स्मरण करो, क्योंकि तुम ज्ञानी हो, मूढ़ नहीं हो ॥ ३४ ॥

भृगुजी द्वारा बोधको प्राप्त हुए उसने ध्यानसे दिव्य चक्षु खोलकर क्षणभर अपनी जन्मान्तरकी अवस्थाका स्मरण किया ॥ ३५ ॥

तदनन्तर वक्ताओंमें श्रेष्ठ उसने आश्चर्यके दर्शनसे विकसित मुख होकर वितर्कसे मन्द वचन कहा । उस समय उसका मन अत्यन्त प्रसन्न था ॥ ३६ ॥

इस संसारमें कर्मफलका नियन्त्रण करनेवाली परमात्माकी मायाशक्तिका, जिसके कारण यह विशाल जगद्रूपी चाक चल रहा है, व्यापार किसीको ज्ञात नहीं है ॥ ३७ ॥

मेरे अनन्त जन्म बीत गये हैं, जिनका मुझे ज्ञान भी नहीं है तथा प्रलयकालमें प्राप्त वर्षा, वायु और धूप आदिसे उत्पन्न हुए दुःख, मोह आदिके तुल्य मरण, मूर्छा आदि दुर्दशाओंके फलभूत अनेक दुःख, मोह आदि भी बीत गये हैं ॥३८॥

मैंने कठिन क्रोध और उद्योगसे भरे हुए राजाओंको देखा, धनोपार्जनार्थ विविध भ्रमणोंका अनुभव किया तथा बहुत दिनोंतक शोकसे शून्य सुमेरुपर्वतकी भूमियोंमें विहार किया ॥ ३९ ॥

पीतमामोदि मन्दारकेसरारुणितं पयः ।
मन्दाकिन्याः सकह्लारं तटीष्वमरभूभृतः ॥ ४० ॥
भ्रान्तं मन्दरकुञ्जेषु फुल्लहेमलतालिषु ।
मेरोः कल्पतरुच्छायापुष्पसुन्दरसानुषु ॥ ४१ ॥
न तदस्ति न यद् भुक्तं न तदस्ति न यत् कृतम् ।
न तदस्ति न यद्दृष्टमिष्टानिष्टासु वृत्तिषु ॥ ४२ ॥
ज्ञातं ज्ञातव्यमधुना दृष्टं द्रष्टव्यमक्षतम् ।
विश्रान्तोऽथ चिरं श्रान्तो गतो मे सकलो श्रमः ॥ ४३ ॥
उत्तिष्ठ तात गच्छामः पश्यामो मन्दरस्थिताम् ।
तां तनुं तावदाशुष्कां शुष्कां वनलतामिव ॥ ४४ ॥
न समीहितमस्तीह नाऽसमीहितमस्ति मे ।
नियते रचनां द्रष्टुं केवलं विहराम्यहम् ॥ ४५ ॥

सुमेरुपर्वतके समीपकी भूमियोंमें मन्दारके फूलोंके केसरोंसे रञ्जित अतएव सुगन्धपूर्ण तथा सन्ध्याकालमें खिलनेवाले कमलोंसे युक्त मन्दाकिनीके जलका मैंने पान किया ॥ ४० ॥

फूली हुई सुवर्णलताओंकी पङ्क्तियोंसे पूर्ण मन्दराचलके निकुञ्जोंमें और कल्प-वृक्षकी छाया तथा फूलोंसे मनोहर सुमेरुपर्वतके शिखरप्रदेशोंमें मैंने भ्रमण किया ॥४१॥

ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका मैंने भोग न किया हो, ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जो मैंने नहीं की हो और ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मैंने अनुकूल या प्रतिकूल दशामें न देखी हो यानी सब कुछ किया, सबका भोग किया और सब कुछ देखा ॥ ४२ ॥

एक आत्माके साक्षात्कारसे भी सबका ज्ञान दर्शाते हैं—**'ज्ञातम्'** इत्यादिसे।

इस समय जानने योग्य सारी बातें मैंने जान ली हैं, देखने योग्य सम्पूर्ण वस्तुएँ अच्छी तरह देख ली हैं, बहुत दिनोंसे थका हुआ मैं अब विश्राम ले रहा हूँ और मेरे सम्पूर्ण श्रम दूर हो गये हैं ॥ ४३ ॥

हे पिताजी, उठिये चलें, सूखी हुई वनलताकी नाईं सूखे हुए मन्दराचलपर स्थित उस शरीरको देखें ॥ ४४ ॥

यदि शङ्का हो कि उस शरीरसे तुम्हें क्या करना है ? तो इसपर कहते हैं—**'न'** इत्यादिसे ।

यदतिसुभगमार्यसेवितं तत्स्थिरमनुयामि यदेकभावबुद्ध्या ।
तदलमभिमता मतिर्ममाऽस्तु प्रकृतमिमं व्यवहारमाचरामि ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गव-जन्मान्तरस्मरणवर्णनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस संसारमें न तो मेरा कुछ अभीष्ट है और न अनिष्ट है, केवल नियतिकी रचना देखनेके लिए मैं इस जगत्‌में विहार कर रहा हूँ ॥ ४५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि नियतिकी रचना देखनेके लिए विहार करते हुए आपकी उसमें आसक्ति होनेसे पहलेकी तरह अप्सराके मनोरथ द्वारा अनुगमनरूप संसारकी प्राप्ति हो जायगी ? तो इसपर दृढ़तर तत्त्वज्ञानसे अज्ञानानुवृत्तिमात्रका बाध हो जानेसे अब पहलेकी तरह अभिनिवेशकी प्रसक्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—**'यदति०'** इत्यादिसे ।

चूँकि मैं एकात्मताके दृढ़ निश्चयसे अत्यन्त शुभावह, जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे सेवित चरित्रका ही स्थिरतापूर्वक अनुसरण करता हूँ न कि मूढ़ोंके चरित्रोंका, इसलिए मेरी तथा आपकी अभीष्ट जो पूर्वदेहमें अवस्थितिरूप बुद्धि है, वह रहे, उससे कोई भी क्षति नहीं होगी। उस बुद्धिसे बचे हुए प्रारब्धका भोग करानेवाले व्यवहारका ही आचरण मैं करूँगा, न कि मूढोंकी तरह आसक्तिको प्राप्त होऊँगा, यह अर्थ है ॥ ४६ ॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चदशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

विचारयन्तस्तत्त्वज्ञा इति ते जागतीर्गतीः ।
समङ्गायास्तटात् तस्मात् प्रचेलुश्चञ्चलासवः ॥ १ ॥
क्रमादाकाशमाक्रम्य निर्गत्याऽम्बुदकोटरैः ।
संप्रापुः सिद्धमार्गेण क्षणान्मन्दरकन्दरम् ॥ २ ॥
अधित्यकायां तस्याऽद्रेरार्द्रपर्णावगुण्ठिताम् ।
ददर्श भार्गवः शुष्कां पूर्वजन्मोद्भवां तनुम् ॥ ३ ॥
उवाचेदं च हे तात तन्वी तनुरियं हि सा ।
या त्वया सुखसम्भोगैः पुरा समभिलालिता ॥ ४ ॥
इयं सा मत्तनुर्यस्याः कर्पूरागुरुचन्दनैः ।
अङ्गमङ्गीकृतस्नेहा धात्री चिरमलेपयत् ॥ ५ ॥
इयं सा मत्तनुर्यस्या मन्दारकुसुमोत्करैः ।
रचिता शीतला शय्या मेरूपवनभूमिषु ॥ ६ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

[पूर्व शरीरको देखकर शुक्रका विलाप तथा विलापमें हेतुविशेषकथनपूर्वक शरीरके स्वभावका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—इस प्रकारके तत्त्वज्ञानी, जिनके प्राण चञ्चल थे, संसारकी गतिविधिका विचार करते हुए उस समङ्गानदीके तटसे भृगुजीके आश्रमके प्रति चले [चञ्चलासव, यह कथन प्राणक्रियासे ही उनमें चलनक्रिया हुई आत्मामें क्रिया नहीं है, यह सूचनके लिए है] ॥ १ ॥

क्रमशः आकाशको आक्रान्त कर मेघच्छिद्रोंसे बाहर निकलकर वे सिद्धमार्गसे क्षणभरमें मन्दराचलकी गुफामें पहुँच गये । उस पर्वतकी ऊँची भूमिमें शुक्रने अपने पूर्व जन्मके सूखे शरीरको, जो कि हरे पत्तोंसे ढका था, देखा ॥ २–३ ॥

शुक्रने यह कहा—हे तात, वही यह कृश शरीर है, जिसका आपने सुखदायक भोगोंसे पहले लालन-पालन किया था ॥ ४ ॥

वह यह मेरा शरीर है, जिसके अवयवोंमें स्नेहमयी धाईने कपूर, अगरु, चन्दन आदिसे बहुत दिनोंतक लेप किया था । वह यह मेरा शरीर है, जिसके

इयं सा मत्तनुर्मत्तदेवस्त्रीगणलालिता ।
सरीसृपमुखक्षुण्णा पश्य शेते धरातले ॥ ७ ॥
चन्दनोद्यानखण्डेषु मम तन्वा ययाऽनया ।
चिरं विलसितं सेयं शुष्ककङ्कालतां गता ॥ ८ ॥
सुराङ्गनाङ्गसंसर्गादुत्तुङ्गानङ्गभङ्गया ।
चेतोवृत्त्या रहितया तन्वाऽद्य मम शुष्यते ॥ ९ ॥
तेषु तेषु विलासेषु तासु तासु दशासु च ।
तथा तद्भावनाबन्धः कथं स्वस्थोऽसि देहक ॥ १० ॥
हा तनो शवनामाऽसि तापसंशोषमागता ।
कङ्कालतां प्रयाताऽसि मां भीषयसि दुर्भगे ॥ ११ ॥
देहेनाऽहं विलासेषु येनैव मुदितोऽभवम् ।
कङ्कालतामुपगतात्तस्मादेव बिभेम्यहम् ॥ १२ ॥
ताराजालसमाकारो यत्र हारोऽभवत् पुरा ।
ममोरसि निलीयन्ते तत्र पश्य पिपीलिकाः ॥ १३ ॥

लिए मेरुपर्वतकी उद्यानभूमियोंमें मन्दारके पुष्पोंसे शीतल शय्या रची गई थी। देखिये, पहले मदोन्मत्त देवाङ्गनाओं द्वारा लालित मेरा यह शरीर है, जो इस समय साँप, बिच्छू आदि कीड़ोंके डँसनेसे छेदयुक्त होकर पृथिवीपर गिरा हुआ है। मेरे जिस इस शरीरने चन्दनके उद्यानोंमें चिरकालतक क्रीड़ा की थी, वही यह आज शुष्क कंकालताको प्राप्त हो गया है। अप्सराके संसर्गसे तीव्र कामवेगवाली चित्तवृत्तिसे रहित मेरा शरीर आज सूख रहा है। उन-उन देवोद्यान आदि प्रदेशोंमें हुए विलासोंमें, उन-उन बाल्य, यौवन आदि विचित्र अवस्थाओंमें पूर्व अनुभूत तत्-तत् सौन्दर्य, अलङ्कार, गीत, हास्य, रतिविलास आदि भावनाओंके सम्बन्धसे युक्त होकर भी हे देह, आज तुम कैसे स्वस्थ हो! यानी तुम क्यों नहीं उनका शोक करते हो॥ ५--१० ॥

हे शरीर, तुम्हारा शव नाम पड़ गया है, सूर्यके सन्तापसे तुम शोषको प्राप्त हो गये हो और कङ्कालताको प्राप्त हो गये हो। हे दुर्भग, तुम इस समय मुझे डरा रहे हो। जिस देहसे मैं विविध विलासोंके समय प्रसन्न हुआ था, इस समय कङ्कालताको प्राप्त हुए उसीसे मैं डर रहा हूँ। जिस शरीरमें पहले

द्रवत्काञ्चनकान्तेन लोभं नीता वराङ्गनाः ।
येन मद्वपुषा तेन पश्य कङ्कालतोह्यते ॥ १४ ॥
पश्य मे विततास्येन तापसंशुष्ककृत्तिना ।
मत्कङ्कालकुवक्त्रेण वित्रास्यन्ते वने मृगाः ॥ १५ ॥
पश्यामि संशुष्कतया शवोदरदरी मम ।
प्रकाशार्कांशुजालेन विवेकेनेव शोभते ॥ १६ ॥
मत्तनुः परिशुष्केयं स्थितोत्तानाऽचलोपले ।
वैराग्यं नयतीवाऽऽत्मतुच्छत्वेनाऽन्तरं सताम् ॥ १७ ॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धलोभाद् विमुक्तया ।
निर्विकल्पसमाध्येव तदेतच्छुष्यते गिरौ ॥ १८ ॥
मुक्ता चित्तपिशाचेन नूनं सुखमिवाऽऽस्थिता ।
तनुर्दैवतभङ्गेभ्यो न बिभेति मनागपि ॥ १९ ॥

ताराओंके समूहके तुल्य हार सुशोभित हुआ था उसी मेरे शरीरके वक्षस्थलमें इस समय चीटियाँ घुस रही हैं, इसे आप देखिये ॥ ११—१३ ॥

जिस पिघले हुए सुवर्णके समान रमणीय मेरे शरीरसे सुन्दर-सुन्दर अङ्गनाएँ कामसे मोहित हुई थीं, देखिये, वही इस समय कङ्कालताको धारण कर रहा है ॥ १४ ॥

तापसे जिसका चर्म सूख गया है एवं जिसका मुँह खुला है ऐसा मेरे कङ्कालका विकृत मुख वनमें मृगोंको भयभीत कर रहा है ॥ १५ ॥

मेरे शवकी उदररूपी गुहा सूख जानेके कारण भीतर प्रविष्ट हुई प्रकाशमान सूर्यकी किरणोंके समूहसे ऐसे शोभित हो रही है मानो विवेकसे शोभित हो रही है, ऐसा मैं देख रहा हूँ ॥ १६ ॥

मेरा यह सूखा शरीर पर्वतकी शिलापर चित पड़ा है। यह अपनी तुच्छतासे यानी विकृतरूपके प्रदर्शनसे सज्जन पुरुषोंके हृदयमें वैराग्यका मानो उपदेश दे रहा है ॥ १७ ॥

शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्धके अभिलाषसे रहित मेरा यह शरीर इतने समयतक मेरे परोक्षमें और इस समय मेरे प्रत्यक्षमें भी मानो निर्विकल्प समाधिमें बैठकर पर्वतमें सूख रहा है ॥ १८ ॥

यह चित्तरूपी पिशाचसे मुक्त हो गया है, अतएव बड़े सुखके साथ स्वस्थ-सा

त एव सुखसम्भोगसीमान्तं समुपागताः ।
महाधिया शान्तधियो ये याता विमनस्कताम् ॥ २५ ॥
सर्वदुःखदशामुक्तां संस्थितां विगतज्वराम् ।
दिष्ट्या पश्याम्यमननां वने तनुमिमामहम् ॥ २६ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ भार्गवेण तदा किल ।
सुबहून्युपभुक्तानि शरीराणि पुनः पुनः ॥ २७ ॥
भृगुणोत्पादिते काये तत्तस्मिंस्तस्य किं पुनः ।
महानतिशयो जातः परिदेवनमेव वा ॥ २८ ॥

वसिष्ठ उवाच

शुक्रस्य कलना राम याऽसौ जीवदशां गता ।
कर्मात्मिका समुत्पन्ना भृगोर्भार्गवरूपिणी ॥ २९ ॥

रूप अचित्तत्वके सिवा दूसरा श्रेय प्राणियोंमें मैं नहीं देखता हूँ यानी चित्ताभाव सम्पूर्ण आशारूपी ज्वरोंके हेतुभूत मोहका नाश कर देता है, अतएव वही सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ श्रेय है। वे ही ब्रह्माके आनन्दपर्यन्त विषयसुखोंकी परमावधिरूप भूमानन्दको प्राप्त हुए हैं, जो शान्तबुद्धि पुरुष अपरिच्छिन्न ब्रह्मसाक्षात्काररूप महाबुद्धिसे मनोनाशको प्राप्त हुए हैं। मैं अपने भाग्योदयसे सब दुःखदशाओंसे रहित और सन्तापशून्य इस शरीरको संकल्प-विकल्पसे रहित जीवन्मुक्तके शरीरके तुल्य वनमें देख रहा हूँ ॥ २४—२६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, आप सम्पूर्ण धर्मोंके तत्त्वोंको जाननेवाले हैं, कृपया यह बतलाइये कि शुक्राचार्यजीने उस समय बारबार अनेक शरीरोंका उपभोग किया था जैसा कि आप पहले कह आये हैं, फिर उन्हें भृगुसे उत्पादित उसी शरीरमें अत्यन्त स्नेह कैसे हुआ ? और उसीके लिए उन्होंने विलाप क्यों किया ? ॥ २७,२८ ॥

शुक्रके आधुनिक ग्रहपदमें अधिकारके कारणभूत पूर्व कल्पमें किये गए कर्म, जो कि पूर्व शरीरसे उत्क्रान्तिके समय इस कल्पमें होनेवाले भृगु द्वारा उत्पाद्य शरीराकारसे परिणत हुए थे, भृगुसे उत्पाद्य शरीरकी वासनासे ही प्रलयमें चिरकाल तक रहे थे, आकाश आदिके क्रमसे इस कल्पमें भृगुके शरीरकी उत्पत्ति होनेपर अन्न द्वारा उनके शरीरमें प्रवेश कर वीर्यरूपमें परिणत होकर चिरकालके अभ्याससे

संशान्ते चित्तवेताले यामानन्दकलां तनुः ।
याति तामपि राज्येन जागतेन न गच्छति ॥ २० ॥
पश्य विश्रान्तसन्देहं विगताशेषकौतुकम् ।
निरस्तकलनाजालं सुखं शेते कथं वने ॥ २१ ॥
चित्तमर्कटसंरम्भसंक्षुब्धः कायपादपः ।
तथा वेगेन चलति यथा मूलान्निकृन्तति ॥ २२ ॥
चित्तानर्थविमुक्तोऽद्रौ गजाभ्रहरिविग्रहम् ।
नाऽद्य पश्यति मे देहः परानन्द इव स्थितः ॥ २३ ॥
सर्वाशाज्वरसम्मोहमिहिकाशरदागमम् ।
अचित्तत्वं विना नाऽन्यच्छ्रेयः पश्यामि जन्तुषु ॥ २४ ॥

स्थित है। देवताओंसे रची गई विपत्तियोंसे अब तनिक भी इसे भय नहीं है ॥ १९ ॥

चित्तरूपी वेतालके शान्त होनेपर शरीरको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह सम्पूर्ण जगत्के राज्यसे भी प्राप्त नहीं होता ॥ २० ॥

यह शरीर, जिसके सम्पूर्ण सन्देह नष्ट हो गए हैं और सब कौतुक जिससे चले गए हैं, कल्पनाओंका जिसने निरास कर दिया है, वनमें कैसे सुखसे सो रहा है, इसे आप देखिए ॥ २१ ॥

चित्तरूपी बन्दरकी काम आदि चपलतासे क्षुब्ध हुआ यह शरीररूपी वृक्ष जिस प्रकार अपने विवेक, सद्वासना आदि शाखा, पल्लवोंका विनाश हो, वैसे वेगसे नहीं चलता, किन्तु जैसे जड़के साथ उखड़ जाय वैसे चलता है। भाव यह है कि जिन स्थावर आदि योनियोंमें विवेकका अधिकार नहीं है, उन्हीं योनियोंमें जीवको गिराता है। इस सुन्दर पर्वतमें मेरा यह शरीर चित्तरूपी अनर्थसे मुक्त होकर आज गजघटाओं और सिंहोंके गर्जन, तर्जन आदिरूप वैरको नहीं देखता, पहले कौतुकदर्शनरूप परमानन्दमें स्थित हुआ-सा यह जैसे बाहरके कौतुकदर्शनसे प्रसन्न होता था वैसा आज नहीं होता* ॥ २२—२३ ॥

सम्पूर्ण आशारूपी ज्वरोंके कारणरूप मोहरूपी कुहरेके लिए शरदागमन-

* जैसे परमानन्दमें स्थित पुरुष, हाथी, मेघ, सिंह, आदिके शरीरको नहीं देखता है वैसे ही चित्तरूप अनर्थ से मुक्त हुआ मेरा यह शरीर पर्वतकी स्फटिक शिलाओंमें प्रतिबिम्बित हाथी, मेघ, और सिंहोंकी मूर्तिको नहीं देखता है, ऐसा दूसरा अर्थ भी हो सकता है।

सा हीदंप्रथमत्वेन समुपेत्य परात् पदात् ।
भूताकाशपदं प्राप्य वातव्यावलिता सती ॥ ३० ॥
प्राणापानप्रवाहेण प्रविश्य हृदयं भृगोः ।
क्रमेण वीर्यतामेत्य सम्पन्नौशनसी तनुः ॥ ३१ ॥
विहितब्राह्मसंस्कारा तत्र सा पितुरग्रगा ।
कालेन महता प्राप्ता शुष्ककङ्कालरूपताम् ॥ ३२ ॥
इदंप्रथममायाता यदाऽसौ ब्रह्मणस्तनुः ।
अतस्तां प्रति शुक्रेण तदा तत् परिदेवितम् ॥ ३३ ॥
वीतरागोऽप्यनिच्छोऽपि समङ्गाविप्ररूपवान् ।
स शुशोच तनुं शुक्रः स्वभावो ह्येष देहजः ॥ ३४ ॥

खूब दृढ़ हुए पूर्व जन्मके काम, कर्म वासनाओंके अनुसार ही शुक्राचार्यके शरीरकी उत्पत्ति हुई थी। उस शरीरसे कतिपय कर्मोंका भोग होनेपर भी अवश्य भोक्तव्य बहुतसे प्रारब्ध कर्मोंके शेष रहनेसे उसमें उनका स्नेहातिशय हुआ, अन्य देहोंमें नहीं हुआ, क्योंकि अन्य देहोंमें भोगने योग्य कर्म शेष नहीं थे, इस आशयसे वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—**'शुक्रस्य'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, शुक्राचार्यकी कर्मात्मक जो यह वासना थी, वह जीवदशाको प्राप्त होकर भृगुसे उत्पाद्य भार्गवरूपसे उत्पन्न हुई ॥२९॥

प्रलयकालमें अवशिष्ट मायाशबलित ईश्वरसे इस कल्पके सर्वप्रथम शरीररूपसे जलमें भिगोनेसे फूले हुए बीजोंके अन्दर अङ्कुरशक्तिकी नाईं तनिक आविर्भूत होकर, क्रमशः तत् तत् भूतोंकी समताको प्राप्त होकर वायुसे वृष्टि द्वारा अन्न आदि भावसे अन्तर्भावित हुई वही कर्मात्मक वासना प्राण और अपानके प्रवाहसे महर्षि भृगुके हृदयमें प्रवेश कर क्रमसे वीर्य बनकर शुक्राचार्यकी देह बनी है ॥३०,३१॥

उस जन्ममें उसके ब्राह्मणजन्मोचित गर्भाधान आदि सब संस्कार विधिपूर्वक किये गये थे, वहांपर समाधिस्थ पिताके आगे विद्यमान वह शुक्राचार्यकी देह एक लम्बे अर्सेसे सूखे हुए कङ्कालके रूपमें परिणत हो गई ॥ ३२ ॥

चूँकि यह शरीर ब्रह्मसे पूर्वोक्त रीतिके अनुसार पहले-पहल इसी शुक्राचार्यके रूपमें आविर्भूत हुआ था, इसलिए शुक्राचार्यने इस शरीरके लिए विलाप किया ॥ ३३ ॥

यद्यपि शुक्राचार्य वीतराग थे, उन्हें किसी प्रकारकी अभिलाषा भी न थी

ज्ञस्याऽज्ञस्य च देहस्य यावद्देहमयं क्रमः ।
लोकवद्व्यवहारोऽयं सक्त्याऽसक्त्याऽथवा सदा ॥ ३५ ॥
ये परिज्ञातगतयो ये चाऽज्ञाः पशुधर्मिणः ।
लोकसंव्यवहारेषु ते स्थिता लोकजालवत् ॥ ३६ ॥
व्यवहारे यथैवाऽज्ञस्तथैवाऽखिलपण्डितः ।
वासनामात्रभेदोऽत्र कारणं बन्धमोक्षदम् ॥ ३७ ॥
यावच्छरीरं तावद्धि दुःखे दुःखं सुखे सुखम् ।
असंसक्तधियो धीरा दर्शयन्त्यप्रबुद्धवत् ॥ ३८ ॥

और समङ्गा नदीके तीरमें तपस्यानिरत ब्राह्मणका रूप उन्होंने धारण कर रक्खा था, फिर भी उन्होंने देहके लिए विलाप किया; क्योंकि देहका ऐसा ही स्वभाव है। भाव यह कि ज्ञानी भी प्रारब्ध कर्मका उलङ्घन नहीं कर सकते, उन्हें भी उसका भोग करना ही पड़ता है ॥ ३४ ॥

चाहे ज्ञानीकी देह हो चाहे अज्ञानीकी देह हो, जबतक जीवन रहेगा सदा यह नियम चलेगा ही, इसमें रत्तीभर भी उलट-फेर नहीं हो सकता है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि ज्ञानीका यह दैहिक लोकव्यवहार अनासक्तिसे होता है और अज्ञानीका आसक्तिसे होता है ॥ ३५ ॥

अतएव अन्य व्यवहारोंमें उनकी समानता ही है, ऐसा कहते हैं—**'ये'** इत्यादिसे।

जिन लोगोंको तत्त्वज्ञान हो गया है और जो पशुओंके सदृश आचरणवाले अज्ञानी हैं, वे दोनों ही लोकव्यहारोंमें जैसा लोकका जाल है, उसीके अनुसार स्थित हैं यानी आचरण करते हैं ॥ ३६ ॥

लोकव्यवहारमें अज्ञानी जैसा आचरण करता है पूर्ण ज्ञानी भी ठीक वैसा ही आचरण करता है।

शङ्का—यदि लौकिक व्यवहारमें ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंकी तुल्यता ही है, तो एक बन्धनमें पड़ता है दूसरेको मुक्ति मिलती है, यह अन्तर कैसे?

समाधान—उनको बन्ध-मोक्ष देनेमें एकमात्र कारण वासनाका भेद है ॥३७॥

जिसकी बुद्धि विषयोंपर आसक्त नहीं है, ऐसे विद्वान् तत्त्वज्ञ पुरुष जबतक शरीर रहता है तबतक दुःखके निमित्तके प्राप्त होनेपर दुःखका और सुखहेतुके प्राप्त होनेपर सुखका अज्ञानीके तुल्य अभिनय करते हैं ॥ ३८ ॥

सुखेषु सुखिता नित्यं दुःखिता दुःखवृत्तिषु ।
महात्मानो हि दृश्यन्ते दृश्य एवाऽप्रबुद्धवत् ॥ ३९ ॥
सूर्यस्य प्रतिबिम्बानि क्षुभ्यन्ति न पुनः स्थिरम् ।
चलाचलतया तज्ज्ञो लोकवृत्तिषु तिष्ठति ॥ ४० ॥
अवस्थित इव स्वस्थः प्रतिबिम्बेषु भास्करः ।
संत्यक्तलोककर्माऽपि बुद्ध एवाऽप्रबुद्धधीः ॥ ४१ ॥
मुक्तबुद्धीन्द्रियो मुक्तो बद्धकर्मेन्द्रियोऽपि हि ।
बद्धबुद्धीन्द्रियो बद्धो मुक्तकर्मेन्द्रियोऽपि हि ॥ ४२ ॥
सुखदुःखदृशो लोके बन्धमोक्षदृशस्तथा ।
हेतुर्बुद्धीन्द्रियाण्येव तेजांसीव प्रकाशने ॥ ४३ ॥

महात्मा लोग सुखनिमित्तोंकी प्राप्ति होनेपर सुखितकी तरह और दुःखनिमित्तोंकी प्राप्ति होनेपर दुःखितकी तरह केवल लौकिक व्यवहारके विषयमें ही अज्ञानीके सदृश बर्ताव करते हैं, आत्मतत्त्वमें तो वे सुस्थिर रहते हैं, अज्ञानीके तुल्य व्यवहार नहीं करते हैं ॥ ३९ ॥

एक ही पुरुषका एक ही समय स्थिर और अस्थिर वृत्तियोंके विरोधका निवारण करनेके लिए दृष्टान्त देते हैं—'**सूर्यस्य**' इत्यादिसे ।

जैसे सूर्यके जलमें पड़े हुए प्रतिबिम्बशरीर ही चञ्चल होते हैं, किन्तु आकाशमें स्थित बिम्बशरीर चञ्चल नहीं होता, वैसे ही आत्मज्ञानमें स्थिर भी तत्त्वज्ञानी लोकव्यवहारोंमें स्थिर-अस्थिररूपसे विद्यमान रहता है ॥ ४० ॥

जैसे प्रतिबिम्बोंमें स्थित सूर्य वस्तुतः स्वस्थ होता हुआ भी अस्वस्थ-सा, चञ्चल-सा प्रतीत होता है, वैसे ही जिसने सम्पूर्ण लौकिक व्यवहारोंका त्याग कर दिया है, ऐसा ज्ञानी पुरुष ही व्यवहार स्थितिमें अज्ञानी होता है ॥ ४१ ॥

तब तो अज्ञके समान विहित और निषिद्ध कर्मोंसे उसका भी बन्धन होगा, ऐसी आशङ्का करके ज्ञानेन्द्रियोंसे आसक्तिपूर्वक किये गये कर्म ही बन्धक होते हैं, अन्य कर्म नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'**मुक्तबुद्धी०**' इत्यादिसे ।

जिसकी ज्ञानेन्द्रियोंने आसंग छोड़ दिया है, उसकी कर्मेन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होनेपर भी वह मुक्त है । यदि कर्मेन्द्रियाँ विषयोंमें आसक्तिरहित हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ विषयोंके अधीन हैं, तो वह बद्ध है ॥ ४२ ॥

लोकमें सुखदुःखदृष्टि और बन्धमोक्षदृष्टिकी हेतु ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं,

बहिर्लोकोचिताचारस्त्वन्तराचारवर्जितः ।
समो ह्यतीव तिष्ठ त्वं संशान्तसकलैषणः ॥ ४४ ॥
सर्वैषणाविमुक्तेन स्वात्मनाऽऽत्मनि तिष्ठता ।
कुरु कर्माणि कार्याणि नूनं देहस्य संस्थितिः ॥ ४५ ॥
आधिव्याधिमहावर्तगर्तसंसारवर्त्मनि ।
ममतोग्रान्धकूपेऽस्मिन् मा पताऽऽतापदायिनि ॥ ४६ ॥
न त्वं भावेषु नो भावास्त्वयि तामरसेक्षण ।
शुद्धबुद्धस्वभावस्त्वमात्मान्तः सुस्थिरो भव ॥ ४७ ॥
त्वं ब्रह्म ह्यमलं शुद्धं त्वं सर्वात्मा च सर्वकृत् ।
सर्वं शान्तमजं विश्वं भावयन् वै सुखी भव ॥ ४८ ॥
व्यपगतममतामहान्धकारः
पदममलं विगतैषणं समेत्य ।

जैसे कि किसी वस्तुके प्रकाशनमें तेज हेतु है। बाहर लोकोचित व्यवहारवाले और भीतर लोकोचित आचारसे रहित, सम्पूर्ण इच्छाओंसे शून्य और विषमतारहित होकर आप स्थित होइये ॥ ४३,४४ ॥

ब्रह्ममें स्थित, सम्पूर्ण कर्मफलोंकी आसक्तिसे रहित मनसे आप कर्म कीजिये, क्योंकि कर्म देहकी स्थिति है, स्वभाव है। भगवान्ने भी कहा है—'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' अर्थात् देहधारी कर्मोंका निःशेष त्याग नहीं कर सकता ॥ ४५ ॥

मानसिक दुःख, शारीरिक दुःख, जन्ममरणरूपी गर्तोंसे भरे हुए संसारके मार्ग-भूत तथा अत्यन्त सन्ताप देनेवाले इस ममतारूपी भीषण अन्धकूपमें आप मत गिरिये। न तो आप दृश्य वस्तु देहादिमें विद्यमान हैं और न आपमें ये देहादिभाव हैं। हे कमलनयन, शुद्ध-बुद्ध-स्वभाववाले आप अपने स्वरूपमें स्थित होइये। आप निर्मल शुद्ध ब्रह्म हैं। आप सबका निर्माण करनेवाले और सर्वात्मक हैं। सारा विश्व शान्त अज है, ऐसी भावना करते हुए आप सुखी होइये ॥ ४६—४८ ॥

हे महात्मन्, सकल इच्छाओंकी निवृत्ति करनेवाले, पूर्णानन्दरूप, अविद्यादि दोषोंसे रहित पदको सम्यक् ज्ञानसे प्राप्त कर ममतारूपी महान्धकारसे रहित हुए

प्रभवसि यदि चेतसो महात्मं-
स्तदतिधिये महते सते नमस्ते ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने भार्गवपरिदेवनप्रसङ्गेनोपदेशकरणं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथाऽऽक्षिप्य वचस्तस्य तनयस्य तथा भृगोः ।
उवाच भगवान् कालो वचो गम्भीरनिस्वनः ॥ १ ॥

काल उवाच

समङ्गातापसीमेतां तनुं संत्यज्य भार्गव ।
प्रविशेमां तनुं साधो नगरीमिव पार्थिवः ॥ २ ॥

आप यदि चित्तके नाशमें समर्थ हुए, तो अपरिमितबुद्धि, महान्से महान्, परिपूर्ण परमार्थ सत्य ब्रह्मरूप आपके लिए नमस्कार है यानी आप हम लोगोंके भी सदाके लिए वन्द्य हो जायंगे ॥ ४९ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

[कालके चले जानेपर कालके आज्ञानुसार शुक्राचार्यका अपने शरीरमें प्रवेश करना तथा उनकी दैत्योंगुरुता और जीवन्मुक्तिका वर्णन]

वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर भृगु तथा भृगुपुत्र शुक्राचार्यके विलापवचनको बीचमें ही रोककर गम्भीर ध्वनिसे युक्त भगवान् कालने वचन कहा ॥ १ ॥

कालने कहा—हे परकार्य साधक भृगुपुत्र, समङ्गा नदीके तटके इस तपस्वी शरीरका परित्याग कर जैसे राजा नगरीमें (राजधानीमें) प्रवेश करता है वैसे ही आप इस देहमें प्रवेश कीजिये ॥ २ ॥

काले पूर्वजया तन्वा तपः कृत्वा तया पुनः ।
गुरुत्वमसुरेन्द्राणां कर्तव्यं भवताऽनघ ॥ ३ ॥
महाकल्पान्त आयाते भवता भार्गवी तनुः ।
अपुनर्ग्रहणायैषा त्याज्या प्रम्लानपुष्पवत् ॥ ४ ॥
जीवन्मुक्तपदं प्राप्तस्तन्वा प्राक्तनरूपया ।
महासुरेन्द्रगुरुतां कुर्वंस्तिष्ठ महामते ॥ ५ ॥
कल्याणमस्तु वां यामो वयं स्वभिमतां दिशम् ।
न किञ्चिदपि यच्चित्तं यस्य नाऽभिमतं भवेत् ॥ ६ ॥
इत्युक्त्वा मुञ्चतोर्बाष्पं तयोः सोऽन्तरधीयत ।
तप्ताङ्ग्योरिव रोदस्योः सममंशुभिरंशुमान् ॥ ७ ॥

हे निष्पाप शुक्राचार्यजी, ग्रहाधिकारको प्राप्त करानेवाले प्रारब्धके उदयकालमें सर्वप्रथम उत्पन्न हुई उस देहसे फिर तप करके आप दैत्यराजोंका आचार्यत्व कीजिये ॥ ३ ॥

महाकल्परूप ब्रह्माके दिनका (हजार चौकड़ीका) अन्त होनेपर आप भृगुजीसे उत्पन्न देहका, पुनः अन्य शरीरका ग्रहण न करनेके लिए, उपभुक्त अतएव मुरझाये हुए फूलकी नाईं त्याग कीजिये ॥ ४ ॥

हे महामते, पूर्वकल्पमें उपार्जित कर्मोंसे प्राप्त शरीर द्वारा जीवन्मुक्तिरूपी पद पाकर बड़े-बड़े दैत्यराजोंका आचार्यत्व करते हुए आप स्थित होइये ॥ ५ ॥

आप लोगोंका कल्याण हो, मैं अपनी अभिमत दिशाको जा रहा हूँ ।

[दिशाका 'अभिमत' जो विशेषण है, वह अनभिमतकी व्यावृत्तिके लिए नहीं है, क्योंकि पूर्ण आत्माके लिए अनभिमत वस्तु ही प्रसिद्ध नहीं है । जिसे 'यह अभिमत है' और 'यह अनभिमत है' यह विकल्प होता है अनभिमतका त्यागकर अभिमतको प्राप्त कर रहा वह चित्त अवास्तविक है; इसलिए 'अभिमत दिशा' इस वाक्यका 'परमप्रेमास्पद आत्मभावावस्थिति' यह अर्थ है, इस तरहके स्वाभिप्रायका सूचन करनेके लिए 'अभिमत' इस विशेषणका उपादान किया गया है, यह दर्शाते हुए कहते हैं—'न किञ्चित्' ।]

जिसको अभिमत नहीं होता ऐसा जो चित्त है, वह कुछ भी नहीं है, यानी अवास्तविक है ॥ ६ ॥

यह कहकर भगवान् काल जैसे सूर्य सन्तप्त अङ्गवाले आकाश और पृथ्वीकी

गते तस्मिन् भगवति कृतान्ते भवितव्यताम् ।
विचार्य भार्गवोऽभेद्यां नियतेर्नियतां गतिम् ॥ ८ ॥
कालकारणसंशुष्कां भाविपुष्पशुभोदयाम् ।
विवेश तां तनुं बालां सुलतामिव माधवः ॥ ९ ॥
सा ब्राह्मणी तनुर्भूमौ विवर्णवदनाङ्गिका ।
पपात कम्पिता तूर्णं छिन्नमूला लता यथा ॥ १० ॥
तस्यां प्रविष्टजीवायां पुत्रतन्वां महामुनिः ।
चकाराऽऽप्यायनं मन्त्रैः सकमण्डलुवारिभिः ॥ ११ ॥
सर्वा नाड्यस्ततस्तन्वास्तस्याः पूर्णा विरेजिरे ।
सरितः प्रावृषीवाऽम्बुपूरपूरितकोटराः ॥ १२ ॥
नलिनी प्रावृषीवाऽसौ मधाविव नवा लता ।
यदा पूर्णा तदा तस्याः प्रान्ताः पल्लविता बभुः ॥ १३ ॥

उपेक्षा कर अपनी किरणोंके साथ अन्तर्हित हो जाते हैं वैसे ही स्नेहसे आँसू बहा रहे भृगु और शुक्राचार्यकी उपेक्षा कर अन्तर्हित हो गये ॥ ७ ॥

उस भगवान् कृतान्तके चले जानेपर भृगुपुत्र शुक्राचार्यने अवश्यभाविनी कर्मगति तथा अनिवार्य ईश्वरकी इच्छाकी गतिका विचारकर हेमन्त और शिशिर-कालके कारण सूखी हुई भावी पुष्प-फलके उदयवाली लतामें वसन्तऋतुके तुल्य बहुत काल बीत जानेके कारण सूखी हुई भावी अभ्युदयसे युक्त उस देहमें प्रवेश किया ॥ ८, ९ ॥

वासुदेव नामवाली समङ्गातटवर्ती तपस्वी ब्राह्मणकी देह, जिसका मुख तथा सम्पूर्ण अङ्ग विकृतवर्णवाले हो गये थे, जिसकी जड़ कट गई हो ऐसी लताकी भाँति काँपकर शीघ्र ही गिर पड़ी ॥ १० ॥

उस पुत्रके शरीरमें जीवके प्रवेश कर लेनेपर महामुनि श्रीभृगुजीने कमण्डलुके जलके साथ मन्त्रोंसे उस शरीरका आप्यायन (बढ़ानेवाला अभिषेक) किया ॥११॥

अभिषेकके अनन्तर उस शरीरकी सम्पूर्ण नाडियाँ ऐसे दीप्त हो उठीं जैसे वर्षा ऋतुमें जलप्रवाहसे पूरितकोटरवाली नदियाँ दीप्त हो जाती हैं ॥ १२ ॥

जब वह शरीर वर्षा ऋतुमें कुँईकी भाँति तथा वसन्त ऋतुमें अभिनव लताकी भाँति पूर्ण हो गया, तब उसके अंगुली, नख, केश आदि पल्लवके तुल्य उदित होकर सुशोभित होने लगे ॥ १३ ॥

अथ शुक्रः समुत्तस्थौ वहत्प्राणसमीरणः ।
रसमारुतसंयोगादापूर्ण इव वारिदः ॥ १४ ॥
पुरोऽभिवादयामास पितरं पावनाकृतिम् ।
प्रथमोल्लासितो मेघः स्तनितेनेव पर्वतम् ॥ १५ ॥
पिताऽथ प्राक्तनीं तन्वा आलिलिङ्गाऽऽकृतिं ततः ।
स्नेहार्द्रवृत्तिर्जलदश्चिरादद्रितटीमिव ॥ १६ ॥
भृगुर्ददर्श सस्नेहं प्राक्तनीं तानवीं तनुम् ।
मत्तो जातेयमित्यास्थां हसन्नपि महामतिः ॥ १७ ॥
मत्पुत्रोऽयमिति स्नेहो भृगुमप्यहरत्तदा ।
परमात्मीयता देहे यावदाकृतिभाविनी ॥ १८ ॥
बभूवतुः पितापुत्रौ तावथाऽन्योन्यशोभितौ ।
निशावसानमुदितावर्कपद्माकराविव ॥ १९ ॥

तदनन्तर शुक्राचार्य जल तथा वायुके संयोगसे सर्वतः पूर्ण मेघके तुल्य प्राणवायुके संचारसे युक्त होकर उठ खड़े हुए ॥ १४ ॥

सामने उपस्थित पवित्रमूर्ति पिताका नामगोत्रोच्चारणपूर्वक ऐसे अभिवादन किया जैसे मानो नूतन मेघ अपने गर्जनसे पर्वतका अभिवादन कर रहा हो ॥१५॥

तदनन्तर स्नेहसे आर्द्र चित्तवाले पिताने (भृगुजीने) पुत्रशरीरकी यौवन, सौन्दर्य आदिसे युक्त प्राक्तन मूर्तिका बहुत देरतक ऐसे आलिङ्गन किया जैसे आर्द्रवृत्तिवाला मेघ पर्वतके प्रान्तका आलिङ्गन करता है ॥ १६ ॥

पहलेकी भाँति यौवन, सौन्दर्य आदिसे युक्त वह नूतन पुत्रकी देह स्नेहपूर्वक महामति भृगुजीने देखी तथा तत्त्वदृष्टिसे अनुचित जानकर हँस रहे भी उन्होंने यह शरीर मुझसे उत्पन्न है, ऐसी धारणा की ॥ १७ ॥

उस समय यह मेरा पुत्र है, इस स्नेहने परमज्ञानी भृगुजीका भी आकर्षण कर लिया। देहमें अत्यन्त आत्मीयता जीवनभर प्रबल प्रारब्धके कारण अवश्य ही रहती है ॥ १८ ॥

तदनन्तर वे दोनों पिता-पुत्र रात्रिके अन्तमें प्रसन्न हुए सूर्य और कमलसमूहकी भाँति परस्पर सुशोभित हुए ॥ १९ ॥

चिरसंगमसम्बद्धाविव चक्राह्वदम्पती ।
घनागमनसस्नेहौ मयूरजलदाविव ॥ २० ॥
चिरकालदृढोत्कण्ठौ तुल्ययोग्यतया तथा ।
स्थित्वा तत्र मुहूर्तं तावथोत्थाय महामती ॥ २१ ॥
समङ्गाद्विजदेहं तं भस्मसात् तत्र चक्रतुः ।
को हि नाम जगज्ज्ञातमाचारं नाऽनुतिष्ठति ॥ २२ ॥
एवं तौ कानने तस्मिन् पावने भृगुभार्गवौ ।
संस्थितौ तापसौ दीप्तौ दिवीव शशिभास्करौ ॥ २३ ॥
चेरतुर्ज्ञातविज्ञेयौ जीवन्मुक्तौ जगद्गुरू ।
देशकालदशौघेषु सुसमौ सुस्थिरौ ततः ॥ २४ ॥
अथाऽसुरगुरुत्वं स शुक्रः कालेन लब्धवान् ।
भृगुरप्यात्मनो योग्ये पदे तिष्ठदनामये ॥ २५ ॥

चिरकालके बाद हुए सङ्गमसे सम्बद्ध (मिले हुए) चकई-चकवाके जोड़ेके तुल्य तथा वर्षा ऋतुके समागमसे स्नेहयुक्त मयूर और मेघके तुल्य उन दोनों महामुनियोंने चिरकालके वियोगसे, जिनकी समागमकी उत्कण्ठा दृढ़ हो गई थी, पूर्वोक्त वर्णनके अनुसार उस समान आनन्दकी योग्यतासे वहाँ क्षणभर जड़की नाईं स्थित होकर तदनन्तर उस समङ्गातटवर्ती ब्राह्मणकी देहका वहाँ दाह किया । कौन ऐसा व्यक्ति है, जो संसारके सदाचारका अनुविधान नहीं करता है ? आचारका पालनमात्र ही यहाँ दाहादि कृत्योंका फल है, इतर फल नहीं है, यह भाव है ॥ २०—२२ ॥

इस तरह उस पवित्र वनमें वे दोनों तपस्वी भृगु तथा भृगुपुत्र शुक्राचार्य आकाशमें चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति दीप्त होते हुए स्थित हो गये ॥ २३ ॥

तदनन्तर जगत्के गुरु वे दोनों जीवन्मुक्त होकर भ्रमण करने लगे । उन्होंने विज्ञेय आत्मतत्त्वको जान लिया था तथा देश और कालकी शुभ और अशुभ दशाओंमें वे समानभावसे रहते थे, क्योंकि वे अपने स्वरूपमें स्थिर हो गये थे ॥२४॥

तदनन्तर समय आनेपर शुक्राचार्यजीने दैत्योंका आचार्यत्व तथा ग्रहपदका अधिकार प्राप्त किया। भृगुजी भी अपने योग्य निरामय आत्मतत्त्वमें स्थित हो गए ॥२५॥

शुक्रोऽसौ प्रथममिति क्रमेण जात-
स्तस्मात् सत्परमपदादुदारकीर्तिः ।
स्वेनाऽऽशु स्मृतिपदविभ्रमेण पश्चा-
दन्येषु प्रविलुलितो दशान्तरेषु ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने शुक्रस्य पुनर्जीवनं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

श्रीराम उवाच

भगवन् भृगुपुत्रस्य प्रतिभा साऽनुभूतितः ।
यथैषा सफला जाता तथाऽन्यस्य न किं भवेत् ॥ १ ॥

पूर्वोक्त शुक्राचार्यकी स्थितिका संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—**'शुक्र०'** इत्यादिसे।

यह उदार कीर्तिवाले शुक्राचार्य पहले उस सत्य परमात्मतत्त्वसे पूर्वोक्त आकाशादिक्रमसे उत्पन्न हुए। तदनन्तर शीघ्र ही स्मरणमें आरूढ़ अप्सराके निमित्तसे उत्पन्न अपने मनोराज्यके विभ्रमसे अन्यान्य विविध दशाओंमें इन्होंने भ्रमण किया ॥ २६ ॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

[शुद्धचित्तोंकी सत्यसङ्कल्पताका वर्णन]

शुक्राचार्यजीका अप्सरा, स्वर्ग आदि मनोरथ चिरकालके उपभोगसे जैसे सफल-सा हुआ था वैसा और लोगोंका मनोरथ सफल क्यों नहीं होता ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—**'भगवन्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, भृगुपुत्र शुक्राचार्यके मनोरथकी प्रतिभा जैसे स्वर्ग आदिके अनुभवसे सफल हुई वैसे औरोंकी मनोरथकी प्रतिभा क्यों नहीं सफल होती ? ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

इयं प्रथममुत्पन्ना सा तनुर्ब्रह्मणः पदात् ।
शुद्धा जातिर्भार्गवस्य नाऽन्यजन्मकलङ्किता ॥ २ ॥
सर्वैषणानां संशान्तौ शुद्धचित्तस्य या स्थितिः ।
तत्सत्यमुच्यते सैषा विमला चिदुदाहृता ॥ ३ ॥
मनोनिर्मलसत्त्वात्म यद्भावयति यादृशम् ।
तत्तथाऽऽशु भवत्येव यथाऽऽवर्तो भवेत् पयः ॥ ४ ॥
यथा भृगुसुतस्यैष विभ्रमः प्रोत्थितः स्वयम् ।
प्रत्येकमप्येवमेव दृष्टान्तोऽत्र भृगोः सुतः ॥ ५ ॥

प्रतिभाओंके फलोपभोग द्वारा सफल होनेमें दो कारण हैं—एक तो सत्य सङ्कल्पताके योग्य चित्तशुद्धि और दूसरा उत्क्रमणकालमें उद्बुद्ध परिपक्व भावी जन्ममें भोग देनेवाले कर्मोंकी उत्कटता। उनमेंसे मनोरथकी सफलताका चित्तशुद्धिरूप पहला कारण शुक्राचार्यमें था, यह दर्शाते हुए समाधान करते हैं—'**इयम्**' इत्यादिसे।

शुक्राचार्यजीके प्रथमकल्पके सब दोषोंका उस कल्पके अन्तिम जन्ममें किये गये कर्म और उपासनाओंसे क्षय हो गया था, इस कल्पमें उनका यह शरीर पहले-पहल उत्पन्न हुआ था, इसलिए इस कल्पके दोष भी उसमें न थे। ब्रह्मपदसे ही अधिकारभोगके लिए ब्रह्माके सङ्कल्पसे वह उत्पन्न हुआ था, अतएव ब्रह्माके साङ्कल्पिक दोष भी उसमें न थे। दोनों कुलोंमें शुद्ध ब्राह्मण जातिका था, अतएव बीज, गर्भ, जाति आदिके दोष भी उसमें न थे। ये ही सब कारण हैं कि उनमें असत्यसङ्कल्पताकी प्राप्ति न थी, यही औरोंसे उनमें विशेष है ॥ २ ॥

अन्य ब्रह्मवेत्ताओंके भी सत्यसङ्कल्पत्वमें राग आदि दोषोंके क्षयसे होनेवाली शुद्धिसे चित्तकी सत्यात्मभावापत्ति ही हेतु है, इस आशयसे कहते हैं—'**सर्वैषणानाम्**' इत्यादिसे।

सम्पूर्ण एषणाओंकी (वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा आदिकी) निवृत्ति होने-पर शुद्धचित्त पुरुषकी जो स्थिति है, वही सत्य आत्मतत्त्व कहा जाता है, वही निर्मल चित् कही गई है ॥ ३ ॥

निर्मल सत्त्वरूप मन जिस वस्तुकी जैसी भावना करता है, जैसे जल आवर्तरूप हो जाता है, वैसे ही शीघ्र वैसा हो जाता है ॥४॥

और लोगोंमें चित्तकी शुद्धि न होनेसे सत्यसङ्कल्पताकी असिद्धिसे प्रथम

बीजस्थाङ्कुरपत्रादि स्वं चमत्कुरुते यथा ।
सर्वेषां भूतसंघानां भ्रमखण्डास्तथैव हि ॥ ६ ॥
यदिदं दृश्यते विश्वमेवमेवाऽखिलं जगत् ।
प्रत्येकमुदितं मिथ्या मिथ्यैवाऽस्तमुपैति च ॥ ७ ॥
नाऽस्तमेति न चोदेति जगत् किञ्चन कस्यचित् ।
भ्रान्तिमात्रमिदं माया मुग्धेव परिजृम्भते ॥ ८ ॥
यथा संप्रतिभासस्थः स्वयं संसारखण्डकः ।
तथा तेषां सहस्राणि मिथ्यादृष्टानि सन्ति हि ॥ ९ ॥
स्वप्नसङ्कल्पनगरव्यवहाराः परस्परम् ।
पृथग्यथा न दृश्यन्ते तथैते संसृतिभ्रमाः ॥ १० ॥

कल्पका सम्भव न होनेपर भी द्वितीय कल्पके अनुसार पूर्व देहके मरणके समय उद्बुद्ध कर्मोंकी वासना आदिके अनुगुण सुख-दुःखके भोगके अनुकूल जगत्के प्रतिभानमें शुक्राचार्यकी समता है ही, इस आशयसे कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे शुक्राचार्यको अपने-आप भ्रान्ति हुई थी, प्रत्येक जीवमें वैसी भ्रान्ति है ही, इस विषयमें शुक्राचार्य ही दृष्टान्त हैं ॥ ५ ॥

जैसे बीजके भीतर स्थित अङ्कुर, पत्ते आदि अपने स्वरूपको प्रकट करते हैं यानी चमत्कारको प्राप्त होते हैं, वैसे ही सब प्राणियोंके भ्रान्तिसे उत्पन्न द्वैतभेद अपनेको प्रकट करते हैं ॥ ६ ॥

जो यह जगत् हम लोगोंके दृष्टिगोचर हुआ है, वैसा ही सारा जगत् प्रत्येक जीवमें मिथ्या ही उदित है और मिथ्या ही अस्तको प्राप्त होता है । परमार्थदृष्टिसे तो किसीका कोई भी जगत् न अस्तको प्राप्त होता है और न उदित होता है । यह केवल भ्रान्तिमात्र है, एकमात्र माया ही उन्मत्तकी नाईं उल्लासको प्राप्त होती है ॥ ७–८ ॥

यदि प्रत्येक जीवके संसार प्रत्येकमें अलग-अलग उदित हुए हैं, तो वे प्रतीत क्यों नहीं होते, इसपर प्रतीत होते ही हैं, ऐसा कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे हमारे स्फुट अनुभवमें स्थित हमारा मिथ्यासंसार है, वैसे ही अन्य जीवोंके मिथ्यादृष्ट हजारों संसार हैं ही ॥ ९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि सब लोग सबके संसारोंको अलग-अलग क्यों नहीं देखते, तो इसपर कहते हैं—**'स्वप्न०'** इत्यादिसे ।

एवं नगरवृन्दानि नभस्सङ्कल्परूपिणि ।
सन्ति तानि न दृश्यन्ते मिथ्या ज्ञानदृशं विना ॥ ११ ॥
पिशाचयक्षरक्षांसि सन्त्येवंरूपकाणि ह ।
सङ्कल्पमात्रदेहानि सुखदुःखमयानि च ॥ १२ ॥
एवमेव वयं चेमे सम्पन्ना रघुनन्दन ।
स्वसङ्कल्पात्मकाकारा मिथ्यासत्यत्वभाविनः ॥ १३ ॥
एवंरूपैव हि परे विद्यते सर्गसन्ततिः ।
न वास्तवी वस्तुता तु संस्थितैवमवस्तुनि ॥ १४ ॥
प्रत्येकमुदितं विश्वमेवमेव मुधैव हि ।
वनगुल्मकरूपेण वसन्तैकरसो यथा ॥ १५ ॥
प्रथमोऽयं स्वसङ्कल्पः प्रथामभ्यागतो यथा ।
तथाऽतिपरमार्थेन दृष्टेनेत्थं विभाव्यते ॥ १६ ॥

जैसे अन्यके स्वप्न और मनोरथके नगरोंके व्यवहार अन्यके दृष्टिगोचर नहीं होते, वैसे ही अन्यके ये संसाररूपी भ्रम भी पृथक्-पृथक् नहीं दिखाई देते। भाव यह कि जैसे अन्यका स्वप्न अन्य पुरुषको दिखाई नहीं देता, वैसे ही अन्यका संसार भी अन्यको नहीं दिखाई देता ॥ १० ॥

इसी प्रकार सङ्कल्परूपी आकाशमें अनेक जगद्रूपी नगर हैं; पर वे ज्ञानदृष्टिके बिना मिथ्या प्रतीत नहीं होते ॥ ११ ॥

इसी प्रकारके सङ्कल्पमात्र शरीरवाले सुख-दुःखमय पिशाच, यक्ष, राक्षस भी हैं। भाव यह कि पिशाच आदि भी केवलमात्र सङ्कल्पसे कल्पित हैं, किन्तु सुख-दुःख देते हैं ॥ १२ ॥

हे रघुनन्दन, शुक्रके तुल्य ही अपने सङ्कल्परूप आकारवाले मिथ्याको सत्य समझनेवाले ये हम लोग भी उत्पन्न हुए हैं। हिरण्यगर्भमें भी इसी प्रकारकी यह सृष्टिपरम्परा विद्यमान है, यह वास्तविक नहीं है। अवस्तुमें वस्तुता अन्ध-परम्परासे ही स्थित है ॥ १३, १४ ॥

जैसे एकमात्र वसन्त ऋतुका रस ही वन, लता, गुल्म आदि रूपसे उदित होता है वैसे ही एकमात्र परब्रह्म ही प्रत्येकमें मिथ्या विश्वरूपसे उदित हुआ है। भाव यह है कि सम्पूर्ण जीवोंके आकाररूपसे ब्रह्म ही उदित हुआ है ॥ १५ ॥

अपना प्राथमिक सङ्कल्प ही जगदाकारप्रतीतिको प्राप्त हुआ, यह कैसे जाना जा सकता है, इसपर कहते हैं—**'प्रथमः'** इत्यादिसे ।

प्रत्येकमुदितं चित्तं स्वस्वभावोदरस्थितम् ।
इदमित्थं समारम्भं जगत् पश्यन् विनश्यति ॥ १७ ॥
प्रतिभासवशादस्ति नाऽस्ति वस्त्ववलोकनात् ।
दीर्घस्वप्नो जगज्जालमालानं चित्तदन्तिनः ॥ १८ ॥
चित्तसत्तैव हि जगद् जगत्सत्तैव चित्तकम् ।
एकाभावाद् द्वयोर्नाशः स च सत्यविचारणात् ॥ १९ ॥
शुद्धस्य प्रतिभासोऽहि सत्यो भवति चेतसः ।
प्रमार्जनादिव मणेर्मलिनस्येह युक्तितः ॥ २० ॥
चिरमेकदृढाभ्यासाच्छुद्धिर्भवति चेतसः ।
अनाक्रान्तस्य सङ्कल्पैः प्रतिभोदेति चेतसः ॥ २१ ॥

यह अपना प्रथम सङ्कल्प ही जगदाकारप्रतीतिको प्राप्त हुआ है, यह बात अत्यन्त परमार्थदृष्टिसे ही ज्ञात होती है ॥ १६ ॥

अपने अनादि अज्ञानके मध्यमें स्थित यह चित्त ही इस प्रकारके विविध व्यापारोंसे युक्त, प्रत्येक जीवमें उदित यह जगत् है, यों जानता हुआ स्वयं विनष्ट हो जाता है अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ १७ ॥

यह जगत्सत्ता प्रतिभासकालमें ही रहती है, वास्तविक अधिष्ठानका दर्शन होनेपर यह रह नहीं सकती, ऐसा कहते हैं—**'प्रतिभास०'** इत्यादिसे ।

भ्रान्तिवश इसकी सत्ता है और अधिष्ठानतत्त्वके साक्षात्कारसे इसका अस्तित्व मिट जाता है । चित्तरूपी हाथीका बन्धनस्तम्भरूप यह जगज्जाल एक दीर्घ स्वप्न ही तो है ॥ १८ ॥

चित्तरूपी हाथीका बन्धनस्तम्भरूप यह जगज्जाल है, ऐसा जो पहले कहा था, उसीको स्फुट करते हैं—**'चित्तसत्तैव'** इत्यादिसे ।

चित्तकी सत्ता ही जगत् है और जगत्की सत्ता ही चित्त है । एकके अभावसे दोनोंका ही नाश हो जाता है, वह नाश सत्यतत्त्वके विचारसे होता है ॥ १९ ॥

चित्तकी सत्तासे जगत्की सत्ता कहाँ देखी गई है, ऐसा यदि कहिये, तो सुनिये, शुद्ध चित्तवालोंके सत्य सङ्कल्पसे उत्पन्न वस्तुमें देखी गई है, ऐसा कहते हैं—**'शुद्धस्य'** इत्यादिसे ।

जैसे युक्तिपूर्वक मलिन मणिको साफ करनेसे शुद्ध प्रकाश निकलता है, वैसे

सुवर्णं न स्थितिं याति मलवत्स्यंशुके यथा ।
एका दृष्टिः स्थितिं याति न म्लाने चित्तके तथा ॥ २२ ॥

श्रीराम उवाच

प्रतिभासात्मनि जगत्येते कालक्रियाक्रमाः ।
सोदयास्तमया जाताः कथं शुक्रस्य चेतसः ॥ २३ ॥

वसिष्ठ उवाच

यादृग्जगदिदं दृष्टं शुक्रेण पितृशास्त्रतः ।
तादृक्तस्य स्थितं चित्ते मयूराण्डे मयूरवत् ॥ २४ ॥

ही शुद्ध चित्तका प्रतिभास सत्य होता है। चिरकालतक एकाग्रतामें दृढ़ताके अभ्याससे चित्तकी शुद्धि होती है। सङ्कल्पोंसे अनाक्रान्त यानी शुद्ध चित्तसे स्वच्छताजनित प्रकाशमयता उदित होती है ॥ २०, २१ ॥

जैसे मलिन वस्त्रमें सुन्दर रंग नहीं टिकता, वैसे ही अज्ञानमलिन चित्तमें अद्वैतात्मज्ञानरूप एक दृष्टि स्थिर नहीं होती ॥ २२ ॥

आपने वासनानुसारी जगद्भ्रम होता है, ऐसा कहा है, उस वासनानुसारी जगद्भ्रममें पहले अननुभूत स्वर्ग, अप्सरा और जन्म-परम्परा आदिकी विचित्रतामें वासनारूप बीजका संभव नहीं है, इसलिए शुक्रका उनमें आरोपक्रम कैसे हुआ, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'प्रतिभासात्मनि'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, शुक्रके चित्तके प्रातिभासिक कल्पनारूप जगत्में ये उदय और अस्तसे युक्त काल-क्रियाक्रम किस कारण हुए ? सोदयास्तमय इससे प्रातिभासिक उदय और अस्तका प्रतिभासकालमें ग्रहण नहीं हो सकता, प्रतिभाससे भिन्नकालमें उनका अनुभव ही नहीं है, इसलिए तद्विषयक वासना सिद्ध नहीं होती और वासनाकी सिद्धि न होनेपर क्रमकी सिद्धि भी नहीं हो सकती, यह सूचित किया ॥ २३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, पितासे उत्पन्न चक्षु आदिसे या पिताके वचनसे और शास्त्रसे जैसे उत्पत्ति-विनाशविशिष्ट यह जगत् है, ऐसा शुक्रने जाना था, ऐहिक पारलौकिक सम्पूर्ण वृत्त उनके चित्तमें वैसा ही संस्काररूपसे स्थित हो गया, जैसे कि मयूरके अण्डेमें मयूर रहता है। भाव यह कि पिताके वचन, शास्त्र आदि प्रमाण और प्रमाणाभासोंसे ही वासनाका उदय शुक्रको था। उत्पत्ति-नाशके क्रमका संस्कार साक्षीसे ही सिद्ध हो जाता है ॥ २४ ॥

स्वभावकोशस्थमिदं तदेतेन क्रमोदितम् ।
बीजेनाऽङ्कुरपत्रादिलतापुष्पफलं यथा ॥ २५ ॥
जीवो यद्वासनाबद्धस्तदेवाऽन्तः प्रपश्यति ।
स्वरूपं चाऽत्र दृष्टान्तो दीर्घस्वप्नस्त्विदं जगत् ॥ २६ ॥
प्रत्येकमुदितो राम नूनं संसृतिखण्डकः ।
रात्रौ सैन्यनरस्वप्नजालवत् स्वात्मनि स्फुटः ॥ २७ ॥

श्रीराम उवाच

एष संसृतिखण्डोत्थो मिथस्स मिलति स्वयम् ।
नो वा मिलति तन्मे त्वं यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ २८ ॥

चैतन्यसे अधिष्ठित सजीव अविद्यामें स्थित यह सब पिता और शास्त्रके कारण ही क्रमसे ऐसे उदित हुआ, जैसे कि बीजसे अङ्कुर, पत्र, लता, पुष्प, फल आदि उदित होते हैं ॥ २५ ॥

जीव जिस वासनासे बद्ध रहता है, उसीको अपने अन्दर देखता है । स्वप्नमें अपनेसे कल्पित शरीर इसमें दृष्टान्त है, यह जगत् भी तो दीर्घ स्वप्न ही है ॥२६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह संसारभेद रात्रिमें सैनिक पुरुष द्वारा स्वप्नमें देखे गये सैनिकोंके समूहके तुल्य अपनी आत्मामें प्रत्येक जीवमें उदित हुआ है । भाव यह है कि जैसे दिनमें सैन्यवासनासे वासित सैनिक पुरुष रात्रिमें स्वप्नमें प्रत्येक सेनाको अपनी-अपनी वासनासे कल्पित नाना सेनाओंके रूपमें देखते हुए भी सैन्यगत एकत्वको मानते ही हैं, वैसे ही प्रत्येक जीवमें ये संसारभेद उत्पन्न हुए हैं ॥ २७ ॥

यदि ऐसा है, तो मनुष्य और उसके संसारको अन्य लोग नहीं देख सकेंगे, ऐसी अवस्थामें गुरुजनोंकी शिष्योंके उद्धारके लिए प्रवृत्ति और शास्त्ररचना स्वप्नमें किये गये परोपकारके तुल्य शिष्योंको प्राप्त न होगी, ऐसी अवस्थामें उपदेश न मिलनेके कारण शिष्यको मोक्षकी प्राप्ति न होनेपर उसी युक्तिसे गुरुको भी अपने गुरुसे उपदेशका लाभ न होनेपर मोक्षप्राप्ति न होगी, इस प्रकार अनिर्मोक्ष प्रसंग हो जायगा, यों यह कल्पना मूलघातिनी ही हुई, इस आशयसे रामचन्द्रजी पूछते हैं—'**एष**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, उदित हुए ये संसार यदि स्वयं

वसिष्ठ उवाच

मलिनं हि मनोऽवीर्यं न मिथः श्लेषमर्हति ।
अयोऽयसि च सन्तप्ते शुद्धे तप्तं तु लीयते ॥ २९ ॥
चित्ततत्त्वानि शुद्धानि सम्मिलन्ति परस्परम् ।
एकरूपाणि तोयानि यान्त्यैक्यं नाऽऽविलानि हि ॥ ३० ॥
शुद्धिर्हि चित्तस्य विवासनत्वमभूतसंवेदनमेकरूपम् ।
तस्याऽऽशु शुद्धा भवति प्रबुद्धस्तन्मात्रयुक्त्या परसङ्गमेति ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे मनोराज्य-संमेलनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

परस्पर नहीं मिलते, तो पूर्वोक्त अनिर्मोक्षप्रसङ्गरूप दोष प्राप्त होता है। यदि मिलते हैं, तो यह सर्वसाधारण संसार अलग-अलग एक-एकके ज्ञानसे बाधित नहीं हो सकेगा, इस प्रकार उभयतःपाशारज्जु प्रतीत होती है। कृपा कर आप मेरे इस सन्देहको यथार्थ रीतिसे दूर कीजिये ॥ २८ ॥

उक्त दोनों दोष जिस प्रकार प्राप्त न हों, उस प्रकारकी व्यवस्थासे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—**'मलिनम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मलिन मन शुद्ध मनमें परस्पर सम्बन्धरूप मेलको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह शुद्ध मनके साथ सम्बन्धके योग्य सूक्ष्मतारूपी सामर्थ्यसे रहित है; किन्तु वही यदि दोषपरिपाकरूप शुद्धिको प्राप्त हो जाय, तो जैसे तपाये हुए लोहेके साथ तपाया हुआ लोहा मिल जाता है वैसे ही शुद्ध मनके साथ शुद्ध मन मिल जाता है। कारण कि वह समाधि-ज्ञानसे प्राप्त हुई सूक्ष्मतासे सवीर्य (शुद्धमें मिलने योग्य सूक्ष्मतारूप सामर्थ्यसे युक्त) है। शुद्ध चित्त-तत्त्व परस्पर एक दूसरेसे ऐसे मिलते हैं जैसे एकरूपवाले जल परस्पर एकताको प्राप्त होते हैं, किन्तु अशुद्ध चित्त कलुषित जलोंके तुल्य एकताको प्राप्त नहीं होते। भाव यह निकला कि सवीर्य होनेके कारण ही देवताओंका जैसे दूसरेके स्वप्नमें प्रवेश करके वरदानरूप अनुग्रह देखा जाता है वैसे ही शिष्यके मनसे कल्पित जगत्‌में प्रवेश द्वारा गुरुका मन उपदेश देनेमें समर्थ है, इसलिए आपके द्वारा उद्भावित प्रथम दोषका खण्डन हो गया। जगत्‌की सर्वसाधारणता तो हम मानते नहीं, अतः दूसरा दोष भी न रहा ॥ २९, ३० ॥

चित्तशुद्धिकी चरम सीमा दर्शाते हुए उसकी प्राप्तिसे ही तत्त्वज्ञता और

अष्टादशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सर्वसंसृतिखण्डेषु भूतबीजकलात्मनः ।
तन्मात्रप्रतिभासस्य प्रतिभासेन भिन्नता ॥ १ ॥
प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा तन्मात्रावृत्तिपूर्वकम् ।
सर्वस्य जीवजातस्य सुषुप्तत्वादनन्तरम् ॥ २ ॥

दृढ़ परमप्राप्ति प्रतिष्ठित होती है, अन्यथा नहीं, यों उपसंहार करते हैं— **'शुद्धिर्हि'** इत्यादिसे ।

वासनाका आत्यन्तिक क्षय ही, जो एकरूप है और संवेदनसे रहित है, चित्तकी परम शुद्धि है । चित्तकी शुद्धिसे पुरुष शीघ्र प्रबुद्ध हो जाता है । प्रबुद्ध पुरुष चित्तकी पूर्वोक्त चिन्मात्रपरिशेषरूप शुद्धिकी प्राप्तिसे परम कैवल्यरूप मोक्षको प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठारहवाँ सर्ग

[मलिन चित्तोंका मलिन चित्तोंके साथ सम्बन्ध, जाग्रद् आदि अवस्थाओंके शोधनसे चिन्मात्रपरिशेषरूप शुद्धिका लाभ और ज्ञानीकी मोक्षप्राप्तिका वर्णन]

शुद्ध मनोराज्यका शुद्ध और मलिनोंके साथ सम्मेलनप्रकार पहले कहा जा चुका है । अब मलिनोंका मलिनोंके साथ मेलनप्रकार तथा जाग्रदादि अवस्थाओं और द्रष्टृ, दृश्य आदिके शोधन द्वारा पूर्व सर्गके अन्तिम श्लोकमें कही गई चित्तकी चिन्मात्रपरिशेषरूप सिद्धिकी प्राप्ति और उसके द्वारा मुक्तिप्राप्ति बतलानेके लिए पूर्वोक्त जाग्रदादि प्रपञ्चभेदको आत्माके असाधारण प्रतिभासके अधीन प्रतिभाससे सिद्ध करते हैं—**'सर्व०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, सब जीवोंकी अपने-अपने द्वारा कल्पित संसाररूप सृष्टिके टुकड़ोंमें स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप प्रपञ्चकी प्रत्येक जीवमें जो भिन्नता कही गई है, वह स्वयंप्रकाश चिदेकरस आत्माकी प्रतिनियताकार कल्पनासे ही है, वस्तुतः नहीं है ॥ १ ॥

यह कैसे जाना जाता है ? ऐसी शङ्कापर कहते हैं—**'प्रवृत्तिः'** इत्यादिसे ।

प्रवृत्तिभाजो ये जीवास्ते तन्मात्रप्रदर्शिनः ।
तन्मात्रैकतया सर्गान् मिथः पश्यन्ति कल्पितान् ॥ ३ ॥
तन्मात्रैक्यप्रणालेन चित्राः सर्गजलाशयाः ।
परस्परं संमिलन्ति घनतां यान्ति चाऽभितः ॥ ४ ॥
केचित् पृथक् स्थितिगताः पृथगेव लयं गताः ।
केचिन्मिथः सम्मिलिता जगद्गुञ्जा स्थिताऽक्षता ॥ ५ ॥
जगद्गुञ्जासहस्राणि यत्राऽसंख्यान्यणावणौ ।
अपरस्परलग्नानि काननं ब्रह्म नाम तत् ॥ ६ ॥

चूँकि सकल जीवसंघातकी सुषुप्तिके अनन्तर अव्यवहित उत्तर कालमें अनादि द्वैतव्यवहारके लिए जो प्रवृत्ति है और स्वप्नमें तथा जागरणमें जो वन, नदी आदिकी अभिमुख प्रवृत्तिसे जो निवृत्ति है, वह सभी चिदेकरसकी चारों ओरकी व्याप्तिसे ही होती है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसलिए पूर्वोक्त प्रपञ्चकी भिन्नता स्वप्रकाश चिदेकरस आत्माके प्रतिभाससे है, यह ज्ञात होता है ॥ २ ॥

प्रवृत्तिमार्गमें व्यवहार करनेवाले जो जो जीव हैं, वे सबके सब चिन्मात्रसे ही पदार्थोंके प्रकाशवाले हैं किसी अन्य ज्योतिसे नहीं। भले ही ऐसा हो, तथापि अन्यको अन्यके मनोराज्यकी प्रदर्शनसिद्धि कैसे हुई? ऐसा यदि कहिये, तो सुनिये, स्व-स्वसाक्षी चिन्मात्रके—उपाधिसंयोगसे या ब्रह्मैक्यदार्ढ्यसे—एकत्वकी प्राप्ति होनेके कारण जीव परस्परकी सृष्टियोंको देखते हैं, अन्यथा नहीं देख सकते ॥ ३ ॥

विचित्र सृष्टिरूपी विविध जलाशय पूर्वोक्त चिन्मात्ररूपी एक मार्गसे परस्पर एक दूसरेसे मिलते हैं और दूसरेके व्यवहारके संवाद आदिसे सत्यत्वभ्रान्तिकी दृढ़ता होनेके कारण चारों ओरसे निविडताको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

कोई सृष्टिरूपी जलाशय दूसरी सृष्टिमें मिले बिना ही पृथक् स्थितिको प्राप्त हैं और अन्य सृष्टियोंमें मिले बिना ही लयको प्राप्त हुए हैं। कोई परस्पर संमिलित हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्डरूपी गुञ्जाफल अक्षुण्ण स्थित हैं ॥ ५ ॥

जिसमें प्रत्येक अणुमें असंख्य हजारों ब्रह्माण्डरूपी गुञ्जाफल एक दूसरेसे मिले बिना स्थित हैं, वह ब्रह्म (मायाशबल) नामका वन है। ये जगद्रूपी गुञ्जाफल परस्पर मिलनेसे निविड़ताको (साधारण व्यवहारयोग्यताको) प्राप्त हो गये हैं।

शङ्का—क्या सब पदार्थ सबके दर्शनयोग्य हैं ?

मिथः सम्मिलनेनैता घनतां समुपागताः ।
यद्यद्यत्र यथाऽऽरूढं तत्तत् पश्यति नेतरत् ॥ ७ ॥
वर्तमानं मनोराज्यं नैष्फल्यं समुपागता ।
सा कृत्तिर्मनसो ज्ञेया तस्य जीवपरम्परा ॥ ८ ॥
परस्परं सम्मिलतां सर्गाणां रूढभाविनाम् ।
देहसत्ता भृशं रूढा देहाभावस्तु विस्मृतिः ॥ ९ ॥
देहत्वपरिरूढत्वाच्चिद्धेम्ना विस्मृतात्मना ।
मिथ्याऽनुभूताऽविद्या तु शुद्धा कटकतामिता ॥ १० ॥

समाधान—नहीं, सब पदार्थ सबके दर्शनयोग्य नहीं हैं। जिस प्राणीका जिस प्रकारके कर्मोंका भोगानुकूल फल जहांपर जैसे रहता है, वहांपर उतना ही वह देखता है। अन्य लोकमें स्थित अधिकका उसे दर्शन नहीं होता ॥ ६,७ ॥

इसीलिए चित्तोंका भेद और चित्तोपाधिक जीवोंका भेद सिद्ध होता है, इस आशयसे कहते हैं—**'वर्तमानम्'** इत्यादिसे ।

एक मनकी दूसरे मनमें वर्तमान मनोराज्योंके प्रति उसके दर्शन, उपभोग आदिकी असमर्थतारूप निष्फलताको प्राप्त हुई जो स्थिति है, उसीको आप मनके भेदमें हेतु जानिये । उसीसे जीवभेद भी जानिये ॥ ८ ॥

इस प्रकार तुल्य कर्म, वासना आदिवाली विभिन्नमनोराज्यरूप सृष्टियोंका एक साथ फलोन्मुखता द्वारा सम्बन्ध होनेसे व्यष्टि-समष्टि स्थूल देहोंका अस्तित्व भी बद्धमूल है, ऐसा जानिये । उक्त देहसत्ताकी विस्मृति होनेपर तो देहाभाव ही स्वाभाविक है ॥ ९ ॥

स्थूलदेहताके बद्धमूल होनेपर जीवकी स्वाभाविक आत्मस्थिति विस्मृत हो जाती है और काल्पनिकी संसारस्थितिको वह स्वीकार कर लेता है, ऐसा कहते हैं—**'देहत्व०'** इत्यादिसे ।

जैसे अपने स्वरूपकी विस्मृतिवाला सोना शुद्ध कटकताको प्राप्त होता है, वैसे ही अपने स्वरूपकी विस्मृतिवाले चैतन्यरूपी सुवर्णने देहत्वके बद्धमूल होनेके कारण कटकत्वके सदृश केवल संसाररूप अविद्याका मिथ्या ही अनुभव किया है ॥ १० ॥

इस प्रकार कहींपर अशुद्धोंके भी परस्पर सम्बन्धकी उपपत्ति बतलाकर शुद्धोंके अन्यके मनोराज्यके परिज्ञानमें दृष्टान्त कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

यथा शुद्धः प्राणमरुत् परप्राणादिवेदनात् ।
वेत्ति वेद्यं मनोराज्यं तथा सर्गान्तराश्रयम् ॥ ११ ॥
सर्वेषां जीवराशीनामात्माऽवस्थात्रयं श्रितः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यमत्र देहो न कारणम् ॥ १२ ॥
एवमात्मनि जीवत्वे सत्यवस्थात्रयात्मनि ।
न चाऽम्भसीव वीचित्वमस्मिन् कचति देहता ॥ १३ ॥

जैसे हठयोगके अभ्याससे शुद्ध हुआ प्राणवायु दूसरेके शरीरमें प्रवेश द्वारा दूसरेके प्राणों और देहेन्द्रियोंमें अपनी स्वाधीनताके परिज्ञानवश उनसे ज्ञेय शब्द आदि विषयोंको जानता है, वैसे ही शुद्ध मन भी अन्य सृष्टिके मनोराज्यको जानता है ॥ ११ ॥

यदि मनोराज्योंके परस्पर संमिलनसे ही स्थूल देहकी सत्ता बद्धमूल हुई है, तो संमिलन न होनेपर देह ही नहीं रहेगी, अतः 'नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समादिशेत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥' अर्थात् जाग्रदवस्थाको नेत्रमें स्थित जाने, स्वप्नको कण्ठदेशमें स्थित समझे, सुषुप्तको हृदयमें स्थित जाने और तुरीय अवस्थाको मस्तकमें स्थित समझे । इस प्रकार श्रुति द्वारा बोधित देहके विभिन्न प्रदेशोंमें अवस्थितिके अधीन जाग्रदादि अवस्था भी नहीं होगी, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—'**सर्वेषाम्**' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण जीवोंका आत्मा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिनामक तीन अवस्थाओंको प्राप्त है । इनमें देह कारण नहीं है । भाव यह कि जीवत्वके स्वभावसे ही तीन अवस्थाओंकी कल्पना है । देहके कारण उनकी कल्पना नहीं है, क्योंकि जाग्रत्की कल्पनाके बिना देहकी सिद्धि न होनेसे अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होगा । श्रुति तो दूसरेकी दृष्टिसे सिद्ध देहके अनुवाद द्वारा उसके एक देशमें दिखाई देनेके कारण जाग्रदादि प्रपञ्चविस्तार सत्य नहीं है, यह तात्पर्य प्रकट करती है, देह जाग्रदादि अवस्थाओंका हेतु है, यह तात्पर्य प्रकट नहीं करती ॥ १२ ॥

इस प्रकार जाग्रदादि तीन अवस्थारूप इस आत्मामें देहता जलमें लहरकी तरह स्फुरित नहीं होती । भाव यह कि जैसे जल ही तरङ्ग आदिरूपसे प्रकट होता है, तत्त्वदर्शन होनेपर तो जलसे पृथक् तरङ्ग आदि कोई वस्तु नहीं है, वैसे ही जीव ही तीन अवस्थावाला आत्मा है, ऐसा विचार होनेपर जीवसे अन्य देहता कोई वस्तु बाकी नहीं रहती ॥ १३ ॥

चित्कलापदमासाद्य सुषुप्तान्तपदस्थितम् ।
बुद्धो निवर्तते जीवो मूढः सर्गे प्रवर्तते ॥ १४ ॥
द्वयोरेकस्वरूपैव स्वसौहार्दनिदर्शनात् ।
अज्ञः सुषुप्तोऽसम्बुद्धो जीवः कश्चित् स सर्गभाक् ॥ १५ ॥
सर्वगत्वाच्चितः कश्चित् परसर्गेण नीयते ।
सर्गे सर्गे पृथग्रूपं सन्ति सर्गान्तराण्यपि ॥ १६ ॥
तेष्वप्यन्तस्थसर्गौघाः कदलीदलपीठवत् ।
सर्वसर्गान्तरादूरं पत्रपीवरवृत्तिमत् ।
स्वभावशीतलं ब्रह्म कदलीदलमण्डपः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार तत्त्ववित् पुरुष सुषुप्ति अवस्थाके अवसानभूत तुरीय पदमें, जो कि अपना स्वरूप है, स्थित चैतन्यैकरस स्वभावको ज्ञानसे प्राप्तकर जीवभावसे निवृत्त होता है, किन्तु जो तत्त्वज्ञानी नहीं है वही अपनी कल्पनासे फिर देहादिकी आकारकल्पनारूप सृष्टिमें प्रवृत्त होता है ॥ १४ ॥

तो क्या ज्ञानी और अज्ञानीकी सुषुप्ति भी भिन्न है ? इसपर नहीं, ऐसा कहते हैं—**'द्वयोः'** इत्यादिसे ।

ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंकी सुषुप्ति समान ही है, क्योंकि अज्ञानीकी भी सुषुप्ति श्रुतिमें निरतिशयानन्दरूप मोक्षके दृष्टान्तरूपसे कही गई है ।

शङ्का—तब वह सुषुप्ति क्यों एककी सृष्टिकी कारण होती है और अन्यकी नहीं होती ? उसमें अन्तर क्या आया ?

समाधान—इन दोनोंमें जो सुषुप्ति-अवस्थापन्न अज्ञानी है, वह वास्तव आत्मज्ञानसे रहित है और देहादिमें आत्मत्वभ्रान्तिकी वासनासे वासित भी है । इसी भेदके कारण अज्ञानी पुनः सृष्टिभाजन होता है ॥ १५ ॥

सृष्टियोंमें और भी अवान्तर भेद कहते हैं—**'सर्वगत्वात्'** इत्यादिसे ।

चित्के सर्वव्यापक होनेके कारण कोई पुरुष दूसरे सर्गके भीतर पहुँचाया जाता है । प्रत्येक सर्गमें और भी दूसरे-दूसरे सर्ग अलग-अलग विद्यमान हैं ॥१६॥

उनमें जैसे कदलीके खम्भोंमें एकके बाद एक पर्त रहते हैं, वैसे ही भीतर स्थित बहुतसे सर्गोंके समूह हैं । विस्तारयुक्त पत्तोंसे मानो बृहत् , बाहर और अन्दरके सम्पूर्ण सर्गोंसे रहित ब्रह्म केलेके पत्तोंके मण्डपके तुल्य स्वभावशीतल है ॥ १७ ॥

कदल्यामन्यता नाऽस्ति यथा पत्रशतेष्वपि ।
ब्रह्मतत्त्वेऽन्यता नाऽस्ति तथा सर्गशतेष्वपि ॥ १८ ॥
बीजमेव रसात् फुल्लं भूत्वा बीजं पुनर्भवेत् ।
तथा ब्रह्म मनो भूत्वा बोधाद् ब्रह्म परं भवेत् ॥ १९ ॥
रसकारणकं बीजं फलभावेन जृम्भते ।
ब्रह्मकारणको जीवो जगद्रूपेण जृम्भते ॥ २० ॥
रसस्य कारणं किं स्यादिति वक्तुं न युज्यते ।
ब्रह्मणः कारणं किं स्यादिति वक्तुं न युज्यते ॥ २१ ॥
स्वभावो निर्विशेषत्वात् परो वक्तुं न युज्यते ॥ २२ ॥

जैसे सैकड़ों पत्तोंके होनेपर भी केलेमें भेद नहीं है, वैसे ही सैकड़ों सृष्टियोंके रहते भी ब्रह्मतत्त्वमें भेद नहीं है ॥ १८ ॥

इस प्रकार जगद्भावको प्राप्त हुए ब्रह्मकी पुनः स्वभावकी प्राप्तिमें दृष्टान्त कहते हैं—**'बीजम्'** इत्यादिसे ।

जैसे वट आदिका बीज ही जल आदिके सम्पर्कसे वृक्ष बनकर वृक्षके शाखा-प्रशाखाओंके विस्तार, फल आदि द्वारा फिर पूर्वतन बीज होता है, वैसे ही ब्रह्म भी काम, कर्म आदिरूप जलके सम्पर्कसे मन बनकर जन्म-मरण आदि कल्पना द्वारा अधिकारी देहकी प्राप्ति होनेपर श्रवण, मनन आदिके क्रमसे ज्ञानोत्पत्ति होनेके कारण प्राक्तन ब्रह्मभावसे आविर्भूत होता है ॥ १९ ॥

जलके सम्पर्कसे उक्त बीजकी भी जैसे पुनः वृक्षभावापत्ति होती है, वैसे ही मुक्तकी भी पुनः जीवभावापत्ति होगी, इस प्रकार यदि बीजको दृष्टान्त न मानो, तो रस ही दृष्टान्त हो, ऐसा कहते हैं—**'रसकारणकम्'** इत्यादिसे ।

रसकारणवाला बीज फलरूपसे विकासको प्राप्त होता है और ब्रह्मकारण-वाला जीव जगद्रूपसे विकासको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

ऐसा होनेपर ब्रह्मका कारण क्या है, इस प्रकारकी शङ्काका भी अवसर नहीं आता, ऐसा कहते हैं—**'रसस्य'** इत्यादिसे ।

जैसे रसका कारण क्या है, यह कहना उचित नहीं है, वैसे ही ब्रह्मका कारण क्या है, यह भी कहना युक्त नहीं है ॥ २१ ॥

यदि कहिये जैसे पत्ते, शाखा, फूल, फल आदिमें सरसता दिखाई देनेके

नाऽकारणे कारणादि परे वस्त्वादि कारणे।
विचारणीयः सारो हि किमसारविचारणैः ॥ २३ ॥
बीजं जहद्बीजवपुः फलीभूतं विलोक्यते।
ब्रह्माऽजहन्निजवपुः फलं बीजं च संस्थितम् ॥ २४ ॥

कारण उनका स्वभावभूत रस उनका कारण है, वैसे ही जगत्का कारण ब्रह्म भी जगद्धर्मस्वभाव ही होगा, ऐसी अवस्थामें ब्रह्मकारणता स्वभावकारणतावाद ही ठहरी, ऐसी शङ्का करके कहते हैं—'**स्वभावः**' इत्यादिसे।

पर ब्रह्म परमात्मा निर्विशेष होनेके कारण स्वभाव नहीं कहा जा सकता। भाव यह है कि कार्यके साथ उत्पन्न होनेवाले असाधारण धर्मविशेषरूप कार्य-स्वभावका कारणमें सम्भव नहीं हो सकता ॥ २२ ॥

तब तो चेतन ब्रह्ममात्र कारणसे जगत्में जाड्यादिस्वभावत्वकी असिद्धि हो जायगी, अतः ब्रह्ममें जाड्य, दुःखादि स्वभाववाले जगत्के अन्य कारणका और जगत्में वैचित्र्यके हेतु अन्य निमित्तोंका स्वीकार करना पड़ेगा, यदि ऐसी कोई शङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'**ना०**' इत्यादिसे।

निर्विकार, अद्वितीय, असङ्ग होनेके कारण वस्तुतः अकारण सम्पूर्ण प्रपञ्चके आरोपके आदि कारण ब्रह्ममें कारण, निमित्त आदि वस्तुका भी संभव नहीं है। भाव यह कि ब्रह्मस्वभावसे विरोध होनेके कारण ही अकारणविवर्तरूप जगत् मिथ्या ही है।

शङ्का—जड़, अनृत, दुःखरूप जगत्का जड़, असत्य दुःखरूप ही आदि—कारण होना उचित है, उसीका विचार करना चाहिए। जो जगत्का कारण नहीं है, उस ब्रह्मके विचारसे क्या लाभ ?

समाधान—सार वस्तुका (ब्रह्मका) ही विचार करना उचित है, ब्रह्मातिरिक्त असार वस्तुके विचारोंसे कौन पुरुषार्थ सिद्ध होगा ? ॥ २३ ॥

ब्रह्म निर्विकल्प, अद्वितीय और असंग होनेसे कारण नहीं है और आदि कारण है, ऐसा जो कहा, उसके अभिप्रायको स्पष्ट करनेके लिए पूर्वोक्त बीजरूप दृष्टान्तकी अपेक्षा ब्रह्ममें जो भेद है, उसे कहते हैं—'**बीजम्**' इत्यादिसे।

लोकमें बीज अपने आकारका त्याग करके अङ्कुर आदिरूप फलमें परिणत देखा जाता है; पर ब्रह्म वैसा नहीं है, ब्रह्म अपने आकारका त्याग किये बिना ही

बीजस्याऽऽकृतिमत् सर्वं तेनाऽनाकृतिमत् पदम् ।
न युज्यते समीकर्तुं तस्मान्नाऽस्त्युपमा शिवे ॥ २५ ॥
स्वमेव जायतेऽस्वाभं न च तज्जायतेऽन्यदृक् ।
अतो न जातं नाऽजातं विद्धि ब्रह्म नभो जगत् ॥ २६ ॥
दृश्यं पश्यन् स्वमात्मानं न द्रष्टा संप्रपश्यति ।
प्रपञ्चाक्रान्तसंवित्तेः कस्योदेति निजा स्थितिः ॥ २७ ॥

जगद्रूप विवर्तका कारण होता है, वहाँपर फल और बीज दोनों उपस्थित रहते हैं। इसलिए जगद्विवर्तके उपादान ब्रह्मको—अपनी तुल्य सत्तावाले कार्यके न होनेसे—अकारण कहा, यह भाव है ॥ २४ ॥

बीजकी अपेक्षा ब्रह्ममें और भी भेद दर्शाते हुए निर्विशेष ब्रह्मकी बीजसे जो समता दिखाई गई है, वह गौणी वृत्तिसे है। वस्तुतः ब्रह्म और बीजकी तुलना नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'बीजस्य'** इत्यादिसे।

बीजके अवयव, गुण आदि सभी स्वरूप आकारयुक्त हैं यानी अन्यसे व्यावृत्ति करनेवाले जाति, विशेष प्रकारकी गठन आदिसे युक्त हैं। इसलिए आकृतिरहित परमपदरूप ब्रह्मकी बीजसे तुलना नहीं की जा सकती। वस्तुतः कल्याणरूप ब्रह्ममें कोई उपमा है ही नहीं ॥ २५ ॥

तब गौणी वृत्तिसे उपमा देनेका क्या फल है? इसपर कहते हैं—**'स्वमेव'** इत्यादिसे।

ब्रह्म ही अनात्माके तुल्य उत्पन्न होता है, यह दर्शानेके लिए गौणीवृत्तिसे उपमा दी गई है। वस्तुतः ब्रह्म अन्यकी तरह उत्पन्न नहीं होता, इसलिए न तो ब्रह्मको उत्पन्न हुआ जानिये और न अनुत्पन्न ही जानिये, अतः जगत् शून्य है ॥ २६ ॥

यदि अपनेको ही जगत्के तुल्य देखता है, तो उसे अनर्थकी प्राप्ति कैसे हुई, जिससे कि उस अनर्थके परिहारके लिए शास्त्र सफल हो, इस शङ्कापर कहते हैं—**'दृश्यम्'** इत्यादिसे।

अपनेको दृश्यरूपसे देख रहा द्रष्टा अपनी यथार्थ आत्माको नहीं देखता। इसीसे उसे अनर्थकी प्राप्ति हुई है। जिसकी बुद्धि प्रपञ्चसे आक्रान्त हो, ऐसे किस पुरुषको अपनी यथार्थस्थिति ज्ञात होती है? ॥ २७ ॥

मृगतृष्णाजलभ्रान्तौ सत्यां कैव विदग्धता ।
विदग्धतायां सत्यां तु कैवाऽसौ मृगतृष्णिका ॥ २८ ॥
आकाशविशदो द्रष्टा सर्वाङ्गोऽपि न पश्यति ।
नेत्रं निजमिवाऽऽत्मानं दृशीभूतमहो भ्रमः ॥ २९ ॥
आकाशविशदो द्रष्टा सर्वाङ्गोऽपि न पश्यति ।
तेषां निजमिवाऽऽत्मानं दृशीभूतमिवाऽभ्रमः ॥ ३० ॥
आकाशविशदं ब्रह्म यत्नेनाऽपि न लभ्यते ।
दृश्ये दृश्यतया दृष्टे त्वस्य लाभः सुदूरतः ॥ ३१ ॥

यद्यपि उसकी पूर्णानन्द स्वप्रकाशता स्वाभाविक है, तथापि भ्रान्ति पैदा होनेपर वह व्यर्थ हो गई, इस आशयसे कहते हैं—**'मृगतृष्णा०'** इत्यादिसे ।

यदि मरुभूमिकी मृगतृष्णामें जलभ्रान्ति है, तो यह मृगतृष्णा है, यह अभिज्ञता कहाँ ? यदि यह जल नहीं है, यह अभिज्ञता है, तो मृगतृष्णा कहाँ ? भाव यह कि भ्रान्ति होनेपर अभिज्ञता रह नहीं सकती ॥ २८ ॥

निर्मल, स्वप्रकाश, सर्वगत होनेसे आत्मा यद्यपि सदा सबके स्पष्टरूपसे दर्शनयोग्य है, तथापि कभी कोई भी उसको यथार्थरूपसे नहीं देख सकता, यह बहिर्मुख लोगोंकी भ्रान्तिकी प्रबलतापर महान् आश्चर्य है, ऐसा कहते हैं—**'आकाश०'** इत्यादिसे ।

जैसे नेत्र बहिर्मुख होनेके कारण अपने स्वरूपको नहीं देख सकता, वैसे ही सम्पूर्ण अङ्गोंसे युक्त आकाशकी तरह निर्मल भी द्रष्टा बहिर्मुख होनेके कारण साक्षात् अपने स्वरूपको नहीं देख पाता, यह भ्रमकी बड़ी विस्मयकारिता है ॥२९॥

यदि कोई शङ्का करे बहिर्मुख पुरुष आन्तर अपने आत्माको भले ही न देखे, पर बाहरके और लोगोंके आत्माको तो उसे देखना चाहिए, इसपर कहते हैं—**'आकाश०'** इत्यादिसे ।

जैसे सर्वथा भ्रमशून्य मुक्त पुरुष दृश्यताको प्राप्त हुए द्वैतको नहीं देखता, वैसे ही सर्वाङ्गपूर्ण आकाशके तुल्य निर्मल द्रष्टा बहिर्मुख होनेके कारण अपने आत्माकी तरह बाहरके सब लोगोंके भी परमार्थिक स्वरूपको नहीं देखता है ॥३०॥

आकाशके तुल्य निर्मल ब्रह्म यत्नसे भी प्राप्त नहीं होता । दृश्यको दृश्यरूपसे देखनेपर तो उसका लाभ बहुत दूर है । इसलिए दृश्यको दृश्यरूपसे नहीं देखना चाहिये, किन्तु दृङ्मात्ररूपसे देखना चाहिये, यह भाव है ॥ ३१ ॥

तादृग्भावस्वरूपेण विना यत्र न दृश्यते ।
तत्राऽपि दूरोदस्तैव द्रष्टुः सूक्ष्मस्य दृश्यता ॥ ३२ ॥
दृश्यं च दृश्यते तेन द्रष्टा राम न दृश्यते ।
द्रष्टैव सम्भवत्येको न तु दृश्यमिहाऽस्ति हि ॥ ३३ ॥
द्रष्टा सर्वात्मको दृश्ये स्थितश्चेत् क्वैव द्रष्टृता ।
सर्वशक्तिमता राज्ञा यद्यत् सम्पद्यते यथा ।
तत्तथाऽनुभवत्याशु स एवोदेति तत्तथा ॥ ३४ ॥

यदि कोई शङ्का करे, द्रष्टाका अन्तरात्मा विषयाभिमुख द्रष्टा द्वारा भले ही न देखा जाय, किन्तु घटादि विषयोंका अधिष्ठानभूत आत्मा तो बाह्यवृत्तिव्याप्तिसे दिखाई देना चाहिए, क्योंकि उसमें प्रत्यङ्मुखताका कोई उपयोग नहीं है, इसपर कहते हैं—**'तादृग्'** इत्यादिसे ।

घटादि विषय प्रदेशमें वृत्त्यवच्छिन्न द्रष्टाकी वृत्तिके बाह्य घटादिके आकारमें परिणत हो जानेसे जहाँ द्रष्टाकी भी घटादिस्वरूपप्राप्तिके बिना घटादि नहीं देखे जा सकते । वहाँपर द्रष्टाकी दृश्यता दूरतः अपास्त ही है, इसी अर्थको बतलानेके लिए 'सूक्ष्मस्य' यह विशेषण दिया है । भाव यह है कि विषयाकार वृत्तिके साथ तादात्म्यापन्नस्वरूपसे अतिरिक्त सूक्ष्म चिन्मात्रका दर्शन नहीं हो सकता है ॥३२॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, दृश्य ही दिखाई देता है, द्रष्टा दिखाई नहीं देता ।

शङ्का—यदि द्रष्टा सर्वथा नहीं देखा जाता है, तो चित्तकी पूर्वोक्त चिन्मात्र-परिशेषरूप शुद्धिके लाभसे मोक्षप्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान—केवल एकमात्र द्रष्टा ही है, दृश्य तो यहाँ कुछ है ही नहीं । जो कुछ दिखाई देता है एकमात्र भ्रान्तिका विलास है । इसलिए चिन्मात्र-परिशेषरूप शुद्धिके लाभसे मोक्षकी प्राप्तिमें कौन बाधा है ? ॥ ३३ ॥

द्रष्टृता भी वास्तविक नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'द्रष्टा'** इत्यादिसे ।

यदि सर्वस्वरूप द्रष्टा दृश्यमें स्थित है तो द्रष्टृता कहाँ रही ? भाव यह कि दृश्यप्रदेशमें जो स्थित नहीं है, उसकी द्रष्टृता नहीं हो सकती और 'सर्वभूताधि-वासः साक्षी चेता' इत्यादि श्रुति भी है, इससे द्रष्टाको सर्वात्मा और दृश्यमें स्थित अवश्य कहना चाहिये । ऐसा यदि है, तो उसके आत्मभूत सम्पूर्ण दृश्यमें, अपनेमें क्रियाका विरोध होनेसे, द्रष्टृता कैसे होगी ?

यथा मधुरसोल्लासः खण्डो भवति भासुरः ।
रसतामजहच्चैव फलपुष्पलतोन्नतः ॥ ३५ ॥
चिदुल्लासस्तथा जीवो भूयो भवति देहकः ।
चिन्मात्रतां तामजहदेव दर्शनदृश्यमयम् ॥ ३६ ॥
अन्तःस्वानुभवश्चैव जगत्स्वप्नं प्रपश्यति ।
अहन्तादिरसे भौमे खण्डकत्वमिवाऽऽत्मनि ॥ ३७ ॥
नानाखण्डसहस्रौघैरद्वितीयैर्निजात्मनः ।
यथोदेति रसो भौमश्चित्तथोदेत्यसम्भ्रमम् ॥ ३८ ॥
चिद्रसोल्लासवृक्षाणां कचतामात्मनाऽऽत्मनि ।
दृश्यशाखाशताढ्यानामिह नाऽन्तोऽवगम्यते ॥ ३९ ॥

यदि कहिये कि सर्वशक्तिमान् होनेके कारण राजाकी तरह वह दृश्यको उत्पन्न कर उसका वैसा अनुभव करता हुआ द्रष्टा होता है, तो अपनेसे अतिरिक्त उपकरणकी अपेक्षा होनेपर शक्तिसंकोच मानना पड़ेगा; अतः स्वयं अविकृत ही वह तत्-तत् दृश्यरूपसे उदित होता है, यही पक्ष अवशिष्ट रहता है । इससे सिद्ध हुआ कि द्रष्टृतारूप अतिरिक्त वस्तुकी सिद्धि नहीं है, इस आशयसे कहते हैं— **'सर्वशक्तिमता'** इत्यादिसे ।

राजाके समान सर्वशक्तिमान् द्रष्टा जिस जिस वस्तुको जैसे प्राप्त होता है, वैसे ही शीघ्र उसका अनुभव करता है । सर्वशक्तिमान् द्रष्टा ही दृश्यरूपमें उदित होता है ॥ ३४ ॥

जैसे वसन्तरसका उल्लास अपनी रसताका त्याग न करता हुआ ही फल, पुष्प और लतारूपसे उन्नत देदीप्यमान वनखण्ड होता है, वैसे ही चित्का उल्लास भी अपनी चिन्मात्रताका त्याग किये बिना ही जीव और तदनन्तर देह होता है । स्वानुभवरूप ही वह इक्षुविकाररूप रसमें शर्कराकी नाईं अहन्तादि रसवाले अपनेमें दर्शन, दृश्यरूप जगत्स्वप्नको देखता है । जैसे ईखका रस ईखके रससे अभिन्न विविध सैकड़ों शर्करा-खण्ड आदिके रूपसे उदित होता है, वैसे ही चेतन भी अपने स्वरूपसे अभिन्न विविध जगद्रूपसे निश्चय उदित होता है ॥ ३५—३८ ॥

अपनेमें अपने-आप स्फुरित हो रहे दृश्यरूप सैकड़ों शाखाओंसे युक्त चिद्रसोल्लासवृक्षोंका यहाँपर अन्त नहीं जाना जाता, क्योंकि 'नानाखण्डसहस्रौघैः' इससे ब्रह्माण्डोंकी अनन्तता दर्शाई गई है ॥ ३९ ॥

खण्डः प्रत्येकमेवाऽयं यथा रसचमत्कृतिम् ।
स्वादयत्येवमेषा चित् पृथक् पश्यति संस्थितिम् ॥ ४० ॥
या योदेति यथा यस्या जीवशक्तेः स्वसंसृतिः ।
तां तां तथैति सा स्वात्मचिद्रूपभुवनस्थितिम् ॥ ४१ ॥
जीवसंसृतयः काश्चित् प्रमिलन्ति परस्परम् ।
स्वयं विहृत्य संसारे शाम्यन्ति चिरकालतः ॥ ४२ ॥
सूक्ष्मया परया दृष्ट्या त्वं पश्य ज्ञानचेतसा ।
जगज्जालसहस्राणि परमाण्वन्तरेष्वपि ॥ ४३ ॥
चित्ते नभसि पाषाणे ज्वालायामनिले जले ।
सन्ति संसारलक्षाणि तिले तैलमिवाऽखिले ॥ ४४ ॥

उन-उन ब्रह्माण्डोंमें भोगचमत्कार भी अनन्त हैं, ऐसा कहते हैं—**'खण्डः'** इत्यादिसे ।

यह ब्रह्माण्डरूप वनखण्ड जैसे-जैसे अपने रसके चमत्कारका प्रत्येकको अनुभव कराता है, वैसे-वैसे यह चेतन अपनी पृथक् स्थितिको देखता है ॥ ४० ॥

चमत्कृतिकी विचित्रतामें चमत्कृतिकी कल्पना करनेवाले तत्-तत् जीवोंके विचित्र संस्कारका उद्बोध ही कारण है, ऐसा कहते हैं—**'या या'** इत्यादिसे ।

जिस जीवशक्तिकी जो-जो अपनी सृष्टि जैसे उदित होती है, वह आत्मचिद्रूप उस-उस भुवनस्थितिको वैसे ही प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

समान वासनाओंका आविर्भाव होनेपर अज्ञानी जीवोंकी भी सृष्टियाँ परस्पर मिलती हैं, ऐसा जीवसृष्टियोंका मेलन जो पहले कहा गया, उसका उपसंहार करते हैं—**'जीवसंसृतयः'** इत्यादिसे ।

कोई जीवरूप संसार परस्पर मिलते हैं और इस संसारमें स्वयं विहार करके चिरकालमें शान्त हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

तब मेरे दूसरोंकी हजारों संसृतियोंको देखनेके लिए क्या उपाय है ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'सूक्ष्मया'** इत्यादिसे ।

आप पूर्वोक्त शुद्धचित्त लोगोंके दर्शनोपायसे परमाणुओंके भीतरमें भी हजारों जगत्परम्पराओंको देखिये। जैसे सारे तिलमें तेल रहता है, वैसे ही चित्तमें, आकाशमें, शिलाओंमें, ज्वालामें, वायुमें तथा जलमें लाखों संसार विद्यमान हैं ॥ ४३,४४ ॥

सिद्धिमेति यदा चेतस्तदा जीवो भवेच्चितिः ।
शुद्धा च सा सर्वगता तेन तन्मेलनं मिथः ॥ ४५ ॥
सर्वेषां पद्मजादीनां स्वसत्ताभ्रमरूपकः ।
जगद्दीर्घमहास्वप्नः सोऽयमन्तः समुत्थितः ॥ ४६ ॥
स्वप्नात् स्वप्नान्तरं यान्ति काश्चिद् भूतपरम्पराः ।
तेनोपलम्भः कुड्यादावसौ दृढतरः स्थितः ॥ ४७ ॥
यद्यत्र चिद्भावयति तत्तत्राऽऽशु भवत्यलम् ।
तया स्वप्नेऽपि यद्दृष्टं तत्काले सत्यमेव तत् ॥ ४८ ॥
चिदणोरन्तरे सन्ति समस्तानुभवाणवः ।
यथा बीजान्तरे पत्रलतापुष्पफलाणवः ॥ ४९ ॥
परमाणुजगत्यन्तर्मन्ये चित्परमाणवः ।
लीनमाकाशमाकाशे द्वैतैक्यभ्रममुत्सृज ॥ ५० ॥

जब चित्त सिद्धिको प्राप्त होता है, तब जीव चित् हो जाता है, वह चित् शुद्ध और सर्वगत है, अतएव उसका परस्पर अन्योंसे मेलन होता है ॥ ४५ ॥

मेलन भी स्वकीय-परकीय स्वप्नोंके दैवात् कहीं संवादके तुल्य अपने-अपने अन्तःकरणका कल्पनामात्र ही है, इस आशयसे कहते हैं—**'सर्वेषाम्'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मा आदि सबका स्वसत्तासे कल्पित भ्रमका प्रतिरूप यह जगद्रूप बड़ा भारी स्वप्न अन्दर उदित हुआ है ॥ ४६ ॥

कई भूतपरम्पराएँ एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें जाती हैं । स्वप्नपरम्परामें भ्रमण करनेसे कुड्य (दीवार) आदिके तुल्य ठोस परमात्मरूप वस्तुमें इस संसाररूप दीर्घस्वप्नकी प्राप्ति होती है और संसाररूपी स्वप्नकी वासनाकी दृढ़तासे वह दृढ़तर है ॥ ४७ ॥

चित् जहांपर जिसकी भावना करती है, वहांपर वह शीघ्र ही उत्पन्न होता है । उसने स्वप्नमें भी जिसको देखा, वह स्वप्नके समयमें सत्य ही है, इसीलिए उसमें चित्सत्ताके संबन्धका अनुभव होता है ॥ ४८ ॥

जैसे बीजके अन्दर सूक्ष्मरूपसे पत्ते, लता, फूल, फलरूप अणु रहते हैं वैसे ही चिद् अणुके अन्दर सब सूक्ष्म अनुभव यानी जगत्के आकारकी वासनाएं विद्यमान हैं ॥ ४९ ॥

परमाणुरूप जगतके अन्दर चित्परमाणु विद्यमान हैं, ऐसी अवस्थामें चित् और जगत्के सम्पूर्णरूपसे परस्पर अन्दर प्रवेशको मैं आश्चर्य मानता हूँ, यह

देशकालक्रियाद्रव्यैः स्वैरेवाऽणुभिरेव चित् ।
अणूननुभवत्यन्तरितराणि नसम्भवात् ॥ ५१ ॥
स्वयं सर्गस्य कचितः स्वप्ने चिदणुखण्डकः ।
ब्रह्मादेः कीटनिष्ठस्य देहदृष्ट्याऽनुभावितः ॥ ५२ ॥
कचितं किञ्चिदेवेह वस्तुतस्तु न किञ्चन ।
स्वयं सत्यं स्वादयन्ते द्वैतं चित्परमाणवः ॥ ५३ ॥

अर्थ है । अथवा यह आश्चर्य नहीं है, क्योंकि चिदाकाशका ही, जो कि जगद्भ्रमोंके द्वारा भेदसे गृहीत था, अपनेमें लय हो जाता है, इसी आशयसे कहते हैं, आकाश आकाशमें लीन हो गया, अतः आप द्वैत या एकत्वके भ्रमका त्याग कीजिये ॥ ५० ॥

पूर्वोक्तका ही स्पष्टीकरण करते हैं—**'देशकाल०'** इत्यादिसे ।

चेतन देश, काल, और क्रियारूप अपने ही सूक्ष्म अंशोंसे आत्मभूत अणुओंका ही अन्यकी तरह अपने अन्दर अनुभव करता है, वस्तुतः अन्योंका अनुभव नहीं करता है, अन्योंका तो संभव ही नहीं है ॥ ५१ ॥

ब्रह्मासे लेकर कीड़े-मकोड़े तक सर्वसाधारण तत्-तत् अन्तःकरणरूपकी उपाधिके कारण परिच्छिन्न हुआ चिदणुखण्ड प्रलयकालमें यद्यपि अस्फुट रहता है तथापि सृष्टिका स्वप्न प्राप्त होनेपर स्फुट होकर तत्-तत् देहदृष्टिसे अनुभवको प्राप्त कराया जाता है ॥ ५२ ॥

जिसका सबको अनुभव होता है वह क्या है ? ऐसी यदि किसीको जिज्ञासा हो, तो उसपर कहते हैं—**'कचितम्'** इत्यादिसे ।

यह जो स्फुरित हुआ है (दृष्टिगोचर हुआ है), यह अनिर्वचनीय ही है ।

शङ्का—फिर वह है क्या ?

समाधान—चित्परमाणु (जीव) साक्षात् सत्य आत्माको ही द्वैतरूपसे आस्वादन करते हैं। भाव यह कि जैसे कोई भ्रान्तपुरुष स्वयं अपने कन्धेपर चढ़नेकी इच्छा करता है, वैसे ही चित्परमाणुरूप जीव भी सत्य आत्मस्वरूपको ही द्वैत मानते हुए भ्रान्तिवश उसका अनुभव करता है ॥ ५३ ॥

स्वयं प्रकचति स्फारदेहश्चिदणुखण्डकः ।
नेत्रादिकुसुमद्वारैः संविदामोदमुद्गिरन् ॥ ५४ ॥
संपश्यतितरां कश्चिद् बहीरूपेण चिद्घटः ।
सर्वगत्वादनाशित्वाद्दृश्यबीजस्य वै चितेः ॥ ५५ ॥
अन्तरेवाऽखिलं कश्चित् पश्यत्यविमलं जगत् ।
तत्राऽतिकालकलनादुन्मज्जति निमज्जति ॥ ५६ ॥
स्वप्नात् स्वप्नान्तरं तत्र तथा पश्यन् पुनः पुनः ।
मिथ्याऽवटेषु लुठति शिलेव शिखरच्युता ॥ ५७ ॥
केचित् सम्मिलिताः केचिदात्मन्येवाऽभ्रमे स्थिताः ।
मग्नाः स्वसंवित्प्रसरे स्फुरन्तो देहखण्डकाः ॥ ५८ ॥
स्वयमन्तः प्रपश्यन्ति ये जगज्जीवविभ्रमम् ।
तैस्तैः कैश्चित्ततं दृश्यमसत् स्वप्नवदाश्रितम् ॥ ५९ ॥

चिद्रूपी परमाणु खूब विकसित शरीर होकर नेत्र आदिरूप पुष्पद्वारोंसे संविद्रूपी सुगन्धिको बिखेरते हुए स्वयं स्फुरित हुए हैं ॥ ५४ ॥

कोई व्यष्टिरूप चिद्घट (घड़ेके सदृश स्थूल देहके परिच्छेदसे चेतन ही मानो घट ठहरा यानी जीव) दृश्यके हेतुभूत चेतनके सर्वव्यापक और अविनाशी होनेके कारण देशतः और कालतः बाह्यरूपसे जगत्को देखता है ॥ ५५ ॥

कोई समष्टिरूप (विराट्) जगत्को साफ-साफ अपने अन्दर ही देखता है । वहांपर चिरकालके अभ्याससे तादात्म्याभिमान होनेसे लीन होता है और फिर आविर्भूत होता है ॥ ५६ ॥

जगत्में एक स्वप्नरूप जगत्से दूसरे स्वप्नरूप जगत्को एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नके समान पुनः-पुनः देख रहा वह पर्वतकी चोटीसे गिरी हुई शिलाके समान गर्तरूप मिथ्या योनियोंमें लुढकता है ॥ ५७ ॥

स्फुरित हो रहे कोई शरीर परस्पर संमिलित हैं, कोई भ्रमशून्य आत्मामें स्थित हैं, कोई आत्मज्ञानके विस्तारमें मग्न हैं ॥ ५८ ॥

जो अपने अन्दर दृश्यको देखनेवाले हैं, उनका द्वैतमिथ्यात्वज्ञान विशेष है, ऐसा कहते हैं—'**स्वयम्**' इत्यादिसे ।

जो जगद्रूपी जीवभ्रमको स्वयं अपने अन्दर देखते हैं, उन थोड़ेसे महापुरुषोंने चारों ओर व्याप्त दृश्यको स्वप्नके समान असत् जान लिया है ॥ ५९ ॥

सर्वात्मत्वात् स्वभावस्य तद्दृश्यं सत्यमात्मनि ।
सर्वगं विद्यते यत्र तत्र सर्वमुदेति हि ॥ ६० ॥
जीवान्तःप्रतिभासस्य सर्वस्य पुनरन्तरे ।
जीवखण्ड उदेत्युच्चैस्तस्याऽन्तरितरोऽपि च ॥ ६१ ॥
जीवान्तर्जायते जीवस्तस्याऽन्तरपि जीवकः ।
सर्वत्र रम्भादलवज्जीवो जीवान्तरेव हि ॥ ६२ ॥
दृश्यबुद्धिपरावृत्तौ सममेतदनन्तरम् ।
हेम्नीव कटकादित्वं परिज्ञातं विनश्यति ॥ ६३ ॥
विचारो यस्य नोदेति कोऽहं किमिदमित्यलम् ।
तस्याऽन्तर्न विमुक्तोऽसौ दीर्घो जीवज्वरभ्रमः ॥ ६४ ॥

उन लोगोंकी दृष्टिमें भीतर ही विश्वका उदय होनेपर भीतर ही विश्वकी सत्ताका हेतु है । किन्हींकी दृष्टिमें बाहर उसका दर्शन होनेपर बाहर ही उसकी सत्ताका हेतु है, ऐसी बीजकी व्यवस्था मनमें रखकर कहते हैं—**'सर्वात्मत्वात्'** इत्यादिसे ।

चित्स्वभाव सर्वरूप है, इसलिए वह दृश्य आत्मामें आत्माभिमानरूपसे सत्य ही है । जहां सर्वव्यापी आत्मा है, वहांपर सब कुछ उदित होता है ॥ ६० ॥

जीवके अन्दर दूसरे जीवका, दूसरे जीवके अन्दर फिर दूसरे जीवका, फिर दूसरे जीवका यों अव्यवस्थित, सप्रपञ्च जीवके उदयमें भी उसमें स्थित चैतन्यमें अज्ञानसहित तत्-तत्सत्ता ही हेतु है । उसका ज्ञान होनेपर कुछ भी कहींपर न अवशिष्ट था, न है और न रहेगा, इस आशयसे कहते हैं—**'जीवान्तः'** इत्यादिसे।

जीवके अन्तर्वर्ती सम्पूर्ण प्रतिभासके अन्दर जीवसमूहका उदय होता है, उसके अन्दर पुनः दूसरा जीवसमूह उदित होता है, उसके अन्दर फिर दूसरा जीव, जीवके अन्दर फिर जीव, उसके अन्दर भी जीव उत्पन्न होता है । केलेके पत्तोंकी तरह जीवके अन्दर सर्वत्र जीव ही है ॥ ६१, ६२ ॥

बुद्धिके विषयाभिमुखताका त्यागकर अन्तर्मुख होनेपर एक ही साथ आन्तर और बाह्य दृश्य परिज्ञात होकर विनष्ट हो जाता है, जैसे कि तत्त्वतः परिज्ञान होनेपर कटकत्व आदि सुवर्णमें विनष्ट हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्काररूप चिन्मात्रपरिशेषलक्षण शुद्धिलाभको दर्शाकर उसकी

विचारः सफलस्तस्य विज्ञेयो यस्य सन्मतेः ।
दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्नुता ॥ ६५ ॥
यथा देहोपयुक्तं हि करोत्यारोग्यमौषधम् ।
तथेन्द्रियजयेऽभ्यस्ते विवेकः फलितो भवेत् ॥ ६६ ॥
विवेकोऽस्ति वचस्येव चित्रेऽग्निरिव भास्वरः ।
यस्य तेनाऽपरित्यक्ता दुःखायैवाऽविवेकिता ॥ ६७ ॥

प्राप्ति और स्थितिके इन्द्रियजय आदिसे लेकर विचारपर्यन्त उपायोंको आगे-पीछे (सिलसिलेके बिना) आरम्भ करते हैं—**'विचारः'** इत्यादिसे ।

जिस पुरुषके मन में 'मैं कौन हूँ' 'यह जगत् क्या है', ऐसा दृढ़ विचार नहीं उठता है, उसके अन्दर यह बड़ा भारी जीवज्वरभ्रम नहीं छूटा ॥ ६४ ॥

जिस सद्बुद्धि पुरुषकी विचार करनेसे संसारिक विषयभोगलिप्सा दिन-प्रतिदिन घटती जाती है, उसके विचारको सफल जानना चाहिये । भाव यह कि वैराग्यपूर्वक ही विचार फलप्रद होता है। यदि कोई रागी पुरुष विचार करे, तो उसे विचारफल भोगवासनातानव तनिक भी प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ ६५ ॥

इन्द्रियविजयमें अभ्यास करके यदि वैराग्य हो, तो वही वैराग्य विवेकका कारण होता है, अन्य नहीं, ऐसा कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे पथ्य भोजन आदि नियमोंसे सेवित ओषधि आरोग्य करती है, वैसे ही इन्द्रियजयका अभ्यास हो जानेपर विवेक फलीभूत होता है ॥ ६६ ॥

विवेक भी यदि वैराग्य, मुमुक्षाकी उत्कण्ठा होनेसे संन्यास, श्रवण आदि फलमें पर्यवसन्न हो, तो वही तत्त्वदर्शनरूप तन्मात्रयुक्तिकी उत्पत्ति और स्थितिके उपयोगी होता है, केवल वाणीमात्रसे विकसित विवेक उक्त फल नहीं दे सकता है, ऐसा दर्शाते हैं—**'विवेकोऽस्ति'** इत्यादिसे ।

चित्रमें देदीप्यमान अग्निके समान जिसके वचनमें ही केवल विवेक है, मनमें नहीं है; उस पुरुषके द्वारा अपरित्यक्त अविवेकिता केवल दुःखके लिए ही है । यानी जैसे चित्रमें स्थित प्रकाशमान अग्निसे दाह आदि नहीं होते, वैसे ही वचनमात्र विवेकसे फल सिद्ध नहीं होता है ॥ ६७ ॥

यथा स्पर्शेन पवनः सत्तामायाति नो गिरा ।
तथेच्छातानवेनैव विवेकोऽस्य विबुध्यते ॥ ६८ ॥
चित्रामृतं नामृतमेव विद्धि चित्रानलं नानलमेव विद्धि ।
चित्राङ्गना नूनमनङ्गनेति वाचा विवेकस्त्वविवेक एव ॥ ६९ ॥
पूर्वं विवेकेन तनुत्वमेति रागोऽथ वैरं च समूलमेव ।
पश्चात् परिक्षीयत एव यत्नः स पावनो यत्र विवेकिताऽस्ति ॥७०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने भार्गवपरिदेवनप्रसङ्गेनोपदेशकरणं नामाऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

तब विवेकके मनमें स्थित होनेकी क्या पहचान है ? इस शङ्कापर वैराग्य ही एकमात्र उसकी पहचान है, ऐसा कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे स्पर्शसे वायु सत्ताको प्राप्त होता है वाणीसे नहीं, वैसे ही एकमात्र इच्छाके दूर होनेसे यानी वैराग्यसे ही विवेक जाना जाता है। जैसे प्रत्यक्ष स्पर्श वायुका लक्षण है, वचनमात्र स्पर्श उसका लक्षण नहीं है, वैसे ही वैराग्य ही विवेकका लक्षण है, यह भाव है ॥ ६८ ॥

रागी पुरुष द्वारा वाङ्मात्रसे प्रदर्शित विवेक अविवेककी शाखा-प्रशाखारूप होनेसे अविवेक ही है, ऐसा दर्शाते हैं—**'चित्रामृतम्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, चित्रमें लिखित अमृत या जलको आप अनमृत या अजल ही जानिये, चित्रमें लिखित वह्निको आप अवह्नि ही जानिये। एवं चित्रमें लिखित स्त्री स्त्री नहीं है, इसी प्रकार वचनसे प्रदर्शित विवेक भी अविवेक ही है ॥ ६९ ॥

पहले विवेकसे राग (विषयेच्छा) घटता है, इसमें सन्देह नहीं है। रागके घटनेसे वैर समूल नष्ट हो जाता है, तदनन्तर इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके परिहारके अनुकूल प्रवृत्ति—ज्ञानका उदय होनेसे मूलोच्छेद होनेके कारण—अवश्य नष्ट हो जाती है। इसलिए जिसमें विवेकिता है, वही पुरुष तत्त्वदर्शनरूप तन्मात्रयुक्तिकी स्थितिका योग्य भाजन है यानी पवित्र है ॥ ७० ॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

एकोनविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जीवबीजं परं ब्रह्म सर्वत्र खमिव स्थितम् ।
तेन जीवोदरजगत्यपि जीवोऽस्त्यनेकधा ॥ १ ॥
चिद्घनैकघनात्मत्वाज्जीवान्तर्जीवजातयः ।
कदलीदलवत् सन्ति कीटा इव धरोदरे ॥ २ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग

[उपासनाओंके अनुसार फलकी प्राप्ति, ज्ञानोपायसे सत्य आत्मामें अवस्थान और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय अवस्थामें स्थितिका वर्णन]

यदि जीवोंके अन्दर जीवपरम्पराकी कल्पना की जायगी, तो बाह्य जीव ही आन्तर जीवोंके अधिष्ठान होंगे। इस तरह आन्तर-आन्तर जीवोंकी मुक्ति स्वाधिष्ठानभूत बाह्य-बाह्य जीवात्मभावचिन्तनसे बाह्य-बाह्य जीवात्मभावप्राप्ति द्वारा बाह्य जीवोंके अधिष्ठानभूत ब्रह्मात्मभावबोधका उदय होनेपर बाह्य जीवोंकी मुक्तिसे ही सिद्ध हो सकती है, न कि साक्षात् ब्रह्मात्मावबोधसे उनकी मुक्ति सिद्ध हो सकती है, क्योंकि जीवोंके मध्यमें ब्रह्मसत्ताके असन्निधानसे अधिष्ठानत्वरूप आन्तरजगद्बीजताका ब्रह्ममें असम्भव है। यदि आन्तरजगद्बीजताका ब्रह्ममें सम्भव हो, तो सभी आन्तर-बाह्य जीव तुल्य ही हैं। जीवोंके आन्तरत्वकी कल्पना असम्भव हो जायगी, ऐसी आशङ्का करके जीवोदरवर्ती जगज्जीवोंका भी ब्रह्म ही अधिष्ठान बीज है, यह सिद्ध करते हैं—**'जीवबीजम्'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवोंका अधिष्ठानरूप बीज ब्रह्म ही सब जगह आकाशकी भाँति स्थित है, सब जगह स्थित रहनेके कारण ही जीवोदरवर्ती जगत्में भी अनेक जीव स्थित हैं ॥ १ ॥

जैसे केलेके पत्ते एकके भीतर एक रहते हैं और जैसे धरातलके गर्भमें नाना प्रकारके कीड़े रहते हैं, वैसे ही आनन्दघन, एक, अवकाशरहित आत्मस्वरूप होनेके कारण जीवके भीतर भी अनेक जीवजातियाँ रहती हैं। एकके भीतर एक उसके भी भीतर एक इस परम्पराकी कल्पनामें दृष्टान्त केलेके पत्ते दिये हैं। एकके भीतर अनेककी स्थितिकल्पनामें दृष्टान्त धरातलके कीड़े दिये गये हैं ॥ २ ॥

यो यो नाम यथा ग्रीष्मे कल्कस्वेदाद्भवेत् क्रमिः ।
यद्यद् दृश्यं शुद्धचित्त्वं तज्जीवो भवति स्वतः ॥ ३ ॥
यथा यथा यतन्ते ते जीवकाः स्वात्मसिद्धये ।
तथा तथा भवन्त्याशु विचित्रोपासनक्रमैः ॥ ४ ॥
देवान् देवयजो यान्ति यक्षा यक्षान् व्रजन्ति हि ।
ब्रह्म ब्रह्मयजो यान्ति यदतुच्छं तदाश्रयेत् ॥ ५ ॥
स मुक्तो भृगुपुत्रो हि निर्मलत्वात् स्वसंविदः ।
बद्धः प्रथमदृष्टेन दृश्येनाऽऽशु स्वभावतः ॥ ६ ॥

यदि कोई कहे आन्तर और बाह्य सभी जीवोंका समान ही अधिष्ठान है, ऐसी स्थितिमें आन्तरत्वकी कल्पना निर्मूल है, इसका क्या परिहार है ? इसपर कहते हैं—**'यो यो'** इत्यादिसे ।

जैसे ग्रीष्मकालमें शरीरान्तर्वर्ती मल और पसीनेके कारण जो-जो क्रमि उत्पन्न होते हैं, वे शरीरके मल या पसीनेके भीतर ही होते हैं। उसी दृष्टान्तसे शुद्धचित्त्व भी आन्तर अथवा बाह्य जो-जो जहांपर दृश्य होता है, उस-उसका भोक्ता जीव वहाँपर हो जाता है ॥ ३ ॥

अथवा पुरुषके पूर्व जन्मके प्रयत्नरूप कर्मसे सब व्यवस्थाओंकी सिद्धि होती है, इस आशयसे कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

वे जीव अपनी सिद्धिके लिए जैसे जैसे प्रयत्न करते हैं, शीघ्र ही विविध प्रकारकी उपासनाके क्रमसे वैसे ही हो जाते हैं ॥ ४ ॥

कर्म और उपासनाके तारतम्यके अनुसार देवताओंके सायुज्यमें भी तत्-तत् देवतारूपी जीवोंके भीतर ही तारतम्यरूपसे भोगकी प्रसिद्धि शास्त्ररूप प्रमाणसे सिद्ध है, इस आशयसे कहते हैं—**'देवान्'** इत्यादिसे ।

देवताओंकी पूजा करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, यक्षोंकी पूजा करनेवाले यक्षोंको प्राप्त होते हैं और हिरण्यगर्भ और परब्रह्मकी उपासना करनेवाले हिरण्यगर्भ और परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ।

इनमें से किसको प्राप्त करना चाहिये ? इसपर कहते हैं—**'यत्'** इत्यादिसे ।

जो तुच्छ न हो यानी सर्वोत्तम हो, उसीका आश्रय करना चाहिये ॥ ५ ॥

भार्गवोपाख्यान भी पूर्वोक्त अर्थमें दृष्टान्त है, ऐसा कहते हैं—**'स'** इत्यादिसे ।

भुवि जातापरिम्लाना बाला यत्प्रथमं पुरः ।
संवित्प्राप्नोति तद्रूपा भवत्यन्या न काचन ॥ ७ ॥

श्रीराम उवाच

जाग्रत्स्वप्नदशाभेदं भगवन् वक्तुमर्हसि ।
कथं च जाग्रज्जाग्रत्स्यात्स्वप्नो जाग्रद्भ्रमः कथम् ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

स्थिरप्रत्ययुक्तं यत्तज्जाग्रदिति कथ्यते ।
अस्थिरप्रत्ययं यत्स्यात्तत्स्वप्नः समुदाहृतः ॥ ९ ॥

जो प्रथम दृष्ट अप्सरारूप दृश्यसे चित्तके स्वभाववश शीघ्र बद्ध हो गया था, वह भृगुपुत्र अपनी संवित्के (ज्ञानके) निर्मल हो जानेसे मुक्त हो गया ॥ ६ ॥

इसी तरह यह अव्युत्पन्न, मूढ़ संवित् जैसी व्युत्पत्तिसे युक्त की जाती है, वैसी ही हो जाती है, इसलिये इसे वास्तविक ब्रह्मरूपसे ही व्युत्पन्न करना चाहिये, मिथ्या जीव आदि भावसे नहीं, इस आशयसे उपसंहार करते हैं--**'भुवि'** इत्यादिसे ।

यह बाल संवित् संसारके व्यसन तथा संतापसे जबतक मलिन न हुई हो, उसके पहले ही सर्वप्रथम जिस भावको प्राप्त होती है तद्रूप हो जाती है, कोई अन्य वस्तु नहीं होती ॥ ७ ॥

संवित् कब बाल रहती है और कब प्रौढ़ होती है, यह विशेषता जाननेके लिए जाग्रत् और स्वप्न दशाओंकी विलक्षणताका हेतु श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'जाग्रत'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन् , जाग्रत् और स्वप्न दशाओंका भेद आप कहिये और यह भी बतलाइये कि प्रत्यक्षके अवभासमें कोई विशेषता न रहनेपर भी जाग्रत् किस कारणसे सत्यव्यवहारका हेतु होता है और स्वप्न जाग्रत्के आकारका भ्रम कहा जाता है ? ॥ ८ ॥

बार बार संवादयुक्त प्रतीतिसे प्राप्त स्थिर प्रतीतिकी योग्यता ही जाग्रत्के पदार्थोंमें सत्यत्वव्यवहारकी हेतु है, इस तरह श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—**'स्थिर०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो स्थिर प्रतीतिसे युक्त होता है, उसे जाग्रत् कहते हैं और जो अस्थिर प्रतीतिसे युक्त होता है, वह स्वप्न कहा गया है ॥ ९ ॥

जाग्रत्त्वे क्षणदृष्टः स्यात् स्वप्नः कालान्तरे स्थितः ।
तज्जाग्रत्स्वप्नतामेति स्वप्नो जाग्रत्त्वमृच्छति ॥ १० ॥

जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना ।
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः ॥ ११ ॥

स्वप्नोऽपि स्वप्नसमये स्थैर्याज्जाग्रत्त्वमृच्छति ।
अस्थैर्याज्जाग्रदेवाऽऽस्ते स्वप्नस्तादृशबोधतः ॥ १२ ॥

स्वप्नोऽपि जाग्रद्बुद्ध्यंशो जाग्रत्त्वमनुगच्छति ।
स्वप्नता स्वप्नबुद्ध्या तु यथा संवेदनं स्थिरम् ॥ १३ ॥

यत्तु यावत्स्थिरं बुद्धं तत्तावज्जाग्रदुच्यते ।
क्षणभङ्गात्तु तत्स्वप्नो यथा भवति तच्छृणु ॥ १४ ॥

यदि स्वप्न भी कालान्तरमें स्थित है, तब तो जाग्रत्रूप होनेसे क्षणमात्रमें यह जाग्रत् ही है, यह प्रत्यक्ष अनुभवसे ही दृष्ट हो जायगा। यदि जाग्रत् भी कालान्तरमें स्थित नहीं है, तो वह स्वप्न ही है। इस तरह जाग्रत् स्वप्नताको और स्वप्न जाग्रद्भावको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

स्थिरता और अस्थिरताके बिना जाग्रत् और स्वप्नकी दशाओंमें भेद नहीं है, क्योंकि इन दोनों दशाओंमें सम्पूर्ण अनुभव सदा सब जगह समान ही होता है ॥११॥

स्वप्न भी स्वप्नके समयमें स्थिर होनेके कारण जाग्रद्भावको प्राप्त होता है और जाग्रत्के मनोरथ भी जाग्रत्के समयमें अस्थिर होनेसे स्वप्न ही हैं, क्योंकि वैसा बोध होता है ॥ १२ ॥

स्वप्न भी, हरिश्चन्द्रके बारह वर्षवाले स्वप्नकी भाँति जिसकी स्थिरता जाग्रद्बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य हो, वह जाग्रद्रूप हो जाता है ।

तो वह स्वप्न कैसे हुआ ? इसपर कहते हैं—**'स्वप्नता'** इत्यादिसे ।

उसमें स्वप्नता तो स्वप्नबुद्धिसे है, क्योंकि स्वप्नरूपसे ही उसका ज्ञान स्थिर था ॥ १३ ॥

जबतक जो वस्तु स्थिर समझी जाय तबतक वह जाग्रत् कही जाती है। क्षणमात्रमें उसका भङ्ग होनेपर वह जिस प्रकार स्वप्न हो जाती है, उसे सुनिये ॥१४॥

जीवधातुः शरीरेऽन्तर्विद्यते येन जीव्यते ।
तेजो वीर्यं जीवधातुरित्याद्यभिधमङ्ग यत् ॥ १५ ॥
व्यवहारी यदा कायो मनसा कर्मणा गिरा ।
भवेत्तदा मरुन्नुन्नो जीवधातुः प्रसर्पति ॥ १६ ॥
तस्मिन् प्रसर्पत्यङ्गेषु सर्वा संविदुदेति हि ।
दृष्टत्वात्प्रैति चित्ताख्यमन्तर्लीनजगद्भ्रमम् ॥ १७ ॥
ईक्षणादिषु रन्ध्रेषु प्रसरन्ती बहिर्मयम् ।
नानाकारविकाराढ्यं रूपमात्मनि पश्यति ॥ १८ ॥

प्रतिज्ञात विषयके वर्णनकी भूमिकाके रूपमें स्वप्नद्रष्टा जीवकी सत्ताको सिद्ध करते हैं—**'जीवधातुः'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस शरीरके भीतर जीव वस्तु विद्यमान है, जिससे लोगोंका जीवन रहता है । 'येन जीव्यते' इससे यह दर्शाया कि जीवित रहना ही जीवके अस्तित्वमें प्रमाण है । तेज यानी शरीरकी गर्माहट, वीर्य यानी शरीरके व्यापारका कारण बल, जीवधातु यानी जीवनमें हेतु निर्विशेष प्रेम और आदि पदसे 'अहम्' इत्यादि अभिमानका निमित्त ज्ञान आदि जिसके नाम हैं यानी तेज, बल, प्रेम और ज्ञान—ये सब जीवकी सत्तासे ही हैं । इसलिए जीवके सद्भावमें ये सब प्रमाण हैं ॥ १५ ॥

यदि कोई कहे देहमें जीव रहे, पर उसकी रूप आदिके दर्शनके लिए प्रवृत्तिमें क्या हेतु है ? इसपर कहते हैं—**'व्यवहारी'** इत्यादिसे ।

जिस समय यह शरीर मन, वचन और कर्मसे व्यवहार करनेवाला होता है, उस समय प्राण वायुसे प्रेरित जीवचेतन, तालाबसे नाली आदिके द्वारा जलके सदृश, हृदयसे निकल कर बाहर संचार करता है, फैलता है ॥ १६ ॥

जीवचेतनके अङ्गान्तर्गत सब नाड़ियोंमें संचार करनेपर सब संवित् (ज्ञान) उदित होती है । पहले अनुभूत होनेके कारण संवित् जिसमें जगद्रूप भ्रम अन्दर छिपा है, ऐसे चित्तको प्राप्त होती है यानी उनमें वासनाओंकी उत्पत्ति होनेके कारण स्वप्न देखती है ॥ १७ ॥

नेत्र आदि छिद्रोंमें संचार कर रही संवित् नाना प्रकारके आकार और विकारोंसे सम्पन्न बाह्यरूपको अपनेमें देखती है वैसी ही वह स्थिर होनेके कारण

स्थिरत्वात् तत्तथैवाऽथ जाग्रदित्यवगम्यते ।
जाग्रत्क्रम इति प्रोक्तः सुषुप्तादिक्रमं शृणु ॥ १९ ॥
मनसा कर्मणा वाचा यदा क्षुभ्यति नो वपुः ।
शान्तात्मा तिष्ठति स्वस्थो जीवधातुस्तदा त्वसौ ॥ २० ॥
समतामागतैर्वातैः क्षोभ्यते न हृदम्बरे ।
निर्वातसदने दीपो यथाऽऽलोकैककारकः ॥ २१ ॥
ततः सरति नाऽङ्गेषु संवित् क्षुभ्यति तेन नो ।
न चेक्षणादीन्यायाति रन्ध्राण्यायाति नो बहिः ॥ २२ ॥
जीवोऽन्तरेव स्फुरति तैलसंविद्यथा तिले ।
शीतसंविद्धिम इव स्नेहसंविद्यथा घृते ॥ २३ ॥

जाग्रत् कही जाती है। भाव यह है कि यद्यपि अनुभवके समय प्रतीति स्वप्नके सदृश ही होती है, उससे भिन्न नहीं होती, फिर भी प्रतिदिनके प्रत्यभिज्ञानके बाद स्थिरत्वकल्पना जाग्रत् है, यह ज्ञान होता है। जाग्रत्का क्रम इस प्रकार आपसे मैंने कहा, अब आप सुषुप्ति आदिके क्रमको सुनिये ॥ १८, १९ ॥

वाचिक और कायिक विक्षेपकी निवृत्ति होनेपर स्वप्नका उदय होता है, मानसिक विक्षेपकी भी यदि निवृत्ति हो जाय, तो सुषुप्ति होती है, इस आशयसे कहते हैं—'**मनसा**' इत्यादिसे ।

जिस समय शरीर मन, वचन और कर्मसे क्षो को प्राप्त नहीं होता है, उस समय यह जीवचेतन शान्तस्वरूप और स्वस्थ होकर रहता है ॥ २० ॥

जैसे कि विक्षेपशून्य प्रकाशका एकमात्र निमित्त दीपक निर्वात (वायुरहित) घरमें क्षोभको प्राप्त नहीं होता है वैसे ही सुषुप्तिको प्राप्त हुआ पुरुष समताको प्राप्त वायुओंसे हृदयाकाशमें तनिक भी क्षोभको प्राप्त नहीं होता ॥ २१ ॥

उससे शरीरके भीतर स्थित नाड़ियोंमें संवित्का संचार नहीं होता; अतः पुरुष विक्षोभको प्राप्त नहीं होता है। इससे स्वप्नके निमित्तका अभाव दर्शाया। और वह संवित् नेत्र आदि छिद्रोंमें भी नहीं आती; अतएव इन्द्रियों द्वारा बाहर भी नहीं आती। इससे जाग्रत्के निमित्तका अभाव दिखलाया ॥ २२ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति" (हे सोम्य, सुषुप्तिके समय जीव 'सत्' शब्दवाच्य ब्रह्मसे एकी-भूत

जीवाकारा कला काचिच्चितिः स्वच्छतयाऽऽत्मनि ।
दशामायाति सौषुप्तिं सौम्यवातां विचेतनाम् ॥ २४ ॥
ज्ञात्वा वै चित्युपरते साम्यं व्यवहरन्नपि ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु संबुद्धस्तुर्यवान् स्मृतः ॥ २५ ॥
सुषुप्ते सौम्यतां यातैः प्राणैः सञ्चाल्यते यदा ।
स जीवधातुः सा संवित्तश्चित्ततयोदिता ॥ २६ ॥

हो जाता है, अपने पारमार्थिक रूपको प्राप्त होता है) इस श्रुतिसे सुषुप्तिमें जीवका ब्रह्ममें लय सुना जाता है, फिर उस समय आप जीवकी दीपके तुल्य स्थिति कैसे कहते हैं ? इसपर कहते हैं—**'जीवः'** इत्यादिसे ।

'मैं जीव हूँ' इस संस्कारसे युक्त ही वह तिलमें तैलसंवित्के तुल्य, बर्फमें शीत-संवित्के तुल्य और घृतमें स्नेहसंवित्के तुल्य ब्रह्मभावको प्राप्त होकर स्फुरित होता है ॥ २३ ॥

यदि शङ्का हो कि तब "तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति" (हृदयमें स्थित बुद्धिके सब शोकोंको तर जाता है), 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' (उस समय सजातीय भेदशून्य और विजातीय भेदशून्य एकमात्र द्रष्टा होता है) इत्यादि श्रुतियों द्वारा कहे गये आत्यन्तिक ब्रह्मैक्यकी क्या गति होगी ? इसपर कहते हैं—**'जीवाकारा'** इत्यादिसे ।

जीवके आकारकी जो कोई चित् है, वह चेतनकी कला उपाधिका विनाश होनेसे स्वच्छतावश ब्रह्मात्मामें पृथक्चेतनशून्य, प्राणवायुसे किये गये विक्षेपसे शून्य सुषुप्तिदशाको प्राप्त होती है, इस अंशको लेकर वे श्रुतियाँ प्रवृत्त हुई हैं, भेद-वासनाके विलयके अभिप्रायसे प्रवृत्त नहीं हुई हैं, यह भाव है ॥ २४ ॥

प्रसङ्गतः जीवकी तुर्यावस्था दिखलाते हैं—**'ज्ञात्वा'** इत्यादिसे ।

चित्तके उपरत होनेपर सकल व्यवहारोंके उपरामसे युक्त चित्में शास्त्रसे अविषमताका ज्ञान कर विचार और एकाग्रतासे साक्षात्कारको प्राप्त हुआ योगी प्रसिद्ध जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तियोंमें अथवा पूर्वोक्त भूमिकाभेदोंमें व्यवहार करता हुआ और समाधिमें स्थित रहता हुआ भी ज्ञानकी दृढ़तासे तुर्य आत्मस्वभावसे च्युत न होकर सदा ही तुर्यावस्थावान् कहा जाता है ॥ २५ ॥

प्रस्तुत सुषुप्तिका ही अनुवाद करके उससे पहले पूर्वोक्त स्वप्नावस्थाका विस्तार करनेके लिए चित्तकी उत्पत्ति कहते हैं—**'सुषुप्ते'** इत्यादिसे ।

स्वान्तःसंस्थजगज्जालं भावाभावैः क्रमभ्रमैः ।
पश्यति स्वान्तरेवाऽऽशु स्फारं बीज इव द्रुमम् ॥ २७ ॥
जीवधातुर्यदा वातैः किञ्चित् संक्षुभ्यते भृशम् ।
ततोऽस्म्यहं सुप्त इति पश्यत्यात्मनि खे गतिम् ॥ २८ ॥
यदाऽम्भसा प्लाव्यतेऽसौ तदा वार्यादिसंभ्रमम् ।
अन्तरेवाऽनुभवति स्वामोदं कुसुमं यथा ॥ २९ ॥
यदा पित्तादिनाऽऽक्रान्तस्तदा ग्रीष्मादिसंभ्रमम् ।
अन्तरेवाऽनुभवति स्फारं बहिरिवाऽखिलम् ॥ ३० ॥
रक्तापूर्णो रक्तवर्णान् देशान् कालान् बहिर्यथा ।
पश्यत्यनुभवात्मत्वात्तत्रैव च निमज्जति ॥ ३१ ॥

सौम्यताको प्राप्त हुए प्राणोंसे युक्त वह जीवचेतन जब भोग करानेवाले अदृष्टके परिपाकसे विषमताको प्राप्त किये गये प्राणों द्वारा ही संचालित होता है, तब वह जीवचेतन तत्-तत् भोगोंके अनुकूल पूर्वजन्मके संस्कारोंके उद्‌बुद्ध होनेके कारण चित्तरूपसे उदित होता है ॥ २६ ॥

उससे स्वप्नदर्शनको कहते हैं—**'स्वान्त०'** इत्यादिसे ।

उस समय जैसे योगी बीजमें स्थित वृक्षको अपनी यौगिक शक्तिसे आगे होनेवाले विस्तारसे युक्त देखता है वैसे ही भाव और अभावरूप क्रमिक भ्रमोंसे अपने हृदयमें स्थित जगज्जालको अपने भीतर ही तुरन्त देखता है ॥ २७ ॥

सुप्त जीवचेतन जब प्राणवायुओंसे थोड़ा बहुत क्षुब्ध होता है तब 'मैं हूँ' ऐसा अपनेको अहङ्कारयुक्त देखता है; किन्तु जब अत्यन्त क्षोभको प्राप्त होता है तब आकाशमें अपना गमन देखता है ॥ २८ ॥

जैसे फूल अपनी सुगन्धिका अपने अन्दर ही अनुभव करता है वैसे ही जब यह जीव नाड़ीके अन्दर स्थित श्लेष्माके जलसे प्लावित होता है तब अपने अन्दर ही जल आदिके भ्रमको देखता है ॥ २९ ॥

जब यह जीवचेतन नाड़ीके अन्तर्गत पित्तसे आक्रान्त होता है, तब बाहरकी तरह सम्पूर्ण ग्रीष्म आदिके भ्रमका अपने अन्दर ही अनुभव करता है ॥ ३० ॥

नाड़ीके अन्दर स्थित रुधिरसे आप्लावित होकर गेरु आदि धातुओंसे व्याप्त प्रदेशोंको और लाल बादलोंसे भरे हुए सन्ध्या आदि कालोंको बाहरके सदृश अपने अन्दर ही देखता है, अनुभवरूप होनेसे उन्हींमें निमग्न हो जाता है ॥ ३१ ॥

सेवते वासनां यां तां सोऽन्तः पश्यति निद्रितः ।
पवनक्षोभितो रन्ध्रैर्बहिरक्षादिभिर्यथा ॥ ३२ ॥
अनाक्रान्तेन्द्रियच्छिद्रो यतः क्षुब्धोऽन्तरेव सः ।
संविदाऽनुभवत्याशु स स्वप्न इति कथ्यते ॥ ३३ ॥
समाक्रान्तेन्द्रियच्छिद्रो यः क्षुब्धो वायुना यदा ।
परिपश्यति तज्जाग्रदित्याहुर्मुनिसत्तमाः ॥ ३४ ॥
इति विदितवता त्वयाऽधुनाऽन्तः
प्रथितमहामतिनेह सत्यताख्या ।
असति जगति नैव भावनीया
मृतिहतिसंहृतिदोषभावनी या ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये स्थितिप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति-तुरीयस्वरूपविचारो नाम एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

वह जीवचेतन जिस-जिस वासनाका सेवन करता है यानी जिस वासनासे वासित अन्तःकरणवाला होता है, निद्रावस्थामें उसी वासनाको प्राणवायुसे क्षुब्ध होकर नेत्र आदि छिद्रोंसे बाहरके पदार्थोंकी तरह अपने अन्दर देखता है ॥ ३२ ॥

प्राणवायुसे भीतर ही क्षुब्ध हुआ, अतएव इन्द्रियच्छिद्रोंपर अपने आक्रमणोंसे रहित जीव अपनी संवित्से आन्तर पदार्थोंका तुरन्त अनुभव करता है, वही स्वप्न कहा जाता है ॥ ३३ ॥

जब वायुसे क्षुब्ध हुआ जीव इन्द्रियच्छिद्रोंका आक्रमण करनेवाला होकर बाहर शब्द आदिको देखता है, तब वह दर्शन जाग्रत् कहलाता है ॥ ३४ ॥

जाग्रदादिभेदोंसे विस्तारको प्राप्त हुए जगत्में सत्यताबुद्धि ही आसक्तिका कारण होनेसे अनर्थ है; इसलिए उसीका त्याग करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'इति'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार ज्ञानको प्राप्त हुए अतः प्रथितमहाबुद्धिवाले आपको अब इस असत्य जगत्में सत्य दृष्टि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह सत्य दृष्टि आध्यात्मिक निमित्तोंसे मरण, आधिभौतिक निमित्तोंसे मरण और आधिदैविक निमित्तोंसे मरणके हेतुभूत दोषोंकी जननी है ॥ ३५ ॥

उन्नीसवां सर्ग समाप्त ।

विंशतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतत्ते कथितं सर्वं मनोरूपनिरूपणम् ।
मया राघव नाऽन्येन केनचिन्नाम हेतुना ॥ १ ॥
दृढनिश्चयवच्चेतो यद्भावयति भूरिशः ।
तत्तां यात्यनलाश्लेषादयःपिण्डोऽग्नितामिव ॥ २ ॥
भावाभावग्रहोत्सर्गदृशश्चेतनकल्पिताः ।
नाऽसत्या नापि सत्यास्ता मनश्चापलकारिताः ॥ ३ ॥

बीसवाँ सर्ग

[संसार सत्य आत्माका अवलम्बन न करनेवाले चित्तकी भ्रान्ति है, सत्य आत्माका अवलम्बन करनेपर तो चित्त और संसार आत्मा ही है, यह वर्णन]

पूर्ववर्णित जाग्रदादिस्वरूपकथनका प्रकृतमें सम्बन्ध दिखलाते हैं— **'एतत्ते'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आपसे यह जाग्रदादि-स्वरूपका वर्णन मनके यथार्थ ज्ञानके लिए ही किया है, इसका और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है ॥ १ ॥

इस वर्णनसे मनका कैसा स्वभाव ज्ञात हुआ, यदि यह कोई शङ्का करे, तो दृढ़रूपसे भावित पदार्थके आकारको धारण करना ही मनका स्वभाव है, ऐसा कहते हैं— **'दृढ०'** इत्यादिसे ।

जैसे अग्निके सम्बन्धसे लोहेका गोला आग बन जाता है, वैसे ही दृढ़ निश्चयवाला चित्त जिस वस्तुकी बार-बार भावना करता है, उसीके आकारको प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥

इससे सत् और असत्‌रूप हेय और उपादेय प्रतीतिके विषय सभी पदार्थ एकमात्र मनसे कल्पित होनेके कारण सत् और असत्‌से विलक्षण (अनिर्वचनीय) हैं, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं— **'भावा०'** इत्यादिसे ।

भाव, अभाव, उपादान, त्याग आदि प्रतीतियाँ चेतनमें कल्पित हैं । न तो ये सत्य हैं और न असत्य हैं । मनकी चपलता ही इनकी जननी है ॥ ३ ॥

मनो मोहे तु कर्तृ स्यात् कारणं च जगत्स्थितेः ।
विश्वरूपतयैवेदं तनोति मलिनं मनः ॥ ४ ॥
मनो हि पुरुषो नाम तं नियोज्य शुभे पथि ।
तज्जयैकान्तसाध्या हि सर्वा जगति भूतयः ॥ ५ ॥
पुरुषश्चेच्छरीरं स्यात्कथं शुक्रो महामतिः ।
अगमद्विविधाकारं जन्मान्तरशतभ्रमम् ॥ ६ ॥
अतश्चित्तं हि पुरुषः शरीरं चेत्यमेव हि ।
यन्मयं च भवत्येतत्तदवाप्नोत्यसंशयम् ॥ ७ ॥
यदतुच्छमनायासमनुपाधि गतभ्रमम् ।
यत्नात्तदनुसंधानं कुरु तत्तामवाप्स्यसि ॥ ८ ॥

व्यष्टिरूपसे मन भ्रान्तिजनक है और समष्टिरूपसे भ्रान्तिके विषय जगत्‌का उपादान है, ऐसा भेद कहते हैं—**'मनो मोहे'** इत्यादिसे ।

मन भ्रान्तिका तो कर्ता है और जगत्‌की स्थितिका कारण है । समष्टि-व्यष्टिरूपसे मलिन मन ही इस जगत्‌का विस्तार करता है ॥ ४ ॥

यदि कर्ता-अंश शुभ मार्गमें लगाया जाय, तो उपादानांशमें स्थित अणिमा आदि विभूतियाँ और तत्त्वज्ञान भी वशमें हो जाते हैं, ऐसा कहते हैं—**'मनो'** इत्यादिसे ।

मन ही पुरुष है, उसको शुभ मार्गमें लगाकर एकमात्र उसकी जयसे अवश्य प्राप्त होनेवालीं जगत्‌में स्थित सब विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ५ ॥

यदि कोई कहे कि देह ही पुरुष हो, मन पुरुष न हो, तो इसपर कहते हैं—**'पुरुष०'** इत्यादिसे ।

यदि शरीर पुरुष होता, तो महामति शुक्राचार्य विविध आकारवाले अन्यान्य सैकड़ों जन्मरूप भ्रमोंको कैसे प्राप्त होते ! ॥ ६ ॥

इसलिए शरीर पुरुष नहीं हो सकता, घड़े, दीवार आदिके तुल्य वह चेत्य ही है; ऐसा कहते हैं—**'अत०'** इत्यादिसे ।

इसलिए चित्त ही पुरुष है, शरीर तो विषय है । चित्त जिसकी भावना करता है, उसको निश्चय ही प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

मन सब पदार्थोंकी प्राप्तिमें समर्थ हो, उससे मेरा क्या काम ? ऐसी यदि शङ्का हो, तो उसपर कहते हैं—**'यद०'** इत्यादिसे ।

अभिपतति मनःस्थितं शरीरं न तु वपुराचरितं मनः प्रयाति ।
अभिपततु तवाऽत्र तेन सत्यं सुभग मनः प्रजहात्वसत्यमन्यत् ॥ ९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये स्थिति-प्रकरणे मनोरूपवर्णनं नाम विंशतितमः सर्गः ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ संशयो यो महानयम् ।
हृदि व्यावर्तते लोलः कल्लोल इव सागरे ॥ १ ॥

जो वस्तु अतुच्छ है, आयासरहित है, उपाधिशून्य है और भ्रमहीन है, प्रयत्नके साथ आप उसका अनुसन्धान कीजिये । उससे आप तत्स्वरूपताको प्राप्त होंगे । भाव यह है कि मोक्षके लिए प्रयत्न करनेपर आपको मोक्षकी प्राप्ति होगी ॥ ८ ॥

पहले कहे गये अर्थका ही संक्षेप कर उपसंहार करते हैं—'**अभिपतति**' इत्यादिसे ।

मनके अभिलषित स्थान या विषयको शरीर प्राप्त होता है । शरीरसे किये गये स्थान या विषयको मन नियमतः प्राप्त नहीं होता । इसलिए हे सुभग, मनकी अभिलषित सिद्धि होनेपर देह, इन्द्रिय आदिके नियमनमें समर्थ होनेके कारण आपका भी मन परमार्थभूत आत्मतत्त्वको प्राप्त हो, अन्य असत्य द्वैतभ्रमोंका त्याग करे ।

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

[विशुद्ध पुरुषमें कल्पकका अभाव होनेसे मनकी कल्पना नहीं होती और अविशुद्धमें मनकी सिद्धि होनेसे अनेक मत-मतान्तरोंकी कल्पनाएँ होती हैं, यह कथन]

जो वस्तु तुच्छ नहीं है, आयासरहित है, उपाधिशून्य है और भ्रमरहित है उसका यत्नसे अनुसन्धान करो, ऐसा गुरुजीके कहनेपर अपने बुद्धिकौशलसे उसका अनुसन्धान कर उसमें मनकी कल्पनाकी योग्यताको न देख रहे श्रीरामचन्द्रजी

दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने तते नित्ये निरामये ।
म्लाना संविन्मनोनाम्नी कुतः केयमुपस्थिता ॥ २ ॥
यस्मादन्यन्न नामाऽस्ति न भूतं न भविष्यति ।
कुतः कीदृक्कथं तत्र कलङ्कस्तस्य विद्यते ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

साधु राम त्वया प्रोक्तं जाता ते मोक्षभागिनी ।
मतिरुत्तमनिष्यन्दा नन्दनस्येव मञ्जरी ॥ ४ ॥
पूर्वापरविचारार्थतत्परेयं मतिस्तव ।
संप्राप्स्यसि पदं प्रोच्चैर्यत्प्राप्तं शङ्करादिभिः ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त मनकी कल्पनामें विश्वास न रखते हुए अर्धविकसितबुद्धि होकर पूछनेके लिए गुरुजीको अपनी ओर आकृष्ट कर संशय दिखलाते हैं—'**भगवन्**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, हे सम्पूर्ण धर्मोंके मर्मज्ञ, सागरमें चंचल कल्लोलकी तरह मेरे हृदयमें जो यह बड़ा भारी संशय घूम रहा है, उसे आप कृपाकर दूर कीजिये । दिशाकृत परिच्छेद न होनेके कारण सर्वत्र व्याप्त, कालकृत परिच्छेद न होनेके कारण नित्य और वस्तुकृत परिच्छेद न होनेके कारण निर्दोष परमात्मामें मननामकी विषयाकारसे कलुषित यह संवित् कौन है और कहाँसे आई है ? यदि कहिये, अनादि अविद्यावश यह उपस्थित हुई है, तो उसका भी संभव नही है, क्योंकि जिससे भिन्न दूसरी वस्तु न तो है, न थी और न होगी, उसमें किसी दूसरे निमित्तसे या स्वतः अथवा दूसरे प्रकारसे कलङ्क कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ १–३ ॥

इस तरह श्रीरामचन्द्रजीके पूछनेपर श्रीवसिष्ठजी तत्त्वपदार्थके परिचयसे चमत्कारयुक्त श्रीरामचन्द्रजीकी बुद्धिकी पहले प्रशंसा करते हैं—'**साधु**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, वाह आपने बहुत अच्छा प्रश्न किया । नन्दनवनकी मञ्जरीके समान मकरन्दनिस्यन्दरूपी अनुभवचमत्कारवाली आपकी बुद्धि मोक्षभागिनी हो गई है ॥ ४ ॥

आपकी बुद्धि पूर्वापरविचारमें तत्पर है, इसलिए शङ्कर आदि देवताओंने जो पद प्राप्त किया है, उस ऊँचे पदको आप प्राप्त होंगे ॥ ५ ॥

प्रश्नस्याऽस्य तु हे राम न कालस्तव संप्रति ।
सिद्धान्तः कथ्यते यत्र तत्राऽयं प्रश्न उच्यते ॥ ६ ॥
सिद्धान्तकाले भवता प्रष्टव्योऽहमिदं परम् ।
करामलकवत्तेन सिद्धान्तस्ते भविष्यति ॥ ७ ॥
सिद्धान्तकाले प्रश्नोक्तिरेषा तव विराजते ।
प्रावृषीव हि केकोक्तिर्युक्ता शरदि हंसगीः ॥ ८ ॥
सहजो नीलिमा व्योम्नि शोभते प्रावृषः क्षये ।
प्रावृषि त्वतनूदग्रपयोदपटलोत्थितः ॥ ९ ॥

शुद्ध चिदात्मामें अविद्याका कलङ्क युक्त नहीं है, यह प्रश्न जो पुरुष शुद्धात्माका अनुभव कर चुका है, उसे शोभा देता है; लेकिन उसके प्रति तो हम मनका निरूपण कर नहीं रहे हैं, जिससे कि उसे पूछनेका अवसर मिले, किन्तु जिसने शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं किया है, ज्ञाताको ही आत्मा समझता है, उसे अपने अनुभवसे विरुद्ध आत्माकी शुद्धि कैसे है ? यही शङ्का करनी चाहिए, अनुभवसे विरुद्ध शुद्धिका स्वीकार कर शुद्धमें मालिन्य कैसे है ? इस तरहके प्रश्नका अज्ञके उपदेशके समयमें विज्ञके समान अवसर नहीं है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—**'प्रश्नस्याऽस्य'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस समय आपके इस प्रश्नका अवसर ही नहीं है । निर्वाणप्रकरणमें जब कि आत्मदर्शनसमाधिकी प्रतिष्ठा प्राप्त हो जायगी, अनुभवमें आरूढ़ इसी अर्थको मैं अपने अनुभवके संवादके लिए कहूँगा, वहाँपर आपके इस प्रश्नका समाधान दिया जायगा । सिद्धान्तके समय आपको यह प्रश्न मुझसे पूछना चाहिये । मुझसे समाहित इस प्रश्नसे सिद्धान्त आपको करामलकवत् हो जायगा ॥ ६, ७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे वर्षा ऋतुमें मयूरकी वाणी सुशोभित होती है, शरत्कालमें हंसकी वाणी भली लगती है, मयूरकी वाणी भली नहीं लगती, वैसे ही सिद्धान्तकालमें ही आपका यह वचन सुशोभित होगा ॥ ८ ॥

इस समय यह आपका प्रश्न वर्षाऋतुमें आकाशकी स्वाभाविक नीलिमाके वर्णनके तुल्य है, ऐसा कहते हैं—**'सहजः'** इत्यादिसे ।

वर्षा ऋतुके बीत जानेपर आकाशकी स्वाभाविक नीलिमा सुशोभित होती

अयं प्रकृत आरब्धो मनोनिर्णय उत्तमः ।
यद्वशाज्जनताजन्म तदाकर्णय सुव्रत ॥ १० ॥
एवं प्रकृतिरूपेयं मनो मननधर्मिणी ।
कर्मेति राम निर्णीतं सर्वैरेव मुमुक्षुभिः ॥ ११ ॥
शृणु दर्शनभेदेन तन्नामाभिमताकृतिम् ।
वाग्मिनां वदतां यातं चित्राभिः शास्त्रदृष्टिभिः ॥ १२ ॥
यं यं भावमुपादत्ते मनो मननचञ्चलम् ।
तत्तामेति घनामोदमन्तस्थः पवनो यथा ॥ १३ ॥

है; किन्तु वर्षा ऋतुमें तो उसपर बड़े बड़े विशालकाय बादलोंकी घटा छाई रहती है ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका समाधान कर प्रस्तुत विषयके श्रवणमें श्रीरामचन्द्रजीको प्रवृत्त करते हैं—**'अयम्'** इत्यादिसे ।

हे सुन्दर व्रतवाले श्रीरामचन्द्रजी, प्रकृतमें इस उत्तम मनोनिर्णयका मैंने आरम्भ किया है, जिसके कारण लोगोंका जन्म होता है, उस मनको आप सुनिये ॥ १० ॥

पूर्वोक्त रीतिसे चैतन्यमें मलिनता अज्ञानियोंके अनुभवसे सिद्ध है। उस मालिन्यसे उपहित वह चैतन्य प्रकृतिरूप होता है, मननधर्मयुक्त होकर मन होता है, सुनता हुआ कान और देखता हुआ नेत्र होता है, क्योंकि 'पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः' इत्यादि श्रुति है। तथा कर्मेन्द्रियको प्राप्त हुआ यह चेष्टासे धर्माधर्मरूप कर्म भी स्वयं ही होता है, ऐसा मुमुक्षु लोगोंने श्रुति आदि प्रमाणोंसे निर्णय कर रक्खा है ॥ ११ ॥

बहुतसे वादी अपने-अपने अभिमत नाम-रूप और आकारसे उसीकी अन्य-अन्यरूपसे कल्पना करते हैं, इस आशयसे कहते हैं—**'शृणु'** इत्यादिसे ।

वक्ताओंमें श्रेष्ठ वादियोंकी भाँति-भाँतिकी शास्त्रदृष्टियोंसे वही उनके अभिमत आकृतिको दर्शनभेदसे प्राप्त हुआ है, इसे आप सुनिये ॥ १२ ॥

यदि एक ही मूल है, तो वादियोंके सिद्धान्तभेद कैसे हुए ? इस शङ्काके समाधानके बहाने 'वही कर्म है, ऐसा मुमुक्षुओंने निर्णय किया है' ऐसा जो पहले कहा था, उसीकी व्याख्या करते हैं—**'यं यम्'** इत्यादिसे ।

मननसे चञ्चल हुआ मन जिस जिस भावनासे उत्पन्न हुए भावको प्राप्त

ततस्तमेव निर्णीय तमेव च विकल्पयन् ।
अन्तःस्थया रञ्जनया रञ्जयन् स्वामहङ्कृतिम् ॥ १४ ॥
तन्निश्चयमुपादाय तत्रैव रसमृच्छति ।
यन्मयत्वं शरीरे तु ततो बुद्धीन्द्रियेषु च ॥ १५ ॥
यन्मयं हि मनो राम देहस्तदनु तद्वशः ।
तत्तामायाति गन्धान्तः पवनो गन्धतामिव ॥ १६ ॥
बुद्धीन्द्रियेषु वल्गत्सु कर्मेन्द्रियगणस्ततः ।
स्फुरति स्वत एवोर्वी रजोलोल इवाऽनिले ॥ १७ ॥
कर्मेन्द्रियगणे क्षुब्धे स्वशक्तिं प्रणयत्यलम् ।
कर्म निष्पद्यते स्फारं पांशुजालमिवाऽनिले ॥ १८ ॥

होता है, जैसे सुगन्ध, दुर्गन्ध, उत्कट गन्धवाले फूलोंके भीतर स्थित वायु सुगन्ध, दुर्गन्ध और उत्कट गन्धको प्राप्त हो जाता है वैसे ही उक्त मन भी तत्स्वरूपताको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

इसलिए अपनी-अपनी वासनासे कल्पितका ही युक्तिसे निर्णय कर उसीका पुनः पुनः विकल्प करते हुए, अपने द्वारा कल्पित पदार्थसे स्वीयतारूपी रंगसे अपने अहङ्कारको रंगते हुए यानी उसके आकारको प्राप्त करते हुए उसके निश्चयको प्राप्त होकर वह मन उसीमें पुनः पुनः आस्वादनरूप चमत्कारको प्राप्त होता है । शरीरमें जैसा मन होता है उसके बाद बुद्धि और इन्द्रियोंमें भी वैसा ही हो जाता है ॥ १४,१५ ॥

जैसे सुगन्धि पदार्थके भीतर स्थित वायु सुगन्धिताको प्राप्त होता है, वैसे ही मन जिस प्रकारके भावसे युक्त होता है, उसके बाद उसका वशवर्ती शरीर भी तन्मय हो जाता है ॥ १६ ॥

ज्ञानेन्द्रियोंके आविर्भूत होकर अपने-अपने विषयमें प्रवृत्त होनेपर उनसे कर्मेन्द्रियसमूह स्वतः ही ऐसे स्फुरित होता है, जैसे कि धूलिमिश्रित वायुमें पृथ्वी (तदन्तर्गत धूलिरूप पृथिवी) अपने-आप आविर्भूत होती है ॥ १७ ॥

क्षुब्ध हुए कर्मेन्द्रियोंके अपनी क्रियाशक्तिको प्रकट करनेपर वायुमें धूलि-समूहकी तरह प्रचुर कर्मकी निष्पत्ति होती है ॥ १८ ॥

एवं हि मनसः कर्म कर्मबीजं मनः स्मृतम् ।
अभिन्नैव तयोः सत्ता यथा कुसुमगन्धयोः ॥ १९ ॥
यादृशं भावमादत्ते दृढाभ्यासवशान्मनः ।
तथा स्पन्दाख्यकर्माख्यप्रथाशाखां विमुञ्चति ॥ २० ॥
तथा क्रियां तत्फलतां निष्पादयति चाऽऽदरात् ।
ततस्तमेव चाऽऽस्वादमनुभूयाऽऽशु बद्ध्यते ॥ २१ ॥
यं यं भावमुपादत्ते तं तं वस्त्विति विन्दति ।
तत्तच्छ्रेयोऽन्यन्नाऽस्तीति निश्चयोऽस्य च जायते ॥ २२ ॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थं प्रयतन्ते सदैव हि ।
मनांसि दृढभिन्नानि प्रतिपत्त्या स्वयैव च ॥ २३ ॥

मनकी कर्मरूपताप्राप्तिका उपसंहार करते हुए कर्म और मनकी परस्पर बीजरूपता और अभिन्नसत्ताको कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

इस प्रकार मनसे कर्मकी उत्पत्ति हुई है। मनका भी कर्म ही बीज कहा गया है। इन दोनोंकी सत्ता फूल और सुगन्धकी सत्ताके समान अभिन्न ही है ॥ १९ ॥

इस प्रकार वासना, कर्म और उसके फलरूप अनुभवोंकी भी समानरूप होनेसे एक ही सत्ता है, ऐसा कहते हैं—**'यादृशम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

दृढ़ अभ्यास होनेके कारण मन जैसे भावका ग्रहण करता है, वैसे ही स्पन्दनामकी, कर्मनामकी शाखाओंको पैदा करता है, वैसे ही क्रियारूप उसके फलको बड़े आदरसे उत्पन्न करता है। तदनन्तर उसीके स्वादका अनुभव कर शीघ्र बन्धनमें पड़ता है ॥ २०, २१ ॥

मन जिस जिस भावको प्राप्त होता है, उसी उसीको वस्तुरूपसे प्राप्त होता है। वही श्रेय है, उससे अतिरिक्त श्रेय नहीं है, ऐसे निश्चयको प्राप्त हो जाता है। भाव यह कि इसीलिए निःसार अपने-अपने अभिमत वस्तुमें प्राणियों और वादियोंका पक्षपात देखा जाता है ॥ २२ ॥

अपनी ही प्रतीतिसे अत्यन्त अनुविद्ध हुए मन धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिए सदा ही प्रयत्न करते हैं। भाव यह कि अपने निश्चयानुसार जिसका मन जिस प्रकारके निर्णयसे युक्त होता है, वह उसीके अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिए प्रयत्न करता है ॥ २३ ॥

मनो वै कापिलानां तु प्रतिपत्तिनिजामलम् ।
उररीकृत्य निर्णीय कल्पिताः शास्त्रदृष्टयः ॥ २४ ॥
मोक्षे तु नाऽन्यथा प्राप्तिरिति भावितचेतसः ।
स्वां दृष्टिं प्रतिबिम्बन्ति स्थिताः स्वनियमभ्रमैः ॥ २५ ॥
वेदान्तवादिनो बुद्ध्या ब्रह्मेदमिति रूढया ।
मुक्तिः शमदमोपेता निर्णीय परिकल्पिता ॥ २६ ॥
मुक्तौ तु नाऽन्यथा प्राप्तिरिति भावितचेतसः ।
स्वां दृष्टिं प्रविवृण्वन्ति स्वैरेव नियमभ्रमैः ॥ २७ ॥

उन वादियोंमें कपिलजीके अनुयायियोंका मन विवेकी होनेसे असङ्ग, चिन्मात्र त्वंपदार्थविषयक अपनी प्रतिपत्तिसे निर्मल ही है। तत्पदार्थके विषयमें वे श्रुतिका अवलम्बन नहीं करते, इसलिए मोहवश अपनी बुद्धिसे ही सुखदुःखमोहरूप जड़ जगत्का सुखदुःखमोहरूप जड़ त्रिगुणात्मक प्रधान ही उपादान हो सकता है, ऐसा स्वीकार कर पुनः पुनः उसीके आस्वादनसे वही एकमात्र तत्त्व है, ऐसा निर्णय कर उन्होंने ऐसी ही शास्त्रदृष्टियोंकी कल्पनाकी है ॥ २४ ॥

हमने जो उपाय कहा है, उसके बिना किसीको भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है, इस प्रकारके निश्चयसे युक्त चित्तवाले लोग अपने कल्पित नियम-रूपी भ्रमोंसे भ्रममें स्थित और अन्य उपायरूपी मतोंसे पराङ्मुख होकर ग्रन्थ-रचना आदि द्वारा अपनी दृष्टिको औरोंकी बुद्धियोंमें संक्रान्त करते हैं ॥ २५ ॥

ऐसे ही वेदान्तवादी भी हैं, ऐसा कहते हैं—**'वेदान्तवादिनः'** इत्यादिसे।

श्रुतिरूप प्रमाणसे अध्यारोप और अपवाद द्वारा यह जगत् ब्रह्म ही है। ब्रह्मसे अतिरिक्त अणुमात्र भी कुछ नहीं है, यों बद्धमूल हुई बुद्धिसे निर्णय करके सर्वानर्थनिवृत्ति और वास्तविक निरतिशयानन्द अपरिच्छिन्न ब्रह्मात्मभावके आविर्भाव-रूपसे अपने स्थानमें ही प्राप्त हुई, न कि अर्चिरादि मार्गसे दूरगमन द्वारा प्राप्त हुई मुक्ति है, यों वेदान्तियोंने मुक्तिका सर्वोत्कृष्टतासे समर्थन किया है ॥ २६ ॥

हमारे उपायके बिना किसीको भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, इस प्रकारके निश्चयसे युक्त चित्तवाले वे अपने द्वारा कल्पित नियमभ्रमोंसे अपनी कल्पनाका व्याख्यान करते हैं। नियमभ्रम इससे यह सूचित किया कि वेदा-न्तियोंका एकमात्र उपेय तत्त्व ही वास्तविक है, उपाय आदिकी प्रक्रियाएँ तो पाणिनिजीकी तरह कल्पित ही हैं ॥ २७ ॥

विज्ञानवादिनो बुद्धया स्फुरत्स्वभ्रमपूरया ।
मुक्तिः शमदमोपेता निर्णीय परिकल्पिता ॥ २८ ॥
मुक्तौ तु नाऽन्यथा प्राप्तिरिति भावितचेतसः ।
स्वां दृष्टिं प्रविवृण्वन्ति स्वैरेव नियमभ्रमैः ॥ २९ ॥
आर्हतादिभिरन्यैश्च स्वयाऽभिमतयेच्छया ।
चित्राश्चित्रसमाचारैः कल्पिताः शास्त्रदृष्टयः ॥ ३० ॥

विज्ञानवादियोंने अत्यन्त अपने भ्रमके प्रवाहसे पूर्ण बुद्धिसे सांवर्तिक उपद्रवके उपशम और इन्द्रियद्वारोंके संवरणसे युक्त मुक्ति है, यों निर्णय करके मुक्तिकी कल्पना कर रक्खी है ॥ २८ ॥

हमसे परिकल्पित उपायके बिना किसीको भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इस प्रकारके निश्चयसे युक्त वे अपने ही द्वारा कल्पित नियमभ्रमोंसे यानी तप्तशिलारोहण आदि साधन नियमभ्रमोंसे अपनी दृष्टिको प्रकाशित करते हैं ॥ २९ ॥

आर्हत आदि अन्यान्य लोगोंने भी अपनी अभिमत इच्छासे * जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध, मोक्ष आदि पदार्थोंकी कल्पना द्वारा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च इत्यादि सप्तभङ्गी न्यायकी कल्पनाओंसे और नङ्गे रहना, भिक्षा करना आदि विचित्र आचारोंसे विचित्र शास्त्रदृष्टियोंकी कल्पना कर रक्खी है ॥ ३० ॥

---

* जैनोंके मतमें जीवसे लेकर मोक्षपर्यन्त सात पदार्थ हैं। उनमें जीवचेतन शरीर-परिमाण है। पत्थर आदि अजीव हैं, इन्द्रियवर्ग आस्रव कहलाता है, कोई लोग विवेकको संवर कहते हैं और कोई यम, नियमादिको संवर कहते हैं। केशलुञ्चन आदि तपस्या निर्जर कहलाती है। बारबार जन्म-मरण बन्धन है। बन्धनके उच्छेदसे अलोकाकाशमें सदा ऊर्ध्वगमन मोक्ष है। इन सात पदार्थोंका साधक सप्तभङ्गी न्याय है। सद्वादी, असद्वादी, सदसद्वादी, अनिर्वचनीयवादी, इस प्रकार ४ प्रकारके वादी हैं। अनिर्वचनीय वादमें भी सत् आदिके भेदसे फिर तीन प्रकारके वादी होते हैं, यों कुल मिलाकर सात प्रकारके वादी हैं। सद्वादी यदि आर्हतसे पूछे, तुम्हारे मतमें मोक्ष आदि है ? तो वह कहता है—स्यादस्ति, 'स्यात्' तिङन्त प्रतिरूपक अल्पार्थक या कथंचिदर्थक अव्यय है। असद्वादी आदिके प्रति पूछनेपर क्रमशः 'स्यान्नास्ति' आदि उत्तर होते हैं। इससे पूछनेवाले चुप हो जायँगे, यह आर्हतोंका मनोरथ है।

निर्निमित्तोत्थसौम्याम्बुबुद्बुदौघैरिवोत्थितैः ।
स्वनिश्चितैरिति प्रौढा नानाकारा हि रीतयः ॥ ३१ ॥
सर्वासामेव चैतासां रीतीनामेवमाकरः ।
मनो नाम महाबाहो मणीनामिव सागरः ॥ ३२ ॥
न निम्बेक्षू कटुस्वादू शीतोष्णौ नेन्दुपावकौ ।
यद्यथा परमाभ्यस्तमुपलब्धं तथैव तत् ॥ ३३ ॥
यस्त्वकृत्रिम आनन्दस्तदर्थं प्रयतैर्नरैः ।
मनस्तन्मयतां नेयं येनाऽसौ समवाप्यते ॥ ३४ ॥
दृश्यं संपरिडिम्भं स्वं तुच्छं परिहरन्मनः ।
तज्ज्ञाभ्यां सुखदुःखाभ्यां नाऽवश्यं परिकृष्यते ॥ ३५ ॥

बिना किसी निमित्तके उठे हुए निर्मल जलके बुद्बुदोंके समूहोंकी तरह उदित हुए अपने निश्चयोंसे ही ये नाना प्रकारकी रीतियाँ प्रौढ़िको प्राप्त हुई हैं। भाव यह कि सब विचित्र विचित्र कल्पनाओंकी जड़ प्रमाण या प्रमेय नहीं हैं; किन्तु चिरकालके अभ्याससे दृढ़ हुई मनकी कल्पना ही इनकी जड़ है ॥ ३१ ॥

हे महाबाहो, इन सभी रीतियोंका एकमात्र मन ही आकर है, जैसे कि मणियोंका सागर आकर है ॥ ३२ ॥

नीम और ईख ये दोनों कडुवे या मीठे नहीं हैं। चन्द्रमा और अग्नि शीत और गर्म नहीं हैं। जिसका जैसा अभ्यास हुआ, वह वैसा ही अनुभूत होता है। अतएव चन्द्रमण्डल और सूर्य, अग्नि आदिके मण्डलोंमें निवास करनेवाले देवताओंको शीत और उष्ण आदिकी पीड़ा नहीं होती ॥ ३३ ॥

यदि इस प्रकारके तुच्छ फलमें भी दृढ़ अभ्यासकी अपेक्षा है, तो अनादि सांसारिक विपरीत भावनासे तिरस्कृत, अकृत्रिम आनन्दस्वरूप मोक्षके फलमें दृढ़ अभ्यासकी अपेक्षा है, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशयसे कहते हैं— **'यस्त्व०'** इत्यादिसे।

जो अकृत्रिम आनन्द है, उसके लिए प्रयत्नशील हुए मनुष्योंको अपना मन अकृत्रिमानन्दमयताको प्राप्त कर देना चाहिये, जिससे कि वह प्राप्त हो जाय ॥ ३४ ॥

मुक्तिके लिए किस वस्तुका दृढ़ अभ्यास करना चाहिये, ऐसी कोई यदि

अपवित्रमसद्रूपं मोहनं भयकारणम् ।
दृश्यमाभासमाभोगि बन्धमाभावयाऽनघ ॥ ३६ ॥
मायैषा सा ह्यविद्यैषा भावनैषा भयावहा ।
संविदस्तन्मयत्वं' यत्तत्कर्मेति विदुर्बुधाः ॥ ३७ ॥
दृष्ट्वा दृश्यैकतानत्वं विद्धि त्वं मोहनं मनः ।
प्रमार्जयैव तन्मिथ्या महामलिनकर्दमम् ॥ ३८ ॥
दृश्यतन्मयता यैषा स्वभावस्थाऽनुभूयते ।
संसारमदिरा सेयमविद्येत्युच्यते बुधैः ॥ ३९ ॥
अनयोपहतो लोकः कल्याणं नाऽधिगच्छति ।
भास्वरं तापनालोकं पटलान्धेक्षणो यथा ॥ ४० ॥

शङ्का करे, तो उसपर दृश्यमार्जनका ही अभ्यास करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'दृश्यम्'** इत्यादिसे ।

भली भाँति आलिङ्गन करके बालककी तरह स्नेहसे दृश्यको उत्पन्न करनेवाला अपना मन उस दृश्यका त्याग करता हुआ दृश्यसे उत्पन्न होनेवाले सुख और दुःखोंसे किसी प्रकार आकृष्ट नहीं होता ॥ ३५ ॥

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, अपवित्र, असद्रूप, मोहमें डालनेवाले, भयके कारण, प्रतीतिमात्रसिद्ध विशाल आकारके दृश्यको आप अपना बन्धन समझिये ॥ ३६ ॥

यह दृश्य माया है, अविद्या है, भय देनेवाली भावना है । मनकी जो दृश्यमयता है, विद्वान् लोग उसीको बन्धनमें डालनेवाला कर्म कहते हैं ॥ ३७ ॥

मनको एकमात्र दृश्यमें तत्पर देखकर आप दृश्यको मोहमें डालनेवाला जानिये, उस अत्यन्त मलिन कर्दमरूप असत्य दृश्यका परिमार्जन कीजिये ॥ ३८ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि दृश्यने क्या बिगाड़ा है ? जिसके परिमार्जनके लिए आप कहते हैं, तो इसपर कहते हैं—**'दृश्यतन्मयता'** इत्यादिसे ।

स्वभावमें स्थित जो यह दृश्यतन्मयता अनुभूत होती है, वही संसारको मत्त करनेवाली अविद्या कही जाती है ॥ ३९ ॥

जैसे पटल नामक रोगसे अन्धा बना हुआ पुरुष सूर्यके देदीप्यमान आलोकको नहीं देखता, वैसे ही इस अविद्यासे उपहत लोग अपना कल्याण नहीं जानते ॥ ४० ॥

स्वयमुत्पद्यते सा च सङ्कल्पाद् व्योमवृक्षवत् ।
असङ्कल्पनमात्रेण भावनाया महामते ॥ ४१ ॥
क्षीणायां स्वरसादेव विमर्शेन विलासिना ।
असंसङ्गः पदार्थेषु सर्वेषु स्थिरतां गतः ॥ ४२ ॥
सत्यदृष्टौ प्रपन्नायामसत्ये क्षयमागते ।
निर्विकल्पचिदच्छात्मा स आत्मा समवाप्यते ॥ ४३ ॥
न सत्ता यस्य नाऽसत्ता न सुखं नाऽपि दुःखिता ।
केवलं केवलीभावो यस्याऽन्तरुपलभ्यते ॥ ४४ ॥
अभव्यया भावनया न चित्तेन्द्रियदृष्टिभिः ।
आत्मनोऽनन्यभूताभिरपि यः परिवर्जितः ।
वासनाभिरनन्ताभिर्व्योमेव घनराजिभिः ॥ ४५ ॥
संदिग्धायां यथा रज्ज्वां सर्पतत्त्वं तथैव हि ।
चिदाकाशात्मना बन्धस्त्वबन्धेनैव कल्पितः ॥ ४६ ॥
कल्पितं कल्पितं वस्तु प्रतिकल्पनयाऽन्यथा ।

आकाशमें वृक्षकी तरह संकल्पसे वह अविद्या स्वयं उत्पन्न होती है। हे महामते, भावनाके असंकल्पमात्रसे उसके समाधिके अभ्याससे दृढ़ श्रवण, मननरूप विचारसे अपने-आप क्षीण होनेपर सब पदार्थोंमें अनासक्ति स्थिर हो जाती है ॥४१,४२॥

सत्यदृष्टिके प्राप्त होनेपर असत्य जगत्के क्षीण होनेपर निर्मलस्वरूप निर्विकल्पक चिद्रूप परमार्थसत्य वह आत्मा प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥

जिसकी न व्यक्तता है, न अव्यक्तता है, न सुख है और न दुःखिता है, अपने हृदयमें जिसका केवल अद्वैतभाव अपने अनुभवसे ही प्राप्त होता है ॥४४॥

न तो अकल्याणकारिणी भावनासे और न चित्त, इन्द्रियदृष्टियोंसे जिसकी उपलब्धि होती है, जैसे आकाश अनन्त मेघपङ्क्तियोंसे रहित है, वैसे ही जो अपनेसे अपृथक् अनन्त वासनाओंसे रहित है ॥ ४५ ॥

जैसे यह रस्सी है या नहीं, इस प्रकार रस्सीमें सन्देह होनेपर सर्पत्वभ्रम होता है वैसे ही बन्धनरहित चिदाकाशरूप आत्माने अपनेमें बन्धनकी कल्पना कर रक्खी है ॥ ४६ ॥

जैसे एक ही आकाश रात और दिनमें अन्यस्वरूपताको प्राप्त होता है

तदेवाऽन्यत्वमादत्ते खमहोरात्रयोरिव ॥ ४७ ॥
यदतुच्छमनायासमनुपाधि गतभ्रमम् ।
तत्तत्कल्पनयाऽतीतं तत्सुखायैव कल्पते ॥ ४८ ॥
शून्य एव कुसूले तु सिंहोऽस्तीति भयं यथा ।
शून्य एव शरीरेऽन्तर्बद्धोऽस्मीति भयं तथा ॥ ४९ ॥
शून्य एव कुसूले तु प्रेक्ष्य सिंहो न लभ्यते ।
तथा संसारबन्धार्थः प्रेक्षितोऽसौ न लभ्यते ॥ ५० ॥
इदं जगदयं चाऽहमिति संभ्रान्तमुत्थितम् ।
बालानां मध्यमे काले छाया वैतालिकी यथा ॥ ५१ ॥
कल्पनावशतो जन्तोर्भावाभावशुभाशुभाः ।
क्षणादसत्तामायान्ति सत्तामपि पुनः क्षणात् ॥ ५२ ॥
मातैव गृहिणीभावगृहीता कण्ठलम्बिनी ।

वैसे ही कल्पित वस्तुमें सम्बन्ध होनेसे प्रत्येक वस्तुमें ब्रह्म ही नाना प्रकारकी विचित्रताको प्राप्त हुआ-सा दुःखमय संसाररूपसे ज्ञात होता है ॥ ४७ ॥

जो तुच्छ नहीं है, क्लेशशून्य है, उपाधिरहित है, भ्रमसे शून्य है और तत्-तत् कल्पनाओंसे रहित है, वह एकमात्र सुखके लिए ही है ॥ ४८ ॥

जैसे कोठिलेके सिंह आदिसे रहित रहनेपर भी इसमें सिंह है, ऐसा भय होता है, वैसे ही शून्य शरीरमें भी मैं भीतर बद्ध हूँ, ऐसा भय होता है। जैसे खाली कोठिलेमें देखकर सिंह नहीं मिलता, वैसे ही यह संसाररूपी बन्धन जब विचार-पूर्वक देखा जाता है, तो प्राप्त नहीं होता। 'यह जगत् है' 'यह देहसंघात मैं हूँ' इस प्रकारका गाढ़ भ्रम ऐसे ही उत्पन्न हुआ है, जैसे बच्चोंको मन्द-मन्द अन्धकारके समय वेतालके आकारकी छाया दिखाई देती है ॥ ४९,५१ ॥

जीवकी कल्पनाके कारण धन-वैभव और दारिद्र्यरूप शुभ और अशुभ भाव एक क्षणमें तिरोभावको प्राप्त हो जाते हैं और फिर क्षणभरमें आविर्भूत हो जाते हैं ॥ ५२ ॥

माता ही यदि गृहिणीके भावसे गृहीत होकर कण्ठावलम्बिनी हो, तो सुरतानन्द

करोति गृहिणीकार्यं सुरतानन्ददा सती ॥ ५३ ॥
कान्तैव मातृभावेन गृहीता कण्ठलम्बिनी ।
नूनं विस्मारयत्येव मन्मथं मातृभावनात् ॥ ५४ ॥
भावानुसारिफलदं पदार्थौघमवेक्ष्य च ।
न ज्ञेनेह पदार्थेषु रूपमेकमुदीर्यते ॥ ५५ ॥
दृढभावनया चेतो यद्यथा भावयत्यलम् ।
तत्तत्फलं तदाकारं तावत्कालं प्रपश्यति ॥ ५६ ॥
न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ।
यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तेन लक्ष्यते ॥ ५७ ॥
भाविताकाशमातङ्गं व्योमहस्तितया मनः ।
व्योमकाननमातङ्गीं व्योमस्थामनुधावति ॥ ५८ ॥
तस्मात् सङ्कल्पमेव त्वं सर्वभावमयात्मकम् ।
त्यज राम सुषुप्तस्थः स्वात्मनैव भवाऽत्मनः ॥ ५९ ॥
मणिर्हि प्रतिबिम्बानां प्रतिषेधक्रियां प्रति ।

देनेवाली गृहिणीका कार्य करती है । स्त्री ही मातृभावसे गृहीत होकर यदि कण्ठावलम्बिनी हो, तो मातृभावनावश कामदेवको निश्चित भुला देती है ॥ ५३,५४ ॥

समस्तपदार्थजातोंको भावानुरूपी फल देनेवाला जानकर इस संसारमें ज्ञानी पुरुष पदार्थोंमें एक रूप कभी नहीं कहता ॥ ५५ ॥

दृढ़भावनासे चित्त जिस पदार्थकी जैसी खूब भावना करता है, उस समय तदाकार तत्-तत् फलको देखता है ॥ ५६ ॥

वह वस्तु नहीं है, जो सत्य न हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मिथ्या न हो। जिसका जिसने जिस प्रकार निर्णय किया, वह उसको उस प्रकार दिखाई देता है। जिस मनने अपनेमें आकाशगजकी भावना की है, वह आकाशगजके रूपसे आकाशमें स्थित आकाशवनकी हथिनीके पीछे कामातुर होकर चलता है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सुषुप्तिमें स्थित होकर सब पदार्थमय संकल्पका त्याग कीजिये, अपने पारमार्थिक अद्वितीयानन्द आत्मरूपसे स्थित होइये । अपारमार्थिक दुःखरूपसे स्थित न होइये ॥ ५७–५९ ॥

यदि कहिये, मैंने संकल्पोंके साथ यद्यपि द्वैतभावका त्याग कर दिया है

न शक्तो जडभावेन न तु राम भवादृशः ॥ ६० ॥
यदात्मनि जगद्राम तवेह प्रतिबिम्बति ।
तदवस्त्विति निर्णीय मा तेनाऽऽगच्छ रञ्जनम् ॥ ६१ ॥
तदेव सत्यमिति वाऽप्यभिन्नं परमात्मनः ।
मत्वाऽन्तस्त्वमनाद्यन्तं भावयाऽऽत्मानमात्मना ॥ ६२ ॥
चेतसि प्रतिबिम्बन्ति ये भावास्तव राघव ।
रञ्जयन्त्वन्यसक्तत्वान्मा ते त्वां स्फटिकं यथा ॥ ६३ ॥
स्फटिकममननं यथा विशन्ति प्रकटतया न च रञ्जना विचित्राः ।
इह हि विमननं तथा विशन्तु प्रकटतया भुवनैषणा भवन्तम् ॥६४॥
इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे
विज्ञानवादो नामैकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

तथापि जैसे शुद्ध मणिमें प्रतिबिम्बोंका निवारण नहीं किया जा सकता, वैसे ही इच्छा न होनेपर भी उन द्वैतभावोंका मुझमें वारण नहीं किया जा सकता, तो इसपर कहते हैं—**'मणि०'** इत्यादिसे ।

मणि जड़ है, अतएव वह प्रतिबिम्बोंका निषेध नहीं कर सकती। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप तो चेतन हैं, इसलिए आपकी जड़ मणिके साथ समानता नहीं हो सकती ॥६०॥

चित्तका निरोध करनेपर भी यदि दैवात् द्वैतका प्रतिबिम्ब हो भी जाय, तो उसे मिथ्या समझकर तद्रूपतानुरञ्जनका त्याग करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'यदा०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपके स्वच्छ आत्मामें जो जगत्का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसको अवस्तु समझकर आप उसके अनुरञ्जनको प्राप्त न होइये ॥ ६१ ॥

अथवा उसका चिदात्माके साथ एकताके अनुसन्धान द्वारा प्रविलापन करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'तदेव'** इत्यादिसे ।

हे श्रीराघवजी, वह सत्य ब्रह्म ही है अथवा परमात्मासे अभिन्न ही है, ऐसा अपने हृदयमें निश्चय कर आप जन्म-विनाशरहित आत्माकी अपनेसे भावना कीजिये ॥६२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपके चित्तमें जिन भावोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वे स्फटिककी भांति आपको रञ्जित न करें क्योंकि आप आत्मतत्त्वमें संलग्न हैं ॥६३॥

अथवा द्वैतकी प्रतीति हो, तथापि निर्विकार आत्माका बोध होनेके कारण

द्वाविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः ।
मननं त्यजतो ज्ञात्वा किंचित्परिणतात्मनः ॥ १ ॥
दृश्यं संत्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः ।
द्रष्टारं पश्यतो दृश्यमद्रष्टारमपश्यतः ॥ २ ॥

स्फटिकके समान स्वच्छ आपका स्फटिककी तरह उनसे अनुरञ्जन न हो, ऐसा कहते हैं—**'स्फटिकम्'** इत्यादिसे ।

जैसे प्रतिबिम्बित पदार्थोंकी पुनः पुनः प्राप्ति होनेपर भी उनके राग आदिके संसर्गसे रहित स्फटिकमें भाँति-भाँतिके रंग प्रकटरूपसे प्रविष्ट नहीं होते हैं, वैसे ही प्रतिबिम्बित पदार्थोंका पुनः पुनः अनुसंधान होनेपर भी राग आदिकी वासनाके आधानसे रहित आपमें प्रारब्ध भोगके उचित जगद्व्यवहारकी इच्छाएँ प्रकटरूपसे प्रविष्ट न हों ॥ ६४ ॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त ।

बाईसवाँ सर्ग

[दृढ़ बोध हो जानेपर सब दोषोंके विनाश, मनकी प्रसन्नता और विशुद्ध आत्मतत्त्वके साक्षात्कारका वर्णन]

ज्ञानकी फलभूत जीवन्मुक्तावस्थाके अनुभवका प्रकार बतलानेके लिए श्रवण, मनन आदिके वृद्धिक्रमसे जैसे-जैसे ज्ञान दृढ़ होता है वैसे-वैसे अधिकाधिक दोषोंका क्षय होता है, यह पहले दर्शाते हैं—**'जन्तोः'** इत्यादिसे ।

जो नित्य और अनित्यवस्तुके विवेकसे सम्पन्न है, जिसका चित्त वृत्तियोंका त्याग कर रहा है, जो समाधिके अभ्यास द्वारा ज्ञान प्राप्तकर क्रमसे बाह्य तथा आन्तर मननका त्याग कर रहा है, जिसका मन कुछ विशुद्ध आत्माकाररूपसे परिणत हो गया है, जो दृश्य और अज्ञानकी भूमिकाओंका परित्याग कर रहा है, जो उपादेय यानी ज्ञानकी भूमिकाओंको प्राप्त हो चुका है, जो द्रष्टा यानी प्रमाताको भी साक्षी चित्से वेद्य यानी दृश्यभूत देख रहा है, जो भासक चित्से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं देख रहा है, जो 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' इस भगवद्वाक्यके

जागर्तव्ये परे तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः ।
सुप्तस्य घनसंमोहमये संसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥
पर्यन्तात्यन्तवैराग्यात् सरसेष्वरसेष्वपि ।
भोगेष्वाभोगरम्येषु विरक्तस्य निराशिषः ॥ ४ ॥
व्रजत्यात्माम्भसैकत्वं जीर्णजाड्ये नभस्यलम् ।
गलत्यपगतासङ्गे हिमापूर इवाऽऽतपे ॥ ५ ॥
तरङ्गितासु कल्लोलजललोलान्तरासु च ।
शाम्यन्तीष्वथ तृष्णासु नदीष्विव घनात्यये ॥ ६ ॥
संसारवासनाजाले खगजाल इवाऽऽखुना ।
त्रोटिते हृदयग्रन्थौ श्लथे वैराग्यरंहसा ॥ ७ ॥
कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति ।
तथा विज्ञानवशतः स्वभावः संप्रसीदति ॥ ८ ॥

अनुसार जागरणके उचित परम तत्त्वमें ही जाग रहा है तथा निबिड़ अज्ञानके विकार-भूत संसारमार्गमें सोया हुआ है, और जो सम्पूर्ण तुच्छ सुखोंसे लेकर हिरण्यगर्भ पद-पर्यन्त सुखोंमें अत्यन्त वैराग्य होनेके कारण क्रमिक मोक्षरूपी सुखसे युक्त तथा उससे हीन एवं भोगकालतक ही रमणीय ऐहिक भोगके साधन माला, चन्दन आदिमें विरक्त अतएव लोकसंग्रहके लिए क्रियमाण कर्मफल तथा प्रारब्धकर्मसे प्राप्त भोगोंमें निस्पृह है, ऐसे अधिकारी पुरुषका—अनादि जड़ अज्ञानरूपी आकाशके परमात्मरूपी जलके साथ ऐक्यको प्राप्त होनेपर, आसक्तिहीन अज्ञानाकाशके नमकके टुकड़ेके समान रसावशेष होनेपर नहीं, किन्तु धूपमें बर्फसमूहकी भाँति निरवशेष गल जानेपर तथा जैसे बर्षाकालके व्यतीत हो जानेपर बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे भरे हुए जलसे चञ्चल मध्यभागवाली तरङ्गयुक्त नदियां शान्त हो जाती हैं, वैसे ही बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे भरे हुए जलके तुल्य चञ्चल स्वरूपवाली विविध विषयरूपी तरङ्गोंसे युक्त तृष्णाओंके शान्त होनेपर तथा जैसे चूहेके द्वारा चिड़ियोंके जाल काटे जाते हैं, वैसे ही वैराग्यके आवेगसे संसारवासनारूपी जालके तोड़नेपर अतएव हृदयकी ग्रन्थिके ढीली पड़ जानेपर जैसे कतकके फलसे (निर्मलीसे) जल स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही विज्ञानकी दृढ़तासे—स्वभाव यानी मन प्रसन्नताको (स्वच्छताको) प्राप्त हो जाता है ॥ १–८ ॥

नीरागं निरुपासंगं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम् ।
विनिर्याति मनो मोहाद्विहगः पञ्जरादिव ॥ ९ ॥
शान्ते संदेहदौरात्म्ये गतकौतुकविभ्रमम् ।
परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते ॥ १० ॥
जनितोत्तमसौन्दर्या दूरादस्तमलोन्नता ।
समतोदेति सर्वत्र शान्ते वात इवाऽर्णवे ॥ ११ ॥
अन्धकारमयी मूका जाड्यजर्जरितान्तरा ।
तनुत्वमेति संसारवासनेवोदये क्षपा ॥ १२ ॥
दृष्टचिद्भास्करा प्रज्ञापद्मिनी पुण्यपल्लवा ।
विकसत्यमलोद्योता प्रातर्द्यौरिव रूपिणी ॥ १३ ॥
प्रज्ञा हृदयहारिण्यो भुवनाह्लादनक्षमाः ।
सत्त्वलब्धाः प्रवर्द्धन्ते सकलेन्दोरिवांऽशवः ॥ १४ ॥

जैसे पक्षी पिंजड़ेसे मुक्त होता है, वैसे ही कामनाओंसे रहित, विषयोंमें आसक्त करनेवाले विषयके गुणोंके चिन्तनसे शून्य, भार्या आदि प्रियजनोंके सम्पर्कसे विहीन और बार बार भोगके लाभकी भूमिसे रहित मन मोहसे निर्मुक्त हो जाता है। भाव यह कि मन पहले कामना आदिसे छुटकारा पाता है, तदनन्तर अज्ञानसे छुटकारा पाता है ॥ ९ ॥

अज्ञानसे विनिर्मुक्त मनकी कैसी स्थिति होती है, उसे कहते हैं—'**शान्ते**' इत्यादिसे।

संशयरूपी दुष्टताके शान्त होनेपर कौतुकभ्रमसे निर्मुक्त, परिपूर्ण अन्तर्भाग-वाला मन पूर्ण चन्द्रके तुल्य प्रकाशमान हो जाता है ॥ १० ॥

जैसे वायुके शान्त होनेपर समुद्रमें समता (निश्चलता) उदित होती है, वैसे ही मनके शान्त होनेपर सब जगह सर्वोत्तम सुख पैदा करनेवाली, अज्ञानरूपी मलसे विमुक्त, उन्नत समदृष्टिता उदित होती है ॥ ११ ॥

जड़तासे जर्जरित स्वरूपवाली, अन्धकारमयी, बोधजनक वाक्यके व्यवहारसे शून्य यह संसारकी वासना सूर्योदय होनेपर रात्रिके तुल्य क्षीणताको प्राप्त होती है ॥१२॥

चिद्रूपी आदित्यका दर्शन कर लेनेपर गुरुसेवा, श्रवण, समाधिका अभ्यास आदिरूप पुण्यपल्लववाली प्रज्ञापद्मिनी हृदयरूपी सरोवरमें ऐसे खिलती है जैसे कि प्रातःकालमें निर्मल प्रकाशसे युक्त अतएव सुन्दर आकाश खिलता है ॥ १३ ॥

सम्पूर्ण लोकोंको आनन्दित करनेमें समर्थ, सत्त्वगुणकी वृद्धिसे प्राप्त हुई

बहुनाऽत्र किमुक्तेन ज्ञातज्ञेयो महामतिः ।
नोदेति नैव यात्यस्तमभूताकाशकोशवत् ॥ १५ ॥
विचारणापरिज्ञातस्वभावस्योदितात्मनः ।
अनुकम्प्या भवन्तीह ब्रह्मविष्ण्विन्द्रशङ्कराः ॥ १६ ॥
प्रकटाकारमप्यन्तर्निरहङ्कारचेतसम् ।
नाऽऽप्नुवन्ति विकल्पास्तं मृगतृष्णामिवैणकाः ॥ १७ ॥
तरङ्गवदिमे लोकाः प्रयान्त्यायान्ति चेतसः ॥
क्रोडीकुर्वन्ति चाऽज्ञं ते न ज्ञं मरणजन्मनी ॥ १८ ॥
आविर्भावतिरोभावौ संसारो नेतरक्रमः ।
इति ताभ्यां समालोको रमते स निबध्यते ॥ १९ ॥

मनोहर प्रज्ञाएँ पूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंकी भाँति बढ़ती हैं ॥ १४ ॥

अधिक कहनेसे क्या लाभ ! जिसने ज्ञातव्य परमात्मतत्त्वको जान लिया है, ऐसा महामति पुरुष वायु आदि चारों भूतोंसे रहित आकाशके तुल्य न तो उल्लासको प्राप्त होता है और न अस्त होता है ॥ १५ ॥

उसके महाप्रभावका वर्णन करते हैं—**'विचारणा०'** इत्यादिसे ।

जिसने विचारसे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जिसे आत्माका प्रकाश हो गया है, ऐसे महापुरुषके इस संसारमें ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शङ्कर भी अनुकम्पनीय हैं, क्योंकि उनमें भी अवतार धारण आदि अधिकारके क्लेश देखे जाते हैं ॥ १६ ॥

प्रमादवश पहलेकी तरह पुनः प्राप्त विक्षेपप्रसक्तिका वारण करते हैं—**'प्रकटा०'** इत्यादिसे ।

आकारमात्रसे प्रकट होनेपर भी जिनका चित्त भीतर अहङ्कारसे शून्य है, उस पुरुषको विकल्प ऐसे नहीं पाते हैं, जैसे मृगतृष्णाको मृग नहीं पाते हैं ॥१७॥

चित्तकी वासनासे ये लोक तरङ्गोंकी भाँति उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, वे अज्ञ प्राणियोंको ही अपनाते हैं न कि तत्त्वज्ञको । मरण-जन्म यानी आविर्भाव-तिरोभावरूपी संसार तत्त्वज्ञपर अपना असर नहीं डालता, यह जानकर तत्त्वज्ञानी इन आविर्भाव और तिरोभावोंसे मायासे निर्मित व्याघ्रादि कौतुकके दर्शनके तुल्य रमण (क्रीड़ा) करते हैं और अज्ञानी उनसे बन्धनमें पड़ते हैं ॥१८,१९॥

न जायते न म्रियते कुम्भे कुम्भनभो यथा ।
भूषिते दूषिते वाऽपि देहे तद्वदिहाऽऽत्मवान् ॥ २० ॥
विवेक उदिते शीते मिथ्याभ्रममरूदिता ।
क्षीयते वासना साग्रे मृगतृष्णा मराविव ॥ २१ ॥
कोऽहं कथमिदञ्चेति यावन्न प्रविचारितम् ।
संसाराडम्बरं तावदन्धकारोपमं स्थितम् ॥ २२ ॥
मिथ्याभ्रमभरोद्भूतं शरीरं पदमापदाम् ।
आत्मभावनया नेदं यः पश्यति स पश्यति ॥ २३ ॥
देशकालवशोत्थानि न ममेति गतभ्रमम् ।
शरीरे सुखदुःखानि यः पश्यति स पश्यति ॥ २४ ॥
अपारपर्यन्तनभोदिक्कालादिक्रियान्वितम् ।
अहमेवेति सर्वत्र यः पश्यति स पश्यति ॥ २५ ॥

जैसे घटमें घटाकाश न उत्पन्न होता है और न मरता है, वैसे ही इस संसारमें शरीरके भूषित या दूषित होनेपर भी आत्मज्ञानी भूषित या दूषित नहीं होता यानी घटाकाशके तुल्य अविकृत ही रहता है ॥ २० ॥

भ्रमरूपी मरुस्थलमें उत्पन्न हुई मिथ्या संसारवासना शीतल विवेकका उदय होनेपर चन्द्रमाके सहित प्रदोषकालके आनेपर मरुस्थलमें उत्पन्न हुई मृगतृष्णाकी भाँति नष्ट हो जाती है ॥ २१ ॥

'मैं कौन हूँ' 'ये शरीरादि कैसे प्राप्त हैं' यह जबतक विचार नहीं किया गया, तभीतक यह अन्धकारके तुल्य संसाराडम्बर स्थित है ॥ २२ ॥

तो कैसी स्थितिसे संसाररूपी अन्धकारसे शून्य, पूर्ण आत्माको पुरुष देखता है ? इसपर उस स्थितिको कहते हैं—**'मिथ्या०'** इत्यादिसे ।

मिथ्याभ्रमसमूहसे उत्पन्न, आपत्तियोंके आश्रयभूत इस शरीरको जो आत्म-भावनासे 'नेदं शरीरम्' (यह शरीर नहीं है) इस तरह बाधित देखता है, वह पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ २३ ॥

देशवश उत्पन्न जो आधिभौतिक, कालवश उत्पन्न जो आधिदैविक तथा शरीरमें उत्पन्न जो आध्यात्मिक सुख-दुःख हैं, वे मेरे नहीं हैं, इस तरह जो भ्रमरहित दृष्टिसे देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ २४ ॥

असीम जो आकाश, दिशा, काल आदि हैं और उनमें वर्तमान परिच्छिन्न

वालाग्रलक्षभागात्तु कोटिशः परिकल्पितात् ।
अहं सूक्ष्म इति व्यापी यः पश्यति स पश्यति ॥ २६ ॥
आत्मानमितरच्चैव दृष्ट्या नित्याविभिन्नया ।
सर्वं चिज्ज्योतिरेवेति यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥
सर्वशक्तिरनन्तात्मा सर्वभावान्तरस्थितः ।
अद्वितीयश्चिदित्यन्तर्यः पश्यति स पश्यति ॥ २८ ॥
आधिव्याधिभयोद्विग्नो जरामरणजन्मवान् ।
देहोऽहमिति यः प्राज्ञो न पश्यति स पश्यति ॥ २९ ॥
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च व्यापको महिमा मम ।
द्वितीयो न ममाऽस्तीति यः पश्यति स पश्यति ॥ ३० ॥
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
चित्तं तु नाऽहमेवेति यः पश्यति स पश्यति ॥ ३१ ॥

उत्पत्ति, गति आदि क्रियाओंसे युक्त वस्तु हैं, उन सबमें 'मैं ही हूँ' ऐसा जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ २५ ॥

करोड़ों अंशोंमें विभक्त जो बालके अग्रभागका लाखवाँ भाग है, मैं उससे भी सूक्ष्म और व्यापक हूँ, ऐसा जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ २६ ॥

आत्मरूपसे प्रसिद्ध जीव तथा उससे दृश्य सकल पदार्थ चित्प्रकाशमात्र हैं, इस तरह नित्य ऐक्यदृष्टिसे जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ २७ ॥

यह अद्वितीय चित् सर्वशक्ति, अनन्तात्मरूप तथा सम्पूर्ण पदार्थोंमें अन्तः-स्थित है, इस तरह जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ २८ ॥

मनोव्यथा, दैहिक व्यथा और भयसे उद्विग्न होनेवाला जरा, मरण और जन्मसे युक्त 'देह मैं हूँ' जो बुद्धिमान् इस तरह नहीं देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ २९ ॥

मेरी महिमा तिरछे, ऊपर, नीचे सर्वत्र व्याप्त है, मुझसे अन्य कोई नहीं है, इस तरह जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ ३० ॥

सूतमें मणियोंकी भाँति सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही गुँथा है और चित्त भी मैं

नाऽहं न चाऽन्यदस्तीति ब्रह्मैवाऽस्ति निरामयम् ।
इत्थं सदसतोर्मध्ये यः पश्यति स पश्यति ॥ ३२ ॥
यन्नाम किंचित्त्रैलोक्यं स एवाऽवयवो मम ।
तरङ्गोऽब्धाविवेत्यन्तर्यः पश्यति स पश्यति ॥ ३३ ॥
शोच्या पाल्या मयैवेयं स्वसेयं मे कनीयसी ।
त्रिलोकी पेलवेत्युच्चैर्यः पश्यति स पश्यति ॥ ३४ ॥
आत्मतापरते त्वत्तामत्ते यस्य महात्मनः ।
भवादुपरते नूनं स पश्यति सुलोचनः ॥ ३५ ॥
चेत्यानुपातरहितं चिद्भैरवमयं वपुः ।
आपूरितजगज्जालं यः पश्यति स पश्यति ॥ ३६ ॥

नहीं हूँ, इस तरह जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ ३१ ॥

'मैं ही हूँ' इस तरह जो देखता है, ऐसा कहनेपर चित्‌के परित्यागसे अहंकार-मात्र परिगृहीत न हो, इसलिए अहङ्कारके साथ जगत्‌के निषेधसे चिदेकरस ब्रह्मका ही परिशेष कर दर्शन करना चाहिये, यह कहते हैं—**'नाऽहम्'** इत्यादिसे ।

न मैं हूँ और न अन्य ही है, किन्तु एकमात्र निरामय ब्रह्म ही है, इस तरह व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थोंके मध्यमें जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ ३२ ॥

जो भी कुछ यह त्रैलोक्य है, वह समुद्रमें तरङ्गकी भाँति मेरा ही अवयव है, इस तरह जो अपने अन्दर देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥३३॥

स्वतः सत्ताशून्य होनेसे शोचनीय यह त्रिलोकी मुझसे ही अपनी सत्ताके प्रदान द्वारा पालनीय है, यह मेरी छोटी बहन है, दृष्टिमात्रसे पीड़ित होनेके कारण अत्यन्त सुकुमार है, इस तरह जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ ३४ ॥

आत्मता-परता, त्वत्ता-मत्ता—ये जिस महात्माके देहादिसे निश्चितरूपसे विवेक तथा बोध द्वारा निवृत्त हो गये, वही सुलोचन महापुरुष पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ ३५ ॥

दृश्यके संबन्धसे रहित अतएव निर्विघ्न स्वभावकी स्फूर्तिसे जगज्जालको, तमको प्रभाकी तरह, व्याप्त करनेवाले विशाल चिन्मय आत्मशरीरको जो देखता है, वही पूर्वोक्त पूर्ण आत्माको देखता है ॥ ३६ ॥

सुखं दुःखं भवो भावो विवेककलनाश्च याः ।
अहमेवेति वा नूनं पश्यन्नपि न हीयते ॥ ३७ ॥
स्वात्मसत्तापरापूर्णो जगत्यंशेन वर्तिना ।
किं मे हेयं किमादेयमिति पश्यन् सुदृङ् नरः ॥ ३८ ॥
अप्रतर्क्यमनाभासं सन्मात्रमिदमित्यलम् ।
हेयोपादेयकलना यस्य क्षीणा स वै पुमान् ॥ ३९ ॥
य आकाशवदेकात्मा सर्वभावगतोऽपि सन् ।
न भावरञ्जनामेति स महात्मा महेश्वरः ॥ ४० ॥
तमःप्रकाशकलनामुक्तः कालात्मतां गतः ।
यः सौम्यः सुसमः स्वस्थस्तं नौमि पदमागतम् ॥ ४१ ॥

सुख, दुःख, देह, उस देहमें विद्यमान गुरु, देवता तथा शास्त्रमें श्रद्धा, उसमें नित्य-अनित्य आदिका विवेक, उससे उत्पन्न श्रवण आदिके क्रमसे आत्मज्ञानमें तारतम्यके भेद, ये जो हैं, वे मैं ही हूँ, इस तरह जो निश्चयके साथ देखता है, वह भी आत्मतत्त्वसे च्युत नहीं होता है ॥ ३७ ॥

निरतिशय आनन्दघन आत्मसत्तासे आपूर्ण यानी आनन्दलवमात्रके अर्पणसे तृप्त, ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त जगत्में अंशमात्रसे वर्तमान ऐहिक, पारलौकिक भोग्य वस्तुसे मुझे क्या दुःख है कि जिससे वह हेय हो अथवा अन्य क्या सुख है कि जिससे वह उपादेय हो, इस तरह देखता हुआ पुरुष सुदृक् यानी अभ्रान्तदृष्टि है ॥ ३८ ॥

यह जगत् पूर्णरूपसे तर्कसे अगम्य, वृत्तिके परिणामसे रहित यानी निर्विशेष सन्मात्र ही है, यह जानकर जिस पुरुषकी हेय और उपादेय भावना नष्ट हो गई है, वही पुरुष है ॥ ३९ ॥

जो आकाशकी भाँति एकात्मा है और सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त होता हुआ भी उन भावोंमें अनुरक्त नहीं होता है, वह महात्मा पुरुष निरतिशय स्वानन्दके उपभोगमें समर्थ साक्षात् शिव है ॥ ४० ॥

सुषुप्ति, जाग्रत्, स्वप्न इन अवस्थाओंसे मुक्त, मृत्युका भी परम आत्मीय यानी मृत्युसे भी उद्विग्न न होनेवाला जो सौम्य, समदृष्टि तथा तुरीयावस्थामें स्थित है, उस परमात्मपदको प्राप्त पुरुषको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४१ ॥

यस्योदयास्तमयसङ्कलनाकलासु
चित्रासु चारुविभवासु जगद्गतासु ।
वृत्तिः सदैव सकलैकमतेरनन्ता
तस्मै नमः परमबोधवते शिवाय ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे-ऽनुत्तमपदविश्रान्तिवर्णनं नाम द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

य उत्तमपदालम्बी चक्रभ्रमवदास्थितः ।
शरीरनगरीराज्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ १ ॥

सम्पूर्ण जगत्में एक ब्रह्म ही है, इस बुद्धिसे युक्त जिस पुरुषकी ब्रह्माकार-दृष्टि संसारमें स्थित विचित्र और सुन्दर विभवोंसे युक्त सृष्टि, प्रलय और स्थितिमें सदा ही अपरिच्छिन्न है, उस परम बोधसे युक्त जीवन्मुक्तशरीरवाले साक्षात् शिवको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त ।

तेईसवाँ सर्ग

[ज्ञानीका शरीररूपी नगरमें राज्यवर्णन, आसक्तिरहित सद् भोगोंसे विनोद और मनोजयरूपी सुखके उदयका वर्णन]

जीवन्मुक्तके शरीररूपी नगरीराज्यका वर्णन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी श्रीराम-चन्द्रजीके तदुपयोगी प्रश्नका उत्थान कराते हैं—'**य उत्तम०**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे घटोत्पत्तिरूप कार्यके हो जानेपर भी कुलालका चक्र जबतक वेग रहता है तबतक घूमता रहता है वैसे ही जबतक प्रारब्धका क्षय न हो जाय तबतक देहधारण-व्यवहारमें स्थित जीवन्मुक्तिरूपी उत्तम पदमें वर्तमान जो जीवन्मुक्त पुरुष शरीररूपी नगरीमें राज्य करता हुआ भी उसके

तस्येयं भोगमोक्षार्थं तज्ज्ञस्योपवनोपमा ।
सुखायैव न दुःखाय स्वशरीरमहापुरी ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

नगरीत्वं शरीरस्य कथं नाम महामुने ।
एतां चाऽधिवसन् योगी कथं राजसुखैकभाक् ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

रम्येयं देहनगरी राम सर्वगुणान्विता ।
ज्ञस्याऽनन्तविलासाढ्या स्वालोकार्कप्रकाशिता ॥ ४ ॥
नेत्रवातायनोद्योतप्रकाशभुवनान्तरा ।
करप्रतोलीविस्तारप्राप्तपादोपजाङ्गला ॥ ५ ॥
रोमराजीलतागुल्मा त्वचाजालकमालिता ।
गुल्फाङ्गुल्यां प्रविश्रान्तजङ्घोरुस्तम्भमण्डला ॥ ६ ॥
रेखाविभक्तपादाग्रशिलाप्रथमनिर्मिता ।
चर्ममर्मशिरासारसन्धिसीमामनोरमा ॥ ७ ॥

फलसे लिप्त नहीं होता । क्रीडाविनोदहेतु होनेके कारण उपवनके सदृश यह शरीर-रूपी महापुरी उस ज्ञानीके भोग और मोक्षके लिए है । एकमात्र सुख ही इससे होता है, राजधानीमें रहनेवाले राजाके तुल्य दुःख नहीं होता ॥ १, २ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, यह शरीर नगरी कैसे है ? और इसमें रहनेवाला योगी एकमात्र सुखका ही भागी कैसे होता है ? ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानीकी देहनगरी बड़ी मनोहर है । सब गुणोंसे युक्त है, अनन्त विलासोंसे भरपूर है, आत्मज्योतिरूपी सूर्यसे यह प्रकाशित है ॥ ४ ॥

इसमें नेत्ररूपी झरोखोंमें स्थित इन्द्रियरूपी दो दीपोंसे अन्यान्य भुवन प्रकाशमान हैं, भुजारूपी सड़कोंके विस्तारसे पादरूपी उपवन प्राप्त हैं, रोमराजि ही लताओंकी झाड़ियाँ हैं, त्वचामें स्थित विविध नसोंसे यह व्याप्त है, इसमें एड़ी और पैरकी अङ्गुलियोंमें जङ्घा और उरुरूपी खम्भे खड़े हैं, सामुद्रिक शास्त्रमें कही गई रेखाओंसे विभक्त पादतलरूपी शिलाकी नींवसे यह निर्मित है । इसके बाहर त्वचारूपी सीमा, भीतर मर्मस्थानरूपी सीमा, बीच-बीचमें

उरूरुतनुभागाग्रनिर्मितोपस्थनिम्नगा ।
कचत्केशावलीकाचदलप्रस्थवनावृता ॥ ८ ॥
भ्रूललाटोष्ठसच्छायवदनोद्यानशोभिता ।
दृष्टिपातोत्पलाकीर्णकपोलविपुलस्थली ॥ ९ ॥
वक्षःस्थलसरःस्यूतकुचपङ्कजकोरका ।
घनरोमावलीछन्नस्कन्धक्रीडाशिलोच्चया ॥ १० ॥
उदरश्वभ्रनिक्षिप्तस्वान्नेष्टा भक्ष्यतत्परा ।
दीर्घकण्ठबिलोद्गीर्णवातसंरम्भशब्दिता ॥ ११ ॥
हृदयापणनिर्णीतयथाप्राप्तार्थभूषिता ।
अनारतनवद्वारप्रवहत्प्राणनागरा ॥ १२ ॥

नसोंकी शाखारूपी सीमा और हड्डियोंमें सन्धिरूपी सीमा हैं, इन सीमाओंसे यह मनोरम है ॥ ५–७ ॥

इसमें बड़ी-बड़ी जङ्घाओं और शरीरके मध्यभागकी सन्धिके अग्रभागमें उपस्थेन्द्रिय ही नगरमध्यकी नदी बनाई गई है। चमक रहे केशावलीरूपी काँचके तुल्य नीले पत्तोंसे युक्त क्रीडाशैलके सदृश सिर, मूँछ, दाढ़ी और काँखके रोमोंसे यह व्याप्त है ॥ ८ ॥

नीले पत्तोंके तुल्य भौंहोंसे, सफेद नूतन पत्तोंके तुल्य ललाटसे और फूलोंके तुल्य ओठोंसे अत्यन्त सुन्दर मुखरूपी उद्यानसे यह सुशोभित है। इसमें कटाक्षरूपी कमलोंसे व्याप्त कपोलस्थलरूपी विशाल दो विहारस्थलियां हैं ॥ ९ ॥

वक्षस्थलरूपी सरोवरमें सटे हुए स्तनरूपी कमलकी कलियोंसे यह युक्त है। इसमें स्कन्धरूपी क्रीडाशैल घन रोमावलीसे आच्छन्न हैं ॥ १० ॥

इसमें उदररूपी गर्तमें रक्खे हुए अपने प्रारब्धसे प्राप्त अन्न ही धन, अन्न, धान्य आदि और वसन, आभरण आदि प्रिय वस्तुएँ हैं। अनिषिद्ध उपभोगका विस्तार करनेवाले जिह्वा, श्रोत्र आदि इसमें सिररूपी प्रासादके झरोखोंमें बैठे हुए नागरिक हैं। विशाल और ऊपरको मुख किया हुआ जो गलेका छिद्र है, उसके द्वारा ऊपरको निकलता हुआ जो प्राणवायु है, उसके शब्दसे यह मुखरित है ॥ ११ ॥

हृदयमें स्थित विचाररूपी जौहरियों द्वारा परीक्षा करके खरीदे गये और

आस्यस्फारवदादृष्टदन्तास्थिशकलाकुला ।
मुखास्पदाभ्रमज्जिह्वाचण्डीचर्वितभोजना ॥ १३ ॥
रोमशष्पतरच्छन्ना कर्णकोटरकूपका ।
स्फिक्शृङ्खलास्थितोपान्तपृष्ठविस्तीर्णजङ्गला ॥ १४ ॥
गुदोत्थानारघट्टान्तप्रद्रुतानन्तकर्दमा ।
चित्तोद्यानमहीवल्गदात्मचिन्तावराङ्गना ॥ १५ ॥
धीवरत्राद्दढाबद्धचपलेन्द्रियमर्कटा ।
वदनोद्यानहसनपुष्पोद्गममनोरमा ॥ १६ ॥
स्वशरीरमनोज्ञस्य सर्वसौभाग्यसुन्दरी ।
सुखायैव न दुःखाय परमाय हिताय च ॥ १७ ॥
अज्ञस्येयमनन्तानां दुःखानां कोशमालिका ।
ज्ञस्य त्वियमनन्तानां सुखानां कोशमालिका ॥ १८ ॥

चक्षु आदि द्वारा प्राप्त जो शब्द आदि अर्थ हैं, वासनारूपी उन विक्रेय वस्तुओंसे यह भूषित है। इसमें प्राणरूपी नागरिक नौ दरवाजोंसे निरन्तर संचार कर रहे हैं॥१२॥

मुखमें हाथीके दाँतके एक भागकी तरह थोड़े देखे गये दाँतरूपी हड्डीके टुकड़ोंसे यह व्याप्त है। मुँहमें रहनेवाली चारों ओर घूम रही जिह्वारूपी कालीने इसमें भोज्य, चोष्य, लेह्य आदि चार प्रकारके खाद्योंका आस्वाद लिया है ॥१३॥

यह रोमरूपी लम्बे-लम्बे तृणोंसे आच्छादित है। कानका गर्त ही इसमें कुआँ है। कटिपृष्ठभागरूपी शृङ्खलापर पृष्ठरूपी विस्तीर्ण जंगल इसमें स्थित हैं॥१४॥

इसमें मूत्रस्थानरूपी घटीयन्त्रके प्रान्तप्रदेशमें गुदाद्वारसे निकलनेवाला मल-रूपी कीचड़ बह रहा है। इसमें चित्तरूपी उद्यानभूमिमें सदा खेल रही आत्म-विचाररूपी पुरस्वामिनी स्थित है ॥ १५ ॥

इसमें बुद्धिरूपी रस्सीसे चपल इन्द्रियरूपी बन्दर बँधे हैं। वदनरूपी उद्यानके हास्यरूपी पुष्पोंके विकाससे यह मनोहर है। सकल सौभाग्योंसे सुन्दर यह देह तत्त्वज्ञानीके परम सुख और उपदेश आदि द्वारा परोपकारके लिए है, दुःखके लिए नहीं है ॥ १७ ॥

अज्ञानीकी यह देह अनन्त दुःखोंकी खान है, परन्तु ज्ञानीकी अनन्त सुखोंकी खान है ॥ १८ ॥

किञ्चिदस्यां प्रनष्टायां ज्ञस्य नष्टमरिन्दम ।
स्थितायां संस्थितं सर्वं तेनेयं ज्ञसुखावहा ॥ १९ ॥
यदेनां ज्ञः समारुह्य संसारे विहरत्यलम् ।
अशेषभोगमोक्षार्थं तेनेयं ज्ञरथः स्मृतः ॥ २० ॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धबन्धुश्रियो यतः ।
अनयैव हि लभ्यन्ते तेनेयं ज्ञस्य लाभदा ॥ २१ ॥
सुखदुःखक्रियाजालं यदेषोद्वहति स्वयम् ।
तदेषा राम सर्वज्ञसर्ववस्तुभरक्षमा ॥ २२ ॥
तस्यां शरीरपुर्यां हि राज्यं कुर्वन् गतज्वरः ।
ज्ञस्तिष्ठति गतव्यग्रः स्वपुर्यामिव वासवः ॥ २३ ॥
न क्षिपत्यवटाटोपे मनोमत्ततुरङ्गमम् ।
न लोभदुर्द्रुमादाय प्रज्ञापुत्रीं प्रयच्छति ॥ २४ ॥

यह शरीररूपी महानगरी ज्ञानीके अनन्त सुखके लिए है, यह जो कहा था, उसीको विशद करते हैं—'**किञ्चित्**' इत्यादिसे ।

हे शत्रुतापन, इसके नष्ट हो जानेपर ज्ञानीकी एक नगण्य तुच्छ वस्तुका नाश हुआ और इसके रहनेपर सब भोग-मोक्षसुख स्थित रहा, इसलिए यह ज्ञानीके लिए सुखावह है ॥ १९ ॥

ज्ञानी इसमें बैठकर संसारमें सम्पूर्ण भोग और मोक्षके लिए खूब विहार करता है, इसलिए यह ज्ञानीका रथ कही गई है ॥ २० ॥

शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध आदि विषय, बन्धु-बान्धव और मोक्ष इसी शरीररूपी महानगरीसे प्राप्त होते हैं, इसलिए यह ज्ञानीको लाभ देनेवाली कही गई है ॥२१॥

यह सुख-दुःखमय क्रियाओंका जाल स्वयं धारण करती है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सर्वज्ञके भोग और मोक्षके उपायभूत सब वस्तुओंका संग्रह करनेमें समर्थ कही गई है ॥ २२ ॥

जैसे इन्द्र अपनी नगरीमें निश्चिन्त होकर राज्य करता है, वैसे ही उस शरीररूपी नगरीमें राज्य करता हुआ ज्ञानी निश्चिन्त और स्वस्थ रहता है ॥२३॥

वह योनिगर्तमें ही पराक्रमवाले कामके विषयमें मनरूपी मत्त घोड़ेको प्रेरित नहीं करता । लोभरूपी विषवृक्षको शुल्करूपसे लेकर प्रज्ञारूपी पुत्रीको मोह, अधर्म आदि दुष्कुलमें उत्पन्न हुए लोगोंको नहीं देता ॥ २४ ॥

अज्ञानपरराष्ट्रं च न रन्ध्रं स्वस्य पश्यति ।
संसारारिभयस्याऽन्तर्मूलान्येव निकृन्तति ॥ २५ ॥
तृष्णासारपरावर्ते कामसम्भोगदुर्ग्रहे ।
न निमज्जति पर्यस्तः सुखदुःखप्रदेवने ॥ २६ ॥
करोत्यविरतं स्नानं बहिरन्तरवीक्षणात् ।
सरित्सङ्गमतीर्थेषु मनोरथगतः क्रमात् ॥ २७ ॥
सकलाक्षजनाऽऽदृश्यसुखप्रेक्षापराङ्मुखः ।
ध्याननाम्नि सुखं नित्यं तिष्ठत्यन्तःपुरान्तरे ॥ २८ ॥
सुखावहैषा नगरी नित्यं वै विदितात्मनः ।
भोगमोक्षप्रदा चैषा शक्रस्येवाऽमरावती ॥ २९ ॥

अज्ञानरूपी परराष्ट्र उसके छिद्रको नहीं देखता और वह संसाररूपी शत्रुके भयके मूल स्नेहोंको उखाड़ फेंकता है ॥ २५ ॥

काम-भोगरूपी दुष्ट ग्राहसे युक्त सुखलेशरूपी दुःखोंसे रूलानेवाले इस तृष्णा-नदीके प्रवाहके बड़े भारी आवर्तमें बहिर्मुख होकर वह निमग्न नहीं होता ॥ २६ ॥

वह मानस ब्रह्माकारवृत्तिमें आरूढ़ होकर बाहर और भीतर परमात्माके दर्शनसे आधिभौतिक और आध्यात्मिक नदियोंके संगमतीर्थोंमें सदा स्नान करता है। कहा भी है—

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ताऽवनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः ।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरः सर्वस्य पूज्यो ह्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्तं हि धैर्यं मनः ॥

(जिसका ब्रह्मविचारमें एक क्षणभर भी मन स्थिर हुआ, उसने सब तीर्थजलोंमें स्नान कर लिया, सम्पूर्ण पृथ्वीका दान कर दिया, हजारों यज्ञ कर डाले, दशों हजार देवताओंकी पूजा की, संसारसे अपने पितरोंका उद्धार कर दिया और सबका पूज्य बन गया) ॥ २७ ॥

इन्द्रियरूपी सब लोगोंसे आपाततः देखे जानेवाले विषयोंमें सुखकी दृष्टिसे पराङ्मुख हुआ वह ध्याननामक अन्तःपुरके भीतर नित्य सुखपूर्वक बैठा रहता है ॥ २८ ॥

जैसे इन्द्रकी अमरावती नगरी सुखदायक और भोग-मोक्षप्रद है, वैसे ही

स्थितया संस्थितं सर्वं किंचिन्नष्टं न नष्टया ।
यया पुर्या महीयस्या सा कथं न सुखावहा ॥ ३० ॥
विनष्टे देहनगरे ज्ञस्य नष्टं न किञ्चन ।
आक्रान्तकुम्भाकाशस्य खस्य कुम्भक्षये यथा ॥ ३१ ॥
विद्यमानं घटं वायुः किञ्चित् स्पृशति नाऽस्थितम् ।
यथा तथैव देही स्वां शरीरनगरीमिमाम् ॥ ३२ ॥
अत्रस्थः पुरुषो भोगानात्मा सर्वगतोऽपि सन् ।
विश्वकल्पकृतान् भुक्त्वा पुंसामधिगतार्थभाक् ॥ ३३ ॥
कुर्वन्नपि न कुर्वाणः समस्तार्थक्रियोन्मुखः ।
कदाचित् प्रकृतान् सर्वान् कार्यार्थाननुतिष्ठति ॥ ३४ ॥

तत्त्ववेत्ताकी यह देहरूपी महानगरी नित्य सुख देनेवाली और भोग-मोक्षप्रद है ॥२९॥

जिस बड़ी भारी देहरूपी नगरीके रहनेसे सब यानी भोग-मोक्ष स्थित रहता है और नष्ट होनेसे कुछ नष्ट नहीं होता, वह सुख आदिकी साधन क्यों न होगी ? ॥ ३० ॥

जैसे घड़ेके नष्ट होनेपर जिसने घटाकाशको अपनेमें मिला लिया, ऐसे आकाशका कुछ भी नष्ट नहीं होता, वैसे ही इस देहरूपी नगरीके नष्ट होनेपर ज्ञानीका कुछ भी नष्ट नहीं हुआ ॥ ३१ ॥

जिस शरीररूपी नगरीका विद्यमान दशामें भी भलीभाँति स्पर्श नहीं होता, उसका नाश होनेपर स्पर्श नहीं होता, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा दृष्टान्तसे कहते हैं—**'विद्यमानम्'** इत्यादिसे ।

जैसे वायु विद्यमान घड़ेका कुछ स्पर्श करता है, अविद्यमान घड़ेका स्पर्श कुछ नहीं करता, वैसे ही देही विद्यमान ही अपनी इस शरीरनगरीका कुछ स्पर्श करता है । उसके अविद्यमान होनेपर तो कुछ भी स्पर्श नहीं करता ॥ ३२ ॥

सर्वव्यापक होकर भी इस शरीररूपी महानगरीमें स्थित हुआ आत्मारूपी पुरुष विश्वके द्वारा रचे गये विविध प्रारब्ध भोगोंका भोग करके पहलेसे ज्ञात आत्मरूप परम पुरुषार्थको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

व्यवहारदृष्टिसे कर्म करता हुआ भी परमार्थदृष्टिसे कुछ न करता हुआ समस्त पदार्थोंकी क्रियामें उन्मुख ज्ञानी कभी व्यवहारप्राप्त सम्पूर्ण कार्योंको करता है ॥३४॥

कदाचिल्लीलया लोलं विमानमधिरोहति ।
अनाहतगतिः कान्तं विहर्तुममलं मनः ॥ ३५ ॥
तत्रस्थो लोकसुन्दर्या सततं शीतलाङ्गया ।
रमते रामया मैत्र्या नित्यं हृदयसंस्थितः ॥ ३६ ॥
द्वे कान्ते तिष्ठतः सम्यक् पार्श्वयोः सत्यतैकते ।
इन्दोरिव विशाखे द्वे समाह्लादितचेतसी ॥ ३७ ॥
क्षपितानखिलाँल्लोकान् दुःखक्रकचदारितान् ।
वल्लीवनस्थान् नभसः पृष्ठादर्क इवेक्षते ॥ ३८ ॥
चिरं पूरितसर्वाशः सर्वसम्पत्तिसुन्दरः ।
अपुनःखण्डनायेन्दुः पूर्णाङ्ग इव राजते ॥ ३९ ॥

उसकी देहनगरीमें कान्तादिभोगरूप फल कहते हैं—**'कदाचित्'** इत्यादिसे ।

अव्याहतगति यह आत्मा कभी भोगकौतुकवाले निर्मल अपने मनका विनोद करनेके लिए चञ्चल विमानके तुल्य हृदयपुण्डरीकमें आरूढ़ होता है ॥ ३५ ॥

उक्त शरीररूपी महानगरीमें स्थित हुआ वह हृदयपुण्डरीकमें आरूढ़ होकर सदा शीतल शरीरवाली लोकमनोहर मैत्रीरूपी प्रियाके साथ नित्य क्रीडा करता है ॥ ३६ ॥

जैसे चन्द्रमाके दोनों बगलोंमें दो विशाखा ताराएँ चित्तको प्रसन्न करनेवाली स्थित रहती हैं, वैसे ही सत्यता और एकता ये दो कान्ताएँ उसके दोनों पार्श्वोंमें स्थित रहती हैं ॥ ३७ ॥

जैसे स्वर्गीय लोग नारकीय लोगोंके दुःखको देखते हैं वैसे ही ज्ञानी अज्ञानियोंके दुःखको देखते हैं, ऐसा कहते हैं—**'क्षपितान्'** इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें उदित हुआ सूर्य वन वगैरहको देखता है वैसे ही वह लताओंसे वनकी तरह परस्पर वेष्टित होकर स्थित हुए तथा दुःखरूपी आरेसे काटे हुए सब पीड़ित लोगोंको देखता है ॥ ३८ ॥

जिसके सम्पूर्ण मनोरथ चिरकालतक पूर्ण हो गये हैं एवं सब सम्पत्तियोंसे सुन्दर ज्ञानी पुरुष परिपूर्ण स्वरूपवाले चन्द्रमाके समान पुनः क्षीण न होनेके लिए शोभित होता है ॥ ३९ ॥

सेव्यमानोऽपि भोगौघो न खेदायाऽस्य जायते।
कालकूटः किलेशस्य कण्ठे प्रत्युत राजते॥ ४० ॥
परिज्ञातोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये।
विज्ञाय सेवितो मैत्रीमेति चोरो न शत्रुताम्॥ ४१ ॥
नरनारीनटौघानां विरहे दूरगामिनाम्।
ज्ञेन यात्रेव सुभगा भोगश्रीरवलोक्यते॥ ४२ ॥
अशङ्कितोपसंप्राप्ता ग्रामयात्रा यथाऽध्वगैः।
प्रेक्ष्यन्ते तद्वदेव ज्ञैर्व्यवहारमयाः क्रियाः॥ ४३ ॥
अयत्नोपनतेऽप्यक्षि पदार्थेषु यथा पुनः।
नीरागमेव पतति तद्वत् कार्येषु धीरधीः॥ ४४ ॥
इन्द्रियाणां न हरति प्राप्तमर्थं कदाचन।
नाऽऽददाति तथाऽप्राप्तं संपूर्णो ज्ञोऽवतिष्ठते॥ ४५ ॥

विविध भोगोंका यद्यपि यह सेवन करता है, तथापि वे इसके पुनर्जन्म आदि दुःखके लिए नहीं होते। देखिए न, कालकूट भगवान् श्रीशङ्करजीके कण्ठमें क्लेश देना तो दूर रहा, बल्कि शोभा ही करता है॥ ४० ॥

यह नश्वर है, क्षणिक है, यों पहले ज्ञात होकर उपभुक्त हुआ भोग तृप्तिके लिए होता है। यह चोर है, ऐसा जानकर सेवित चोर मित्रताको प्राप्त होता है, शत्रुताको प्राप्त नहीं होता॥ ४१ ॥

समाजका विघटन होनेपर दूर जानेवाले समाजके नरनारीरूपी नटोंके समूहकी यात्राके समान इस सुन्दर भोग्य पुत्र, धन आदिकी शोभाको ज्ञानी देखता है॥४२॥

जैसे बटोही लोगोंको अवान्तर ग्रामकी यात्रा अतर्कित प्राप्त होती है, वैसे ही ज्ञानी लोग भी व्यवहारमय क्रियाओंको अतर्कित प्राप्त हुई जानते हैं॥ ४३ ॥

जैसे बिना किसी यत्नके बनाये हुए पर्वत, वन, तालाब आदिमें स्थित पेड़, झाड़ी, कमल आदि पदार्थोंमें ममता न होनेसे उनका छेदन, भेदन, अपहरण आदि देखनेपर भी दुःख न होनेके कारण उनमें आँख प्रेमरहित ही गिरती है, वैसे ही विद्वान् पुरुषकी बुद्धि भी अपने पुत्र, मित्र आदिके व्यवहारकार्योंमें भी अनुराग-रहित ही रहती है॥ ४४ ॥

यदि ऐसा है, तो ज्ञानी प्रवृत्तिमें क्यों पड़ता है? इसपर कहते हैं—'**इन्द्रियाणाम्**' इत्यादिसे।

अप्राप्तचिन्ताः संप्राप्तसमुपेक्षाश्च सन्मतिम् ।
न कम्पयन्ति तरलाः पिच्छाघाता इवाऽचलम् ॥ ४६ ॥
संशान्तसर्वसन्देहो गलिताखिलकौतुकः ।
संक्षीणकल्पनादेहो ज्ञः सम्राडिव राजते ॥ ४७ ॥
आत्मन्येव न मात्यन्तः स्वात्मनाऽऽत्मनि जृम्भते ।
संपूर्णोऽपारपर्यन्तः क्षीरार्णव इवाऽर्णवे ॥ ४८ ॥
भोगेच्छाकृपणान् जन्तून् दीनान् दीनेन्द्रियाणि च ।
अनुन्मत्तमनाः शान्तो हसत्युन्मत्तकानिव ॥ ४९ ॥

इन्द्रियोंको प्रारब्धसे प्राप्त हुए विषयका वह कभी वारण नहीं करता और अप्राप्त वस्तुको प्रयत्नके साथ ग्रहण नहीं करता यानी यथाप्राप्तके उपयोगसे अपनी आजीविका चलाता है, इस प्रकार ज्ञानी परिपूर्ण होकर स्थित रहता है ॥ ४५ ॥

क्यों ऐसा करता है ? इसपर कहते हैं—**'अप्राप्तचिन्ताः'** इत्यादिसे ।

जैसे पर्वतको चञ्चल मोरपंखके आघात नहीं कँपाते हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुषको अप्राप्तप्राप्तिकी चिन्ता और प्राप्त पदार्थोंकी उपेक्षा विचलित नहीं करती ॥ ४६ ॥

सम्पूर्ण सन्देहोंके कारण अज्ञानके नष्ट होनेसे ही जिसके सम्पूर्ण सन्देह शान्त हो गये हैं, सब भोगोंमें मिथ्यादृष्टि होनेके कारण भोग भोगनेका सारा कौतुक जिससे चला गया है, इन दोनोंकी कल्पनाके हेतु स्थूल और सूक्ष्म शरीर जिसके क्षीण हो गये हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुष सम्राट्की (राजसूययज्ञके फल स्वाराज्यको प्राप्त हुएकी) नाईं विराजमान होता है ॥ ४७ ॥

पामरोंकी दृष्टिसे स्वाराज्य दृष्टान्त हो सकता है, तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे तो वह दृष्टान्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें परिच्छेद नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'आत्मन्येव'** इत्यादिसे ।

जैसे अपार क्षीरसागर सागरमें ही वृद्धिको प्राप्त होता है, वैसे ही परिपूर्ण अपरिच्छिन्न आत्मज्ञानी आत्मामें ही नहीं समाता, आत्मामें आत्मासे ही वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

जैसे शान्त पुरुष मत्तोंका उपहास करता है, वैसे ही प्रशान्तचित्त ज्ञानी पुरुष भोगोंकी इच्छासे दीन-हीन जन्तुओंकी हँसी करता है और दयनीय इन्द्रियोंकी भी हँसी करता है ॥ ४९ ॥

इच्छतोऽन्योज्झितां जायां यथैवाऽन्येन हस्यते ।
इन्द्रियस्येच्छतो भोगं तद्वज्ज्ञेन विहस्यते ॥ ५० ॥
त्यजत्स्वात्मसुखं सौम्यं मनोविषयविद्रुतम् ।
अंकुशेनेव नागेन्द्रं विचारेण वशं नयेत् ॥ ५१ ॥
भोगेषु प्रसरो यस्या मनोवृत्तेश्च दीयते ।
साऽप्यादावेव हन्तव्या विषस्येवाऽङ्कुरोद्गतिः ॥ ५२ ॥
ताडितस्य हि यः पश्चात् सन्मानः सोऽप्यनन्तकः ।
शालेर्ग्रीष्माभितप्तस्य कुसेकोऽप्यमृतायते ॥ ५३ ॥
अनार्तेन हि सन्मानो बहुमानो न बुध्यते ।
पूर्णानां सरितां प्रावृट्पूरः स्वल्पो न राजते ॥ ५४ ॥

जैसे अन्यके द्वारा परित्यक्त स्त्रीकी इच्छा कर रहे पुरुषकी प्रवृत्तिका अन्य पुरुष उपहास करता है, वैसे ही भोगोंकी इच्छा कर रही इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिका तत्त्वज्ञ पुरुष उपहास करता है ॥ ५० ॥

यदि कोई शङ्का करे जिसका ज्ञान परिपक्व नहीं हुआ, ऐसा पुरुष विषयोंमें दौड़ रहे मनका निग्रह कैसे करे, तो इसपर कहते हैं—'**त्यज०**' इत्यादिसे ।

सौम्य आत्मसुखका त्याग कर विषयोंकी ओर दौड़े हुए मनको, गजराजको अङ्कुशकी तरह, विचारसे वशमें लावे ॥ ५१ ॥

जो भोगतृष्णा मनोवृत्तिका भोगोंमें प्रसार करती है जैसे विषवृक्षके अङ्कुरोद्गमका ही विनाश कर दिया जाता है, वैसे ही उसका भी पहले ही नाश कर देना चाहिये ॥ ५२ ॥

यदि कोई कहे दण्ड देनेसे पीड़ित हुआ मन रूठे हुए बालककी नाईं आत्मामें भी अनुरक्त नहीं होगा, तो उसपर कहते हैं—'**ताड़ितस्य**' इत्यादिसे ।

पहले खूब ताड़ित हुए मनका पीछे जो थोड़ा-सा सन्मान है, वह भी असीम हो जाता है । देखिये न, ग्रीष्म ऋतुमें खूब सन्तप्त हुए धानके पौधोंके लिए साधारण-सा जल भी अमृतका काम कर देता है । भाव यह है कि चिरकालतक उन्मादसे लालित मनका एक बार निग्रह करनेपर फिर निग्रहका त्याग करनेपर ऐसा होता है, चिरकालके निग्रहसे निराश किये हुए मनका बालककी नाईं रूठना सम्भव नहीं है ॥ ५३ ॥

उक्त भावको ही पुनः विशद करते हैं—'**अनार्तेन**' इत्यादिसे ।

पूर्णस्तु प्राकृतोऽप्यन्यत्पुनरप्यभिवाञ्छते ।
जगत्पूरणयोग्याम्बुर्गृह्णात्येवार्णवो जलम् ॥ ५५ ॥
मनसोऽभिगृहीतस्य या पश्चाद् भोगमण्डना ।
तामेवाऽलब्धविस्तारां क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते ॥ ५६ ॥
बन्धमुक्तो महीपालो ग्रासमात्रेण तुष्यति ।
परैरबद्धो नाऽऽक्रान्तो न राज्यं बहु मन्यते ॥ ५७ ॥
हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैरिवाऽऽक्रम्य जयेच्चेन्द्रियशात्रवान् ॥ ५८ ॥
जेतुमन्यं कृतोत्साहैः पुरुषैरिह पण्डितैः ।
पूर्वं हृदयशत्रुत्वाज्जेतव्यानीन्द्रियाण्यलम् ॥ ५९ ॥

जैसे भरी हुई नदियोंका वर्षाकालका थोड़ा-सा प्रवाह सुशोभित नहीं होता, वैसे ही जबतक पुरुष पीड़ित न हो तबतक उसको सम्मान या बहुमान प्रतीत नहीं होता ॥ ५४ ॥

परिपूर्ण हुआ भी प्राकृत पुरुष फिर भी अधिककी इच्छा करता है । संसारको भरने योग्य जलवाला समुद्र और जल चाहता ही है ॥ ५५ ॥

खूब निगृहीत हुए मनकी पीछे भिक्षा जलादि विषयोंके अर्पणसे थोड़ी-बहुत जो लालना है, उसी थोड़ी-बहुत लालनाको, क्लेशमें होनेके कारण, बहुत मानता है ॥ ५६ ॥

उक्त अर्थमें दृष्टान्त कहते हैं—**'बन्धमुक्तः'** इत्यादिसे ।

बन्धनसे मुक्त हुआ राजा एक कौर भोजनसे भी सन्तुष्ट हो जाता है, किन्तु जो शत्रुओं द्वारा गृहीत नहीं है और आक्रान्त नहीं है, वह विशाल राज्यको भी अपर्याप्त मानता है ॥ ५७ ॥

इसलिए चिरकालके निग्रहसे और तत्त्वबोधसे समूल मनकी जयके लिए पहले इन्द्रियजय ही सम्पूर्ण प्रयत्नसे करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'हस्तम्'** इत्यादिसे ।

हाथको हाथसे दबाकर, दाँतोको दाँतोंसे पीसकर, अङ्गोंसे ही अङ्गोंको तोड़-मरोड़कर इन्द्रियरूपी शत्रुओंपर विजय प्राप्त करे ॥ ५८ ॥

केवल मनपर विजय पानेके लिए ही नहीं, बाह्य शत्रुओंके ऊपर जय पानेके

एतावति धरणितले सुभगास्ते साधुचेतनाः पुरुषाः ।
पुरुषकलासु च गण्या न जिता ये चेतसा स्वेन ॥ ६० ॥
हृदयबिले कृतकुण्डलकलनाविवशो मनोमहाभुजगः ।
यस्योपशान्तिमागतमलमुदितं तं सुनिर्मलं वन्दे ॥ ६१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे शरीरनगरविभूतियोगो नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

लिए भी इन्द्रियोंपर विजय पाना आवश्यक है, ऐसा कहते हैं—**'जेतुमन्यम्'** इत्यादिसे ।

औरोंपर विजय पानेके लिए प्रोत्साहित हुए विद्वान् लोगोंको पहले हृदय-स्थित शत्रु होनेके कारण इन्द्रियोंपर विजय अवश्य प्राप्त करनी चाहिये ॥ ५९ ॥

जिसने मनपर विजय प्राप्त की है, उसकी प्रशंसा और वन्दना द्वारा इन्द्रिय-निग्रहके फलरूप मनोविजयकी प्रशंसा करते हैं—**'एतावति'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

इतने बड़े भूमण्डलपर वे ही साधु चित्तवाले पुरुष धन्य हैं, वे ही पुरुषोंके बन्ध-मोक्षकौशलोंमें गणनीय हैं, जिनपर उनके चित्तने विजय नहीं पाई ॥ ६० ॥

हृदयरूपी बिलमें की गई कुण्डलाकार कल्पनासे गर्वीला हुआ मनरूपी अजगर जिस पुरुषका शान्त हो गया है, अपने स्वरूपसे आविर्भूत अत्यन्त निर्मल उस तत्त्ववेत्ताको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६१ ॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चतुर्विंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

महानरकसाम्राज्ये मत्तदुष्कृतवारणाः ।
आशाशरशलाकाढ्या दुर्जया हीन्द्रियारयः ॥ १ ॥
स्वाश्रयं प्रथमं देहं कृतघ्ना नाशयन्ति ये ।
ते कुकार्यमहाकोशा दुर्जयाः स्वेन्द्रियारयः ॥ २ ॥
कलेवरालयं प्राप्य विषयामिषगृध्नुकाः ।
अक्षगृध्रा विवल्गन्ति कार्याकार्योग्रपक्षिणः ॥ ३ ॥
विवेकतन्तुजालेन गृहीता येन ते शठाः ।
तस्याऽङ्गानि न लुम्पन्ति पाशा नागबलं यथा ॥ ४ ॥

चौबीसवाँ सर्ग

[इन्द्रियोंकी प्रबलता, उनपर विजय पानेके उपाय तथा उनसे प्रसाद और बोध द्वारा वासनाक्षयका वर्णन]

इन्द्रियोंकी विजयमें उपाय और प्रयत्नकी अधिकता बतलानेके लिए उनकी दुर्जयता कहते हैं—**'महानरक०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियरूपी शत्रु बड़े दुर्दान्त हैं, वे तपन, अवीचि, महारौरव, रौरव, संघात, कालसूत्र नामवाले महानरकरूपी साम्राज्यपर एक-एक करके अभिषिक्त हैं, मतवाले पापरूपी हाथियोंसे युक्त हैं तथा तृष्णारूपी बाणकी शलाकाओंसे भरपूर हैं ॥ १ ॥

जो कृतघ्न सर्वप्रथम अपने आश्रयभूत शरीरका नाश करते हैं, पापरूपी धनराशिसे सम्पन्न वे स्वेन्द्रियरूपी शत्रुगण अत्यन्त दुर्जय हैं ॥ २ ॥

अनिषिद्ध तथा निषिद्ध कर्मरूपी प्रचण्ड डैनोंसे युक्त, विषयरूपी मांसके लोभी इन्द्रियरूपी गिद्ध शरीररूपी घोंसलेको पाकर बड़ा पराक्रम दिखलाते हैं ॥३॥

जैसे पाश (फन्दा) गजघटाका विनाश नहीं कर सकता वैसे ही जिस पुरुषने विवेकरूपी सूतके जालसे उन चालबाज इन्द्रियरूपी शत्रुओंपर विजय पा ली है, उसके शान्ति आदिरूपी अङ्गोंका वे विनाश नहीं करते ॥ ४ ॥

आपातरमणीयेषु रमते विषयेषु यः ।
विवेकधनवानस्मिन् कुकलेवरपत्तने ।
इन्द्रियारिभिरन्तस्थैरवशो नाऽभिभूयते ॥ ५ ॥
न तथा सुखिता भूपा मृन्मयोग्रपुरीजुषः ।
यथा स्वाधीनमनसः स्वशरीरपुरीश्वराः ॥ ६ ॥
आक्रान्तेन्द्रियभृत्यस्य सुगृहीतमनोरिपोः ।
वसन्त इव मञ्जर्यो वर्द्धन्ते शुद्धबुद्धयः ॥ ७ ॥
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः ।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥ ८ ॥
तावन्निशीथवेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः ।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥ ९ ॥

उन शत्रुओंपर विजय पानेके लिए पहले विवेकरूपी धनका संचय करना चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—**'आपात०'** इत्यादिसे ।

जो पुरुष विवेकरूपी धनसे युक्त होकर इस शरीररूपी निन्दित नगरमें आपात-रमणीय विषयोंमें रमण करता है, वह अन्तस्थ इन्द्रियरूपी शत्रुओंसे अवश होकर अभिभूत नहीं होता । उस पुरुषके तुल्य राजा भी, जो मिट्टीसे बनी हुई नगरीका सेवन करता है, सुखी नहीं है । जैसे कि अपनी शरीररूपी नगरीका ईश्वर, जिसका मन अपने अधीन है, वह सुखी होता है । मृन्मय और उग्र ये जो पुरीके विशेषण दिये गये हैं, वे शरीररूपी पुरी उससे विलक्षण है, अतएव उत्कृष्ट है, यह बोधन करनेके लिए है ॥ ५, ६ ॥

इन्द्रिय आदिके निग्रहका फल कहते हैं—**'आक्रान्त०'** इत्यादिसे ।

जिसने इन्द्रियरूपी भृत्योंको आक्रान्त कर लिया है तथा मनरूपी शत्रुका निग्रह कर लिया है, उस पुरुषकी विशुद्ध बुद्धि ऐसे बढ़ती है, जैसे वसन्त ऋतुमें फूलोंके गुच्छे बढ़ते हैं ॥ ७ ॥

जिसके चित्तका अभिमान क्षीण हो गया है, जिसने इन्द्रियरूपी शत्रुओंको निगृहीत कर लिया है, उस पुरुषकी भोगवासनाएँ हेमन्त ऋतुमें कमलिनीकी भाँति नष्ट हो जाती हैं ॥ ८ ॥

अज्ञानान्धकारके वेतालरूपी ये वासनाएँ तभीतक पराक्रम दिखलाती हैं, जबतक परमात्मतत्त्वके दृढाभ्यास द्वारा यह मन विजित नहीं हुआ ॥ ९ ॥

भृत्योऽभिमतकर्तृत्वान्मन्त्री सत्कार्यकारणात् ।
सामन्तश्चेन्द्रियाक्रान्तेर्मनो मन्ये विवेकिनः ॥ १० ॥
लालनात्स्निग्धललना पालनात्पावनः पिता ।
सुहृदुत्तमविश्वासान्मनो मन्ये मनीषिणाम् ॥ ११ ॥
स्वालोकितः शास्त्रदृशा बुद्ध्याऽन्तः स्वानुभावितः ।
प्रयच्छति परां सिद्धिं त्यक्त्वाऽऽत्मानं मनःपिता ॥१२॥
सुदृष्टः सुपरामृष्टः सुदृढः सुप्रबोधितः ।
सुगुणे योजितो भाति हृदि हृद्यो मनोमणिः ॥ १३ ॥

स्वदेहरूपी नगरीके साम्राज्यमें भृत्य, मन्त्री, सामन्त आदिके कार्यका शुद्ध मन ही सम्पादन करता है, ऐसा कहते हैं—'भृत्य०' इत्यादिसे ।

विवेकी पुरुषका मन ही अभिमत कार्य करनेसे भृत्य है, उत्तमकार्यका सम्पादन करानेसे मन्त्री है और इन्द्रियोंपर आक्रमण करनेसे सेनापति है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ १० ॥

मनीषी पुरुषोंका मन ही लालन (उपसेवन) करनेसे स्नेहयुक्त ललना है, पालन करनेसे पवित्र पिता है तथा उत्तम विश्वासके कारण मित्र है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ११ ॥

मनके पिता होनेमें दूसरा हेतु भी कहते हैं—**'स्वालोकितः'** इत्यादिसे ।

शास्त्र द्वारा दिखाई गई देवताकी भावनासे 'इनका शासन अनुल्लङ्घनीय है, यों देखा गया और स्नेहबुद्धिसे अपने हृदयमें अनुभूत पिता जैसे स्वरूपभूत अपनी देहका त्यागकर स्वोपार्जित धनरूप सिद्धि देता है, वैसे ही शास्त्रके ज्ञानसे चिन्मात्रदृष्टिसे देखा गया विवेकबुद्धिसे अपने हृदयमें अनुभव किया गया मन अपने स्वरूपका त्यागकर तत्त्वज्ञानरूप सिद्धि देता है ॥ १२ ॥

भाग्यवश खानमें देखी गई, सानकी खरादसे स्वच्छ की गई, प्रकाशक रससे प्रक्षालन द्वारा अच्छी तरह चमकीली बनाई गई, हजारों घनोंके भी आघातसे अभेद्य, सुन्दर सूतवाले सुवर्णके हार आदिमें लगाई गई मनोहर मणि जैसे हृदयमें शोभित होती है, वैसे ही शास्त्रदर्शित परीक्षा द्वारा अच्छी तरह देखा गया, आचार्य, सहाध्यायियोंकी सहायतासे आत्मानुभवपर्यन्त ज्ञात हुआ, निदिध्यासनसे दृढ़ हुआ तथा पञ्चम आदि भूमिकाभेदोंमें लगाया गया उत्तम मन भासित होता है ॥१३॥

जन्मवृक्षकुठाराणि तथोदर्कोदयानि च ।
दिशत्येवं मनो मन्त्री कर्माणि शुभकर्मणि ॥ १४ ॥
एवं मनोमणिं राम बहुपङ्ककलङ्कितम् ।
विवेकवारिणा सिद्ध्यै प्रक्षाल्याऽऽलोकवान् भव ॥ १५ ॥
भवभूमिषु भीमासु विवेकविकलो वसन् ।
मा पतोत्पातपूर्णासु विवशः प्राकृतो यथा ॥ १६ ॥
संसारमायामुदितामनर्थशतसङ्कुलाम् ।
मा महामोहमिहिकामिमां त्वमवधीरय ॥ १७ ॥

मणिके साथ मनके रूपकप्रस्तावके प्रस्तुत रहते ही मध्यमें श्रीरामचन्द्रजीकी 'मन्त्री सत्कार्यकारणात्' ऐसा पहले जो कहा था उसमें वह सत्कार्य कौन है ? ऐसी विशेष जिज्ञासाको ताड़कर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—**'जन्म०'** इत्यादिसे ।

मनरूप मन्त्री शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्त पुरुषके अनर्थपरम्परारूप जन्मवृक्षोंका छेदक तथा निरतिशय आनन्दके आविर्भावके साधनभूत साधनचतुष्टयसे लेकर साक्षात्कारपर्यन्त कर्मोंका उपदेश करता है ॥ १४ ॥

इस तरह रामचन्द्रजीका समाधान करके प्रस्तुत मणिरूपकका अवलम्बन कर उपसंहार करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

इस तरह हे श्रीरामचन्द्रजी, असंख्यवासनारूपी पङ्कसे मलिन मनोमणिको सिद्धिप्राप्तिके लिए विवेकजलसे धोकर आत्मप्रकाशसे युक्त होइये ॥ १५ ॥

इस तरह विवेकको निरतिशय उत्तम फल देनेवाला बतलाकर अत्यन्त अनर्थ परिणामवाले विवेकप्रमादसे श्रीरामचन्द्रजीको निवृत्त करते हैं—**'भवभूमि०'** इत्यादिसे ।

नीचे गिरानेवाले राग आदि अनर्थोंसे परिपूर्ण, भीषण भवभूमियोंमें विवेकहीन होकर निवास करते हुए आप साधारण प्राणीकी भाँति विवश होकर नीचे न गिरिये ॥ १६ ॥

सैकड़ों अनर्थोंसे व्याप्त, महामोहरूपी कुहरेसे पूर्ण, उदित हुई इस संसार-मायाकी महारोगकी भाँति आप उपेक्षा न कीजिये अर्थात् उससे सावधान हो जाइये ॥ १७ ॥

विवेकं परमाश्रित्य बुद्ध्या सत्यमवेक्ष्य च ।
इन्द्रियारीनलं जित्वा तीर्णो भव भवार्णवात् ॥ १८ ॥
असत्येव शरीरेऽस्मिन् सुखदुःखेष्वसत्सु च ।
दामव्यालकटन्यायो मा ते भवतु राघव ॥ १९ ॥
भीमभासदृढस्थित्या त्वं यास्यसि विशोकताम् ॥ २० ॥
अयमहमिति निश्चयो वृथा यस्तमलमपास्य महामते स्वबुद्ध्या ।
यदितरदवलम्ब्य तत्पदं त्वं व्रज पिब भुङ्क्ष्व न बध्यसेऽमनस्कः ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे मनसः सत्ताप्रतिपादनं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

प्रस्तुत इन्द्रियरूपी शत्रुओंके जयोपायके उपदेशका उपसंहार करते हैं—**'विवेकम्'** इत्यादिसे ।

परम विवेकको प्राप्त कर, बुद्धिसे सत्यका अवलोकन कर तथा इन्द्रियरूपी शत्रुओंको अच्छी तरह जीतकर आप संसारसागरसे पार हो जाइये ॥ १८ ॥

यदि कोई कहे कि उत्पत्तिप्रकरणमें देह, इन्द्रियोंकी असत्यता बतलाई है, तो क्यों यहाँ उनकी जयके उपायका उपदेश करते हैं, इसपर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—**'असत्येव'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, असत्य इस शरीरमें तथा असत्य ही सुख-दुःखोंमें आपको दामव्यालकटन्यायकी प्राप्ति न हो ॥ १९ ॥

तत्त्वदृष्टिसे यद्यपि ये असत्य हैं, तथापि मोहदृष्टिसे उनकी सत्यता अनुभवसिद्ध है, इसलिए उनकी चिकित्साके बिना वासनाकी दृढ़तासे दाम, व्याल और कटके न्यायसे अनर्थकी प्राप्ति दुर्वार है । विवेक आदिके अभ्याससे उनकी चिकित्सा हो जानेपर तो भीम, भास और दृढ़की स्थितिसे अनर्थकी प्राप्ति नहीं होगी, ऐसा कहते हैं—**'भीम०'** इत्यादिसे ।

भीम-भास-दृढ-स्थितिसे आप विशोकताको प्राप्त हो जायँगे ॥ २० ॥

हे महामते, यह दृश्यभूत देह आदि मैं हूँ, इस मिथ्या अभिमानको स्वतत्त्व-निश्चयके द्वारा अच्छी तरह दूर कर जो दृश्यभूत वस्तुसे अतिरिक्त प्रत्यगेकरस

पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्मिन् विहरतो लोके लोकारामस्य धीमतः ।
श्रेयसे तिष्ठतो यत्नमुत्तमार्थाभिधायिनः ॥ १ ॥
दामव्यालकटन्यायो मा ते भवतु राघव ।
भीमभासदृढस्थित्या त्वं विशोको भवेति च ॥ २ ॥

आत्म वस्तु है, उसीका अवलम्बन कर तत्त्वभाव होनेके कारण मनोरहित होकर गमन कीजिए, पान कीजिए, भोजन कीजिए, यों आप बद्ध नहीं होंगे । गमनादि व्यवहार करते हुए भी मुक्त ही हैं, यह भाव है ॥ २१ ॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

——o——

पचीसवाँ सर्ग

[देवताओं द्वारा शम्बरके सेनापतियोंकी हत्या, दाम, व्याल और कट नामक सेनापतियोंकी उत्पत्ति और उनसे देवताओंपर विजय पानेकी आशाका वर्णन]

वासनारहित पुरुषमें भी धीरे धीरे वासनाओंका संचय होनेसे देहादिका अभिमान होनेपर जन्म-मरणपरम्परा होती है, फिर विवेकसे कुछ क्षीण वासनावाले पुरुषकी होती है, इसमें तो कहना ही क्या ? इस कैमुतिक न्यायके प्रदर्शन द्वारा जिनमें थोड़ा-सा आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है, जिन्हें पूर्णनिष्ठा प्राप्त नहीं हुई है, उन मन्द और मध्यम अधिकारियोंको वासनाके उच्छेदके लिए अवश्य दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये, यह दर्शानेवाली दाम-व्याल-कटकी आख्यायिकाको कहनेवाले श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीमें उक्त आख्यायिकाको सुननेकी इच्छा उत्पन्न करनेके लिए पूर्वोक्तका ही पुनः अनुवाद करते हैं—**'अस्मिन्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, आपमें लोग विश्राम लेते हैं, आप धीमानोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, कल्याणके लिए प्रयत्न कर रहे हैं शम, दम आदि उत्तम पदार्थोंको अपनेमें प्रकाशित करनेका आपका स्वभाव है, इस लोकमें विहार कर रहे आपका दाम-व्याल-कट-न्याय न हो और भीम-भास-दृढ़-स्थितिसे आप शोकरहित होइये ॥ १,२ ॥

श्रीराम उवाच

दामव्यालकटन्यायो मा ते भूदित्युदाहृतम् ।
ब्रह्मन् किमेतद्भवता भवतापापहारिणा ॥ ३ ॥
भीमभासदृढस्थित्या त्वं विशोको भवेति च ।
प्रभो किमुक्तं भवता भवतापापहारिणा ॥ ४ ॥
उदारयैतया शुद्धं संप्रबोधय मां गिरा ।
घनस्तापापहारिण्या प्रावृषीव कलापिनम् ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

दामव्यालकटन्यायं भीमभासदृढस्थितिम् ।
शृणु राघव तच्छ्रुत्वा यदिष्टं तत् समाचर ॥ ६ ॥
आसीत् पातालकुहरे सर्वाश्चर्यमनोरमे ।
शम्बरो नाम दैत्येन्द्रो मायामणिमहार्णवः ॥ ७ ॥
आकाशनगरोद्यानरचितासुरमन्दिरः ।
कृत्रिमोत्तमचन्द्रार्कभूषितात्मीयमण्डलः ॥ ८ ॥
शिलाशकलसंभूतपद्माद्यैरमराचलः ।
अनन्तविभवारम्भपरिपूरितदानवः ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, संसारके तापको दूर करनेवाले आपने ऐसा जो कहा कि तुम्हारा दामव्यालकटन्याय न हो, वह क्या है? हे प्रभो, संसार-तापको दूर करनेवाले आपने भीमभासदृढ़स्थितिसे आप शोकरहित होइये, यह क्या कहा? जैसे मेघ वर्षा ऋतुमें मयूरको उल्लसित करता है वैसे ही इन दो कथाओंका वर्णन करनेवाली तथा भवतापको दूर करनेवाली अपनी उदार वाणीसे शुद्ध तत्त्वका बोध मुझे कराइये ॥ ३—५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, दामव्यालकटन्यायको और भीमभास-दृढ़स्थितिको आप सुनिये, उन्हें सुनकर जो आपको अभिमत हो, उसे कीजिये ॥६॥

सम्पूर्ण आश्चर्य वस्तुओंसे मनोहर पातालगर्तमें शम्बरनामक दैत्यराज था। उसे मायारूपी मणियोंका यदि महार्णव कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी ॥ ७ ॥

उसने आकाशमें कल्पित नगरोंके उद्यानोंमें राक्षसोंके मन्दिर बना रक्खे थे, बनावटी उत्तम चन्द्रमा और सूर्यसे उसने अपने प्रदेशको विभूषित कर रक्खा था, पत्थरके टुकड़ोंकी नाईं सर्वत्र सुलभ पद्मराग आदि मणियोंसे वह देवपर्वत

गृहरत्नाङ्गनागेयजितामरवधूध्वनिः ।
चन्द्रबिम्बकलापूर्णक्रीडोपवनपादपः ॥ १० ॥
फुल्लनीलोत्पलव्यूहकरालरमणालयः ।
रत्नहंसध्वनाहूतहेमाम्बुरुहसारसः ॥ ११ ॥
हेमपादपशाखाग्रकृताम्भोरुहकुड्मलः ।
करञ्जजालप्रपतन्मन्दारकुसुमाकरः ॥ १२ ॥
तर्कुयन्त्रमयानन्तदैत्यनिर्जितवासवः ।
हिमशीतानलज्वालानिर्मितोद्यानमण्डपः ॥ १३ ॥
सर्वत्र कुसुमोद्यानजितानन्दननन्दनः ।
मायासर्वहृतव्यालमलयाचलचन्दनः ॥ १४ ॥
हेमश्रीलोकलावण्यनिर्जितान्तःपुराङ्गनः ।
नानाकुसुमसम्भारजानुदघ्नगृहाङ्गणः ॥ १५ ॥
क्रीडार्थमृन्मयेशानजितचक्रगदाधरः ।
अजस्रोड्डीनरत्नौघताराढ्यखपुरान्तरः ॥ १६ ॥

मेरुके तुल्य हो गया था। असीम धन सम्पत्तियोंके निर्माणसे उसने सब दानवोंको मालामाल कर दिया था। घरमें स्थित रत्नरूप स्त्रियोंके गानसे उसने अप्सराओंकी गानध्वनिको जीत लिया था। उसके क्रीडाके उपवनके वृक्ष चन्द्रबिम्बकी कलाओंसे पूर्ण थे ॥ ८–१० ॥

खिले हुए नील कमलकी राशियोंसे उसने अपने क्रीड़ाके घरको कामियोंके लिए भयङ्कर बना दिया था। रत्नभूत हंसोंकी ध्वनिसे स्वर्णकमलके सारसोंका आह्वान किया था। स्वर्णवृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभागमें कमलकी कलियाँ गूँथ रक्खी थीं। कञ्जोंके वृक्षोंके ऊपरसे मन्दारके फूल गिरते थे। कैंचीके तुल्य अनन्त दैत्योंसे उसने इन्द्रपर विजय प्राप्त की थी। बर्फके समान ठंढी अग्निकी ज्वालाओंसे उसने अपना उद्यानमण्डप बना रक्खा था। सर्वत्र बने हुए फूलोंके बगीचोंसे आनन्ददायी नन्दनवनको उसने जीत लिया था। वह अपनी मायासे मलयाचलके सब चन्दनके वृक्षोंको साँपोंके साथ हर लाया था। उसके अन्तःपुरकी अङ्गनाएँ स्वर्णकी कान्ति और सब लोगोंकी सुन्दरताको नीचा दिखानेवाली थीं। विविध पुष्पोंकी राशियोंसे उसके घरका आँगन घुटनोंतक भरा था। क्रीड़ाके लिए बनाये गये

निशीथाखिलपातालशतचन्द्रनभस्तलः ।
रत्नशालभञ्जिकालोकगीतगीतिरणोत्कटः ॥ १७ ॥
मायैरावणनागेन्द्रविद्रुतामरवारणः ।
त्रैलोक्यविभवोत्कर्षपूरितान्तःपुरान्तरः ॥ १८ ॥
सर्वसंपत्तिसुभगः सर्वैश्वर्यनमस्कृतः ।
समस्तदैत्यसामन्तवन्दितोग्रानुशासनः ॥ १९ ॥
महाभुजवनच्छायाविश्रान्तासुरमण्डलः ।
सर्वबुद्धिगणाधाररत्नमण्डलमण्डितः ॥ २० ॥
तस्योत्सादितदेवस्य कठिनोड्डामराकृतेः ।
बभूव विपुलं सैन्यमासुरं सुरनाशनम् ॥ २१ ॥
तस्मिन् मायाबले सुप्ते देशान्तरगते तथा ।
तत्सैन्यं तरसा जघ्नुश्छिद्रं प्राप्य किलाऽमराः ॥ २२ ॥

मिट्टीके शङ्करजीने भगवान् श्रीकृष्णको जीत लिया था। सदा ऊपरको छिटक रही जुगनूकी तरह घूम रहीं रत्नराशियोंकी प्रभारूपी तारोंसे उसके नगरका मध्यभाग भरपूर था। सब रात्रियोंमें सारे पातालमें आकाश सौ चन्द्रमाओंसे युक्त रहता था। उसका युद्धपराक्रम ऐसा था कि उससे रचे गये प्रतिमारूपी लोग उसके प्रबन्धका गुणगान करते थे। मायासे रचित ऐरावत आदि गजराजोंसे देवताओंके ऐरावत आदिका उसने मानमर्दन कर दिया था। तीनों लोकोंमें स्त्री, हाथी, घोड़े आदिमें सर्वोत्कृष्ट रत्नरूप स्त्रीरत्न आदिसे उसने अन्तःपुरको परिपूर्ण कर दिया था ॥ ११–१८ ॥

वह सकलसम्पत्तियोंसे महासौभाग्यशाली था और ऐश्वर्य उसे प्रणाम करते थे। उसके उग्रशासनको सब दैत्य सामन्त नतमस्तक होकर ग्रहण करते थे। उसकी महाभुजाओंके वनकी छायामें सब असुर आरामसे रहते थे। वह सब बुद्धियोंका आधार था और समस्त रत्नोंके मण्डलसे विभूषित था। दुःसह और भीषण आकृतिवाले उस दैत्यकी, जिसने देवताओंको नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था, देवताओंका विनाश करनेवाली विशाल वाहिनी थी ॥ १९–२१ ॥

मायाबलवाले उस दैत्यके सो जानेपर और देशान्तर चले जानेपर अवसर पाकर देवताओंने उसकी सेनाको बड़े वेगसे मार डाला ॥ २२ ॥

अथ शम्बरदैत्येन मुण्डिक्रोधद्रुमादयः ।
रक्षार्थमथ सामन्ताः स्वसेनासु नियोजिताः ॥ २३ ॥
तानप्यन्तरमासाद्य जघ्नुर्देवा भयानकाः ।
व्योमान्तरगताः श्येनाः कलविङ्कानिवाऽऽकुलान् ॥ २४ ॥
सेनापतीन् पुनश्चान्यांश्चकाराऽसुरसत्तमः ।
चपलानुद्भटारावांस्तरङ्गानिव सागरः ॥ २५ ॥
देवास्तानपि तस्याऽऽशु जघ्नुस्तेन सकोपवान् ।
जगामाऽमरनाशाय परिपूर्णं त्रिविष्टपम् ॥ २६ ॥
तस्मात्तन्मायया भीताः सुरास्तेऽन्तर्धिमाययुः ।
मेरुकाननकुञ्जेषु मृगा गौरीहरेरिव ॥ २७ ॥
क्रन्दत्क्षुद्रामरगणं बाष्पक्लिन्नाप्सरोमुखम् ।
शून्यं ददर्श स स्वर्गं कल्पक्षीणजगत्समम् ॥ २८ ॥
विहरन् कुपितस्तत्र लब्धमाहृत्य सुन्दरम् ।
लोकपालपुरीं दग्ध्वा जगामाऽऽत्मीयमालयम् ॥ २९ ॥

देवताओंके द्वारा उसकी सेनाका विनाश होनेपर शम्बरासुरने मुण्डी, क्रोध, द्रुम आदि सेनापतियोंको अपनी सेनाओंमें रक्षाके लिए नियुक्त किया ॥ २३ ॥

भयानक देवताओंने अवसर पाकर जैसे आकाशमें स्थित बाजपक्षी व्याकुल हुई गौरैयोंको मार डालता है, वैसे ही उनको भी मार डाला ॥ २४ ॥

असुरश्रेष्ठ शम्बरने जैसे सागर चञ्चल और उग्र शब्द करनेवाली तरङ्गोंकी सृष्टि करता है, वैसे ही चञ्चल और उग्रशब्द करनेवाले अन्य सेनापतियोंको पुनः उत्पन्न किया ॥ २५ ॥

देवताओंने उन्हें भी जल्दी ही मार डाला, इससे उसके कोपकी सीमा न रही। वह देवताओंसे भरे हुए स्वर्गमें देवताओंके नाशके लिए गया ॥ २६ ॥

शम्बरासुरकी मायासे भयभीत हुए देवता देवीजीके वाहन सिंहसे भयभीत हुए मृगोंकी नाईं स्वर्गसे भागकर सुमेरुपर्वतकी झाड़ियोंमें छिप गये ॥ २७ ॥

शम्बरासुरने स्वर्गमें जाकर स्वर्गको, जिसमें क्षुद्र-क्षुद्र देवगण रो रहे थे और अप्सराओंके मुखमण्डल आँसुओंसे लथपथ थे, प्रलयकालमें नष्ट-भ्रष्ट हुए जगत्के तुल्य शून्य देखा ॥ २८ ॥

क्रुद्ध हुए शम्बरासुरने वहाँपर इधर-उधर भ्रमण किया, जो रत्न आदि उसे

एवं दृढतरीभूते द्वेषे दानवदेवयोः ।
देवाः स्वर्गं परित्यज्य दिक्षु जग्मुरदर्शनम् ॥ ३० ॥
अथ शम्बरदैत्येन ये ये सेनाधिनायकाः ।
क्रियन्ते यत्नतस्तांस्तु जघ्नुर्यत्नपराः सुराः ॥ ३१ ॥
यावदुद्वेगमायातः शम्बरः कोपवान् भृशम् ।
तार्णोऽतिमात्रमनल इव जज्वाल सोच्छ्वसन् ॥ ३२ ॥
त्रैलोक्यमपि चाऽन्विष्यन्न देवाँल्लब्धवानथ ।
परेणाऽपि प्रयत्नेन निधानमिव दुष्कृतीः ॥ ३३ ॥
ससर्ज मायया घोरानसुरांस्त्रीन्महाबलान् ।
बलरक्षार्थमुदितान् कालान्मूर्तिमिव स्थितान् ॥ ३४ ॥
निर्वृत्ता मायया भीमा बलपादपवाहिनः ।
उदगुस्ते महामायाः पक्षक्षुब्धा इवाऽद्रयः ॥ ३५ ॥

सुन्दर वस्तुएँ मिलीं, उन्हें हरकर और लोकपालोंकी नगरीको जलाकर वह अपने स्थानको चला गया ॥ २९ ॥

इस प्रकार देवता और दानवोंके मनोमालिन्यके दृढ़ होनेपर देवता स्वर्गका परित्याग कर इधर-उधर दिशाओंमें छिप गये ॥ ३० ॥

किन्तु शम्बरासुर जिन-जिनको अपनी सेनाओंके अधिपति बनाता था, उन्हें देवता प्रयत्नपूर्वक मार डालते थे ॥ ३१ ॥

देवता बराबर तबतक ऐसा करते गये जबतक कि कुपित शम्बरासुर अत्यन्त उद्वेगको प्राप्त होकर तृणाग्निके समान उच्छ्वास लेता हुआ अत्यन्त प्रज्वलित नहीं हुआ ॥ ३२ ॥

जैसे पापी पुरुष निधिको नहीं पा सकता, वैसे ही बड़े प्रयत्नसे तीनों लोकोंको खोजकर भी वह देवताओंको न पा सका ॥ ३३ ॥

फिर तो उसने अपनी सेनाकी रक्षाके लिए मूर्तिमान् तीन कालोंकी तरह उदित हुए महाबली बड़े भीषण तीन असुरोंकी मायासे सृष्टि की ॥ ३४ ॥

मायासे बने हुए अतएव बड़े मायावी, बलरूपी वृक्षोंको धारण करनेवाले वे भयङ्कर सेनापति अपने परोंसे क्षुब्ध हुए सेनाकी तरह वृक्षोंको धारण करनेवाले बड़े भयानक पर्वतोंकी तरह उत्पन्न हुए ॥ ३५ ॥

दामो व्यालः कटश्चेति नामभिः परिलाञ्छिताः ।
यथाप्राप्तैककर्तारश्चेतनामात्रधर्मिणः ॥ ३६ ॥
अभावात् कर्मणां ते च प्राक्तना न च वासनाः ।
निर्विकल्पकचिन्मात्रपरिस्पन्दैकधर्मकाः ॥ ३७ ॥
कर्मजीवकलां तन्वीमसारां च मनोभिदाम् ।
अपुष्टां कृत्रिमामन्तश्चोदयोदयमागताः ॥ ३८ ॥
ते ह्यन्धपारम्पर्येण काकतालीयवद्भटाः ।
प्रकृतामनुवर्तन्ते क्रियामुज्झितवासनाः ॥ ३९ ॥

दाम (शत्रुओंका दमन करनेवाला), व्याल (साँपकी तरह शत्रुओंको लपेटनेवाला) और कट (शत्रुओंके शस्त्रोंसे अपनी सेनाको सुरक्षित रखनेवाला) इन नामोंसे युक्त वे जो प्राप्त हो जाय, उसे करनेवाले एकमात्र चेतना धर्मवाले थे ॥३६॥

प्राक्तन कर्मोंका अभाव होनेसे वे प्राक्तन (पूर्वसिद्ध जीव) न थे और न उनकी वासनाएँ थीं। वे भय, शङ्का, पलायन आदि विकल्पोंसे रहित चिन्मात्रके सन्निधानके कारण देहक्रियावाले थे ॥ ३७ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि यदि उनके कर्म, काम और वासनाएँ नहीं थीं, तो उनका जन्म ही नहीं होना चाहिये था, क्योंकि जन्मके हेतुओंका अभाव था। यदि कहिये, बीज न होनेपर भी जन्म होगा, तब तो मुक्तोंका भी पुनर्जन्म होगा। आगे स्वयं कहेंगे भी—'विद्यते वासना यत्र तत्र सा याति पीनताम्' (जहाँपर वासना रहती है वहींपर वह स्थूलताको प्राप्त होती है) इसलिए उनके कर्म आदिका अभाव कहना संगत प्रतीत नहीं होता, इसपर कहते हैं— **'कर्मजीवकलाम्'** इत्यादिसे।

ये दाम, व्याल और कट स्वतन्त्र जीव न थे, किन्तु निमित्तभूत अन्तर्यामी चैतन्यसे कर्मजीवरूप शम्बरकी कौशलरूप, कर्म, वासना आदिसे वृद्धिको प्राप्त न हुई, मायाकल्पनारूप अतएव भोगसाररहित थोड़ी-सी सृष्टिसङ्कल्पवृत्तिको लेकर आविर्भावको प्राप्त हुए थे। ऐन्द्रजालिकों द्वारा रचे गये अन्य पुरुषोंकी तरह स्वतन्त्र कर्मोंका अभाव होनेपर भी आविर्भावरूप जन्म हो सकता है, यह भाव है ॥ ३८ ॥

वासनाशून्य वे भट काकतालीयन्यायकी तरह अन्धपरम्परासे ही प्रस्तुत

अर्द्धसुप्ता यथा बालाः स्वाङ्गैरिङ्गन्ति केवलम् ।
वासनात्माभिमानाभ्यां हीनास्ते तद्वदेव हि ॥ ४० ॥
नाऽभिपातं न चाऽऽपातं न विदुस्ते पलायनम् ।
न जीवितं न मरणं न रणं न जयाजयौ ॥ ४१ ॥
केवलं सैनिकानग्रे दृष्टानाहननोद्यतान् ।
अभिजग्मुः परानाजौ प्रहारदलिताद्रयः ॥ ४२ ॥
शम्बरश्चिन्तयामास परितुष्टमनाः परम् ।
विजेष्यते हि मे सेना मायासुरसुरक्षिता ॥ ४३ ॥

क्रियाका अनुवर्तन करते थे । भाव यह है कि जबतक उनकी वासनाकी वृद्धि नहीं हुई, तबतक योगियोंकी तरह उनका व्यवहार हुआ ॥ ३९ ॥

यदि कहिये, जिनकी वासना उद्‌बुद्ध नहीं हुई, उनका व्यवहार कहाँ देखा गया है, तो सुनिये, ऐसा कहते हैं—**'अर्धसुप्ता'** इत्यादिसे ।

जैसे आधे सोये हुए बालक अपने अङ्गोंसे ही चेष्टा करते हैं, वैसे ही वासना और आत्माभिमानसे रहित उन लोगोंकी केवल अङ्गोंसे चेष्टा हुई ॥ ४० ॥

न तो वे युद्धके समय शत्रुओंके अभिमुख आगमनको जानते थे, न विश्रान्त और निःशङ्क शत्रुओंके अकस्मात् आक्रमणको जानते थे, न भागना ही जानते थे, न जीवन जानते थे, न मरण जानते थे, न युद्ध जानते थे और न जय-पराजय जानते थे ॥ ४१ ॥

यदि नहीं जानते थे, तो स्वयं शत्रुओंके ऊपर आक्रमण कैसे करते थे ? इसपर कहते हैं—**'केवलम्'** इत्यादिसे ।

अपने प्रहारसे पर्वतोंको चूर-चूर करनेवाले वे शस्त्रप्रहार करनेके लिए उद्यत अपने आगे देखे गये शत्रुसैनिकोंपर केवल आक्रमण करते थे । भाव यह है कि जाकर प्रहार करना चाहिये, इस प्रकारकी शम्बरासुरकी वासना ही उनका शरीर था । सामने शत्रुको देखनेसे उतना ही उनको ज्ञात होता था, इसलिए वे आक्रमण करते थे ॥ ४२ ॥

शम्बरासुरने अत्यन्त प्रसन्न होकर ऐसा विचार किया कि मायासे निर्मित दाम आदि असुरोंसे सुरक्षित मेरी सेना अवश्य शत्रुओंपर विजय पाएगी ॥ ४३ ॥

अतिबलासुरदोर्द्रुमपालिता मम चमूः स्थिरतामलमेष्यति ।
अमरवारणदन्तविघट्टनेष्वमरपर्वतहेमशिला यथा ॥४४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटोत्पत्तिवर्णनं नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति निर्णीय दैत्येन्द्रो दामव्यालकटान्विताम् ।
सेनां संप्रेषयामास भूतलं देवनाशिनीम् ॥ १ ॥
दैत्याः सागरकुञ्जेभ्यः कन्दरेभ्यश्च सायुधाः ।
उदगुर्भीमनिर्ह्रादाः सपक्षगिरिलीलया ॥ २ ॥
रोदसीकोटरं हस्तप्रहारहतभास्करम् ।
दानवाः पूरयामासुर्दामव्यालकटैधिताः ॥ ३ ॥

अत्यन्त बलशाली असुरोंके बाहुरूपी वृक्षोंसे सुरक्षित मेरी यह सेना शत्रुका प्रहार होनेपर भी दिग्गजोंके दाँतोंका प्रहार होनेपर भी जैसे मेरु पर्वतकी सुवर्णशिला स्थिर ही रहती है विचलित नहीं होती, वैसे ही अत्यन्त स्थिरताको प्राप्त होगी ॥४४॥

पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

[देवताओंके साथ पातालसे निकले हुए दाम, व्याल और कट आदिके घोर संग्रामका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, दैत्यराज शम्बरासुरने इस प्रकार विचारकर दाम, व्याल और कटसे अधिष्ठित देवविनाशिनी अपनी सेनाको भूलोकमें भेजा ॥ १ ॥

भीषण सिंहनादवाले आयुधधारी दैत्य सागरसे, सागरतटकी झाड़ियोंसे, पर्वतोंकी कन्दराओंसे आशय यह कि जहां जिसे मार्ग मिला, पक्षधारी पर्वतोंके आटोपसे ऊपर आये ॥ २ ॥

दाम, व्याल और कटसे बलशाली हुए दानवोंने अन्तरिक्ष और पृथिवीके

अथोत्तस्थुर्निकुञ्जेभ्यः कन्दरेभ्यः सुराचलात् ।
प्रलयान्त इवाऽऽक्षुब्धा भीमाः स्वर्वासिनां गणाः ॥ ४ ॥
देवासुरपताकिन्योस्तद्युद्धमभवत्तयोः ।
अकालोल्बणकल्पान्तभीषणं भुवनान्तरे ॥ ५ ॥
पेतुः प्रलयपर्यस्तचन्द्रार्का इव दीप्तयः ।
शिरांसि कुण्डलोद्योततेजःपीततमांस्यथ ॥ ६ ॥
जुघूर्णुर्भटनिर्मुक्तसिंहनादविराविताः ।
प्रलयानिलसंपूरैः स्फुटहासा इवाऽद्रयः ॥ ७ ॥
रेणुः शैलशिलातुल्यहेतिघातास्तभित्तयः ।
कुलाचलतटाभीरुविश्रान्तहरिमण्डलाः ॥ ८ ॥
चेरुः परस्पराघातहतहेतिसमुत्थिताः ।
लोलानलकणाः कल्पविशीर्णा इव तारकाः ॥ ९ ॥

मध्यवर्ती आकाशको, जिसमें उनके मुक्कोंके प्रहारोंसे सूर्य निस्तेज हो गया था, ठसाठस भर दिया ॥ ३ ॥

इसके बाद मेरु पर्वतके निकुञ्जोंसे और कन्दराओंसे प्रलयकालकी तरह क्षुब्ध और भयङ्कर देवताओंके गण युद्धके लिए उतर आये ॥ ४ ॥

उन देव और असुर सेनाओंका भुवनके मध्यमें वह युद्ध अकालमें हुए दुःसह प्रलयके समान भीषण हुआ ॥ ५ ॥

इसके बाद कुण्डलोंकी कान्तियोंके तेजसे अन्धकारका नाश कर चुके मस्तक—प्रलयकालमें नष्ट हो गये हैं आश्रयभूत चन्द्रमा और सूर्य जिनके ऐसी दीप्तियोंकी तरह—धड़ोंसे गिरने लगे ॥ ६ ॥

प्रलयकालके वायुयोंके महाप्रवाहोंसे पड़ी हुई दराररूपी हँसीसे युक्त तथा दुर्दान्त योद्धाओंसे छोड़े गये सिंहनादोंसे मुखरित पर्वत काँपने लगे ॥ ७ ॥

पर्वतकी शिलाओंके तुल्य शस्त्रास्त्रोंके आघातसे जिनकी दीवारें ढह गई थीं। भयभीत सिंह जिनमें विश्राम ले रहे थे, ऐसे हिमालय आदि कुलपर्वतोंके तट गूँजने लगे ॥ ८ ॥

परस्परके प्रहारोंसे नष्ट हुए शस्त्रास्त्रोंसे निकली हुई चञ्चल आगकी चिनगारियाँ प्रलयकालमें आकाशसे टूटे हुए तारोंकी तरह उड़ने लगीं ॥ ९ ॥

विलेसू रक्तमांसौघपूर्णैकार्णवतीरगाः ।
कल्पतालवदुत्ताला वेतालास्तालतालिताः ॥ १० ॥
प्रस्फुरद्रुधिरासारशान्तपांसुपयोधरे ।
व्योम्नि हेतिहतक्षुण्णा मौलिकुण्डलकोटयः ॥ ११ ॥
बभूवुर्भास्कराकारैः कल्पभूरुहधारिभिः ।
प्रहारदलिताद्रीन्द्रैर्दैत्यैर्निर्विवरा दिशः ॥ १२ ॥
जग्मुर्ज्वलदसिप्रान्तवातपातितभित्तयः ।
कणप्रकरतां शैलाः कल्पाग्निदलिता इव ॥ १३ ॥
देवास्ते च समाजग्मुरश्वमेधैर्धिता इव ।
असुरानस्त्रविभ्रष्टान् जलदानिव वायवः ॥ १४ ॥
जगृहुस्तानथाऽऽक्रम्य जरठाखूनिवौतवः ।
तेऽपि तान् जगृहुर्मत्तानृक्षा रूढानिव द्रुमान् ॥ १५ ॥

रक्त-मांसकी राशिसे पूर्ण एकमात्र सागरके तटपर बैठे हुए, प्रलयकालके उत्पातभूत तालवृक्षोंके समान ऊँचे करताल बजाकर नाच रहे बेताल इधर-उधर विलास करते थे ॥ १० ॥

इधर-उधर फैलती हुई रुधिरकी धाराओंसे बादलोंके समान धूलि जिसमें शान्त हो गई थी, ऐसे आकाशमें आयुधोंके प्रहारोंसे चूर-चूर किये गये मस्तकोंके करोड़ों कुण्डल सूर्यके आकारसे युक्त हो गये थे । अपने प्रहारोंसे हिमालय आदि पर्वतराजोंको छिन्न-भिन्न करनेवाले, प्रहार करनेके लिए उखाड़े हुए कल्पवृक्षोंको धारण करनेवाले, सूर्यके आकारके सदृश आकारवाले दैत्योंसे युक्त दिशाएँ ऐसी पट गईं, कहींपर एक छिद्र भी दिखाई न देता था ॥ ११,१२ ॥

जल रही तलवारकी धारोंके वायुसे जिनकी भित्तियाँ गिरा दी गई थीं अतएव प्रलयकालकी अग्निसे तहस-नहस किये गये-से पर्वत धूलीके ढेर बन गये ॥ १३ ॥

अश्वमेध यज्ञोंसे वृद्धिको प्राप्त हुए-से देवता लोग भी अस्त्रोंसे रहित हुए असुरोंके पास ऐसे आये जैसे मेघोंके समीप वायु आते हैं ॥ १४ ॥

तदनन्तर जैसे बिल्लियाँ झपट कर बूढ़े चूहोंको पकड़ती हैं, वैसे ही उन्होंने राक्षसोंके ऊपर आक्रमण कर उन्हें पकड़ा और राक्षसोंने भी देवताओंको ऐसे पकड़ा जैसे वृक्षोंपर चढ़े हुए उन्मत्त आदमियोंको भालू पकड़ते हैं ॥ १५ ॥

दोर्वृक्षविलसद्धेतिकुसुमाः शस्त्रपल्लवाः ।
रेजुः सुरासुराः फुल्ला वनलोला इव द्रुमाः ॥ १६ ॥
अन्योन्यं पूरयामासुः शस्त्रपूरैर्दिशो दश ।
वनानि कुसुमव्रातैः सुमेराविव मारुतः ॥ १७ ॥
घोरं समभवद् युद्धं देवदानवसेनयोः ।
रोदोरन्ध्रोदुम्बरान्तर्महामशकसङ्घयोः ॥ १८ ॥
अथोदपतदुत्तालैर्लोकपालेभमण्डलैः ।
कल्पाभ्रस्फूर्जिताकारो दारुणः समरारवः ॥ १९ ॥
पिण्डग्रहेण नभसि भूभागमिव कुट्टिमम् ।
मुष्टिग्राह्यो महामेघमन्थरोदरपीवरः ॥ २० ॥
रथसंपातसंपिष्टशस्त्रशैलरटन्नटः ।
त्रुटद्धृदयनिःसत्वकर्कशाक्रन्दघर्घरः ॥ २१ ॥

जिनके बाहुरूपी वृक्षोंपर शस्त्रास्त्ररूपी फूल खिल रहे थे और शस्त्ररूपी पल्लव शोभित हो रहे थे, ऐसे सुर और असुर वनमें हिल रहे फूले हुए वृक्षोंकी तरह सुशोभित हुए ॥ १६ ॥

जैसे वायु सुमेरु पर्वतपर फूलोंके समूहोंसे वनोंको भर देता है वैसे ही परस्परके प्रति फेंके गये शस्त्रसमूहोंसे उन लोगोंने दसों दिशाएँ भर दीं ॥ १७ ॥

देवता और दानवोंकी सेनाओंका, जो अन्तरिक्ष और पृथ्वीके अवकाशरूपी गूलरके फलके अन्दर रहनेवाले महामशकोंके संघके तुल्य थीं, घोर युद्ध हुआ ॥१८॥

दिग्गज आदि द्वारा कुचले जा रहे लोगोंके रणकोलाहलका वर्णन करते हैं—**'अथ'** इत्यादि सात श्लोकोंसे ।

इसके अनन्तर ऊँचे तालोंके समान विशालकाय लोकपालोंके दिग्गजोंसे—प्रलयकालमें मेघोंसे वृद्धिको प्राप्त हुए कोलाहलके आकारका—बड़ा भीषण रण-कोलाहल हुआ ॥ १९ ॥

वह कहींपर आकाशमें अत्यन्त घन होनेके कारण मानो गच बनाता हुआ-सा, कहींपर मुट्ठीसे पकड़ने योग्य-सा और कहींपर जलभारसे भरे हुए मेघोंके उदरके समान गम्भीर था ॥ २० ॥

रथके ऊपर पड़नेसे पीसे गये शस्त्रोंसे पर्वतोंमें शब्द करता हुआ वह

प्रलयप्रत्ययोल्लासिकल्पान्तारावबृंहणः ।
द्वादशादित्यसंघट्टद्रवत्काञ्चनपर्वतः ॥ २२ ॥
ब्रह्माण्डकुड्यसङ्घट्टात् परावृत्त्या च निर्गतः ।
महास्रोतःपयःपूरः सत्वाहत इवाऽऽकरः ॥ २३ ॥
चञ्चत्सपक्षशैलेन्द्रपक्षपातचलद्ध्वनिः ।
कठिनापूरणोद्धूतस्फुटच्छैलेन्द्रकन्दरः ॥ २४ ॥
मन्दरोद्धूतदुग्धाब्धिसंक्षोभसदृशाङ्गकः ।
रतिश्रुद्घुंघुमास्फोटघटितद्वीपजन्तुभूः ॥ २५ ॥
सेनयोः क्षुब्धयोरासीद् युद्धमुद्धतदानवम् ।
निष्पिष्टनगरग्रामगिरिकाननमानवम् ॥ २६ ॥

कोलाहल नाचनेवाले नटके समान ताल और लयके अनुसार था, जिनके हृदय मारे भयके फट रहे थे, ऐसे बलहीन पुरुषोंके करुण क्रन्दनसे उसमें घरघराहट हो रही थी ॥ २१ ॥

वह प्रलयकालके हेतुभूत अग्नि, वायु आदिसे उल्लसित होनेवाले, ब्रह्माके दिन-भूत सृष्टिकालके अन्तमें होनेवाले कोलाहलकी प्रतिध्वनिके तुल्य था और बारह सूर्योंके सम्मेलनसे पिघल रहे सुवर्णपर्वतके शब्दके तुल्य था ॥ २२ ॥

ब्रह्माण्डरूपी दीवारमें टकराकर लौटनेसे बढ़ा हुआ और उद्गमस्थानसे भी निकलता हुआ वह कोलाहल प्राणियोंसे ताडित एवं प्राणियोंके आकरभूत महास्रोतके जल-प्रवाहकी, जो किसी पर्वत आदिसे टकरा कर रुका हो और अपने उद्गमस्थानसे भी निकलता हो, ध्वनिके तुल्य था ॥ २३ ॥

इधर-उधर उड़ रहे पक्षधारी पर्वतराजोंके परोंके वायुसे मानो उसमें ध्वनि हो रही थी, उसने कर्णकटु शब्दप्रवाहसे व्याप्त हिमालय आदि पर्वतोंकी कन्दराओंको फूट रहे कानोंकी तरह बना दिया था ॥ २४ ॥

मन्दराचलसे अमृतमन्थनके लिए मथे जा रहे क्षीरसागरकी ध्वनिके तुल्य उसका स्वरूप था, समुद्रमन्थनके समय अमृतोत्पत्ति होनेपर अमृतके प्रति आसक्ति होनेके कारण अमृतोत्पत्तिको सुन रहे देवता और असुरोंका हर्षोत्कर्ष होनेपर घुंघुम् शब्दके सदृश ताल ठोकना आदिके शब्दोंसे उसने सातों द्वीपरूपी प्राणी-निवास-भूमिको व्याप्त कर रक्खा था ॥ २५ ॥

क्षुब्ध हुई दोनों सेनाओंका ऐसा भीषण युद्ध हुआ कि उसमें नगर, ग्राम,

महाहेतिशतच्छिन्नदानवाचलपूर्णदिक् ।
अन्योन्याहतहेत्यादिचूर्णपूर्णाम्बरोदरम् ॥ २७ ॥
भुशुण्डीमण्डलास्फोटस्फुटन्मेरुशिरःशतम् ।
शरमारुतनिर्लूनदैत्यदेवमुखाम्बुजम् ॥ २८ ॥
चक्रावर्तशतभ्रान्तदेवदैत्यजरत्तृणम् ।
सेनाप्रहारकल्लोलवलनावलिताम्बरम् ॥ २९ ॥
हेत्युग्रवातनिष्पिष्टपतद्वैमानिकव्रजम् ।
अस्त्रोदिताब्धिवार्योघप्लावितव्योमपत्तनम् ॥ ३० ॥
वहन्महास्त्रपातासिशूलशक्तिनदीशतम् ।
शैलपक्षोद्भटास्फोटलुठद्ब्रह्माण्डमण्डपम् ॥ ३१ ॥
दैत्यपार्ष्णिप्रहारौघपतल्लोकेशपत्तनम् ।
नारीहलहलारावरणत्कङ्कणमन्दिरम् ॥ ३२ ॥
लुठद्दैत्यबलोद्भूतमत्तास्रौघजलान्वितम् ।
रक्तधौतनरौघोग्रमुक्तनादद्रवज्ञनम् ॥ ३३ ॥

पर्वत, वन और मनुष्य पीसे गये थे, बड़े-बड़े उद्धत दानव विद्यमान थे, सैकड़ों बड़े-बड़े आयुधोंसे काटे गये दानवरूपी पर्वतोंसे सब दिशाएँ भरी थीं, परस्पर तहस-नहस किये गये अस्त्र आदिके चूर्णोंसे आकाशका मध्यभाग भरा था, भुशुण्डी नामक अस्त्रसमूहके शब्दोंसे मेरुपर्वतके सैकड़ों शिखर ढह रहे थे, बाणरूपी आँधीसे दैत्य और देवताओंके मुखरूपी कमल कटे थे और दोनों सेनाओंके प्रहार-रूपी कल्लोलोंके संचारसे आकाश व्याप्त था ॥ २६—२९ ॥

उस युद्धमें आयुधरूपी आँधीसे पीसे गये वैमानिकोंके समूह गिर रहे थे, अस्त्रसे उत्पन्न हुए समुद्रोंके जलके प्रवाहसे आकाशमें स्थित अमरावती आदि नगर आप्लावित थे, महास्त्रोंके संपातसे तलवार, शूल, शक्ति आदिरूप सैकड़ों नदियाँ बह रही थीं, पर्वतोंके समीपमें घोर भटोंके ताल ठोकनेके शब्दोंसे ब्रह्माण्डरूपी मण्डप काँप रहा था, दैत्योंकी एड़ियोंके प्रहारोंसे लोकपालोंके लोक गिर रहे थे और स्त्रियोंके हल-हल शब्दके साथ मन्दिरोंमें कङ्कण बज रहे थे ॥ ३०—३२ ॥

वह युद्ध गिर रही दैत्यसेनासे उत्पन्न हुई अथाह रक्तराशिरूप जलसे युक्त था,

लोकपानीकपाम्भोजच्छन्नाच्छन्नयमान्वितम् ।
पुनः सुरासुरैर्घातैर्दृष्टसैन्यकुलाकुलम् ॥ ३४ ॥
सपक्षपर्वताकारदानवाद्रिगमागमैः ।
वहच्छवशवाशब्दभूरिभाङ्कारभीषणम् ॥ ३५ ॥
आयुधाग्रविभिन्नोग्रदैत्यपर्वतनिर्झरैः ।
रक्तैररुणिताशेषवसुधार्णवपर्वतम् ॥ ३६ ॥
उत्सन्नराष्ट्रनगरविपिनग्रामगह्वरम् ।
धृतासंख्यासुरेभाश्वमनुष्यशवपर्वतम् ॥ ३७ ॥
सुतालोच्चालनाराचराजिरोचितवारणम् ।
मुष्टिप्रहारपिष्टांसमत्तैरावणवारणम् ॥ ३८ ॥
कल्पाभ्रपटलासारधारादलितपर्वतम् ।
महाशनिविनिष्पेषपिष्टोड्डीनकुलाचलम् ॥ ३९ ॥

उसमें खूनसे लथ-पथ मनुष्यों द्वारा छोड़े गये घोर सिंहनादसे लोग इधर-उधर भाग रहे थे, वह लोकपालोंके सेनापतिरूपी कमलोंमें भौंरेके समान कभी मरते हुए लोगोंके प्राण हरनेके लिए छिपे हुए और कभी युद्धके लिए प्रकट यमसे युक्त था, सुर और असुरों द्वारा भागनेके समय किये गये प्रहारोंसे ताडित अतएव फिर लौटकर प्रहार कर रहे सैन्यसमूहसे व्याप्त था, परवाले पर्वतोंके आकारके सदृश आकारवाले दानवरूपी पर्वतोंके गमनागमनसे हो रहे साँय-साँय शब्दकी भनभनाहटोंसे भीषण था तथा आयुधोंके अग्रभागोंसे छिन्न-भिन्न भयङ्कर दैत्यरूपी पर्वतोंके झरनेके सदृश रक्तप्रवाहोंसे समस्त पृथ्वी, सागर और पर्वत उससे लाल हो गये थे ॥ ३३–३६ ॥

राष्ट्र, नगर, वन, ग्राम और गुफाएँ सबके सब नष्ट हो गये थे, असंख्य असुर, हाथी, घोड़े और मनुष्योंके शवोंसे सब मेरु आदि पर्वत पूर्ण हो गये थे, उसमें सुन्दर तालके समान ऊँचे बाणोंकी पङ्क्तियोंसे हाथी चमक रहे थे, मुट्ठियोंके प्रहारोंसे मत्त ऐरावत आदि गजराजोंके कुम्भस्थल पीसे गये थे । प्रलयकालके तुल्य विशाल मेघपटलकी मुसलाधार वृष्टियोंसे पर्वत विदीर्ण हो गये थे और बड़े भारी वज्रके गिरनेसे खूब पीसे गये कुलाचल उड़ गये थे ॥ ३७–३९ ॥

कुपिताग्निज्वलज्ज्वालाजालज्वलितदानवम् ।
एकाञ्जलिपुटानीतसमुद्रोत्सादितानलम् ॥ ४० ॥
चण्डदैत्यातिसंभारशिलीकृतमहाज्वलम् ।
वनव्यूहेन्धनाग्न्यर्चिद्रीविताम्बुशिलोच्चयम् ॥ ४१ ॥
अस्त्रनिर्मितदुर्वारतमःकल्पान्तरात्रिकम् ।
मायासूर्यगणोद्योतैः पीतातनुतमःपटम् ॥ ४२ ॥
मायाग्निवर्षनिष्पीतकलाभ्रघनवर्षणम् ।
ससीत्काराग्निवमनशस्त्रसङ्घट्टवर्षणम् ॥ ४३ ॥
वज्रवर्षास्त्रनिर्धूतशैलवर्षास्त्रसंभ्रमम् ।
निद्राबोधास्त्रयुद्धाढ्यं सङ्घर्षावग्रहाश्रयम् ॥ ४४ ॥
वहत्क्रकचवृक्षास्त्रं जलाग्न्यस्मरणान्धितम् ।
ब्रह्मास्त्रयुद्धविषमं तमस्तेजोस्त्रशारितम् ॥ ४५ ॥
अस्त्रोद्गीर्णायुधानीकनीरन्ध्रसकलाम्बरम् ।
शिलावर्षास्त्रदलितं वह्निवर्षास्त्रभासुरम् ॥ ४६ ॥

उसमें कुपित हुई अग्निकी जलती हुई विविध ज्वालाओंसे दानव जलाये गये थे, एक अञ्जलिपुटसे लाये गये समुद्रसे देवताओं द्वारा जलाई गई अग्नि राक्षसों द्वारा बुताई गई थी, प्रचण्ड दैत्यों द्वारा शैल, शिला आदि बोझदार वस्तुओंके फेंकनेसे देवताओं द्वारा जलाई गई अग्नि रोक दी गई थी, वनसमूहरूप इन्धनोंसे सुलगाई गई अग्निकी ज्वालाओंसे पिघलाये गये पर्वत जलमय हो गये थे, उस युद्धमें कभी अस्त्रोंसे रचित निविड अन्धकारसे प्रलयकालकी रात्रि हो गई थी, कभी मायाके सूर्यसमूहके प्रकाशोंसे घोर अन्धकारपटल नष्ट कर दिया गया था, मायाकी अग्निकी वृष्टिसे मायाके कौशलसे बनाये गये मेघोंकी वृष्टि नष्ट कर दी गई थी, सीत्कारके साथ अग्नि उगलनेवाले शस्त्रोंके परस्पर सङ्घट्टनकी वृष्टि हो रही थी। वज्रवृष्टिरूपी अस्त्रोंसे शैलवृष्टिरूपी अस्त्रोंका विलास नष्ट किया गया था, निद्रास्त्र और प्रबोधास्त्रोंके युद्धसे वह पूर्ण था, शत्रुके अभिभवरूपी अवग्रह (वर्षप्रतिबन्धक वायुविशेष) से वह युक्त था। उसमें क्रकचास्त्र और वृक्षास्त्र चल रहे थे, जल और अग्निके व्यामोहसे वह अन्धकारित था, ब्रह्मास्त्रके युद्धसे भीषण था, एवं अन्धकारास्त्र और तैजसास्त्रसे कर्बुरित था ॥ ४०—४५ ॥

असुर और पिशाचोंके अस्त्रोंसे उत्पन्न किये गये तोमर, मुद्गर, मुसल आदि

पताकास्पृष्टशशिकैश्चक्रचीत्कारगर्जितैः ।
मुहूर्त्तेन रथैर्लङ्घितोदयास्तमयाचलम् ॥ ४७ ॥
वज्रप्रहाराविरतम्रियमाणमहासुरम् ।
शुक्रामरमहाविद्याजीवमानमहासुरम् ॥ ४८ ॥
विद्रवद्देवसङ्घातं जयप्रोड्डामरामरम् ।
शुभग्रहमहाकेतुमालिकानामितस्ततः ॥ ४९ ॥
उत्पातमङ्गलौघानां बुद्धेरुद्धरकन्धरम् ।
साद्रिखोर्वीसमुद्रद्युजगद्रुधिरवारिधि ॥ ५० ॥
फुल्लैककिंशुकवनं कुर्वद्दुर्वारवैरतः ।
पर्वतप्रतिमासंख्यशवपूर्णमहार्णवम् ॥ ५१ ॥
समग्रतरुशाखाग्रलम्बलोलमहाशवम् ।
दीप्यमानैः स्ववातार्तैः पक्षपुष्पैर्लसत्फलैः ॥ ५२ ॥

अस्त्रोंकी परम्परासे सारे आकाशमें तिल रखनेकी भी जगह न थी, शिलाओंकी वृष्टिसे वह छिन्न-भिन्न था, अग्निकी वर्षासे प्रकाशमान था, अपनी पताकाओंसे जिन्होंने चन्द्रमाका स्पर्श कर रक्खा था, चक्रोंके चित्काररूपी गर्जनसे युक्त रथोंने उसमें एक मुहूर्तमें उदयाचल और अस्ताचल पर्वतको लाँघ दिया था, वज्रके प्रहारसे निरन्तर महा असुर मर रहे थे और शुक्राचार्यजीकी अमरनामक मृतसंजीवनी महाविद्यासे महा असुर पुनः जीवन पा रहे थे। कहींपर देवताओंकी सेना भाग रही थी, कहींपर विजयसे देवता लोग हर्ष मना रहे थे, कहींपर इधर-उधर शुभग्रह और महाकेतुकी पंक्तियोंके दर्शनके लिए लोग ऊपरको गर्दन किये थे और कहींपर उत्पातोंके और मङ्गलोंके दर्शनके लिए गर्दन ऊपर किये हुए थे। पर्वत, आकाश, पृथ्वी और द्युलोक सहित सारा जगत् ही उसमें रुधिरका समुद्र बन गया था। वह युद्ध दुर्वार वैरसे सम्पूर्ण जगत्को ही फूला हुआ एकमात्र पलाशका वन बना रहा था एवं पर्वतोंके सदृश असंख्य शवोंसे भरा महासागर था॥ ४६–५१ ॥

सब वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभागमें बड़े-बड़े चञ्चल शव झूल रहे थे।

बाणराशिके वनरूपसे निरूपण करनेके लिए विशेषण देते हैं—**'दीप्यमानैः'** इत्यादि।

उसमें सूर्यकी किरणोंके प्रतिबिम्बरूपी पल्लवोंसे देदीप्यमान, अपने वेगके

तालोच्चालैः शरव्रातवनैर्व्याप्तनभस्थलम् ।
पर्वतप्रतिमासंख्यकबन्धशतबाहुभिः ॥ ५३ ॥
नृत्यद्भिः पातिताम्भोदविमानसुरतारकम् ।
शरशक्तिगदाप्रासपट्टिशप्रोतपर्वतम् ॥ ५४ ॥
लोकसप्तकविभ्रष्टकुड्यखण्डचिताम्बरम् ।
अनारतरसन्मत्तकल्पाभ्रद्दढदुन्दुभि ॥ ५५ ॥
एवं शब्दशतोन्नादपातालतलवारणम् ।
विनायककराकृष्टदीर्घदानवपर्वतम् ॥ ५६ ॥
एकदिक्करनिष्पन्दसिद्धसाध्यमरुद्गणम् ।
पलायमानगन्धर्वकिन्नरामरचारणम् ॥ ५७ ॥
ववुरशनिनिपातखण्डिताङ्गा दलितशिलाशकलाः ककुम्मुखेषु ।
प्रलयसमयसूचकाः सुराणां सुरतरुघर्घरघस्मराः समीराः ॥ ५८ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे
दामव्यालकटसंग्रामवर्णनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

वायुसे चञ्चल, कङ्क आदि पक्षियोंके पररूपी फूलोंसे युक्त, लोहाग्रभागरूपी चमकीले फलवाले, तालोंसे भी अधिक ऊँचे बाणसमूहरूपी वनोंसे सारा आकाशमण्डल व्याप्त था , पर्वतके सदृश विशाल, असंख्य, नाच रही कबन्धोंकी सैकड़ों बाहुओंसे मेघ, विमान, देवता और तारे गिराये गये थे और बाण, शक्ति, गदा, भाले, पट्टिशसे पर्वत आच्छन्न हो गये थे ॥ ५२–५४ ॥

उसमें सातों लोकोंसे गिरे हुए दीवारके टुकड़ोंसे सारा आकाश व्याप्त था, कल्पकालके भीषण मेघोंके गर्जन-तर्जन तुल्य निरन्तर दुन्दुभि बज रही थी, इस प्रकारके सैकड़ों शब्दोंसे पातालमें रहनेवाले हाथी प्रतिगर्जन कर रहे थे, विनायकोंके द्वारा हाथोंसे विशाल दानवरूपी पर्वत खींचे जा रहे थे, दिशाओंका विभाग करनेवाले सूर्य आदिके एक दिशामें मिलनेपर सिद्ध, साध्य और मरुद्गण असुरोंके भयसे सन्त्रस्त अतएव निश्चल थे तथा गन्धर्व, किन्नर, देवता और चारण भाग रहे थे ॥ ५७ ॥

अब औत्पातिक आँधीका वर्णन करते हैं—'ववुः' इत्यादिसे ।

वज्रोंके गिरनेसे जिनके अङ्ग खण्डित हो गये थे और जिन्होंने पत्थरोंके

सप्तविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

तस्मिंस्तदा वर्तमाने घोरे समरसंभ्रमे ।
देवासुरशरीरेषु गर्तेष्वभ्रोदरेष्विव ॥ १ ॥
वहत्स्वसृक्प्रवाहेषु गङ्गापूरेष्विवाऽम्बरात् ।
दाम्नि वेष्टितदेवौघकृतक्ष्वेडाघनारवे ॥ २ ॥
व्याले निजकराकृष्टिपिष्टसर्वसुरालये ।
कटे कठिनसंरम्भसङ्गरक्षेपितामरे ॥ ३ ॥
ऐरावते क्षीणरवे पलायनपरायणे ।
प्रवृद्धे दानवानीके मध्याह्न इव भास्करे ॥ ४ ॥
पतिताङ्गव्यथार्तानि प्रस्रवद्रुधिराणि च ।
पयांसीवाऽवसेतूनि देवसैन्यानि दुद्रुवुः ॥ ५ ॥

टुकड़ोंको चूर-चूर कर दिया था, प्रलयके समयको सूचित करनेवाले तथा कल्पवृक्षमें रहनेवाले भ्रमर, कोकिल आदिकी ध्वनियोंको विलीन कर देनेवाले प्रचण्ड वायु (आँधी) दिशाओंमें बहे ॥ ५८ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

[दाम, व्याल और कटसे पराजित होकर । शरणमें आये हुए देवताओंसे ब्रह्माजीका चिरकालतक वासनावृद्धिरूप दैत्यवधोपाय कथन]

उस घोर संग्रामके घटाटोपके चलनेपर देवताओं तथा दैत्योंके शरीरोंपर हुए व्रणोंमें जैसे आकाशसे मेघोंके मध्यमें गङ्गाके प्रवाह बहते हैं वैसे ही खूनोंके नाले बहनेपर, दामनामक दैत्यके देवताओंको वेष्टित कर सिंहनादरूपी महाध्वनि करनेपर, व्यालके अपने हाथों द्वारा आकर्षणसे सब देवताओंके निवासोंको चूर-चूर कर देनेपर, कटके भीषण संग्राममें देवताओंको छिन्न-भिन्न करनेपर, ऐरावतके मूक होकर भागनेपर, जैसे मध्याह्नमें सूर्यकी प्रखरता बढ़ जाती है वैसे ही दानवोंकी सेनाके वृद्धिको प्राप्त होनेपर, कटे हुए अङ्गोंकी व्यथासे पीड़ित, रुधिर बहा रही देवताओंकी सेनाएँ, जिसका बाँध टूट गया ऐसी जलराशिके समान भागीं । दाम, व्याल और

दामव्यालकटास्तानि चिरमन्तर्हितानि च ।
अनुजग्मुर्लसन्नादमिन्धनानीव पावकाः ॥ ६ ॥
अन्विष्टानपि यत्नेन नाऽलभन्ताऽसुराः सुरान् ।
घनजालवनोड्डीनान् सिंहा हरिणकानिव ॥ ७ ॥
अलब्धेष्वमरौघेषु दामव्यालकटास्तदा ।
जग्मुः पातालकोशस्थं प्रभुं प्रमुदिताशयाः ॥ ८ ॥
अथ देवा विषण्णास्ते क्षणमाश्वास्य वै ययुः ।
जयोपायाय विजिता ब्रह्माणममितौजसम् ॥ ९ ॥
तेषामाविरभूद् ब्रह्मा रक्तरक्ताननश्रियाम् ।
सायं रक्तीकृताम्बूनामब्धीनामिव चन्द्रमाः ॥ १० ॥
प्रणम्य ते सुरास्तस्मा अनर्थं शम्बरेहितम् ।
सम्यक् प्रकथयामासुर्दामव्यालकटक्रमम् ॥ ११ ॥
तदाकर्ण्याऽखिलं ब्रह्मा विचार्य स विचारवित् ।
उवाचेदं सुरानीकमाश्वासनकरं वचः ॥ १२ ॥

कटने चिरकालतक छिपी हुई देवसेनाओंका गर्जन-तर्जनके साथ ऐसे पीछा किया, जैसे अग्नि लकड़ियोंका पीछा करती है ॥ १—६ ॥

जैसे सिंह निबिड लतादि जालोंसे भरे हुए वनमें दौड़कर गये हुए हरिणोंको नहीं पाते हैं, वैसे ही असुर बड़े प्रयत्नसे खोजनेपर भी देवताओंको न पा सके ॥७॥

देवताओंके न मिलनेपर उस समय प्रसन्नहृदय हुए दाम, व्याल और कट पातालके मध्यमें स्थित अपने प्रभु शम्बरासुरके पास गये ॥ ८ ॥

तदुपरान्त दैत्योंसे जीते गये अतएव उदास हुए वे देवता क्षणभर आराम कर अमित तेजस्वी ब्रह्माजीके पास विजयके उपाय पूछनेके लिए गये ॥ ९ ॥

देवताओंके, जिनकी मुखशोभा रुधिरसे लाल हुई थी, सन्मुख जैसे सन्ध्याके समय लाल बादलोंसे लाल जलवाले सागरोंके सन्मुख चन्द्रमा प्रादुर्भूत होता है वैसे ही ब्रह्माजी आविर्भूत हुए ॥ १० ॥

उन देवताओंने ब्रह्माजीको प्रणाम करके दाम, व्याल और कटकी सृष्टिरूप शम्बरासुरका अनर्थकारी कार्य भली भाँति उनसे कहा ॥ ११ ॥

विचार करनेमें कुशल ब्रह्माजीने वह सब वृत्तान्त सुनकर और विचार कर देवसेनासे यह आश्वासनकारी वचन कहा ॥ १२ ॥

ब्रह्मोवाच

शतवर्षसहस्रान्ते शम्बरेण हरेः करात् ।
मर्तव्यं समरेशस्य तत्कालं संप्रतीक्षताम् ॥ १३ ॥
दामव्यालकटानेतानद्य त्वमरसत्तमाः ।
योधयन्तः पलायध्वं मायायुद्धेन दानवान् ॥ १४ ॥
युद्धाभ्यासवशादेषां मुकुराणामिवाऽऽशये ।
अहङ्कारचमत्कारः प्रतिबिम्बमुपैष्यति ॥ १५ ॥
गृहीतत्रासनास्त्वेते दामव्यालकटाः सुराः ।
सुजेया वो भविष्यन्ति लग्नजालाः खगा इव ॥ १६ ॥
अद्य त्ववासना ह्येते सुखदुःखविवर्जिताः ।
धैर्येणाऽरीन् विनिघ्नन्तो देवा दुर्जयतां गताः ॥ १७ ॥
वासनातन्तुबद्धा ये आशापाशवशीकृताः ।
वश्यतां यान्ति ते लोके रज्जुबद्धाः खगा इव ॥ १८ ॥
ये भिन्नवासना धीराः सर्वत्राऽसक्तबुद्धयः ।
न हृष्यन्ति न कुप्यन्ति दुर्जयास्ते महाधियः ॥ १९ ॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—हे देव श्रेष्ठो, सौ हज़ार वर्षोंके बाद संग्रामके अधिपति श्रीहरिके हाथसे शम्बरका मरना बदा है। आप लोग उस कालकी प्रतीक्षा कीजिये। आप लोग इस समय तो इन दाम, व्याल और कट नामक दानवोंको मायायुद्धसे लड़ाते हुए भागिये ॥ १३,१४ ॥

युद्धाभ्यासके कारण इनके हृदयमें अहङ्कारका चमत्कार ऐसे प्राप्त होगा, जैसे दर्पणोंके अन्दर प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है। हे देवताओ, जैसे जालमें फँसे हुए पक्षी सरलतासे पकड़े जा सकते हैं वैसे ही वासनायुक्त हुए ये दाम, व्याल और कटनामक असुर आप लोगोंके सुजेय हो जायँगे ॥ १५,१६ ॥

सुख-दुःखसे रहित ये आज तो शम्बरके संकल्पानुसार वासनारहित हैं, इसलिए हे देवताओ, धैर्यपूर्वक शत्रुओंके ऊपर प्रहार कर रहे ये दुर्जय हो गये हैं ॥ १७ ॥

जो लोग वासनातन्तुसे बंधे हैं और आशारूपी पाशके वशीभूत हैं, वे रज्जुमें बँधे हुए पक्षियोंकी तरह लोकमें औरोंकी वशवर्तिताको प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

जिन धीर पुरुषोंकी वासनाएँ नष्ट हो गई हैं और जिनकी बुद्धि सभी जगह

यस्याऽन्तर्वासनारज्ज्वा ग्रन्थिबन्धः शरीरिणः ।
महानपि बहुज्ञोऽपि स बालेनाऽपि जीयते ॥ २० ॥

अयं सोऽहं ममेदं तदित्याकल्पितकल्पनः ।
आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥ २१ ॥

इयन्मात्रपरिच्छिन्नो येनाऽऽत्मा भव्यभावितः ।
स सर्वज्ञोऽपि सर्वत्र परां कृपणतां गतः ॥ २२ ॥

अनन्तस्याऽप्रमेयस्य येनेयत्ता प्रकल्पिता ।
आत्मनस्तस्य तेनाऽऽत्मा स्वाऽऽत्मनैवाऽवशीकृतः ॥ २३ ॥

आत्मनो व्यतिरिक्तं यत्किञ्चिदस्ति जगत्त्रये ।
यत्रोपादेयभावेन बद्धा भवतु वासना ॥ २४ ॥

आसक्त नहीं है, वे न तो कहीं हर्षको प्राप्त होते हैं और न कहींपर कोपको प्राप्त होते हैं, उन महाबुद्धियोंपर विजय पाना कठिन है ॥ १९ ॥

जिस पुरुषके भीतर वासनारूपी रज्जुकी गांठ बंधी है, वह महान् क्यों न हो, बहुज्ञ ही क्यों न हो, उसे बालक भी जीत लेता है ॥ २० ॥

यह देहादि ही मैं हूँ, यह जय-पराजय, पूजा, जीवन आदि मेरा है इस प्रकारकी कल्पनाओंसे युक्त पुरुष जैसे सागर जलोंका आश्रय होता है, वैसे ही आपत्तियोंका आश्रय बनता है ॥ २१ ॥

सब दुर्वासनाओंमें से आत्माकी देहादितादात्म्यसे परिच्छिन्नतारूप भ्रान्ति-वासना ही महामूर्खता, कृपणता और जन्म-मरण आदिकी बीज होनेसे सबसे महा अनर्थ है, ऐसा कहते हैं—**'इयन्मात्र०'** इत्यादिसे ।

जिसने यह आत्मा केवल देहमात्रपरिच्छिन्न है, यह भावना की, वह सर्वज्ञ क्यों न हो, सर्वत्र ही परम दीनताको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

जिसने अनन्त, अप्रमेय उस आत्माकी इयत्ताकी कल्पना की, उसने अपने आत्मासे ही अपने आत्माको विवश कर दिया यानी संसारानर्थसे विह्वल कर दिया ॥ २३ ॥

यदि तीनों जगतोंमें आत्मासे अतिरिक्त कोई वस्तु हो, तो उसमें ग्राह्यरूपसे ग्रहण करनेके लिए वासना होगी, पर वैसा तो कुछ है ही नहीं, यह भाव है ॥ २४ ॥

आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः ।
अनास्थामात्रमभितः सुखानामाकरं विदुः ॥ २५ ॥
दामव्यालकटा यावदनास्था भवसंस्थितौ ।
तावन्न नाम जेया वो मशकानामिवाऽनलाः ॥ २६ ॥
अन्तर्वासनया जन्तुर्दीनतामनुयातया ।
जितो भवत्यन्यथा तु मशकोऽप्यमराचलः ॥ २७ ॥
विद्यते वासना यत्र तत्र सा याति पीनताम् ।
गुणो गुणिनि हि द्वित्वं सतो दृष्टं हि नाऽसतः ॥ २८ ॥
अयं सोऽहं ममेदं चेत्येवमन्तः सवासनम् ।
यथा दामादयः शक्र भावयन्ति तथा कुरु ॥ २९ ॥
या या जनस्य विपदो भावाभावदशाश्च याः ।
तृष्णाकरञ्जवल्यास्ता मञ्जर्यः कटुकोमलाः ॥ ३० ॥

ज्ञानी लोग आसक्तिको अनन्त दुःखोंकी खान कहते हैं तथा सर्वतः केवल अनासक्तिको सम्पूर्ण सुखोंकी खान कहते हैं ॥ २५ ॥

जबतक दाम, व्याल और कट इस संसारमें आसक्तिरहित हैं, तबतक जैसे मच्छरोंके लिए अग्नि अजेय होती है वैसे ही वे आपके अजेय होंगे ॥ २६ ॥

देहादिके विनाश द्वारा अपने नाशकी संभावनासे दीनताको प्राप्त हुई, भीतर स्थित, देहादिमें अहंभावग्रहण करनेवाली वासनासे जन्तु जीता जा सकता है, अन्यथा तो मच्छर भी अमर और अचल है ॥ २७ ॥

जहाँपर वासना रहती है वहींपर वह पीनताको प्राप्त होती है, क्योंकि धर्मीके रहनेपर पीनत्व नामक गुण होता है और उपचयके बिना पीनताकी सिद्धि नहीं होती। और उपचय भी दूसरे अवयवकी सिद्धि होनेपर होता है। द्वितीयता भी सत् ही पदार्थकी होती है, असत्की नहीं ॥ २८ ॥

हे इन्द्र, जिस उपायसे दाम, व्याल और कट अपने अन्तःकरणको यह देह आदि ही प्रसिद्ध मैं हूँ और यह जय-पराजय, पूजा, जीवन आदि मेरा है, इस प्रकार वासनायुक्त समझें, उस उपायको आप कीजिये ॥ २९ ॥

मनुष्यकी जो-जो विपत्तियाँ हैं और जो भाव और अभाव दशाएँ हैं, वे सब तृष्णारूपी करञ्जलताकी कड़वी और कोमल बौर हैं ॥ ३० ॥

वासनातन्तुबद्धो यो लोको विपरिवर्तते ।
सा प्रवृद्धाऽतिदुःखाय सुखायोच्छेदमागता ॥ ३१ ॥
धीरोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि कुलजोऽपि महानपि ।
तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंहः शृङ्खलया यथा ॥ ३२ ॥
देहपादपसंस्थस्य हृदयालयगामिनः ।
तृष्णा चित्तखगस्येयं वागुरा परिकल्पिता ॥ ३३ ॥
दीनो वासनया लोकः कृतान्तेनाऽपकृष्यते ।
रज्ज्वेव बालेन खगो विवशो भृशमुच्छ्वसन् ॥ ३४ ॥
अलमायुधभारेण संगरभ्रमणेन च ।
वासनाया विपर्यासं युक्त्या यत्नाद् रिपोः कुरु ॥ ३५ ॥
अन्तरक्षुभिते धैर्ये रिपोरमरनायक ।
न शस्त्राणि न चाऽस्त्राणि न शास्त्राणि जयन्ति च ॥ ३६ ॥

वासनारूपी रस्सीसे बँधा हुआ जो पुरुष आवा-गमन करता है, उस पुरुषकी वृद्धिको प्राप्त हुई वह वासना अति दुःखदायी होती है और नाशको प्राप्त हुई वह सुखके लिए होती है ॥ ३१ ॥

जैसे सिंह शृङ्खलासे बाँधा जाता है वैसे ही अत्यन्त धीर, अत्यन्त बहुज्ञ, कुलीन और महान् भी पुरुष तृष्णासे बाँधा जाता है ॥ ३२ ॥

यह तृष्णा क्या है यह शरीररूपी वृक्षपर बैठे हुए हृदयरूपी अपने निवासमें जानेवाले चित्तरूपी पक्षीका जाल बना हुआ है ॥ ३३ ॥

वासनासे दीन लोगोंको कृतान्त इस प्रकार खींचता है जैसे बालक रज्जुसे विवश और खूब श्वास छोड़ रहे पक्षीको खींचता है ॥ ३४ ॥

आयुधोंके समूहकी कोई आवश्यकता नहीं है एवं युद्धमें घूमनेकी भी कोई जरूरत नहीं है, आप केवल दाम, व्याल और कटकी वासनाके (शम्बरके संकल्पसे उत्पन्न हुई निरभिमान वासनाके) वैपरीत्यकी यानी अभिमानकी वृद्धि युक्तिपूर्वक प्रयत्नसे कीजिये ॥ ३५ ॥

हे देवराज, शत्रुके हृदयमें अक्षुभित धैर्यके रहनेपर न शस्त्र जीत सकते हैं, न अस्त्र जीत सकते हैं और न शुक्राचार्य आदि द्वारा प्रणीत नीति शास्त्र ही जीत सकते हैं ॥ ३६ ॥

दामव्यालकटास्त्वेते युद्धाभ्यासवशेन च ।
अहङ्कारमयीं मत्तास्ते ग्रहीष्यन्ति वासनाम् ॥ ३७ ॥
यदा तेऽत्यज्ञपुरुषाः शम्बरेण विनिर्मिताः ।
वासनामाश्रयिष्यन्ति तदा यास्यन्ति जेयताम् ॥ ३८ ॥
तत्तावद् युक्तियुद्धेन तान् प्रबोधयताऽमराः ।
यावदभ्यासवशतो भविष्यन्ति सवासनाः ॥ ३९ ॥
ततो वश्या भविष्यन्ति भवतां बद्धवासनाः ।
तृष्णाऽप्रोताशया लोके न च केचन पेलवाः ॥ ४० ॥
समविषममिदं जगत्समग्रं
समुपनतं स्थिरतां स्ववासनान्तः ।
चलचललहरीभरो यथाऽब्धा-
वत इह सैव चिकित्स्यतां प्रयाता ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे
पितामहवाक्यं नाम सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

वे मत्त दाम, व्याल और कट युद्धाभ्याससे ही अहंकारमयी वासनाका ग्रहण करेंगे ॥ ३७ ॥

तत्त्वज्ञोंकी अपेक्षा उनमें कौन-सी कमी है ? जिससे वे वासनाको ग्रहण करेंगे? इसपर कहते हैं—**'यदा ते'** इत्यादिसे ।

शम्बरासुरसे निर्मित वे अत्यन्त अज्ञ पुरुष थे, अतः जब वे वासनाका ग्रहण करेंगे, तब आप लोगोंके सुजेय हो जायँगे ॥ ३८ ॥

इसलिए हे देवताओ, आप लोग सर्वप्रथम युक्तियुद्धसे उन्हें व्यवहारकार्योंमें जागरूक कीजिये, व्यवहारकार्योंमें अभ्यस्त होनेके कारण वे वासनायुक्त हो जायँगे । वासनाओंके बद्धमूल होनेपर वे आप लोगोंके वशीभूत हो जायँगे, कोई भी पुरुष यदि तृष्णासे बिद्ध-अन्तःकरणवाले न हों, तो वे सहजमें सुजेय नहीं होते ॥३९,४०॥

जैसे जलाशयके अन्दर अत्यन्त चञ्चल तरह-तरहकी लहरियोंकी अधिकता जलरूपसे स्थित है, वैसे ही अपनी वासनाके मध्यमें स्थित यह सम और विषम समस्त

अष्टाविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा भगवान् देवांस्तत्रैवाऽन्तर्धिमाययौ ।
वेलावनितटे शब्दं कृत्वेवाऽम्बुतरङ्गकः ॥ १ ॥
सुरास्त्वाकर्ण्य तद्वाक्यं जग्मुः स्वाभिमतां दिशम् ।
कमलामोदमादाय वनमालामिवाऽनिलाः ॥ २ ॥
दिनानि कतिचित् स्वेषु कान्तेषु स्थिरकान्तिषु ।
द्विरेफा इव पद्मेषु मन्दिरेषु विशश्रमुः ॥ ३ ॥
कश्चित् कालं समासाद्य स्वात्मोदयकरं शुभम् ।
चक्रुर्दुन्दुभिनिर्घोषं प्रलयाभ्ररवोपमम् ॥ ४ ॥

जगत् प्रवाहसे नित्यताको प्राप्त हुआ स्थित है, इसलिए एकमात्र स्ववासना ही चिकित्सनीय है ॥ ४१ ॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

[विश्रामको प्राप्त हुए देवता और दानवोंका, वासनोदय होनेतक चिरकालीन युद्धका पुनः विस्तारसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे समुद्रकी तरङ्ग तीरभूमिके तटपर शब्द करके अन्तर्हित हो जाती है, वैसे ही भगवान् ब्रह्मा देवताओंको यह उपदेश देकर वहींपर अन्तर्हित हो गये ॥ १ ॥

जैसे वायु कमलोंकी सुगन्ध लेकर अपनी-अपनी अभिमत वनपङ्क्तियोंमें जाते हैं, वैसे ही देवता लोग भी उनके वचन सुनकर अपनी अभिमत दिशाको गये ॥ २ ॥

जैसे भ्रमर सुन्दर कमलोंपर विश्राम करते हैं, वैसे ही देवताओंने स्थिर कान्तिवाले अपने सुन्दर मन्दिरोंमें कुछ दिन विश्राम लिया ॥ ३ ॥

अपना अभ्युदय करनेवाले किसी शुभ अवसरको पाकर देवताओंने प्रलयकालके मेघकी ध्वनिके सदृश ध्वनिवाला दुन्दुभिघोष किया ॥ ४ ॥

अथ दैत्यैर्महाव्योम्नि तैः पातालतले स्थितैः ।
कालक्षेपकरं घोरं पुनर्युद्धमवर्तत ॥ ५ ॥
वबुरसिशरशक्तिमुद्गरौघा मुसलगदापरशूग्रचक्रशङ्खाः ।
अशनिगिरिशिलाहुताशवृक्षा अहिगरुडादिमुखानि चाऽऽयुधानि ॥ ६ ॥
मायाकृतायुधमहाम्बुघनप्रवाहा क्षिप्रावहा प्रतिदिशं किल निर्जगाम ।
पाषाणपर्वतमहीरुहलक्षवृक्षक्षुब्धाम्बुपूरघनघोषवती नदी द्राक् ॥ ७ ॥
मध्यप्रवाहवहदुल्मुकशूलशैलप्रासासिकुन्तशरतोमरमुद्गरौघा ।
गङ्गोपमाऽम्बुवलितामरमन्दिरेण सर्वासु दिक्ष्वशनिवर्षनिकर्षणेन ॥ ८ ॥
पृथ्व्यादिदारुणशरीरमयी प्रहारदानग्रहा गहनराशिशरीरकेव ।
मायोपशाम्यति सुरासुरसिद्धसन्ना मायाकृतिः पुनरुदेति न चैव सैव ॥ ९ ॥

दुन्दुभिघोष सुनकर दैत्योंके ऊपर आनेपर अन्तरिक्षमें पातालवासी उन दैत्योंके साथ देवताओंका दीर्घ समय वितानेवाला घोर युद्ध फिर शुरू हुआ ॥ ५ ॥

सर्गकी समाप्तितक युद्धका ही वर्णन करते हैं—**'वबुः'** इत्यादिसे ।

दोनों ओरसे तलवार, बाण, शक्ति और मुद्गरोंके समूह, मुसल, गदा, कुल्हाड़े, भीषण चक्र, शंखाकार अस्त्र, वज्र, पहाड़, शिलाएँ, अग्नि, वृक्ष तथा साँप, गरुड़ आदिके सदृश मुखवाले अनेक आयुध आकाशमें चलने लगे ॥ ६ ॥

मायासे रचे गये आयुध ही जिसमें बड़ाभारी निबिड़ जलप्रवाह था, शीघ्र बहनेवाली, पत्थर, पर्वत, लाखों साधारण वृक्ष और प्रधान वृक्षोंसे क्षुब्ध हुए जल-प्रवाहसे घन शब्द करनेवाली नदी तुरन्त चारों दिशाओंमें बहने लगी ॥ ७ ॥

पूर्वोक्त नदीका ही फिर वर्णन करते हैं—**'मध्य०'** इत्यादिसे ।

जिसके मध्यप्रवाहमें उल्मुक (अधजली लकड़ियां), त्रिशूल, पर्वत, भाले, तलवार, बर्छियां, बाण, तोमर और मुद्गरोंकी राशियां बह रही थीं, ऐसी वह नदी जिसने जलकी नाईं मेरु आदि देवमन्दिरोंको वेष्टित कर दिया था, ऐसे वज्र आदि आयुधोंकी वृष्टिसे हुए तटभंगसे गङ्गाके सदृश थी यानी मेरु आदि पर्वतोंपर बहने-वाली गङ्गाके तुल्य थी ॥ ८ ॥

अब सुर और असुरोंको परस्पर मोहमें डालनेके लिए विचित्र माया-निर्माण, प्रतीकारोंसे उसकी शान्ति, फिर फिर उसके तुल्य अन्य मायाओंके निर्माण और उनके उपशमको कहते हैं—**'पृथ्व्यादि०'** इत्यादिसे ।

पृथिवीमयी, जलमयी, तेजोमयी, वायुमयी, आकाशमयी-सी (जिसमें जैसे पृथ्वी घूमती-सी

शैलोपमायुधविघट्टितभूधराणि रक्ताम्बुपूरपरिपूर्णमहार्णवानि ।
देवासुरेन्द्रशवशैलविरूढकुन्ततालीवनानि ककुभां वदनानि चाऽऽसन् ॥१०॥
उद्गीर्णकुन्तशरशक्तिगदासिचक्रहेलानिगीर्णसुरदानवमुक्तशैला ।
काषोल्लसत्क्रकचदन्तनखाग्रमाला जीवान्विता ह्यपतदायससिंहसृष्टिः ॥ ११ ॥
उज्ज्वाललोचनविषज्वलनातपौघदिग्दाहदर्शितयुगान्तदिनेशसेना ।
उड्डीयमानपरिदीर्घमहामहीध्रमग्नाब्धिवद्विषधरावलिरुल्ललास ॥ १२ ॥

थी, गिरती-सी थी, रोकती-सी थी तथा जिसमें लोग जलमें डूबते-से थे, अग्निसे जलाये-से जाते थे, वायुसे उड़ते-से थे, महागर्तरूप आकाशमें गिरते-से थे) माया और पिशाच आदि शरीरमयी-सी माया (जैसे पिशाचोंके शरीर गिरते हैं, दौड़ते हैं, युद्ध करते हैं, इस प्रकारकी दारुणशरीरमयी माया), जिसमें दूसरेके प्रहारोंका ग्रहण करना और स्वयं प्रहार करना बार बार होता था, ऐसी दूसरी माया तथा शत्रुओंसे दुर्दमनीय ढेरकी तरह बहुत्वको प्राप्त हुए प्रत्येक योद्धाके शरीरसे युक्त, इस प्रकारकी भी माया, ये सब मायाएँ प्रयुक्त हो, सुर, असुर और सिद्धों द्वारा प्रतीकारोंसे विनष्ट होकर शान्त होती थीं, फिर वैसी ही माया उदित होती थी, वह क्या पहले उत्पन्न हुई माया ही है अथवा वह नहीं है, किन्तु अन्य ही है, यों यथार्थरूपसे उसे जानना कठिन था ॥ ९ ॥

उस युद्धमें दिशाओंके मुख शैलसदृश हथियारोंसे तहस-नहस किये गये पर्वतोंसे पूर्ण, रक्तरूपी जलके प्रवाहसे भरे हुए महासागरोंसे युक्त एवं देव और असुरोंमें श्रेष्ठ लोगोंके शवरूपी पर्वतोंपर गड़े हुए भालेरूपी ताड़-वनवाले हुए ॥१०॥

लोहमय आयुधरूपी सिंहोंकी सृष्टि, जिसमें चलाये हुए भाले, बाण, शक्ति, गदा, तलवार और चक्रों द्वारा सुर और दानवोंसे छोड़े गये पर्वत अनायास निगले गये थे, कटनेके कारण चमक रहे आरोंके दाँत ही जिनकी नखपङ्क्तियां थीं, दूसरेके जीवके हरण करनेके कारण जो जीवयुक्त थी, गिरी ॥ ११ ॥

ज्वालाएँ उगल रहीं नेत्रोंकी विषाग्नियोंके सन्तापसमूहसे उत्पन्न दिशाओंके दाहसे युगान्तमें एक साथ उदित हुए बारह सूर्योंकी सेना जिसने दर्शायी थी, ऐसी विषधर साँपोंकी पङ्क्ति चारों ओर उड़ रहे सर्वतः दीर्घ ऊँचाईमें बहुत बड़े पर्वतोंसे व्याप्त समुद्रके तुल्य सुशोभित हुई ॥ १२ ॥

उन्नादवज्रमकरोत्करकर्कशान्तःक्षुब्धाब्धिवीचिवलयैर्वलिताचलेन्द्रैः ।
आसीज्जगत् सकलमेव सुसङ्कटाङ्गमावृत्तिभिर्विविधहेतिनदीप्रवाहैः ॥ १३ ॥
शैलास्त्रशस्त्रगरुडाचलचालितोच्चनागं महासुरगणाङ्गणमन्तरिक्षम् ।
आसीत् क्षणं जलधिभिः क्षणमग्निपूरैः पूर्णं क्षणं दिनकरैः क्षणमन्धकारैः ॥१४॥
गरुडगुडगुडाकुलान्तरिक्षप्रविसृतहेतिहुताशपर्वतौघैः ।
जगदभवदसह्यकल्पकाले ज्वलितसुरालयभूतलान्तरालम् ॥ १५ ॥
उदपतन्नसुरा वसुधातलाद्गगनमद्रितटादिव पक्षिणः ।
अतिबलादपतन् विबुधा भुवि प्रलयचालितशैलशिला इव ॥ १६ ॥
शरीररूढोन्नतहेतिवृक्षवनावलीलग्नमहाग्निदाहाः ।
सुरासुराः प्रापुरथाऽम्बरान्तः कल्पानिलान्दोलितशैलशोभाम् ॥ १७ ॥

विविध शस्त्रास्त्रोंकी नदीके प्रवाहोंसे, जिन्होंने मेरु पर्वतको वेष्टित कर रक्खा था, खूब शब्द कर रहे, वज्र आदि रत्नोंसे और मगरोंके समूहसे कठिन तथा भीतर क्षुब्ध हुए समुद्रकी लहरोंसे सारा-का-सारा जगत् परिवर्तनों द्वारा पीड़ित हुआ॥१३॥

सुर और असुरोंका युद्धभूमिरूप आकाश शैलरूपी अस्त्रों, शस्त्रों, मायारचित गरुड़ोंसे और उखाड़ कर फेंके गये चट्टानोंसे पूर्ववर्णित दृष्टिविषवाले नागोंसे रहित होकर क्षणभरमें समुद्रोंसे भर जाता था, क्षणभरमें अग्निकी ज्वालाओंसे पूर्ण हो जाता था, क्षणभरमें सूर्योंसे पट जाता था और क्षणभरमें अन्धकारपटलोंसे व्याप्त हो जाता था ॥ १४ ॥

गरुड़ास्त्रसे उत्पन्न हुए गरुड़ोंसे और उनकी गुड़गुड़ ध्वनियोंसे व्याप्त आकाशमें फैले हुए आयुधरूपी अग्निके पर्वतोंके प्रवाहोंसे फिर भी सारा-का-सारा जगत् असह्य प्रलयकालकी तरह जिसमें स्वर्ग और भूतलका मध्यभाग जला हो, ऐसा हो गया ॥ १५ ॥

जैसे पर्वतके तटसे पक्षी ऊपरको उड़ते हैं, वैसे ही दैत्य भूमितलसे आकाशकी ओर ऊपरको उठते थे और प्रलयकालमें वायुसे चलाई गईं शैलशिलाओंके समान देवता बड़े वेगसे ऊपरसे नीचेको गिरते थे ॥ १६ ॥

जिनके शरीरमें गड़े हुए ऊँचे-ऊँचे आयुधरूपी वृक्षोंसे बनी हुई वनपङ्क्तियोंमें महान् अग्निदाह हो रहा था, ऐसे असुरोंने आकाशके बीच प्रलयकालमें वायुसे झकझोरे गये पर्वतकी शोभा प्राप्त की ॥ १७ ॥

सुरासुराद्रीन्द्रशरीरमुक्तै रक्तप्रवाहैरभितो भ्रमद्भिः ।
बभार पूर्णं परितोऽम्बरोऽद्रेः सन्ध्याकरौघक्षतमङ्ग गङ्गाम् ॥ १८ ॥
गिरिवर्षणमम्बुवर्षणं विविधोग्रायुधवर्षणं तथा ।
विषमाशनिवर्षणं च ते सममन्योन्यमथाऽग्निवर्षणम् ॥ १९ ॥
अनयन्नयमार्गकोविदा दलिताशेषगिरीन्द्रभित्तयः ।
ससृजुश्च समं समन्ततः करिकुम्भेष्विव पुण्यवर्षणम् ॥ २० ॥
देवासुराः समरसंभ्रममाकुलास्ते अन्योन्यमङ्गदलनाकुलहेतिहस्ताः ।
नागेन्द्रडिम्भपृतनापृथुपीठपेषैः कीर्णश्रियो नभसि बभ्रमुरक्षिपन्तः ॥ २१ ॥
छिन्नैः शिरःकरभुजोरुभरैर्भ्रमद्भिराकाशकाष्ठशलभैरशिवैस्तदानीम् ।
आसीज्जगज्जठरमभ्रभरैरिवोग्रैराभास्करस्थगितदिक्तटशैलजालम् ॥ २२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरु पर्वतकी चारों ओर आकाश सुर और असुररूपी उत्तम पर्वतोंके शरीरोंसे निकले हुए, चारों ओर घूम रहे, रक्तप्रवाहोंसे पूर्ण सन्ध्यारूपी नायिकाके नखक्षतोंको धारण करता था अथवा पूर्वोक्त रक्तप्रवाहोंसे पूर्ण गङ्गाको धारण करता था ॥ १८ ॥

वे देव और असुर एक ही साथ एक दूसरेपर पर्वतोंकी वृष्टि, जलकी वृष्टि, विविध भीषण आयुधोंकी वृष्टि, विषम वज्रोंकी वृष्टि और अग्निवृष्टि करते थे, नीतिमार्गको जाननेवाले वे देव और असुर, जिन्होंने सकल श्रेष्ठ पर्वतोंके शिखर तोड़ दिये थे, चारों ओर एक साथ हाथियोंके कुम्भस्थलोंपर विशेष उत्सवमें क्रीड़ाके लिए पिचकारी आदिसे कुङ्कुम, चन्दन आदि रसकी वृष्टिके समान उपर्युक्त वृष्टियोंकी सृष्टि करते थे ॥ १९,२० ॥

परस्पर युद्धोत्साहका त्याग न कर रहे देवता और असुर परस्पर शरीरोंको काटनेके लिए व्यग्र, अस्त्रोंसे युक्त हाथवाले होकर ऐरावत आदि दिग्गजोंकी सन्ततिरूप हाथियोंकी सेनाओंके बड़े-बड़े पीढ़ोंके सदृश विशाल पीठोंको पीसनेकी तरह पीडा करनेवाले बड़े भारी सामग्रीके साथ सवारी करनेसे शोभाको प्राप्त होकर आकाशमें घूमते थे ॥ २१ ॥

कटे हुए सिर, हाथ, भुजा और उरुओंके समूहोंसे, जो आकाश और दिशाओंमें उत्पातसूचक टिड्डियोंके तुल्य घूम रहे थे, मेघोंकी घटाओंकी तरह सारा जगत्का मध्यभाग, ऐसा हो गया कि उसमें सूर्य, दिशाओंके तट और शैल समूह ये सब-के-सब आच्छादित हो गये ॥ २२ ॥

रटद्भटास्फोटकटिस्फुटद्भिः समीरितैर्हेतिकलासितौघैः ।
परस्पराघातहतैः पतद्भिर्जगाम शीर्णा दलशो धरित्री ॥ २३ ॥
अन्योन्यमायुधशिलाचलवृक्षवर्षैर्मेरुप्रमाणकठिनाङ्गनिघर्षणैश्च ।
आसीद्रणं चटचटास्फुटदन्तरिक्षं कल्पक्षयान्तमिव भीममरोग्रनादैः ॥ २४ ॥
मत्तानिलक्षुब्धजलानलार्कदलद्वयं दीर्घसुरासुरौघम् ।
ब्रह्माण्डमाखण्डितकुड्यकोणमकालकल्पान्तकरालमासीत् ॥ २५ ॥
भ्रान्तैर्भृशं भरितदिक्तटमद्रिकूटैरात्मप्रमाणघनहेतिहतै रणद्भिः ।
कूजद्भिरार्तिभिरिवोग्रगुहोच्चवातैः क्रन्दद्भिरापतितसिंहरवैरदभ्रैः ॥ २६ ॥
मायानदीजलधियोधघनाग्निदाहैर्वृक्षैः सुरासुरशवैरचलैः शिलोच्चैः ।
भ्रान्तैः शरासिशितशक्तिगदास्त्रशस्त्रैर्वातावकीर्णवनपर्णवदन्तरन्तः ॥ २७ ॥

भली भाँति छोड़े गये, सिंहनाद कर रहे भटोंके टकरानेसे कमरमें टूट रहे तथा परस्परके टकरानेसे टुकड़े टुकड़े होकर गिर रहे आयुधोंसे और क्षेपिणी आदि यन्त्रों द्वारा फेंके गये पत्थर, पर्वत आदिके समूहोंसे छिन्न-भिन्न हुई पृथिवी चूर-चूर हो गई ॥ २३ ॥

परस्पर आयुध शिला, पर्वत, वृक्षोंकी वर्षासे तथा मेरुके समान विशाल कठिन शरीरोंके परस्पर टकरानेसे उत्पन्न हुए बड़े भारी भीषण उग्र नादोंसे जिसमें चटचटा शब्दसे आकाश फूट रहा था, ऐसा वह रण प्रलयके समान हुआ ॥ २४ ॥

जिसमें प्रचण्ड आंधीसे नीचे जल और अग्नि क्षुब्ध थे तथा ऊपर सूर्य क्षुब्ध थे ऐसे दो कपालवाला, मायासे बढ़े हुए सुर और असुरोंके समूहसे पूर्ण, जिसके प्रान्तभागकी दीवारोंके कोने खण्डित हो गये थे, ऐसा ब्रह्माण्ड अकालमें हुए प्रलयके समान भीषण हुआ ॥ २५ ॥

अपने सदृश विशाल और निबिड आयुधोंसे आहत अतएव खूब घूम रहे, घूमनेमें शब्द कर रहे, विशाल गुहाओंके तेज वायुरूपी पीड़ासे कँराह रहे-से, दीर्घ हो रहे प्राप्त सिंहके शब्दोंसे रो रहे-से स्थित हुए पर्वतोंके शिखरोंसे दिशाओंके तट भर गये ॥ २६ ॥

वायुसे व्याप्त वनके पत्तेकी नाईं भीतर ही भीतर घूम रहे माया निर्मित नदी, समुद्र, भट, निबिड अग्निदाहोंसे, वृक्षोंसे, देवता और असुरोंके शवोंसे, पर्वतोंसे, चट्टानोंसे तथा बाण, तलवार, चोखी-चोखी शक्तियों, गदाओं और शस्त्रास्त्रोंसे दिशाओंके तट भर गये ॥ २७ ॥

अद्रीन्द्रपक्षपरिमाणगमाक्षमोक्तदुर्वारहस्तिबलदारुणदेहकैर्द्राक् ।
आसीत् पतद्भटशरीरगिरीन्द्रवातविभ्रष्टदेवपुरपूर्णजलार्णवौघम् ॥ २८ ॥
घनघुङ्घुमपूरितान्तरिक्षा क्षतजक्षालितभूधराधरा च ।
रुधिरह्रदवृत्तिवर्तिनी वा भुवनाभोगगुहा तदाकुलाऽभूत् ॥ २९ ॥
अनन्तदृक्प्रसृतविकारकारिणी क्षयोदयोन्मुखसुखदुःखशंसिनी ।
रणक्रियाऽसुरसुरघट्टसङ्कटा तदाऽभवत् खलु सदृशीह संसृतेः ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटपुनर्युद्धवर्णनं नामाऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

मेरु पर्वतके नीचेके पर्वतोंके सदृश परिमाणवाले अतएव मनुष्यादिके संचारके निरोधक होनेसे गमनागमनके अयोग्य पूर्वोक्त दुर्दान्त हस्तिसेनाओंके शवोंसे दिशाओंके तट भर गये थे और गिर रहे भटोंके शरीररूपी पर्वत और वायुसे ढहे हुए देवनगरोंसे सब दिक्तटोंके सागरोंके समूह पूर्ण हो गये थे ॥ २८ ॥

उस समय ब्रह्माण्डकी उदरगुहा निविड घुंघुम ध्वनिसे परिपूर्ण आकाशवाली, खूनसे धोये हुए पर्वत, पृथिवी, पाताल आदिसे युक्त, खूनका तालाब ही जिनका आहार है, ऐसे पिशाचादिकी तरह वृत्तिवाली होकर आकुल हो गई ॥ २९ ॥

इन्द्रादि देवताओंके विस्तृत भय आदिका विकार करानेवाली (अविद्यापक्षमें त्रिविध परिच्छेदशून्य आत्मचैतन्यमें फैले हुए जगद्रूप विकारको करानेवाली), क्षयोन्मुख और उदयोन्मुख लोगोंके लिए सुख और दुःखको कहनेवाली, प्रसिद्ध सुर और असुरोंके (अविद्यापक्षमें अशास्त्रीय चित्तवृत्तिरूप असुरोंके और शास्त्रीय चित्तवृत्तिरूप सुरोंके) परस्पर समागमसे संकटाकीर्ण रणक्रिया अविद्यादिसंसारके सदृश हुई ॥ ३० ॥

अट्ठाईसवां सर्ग समाप्त

एकोनत्रिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवंप्रायाकुलारम्भैरसुरैरसुहारिभिः ।
सहसाऽऽहृतसंरब्धैरारब्धः सुमहान् रणः ॥ १ ॥
माययाऽथ विवादेन संधिना विग्रहेण च ।
पलायनेन धैर्येण च्छन्नगोपायनेन च ॥ २ ॥
कार्पण्येनाऽस्त्रयुद्धेन स्वान्तर्द्धानैश्च भूरिशः ।
धृतः स सङ्गरो दैवैस्त्रिंशद्वर्षाणि पञ्चकम् ॥ ३ ॥
वर्षाणि दिवसान्मासान्दशाऽष्टौ सप्त पञ्च च ।
वर्षाणि पेतुर्वृक्षाग्निहेत्येकाशनिभूभृताम् ॥ ४ ॥
एतावता तु कालेन दृढाभ्यासादहङ्कृतेः ।
दामादयोऽहमित्यास्थां जगृहुर्ग्रस्तचेतसः ॥ ५ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग

[दाम आदिके, जिन्हें देवताओंके प्रयत्नसे देहाभिमान प्राप्त हो गया था, युद्धमें विषादका, तदनन्तर पलायन और पराजयका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकारके व्यग्रताबहुल रणारम्भवाले अत्यन्त क्रोधयुक्त प्राणग्राही असुरोंने बड़ा भारी संग्राम सहसा आरम्भ किया। उस युद्धको देवताओंने किसी समय एकमात्र वाग्युद्धसे, किसी समय दानादि उपायरूप सन्धिसे, किसी समय पलायनसे, किसी समय धैर्यसे, छिपकर अपने लोगोंकी रक्षा करनेसे, किसी समय कृपणके सदृश शरणागतिकी याच्ञा आदिसे, किसी समय अस्त्रयुद्धसे और बार-बार अपने अन्तर्धानोंसे तीस वर्ष तक चलाया, दूसरा युद्ध पाँच वर्ष आठ महीने दस दिन चलाया और तीसरा युद्ध बारह वर्षतक चलाया। तबतक लगातार दोनों सेनाओंमें पेड़ों, अग्नियों, आयुधों और मुख्य-मुख्य वज्रों और पर्वतोंकी वृष्टियाँ गिरीं ॥ १, ४ ॥

इतने समयतक अहङ्कारका दृढ़ अभ्यास होनेके कारण वासनासे ग्रस्त चित्त हुए दाम, व्याल और कटने 'अहम्' ऐसा अभिमान ग्रहण कर लिया ॥ ५ ॥

नैकट्यातिशयाद् यद्वद् दर्पणं बिम्बवद् भवेत् ।
अभ्यासातिशयात् तद्वत् ते साहङ्कारतां गताः ॥ ६ ॥

यद्वद् दूरगतं वस्तु नाऽऽदर्शे प्रतिबिम्बति ।
पदार्थवासना तद्वदनभ्यासान्न जायते ॥ ७ ॥

यदा दामादयो जाता अहङ्कारात्मवासनाः ।
तदा मे जीवितं मेऽर्थ इति दैन्यमुपागताः ॥ ८ ॥

भववासनया ग्रस्ता मोहवासनया ततः ।
आशापाशनिबद्धास्ते ततः कृपणतां गताः ॥ ९ ॥

मुग्धेव ह्यनहङ्कारैर्ममत्वमुपकल्पितम् ।
रज्वां भुजङ्गत्वमिव दामव्यालकटैस्ततः ॥ १० ॥

आपादमस्तको देहः कथं मे भवतु स्थिरः ।
ममेति तृष्णाकृपणा दीनतां ते समाययुः ॥ ११ ॥

अभिमानका अभ्यास अहङ्कारकी दृढ़ताका हेतु है, इसे दृष्टान्त द्वारा दर्शाते हैं—**'नैकट्या०'** इत्यादिसे ।

जैसे अत्यन्त निकटता होनेके कारण दर्पण बिम्बसे युक्त हो जाता है वैसे ही कल्पनाका अभ्यास होनेके कारण वे अहङ्कारको प्राप्त हुए ॥ ६ ॥

जैसे दूरस्थित वस्तु दर्पणमें प्रतिबिम्बित नहीं होती वैसे ही अभ्यासका त्याग करनेके कारण पदार्थमें वासना उत्पन्न नहीं होती ॥ ७ ॥

जब अहङ्कार ही आत्मा है, ऐसी वासनावाले दाम आदि हुए, तब मेरा जीवन रहे, मेरे धन हो, इस प्रकारके आशयवाले वे दीनताको प्राप्त हुए ॥ ८ ॥

तदनन्तर विहित-निषिद्ध प्रवृत्तिकी वासनासे वे ग्रस्त हुए । तदनन्तर मेरा शरीर नीरोग, दृढ़ और भोगसमर्थ हो, इत्यादि मोहवासनासे ग्रस्त हुए । तदनन्तर आशारूपी पाशोंसे बँधे हुए वे मुग्धाके समान कृपणताको प्राप्त हुए । तदनन्तर जैसे रस्सीमें सर्पत्वकी कल्पना होती है वैसे ही अहङ्कारशून्य दाम, व्याल और कटने ममताकी कल्पना की ॥ ९—१० ॥

पैरसे लेकर मस्तकतक मेरा सारा शरीर कैसे स्थित हो, 'मेरा' इस प्रकारकी तृष्णासे कृपण हुए वे दीनताको प्राप्त हुए ॥ ११ ॥

स्थिरो भवतु मे देहः सुखायाऽस्तु धनं मम ।
इति बद्धधियां तेषां धैर्यमन्तर्धिमाययौ ॥ १२ ॥
सवासनत्वाद्वपुषामल्पसत्त्वात् सुरद्विषाम् ।
या तु प्रहारपरता मार्जितेवाऽऽशु साऽभवत् ॥ १३ ॥
कथं सुरा जगत्यस्मिन् भवाम इति चिन्तया ।
विवशा दीनतां जग्मुः पद्मा इव निरम्भसः ॥ १४ ॥
तेषां योषान्नपानेन स्वाहङ्कृतिमतां रतिः ।
बभूव भावभावस्था भीषणा भवभाजिनी ॥ १५ ॥
अथ तस्मिन् रणे भीत्या सापेक्षत्वमुपाययुः ।
मत्तेभघनसंरब्धे वने हरिणका इव ॥ १६ ॥
मरिष्यामो मरिष्याम इति चिन्ताहताशयाः ।
मन्दं मन्दं किल भ्रेमुः कुपितैरावणे रणे ॥ १७ ॥
शरीरैकार्थिनां तेषां भीतानां मरणादपि ।
अल्पसत्त्वतया मूर्ध्नि कृतमेव पैरः पदम् ॥ १८ ॥

मेरा शरीर स्थिर हो, मेरे सुखके लिए धन हो, इस प्रकारकी बद्धमूल हुई बुद्धिसे युक्त उन लोगोंका धैर्य छिप गया ॥ १२ ॥

दाम आदि दैत्योंके वासनायुक्त होनेके कारण शरीरमें अल्प सामर्थ्य होनेसे पहले जो प्रहार करनेमें तत्परता थी, वह तुरन्त मिटाई हुई लिपिके समान स्वकार्यमें असमर्थ हो गई ॥ १३ ॥

हम इस जगत्में कैसे अमर हों, इस चिन्तासे विवश हुए वे जलसे निकाले गये कमलोंकी तरह दीनताको प्राप्त हुए ॥ १४ ॥

अपनेमें अहङ्कारवाले दाम, व्याल और कटकी स्त्री, अन्न-पानसे विषयोंकी भावनामें स्थित अतएव संसारको प्राप्त करानेवाली भीषण आसक्ति हुई ॥ १५ ॥

तदनन्तर जैसे मत्त हाथियोंसे खूब कुपित हुए वनमें हरिण अपने जीवनके विषयमें प्रयत्नशील होते हैं वैसे ही उस रणमें भयके कारण वे अपने जीवनमें प्रयत्नशील हुए ॥ १६ ॥

वे लोग हम मरेंगे, हम मरेंगे, इस चिन्तासे आहतहृदय होकर कुपित ऐरावतवाले रणमें धीरे-धीरे घूमने लगे ॥ १७ ॥

मरणसे भयभीत हुए एकमात्र शरीरको चाहनेवाले उनके सिरपर अल्प बल होनेके कारण शत्रुओंने पैर रख ही दिया ॥ १८ ॥

अथ प्रम्लानसत्त्वास्ते हन्तुमग्रगतं भटम् ।
न शेकुरिन्धने क्षीणे हविर्दग्धुमिवाऽग्नयः ॥ १९ ॥
विबुधानां प्रहरतां मशकत्वमुपागताः ।
क्षतविक्षतसंघातास्तस्थुः सामान्यसङ्कटाः ॥ २० ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन मरणाद् भीतचेतसः ।
दैत्या देवेषु वल्गत्सु दुद्रुवुः समराजिरात् ॥ २१ ॥
तेषु द्रवत्सु भीतेषु सर्वतो दानवादिषु ।
दामव्यालकटाख्येषु विख्यातेषु सुरालये ॥ २२ ॥
तद्दैत्यसैन्यं न्यपतद्विद्रुतं खादितस्ततः ।
कल्पान्तपवनोद्धूतं ताराजालमिवाऽभितः ॥ २३ ॥
अमराचलकुञ्जेषु शिखराणां शिखासु च ।
तटेषु वारिराशीनां पयोदपटलेषु च ॥ २४ ॥
सागरावर्तगर्तेषु श्वभ्रेषूद्यत्सरित्सु च ।
जङ्गलेषु दिगन्तेषु ज्वलत्सु विपिनेषु च ॥ २५ ॥

जैसे लकड़ियोंके जल जानेपर अग्नि चरुको नहीं जला सकती वैसे ही क्षीण-बल होनेके कारण वे अपने सन्मुख आये हुए भटको मारनेमें समर्थ नहीं हुए ॥१९॥

प्रहार कर रहे देवताओंके सामने मच्छररूपताको प्राप्त हुए क्षत-विक्षत शरीरवाले वे अन्यान्य साधारण सङ्कटों की नाईं स्थित हुए ॥ २० ॥

बहुत क्या कहें, मरणसे भयभीत चित्तवाले वे दाम आदि दैत्य देवताओंके आक्रमण करनेपर समरभूमिको छोड़कर भाग निकले ॥ २१ ॥

स्वर्गमें ख्याति प्राप्त किए हुए दाम-व्याल-कटनामक उन दैत्योंके भयभीत होकर चारों ओर भागनेपर भागी हुई सारी दैत्यसेना आकाशसे इधर-उधर ऐसे गिरने लगी, जैसे कि प्रलयकालके प्रचण्ड वायुसे उड़ाया गया तारासमूह आकाशसे इधर-उधर चारों ओर गिरता है ॥ २२, २३ ॥

सुमेरु पर्वतके कुञ्जोंमें, पर्वतोंके शिखरोंकी चट्टानोंपर, समुद्रोंके तटोंपर, मेघोंकी घटाओंमें, सागरके भँवररूप गर्तोंमें, अन्यान्य गर्तोंमें, बाढ़से बढी हुई नदियोंमें, जङ्गलोंमें, जलते हुए दिशाके प्रान्त प्रदेशोंमें, जलते हुए वनोंमें, देवता और असुरोंके बाणोंसे ध्वस्त हुए देशों, ग्रामों और नगरोंमें, सिंह

तद्बाणोच्छिन्नदेशेषु ग्रामेषु नगरेषु च ।
अटवीषूग्रपक्षासु मरुभूमिदवाग्निषु ॥ २६ ॥
लोकालोकाचलान्तेषु पर्वतेषु ह्रदेषु च ।
आन्ध्रद्रविडकाश्मीरपारसीकपुरेषु च ॥ २७ ॥
नानाम्भोधितरङ्गासु गङ्गाजलघटासु च ।
द्वीपान्तरेषु जालेषु जम्बूखण्डलतासु च ॥ २८ ॥
सर्वतः पर्वताकाराः पतितास्ते सुरारयः ।
विस्फोटिताङ्गचरणा विभिन्नकरबाहवः ॥ २९ ॥
शाखालग्नान्त्रतन्त्रीका मुक्तरक्तभरच्छटाः ।
व्यस्तशेखरमूर्द्धानो निष्क्रान्ताः कुपितेक्षणाः ॥ ३० ॥
सायुधा बलमायेषुच्छिन्नकङ्कटहेतयः ।
दूरापातविपर्यस्तपतन्नानायुधांशुकाः ॥ ३१ ॥
कण्ठलम्बिशिरस्त्राणचटत्कारोग्रभीतयः ।
शिखाशतशिलाप्रोता देहभागविलम्बिनः ॥ ३२ ॥

व्याघ्र आदिके निवासभूत गहन अटवियोंमें, मरुभूमिरूप वनाग्नियोंमें, लोकालोक पर्वतके प्रान्तदेशोंमें, पर्वतोंमें, तालाबोंमें, आन्ध्र, द्रविड़, काश्मीर और पारसीक नगरोंमें, नाना* समुद्रोंमें जिनकी तरङ्गे गिरती हैं, ऐसे गङ्गाजलके मुहानोंमें, अन्यान्य द्वीपोंमें, मछलियोंको पकड़नेके लिए फैलाए हुए जालोंमें, जम्बूखण्डनामक देशोंकी लताओंमें, मतलब यह कि सब ओर पर्वतके आकारवाले वे दैत्य गिरे। उनमें किसीके शरीर और पैर छिन्न-भिन्न थे तो किसीके हाथ और भुजाएँ कट गई थीं, किन्हींके आँतड़ीरूपी ताँते शाखाओंमें उलझी थीं, वे सब-के-सब शरीरसे खूनकी धारा वर्षा रहे थे, उनके मस्तकके माला, आभरण आदि अस्त-व्यस्त हो गये थे, उनके चरण अत्यन्त कट-फट गये थे, आँखोंसे क्रोध टपक रहा था ॥ २४–३० ॥

वे लोग आयुधोंसे युक्त थे, सेनाओंने माया द्वारा और बाणों द्वारा उनके कवच और आयुध नष्ट-भ्रष्ट कर दिये थे, दूर भागनेसे अस्त-व्यस्त हुए अनेक प्रकारके उनके अस्त्र और वस्त्रोंकी श्रेणियाँ गिर रही थीं, गलेमें लटके हुए शिरस्त्राणोंके

* गङ्गाजी हजार मुँहोंसे समुद्रमें प्रवेश करती हैं, इसलिए एक भी समुद्र प्रदेशभेदसे नाना कहा गया है ।

शाल्मल्युग्रदृढापातकटत्कण्टकसङ्कटाः ।
सुशिलाफलकास्फालशतधाशीर्णमस्तकाः ॥ ३३ ॥

सर्व एव सकलायुधशस्त्रपातमात्रसमनन्तरमेव ।
दिक्षु नाशमगमन्नसुरेन्द्राः पांसवोऽम्बुदनिधौ पयसीव ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटोपाख्याने असुरपरिभ्रंशो नाम एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति तुष्टेषु देवेषु दानवेषु हतेषु च ।
दामव्यालकटा दीना बभूवुर्भयविह्वलाः ॥ १ ॥

चटचट शब्दसे उन्हें बड़ा भय हो रहा था, सैकड़ों शिखाओंसे, जिनके अग्रभागमें गाँठें थीं, वे पर्वतकी चोटियोंके शिलाओंमें गुंथ गये थे, अतएव उनके शरीर लटक रहे थे, काँटेदार सेमलके पेड़ोंमें जोरसे गिरनेपर चुभ रहे काँटोंसे वे बड़े संकटाकीर्ण हो गये थे, बड़ी-बड़ी शिलारूपी फलकोंमें टकरानेसे उनके मस्तकके सैकड़ों टुकड़े हो गये थे ॥ ३१—३३ ॥

जैसे वर्षाऋतुमें जलमें धूलिकण नाशको प्राप्त होते हैं, वैसे ही इस प्रकार सभी असुरनायक सब शस्त्रोंके समाप्त होनेके अनन्तर ही दिशाओंमें नाशको प्राप्त हो गये ॥ ३४ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

[पातालमें यमराजसे जलाये गये दाम आदिकी काश्मीरदेशमें मछली होने तक जन्मपरम्पराओंका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह दानवोंके नष्ट हो जानेपर और देवताओंके सन्तुष्ट होनेपर अत्यन्त खिन्न हुए दाम, व्याल और कट शम्बरके भयसे व्याकुल हो गये ॥ १ ॥

जज्वाल कुपितः क्केति कल्पान्ताग्निरिव ज्वलन् ।
शम्बरः शमितानीको दामव्यालकटान् प्रति ॥ २ ॥
शम्बरस्य भयाद्गत्वा पातालमथ सप्तमम् ।
दामव्यालकटास्तस्थुस्त्यक्त्वाऽथ निजमण्डलम् ॥ ३ ॥
यमस्य किङ्करा यत्र ये कालत्रासनक्षमाः ।
कुतूहलेन तिष्ठन्ति नरकार्णवपालकाः ॥ ४ ॥
ते तेषामथ यातानां दत्त्वाऽभयमभीरवः ।
चिन्ता इव घनाकाराः कुमारीश्च ददुः क्रमात् ॥ ५ ॥
तैः सार्द्धं नीतवन्तस्ते तत्र दामादयोऽवधिम् ।
दशवर्षसहस्रान्तमात्तानन्तकुवासनाः ॥ ६ ॥
इयं मे कामिनी कन्या ममेयं प्रभुतेति च ।
दुरूढस्नेहबन्धानां कालस्तेषां व्यवर्तत ॥ ७ ॥

शम्बरासुरकी सारी सेना नष्ट हो गई थी, अतएव जल रही प्रलयकालकी अग्निकी तरह कुपित हुआ वह 'वे कहां गये' यों दाम, व्याल और कटके प्रति जल उठा ॥२॥

तदनन्तर दाम, व्याल और कट शम्बरके भयसे अपने देशको छोड़कर सातवें पातालमें चले गये ॥ ३ ॥

वहाँपर भी क्या उन्हें शम्बरका भय नहीं था ? इस शङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं—**'यमस्य'** इत्यादिसे ।

जहाँपर नरकरूपी समुद्रकी रक्षा करनेवाले यमराजके सेवक स्वेच्छासे रहते थे । वे कालकी तरह औरों को भयभीत करनेमें समर्थ थे, अतएव वहाँपर शम्बरका भय न था, यह भाव है ॥ ४ ॥

तदनन्तर भयरहित यमराजके सेवकोंने शरणमें आये हुए उन तीनोंको अभय देकर मूर्तिमती चिन्ताओंकी तरह क्रमसे तीन कन्याएँ दीं ॥ ५ ॥

अनन्त कुवासनाओंको प्राप्त हुए उन दाम आदिने वहाँपर दस हजार वर्ष-पर्यन्त शेष आयु यमराजके सेवकोंके साथ बिताई ॥ ६ ॥

उन कुवासनाओंको ही विस्तारसे दिखलाते हैं—**'इयम्'** इत्यादिसे ।

यह मेरी स्त्री है, यह मेरी कन्या है और यह मेरी प्रभुता है, इस प्रकार दुरूढस्नेहबन्धनसे युक्त उनका समय बीता ॥ ७ ॥

धर्मराजोऽथ तं देशं कदाचित् समुपाययौ ।
महानरककार्याणां विचारार्थं यदृच्छया ॥ ८ ॥
अपरिज्ञातमेनं ते धर्मराजं त्रयोऽसुराः ।
न प्रणेमुर्विनाशाय सामान्यमिव किङ्करम् ॥ ९ ॥
अथ वैवस्वतेनैते ज्वलितास्रग्रभूमिषु ।
विहितभ्रूपरिस्पन्दमात्रेणैव निवेशिताः ॥ १० ॥
तत्र ते करुणाक्रन्दाः ससुहृद्दारबन्धवः ।
प्रदग्धाः पर्णविटपा वृक्षा इव वनानलैः ॥ ११ ॥
स्वया वासनया जातास्तयैव क्रूरया पुनः ।
बन्धकर्मकराकाराः किराता राजकिङ्कराः ॥ १२ ॥
तज्जन्माऽथ परित्यज्य जाताः श्वभ्रेषु वायसाः ।
तदन्ते गृध्रतां यातास्ततोऽपि शुकतां गताः ॥ १३ ॥
सूकरत्वं त्रिगर्तेषु मेषत्वं पर्वतेषु च ।
मगधेष्वथ कीटत्वं बभ्रुस्ते च कुबुद्धयः ॥ १४ ॥

तदुपरान्त किसी समय यमराज अपनी इच्छासे महानरकोंके कार्यका विचार करनेके लिए उस प्रदेशमें आये ॥ ८ ॥

छत्र, चामर आदि चिह्नोंको न देखनेके कारण वे यमराजको नहीं पहचान सके, अतएव साधारण सेवकके समान उन तीनों असुरोंने अपने विनाशके लिए उन्हें प्रणाम नहीं किया ॥ ९ ॥

तदुपरान्त यमराजने अपने एकमात्र भृकुटि चढ़ानेसे ही उन्हें जलती हुई रौरवादि भीषण नरकभूमियोंमें पहुँचा दिया ॥ १० ॥

जैसे वनानल द्वारा छोटे-छोटे वृक्ष जलाये जाते हैं, वैसे ही वहाँपर करुण-क्रन्दन करनेवाले वे अपने इष्ट मित्र, स्त्री, बन्धु-बान्धवों सहित रौरवादि नरकोंकी अग्निज्वालाओंसे जलाये गये ॥ ११ ॥

तदनन्तर वध और बन्धनकर्म करनेवाले यमकिंकरोंके साथ सहवास होनेके कारण वे उसी अपनी क्रूर वासनासे वध और बन्धन कर्म करनेवालोंके आकारके राजकिंकर किरात हुए ॥ १२ ॥

किरातजन्मका त्याग करके गर्तोंमें कौए हुए, कौओंके जन्मके बाद उन्हें गिद्धका जन्म मिला, उसके बाद वे सुग्गे हुए, फिर त्रिगर्त देशमें वे सूकर हुए और पर्वतोंमें मेष हुए। तदनन्तर उन कुबुद्धियोंने मगध देशमें कीटता धारण की ॥१३,१४॥

अनुभूतयेनरामन्यां चित्रां योनिपरम्पराम् ।
अद्य मत्स्याः स्थिता राम काश्मीरारण्यपल्वले ॥ १५ ॥
दावाग्निक्वथिताल्पाल्पपङ्ककल्पाम्बुपायिनः ।
न म्रियन्ते न जीवन्ति जरज्जम्बालजर्जराः ॥ १६ ॥
विचित्रयोनिसंरम्भमनुभूय पुनः पुनः ।
भूत्वा भूत्वा पुनर्नष्टास्तरङ्गा जलधाविव ॥ १७ ॥
भवजलधिगतास्ते वामनातन्तुनुन्नास्तृणमिव चिरमूढा देहरूपैस्तरङ्गैः ।
उपशममनुपयाता राम नाऽद्याप्यनन्तं परिकलय महत्त्वं दारुणं वासनायाः ॥१८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटजन्मान्तरचित्रवर्णनं नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अन्य विविध योनिपरम्पराओंका भोग कर आज वे काश्मीर देशके जङ्गलकी तलैयामें मछली बनकर स्थित हैं ॥ १५ ॥

सूखे हुए कीचड़से लथ-पथ शरीरवाले और वनाग्निसे खौलाया हुआ थोड़ा-थोड़ा कीचड़के तुल्य गन्दा जल पीनेवाले वे न तो मरते हैं और न जीते ही हैं ॥१६॥

जैसे समुद्रमें तरङ्गें हो होकर नष्ट हो जाती हैं वैसे ही विचित्र योनियोंमें भ्रमणका अनुभव कर पुनः पुनः हो होकर वे पुनः नष्ट हुए ॥ १७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूपी जलधिमें पड़े हुए वे वासनारूपी तन्तुओंसे प्रेरित होकर देहरूप तरंगोंसे तृणकी तरह चिरकालतक विविध प्रदेशोंमें पहुँचाये गये । आज भी अपरिच्छेद्य फलरूप शान्तिको वे प्राप्त नहीं हुए हैं । वासनाकी भीषण महानर्थरूपताको इसी दृष्टान्तसे आप सर्वत्र देखिये ॥ १८ ॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

एकत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अतः प्रबोधाय तव वच्मि राम महामते ।
दामव्यालकटन्यायो मा तेऽस्त्विति तु लीलया ॥ १ ॥
अविवेकानुसन्धानाच्चित्तमापदमीदृशीम् ।
अनन्तभवदुःखाय परिगृह्णाति हेलया ॥ २ ॥
क्व किलाऽमरविध्वंसिशम्बरानीकनाथता ।
क्व तापतप्तजम्बालजालजर्जरमीनता ॥ ३ ॥
क्व धैर्यममरानीकविद्रावणकरं महत् ।
क्व किरातमहीपालक्षुद्रकिङ्कररूपता ॥ ४ ॥
क्व नाम निरहङ्कारचित्सत्त्वोदारधीरता ।
क्व मिथ्यावासनावेशादहङ्कारकुकल्पना ॥ ५ ॥

इकतीसवाँ सर्ग

[अहङ्कारसे अर्थहानि और अनर्थप्राप्ति कहकर दामादिकी सत्ता और असत्ताका निराकरण]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—इसलिए हे महामति श्रीरामचन्द्रजी, आपको सरलतासे समझानेके लिए दाम-व्याल-कट-न्याय आपका न हो, ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १ ॥

विवेकका अनुसन्धान न होनेसे चित्त इस प्रकारकी आपत्तिको अनन्त जन्मरूप दुःखके लिए अनायास ग्रहण करता है ॥ २ ॥

कहाँ तो देवताओंका विनाश करनेवाली शम्बरासुरकी सेनाओंका सेनापतित्व और कहाँ वनाग्निके तापसे तपी हुई कीचड़राशिमें जीर्ण-शीर्ण मीनता ? भाव यह कि पहलेकी निरभिमानितासे पीछेके अभिमानमें फलतः बड़ा अन्तर है ॥ ३ ॥

कहाँ देवताओंकी सेनाको भगानेवाला वह महान् धैर्य और कहाँ किरात-राजकी क्षुद्रसेवकता ? ॥ ४ ॥

कहाँ निरहङ्कार चिन्मय सत्त्वकी उदार धीरता और कहाँ मिथ्या वासनाके आवेशसे अहङ्कारकी कुकल्पना ? ॥ ५ ॥

शाखाप्रतानगहना संसारविषमञ्जरी ।
अहङ्काराङ्कुरादेव समुदेतीयमातता ॥ ६ ॥

अहङ्कारमतो राम मार्जयाऽन्तः प्रयत्नतः ।
अहं न किंचिदेवेति भावयित्वा सुखी भव ॥ ७ ॥

अहङ्काराम्बुदच्छन्नं परमार्थेन्दुमण्डलम् ।
रसायनमयं शीतमदृश्यत्वमुपागतम् ॥ ८ ॥

अहङ्कारपिशाचार्ता दामव्यालकटास्त्रयः ।
गतास्सत्तामसन्तोऽपि मायामाहात्म्यदानवाः ॥ ९ ॥

काश्मीरेषु महारण्यसरसीवनपल्वले ।
अद्य मत्स्याः स्थिता राम शैवाललवलालसाः ॥ १० ॥

शाखाओंके विस्तारसे गहन, चारों ओर फैली हुई, बौरोंसे भरी हुई संसाररूपी यह विषलता अहङ्काररूपी अङ्कुरसे ही आविर्भूत होती है ॥ ६ ॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अपने अन्तःकरणसे अहङ्कारको प्रयत्नपूर्वक हटा दीजिये । मैं कुछ भी नहीं हूँ, ऐसी भावना कर सुखी होइये, भाव यह कि जड़ दृश्यमें सर्वत्र इदन्ताका ही दर्शन होता है, अतः उसमें अहन्त्वका योग नहीं है, अहङ्कार आदि सबके साक्षी द्रष्टृस्वरूपमें अभिमानरूप धर्मका सम्भव न होनेसे अहन्त्व हो नहीं सकता । द्रष्टा और दृश्यसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसलिए अहन्त्वका आश्रय कुछ भी नहीं है, ऐसी यथार्थरूपसे भावना कर सुखी होइये ॥७॥

अहङ्कारकी अनर्थहेतुता कह कर वह पुरुषार्थका विघात भी करती है, ऐसा कहते हैं—'**अहङ्कार०**' इत्यादिसे ।

अहङ्काररूपी मेघसे आच्छादित, आनन्दैकरस, तीनों तापोंसे रहित पुरुषार्थरूपी चन्द्रमण्डल अदृश्य हो गया है ॥ ८ ॥

मायाके माहात्म्यसे दानव बने हुए दाम, व्याल और कट ये तीनों यद्यपि जन्म-मरणप्रवाहकी सत्तासे रहित थे तथापि अहङ्काररूपी पिशाचसे पीडित होकर जन्म-मरणप्रवाहकी सत्ताको प्राप्त हुए ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस समय वे काश्मीर देशमें गहन वनकी तलैयामें सेवारके टुकड़ोंके अभिलाषी मत्स्यरूपसे स्थित हैं ॥ १० ॥

श्रीराम उवाच

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
ते ह्यसन्तः कथं सत्तां संपन्ना इति मे वद ॥ ११ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवमेतन्महाबाहो नाऽसत् संभवति क्वचित् ।
कदाचित् किंचिदप्येव बृहत् संपद्यते तनु ॥ १२ ॥
किमसत् संस्थितं ब्रूहि किं तत् सद्वाऽथ संस्थितम् ।
सम्यङ् निदर्शनेनैव करिष्ये तव बोधनम् ॥ १३ ॥

श्रीराम उवाच

सन्त एव स्थिताः सन्तो ब्रह्मन् वयमिमे किल ।
दामादयस्त्वसन्तोऽपि वक्षि सन्तः स्थिता इति ॥ १४ ॥

'असन्तोऽपि गतास्सत्ताम्' यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उसकी अनुपपत्तिकी शङ्का करते हैं—**'नाऽसतः'** इत्यादि ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, असत् पदार्थकी सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं होता, यह प्रसिद्ध है । ऐसी स्थितिमें असत् वे दाम आदि कैसे सत्ताको प्राप्त हुए, यह कृपाकर मुझसे कहिये ॥ ११ ॥

अपने विशेष अभिप्रायको कहनेके लिए श्रीवसिष्ठजी पहले श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काका स्वीकार कर उसका परिहार करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—महाबाहो, जैसा आप कहते हैं वैसा ही है। सत्य वस्तु कहीं कभी भी कुछ भी असत् नहीं हो सकती, किन्तु सूक्ष्म ही सत् आविर्भावसे बृहत् होता है, वही उसकी उत्पत्ति है । बृहत् तिरोभावसे सूक्ष्म हो जाता है, वही उसका विनाश है, यह भाव है ॥ १२ ॥

भले ही ऐसा हो, पर ऐसी अवस्थामें अनात्मवस्तुओंमें सत्ता और असत्ताके विभागका निरूपण ही करना कठिन हो जायगा, ऐसा कहनेवाले श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीसे पूछते हैं—**'किमसत्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, कौन वस्तु सत् है अथवा कौन असत् है, यह बतलाइये । मैं भलीभाँति दृष्टान्तसे ही आपको समझाऊँगा ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, ये सत् हम लोग सत् होकर ही स्थित हैं ।

वसिष्ठ उवाच

यथा दामादयो राम स्थिता मायामया इति ।
असत्या एव सत्याभा मृगतृष्णाम्बुपूरवत् ॥ १५ ॥
तथैवेमे वयमपि ससुरासुरदानवाः ।
असत्या एव वल्गामो याम आयाम एव च ॥ १६ ॥
अलीकमेव त्वद्भावो मद्भावोऽलीकमेव च ।
अनुभूतोऽप्यसद्रूपः स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ १७ ॥
मृतो बन्धुर्यथा स्वप्नेऽप्यनुभूतोऽप्यसन्मयः ।
मृतोऽयमिति चेज्ज्ञप्तिर्भवेदेवमिदं जगत् ॥ १८ ॥

असत् भी दाम आदि सत् हैं, ऐसा आप कहते हैं । भाव यह है कि हम लोगोंकी सत्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे सिद्ध है। मायामात्र होनेसे दाम आदिकी असत्ता स्वयं आपने ही कही है, फिर पूर्वापरविरुद्ध उनकी सत्ता आप कैसे कहते हैं, कृपया बतलाइये, आपका क्या अभिप्राय है ? ॥ १४ ॥

यदि व्यावहारिक प्रमाणोंके व्यवहारयोग्य होनेके कारण हम लोगोंके शरीरोंकी आप सत्ता मानते हैं, तो दाम आदिकी भी वह सत्ता समान ही है । यदि तत्त्वज्ञानसे बाध्य होनेके कारण या दुर्निरूपणीय होनेके कारण असत्ता कहते हैं, तो वह भी उनकी हमारे तुल्य ही है, इसलिए मेरे कथनमें कुछ विरोध नहीं है, इस आशयसे वसिष्ठजी उत्तर कहते हैं **'यथा'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दाम आदि मृगतृष्णाके जलके प्रवाहके सदृश मायामय होनेसे असत्य होते हुए भी सत्यके सदृश स्थित हैं वैसे ही देवता, असुर तथा दानवोंके सहित ये हम लोग भी असत्य होते हुए ही बोलते हैं, जाते हैं और आते हैं ॥ १५,१६ ॥

स्वप्नमें अनुभूत अपना मरना जैसे अलीक है, वैसे ही अनुभूत होता हुआ भी असद्रूप आपका भाव (रामशरीरभाव) अलीक ही है और मेरा भाव (वसिष्ठशरीरभाव) भी अलीक ही है ॥ १७ ॥

जैसे मरा हुआ अपना बन्धु स्वप्नमें दृष्टिगोचर भी हो जाय, तो भी यह मर गया है, ऐसा यदि ज्ञान हो, तो वह असन्मय ही है वैसे ही अनुभूत भी यह जगत् असन्मय ही है ॥ १८ ॥

एषाऽतिमूढविषय उक्तिरेव न राजते ।
अभ्यासेन विनोदेति नाऽनुभूतेरपह्नवः ॥ १९ ॥
निश्चयोऽन्तःप्ररूढो यः सम्पन्नोऽभ्यसनं विना ।
नाशमायाति लोकेऽस्मिन्न कदाचन कस्यचित् ॥ २० ॥
इदं जगदसद् ब्रह्म सत्यमित्येव वक्ति यः ।
तमुन्मत्तमिवोन्मत्तो विमूढोऽपि हसत्यलम् ॥ २१ ॥
अक्षीबक्षीबयोरैक्यं क्व किलेहाऽज्ञतज्ज्ञयोः ।
अन्धप्रकाशयोर्बोधे स्याच्छायातपयोरिव ॥ २२ ॥
यत्नेनाप्यनुभूतोऽर्थः सत्ये कर्तुमपह्नवम् ।
अज्ञोऽन्तश्च न शक्नोति शवमाक्रमणं यथा ॥ २३ ॥

जिसे जगत्की सत्यताका पूर्ण निश्चय है, वह अत्यन्त मूढ़ है, उसके प्रति यह जगत्की असत्यताका कथन सुशोभित नहीं ही होता। परमार्थ तत्त्वके विचारके अभ्यासके बिना 'जगत् सत्य है' इस अनुभवका अपलाप उदित नहीं होता ॥१९॥

इसी प्रकार पूर्वोत्पन्न कुसंस्कारोंका नाश भी शास्त्रार्थ तत्त्वके अभ्यासके बिना उदित नहीं होता, ऐसा कहते हैं—**'निश्चय०'** इत्यादिसे।

हृदयमें आरूढ़ हुआ जो निश्चय प्राप्त हो गया, इस लोकमें कभी किसीका भी वह निश्चय शास्त्राभ्यासके बिना नष्ट नहीं होता ॥ २० ॥

अतएव अनधिकारी पुरुषमें उपदेशवचन उन्मत्तके प्रलापके तुल्य होनेसे अज्ञ और अभिज्ञ दोनोंके उपहासके योग्य होता है, ऐसा कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे।

यह जगत् असत्य है, ब्रह्म सत्य है, ऐसा जो अनधिकारीके प्रति कहता है, उन्मत्त और विमूढ़ पुरुष भी उसका उन्मत्तके तुल्य उपहास करता है ॥ २१ ॥

यदि अज्ञोंको उपदेश न दे और अज्ञोंके साथ अज्ञचेष्टासे ही अभिज्ञ भी व्यवहार करे, तो वह भी अज्ञ ही हो जायगा, ऐसी अवस्थामें अज्ञ और ज्ञानीकी एकता हो जायगी, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—**'अक्षीब०'** इत्यादिसे।

जैसे मदिराके नशेमें मत्त और नशेसे रहित पुरुषोंकी, अन्धकार और प्रकाशकी एवं छाया और आतपकी एकता नहीं हो सकती वैसे ही बोधविषयमें अज्ञ और ज्ञानीकी भी एकता यहाँ नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

इसलिए भी अज्ञको उपदेश नहीं देना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'यत्नेन'** इत्यादिसे।

ब्रह्म सर्वं जगदिति वक्तुं नाऽज्ञस्य युज्यते ।
तपोविद्यानन्नुभवे स तदेवाऽनुभूतवान् ॥ २४ ॥
अबुद्धविषये ह्येषा राम वाक् प्रविराजते ।
बुद्धस्याऽस्मीति रूपेण किल नाऽस्त्येव किञ्चन ॥ २५ ॥

जैसे शव अपने चरणोंसे भ्रमण नहीं कर सकता वैसे ही अज्ञ पुरुषको चाहे कितने ही अधिक प्रयत्नसे क्यों न समझाइये, तथापि वह भीतर मन, बुद्धि आदिके भेदसे और बाहर रूप, रस आदिके भेदसे अनुभूत द्वैतरूप अर्थका सत्य अधिष्ठानमें 'नेति नेति'से बाध नहीं कर सकता । और अध्यस्त पदार्थके बाधके बिना अधिष्ठान तत्त्वका बोध नहीं किया जा सकता, इसलिए उसको बोधका उपदेश देना व्यर्थ है ॥ २३ ॥

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन' इस श्रुतिसे ज्ञानमें अधिकारकी सिद्धिके लिए तप आदिका विधान है, इसलिए भी तप, उपासना आदिसे असंस्कृत अज्ञ उपदेशके योग्य नहीं, ऐसा कहते हैं—**'ब्रह्म'** इत्यादिसे ।

'सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है' ऐसा उपदेश देनेके लिए अज्ञ योग्य नहीं है, क्योंकि तप, विद्या आदिका अनुभव न होनेपर यानी अनुभवप्रयुक्त संस्कार न होनेपर इस अज्ञने संसारी देहात्मभावका ही अनादिकालसे अनुभव किया है, कभी भी असंसारी आत्मभावका अनुभव नहीं किया ॥ २४ ॥

तब कहांपर उपदेशवचन सुशोभित होते हैं, इसपर कहते हैं—**'अबुद्ध०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह उपदेशवाणी अल्प प्रबुद्धके विषयमें ही सुशोभित होती है । जो पुरुष पूर्ण प्रबुद्ध हो गया, उसको तो 'अस्मि' (मैं हूँ), इस प्रकार अहङ्कारास्पदरूपसे परामर्श करनेके लिए कुछ भी नहीं है, इसलिए वह भी उपदेशके योग्य नहीं है । इस ग्रन्थके आरम्भमें कहा भी है—

'नाऽत्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः सोऽस्मिन् शास्त्रेऽधिकारवान्'

अर्थात् न तो जो अत्यन्त अज्ञानी है और न पूर्ण ज्ञानी है, वह इस शास्त्रमें अधिकारी है ॥ २५ ॥

ब्रह्मैवेदं परं शान्तमित्येवाऽनुभवन् सुधीः ।
अपह्नवः स्वानुभूतेः कर्तुं तस्य क्व युज्यते ॥ २६ ॥
परस्माद्व्यतिरेकेण नाऽहमात्मनि किञ्चन ।
हेमनीवोर्मिकादित्वं न मय्यस्ति विशिष्टता ॥ २७ ॥
भूतताव्यतिरेकेण मूढेनाऽऽत्मनि किञ्चन ।
ऊर्म्यादिबुद्धौ हेमेवाऽज्ञे नाऽस्ति परमार्थता ॥ २८ ॥
मिथ्याहन्तामयो मूढः सत्यैकात्ममयः सुधीः ।
युज्यते न क्वचिन्नाम स्वभावापह्नवोऽनयोः ॥ २९ ॥

मैं हूँ, यह बोध करनेकी शक्ति न होनेसे जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यार्थ-बोधमें पूर्ण ज्ञानीका अधिकार नहीं है वैसे ही निषेध्य वस्तुके न होनेसे 'नेति नेति' इस अपह्नव वाक्यार्थबोधमें भी ज्ञानीका अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'ब्रह्मैव'** इत्यादिसे ।

यह सब शान्त परम ब्रह्म ही है, ज्ञानी इस प्रकार अनुभव करता है । उसकी अपनी अनुभूतिका अपलाप कौन कर सकता है ॥ २६ ॥

यदि कोई शङ्का करे सुवर्णमें अँगूठीके अपह्नवकी तरह अहङ्कारका ही ब्रह्ममें अपह्नव ज्ञानी क्यों नहीं करता है ? तो इसपर कहते हैं—**'परस्मात्'** इत्यादिसे ।

आत्मामें परब्रह्मसे अतिरिक्त स्वर्णमें अँगूठी आदिके समान प्रातीतिक भी अहंपदवाच्य ज्ञानीके लिए कुछ नहीं है, क्योंकि अद्वितीय आत्मामें अज्ञ आदमीके समान विशिष्टता भ्रान्तिसे भी नहीं है, जिसमें विशेषणका अपलाप किया जाय ॥ २७ ॥

ज्ञानीकी दृष्टिसे जगत्की तरह अज्ञानीकी दृष्टिसे परमार्थ भी अत्यन्त असत् है, इसलिए उसे परमार्थ तत्त्वका अस्तित्व समझाना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है, ऐसा कहते हैं—**'भूतता०'** इत्यादिसे ।

मूढ़ पुरुष आत्मामें पाञ्चभौतिक कार्यकारणमात्रसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानता, इसलिए अँगूठीकी बुद्धिमें सुवर्णकी तरह अज्ञानीमें परमार्थता नहीं है ॥२८॥

उक्त विषयको ही संक्षेपसे स्पष्टतया कहते हैं—**'मिथ्या'** इत्यादिसे ।

मूढ़ मिथ्या अहङ्कारमय है और सुधी एकमात्र सत्यतत्त्वमय है, इन दोनोंके

यो यन्मयस्तस्य तस्मिन् युज्यतेऽपह्नवः कथम् ।
पुरुषस्य घटोऽस्मीति वाक्यमुन्मत्तमेव हि ॥ ३० ॥
तस्मान्नेमे वयं सत्या न च दामादयः क्वचित् ।
असत्यास्ते वयं चेमे नाऽस्ति नः खलु संभवः ॥ ३१ ॥
सत्यं संवेदनं शुद्धं बोधाकाशं निरञ्जनम् ।
सत्यं सर्वगतं शान्तमस्त्यनस्तमयोदयम् ॥ ३२ ॥
सर्वं शान्तं च निःशून्यं न किञ्चिदिव संस्थितम् ।
तत्र व्योम्नि विभान्तीमा निजाभासोऽङ्ग सृष्टयः ॥ ३३ ॥

स्वभावका अपलाप कहींपर कोई भी नहीं कर सकता। जिसका जैसा स्वभाव रहता है, उसमें उसका अपलाप कैसे हो सकता है ?

जिसे अन्य आत्माका (संसारी देहात्माका) निश्चय है, उसे अन्य आत्माका (असंसारी आत्माका) उपदेश देना व्यर्थ है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—**'पुरुषस्य'** इत्यादिसे ।

पुरुषका 'मैं घट हूँ' यह वाक्य उन्मत्त प्रलाप नहीं तो और क्या है ? ॥२९,३०॥

उपोद्घातमय विषयका, जिसका पूर्वमें उपपादन किया था, उपसंहार करते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

ये प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहे वसिष्ठ, राम आदि देहरूपसे प्रसिद्ध हम लोग एवं दाम आदि शास्त्रदृष्टिसे भी सत्य नहीं हैं, वे और ये हम लोग विद्वदनुभवदृष्टिसे भी सत्य नहीं है। हम लोगोंका सम्भव है ही नहीं यानी यौक्तिकदृष्टिसे भी हम लोग असत्य हैं ॥ ३१ ॥

तब क्या सत्य है ? उसे कहते हैं—**'सत्यम्'** इत्यादिसे ।

शुद्ध, सर्वगत, शान्त, निर्विकार चिदाकाश ज्ञानके समान शास्त्रदृष्टिसे भी सत्य है, विद्वानोंके अनुभवसे भी सत्य है और यौक्तिक दृष्टिसे भी वही अन्तरहित उदयसे युक्त है ॥ ३२ ॥

सारा जगत् उपरत हो गया ।

शङ्का—क्या ऐसा उपरत हुआ कि शून्य ही शेष रह गया ?

समाधान—नहीं, शून्यरहित उपरत हुआ ।

शङ्का—तब उपरत कैसे हुआ ?

समाधान—सर्वशून्य की तरह (न कि शून्य ही) सन्मात्र पूर्णभावसे स्थित है ।

यथा तैमिरिकाक्षस्य सहजा एव दृष्टयः ।
केशोण्डूकादिवद् भान्ति तथेमास्तत्र सृष्टयः ॥ ३४ ॥
स आत्मानं यथा वेत्ति तथाऽनुभवति क्षणात् ।
चिदाकाशस्ततोऽसत्यमपि सत्यं तदीक्षणात् ॥ ३५ ॥
न सत्यमस्ति नाऽसत्यमिति तस्माज्जगत्रये ।
यद्यथा वेत्ति चिद्रूपं तत्तथोदेत्यसंशयम् ॥ ३६ ॥
यथा दामादयस्तद्वदेवमभ्युदिता वयम् ।
सत्यासत्याः किमत्राऽङ्ग तान् प्रत्यपि विकल्पना ॥ ३७ ॥
अन्यानन्तस्य चिद्व्योम्नः सर्वगस्य निराकृतेः ।
चिदुदेति यथा याऽन्तस्तथा सा तत्र भात्यलम् ॥ ३८ ॥
यत्र दामादिरूपेण संवित्प्रकचिता स्वयम् ।
तथा सा तत्र संपन्ना तथाकारानुभूतितः ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस चिदाकाशमें ये अपनी अन्यथा रूपसे प्रथारूपी सृष्टियाँ शोभित होती हैं ॥ ३३ ॥

जैसे तिमिर रोगसे पीडित आँखवाले पुरुषकी स्वाभाविक ही दृष्टियाँ केशोंके वर्तुलाकार गोलोंकी तरह मालूम होती हैं वैसे ही उसमें ये सृष्टियाँ शोभित होती हैं ॥ ३४ ॥

वह सत्यात्मा अपने आत्माको जिस-जिस प्रकारसे जानता है ठीक उसी प्रकारसे एक क्षणमें अमुभव करता है। इसलिए सत्यात्माके दृष्टिबलसे असत्य वस्तु भी एक क्षणभरमें सत्य-सी हो जाती है ॥ ३५ ॥

यदि सत्यात्माके दृष्टिबलसे असत्य भी सत्य हो जाता है, तो जगत्का क्या स्वरूप है, इसपर कहते हैं—**'न सत्यम्'** इत्यादिसे।

इसलिए तीनों जगतोंमें न कुछ सत्य है न असत्य है। चेतनरूप आत्मा जिसको जैसा जानता है, वह उस प्रकार उदित होता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ३६ ॥

जैसे दाम आदि उत्पन्न हुए हैं वैसे ही हम लोग भी उत्पन्न हुए हैं। उन्हींके प्रति सत्य और असत्यकी कल्पना क्यों, यह अनन्त चिदाकाश सर्वगामी, सर्वव्यापक और निराकार है। जो चित् अन्तःकरणमें जैसे उदित होती है, वह वैसे ही वहाँपर प्रतीत होती है। जहाँपर संवित् दामादिके रूपसे स्वयं ही विकासको प्राप्त हुई, वहांपर वह वैसे आकारके अनुभवसे वैसी ही बन गई ॥ ३८,३९ ॥

अस्मदादिस्वरूपेण संविद्यत्रोदिता स्वयम् ।
तथाऽसौ तत्र संपन्ना तथाकारानुभूतितः ॥ ४० ॥
स्वस्वप्नप्रतिभासस्य जगदित्यभिधा कृता ।
चिद्व्योम्नो व्योमवपुषस्तापस्येव मृगाम्बुता ॥ ४१ ॥
यत्र प्रबुद्धं चिद्व्योम तत्र दृश्याभिधा कृता ।
यत्र सुप्तं तु तेनैव तत्र मोक्षाभिधा कृता ॥ ४२ ॥
न च तत् क्वचिदासुप्तं न प्रबुद्धं कदाचन ।
चिद्व्योम केवलं दृश्यं जगदित्यवगम्यताम् ॥ ४३ ॥
निर्वाणमेव सर्गश्रीः सर्गश्रीरेव निर्वृतिः ।
नाऽनयोः शब्दयोरर्थभेदः पर्याययोरिव ॥ ४४ ॥

जहांपर हम लोगोंके स्वरूपसे संवित् स्वयं उदित हुई, वहांपर वह वैसे आकारके अनुभवसे वैसी ही बन गई ॥ ४० ॥

जैसे मरुस्थलकी सूर्यकिरणके तापकी मृगतृष्णारूपता होती है वैसे ही अपने स्वप्नके तुल्य चिदाकाशके शून्य शरीरका चिदाकाशने ही जगत् यह नाम रख छोड़ा है ॥ ४१ ॥

जगत्के विषयमें जागरूक 'बाह्यपदार्थज्ञानरूप' जो चिदाकाश है, उसका उसीने दृश्य नाम रक्खा है, अद्वितीय स्वप्रकाशरूप अपने आत्मामें सोया हुआ यानी बाह्योपलब्धिरहित जो चिदाकाश है, उसका उसीने मोक्ष नाम रक्खा है। श्रुति भी है—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत्केन कं पश्येत्' (जिस अवस्था में द्वैत-सा होता है, उस अवस्थामें अन्यको अन्य देखता है, जहाँपर सब इसका स्वरूप ही हो गया, उस अवस्थामें कौन किसको किससे देखे?)॥४२॥

ये तो दूसरेको समझानेके लिए दो अवस्थाएँ सादृश्यकी कल्पनासे कही गई हैं, वास्तविक जो स्थिति है, उसे तो अब कहते हैं—**'न च'** इत्यादिसे।

वह चिदाकाश न तो कभी सोया है और न कभी जागा है, चिदाकाश ही दृश्य जगत् है, ऐसा आप निश्चय जानिये ॥ ४३ ॥

जब एकमात्र चिदाकाश ही दृश्य है, तब सृष्टि और मोक्षका भेद ही न रहा, ऐसा कहते हैं—**'निर्वाणमेव'** इत्यादिसे।

निर्वाण ही सृष्टि है तथा सृष्टि ही निर्वाण है। घट, कलश पर्यायशब्दोंके समान इन दोनों शब्दोंका अर्थ भिन्न नहीं है ॥ ४४ ॥

परमार्थो जगदिति रूपं वेत्ति स्वयं स्वकम् ।
यथा तैमिरिकं चक्षुः केशोण्ड्रकमिवेक्षते ॥ ४५ ॥
न तत् केशोण्ड्रकं किञ्चित् सा हि दृष्टिस्तथा स्थिता ।
नेदं दृश्यमिदं किञ्चिदित्थं चिद्व्योम संस्थितम् ॥ ४६ ॥
सर्वत्र सर्वमिदमस्ति यथाऽनुभूतं नो किञ्चन क्वचिदिहाऽस्ति न चाऽनुभूतम् ।
शान्तं सदेकमिदमाततमित्थमास्ते संत्यक्तशोकभयभेदमतस्त्वमास्व ॥४७॥
शिलोदराकारघनं प्रशान्तं महाचिते रूपमिदं स्वमच्छम् ।
नैवाऽस्ति नाऽस्तीति दृशौ क्वचित्तु यच्चाऽस्ति तत्साधु तदेव भाति ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे सदसन्निराकरणं नामैकत्रिंशः सर्गः

जैसे तिमिर रोगसे पीड़ित नेत्र केशोंका वर्तुलाकार गोला-सा देखता है वैसे ही अज्ञानोपहित आत्मा स्वयं अपने परमार्थ और जगत् यों दो रूप जानता है ॥४५॥

किन्तु वह केशोंका वर्तुलाकार गोला कुछ भी नहीं है, वह दृष्टि ही वैसी स्थित है, इसी प्रकार यह दृश्य कुछ नहीं है, यह चिदाकाश ही इस प्रकार दृश्य-रूपसे स्थित है। अध्यारोपदृष्टिमें सर्वगामी चिदाकाशमें सबका आरोप हो सकनेसे सर्वत्र यथानुभूत यह सब है, अपवाददृष्टिमें तो यह अनुभूत कहींपर कुछ नहीं है। इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों प्रकारोंमें यह जगत् भेदरहित अतएव अद्वितीय सत् पूर्ण है, इसलिए आप भी शोक, भय और भेदका त्याग कर पूर्ण होइये ॥४६,४७॥

स्फटिक शिलाके मध्यभागके समान शून्याकार प्रतीत होता हुआ भी घन, शान्त, निर्मल महाचितिका यह रूप उसमें प्रतिबिम्बित वन, नगर, नदी आदिके स्वरूपके समान है। नहीं है, इस दृष्टिमें तो कहीं नहीं है और जो प्रतिभानमात्रसे है, वह चिद्रूप ही स्पष्टरूपसे वैसा भासित होता है ॥ ४८ ॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

द्वात्रिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

सतामप्यसतामेव बालयक्षपिशाचवत् ।
दामव्यालकटादीनां दुःखस्याऽन्तः कथं भवेत् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

दामव्यालकुटुम्बैस्तैस्तदैव यमकिङ्करैः ।
प्रार्थितेन यमेनोक्तमिदं शृणु रघूद्वह ॥ २ ॥
यदा वियोगमेष्यन्ति श्रोष्यन्ति च निजां कथाम् ।
दामादयस्तदा मुक्ता भविष्यन्तीत्यसंशयम् ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

स्ववृत्तान्तमिमं कुत्र कदा कथयते कथम् ।
श्रोष्यन्ति भगवंस्ते वा वर्णयेदं यथाक्रमम् ॥ ४ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग

[मछली और सारसके जन्मकी प्राप्तिसे वियुक्त हुए दाम आदिकी राजमहलमें मशक आदिके शरीरोंमें ज्ञान प्राप्त कर मुक्तिका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिवर, बालकोंके यक्ष और पिशाचकी नाईं अज्ञानियोंकी दृष्टिसे सत् होते हुए भी वास्तवमें असत् दाम, व्याल और कटके दुःखका अन्त कब होगा ? ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघूद्वह, दाम, व्याल और कटके बान्धवरूप उन यमकिङ्करोंने उसी समय यमसे विनती की । उनके विनय करनेपर यमने यह कहा, उसे सुनिये ॥ २ ॥

जब ये दाम आदि वियोगको प्राप्त होंगे और शम्बरकी मायासे कल्पित जीवभावरूपता तथा वासनारहित अद्वितीय चिन्मात्ररूपताकी अपनी कथाको सुनेंगे, तब ये अपने यथार्थ तत्त्वको जानकर मुक्त हो जायँगे ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन् , वे अपने इस वृत्तान्तको कहाँ, कब, कैसे और किससे सुनेंगे ? इसे आप क्रमसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

काश्मीरेषु महापद्मसरसीतीरपल्वले ।
भूयो भूयोऽनुभूयैव मत्स्ययोनिपरम्पराम् ॥ ५ ॥
आलोलिताशया लोलाः कालेन लयमागताः ।
तत्रैव पद्मसरसि ते भविष्यन्ति सारसाः ॥ ६ ॥
तत्र कह्लारमालासु सरोजपटलीषु च ।
शैवालवरवल्लीषु तरङ्गवलनासु च ॥ ७ ॥
चलत्कुसुमदोलासु नीलोत्पललतासु च ।
सीकरौघाभ्रलेखासु शीतलावर्तवर्तिषु ॥ ८ ॥
सारसाः सरसान् भोगान् भुक्त्वा भुवनभूषणाः ।
विहृत्य सुचिरं कालमलमागतशुद्धयः ॥ ९ ॥
ते वियुक्ता भविष्यन्ति मुक्तये लब्धबुद्धयः ।
रजस्सत्त्वतमांसीव भेदं प्राप्य यदृच्छया ॥ १० ॥
काश्मीरमण्डलस्याऽन्तर्नगरं नगशोभितम् ।
नाम्नाऽधिष्ठानमित्येव श्रीमत्तस्य भविष्यति ॥ ११ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, काश्मीर देशमें बड़े भारी कमलोंके तालाबके तीरकी तलैयामें बार-बार मछलीकी योनियोंका भोग करके ग्रीष्म ऋतुमें भैंस, सूअर आदिसे जिनकी तलैया रौंदी गई थी, अतएव चञ्चल तथा समय पाकर कालके कवल हुए वे उसी कमलके तालाबमें सारस होंगे ॥ ५,६ ॥

वहाँपर श्वेत कमलकी पङ्क्तियोंसे युक्त भाँति-भाँतिके कमलोंकी श्रेणियोंमें, सुन्दर सेवारकी लताओंमें, तरङ्गोंमें, हिल रहे फूलरूपी झूलोंसे युक्त नील कमलकी लताओंमें तथा शीतल आवर्त्तोंमें स्थित अतएव जलबिन्दुओंको वर्षा रहीं मेघपङ्क्तियोंमें विविध सरस भोगोंका भोग कर बहुत दिनोंतक खूब विहार कर शुद्ध हुए भुवनभूषण वे सारस जैसे विवेकदृष्टिसे पर्यालोचित होनेपर सत्त्व, रज और तम मुक्तिके लिये भेदको प्राप्त होते हैं वैसे ही विचारबुद्धिको प्राप्त हो स्वेच्छासे मुक्तिके लिये विवेकको प्राप्तकर वियुक्त होंगे ॥ ७—१० ॥

उक्त काश्मीर देशके मध्यमें पर्वतों और वृक्षोंसे सुशोभित बड़ा सुन्दर अधिष्ठान नामका नगर होगा ॥ ११ ॥

प्रद्युम्नशिखरं नाम तस्य मध्ये भविष्यति ।
शृङ्गं लघु सरोजस्य कोशचक्रमिवोदरे ॥ १२ ॥
तस्य मूर्ध्नि गिरेर्गेहं कश्चिद्राजा भविष्यति ।
अभ्रंकषमहाशालं शृङ्गे शृङ्गमिवाऽपरम् ॥ १३ ॥
गृहस्येशानकोणेऽस्ति शिरोभित्तिव्रणोदरे ।
तस्याऽनिशमविश्रान्तवाताधूततृणान्तिके ॥ १४ ॥
आलये दानवो व्यालः कलविङ्को भविष्यति ।
प्रथमाल्पश्रुतशास्त्र इवाऽर्थरहितारवः ॥ १५ ॥
तस्मिन्नेव तदा काले तत्र राजा भविष्यति ।
श्रीयशस्करदेवाख्यः शक्रः स्वर्ग इवाऽपरः ॥ १६ ॥
दानवो दामनामाऽत्र मशकस्तस्य सद्मनि ।
भविष्यति बृहत्स्तम्भपृष्ठच्छिद्रे मृदुध्वनिः ॥ १७ ॥
अधिष्ठानाभिधे तस्मिन्नेवाऽन्तर्नगरे तदा ।
रत्नावलीविहाराख्यो विहारोऽपि भविष्यति ॥ १८ ॥

जैसे कमलके बीचमें कर्णिका होती है वैसे ही उस नगरके मध्यमें प्रद्युम्न-शिखर नामका लाँघने योग्य छोटा शिखर होगा, उस पर्वतके शिखरपर अन्य घरोंके राजाके समान कोई घर होगा, उसकी आकाशको छूनेवाली अँटारियाँ होंगी, अतएव वह पर्वतके शिखरपर स्थित दूसरे शिखरके समान होगा। उस घरके ईशान कोणमें ऊँची दीवारकी दरारमें एक घोंसला है, निरन्तर बह रहे वायुसे उसके आस-पासके तृण हिलाये जाते हैं, ऐसे अपने घोंसलेमें व्यालनामक दानव गौरैया बनेगा। जिसने पहले थोड़ा-सा शास्त्र पढ़ा हो, ऐसे ब्राह्मणके समान उसकी ची-ची कूची आदि ध्वनि अर्थरहित होगी ॥ १२, १५ ॥

उसी समय उस महलमें स्वर्गमें दूसरे इन्द्रके समान श्रीयशस्कर नामका राजा होगा ॥ १६ ॥

दाम नामका दानव उसी राजाके महलमें विशाल स्तम्भकी पीठके छेदमें मृदु ध्वनिवाला मच्छर होगा ॥ १७ ॥

उसी अधिष्ठान नामके नगरके अन्दर उस समय रत्नावलीविहार नामका विहार (क्रीडागृह) भी होगा ॥ १८ ॥

तस्मिंस्तद्भूमिपामात्यो नरसिंह इति श्रुतः ।
करामलकवद्दृष्टबन्धमोक्षो निवत्स्यति ॥ १९ ॥
भविष्यति गृहे तस्य क्रीडनः क्रकरः खगः ।
कटो मायासुरो नाम कृतराजतपञ्जरः ॥ २० ॥
स नृसिंहो नृपामात्यः श्लोकैर्विरचितामिमाम् ।
दामव्यालकटादीनां कथयिष्यति सत्कथाम् ॥ २१ ॥
स कटः क्रकरः श्रुत्वा तत्कथासंस्मृतात्मभूः ।
शान्तमित्थं महाशान्तं परं निर्वाणमेष्यति ॥ २२ ॥
प्रद्युम्नशिखरप्रान्तवास्तव्यः कलविङ्ककः ।
तत्रत्यैश्च कथां श्रुत्वा परं निर्वाणमेष्यति ॥ २३ ॥
राजमन्दिरदार्वन्तर्व्रणवास्तव्यतां गतः ।
मशकोऽपि प्रसङ्गेन श्रुत्वा शान्तिमुपैष्यति ॥ २४ ॥

उसमें उस राजाका मन्त्री रहेगा, जो नरसिंह नामसे विख्यात होगा और जिसे बन्ध और मोक्षका श्रुति, युक्ति, गुरूपदेश और अपने अनुभवसे करामलकके समान निश्चय होगा ॥ १९ ॥

मायामय असुर कट उस मन्त्रीके घरमें उसका क्रीडासाधन एक मैनारूप होगा, चाँदीके पिंजड़ेमें उसका निवास होगा ॥ २० ॥

राजमन्त्री वह नृसिंह श्लोकोंसे रची गई दाम, व्याल और कट आदिकी यह उत्तम कथा कहेगा ॥ २१ ॥

उस मैनारूपधारी कटका, जिसे उस कथाको सुनकर अपरिच्छिन्न आत्माका स्मरण हो गया, शम्बर द्वारा कल्पित जीवरूप बाधित हो जायगा । इस तरह वह आवा-गमनशून्य परम निर्वाणको प्राप्त होगा ॥ २२ ॥

प्रद्युम्ननामक शिखरके एक प्रदेशमें रहनेवाला गौरैया वहाँपर रहनेवाले लोगोंके मुँहसे उक्त कथाको सुनकर परम निर्वाणको प्राप्त होगा ॥ २३ ॥

राजमहलके स्तम्भरूप लकड़ीकी दरारमें रहनेवाला मच्छर भी प्रसङ्गवश लोगों द्वारा कही जा रही अपने पूर्वजन्मके वृत्तान्तोंसे युक्त ब्रह्मकथाको सुनकर शान्तिको प्राप्त होगा ॥ २४ ॥

प्रद्युम्नशृङ्गाच्चटको मशको राजमन्दिरात् ।
विहारात् क्रकरश्चेति मोक्षमेष्यन्ति राघव ॥ २५ ॥
एष ते कथितः सर्वो दामव्यालकथाक्रमः ।
मायैवमेव संसारशून्यैवाऽत्यन्तभासुरा ।
भ्रमयत्यपरिज्ञानाद् मृगतृष्णाम्बुधीरिव ॥ २६ ॥
महतोऽपि पदादेवं नानाज्ञानवशादधः ।
पतन्ति मोहिता मूढा दामव्यालकटा इव ॥ २७ ॥
क्व भ्रूविक्षेपनिष्पिष्टमेरुमन्दरसद्मता ।
क्व राजगृहदार्वन्तर्व्रणे मशकरूपता ॥ २८ ॥
क्व चपेटभुजामात्रपातितार्केन्दुबिम्बता ।
क्व प्रद्युम्नगिरौ गेहे भित्तिव्रणविहङ्गता ॥ २९ ॥
क्व पुष्पलीलया लोलकरतोलितमेरुता ।
क्व वा शृङ्गे नृसिंहस्य गृहे क्रकरपोतता ॥ ३० ॥

इस प्रकार हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रद्युम्न शिखरसे गौरैया, राजमहलसे मच्छर और रत्नावली विहारनामक क्रीड़ागृहसे मैना ये तीनों मुक्त हो जायँगे ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आपसे इस प्रकार यह दाम, व्याल और कटकी कथाका क्रम सम्पूर्ण कहा । इस प्रकार संसारसे शून्य होती हुई भी संसाररूपसे अत्यन्त देदीप्यमान यह माया ही मृगतृष्णामें जलबुद्धिकी तरह अज्ञानवश पुरुषोंको चक्करमें डालती है ॥ २६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इससे मोहित हुए मूढ़ लोग दाम, व्याल और कटकी नाईं अज्ञानवश अन्यान्य पदोंकी अपेक्षा उन्नत अपरिपक्वज्ञानदशारूपी पदसे नीचे गिरते हैं ॥ २७ ॥

निर्वासनतासे प्राप्त पूर्वजन्मके उत्कर्षकी अपेक्षा पीछेके मशक आदि जन्मका बड़ा भारी अन्तर दिखलाते हैं—'**क्व**' इत्यादिसे।

कहाँ भृकुटिमात्रसे मन्दर और मेरुके घरोंको चूर-चूर करना, कहाँ राजाके महलके स्तम्भकी दरारमें मच्छररूपसे रहना, कहाँ हाथके थप्पड़से सूर्य और चन्द्रमाके बिम्बोंके गिरानेकी सामर्थ्य, कहाँ प्रद्युम्न नामके शिखरमें स्थित घरकी भीतकी दरारमें गौरैया बनके रहना, कहाँ फूलके समान चञ्चल हाथसे मेरुको तोलना, कहाँ पर्वतके शिखरपर नृसिंहके घरमें मैनाका बच्चा बनके रहना ? ॥ २८–३० ॥

चिदाकाशोऽहमित्येव रजसा रञ्जितप्रभः ।
स्वरूपमत्यजन्नेव विरूपमपि बुद्ध्यते ॥ ३१ ॥
स्वयैव वासनाभ्रान्त्या सत्ययेवाऽप्यसत्यया ।
मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्येव याति जन्तुरिवाऽन्तरम् ॥ ३२ ॥
तरन्ति ते भवाम्भोधिं स्वप्रवाहधियैव ये ।
शास्त्रेणाऽऽसादितं दृश्यमिति निर्वाणसंस्थिताः ॥ ३३ ॥
नानादुःखविकाराणि शुष्कतर्कमतानि ये ।
यान्ति श्वभ्रं जलानीव स्वलाभं नाशयन्ति ते ॥ ३४ ॥
स्वानुभूतिप्रसिद्धेन मार्गेणाऽऽगमगामिना ।
न विनाशो भवत्यङ्ग गच्छतां परमां गतिम् ॥ ३५ ॥

अब राजस अहङ्कारसे चिदाकाशके देहादिके आकारका अभिमानप्रकार दिखाते हैं—**'चिदाकाश०'** इत्यादिसे ।

चिदाकाश 'मैं' इस प्रकार रजोगुणसे रञ्जित होता है, रजोगुणसे रञ्जित होकर वह अपने स्वाभाविक स्वप्रकाशताका त्याग न करता हुआ ही अहङ्कार, प्राण, देह, इन्द्रिय आदिको आत्मा समझता है ॥ ३१ ॥

असत्य होती हुई भी सत्यकी तरह प्रतीत हो रही अपनी ही वासनाकी भ्रान्तिसे मृगतृष्णामें जलबुद्धिके तुल्य जीव चिद्रूपसे मानो भिन्नताको प्राप्त होता है ॥३२॥

इस समय उस भेदसे पार पानेका उपाय कहते हैं—**'तरन्ति'** इत्यादिसे ।

जो लोग महावाक्यरूप शास्त्रसे दृश्य 'आगन्तुक है' इस प्रकार निर्वाणमें स्थित हैं, वे प्रत्यगात्मामें उन्मुख बुद्धिसे ही संसारसागरको पार करते हैं ॥३३॥

जैसे जल गड्ढेकी ओर जाते हैं वैसे ही जो नाना दुःख देनेवाले शुष्क तार्किक-मतोंकी ओर जाते हैं, वे पारमार्थिक आत्मभावमें स्थितिरूप परमपुरुषार्थप्राप्तिका विनाश करते हैं । इसलिए तर्कसे ही उसका निर्णय हो जायगा, महावाक्योंके अव-लम्बनकी क्या आवश्यकता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, यह भाव है ॥३४॥

औपनिषद मार्गके साथ अपने अनुभवका भी संवाद है, तार्किकमतोंके साथ अनुभवका संवाद नहीं, ऐसा कहते हैं —**'स्वानुभूति०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपने अनुभवसे प्रसिद्ध श्रुतिके अनुसारी मार्गसे परम गतिको जा रहे लोगोंका विनाश नहीं होता ॥ ३५ ॥

इदं मे स्यादिदं मे स्यादिति बुद्धेर्महामते ।
स्वेन दौर्भाग्यदैन्येन न भस्माऽप्युपतिष्ठते ॥ ३६ ॥
वेत्ति नित्यमुदारात्मा त्रैलोक्यमपि यस्तृणम् ।
तं त्यजन्त्यापदस्सर्वाः सर्पा इव जरत्त्वचम् ॥ ३७ ॥
परिस्फुरति यस्याऽन्तर्नित्यं सत्यचमत्कृतिः ।
ब्राह्ममण्डमिवाऽखण्डं लोकेशाः पालयन्ति तम् ॥ ३८ ॥
अप्यापदि दुरन्तायां नैव गन्तव्यमक्रमे ।
राहुरप्यक्रमेणैवं पिबन्नप्यमृतं मृतः ॥ ३९ ॥
सच्छास्त्रसाधुसम्पर्कमर्कमुग्रप्रकाशदम् ।
ये श्रयन्ते न ते यान्ति मोहान्ध्यस्य पुनर्वशम् ॥ ४० ॥

किससे तब पुरुषार्थका विनाश होता है ? इसपर कहते हैं—'**इदम्**' इत्यादिसे ।

हे महामते, यह मेरे हो, यह मुझे प्राप्त हो, इस प्रकारकी बुद्धिवाले पुरुषका अपनी दौर्भाग्यप्रयुक्त दीनतासे नष्ट हुए पुरुषार्थका भस्म भी शेष नहीं रहता ॥३६॥

इस प्रकार अभिलाषकी अनर्थकारिता कहकर वैराग्यकी सर्वानर्थनिवर्तकता कहते हैं—'**वेत्ति**' इत्यादिसे ।

जो उदार पुरुष त्रैलोक्यको भी नित्य तृण समझता है, उसे सब आपत्तियाँ इस प्रकार छोड़ देती हैं जिस प्रकार कि साँप पुरानी केंचुलको छोड़ देते हैं ॥ ३७ ॥

विरक्त पुरुषको यदि थोड़ी भी ज्ञानकणिका प्राप्त हो, तो उसकी आपत्तियाँ तो दूर रहीं, बल्कि सब देवता अपने आधारभूत ब्रह्माण्डकी तरह उसकी सदा रक्षा करते हैं, ऐसा कहते हैं—'**परिस्फुरति**' इत्यादिसे ।

जिसके अन्दर सदा सत्यस्वरूप ब्रह्मका चमत्कार स्फुरित होता है, उसका लोकपाल अखण्ड ब्रह्माण्डके समान पालन करते हैं ॥ ३८ ॥

घोर आपत्तिमें भी कुमार्गमें पैर नहीं ही रखना चाहिये । देखिये न, अनुचित रीतिसे अमृतपान करता हुआ भी महाबली राहु मृत्युको प्राप्त हुआ ॥ ३९ ॥

जो पुरुष उपनिषदादि सच्छास्त्र और उनके अनुसार चलनेवाले साधु-सज्जन पुरुषोंके सम्पर्करूपी सूर्यका, जो कि परमात्माके साक्षात्कारका हेतु है, अवलम्बन करते हैं, वे मोहरूपी गाढ़ अन्धकारके वशवर्ती नहीं होते ॥ ४० ॥

अवश्या वश्यतां यान्ति यान्ति सर्वापदः क्षयम् ।
अक्षयं भवति श्रेयः कृतं येन गुणैर्यशः ॥ ४१ ॥
येषां गुणेष्वसन्तोषो रागो येषां श्रुतं प्रति ।
सत्यव्यसनिनो ये च ते नराः पशवोऽपरे ॥ ४२ ॥
यशश्चन्द्रिकया येषां भासितं जन्तुहृत्सरः ।
तेषां क्षीरसमुद्राणां नूनं मूर्तौ स्थितो हरिः ॥ ४३ ॥
भुक्तं भोक्तव्यमखिलं दृष्टा द्रष्टव्यदृष्टयः ।
किमन्यद्भवभङ्गाय भूयो भोगेषु लुब्धता ॥ ४४ ॥
यथाक्रमं यथाशास्त्रं यथाचारं यथास्थिति ।
स्थीयतां मुच्यतामन्तर्भोगजालमवास्तवम् ॥ ४५ ॥

जिसने गुणोंके द्वारा यश प्राप्त किया, वशमें न आनेवाले प्राणी भी उसके वशीभूत हो जाते हैं, सब आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और अक्षय कल्याण प्राप्त हो जाता है। जिनका गुणोंके विषयमें सन्तोष (अलं बुद्धि) नहीं है, जिनका शास्त्रके प्रति अनुराग है और जो सत्यके व्यसनी हैं, वे ही वस्तुतः नर हैं, उनसे अतिरिक्त निरे पशु हैं। जिनके यशरूपी चन्द्रमाकी चाँदनीसे प्राणियोंका हृदयरूपी सरोवर प्रकाशित है, क्षीरसमुद्ररूपी उनके शरीरमें निश्चित भगवान् हरिका निवास है ॥ ४१–४३ ॥

अब जगत्के हितैषी पिता-मातासे भी बढ़कर आप्त श्रीवसिष्ठजी अनादि संसारमें पुनः-पुनः सब अनर्थपरम्पराओंके फलोंके साथ अनुभूत विषयोंमें और दृश्य कौतुकोंमें कुछ भी अपूर्व वस्तु अवशिष्ट नहीं है, यह दर्शाते हुए एवं वैराग्य और शास्त्रीय आचारमें निष्ठाकी ही प्रशंसा करते हुए उनकी ओर जनताको अभिमुख करते हैं—**'भुक्तम्'** इत्यादिसे।

भोक्तव्य सब वस्तुओंका भोग कर लिया, द्रष्टव्य बस्तुएँ देख लीं। आगे होनेवाले जन्मोंमें अपने विनाशके लिए फिर भी भोगोंमें लालच करना क्या ठीक है ? ॥ ४४ ॥

अपने अधिकारके अनुसार, उक्त अधिकारीकी चित्तशुद्धिके अनुकूल शास्त्रके अनुसार और पहले-पहलेके आचार्योंसे प्रवर्तित सम्प्रदायके अनुसार, एक-एक भूमिकामें जबतक भूमिकाका परिपाक न हो तबतक स्थितिका त्याग न कर सब लोगोंको रहना चाहिए। अवास्तविक भोगसमूहका अपने हृदयसे त्याग करना चाहिए ॥४५॥

संस्तवः क्रियतां कीर्त्या गुणैर्गमनमामिभिः ।
त्रायेते मृत्युतो ह्येते न कदाचन भोगकाः ॥ ४६ ॥
गायन्ति सिद्धसुन्दर्यो येषामिन्दुसितं यशः ।
गीतिभिर्गगनाभोगैस्ते जीवन्ति मृताः परे ॥ ४७ ॥
परमं पौरुषं यत्नमास्थायाऽऽदाय सूद्यमम् ।
यथाशास्त्रमनुद्वेगमाचरन् को न सिद्धिभाक् ॥ ४८ ॥
यथाशास्त्रं विहरता त्वरा कार्या न सिद्धिषु ।
चिरकालपरिपक्वा सिद्धिः पुष्टफला भवेत् ॥ ४९ ॥
वीतशोकभयायासमगर्वमपयन्त्रणम् ।
व्यवहारो यथाशास्त्रं क्रियतां मा विनश्यताम् ॥ ५० ॥
जीवो जीर्णान्धकूपेषु भवेष्वन्तमिवाऽऽगतः ।
भवतां भूरिसंगानामधुनेन्द्रियदामतः ॥ ५१ ॥

स्वर्गतक प्रसिद्ध हुए गुणोंसे प्राप्त हुई कीर्तिसे साधुजनोंके मुखसे वाहवाही लेनी चाहिए। ये कीर्ति और सज्जनोंकी वाहवाही मृत्युसे रक्षा करती हैं, तुच्छ भोग कभी भी मृत्युसे त्राण नहीं देते ॥ ४६ ॥

अप्सराएँ जिनके चन्द्रमाके समान शुभ्र यशका आकाशके समान सब देश और कालोंमें व्याप्त गीतोंसे गान करती हैं, वे ही लोग जीते हैं और सब मरे हैं ॥४९॥

किस प्रकार यशका सम्पादन किया जा सकता है? इसपर कहते हैं— **'परमम्'** इत्यादिसे।

परम पौरुष-यत्नका अवलम्बन कर, सुन्दर उद्योगका ग्रहण कर उद्वेगके बिना शास्त्रानुकूल आचरण करता हुआ कौन पुरुष सिद्धि प्राप्त नहीं करता? ॥४८॥

शास्त्रानुसार कार्य कर रहे पुरुषको सिद्धियोंके लिए त्वरा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चिरकालमें परिपक्व हुई सिद्धि उत्तम फल देती है ॥ ४९ ॥

शोक, भय और क्लेशका त्याग कर शीघ्रताके आग्रहको छोड़कर शास्त्रानुसार व्यवहार करना चाहिए, अपना विनाश नहीं करना चाहिए ॥ ५० ॥

प्रचुर पदार्थोंमें आसक्तिवाले आप लोगोंका जीव इस समय इन्द्रियरूपी रस्सीसे मानो मृत्युको प्राप्त होकर संसाररूप अन्धे कुँओंमें विनष्ट न हो ॥ ५१ ॥

इतःप्रभृति मा भूयो गम्यतामधमादधः ॥ ५२ ॥
इदं विचार्यतां शास्त्रमस्त्रमापन्निवारणम् ।
रणे शितशरश्रेणिशतनिर्लूनवारणे ॥ ५३ ॥
जीवमुद्रा च किं पङ्के भोगगन्धो निरस्यताम् ।
किमर्थमात्रया कार्यमार्याः शास्त्रमवेक्ष्यताम् ॥ ५४ ॥
इदं बिम्बमिदं बिम्बमिति सत्यं विचार्यताम् ।
धिया परप्रेरणया यात मा पशवो यथा ॥ ५५ ॥

इस समयसे लेकर फिर नीचेसे नीचे आप मत जाइये। सैकड़ों तीक्ष्ण वाणोंसे जिसमें हाथी काटे गये हैं, ऐसे युद्धमें शीघ्र प्राप्त हुए महाभय, मृत्यु आदि आपत्तियोंका निवारण करनेवाले अस्त्ररूप इस मोक्षशास्त्रका विचार कीजिये ॥ ५२,५३ ॥

ग्रीष्म ऋतुमें उबले हुए तालाबके दुर्गन्धपूर्ण कीचड़के सदृश संसारमें पुनःपुनः मर कर जीवित हुए बूढ़े मेढकके समान जीनेकी आशा क्या है ! यानी अतितुच्छ है, इसलिए हृदयसे भोगवासना हटा देनी चाहिए। भोगके उपायभूत धनकी क्या आवश्यकता है, इसलिए हे श्रेष्ठपुरुषो, इन सबका त्याग कर मोक्षशास्त्रका ही अवलोकन कीजिये ॥ ५४ ॥

विषयाकार वृत्तिमें प्रतिबिम्बित चिदाभासोंका अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य बिम्ब है और अन्तःकरणरूप उपाधिसे उपहित चिदाभासका तो शुद्ध ब्रह्मचैतन्य ही बिम्ब है। प्रतिबिम्ब और उसकी उपाधि असत्य हैं, बिम्ब तो सत्य है। अन्तःकरणरूप उपाधिके असत्य होनेपर तदवच्छिन्न बिम्ब चैतन्यका और तत्समानाधिकरण चिदाभासके बिम्बभूत ब्रह्मचैतन्यका भेद मिथ्या ही है। इस प्रकार अखण्ड सत्य प्रत्यगभिन्न ब्रह्मचैतन्य ही अन्तमें अवशिष्ट रहता है, ऐसा विचार करना चाहिये।

शङ्का—सांख्य, पातञ्जल, गौतम, बुद्ध, अर्हन् आदि अन्य वादी उक्त प्रतिबिम्बताप्रकियाको नहीं मानते, किन्तु अन्यथा-अन्यथा निरूपण करते हैं और उसीमें लोगोंको प्रेरित करते हैं। उनकी प्रेरणा भी क्या उपोदय है या नहीं ?

समाधान—दूसरेकी प्रेरणारूप बुद्धिसे पशुओंके समान मत चलिये। भाव यह है कि 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्' (जैसे

दौर्भाग्यदायिनी दीना शुभहीना विचारणा ।
घनदीर्घमहानिद्रा त्यज्यतां सम्प्रबुध्यताम् ॥ ५६ ॥
सुप्तं मा स्थीयतां वृद्धकच्छपेनेव पल्वले ।
उत्थानमङ्गीक्रियतां जरामरणशान्तये ॥ ५७ ॥
अनर्थायाऽर्थसम्पत्तिर्भोगौघो भवरोगदः ।
आपदः सम्पदः सर्वाः सर्वत्राऽनादरो जयः ॥ ५८ ॥
लोकतन्त्रानुसारेण विचाराद् व्यवहारिणाम् ।
शास्त्राचारानुसारेण कर्मणा सत्फलाय च ॥ ५९ ॥

यह ज्योतिर्मय सूर्य स्वतः एक होता हुआ भी घटादिभेदसे भिन्न जलोंमें अनुगमन कर रहा बहुत्वको प्राप्त होता है वैसे ही अद्वितीय यह आत्मा भी उपाधियोंमें बहुत्वको प्राप्त होता है) इत्यादि स्वतन्त्र श्रुतिरूप प्रमाणोंका अनुसरण करनेवाले लोगोंको औरोंकी प्रेरणासे पशुओंके समान अनुगमन उचित नहीं है ॥ ५५ ॥

इस प्रकार शास्त्रार्थके विचारका विधान कर अब जीवन, धन, पशु, पुत्र आदि सांसारिक विचारकी और अन्य दर्शनोंके विचारकी—त्यागके लिए—निन्दा करते हैं—**'दौर्भाग्य०'** इत्यादिसे ।

परिणाममें दौर्भाग्य देनेवाली, विचारके समय कृपणताकी हेतु होनेके कारण अत्यन्त दीन-हीन, तुच्छ फलवाली होनेके कारण फलहीन, गाढ़ अन्धकारमात्रमें निवेश करानेके कारण गाढ़ और दीर्घ महानिद्रारूप धन, जीवन आदिकी विचारणा तथा अन्य दर्शनोंकी विचारणा छोड़ देनी चाहिये और बोधरूप आलोक प्राप्त करना चाहिये ॥ ५६ ॥

जैसे बूढा कछुआ तालाबमें सोया रहता है, वैसे सोये रहना ठीक नहीं है । जरा, मरण आदि दुःखोंकी निवृत्तिके लिए उद्योग करना चाहिये ॥ ५७ ॥

धनसम्पत्ति अनर्थोंकी जननी है और विविध भोग संसाररूपी रोगके हेतु हैं । आपत्तियाँ ही सब सम्पत्तियाँ हैं और सब वस्तुओंकी अवहेलना ही विजय है ॥ ५८ ॥

लोकव्यवहारी पुरुषोंके विचारसे लोकव्यवहारके अविरोधी तथा शास्त्र और सदाचारके अनुकूल कर्मसे सत्फलके लिए सदा उत्थानका अङ्गीकार करना चाहिए ॥ ५९ ॥

आचारचारुचरितस्य विविक्तवृत्तेः
संसारसौख्यफलदुःखदशास्वगृध्नोः ।
आयुर्यशांसि च गुणाश्च सहैव लक्ष्म्या
फुल्लन्ति माधवलता इव सत्फलाय ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटोपाख्याने सदाचारनिरूपणं नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सर्वातिशयसाफल्यात् सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
संभवत्येव तस्मात्त्वं शुभोद्योगं न संत्यज ॥ १ ॥

जिसका चरित सदाचारसे सुन्दर है, बुद्धि विवेकशील है और संसारके सौख्यफलरूपी दुःखदशाओंमें जिसे लालच नहीं है, उस पुरुषके यश, गुण और आयु ये तीनों लक्ष्मीके साथ ही सत्फलके लिए वसन्त ऋतुकी लताओंके समान विकसित होते हैं ॥ ६० ॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तेंतीसवाँ सर्ग

[शुभ उद्यम, साधु और सच्छास्त्रके माहात्म्यका वर्णन तथा अहङ्कारकी बन्धकता और उसके त्यागसे मुक्तिप्राप्तिका वर्णन]

आगे कहे जानेवाले शुभ उद्यम आदिके अभ्यास द्वारा वृद्धिको प्राप्त होनेपर फलकी अवश्यम्भाविता दिखानेके लिए साधारण न्याय दिखलाते हैं—**'सर्वा०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, सब साधनोंका अतिशय अभ्यास सफल होता है, यह नियम है । अतः लोकदृष्ट कृषि, सेवा आदि साधनोंमें तथा शास्त्रीय मोक्ष-साधनमें अपने-अपने अनुरूप फल अवश्य होता ही है, कदापि वे विफल नहीं जाते। इसलिए मोक्षफलार्थी आप भी शुभ उद्यमको कदापि न छोड़िये ॥ १ ॥

मित्रस्वजनबन्धूनां नन्दिनाऽऽनन्ददायिना ।
सरसीशानमासाद्य मृत्युरप्युपनिर्जितः ॥ २ ॥
सर्वोत्कर्षेण संपन्ना देवा अपि विमर्दिताः ।
दानवैर्दानवार्थाढ्यैर्गजैः पद्माकरा इव ॥ ३ ॥
मरुत्तनृपतेर्यज्ञे संवर्तेन महर्षिणा ।
ब्रह्मणेवाऽपरः सर्गो भावितः ससुरासुरः ॥ ४ ॥
महातिशययुक्तेन विश्वामित्रेण विप्रता ।
भूयो भूयः प्रयुक्तेन दुष्प्रापा तपसाऽर्जिता ॥ ५ ॥

शास्त्रप्रतिपादित शुभ उद्यमका असाध्य तो कुछ भी नहीं है, यह दर्शानेके लिए नन्दीश्वरोपाख्यान आदिका संक्षेपसे उल्लेख करते हैं—**'मित्र०'** इत्यादिसे ।

इष्ट-मित्र और आत्मीय बन्धु-बान्धवोंको आनन्द देनेवाले नन्दीने तालाबके किनारे शिवजीको आराधना द्वारा प्राप्त करके मृत्युपर भी विजय प्राप्त की थी* ॥२॥

सेना और धन-धान्यसे सम्पन्न बलि आदि दानवों द्वारा जैसे हाथियों द्वारा कमलके सरोवर कुचले जाते हैं वैसे ही कुचले गये भी देवता अतिशय प्रयत्नसे सर्वोत्कृष्ट हो गये ॥ ३ ॥

राजा मरुत्तके यज्ञमें संवर्तनामक महर्षिने ब्रह्माकी तरह सुर और असुरोंसे पूर्ण दूसरी सृष्टि की† ॥ ४ ॥

शास्त्रीय महान् शुभ उद्योगसे युक्त विश्वामित्रजीने बार-बारकी गई कठोर तपस्यासे दुष्प्राप्य ब्राह्मणता प्राप्त की ॥ ५ ॥

* उक्त कथा लिङ्गपुराणमें इस प्रकार वर्णित है—शिलाद नामके एक मुनि थे। सर्वज्ञ पुत्रकी इच्छासे उन्होंने भगवान् शङ्करजीको कठोर तपस्या द्वारा प्रसन्न किया। चिरकालकी तपस्यासे प्रसन्न हुए भगवान् शङ्करजी उन्हें वरदान देनेके लिए बोले—मुझसे अन्य तो कोई सर्वज्ञ हो नहीं सकता, इसलिए मैं ही अपने अंशसे अवतार लेकर आपका पुत्र होऊँगा, किन्तु मेरे अंशसे उत्पन्न हुआ वह आपका लड़का सोलहवें वर्षमें मर जायगा। शिलाद ऋषिमें भगवान्के वचनको उलटने की शक्ति तो थी नहीं, अतएव भगवान्की शरणमें गये हुए उन्होंने 'ऐसा ही हो' यों भगवान्के वचनका अनुमोदन किया। वरदान पानेके बाद शिलाद मुनिका नन्दीनामक सर्वज्ञ पुत्र हुआ। वह जब बालक ही था, अपने पितासे अपनी भावी मृत्युको सुनकर तभीसे उसने तपस्या द्वारा भगवान् शङ्करकी आराधना करना आरम्भ कर दिया। तदनन्तर सोलहवें वर्ष तालाबके किनारे शिवलिङ्गका पूजन करते समय मृत्युने पाशोंसे उसे बाँधा। वहींपर आविर्भूत हुए भगवान् शिवने मृत्युको लात मारकर तथा मृत्युके फन्देको काटकर उसे जरा-मृत्युरहित अपना अनुचर बना लिया।

† यद्यपि महाभारतमें यह कथा यों प्रसिद्ध है—मरुत्तके यज्ञमें विघ्न डालनेकी इच्छा कर

पिष्टसेकाम्बु दुष्प्रापं रसायनवदश्नता ।
दुर्भगेनेदृशेनाऽऽप्तः क्षीरोद उपमन्युना ॥ ६ ॥
त्रैलोक्यमल्लांस्तृणवदश्नन् विष्णवब्जजादिकान् ।
भक्त्याऽतिशयदार्ढ्येन कालः श्वेतेन कालितः ॥ ७ ॥
प्रणयेन यमं जित्वा कृत्वा वचनसङ्गमम् ।
परलोकादुपानीतः सावित्र्या सत्यवान् पतिः ॥ ८ ॥
न सोऽस्त्यतिशयो लोके यस्याऽस्ति न फलं स्फुटम् ।
भवितव्यं विचार्याऽन्तः सर्वातिशयशालिना ॥ ९ ॥

रोने-चिल्लाने आदि प्रयत्नसे प्राप्त होनेके कारण दुष्प्राप्य पानीमें घोले हुए आटेको रसायनकी तरह पी रहे, इस प्रकारके भाग्यहीन उपमन्युने भी तपस्यासे प्रसन्न हुए भगवान् शङ्करके प्रसादसे क्षीरसागर प्राप्त किया । [इसकी कथा महाभारतमें प्रसिद्ध है] ॥ ६ ॥

तीनों लोकोंमें महाबलीरूपसे विख्यात विष्णु, ब्रह्मा आदि देवाधिदेवोंको भी तृणकी नाईं निगल रहे कालको अत्यन्त दृढ़ भक्तिसे श्वेत ऋषिने अपने वशमें कर लिया । [यह भी लिङ्ग पुराणमें प्रसिद्ध है] ॥ ७ ॥

राजकुमारी सावित्रीने पतिके प्राणोंका अनुगमन तथा स्तुति आदिरूप प्रसन्नताके उपायसे यमको अपने वशमें कर 'सत्यवान्‌के प्राणोंको छोड़कर और कोई वर मांगो' इस प्रकारके यमके वाक्यका सत्यवान्‌से मेरे सौ लड़कें हों, इस वरप्रार्थनारूप अपने वचनसे सामञ्जस्य स्थापित कर अपने पति सत्यवान्‌को परलोकसे लौटा लिया ॥८॥

इस लोकमें ऐसा कोई शास्त्रीय शुभ उद्योगका उत्कर्ष नहीं है, जिसका स्फुट फल न हो ।

शङ्का—विविध शुभ उद्योग आपने दिखलाये हैं, उनमें से मुझे किसमें अधिक प्रयत्नवान् होना चाहिये ?

समाधान—अधिकारी आपको मूढ़की नाईं क्षुद्र फलोंकी प्रार्थनासे व्यर्थ नहीं होना चाहिये, किन्तु मनमें फलके तारतम्यका विचार कर सबसे उत्कृष्ट फलकी प्राप्तिसे सर्वोत्कृष्ट शुभ प्रयत्नसे सुशोभित होना चाहिये ॥ ९ ॥

रहे इन्द्रको देवताओंकी सेनाके साथ संवर्तने अपने संकल्पमात्रसे वशीभूत कर देवताओंके साथ यज्ञका परिचारक बना डाला, तथापि दूसरे पुराणोंमें उनकी देवता और असुरोंकी दूसरी सृष्टि भी सुनी जाती ही है । दूसरे कल्पकी कथा होनेसे महाभारतसे इसका विरोध नहीं है ।

आत्मज्ञानमशेषाणां सुखदुःखदशादृशाम् ।
मूलकाषकरं तस्माद्भाव्यं तत्राऽतिशायिना ॥ १० ॥
नाशायाऽऽपद्गतार्थिन्या दृष्ट्या दृश्या हि दृष्टयः ।
दुःखादृते निराबाधं सुखं किञ्चिदवाप्यते ॥ ११ ॥
अशमः परमं ब्रह्म शमश्च परमं पदम् ।
यद्यप्येवं तथाप्येनं प्रशमं विद्धि शङ्करम् ॥ १२ ॥

आत्मज्ञान सम्पूर्ण सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि अवस्थाओंकी भ्रमदृष्टियोंका मूलोच्छेद करनेवाला है। इसलिए आत्मज्ञानमें ही आपको शुभोद्योगका अभ्यास करना चाहिये ॥ १० ॥

पहले भोग, राग आदिकी दृष्टियोंके विनाशके लिए तत्-तत् विषयोंमें दोष-दृष्टियोंका अन्वेषण करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'नाशा०'** इत्यादिसे ।

क्षुधा, प्यास, काम आदि आपत्तिसे युक्त पुरुषोंका विषयप्रदान द्वारा अनुग्रह करनेवाली भोगदृष्टिके नाशके लिए पहले उसकी विरोधिनी विषयदोषदृष्टियोंका अवश्य अन्वेषण करना चाहिये ।

शङ्का—भोगदृष्टिकी विरोधिनी विषयदोषदृष्टियोंका अन्वेषण करनेपर विषयत्याग होनेसे तुरन्त दुःख होगा ?

समाधान—वैराग्य, अभ्यास आदि दुःखके बिना भूमानन्दरूप चैतन्य क्या कहीं पाया जा सकता है ? अर्थात् भूमानन्दस्वरूप चित्की प्राप्तिके लिए विषयत्यागरूप दुःख उठाना ही पड़ेगा ॥ ११ ॥

यदि कोई कहे, सम्पूर्ण विषयके दुःखपूर्वक त्यागका भी अङ्गीकार करके वैराग्यसे राग आदि दोषका शमन अवश्य सम्पादनीय होता, यदि प्राप्त होनेवाला ब्रह्म शमके साथ ही पुरुषार्थ होता। ऐसा तो है नहीं, क्योंकि शम भी सात्त्विक चित्तवृत्तिका भेद ही है, अतः अद्वितीय ब्रह्ममें उसका संभव नहीं हो सकता ? एकमात्र सुखरूप ब्रह्मसे अतिरिक्त सब कुछ दृश्य ही है, इसलिए शम परम पुरुषार्थके अन्तर्गत भी नहीं आ सकता ? इस शङ्काको आधा स्वीकार करके परिहार करते हुए शमकी आवश्यकता दिखलाते हैं—**'अशमः'** इत्यादिसे ।

ठीक है, यद्यपि शमरहित चिदात्मा ही परम ब्रह्म है, तथापि शम भी कारणसहित संसारकी निवृत्तिरूप परम पुरुषार्थ है ही। यद्यपि इस प्रकार दोनों तुल्य हैं, यह प्राप्त हुआ, तथापि इस प्रशमको भूमानन्द ब्रह्मसुख देनेवाला

अभिमानं परित्यज्य शममाश्रित्य शाश्वतम् ।
विचार्य प्रज्ञयाऽऽर्यत्वं कुर्यात् सज्जनसेवनम् ॥ १३ ॥
न तपांसि न तीर्थानि न शास्त्राणि जयन्ति च ।
संसारसागरोत्तारे सज्जनासेवनं विना ॥ १४ ॥
लोभमोहरुषां यस्य तनुताऽनुदिनं भवेत् ।
यथाशास्त्रं विहरति स्वकर्मसु स सज्जनः ॥ १५ ॥
अथाऽऽत्मविदुषां सङ्गात्तस्य साधोः प्रवर्तते ।
अत्यन्ताभाव एवाऽस्य यथा दृश्यस्य दृश्यते ॥ १६ ॥
दृश्यात्यन्ताभावतस्तु परमेवाऽवशिष्यते ।
अन्याभाववशादाशु जीवस्तत्रैव लीयते ॥ १७ ॥

जानिये । जिसमें सुखकी अभिव्यक्ति नहीं होती, वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता, इसलिए इसमें पुरुषार्थकी उपयोगिता अधिक है ॥ १२ ॥

अब शमका उपाय कहते हैं—**'अभिमानम्'** इत्यादिसे ।

अभिमानका त्याग कर, स्थिर शमका अवलम्बन कर और बुद्धिसे मोक्षके योग्य उत्तमकुलमें जन्म आदिरूप अपनी श्रेष्ठताका विचार कर सज्जनोंकी सेवा करे ॥१३॥

चित्तशुद्धिके लिए किये गये तप आदि भी सन्त-साधुओंकी सेवा द्वारा ही ज्ञानोपयोगी होते हैं, स्वतन्त्ररूपसे ज्ञानोपयोगी नहीं होते हैं, इस आशयसे कहते हैं—**'न'** इत्यादिसे ।

संसाररूप सागरको पार करनेके लिए सज्जनकी सेवाके बिना न तो तप ज्ञानप्राप्तिके लिए समर्थ होते हैं, न तीर्थसेवन ज्ञानजनक होते हैं और न शास्त्राभ्यास ही ज्ञान उत्पन्न करा सकते हैं ॥ १४ ॥

सज्जनका लक्षण कहते हैं—**'लोभ०'** इत्यादिसे ।

जिसके सेवनसे प्रतिदिन लोभ, मोह और क्रोध क्षीण होते हैं और जो अपने कर्मोंमें शास्त्रानुसार आचरण करता है, वह सज्जन है ॥ १५ ॥

सदा सज्जनकी सेवामें तत्पर पुरुषकी कभी आत्मज्ञानीके साथ भी अवश्य संगति हो जाती है, जिससे ज्ञानप्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—**'अथा०'** इत्यादिसे ।

सज्जनोंकी संगतिसे सज्जनसेवी पुरुषका आत्मज्ञानीके साथ संग होता है, जिससे इस दृश्यका अत्यन्ताभाव ही उसे दिखाई देता है ॥ १६ ॥

उससे इसकी पुरुषार्थसिद्धि भी होती है, ऐसा कहते हैं—**'दृश्या०'** इत्यादिसे ।

न चोत्पन्नं न चैवाऽऽसीद्दृश्यं न च भविष्यति ।
वर्तमानेऽपि नैवाऽस्ति परमेवाऽस्त्यवेधितम् ॥ १८ ॥
एवं युक्तिसहस्रेण दर्शितं दर्श्यतेऽपि च ।
सर्वैरेवाऽनुभूतं च दर्शयिष्यामि चाऽधुना ॥ १९ ॥
तथेदममलं शान्तं त्रिजगत्संविदम्बरम् ।
इदं तत्त्वमतत्त्वादि कुतोऽत्र स्यात् कथं च वा ॥ २० ॥
चिच्चमत्कुरुते चारु चञ्चलाऽचञ्चलात्मनि ।
यत्तयैव तदेवेदं जगदित्यवबुध्यते ॥ २१ ॥

दृश्यके अत्यन्ताभावसे तो एकमात्र परब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है, अन्य वस्तुओंका अभाव होनेसे उसीमें जीव शीघ्र लीन हो जाता है ॥ १७ ॥

परब्रह्म ही केवल अवशिष्ट रहता है, ऐसा जो पहले कहा है, उसका दृश्यके अत्यन्ताभावकी उपपत्ति द्वारा समर्थन करते हैं—**'न च'** इत्यादिसे ।

न तो यह दृश्य उत्पन्न हुआ है, न पहले था ही, और न आगे होगा ही, अतएव वर्तमानमें भी यह नहीं है, एकमात्र अखण्ड ब्रह्म ही है ॥ १८ ॥

जैसे इस जगत्के उत्पत्ति आदि नहीं हो सकते वैसे उत्पत्तिप्रकरणमें भी अनेक युक्तियोंद्वारा उपपादन किया जा चुका है और आगे भी उपपादन किया जायगा, ऐसा कहते है—**'एवं'** इत्यादिसे ।

इस प्रकार हजारों युक्तियोंसे जगत्के जन्म आदिका अभाव पहले दिखाया जा चुका है, और दिखा भी रहे हैं । जैसे सब विद्वानोंने उसका अनुभव किया है वैसे मैं इस त्रिजगत्संविद्रूपी चिदाकाशको इस समय आपके लिए दर्शाऊँगा । यह त्रिजगत् शान्त, निर्मल चिदाकाश ही है । यह चिदाकाश परमार्थस्वरूप है, इसमें मायिक आकाश आदिका सम्भव कहाँसे और कैसे हो सकता है ? प्रश्न उठता है कि आकाश आदिकी उत्पत्ति सत्से है अथवा असत्से है या मायासे है ? आदिके दो तो अविकारी हैं, इसलिए उनसे जगत्की उत्पत्तिका सम्भव नहीं है । यदि मायासे जगत्की उत्पत्ति मानी जाय, तो वह मिथ्या ही होगी । इसलिए परिशेषसे जगत्का अनुत्पत्तिपक्ष ही स्थिर रहता है । छिद्ररहित कूटस्थ नित्य चिदात्मामें छिद्रस्वरूप आकाशका हजारों घनोंसे भी उत्पादन नहीं हो सकता, भाव यह है ॥१९,२०॥

यदि यह जगत् उत्पन्न नहीं हुआ है, तो जगत् नामसे सबको इसका बोध कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—**'चित्'** इत्यादिसे ।

त्रैलोक्यभूयोऽनुभवश्चिदादित्यांशुमण्डलम् ।
को वा स्वांशुमतोर्भेदो निर्विकल्पः स कथ्यताम् ॥ २२ ॥
स्वाभावतोऽस्याश्चिद्दृष्टेर्ये उन्मेषनिमेषणे ।
जगद्रूपानुभूतेस्तावेतावस्तमयोदयौ ॥ २३ ॥
अहमर्थोऽपरिज्ञातः परमार्थाम्बरे मलम् ।
परिज्ञातोऽहमर्थस्तु परमात्माम्बरं भवेत् ॥ २४ ॥
अहम्भावः परिज्ञातो नाऽहंभावो भवत्यलम् ।
एकतामम्बुनेवाऽम्बु याति चिन्नभसाऽऽत्मना ॥ २५ ॥

निश्चल आत्मामें कल्पित चञ्चलतासे चञ्चल, मायामें प्रतिबिम्बित चैतन्य जगत्की-सी जो सुन्दर कल्पना करता है, उसीको वही जगत्रूपसे जानता है ॥२१॥

यदि कोई शङ्का करे कि जगद्बोधरूपी चैतन्य सविकल्पक है और ब्रह्म-चैतन्य निर्विकल्पक है, इसतरह जगद्रूपी भेदको छिपानेके लिए तत्पर हुएं आपका चैतन्यमें भी भेद प्राप्त हो गया, इसपर कहते हैं—**'त्रैलोक्य०'** इत्यादिसे ।

तीनों लोकोंमें जितना द्वैत अनुभव है, वह सब ब्रह्मचैतन्यरूपी सूर्यके किरणसमूहकी तरह है, अतएव वस्तुतः उससे भिन्न नहीं है । किरणसमूह और किरणवान्का भेद कैसे हो सकता है ? विकल्पोंके मिथ्या होनेपर त्रैलोक्यमें जो द्वैतका अनुभव है, उसे भी निर्विकल्पक ही कहिये ॥ २२ ॥

इस निर्विकल्प चिद्वृत्तिका यानी चरम साक्षात्कारका जो उन्मेष है, वही जगत्के अनुभवका अस्तमय है, और जो इस चरम साक्षात्कारका निमेष अनाविर्भाव है, वही जगदनुभवका उदय है ॥ २३ ॥

इसलिए निमेष ही प्रत्यगात्माका अविद्यारूपी मल है और उन्मेष नैर्मल्यरूपी मोक्ष है, इस आशयसे कहते हैं—**'अहमर्थो०'** इत्यादिसे ।

अपरिज्ञात अहङ्कार चिदाकाशमें अविद्यारूपी मल है । परिज्ञात अहमर्थ (अहङ्कार) तो चिदाकाश हो जाता है ॥ २४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि अहमर्थ अहङ्कार है, वह परिज्ञात होकर भी कैसे चिदाकाश होगा ? तो इसपर कहते हैं—**'अहंभावः'** इत्यादिसे ।

जबतक अहङ्कारका यथार्थरूपसे परिज्ञान नहीं होता, तभी तक वह अहङ्कार है ।

अहमादिजगद्दृश्यं किल नाऽस्त्येव वस्तुतः ।
अवश्यमेव तत्तस्माच्छिष्यतेऽहंविचारतः ॥ २६ ॥
बाध्यते चाऽमलधियामपिशाचे पिशाचधीः ।
शिशूनां तावदाध्वान्तःकरणानां विचारणा ॥ २७ ॥
चिज्ज्योत्स्ना यावदेवाऽन्तरहंकारघनावृता ।
विकासयति नो तावत् परमार्थकुमुद्वतीम् ॥ २८ ॥
प्रमार्जितेऽहमित्यस्मिन् पदे स्वार्थे स्वयं विना ।
नरकस्वर्गमोक्षादितृष्णायाः कल्पनैव का ॥ २९ ॥

यथार्थरूपसे उसके परिज्ञात होनेपर तो वह निश्चय अहङ्कार नहीं रहता । जैसे जलके साथ जल एकताको प्राप्त हो जाता है वैसे ही वह चिदाकाशरूप आत्माके साथ एकताको प्राप्त हो जाता है ॥ २५ ॥

दृश्य अहमादि जगत् वस्तुतः नहीं ही है यानी बाधित है ।

शङ्का—परिज्ञात होनेपर अहमादि जगत्का बाध हो जाता है, तो शेष क्या रहता है ?

समाधान—यह अहं पदार्थ क्या है ? यों प्रमाणपूर्वक विचार करनेसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे वह चिदाकाश अवश्य ही परिशिष्ट रहता है, उसका बाध नहीं होता ॥२६॥

निर्मल बुद्धिवाले पुरुषोंकी अपिशाचमें पिशाचबुद्धि बाधित हो जाती है । किन्तु जिनकी बुद्धि थोड़ी बहुत मार्गमें आई हो, ऐसे बालकोंको तो हजारों वार यह पिशाच नहीं है, यह उपदेश देनेपर भी संशय होता ही है । यह पिशाच नहीं है, ऐसा बाध नहीं होता ॥ २७ ॥

जैसे बालकोंका मोह ज्ञानका बाधक होता हैं वैसे ही प्रौढ़ पुरुषोंका अभिमान भी ज्ञाननिवर्तक है, इस आशयसे कहते हैं—**'चिज्ज्योत्स्ना'** इत्यादिसे ।

जबतक अन्तःकरणमें चैतन्यरूपी चाँदनी अहङ्काररूपी मेघसे आवृत रहती है तबतक वह परमार्थरूपी कुमुदिनीको विकसित नहीं करती ॥ २८ ॥

'अहं' इस अभिमानका विनाश होनेपर भय, राग और मुमुक्षुसे होनेवाले द्वेष और रागके विषयभूत नरक, स्वर्ग और मोक्षकी तृष्णा भी हट जाती है, ऐसा कहते हैं—**'प्रमार्जिते'** इत्यदिसे ।

'अहं' पद तथा 'अहं' पदके अर्थके परिमार्जित होनेपर अहङ्कारके बिना नरक, स्वर्ग और मोक्षकी तृष्णाकी कल्पना ही कैसे हो सकती है ॥ २९ ॥

हृदि यावदहंभावो वारिदः प्रविजृम्भते ।
तावद्विकासमायाति तृष्णाकुटजमञ्जरी ॥ ३० ॥
आक्रम्य चेतनां नित्यमहङ्काराम्बुदे स्थिते ।
जाड्यमेव स्थितिं याति न प्रकाशः कदाचन ॥ ३१ ॥
असन्नयमहंकारः स्वयं मिथ्या प्रकल्पितः ।
दुःखायैव न हर्षाय बालसम्भ्रमयक्षवत् ॥ ३२ ॥
मुधैव कल्पितो मोहमहंभावः प्रयच्छति ।
अनन्तसंसारकरं दामादिष्विव दुर्मतौ ॥ ३३ ॥
अयं सोऽहमिति स्फारान्मोहादन्यतरत्तमः ।
अनर्थभूतं संसारे न भूतं न भविष्यति ॥ ३४ ॥
यत्किञ्चिदिदमायाति सुखदुःखमलं भवे ।
तदहंकारचक्रस्य प्रविकारो विजृम्भते ॥ ३५ ॥

जबतक हृदयमें अहङ्काररूपी घनघटा आटोपके साथ विराजमान रहती है तभीतक तृष्णारूपी कुटजकी मञ्जरी विकासको प्राप्त होती है ॥ ३० ॥

ज्ञानका आवरण कर अहङ्काररूपी मेघके सदा स्थित रहनेपर अज्ञानकी ही जड़ जमती है, ज्ञानालोक कदापि स्थिरताको प्राप्त नहीं होता, बालकके भ्रमसे कल्पित यक्षके समान स्वयं भ्रान्तिसे कल्पित अतएव असत् यह अहङ्कार दुःखके लिए ही है, इससे आनन्द कुछ भी प्राप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

जैसे व्यर्थ कल्पित अहंभावने दाम, व्याल और कटमें असंख्य जन्म-मरण देनेवाला मोह उत्पन्न किया था वैसे ही व्यर्थ ही कल्पित हुआ अहङ्कार अभिमानसे दूषित अन्तःकरणमें अनन्त जन्म-मरण देनेवाले मोहको उत्पन्न करता है ॥ ३३ ॥

यह देह मैं हूँ, इस प्रकारका भ्रम सम्पूर्ण अनर्थोंकी जड़ है, ऐसा कहते हैं— **'अयम्'** इत्यादिसे ।

यह देह मैं हूँ, इस प्रकारके प्रबल अज्ञानसे बढ़कर अनर्थकारी दूसरा अज्ञान न इस संसारमें हुआ और न होगा ॥ ३४ ॥

इस संसारमें जो कुछ भी सुखदुःखरूपी विकार प्राप्त होता है, वह अहङ्काररूपी चक्रका मुख्य विकार है ॥ ३५ ॥

अहङ्काराङ्कुरः कृष्टो हृदयेनाऽवरोपितः ।
सहस्रशाखं दुश्छेदं तस्य संसृतिनाशनम् ॥ ३६ ॥
अहम्भावोऽङ्कुरो जन्मवृक्षाणामक्षयात्मनाम् ।
ममेदमिति विस्तीर्णास्तेषां शाखाः सहस्रशः ॥ ३७ ॥
करटापातविस्फोटा भ्रान्त्यर्था वासनादयः ।
विचार्यचारुरववत् तरङ्गवरपङ्क्तिवत् ॥ ३८ ॥
अहंभावनया भाति त्वमहंभाववर्जितः ।
संसारचक्रवहनमात्मनः परिरोधया ॥ ३९ ॥
अहंभावतमो यावज्जन्मारण्ये विजृम्भते ।
तावदेता विवल्गन्ति चिन्तामत्ताः पिशाचिकाः ॥ ४० ॥
अहङ्कारपिशाचेन गृहीतो यो नराधमः ।
न शास्त्राणि न मन्त्राश्च तस्याऽभावस्य सिद्धये ॥ ४१ ॥

जिस पुरुषने अहङ्काररूपी दुष्ट वृक्षके अङ्कुरको विचारसे संस्कृत मनरूपी हलसे जोतकर उखाड़कर फेंक दिया, उसके आत्मारूपी खेतमें संसारका विनाश करनेवाला सैकड़ों शाखाओंसे युक्त अतएव दुरुच्छेद्य ज्ञानरूपी सस्य वृद्धिको प्राप्त होकर फलता है ॥ ३६ ॥

अहङ्कार ज्ञानरूपी कुठारके बिना कभी नष्ट न होनेवाले जन्मरूपी वृक्षोंका अङ्कुर है और यह मेरा है, यह उनकी हजारों बड़ी-बड़ी शाखाएँ हैं ॥ ३७ ॥

वासना आदि पदार्थ बड़े ध्यानसे सुनने योग्य शब्दवाले सेमलके पके हुए फलोंके तुल्य कौओंके थोड़े उड़नेसे भी नष्ट होनेवाले और तरङ्गोंकी सुन्दर पंक्तियोंके तुल्य आपातभङ्गुर हैं ॥ ३८ ॥

वस्तुतः आत्मा अहंभावसे वर्जित ही है, पर आत्माका तिरोभाव करनेवाली अहंभावनासे वह स्वयं ही संसाररूपी चक्रमें भ्रमणको प्राप्त हुआ-सा प्रतीत होता है। जबतक जन्मरूपी अरण्यमें अहंकाररूपी अन्धकार अपना सिक्का जमाये रहता है तबतक चिन्तारूपी मत्त पिशाचिकाएँ इधर-उधर दौड़ती रहती हैं ॥ ३९, ४० ॥

जिस अधम पुरुषको अहङ्काररूपी पिशाचने चङ्गुलमें फंसा लिया, उसके अहङ्काररूपी पिशाचके निवृत्त करनेके लिए न शास्त्रोंमें सामर्थ्य है और न मन्त्रोंमें ही ॥ ४१ ॥

श्रीराम उवाच

केनोपायेन भगवन्नहंकारो न वर्द्धते ।
तं त्वं कथय मे ब्रह्मन् संसारभयशान्तये ॥ ४२ ॥

वसिष्ठ उवाच

चिन्मात्रदर्पणाकारे निर्मले स्वात्मनि स्थिते ।
इति भावानुसन्धानादहंकारो न वर्धते ॥ ४३ ॥
मिथ्येयमिन्द्रजालश्रीः किं मे स्नेहविरागयोः ।
इत्यन्तरानुसन्धानादहंकारो न जायते ॥ ४४ ॥
नाऽहमात्मनि नो यस्य दृश्यश्रिय इति स्वयम् ।
शान्तेन व्यवहारेण नाऽहङ्कारः प्रवर्धते ॥ ४५ ॥
अहं हि जगदित्यन्तर्हेयादेयदृशोः क्षये ।
समतायां प्रपन्नायां नाऽहम्भावः प्रवर्धते ॥ ४६ ॥
अहं चिज्जगदित्यन्तर्हेयादेयदृशोः क्षये ।
समतायां प्रसन्नायां नाहम्भावः प्रवर्धते ॥ ४७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, किस उपायसे अहङ्कार नहीं बढ़ता ? हे ब्रह्मन्, संसाररूपी भयकी निवृत्तिके लिए आप वह उपाय मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ४२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त आत्मस्वभावके सदा स्मरणसे आत्माके चिन्मात्र दर्पणकी तरह निर्मल रहनेपर अहङ्कार नहीं बढ़ता ॥ ४३ ॥

यह जगत्‌रूपी इन्द्रजाल मिथ्या है मुझे इसमें स्नेह और वैराग्यसे क्या प्रयोजन है, ऐसा मनमें ध्यान करनेसे अहङ्कार उत्पन्न नहीं होता ॥ ४४ ॥

जिस पुरुषकी आत्मामें अहंकार नहीं है और दृश्य शोभाएँ भी नहीं हैं ऐसी स्थितिसे स्वयं ही निवृत्त हुए व्यवहारसे अहंकार नहीं बढ़ता ॥ ४५ ॥

अन्दर 'अहं' बाहर 'जगत्' यों हेय-उपादेयकी निमित्तभूत दृष्टियोंका क्षय होनेपर अविषमतारूप प्रसन्नताके प्राप्त होनेपर अहंभाव नहीं बढ़ता ॥ ४६ ॥

मैं यानी द्रष्टा, चित् यानी दर्शन और जगत् यानी दृश्य इस त्रिपुटीज्ञानके उसमें भी यह शत्रुभूत है यह भिन्नभूत इस दृष्टिके क्षीण होनेपर सर्वात्मकतारूप समताके विशद होनेपर अहम्भाव नहीं बढ़ता ॥ ४७ ॥

श्रीराम उवाच

किमाकृतिरहङ्कारः कथं संत्यज्यते प्रभो ।
सशरीरोऽशरीरश्च त्यक्ते तस्मिंश्च किं भवेत् ॥ ४८ ॥

वसिष्ठ उवाच

त्रिविधो राघवाऽस्तीह त्वहङ्कारो जगत्त्रये ।
द्वौ श्रेष्ठावितरस्त्याज्यः शृणु त्वं कथयामि ते ॥ ४९ ॥

अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माऽहमच्युतः ।
नाऽन्यदस्तीति परमा विज्ञेया सा ह्यहङ्कृतिः ॥ ५० ॥

मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते ।
सर्वस्माद् व्यतिरिक्तोऽहं वालाग्रशतकल्पितः ॥ ५१ ॥

इति या संविदेषाऽसौ द्वितीयाऽहङ्कृतिः शुभा ।
मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥ ५२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, इस अहंकारका क्या आकार है और कैसे देहमात्रमें अहंभावरूप तथा देहसे अतिरिक्त बुद्धिमात्रोपाधिक अहंकाररूप इसका त्याग होता है एवं इसका त्याग होनेपर क्या फल होता है ॥ ४८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस त्रिलोकीमें तीन प्रकारके अहंकार हैं, उनमें शास्त्रीय दो अहंकार यानी सूक्ष्मात्मविषयक और सर्वात्मविषयक अहंकार श्रेष्ठ हैं और तीसरा अशास्त्रीय अहंकार त्याज्य है। आप सुनिये, मैं उन्हें आपसे कहता हूँ ॥ ४९ ॥

मैं यह सब विश्व हूँ, इस प्रकार कार्यब्रह्मविषयक तथा मैं कभी च्युत न होनेवाला परमात्मा हूँ, इस प्रकार कारणब्रह्मविषयक अथवा तत्पदके वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ विषयक अहंसे अतिरिक्त जगत्में कुछ नहीं है, इस प्रकारका जो अहंकार है, उसे आप परम अहंकार जानिये। ये अहंकार जीवन्मुक्त पुरुषकी मोक्षप्राप्तिके लिए हैं, बन्धनके लिए नहीं है। बालके अग्रभागका सौवाँ हिस्सा बनाया गया यानी शोधन द्वारा निरवयव किया गया मैं सबसे अतिरिक्त हूँ, इस प्रकारकी जो बुद्धि है, वह दूसरा शुभ अहङ्कार है। वह भी छठी भूमिकामें स्थित पुरुषके मोक्षके लिए ही है, बन्धनके लिए नहीं है ॥ ५०—५२ ॥

अहङ्काराभिधा या सा कल्प्यते न तु वास्तवी ।
पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येष निश्चयः ॥ ५३ ॥
अहङ्कारस्तृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः ।
वर्ज्य एव दुरात्माऽसौ शत्रुरेव परः स्मृतः ॥ ५४ ॥
अनेनाऽभिहतो जन्तुर्न भूयः परिरोहति ।
रिपुणाऽनेन बलिना विविधाधिप्रदायिना ॥ ५५ ॥
कष्टीकृतमतिर्लोकः संकटेष्वेव मज्जति ।
अनया दुरहङ्कृत्या भावात् संसक्तया चिरम् ॥ ५६ ॥
शिष्टाहङ्कारवाञ्जन्तुर्भगवान् याति मुक्तताम् ।
लोकाहङ्कारवद्दोषवपुरस्मिन् निरूपणः ॥ ५७ ॥

जो लोग सप्तम भूमिकामें स्थित हैं, उनमें अहङ्कारके बिना जीवनकी अनुपपत्ति होनेसे अहंकारकी केवल कल्पना होती है, वस्तुतः वह नहीं है, क्योंकि कल्पना करनेवाले और जाननेवाले जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, इसलिए सर्वथा असत्य होनेसे अहङ्कार इस नाममात्रके शेष रहनेसे वह अहङ्काराभिधामात्र है ।

तीसरे अहंकारको दर्शाते हैं—**'पाणिपादादि०'** इत्यादिसे ।

यह कर-चरणादिरूप देह ही मैं हूँ, इस प्रकारका मिथ्याभिमान तीसरा अहङ्कार है, वह लौकिक एवं तुच्छ ही है । यह दुष्ट अहङ्कार अवश्य त्यागके योग्य है, क्योंकि वह परले सिरेका शत्रु ही कहा गया है ॥ ५३,५४ ॥

विविध प्रकारकी मानसिक दुश्चिन्ता आदि दुःख देनेवाले इस बलवान् शत्रुसे आहत हुआ जीव अपरिच्छिन्न स्वभावसे फिर आविर्भूत नहीं होता ॥ ५५ ॥

स्वभावसे ही चिरकालसे पीछे पड़ी हुई इस दुष्ट अहङ्कृतिसे दुर्वासनाओं द्वारा दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त करनेसे पीड़ित हुआ पुरुष सङ्कटोंमें ही मग्न रहता है ॥५६॥

किससे फिर जन्तु मुक्त होता है ? इसपर कहते हैं—**'शिष्टा०'** इत्यादिसे ।

अवशिष्ट पूर्वोक्त शुद्ध अहङ्कारोंसे युक्त होकर जो पुरुष ममतासे उत्पन्न हुए राग आदि दोषोंको नष्ट करता हुआ इस सर्वात्मभावरूप अहङ्कारमें भी लोक-प्रसिद्ध देहात्मभावरूप अहङ्कारकी तरह दृढ़ होकर हिरण्यगर्भ या ईश्वर मैं हूँ, इस भावनासे युक्त होता है, वह देहाहंभावसे मुक्त हो जाता है ॥ ५७ ॥

न देहोऽस्मीति निर्णीय वर्जनं महतां मतम् ।
प्रथमं द्वावहङ्कारावङ्गीकृत्याऽन्त्यलौकिकौ ॥ ५८ ॥
प्रथमं द्वावहङ्कारावङ्गीकृत्याऽन्त्यलौकिकौ ।
तृतीयाहङ्कृतिस्त्याज्या लौकिकी दुःखदायिनी ॥ ५९ ॥
अनया दुरहङ्कृत्या दामव्यालकटाः किल ।
तां दशां समनुप्राप्ता या कथास्वपि खेददा ॥ ६० ॥

श्रीराम उवाच

तृतीयां लौकिकीमेतां त्यक्त्वा चित्तादहङ्कृतिम् ।
किंभावः पुरुषो ब्रह्मन् प्राप्नुयादात्मनो हितम् ॥ ६१ ॥

वसिष्ठ उवाच

एषा तावत् परित्याज्या त्यक्त्वैतां दुःखदायिनीम् ।
यथा यथा पुमांस्तिष्ठेत् परमेति तथा तथा ॥ ६२ ॥

यही प्रणाली अन्य ब्रह्मनिष्ठ पुरुषोंके भी अभिमत है, ऐसा कहते हैं—**'न देहः'** इत्यादिसे ।

देहात्मभावरूप अहङ्कारकी तरह बद्धमूल हुए पूर्वोक्त दो अहङ्कारोंका पहले स्वीकार कर 'मैं देह नहीं हूँ' यों विचारसे भी निश्चय कर देहमें आत्मभावरूप अहङ्कारका त्याग करना चाहिये, ऐसा प्राचीन महापुरुषोंका मत है ॥ ५८ ॥

उक्त सिद्धान्तका ही फिर अनुवाद कर उपसंहार करते हैं—**'प्रथमम्'** इत्यादिसे।

देहात्मभावरूप अहङ्कारकी तरह बद्धमूल हुए आदि दो अहङ्कारोंका पहले अङ्गीकार कर तीसरी लौकिकी अहङ्कृतिका, जो अत्यन्त दुःखदायिनी है, त्याग कर देना चाहिये ॥ ५९ ॥

उसमें पूर्वोक्त उपाख्यानका भी दृष्टान्तरूपसे उल्लेख करते हैं—**'अनया'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस दुरहङ्कारसे ही दाम, व्याल और कट उस दशाको प्राप्त हुए, जिसे कथामें भी सुनकर दुःख होता है ॥ ६० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, इस तीसरे लौकिक अहङ्कारको चित्तसे हटाकर किस प्रकारकी स्थितिवाला पुरुष अपने हित परम तत्त्वको प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यह तीसरा अहङ्कार त्यागने योग्य

अहङ्कारदशावेते पूर्वोक्ते भावयन् यदि ।
तिष्ठदुपैति परमं तत्पदं पुरुषोऽनघ ॥ ६३ ॥
अथ ते अपि संत्यज्य सर्वाहङ्कृतिवर्जितः ।
संतिष्ठत तथाऽत्युच्चैः पदमेवाऽधिरोहति ॥ ६४ ॥
सर्वदा सर्वयत्नेन लौकिकी दुरहङ्कृतिः ।
परमानन्दबोधाय वर्जनीयाऽनया धिया ॥ ६५ ॥
शरीरास्थामयापुण्यदुरहङ्कारवर्जनम् ।
अत्यन्तपरमं श्रेय एतदेव परं पदम् ॥ ६६ ॥
भावादहङ्कृतिं त्यक्त्वा स्थूलामेतां हि लौकिकीम् ।
तिष्ठन् व्यवहरन् वाऽपि न नरः प्रपतत्यधः ॥ ६७ ॥

है, दुःख देनेवाले इस लौकिक अहङ्कारका त्याग कर सर्वाहंभावसे या शुद्धाहंभावसे श्रवण, गुरुशुश्रूषा आदिमें तत्परतासे या सात भूमिकाओंमें जिस जिस प्रकारसे पुरुष स्थित रह सकता है वैसे वैसे स्वरूपसुखकी अभिव्यक्तिके उत्कर्षकी प्राप्तिसे परम तत्त्वको प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥

इसी बातको विशद करते हैं—**'अहङ्कार०'** इत्यादिसे ।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त प्रथम इन दो अहङ्कारदृष्टियोंकी भावना करता हुआ पुरुष यदि स्थित रहे, तो परमपुरुषार्थ प्राप्त हो जाता है ॥ ६३ ॥

तदनन्तर उन दो अहङ्कारोंका भी त्याग करके सब अहङ्कारोंसे रहित होकर यदि स्थित रहे, तो वह अति उन्नत पदमें आरूढ़ होता है ॥ ६४ ॥

पथ्य वचन सैकड़ों बार कहना चाहिये, इस न्यायसे फिर देहात्मभावनाके त्यागके गुणोंको कहते हुए लौकिक अहङ्कारके त्यागकी आवश्यकता दर्शाते हैं—**'सर्वदा'** इत्यादिसे ।

इस बुद्धिसे तथा सदा सब प्रयत्नोंसे लौकिक दुष्ट अहङ्कारका परमानन्दके बोधके लिए त्याग करना चाहिये। शरीरमें आसक्तिरूप जो दुष्ट अहङ्कार है, उसका त्याग अत्यन्त श्रेष्ठ कल्याण है और यही परमपद है ॥ ६५,६६ ॥

विचारसे इस स्थूल लौकिक अहङ्कारका त्याग करके पुरुष चाहे चुपचाप बैठा रहे या लौकिक व्यवहार करे, फिर भी उसका अधःपात नहीं होता ॥ ६७ ॥

संशान्ताहङ्कृतेर्जन्तोर्भोगा रोगा महामते ।
न स्वदन्ते सुतृप्तस्य यथा प्रतिविषा रसाः ॥ ६८ ॥
भोगेष्वस्वदमानेषु पुंसः श्रेयः पुरो गतम् ।
क्षीणेऽन्धकारे किं नाम मनसोऽन्यत् प्रवर्तते ॥ ६९ ॥
अहङ्कारानुसन्धानवर्जनादेव राघव ।
पौरुषेण प्रयत्नाच्च तीर्यते भवसागरः ॥ ७० ॥
नाऽहं न तेन मम किंचिदपीति मत्वा
सर्वं च मे सकलमप्यहमेव चेति ।
लब्धास्पदं मनसि संविदमेवमीड्यां
नीत्वा स्थितिं परमुपैति पदं महात्मा ॥ ७१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटोपाख्यानेऽहङ्कारविचारो नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

हे महामति श्रीरामचन्द्रजी, जिस पुरुषका अहंकार नष्ट हो गया, उसको भोगरूपी रोग इस प्रकार स्वाद नहीं देते, जैसे खूब तृप्त पुरुषको विषमिश्रित षड्रस स्वाद नहीं देते ॥ ६८ ॥

भोगोंके स्वाद न देनेपर परम कल्याण पुरुषके सामने स्थित-सा हो जाता है, क्योंकि उसके प्रतिबन्धककी निवृत्ति हो जाती है। अन्धकारके तुल्य अग्रहण और अन्यथाग्रहणमें निमित्तभूत मनके अहंकारके नष्ट होनेपर और क्या प्रतिबन्धक शेष रह जाता है, जिससे परमपदकी प्राप्तिमें विघ्न हो ? ॥ ६९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अहंकारके स्मरणके त्यागसे, धैर्यसे और श्रवण आदि प्रयत्नसे संसाररूपी सागर पार किया जाता है ॥ ७० ॥

महात्मा पुरुष पहले सब मैं ही हूँ, सभी ये मेरे हैं, ऐसा समझ कर तदनन्तर देहादि मैं नहीं हूँ, देहके सन्बन्धी कुछ भी मेरे नहीं हैं, ऐसा विचार कर उससे सब प्रतिबन्धकोंका नाश होनेसे प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए, परम श्लाघनीय, पहले विस्तारपूर्वक कहे गये आत्मज्ञानको मनमें प्राप्त करा कर, क्रमसे सात भूमिकाओंमें स्थित होकर, अपरिच्छिन्न आत्मा स्वयं होकर विदेह कैवल्यरूप परमपदको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

तेंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चतुस्त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अत्र ते शृणु वक्ष्यामि दामादिषु गतेष्वथ ।
यद्वृत्तं शम्बरस्यैव नगरे नगसन्निभे ॥ १ ॥
तथा गगनविभ्रष्टे समस्ते ध्वस्तसंस्थितौ ।
विनष्टे शम्बरानीके शरदीवाऽब्दमण्डले ॥ २ ॥
देवनिर्जितसैन्योऽसौ नीत्वा कतिपयाः समाः ।
पुनर्देववधोद्युक्तश्चिन्तयामास दानवः ॥ ३ ॥
दामादयस्तु रचिता ये मया माययाऽसुराः ।
मौर्ख्यात् तैर्भाविता युद्धे मिथ्यैव दुरहङ्कृतिः ॥ ४ ॥

चौंतीसवाँ सर्ग

[भीम, भास और दृढ़ द्वारा छिन्न-भिन्न हुए देवताओंसे प्रार्थित भगवान् हरिका शम्बरको मारना और वासनारहित उनका मुक्त होना]

ज्ञान और विवेकके अभावमें विद्यमान भी निर्वासनता दुरभ्याससे नष्ट हो जाती है । ज्ञान और विवेककी दृढ़तामें तो 'तस्य ह न देवाश्च नाऽभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति' (देवता उसके अकल्याणके लिए समर्थ नहीं होते, वह उनका आत्मा हो जाता है) इस श्रुतिमें कही गई रीतिसे देवता भी बन्धनमें नहीं डाल सकते, इस विषयमें भीम, भास और दृढ़का न्याय दृष्टान्तरूपसे दर्शाते हैं— **'अत्र'** इत्यादिसे ।

दाम आदि दानवोंके चले जानेपर सम्पत्तिसे मेरुपर्वतके तुल्य शम्बरके नगरमें जो कुछ वृत्तान्त हुआ, इस विषयमें मैं आपसे कहूँगा, आप सुनिये ॥ १ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे शम्बरकी सारी सेनाके, जिसकी स्थिति बिगड़ चुकी थी, आकाशसे गिर कर शरत्कालके मेघोंकी घटाके समान नष्ट होनेपर, देवताओंसे जिसकी सेना जीती गई थी, ऐसा वह दानव कुछ वर्ष बिताकर फिर देवताओंके वधके लिए उद्यमशील हो विचार करने लगा । मैंने माया द्वारा जिन दाम आदि असुरोंका निर्माण किया था, उन्होंने मूर्खतावश युद्धमें व्यर्थ ही दुष्ट अहङ्कारकी भावना की ॥२—४॥

इदानीं संसृजाम्यन्यान् दानवान् माययोदितान् ।
तानप्यध्यात्मशास्त्रज्ञान् सविवेकान् करोम्यहम् ॥ ५ ॥
ततस्तत्त्वपरिज्ञानान्मिथ्याभावनयोज्झिताः ।
नाऽहङ्कारं प्रयास्यन्ति विजेष्यन्ति च तान् सुरान् ॥ ६ ॥
इति सञ्चिन्त्य दैत्येन्द्रस्तादृशान् दानवान् धिया ।
माययोत्पादयामास बुद्बुदानीव वारिधिः ॥ ७ ॥
सर्वज्ञा वेद्यवेत्तारो वीतरागा गतैनसः ।
यथाप्राप्तैककर्तारो भावितात्मान उत्तमाः ॥ ८ ॥
भीमो भासो दृढ इति नामभिः परिलाञ्छिताः ।
जगत्तृणमिवाऽशेषं पश्यन्तः पावनाशयाः ॥ ९ ॥
ते दैत्या भुवनं प्राप्य च्छादयामासुरम्बरम् ।
गर्जन्तो हेतितडितः प्रावृषीव पयोधराः ॥१०॥
अयुध्यन्त समं देवैरपि वर्षगणान् बहून् ।
विवेकवशतो जग्मुर्नाऽहङ्कारं कदाचन ॥११॥

अब मैं मायासे रचे हुए अन्य दानवोंकी सृष्टि करता हूँ और उन्हें अध्यात्मशास्त्रके ज्ञाता और विवेकशील बनाता हूँ। तत्त्वज्ञानी होनेके कारण मिथ्याभावनासे रहित वे अहङ्कारको प्राप्त नहीं होंगे और उन देवताओंपर विजय प्राप्त करेंगे ॥ ५,६ ॥

दैत्यराज शम्बरने बुद्धिसे ऐसा विचार कर जैसे सागर बुदबुदोंको उत्पन्न करता है वैसे ही उस प्रकारके दानवोंको मायासे उत्पन्न किया, वे सर्वज्ञ थे, वेद्य आत्मतत्त्वं उन्होंने जान लिया था, वे विरक्त और निष्पाप थे, जो कुछ प्रभुकी आज्ञा होती थी एकमात्र उसीको करते थे, सदा आत्मनिष्ठ रहते थे, इस प्रकारके उत्तम वे दानव भीम, भास और दृढ़ इन नामोंसे युक्त थे। निर्मल आशयवाले वे तीनों जगत्को तृणके तुल्य देखते थे ॥ ७,९ ॥

गरज रहे और अस्त्ररूपी बिजलीसे युक्त उन दैत्योंने ऊपरके लोकोंमें आकर वर्षाऋतुके मेघोंकी तरह आकाशको ढक दिया ॥ १० ॥

बहुत वर्षोंतक देवताओंके साथ उन्होंने युद्ध किया, फिर भी विवेकवश वे कभी अहङ्कारको प्राप्त नहीं हुए ॥ ११ ॥

तेषां यावदुदेत्यन्तर्ममेदमिति वासना ।
तावत् कोऽयमहं चेति विचाराद्यात्यसत्यताम् ॥ १२ ॥
असच्छरीरं विबुधाः कोऽसावहमिति स्थितिः ।
विचारादित्थमेतेषां प्रोदगुर्न भयादयः ॥ १३ ॥
असच्छरीरं नाऽस्तीदं चिच्छुद्धैवाऽत्मनि स्थिता ।
अहं नाम न चाऽन्योऽस्ति निश्चत्यैवाऽसुरा ययुः ॥ १४ ॥
ततस्तैर्निरहङ्कारैर्जरामरणनिर्भयैः ।
प्राप्तार्थकारिभिर्धीरैर्वर्तमानानुसारिभिः ॥ १५ ॥
असक्तबुद्धिभिर्नित्यं हतान्यैरप्यहन्तृभिः ।
वासनाजालनिर्मुक्तैः कृतकार्यैरकर्तृभिः ॥ १६ ॥
प्रभोः कार्यमिदं कार्यमिति सङ्गरतत्परैः ।
वीतरागैर्गतद्वेषैः सर्वदा समदृष्टिभिः ॥ १७ ॥

उनके हृदयमें यह मेरा है, ऐसी वासना जभी उदित होती थी, तभी यह मैं कौन हूँ, इस प्रकारके विचारसे वह असत्यताको प्राप्त हो जाती थी ॥ १२ ॥

जिनसे डरना चाहिये और जिसके लिए डरना चाहिये, वे दोनों ही मिथ्या हैं, इस प्रकारके विचारसे उनमें भयका उदय नहीं हुआ, ऐसा कहते हैं—**'असत्'** इत्यादिसे ।

शरीर और देवता दोनों ही असत् हैं और मैं कौन हूँ, इस विचारसे उनमें भय आदिकी उत्पत्ति नहीं हुई ॥ १३ ॥

असत् यह शरीर नहीं ही है, आत्मामें शुद्ध चित् स्थिर है, अहं नामका कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, ऐसा निश्चय करके ही असुर लोग युद्धार्थ गये ॥ १४ ॥

तदनन्तर अहंकाररहित, जरा-मरणसे निर्भय, जो वस्तु प्राप्त हो उसे करनेवाले, वर्तमानका अनुसरण करनेवाले, धैर्यशाली, नित्य आसक्तिरहित बुद्धिवाले, दूसरोंको मारकर भी हन्तृत्वका अभिमान न करनेसे हन्तृत्वसे रहित, वासनाजालसे रहित, कार्य करके भी कर्तृत्वाभिमान न करनेसे कर्तृत्वसे निर्मुक्त, अज्ञानी अपने प्रभु शम्बरकी दृष्टिसे यह कार्य करना चाहिये, यों युद्धमें सन्नद्ध हुए, राग-द्वेषशून्य, सदा सर्वत्र समदृष्टि, भीम, भास और दृढ़ आदि दानवों द्वारा जैसे भोक्ता पुरुषोंसे अपने-अपने खाद्य वस्तुओंकी शोभा नष्ट होती है, उपभुक्त होती है, वैसे ही

सा दैवी दानवैः सेना भीमभासदृढादिभिः ।
हता भुक्ता हृता प्लुष्टा स्वान्नश्रीरिव भोक्तृभिः ॥१८॥
भीमभासदृढक्षुण्णा जाता गीर्वाणवाहिनी ।
परिदुद्राव वेगेन गङ्गेव हिमवच्च्युता ॥ १९ ॥
सा सुरानीकिनी देवं क्षीरोदार्णवशायिनम् ।
जगाम शरणं शैलं वातार्तेवाऽब्दमालिका ॥ २० ॥
हरिराश्वासयामास तां भीतां देववाहिनीम् ।
भुजङ्गाभिवृतामेकां रमणीमिव नायकः ॥ २१ ॥
अथ क्षीरोदकुहरे तावत् सा सुरवाहिनी ।
उवास यावद्भगवांस्तन्निरासार्थमुद्ययौ ॥ २२ ॥
बभूव दारुणं युद्धं शौरिशम्बरयोस्ततः ।
अकाल इव कल्पान्ते समुड्डीनकुलाचलम् ॥ २३ ॥
शशाम समरे तस्मिन् दैत्यः सबलवाहनः ।
नारायणहतो यातः शम्बरो वैष्णवीं पुरीम् ॥ २४ ॥

उनके द्वारा देवताओंकी सेना नष्ट हुई, उपभुक्त हुई, हरी गई और जलाई गई ॥१८॥

भीम, भास और दृढ़से नष्ट की गई देवताओंकी सेना हिमालयसे गिरी हुई गंगाकी तरह बड़े वेगसे भागी । भागी हुई वह देवताओंकी सेना जैसे वायुसे छिन्न-भिन्न की गई मेघपङ्क्ति पर्वतकी शरणमें जाती है वैसे ही क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुकी शरणमें गई ॥ १९, २० ॥

जैसे विटों द्वारा उपभोगके लिए आक्रान्त अतएव भयभीत अकेली नायिकाको नायक आश्वासन देता है वैसे ही भयभीत हुई उस देवसेनाको भगवान् श्रीहरिने आश्वासन दिया ॥ २१ ॥

तदनन्तर वह देवसेना तबतक श्वेतद्वीपमें रही, जबतक कि भगवान्ने शम्बरके विनाशके लिए प्रयत्न किया ॥ २२ ॥

तदनन्तर भगवान् विष्णु और शम्बरका बड़ा दारुण युद्ध हुआ, जिसमें प्रलयकी तरह अकालमें ही बड़े-बड़े कुलाचल उड़े थे ॥ २३ ॥

उस युद्धमें शम्बरासुर अपनी सेना, सवारी आदिके साथ शान्त (कालकवल) हो गया । नारायणके हाथसे मरा हुआ वह वैकुण्ठको चला गया ॥ २४ ॥

भीमभासदृढास्ते तु तस्मिन् विषमसङ्गरे ।
विष्णुनैव शमं नीताः पवनेनेव दीपिकाः ॥ २५ ॥
ते हि निर्वासना एव यदा शान्तिमुपागताः ।
न तदैषां गतिर्ज्ञाता दीपानामिव शाम्यताम् ॥ २६ ॥
तस्माद्वासनया बद्धं मुक्तं निर्वासनं मनः ।
राम निर्वासनीभावमाहरस्व विवेकतः ॥ २७ ॥
सम्यगालोकनात् सत्याद्वासना प्रविलीयते ।
वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत् ॥ २८ ॥
न सत्यं किञ्चिदेवेह सद्भावो भावयत्यलम् ।
नाऽस्त्येव भावना तस्मादित्येतत् सम्यगीक्षणम् ॥ २९ ॥

उस विषम संग्राममें वे भीम, भास और दृढ़ तो जैसे वायुसे दीपक शान्त हो जाते हैं वैसे ही भगवान् विष्णु द्वारा ही शान्त (विदेहमुक्त) किये गये ॥ २५ ॥

यदि कोई कहे कि शम्बरकी तरह भीम आदिका भी वैकुण्ठ आदि लोकान्तरमें गमन क्यों नहीं हुआ? तो इसपर उसका निषेध करते हैं—**'ते हि'** इत्यादिसे ।

वासनारहित वे जब शान्तिको प्राप्त हुए तब बुझ रहे दीपकोंकी तरह उनकी गति किसीको मालूम नहीं हुई । वासना ही लोकान्तरगमनका कारण है, 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य' (इसलिए वासनायुक्त पुरुष, जो कर्म फलकी आसक्तिसे किया, उस कर्मके साथ फलको प्राप्त होता है, जिसमें कि इसका लिङ्गरूप मन पहले आसक्त हुआ ।) ऐसी श्रुति है । वे वासनारहित थे, अतएव उनकी गति किसीको ज्ञात नहीं हुई, यह अर्थ है ॥ २६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वासनासे युक्त मन बन्धनको प्राप्त होता है और वासनारहित मन मुक्तिको प्राप्त होता है, इसलिए आप विवेकपूर्वक निर्वासनताका अवश्य सम्पादन कीजिये ॥ २७ ॥

निर्वासनताकी प्राप्तिमें जो उपाय है, उसे बतलाते हैं—**'सम्यक्'** इत्यादिसे ।

जैसे यथाभूतवस्तुविषयक सम्यग् दर्शनसे रत्नतत्त्वका साक्षात्कार होता है वैसे ही चिरकालके विचार और समाधिसे जनित सत्य आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे वासना नष्ट हो जाती है । वासनाके विलीन होनेपर चित्त दीपककी नाईं नष्ट हो जाता है ॥ २८ ॥

अब सम्यगालोकनका प्रकार दर्शाते हैं—**'न सत्यम्'** इत्यादिसे ।

आत्मैवेदं जगत्सर्वं कः किं भावयतु क्व वा ।
भावना नाम नाऽस्त्येव तदेतत् सम्यमीक्षणम् ॥ ३० ॥
वासनाचित्तनामानौ शब्दावर्थसमन्वितौ ।
सत्यावलोकनाद् यत्र विलीनौ तत्परं पदम् ॥ ३१ ॥
वासनावलितं चित्तमिह स्थितिमुपागतम् ।
तदेव तद्विनिर्मुक्तं विमुक्तमिति कथ्यते ॥ ३२ ॥
नानाघटपटाकारैश्चेतः स्थितिमुपागतम् ।
तदेवाऽऽशु शमं नेयं मिथ्या यक्ष इवोत्थितः ॥ ३३ ॥
दामव्यालकटाकारैश्चेतः परिणतं यथा ।
भीमभासदृढन्यायो राघवाऽस्त्वचलस्तव ॥ ३४ ॥

अत्यन्त परिपूर्ण परमार्थसत्य चिदात्मा जो इस दृश्यकी भावना करता है, वह कुछ भी सत्य नहीं है। इसलिए उस दृश्यका दर्शन भी नहीं ही है। इसलिए परिशेषसे यह स्वप्रकाशचिन्मात्रदर्शन ही सम्यग् दर्शन है ॥ २९ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा ही है, इसलिए कौन किस वस्तुकी कहाँपर भावना करे ? भावना भी नहीं ही है, इसलिए स्वप्रकाशचिन्मात्रका ही दर्शन सम्यग् दर्शन है ॥ ३० ॥

वासना और चित्त नामके अर्थयुक्त दो शब्द जहाँपर परमार्थ सत्यके दर्शनसे विलीन हो गये, वह परम पद है ॥ ३१ ॥

वासनासे युक्त चित्त यहाँपर चित्तरूपसे स्थितिको प्राप्त हुआ है। वही वासनासे मुक्त होकर जीवन्मुक्त कहा जाता है। विविध घट, पटके आकारोंसे चित्त स्थितिको (सत्ताको) प्राप्त हुआ है। उदित हुए बालकके यक्षके समान उसीका शीघ्र विनाश कर देना चाहिये ॥ ३२, ३३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, 'देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् । आत्मन्येव भवेद् यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥'—अर्थात् जैसे देहात्मज्ञान अज्ञानियोंमें बद्धमूल होता है वैसे ही बद्धमूल ज्ञान, जो कि देहात्मज्ञानका बाधक है, जिसकी आत्मामें उत्पन्न हो जाता है, वह मुक्तिकी इच्छा न रहनेपर भी मुक्त हो जाता है, इस न्यायसे जैसे दाम, व्याल और कटकी देहात्मभावनासे उनका चित्त वासनासे वासित हुआ था वैसे ही ब्रह्मात्मभावनासे भीम, भास और दृढ़का न्याय आपके हृदयमें अचल हो ॥ ३४ ॥

दामव्यालकटन्यायो मा ते भवतु राघव ।
एतद् राम पुरा प्रोक्तं पित्रा कमलजेन मे ॥ ३५ ॥
भवते यन्मया प्रोक्तं शिष्यायाऽत्यन्तधीमते ।
दामव्यालकटन्यायस्तस्मान्मा तेऽस्तु राघव ।
भीमभासदृढन्यायो नित्यमस्तु तवाऽनघ ॥ ३६ ॥
अविरलसुखदुःखसंकटेयं भवपदवी भवतापनोपयाता ।
व्यवहरणवतो विभूतियातौ सततमसक्ततयैव नश्यतीति ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटोपाख्यानसमाप्तिर्नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

हे रघुवर, आपको दाम, व्याल और कटका न्याय प्राप्त न हो । हे श्रीरामचन्द्रजी, यह दाम आदिका वृत्तान्त मेरे पिता ब्रह्माजीने पहले मुझसे कहा था । चूँकि आप मेरे प्रिय शिष्य तथा अत्यन्त बुद्धिमान् हैं, अतः यह वृत्तान्त मैंने आपसे कहा है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, दाम, व्याल और कटकी स्थिति आपकी न हो । हे अनघ, आपकी सदा भीम, भास और दृढ़की स्थिति हो ॥ ३५, ३६ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे भीम, भास और दृढ़की तरह व्यवहार कर रहे आपको सम्पूर्ण व्यवहारोंमें निरन्तर अनासक्तिसे ही तत्त्वबोधपरिपाकरूप ऐश्वर्यकी प्राप्ति होनेपर अविरल सुख और दुःखोंसे व्याप्त, जन्म-मरणपरम्पराओंमें त्रिविध तापोंके भोगके लिए प्राप्त हुई आपकी यह भवपदवी मूलच्छेदपूर्वक नष्ट हो रही है अन्यथा नहीं ॥३७॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जयन्ति ते महाशूराः साधवो यैर्विनिर्जितम् ।
अविद्यामेदुरोल्लासैः स्वमनो विषयोन्मुखम् ॥ १ ॥
संसारस्याऽस्य दुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवाऽस्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ॥ २ ॥
श्रूयतां ज्ञानसर्वस्वं श्रुत्वा चैवाऽवधार्यताम् ।
भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते ॥ ३ ॥
किमन्यैः शास्त्रसन्दर्भैः क्रियतामिदमेव तु ।
यद्यत्स्वाद्विह तत्सर्वं दृश्यतां विषवह्निवत् ॥ ४ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग

[चित्तकी शान्तिके उपायका और भोगेच्छाके त्यागका, जो कि सत्संगति, विवेक और आत्मबोधसे उत्पन्न समाधिसे प्राप्त होता है, वर्णन]

उसमें मनका निग्रह ही मुख्य उपाय है और सब उपाय मनके निग्रहके लिए हैं, इस आशयसे पहले मनोनिग्रहको ही प्रशंसा करते हुए सर्गका आरम्भ करते हैं—**'जयन्ति'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, वे साधु जन महाबली हैं और सबके बन्दनीय हैं, जिन्होंने अविद्याके विपुल विलासोंसे विषयोंकी ओर अभिमुख हुआ अपना मन अपने वशमें कर लिया। विविध उत्पात देनेवाले दुःखरूपी इस संसारकी अपने मनका निग्रहरूप एक ही चिकित्सा है ॥ १, २ ॥

मनोनिग्रहके उपायोंमें भोगेच्छाका त्याग ही मुख्य उपाय है, ऐसा कहते हैं—**'श्रूयताम्'** इत्यादिसे ।

ज्ञानसर्वस्वका श्रवण कीजिये और श्रवण कर उसे हृदयमें धारण कीजिये। भोगकी इच्छा ही बन्धन है और भोगकी इच्छाका त्याग मोक्ष कहा जाता है ॥३॥

विषयोंमें दोषदर्शनसे घृणा भोगेच्छाकी भी चिकित्सा है, ऐसा कहते हैं—**'किमन्यैः'** इत्यादिसे ।

अन्य शास्त्रनिबन्धोंसे क्या करना है, एकमात्र यही कीजिये। इस लोकमें जो-जो वस्तु स्वादु हैं, उन सबको विषवह्निके समान देखिये ॥ ४ ॥

विषमा विषयाभोगाः प्रविचार्य पुनः पुनः ।
उपरिष्टात् परित्यज्य सेव्यमानाः सुखावहाः ॥ ५ ॥
दोषान् प्रसवति स्फारान् वासनावलिता मतिः ।
कीर्णकण्टकबीजा भूः कण्टकप्रसरं यथा ॥ ६ ॥
अलग्नवासनाजाला मतिः प्रसरवर्जिता ।
अदृष्टरागद्वेषा या शममेति शनैः परम् ॥ ७ ॥
शुभा शुभानसद्ग्लानीन् प्रसूते सुगुणान् सदा ।
फलदानङ्कुरान् काले श्रेष्ठबीजवतीव भूः ॥ ८ ॥
शुभभावानुसन्धानात् प्रसन्ने मनसि स्थिते ।
शनैः शनैः प्रशान्ते च मिथ्याज्ञानघनाम्बुदे ॥ ९ ॥

विचारके बिना सहसा विषयोंका त्याग दुःखदायी होता है । विचार कर गुरु और शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार विषयोंका त्याग आपाततः कटु होनेपर भी परिणाममें महासुखदायी होता है, ऐसा कहते हैं—'**विषमा**' इत्यादिसे ।

विचारके बिना विषयोंके त्याग दुःखदायी होते हैं, इसलिए पुनः-पुनः विचार कर सहनके अभ्यासक्रमसे भोगवासनाओंका त्याग कर सेवन किये जा रहे विषय सुखदायक होते हैं ॥ ५ ॥

भोगवासनाओंके रहनेपर क्या हानि होती है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो उसपर कहते हैं—'**दोषान्**' इत्यादिसे ।

जिस भूमिमें काँटेके बीज बिखरे हैं, वह भूमि जैसे काँटोंको उत्पन्न करती है वैसे ही वासनाओंसे युक्त बुद्धि बड़े-बड़े राग आदि दोषोंको उत्पन्न करती है ॥६॥

इसलिए जिस मतिमें वासनाओंके समूहका सम्बन्ध नहीं है, अतएव जिसमें राग और द्वेष दृष्ट नहीं हैं, इसीलिए जो चाञ्चल्यसे रहित है, वह धीरे-धीरे परम शमको प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

शुभ मति जिनसे दुःख नहीं होता, ऐसे शम, दम आदि सद्गुणोंसे युक्त ज्ञान, समाधि और विश्रान्तिरूप मोक्षफल देनेवाले अङ्कुरोंको समयपर ऐसे उत्पन्न करती है, जैसे धान आदि श्रेष्ठ बीजवाली पृथिवी धान आदि फलोंको देनेवाले अङ्कुरोंको समयपर उत्पन्न करती है ॥ ८ ॥

अब क्रमसे दया, दाक्षिण्य, क्षमा आदि शुभ भावोंके अभ्याससे लेकर समाधिपर्यन्त मनकी विश्रान्तिके साधनोंको कहते हैं—'**शुभ०**' इत्यादिसे ।

वृद्धिं याते च सौजन्ये पक्षे शुक्ल इवोडुपे ।
विवेके प्रसृते पुण्ये नभसीवाऽर्कतेजसि ॥ १० ॥
धृतावन्तर्विवृद्धायां मुक्तायामिव कीचके ।
स्थितावन्तः कृतार्थायां मधाविव निशाकरे ॥ ११ ॥
फलिते शीतलच्छाये सत्सङ्गसफलद्रुमे ।
स्रवत्यानन्दसुरसे समाधिसरलद्रुमे ॥ १२ ॥
मनो भवति निर्द्वंद्वं निष्कामं निरुपद्रवम् ।
प्रशान्तचापलानर्थशोकमोहभयामयम् ॥ १३ ॥
क्षीणशास्त्रार्थसन्देहं विगताशेषकौतुकम् ।
निरस्तकल्पनाजालं मोहमुक्तमलेपकम् ॥ १४ ॥
निरीहं निरुपाक्रोशं निरपेक्षं निराधिकम् ।
संशान्तशोकनीहारमसक्तं ग्रन्थिवर्जितम् ॥ १५ ॥
सन्देहोग्रसुतं साग्रं सतृष्णादारपञ्जरम् ।
नाशयित्वा स्वमात्मानं साधयत्यर्थमैश्वरम् ॥ १६ ॥

शुभ भावोंके अनुसन्धानसे मनके प्रसन्न होनेपर, मिथ्या-ज्ञानरूपी घन मेघके धीरे-धीरे शान्त होनेपर, सौजन्यके शुक्लपक्षमें चन्द्रमाके समान दिन-पर-दिन बढ़नेपर, आकाशमें सूर्यके तेजके समान पुनीत विवेकके फैलनेपर, अन्तःकरणमें इन्द्रियनिग्रहसे उत्पन्न धैर्यके बाँसमें मोतियोंके समान बढ़नेपर, हृदयमें आत्मसुखकी प्राप्तिसे मनके वसन्तऋतुमें चन्द्रमाके समान कृतकृत्य होनेपर, शीतल छायावाले सत्संगरूपी फलदार वृक्षके फलनेपर और आनन्दसे सुन्दर रसवाले समाधिरूपी सरल-वृक्षके मधु टपकानेपर मन निर्द्वन्द्व, निष्काम और निरुपद्रव हो जाता है। उसके चपलतारूपी अनर्थ, शोक, मोह और भयरूपी रोग शान्त हो जाते हैं। शास्त्रार्थ-विषयक संदेह कट जाते हैं। सब कौतुक (विचित्र वस्तुओंकी देखनेकी उत्कण्ठा) नष्ट हो जाते हैं। सब कल्पनाएँ हट जाती हैं। मोह नष्ट हो जाता है। उसमें वासनाका लेप नहीं रहता। वह आकाङ्क्षारहित, निन्दारहित, प्रवृत्त्युन्मुख अवस्थासे रहित, दुश्चिन्ताओंसे शून्य, शोकरूपी नीहारसे रहित, आसक्तिरहित और ग्रन्थियोंसे विहीन हो जाता है ॥ ९—१५ ॥

इस प्रकारका मन क्या करता है ? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'सन्देहो०' इत्यादिसे ।

आत्मपीवरताहेतून् विकल्पांश्चाऽयमुज्झति ।
संस्मृत्य प्रभुतामेषु जहाति तृणवत्तनुम् ॥ १७ ॥
मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः ।
ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य विवर्धते ॥ १८ ॥

आत्मा कौन है, किस तरहका है, किन साधनोंसे प्राप्त हो सकता है, ज्ञानसे अथवा कर्मसे, ज्ञान किस प्रकारका है, उसके साधन कौन हैं ? इस प्रकार विविधवादियोंसे अन्यान्य प्रकारसे निरूपण करनेके कारण बहुत प्रकारके सन्देह-रूपी अविनीत पुत्रवाला, शाखाओंके तुल्य विविध मनोरथोंसे युक्त तथा तृष्णारूपी स्त्रियों और स्थूल देहसे युक्त मन अपने स्वरूपका विनाश करके अपने ईश्वररूप प्रत्यगात्मासे सम्बन्ध रखनेवाले जीवन्मुक्तिरूप परमपुरुषार्थको सिद्ध करता है ॥१६॥

मन किस प्रकार अपने स्वरूपका विनाश करता है, ऐसा यदि कोई कहे, तो इसपर कहते हैं—**'आत्म०'** इत्यादिसे ।

पहले मन विकल्पोंमें अपने उत्पादनके समान अपने विनाशमें भी अपनी सामर्थ्यका विचार कर अपनी पुष्टिके हेतु शत्रु, मित्र, साधु, असाधु आदि विकल्पोंका त्याग करता है । तदनन्तर देहाकार अपने कल्पितरूपका तृणके समान त्याग करता है । भाव यह है कि जबतक देहमें अहंभावसे वासनायुक्त मन देहाकार होता है, तभीतक देहके अनुकूल और प्रतिकूल विषयोंमें राग और द्वेष आदिसे होनेवाले हजारों विकल्पोंसे वृद्धिको प्राप्त होता है । उसके क्षीण होनेपर क्षीण हो जाता है ॥१७॥

यदि कोई शङ्का करे, अपना नाश तो अभ्युदय है नहीं, प्रत्युत वह अनर्थ ही है, उसमें मनकी प्रवृत्ति कैसे होगी ? तो उसपर कहते हैं—**'मनसः'** इत्यादिसे ।

मनका अभ्युदय नाश है और मनका नाश महान् अभ्युदय है । भाव यह है कि मनकी स्वतन्त्रतासे कोई अभ्युदय नहीं चाहता, किन्तु आत्मरूपसे सब अभ्युदय चाहते हैं । आत्मभावका मनोभाव अनर्थरूप ही है, मनोभावका नाश तो सम्पूर्ण अनर्थोंकी हानिरूप होनेसे और निरतिशय आनन्दस्वरूपका परिशेष होनेसे अभ्युदय ही है । प्रत्यगात्माका स्वरूपलाभसे महान् अभ्युदय होता है यह निर्विवाद है ।

शङ्का—तो देहाहङ्कारमात्रका त्याग करना चाहिये, ब्रह्मात्मताज्ञानसे क्या प्रयोजन है ?

मनोमात्रं जगच्चक्रं मनः पर्वतमण्डलम् ।
मनो व्योम मनो देवो मनो मित्रं मनो रिपुः ॥ १९ ॥
विकल्पकलुषा या स्याच्चित्तत्त्वस्याऽऽत्मविस्मृतिः ।
मन इत्युच्यते सेयं वासना भवभागिनी ॥ २० ॥
चेत्यानुपातकलितचिन्मात्रे तिष्ठताभिधम् ।
मनाग्विकल्पकलुषं चित्तत्त्वं जीव उच्यते ॥ २१ ॥
चेत्यप्रपतितं रूढसंज्ञमज्ञत्वमागतम् ।
तदेवाऽधिकनिःसारं कल्प्यतेऽन्तर्मनस्तया ॥ २२ ॥

समाधान—जिसे ब्रह्मात्मैक्यज्ञान हो गया है, उसका मन नष्ट हो जाता है और अज्ञानीका मन अज्ञानरूप मलके नष्ट न होनेपर वृद्धिको प्राप्त होता ही है यानी फिर-फिर उगता ही है, इसलिए ब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञानकी आवश्यकता है ॥१८॥

फिर-फिर उगे, इसमें क्या हानि है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—**'मनोमात्रम्'** इत्यादिसे ।

मनोमात्र ही जगतोंका समूह है, मन ही पर्वतोंका मण्डल है, मन ही आकाश है, मन ही देवता है, मन ही मित्र है और मन ही शत्रु है । भाव यह कि मनके पुनः-पुनः उगनेपर उक्त जगदादिकी प्राप्ति ही हानि है ॥ १९ ॥

उस मनका क्या स्वरूप है, जिसका कि अवश्य उच्छेद करना चाहिये, ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—**'विकल्प०'** इत्यादिसे ।

चित्तत्त्वकी विविध विकल्पोंसे कलुषित हुई जो स्वरूपविस्मृति है, वही मन शब्दसे कही जाती है । वही विविध जन्मको देनेवाली वासना है । भाव यह कि आत्मस्वरूपकी विस्मृतिसे होनेवाली विविध विकल्पवासनाएँ ही मनका स्वरूप है ॥२०॥

इस प्रकारका मन हो, पर उसके द्वारा बन्धनमें डाले जानेवाले जीवका स्वरूप क्या है ? ऐसा यदि कोई पूछे, तो उसपर कहते हैं—**'चेत्या०'** इत्यादिसे ।

मनमें विषयका वासनारूपसे जो प्रवेश है, उससे परिच्छिन्न चिन्मात्रमें स्थित अतएव विकल्पोंकी थोड़ी वासनासे कलुषित चित्तत्त्व ही (ब्रह्म ही) जीव कहा जाता है ॥ २१ ॥

विषयोंमें वासनारूपसे गिरा हुआ तथा चिरकालके अभ्याससे विषयोंमें ही दृढ़ आत्मत्वाभिमानवाले स्वरूपविस्मरणको प्राप्त हुआ जीवस्वरूप ही हजारों विकल्पोंसे

नाऽऽत्मा संसारिपुरुषो न शरीरं न शोणितम् ।
जडं सर्वं शरीरादि देही खवदलेपकः ॥ २३ ॥
शरीरे कणशः कृत्ते नाऽस्त्यन्यद्‌ रुधिरादिकात् ।
निर्भिन्ने कदलीस्तम्भे नाऽस्त्यन्यत् पल्लवादृते ॥ २४ ॥
मनो जीवो नरं विद्धि तदेवाऽऽकारमागतम् ।
आत्मनाऽऽत्मानमादत्ते स्वविकल्पात्मकल्पितम् ॥ २५ ॥
स्वविकल्पान्नरस्तत्र प्रसार्य रचयत्यलम् ।
जालमात्मनिबन्धाय कोशकारकृमिर्यथा ॥ २६ ॥
इमं देहभ्रमं त्यक्त्वा देशकालान्तरे पुनः ।
शरीरत्वमथाऽऽदत्ते पल्लवत्वमिवाऽऽङ्कुरः ॥ २७ ॥

गाढ़ मोहमें पड़नेके कारण सारभूत सुखस्वभावके हट जानेसे जब अधिक निःसार होता है, तब जीवोपकरण मनरूपसे कल्पित होता है ॥ २२ ॥

इस प्रकार जीव और जीवकी उपाधि दिखलाकर उनसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूपको दर्शाते हैं—**'नाऽत्मा'** इत्यादिसे ।

आत्मा न तो वस्तुतः जीवस्वभाव है, न शरीर है और न रुधिर है। शरीर आदि सब जड़ हैं; किन्तु देही आकाशके समान निर्लेप है ॥ २३ ॥

शरीरमें जड़ता आदिको ही स्पष्टरूपसे विशद करते हैं—**'शरीरे'** इत्यादिसे।

शरीरके टुकड़े-टुकड़े करनेपर रुधिर आदिसे अन्य कुछ भी नहीं है, जैसे कि केलेके खम्भेको काटनेपर पलवोंसे बनी हुई छालके अतिरिक्त और कुछ चीज नहीं रहती ॥ २४ ॥

मन ही जीव है, वही जब साकार हो जाता है, तब उसे नर जानिये। वह अपने विकल्पोंसे कल्पित अपने स्वपरूका अपने आप ग्रहण करता है ॥२५॥

जैसे रेशमका कीड़ा अपने बन्धनके लिए जालकी रचना करता है वैसे ही जीव मनमें विकल्पवासनाओंको उत्पन्न करके अपने बन्धनके लिए दृढ़ जालकी रचना करता है ॥ २६ ॥

जीवकी देहात्मकताके अभावमें युक्ति कहते हैं—**'इमम्'** इत्यादिसे ।

जीव इस वर्तमान देहभ्रमका त्याग करके पुनः दूसरे देश और दूसरे कालमें अन्य देह भावको धारण करता है, जैसे कि अङ्कुर पल्लवताको धारण करता है ॥२७॥

यादृग्वासनमेतत् स्यान्मनस्तादृक् प्रजायते ।
जातं स्वपिति यच्चित्तं तत् स्वप्ने निशि तिष्ठति ॥ २८ ॥
अम्लं मधुरसासिक्तं मधुरं मधुरञ्जितम् ।
बीजं प्रतिविषाकल्कसिक्तं च कटु जायते ॥ २९ ॥
शुभवासनया चेतो महत्या जायते महत् ।
भवतीन्द्रमनोराज्य इन्द्रतास्वप्नभाङ्नरः ॥ ३० ॥
क्षुद्रवासनया चेतः क्षुद्रतामपि पेलवाम् ।
पिशाचविभ्रमात् स्वप्ने पिशाचान्निशि पश्यति ॥ ३१ ॥
सरसि स्फारनैर्मल्ये कालुष्यं याति न स्थितिम् ।
तथैव स्फारकालुष्ये प्रसादो याति न स्थितिम् ॥ ३२ ॥

शरीर वासनामय है, इसमें युक्ति कहते हैं—**'यादृग्'** इत्यादिसे ।

यह मन जैसी भावनावाला होगा, वैसा ही शरीर उत्पन्न होगा । चित्त जैसा होकर सोता है, रातमें स्वप्नमें वही बनकर रहता है ॥ २८ ॥

विषयोंके वासनास्थापनमें दृष्टान्त कहते हैं—**'अम्लम्'** इत्यादिसे ।

इमलीका बीज शहदके रससे यदि सींचा जाय, तो अङ्कुर आदिके क्रमसे वृक्ष बनकर फलनेके समय भी शहदसे अनुरञ्जित होकर मधुर होता है, वही बीज विषके प्रतिनिधिभूत धत्तूर, कञ्ज आदिके रससे सींचा जाय, तो फलनेके समयमें भी कड़ुवा पैदा होता है, ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है ॥ २९ ॥

महती शुभवासनासे चित्त महान् होता है । मनुष्य 'मैं इन्द्र हूँ' इस प्रकारका मनोरथ होनेपर इन्द्रतारूपी स्वप्नसे युक्त होता है ॥ ३० ॥

क्षुद्र वासनासे चित्त तुच्छ क्षुद्रताको देखता है । पिशाचकी भ्रान्तिसे मनुष्य रात्रिमें स्वप्नमें पिशाचोंको देखता है ॥ ३१ ॥

निर्मलताका सम्पादन करनेपर भी फिर व्युत्थान होनेपर द्वैतके दर्शनसे कालुष्यकी प्राप्ति होगी, ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—**'सरसि'** इत्यादिसे ।

जैसे अत्यन्त निर्मल तालाबमें कलुषताको स्थान नहीं मिलता, वैसे ही अत्यन्त कलुषित तालाबमें स्वच्छताको स्थान नहीं मिलता । इस श्लोकके उत्तरार्धसे थोड़े विवेक आदिसे निर्मलतास्थितिकी प्राप्तिका वारण किया गया है ॥ ३२ ॥

मनसि स्फारकालुष्ये तद्रूपं जायते फलम् ।
तथैव स्फारनैर्मल्ये तद्रूपं जायते फलम् ॥ ३३ ॥
त्यजत्युदारां न गतिं क्षीणोऽप्यनिशमुत्तमः ।
उद्योगवानविरतं पूरणाशामिवोडुपः ॥ ३४ ॥
नेह बन्धो न मोक्षोऽस्ति नाऽबन्धोऽस्ति न बन्धता ।
मिथ्योत्थितैव मायेयमिन्द्रजाललता यथा ॥ ३५ ॥
गन्धर्वनगराकारा मृगतृष्णा इवोत्थिता ।
द्विचन्द्रविभ्रमाभासा द्वैतैकत्वविवर्जिता ॥ ३६ ॥
सर्वैव ब्रह्मसत्तेयमित्येषा परमार्थता ।
परिस्फुरति निःसारः संसारोऽयमसन्मयः ॥ ३७ ॥
नाऽनन्तोऽहं वराकोऽहमिति दुर्निश्चयोदितः ।
अनन्तोऽस्मीश्वरोऽस्मीति निश्चयेन विलीयते ॥ ३८ ॥

मन यदि अत्यन्त कलुषित हो, तो फल भी वैसा ही उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मन यदि अत्यन्त निर्मल हो, तो फल भी निर्मल ही होता है ॥ ३३ ॥

यदि कोई कहे कि दुर्भिक्ष आदि देशोपद्रवसे समाधिका भङ्ग हो जानेपर फिर कालुष्यकी प्राप्ति होगी? तो इस आशङ्कापर कहते हैं—'**त्यज०**' इत्यादिसे ।

जैसे अविरत उद्योगशील चन्द्रमा पूर्ण होनेकी आशाको नहीं छोड़ता वैसे ही दरिद्रता आदिसे पीडित भी उद्योगशील उत्तम पुरुष समाधि आदि चित्तप्रसन्नताकी गतिको कभी नहीं छोड़ता ॥ ३४ ॥

अथवा तत्त्वज्ञानसे बाधित होनेके कारण ही हजारों उपद्रवोंके रहते भी कलुषताकी प्राप्ति नहीं होती, इस आशयसे कहते हैं—'**नेह**' इत्यादिसे ।

न तो यहाँ बन्ध है, न मोक्ष है, न बन्धाभाव है और न बन्धनवत्ता है । यह माया इन्द्रजाललताकी तरह मिथ्या ही उत्पन्न हुई है ॥ ३५ ॥

गन्धर्वनगरके समान, मृगतृष्णाके तुल्य एवं द्विचन्द्रभ्रमके तुल्य यह माया उदित हुई है । यह सब द्वैत और एकत्वरहित ब्रह्मसत्ता ही है, इस प्रकारकी जो प्रतीति है, वह परमार्थता है । असन्मय अतएव निःसार, मैं अपरिच्छिन्न नहीं हूँ अतएव क्षुद्र हूँ, इस प्रकारके दूषित निश्चयसे उत्पन्न हुआ यह संसार परिस्फुरित हो रहा है । मैं अपरिच्छिन्न हूँ, अतएव सर्वशक्तिशाली हूँ, इस निश्चयसे वह विलीन हो जाता है ॥ ३६–३८ ॥

सर्वगे स्वात्मनि स्वच्छे एषोऽहमिति भावना ।
एतत् तद्बन्धनं लोके स्वविकल्पोपकल्पितम् ॥ ३९ ॥
बन्धमोक्षदशाहीना द्वित्वैकत्वविवर्जिता ।
सर्वैव ब्रह्मसत्तेयमित्येषा परमार्थता ॥ ४० ॥
नैर्मल्यप्राप्तमरणमसक्तं सर्वदृष्टिषु ।
अमनस्त्वमिहाऽऽपन्नं ब्रह्म पश्यति नाऽन्यथा ॥ ४१ ॥
मनो निर्मलतां यातं शुभसन्तानवारिभिः ।
ब्राह्मीं दृष्टिमुपादत्ते रागं शुक्लपटो यथा ॥ ४२ ॥
सर्वमेव ममाऽऽत्मेति सर्वभावनयाऽनघ ।
हेयादेयबले क्षीणे बन्धमोक्षौ विमुच्यताम् ॥ ४३ ॥
शुद्धस्य मनसः कायशास्त्रवैराग्यबुद्धिभिः ।
अभिजातोपलस्येव जगत्तस्येति विद्युतिः ॥ ४४ ॥

सर्वव्यापक, स्वच्छ, आत्मामें 'मैं एतद्देहमात्र हूँ' इस प्रकारकी जो भावना है, यह लोकमें अपने विकल्पोंसे कल्पित उसका बन्धन है ॥ ३९ ॥

बन्ध-मोक्ष अवस्थाओंसे रहित, द्वित्व-एकत्वसे शून्य यह सब ब्रह्मसत्ता ही है, इस प्रकारकी जो प्रतीति है, वह परमार्थता है ॥ ४० ॥

निर्मलताकी अधिकतासे जिसे स्वविनाश प्रायः प्राप्त हो गया है, अतएव अमनस्ताको प्राप्त, सम्पूर्ण द्वैतदृष्टियोंमें आसक्तिरहित मन इस अधिकारी शरीरमें ही ब्रह्मका दर्शन करता है, अन्यथा नहीं कर सकता ॥ ४१ ॥

समाधिके अभ्याससे उत्पन्न धर्मवृद्धिरूप जलसे निर्मलताको प्राप्त हुआ मन इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदर्शनका ग्रहण करता है, जिस प्रकार सफेद वस्त्र रंगका ग्रहण करता है ॥ ४२ ॥

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, सब कुछ मेरी आत्मा है, इस प्रकारकी सर्वात्म-भावनासे हेयोपादेयरूपी बलके विनष्ट होनेपर बन्धकी अपेक्षा रखनेवाले मोक्षका भी आप त्याग कीजिये ॥ ४३ ॥

शुद्ध मनका उत्तम स्फटिक मणिके तुल्य अधिकारी-अनधिकारी शरीररूपका अभिमान होनेसे पहले शरीररूपसे, तदनन्तर सच्छास्त्रोंके श्रवणका अभिमान होनेसे शास्त्ररूपसे तथा वैराग्यरूपसे, तदनन्तर आत्मबोध होनेसे बोधरूपसे जो विविध प्रकाश है, वही संसार है ॥ ४४ ॥

पदार्थैनैकतामेत्य मनसो नैकतानता ।
असत्यज्ञानदृष्टिं तां विद्धि क्षणविनाशिनीम् ॥ ४५ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं त्यक्त्वा सर्वां दृश्यदृशं यदा ।
मनस्तिष्ठति तल्लीनं संप्राप्तं तत्पदं तदा ॥ ४६ ॥
दृश्यदृष्टिः स्फुटा येयं सा ह्यवश्यमसन्मयी ।
तन्मयत्वं च मनसः स्वरूपं विद्धि नेतरत् ॥ ४७ ॥
आद्यन्तयोर्विनाशित्वान्मध्येऽपि तदसन्मयम् ।
अज्ञातमनसस्तेन दुःखिता हस्तसंस्थिता ॥ ४८ ॥
आत्मैवेदं जगदिति विना भावेन दुःखदा ।
दृश्यश्रीरन्यथा त्वेषा भोगमोक्षप्रदायिनी ॥ ४९ ॥

द्वैतदर्शनके समय ही बन्धनप्राप्तिको और आत्मदर्शनके क्षणमें तुरन्त मोक्ष-प्राप्तिको हाथमें स्थित आँवलेके समान पृथक् करके दिखलाते हैं—**'पदार्थै०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

बाह्य पदार्थोंके साथ एकताको प्राप्तकर मन आत्माके साथ एकताको प्राप्त नहीं होता । बाह्य पदार्थोंमें एकताको आप क्षणमें विनष्ट होनेवाली असत्य-ज्ञानदृष्टि समझिये ॥ ४५ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंके साथ सब दृश्यदृष्टिका त्यागकर जब मन स्थित होता है तब परम पदको प्राप्त हो उसमें लीन होकर स्थित होता है ॥ ४६ ॥

जो यह स्फुट दृश्यदृष्टि है वह अवश्य असन्मयी है । मनके स्वरूपको भी आप उक्त असत् दृश्यमय ही जानिये । दृश्यसे अतिरिक्त मनका कोई स्वरूप नहीं है ॥ ४७ ॥

दृश्य और दृष्टि असन्मय कैसे हैं ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'आद्यन्तयोः'** इत्यादिसे ।

आदि और अन्तमें असद् होनेके कारण मध्यमें भी वह असन्मय ही है। इस प्रकार मन असद् है, ऐसा जिसने नहीं जाना, उस पुरुषकी दुःखिता हाथमें स्थित ही है । उसको खोजनेके लिए दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है, यह भाव है ॥४८॥

यह जगत आत्मा ही है, इस प्रकारके बोधके बिना यह दृश्यशोभा दुःख-दायिनी है । उक्त बोध होनेपर तो यह भोग-मोक्ष देनेवाली है ॥ ४९ ॥

जलमन्यत् तरङ्गोऽन्य इति नानातयाऽज्ञता ।
जलमेव तरङ्गोऽयमित्येकत्वात् किल ज्ञता ॥ ५० ॥
दुःखमायात्यसदिति हेयोपादेयरूपि यत् ।
तदभावेन तु ज्ञानादानन्त्यमवशिष्यते ॥ ५१ ॥
सङ्कल्पकल्पितत्वाच्च मनोरूपमसन्मयम् ।
असन्मयविनाशे तु कः शोको वद राघव ॥ ५२ ॥
अवत्सलो यथा बन्धुररागद्वेषया धिया ।
दृश्यते पश्य तद्वत् त्वं तत्त्वं पञ्जरमात्मनः ॥ ५३ ॥

लोकव्यवहारके समान ही शास्त्रमें भी ज्ञानिता और अज्ञानिताका बोध करना चाहिये । वे कोई अपूर्व नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—**'जलम्'** इत्यादिसे ।

जल पृथक् है और तरंग पृथक् है, इस प्रकारके नानात्वसे अज्ञानिता होती है । जल ही तरंग है, इस प्रकारके एकत्वसे ज्ञानिता होती है ॥ ५० ॥

नानात्वका क्यों परित्याग करना चाहिये और एकत्वका क्यों ग्रहण करना चाहिये ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'दुःखमा०'** इत्यादिसे ।

हेयोपादेयरूपी जो नानात्व है, वह असत् है, इसीलिए वह जन्म-मरण आदि दुःखकी ओर ले जाता है; अतः वह हेय है । नानात्वके न रहनेसे आत्म-तत्त्वका ज्ञान होनेके कारण अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व ही अवशिष्ट रहता है, अतः एकत्व उपादेय है, यह अर्थ है ॥ ५१ ॥

यदि कोई कहे, अत्यन्त प्रिय मन, बुद्धि आदि द्वैतके सत्य होनेसे और आत्माके उपकरण होनेसे उनका नाश होनेपर धनादिनाशके समान शोक ही होगा ? तो इसपर कहते हैं—**'सङ्कल्प०'** इत्यादिसे ।

मनका स्वरूप संकल्पसे कल्पित है, इसलिए वह असन्मय है । हे श्रीराम-चन्द्रजी, भला बतलाइये तो सही, असन्मय वस्तुका नाश होनेपर क्या कभी किसीको शोक हो सकता है ? ॥ ५२ ॥

राग और द्वेषके रहनेपर इष्ट वस्तुके वियोगसे और अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे शोक होता है । राग और द्वेषका त्याग करके उदासीनदृष्टिसे तीनों देहोंको देख रहे पुरुषकी उनसे शोकप्राप्ति नहीं हो सकती, इस आशयसे भी कहते हैं—**'अवत्सलो'** इत्यादिसे ।

अवत्सलाद्यथा बन्धोः सुखदुःखैर्न लिप्यते ।
तत्त्वेन संपरिज्ञानात् तथा तत्त्वचयात्मनः ॥ ५४ ॥
तदनादि शिवं ज्ञानं यन्मध्यं द्रष्टृदृश्ययोः ।
तस्मिन् सत्ये मनः शान्तं पांसुर्वायुक्षये यथा ॥ ५५ ॥
उपशान्ते मनोवायौ देहपांसुः प्रशाम्यति ।
पुनः संसारनगरे न नीहारः प्रवर्तते ॥ ५६ ॥
वासनाप्रावृषि क्षीणे संस्थितौ राममागते ।
जाड्ये जनितहृत्कम्पे पङ्के शोषमुपागते ॥ ५७ ॥

जिस बन्धुमें स्नेह नहीं है, वह बन्धु जैसे रागद्वेषरहित बुद्धिसे देखा जाता है वैसे ही आप पृथिवी आदि भूततत्त्वरूप अपने त्रिविध शरीरको रागद्वेषरहित बुद्धिसे देखिये ॥ ५३ ॥

जैसे स्नेहरहित बन्धुके मिलनेसे पुरुषको न तो सुख होता है और न उसके वियोगसे दुःख होता है वैसे ही यथार्थरूपसे ज्ञान होनेके कारण भूतसमूहमात्रस्वभाववाले अपने देहपञ्जरसे पुरुषको न सुख होता है और न दुःख होता है ॥ ५४ ॥

जिस अधिष्ठानमें मनका क्षय हो जाता है, उसका स्वरूप कहते हैं— **'तद०'** इत्यादिसे ।

वह वस्तु अनादि नित्य निरतिशय आनन्दरूप द्रष्टा और दृश्यका मध्य यानी दृग्रूप ज्ञान है । उस सत्यमें मन वायुके नष्ट होनेपर धूलिकणोंके समान शान्त हो जाता है ॥ ५५ ॥

मनके नष्ट होनेपर स्थूलदेह भी असत् हो जाता है, ऐसा कहते हैं— **'उपशान्ते'** इत्यादिसे ।

मनरूपी वायुके नष्ट होनेपर स्थूलदेहरूपी धूलि भी नष्ट हो जाती है । फिर संसारके नगरके तुल्य अधिष्ठानभूत परमात्मामें कुहरेके समान आवरण करनेवाली अविद्या नष्ट होनेके कारण कदम नहीं रखती ॥ ५६ ॥

अविद्याके क्षयके प्रकारका ही शरत्कालके रूपकसे वर्णन करते हैं— **'वासना०'** इत्यादिसे ।

वासनारूपी वर्षा ऋतुका क्षय होनेपर मनके स्वरूपस्थितिमें विहारको प्राप्त

शुष्के तृष्णावटे शान्ते मन्दे हृदयकानने ।
क्षीणेष्वक्षकदम्बेषु मिथ्याज्ञानघने क्षते ॥ ५८ ॥
क्षीयते मोहमिहिका प्रभात इव शर्वरी ।
क्काऽपि गच्छति तज्जाड्यं विषं मन्त्रहतं यथा ॥ ५९ ॥
देहाद्रौ न भयक्षुद्राः सरितः प्रसरन्त्यलम् ।
नोल्लसन्ति लसत्पक्षाः सङ्कल्पोग्रकलापिनः ॥ ६० ॥
परां निर्मलतामेति संविदाकाशगोचरः ।
राजतेऽतितरामच्छो जीवादित्यो महोदयः ॥ ६१ ॥
घनमोहभरोन्मुक्ता विविक्तत्वं परं गताः ।
समये ह्यतिशोभन्ते धौता आशामहादिशः ॥ ६२ ॥
भृशमाभाति विमला मुदिताकाशमञ्जरी ।
शीतलीकृतदिक्चक्रा शरद्व्योम्नीव चन्द्रिका ॥ ६३ ॥
सर्वसम्पत्प्रकाशेन परमानन्ददायिना ।
भृशं सफलतामेति सुविविक्ता विवेकभूः ॥ ६४ ॥

होनेपर हृदयको कँपानेवाली अज्ञानिताके हृदयको कँपानेवाले शैत्यसे युक्त कीचड़के समान नष्ट होनेपर, तृष्णारूपी गड्ढोंके सूखनेपर, हृदयरूपी जंगलके रागादिरूपी झाड़ियोंके छटनेके कारण विरल और शान्त होनेपर, इन्द्रियसमूहरूपी कदम्बवृक्षोंके फलरहित होनेपर तथा मिथ्याज्ञानरूपी मेघके छिन्न-भिन्न होनेपर मोहरूपी कुहरा प्रभात होनेपर रात्रिके समान नष्ट हो जाता है। जैसे मन्त्रसे हटाया गया विष न मालूम कहाँ चला जाता है वैसे ही वह जड़ता न मालूम कहाँ चली जाती है। देहरूपी पर्वतपर भयरूपी क्षुद्र नदियाँ बिलकुल नहीं बहतीं। चमकीले परवाले संकल्परूपी बड़े-बड़े मोर नहीं नाचते। संविद्रूपी आकाश अत्यन्त निर्मलताको प्राप्त होता है। अत्यन्त स्वच्छ अतएव महान् अभ्युदयको प्राप्त हुआ जीवरूपी आदित्य अत्यन्त सुशोभित होता है। मेघरूपी निबिड अज्ञानसे छोड़ी गई अतएव परम शुद्धताको प्राप्त हुई तृष्णारूपी महादिशाएँ समाधिरूपी सूर्योदयकालमें धूलिसे अदूषित होकर प्रकाशित होती हैं। निर्मल पुण्यफलका अनुसरण करनेवाली चित्तवृत्तिरूप चित्ताकाशकी मञ्जरी, जिसने दिग्मण्डलोंको शीतल कर दिया, शरत्कालके आकाशमें चाँदनीके समान खूब शोभित होती है। खूब परिशोधित विवेकरूपी

सपर्वतवनाभोगं परमालोकसुन्दरम् ।
अच्छाच्छं शीतलच्छायं जायते भुवनान्तरम् ॥ ६५ ॥
विस्तारितं सुसुमतां स्फारितं स्फटिकाकृतिम् ।
उपैति हृत्सरः स्वच्छं नीरजोम्बुजकोशकम् ॥ ६६ ॥
हृत्पद्मकोशान्मलिनः स्वाहङ्कारमधुव्रतः ।
अपुनर्दर्शनायैव चञ्चलः क्वाऽपि गच्छति ॥ ६७ ॥
भवत्यपगताक्षेपः सर्वगः सर्वनायकः ।
निर्वासनः शान्तमनाः स्वदेहनगरेश्वरः ॥ ६८ ॥
विचारणासमधिगतात्मदीपको मनस्यलं परिगलितेऽवधीरधीः ।
विलोकयन् क्षयभवनीरसा गतीर्गतज्वरो विलसति देहपत्तने ॥६९॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे
उपशमवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

भूमि सब विषयानन्दोंको अपनेमें अन्तर्भूत करके परम आनन्दका प्रकाश करनेवाले आत्मरूपी फलसे खूब सफलताको प्राप्त होती है ॥ ५७—६४ ॥

पर्वत और बनोंकी विशालतासे युक्त भुवनान्तरके तुल्य शरीर आत्मप्रकाशरूपी सूर्य-चन्द्रमासे अत्यन्त सुन्दर, त्रिविध तापसे शून्य, चिदाभासकी छायासे युक्त तथा अत्यन्त निर्मल हो जाता है ॥ ६५ ॥

परिच्छेदके हट जानेसे विस्तारित, विवेकरूपी जलकी वृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त किया गया, रजोगुणरहित हृदयरूपी कमलकोशवाला, स्फटिककी आकृतिके तुल्य स्वच्छ हृदयरूपी सरोवर सुन्दर पुष्पोंसे युक्त हो जाता है यानी खिल जाता है। हृदयरूपी पद्मकोशसे मलिन और चञ्चल अपना अहङ्काररूपी भ्रमर फिर दर्शन न देनेके लिए ही न मालूम कहाँ चला जाता है ॥ ६६,६७ ॥

वासनारहित और शान्तचित्त हुआ अपने देहरूपी नगरका अधिपति यानी जीव संकोचरहित, सर्वव्यापक और सबका अधिपति हो जाता है ॥ ६८ ॥

वासनाक्षयके फलोंको विस्तारसे कहकर उन्हींसे जीवन्मुक्तिकी स्थिति दिखलाते हैं—'**विचारणा०**' इत्यादिसे ।

चित्तके सर्वथा विगलित होनेपर अपने दोषोंका तिरस्कार कर धीर हुई

षट्त्रिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

यथेदृशं स्थितं विश्वं विश्वातीते चिदात्मनि ।
तन्मे कथय हे ब्रह्मन् पुनर्बोधविवृद्धये ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथोर्मयोऽनभिव्यक्ता भाविनः पयसि स्थिताः ।
न स्थिताश्चाऽऽत्मनोऽन्यत्वाच्चित्तत्त्वे सृष्टयस्तथा ॥ २ ॥

बुद्धिसे युक्त तथा मृत्यु और जन्मोंमें पारलौकिक और ऐहलौकिक गतियोंको नीरस देख रहा पुरुष विचार द्वारा आत्मरूपी दीपक पाकर जीवन्मुक्त और तापरहित होकर देहरूपी नगरमें विराजमान होता है ॥ ६९ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

[अपने-आप स्थित असक्त ही चित्‌की सर्वत्र स्थिति है तथा चित्‌की ही सर्वत्र स्थितिसे संपूर्ण पदार्थोंकी स्थिति है, उनकी पृथक् स्थिति नहीं है, यह वर्णन]

अब अगत्स्थितिरूप प्रकरणके मुख्य अर्थको जाननेके लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'यथे०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, विश्वातीत इस चिदात्मामें यह इस प्रकारका विश्व, जिसका कि पहले वर्णन कर चुके हैं, जैसे स्थित है, उसे ज्ञान-वृद्धिके लिए पुनः मुझसे कहिये ॥ १ ॥

ब्रह्मसत्तासे ही जगत्‌की स्थिति है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं है । प्राणियोंको पृथक् अपनी सत्तासे जो जगत्‌की स्थिति प्रतीत होती है, वह ब्रह्मस्वरूप-स्थितिके ज्ञात न होनेके कारण ही है, यों समाधान करनेके लिए श्रीवसिष्ठजी समाधानानुरूप दृष्टान्त कहते हैं—'यथो०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे होनेवाली अनभिव्यक्त तरङ्गें जलमें अभिन्नरूपसे स्थित हैं, भिन्नरूपसे उनकी सत्ता नहीं है वैसे ही चित्तत्त्वमें ये सृष्टियाँ सद्रूप आत्मासे पृथक्‌रूपसे स्थित नहीं हैं, क्योंकि उनकी स्वतः सत्ता नहीं है । उसकी सत्तासे ही स्थित हैं ॥ २ ॥

यथा सर्वगतः सौक्ष्म्यादाकाशो नोपलक्ष्यते ।
तथा निरंशश्चिद्भावः सर्वगोऽपि न लक्ष्यते ॥ ३ ॥
सुस्थितेवाऽऽस्थितेवाऽन्तः प्रतिभाऽस्ति मणौ यथा ।
न सत्यभूता नाऽसत्या तथेयं सृष्टिरात्मनि ॥ ४ ॥
स्वाधारैरम्बुदैः स्वस्थैर्न स्पृष्टं गगनं यथा ।
चित्स्थैः सर्गैश्चिदाधारैर्न स्पृष्टा चित्परा तथा ॥ ५ ॥
जलाधिष्ठिततत्तेजो यथाऽङ्ग प्रतिबिम्बति ।
तथा पुर्यष्टकेष्वेव चिद्धि देहेषु लक्ष्यते ॥ ६ ॥
सर्वसङ्कल्परहिता सर्वसंज्ञाविवर्जिता ।
सैषा चिदविनाशात्मा तच्चेत्यादिकृताभिधा ॥ ७ ॥

जब आत्मस्थितिसे ही सबकी स्थिति है, तो आत्माका सर्वत्र दर्शन क्यों नहीं होता ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे सर्वव्यापक भी आकाश अतिसूक्ष्म होनेके कारण दृष्टिगोचर नहीं होता वैसे ही निरवयव शुद्ध चेतन सर्वव्यापक होनेपर भी नहीं दिखाई देता ॥३॥

जैसे मणिके अन्दर प्रतिबिम्ब भली भाँति स्थित-सा चारों ओर प्रतीत होता है, वह न तो सत्य है और न असत्य है, वैसे ही आत्मामें यह सृष्टि है ॥ ४ ॥

जैसे अपने आधारभूत और अपनेमें स्थित मेघोंसे आकाश स्पृष्ट नहीं होता वैसे ही चित्में स्थित और अन्योन्याध्यासवश चित्की आधारभूत सृष्टियोंसे परम चित्तत्त्व स्पृष्ट नहीं होता ॥ ५ ॥

यदि कोई कहे ऐसी अवस्थामें सूक्ष्म चित् घट आदिकी तरह देहमें भी नहीं दिखाई देनी चाहिये; पर दिखाई देती है, इसमें क्या कारण है ? इसपर कहते हैं—**'जलाधिष्ठित०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे जलमें संयुक्त किरण स्पष्ट नहीं दिखाई देती, प्रतिबिम्बरूपसे तो स्पष्ट दिखाई देती है वैसे ही पुर्यष्टकरूप* देहोंमें ही चित् दिखाई देती है, घटादिमें नहीं दिखाई देती ॥ ६ ॥

उस चित्की प्रतिबिम्बिता प्रतिबिम्बाधीन काम, सङ्कल्प, नाम और रूपसे युक्त होनेके कारण वास्तविक नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'सर्व०'** इत्यादिसे ।

* भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः । अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः ॥ पुर्यष्टकशब्दसे श्लोकोक्त भूत आदि आठ कहे जाते हैं ।

आकाशशतभागाच्छा ज्ञेषु निष्कलरूपिणी ।
सकलाकलसंसारस्वरूपैकात्म्यदर्शिनी ॥ ८ ॥
तरङ्गादिमयी स्फारा नानाता सलिलार्णवे ।
तस्मान्न व्यतिरेकेण यथा भावविकारिणी ॥ ९ ॥
त्वत्तामत्तामयी स्फारा नानातेयं चिदर्णवे ।
चिन्मात्रव्यतिरेकेण तथा नैव प्रकाशते ॥ १० ॥
चिच्चिनोति चितं चेत्यं तेनेदं स्थितमात्मनि ।
अज्ञे ज्ञे त्वन्यदायातमन्यदस्तीति कल्पना ॥ ११ ॥

वह चित् सब सङ्कल्पोंसे रहित, सब नामोंसे शून्य और अविनाशी स्वरूप है।

शङ्का—तब उसकी जीवादि संज्ञा किसके कारण हुई ?

समाधान—उसके अधीन चेत्य तथा चिदाभाससे ही उसकी जीवादि संज्ञा हुई है ॥ ७ ॥

चित्की सूक्ष्मता और स्वच्छताका विचार करनेपर आकाश भी उसकी अपेक्षा सौगुना स्थूल और सौगुना मलिन प्रतीत होता है, इस प्रकार विद्वानोंके अनुभवसे कहते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे ।

ज्ञानियोंके अनुभवमें तो सारे संसारस्वरूपको निष्कल बनानेवाला, ऐकात्म्यदर्शनशील आकाशसे भी सौगुना स्वच्छ वह चित्तत्त्व निष्कलरूपी ही है ॥८॥

इसीलिए उसमें भ्रान्तिसे देखे गये भावोंके विकार पृथक् नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—'तरङ्गा०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जैसे जलरूप सागरमें तरङ्गादिमयी प्रचुर भिन्नता जलसे अतिरिक्त भावविकारवाली नहीं है वैसे ही चिद्रूपी सागरमें त्वत्ता-अहन्तामयी प्रचुर भिन्नता चिन्मात्रसे पृथक् नहीं ही प्रकाशित होती है ॥ ९, १० ॥

चित् विषयकी अभिवृद्धि करती है, ऐसा यदि मानते हो, तो चित् चित्की ही वृद्धि करती है, ऐसा समझो, क्योंकि चेत्य (विषय) कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है । इस प्रकार मनन करनेसे चित्का अपनेमें व्यापार न होनेसे यह चित्स्वरूप आत्मामें ही स्थित है, कुछ भी अभिवृद्धि नहीं करता, ऐसा निष्कर्ष निकलता है, यह परमार्थदृष्टि है। जो अज्ञानी होता हुआ भी अपनेको ज्ञानी समझता है, उसीकी दृष्टिसे सृष्टियोंमें चित्से अतिरिक्त प्राप्त हुआ था और है, ऐसी कल्पना है ॥११॥

अज्ञेष्वसत्स्वभावोग्रसंसारगणगर्भिणी ।
ज्ञेषु प्रकाशरूपैव सकलैकात्मिका सती ॥ १२ ॥
अनुभूतिवशान्नित्यमर्कादीनां प्रकाशिनी ।
स्वादिनी सर्वभूतानां भाविनी भवभोगिनाम् ॥ १३ ॥
नाऽस्तमेति न चोदेति नोत्तिष्ठति न तिष्ठति ।
न चाऽऽयाति न वा याति न चेह न च नेह चित् ॥ १४ ॥
सैषा चिदमलाकारा स्वयमात्मनि संस्थिता ।
राघवेत्थं प्रपञ्चेन जगन्नाम्ना विजृम्भते ॥ १५ ॥
तेजःपुञ्जैर्यथा तेजः पयःपूरैर्यथा पयः ।
परिस्फुरति संस्पदैस्तथा चित्सर्गविभ्रमैः ॥ १६ ॥

उसी चित्को ज्ञानी और अज्ञानीकी कल्पनासे फिर विभाग करके कहते हैं—**'अज्ञेषु'** इत्यादिसे ।

अज्ञानियोंमें यह चित् असत्स्वभाव भीषण जन्म-मरणरूप संसारपरम्पराओंको अपने गर्भमें धारण करनेवाली है । ज्ञानियोंकी दृष्टिमें तो सबकी एक आत्मा होकर प्रकाशरूप ही है ॥ १२ ॥

वही चित् जगत्को प्रकाश, भोग और जन्म देनेवाली है, ऐसा कहते हैं—**'अनुभूति०'** इत्यादिसे ।

उस चित्तत्त्वका दूसरा नाम अनुभूति है । उक्त अनुभूतिसे ही वह सूर्य, चन्द्र आदिको प्रकाशित करता है, सब प्राणियोंके विषयभोगमें निमित्त है और संसारका भोग करनेवाले जीवोंके जन्म आदिमें भी वही निमित्त है, क्योंकि 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' ऐसी श्रुति है ॥ १३ ॥

अज्ञानियोंकी दृष्टिसे जन्म आदिकी निमित्त होनेपर भी ज्ञानियोंकी दृष्टिसे वह कूटस्थ अपरिच्छिन्न एकरूप ही है, ऐसा कहते हैं—**'नाऽस्तम्'** इत्यादिसे ।

उक्त चित्तत्त्व न तो नाशको प्राप्त होता है, न उदित होता है, न उत्थानको प्राप्त होता है, न स्थित होता है, न आता है, न जाता है, न यहाँपर है और न यहाँपर नहीं है, किन्तु सर्वत्र एकरूपसे स्थित है ॥ १४ ॥

यह निर्मल चित् स्वयं अपने स्वरूपमें स्थित है । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जगत्नामक प्रपञ्चसे विवर्तरूपमें स्थित है ॥ १५ ॥

चित्का विवर्त भी परमार्थदृष्टिसे चिद्रूप ही है, इस आशयसे दो दृष्टान्त कहते हैं—**'तेजःपुञ्जै०'** इत्यादिसे ।

तत्स्वभावेन चिन्नाम्ना सर्वगेनोदितात्मना ।
प्रकाशेनाऽप्रकाशेन निरंशेनांऽशधारिणा ॥ १७ ॥
स्वयं स्वकलनाभोगादनन्तं पदमुज्झता ।
अहमस्मीति भावेन गच्छताऽज्ञपदं शनैः ॥ १८ ॥
नानातायां प्ररूढायामस्यां संसृतिपूर्वकम् ।
भावाभावग्रहोत्सर्गपदे स्थितिमुपागते ॥ १९ ॥
पुर्यष्टकस्पन्दशतैः करोति न करोति च ।
उत्सेधमेति भूकोशकोटरस्थोऽङ्कुरोत्करः ॥ २० ॥
व्योमसौषिर्यमादत्ते सर्वमूर्त्यविरोधि यत् ।
स्पन्दैकधर्मवान् वातो रसरूपतया जलम् ॥ २१ ॥

जैसे तेजके पुञ्जोंसे तेज ही स्फुरित होता है और जैसे जलके प्रवाहोंसे जल ही स्फुरित होता है वैसे ही अपने स्पन्दरूप सर्गभ्रान्तियोंसे चित्तत्त्व ही स्फुरित होता है ॥ १६ ॥

स्वतः शुद्धका अविद्या द्वारा सर्गभ्रमरूपसे परिस्फुरण ही सृष्टिकर्तृत्व है, अन्य प्रकारकी सृष्टिकर्तृता उसमें नहीं है, यह दर्शानेके लिए उसके उपयोगी दो रूप दिखलाते हैं—**'तत्स्वभावेन'** इत्यादिसे ।

व्यवहारतः सर्वव्यापक, आत्मरूपसे उदित हुए अतएव परमार्थतः प्रकाशरूप, 'मैं नहीं जानता हूँ' इस प्रकारके व्यवहारसे अप्रकाश एवं परमार्थतः निरंश और व्यवहारतः अंशधारी, अविद्यामें अपने प्रतिबिम्बरूप कृत्रिम वेषसे अनन्त (परम अपरिच्छिन्न) स्वरूपका त्याग करते हुए 'यह मैं हूँ' इस अभिमानसे शनैः-शनैः जीवपदको प्राप्त हो रहे चित् नामवाले अपने स्वभावसे इस विभिन्नताके बद्धमूल होनेपर, संसारके साथ-साथ यह है, यह नहीं है, यह ग्राह्य है, यह त्याज्य है, इस प्रकारके इष्ट और अनिष्टोंके ग्रहण और त्यागके स्थानभूत देहात्मभावके स्थितिको प्राप्त होनेपर सैकड़ों शरीरोंसे विहित और निषिद्ध कर्मोंसे भोग्य जगत्को वह चित्तत्त्व बनाता है और वस्तुतः नहीं भी बनाता है । वही चैतन्य पृथिवीके अन्दर स्थित अङ्कुरोंके समूहरूपसे वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ १७–२० ॥

पृथ्वीके अङ्कुररूपसे बढ़नेमें अन्य आकाशादि भूतोंके रूपसे वही अनुकूलताका आचरण करता है, यह बतलाते हैं—**'व्योम०'** इत्यादिसे ।

दृढोर्वी प्रकटं तेजः स्थितिमन्ति जगन्ति च।
प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञासु कालः कलनया स्थितः ॥ २२ ॥
पुष्पेषु गन्धतां याति शनैः सञ्चितकेसरम्।
मृत्कोटररसोल्लासः स्थाणुतामेति भूतले ॥ २३ ॥
मूलस्थाः फलमायान्ति पेलवा रसलेशकाः।
सन्निवेशं व्रजन्त्येता रेखाः पल्लवपालिषु ॥ २४ ॥
नवतामनुगृह्णाति शक्रबाणासनेन च।
यो यो भवत्यविरतं संस्थानेन वनेन च ॥ २५ ॥
वसन्तमुपतिष्ठन्ति पुष्पपल्लवराशयः।
निदाघविधिमायान्ति दैवदाहविभूतयः ॥ २६ ॥

यदि आकाश सम्पूर्ण मूर्त पदार्थोंके अविरोधी छिद्रको न दे, तो निरवकाश होकर अङ्कुर बाहर न निकले, इसलिए आकाशरूपसे वह छिद्र देता है। स्पन्दात्मक वायुरूपसे वह उसका आकर्षण करता है जिससे अङ्कुर बाहर निकलता है। जलरूप होकर रसरूपसे अङ्कुरको स्नेहयुक्त करता है। दृढ़ पृथिवीरूपसे अपनी दृढ़ताको देकर वह अङ्कुरके ऊपर अनुग्रह करता है, तेजरूपसे अपना रूप देकर अङ्कुरको प्रकट करता है, इसी प्रकार सकल जगत्‌रूपसे वह तत्-तत् कार्योंका स्थिति और अविघात द्वारा अनुग्राहक है। हेमन्तादि कालरूपसे भी वह यव आदिके अङ्कुरोंके विरोधी तृणोंकी उत्पत्तिको रोकने और यवके अङ्कुरोंकी उत्पत्तिके अनुकूल होनेसे उनका अनुग्राहक है ॥ २१,२२ ॥

पुष्पोंमें धीरे-धीरे केसरका संचय कर चित्तत्त्व ही गन्धताको प्राप्त होता है। मिट्टीके अन्दर स्थित रसरूपताको प्राप्त हुआ चित्तत्त्व ही वृक्षकी वृद्धि द्वारा वृक्षके मूलके (तनेके) आकारको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

मूलमें स्थित सुन्दर रसभावको प्राप्त हुआ चित्तत्त्व ही फलरूपताको प्राप्त होता है। वे ही मूलमें स्थित रस पल्लवोंमें प्रविष्ट हो रेखा बनकर पत्र आदिके रूपको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

इन्द्रधनुषके समान वृक्षोंमें नूतनताका सम्पादन करता हुआ वह चित्तत्त्व ही अवयवोंसे और समूहसे जो-जो भाव निरन्तर होते हैं उनपर अनुग्रह करता है ॥२५॥

ऋतुके रूपसे भी चित्तत्त्व ही कार्योंपर अनुग्रह करता है, ऐसा दर्शाते हैं—**'वसन्त०'** इत्यादिसे।

प्रावृट्समयमीहन्ते नीला जलदराशयः ।
शरदं चाऽनुधावन्ति समग्राः फलराशयः ॥ २७ ॥
हेमन्ते हिमहासिन्यो भवन्ति ककुभो दश ।
नयन्त्युपलतामम्बु शिशिरे शीतलानिलाः ॥ २८ ॥
न जहाति स्वमर्यादां कालो युगमयीमिमाम् ।
तरङ्गिणीतरङ्गौघलीलया यान्ति सृष्टयः ॥ २९ ॥
नियतिः स्थितिमायाति स्थैर्यचातुर्यकारिणी ।
तिष्ठत्याप्रलयं धीरा धरा धरणधर्मिणी ॥ ३० ॥
चतुर्दशविधानीह भूतानि भुवनान्तरे ।
नानाचारविहाराणि नानाविरचनानि च ॥ ३१ ॥
पुनः पुनर्विलीयन्ते जायन्ते च पुनः पुनः ।
धारापरम्परा याति विना वारीव बुद्बुदाः ॥ ३२ ॥

फूल और पल्लवोंकी राशियां वसन्तको प्राप्त होती हैं यानी वसन्त बनकर चित्तत्त्व ही फूल, पल्लव आदिकी राशियोंको उत्पन्न करता है। सूर्यके तेजकी तापशक्तियां ग्रीष्मऋतुको प्राप्त होती हैं यानी चित् ही ग्रीष्म ऋतु बनकर सूर्यकी तापशक्तियोंको उत्पन्न करती है। ऐसा ही आगे भी समझना चाहिए। नीली मेघ-घटाएँ वर्षा ऋतु चाहती हैं तथा सब धान आदिकी फलराशियाँ शरद् ऋतुका अनु-सरण करती हैं। हेमन्त ऋतुमें दशों दिशाएँ हिम यानी बर्फरूपी हाससे युक्त होती हैं और शिशिर ऋतुमें शितल वायु जलको पत्थर बना देते हैं ॥२६-२८॥

वर्ष, युग आदि रूपसे भी चित्तत्त्व ही सृष्टि आदिकी मर्यादा रखता है, ऐसा कहते हैं—'न जहाति' इत्यादि।

वर्ष आदिरूप कालरूपसे वही अपनी इस युगमयी मर्यादाको नहीं छोड़ता सृष्टियां नदियोंकी तरंगोंके समूहोंकी तरह जाती हैं ॥ २९ ॥

नियति आदिरूपसे भी वही (चितत्त्व ही) जगत्की मर्यादाका स्थापन करने-वाला है, ऐसा कहते हैं—'नियतिः' इत्यादिसे।

स्थिरतारूप चतुरताको करनेवाली नियतिरूपसे वही स्थितिको प्राप्त होता है। उसीके कारण सब जनोंकी आधारभूत और धीर पृथिवी प्रलयतक स्थिर रहती है ॥ ३० ॥

चौदह भुवनोंके अन्दर चौदह प्रकारके प्राणी, जिनके विविध प्रकारके

आयाति याति परितिष्ठति लीलयाऽति-
स्वार्थानुपार्जयति धावति जन्मनाशैः ।
उन्मत्तवद्विहितभावनमाहितेहा
मुग्धा कृतान्तविवशा जनता वराकी ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे
चिदादित्यस्वरूपवर्णनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्थं स्थिरतराकाराः संसारावलयोऽभितः ।
स्वभावा ब्रह्मणः सर्वाः पुनरायान्ति यान्ति च ॥ १ ॥

आचार-व्यवहार हैं और विविध रचनाएँ हैं, पुनः-पुनः लीन होते हैं और पुनः-पुनः उत्पन्न होते हैं। तत्त्वज्ञानसे प्राणियोंकी जन्म-मरणप्रवाहपरम्परा ऐसे दूर होती है, जैसे कि जलके विना बुद्बुद ॥ ३१, ३२ ॥

पूर्वोक्त अर्थका ही विस्तारपूर्वक उपसंहार करते हैं—'आयाति' इत्यादिसे ।

पूर्वजन्मके सङ्कल्पोंकी वासनाओंके कारण उत्पन्न हुई विविध प्रकारकी अभिलाषावाली अतएव मुग्ध इसलिए कालसे विवश करोड़ों ब्रह्माण्डरूप और उनके अन्तर्गत प्राणीरूप बेचारी जनता उन्मत्तके समान इस लोकमें जन्मों द्वारा आती है, परलोकमें जाती है, स्थावर आदि अनेक जन्मों द्वारा यहांपर चारों ओर रहती है, भोगोंकी उत्कण्ठासे ऐहिक और पारलौकिक भोगोंके उपायरूप धन, धर्म आदि स्वार्थोंका उपार्जन करती है। इस प्रकार जन्म और नाशोंसे संसारमें वह घूमती है ॥ ३३ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

[अविद्या, काम और कर्मसे आत्माके अनात्मभावकी प्राप्ति, तदनन्तर ज्ञान, कामनाके अभाव और निष्कर्मतासे स्वरूपावस्थितिका वर्णन]

चिद्रूपस्थिति ही जगत्की स्थिति है, क्योंकि चित्का ही जगद्रूपसे अवस्थान है, यह कहनेके लिए पूर्वोक्त विषयका अनुवाद करते हैं—'इत्थम्' इत्यादिसे ।

स्वतः सर्वमिदं जातमन्योन्यं हेतुतां गतम् ।
अन्योन्यमभिनश्यत्तत् स्वत एव विलीयते ॥ २ ॥
स्वतोऽस्पन्दोऽपि तु स्पन्दो यथाऽगाधजलोदरे ।
तथैवेयमसत्सच्च चिदेव परिदृश्यते ॥ ३ ॥
व्योमन्येव निराकारे निदाघात् सरितो यथा ।
लक्ष्यन्ते तद्वदेवेमांश्चित्तत्त्वे सृष्टिदृष्टयः ॥ ४ ॥
यथा मदवशादात्मा सोऽन्यवत् प्रतिभासते ।
तथैव चित्त्वाच्चिद्धातुः स एवाऽस इव स्थितः ॥ ५ ॥
न चेदं सदसन्नेदं तत्स्थातत्स्थतया चितः ।
नाऽतिरिक्ताऽतिरिक्ता च कटकादिषु हेमता ॥ ६ ॥

इस प्रकार चारों ओर स्थित, स्थिर आकारवाली, ब्रह्मकी स्वभावभूत ये सब संसारपङ्क्तियाँ फिर आति और जाती हैं ॥ १ ॥

परस्पर एक-दूसरेके प्रति कारणताको प्राप्त हुआ यह सारा जगत् अधिष्ठान चैतन्यसे ही उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार एक-दूसरेसे परस्पर नष्ट होता हुआ यह अधिष्ठान चैतन्यमें ही लीन हो जाता है । जैसे अगाध जलके मध्यमें जलसे अव्याप्त प्रदेशके न होनेके कारण जलका स्पन्दन भी स्वतः अस्पन्दन ही है वैसे ही असत् और सत् यानी जड़ जगत् और जीवरूपसे यह चिद् ही प्रतीत होती है ॥२,३॥

जैसे निराकार आकाशमें धूपसे मृगतृष्णाएँ दिखाई देती हैं वैसे ही निराकार चित्तत्त्वमें ये सृष्टियाँ दिखाई देती हैं । जैसे नशेके कारण चक्कर न खाता हुआ भी अपना आत्मा चक्कर खाता हुआ-सा प्रतीत होता है वैसे ही चित् होनेके कारण चिन्मय वही वस्तु अचित्-सी स्थित है ॥ ४, ५ ॥

पूर्वोक्त अर्थको हृदयङ्गम करनेके लिए जगत्‌की अनिर्वचनीयस्वभावता दर्शाते हैं—'न चे०' इत्यादिसे ।

सत्‌से ही जगत् अपना वेष धारण करता है; इसलिए उसकी असत्ता नहीं कही जा सकती । उसका बाध होता है, अतएव सत्ता भी नहीं कही जा सकती, इसलिए यह जगत् न तो सत् है, और न असत् है, किन्तु अनिर्वचनीय है । जैसे कि कटक आदिमें सुवर्णता उनसे अतिरिक्त नहीं है और उनसे अतिरिक्त भी है ॥ ६ ॥

येन शब्दं रसं रूपं गन्धं जानासि राघव।
सोऽयमात्मा परं ब्रह्म सर्वमापूर्य संस्थितः ॥ ७ ॥
नानैकत्वादतीतात्तु सर्वगादमलात्मनः ।
द्वितीया कलना नाऽस्ति काचिन्नेतरथा क्वचित् ॥८॥
राम भावनादन्यस्य भावाभावाः शुभाशुभाः ।
सृष्टयः परिकल्प्यन्तेऽनात्मन्येवाऽथवाऽऽत्मनि ॥९॥

यदि कोई शङ्का करे कि ब्रह्मका जगत् विवर्त है, ऐसा सुना जाता है। प्रत्यक् चैतन्यका तो वह विवर्त नहीं सुना जाता, तो इसपर प्रत्यक् चैतन्य ही ब्रह्म है ऐसा दर्शाते हैं—'येन' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपको जिससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धका ज्ञान होता है, वही यह प्रत्यगात्मा परब्रह्म सबको व्याप्त करके स्थित है। 'येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते एतद्वै तत्।' (जिस देहादिव्यतिरिक्त अपरोक्ष साक्षिभूत आत्मासे रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और स्त्रीसंसर्गजन्य सुखविशेषको सब लोग स्पष्टरूपसे जानते हैं, देह आदिसे व्यतिरिक्त इसी आत्मासे देहादिलक्षण रूप आदिको भी जानते हैं। इस लोकमें उस आत्मासे अतिरिक्त कौन वस्तु अवशिष्ट रहती है अर्थात् सभी वस्तुको आत्मरूपसे समझना चाहिए। जिस आत्मासे अतिरिक्त कोई वस्तु परिशिष्ट नहीं रहती, वही परमपद है) इस काठकश्रुतिमें ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा कहा गया है, यह भाव है ॥७॥

यदि कोई शङ्का करे, प्रत्यगात्मा बहुत हैं, ब्रह्म एक है, इसलिए उन दोनोंकी एकता कैसे ? तो इसपर नानात्व और एकत्व मिथ्या हैं, इसलिए उक्त शङ्का उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं—'नानैकत्वात्' इत्यादिसे ।

बहुत्व और एकत्वसे परे, सर्वव्यापक, निर्मल आत्मासे अतिरिक्त कहीं कोई दूसरी कल्पना नहीं है। भाव यह कि नानात्व और एकत्व यदि सत्य होते, तो उनकी एकता न हो सकती। वे मायिक हैं, अतएव उक्त दोष नहीं है ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अन्य वस्तुका अस्तित्व और अभाव, शुभ और अशुभ सृष्टियाँ मायिक दृष्टिसे अनात्मभूत मायामें ही वासनावश कल्पित हैं अथवा परमार्थदृष्टिसे एकमात्र आत्मा होनेके कारण आत्मामें ही वासनावश कल्पित हैं ॥ ९ ॥

यस्मादात्मनो व्यतिरिक्ते वस्तुनि सिद्धे सति तत्रेच्छा प्रवर्तते ।
यत्र स्वात्मनो व्यतिरिक्तं न किञ्चिदपि संभवति
तत्राऽऽत्मा किमिव वाञ्छन् किमनुस्मरन् धावतु किमुपैतु ॥ १० ॥

अत इदमीहितमिदमनीहितमित्यात्मानं न स्पृशन्ति विकल्पाः । अतो निरिच्छतायामात्मा न किञ्चिदपि करोति कर्तृकरणकर्मणामेकत्वात् । न क्वचित्तिष्ठत्याधाराधेययोरेकत्वात् । न च निरिच्छस्याऽऽत्मनो नैष्कर्म्यमभिमतम्, द्वितीयायाः कल्पनाया अभावात् ॥ ११ ॥

नेतरा जानासि राम त्वमियं ब्रह्मसंस्थितिः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः कर्ता भव गतज्वरः ॥ १२ ॥

पूर्वोक्त पद्यमें 'अथवाऽऽत्मनि' से जो दूसरा पक्ष कहा गया है, उसकी युक्ति और प्रयोजन द्वारा गद्योंसे उपपत्ति करते हैं—'यस्माद्' इत्यादिसे ।

आत्मासे अतिरिक्त वस्तुके सिद्ध होनेपर उसमें इच्छा होती है यानी जब आत्मरूप सृष्टि आत्मामें ही है यह पक्ष है, तब आत्मासे अन्य सृष्टि नहीं है । इच्छापूर्वक ही सृष्टि होती है, क्योंकि 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुति है । आत्मामें आत्माकी इच्छाका होना असिद्ध है, आत्मासे पृथक् कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, जिसकी इच्छासे आत्मा सृष्टिमें प्रवृत्त हो । प्रविृत्तिके बिना कोई भी सृष्टि नहीं कर सकता । सृष्टि करके भी किस फलके लिए आत्मा प्रयत्न करे और प्रयत्न कर भी क्या फल पावे ॥ १० ॥

इसलिए यह अभीष्ट है और यह अनिष्ट है, इस प्रकारके विकल्प आत्माको स्पर्श नहीं करते । इसलिए इच्छा न होनेपर आत्मा कुछ भी नहीं करता । करे भी कैसे ? कर्ता, करण और कर्म सभी एक ही हैं और न कहींपर स्थित होता है, क्योंकि आधार और आधेय एक ही है । नैष्कर्म्यकी सिद्धि भी कर्मका फल नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मकी सिद्धि होनेपर नैष्कर्म्यसिद्धिरूप फल होता है । इच्छारहितमें कर्मकी सिद्धि ही नहीं है, इसलिए इच्छारहित आत्माका नैष्कर्म्य भी अभीष्ट नहीं है, क्योंकि कर्म आदि दूसरी कल्पनाका अभाव है ॥ ११ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त प्रकारोंसे अन्य साफल्य आदिकी कल्पना नहीं ही है । यही ब्रह्मसंस्थिति है । यदि इसमें आप अन्य कल्पनाको जानते हैं, तो सब

अन्यच्च राघव पुनः

पुनः कृत्वा कृत्वा बहुविधिमिदं कर्म तरसा
त्वया प्राप्यं किं तद् वद यदुचितं भूतकरणात् ।
अकर्तृत्वे वाऽऽस्था भवतु तव चाऽप्यागमवतो
भव स्वस्थः स्वच्छः स्तिमित इव निर्वातजलधिः ॥१३॥

गत्वा सुदूरमपि यत्नवता जवेन
नाऽऽसाद्यते तदिह येन सुपूर्णतैति ।
मत्वेति मा व्रज पदार्थगणान् धिया त्वं
न त्वं त्वमेव परमार्थतया चिदात्मा ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे उपशम-वर्णनं नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

द्वन्द्वोंसे रहित और सब सन्तापोंसे शून्य होते हुए भी आप कर्ता (संसारी) बनिये, मैं आपको रोकता नहीं हूँ, यह भाव है, ॥ १२ ॥

अज्ञानितादशामें भी भौतिक शरीरग्रहण द्वारा कर्तृत्व होनेपर भूतोंसे ही भूतोंका निर्माण कर भौतिक फल प्राप्त किये जाते हैं, असंग उदासीन आत्मरूपसे नहीं । ज्ञानदशामें तो कर्म और उसके फलका असंभव है, इसमें तो कहना ही क्या है ? इसलिए कर्तृत्वमें आपकी आस्था होना उचित नहीं है, इस आशयसे गद्योंमें कहे गये अर्थके समर्थनके लिए पद्यका अवतरण करते हैं—'अन्यच्च' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, और भी सुनिये, आपको कर्तृत्वके आग्रहसे बार-बार कार्य करके विषयों द्वारा देह भूतोंके उपचयसे अतिरिक्त क्या फल प्राप्तव्य है ? जो फल नित्य निरतिशयानन्दरूप आपके लिए उचित हो, उसे आप कहिये । इसलिए सब कर्तृत्वाभिनिवेशका त्याग कर स्वरूपोचित अकर्तृत्वसे ही श्रुति और गुरुके वचनोंसे आत्मज्ञानी हुए तथा अविकारयुक्त आपकी आस्था हो । इससे आप निर्वात सागरकी तरह निश्चल और स्वच्छ हो आत्मस्वरूपमें स्थित होइये ॥ १३ ॥

विस्तारपूर्वक कहे गये अर्थका ही संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—'गत्वा' इत्यादिसे ।

जिस साधनसे अपरिच्छिन्नसुखलाभ द्वारा पूर्णकामता प्राप्त होती है, वह

अष्टत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं स्थिते तु तज्ज्ञानां यदेतत्कर्तृत्वं दृश्यते सुखदुःखादिषु योगादिषु वा तदसन्न तु मूर्खाणाम् ॥ १ ॥

यतः कर्तृत्वं नाम किमुच्यते । यो ह्यन्तस्थाया मनोवृत्तेर्निश्चय उपादेयताप्रत्ययो वासनाभिधानस्तत्कर्तृत्वशब्देनोच्यते ॥ २ ॥

साधन बड़े वेगसे दिशाओंके अन्ततक भी घूमकर प्रचुर यत्न करनेवाले पुरुषको भी प्राप्त नहीं होता । ऐसा निश्चयकर आप मनसे भी बाह्य पदार्थोंकी ओर कदम न उठाइये । इस प्रकार सब क्रियाओंका त्याग कर अपने स्थानमें ही आपको परम पुरुषार्थ प्राप्त हो जायगा । आप केवल पराग्रूपसे पृथक् ही नहीं हैं वरन् परमार्थरूपसे दृष्ट पूर्णानन्द चिदात्मा परम पुरुष भी हैं ॥ १४ ॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

[असंग आत्माको जो नहीं जानता, उसके मनके सङ्गसे कर्तृत्व तथा आत्मतत्त्वज्ञानीके अकर्ता और अभोक्ता होनेसे बन्धाभावका वर्णन]

यदि कोई शङ्का करे तत्त्वज्ञानियोंकी भी लौकिक और शास्त्रीय कर्मोंमें कर्तृता देखी जाती है । वह अवश्य ही इष्ट और अनिष्टके भोगको प्राप्त करायेगी, ऐसी अवस्थामें अज्ञानीसे तत्त्ववेत्ताओंमें क्या अन्तर है ? इसपर कहते हैं—'**एवं स्थिते**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, सुख-दुःख और भोग देनेवाले कर्मोंमें या समाधिकी अभ्यासपरिपाकरूप भूमिकाओंमें तत्त्वज्ञानियोंका जो यह कर्म दिखाई देता है, वह असत् है, मगर मूर्खोंका वह असत् नहीं है, यही तत्त्वाज्ञानी और मूर्खोंमें अन्तर है ॥ १ ॥

पहले विचार करना चाहिये कि कर्तृत्व किसे कहते हैं । शारीरिक क्रिया तो कर्तृत्व है नहीं, क्योंकि जो चेष्टा अबुद्धिपूर्वक की जाती है उसमें 'मैं करता हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती । किन्तु पूर्व-पूर्व कर्तृत्वकी वासनासे अनुरक्त मनोवृत्तिसे

चेष्टावशात्ताद्दक्फलभोक्तृत्वं वासनानुरूपं स्पन्दते पुरुषः स्पन्दानुरूपं फलमनुभवति । फलभोक्तृत्वं नाम कर्तृत्वादिति सिद्धान्तः ॥ ३ ॥

तथा च

कुर्वतोऽकुर्वतो वाऽपि स्वर्गेऽपि नरकेऽपि वा ।
याद्दग्वासनमेतत् स्यान्मनस्तदनुभूयते ॥ ४ ॥

तस्मादज्ञाततत्त्वानां पुंसां कुर्वतामकुर्वतां च कर्तृता न तु ज्ञाततत्त्वानाम्, अवासनत्वात् ॥ ५ ॥

ज्ञाततत्त्वो हि शिथिलीभूतवासनः कुर्वन्नपि फलं नाऽनुसंदधाति ।

अथ च स्पन्दनमात्रं केवलं करोत्यशक्तबुद्धिः संप्राप्तमपि फलमात्मैवेदं सर्वमेव कर्मफलमनुभवत्यकुर्वन्नपि करोति मग्नमनाः ॥ ६ ॥

उत्पन्न हुई, यह कार्य है, इस प्रकारकी चित्तवृत्तिरूपसे परिणत मानसिक क्रिया ही कर्तृता है ॥ २ ॥

भोक्तृत्व भी उक्त कर्तृत्वके अधीन चेष्टावश तत्-तत् वासनानुरूप फलास्वादसे उत्पन्न वासना ही है, ऐसा कहते हैं—'चेष्टा०' इत्यादिसे ।

चेष्टावश वासनानुरूप फलभोक्तृत्व होता है, क्योंकि वासनाके अनुसार ही पुरुष चेष्टा करता है और चेष्टाके अनुसार ही फल भोगता है । कर्तृत्वसे फल-भोक्तृत्व होता है, ऐसा सिद्धान्त है ॥ ३ ॥

उक्त अर्थमें श्लोकको उद्धृत करते हैं—'तथा च०' इत्यादिसे ।

कहा भी है—पुरुष चाहे कार्य करे या न करे फिर भी उसका मन जिस प्रकारकी वासनासे युक्त होता है, उसका स्वर्ग अथवा नरकमें अनुभव होता है ॥४॥

भले ही वासना ही कर्तृता और भोक्तृता हो, फिर भी ज्ञानी और अज्ञानीके अन्तरकी सिद्धि कैसे हुई, इसपर कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए जिन पुरुषोंको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ, वे चाहे कर्म करें या न करें उनमें कर्तृता होती है, किन्तु जिन लोगोंको तत्त्वका परिज्ञान हो चुका, वासना-रहित होनेके कारण वे चाहे करें या न करें, उनमें कर्तृता नहीं होती ॥ ५ ॥

ज्ञानीमें जो विशेषता पहले कही गई थी, उसीका उपपादन करते हैं—'ज्ञात-तत्त्वो हि' इत्यादिसे ।

जिस पुरुषको तत्त्वका परिज्ञान हो चुका, उसकी वासना शिथिल हो जाती

मनो यत्करोति तत्कृतं भवति यन्न करोति तन्न कृतं भवति अतो मन एव कर्तृ न देहः ॥ ७ ॥

चित्तादेवाऽयं संसार आगतश्चित्तमय एव चित्तमात्रं चित्त एव स्थित इति विज्ञातम्। विषयश्च सर्वमुपशान्तमभूद् वासनैवेति ज्ञ एवाऽस्तीति । ८॥

आत्मविदां हि तन्मनः परमुपशममागतं मृगतृष्णाजलमिव वर्षति जलदे हिमकण इव चण्डातपे विलीनं तुर्यदशामुपागतं स्थितम् ॥ ९ ॥

नाऽऽनन्दं न निरानन्दं न चलं नाऽचलं स्थिरम् ।
न सन्नाऽसन्न चैतेषां मध्यं ज्ञानिमनो विदुः ॥ १० ॥

है; अतएव वह कर्म करता हुआ भी कर्मके फलकी आकांक्षा नहीं करता। आसक्ति-रहित वह केवल चेष्टामात्र ही करता है। प्राप्त हुए भी कर्मफलको यह सब आत्मा ही है, यों अनुभव करता है। किन्तु भोगमें आसक्त मनवाला अज्ञानी कर्म न करता हुआ भी कर्म करता है यानी कर्तृत्वसे लिप्त होता है ॥ ६ ॥

मन जो करता है, वही कृत होता है। जो नहीं करता, वह कृत नहीं होता, इसलिए मन ही कर्ता है, देह कर्ता नहीं है ॥ ७ ॥

चित्तसे ही यह संसार प्राप्त हुआ है, अतएव यह चित्तमय ही है। चित्तमय क्यों? बल्कि केवल चित्तमात्र है तथा चित्तमें ही स्थित है, ऐसा पहले विचार पूर्वक निर्णय किया जा चुका है। सब विषय और सब चित्तवृत्तियां ये दोनों जब शान्त होकर वासनारूप हो जाते हैं, तब वासनासे उपहित जीव ही रहता है ॥ ८ ॥

उन जीवोंमें आत्मज्ञानियोंका वह मन वर्षा ऋतुमें मृगतृष्णाके जलकी तरह विनष्ट होकर एवं तेज धूपमें बर्फके सदृश विलीन होकर तुरीय दशाको प्राप्त हो तुरीयरूपसे स्थित रहता है, यह ज्ञानीमें अज्ञानीकी अपेक्षा वैशिष्ट्य है ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त मनकी दशाका वर्णन करनेवाले श्लोकको उद्धृत करते हैं— **'नाऽऽनन्दम्'** इत्यादिसे ।

विद्वान् लोग ज्ञानियोंके मनको न तो विषयानन्दमें आसक्त जानते हैं न स्वरूपानन्दशून्य, न चञ्चल, न पत्थर आदिके समान जड़, न स्थिर, न सत्, न असत् और न उक्त आनन्द, निरानन्द, चल, अचल, सत्, असत्की सन्ध्यवस्थारूप ही जानते हैं, किन्तु उसे परिशेषसे एकमात्र भूमा आत्मसुखरूप जानते हैं ॥ १० ॥

न वासनामये स्पन्दरसे गज इव पल्वले मज्जति तज्ज्ञो मूर्खमनो भोगभूमिमेव पश्यति न सत्तत्त्वम् ॥ ११ ॥

तथा चाऽयमत्राऽपरो दृष्टान्तः । अकुर्वन्नपि श्वभ्रपतनं शय्यासनगतोऽपि श्वभ्रपातवासनावासिते चेतसि श्वभ्रपतनदुःखमनुभवति । अपरस्तु कुर्वन्नपि श्वभ्रपतनं परममुपशममुपगतवति मनसि शय्यासनसुखमनुभवति एवमनयोः शय्यासनश्वभ्रपतनयोरेकः श्वभ्रपतनस्याऽकर्ताऽपि कर्ता सम्पन्नो द्वितीयश्च श्वभ्रपतनस्य कर्ताप्यकर्ता सम्पन्नश्चित्तवशात्तस्माद् यच्चित्तं तन्मयो भवति पुरुष इति सिद्धान्तः ॥ १२ ॥

तेन तत्र कर्तुरकर्तुर्वा नित्यमसंसक्तं भवतु चेतो नहि किञ्चिदस्त्यात्म-

---

ज्ञानी और अज्ञानियोंकी दूसरी विशेषता भी कहते हैं—**'न वासना०'** इत्यादिसे ।

ज्ञानी पुरुष जैसे हाथी छोटी तलैयामें नहीं डूबता वैसे ही वासनामय चेष्टा-रसमें मग्न नहीं होता । मूर्खका मन तो विषयभोगोंको ही देखता है, परमार्थ-तत्त्वको नहीं देखता ॥ ११ ॥

अज्ञानीके मनके दुर्वासनादुःखमें मग्न होनेमें स्वप्न दृष्टान्त है, ऐसा कहकर उसका उपपादन करते हैं—**'तथा'** इत्यादिसे ।

अज्ञानियोंके दुर्वासनादुःखमें निमग्न होनेका यह दूसरा दृष्टान्त है । पुरुष गड्ढेमें न गिरता हो, शय्यारूप आसनपर स्थित हो, फिर भी उसका चित्त गर्तपतनकी वासनासे वासित हो, तो वह गड्ढेमें गिरनेके दुःखका अनुभव करता है, दूसरा पुरुष तो भले ही गड्ढेमें गिर रहा हो, मगर उसका मन परमशान्तिको प्राप्त हो चुका हो, तो वह शय्यारूप आसनके सुखका अनुभव करता है । इसी प्रकार इन शय्यासन और गर्तपतनोंमें एक पुरुष गर्तपतनका अकर्ता होता हुआ भी चित्तवश कर्ता बन गया और दूसरा पुरुष गर्तपातका कर्ता होता हुआ भी अकर्ता हो गया । इसलिए जिस तरहका चित्त होता है, वैसा ही पुरुष हो जाता है, ऐसा सिद्धान्त है ॥ १२ ॥

इसलिए चाहे आप कर्म कीजिये या न कीजिये, आपका चित्त कर्मोंमें सदा आसक्तिरहित हो । आत्मतत्त्वसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जिसमें कि तत्त्वज्ञानी

तत्त्वव्यतिरिक्तं यत्र संसक्तिर्भाव्यते यत् किञ्चिदिदं जगद्गतं तत्सर्वं शुद्ध-चित्तत्त्वादाभासमवेहि ॥ १३ ॥

एवं चाऽस्य ज्ञातज्ञेयस्य पुंसो नामाऽऽत्मा सुखदुःखानां न गम्य इति निश्चये जाते नाऽऽत्मव्यतिरिक्ता आधाराधेयदृष्टयो विद्यन्त इति निश्चये जातेऽकर्ताऽभोक्ता सर्वपदार्थव्यतिरिक्तो वालाग्रसहस्रभागोऽहमिति निश्चये जाते यत्किञ्चिदिदं तत्सर्वमहमेवेति वा निश्चये जाते सर्वसत्त्वावभासकः सर्वगस्तिष्ठाम्येवाऽहमिति निश्चये जाते नाऽहं सुखदुःखानां गम्य इति विगत-ज्वरतया चित्तवृत्तिर्लीलयैव तिष्ठते व्यवहारेषु ॥ १४ ॥

तज्ज्ञस्य सङ्कटे च मुदितैव केवलं ज्योत्स्नेव भुवनभावमलङ्करोति येन चित्तादृते तु ज्ञः कुर्वन्नप्यकर्ता सम्पन्नो मनसोऽलेपकत्वान्नाऽसौ पादपाण्या-दिविक्षेपस्य यत्नकृतस्याऽपि कर्मणः फलमनुभवति ॥ १५ ॥

आपकी आसक्तिकी संभावना हो। इस जगत्‌में यह जो कुछ भी है, वह सब शुद्ध चित् होनेके कारण केवल चित्‌का आभास ही है, ऐसा आप जानिये ॥१३॥

इस प्रकार जिस पुरुषको ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान हो चुका, उस पुरुषकी—आत्मा सुख और दुखोंका विषय नहीं होता, ऐसा निश्चय होनेपर, आत्मासे अतिरिक्त आधार और आधेयदृष्टियाँ नहीं हैं, यह निश्चय होनेपर, अकर्ता, अभोक्ता, सब पदार्थोंसे अतिरिक्त बालके अग्रभागके हजारों हिस्सेकी तरह सूक्ष्म मैं हूँ, ऐसा निश्चय होनेपर अथवा जो कुछ यह सब है, वह सब मैं ही हूँ, यह निश्चय होनेपर, मैं सब पदार्थोंका प्रकाशक सर्वगामी स्थित ही रहता हूँ, ऐसा निश्चय होनेपर मैं सुख-दुःखोंका विषय नहीं हूँ, यह निश्चय होनेपर इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहारके चिन्तारूपी ज्वरसे रहित होनेके कारण—चित्तवृत्ति आत्मामें ही प्रारब्धभोगके लिए लीला प्रकट करती हुई व्यवहारोंमें स्थित रहती है ॥ १४ ॥

इसलिए तत्त्वज्ञानीको संकटोंमें भी दुःख नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत आनन्द ही रहता है, ऐसा कहते हैं—'**तज्ज्ञ०**' इत्यादिसे।

इसलिए तत्त्वज्ञानीकी चित्तवृत्ति संकटोंमें भी आनन्दित ही रहती है। केवल चांदनीकी तरह भुवनताको अलंकृत करती है यानी जैसे चांदनी भुवनताको अलंकृत करती है वैसे ही वह भी जीवभावको अलंकृत करती है, क्योंकि चित्तके बिना ज्ञानी कर्म करता हुआ भी अकर्ता है। वह मनके लेपक न होनेके कारण

एवं मनः सर्वकर्मणां सर्वेहितानां सर्वभावानां सर्वलोकानां सर्वगतीनां बीजं तस्मिन् परिहृते सर्वकर्माणि परिहृतानि भवन्ति सर्वदुःखानि क्षीयन्ते सर्वकर्माणि लयमुपयान्ति मानसेनाऽपि कर्मणा यत्कृतेनाऽपि ज्ञो नाऽऽक्रम्यते न विवशीक्रियते न रञ्जनामुपैत्यव्यतिरिक्तात् ॥ १६ ॥

यथा बालो मनसा नगरस्य निर्माणं निमृष्टं च कुर्वन्नगरनिर्माणं मनःकृतमकृतमिव लीलयाऽनुभवति नोपादेयतया सुखदुःखमकृत्रिममिति पश्यति नगरनिर्मथनं च मनःकृतं कृतमिति पश्यतीति दुःखमपि लीलयाऽनुभवन्नपि न दुःखमिति पश्यति एवमसौ परमार्थतः कुर्वन्नपि न लिप्यत एवेति ॥ १७ ॥

हस्त-पाद आदिके विक्षेपरूप प्रयत्नसे किये गये कर्मके फलका भी अनुभव नहीं करता ॥ १५ ॥

सब कार्य, मन, बुद्धि उनके विषय और उनकी गतियोंका मन ही बीज है, इसलिए मनका त्याग होनेपर सब संसारका त्याग सिद्ध हो जाता है, ऐसा कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

इस प्रकार मन सब कर्मोंका, सब चेष्टाओंका, सब पदार्थोंका, सब लोकोंका और सब अवस्थाओंका बीज है । उसके चले जानेपर सब चेष्टाएँ चली जाती हैं । सब दुःख नष्ट हो जाते हैं । सब पाप-पुण्य कर्म लीन हो जाते हैं । मानसिक कर्मसे और शारीरिक कर्मसे भी ज्ञानी आक्रान्त नहीं होता, न विवश होता उसमें शारीरिक या मानसिक कर्मका रङ्ग नहीं चढ़ता, क्योंकि परमार्थतः उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ १६ ॥

कृतके भी अकृतत्वमें दृष्टान्त कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे बालक मनसे नगरका निर्माण और निर्मित नगरका परिष्कार करता हुआ भी मनसे किये गये नगरनिर्माणका लीलासे अकृतकी तरह अनुभव करता है, उपादेयरूपसे अनुभव नहीं करता । उनके सुख-दुःखको अकृत्रिम देखता है और नगरकी प्रविलापनसे उत्पन्न निवृत्तिको, जो कि मनसे की गई है, उसे वास्तविक समझता है । लीलासे दुःखका अनुभव करता हुआ भी यह दुःख नहीं है, यों जानता है, इसी प्रकार ज्ञानी करता हुआ भी परमार्थतः लिप्त नहीं ही होता है ॥ १७ ॥

सर्वभावेषु हेयोपादेयताभ्यां जगति किं कारणं दुःखस्य न चोपादेये किंचिदपि सम्भवति यदविनाशं व्यतिरिक्तं चाऽऽत्मनस्तस्मादयमात्माऽकर्ताऽभोक्ताऽतत्त्वतो यदेतत् कर्तृत्वं च स्वध्यारोप्यते ॥ १८ ॥

आवश्यकं तत् सम्यग्दर्शनमोहान्न वस्तुत इति यथाभूतवस्तुविचारणात् कर्तृत्वभोक्तृत्वे न स्तः । इन्द्रियेन्द्रियार्थद्वेषाभिलाषादिकादृष्टायस्तदृष्टीनां दृश्यन्ते नाऽतदृष्टीनाम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार कर्तृत्वका विचार करके दुःखके कारणका विचार करते हैं—**'सर्वभावेषु'** इत्यादिसे ।

जगत्‌में हेयता और उपादेयता द्वारा व्यवहारके विषय सब पदार्थोंमें दुःखका कारण क्या है ? हेय तो दुःखका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि त्याग उपादान-पूर्वक होता है, हेयके उपादेय न होनेसे ही उससे दुःखकी प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये परिशेषसे उपादेय ही दुःखका हेतु है, ऐसा मानना पड़ेगा । किन्तु उपादेय भी दुःखका कारण नहीं हो सकता । पहले यह बतलाइए, विनाशी उपादेयसे दुःख होता है, या अविनाशीसे ? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि विनाशी अपनी रक्षा करनेमें ही समर्थ नहीं है, ऐसी अवस्थामें वह किसीका कारण हो, यह सम्भव नहीं है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपादेय जगत्‌में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो आत्मासे अतिरिक्त और अविनाशी हो । 'अतोऽन्यदार्तम्' इत्यादि श्रुतिसे आत्मासे अतिरिक्त सब विनाशी कहा गया है, भाव यह कि आत्मा हान और उपादानके अयोग्य है और आत्मासे अतिरिक्त उपादेय नश्वर है । इस तरह भोग्य दुःखके कारणका निरूपण न होनेसे आत्मा अकर्ता और अभोक्ता है । जो कतृत्वका अनुभव होता है, वह अवास्तविकरूपसे अध्यारोपित है । उस कर्तृत्वका जीवित पुरुषसे निवारण नहीं हो सकता यानी जीवित पुरुषमें कर्तृत्व रहेगा अवश्य ही, क्योंकि—'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' ऐसा भगवद्वाक्य है । उक्त कर्तृत्व सम्यग् ज्ञानके अभावसे है, वस्तुतः नहीं है । तत्त्ववस्तुके विचारसे तो कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं हैं । इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंमें द्वेष, अभिलाषा आदिसे एवं उनके निमित्तभूत पुण्य-पापरूप अदृष्टोंसे विवशबुद्धिवाले अज्ञानियोंके ही वे (कर्तृत्व-भोक्तृत्व) देखे जाते हैं । इन्द्रियोंके विषयोंमें द्वेष, अभिलाष आदिसे तथा उनके निमित्तभूत पुण्य-पापरूप अदृष्टसे जिनकी बुद्धि विवश नहीं है, ऐसे ज्ञानियोंके वे नहीं दिखाई देते ॥ १८,१९ ॥

मोक्षोऽस्ति न संसारे स्वसंसक्तमनसामिहाऽसंसक्तमनसां त्वेतत्सर्वमेवाऽस्ति ॥ २० ॥

यथास्थितं ज्ञस्य केवलमात्मतत्त्वमेवोल्लसति तद् द्वित्वैकत्ववादिसिद्धे द्वित्वैकत्वे करोति सत्त्वासत्त्वे करोति शक्तिजालादभिन्नां सर्वशक्तितां च दर्शयति तस्य ॥ २१ ॥

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति नाऽबन्धोऽस्ति न बन्धनम् ।
अप्रबोधादिदं दुःखं प्रबोधात् प्रविलीयते ॥ २२ ॥
सङ्कल्पिता जगति मोक्षमतिर्मुधैव
सङ्कल्पिता जगति बन्धमतिर्मुधैव ।

इसलिये तत्त्वज्ञानियोंकी मोक्षकल्पना भी नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'मोक्षोऽस्ति'** इत्यादिसे ।

जिसका मन पूर्ण आत्मामें ही संलग्न है, उन ज्ञानियोंकी दृष्टिसे संसारमें मोक्ष नहीं है। आत्मामें जिनका मन संलग्न नहीं है, ऐसे देहाध्यासदृष्टिको प्राप्त लोगोंकी दृष्टिसे तो यह बन्ध-मोक्ष आदि सब हैं ही ॥ २० ॥

ज्ञानीकी दृष्टि तब क्या है ? इसपर कहते हैं—**'यथास्थितम्'** इत्यादिसे ।

ज्ञानीकी दृष्टिमें केवल यथास्थित आत्मतत्त्व ही उल्लसित होता है ।

शङ्का—यदि ज्ञानीकी दृष्टिमें आत्मतत्त्व ही उल्लसित होता है, तो उसकी व्यवहारसिद्धि कैसे होती है ?

समाधान—आत्मतत्त्व ही तत्त्वज्ञानीके जीवन आदि व्यवहारकी सिद्धिके लिए द्वित्व-एकत्ववादियोंकी दृष्टिसे सिद्ध द्वित्व और एकत्वको जीवन आदिके व्यवहारके समय करता है । सत्त्व और असत्त्व भी करता है तथा शक्तिसमूहसे अभिन्न सर्वशक्तिता भी दिखाता है ॥ २१ ॥

अब पद्य द्वारा फलितार्थ कहते हैं—**'न बन्धो०'** इत्यादिसे ।

न बन्धन है, न मोक्ष है, न बन्धाभाव है और न बन्धनके कारण काम-कर्म आदि हैं । तत्त्वके अज्ञानसे ही यह दुःख है, ज्ञानसे लीन हो जाता है ॥ २२ ॥

उक्त पूर्णात्मनिष्ठाका उपसंहार कर रहे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीके लिए उपदेश देते हैं—**'संकल्पिता'** इत्यादिसे ।

जगत्‌में संकल्पित मोक्षबुद्धि असत्य ही है, जगत्‌में संकल्पित बन्धबुद्धि भी

संत्यज्य सर्वमनहङ्कृतिरात्मनिष्ठो
धीरो धिया व्यवहरन् भुवि राम तिष्ठ ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे उपशमवर्णनं नाम अष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

भगवन्नेवं स्थिते परे ब्रह्मण्येव विद्यमाने कुत एवाऽभित्तिचित्ररूपायाः सृष्टेरागम इति कथय महात्मन् ॥ १ ॥

असत्य ही है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप बन्ध-मोक्ष आदि सबका त्याग कर अहङ्कारशून्य, आत्मनिष्ठ अतएव धीर हो बुद्धिसे व्यवहार करते हुए भूलोकमें स्थित होइये ॥ २३ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

उनतालीस सर्ग

[ब्रह्मकी सर्वशक्तिता, श्रीरामचन्द्रजीके मोहका विस्तार, उनके बोधके लिए श्रीवसिष्ठजीके विचार आदिका वर्णन]

अज्ञदृष्टिमें ही स्थित श्रीरामचन्द्रजी गुरुवचनोंमें विश्वास होनेके कारण परोक्षरूपसे ही पूर्णतास्थितिका आलोचन करके परस्पर विरोधका अनुभव करते हुए शङ्का करते हैं—**'भगवन्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, आपके कथनानुसार बन्ध-मोक्ष आदिका असंभव रहनेपर और एकमात्र परब्रह्मके ही विद्यमान रहनेपर आधारके बिना ही चित्ररूप इस सृष्टिका आगमन कहाँसे हुआ ? हे महात्मन्, इसे आप कृपापूर्वक मुझसे कहिये ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

राजपुत्र ब्रह्मतत्त्वमेवेदमावर्तते यस्मात् सर्वशक्ति तत्तस्मात् सर्वाः शक्तयो ब्रह्मणि दृश्यन्ते ॥ २ ॥

सत्त्वमसत्त्वं द्वित्वमेकत्वमनेकत्वमाद्यत्वमन्तत्वमिति ॥ ३ ॥

तच्च नाऽन्यत् यथा जलराशेर्जलाशय उल्लासप्रफुल्लासेन नानाकारतां दर्शयन् प्रकटतां गच्छति ॥ ४ ॥

तथा चिद्घनश्चित्तं चित्त्वाच्च सर्वाः शक्तीः कर्ममयीर्वासनामयीर्मनोमयीश्चिनोति दर्शयति बिभर्त्ति जनयति क्षिपयति चेति ॥ ५ ॥

सर्वेषामेव जीवानां सर्वासामभितो दृशाम् ।
समग्राणां पदार्थानामुत्पत्तिर्ब्रह्मणोऽनिशम् ॥ ६ ॥

क्या ये अज्ञदृष्टिमें स्थित होकर शङ्का करते हैं, अथवा थोड़ी-बहुत अभिज्ञताको प्राप्त होकर अज्ञता-अभिज्ञताके मध्यवर्ती होकर शङ्का करते हैं, ऐसी परीक्षा करनेके लिए श्रीवसिष्ठजी सर्वशक्तितावादके स्वीकार द्वारा श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काको दूर करते हैं—**'राजपुत्र'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे राजकुमार, ब्रह्मतत्त्वका ही यह विवर्त है, वह ब्रह्म सर्वशक्ति है, कार्यसे ही ब्रह्ममें सर्वशक्तिताका अनुमान होता है ॥ २ ॥

जिनमें शक्ति नहीं है, उन्हींमें विरोध होता है, सर्वशक्तिशालीमें तो कोई विरोध नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'सत्त्वम्'** इत्यादिसे ।

ब्रह्ममें सत्त्व-असत्त्व, दित्व-एकत्व, अनेकत्व, आद्यत्व और अन्तत्व सब कुछ है, किन्तु वे उससे अतिरिक्त नहीं हैं । जैसे समुद्रका जलप्रवाह चन्द्रोदय आदिसे हुए अपने उल्लास द्वारा विकसित होकर तरङ्गनृत्यसे अपनी नानाकारताको दिखलाता हुआ प्रकट होता है, वैसे ही चिद्घन ब्रह्म चित्तोपाधिक जीवभावका तथा उसके चिदाभासरूपसे चित्त होनेके कारण कर्ममयी, वासनामयी, मनोमयी सब शक्तियोंका एक-एक करके संचय करता है और सञ्चितोंको फल द्वारा प्रकट करता है, उपभोग द्वारा धारण करता है, पैदा करता है, तिरोभावसे विनाश करता है ॥ ३—५ ॥

उक्त अर्थमें श्लोकोंको उद्धृत करते हैं—**'सर्वेषाम्'** इत्यादिसे ।

सभी जीवोंकी, सभी चारों ओरकी दृष्टियोंकी, सभी पदार्थोंकी ब्रह्मसे ही निरन्तर उत्पत्ति होती है ॥ ६ ॥

लोकात् परादुपायान्ति तस्मिंश्चित्त्वाद् विशन्त्यलम् ।
तन्मया एव सततं तरङ्गा इव सागरे ॥ ७ ॥

श्रीराम उवाच

भगवंस्तवाऽतिगहनेयं वचनव्यक्तिर्न खल्वद्य वाक्यार्थमवगच्छामि ॥८॥

क्व किलाऽतीतमनःषष्ठेन्द्रियवृत्ति ब्रह्मतत्त्वं क्व भङ्गुरेयं तज्जा पदार्थश्रीरिति वचनरचना। यदि चाऽयमारम्भो ब्रह्मण आपतितस्तदनेन तत्सदृशेनैव भवितव्यम् ॥ ९ ॥

यो यस्माज्जायते स तत्सदृश एव भवति ॥ १० ॥

यथा दीपाद् दीपः पुरुषात् पुरुषः सस्यात् सस्यम् ॥ ११ ॥

यतो निर्विकाराद् यदागतं निर्विकारेणैवाऽनेन भवितव्यम् ॥ १२ ॥

अथैतद्व्यतिरिक्तं चिदात्मनस्तन्निष्कलङ्कस्य परमेश्वरस्य येयं कलङ्कापत्तिरित्याऽऽकर्ण्य भगवान् ब्रह्मर्षिरुवाच ॥ १३ ॥

सागर में तरङ्गों के समान परमात्मासे सब उत्पन्न होते हैं, उसीमें लीन हो जाते हैं और चित् होनेके कारण निरन्तर तन्मय ही हैं ॥ ७ ॥

इस प्रकार शक्तिवाद द्वारा श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काका समाधान करनेपर भी श्रीरामचन्द्रजी वह्निमें शैत्यशक्तिकी तरह जलमें दाहशक्तिकी तरह चिद्रूप ब्रह्ममें विरुद्ध जाड्यशक्ति, अदृश्य ब्रह्ममें दृश्यशक्ति तथा नित्य ब्रह्ममें अनित्यताशक्तिकी असम्भावना करते हुए फिर शङ्का करते हैं—**'भगवन्'** इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन् ,विरुद्ध होनेके कारण आपके वाक्यार्थका समझमें आना बड़ा कठिन है। अबतक भी मैं आपके वाक्यार्थको नहीं समझ सका हूँ ॥ ७ ॥

मन और इन्द्रियोंकी वृत्तिसे परे ब्रह्मतत्त्व कहाँ ! उससे उत्पन्न हुई क्षणभङ्गुर पदार्थशोभासे युक्त यह सृष्टि कहाँ। यदि पदार्थसृष्टि ब्रह्मसे आई है, तो इसे ब्रह्मके सदृश ही होना चाहिए, विरुद्ध नहीं होना चाहिए ॥ ९ ॥

लोकमें जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसके सदृश ही होता है, जैसे दीपकसे दीपक, पुरुषसे पुरुष तथा अन्नसे अन्न। यदि यह ब्रह्मसे अतिरिक्त है, तो निष्कलङ्क परमेश्वरकी जो जगद्भावापत्ति आपने कही है, यह कलङ्कापत्तिकी ही उक्ति कही जायगी, यह सुनकर भगवान् श्रीवसिष्ठजीने कहा ॥ १०, १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

ब्रह्मैवेदं स्थितं नाम मलमस्तीह नाऽनघ।
तरङ्गौघगणैरम्भः सिन्धौ स्फुरति नो रजः॥ १४॥
द्वितीया कल्पनैवेह न रघूद्वह विद्यते।
ब्रह्ममात्रादृते वह्नावौष्ण्यमात्रादृते यथा॥ १५॥

श्रीराम उवाच

निर्दुःखं ब्रह्म निर्द्वन्द्वं तज्जं दुःखमयं जगत्।
अस्पष्टार्थमिदं ब्रह्मन्न वेद्मि वचनं तव॥ १६॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्ते तत्र रामेण चिन्तयामास चेतसा।
वसिष्ठो मुनिशार्दूलो राघवस्योपदेशने॥ १७॥
परं विकासमायाता नाऽस्य तावदियं मतिः।
किञ्चिन्निर्मलतां प्राप्ता प्रोह्यते चेह वस्तुनि॥ १८॥

तत्त्वदृष्टिसे श्रीवसिष्ठजी जगत्के चिद्भावको एवं अविकारताको देखते हुए समाधान करते हैं—**'ब्रह्मैवेदम्'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह ब्रह्म ही है, यहाँपर मल नहीं है। सागरमें तरङ्गसमूहरूपसे जल ही स्फुरित होता है, धूलि तरङ्गसमूहरूपसे स्फुरित नहीं होती। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे अग्निमें एकमात्र उष्णताके सिवा दूसरी कल्पना नहीं है, वैसे ही एकमात्र ब्रह्मके सिवा यहाँपर दूसरी कल्पना नहीं ही है॥१४,१५॥

अज्ञदृष्टिमें ही स्थित श्रीरामचन्द्रजी सर्वथा एकमात्र आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी आनन्दविरुद्ध जगद्रूपता नहीं कही जा सकती है, यों जिद करते हैं—**'निर्दुःखम्'** इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, ब्रह्म दुःखरहित तथा द्वन्द्वरहित है और उससे उत्पन्न हुआ जगत् दुःखमय है, आपका यह अस्पष्टार्थवचन मेरी समझमें नहीं आ रहा है॥ १६॥

इस प्रकार निरुत्तर हुए श्रीवसिष्ठजीका श्रीरामचन्द्रजीको समझानेके लिए उपायका चिन्तन श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—**'इत्युक्ते'** इत्यादिसे।

वाल्मीकिजीने कहा—हे वत्स, श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीको उपदेश देनेके लिए मनसे विचार करने लगे कि अभी तक श्रीरामचन्द्रजीकी बुद्धि पूर्ण विकासको प्राप्त नहीं हुई है। कुछ निर्मलताको

यो व्युत्पन्नमनास्तस्य ज्ञातज्ञेयस्य धीमतः ।
मोक्षोपायगिरां पारं प्रयातस्य विवेकतः ॥ १९ ॥
न कश्चित् कस्यचिद्दोषो नाऽस्ति विद्यात्मनि ह्यलम् ।
यावन्नोक्तं न विश्रान्तिं तावदेत्येष राघवः ॥ २० ॥
अर्धव्युत्पन्नबुद्धेस्तु नैतद् व्यक्तं हि शोभते ।
दृश्यानया भोगदृशा भावयन्नेष नश्यति ॥ २१ ॥
परां दृष्टिं प्रयातस्य भोगेच्छा नाऽभिजायते ।
सर्वं ब्रह्मेति सिद्धान्तः काले नामाऽस्य युज्यते ॥ २२ ॥
आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत् ।
पश्चात् सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत् ॥ २३ ॥

प्राप्त हुई यह परमतत्त्वमें प्राप्त कराई जा रही है ॥ १७, १८ ॥

जो पुरुष जगत्‌की जड़ताका परित्याग कर चिदेकरसताको देखनेमें समर्थ है, उस धीमान् और ज्ञातज्ञेय (जिसने ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया है) एवं विवेकसे जो मोक्षके उपायभूत वचनोंका पार पा गया है, उसकी दृष्टिसे किसी वस्तुका कुछ भी विरोध नहीं है, क्योंकि विरुद्धरूप जगत् विज्ञानरूप आत्मामें कहींपर भी नहीं है, हम जबतक श्रीरामचन्द्रजीको भली भाँति उपदेश नहीं देंगे, तबतक श्रीरामचन्द्रजी विश्रान्तिको प्राप्त नहीं ही होंगे। इसलिए हमें इनको अवश्य उपदेश देना चाहिए, यह अर्थ है ॥ १९,२० ॥

परन्तु जिसकी मति पूर्णरूपसे व्युत्पन्न नहीं हुई, उसको यह सब ब्रह्म ही है, यह पूर्वोक्त उपदेश नहीं भाता; क्योंकि यह अर्धव्युत्पन्न पुरुष दृश्योंको उपस्थित करनेवाली भोगदृष्टिसे सदा ही दृश्योंकी भावना करता हुआ तत्त्वबोधसे च्युत हो जाता है ॥ २१ ॥

तो कौन उस प्रकारके उपदेशका उपयुक्त पात्र है, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'पराम्'** इत्यादिसे ।

तत्त्वबोधरूप परमदृष्टिको प्राप्त हुए पुरुषको भोगेच्छा उत्पन्न नहीं होती। उसी पुरुषके लिए समयपर यह सब ब्रह्म ही है, ऐसा परिनिष्ठित उपदेश उपयोगी होता है ॥ २२ ॥

अर्धव्युत्पन्न पुरुषको किस प्रकार उपदेश देना चाहिए, इसपर कहते हैं—**'आदौ'** इत्यादिसे ।

अज्ञस्याऽर्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ॥ २४ ॥
प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः ।
नाऽस्त्यविद्यामलमिति युक्तं वक्तुं महात्मनः ॥ २५ ॥
अपरीक्ष्य च यः शिष्यं प्रशास्त्यतिविमूढधीः ।
स एव नरकं याति यावदाभूतसंप्लवम् ॥ २६ ॥
इति संचिन्त्य भगवानज्ञानतिमिरापहः ।
तमुवाच मुनिश्रेष्ठो वसिष्ठो भूमिभास्करः ॥ २७ ॥

वसिष्ठ उवाच

कलङ्ककलना ब्रह्मण्यस्ति नाऽस्तीति वाऽनघ ।
सिद्धान्तकाले वक्तव्यं स्वयं ज्ञास्यसि राघव ॥ २८ ॥

पहले शम, दम आदि गुणोंसे शिष्यको विशुद्ध करे, तदनन्तर शुद्ध तुम यह सर्वात्मक ब्रह्म हो, ऐसा ज्ञान करावे ॥ २३ ॥

अज्ञको या अर्धप्रबुद्धको जो 'सर्वं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) ऐसा उपदेश दे, उसने उस अज्ञानीको महानरकजालोंमें डाल दिया ॥ २४ ॥

जिसकी बुद्धि प्रबुद्ध हो गई है, भोगेच्छा क्षीण हो गई है और कामना मिट गई है, उस महात्मामें अविद्यारूपी मल नहीं है, अतएव उसके लिए यह सब ब्रह्म ही है, ऐसा उपदेश देना उचित है ॥ २५ ॥

जिसे तत्त्वज्ञान नहीं है, वही अनधिकारीको उपदेश देनेके लिए प्रवृत्त होता है । शिष्योंको ठगनेवाले उस अतत्त्वज्ञानीका नरकपतन उचित है, इस आशयसे कहते हैं—**'अपरीक्ष्य'** इत्यादिसे ।

जो अत्यन्त विमूढ़बुद्धि (अतत्त्वज्ञानी) शिष्यकी परीक्षा किये बिना उपदेश देता है, वह प्रलयपर्यन्त नरकको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

ऐसा विचारकर अज्ञानरूपी अन्धकारका विनाश करनेवाले अतएव भूमिमें स्थित सूर्यके सदृश मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीवसिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्ममें कलङ्क है, अथवा नहीं, यह बात आप स्वयं जान जायँगे । यदि स्वयं न जान सकेंगे, तो परिनिष्ठित उपदेशके समय यह मैं आपको बतलाऊँगा । इस समय नहीं ॥ २८ ॥

ब्रह्म सर्वशक्ति सर्वव्यापि सर्वगतं सर्वोऽहमेवेति ॥ २९ ॥

यथेन्द्रजालिनः पश्यसि चित्रा मायया क्रिया जनयन्तः सदसत्तां नयन्त्यसच्च सत्तां नयन्ति तथैवाऽऽत्मा अमायामयोऽपि मायामय इव परम ऐन्द्रजालिको घटं पटं करोति पटं च घटं करोति उपले लतां जनयति मेरौ कनकतटे नन्दनवनमिव लतायामुपलमुत्पादयति कल्पपादपेषु रत्नस्तबकमिव व्योम्नि काननमध्यारोपयति ॥ ३० ॥

गन्धर्वे उद्यानमिव तस्मिन् जगति भविष्यति गगने कल्पनया नगरतां जनयति नष्टच्छायाञ्जनमिव व्योम धरातलं नयतीति ॥ ३१ ॥

गन्धर्वनगरराजगृहे विपुलाङ्गनाजनमिव भूतले व्योम निवेशयति ॥३२॥

इस समय अर्धव्युत्पन्न पुरुषसे कहने योग्य ब्रह्मकी पूर्वोक्त सर्वशक्तिता आदि और प्रत्यगात्माके सबमें अहंभावके दर्शनका पहले उपदेश देते हैं—**'ब्रह्म सर्वशक्ति'** इत्यादिसे ।

ब्रह्म सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वव्यापक और सर्वगत है, प्रत्यगात्मा मैं ही सब हूँ, यों जानना चाहिए ॥ २९ ॥

मायासे ही ब्रह्मकी सर्वशक्तिता और प्रत्यगात्माकी सर्वात्मकता है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐन्द्रजालिकोंको आप देखते हैं, जैसे वे माया द्वारा विचित्र क्रियाओंको उत्पन्न करते हुए सत्‌को असत् बना देते हैं और असत्‌को सत् बना देते हैं वैसे ही यह आत्मा भी अमायामय होता हुआ भी परम ऐन्द्रजालिककी तरह मायामय होकर घटको पट बना देता है और पटको घट बना देता है। मेरुके सुवर्णमय तटपर नन्दनवनकी तरह पत्थरपर लता पैदा कर देता है, कल्प वृक्षोंपर रत्नके गुच्छोंकी तरह लतामें पत्थरोंको पैदा कर देता है। आकाशमें वनका आरोप कर देता है ॥ ३० ॥

वस्तुव्यत्ययके समान देश-कालके व्यत्ययकी भी मायाशक्तिसे ही संभावना करनी चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**'गन्धर्व'** इत्यादिसे ।

गन्धर्वनगरमें उद्यानकी तरह गगनमें आगे होनेवाले उस जगतमें कल्पनासे नगरताको उत्पन्न करता है। आकाशको, जिसकी छायारूपी नीलता मानो नष्ट हो गई, पृथ्वीतल बना देता है ॥ ३१ ॥

तो क्या आकाशको नीचे रखनेके लिए भूतलको कहीं दूसरी ओर ले जाता

रक्तकुट्टिमेष्वाकाशप्रतिबिम्बमिव किञ्चिदस्ति जगति भविष्यति वा बभूव ॥ ३३ ॥

यदीश्वरो व्यक्तरूपो विचित्रतामुपेत्य निदर्शयति ॥ ३४ ॥

सर्वमेव सर्वथा सर्वत्र यथा सम्भवत्येकमेवेह वस्तु विद्यत इति तस्माद्धर्षामर्षविस्मयानां क्व वाऽवसरो राम ॥ ३५ ॥

समतयैव सततं धृतिमता स्थातव्यम् ॥ ३६ ॥

विस्मयस्मयसम्मोहहर्षामर्षविकारिताम् ।
समतावलितस्तज्ज्ञो न कदाचन गच्छति ॥ ३७ ॥

है, ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो उसपर नहीं ऐसा कहते हैं—**'गन्धर्वनगर०'** इत्यादिसे।

गन्धर्वनगरके राजमहलमें बहुत-सी महिलाओंकी तरह भूतलमें ही आकाशकी स्थापना करता है ॥ ३२ ॥

जैसे पद्मराग मणिके महलोंमें आकाशका प्रतिबिम्ब आधारकी लालिमासे ही लाल होता है, वैसे ही इस जगत्में जो कुछ है, होगा और हुआ था, वह सब स्वतः असत् होता हुआ भी ब्रह्मकी सत्तासे सत्-सा है, यह अर्थ है ॥ ३३ ॥

क्योंकि ईश्वर व्यक्तरूप हो विचित्रताको प्राप्त होकर अपने स्वरूपको दिखलाता है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार एक ही वस्तु सब प्रकारसे सब होती है, इसलिए इस विषयमें असंभावना, हर्ष और क्रोध आदि ठीक नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—**'सर्वमेव'** इत्यादिसे।

चूँकि इस जगत्में एक ही वस्तु सब जगह सब प्रकारसे सब होती है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, हर्ष, क्रोध और आश्चर्यका अवसर ही कहाँ है ॥३५॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीकी असंभावनाका निरास कर पूर्वोक्त समतास्थितिका ही विधान करते हैं—**'समतयैव'** इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, धैर्यशाली पुरुषको सदा समतासे ही रहना चाहिए ॥३६॥

तभी हर्ष, क्रोध, आश्चर्य आदिका आत्यन्तिक विनाश होता है, इस आशयसे श्लोक उद्धृत करते हैं—**'विस्मय०'** इत्यादिसे।

समतारूपी कवचसे परिवेष्टित तत्त्वज्ञानी पुरुष आश्चर्य, गर्व, मोह, हर्ष, क्रोध आदि विकारोंको कभी प्राप्त नहीं होता ॥ ३७ ॥

अपर्यवसाने देशकालवति चित्रा हि जगति युक्तयो दृश्यन्ते ॥ ३८ ॥

एताश्च युक्तीर्नामाऽसावात्मा यत्नेन रचनां करोति न चोत्पन्नां तिरस्करोति सागर इव वीचीः ॥ ३९ ॥

किं तर्हि क्षीर इव घृतं घट इव मृदि पट इव तन्तुषु वट इव धानायामात्मन्येव स्थिताः शक्तयः प्रकटतामागता व्यवह्रियन्तेऽविरचितमेव तरङ्गवत् ॥ ४० ॥

नाऽत्र कश्चित्कर्ता न भोक्ता न विनाशमेति ॥ ४१ ॥

केवलमात्मतत्त्वे साक्षिणि निरामये समतयाऽऽत्मनि नित्यमसंक्षुब्धे तिष्ठति सत्येवं संपद्यते ॥ ४२ ॥

सति दीप इवाऽऽलोकः सत्यर्के इव वासरः ।
सति पुष्प इवामोदः स्वतः संपद्यते जगत् ॥ ४३ ॥

समताका पर्यवसान न होनेपर देश और कालसे युक्त जगत्‌में ये विचित्र दृश्य-रचनारूप युक्तियाँ दिखाई देती हैं ॥ ३८ ॥

यह आत्मा सामग्रीयुक्त अवस्थाओंसे युक्त सृष्टिरचना यत्नसे करता है। उत्पन्न हुई उन रचनाओंका, जैसे सागर तरङ्गोंका तिरस्कार नहीं करता, वैसे ही तिरस्कार नहीं करता ॥ ३९ ॥

तो दूधमें घृतकी तरह, मिट्टीमें घड़ेकी तरह, तन्तुओंमें वस्त्रकी तरह और वटके बीजमें वटवृक्षकी तरह आत्ममें ही स्थित प्रकटताको प्राप्त हुई शक्तियोंका कथञ्चित् व्यवहार होता है। यह व्यवहारदृष्टि एकमात्र कल्पना ही है। परमार्थतः तो जगत् अविरचित ही है ॥ ४० ॥

इस जगत्‌में न कोई कर्ता है, न भोक्ता है, न यह जगत् विनाशको प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

साक्षी निर्विकार केवल आत्मतत्त्वके नित्य अपनेमें समरूपसे क्षोभरहित रहनेपर ऐसा होता है ॥ ४२ ॥

वैसे पारमार्थके रहनेपर भी जगत्प्राप्तिमें दृष्टान्त दर्शानेवाले दो श्लोकोंका अवतरण किया गया है—**'सति'** इत्यादिसे।

जैसे दीपके रहनेपर आलोक स्वतः होता है और जैसे फूलके रहनेपर सुगन्ध स्वतः होती है वैसे ही जगत् स्वतः ही उत्पन्न होता है। वायुके स्पन्दनकी

आभासमात्रमेवेदं परिदृश्यत एव च।
स्पन्दः समीरणस्येव न सन्नाऽसदवस्थितम् ॥ ४४ ॥

निर्दोषवदेव जागतीनां दृष्टीनां परमार्थतो भगवान् स्थितो विनष्टानां पुनः कर्ता कृतानां वा नाशयिता स केवले कदाचित्प्रकटाः कदाचिदल्पप्रकटाः कदाचिदप्रकटास्तारका इव कुसुमराशयः ॥ ४५ ॥

नश्यतीह हि तद्वस्तु नाऽऽत्मभूतं यदात्मनः।
कथं नश्यति तद्वस्तु स्वात्मभूतं यदात्मनः ॥ ४६ ॥
जायते नैव तद्वस्तु नाऽऽत्मभूतं यदात्मनः।
जायते चैव तद्वस्तु स्वात्मभूतं यदात्मनः ॥ ४७ ॥
कथं तज्जायते तस्मात् स्वात्मभूतं यदात्मनः ॥ ४८ ॥

तरह यह आभासमात्र ही दिखाई देता है, अतएव यह न सत् और न असत् है यानी अनिर्वचनीयरूपसे अवस्थित है ॥ ४३, ४४ ॥

इस प्रकार केवल अपनी सन्निधिसे उत्पन्न हो रहे जगत्‌के दोषोंसे लिप्त न हो रहा आत्मा ही जगत्‌का कर्ता-सा, हर्ता-सा और नियन्ता-सा ऐसे प्रतीत होता है, जैसे कि आकाश तारारूपी पुष्पराशियोंका कर्ता, हर्ता और नियन्ता प्रतीत होता है, ऐसा कहते हैं—**'निर्दोषवदेव'** इत्यादिसे।

परमार्थरूपसे निर्दोषके तुल्य ही स्थित होकर भगवान् विनष्ट हुई जगत्‌की दृष्टियोंके पुनः कर्ता होते हैं और की गईं जगत्‌की दृष्टियोंके नाशक होते हैं। जैसे केवल आकाशमें तारारूपी फूलराशियाँ कभी प्रकट और कभी अप्रकट होती हैं, वैसे ही उसमें ये जगत्‌की दृष्टियाँ कभी प्रकट होती हैं और कभी अप्रकट होती हैं ॥४५॥

इस प्रकार असत् जगत्‌का असत्तात्मक विनाश स्वतः ही होता है और सत्तात्मिका उत्पत्ति और स्थिति ब्रह्मसत्तासे ही हैं, यों विभाग होनेपर फलितार्थ कहते हैं—**'नश्यति'** इत्यादि तीन श्लोकोंसे।

जो वस्तु आत्माकी आत्मभूत नहीं है, वह वस्तु यहाँपर नष्ट ही होती है। जो वस्तु आत्माकी स्वरूपभूत है, वह कैसे नष्ट हो सकती है। जो वस्तु आत्माकी स्वरूपभूत नहीं है, वह उत्पन्न नहीं ही होती है। जो वस्तु आत्माकी स्वरूपभूत है, वही उत्पन्न होती है और वही स्थित रहती है। 'जायते' यह स्थितिका भी उपलक्षण है। जो वस्तु आत्माकी आत्मभूत है, वह उससे कैसे उत्पन्न होगी इसलिए उसकी उत्पत्ति कल्पनामात्र है ॥ ४६–४८ ॥

तस्मात् सम्यग्ज्ञानवशाद् ब्रह्मणः सर्वपदार्थानामागमः ॥ ४९ ॥

अवतीर्णानां च तेषामवतरणसमकालमेवाऽविद्योदेति तत्त्वज्ञानं दृढता-मेति तदनु शतसहस्रस्कन्धो विचित्रशुभाशुभफलभरफलितो भूरिशाखः स्फारतामेति संसारद्रुमः ॥ ५० ॥

आशामञ्जरिताकृतिं विफलितं दुःखादिभिर्दारुणै-
भोगैः पल्लवितं जराकुसुमितं तृष्णालताभासुरम् ।
संसाराभिधवृक्षमात्मनिगडं छित्त्वा विवेकासिना
मुक्तस्त्वं विहरेह वारणपतिः स्तम्भादिवोन्मोचितः ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे सर्वैकत्वप्रतिपादनं नाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

आत्मसत्ताका जगत्में अध्यास जगत्का जन्म है, आत्माका जन्म नहीं है, क्योंकि आत्मामें भेद नहीं है, इस आशयसे पूर्वोक्त विषयका उपसंहार करते हैं—'**तस्मात्**' इत्यादिसे ।

इसलिए परमार्थसत्य चित्स्वरूपके बलसे ब्रह्मसे सब पदार्थोंकी उत्पत्ति है ॥४९॥

उत्पन्न हुए उन पदार्थोंकी उत्पत्ति होते ही तुरन्त अविद्या उत्पन्न होती है, अभिमानलक्षण वह अज्ञान समय आनेपर दृढ़ हो जाता है। तदनन्तर सैकड़ों, हजारों तनोंसे युक्त, विचित्र शुभ और अशुभरूप फलोंसे लदा हुआ, प्रचुर शाखा और प्रशाखाओंसे युक्त संसाररूपी वृक्ष विशालताको प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

संसाररूपी वृक्षका ही वर्णन करके उसके उच्छेदका उपाय बतलाते हैं—'**आशा०**' इत्यादिसे ।

उक्त संसाररूपी वृक्ष आशारूपी मञ्जरियोंसे युक्त है, सुख-दुःख आदि विविध फलोंसे लदा है, दारुण दुःख आदि भोगोंसे पल्लवित है, बुढ़ापारूपी फूलसे युक्त है और तृष्णारूपी लतासे देदीप्यमान है। अपने बन्धनरूप इस संसारनामक वृक्षको विवेकरूपी तलवारसे काटकर स्तम्भसे खोले गये गजराजकी तरह मुक्त हुए आप इस संसारमें विहार कीजिए ॥ ५१ ॥

उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त

चत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

उत्पत्तिः कथमेतेषां जीवानां ब्रह्मणः पदात् ।
कियती कीदृशी चेति विस्तरेण वद प्रभो ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

उत्पद्यन्ते यथा चित्रा ब्रह्मणो भूतजातयः ।
यथा नाशं प्रयान्त्येता यथा मुक्ता भवन्ति हि ॥ २ ॥
यथा च परिवर्धन्ते तिष्ठन्त्यन्तर्हिता यथा ।
संक्षेपेण महाबाहो शृणु वक्ष्यामि तेऽनघ ॥ ३ ॥
ब्राह्मी चिच्छक्तिरमला कल्पयन्ती यदृच्छया ।
सर्वशक्तिः स्वयं चेत्यं भवत्याकलनात्मकम् ॥ ४ ॥

चालीसवाँ सर्ग

[विविध जीवोंकी उपाधियों द्वारा उत्पत्ति, जीवों तथा उनकी उपाधियोंके ब्रह्मभावका विस्तारसे वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, ब्रह्मपदसे इन जीवोंकी उत्पत्ति कैसे हुई, वह कितनी और कैसी है ? यह विस्तारपूर्वक मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये। यद्यपि जीवोंकी उत्पत्ति उत्पत्तिप्रकरणमें विस्तारसे कही गई है, तथापि आगे किये जानेवाले आक्षेपके उत्थानके लिए तथा विशेष ज्ञानकी इच्छासे पुनः यह प्रश्न किया है, ऐसा समझना चाहिए ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे महाबाहो, भाँति-भाँतिकी भूतजातियाँ जैसे ब्रह्मसे उत्पन्न होती हैं, जैसे नाशको प्राप्त होती हैं, जैसे मुक्त होती हैं, जैसे वृद्धिको प्राप्त होती हैं और जैसे ब्रह्ममें ही अन्तर्हित होकर स्थित रहती हैं, उसे मैं संक्षेपतः आपसे कहूँगा, हे अनघ, आप सुनिये ॥ २,३ ॥

परब्रह्मकी निर्मल चिच्छक्ति, जो सर्वशक्तिशालिनी है, अपनी इच्छासे विविध कल्पना करती हुई स्वयं भावी देहादिके आकारका स्फुरणरूप चेत्य (विषय) हो जाती है ॥ ४ ॥

कलनाद् घनतामेत्य यत्किञ्चिदपि सा स्वयम् ।
सङ्कल्पयति पश्चात्तत् तत्तामेति मनःपदम् ॥ ५ ॥
मनःसङ्कल्पमात्रेण गन्धर्वपुरवत् क्षणात् ।
तनोतीदमसद् दृश्यं ब्राह्मीं स्थितिमिव त्यजत् ॥ ६ ॥
चित्स्वरूपं परिकचच्छून्यमेवाऽवतिष्ठते ।
यत्तद् दृश्यं स्थितं तत्स्याद् दृश्यमाकाशमेव तत् ॥ ७ ॥
कृत्वा पद्मजसङ्कल्पं रूपं पश्यति पद्मजम् ।
ततो जगत् कल्पयति सप्रजापतिपूर्वकम् ॥ ८ ॥
चतुर्दशविधानन्तभूतजातसघुङ्घुमा ।
सृष्टिरेवमियं राम चित्तनिर्मितिमागता ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त देहादिके आकारका ही अच्छी तरह जो अहंभावसे स्फुरण है, उसके द्वारा घनताको प्राप्त हुई वह चिच्छक्ति स्वयं जो कुछ भी संकल्प करती है, फिर उस भावको प्राप्त हो जाती है, वही चिच्छक्तिका घनीभाव मन तथा जीवोपाधि है ॥ ५ ॥

मनके संकल्पमात्रसे दृश्य अहङ्कार आदिकी कल्पना द्वारा वास्तविक दृग्रूपताका त्याग कर रही-सी चिच्छक्ति क्षणमात्रमें इस असत्यभूत दृश्यका गन्धर्व-नगरकी भाँति विस्तार करती है ॥ ६ ॥

इससे क्या हुआ ? यह कहते हैं—**'चित्स्वरूपम्'** इत्यादिसे ।

यद्यपि चिद्रूप आत्मा स्वप्रकाश है, तथापि वह सर्वप्रथम अपनेसे निर्मित अपनेसे पृथक् शून्याकारसे प्रतीत होता है । वही अवस्था सर्वजनप्रसिद्ध 'आकाश है ॥७॥

उस आकाशमें ब्रह्मा आदिकी स्थूल देहकी और भुवनोंकी कल्पना दर्शाते हैं—**'कृत्वा'** इत्यादिसे ।

वह चित्तत्त्व ब्रह्माका संकल्प करके ब्रह्माके रूपको देखता है । तदनन्तर दक्ष आदि प्रजापतिकी कल्पना कर जगत्की कल्पना करता है ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चौदह भुवनोंमें रहनेके कारण चौदह प्रकारके अनन्त भूत-समूहोंके कोलाहलसे युक्त यह सृष्टि इस प्रकार चित्तसे निर्माणको प्राप्त हुई है ॥९॥

इस तरह उपाधिकी उत्पत्तिके मिथ्या होनेसे उपाधिप्रयुक्त जीवोंकी उत्पत्ति भी मिथ्या है, इस आशयसे कहते हैं—**'चित्त०'** इत्यादिसे ।

चित्तमात्रमयी शून्या व्योममात्रशरीरिका ।
सङ्कल्पमात्रनगरी भ्रान्तिमात्रात्मिका सती ॥ १० ॥
इह काश्चिन्महामोहा भूतानां जातयः स्थिताः ।
काश्चिदभ्युदितज्ञानाः काश्चिन्मध्ये स्खलन्ति हि ॥ ११ ॥
भुवि संबध्यमानानां यान्त्येनामुपदेश्यताम् ।
सर्वासां भूतजातीनां या एता नरजातयः ॥ १२ ॥
बह्वाधयो दुःखमया मोहद्वेषभयातुराः ।
तासां सम्यक् प्रवक्ष्यामि तावद्राजससात्त्विकीः ॥ १३ ॥
यत्तदप्यमृतं ब्रह्म सर्वव्यापि निरामयम् ।
चिदाभासमनन्ताख्यमनादि विगतभ्रमम् ॥ १४ ॥

एकमात्र चित्तसे बनी हुई एकमात्र आकाशशरीरवाली अतएव शून्य प्रतीत हो रही जीवसृष्टि एकमात्र सङ्कल्पकी नगरीके तुल्य केवल भ्रान्तिस्वरूप है ॥१०॥

उसमें शास्त्रके अधिकारी दुर्लभ हैं, यह दर्शानेके लिए जीवोंका तीन प्रकारसे विभाग करते हैं—**'इह'** इत्यादिसे ।

इन लोकोंमें कुछ भूतजातियाँ महामोहसे युक्त हैं, कुछ आत्मज्ञानको प्राप्त हैं, जैसे सनकादि । मध्यकी दशाओंमें स्थित कुछ जीवजातियाँ मोक्षके लिए प्रयत्न करती हुई भी दृढ वैराग्य न होनेके कारण बार-बार विघ्नों द्वारा ब्रह्मपदसे पतित होती हैं ॥ ११ ॥

शास्त्रके अधिकारका प्रयोजक वैराग्य कहाँ सुलभ है ? उसको कहते हैं—**'भुवि'** इत्यादिसे ।

पृथ्वीमें सम्बन्ध रखनेवाली सभी प्राणिजातियोंमें ये भारतवर्षमें रहनेवाली जो नरजातियाँ हैं, वे ही आत्मज्ञानके उपदेशके योग्य हैं ॥ १२ ॥

उनके वैराग्य होनेमें हेतु बतलाते हैं—**'बह्वाधयो'** इत्यादिसे ।

उन नरजातियोंके मध्यमें कुछ मनोव्यथासे पीड़ित, दुःखमय तथा मोह, द्वेष और भयसे आतुर हैं, अतः तमोगुणप्रधान होनेके कारण उनका शास्त्रमें अधिकार नहीं है । उपदेशयोग्य रजोगुण और सत्त्वगुणप्रधान जो जातियाँ हैं, उन्हें मैं बयालीसवें सर्गमें कहूँगा, यह अर्थ है ॥ १३ ॥

जो अमृत, सर्वव्यापक, निरामय, भ्रमस्पर्शशून्य, अकारण और अनन्त नामवाला

निस्पन्दवपुषस्तस्य स्पन्दः सत्तैकदेशतः ।
घनतामेति सौम्येऽब्धौ चलता चलतामिव ॥ १५ ॥

श्रीराम उवाच

अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य एकदेशः क उच्यते ।
कथं विकारिता वा स्यात् कथं वा द्वयविक्रमः ॥ १६ ॥

वसिष्ठ उवाच

तेन जातं ततो जातमितीयं रचना गिराम् ।
शास्त्रसंव्यवहारार्थं न राम परमार्थतः ॥ १७ ॥
विकारितावयवितादिक्सत्तादेशतादयः ।
क्रमा न संभवन्तीशे दृश्यमानोदया अपि ॥ १८ ॥

ब्रह्म है, वह जिस तरह चिदाभासताको प्राप्त हुआ, उसे भी उसी सर्गमें कहूँगा ॥१४॥

निश्चल समुद्रमें चञ्चल तरङ्गोंकी चञ्चलताकी भाँति स्पन्दनशून्य शरीरवाले उस परमात्माका जो जीवभावसे स्पन्द है, वह जिस तरह घनताको प्राप्त होता है, उसे भी उसी सर्गमें कहूँगा ॥ १५ ॥

'स्पन्दः सत्तैकदेशतः' यह जो कथन है, वह अयुक्त है, क्योंकि अखण्ड पूर्णसत्तैकरस ब्रह्ममें सत्तावयव स्पन्दकी सम्भावना नहीं हो सकती, ऐसी शङ्का श्रीरामचन्द्रजी करते हैं—**'अनन्त०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, अनन्त आत्मतत्त्वका एकदेश क्या कहलाता है, उसमें विकारिता कैसे होती है अथवा उसमें द्वित्वकी क्रान्ति कैसे होती है? ॥ १६ ॥

जीव-ब्रह्मकी एकताकी वास्तविकताके व्युत्पादनके लिए उत्पत्ति, स्पन्द और एकदेश आदिका व्यवहार शास्त्रमें कल्पित है, इसलिए वास्तविक वृत्तिका आश्रय करके उसमें विरोधका उद्भावन उचित नहीं है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—**'तेन जातम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत् उस निमित्तसे उत्पन्न है और उसी उपादानसे पैदा हुआ है, यह वाणीकी रचना शास्त्रके संव्यवहारके लिए है वस्तुतः नहीं है ॥ १७ ॥

वस्तुतः क्यों नहीं है? इसपर कहते हैं—**'विकारिता०'** इत्यादिसे ।

तं विना कल्पनैवाऽन्या नाऽस्ति नाऽपि भविष्यति ।
कुतस्त्यौ क्रमशब्दार्थावुक्तयो व्यवहारजाः ॥ १९ ॥
या येह कलना योऽर्थो यः शब्दो यो गिरां गणः ।
तज्जत्वात्तन्मयत्वाच्च तत्तत्पदमिवेष्यते ॥ २० ॥
तज्जः स एव भवति वह्नेर्वह्निरिवोत्थितः ।
जन्योऽयं जनकश्चाऽयमित्युक्ता भेदकल्पना ॥ २१ ॥
अयमस्मात् समुत्पन्न इतीयं या जगत्स्थितिः ।
आधिक्यं तत् क्रियाशक्तौ जन्यं जनकमेव वा ॥ २२ ॥

प्रत्यक्ष उत्पद्यमानरूपसे दिखाई दे रहे भी विकारिता, अवयविता, दिक्सत्ता, एकदेशता आदि क्रम सर्वेश्वर परमात्मामें सम्भावित नहीं हैं ॥ १८ ॥

यदि उसमें इनका सम्भव नहीं है, तो जगत्के किसी अन्य मूलकी कल्पना कीजिए ? इसपर कहते हैं—**'तं विना'** इत्यादिसे ।

उसके बिना अन्य कल्पना ही नहीं है और न होगी । भाव यह कि चित्प्रकाशके विना अन्य कल्पना भी अयुक्त है । कारण-कार्यमें क्रमशब्दार्थ तथा व्यवहारकी उक्तियाँ कहाँसे हो सकती है ॥ १९ ॥

जो-जो कल्पनाएँ हैं, जो पदार्थ हैं, जो शब्द हैं और जो वाक्य हैं, वे सत्से उत्पन्न होनेके कारण तथा सन्मय होनेके कारण सद्वस्तुकी ही तरह इष्ट हैं ॥ २० ॥

इस तरह सत्ताके भेदके अभावसे भेदप्रतीति मिथ्या ही है, ऐसा कहते हैं—**'तज्जः'** इत्यादिसे ।

वह्निसे उत्पन्न हुई वह्निकी भाँति वही उससे जन्य होता है । यह जगत् जन्य है, वह जनक है, यह भेद कल्पनामात्र है यानी मिथ्या है ॥ २१ ॥

दीपकसे दीपककी भाँति यह जगत् उत्पन्न है, यह व्यवहार कैसे है ? इसपर कहते हैं—**'अयम्'** इत्यादिसे ।

यह इससे उत्पन्न है, यह जो जगत्की स्थिति है, वह एक दीपककी दो रूपोंके निर्माणकी शक्तिमें अतिशयकी भाँति मायासे एक ही आत्माकी दो रूपोंके निर्माणकी शक्तिमें अतिशय है, वही जन्य-जनक दो रूपोंमें भासित होता है ॥ २२ ॥

इदमन्यदिदं चाऽन्यदिति शब्दार्थविक्लवः ।
उक्तावेव न देवेऽस्ति प्रमितौ भिन्नता यतः ॥ २३ ॥
तज्जयैव मनःशक्त्या स्वतः संज्ञा प्रवर्तते ।
दृढभावनया तस्मादिष्टोऽर्थः प्रतिपद्यते ॥ २४ ॥
अग्नेः शिखाया एकस्या द्वितीया जनिकेति या ।
उक्तिर्वैचित्र्यमेवैतन्नोक्त्यर्थेऽत्राऽस्ति सत्यता ॥ २५ ॥
न जन्यजनकाद्यास्ताः सम्भवन्त्युक्तयः परे ।
एकमेव ह्यनन्तत्वात् किं कथं जनयिष्यति ॥ २६ ॥
उक्तेरेव स्वभावोऽयमुक्तेरुक्तिरनन्तरम् ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्याद्यर्थेन युज्यते ॥ २७ ॥
ऊर्मिजालमिवाऽम्भोधौ परे यः परिदृश्यते ।
शब्दोऽर्थकलनाकारस्तद्ब्रह्मैव विदुर्बुधाः ॥ २८ ॥
ब्रह्म चिद् ब्रह्म च मनो ब्रह्म विज्ञानवस्तु च ।
ब्रह्मार्थो ब्रह्म शब्दश्च ब्रह्म चिद् ब्रह्म धातवः ॥ २९ ॥

यह जगत् भिन्न है, यह ब्रह्म भिन्न है, यह शब्द और अर्थका व्यवहारभ्रम वचनमात्रमें है, परमात्मामें नहीं है, कारण कि 'वाचारम्भरणं विकारो नामधेयम्' ऐसी श्रुति है, क्योंकि परिच्छेद होनेपर ही तो भेद प्रतीत होगा ॥ २३ ॥

पूर्वोक्त क्रियाशक्तिसे उत्पन्न हुई मनःशक्तिसे ही स्वभावतः शब्दविभाग प्रवृत्त होता है, तदनन्तर उससे दृढ़भावना द्वारा अभीष्ट अर्थ सम्पन्न होता है ॥ २४ ॥

पूर्वोक्त अर्थको ही उदाहरण देकर दर्शाते हैं—'अग्नेः' इत्यादिसे ।

अग्निकी एक शिखाकी दूसरी शिखा जनक है, यह कथनका वैचित्र्यमात्र है, इस कथनमें सत्यता नहीं है ॥ २५ ॥

परमात्मामें जन्य-जनक आदि शब्दव्यवहारका सम्भव नहीं है । अनन्त होनेके कारण जब वह एक ही है, तो किसे कैसे उत्पन्न करेगा ? ॥ २६ ॥

यह उक्तिका स्वभाव है कि एक उक्तिके अनन्तर दूसरी उक्ति स्वाश्रय-विरुद्ध भेद, द्वित्व आदि अर्थसे युक्त हो जाती है ॥ २७ ॥

समुद्रमें तरङ्ग-समूहकी भाँति परब्रह्ममें जो शब्द और अर्थकी कल्पनाका आकार है, वह ब्रह्म ही है, ऐसा विद्वानोंने अनुभव किया है ॥ २८ ॥

ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा है, ब्रह्म ही मन है, विविध प्रकारकी बुद्धिवृत्तियाँ भी

ब्रह्म सर्वमिदं विश्वं विश्वातीतं च तत्पदम् ।
वस्तुतस्तु जगन्नाऽस्ति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ ३० ॥
अयमन्योऽयमन्योऽयं भाग इत्यम्बरात्मनि ।
मिथ्याज्ञानविकल्पोक्तिर्वाचि सत्यार्थताऽत्र का ॥ ३१ ॥
वह्नेः शिखेव जातेयं शिखेति मनसोऽभिधा ।
चापलोत्थविकल्पश्रीर्वस्तुतः स्यान्न सिद्ध्यति ॥ ३२ ॥
असत्यैव विकल्पोक्तिः सत्यभावो विकल्पते ।
तमोपहतदृष्टित्वाद् द्विचन्द्रज्ञानदोषवत् ॥ ३३ ॥
सर्वस्मात्सर्वगात्तस्मादनन्ताद् ब्रह्मणः पदात् ।
नाऽन्यत् किञ्चित् सम्भवति तदुत्थं यत्तदेव तत् ॥ ३४ ॥
ब्रह्मतत्त्वं विना नेह किञ्चिदेवोपपद्यते ।
सर्वं च खल्विदं ब्रह्मेत्येषैव परमार्थता ॥ ३५ ॥

ब्रह्म ही है, ब्रह्म ही पदार्थ है, ब्रह्म ही शब्द है, ब्रह्म ही ईश्वर है या साक्षी चेतन है या पदार्थानुभूति है, सब विषय भी ब्रह्म ही हैं ॥ २९ ॥

सामने दीख रहा यह सब विश्व ब्रह्म ही है, वह ब्रह्मपद विश्वसे परे है । वस्तुतस्तु यह जगत् नहीं ही है, सब कुछ केवल ब्रह्म ही है ॥ ३० ॥

आत्माकाशमें यह भिन्न है, यह भिन्न है, यह विभाग मिथ्याज्ञानके विकल्पसे कथनमात्र है । इस कथनमें क्या सत्यार्थता है ? ॥ ३१ ॥

जैसे अग्निकी शिखाकी शिखासे दूसरी अग्निकी शिखा उत्पन्न हुई वैसे ही ब्रह्मसे मनकी संज्ञारूप शिखा उत्पन्न हुई है । चञ्चलतासे उत्पन्न विकल्पसंपत्ति नित्यसिद्ध कूटस्थ ब्रह्ममें सिद्ध नहीं होती है ॥ ३२ ॥

तमसे दृष्टिके क्षीण होनेके कारण जैसे द्विचन्द्रका ज्ञानदोष मिथ्या है, वैसे ही सत्य वस्तु विकल्पसे युक्त है, यह विकल्पकथन मिथ्या ही है ॥ ३३ ॥

सर्वस्वरूप, सर्वव्यापक उस अनन्त ब्रह्मपदसे अन्य कुछ नहीं उत्पन्न हो सकता है, जो कुछ उत्पन्न है, वह ब्रह्म ही है ॥ ३४ ॥

इस जगत्में ब्रह्मतत्त्वसे अतिरिक्त कुछ उपपन्न नहीं होता, इसलिए यह सब ब्रह्म ही है, यही परमार्थता है ॥ ३५ ॥

एवंप्रायश्च हे प्राज्ञ सिद्धान्तस्ते भविष्यति ।
तत्रैवोदाहरिष्यामः सिद्धान्तार्थोक्तिपञ्जरम् ॥ ३६ ॥
इहाऽविद्यादिकाः केचिद् विद्यन्ते नेतरक्रमाः ।
ज्ञास्यस्यलमशेषार्थांस्तत्तदज्ञानसंक्षये ॥ ३७ ॥
अवस्तुसंक्षये वस्तु यथावस्तु प्रसीदति ।
यथा च दृश्यते दृश्यं जगन्नैशतमःक्षये ॥ ३८ ॥
यदिदमखिलमाततं कुदृष्ट्या
तदुपशमे तव राम निर्मलाभे ।
अवितथपदनिर्मले भविष्य-
त्यवितथमेव न संशयोऽत्र कश्चित् ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे ब्रह्मैवेदं सर्वं जगदिति प्रतिपादनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

हे मतिमान् श्रीरामचन्द्रजी, जब आपका सिद्धान्त प्रायः ऐसा ही होगा, तभी हम सिद्धान्त अर्थकी उक्तियोंका उदाहरणपूर्वक निर्वाणप्रकरणमें उपपादन करेंगे ॥ ३६ ॥

इस परमार्थतामें अविद्या आदि कोई इतर पदार्थ विद्यमान नहीं हैं । तत्-तत् वस्तुविषयक तत्तद् अज्ञानका क्षय हो जानेपर आप सम्पूर्ण पदार्थोंको पूर्ण ब्रह्मभावसे जानेंगे ॥ ३७ ॥

पूर्वोक्त अर्थमें दृष्टान्त कहते हैं—**'अवस्तु०'** इत्यादिसे ।

जैसे अवस्तु यानी मलका क्षय होनेपर वस्तु यथार्थरूपसे प्रकट होती है और जैसे रात्रिके अन्धकारका क्षय होनेपर यह दृश्य जगत् दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही अज्ञानका क्षय होनेपर जगत् ब्रह्मभावसे प्रतीयमान होता है ॥ ३८ ॥

पूर्वमें कहे गये सभी पदार्थोंका उपसंहार करते हैं—**'यदि०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपकी अज्ञानदूषितदृष्टिसे जो यह सम्पूर्ण जगत् चारों ओर विस्तृत दिखाई देता है, अज्ञानके साथ उसका नाश होनेपर निर्मल दर्पणके तुल्य, परमार्थभूत, निर्मल परमपदमें वही एकमात्र परमपद स्थित होगा, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ३९ ॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

एकचत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

क्षीरोदकुक्षितुल्याभिः शीतलामलदीप्तिभिः ।
तवोक्तिभिर्विचित्राभिर्गम्भीराभिरिवाऽभितः ॥ १ ॥
क्षणमान्ध्यमिवाऽऽप्नोमि क्षणं यामि प्रकाशताम् ।
शान्तातपलवः प्रावृड्लोलाभ्र इव वासरः ॥ २ ॥
अनन्तस्याऽप्रमेयस्य सर्वस्यैकस्य भास्वतः ।
अनस्तमितसारस्य कलना कथमागता ॥ ३ ॥

इकतालीसवाँ सर्ग

[अनिर्वचनीय, चिकित्साके योग्य, अविचिन्त्य और मिथ्या माया कलना आदि विशेष धर्मोंका मूल है, यह वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, पूर्व सर्गोंमें सब जगह मन आदि द्वैत कल्पनाका मूल कलना ही है, यह कहा गया है। अब निर्विकार, अद्वितीय आत्मामें कलनाके निमित्तकी भी असंभावना कर रहे श्रीरामचन्द्रजी उसको पूछनेकी इच्छासे गुरु श्रीवसिष्ठजीके सम्मानार्थ पहले कहे हुए वचनकी प्रशंसा करते हुए अपने व्यामोहको प्रकट करते हैं—'**क्षीरोद०**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

क्षीरसागरके गर्भके यानी चन्द्रमाके तुल्य अतएव शीतल, निर्मल कान्तिसे पूर्ण, विचित्र तथा सब ओरसे गम्भीर-सी आपकी उक्तिसे वर्षा ऋतुमें चञ्चल बादलोंसे युक्त तथा शान्त आतपवाले दिनके समान मैं क्षण भरमें अन्धकारताको (व्यामोहको) तथा क्षण भरमें प्रकाशताको प्राप्त हो रहा हूँ ॥ १,२ ॥

अनन्त अतएव प्रमाणसे अपरिच्छेद्य, पूर्ण, सदा स्वतः भासमान आत्माको, जिसकी परमार्थस्वरूपप्रथा नष्ट नहीं हो सकती, परिच्छिन्न कलनात्मक विकार कैसे प्राप्त हुआ ? भाव यह है कि स्वयंप्रकाश, अद्वितीय, पूर्णस्वभाव आत्मामें परिच्छिन्न कलनारूप विकारका वस्तुतः अथवा कल्पनासे सम्भव नहीं है, इसलिए उसकी प्राप्तिमें क्या कारण है ? इसका प्रतिपादन कीजिए ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथाभूतार्थवाक्यार्थाः सर्वा एव ममोक्तयः ।
नाऽसमर्था विरूपार्थाः पूर्वापरविरोधदाः ॥ ४ ॥
ज्ञानदृष्टौ प्रसन्नायां प्रबोधे विततोदये ।
यथावज्ज्ञास्यसि स्वस्थो मद्वाग्दृष्टिबलाबलम् ॥ ५ ॥
उपदेश्योपदेशार्थं शास्त्रार्थप्रतिपत्तये ।
शब्दार्थवाक्यरचनाश्रमो मा तन्मयो भव ॥ ६ ॥

आपका यह व्यामोह वाक्यके दोषसे नहीं है, किन्तु आपके तात्पर्यमें ध्यान न देनेरूप मेरे कथन दोषसे ही है, यह दर्शाते हुए श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—**'यथाभूत०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे सभी वचन यथाभूत वाक्यार्थसे युक्त हैं । वे पदोंकी आकाङ्क्षा-योग्यता-आसत्तिरूप सामर्थ्यसे हीन नहीं हैं । अवान्तर वाक्यार्थ महावाक्यार्थके अपर्यवसायी नहीं हैं यानी अवान्तर वाक्यार्थ महावाक्यार्थमें ही पर्यवसित हैं और न तो उपक्रम और उपसंहारमें परस्पर विरोध ही है ॥ ४ ॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी कहें कि कब मुझे तात्पर्यज्ञान होगा ? तो इसपर कहते हैं—**'ज्ञानदृष्टौ'** इत्यादिसे ।

ज्ञानदृष्टिके स्वच्छ होनेपर और प्रबोधके उदयका विस्तार होनेपर स्वरूपमें स्थित आप मेरे वचनोंकी तथा उनसे प्राप्त तत्त्वदृष्टिकी अन्यके वचनों और तत्प्रयुक्त दृष्टिकी अपेक्षा प्रबलता यथार्थरूपसे समझेंगे ॥ ५ ॥

यदि कोई कहे कि जैसे मेरी माता बन्ध्या है, मेरे मुखमें जिह्वा नहीं है, मैं गूँगा हूँ, ये वाक्य बाधितार्थक हैं वैसे ही 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' 'एकमेवाऽद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियाँ भी हैं, इसलिए कैसे विरोधका परिहार होगा ? इसपर कहते हैं—**'उपदेश्यो०'** इत्यादिसे ।

शिष्योंके उपदेशार्थ शास्त्रार्थके ज्ञानके लिए शब्द, अर्थ तथा वाक्यरचनाका श्रम है । आप तन्मय न होइए । भाव यह है कि असत्य भी स्वप्न आदि जैसे सत्य वस्तुके ज्ञानके उपाय होते हैं वैसे ही शब्द, अर्थ और वाक्यरचनाका श्रम भी सत्य शास्त्रार्थका हेतु होता है, इसलिए व्यामोहवश आप भ्रममय न होइए ॥ ६ ॥

यदा पुरा ज्ञास्यसि तत्सत्यमत्यन्तनिर्मलम् ।
वाच्यवाचकशब्दार्थभेदं त्यक्ष्यसि वै तदा ॥ ७ ॥
भेदकृद्वाक्प्रपञ्चोऽयमुपदेश्येषु कल्पितः ।
उपदेश्योपदेशार्थे शास्त्रार्थप्रतिपत्तये ॥ ८ ॥
शब्दार्थवाक्प्रपञ्चोऽयमुपदेशेषु कल्पितः ।
सदाऽज्ञेषु न तज्ज्ञेषु विद्यते पारमार्थिकः ॥ ९ ॥
कलनामलमोहादि किञ्चिन्नाऽऽत्मनि विद्यते ।
नीरागं ब्रह्म परमं तदेवेदं जगत्स्थितम् ॥ १० ॥
एतद् विचित्ररूपाभिर्युक्तिभिर्बहुशः पुनः ।
विस्तरेणैव वक्तव्यं सिद्धान्तावसरेऽनघ ॥ ११ ॥

तो कबतक शब्द अर्थ और वाक्यरचनाके भ्रमका अनुसरण करना चाहिए, इसपर कहते हैं—**'यदा'** इत्यादिसे ।

जब उस सत्य, अत्यन्त निर्मल आत्माका ज्ञान कर लेंगे, तब अवश्य ही आप वाच्य, वाचक और शब्दार्थके भेदका त्याग कर देंगे । जबतक वाक्यार्थका अपरोक्ष नहीं होगा, तबतक शब्द और अर्थके भेदका अनुसरण करना चाहिए, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

यदि कहें कि वाक्यार्थज्ञान कैसे होगा ? तो इसपर कहते हैं—**'भेद०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

उपदेश देनेके योग्य शिष्योंके उपदेशार्थ शास्त्रार्थके ज्ञानके लिए यह भेदकृत् वाक्प्रपञ्च उपदेशयोग्य शिष्योंमें कल्पित है ॥ ८ ॥

यह शब्दार्थरूप वाक्प्रपञ्च सदा उपदेशके विषयमें अज्ञोंमें कल्पित है, न कि वाक्यार्थको जाननेवाले पुरुषोंमें पारमार्थिकरूपसे विद्यमान है ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त कलना, उसके निमित्तभूत पूर्वसंस्कार तथा कर्मरूपी मल एवं अविद्या आदि कुछ भी आत्मामें विद्यमान नहीं हैं । वह परम ब्रह्म रागहीन है और वही जगत्‌रूपसे स्थित है ॥ १० ॥

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धान्तके अवसरपर असंभावनाके नष्ट हो जानेके बाद निर्वाणप्रकरणमें अनेक तरहकी युक्तियोंसे बहुत बार विस्तारपूर्वक मैं यह आपसे कहूँगा ॥ ११ ॥

वाक्प्रपञ्चं विना त्वेतदज्ञानमतुलं तमः ।
भेत्तुमन्योन्यमुदितं यत्नं कर्तुं न शक्यते ॥ १२ ॥
अविद्ययैवोत्तमया स्वात्मनाशोद्यमेच्छया ।
विद्या सा प्रार्थ्यते राम सर्वदोषापहारिणी ॥ १३ ॥
शाम्यति ह्यस्त्रमस्त्रेण मलेन क्षाल्यते मलः ।
शमं विषं विषेणैति रिपुणा हन्यते रिपुः ॥ १४ ॥
ईदृशी राम मायेयं या स्वनाशेन हर्षदा ।
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्ष्यमाणैव नश्यति ॥ १५ ॥

तो इस समयमें आपका वाक्प्रपञ्च किसलिए है, इसपर कहते हैं—**'वाक्प्रपञ्चम्'** इत्यादिसे ।

वाक्प्रपञ्चके बिना इस कारणीभूत अज्ञान तथा मूलाज्ञानका, जो परस्परकी सहायता द्वारा भ्रान्तिकी सैकड़ों, हजारों शाखा-प्रशाखाओंसे उदित है, मूलोच्छेदन करनेके लिए तथा उसके साधनोंमें यत्न करनेके लिए आप समर्थ नहीं हैं ॥ १२ ॥

उपदेशरूप वाक्प्रपञ्च और तज्जन्य ज्ञान अज्ञानके ही कार्य हैं, ऐसी अवस्थामें वे अज्ञानके विरोधी कैसे होंगे अथवा अज्ञान स्वविरोधी ज्ञानको कैसे चाहेगा ? यदि कोई ऐसा कहे, तो उसपर कहते हैं—**'अविद्य०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बहुत जन्मोंसे संचित सुकृतसे विशुद्ध अन्तःकरणके आकारमें परिणत हुई अविद्या ही अपने नाशके उद्यमकी इच्छासे सम्पूर्ण दोषोंको दूर करनेवाली विद्याकी इच्छा करती है । जैसे अपने शरीरसे विरोध होनेपर भी स्वात्महित होनेके कारण विवेकिनी पतिव्रता पतिचितारोहण करती है वैसे ही उसे विद्याकी इच्छा हो सकती है, यह भाव है ॥ १३ ॥

परस्पर विरोधका उपपादन करते हैं—**'शाम्यति'** इत्यादिसे ।

अस्त्र अस्त्रसे ही शान्त होता है, मलसे (सज्जीसे) ही मल साफ होता है, विषसे ही विषकी शान्ति होती है तथा शत्रुसे ही शत्रु मारा जाता है ॥ १४ ॥

वह स्वयं अपना नाशक कैसे हो सकती है ? एकमें कर्तृता तथा कर्मताका सम्भव नहीं हो सकता, यदि कोई ऐसी शङ्का करे, तो क्रियामें कर्मकर्तृभावका विरोध होता है, न कि ज्ञानसे अज्ञानके बाधमें विरोध है, इस आशयसे कहते हैं—**'ईदृशी'** इत्यादिसे ।

विवेकमाच्छादयति जगन्ति जनयत्यलम् ।
न च विज्ञायते कैषा पश्याऽऽश्चर्यमिदं जगत् ॥ १६ ॥
अप्रेक्ष्यमाणा स्फुरति प्रेक्षिता तु विनश्यति ।
मायेयमपरिज्ञायमानरूपैव वल्गति ॥ १७ ॥
अहो नु खलु चित्रेयं माया संसारबन्धनी ।
असत्येवाऽतिसत्येव स्वज्ञानं विहितं तया ॥ १८ ॥
अत्यभिन्नपदे तस्मिंस्तन्वाना भेदमाततम् ।
संसारमाया येनाऽसौ तेनाऽसौ पुरुषोत्तमः ॥ १९ ॥
नाऽस्त्येषा परमार्थेन त्वेवंभावनयेद्धया ।
ज्ञो भूत्वा ज्ञेयसंप्राप्तो ज्ञास्यस्यस्यास्त्वमाशयम् ॥ २० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह माया ऐसी है, जो अपने विनाशसे हर्ष देती है। इसका कुछ भी स्वभाव लक्षित नहीं होता है, यह ज्ञानदृष्टिसे विचारविषय होते ही नष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥

उसके असम्भावित अनन्त कार्य देखे जाते हैं, इसलिए भी विरोधकी सम्भावना नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'विवेक०'** इत्यादिसे।

यह अविद्या विवेकका आवरण करती है, जगत्को उत्पन्न करती है; परन्तु यह कौन है, इस तरह ज्ञात नहीं होती। यह जगद्रूपी आश्चर्य देखिए ॥१६॥

यह जबतक विचारगोचर नहीं होती, तभी तक स्फुरित होती है, विचारित होनेपर नष्ट हो जाती है। जब तक इसके स्वरूपका परिज्ञान नहीं होता, तभी तक यह माया पराक्रम दिखलाती है ॥ १७ ॥

ओह! संसारको बाँधनेवाली यह माया सचमुच बड़ी विचित्र है। यद्यपि वह असत्य है, तथापि इसने अत्यन्त सत्यकी भाँति अपना ज्ञान कराया है ॥ १८ ॥

जिस कारणवश संसारमाया अत्यन्त भेदरहित उस परम पदमें विस्तृत भेदका विस्तार कर रही है, उसी कारणवश क्षर-अक्षरस्वरूपसे अतीत यह आत्मा पुरुषोत्तम है ॥ १९ ॥

यह माया वस्तुतः नहीं है, इस भावनाके आचार्योपदेश, श्रुतिवाक्य, तर्क और स्वानुभवके अभ्यास द्वारा प्रदीप्त होनेपर आप तत्त्वविद् होकर आत्मस्वरूप वास्तविक ज्ञेय तत्त्वको विस्मृत-कण्ठगत-स्वर्णाभरणकी भाँति प्राप्तकर इस मेरी उक्तिके आशयको समझेंगे ॥ २० ॥

यावत्तु न प्रबुद्धस्त्वं तावन्मद्वचसैव ते ।
निश्चयो भवतूद्दामो नाऽस्त्यविद्येति निश्चलः ॥ २१ ॥
यदिदं दृश्यतां यातं मानसं मननं महत् ।
असन्मात्रमिदं यस्मान्मनोमात्रविजृम्भितम् ॥ २२ ॥
सत्तद् ब्रह्मेति यस्याऽन्तर्निश्चयः सोऽपि मोक्षभाक् ।
चलाचलाकृतिर्या या दृष्टिराबद्धभावना ॥
सा समग्रजगद्भूतखगबन्धनवागुरा ॥ २३ ॥
यः स्वप्नभूमिवद् भ्रान्तमसत्सद्ध्येकनिश्चयः ।
जगत्पश्यत्यसक्तात्मा न स दुःखे निमज्जति ॥ २४ ॥

अभी तो मेरे वचनके विश्वाससे परोक्षके तुल्य मुझसे कहे गये अर्थका ग्रहण कीजिए, ऐसा कहते हैं—**'यावत्'** इत्यादिसे ।

जबतक आप प्रबुद्ध नहीं हुए हैं, तबतक आपको मेरे ही वचनसे अविद्या नहीं है, ऐसा निश्चल दृढ़ निश्चय होना चाहिए ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त निश्चयको निश्चल करनेमें हेतु कहते हैं—**'यदिदम्'** इत्यादिसे ।

जो यह साक्षीसे दृश्यताको प्राप्त मनोवृत्तिरूप सम्पूर्ण व्यवहारका कारण होनेसे विशाल मनन यानी अतीत और अप्राप्त अर्थका अनुसंधान है, यह असन्मात्र है; क्योंकि केवल मनसे ही वृद्धिको प्राप्त हुआ है ॥ २२ ॥

इस तरह मननका निरास होनेपर मन काष्ठरहित अग्निकी भाँति स्वयं शान्त हो जाता है, अतएव ब्रह्मका सन्मात्ररूपसे परिशेष होनेपर पूर्वोक्त निश्चयके निश्चल हो जानेसे पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, इस आशयसे कहते हैं—**'सत्तद्'** इत्यादिसे ।

वह ब्रह्म सत्य है, यह निश्चय जिसके भीतर विद्यमान है, वही मोक्ष-भागी है ।

पूर्वोक्त अर्थको दृढ़ करनेके लिए बाह्यार्थमननदृष्टिकी बन्धहेतुताका वर्णन करते हैं—**'चलाचला०'** इत्यादिसे ।

भावनाओंसे बँधी हुई चञ्चल तथा अचञ्चल आकृतिवाली जो-जो दृष्टि है, वह सम्पूर्ण जगत्के प्राणीरूपी पक्षियोंके बन्धनके लिए जाल है ॥ २३ ॥

असत् यानी अतीत, सत् यानी वर्तमान यों दो रूपवाले मननके विषयमें 'यह सत्य ही है या यह असत्य ही है' इस एकरूप दृढ़ निश्चयसे युक्त होकर जो

यस्यैतास्वस्वरूपासु भावनास्वात्मभावना ।
अस्वरूपस्य तस्याऽपि सा ह्यविद्यैव विद्यते ॥ २५ ॥
विकारितादयो दोषा न केचन महात्मनि ।
परमात्मनि विद्यन्ते पयसीवेह पांसवः ॥ २६ ॥
भावना शब्दशब्दार्थरञ्जनेयं जगद्गता ।
व्यवहारार्थमुत्पन्ना व्यतिरिक्ता च नाऽऽत्मनः ॥ २७ ॥
अनेन व्यवहारेण विनैताः शास्त्रदृष्टयः ।
संस्थितिं नाऽधिगच्छन्ति पटा इव वितन्तवः ॥ २८ ॥
उह्यमानो ह्यविद्यायामात्मा नेहोपलक्ष्यते ।
आत्मज्ञानादृते तच्च शास्त्रार्थात् समवाप्यते ॥ २९ ॥

असक्तात्मा अधिकारी पुरुष जगत्को स्वप्नकी भूमिकी भाँति भ्रान्तिमात्र देखता है, वह दुःखमें निमग्न नहीं होता ॥ २४ ॥

तो कौन निमग्न होता है, इसपर कहते हैं—**'यस्यैता०'** इत्यादिसे ।

मिथ्याभूत देहेन्द्रियादि द्वैतभावनाओंमें जिसकी अहंबुद्धि है । वही दुःखमें निमग्न होता है, यह भाव है ।

उस मिथ्यादर्शी पुरुषका अविद्या यानी आविद्यिक दुःखमें निमज्जन ही दण्ड है, इस आशयसे कहते हैं—**'अस्वरूपस्य'** इत्यादिसे ।

मिथ्यादर्शी उस पुरुषके लिए एकमात्र अविद्या ही विद्यमान है, इस महात्मा परमात्मामें विकारिता आदि कोई दोष जलमें धूलकी भाँति विद्यमान नहीं हैं ॥ २५,२६ ॥

ऐसा होनेपर तो तत्त्ववेत्ता पुरुषोंकी पूर्वापरार्थविषयक भावनाके अभावसे व्यवहारकी सिद्धि नहीं होगी ? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—**'भावना०'** इत्यादिसे ।

जगत्में प्राप्त यह भावना यानी शब्द (नाम) और शब्दार्थोंमें (पदार्थोंमें) स्फटिककी भाँति अनुरञ्जना केवल व्यवहारके लिए उत्पन्न हुई है । यह आत्मासे अतिरिक्त नहीं है ॥ २७ ॥

इस व्यवहारके बिना ये शास्त्रदृष्टियाँ तन्तुहीन पटकी भाँति स्थितिको प्राप्त नहीं होतीं ॥ २८ ॥

यदि अविद्या नहीं ही है, तो शास्त्र किसलिए है ? इसपर कहते हैं—**'उह्यमानो'** इत्यादिसे ।

अविद्यासरितः पारमात्मलाभादृते किल ।
राम नाऽऽसाद्यते तद्धि पदमक्षयमुच्यते ॥ ३० ॥
यतः कुतश्चिज्जातेयमविद्या मलदायिनी ।
नूनं स्थितिमुपायाता समासाद्य पदं स्थिता ॥ ३१ ॥
कुतो जातेयमिति ते राम माऽस्तु विचारणा ।
इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा ॥ ३२ ॥
अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि राघव ।
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम् ॥ ३३ ॥

अविद्यारूपी नदीमें बह रहा आत्मा इस संसारमें आत्मज्ञानके बिना अनुभव-गोचर नहीं होता। और वह आत्मज्ञान शास्त्रके तात्पर्यार्थसे ही प्राप्त होता है ॥२९॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, परमात्माकी प्राप्तिके बिना अविद्यारूपी नदीका पार नहीं मिलता है । अविद्या नदीका पारभूत परमात्माका लाभ ही अक्षय परम पद है ॥३०॥

यदि कोई कहे कि यह अविद्या परमात्मामें कहाँसे आई ? इसपर कहते हैं—**'यतः'** इत्यादिसे ।

यह मलदायिनी अविद्या चाहे जहाँ कहींसे भी उत्पन्न हुई हो, यह अवश्य है तथा परमपदका अवलम्बन कर स्थित है ॥ ३१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह अविद्या कहाँसे प्राप्त हुई, ऐसा विचार आप मत कीजिये । इसका कैसे नाश करूँ, यही विचार आप कीजिए ॥ ३२ ॥

तो क्या यह अनादि है अथवा सादि है । यदि अनादि है, तो आत्माकी तरह नित्य होगी । यदि सादि है, तो इसका कारण कहना चाहिए । इसी तरह यह सत्य है, अथवा असत्य है । यदि सत्य है, तो ज्ञानसे इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती । यदि असत्य है, तो संवादी व्यवहारका हेतुत्व ही अनुपपन्न हो जायगा । इस तरहकी हजारों शङ्काओंका नाश उसके नाशसे ही हो जायगा, इस आशयसे कहते हैं—**'अस्तम्'** इत्यादिसे ।

हे रघुकुलदीपक श्रीरामचन्द्रजी, इस अविद्याके अस्त होने अतएव क्षीण होनेपर आप यह जहाँसे आई, जैसे आई और जैसे नष्ट हुई, यह सब अच्छी तरह समझ जायँगे ॥ ३३ ॥

वस्तुतः किल नाऽस्त्येषा विभात्येषाऽनवेक्षिता ।
असतो भ्रान्ततां सत्यरूपां जानातु कः कुतः ॥ ३४ ॥

जातेयं प्रौढिमापन्ना दोषायैवाऽऽतताकृतिः ।
बलात् प्रणाशय त्वेनां परिज्ञास्यसि वै ततः ॥ ३५ ॥

अपि शूरा अतिप्राज्ञास्ते न सन्ति जगत्त्रये ।
अविद्यया ये पुरुषा न नाम विवशीकृताः ॥ ३६ ॥

तदस्या रोगशीलाया यत्नं कुरु विनाशने ।
यथैषा जन्मदुःखेषु न भूयस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ३७ ॥

सर्वापदामेकसखीमज्ञानतरुमञ्जरीम् ।
अनर्थसार्थजननीमविद्यामलमुद्धर ॥ ३८ ॥

वस्तुतः यह नहीं ही है, विचार न करनेपर ही यह भासित होती है।

असत्यका सत्यके तुल्य विचार स्वाप्निक पुरुषके गोत्रकी चिन्ताकी भाँति व्यर्थ है, इस आशयसे कहते हैं—'**असतः**' इत्यादिसे ।

असत्‌की भ्रान्तिकी सत्यरूपता कौन कैसे जान सकता है ? ॥ ३४ ॥

यह उत्पन्न होकर प्रौढ़ताको प्राप्त हुई है, इसने दोषके लिए ही अपने आकारका विस्तार किया है, इसका बलपूर्वक विनाश कीजिए, तब आप इसे जानेंगे ॥ ३५ ॥

तो स्वाप्निक पुरुषके बधके उद्योगकी भाँति अविद्याकी निवृत्तिमें यत्नातिशय निष्फल है ? ऐसी आशङ्का करके उससे विलक्षण अनर्थप्रबलताका वर्णन करते हैं—'**अपि**' इत्यादिसे ।

अत्यन्त बुद्धिमान् तथा साथ ही साथ शूर भी ऐसे पुरुष तीनों लोकोंमें नहीं हैं, जो अविद्या द्वारा विवश न किये गये हों ॥ ३६ ॥

इसलिए रोगके तुल्य स्वभाववाली इस अविद्याके विनाशमें प्रयत्न कीजिए। जिससे यह अविद्या फिर आपको जन्मयातनाओंमें नियुक्त न करेगी ॥ ३७ ॥

सम्पूर्ण आपत्तियोंकी मुख्य सहचरी, अज्ञानरूपी वृक्षकी मञ्जरी तथा अनर्थ-समूहोंकी जननी इस अविद्याको उखाड़ फेंकिए ॥ ३८ ॥

भयविषाददुराधिविपत्प्रदां हृदयमोहमहापटलाङ्कुराम् ।
भृशमपास्य कुदृष्टिमिमां बलाद्भव भवार्णवपारमुपागतः ॥ ३९ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणेऽविद्याकथनं नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

कुपितस्याऽसतोऽप्यस्य प्रेक्षामात्रविनाशिनः ।
अविद्यावितत्व्याधेरौषधं शृणु राघव ॥ १ ॥
यां तां कथयितुं जातिं राम राजससात्त्विकीम् ।
मनोवीर्यविचारार्थं प्रस्तुतोऽस्मीह तां शृणु ॥ २ ॥

उक्तार्थका उपसंहार करते हैं—'**भय०**' इत्यादिसे ।

भय, विषाद, दुष्ट मनोव्यथा तथा विपत्तियोंको देनेवाली, हृदयमें स्थित आत्मदृष्टिके मोहरूपी अन्धकारके हेतु महापटलरूप शरीर, इन्द्रिय आदिकी हेतुभूत इस अविद्याको बलपूर्वक अच्छी तरह हटाकर आप भवसागरके पारको प्राप्त होइए ॥३९॥

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

[अनन्तशक्ति ब्रह्मके, वासनाकी घनताके क्रमसे, जीवभावक्रमका वर्णन]

इस प्रकार अविद्यारूप व्याधिका वर्णन कर उसकी निवृत्तिके उपायको अग्रिम बहुतसे सर्गोंसे कहनेके लिए श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'**कुपितस्य**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुवर, असत् अतएव विचारमात्रसे नष्ट होनेवाली इस अविद्यारूपी विस्तृत व्याधिकी, जो अत्यन्त प्रकोपको प्राप्त हुई है, औषधि सुनिये ॥ १ ॥

अब उसके लिए जीवके अवतरणक्रमका वर्णन करनेके लिए चालीसवें सर्गमें 'तासां सम्यक् प्रवक्ष्यामि तावद्राजससात्त्विकीः' इससे जो प्रतिज्ञा की है, उसके अवशिष्ट अंशके वर्णनका यों स्मरण कराते हैं—'**यां तां**' इत्यादिसे ।

यत्तदप्यमृतं ब्रह्म सर्वव्यापि निरामयम् ।
चिदाभासमनन्ताख्यमनादि विगतभ्रमम् ॥ ३ ॥
निस्पन्दवपुषस्तस्य स्पन्दस्तस्माच्चिदेव हि ।
प्रदेशाद्घनतामेति सौम्योऽब्धिश्चलनादिव ॥ ४ ॥
अन्तरब्धेर्जलं यद्वत् स्पन्दास्पन्दवदीहते ।
सर्वशक्तिस्तथैकत्र गच्छति स्पन्दशक्तिताम् ॥ ५ ॥
आत्मन्येवाऽऽत्मना व्योम्नि यथा सरति मारुतः ।
तथेहाऽऽत्माऽऽत्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम् ॥ ६ ॥
स्वशिखास्पन्दशक्त्यैव दीपः सौम्यो यथोन्नतम् ।
एति तद्वदसावात्मा तत्स्वे वपुषि वल्गति ॥ ७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मनके पराक्रमके विचारार्थ जिस राजस, सात्त्विक जीव-जातिका वर्णन करनेके लिए मैं यहाँपर प्रस्तुत हूँ, उसे आप सुनिये ॥ २ ॥

जिस भाँति सर्वव्यापक, निर्दोष, अनादि, अनन्त, भ्रमकलङ्करहित, अमृत ब्रह्म जीवरूप हुआ, उसे भी आप सुनिये ॥ ३ ॥

स्पन्दनरहित उस ब्रह्मका जीवरूप चिदाभास चिद् ही है, जैसे सौम्य (निश्चल) सागर ही चलनसे तरङ्ग आदिरूप स्थूलताको प्राप्त होता है वैसे ही वह भी औपाधिक एक देशसे घनताको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

शक्तियोंकी विचित्रता सत्त्व आदि गुणोंकी वृद्धि तथा ह्रासके परस्परमिश्रणके तारतम्यसे होती है और उपचय आदि राजस क्रियाशक्तिसे होते हैं, इसलिए पहले क्रियाशक्तिकी उत्पत्ति दिखलाते हैं—'**अन्तरब्धेः**' इत्यादिसे ।

जैसे समुद्रके अन्दर जल स्पन्द और अस्पन्दरूपसे अवस्थित देखा जाता है, यानी किसी स्थानमें स्पन्द (गतिविशिष्ट) और किसी स्थानमें अस्पन्द (गतिरहित) देखा जाता है, वैसे ही सर्वशक्ति ब्रह्म अस्पन्दस्वभाव होते हुए भी किसी एक अंशमें स्पन्दशक्तिरूपसे आविर्भूत होता है ॥ ५ ॥

यद्यपि ब्रह्म स्वतः कूटस्थ है, तथापि उसमें आध्यासिक चलनका अविरोध दिखलाते हैं—'**आत्मन्येव**' इत्यादिसे ।

जैसे वायु आत्मरूप ही आकाशमें अपनेसे गमन करता है वैसे ही सर्वशक्ति ब्रह्म अपने आत्मामें ही अपनी शक्तिसे ही चञ्चलताको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

स्पन्दशक्तिका स्पन्दरहित प्रकाशशक्तिसे भी विरोध नहीं है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—'**स्वशिखा०**' इत्यादिसे ।

जलान्तरेऽम्बुधिर्यद्वल्लसद्वारिविचञ्चलः ।
सर्वशक्तिर्वपुष्येव तथा स्पन्दविलासवान् ॥ ८ ॥
यथोल्लसति भाश्वक्रैः कचन् कनकसागरः ।
तथाऽऽत्मनि परिस्पन्दैः स्फुरत्यक्षैश्चिदर्णवः ॥ ९ ॥
लक्ष्यते मौक्तिकस्पन्दो यथा व्योम्नि दृशोऽदृशि ।
तथा भाति लसद्रूपा चिच्छक्तिश्चिन्महाम्बरे ॥ १० ॥
किञ्चित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्महार्णवे ।
तन्मयी चित्स्फुरत्यच्छा तत्रैवोर्मिरिवाऽर्णवे ॥ ११ ॥
आत्मनोऽव्यतिरिक्तैव व्यतिरिक्तेव तिष्ठति ।
आलोकश्रीरिवाऽऽलोककोटरे यत्ततां गता ॥ १२ ॥

जैसे निश्चल दीपक अपनी ज्वालाकी स्पन्दशक्तिसे ही ऊपरको प्राप्त होता है, वैसे ही यह आत्मा भी अपने स्वरूपमें ही प्रकाशित होता है ॥ ७ ॥

जैसे सागर शरद् ऋतुकी धूपके सम्बन्धसे चमक रहे जलप्रदेशमें ही चञ्चल-सा प्रतीत होता है, वैसे ही सर्वशक्ति आत्मा अपने स्वरूपमें ही स्पन्दरूप विलाससे युक्त होता है ॥ ८ ॥

परमार्थतः अन्यरूप होते हुए भी कल्पित अन्यरूपसे स्फुरणमें भी यही दृष्टान्त है, इस आशयसे कहते हैं—**'यथो०'** इत्यादिसे ।

जैसे शरद् ऋतुकी धूपसे चमक रहा पिघलाए हुए सोनेके समान सागर स्फुरित होता है, वैसे ही चैतन्यरूपी सागर इन्द्रियजन्य प्रकाशोंसे आत्मामें ही स्फुरित होता है ॥ ९ ॥

जैसे अतीन्द्रिय आकाशमें मोतियोंकी माला कभी-कभी लहराती हुई-सी दिखाई देती है, वैसे ही चिन्महाकाशमें देदीप्यमान चिच्छक्ति भी प्रतीत होती है ॥ १० ॥

जैसे समुद्रमें निर्मल तरङ्ग समुद्र ही है, वैसे ही चिद्रूपी महासागरमें कुछ क्षुभित रूपवाली उस जगद्-मयी चिच्छक्तिके रूपसे चित् ही स्फुरित होती है ॥११॥

ऐन्द्रियक चिच्छक्ति परमार्थ चित् ही है, उसमें उत्पत्तिका आरोप केवल औपाधिक है, इस आशयसे कहते हैं—**'आत्मनः'** इत्यादिसे ।

जैसे आलोककोटरमें (सूची आदिके छिद्रमें) आलोकश्री रहती है, वैसे ही

क्षणं स्फुरति सा देवी सर्वशक्तितया तया ।
चेतति स्वां स्वयं शक्तिं कलेन्दोः शीततामिव ॥ १३ ॥
उदितैषा प्रकाशाख्या चिच्छक्तिः परमात्मनः ।
देशकालक्रियाशक्तीर्वयस्याः संप्रकर्षति ॥ १४ ॥
स्वस्वभावं विदित्वैवमनाद्यन्तपदे स्थिता ।
रूपं परिमितेवाऽसौ भावयत्यविभाविता ॥ १५ ॥
यदैवं भावितं रूपं तया परमसत्तया ।
तदैवैनामनुगता नामसंख्यादिका दृशः ॥ १६ ॥
चिदेवैतदवस्त्वेव व्यतिरिक्ता तथाऽऽत्मनः ।
अनन्ता तद्गतैवाऽऽशु लहरीव महार्णवात् ॥ १७ ॥

उपाधिपरवश होकर यह चिच्छक्ति आत्मासे अभिन्न होती हुई भी भिन्न-सी हो स्थित होती है ॥ १२ ॥

इसलिए उसके कालिक परिच्छेद तथा शक्ति, शक्तिमत्ता आदिरूप भेदप्रतीतिकी उपपत्ति होती है, ऐसा कहते हैं—**'क्षणम्'** इत्यादिसे ।

वह देदीप्यमान चिच्छक्ति अपनी उस सर्वशक्तितासे एक क्षणभरमें स्फुरित होती है, जैसे चन्द्रमाकी कला अपनी शीतलताका स्वयं अनुभव करती है वैसे ही वह अपनी शक्तिका स्वयं अनुभव करती है ॥ १३ ॥

अन्यान्य शक्तियोंकी प्रवृत्ति चिच्छक्तिके उदयके अधीन ही है, स्वतन्त्ररूपसे उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—**'उदितैषा'** इत्यादिसे ।

परमात्मासे उदित हुई यह प्रकाशरूप चिच्छक्ति अपनी सखीरूप देशकाल-क्रियाशक्तियोंका आकर्षण करती है यानी देशकालक्रियाशक्ति सखीके तुल्य उसका अनुगमन करनेवाली है ॥ १४ ॥

इस प्रकार अपने स्वभावको जानकर यह अनादि, अनन्तपदमें स्थित होती है । अविचारित होती हुई पूर्वोक्त कल्पितरूपको भ्रमवश अपना स्वरूप जानकर मैं परिच्छिन्न हूँ, यों अपने स्वरूपकी भावना करती है ॥ १५ ॥

जभी उस परमसत्ताने इस प्रकारके स्वरूपकी भावना की, तभी तुरन्त नाम-रूपभेद आदि जगत्‌की सम्पूर्ण कल्पनाओंने उसका पीछा किया ॥ १६ ॥

इस प्रकार चित्‌में कल्पित सकल दृश्यका चिन्मात्रत्व ही परमार्थरूप है, यों फलित हुआ, ऐसा कहते हैं—**'चिदेव'** इत्यादिसे ।

यथा कटककेयूरैर्भेदो हेम्नो विलक्षणः ।
तथाऽऽत्मनश्चितो रूपं भावयन्त्याः स्वमांशिकम् ॥ १८ ॥
यथा दीपेन दीपानां जातानामात्मनां तथा ।
देशकालकलामात्रभेदः स्वाभाविकश्चितेः ॥ १९ ॥
देशकालपरिस्पन्दशक्तिसन्दीपिताऽथ चित् ।
सङ्कल्पमनुधावन्ती प्रयाति कलनापदम् ॥ २० ॥
विकल्पकलिताकारं देशकालक्रियास्पदम् ।
चितो रूपं महाबाहो क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते ॥ २१ ॥
क्षेत्रं शरीरमित्याहुस्तदसौ वेत्त्यखण्डितम् ।
सबाह्याभ्यन्तरं तेन क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते ॥ २२ ॥
वासनां कलयन् सोऽपि यात्यहङ्कारतां पुनः ।
अहङ्कारोऽपि निर्णेता कलङ्को बुद्धिरुच्यते ॥ २३ ॥

सद्रूप आत्मासे पृथक् कल्पना अवस्तु ही है, इसलिए जैसे महार्णवसे व्यतिरिक्त लहरी महार्णवरूप ही है, वैसे ही शीघ्र परमात्मामें प्राप्त हुई अनन्त कल्पना चित् ही है ॥ १७ ॥

जैसे कटक-केयूरोंसे सुवर्णका भेद विलक्षण है वैसे ही अंशकल्पनाके अधीन सम्पूर्ण जगद्रूप अपने स्वरूपकी भावना कर रहे चैतन्यका भेद विलक्षण है ॥ १८ ॥

जैसे दीपकसे उत्पन्न हुए दीपकोंका देश, काल और कलामात्रसे भेद है वैसे ही चित्का भी उपाधिस्वरूपसे प्राप्त हुआ आत्मभेद है ॥ १९ ॥

देश, काल और क्रियाकी शक्तिसे संदीपित हुआ चैतन्य सङ्कल्पका अनुसरण करता हुआ कल्पनाको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

इसीलिए क्षेत्रोपाधिकल्पनाके अधीन चैतन्यका क्षेत्रज्ञत्व प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—**'विकल्प०'** इत्यादिसे ।

हे महाबाहो, विकल्पोंसे जिसने आकारका ग्रहण किया है एवं देश, काल और क्रियाके अधीन जो चैतन्यका रूप है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥ २१ ॥

शरीर क्षेत्र कहलाता है, उसको भली भाँति बाहर-भीतर सर्वतोभावेन वह जानता है, इसलिए वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥ २२ ॥

वासनाओंकी कल्पना करता हुआ वह क्षेत्रज्ञ अहङ्कारताको प्राप्त होता है ।

बुद्धिः सङ्कल्पकलिता प्रयाति मनसः पदम् ।
मनो घनविकल्पं तु गच्छतीन्द्रियतां शनैः ॥ २४ ॥
पाणिपादमयं देहमिन्द्रियाणि विदुर्बुधाः ।
देहोऽसौ ज्ञायते लोके सूयतेऽपि च जीवति ॥ २५ ॥
एवं जीवो हि सङ्कल्पवासनारज्जुवेष्टितः ।
दुःखजालपरीतात्मा क्रमादायाति चित्तताम् ॥ २६ ॥
क्रमेण पाकवशतः फलमेति यथाऽन्यताम् ।
अवस्थयैव नाऽऽकृत्या जीवो मलवशात्तथा ॥ २७ ॥
जीवोऽहङ्कारतां प्राप्तस्त्वहङ्कारश्च बुद्धिताम् ।
सङ्कल्पजालकलितां मनस्तां बुद्धिरागता ॥ २८ ॥
मनो हि सङ्कल्पमयं संस्थाग्रहणतत्परम् ।
प्रतियोगिव्यवच्छिन्नप्राप्ति सत्यैरपीहितैः ॥ २९ ॥

निश्चय करनेवाला अतएव अन्य कल्पनारूप कलङ्कसे युक्त अहंकार ही बुद्धि कहलाता है। सङ्कल्पयुक्त बुद्धि मनकास्थान ग्रहण करती है। प्रचुर विकल्पोंसे युक्त मन धीरे-धीरे इन्द्रियताको प्राप्त होता है, इन्द्रियोंको ही विद्वान् लोग हस्त, पाद आदिरूप देह कहते हैं, यह शरीर लोकमें जाना जाता है, उत्पन्न होता है और जीवित रहता है ॥ २३—२५ ॥

इस प्रकार संकल्पवासनारूपी रस्सीसे परिवेष्टित और विविध दुःखोंसे व्याप्त जीव ही क्रमसे बाह्य पदार्थोंके चिन्तनकी सामर्थ्यको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

जैसे फल पाकवश क्रमशः रूप, रस आदि गुणोंके परिवर्तनसे ही अन्य-रूपताको प्राप्त होता है, आकृतिसे (बदरत्व आदि जातिसे) अन्यरूपताको प्राप्त नहीं होता वैसे ही क्षेत्रज्ञ भी अविद्यारूप मलके परिपाकवश विलक्षणताको प्राप्त होता है। अपरिणामी चित्स्वभावसे वैलक्षण्यको प्राप्त नहीं होता ॥ २७ ॥

इस प्रकार क्षेत्रसिद्धि कहकर जीवका अहङ्कार आदि क्षेत्रमें तादात्म्यसंसर्गा-ध्यासरूप बन्ध क्रमसे कहते हैं—**'जीवः'** इत्यादिसे ।

जीव अहङ्कारताको प्राप्त होता है। अहङ्कार बुद्धिताको प्राप्त होता है। बुद्धि संकल्प-विकल्प जालोंसे पूर्ण चित्तताको प्राप्त होती है। चित्त स्त्री, पुत्र आदिके शरीराकारके ग्रहणमें यानी तदाकार वृत्ति द्वारा संस्काररूपसे धारणमें तत्पर, संकल्प-

इच्छाद्याः शक्तयश्चेतो गावो वृषमिवोन्मदम् ।
अनुधावन्ति दोषाय सरितः सागरं यथा ॥ ३० ॥
इति शक्तिमयं चेतो घनाहङ्कारतां गतम् ।
कोशकारक्रुमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम् ॥ ३१ ॥
स्वसङ्कल्पानुसन्धानात् पाशैरिव नयन् वपुः ।
कष्टमस्मिन् स्वयं बन्धमेत्याऽऽत्मा परितप्यते ॥ ३२ ॥
बद्धमस्मीति कलयद्विद्यातत्त्वं जहच्छनैः ।
अविद्यां जनयत्यन्तर्जगज्जङ्गलराक्षसीम् ॥ ३३ ॥
स्वसङ्कल्पिततन्मात्रज्वालाभ्यन्तरवर्ति च ।
परां विवशतामेति शृङ्खलाबद्धसिंहवत् ॥ ३४ ॥

विकल्पमय एवं सफल और विफल मनोरथोंसे परिच्छिन्न तुच्छ विषयोंमें आसक्त होता है ॥ २८, २९ ॥

उक्त विषयोंमें आसक्ति होनेपर उन विषयोंका पुनः पुनः स्मरण करता हुआ चित्तभावको प्राप्त हुआ चैतन्य राग, द्वेष आदि दोषोंसे अभिभूत होता है, ऐसा कहते हैं—'**इच्छाद्याः**' इत्यादिसे ।

जैसे गौएँ मदोन्मत्त साँड़के पीछे पीछे दौड़ती हैं और जैसे नदियाँ सागरकी ओर दौड़ती हैं वैसे ही इच्छा आदि शक्तियाँ दोषके लिए ही चित्तका अनुगमन करती हैं ॥ ३० ॥

इस प्रकार राग, द्वेष आदि शक्तिसे सम्पन्न मन शाखा-प्रशाखारूपसे अभिमानकी वृद्धि होनेके कारण घन अहंकारताको प्राप्त होकर रेशमके कीड़ेके समान स्वेच्छासे बन्धनको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

बंशी, जाल आदि फन्दोंसे अपने शरीरको मृत्युके लिए प्राप्त करा रहे मछली आदिकी तरह अपने संकल्पोंके अनुसंधानसे कष्टकारी बन्धनको स्वयं प्राप्त होकर मन इस लोकमें परितापको प्राप्त होता है, मैं बँधा हूँ, इसे परमार्थ सत्य समझता हुआ, धीरे-धीरे पारमार्थिक आत्मरूपका त्याग करता हुआ यानी स्वप्नमें भी आत्मरूपका विचार न करता हुआ वह जगद्रूपी जङ्गलकी राक्षसीके तुल्य जन्म, मरण आदिरूप भ्रान्तिपरम्पराकी उत्पत्ति करता है ॥ ३२,३३ ॥

स्वयं सङ्कल्पित शब्द आदि विषयरूप इन्धनसे युक्त राग आदिरूप ज्वालाओंके

विचित्रकार्यकर्तृत्वमाहरद् वासनावशात् ।
स्वेच्छामात्रानुरचिता दशाश्चाऽनुपतत्तथा ॥ ३५ ॥
क्वचिन्मनः क्वचिद् बुद्धिः क्वचिज्ज्ञानं क्वचित्क्रियाः ।
क्वचिदेतदहङ्कारः क्वचित् पुर्यष्टकं स्मृतम् ॥ ३६ ॥
क्वचित् प्रकृतिरित्युक्तं क्वचिन्मायेति कल्पितम् ।
क्वचिन्मलमिति प्रोक्तं क्वचित्कर्मेति संस्थितम् ॥ ३७ ॥
क्वचिद्बन्धमिति ख्यातं क्वचिच्चित्तमिति स्फुटम् ।
प्रोक्तं क्वचिदविद्येति क्वचिदिच्छेति संस्थितम् ॥ ३८ ॥
तदेतदाबद्धमिह चित्तं राघव दुःखितम् ।
तृष्णाशोकसमाविष्टं रागायतनमाततम् ॥ ३९ ॥
जरामरणमोहान्तर्भवभावनया हतम् ।
ईहितानीहितैर्ग्रस्तमविद्यारागरञ्जितम् ॥ ४० ॥

मध्यमें स्थित मन श्रृङ्खलाओंसे बँधे हुए सिंहके समान बड़ी विवशताको प्राप्त होता है। वासनावश विहित-निषिद्धरूप विविध कर्मोंकी कर्तृताका बड़े प्रयत्नसे संपादन करता हुआ तथा नाना योनिरूप नरक आदि दुर्दशाओंको और आगे कही जानेवाली एकमात्र अपनी इच्छासे रचित मनन आदि दशाओंको प्राप्त हो रहा मन बड़ी विवशताको प्राप्त होता है ॥ ३४,३५ ॥

वही मनन आदि वृत्तियोंके भेदसे मन आदि शब्दोंका भाजन होता है, अन्य नहीं, ऐसा कहते हैं—**'क्वचित्'** इत्यादिसे।

कहींपर वह मन कहा गया है, कहींपर बुद्धि, कहींपर ज्ञान तथा कहींपर क्रिया कहा गया है। कहींपर अहङ्कार, कहींपर पुर्यष्टक, कहींपर प्रकृति तथा कहींपर माया नामसे उसकी कल्पना हुई है। कहींपर वह मल कहा गया है, कहींपर कर्मरूपसे स्थित है, कहींपर वह बन्धनामसे प्रसिद्ध है और कहींपर चित्तनामसे पुकारा गया है। कहींपर अविद्या नामसे और कहींपर इच्छारूपसे वह स्थित है ॥ ३६–३८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस लोकमें तृष्णा और शोकसे व्याप्त, रागका विशाल आयतन, दुःखित यह चित्त ही आबद्ध है, आत्मा आबद्ध नहीं है। यही जरा, मरण, मोहरूप मानसिक भावनाओंसे व्याप्त है, ईहित और अनीहितोंसे ग्रस्त है, अविद्या-

इच्छासंक्षुभिताकारं कर्मवृक्षवनाङ्कुरम् ।
सुविस्मृतोत्पत्तिपदं कल्पितानर्थकल्पितम् ॥ ४१ ॥
कोशकारवदाबद्धं शोकाकारपदं गतम् ।
तन्मात्रवृन्दावयवमनन्तनरकातपम् ॥ ४२ ॥
स्वदृश्यमपि शैलेन्द्रसमभारभयावहम् ।
जरामरणशाखाढ्यं संसारविषदुर्द्रुमम् ॥ ४३ ॥
इमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम् ।
दधदन्तः फलैर्हीनं वटधाना वटं यथा ॥ ४४ ॥
चिन्तानलशिखादग्धं कोपाजगरचर्वितम् ।
कामाब्धिकल्लोलहतं विस्मृतात्मपितामहम् ॥ ४५ ॥
मृगं यूथादिव भ्रष्टं शोकोपहतचेतनम् ।
पतङ्गकमिव ज्वालादग्धं विषयपावके ॥ ४६ ॥
छिन्नमूलमिवाऽम्भोजं परमां म्लानिमागतम् ।
छिन्नाङ्गमात्मनः स्थानाद्विशेषासंगदुःस्थितम् ॥ ४७ ॥

रूपी रंगसे रँगा है, स्वेच्छासे इसका आकार क्षोभको प्राप्त हुआ है, कर्मरूपी वृक्षराशियोंका यह अङ्कुर है, अपनी उत्पत्तिके निमित्तभूत परमात्मतत्त्वको भली भाँति भूल चुका है, अनेक अनर्थकारी कल्पनाओंकी इसने कल्पना कर रक्खी है, यह रेशमके कीड़ेके समान अपने-आप बन्धनको प्राप्त हुआ है, और शोकमय पदको प्राप्त हुआ है; रूप, रस आदि तन्मात्राके समूहोंसे रचित है तथा अनन्त नरकोंके दुःखोंसे व्याप्त है । यद्यपि यह अनात्मरूपसे देखनेके योग्य है तथापि दुर्विचारवश इसका उद्धार न होनेके कारण यह शैलराजके तुल्य गुरुतासे भीषण है, जरा, मृत्युरूप शाखाओंसे भरपूर है एवं संसाररूपी विषमय फलका दुष्ट वृक्ष है । आशारूपी पाशोंका निर्माण करनेवाले इस समस्त संसारको, जो कि पुरुषार्थोंसे हीन है, जैसे वटका बीज फलसे रहित वटवृक्षको धारण करता है, वैसे ही अपने भीतर धारण कर रहे, दुश्चिन्तारूपी अग्निज्वालाओंसे झुलसे हुए, कोपरूपी अजगरसे डँसे हुए, कामरूपी समुद्रकी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे विताडित, अपने आत्मस्वरूप मूलकारणको भूले हुए, यूथसे बिछुड़े हुए मृगके समान शोकसे अचेत हुए, विषयरूपी वह्निमें फतींगेके समान ज्वालाओंसे जले हुए, जिसकी जड़ कट गई हो, ऐसे कमलकी

विषयादिषु मध्यस्थं चित्ररूपेषु शत्रुषु ।
दशास्वेतास्वनन्तासु लुठितं सङ्कटास्विति ॥ ४८ ॥
दुःखे निपतितं घोरे विहङ्गः सागरे यथा ।
स्वबन्धास्थं जगज्जाले शून्ये गन्धर्वपत्तने ॥ ४९ ॥
उह्यमानमनास्थाब्धौ मनो विषयविद्रुतम् ।
उद्धराऽमरसङ्काश मातङ्गमिव कर्दमात् ॥ ५० ॥
बलीवर्दवदामग्नं मनो मदनपल्वले ।
आलूनशीर्णावयवं बलाद्राम समुद्धर ॥ ५१ ॥
शुभाशुभप्रसरपराहताकृतौ
ज्वलज्जरामरणविषादमूर्छिते ।
व्यथेह यस्य मनसि भो न जायते
नराकृतिर्जगति स राम राक्षसः ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे जीवावतरणं नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

तरह अत्यन्त म्लानताको प्राप्त हुए, अपने निवासभूत देहसे मृत्यु द्वारा अपहरण करनेपर तत्तत् देहोंके अभिमानके विच्छेदसे छिन्न-भिन्न अङ्गवाले, अतएव तत्-तत् देहोंमें आसक्तिसे अत्यन्त पीड़ित एवं विषय, इन्द्रिय, देह आदिरूप भाँति-भाँतिके रूप धारण कर अपने विनाशमें तत्पर हुए शत्रुओंके मध्यमें उनपर विश्वास करनेके कारण स्थित, पहले कही गई संकटाकीर्ण इन अनन्त दशाओंमें भटके हुए, जैसे पक्षी सागरमें गिरा हो वैसे ही घोर दुःखमें गिरे हुए, गन्धर्व नगरके तुल्य शून्य इस जगज्जालमें अपने बन्धनके हेतुभूत देह आदिपर अत्यन्त स्नेह करनेवाले, तत्त्वज्ञान और उसके साधनके अनादररूपी समुद्रमें तैर रहे एवं विषय-वासनासे पीडित मनका, हे देवतुल्य श्रीरामचन्द्रजी ! कीचड़से हाथीके समान, आप उद्धार कीजिए ॥३९,५०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, कामरूपी छोटी तलैयामें बैलके समान खूब फँसे हुए तथा चिरकालतक विषयभोगोंसे पुण्यक्षय होनेपर परलोक जानेके साधनोंका अभाव होनेसे कटे हुए तथा शिथिल हस्त, पाद आदि अवयववाले मनका आप प्रयत्नसे उद्धार कीजिए ॥ ५१ ॥

पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान और उसके साधनोंमें अनादर करनेवाले पुरुषकी निन्दा द्वारा इस सर्गका उपसंहार करते हैं—'**शुभाशुभ०**' इत्यादिसे ।

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं जीवाश्रितो भावा भवभावनयोहिताः ।
ब्रह्मणः कल्पिताकाराल्लक्षशोऽप्यथ कोटिशः ॥ १ ॥
असंख्याताः पुरा जाता जायन्ते चाऽपि वाऽद्य भोः ।
उत्पतिष्यन्ति चैवाऽम्बुकणौघा इव निर्झरात् ॥ २ ॥
स्ववासनादशावेशादाशाविवशतां गताः ।
दशास्वतिविचित्रासु स्वयं निगडिताशयाः ॥ ३ ॥

मनके काम्य शुभकर्म और निषिद्ध कर्मोंके आधिक्यसे मलिन स्वरूप-वाले एवं खूब प्रज्वलित हो रहे जरा, मृत्यु और विषादोंसे मूर्छित होनेपर जिसको इस जगत्में क्लेश नहीं होता वह मनुष्य नराकृतिमें छिपा हुआ राक्षस है ॥५२॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

तेंतालीसवाँ सर्ग

[जीवोंकी कर्मगतिका विस्तारसे वर्णन एवं विवेक आदिके अत्यन्त दुर्लभ होनेसे किन्हीं-किन्हींकी मुक्ति होती है, यह वर्णन]

इस प्रकार मनकी स्वबन्धकताका प्रकार कह कर उस मनसे उपहित चिद्रूप जीवोंकी जबतक मोक्ष न हो तबतक संसारस्थितिके प्रकारकी विचित्रताओंका वर्णनकरनेवाले श्रीवसिष्ठजी संगतिप्रदर्शनके लिए पूर्वोक्त जीवोत्पत्तिका दूसरे प्रकारसे अनुवाद करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार चित्के औपाधिक विभावरूप जीव संसारवासनासे लाखों और करोड़ोंकी संख्यामें प्रवाहित हैं। पूर्व वासनाके अनुसार कल्पित आकारवाले ब्रह्मसे पहले असंख्य जीव उत्पन्न हो चुके हैं, आज भी उत्पन्न हो रहे हैं और भविष्यमें भी उत्पन्न होंगे, उससे वे यों उत्पन्न होते हैं जैसे झरनेसे जलबिन्दुओंकी राशियाँ उत्पन्न होती हैं ॥ १, २ ॥

अपनी वासनामय दशाके आवेशसे वे आशाके वशवर्ती हुए हैं और इन अतिविचित्र दशाओंमें स्वयं आबद्ध हुए हैं ॥ ३ ॥

अनारतं प्रतिदिशं देशे देशे जले स्थले ।
जायन्ते वा म्रियन्ते वा बुद्बुदा इव वारिणि ॥ ४ ॥
केचित् प्रथमजन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः ।
केचिद्वाऽजन्मसंख्याकाः केचिद् द्वित्रिभवान्तराः ॥ ५ ॥
भविष्यज्जातयः केचित् केचिद्भूतभवोद्भवाः ।
वर्तमानभवाः केचित् केचित्त्वभवतां गताः ॥ ६ ॥
केचित् कल्पसहस्राणि जायमानाः पुनः पुनः ।
एकामेवाऽऽस्थिता योनिं केचिद्योन्यन्तरं श्रिताः ॥ ७ ॥
केचिन्महादुःखसहाः केचिदल्पोदयाः स्थिताः ।
केचिदत्यन्तमुदिताः केचिदर्कादिवोदिताः ॥ ८ ॥
केचित्किन्नरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः ।
केचिदर्केन्द्रवरुणास्त्र्यक्षाधोक्षजपद्मजाः ॥ ९ ॥
केचित् कूष्माण्डवेतालयक्षरक्षःपिशाचकाः ।
केचिद् ब्राह्मणभूपाला वैश्यशूद्रगणाः स्थिताः ॥ १० ॥

निरन्तर हर एक दिशामें, प्रत्येक देशमें, जलमें और स्थलमें जलमें बुद्बुदोंकी तरह वे या तो उत्पन्न होते है या मरते हैं ॥ ४ ॥

किन्हींने इस कल्पमें एक ही जन्म प्राप्त किया है और किन्हींके सौसे भी अधिक जन्म हो गये हैं। किन्हींके जन्मोंकी संख्या ही नहीं है, किन्हींके दो या तीन जन्मान्तर हुए हैं, किन्हींके जन्म आगे होनेवाले हैं यानी इस कल्पमें अभी उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, किन्हींके जन्म बीत चुके हैं यानी जीवन्मुक्त हैं। किन्हींके जन्म हो रहे हैं और कोई विदेहमुक्तिको प्राप्त हो गये हैं, कोई हजारों कल्पोंसे बराबर उत्पन्न हो रहे हैं, कोई एक ही योनिमें स्थित हैं, कोई अन्यान्य योनियोंको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ५–७ ॥

कोई बड़े-बड़े क्लेशोंको (नरकोंको) सहते हैं, कोई अल्प सुखवाले (मनुष्य) हैं, कोई अत्यन्त प्रसन्न (देवगण) हैं और कोई मानों सूर्यसे उदित हुए हैं यानी (सत्यलोकवासी) हैं ॥ ८ ॥

कोई किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर तथा नागोंकी योनियोंमें हैं और कोई सूर्य, इन्द्र, वरुण हैं तथा कोई शिव, विष्णु, ब्रह्मा हैं ॥ ९ ॥

कोई कूष्माण्ड, वेताल, यक्ष, राक्षस पिशाचरूपसे स्थित हैं तथा कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके समूहरूपसे स्थित हैं ॥ १० ॥

केचिच्छ्वपचचाण्डालकिरातावेशपुष्कसाः ।
केचित्तृणौषधी केचित् फलमूलपतङ्गकाः ॥ ११ ॥

केचिच्चित्रलतागुल्मतृणोपलदृशोऽभितः ।
केचित् कदम्बजम्बीरशालतालतमालकाः ॥ १२ ॥

केचिद् विभवसंसारमन्त्रिसामन्तभूमिपाः ।
केचिच्चीराम्बराच्छन्ना मुनिमौनमुपस्थिताः ॥ १३ ॥

केचिद् भुजङ्गगोनासक्रिमिकीटपिपीलिकाः ।
केचिन्मृगेन्द्रमहिषमृगाजचमरैणकाः ॥ १४ ॥

केचित् सारसचक्राह्वबलाकाबककोकिलाः ।
केचित् कमलकह्लारकुमुदोत्पलतां गताः ॥ १५ ॥

केचित् कलभमातङ्गवराहवृषगर्दभाः ।
केचिद् द्विरेफमशकाः पुत्तिकादंशवंशजाः ॥ १६ ॥

कोई म्लेच्छ, चाण्डाल और किरातकी योनिमें उत्पन्न अधम जातियोंमें स्थित हैं, कोई तृण और औषधिके रूपमें विद्यमान हैं और कोई फल, मूल तथा फतींगोके रूपमें स्थित हैं ॥ ११ ॥

कोई भाँति-भाँतिकी लताओं, झाड़ियों, तिनकों और पर्वतोंके रूपसे चारों ओर विद्यमान हैं एवं कोई कदम्ब, नींबू , शाल, ताल और तमालरूपसे स्थित हैं ॥ १२ ॥

कोई अपने वैभवसे संसारमें भ्रमण करनेवाले मन्त्री, सामन्त और राजाके रूपमें विद्यमान हैं, तो कोई वस्त्र न मिलनेके कारण अथवा तपस्याके लिए वल्कल वस्त्रोंसे आच्छन्न हो मुनियोंके मौनको प्राप्त हैं ॥ १३ ॥

कोई साँप, अजगर, कीड़े, मकोड़े और चींटियोंके रूपमें स्थित हैं, कोई सिंह, भैंस, मृग, बकरे, चमरी गाय और खरगोशके रूपमें हैं ॥ १४ ॥

कोई सारस, चकोर, बलाका, बक, कोकिलके रूपमें हैं, तो कोई तो कमल, कह्लार (श्वेतकमल), कुमुद और उत्पलके रूपमें स्थित हैं ॥ १५ ॥

कोई हाथीके बच्चे, हाथी, बराह, बैल, गदहेके रूपमें हैं, तो कोई भँवर, मच्छर, डाँसकी योनियोंमें उत्पन्न हुए हैं ॥ १६ ॥

केचिदापद्दलाक्रान्ताः केचित् संपदमागताः ।
केचित्स्थिताः स्वर्गपुरे केचिन्नरकमास्थिताः ॥ १७ ॥
ऋक्षचक्रगताः केचिद् वृक्षरन्ध्रगताः परे ।
वातभूताः स्थिताः केचित् केचिद्व्योमपदे स्थिताः ॥ १८ ॥
सूर्यांशुषु स्थिताः केचित् केचिदिन्द्वंशुषु स्थिताः ।
केचित्तृणलतागुल्मरसस्वादुष्ववस्थिताः ॥ १९ ॥
जीवन्मुक्ता भ्रमन्तीह केचित् कल्याणभाजनाः ।
चिरमुक्ताः स्थिताः केचिन्नूनं परिणताः परे ॥ २० ॥
केचिच्चिरेण कालेन भविष्यन्मुक्तयः शिवाः ।
केचिद् द्विषन्ति चिद्भावाः केवलीभावमात्मनः ॥ २१ ॥
केचिद्विशालाः ककुभः केचिन्नद्यो महारयाः ।
केचित् स्त्रियः कान्तदृशः केचित् पण्डनपुंसकाः ॥ २२ ॥

कोई बड़ी-बड़ी आपत्तियोंसे आक्रान्त हैं, तो कोई बड़े समृद्धशाली हैं, कोई स्वर्गमें विराजमान हैं, तो कोई नरकोंमें पड़े हैं ॥ १७ ॥

कोई तारासमूहमें स्थित हैं, तो दूसरे वृक्षोंके छिद्रोंमें बैठे हैं, कोई आवह, प्रवह आदि वायुओंके अधिकारको प्राप्त हैं, तो कोई आकाशमें अधिकार जमाये हैं ॥ १८ ॥

कोई सूर्यकी किरणोंमें (रस खींचनेके अधिकारमें) स्थित हैं, तो कोई चन्द्रमाकी किरणोंमें (औषधि आदिकी वृद्धि करनेमें) लगे हैं और कोई तृण, लता और झाड़ीका रस, जहाँपर स्वादु है, ऐसे पशु आदिके योग्य विषयलम्पटतामें संलग्न हैं ॥ १९ ॥

कोई मोक्षके समुचित पात्र जीवन्मुक्त हो यहाँपर भ्रमण करते हैं, कोई चिरकालसे मुक्त होकर स्थित हैं और कोई परमात्मभावको प्राप्त हैं यानी विदेह-मुक्त हैं ॥ २० ॥

किन्हीं कल्याणभाजन जीवोंकी चिरकालमें मुक्ति होनेवाली है, तो कोई जीव भोगलम्पट होकर आत्माके कैवल्यका द्वेष करते हैं ॥ २१ ॥

कोई विशाल दिक्पाल देवता हैं, तो कोई महावेगवाली नदियाँ हैं । कोई मनोहर नेत्रवाली स्त्रियाँ हैं, तो कोई नपुंसक हैं ॥ २२ ॥

केचित् प्रबुद्धमतयः केचिज्जडतराशयाः ।
केचिज्ज्ञानोपदेष्टारः केचिदात्तसमाधयः ॥ २३ ॥
जीवाः स्ववासनावेशविवशाशयतां गताः ।
एतास्वेतास्ववस्थासु संस्थिता बद्धभावनाः ॥ २४ ॥
विहरन्ति जगत् केचिन्निपतन्त्युत्पतन्ति च ।
कन्दुका इव हस्तेन मृत्युनाऽविरतं हताः ॥ २५ ॥
आशापाशशताबद्धा वासनाभावधारिणः ।
कायात् कायमुपायान्ति वृक्षाद्वृक्षमिवाऽण्डजाः ॥ २६ ॥
अनन्तानन्तसङ्कल्पकल्पनोत्पादमायया ।
इन्द्रजालं वितन्वाना जगन्मयमिदं महत् ॥ २७ ॥
तावद् भ्रमन्ति संसारे वारिण्यावर्तराशयः ।
यावन्मूढा न पश्यन्ति स्वमात्मानमनिन्दितम् ॥ २८ ॥

किन्हीं लोगोंकी बुद्धि अत्यन्त प्रबुद्ध है, तो किन्हींका हृदय अत्यन्त जड़ है। कोई ज्ञानका उपदेश देनेवाले हैं, तो किन्हींने समाधि ले रक्खी है ॥ २३ ॥

ये सभी जीव संसारकी अनर्थकारिणी वासनासे ही हुए हैं, इसलिए वासनाका ही समूल उच्छेद करना चाहिये, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'जीवाः' इत्यादिसे।

अपनी वासनाके आवेशसे विवश बुद्धिवाले जीव इन-इन उक्तानुक्त सभी अवस्थाओंमें बद्धभावनावाले होकर स्थित हैं। इनमें कुछ तो पृथ्वीमें विहार करते हैं, कुछ नरकमें गिरते हैं और कुछ स्वर्गमें जाते हैं। सचमुच मृत्युसे निरन्तर आहत हुए इन लोगोंकी अवस्था हाथसे पुनः-पुनः ताड़ित गेंदकी तरह है ॥ २४,२५ ॥

सैकड़ों आशारूपी फन्दोंसे बँधे हुए, तथा वासनारूप भावी देहोंको धारण करनेवाले जीव जैसे पक्षी एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर जाते हैं वैसे ही एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाते हैं ॥ २६ ॥

अविद्यासे, जो कि अनन्त विषयोंमें अनन्त संकल्प-कल्पनाओंकी उत्पत्तिमें हेतु है, इस जगद्रूप महान् इन्द्रजालका विस्तार कर रहे ये मूढ़ जीव जलमें आवर्तोंकी तरह संसारमें तबतक भटकते हैं, जबतक अनिन्दित अपने स्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर लेते ॥ २७, २८ ॥

दृष्ट्वाऽऽत्मानमसत्त्यक्त्वा सत्यामासाद्य संविदम् ।
कालेन पदमागत्य जायन्ते नेह ते पुनः ॥ २९ ॥
भुक्त्वा जन्मसहस्राणि भूयः संसारसङ्कटे ।
पतन्ति केचिदबुधाः संप्राप्याऽपि विवेकिताम् ॥ ३० ॥
केचिच्छक्तत्वमप्युच्चैः प्राप्य तुच्छतया धिया ।
पुनस्तिर्यक्त्वमायान्ति तिर्यक्त्वान्नरकानपि ॥ ३१ ॥
केचिन्महाधियः सन्त उत्पद्य ब्रह्मणः पदात् ।
तदैव जन्मनैकेन तत्रैवाऽऽशु विशन्त्यलम् ॥ ३२ ॥
ब्रह्माण्डेष्वितरेष्वन्ये तेष्वन्ये जीवराशयः ।
प्रयान्ति पद्मोद्भवतामन्ये च हरतामपि ॥ ३३ ॥

यदि कोई कहे, विवेकी पुरुषोंका आत्मसाक्षात्कारसे क्या लाभ होता है ? इसपर कहते हैं—'**दृष्ट्वा**' इत्यादिसे ।

आत्मसाक्षात्कारके अनन्तर असत्का त्यागकर सत्य ज्ञानको प्राप्तकर भूमिकाओंकी दृढ़ताके क्रमसे परम पदको प्राप्त होकर विवेकी पुरुष इस संसारमें फिर उत्पन्न नहीं होते ॥ २९ ॥

विवेकशून्य लोगोंकी जो गति होती है, उसे कहते हैं—'**भुक्त्वा**' इत्यादिसे ।

कोई अविवेकी लोग हजारों जन्मोंका भोगकर विवेकको प्राप्त करके भी फिर इस संसाररूपी संकटमें गिरते हैं । कुछ लोग देव, गन्धर्व, ब्राह्मण आदि उत्तम जन्म, उत्तम देश, उत्तम काल, उत्तम प्रतिभा, विनय, सत्संगति आदि सम्पत्तिको प्राप्त करके भी तुच्छ विषयोंमें लम्पटतावश अपनी बुद्धिसे ही फिर तिर्यक् योनिको प्राप्त होते हैं और तिर्यक् योनियोंसे नरकोंको भी प्राप्त होते हैं ॥ ३०, ३१ ॥

कोई महामति सनक आदि महात्मा पुरुष ब्रह्मपदसे उत्पन्न होकर उसी कल्पमें एक ही जन्म द्वारा मोक्षरूप ब्रह्मपदमें ही शीघ्र प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

कोई जीवराशियाँ अपने उत्पत्तिस्थानरूप ब्रह्माण्डोंसे अन्य ब्रह्माण्डोंमें प्राप्त होती हैं, कोई अपने उत्पत्तिस्थानरूप ब्रह्माण्डोंमें ही उत्पन्न होती हैं, कोई हिरण्यगर्भस्वरूपताको प्राप्त होती हैं और कोई शङ्करस्वरूपताको प्राप्त होती हैं ॥ ३३ ॥

अन्ये प्रयान्ति तिर्यक्त्वमन्ये च सुरतामपि ।
अन्येऽपि नागतां राम यथैवेह तथैव हि ॥ ३४ ॥
यथेदं हि जगत् स्फारं तथाऽन्यानि जगन्त्यपि ।
विद्यन्ते समतीतानि भविष्यन्ति च भूरिशः ॥ ३५ ॥
अन्येनाऽन्येन चित्रेण क्रमेणाऽन्येन हेतुना ।
विचित्राः सृष्टयस्तेषामापतन्ति पतन्ति च ॥ ३६ ॥
कश्चिद्गन्धर्वतां याति कश्चिद्गच्छति यक्षताम् ।
कश्चित् प्रयाति सुरतां कश्चिदायाति दैत्यताम् ॥ ३७ ॥
येनैव व्यवहारेण ब्रह्माण्डेऽस्मिन् जनाः स्थिताः ।
तेनैवाऽन्येषु तिष्ठन्ति सन्निवेशविलक्षणाः ॥ ३८ ॥
स्वस्वभाववशावेशादन्योन्यपरिघट्टनैः ।
सृष्टयः परिवर्तन्ते तरङ्गिण्या इवोर्मयः ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, कोई जीवराशियाँ तिर्यक् योनिको प्राप्त होती हैं, तो कोई देवत्वको प्राप्त होती हैं, कोई नागयोनिको (सर्प या गजकी योनिको) प्राप्त होती हैं, तो कोई जैसे इस ब्रह्माण्डमें थीं वैसे ही दूसरे ब्रह्माण्डोंमें भी होती हैं ॥ ३४ ॥

जैसे यह विशाल ब्रह्माण्ड है वैसे ही और विशाल ब्रह्माण्ड भी बहु-तसे विद्यमान हैं, पहले थे और आगे होंगे ॥ ३५ ॥

अन्यान्य विचित्र क्रमसे और अन्यान्य विचित्र हेतुओंसे उनकी विचित्र सृष्टियाँ आविर्भूत होती हैं और तिरोहित होती हैं ॥ ३६ ॥

इस ब्रह्माण्डकी तरह अन्यान्य ब्रह्माण्डोंमें भी कर्मोंकी विचित्रतासे जीवोंकी गति विचित्र ही है, इस आशयसे कहते हैं—**'कश्चित्'** इत्यादिसे ।

उन ब्रह्माण्डोंमें भी कोई गन्धर्व होता है, तो कोई यक्षयोनिमें उत्पन्न होता है, कोई देवत्वको प्राप्त होता है, तो कोई दैत्यताको प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

इस ब्रह्माण्डमें लोग जिस मनुष्य आदिके उचित व्यवहारसे स्थित हैं, उसी व्यवहारसे अन्यान्य ब्रह्माण्डोंमें भी वे स्थित हैं । केवल अन्य द्वीपवासी लोगोंके समान उनकी आकृतिमें वैलक्षण्य है ॥ ३८ ॥

यदि कोई कहे, भले ही ऐसा हो, फिर भी उत्तमता, अधमता आदिरूपसे और परस्पर स्नेह, विरोध आदिरूपसे उन जीवोंका सृष्टिपरिवर्तन कैसे होता है, इसपर कहते हैं—**'स्वस्वभाव०'** इत्यादिसे ।

आविर्भावतिरोभावैरुन्मज्जननिमज्जनैः ।
सृष्टयः परिवर्तन्ते तरङ्गिण्या इवोर्मयः ॥ ४० ॥
निर्यान्त्यविरतं तस्मात् परस्माज्जीवराशयः ।
अनिर्देश्याः स्वसंवेद्यास्तत्रैवाऽऽशु स्फुरन्ति च ॥ ४१ ॥
दीपादिवाऽऽलोकदृशः सूर्यादिव मरीचयः ।
कणास्तप्तायस इव स्फुलिङ्गा इव पावकात् ॥ ४२ ॥
कालादिवर्तवश्चित्रा आमोदाः कुसुमादिव ।
शीतला इव वर्षाणुपूराद्ब्धेरिवोर्मयः ॥ ४३ ॥
उत्पत्योत्पत्य कालेन भुक्त्वा देहपरम्पराम् ।
स्वत एव पदे यान्ति निलयं जीवराशयः ॥ ४४ ॥

जैसे परस्पर संघट्टनसे नदीकी लहरें परिवर्तित होती हैं वैसे ही सात्त्विक, राजस, तामस आदि स्वस्वभावके कारण तत्तदनुकूल व्यवहारमें आग्रहसे प्रवृत्त हुए उन जीवोंकी किसी एक विषयमें स्पर्धावश परस्पर विमर्दन द्वारा सृष्टियोंका परिवर्तन होता है ॥ ३९ ॥

जैसे नदीकी तरङ्गें आविर्भाव और तिरोभाव द्वारा उन्मज्जन और निमज्जनसे परिवर्तित होती हैं वैसे ही रजका आविर्भाव होनेपर सृष्टिका उन्मज्जन और सत्त्व तथा तमका निमज्जन होता है। तमके आविर्भावसे रजका तिरोभाव होनेपर सृष्टिका निमज्जन और बीचमें सत्त्वका आविर्भाव होनेपर पालन द्वारा सृष्टिका परिवर्तन होता है ॥४०॥

सत्त्व आदि गुणोंके अधीन अन्तःकरण आदिकी सृष्टिसे अन्तःकरणोपाधिक जीवके आविर्भावकी प्रसिद्धि है, इस आशयसे कहते हैं—**'निर्यान्ति'** इत्यादिसे।

उस परम पदसे अनिर्देश्य और स्वसंवेद्य जीवराशियाँ निरन्तर आविर्भूत होती हैं और उसीमें स्पष्टरूपसे व्यवहार करती हैं ॥ ४१ ॥

इस विषयमें श्रुति आदिमें प्रसिद्ध दृष्टान्त कहते हैं—**'दीपात्'** इत्यादिसे।

दीपसे आलोककी तरह, सूर्यसे किरणोंकी तरह, तपे हुए लोहेसे लोहकणोंकी तरह, अग्निसे चिनगारियोंकी तरह, समयसे विचित्र ऋतुओंकी तरह, फूलोंसे सुगन्धकी तरह, वर्षाके परमाणुओंसे तुषारकी तरह और समुद्रसे लहरोंकी तरह जीवराशियाँ बार-बार उत्पन्न हो-होकर चिरकालतक देहपरम्पराका भोगकर प्रलय-कालमें बीजभूत शान्त पदमें अपने-आप ही निलीन हो जाती हैं ॥ ४२–४४ ॥

अविरतमियमातता तथोच्चैर्भवति विनश्यति वर्धते मुधैव ।
त्रिभुवनरचनादिमोहमाया परमपदे लहरीव वारिराशौ ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे जीवनिचयस्थानोपदेशो नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

क्रमेणाऽनेन येनाऽऽप्ता जीवेन स्थितिरात्मनः ।
स कथं भगवन् देहं समादत्तेऽस्थिपञ्जरम् ॥ १ ॥

पूर्वोक्त जीव-जगत्‌की सृष्टिका संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—**'अविरतम्'** इत्यादिसे ।

यह त्रिभुवनरचना आदिकी भ्रान्तिरूप माया समुद्रमें लहरोंकी तरह परम पदमें निरन्तर व्यर्थ ही विस्तृत है, बढ़ती है, परिणामको प्राप्त होती है और नष्ट होती है ॥ ४५ ॥

तैंतालीसवाँ सर्ग

चौवालीसवाँ सर्ग

[मुक्ति और प्रलयमें समानता होनेपर भी इन दोनोंमें वैलक्षण्यका कथन एवं विरञ्चिरूप जीवके शरीरग्रहणक्रमका कथन]

प्रलयमें अपने-आप शान्त पदमें जीवराशियां विलीन होती हैं, ऐसा जो कहा है, उसमें श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—**'क्रमेण'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, 'उत्पत्योत्पत्य कालेन भुक्त्वा देहपरम्पराम्' इत्यादि आपके द्वारा उक्त क्रमसे जिस जीवने प्रलयमें परम पदमें अपनी स्थिति प्राप्त कर ली, वह मुक्त ही है, वह फिर अस्थिपञ्जररूप देहको कैसे ग्रहण करता है ? भाव यह है कि परम पदको प्राप्त पुरुषको यदि पुनः संसारप्राप्ति हो, तो

वसिष्ठ उवाच

पूर्वमेव मया प्रोक्तं राम किं नाऽवबुध्यसे ।
पूर्वापरविचारार्हा शेमुषी क्व गता तव ॥ २ ॥
यदिदं हि शरीरादि जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
आभासमात्रमेवैतदसत्स्वप्नमिवोत्थितम् ॥ ३ ॥
दीर्घस्वप्नो ह्ययं राम मिथ्यैवाऽनघ दृश्यते ।
द्विचन्द्रविभ्रमाकारं भ्रमान्तर्भ्रान्तशैलवत् ॥ ४ ॥

मुक्तिमें भी लोगोंकी अनास्था हो जायगी। यदि कहिये कि अज्ञानावृत प्राणीमें बीजताप्रयुक्त विशेषता हो सकती है, तो ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि सर्वथा बीजताशून्य वस्तु अज्ञानावरणमात्रसे बीज नहीं हो सकती, अन्यथा पत्थरके टुकड़े जो बीज नहीं है, केवल अज्ञानके आवरणसे अङ्कुरादिके प्रति बीज होने लगेंगे॥१॥

यद्यपि अज्ञानावृत शिलाके टुकड़ोंमें स्वसमान सत्तावाले (व्यावहारिक सत्तावाले) अङ्कुरके प्रति बीजता नहीं दिखाई देती है तथापि आवरणसमान सत्तावाले (प्रातिभासिक सत्तावाले) सर्प आदिके प्रति आवृत रज्जु आदिमें कारणता दिखाई ही देती है, अतएव मिथ्या बीजता केवलमात्र आवरणसे की गई है, यह यद्यपि विशेषरूपसे मैंने नहीं कहा, तथापि आपको अपनी बुद्धिसे ही तर्क द्वारा समझ लेना चाहिये, इसके लिए प्रश्नकी आवश्यकता नहीं है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—**'पूर्वमेव'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जो आपने मुझसे पूछा है, उसका उत्तर मैं पहले ही कर चुका हूँ। आपकी समझमें क्यों नहीं आ रहा है, आपकी पूर्वापरके विचारमें निपुण बुद्धि कहाँ चली गई है ? ॥ २ ॥

जो यह शरीर आदिरूप स्थावर-जङ्गम जगत् है, यह आभासमात्र ही (विवर्तमात्र ही) है, अतएव असत् स्वप्नके समान उदित हुआ है ॥ ३ ॥

यदि कोई कहे कि चिरकालतक स्थिर रहनेवाले ब्रह्माण्ड, भुवन आदि आभासमात्र कैसे हो सकते हैं ? तो इसपर कहते हैं—**'दीर्घ०'** इत्यादिसे ।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह प्रपञ्च दीर्घकालीन स्वप्नके समान, दो चन्द्रमाओंकी भ्रान्तिके समान एवं घूमनेके समय घूमते हुए पहाड़के समान मिथ्या ही दिखाई देता है ॥ ४ ॥

प्रशान्ताज्ञाननिद्रस्तु नूनं गलितभावनः ।
प्रबुद्धचेतास्संसारस्वप्नं पश्यन्न पश्यति ॥ ५ ॥
स्वभावकल्पितो राम जीवानां सर्वदैव हि ।
आमोक्षपदसंप्राप्ति संसारोऽस्त्यात्मनोऽन्तरे ॥ ६ ॥
जीवस्य तरलः काय आवर्तः पयसो यथा ।
यथा बीजेऽङ्कुरः स्फारः पल्लवः स्वाङ्कुरे यथा ॥ ७ ॥
पल्लवे च यथा पुष्पं पुष्पकोशे फलं यथा ।
यतः स कल्पनारूपो देहोऽस्ति मनसोऽन्तरे ॥ ८ ॥
बहुरूपतया राम यतोऽस्त्येकतमः स्फुटः ।
स एव प्रतिभासोऽस्य मनसः किल जायते ॥ ९ ॥

अज्ञानीके बीज रहनेके कारण पुनः संसारदर्शन होनेपर भी ज्ञानीकी पुनः संसारदर्शनकी प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा कहते हैं—**'प्रशान्ता०'** इत्यादिसे ।

जिस पुरुषकी अज्ञानरूपी नींद नष्ट हो गई और वासनाएँ शान्त हो गईं, ऐसा प्रबुद्धचित्तवाला पुरुष जीवन्मुक्तके व्यवहारके योग्य संसाररूपी स्वप्नको देखता हुआ भी परमार्थदृष्टिसे नहीं देखता है ॥ ५ ॥

बीजभूत अज्ञानमें भावी संसार मोक्ष होनेतक सूक्ष्मरूपसे रहता है, इस कारण भी बारबार जन्मकी उपपत्ति होती है, इस आशयसे कहते हैं—**'स्वभाव०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवोंके स्वभावसे कल्पित संसार, जिसकी मोक्ष होनेतक लगातार प्राप्ति होती है, अज्ञानात्माके अन्दर सदा ही विद्यमान रहता है ॥ ६ ॥

जैसे जलके भीतर आवर्त (भौंरी) रहता है, बीजके अन्दर अङ्कुर रहता है, अङ्कुरके अन्दर विशाल वृक्ष रहता है, वृक्षमें जैसे फूल रहता है और फूलके अन्दर जैसे फल रहता है वैसे ही जीवके अन्दर चञ्चल (विनाशी) शरीर रहता है।

शङ्का—जीवके अन्दर शरीर कैसे रहता है ?

समाधान—कारण कि मनके अन्दर कल्पनारूप देह सदा विद्यमान रहती है ॥ ७,८ ॥

मनके अन्दर देहकी सम्भावना कैसे है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—**'बहुरूपतया'** इत्यादिसे ।

स एवाऽऽशु भवत्येतन्मृत्पिण्डो घटकोपमः ।
आदिसर्गे पुरा कायः प्रतिभासोऽस्य चोत्तमः ॥ १० ॥
यस्मादेष विभुर्ब्रह्मा पद्मकोशगृहस्थितः ।
तत्सङ्कल्पक्रमेणैव ततः स्थितिमुपागता ।
इयं सृष्टिरपर्यन्ता मायेव घनमायया ॥ ११ ॥

श्रीराम उवाच

जीवो मनःपदं प्राप्य वैरिञ्चं पदमागतः ।
यथा ब्रह्मंस्तथा सर्वं विस्तरेण वदाऽऽशु मे ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

ब्राह्मे शृणु महाबाहो शरीरग्रहणे क्रमम् ।
निदर्शनेन तेनैव जागतीं ज्ञास्यसि स्थितिम् ॥ १३ ॥

मनकी विविध रूपोंसे प्रसिद्धि है, देहरूपकी भी वासनारूपसे उसमें सम्भावना हो सकती है ।

शङ्का—यदि ऐसा है, तो बहुतसे शरीर एक साथ क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

समाधान—वासनारूपसे बहुतसे शरीरोंके मनमें स्थित होनेपर भी जो ही एक शरीर परिपक्व हुए कर्मोंसे अभिव्यक्त होता है, वही विवर्तरूप शरीर इस जीवको प्रायः एक समयमें प्राप्त होता है, सभी शरीर प्राप्त नहीं होते ॥ ९ ॥

यह मन ही देह होता है । उत्तम कर्मोंका परिपाक होनेपर उत्तम देह होती है, यह बात आदि सर्गसे लेकर दर्शाते हैं—'स एवा०' इत्यादिसे ।

यह मन ही, जैसे मिट्टीका पिण्ड घटके रूपमें परिणत हो जाता है वैसे ही, शीघ्र शरीर बन जाता है । पहले पूर्व सृष्टिमें इसका प्रतिभासरूप उत्तम शरीर उत्पन्न हुआ, क्योंकि पद्मकोशरूपी घरमें स्थित विभु ब्रह्मा यह हुआ, तदनन्तर उसके संकल्पके क्रमसे ही घन मायासे मायाकी तरह आर-पार-रहित यह सृष्टि स्थितिको प्राप्त हुई है ॥ १०,११ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन् , जीव मनपदको प्राप्त करके जिस प्रकार विरञ्चिपदको प्राप्त हुआ, उस प्रकारको आद्योपान्त विस्तारपूर्वक शीघ्र मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ १२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे महाबाहो, ब्रह्माके शरीरग्रहणमें जो क्रम है, उसे

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः ।
लीलयैव यदादत्ते दिक्कालकलितं वपुः ॥ १४ ॥
तदेव जीवपर्यायं वासनावेशतत्परम् ।
मनः सम्पद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम् ॥ १५ ॥
कलयन्ती मनशक्तिरादौ भावयति क्षणात् ।
आकाशभावनामच्छां शब्दबीजरसोन्मुखीम् ॥ १६ ॥
ततस्तां घनतां यातं घनस्पन्दक्रमाद् मनः ।
भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम् ॥ १७ ॥
ताभ्यामाकाशवाताभ्यामदृष्टाभ्यां मनोदृशा ।
शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां सङ्घाताज्जन्यतेऽनलः ॥ १८ ॥
मनस्तद्घनतां प्राप्य ततो भावयति क्षणात् ।
प्राकाश्यममलालोकमालोकस्तेन वर्धते ॥ १९ ॥

आप मुझसे सुनिये, उसीको उदाहरण बनाकर आप जगत्की सारी स्थितिको जान जायँगे ॥ १३ ॥

देश, काल आदिसे अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व जभी अपनी शक्तिसे देश, कालसे परिच्छिन्न शरीरको धारण करता है, तभी वह जीवनामक, वासनाओंके आवेशमें तत्पर, विविध कल्पनाएँ करनेमें संलग्न, चञ्चल मन बन जाता है ॥ १४, १५ ॥

विविध कल्पना करनेमें संलग्न, ऐसा जो ऊपर कहा है, उसीको स्पष्ट करते हैं—**'कलयन्ती'** इत्यादिसे ।

कल्पना कर रही मनकी शक्ति पहले एक क्षणमें शब्दतन्मात्ररूप श्रोत्रेन्द्रियमें उन्मुख निर्मल आकाशभावनाकी भावना करती है। पूर्वोक्त आकाशभावनाको प्राप्त करके घनताको (वृद्धिको) प्राप्त हुआ मन स्पन्दरूप घनताके क्रमसे स्पर्श तन्मात्ररूप त्वगिन्द्रियमें उन्मुख वायुरूपसे स्पन्दकी भावना करता है ॥ १६, १७ ॥

अपञ्चीकृत होनेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे मनोवच्छिन्न चैतन्यरूप जीवसे न देखे गये शब्द-स्पर्शरूप उन आकाश और वायुसे बढ़ने और आघात होनेके कारण रूपतन्मात्ररूप अग्नि उत्पन्न होती है ॥ १८ ॥

तदनन्तर उनसे घनताको प्राप्त हुआ मन निर्मल आलोकशाली प्रकाशताकी क्षणभरमें भावना करता है, उससे आलोककी अभिवृद्धि होती है ॥ १९ ॥

मनस्तावद्गुणगतं रसतन्मात्रवेदनम् ।
क्षणार्धेन त्वपां शैत्यं जलसंवित्ततो भवेत् ॥ २० ॥
ततस्तादृग्गुणगतं मनो भावयति क्षणात् ।
स्वरूपं गन्धवत्स्थूलं येनोदेष्यति मेदिनी ॥ २१ ॥
अथेत्थं भूततन्मात्रवेष्टितं तनुतां जहत् ।
वपुर्वह्निकणाकारं स्फुरितं व्योम्नि पश्यति ॥ २२ ॥
अहङ्कारकलायुक्तं बुद्धिबीजसमन्वितम् ।
तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदम् ॥ २३ ॥
तस्मिंस्तु तीव्रसंवेगाद्भावयद्भास्वरं वपुः ।
स्थूलतामेति पाकेन मनो बिल्वफलं यथा ॥ २४ ॥
मूषास्थद्रुतहेमाभं स्फुरितं विमलाम्बरे ।
सन्निवेशमुपादत्ते तत्तेजः स्वस्वभावतः ॥ २५ ॥

आकाश, वायु और तेजसे वृद्धिको प्राप्त हुआ मन रसतन्मात्ररूप जलकी शीतताको क्षणमात्रमें प्राप्त करके जलनामसे प्रतीतियोग्य होता है ॥ २० ॥

तदनन्तर पूर्वोक्त चारोंके संघातको प्राप्त हुआ मन क्षणभरमें गन्धयुक्त स्थूल स्वरूपकी भावना करता है, जिससे पृथ्वी उत्पन्न होती है ॥ २१ ॥

तदनन्तर इस प्रकार भूततन्मात्राओंसे वेष्टित अपने सूक्ष्म शरीरका त्याग कर रहा मन आकाशमें देदीप्यमान आगकी चिनगारीके तुल्य अपने स्वरूपको देखता है ॥ २२ ॥

जिस शरीरको देखता है, अहंकारकलासे युक्त, बुद्धिरूप बीजसे सम्पन्न, पञ्च-भूतोंके हृदयकमलका भ्रमररूप वह लिङ्ग शरीर पुर्यष्टक कहा जाता है ॥ २३ ॥

आगे कही जानेवाली देहकी भावनासे लिङ्ग शरीरके ही पञ्चीकरण द्वारा घन होनेपर स्थूल देहकी उत्पत्ति होती है, ऐसा कहते हैं—'**तस्मिंस्तु**' इत्यादिसे ।

उसमें तीव्र वासनासे स्थूल शरीरकी भावना करता हुआ मन पाकसे बिल्व-फलके समान स्थूलताको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

साँचेके अन्दर रक्खे हुए पिघले सोनेके समान बाहर स्थूल भास्वर और अन्दर सूक्ष्म भास्वर वह तेज निर्मल आकाशमें स्फुरित होकर स्थूल देहसे युक्त आगे कहे जानेवाले अवयवोंकी रचनाको अपने स्वभावसे ग्रहण करता है ॥ २५ ॥

तस्मिन्स्वसन्निवेशे च तेजःपुञ्जमये पुनः ।
भजते भावनां स्फारां निश्चितामातताम्बराम् ॥ २६ ॥
ऊर्ध्वं शिरःपीठमयीमधः पादमयीं तथा ।
पार्श्वयोर्हस्तसंस्थानां मध्ये चोदरधर्मिणीम् ॥ २७ ॥
प्रकटावयवो बालो ज्वालामालामलाकृतिः ।
मनोरथवशोपात्तवपुस्तिष्ठत्यसावथ ॥ २८ ॥
एवं स्ववासनावेशात् कलिताङ्गो मनोमुनिः ।
नयत्युपचयं देहं स्वस्वभावमृतुर्यथा ॥ २९ ॥
कालेन स्फुटतामेति भवत्यमलविग्रहः ।
बुद्धिसत्त्वबलोत्साहविज्ञानैश्वर्यसंस्थितः ॥ ३० ॥
स एव भगवान् ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
द्रवत्कनकसंकाशः परमाकाशसंभवः ॥ ३१ ॥
यथाऽसौ परमाकाशे तिष्ठत्यपररूपवान् ।
जनयत्यात्मनो मोहमात्मस्थं चित्तलीलया ॥ ३२ ॥

उसमें मनकी विशेष कल्पनाभिनिवेशरूप शाखा-प्रशाखाओंकी वृद्धि होती है, ऐसा कहते हैं—**'तस्मिन्'** इत्यादिसे ।

तेजःपुञ्जमय अपने अवयवसंनिवेशमें ऊपर सिर और पीठवाली नीचे पैरवाली दोनों बगलोंमें हाथरूप अवयवोंसे युक्त और बीचमें उदरयुक्त आकाशको व्याप्त करनेवाली निश्चित विशाल भावनाको धारण करता है ॥ २६, २७ ॥

तदनन्तर ज्वालाओंकी पङ्क्तिके समान निर्मल आकारवाला, प्रकट अवयववाला बालक यह (ब्रह्मा) मनोरथवश शरीर प्राप्त कर स्थित होता है । इस प्रकार अपनी वासनाओंके आवेशसे शरीरधारण किया हुआ मनरूपी मुनि (पूर्वोपासनाके प्रकारका मनन करनेवाला) जैसे ऋतु अपने स्वभावको बढ़ाती है, वैसे ही अपने शरीरको बढ़ाता है ॥ २८, २९ ॥

समय पाकर वह प्रकट होता है । निर्मल शरीरवाला पिघले हुए सुवर्णके तुल्य तथा परम ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ सब लोगोंका पितामह वही भगवान् ब्रह्मा बुद्धि, सत्त्वगुण, बल, उत्साह, विज्ञान और ऐश्वर्यसे सम्पन्न होता है ॥ ३०,३१ ॥

परमाकाशरूप ब्रह्ममें अन्य रूपवाला यह जिस प्रकारकी अपनी सत्तासे रहता

कदाचित् केवलं व्योम परमं पारवर्जितम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं कदाचिदमलं पयः ॥ ३३ ॥
कदाचित् कल्पकालाग्निज्वालाभास्वरमण्डकम् ।
कदाचित् काननं कार्ष्ण्यं कालं कमलकुड्मलम् ॥३४ ॥
अन्यान्यन्यान्यनेकानि प्रतिजन्मावधिः प्रभुः ।
कल्पयन् पालयत्येष नानारूपाणि हेलया ॥ ३५ ॥
तत्रेदंप्रथमत्वेन यदैष ब्रह्मणः पदात् ।
अवतीर्णस्तदाऽज्ञानात्तथैव सुखमस्मृतम् ॥ ३६ ॥

है, उसी प्रकारकी व्यवहारके योग्य सत्तासे अपने अज्ञानको ही, जो कि आत्मामें स्थित है, पञ्चीकृत स्थूल आकाश आदिके आगे कहे जानेवाले रूपसे उत्पन्न करता है ॥ ३२ ॥

समयभेदसे उसकी नाना प्रकारकी कल्पनाओंको दिखलाते हैं—**'कदाचित्'** इत्यादिसे ।

कभी वह आर-पार-शून्य, आदि, मध्य और अन्तरहित केवल विशाल आकाशकी कल्पना करता है । कभी (प्रतिदिनके प्रलयके समय) केवल निर्मल जलकी ही कल्पना करता है ॥ ३३ ॥

कभी (कल्पके अन्तमें दाहके समय) ब्रह्माण्डको प्रलयकालकी अग्निज्वालाओंसे प्रदीप्त करता है । कभी (पृथिवीकी सृष्टिके बाद और प्राणियोंकी सृष्टिके पूर्व) हरे रंगके वनकी यानी वृक्षोंसे व्याप्त सारी पृथिवीकी कल्पना करता है । कभी (पाद्मकल्पमें) भगवान् विष्णुकी नाभिसे उत्पन्न हुए काले कमलकी कलिकाकी सृष्टि करता है ॥ ३४ ॥

यह प्रभु ब्रह्मा अपने हरएक जन्मोंमें और और भुवन, समुद्र जीव-जन्तु आदिरूप अनेक आकारोंकी क्रीड़ासे रचना करता हुआ विष्णु आदिके रूपसे स्वयं ही उनका पालन करता है ॥ ३५ ॥

प्रथम कल्पसे लेकर प्रतिदिन सोकर उठे हुए उसके स्वदेहकल्पनाक्रमको दिखलाते हैं—**'तत्र'** इत्यादिसे ।

जब यह ब्रह्मपदसे इस प्रथमरूपसे * अवतीर्ण हुआ, तभीसे लेकर अज्ञानवश

* सब ब्रह्माण्डोंकी और उनके अभिमानी हिरण्यगर्भोंकी कालसे अपरिच्छिन्न परब्रह्मपदसे ही आविर्भाव हुआ है, अतएव उनका पौर्वापर्य नहीं है, इसलिए सभी प्रथम हैं; इस अभिप्रायसे इस प्रथम रूपसे कहा है ।

गर्भनिद्राव्यपगमे वपुः पश्यति भास्वरम् ।
प्राणापानप्रवाहाढ्यं द्रव्यैरिव विनिर्मितम् ॥ ३७ ॥

रोमकोटिभिराकीर्णं द्वात्रिंशद्दशनान्वितम् ।
त्रिस्थूणं पञ्चदैवत्यमधश्चरणलाञ्छितम् ॥ ३८ ॥

पञ्चभागं नवद्वारं त्वग्लेपमसृणाङ्गकम् ।
युक्तमङ्गुलिर्विंशत्या नखविंशतिलाञ्छितम् ॥ ३९ ॥

द्विबाहुं द्विस्तनं द्व्यक्षं बह्वक्षिभुजमेव च ।
नीडं चित्तविहङ्गस्य नीडं मन्मथभोगिनः ॥ ४० ॥

तृष्णापिशाच्या निलयं जीवकेसरिकन्दरम् ।
अभिमानगजालानं मानसाम्भोजशोभितम् ॥ ४१ ॥

अथाऽऽलोच्य वपुर्ब्रह्मा कान्तमात्मीयमुत्तमम् ।
चिन्तयामास भगवांस्त्रिकालामलदर्शनः ॥ ४२ ॥

ब्रह्माण्डगर्भमें सुषुप्तिसुखसे उपलक्षित अपने पूर्व वास्तविक स्वरूपके और देहव्यवहार आदिके अस्मरणरूप सुषुप्तिको प्राप्त हुआ ॥ ३६ ॥

गर्भनिद्राके हटनेपर वह अपने प्रकाशमय स्वरूपको, जो प्राण, अपानके प्रवाहसे परिपूर्ण था, पञ्चमहाभूतोंके स्वच्छ हिस्सोंसे मानो बना था, देखता है ॥ ३७ ॥

उसका उक्त स्वरूप करोड़ों रोमोंसे व्याप्त, बत्तीस दाँतोंसे युक्त, जङ्घाओं और रीढकी हड्डियोंसे तीन स्तम्भवाला, पाँच प्राणोंसे पाँच देवतावाला, नीचे भागमें पैरोंसे युक्त, हाथ, पैर, सिर, वक्षःस्थल और पेटरूप पाँच भागवाला, नेत्र, कान, नासिका आदि नौ द्वारवाला, त्वचारूपी लेपवाला, कोमल अवयववाला, बीस अङ्गुलियोंसे युक्त, बीस नखोंसे चिह्नित, दो बाहुवाला, दो स्तनवाला, दो नेत्रवाला, कभी-कभी इच्छासे बहुत नेत्र और भुजावाला था। वह चित्तरूपी पक्षीका घोंसला था, कामदेवरूपी सर्पका बिल था, तृष्णारूपी पिशाचिनीका आवास था, जीवरूप सिंहकी गुफा था, अभिमानरूपी हाथीका बन्धनस्तम्भ था और हृदयरूपी कमलसे सुशोभित था ॥ ३८–४१ ॥

तदनन्तर त्रिकालदर्शी भगवान् ब्रह्माने अपने उत्तम और मनोहर रूपको देखकर विचार किया ॥ ४२ ॥

अस्मिन्नाकाशकुहरे तते मधुपलाञ्छिते ।
अदृष्टपारपर्यन्ते प्रथमं किमभूदिति ॥ ४३ ॥
इति चिन्तितवान् ब्रह्मा सद्यो जातोऽमलात्मदृक् ।
अपश्यत् सर्गवृन्दानि समतीतान्यनेकशः ॥ ४४ ॥
अथ सस्मार सकलान् सर्वान् धर्मगणान् क्रमात् ।
वसन्तः कुसुमानीव वेदानादाय संस्तुतान् ॥ ४५ ॥
लीलया कल्पयामास चित्रसङ्कल्पजाः प्रजाः ।
नानाचारसमाचारं गन्धर्वनगरे यथा ॥ ४६ ॥
तासां स्वर्गापवर्गार्थं धर्मकामार्थसिद्धये ।
अनन्तानि विचित्राणि शास्त्राणि समकल्पयत् ॥ ४७ ॥
दृष्टिरेवमियं राम सर्गेऽस्मिन् स्थितिमागता ।
विरिञ्चिरूपान्मनसः पुष्पलक्ष्मीर्मधोरिव ॥ ४८ ॥
विविधविरचनैः क्रियाविलासैः कमलजरूपधरेण चेतसैव ।
रघुसुत परिकल्पनेन नीता स्थितिमतुलां जगतीह सर्गलक्ष्मीः ॥४९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे संसारावतरणप्रतिपादनोपदेशो नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

जिसका आर-पार किसीके द्वारा नहीं देखा गया है, भौंरेके तुल्य श्यामतासे युक्त इस विशाल आकाशकुहरमें मेरी उत्पत्तिके पहले क्या था, ऐसा विचार करनेके उपरान्त तुरन्त ब्रह्माकी दृष्टि निर्मल हो गई। उन्होंने अनेक अतीत सृष्टियाँ देखीं ॥४३,४४॥

तदनन्तर क्रमशः साङ्गोपाङ्ग सब धर्मोंका उन्हें स्मरण हुआ। जैसे वसन्त अपने पूर्वपरिचित फूलोंको ग्रहण करता है वैसे ही पूर्वपरिचित वेदोंको ग्रहण कर उन्होंने विचित्र संकल्पोंसे उत्पन्न हुई विविध प्रजाओंकी गन्धर्वनगरमें विविध आचार-विचारोंके तुल्य लीलासे कल्पना की ॥ ४५,४६ ॥

उनके स्वर्ग और मोक्षके लिए धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिए अनेक प्रकारके अनन्त शास्त्रोंकी कल्पना की ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे वसन्तसे पुष्पशोभाका आविर्भाव होता है, वैसे ही ब्रह्मारूपधारी मनसे इस सृष्टिमें यह दृष्टि यों स्थितिको प्राप्त हुई है ॥ ४८ ॥

हे रघुकुलदीपक, विविध प्रकारकी रचनाओंसे पूर्ण क्रिया विलासोंसे ब्रह्माका

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जगत्संपन्नमेवेदं संपन्नं किंचिदेव न ।
शून्यमेव च भामात्रं मनोविलसितं स्थितम् ॥ १ ॥
न देशकालावेतेन ब्रह्माण्डेनाऽऽवृतौ स्थितौ ।
मनागपि महारूपवताऽप्याकाशरूपिणा ॥ २ ॥
एतत्संकल्पमात्रात्म स्वप्नदृष्टपुरोपमम् ।
यत्रैव तत्र तच्छून्यं केवलं व्योमसंस्थितम् ॥ ३ ॥

रूप धारण करनेवाले चित्तने ही अपनी कल्पना द्वारा यह सृष्टिशोभा इस जगत्में सत्य और तुच्छसे विलक्षण होनेके कारण अनुपम स्थितिको प्राप्त की है ॥४९॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

[मनका कार्य कभी सच्चा नहीं होता, कारण कि मनोरथ आदिमें ऐसा देखा गया है; इसलिए मनोमय होनेके कारण जगत् असत् है, सत् ही सत् है, यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—यह जगत् स्थित होता हुआ कुछ भी स्थित नहीं है, क्योंकि मनका विलासमात्र यह सम्पूर्णतया प्रतिभासमात्र ही स्थित है। प्रतिभाससे अतिरिक्त यह शून्य ही है ॥ १ ॥

प्रतिभाससे अतिरिक्त वह शून्य कैसे है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

इस परिच्छिन्न ब्रह्माण्डसे प्रतिभासरूप देश और काल व्याप्त नहीं हैं, क्योंकि अतीत, भावी बाहर स्थित अनेक ब्रह्माण्डकोटियोंका जैसे धूपमें परमाणु घूमते हैं वैसे ही, प्रतिभासके अन्दर भ्रमण दिखाई देता है। और तो और जो आकाश परममहत्त्वरूपसे प्रसिद्ध है उससे भी वे व्याप्त नहीं हैं, क्योंकि 'ज्यायानाकाशात्' ऐसी श्रुति है ॥ २ ॥

पूर्व और उत्तर देश और कालसे व्याप्ति तो दूर रही अपने आश्रयभूत (वर्तमान) देश और कालमें भी अध्यस्त द्वारा अधिष्ठानका स्पर्श नहीं होता।

अभित्ति रागरचनमपि दृष्टमसन्मयम् ।
अकृतं कृतमेवैतद्व्योम्नि चित्रं विचित्रकम् ॥ ४ ॥
मनसा कल्पितं सर्वं देहादिभुवनत्रयम् ।
संस्मृतौ कारणं चैतच्चक्षुरालोकने यथा ॥ ५ ॥
आभासमात्रं हि जगद् घटावटपटभ्रमैः ।
आवर्तते न सद्रूपात्पृथक्कुड्यादयः स्थिताः ॥ ६ ॥
मनसेदं शरीरं हि वासनार्थं प्रकल्पितम् ।
कृमिकोशप्रकारेण स्वात्मकोश इव स्वयम् ॥ ७ ॥

इसलिए ब्रह्माण्ड द्वारा प्रतिभासरूप देश और कालकी व्याप्ति नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं—**'एतत्'** इत्यादिसे ।

जिस देश और कालमें केवल संकल्पस्वरूप स्वप्नमें देखे गये नगरके तुल्य यह जगत् चित्तमें भासित होता है, वहींपर उसका अधिष्ठानरूप चैतन्य है। जगत्से शून्य केवल आकाश ही स्थित है ॥ ३ ॥

अतएव यह गन्धर्वनगरके चित्रके तुल्य है, ऐसा हमने पहले कहा है, ऐसा कहते हैं—**'अभित्ति'** इत्यादिसे ।

रंगोंसे रचा गया भी भित्तिरहित, देखा गया भी असन्मय, नहीं रचा गया भी रचा हुआ-सा यह आकाशमें अद्भुत चित्र है ॥ ४ ॥

प्रत्येक स्मृतिमें मन हेतु होता है । मनसे रचित यह जगत स्मृतिके तुल्य ही है । इसलिए अपने स्थितिकालमें भी यह सत् नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'मनसा'** इत्यादिसे ।

सब देहादि तीनों भुवन मनसे ही कल्पित हैं । जैसे देखनेमें चक्षु कारण है वैसे ही इनके स्मरणमें मन कारण है ॥ ५ ॥

कुड्यादिरूप जगत सतसे अलग करके दिखलाया नहीं जा सकता । इसलिए भी सत्से पृथक्‌रूपसे उसकी असत्ता है, ऐसा कहते हैं—**'आभास०'** इत्यादिसे ।

आभासरूप यह जगत् घट, पट, गर्तके भ्रमोंसे आवर्तित होता है । कुड्य आदि सद्रूपसे पृथक् नहीं हैं । जैसे रेशमका कीड़ा अपने कोशका स्वयं रचना करता है वैसे ही मनने अपने निवासके लिए इस शरीरकी कल्पना की है ॥६,७॥

न तदस्ति च यन्नाम चेतः सङ्कल्पमम्बरम् ।
न करोति न चाऽऽप्नोति दुर्गमप्यतिदुष्करम् ॥ ८ ॥
सर्वशक्तिधरे देवे का नाम ननु शक्तयः ।
न संभवन्त्याश्रियन्ते याभिरन्तर्मनोगुहाः ॥ ९ ॥
सत्तासत्ते पदार्थानां सर्वेषां सर्वदैव हि ।
महाबाहो संभवतः सर्वशक्तौ विभौ सति ॥ १० ॥
पश्य भावनया प्राप्तं मनसैवाऽऽत्मजं वपुः ।
तस्मात्तत्कलनां राम सर्वशक्तियुतां विदुः ॥ ११ ॥
स्वसङ्कल्पकृताः सर्वे देवासुरनरादयः ।
स्वसङ्कल्पोपशमने शाम्यन्त्यस्नेहदीपवत् ॥ १२ ॥

चित्तकी संकल्पमात्रसे असद्रचना प्राप्त करनेकी शक्ति प्रसिद्ध है, इसलिए भी पूर्वोक्त अर्थकी उपपत्ति होती है, ऐसा कहते हैं—**'न तद्'** इत्यादिसे।

वह वस्तु नहीं है, जिस अर्थशून्य संकल्परूप वस्तुकी मन रचना नहीं करता। ऐसी दुर्गम दुष्कर वस्तु भी नहीं है, जिसे मन प्राप्त नहीं करता ॥ ८ ॥

जिन शक्तियोंसे मनरूपी गुहाएँ अन्दर प्राप्त नहीं होतीं, वे शक्तियाँ सर्वशक्तिशाली जगदीश्वरमें भी कोई हो सकती हैं ? ॥ ९ ॥

यदि सदा ही यह जगत् असत् है तथा ब्रह्म सदा ही सत् है और उनका परस्पर स्पर्श नहीं है, तो जगत्में सत्ता और असत्ता कादाचित्क (कभी होनेवाली) कैसे हो सकती हैं; इसपर कहते हैं—**'सत्तासत्ते'** इत्यादिसे।

हे महाबाहो, सर्वशक्ति विभुके रहते सब पदार्थोंकी सत्ता और असत्ता सदा ही हो सकती है। भाव यह है कि सत्ता और असत्ता कादाचित्क नहीं हैं किन्तु सदातन हैं। उनकी परस्पर अभिभव द्वारा पारापारीसे आवेशकल्पना ही अचिन्त्य मायाशक्ति द्वारा की जाती है ॥ १० ॥

वह यह ईश्वरकी सर्वशक्ति है, इसका अपने मनमें ही प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है, ऐसा कहते हैं—**'पश्य'** इत्यादिसे।

मनने अपनेसे उत्पन्न हुआ शरीर भावनासे प्राप्त किया है, इस बातको आप देखिये। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, उस मनकी कल्पनाको ज्ञानियोंने सर्वशक्तिसंपन्न बताया है। जगत्में विचित्र पदार्थशक्तियाँ भी सर्वशक्ति मनकी कल्पनासे ही हैं, यह भाव है ॥ ११ ॥

इसलिए देवादिशक्तियों द्वारा भी मुक्तिका प्रतिरोध नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं—**'स्वसंकल्प०'** इत्यादिसे।

आकाशसदृशं सर्वं कलनामात्रजृम्भितम् ।
जगत् पश्य महाबुद्धे सुदीर्घं स्वप्नमुत्थितम् ॥ १३ ॥
न जायते न म्रियते इह किञ्चित् कदाचन ।
परमार्थेन सुमते मिथ्या सर्वं तु विद्यते ॥ १४ ॥
न वृद्धिमेति नो ह्रासं यन्न किञ्चित् कदाचन ।
किं वा तनु भवेत्तत्र कस्य का नाम खण्डना ॥ १५ ॥
भूमभूतं स्वकायोत्थमपश्यन्निपुणं दृशा ।
राघवाऽमहता स्वान्तः किमज्ञ इव मुह्यसि ॥ १६ ॥
मृगतृष्णा यथा तापान्मनसो निश्चयात्तथा ।
असन्त इव दृश्यन्ते सर्वे ब्रह्मादयोऽप्यमी ॥ १७ ॥
द्विचन्द्रविभ्रमप्रख्या मनोरथवदुत्थिताः ।
मिथ्याज्ञानघनाः सर्वे जगत्याकारराशयः ॥ १८ ॥

देवता, असुर, मनुष्य आदि सब अपने अपने संकल्पसे किये गये हैं । अपने संकल्पकी निवृत्ति होनेपर तैलरहित दीपके समान वे शान्त हो जाते हैं ॥ १२ ॥

हे महामते, इस सम्पूर्ण जगत्को आकाशतुल्य, अपनी कल्पनामात्रसे विकसित, उत्पन्न हुए दीर्घ स्वप्नके तुल्य आप देखिये । हे सुमते, इस जगत्में कभी भी कुछ परमार्थ दृष्टिसे न उत्पन्न होता है और न मरता है । मिथ्यादृष्टिसे तो सब कुछ होता है । जो वस्तु कभी भी न कुछ वृद्धिको प्राप्त होती है और न ह्रासको प्राप्त होती है, उसमें खण्डनसे (काटनेसे) क्या अल्प होगा ? और उसका खण्डन ही क्या है ? ॥ १३–१५ ॥

अपने शरीरसे मूँजसे ईषिकाकी तरह पृथक् किये हुए भूमारूपको परमार्थ-दृष्टिसे अपने अन्तःकरणमें न देखते हुए आप परिच्छिन्न आत्मदर्शनसे अज्ञकी नाईं क्यों मोहको प्राप्त हो रहे हैं ॥ १६ ॥

जैसे मरुभूमिमें सूर्यकी किरणोंसे मृगतृष्णाएँ दिखाई देती हैं वैसे ही मनके संकल्पसे असत् ये सब ब्रह्मा आदि दिखाई-से देते हैं ॥ १७ ॥

मनोरथकी नाईं तथा दो चन्द्रमाओंके विभ्रमके तुल्य मिथ्याज्ञानसे पूर्ण ये सब दृश्याकारराशियाँ जगत्में उत्पन्न हुई हैं ॥ १८ ॥

यथा नौयायिनो मिथ्या स्थाणुस्पन्दमतिस्तथा ।
असत्यैवोत्थिता नित्यमाकाराणां परम्परा ॥ १९ ॥
इन्द्रजालमिदं विद्धि मायारचितपञ्जरम् ।
मनोमनननिर्माणं न सन्नासदिव स्थितम् ॥ २० ॥
ब्रह्मैवेदं जगत् सर्वमन्यतायास्ततः कुतः ।
प्रसङ्गः कीदृशः कोऽसौ क्व वा सा परितिष्ठति ॥ २१ ॥
अयं गिरिरयं स्थाणुरित्याडम्बरविभ्रमः ।
मनसो भावनादार्ढ्यादसन् सन्निव लक्ष्यते ॥ २२ ॥
प्रपञ्चपतनारम्भं प्रमत्तस्य इदं जगत् ।
सकामतृष्णामननं त्यक्त्वाऽन्यद्राम भावय ॥ २३ ॥
यथा स्वप्नो महारम्भो भ्रान्तिरेव न वस्तुतः ।
दीर्घस्वप्नं तथैवेदं विद्धि चित्तोपपादितम् ॥ २४ ॥

जैसे नौकासे यात्रा कर रहे लोगोंकी मिथ्या ही स्थाणुमें चलनप्रतीति होती है वैसे ही दृश्य आकारोंकी परम्परा नित्य असत्य ही उदित हुई है ॥ १९ ॥

मायासे जिसका पञ्जर रचा गया है, मनके मननसे ही जिसका निर्माण हुआ है, ऐसे इस दृश्यको आप इन्द्रजाल जानिये । यह सत् नहीं है, फिर भी सत्यके समान स्थित है ॥ २० ॥

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है । इसलिए भेदका प्रसंग किस प्रमाणसे, किस प्रकारका, कौन और कहाँ हो सकता है ? ॥ २१ ॥

यह पर्वत है, यह स्थाणु है और यह उनके अन्तरालवर्ती आडम्बरोंका विलास है । ये सब मनकी भावनाकी दृढ़तासे असत् होते हुए भी सत्-से प्रतीत होते हैं ॥ २२ ॥

विचारहीन पुरुषका कामतृष्णामननरूप यह जगत् स्वर्ग, नरक, तिर्यग् आदि योनियोंमें पतनका आरम्भक है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप विवेकसे जगत्का त्याग करके निष्प्रपञ्च आत्माकी भावना कीजिये ॥ २३ ॥

जैसे बड़े-बड़े आरम्भोंसे पूर्ण स्वप्न भ्रम ही है, वास्तविक नहीं है वैसे ही चित्त द्वारा उत्पादित इस जगत्को भी आप दीर्घ स्वप्न समझिये ॥ २४ ॥

दृश्यमानमहाभोगं गृह्यमाणमवस्तुकम् ।
कोशमाशाभुजङ्गानां संसाराडम्बरं त्यज ॥ २५ ॥
असदेतदिति ज्ञात्वा माऽत्र भावं निवेशय ।
अनुधावति न प्राज्ञो विज्ञाय मृगतृष्णिकाम् ॥ २६ ॥
स्वसङ्कल्पात् स्वरूपाढ्यां मनोरथमयीं श्रियम् ।
योऽनुगच्छति मूढात्मा दुःखस्यैव स भाजनम् ॥ २७ ॥
वस्तुन्यसति लोकोऽयं यातु काममवस्तुनि ।
यस्तु वस्तु परित्यज्य यात्यवस्तु स नश्यति ॥ २८ ॥
मनोव्यामोह एवेदं रज्ज्वामहिभयं यथा ।
भावनामात्रवैचित्र्याच्चिरमावर्तते जगत् ॥ २९ ॥
असदभ्युदितैर्भावैर्जलान्तश्चन्द्रवच्चलैः ।
वञ्च्यते बाल एवेह न तत्त्वज्ञो भवादृशः ॥ ३० ॥

दृश्यमान अवस्थावाला बहुत विस्तीर्ण अतएव रमणीय-सा वस्तुतः तुच्छ आशारूपी सर्पोंका बिलरूप इस संसाराडम्बरका त्याग कीजिये ॥ २५ ॥

यह असत् है, यह जानकर इसमें प्रेम न कीजिये । विद्वान् पुरुष 'यह मृगतृष्णा है' यह जानकर उसके पीछे नहीं दौड़ते ॥ २६ ॥

जो मूढ़ पुरुष अपने संकल्पसे स्वरूपयुक्त हुई मनोरथमयी राजलक्ष्मीके तुल्य इस जगत्का अनुसरण करता है, वह एकमात्र दुःखका ही पात्र होता है ॥२७॥

इसके अनुगमनसे केवल अनर्थ ही प्राप्त नहीं होते, किन्तु पुरुषार्थका नाश भी होता है, ऐसा कहते हैं—**'वस्तुन्य०'** इत्यादि ।

यदि वस्तु न हो, तो ये लोग भले ही अवस्तुका अनुसरण करें, किन्तु जो वस्तुका परित्याग कर अवस्तुका अनुगमन करता है, वह पुरुषार्थसे च्युत हो जाता है ॥ २८ ॥

जैसे रज्जुमें सर्पका भय मनका व्यामोह ही है वैसे ही यह भी मनका व्यामोह ही है । एकमात्र भावनाओंकी विचित्रतासे यह जगत् चिरकालतक प्राप्त होता है ॥२९॥

जलके भीतर चन्द्रप्रतिबिम्बके तुल्य क्षणभङ्गुर मिथ्या उदित हुए पदार्थोंसे इस लोकमें बालक ही ठगा जा सकता है, आपके तुल्य तत्त्वज्ञानी पुरुष नहीं ठगा जा सकता ॥ ३० ॥

य इमं गुणसङ्घातं भावयन् सुखमीहते ।
प्रमार्ष्टि स जडो जाड्यं वह्निभावनया स्वया ॥ ३१ ॥
असदेवेदमाभोगि दृश्यते जलपञ्जरम् ।
मनोमनननिर्माणं हृदये नगरं यथा ॥ ३२ ॥
इदं चित्तेच्छयोदेति लीयते तदनिच्छया ।
मिथ्यैवं दृश्यते स्फीतं गन्धर्वनगरं यथा ॥ ३३ ॥
राम नष्टे जगत्यस्मिन्न किञ्चिदपि नश्यति ।
युक्तेऽपि च जगत्यस्मिन्न किञ्चिदपि युज्यते ॥ ३४ ॥
मनःप्रकल्पिते भग्ने हृदि विस्तीर्णपत्तने ।
वृद्धिं चोपगते ब्रूहि किं वृद्धं कस्य किं क्षतम् ॥ ३५ ॥
क्रीडार्थेन यथोदेति बालानां हृदि वर्तनम् ।
मनसा तद्वदेवेदमुदेत्यविरतं जगत् ॥ ३६ ॥

जो पुरुष शब्दादि गुणोंके समूहरूप इस देह आदिकी भावना करता हुआ अर्थात् देह आदिमें 'अहं, मम' ऐसा अभिमान करता हुआ सुखी होना चाहता है वह जड़ अपनी वह्निकी भावनासे शीतको हटाता है ॥ ३१ ॥

यह जड़संघात देह आदिरूप विशाल जगत् हृदयमें मनके संकल्पसे निमित विशाल नगरके समान असत् ही है ॥ ३२ ॥

यदि यह ऐच्छिक संकल्पसे उत्पन्न हुआ है, तो ऐच्छिक निवृत्तिके संकल्पसे क्यों नहीं निवृत्त हो जाता है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे।

यह दृश्य प्रपञ्च मनकी इच्छासे उपजता है और मनकी अनिच्छासे रागका विनाश होनेसे ही विलीन हो जाता है। इस तरह यह विशाल गन्धर्वनगरके तुल्य झूठ-मूठ ही दिखाई देता है ॥ ३३ ॥

इसलिए इसके विनाश या वृद्धिमें शोक और हर्ष करना उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'राम'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस जगत्के नष्ट होनेपर कुछ भी नष्ट नहीं होता और इस जगत्की समृद्धि होनेपर कुछ भी समृद्ध नहीं होता ॥ ३४ ॥

हृदयमें मनसे कल्पित विशाल नगरके खण्डहर हो जानेपर और वृद्धिको प्राप्त होनेपर भला बतलाइये तो सही किसका क्या नष्ट हुआ और क्या बढ़ा ?॥३५॥

जैसे खेलके लिए गुड़िया आदि द्वारा पुत्र, पशु, आदि व्यवहाराभासकी

न किञ्चित् कस्यचिन्नष्टमिन्द्रजालजले यथा ।
भ्रष्टे नष्टे तथैवाऽस्मिन् संसारे वितथोत्थिते ॥ ३७ ॥
यदसत्तदसत्स्याच्चेन्न किं कस्य किल क्षतम् ।
ततो हर्षविषादानां संसारे नाम नाऽऽस्पदम् ॥ ३८ ॥
असदेव यदत्यन्तं तस्मात् किं नाम नश्यति ।
नाशाभावे हि दुःखस्य कः प्रसङ्गो महामते ॥ ३९ ॥
सदेव वा यदत्यन्तं तस्य किं नाम नश्यति ।
ब्रह्मैवेदं जगत् सर्वं सुखदुःखे किमुत्थिते ॥ ४० ॥
असद्वाऽपि यदत्यन्तं वृद्धिः स्यात्तस्य कीदृशी ।
वृद्धेरभावे हर्षस्य कः प्रसङ्गो महामते ॥ ४१ ॥

कल्पना बालकोंके मनमें होती है वैसे ही यह जगत् भी मनसे ही निरन्तर उदित होता है, उसके लिए शोक करना उचित नहीं है ॥ ३६ ॥

जैसे इन्द्रजालके जलके नष्ट-भ्रष्ट होनेपर किसीका कुछ भी नष्ट नहीं होता वैसे ही मिथ्या उदित हुए इस संसारके नष्ट-भ्रष्ट होनेपर किसीका कुछ नष्ट नहीं होता ॥ ३७ ॥

जो असत् है, वह यदि अविद्यमान ही हो जाय, तो किसका क्या बिगड़ा ? अर्थात् कुछ भी नहीं । इसलिए संसारमें हर्ष और शोकका विषय कुछ भी नहीं है ॥३८॥

इस प्रकार नाशके स्वीकार द्वारा शोककी अयोग्यता कहकर वस्तुतः नाश ही किसीका नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'असदेव'** इत्यादिसे ।

जो अत्यन्त असत् ही है इसलिए उसका नाश ही क्या होगा ? जब नाश नहीं है तब हे महामते, दुःखका कौन अवसर है ? ॥ ३९ ॥

अध्यस्त दृष्टिसे नाशके असंभवका उपपादन कर अधिष्ठानदृष्टिसे भी उसका उपपादन करते हैं—**'सदेव'** इत्यादिसे ।

अथवा जो अत्यन्त सत् ही है उसका क्या नाश होता है ? यह सब जगत् एकमात्र ब्रह्म ही है, तो सुख और दुःख किसके कारण उदित हों ! अर्थात् वे उदित नहीं ही हैं ॥ ४० ॥

उत्पत्तिका खण्डन करनेसे वृद्धि आदि विकारोंका भी खण्डन हो ही गया, इसलिए तन्निमित्तक हर्ष भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'असद्'** इत्यादिसे ।

सर्वत्राऽसत्यभूतेऽस्मिन् प्रपञ्चैकान्तकारिणि ।
संसारे किमुपादेयं प्राज्ञो यदऽभिवाञ्छतु ॥ ४२ ॥
सर्वत्र सत्यभूतेऽस्मिन् ब्रह्मतत्त्वमयेऽपि च ।
किं स्यात्त्रिभुवने हेयं प्राज्ञाः परिहरन्तु यत् ॥ ४३ ॥
असत्सद्वा जगद्यस्य तेनाऽसौ सुखदुःखयोः ।
अगम्य एव मूर्खस्तु तद्विनाशेन दुःखितः ॥ ४४ ॥
आदावन्ते च यन्नाऽस्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
योऽभिवाञ्छत्यसद्राम तस्याऽसत्तैव दृश्यते ॥ ४५ ॥

जो अत्यन्त असत् है उसकी वृद्धि कैसी ? वृद्धिका अभाव होनेपर हे महाबुद्धि श्रीरामचन्द्रजी, हर्षका कौन अवसर है ? ॥ ४१ ॥

इष्ट पदार्थकी प्राप्तिमें हर्ष होता है । मायामय जगत्में इष्ट पदार्थ ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'सर्वत्र'** इत्यादिसे ।

सर्वत्र असत्यभूत, एकमात्र प्रपञ्चकारी इस संसारमें क्या उपादेय है, जिसे विद्वान् पुरुष चाहे ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार जो पुरुष सबको आनन्दरूपसे देखता है, उसका हेय भी कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'सर्वत्र'** इत्यादिसे ।

सर्वत्र सत्यरूप, ब्रह्मतत्त्वमय इस त्रिभुवनमें कौन पदार्थ हेय है, जिसका विद्वान् लोग त्याग करें ॥ ४३ ॥

जिसकी दृष्टिमें जगत् असत्य है अथवा जिसकी दृष्टिमें जगत् सत्य है दोनों पक्षोंमें भी उसका विनाश न हो सकनेके कारण वह पुरुष सुख और दुःखका अगम्य ही है । किन्तु मूर्ख तो पुत्र, मित्र आदिके विनाशसे, जो कि अपनी भ्रान्तिसे कल्पित है, दुःखी होता है ॥ ४४ ॥

असत् और सत् पक्षोंमें समान उपपत्ति दिखलाते हैं—**'आदा०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

आदि और अन्तमें जो नहीं है, वर्तमानमें भी उसकी असत्ता ही है । हे श्रीरामचन्द्रजी, जो यह असत् है, इस पक्षकी इच्छा करता है, उसको असत्ता ही दिखाई देती है । भाव यह है कि 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (सृष्टिके पहले यह असत् ही था) 'नैवेह किञ्चनाऽग्र आसीत्' (यहाँ पहले कुछ भी न था)

आदावन्ते च यत् सत्यं वर्तमाने सदेव तत् ।
यस्य सर्वं सदेव स्यात्तस्य सत्तैव दृश्यते ॥ ४६ ॥
असत्यभूतं तोयान्तश्चन्द्रव्योमतलादिकम् ।
बाला एवाऽभिवाञ्छन्ति मनोमोहाय नोत्तमाः ॥ ४७ ॥

इत्यादि श्रुतियोंसे आकाश, वायु, भुवन आदिकी आगे पीछे असत्ता सुनी जाती है और घट आदिकी असत्ता प्रत्यक्ष अनुभवसे देखी जाती है। चिरकालतक, आदि और अन्तमें असत्ता, थोड़े कालके लिए एक बार सत्ता प्रत्येक व्यक्तिमें प्रसिद्ध है। एक दूसरेका विनाशक होनेके कारण सत्त्व और असत्त्व—दोनों एक वस्तुमें एकके त्यागके बिना नहीं रह सकते, इसलिए दोनोंमें से एक अवश्य त्याज्य है। आदि और अन्तमें चिरकाल तक असत्त्वकी प्रसिद्धि होनेसे वर्तमान दशामें भी सब व्यक्तियोंकी असत्ता ही है, यों असत्ताके पक्षकी इच्छा करनेवालेको श्रुति, युक्ति और अनुभवों द्वारा असत्ता ही दिखाई देती है ॥ ४५ ॥

आदि और अन्तमें जो सत्य है, वर्तमानमें भी वह सत् ही है, जिसकी सब सत् ही है, ऐसी मति हो, उसकी दृष्टिमें सब सत् ही है। भाव यह है कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'कथमसतः सज्जायेत' (हे सोम्य, सृष्टिके पूर्व यह सत् ही था, असत्से सत् कैसे हो सकता है) इत्यादि श्रुतियोंसे और प्रमाणकी प्रवृत्तिके समय सत्-सत् यों सब वस्तुओंका अनुभव होनेसे आदि और अन्तकालमें सत्ताकी अनभिव्यक्ति अथवा तिरोभावमात्रकल्पनासे 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुति और युक्तियोंकी उपपत्ति होनेसे और सत्ताकी श्रुति और युक्तियोंकी अन्यथा-उपपत्ति न हो सकनेसे सब पदार्थोंकी सर्वकालिकी और सार्वत्रिकी एक ही सत्ता युक्त है, क्योंकि इसीमें लाघव है, यों सत्ताकी एकताके सिद्ध होनेपर आदि और अन्तमें कारणभूत ब्रह्मकी सत्तासे ही सबके सत्य होनेसे वर्तमानकालमें भी वह सत्य ही है, यों सद्वादीको अखण्ड ब्रह्मसत्ता ही सर्वत्र दिखाई देती है ॥ ४६ ॥

देश और कालसे परिच्छिन्न पदार्थोंकी सत्ताकी कल्पना, जो जगत्को सत् और असत् माननेवाले पूर्वोक्त दोनों पक्षोंसे बहिष्कृत है और सब श्रुति और युक्तियोंसे विरुद्ध है। अन्धपरम्परा द्वारा सहस्रों मूर्खोंने जिसकी कल्पना कर रक्खी है और जो सम्पूर्ण अनर्थोंकी मूल है, उन्हीं मूर्खोंके योग्य है, आपके योग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'असत्यभूतम्'** इत्यादिसे।

बालो हि विततारैर्वस्तुरिक्तैः प्रयोजनैः ।
सन्तोषमेत्यनन्ताय दुःखाय न सुखाय तु ॥ ४८ ॥
तस्मान्मा त्वं भवो बालो राम राजीवलोचन ।
अविनाशमिहाऽऽलोक्य नित्यमाश्रय सुस्थिरम् ॥ ४९ ॥
असदिदमखिलं मया समेतं
त्विति विगणय्य विषादिताऽस्तु मा ते ।
सदिह हि सकलं मया समेतं
त्विति च विलोक्य विषादिताऽस्तु मा ते ॥ ५० ॥

जलके अन्दरके असत्यस्वरूप चन्द्रमा और आकाशतल आदिको अपने मनके मोहके लिए मूर्ख ही चाहते हैं, आप ऐसे उत्तम लोग नहीं चाहते ॥ ४७ ॥

मूर्ख ही विशाल आकारवाले, अर्थशून्य सुखाभासोंसे अपने असीम दुःखके लिए सन्तुष्ट होता है, न कि सुखके लिए ॥ ४८ ॥

इसलिए हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, आप मूर्ख मत बनिये । विचार करके अविनाशी नित्य और सुस्थिर पदार्थका अवलम्बन कीजिये ॥ ४९ ॥

अब पूर्वदर्शित सत् और असत् पक्षोंका द्वारभेदसे एक प्रयोजनके अवसानमें फलतः समुच्चय दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं—'असत्' इत्यादिसे ।

मायासे मूढ़ हुए लोगों द्वारा आत्मरूपसे कल्पित अहंकारके सहित यह सब जगत् असत् ही है, यों श्रुति, गुरु, युक्ति और अपने अनुभवसे निश्चय करके पुत्र, मित्र, धन आदिका विनाश होनेपर आपको शोक न हो और राग भी न हो । शोक, राग आदिके निरास द्वारा ऐकात्म्यदर्शनमें प्रपञ्च असत् है 'यह पक्ष उपयोगी होता है । इस प्रकार अन्यार्थ असद्वादके प्रस्तावसे जगत् निस्तत्त्व ही है, ऐसा आपको नहीं समझना चाहिए, किन्तु सम्पूर्ण वह सत् ही है, क्योंकि सत्त्वकी प्रसिद्धि न होनेपर उसके विरोधी असत्त्वकी भी प्रसिद्धि नहीं हो सकती । यदि सत्त्वको प्रसिद्ध मानो, तो उसका विरोधी होनेसे असत् असिद्ध ही हुआ । इस प्रकार सब जगह सत्ता द्वारा निरस्त असत्ता निराधार ही है । कहींपर किसीका वह परिच्छेद नहीं कर सकती । इसलिए एकमात्र अपरिच्छिन्न सत्त्वकी सिद्धि होनेपर घट, पट आदि परिच्छेदक आकारोंके पृथक्रूपसे शेष न रहनेके कारण शोधित चिन्मात्रैकरस प्रत्यगात्मासे युक्त सत् ही मैं हूँ, यह विचार कर अपने आत्मामें

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ५१ ॥

नवमो दिवसः ९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे यथाभूतार्थयोगोपदेशो नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

रम्ये धनेषु दारादौ शोकस्याऽवसरो हि कः ।
इन्द्रजालेक्षणादृष्टे नष्टे का परिदेवना ॥ १ ॥

स्थित आपको पुनः पुनः सांसारिक जन्म-मरण आदि विषादकी प्राप्ति न हो ॥५०॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—मुनिके ऐसा कहनेपर दिन बीत गया। सूर्य अस्ताचलको चले गये। सभा मुनिजीको नमस्कार करके सायंकालकी सन्ध्या-विधिके लिए स्नानार्थ चली गई। दूसरे दिन रात बीतनेपर सूर्योदयके साथ-साथ फिर सभा लग गई ॥ ५१ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

नवां दिवस

छियालीसवाँ सर्ग

[जिन गुणोंसे संसारमें विहार करता हुआ भी निमग्न नहीं होता और जो जीवन्मुक्त लोगोंमें स्थित है, उन गुणोंका श्रीरामचन्द्रजीके लिए उपदेश]

सब वस्तुओंमें अनास्था द्वारा नष्टकी उपेक्षा और अप्राप्तकी अनाकाङ्क्षारूप गुणोंका पहले उपदेश देनेवाले श्रीवसिष्ठजी पूर्वोक्त प्रस्तावका उसमें उपयोग दर्शाते हैं—**'रम्ये'** इत्यादिसे ।

रम्य धन और स्त्री आदिके नष्ट होनेपर शोकका अवसर ही कौन है ? इन्द्रजालसे दृष्ट वस्तुके नष्ट होनेपर विलापकी बात ही क्या है ? ॥ १ ॥

गन्धर्वनगरस्याऽर्थे दूषिते भूषिते तथा ।
अविद्यांशे सुतादौ वा कः क्रमः सुखदुःखयोः ॥ २ ॥

रम्ये धनेऽथ दारादौ हर्षस्याऽवसरो हि कः ।
वृद्धायां मृगतृष्णायां किमानन्दो जलार्थिनाम् ॥ ३ ॥

धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टयः ।
वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह ॥ ४ ॥

यैरेव जायते रागो मूर्खस्याऽधिकतागतैः ।
तैरेव भोगैः प्राज्ञस्य विराग उपजायते ॥ ५ ॥

नष्टे धनेऽथ दारादौ हर्षस्याऽवसरो हि कः ।
पारावलोकिनस्त्वेतैर्विरागं यान्ति साधवः ॥ ६ ॥

अतो राघव तत्त्वज्ञो व्यवहारेषु संसृतेः ।
नष्टं नष्टमुपेक्षस्व प्राप्तं प्राप्तमुपाहर ॥ ७ ॥

गन्धर्वनगरके पदार्थोंके नष्ट-भ्रष्ट या भूषित होनेपर और अविद्याजनित पुत्र आदिके नष्ट या सुशोभित होनेपर सुख और दुःखका प्रसार ही क्या है ? ॥ २ ॥

रमणीय धन और स्त्री, पुत्र आदिकी समृद्धि होनेपर हर्षका अवसर ही क्या है । मृगतृष्णाके वृद्धिको प्राप्त होनेपर क्या जलार्थी पुरुषोंको आनन्द होता है ?॥३॥

धन और स्त्री-पुत्र आदिके बढ़नेपर दुःखी होना ही उचित है और सन्तुष्ट होना उचित नहीं है । मोह-मायाके बढ़नेपर इस संसारमें कौन स्वस्थ रह सकता है ? धन, स्त्री, पुत्र आदिकी वृद्धि होनेपर संसाररूपी रोगकी वृद्धिकी संभावनासे दुःख करना ही उचित है; हर्ष करना ठीक नहीं, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

वृद्धिको प्राप्त जिन भोगोंसे मूर्खको राग होता है, वृद्धिको प्राप्त उन्हीं भोगोंसे विद्वान् पुरुषको वैराग्य होता है ॥ ५ ॥

नश्वर स्वभाववाले धन, स्त्री, पुत्र आदिके विषयमें हर्षका अवसर ही क्या है ? जो साधु पुरुष इनकी नश्वरता, नरकहेतुता आदिसे परिणाममें कटुताका अवलोकन करते हैं, वे उनसे वैराग्यको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, संसारके व्यवहरोंमें तत्त्वज्ञ आप जो-जो वस्तु नष्ट हो, उसकी उपेक्षा कीजिये और जो जो प्राप्त हो उसका उपभोग कीजिये ॥ ७ ॥

अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम् ।
आगतानां च सम्भोग इति पण्डितलक्षणम् ॥ ८ ॥

संसारसम्भ्रमे ह्यस्मिंश्छन्नात्मन्याततायिनि ।
तथा विहर सम्बुद्धो यथा नाऽऽयासि मूढताम् ॥ ९ ॥

संसाराडम्बरस्याऽस्य प्रपञ्चरहिते क्रमे ।
सम्यग्ज्ञा नाऽनुपश्यन्ति ये हतास्ते कुबुद्धयः ॥ १० ॥

यया कयाचिद्युक्त्यैव दृश्याद् यस्य गता रतिः ।
परिमज्जति तस्याऽऽस्था न क्वचिद्विमला मतिः ॥ ११ ॥

यस्याऽसदिदमित्यास्था निवृत्ता सर्ववस्तुषु ।
क्रोडीकरोति सर्वज्ञं नाऽविद्या तमवास्तवी ॥ १२ ॥

अहं जगच्चैकमिदं सर्वमेवेति यस्य धीः ।
आस्थानास्थे परित्यज्य संस्थिता स न मज्जति ॥ १३ ॥

अप्राप्त भोगोंकी सच्ची अनिच्छा और प्राप्त भोगोंका भोग यही पण्डितका लक्षण है ॥ ८ ॥

संसारमें भटकानेवाले, मारनेके लिए गुप्त छिपे हुए, विष, शस्त्र, अग्नि आदि द्वारा मारनेके लिए समीपमें आनेवाले अतएव आततायी इस कामके विषयमें, बोधके लिए अप्रमत्त हुए आप ऐसा व्यवहार कीजिये जैसे आप मूढ़ताको प्राप्त न हों ॥ ९ ॥

प्रपञ्चरहित ब्रह्ममें विवेक, वैराग्य, ज्ञानमें अप्रमाद आदि गुणोंके अर्जनक्रमसे जो सम्यक् ज्ञानी हैं, वे इस संसाराडम्बरको नहीं देख पाते। जो कुबुद्धि हैं यानी उक्त गुणोंसे रहित हैं, वे तो नष्ट ही हैं ॥ १० ॥

जिस किसी भी युक्तिसे जिस पुरुषका दृश्यसे अनुराग चला गया, उसकी परमार्थमें अभिनिवेश रखनेवाली विमल मति मोहरूपी सागरमें नहीं डूबती ॥११॥

जिसकी 'यह असत् है' यों सब वस्तुओंमें आस्था निवृत्त हो गई, उस सर्वज्ञको अवास्तविक अविद्या अपने अंकगत नहीं कर सकती ॥ १२ ॥

मैं और यह सम्पूर्ण जगत् एक ही हैं, ऐसी जिनकी बुद्धि आस्था और अनास्थाका त्याग करके स्थित है, वह पुरुष निमग्न नहीं होता ॥ १३ ॥

शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्याऽवलम्ब्य च ।
सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुञ्च मा ॥ १४ ॥
अत्यन्तविरतः स्वस्थः सर्ववासविवर्जितः ।
व्योमवत्तिष्ठ नीरागो राम कार्यपरोऽपि सन् ॥ १५ ॥
यस्य नेच्छा न वाऽनिच्छा ज्ञस्य कर्मणि तिष्ठतः ।
न तस्य लिप्यते प्रज्ञा पद्मपत्रमिवाऽम्बुभिः ॥ १६ ॥
दर्शनस्पर्शनादीनि मा करोतु करोतु च ।
तवेन्द्रियमनो गौणं त्वमनिच्छो भवाऽऽत्मवान् ॥ १७ ॥
ममेदमित्यसद्भूतमिन्द्रियार्थे भवन्मनः ।
मा निमज्जत्वमग्नः सन् मा करोतु करोतु वा ॥ १८ ॥
यदा ते नेन्द्रियार्थश्रीः स्वदते हृदि राघव ।
तदा विज्ञातविज्ञानः समुत्तीर्णभवार्णवः ॥ १९ ॥

सत् और असत्में अनुगत सत्तामात्र प्रत्यगात्मरूप सत्का बुद्धिसे अवलम्बन करके बाह्य और आभ्यन्तर दृश्यका न तो ग्रहण कीजिये और न त्याग कीजिये ॥ १४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अत्यन्त वैराग्ययुक्त, आत्मनिष्ठ, सब प्रकारके निवासोंसे रहित आप अपने कार्यमें तत्पर होकर भी रागरहित होकर आकाशके समान असङ्ग होकर स्थित होइये ॥ १५ ॥

कर्म कर रहे जिस ज्ञानीकी कर्ममें न तो इच्छा है और न अनिच्छा है उसकी बुद्धि जलसे कमलके पत्तेके समान स्पर्शको प्राप्त नहीं होती ॥ १६ ॥

बाधित वस्तुमें अनुवृत्तिशील होनेसे गौण इन्द्रियोंसे युक्त आपका मन दर्शन, स्पर्शन आदि करे चाहे न करे, किन्तु आप आत्मवान् होकर इच्छारहित होइये ॥ १७ ॥

इन्द्रियार्थोंमें ममतात्यागरूप गुणका उपदेश देते हुए उसमें अनास्थाका उपपादन करते हैं—**'मम'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियार्थोंमें असत्यभूत यह मेरा है, यों आपका मन निमग्न न हो, मग्न न होकर चाहे वह कर्म न करे, चाहे करे ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जब आपके हृदयमें इन्द्रियार्थ सम्पत्तियाँ स्वादु नहीं लगेंगी, तब आप ज्ञातज्ञेय और संसार सागरसे उत्तीर्ण हो जायँगे ॥ १९ ॥

आस्वादितेन्द्रियार्थस्य सतनोरतनोरपि ।
अनिच्छतोऽपि सम्पन्ना मुक्तिरर्थवशात्तव ॥ २० ॥
उच्चैःपदाय परया प्रज्ञया वासनागणात् ।
पुष्पाद्गन्धमिवोदारं चेतो राम पृथक्कुरु ॥ २१ ॥
संसाराम्बुनिधावस्मिन् वासनाम्बुपरिप्लुते ।
ये प्रज्ञानावमारूढास्ते तीर्णा ब्रुडिताः परे ॥ २२ ॥
क्षुरधाराप्रमितया धिया परमधीरया ।
प्रविचार्याऽऽत्मनस्तत्त्वं ततः स्वपदमाविश ॥ २३ ॥
यथा तत्त्वविदः प्राज्ञा ज्ञानबृंहितचेतसः ।
विहरन्ति तथा राम विहर्तव्यं न मूढवत् ॥ २४ ॥

जिनको ऐहिक और पारलौकिक विषय अरुचिकर हों, ऐसे आप चाहे देहके भानवाले हों, चाहे समाधि द्वारा देहके भानसे शून्य हों, आपके न चाहनेपर भी मुक्ति अनायास प्राप्त हो गई ॥ २० ॥

जीवन्मुक्तिमें वासनाओंसे चित्तको बाहर करना ही मुख्य साधन है, ऐसा कहते हैं—'**उच्चैःपदाय**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवनमुक्तिरूप उन्नत पदप्राप्तिके लिए उत्कृष्ट बुद्धि द्वारा वासनाओंसे विवेक, वैराग्य आदिसे उत्कृष्ट चित्तको फूलसे सुगन्धकी नाईं अलग कीजिये ॥ २१ ॥

वासनारूपी जलसे व्याप्त इस संसाररूपी समुद्रमें जो लोग प्रज्ञारूपी नावमें चढ़े, वे पार हुए और जो प्रज्ञारूपी नावमें नहीं चढ़े, वे डूब गये ॥ २२ ॥

वह प्रज्ञारूपी नाव कैसी है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसे दर्शाते हैं—'**क्षुरधारा०**' इत्यादिसे ।

विवेक, वैराग्य आदिसे चोखी की गई अतएव क्षुरधाराके तुल्य, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वोंके सहनमें परमधीर बुद्धिसे आत्मतत्त्वका विचार कर उसके बाद आप अपने स्वरूपमें प्रवेश कीजिये ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानसे उदारचित्तवाले तत्त्वज्ञानी प्राज्ञ पुरुष जिस प्रकार बर्ताव करते हैं वैसे ही आपको व्यवहार करना चाहिये, न कि मूढ़ोंकी नाईं ॥२४॥

जीवन्मुक्ता महात्मानो नित्यतृप्ता महाधियः ।
आचारैरनुगन्तव्या न भोगकृपणाः शठाः ॥ २५ ॥
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम् ।
सर्वमेवाऽनुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः ॥ २६ ॥
प्रभावस्याऽभिमानस्य गुणानां यशसः श्रियः ।
न क्वचित्कृपणा लोके महान्तस्तत्त्वदर्शिनः ॥ २७ ॥
सुशून्येऽपि न खिद्यन्ते देवोद्याने न सङ्गिनः ।
नियतिं च न मुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥ २८ ॥
विगतेच्छा यथाप्राप्तव्यवहारानुवर्तिनः ।
विचरन्ति समुन्नद्धाः स्वस्था देहरथे स्थिताः ॥ २९ ॥

नित्यतृप्त, महाबुद्धि, जीवन्मुक्त महात्माओंका सदाचारसे अनुसरण करना चाहिये, भोगलम्पट मूर्खोंका अनुसरण नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

ब्रह्मतत्त्व और जगत्तत्त्वको जाननेवाले पुरुष न तो जगत्के व्यवहारका त्याग करते हैं और न उसकी इच्छा करते हैं, किन्तु सबका ही अनुवर्तन करते हैं ॥२६॥

यदि कोई कहे, विद्वानोंकी भी कहींपर फललिप्सा हो सकती है, तो इसपर नहीं, ऐसा कहते हैं—'**प्रभावस्य**' इत्यादिसे ।

विद्या, तप और पराक्रम आदिके उत्कर्षरूपप्रभावके, अभिमानके, निपुणता, कुल, शील आदि गुणोंके, यश और सम्पत्तिके विषयमें लोकमें लोभ प्रसिद्ध है, तत्त्वदर्शी महात्मा पुरुष तो प्रभाव आदिके मिथ्या होनेसे कहींपर भी लोभ नहीं करते ॥ २७ ॥

महात्मा पुरुषोंको सूर्यके समान सर्वनाश होनेपर भी खेद नहीं होता, सम्पूर्ण अभिलाषाओंसे परिपूर्ण नन्दनवन आदिमें भी वे आसक्त नहीं होते और शास्त्रमर्यादाका कभी त्याग नहीं करते । सूर्य भी शून्य आकाशमें खिन्न नहीं होते, नन्दनवनमें आसक्त नहीं होते और अपने मार्गकी मर्यादाका त्याग नहीं करते ॥२८॥

महात्मा पुरुष इच्छारहित, जो व्यवहार प्राप्त हो उसके अनुसार वर्ताव करनेवाले, देहरूपी रथमें बैठे हुए, आत्मनिष्ठ हो 'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः' (विज्ञानरूपी सारथिवाला, मनरूपी लगामवाला मनुष्य) इत्यादि श्रुतिमें कहे गये साधनोंसे सन्नद्ध हो घूमते हैं ॥ २९ ॥

त्वमपि प्राप्तवान् राम विवेकमिममाततम् ।
प्रज्ञाबलेन चाऽनेन ज्ञाने स्वस्थोऽसि सुन्दर ॥ ३० ॥
स्पष्टां दृष्टिमवष्टभ्य निर्मानो गतमत्सरः ।
विहराऽस्मिन् भुवः पीठे परां सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ ३१ ॥
स्वस्थः सर्वेहितत्यागी दूरालोकनवाञ्छनः ।
परां शीतलतामन्तरादाय विहराऽनघ ॥ ३२ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्थं गिरा विमलया विमलाशयस्य
रामो मुनेः सपदि मृष्ट इवाऽवभासे ।
ज्ञानामृतेन मधुरेण विराजितान्तः-
पूर्णः शशाङ्क इव शीतलतां जगाम ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे जीवन्मुक्तस्थितगुणवर्णनं नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

मुझमें वे गुण हैं या नहीं, इस प्रकार संदेहमें पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजीको ढाढ़स देते हैं—'**त्वमपि**' इत्यादिसे ।

हे सुन्दर श्रीरामचन्द्रजी, आप भी इस विशाल विवेकको प्राप्त हो चुके हैं, इस प्रज्ञाके बलसे ज्ञानमें आप स्वस्थ हैं ॥ ३० ॥

स्पष्ट दृष्टिका अवलम्बन करके मानरहित और मात्सर्यरहित आप इस पृथ्वीतलमें विहार कीजिये, आप अवश्य ही परम सिद्धिको प्राप्त होंगे ॥ ३१ ॥

हे निष्पाप, अपने स्वरूपमें स्थित, सब इच्छाओंके त्यागसे युक्त वासना-विषयक कौतुकदर्शनेच्छा जिसकी नष्ट हो गई, ऐसे होकर आप अपने हृदयमें परम शीतलताका ग्रहण कर विहार कीजिये ॥ ३२ ॥

उपदिष्ट रहस्योंके, श्रीरामचन्द्रजीके हृदयके उन्मेषसे, आविर्भावको दर्शाते हैं—'**इत्थम्**' इत्यादिसे ।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा । निर्मल आशयवाले मुनि श्रीवसिष्ठजीकी इस प्रकारकी निर्मल वाणीसे श्रीरामचन्द्रजी साफ किये हुए दर्पणके समान तुरन्त सुशोभित

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्ववेदाङ्गपारग ।
आश्वस्त इव तिष्ठामि शुद्धाभिर्भवदुक्तिभिः ॥ १ ॥
उदाराणि विविक्तानि पेशलान्युदितानि च ।
श्रोतुं तृप्तिं न गच्छामि वचांसि वदतस्तव ॥ २ ॥
जात्या राजससात्त्विक्याः कथनावसरान्तरे ।
उत्पत्तिर्भवता प्रोक्ता शास्त्रैः कमलजन्मनः ॥ ३ ॥

अतिमधुर ज्ञानामृतसे विराजमान अन्तःकरणसे युक्त हुए वे चन्द्रमाकी तरह शीतलताको प्राप्त हुए ॥ ३३ ॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतालीसवाँ सर्ग

[अतीत, भावी और वर्तमान करोड़ों ब्रह्मा और ब्रह्माण्डोंका तथा नियत और अनियत क्रमवाले देवता आदिका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन् , आप सब धर्मोंके तत्त्वज्ञ और सब वेद, वेदाङ्गोंके पारदर्शी हैं । आपकी स्वच्छ उपदेशवाणियोंसे जिसके सिरका बोझ हट गया, दूर मार्गमें चलनेका एवं बुभुक्षाका परिश्रम निवृत्त हो गया, ऐसे पुरुषके समान मैं बड़े आरामसे स्थित हूँ ॥ १ ॥

उपदेश दे रहे आपके उत्तम, विपुल अर्थवाले, वर्ण, पद, वाक्य और प्रकरणों द्वारा स्फुट, विचित्र कथा, युक्तिके प्रतिपादनमें निपुण, आत्मतत्त्वके प्रकाशक होने और हृदयकमलको प्रकाशित करनेके कारण सूर्य आदिके समान उदित हुए, मनोहर वचनोंको सुननेके लिए मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ २ ॥

इस प्रकार प्रशंसा द्वारा गुरुजीको प्रोत्साहित कर प्रसंगप्राप्त ब्रह्मा आदि देवताओंके ऐश्वर्यको जाननेकी इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'जात्या'** इत्यादिसे ।

राजस, सात्विक जीवजातियोंके उपदेशके समय आपने विविध प्रकारकी सृष्टियोंका प्रतिपादन करनेवाले श्रुति, पुराण आदिके वचनरूपी प्रमाणोंसे ब्रह्माकी जो उत्पत्ति प्रस्तुत की थी, उसका आप स्पष्टरूपसे वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

बहूनि ब्रह्मलक्षाणि शङ्करेन्द्रशतानि च ।
नारायणसहस्राणि समतीतानि राघव ॥ ४ ॥
अन्येषु च विचित्रेषु ब्रह्माण्डेषु च भूरिशः ।
नानाचारविहाराणि विहरन्ति सहस्रशः ॥ ५ ॥
तुल्यकालमनन्तेषु कालान्तरभवेषु च ।
जगत्सु प्रोद्भविष्यन्ति बहून्यन्यानि भूरिशः ॥ ६ ॥
तेषामब्जोद्भवादीनां ब्रह्माण्डेषु दिवौकसाम् ।
उत्पत्तयो महाबाहो विचित्राऽभ्युत्थिता इव ॥ ७ ॥
कदाचित् सृष्टयः शार्व्यः कदाचित् पद्मजोद्भवाः ।
कदाचिदपि वैष्णव्यः कदाचिन्मुनिनिर्मिताः ॥ ८ ॥
कदाचित् पद्मजो ब्रह्मा कदाचित् सलिलोद्भवः ।
अण्डोद्भवः कदाचित्तु कदाचिज्जायतेऽम्बरात् ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, अनेक लाख ब्रह्मा, अनेकों सौ शंकर और इन्द्र एवं अनेकों हजार नारायण बीत चुके हैं ॥ ४ ॥

अन्य विचित्र प्रकारके ब्रह्माण्डोंमें एवं इस ब्रह्माण्डमें भी विविध आचार, विहारके हजारों देवता, असुर आदिके शरीर विचरण करते हैं ॥ ५ ॥

इसी प्रकार अन्यान्य कालोंमें उत्पन्न हुए अनन्त जगतोंमें अन्य बहुतसे सुर, असुर आदिके शरीर प्रचुर मात्रामें एक ही समय उत्पन्न होंगे ॥ ६ ॥

हे महाबाहो, ब्रह्मा आदि उन देवताओंकी ब्रह्माण्डोंमें उत्पत्तियाँ इन्द्रजालमें उदित हुई-सी हैं ॥ ७ ॥

कभी शङ्करपूर्वक सृष्टियाँ होती हैं, कभी प्रथम उत्पन्न हुए ब्रह्मासे सृष्टियाँ होती हैं, कभी विष्णुपूर्वक सृष्टियाँ होती हैं, कभी मुनि द्वारा निर्मित * सृष्टियाँ होती हैं ॥ ८ ॥

ब्रह्मा आदिके आविर्भावस्थान भी अनियत हैं, ऐसा कहते हैं—**'कदाचित्'** इत्यादिसे ।

---

* यह अवान्तर सृष्टिके अभिप्रायसे कहा गया है ।

कस्मिंश्चिदण्डे त्र्यक्षोऽर्कः कस्मिंश्चिदपि वासवः।
कस्मिंश्चित् पुण्डरीकाक्षः कस्मिंश्चित्त्र्यक्ष एव हि ॥ १० ॥
कस्यांचिद्भूरभूत् सृष्टौ नीरन्ध्रतरुसङ्कटा ।
कस्यांचिन्नरनीरन्ध्रा कस्यांचिद्भूधरावृता ॥ ११ ॥
भूरभून्मृन्मयी काचित् काचिदासीद्दृषन्मयी ।
आसीद्धेममयी काचित् काचित्ताम्रमयी तथा ॥ १२ ॥
इहैव कानि चित्राणि जगन्त्यन्यान्यथाऽन्यथा ।
अन्यान्येकैकलोकानि निर्महांस्यपि कानिचित् ॥ १३ ॥
अनन्तानि जगन्त्यस्मिन् ब्रह्मतत्त्वमहाम्बरे ।
अम्भोधिवीचिजलवन्निमज्जन्त्युद्भवन्ति च ॥ १४ ॥
यथा तरङ्गा जलधौ मृगतृष्णा मरौ यथा ।
कुसुमानि यथा चूते तथा विश्वश्रियः परे ॥ १५ ॥

कभी (पाद्मकल्पमें) ब्रह्मा कमलसे उत्पन्न होते हैं, किसी कल्पमें जलसे उत्पन्न होते हैं, कभी अण्डसे उत्पन्न होते हैं और कभी आकाशसे उत्पन्न होते हैं ॥९॥

इसी प्रकार सूर्य आदि पदाधिकारियोंमें भी अनियम है, ऐसा कहते हैं— **'कस्मिंश्चित्'** इत्यादिसे ।

किसी ब्रह्माण्डमें शङ्करजी मुख्य पदाधिकारी हैं तो किसीमें सूर्य मुख्य पदाधिकारी हैं । किसीमें इन्द्र मुख्य पदाधिकारी हैं तो किसीमें नारायण मुख्य पदाधिकारी हैं एवं किसीमें एकमात्र शिवजी ही देवताओंके अधिकारमें स्थित हैं ॥ १० ॥

किसी सृष्टिमें पृथ्वी निविड़ पेड़ोंसे व्याप्त हुई, किसी सृष्टिमें मनुष्योंसे निविड़ हुई और किसी सृष्टिमें पर्वतोंसे व्याप्त थी ॥ ११ ॥

कोई भूमि मृण्मयी हुई, तो कोई पत्थरोंसे पूर्ण थी । कोई स्वर्णमयी थी, तो कोई ताम्रमयी थी ॥ १२ ॥

इस ब्रह्माण्डमें ही कितने आश्चर्यमय जगत् हैं और अन्यान्य ब्रह्माण्ड भी अन्य प्रकारोंसे आश्चर्यमय हैं, किन्हीं जगतोंमें केवलमात्र सूर्य आदिके तुल्य आलोक है, तो कोई प्रकाशरहित भी हैं ॥ १३ ॥

इस ब्रह्मतत्त्वरूपी महाकाशमें अनन्त जगत् सागरकी तरङ्गोंके समान उत्पन्न होते हैं और निमग्न होते हैं ॥ १४ ॥

जैसे सागरमें तरङ्ग उत्पन्न होती हैं, जैसे मरुभूमिमें मृगतृष्णा उत्पन्न होती

भानोर्गणयितुं शक्या रश्मिषु त्रसरेणवः ।
आलोलवपुषो ब्रह्मतत्त्वे न जगतां गणाः ॥ १६ ॥
यथा मशकजालानि वर्षादिष्वाकुलानि तु ।
उत्पत्योत्पत्य नश्यन्ति तथेमा लोकसृष्टयः ॥ १७ ॥
न च विज्ञायते कस्मात्कालात् प्रभृति चाऽऽगताः ।
नित्यागमापायपरा एताः सर्गपरम्पराः ॥ १८ ॥
अनादिमत्यो विरतं प्रस्फुरन्ति तरङ्गवत् ।
पूर्वात्पूर्वं किलाऽभूवंस्ततः पूर्वतरं यथा ॥ १९ ॥
भूत्वा भूत्वा प्रलीयन्ते ससुरासुरमानवाः ।
सरित्तरङ्गभङ्ग्यैव समस्ता भूतजातयः ॥ २० ॥
यथेदमण्डं वैरिञ्चं तथा ब्रह्माण्डपङ्क्तयः ।
याः सहस्राः परिक्षीणा नाडिका वत्सरेष्विव ॥ २१ ॥

है, जैसे आममें बौर उत्पन्न होते हैं, वैसे ही परब्रह्ममें विश्वकी सम्पत्तियाँ उत्पन्न होती है ॥ १५ ॥

भले ही सूर्यकी किरणोंमें चञ्चल त्रसरेणु गिने जा सकते हैं, पर ब्रह्मतत्त्वमें चञ्चल ब्रह्माण्डोंके समूह नहीं गिने जा सकते ॥ १६ ॥

जैसे वर्षा आदि ऋतुओंमें बहुतसे मच्छर आदिके समूह उत्पन्न हो-हो कर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये लोकसृष्टियाँ उत्पन्न हो-होकर नष्ट हो जाती हैं ॥१७॥

उन सृष्टियोंके प्रवाहकी अनादिताको कहते हैं—**'न च'** इत्यादिसे ।

किस समयसे लेकर ये नित्य उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली सृष्टिपरम्पराएँ प्राप्त हुईं, यह नहीं जाना जा सकता ॥ १८ ॥

अनादि कालसे सृष्टिपरम्पराएँ तरङ्गोंके समान निरन्तर स्फुरित होती हैं, पूर्वसे पहले ये थीं और वैसे ही उससे भी पहले विद्यमान थीं ॥ १९ ॥

देवता, असुर और मनुष्योंसे युक्त ये सब भूतजातियाँ नदीकी तरङ्गोंकी रीतिसे ही उत्पन्न हो-होकर लीन हो जाती हैं, जैसे यह ब्रह्माण्ड है वैसे ही जो हजारों ब्रह्माण्डपरम्पराएँ हैं, वे जैसे वर्षोंमें हजारों घड़ियाँ क्षीण हो जाती हैं वैसे ही क्षीण हो गई हैं और अन्य ब्रह्माण्डपङ्क्तियाँ इस समय भी ब्रह्मोपलब्धिका स्थान होनेसे ब्रह्मपुररूप शरीरके एक स्थानमें (हृदय पुण्डरीकरूप एकदेशमें) स्थित

अन्याः सम्प्रति विद्यन्ते वर्तमानशरीरकाः ।
प्रान्ते ब्रह्मपुरस्याऽस्य वितते ब्रह्मणः पदे ॥ २२ ॥
ब्रह्मण्यन्या भविष्यन्ति ब्राह्मयो ब्रह्मपुरश्रियः ।
पुनस्ताश्च विनंक्ष्यन्ति भूत्वा भूत्वा यथा गिरः ॥ २३ ॥
ब्रह्मण्यन्या भविष्यन्त्यः स्थिताः सर्गपरम्पराः ।
घटा इव मृदो राशावङ्कुरे पल्लवा इव ॥ २४ ॥
यावद् ब्रह्मचिदाकाशे तथा त्रिभुवनश्रियः ।
स्फाराकारविकाराढ्याः प्रेक्ष्यमाणा न किञ्चन ॥ २५ ॥
उन्मज्जन्त्यो निमज्जन्त्यो न सत्या नाऽप्यसच्छ्रियः ।
जडारम्भा वितन्वन्त्यस्ता एव खलता इव ॥ २६ ॥
तरङ्गसमधर्मिण्यो दृष्टनष्टशरीरकाः ।
सर्वासां सृष्टिराशीनां चित्राकारविचेष्टिताः ॥ २७ ॥

अत्यन्त विस्तीर्ण ब्रह्ममें वर्तमान शरीरवाली विद्यमान हैं, अतएव 'अस्मिन् द्यावा-पृथिवी अन्तरेव समाहिते' (इस शरीरमें आकाश और पृथिवी भीतर ही समाहित हैं) इत्यादि श्रुति है ॥ २०–२२ ॥

ब्रह्मपुरसे उपलक्षित हृदयाकाशकी शोभारूप ब्रह्मनिर्मित अन्य ब्रह्माण्डपरम्पराएँ जैसे ध्वनिके भेद आकाशमें हो-होकर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही हो-हो कर वे फिर ब्रह्ममें नष्ट हो जाती हैं ॥ २३ ॥

अन्य सृष्टिपरम्पराएँ, जो कि आगे होंगी, जैसे मिट्टीकी राशिमें घड़े स्थित हैं, जैसे अङ्कुरमें पल्लव रहते हैं, वैसे ही ब्रह्ममें स्थित हैं, जबतक तत्त्वज्ञानसे देखी जा रहीं ये कुछ भी नहीं हैं, ऐसा बाध होता है, उससे पहले तक विपुल आकारवाले विकारोंसे युक्त ये त्रिभुवनशोभाएँ ब्रह्म चिदाकाशमें होंगी ॥२४,२५॥

मूर्खोंसे अध्यस्त और विस्तारको प्राप्त की जा रहीं आकाशलताओंकी तरह आविर्भूत और तिरोभूत होती हुईं ये त्रिभुवनशोभाएँ न तो सत्य हैं और न असत्य ही हैं ॥ २६ ॥

सभी अपने अन्तर्गत सृष्टिसमष्टिरूप ब्रह्माण्डोंकी सृष्टियाँ तरङ्गके समान नश्वरतारूप धर्मवाली, देखते ही नष्ट होनेवाली और विचित्र आकारवाली प्राणियोंकी चेष्टाओंसे युक्त हैं ॥ २७ ॥

चित्राकारविकाराश्च चित्ररूपा हि सृष्टयः ।
व्यतिरिक्ता न सर्वेषां समस्ताः सृष्टिदृष्टयः ॥ २८ ॥
तत्त्वज्ञविषये राम सलिलादिव वृष्टयः ।
आयान्ति सृष्टयो देवाज्जलदादिव वृष्टयः ॥ २९ ॥
व्यतिरिक्ता न सर्वेषां समस्ताः सृष्टिदृष्टयः ।
व्यतिरिक्ता द्रवाम्भोधिस्त्वाष्ठीलाः शाल्मलेरिव ॥ ३० ॥
इह सृष्टिषु पुष्टासु निकृष्टासु च राघव ।
परमान्नभसो जातास्तन्मात्रमलमालिकाः ॥ ३१ ॥
कदाचित् प्रथमं व्योम प्रतिष्ठामधिगच्छति ।
ततः प्रजायते ब्रह्मा व्योमजोऽसौ प्रजापतिः ॥ ३२ ॥
कदाचित् प्रथमं वायुः प्रतिष्ठामधिगच्छति ।
ततः प्रजायते ब्रह्मा वायुजोऽसौ प्रजापतिः ॥ ३३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सब ब्रह्माण्डोंकी विचित्र आकार-प्रकारके विकारोंसे युक्त विचित्र रूपवाली सृष्टियाँ एवं सभी सृष्टिदृष्टियाँ तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें जलसे वृष्टियोंके समान अतिरिक्त नहीं हैं और अतत्त्वज्ञकी दृष्टिसे तो मेघसे वृष्टिकी तरह तटस्थ ईश्वरसे उत्पन्न होती हैं ॥ २८, २९ ॥

परमार्थ दृष्टिसे तो अज्ञ व तत्त्ववेत्ता सबकी दृष्टिसे सब सृष्टियाँ जैसे जड़ों द्वारा खींचे गये द्रवरूप भूमिके जलको धारण करनेवाली नाड़ियाँ, त्वचा, पत्र, काँटे आदि सेमरसे अतिरिक्त नहीं हैं, वैसे ही ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं हैं ॥ ३० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, स्थूल भूतोंसे बनी हुई देहादिसृष्टियोंमें और सूक्ष्म भूतोंसे बनी हुई इन्द्रियादिसृष्टियोंमें परमाकाशसे उत्पन्न हुए भूतसूक्ष्मनामक पञ्चतन्मात्ररूप मायामलरूपी सूत्रकी—स्फटिक, रुद्राक्षसे गुँथी हुई—मालाके समान सब पदार्थ हैं ॥३१॥

कभी पद्मसे उत्पन्न हुए ब्रह्मा होते हैं, ऐसा जो कहा, उसमें यथायोग पञ्चीकरणके अनन्तर होनेवाले स्थूल आकाश आदिका प्रथम आविर्भाव क्रम ही नियामक है, ऐसा कहते हैं—**'कदाचित्'** इत्यादिसे ।

कभी आकाश पहले स्थूलतारूपसे स्थितिको प्राप्त होता है । उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, इसलिए आकाशज प्रजापति कहे जाते हैं ॥ ३२ ॥

कभी वायु पहले स्थूलतासे स्थितिको प्राप्त होता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे वायुज प्रजापति कहे जाते हैं ॥ ३३ ॥

कदाचित् प्रथमं तेजः प्रतिष्ठामधिगच्छति ।
ततः प्रजायते कर्ता तैजसोऽसौ प्रजापतिः ॥ ३४ ॥
कदाचित् प्रथमं वारि प्रतिष्ठामधिगच्छति ।
ततः प्रजायते ब्रह्मा वारिजोऽसौ प्रजापतिः ॥ ३५ ॥
कदाचित् प्रथमं पृथ्वी स्फारतामधिगच्छति ।
ततः प्रजायते ब्रह्मा पार्थिवोऽसौ प्रजापतिः ॥ ३६ ॥
इदं चत्वारि सम्पीड्य पञ्चमं वर्धते यदा ।
तदा तज्जात एवैष कुरुते जागतीं क्रियाम् ॥ ३७ ॥
कदाचिदप्सु वायौ वा सुस्फारे वाऽपि तेजसि ।
स्वयं सम्पद्यतेऽकस्मात् पुमान् प्रकृतिभावितः ॥ ३८ ॥

कभी तेज पहले स्थूलतारूपसे स्थितिको प्राप्त होता है, उससे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे तैजस प्रजापति कहे जाते हैं ॥ ३४ ॥

कभी जल पहले स्थूलतारूपसे स्थितिको प्राप्त होता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे जलज प्रजापति कहे जाते हैं ॥ ३५ ॥

कभी पृथ्वी पहले स्थूलताको प्राप्त होती है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे पार्थिव ब्रह्मा कहे जाते हैं ॥ ३६ ॥

अब उक्त आकाश आदिके एक-एक करके प्रथम आविर्भावमें युक्ति कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे ।

इन चारों भूतोंको अपने अंशको बढ़ानेसे तिरोहित-सा कर पाँचवाँ जो ही भूत जब बढ़ता है, तब उससे उत्पन्न हुए ही ये ब्रह्मा उसके अनन्तर होनेवाली जगतकी सृष्टिक्रियाको करते हैं ॥ ३७ ॥

सभी पञ्चभूतोंके कार्य हैं, इसलिए सबमें पञ्चात्मकता होनेपर उनसे उत्पन्न हुए प्रजापतिमें 'एक भूतसे उत्पन्न हुए हैं' ऐसा व्यवहार कैसे ? ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो उक्त भूतका अधिक अंश होनेसे उसमें एकभूतजत्वका व्यपदेश होता है, ऐसा कहते हैं—**'कदाचित्'** इत्यादिसे ।

किसी समय जलके अथवा वायुके या तेजके अधिक भागवाले होनेपर तदुपाधिक प्रजापति पूर्व उपासनाके अनुसारी स्वभावसे वासित होकर जलज, वायुज, तैजस इत्यादि आकारसे अकस्मात् स्वयं संपन्न हो जाता है ॥ ३८ ॥

तस्याऽथ शब्दो वदनात्कदाचिज्जायते पदात् ।
कदाचिदंशात्पृष्ठाद्वा कदाचिल्लोचनात् करात् ॥ ३९ ॥
कदाचित् पुरुषस्याऽस्य नाभौ पद्मं प्रजायते ।
तस्मिन् संवर्धते ब्रह्मा पद्मजोऽसौ प्रकीर्तितः ॥ ४० ॥
मायेयं स्वप्नवद्भ्रान्तिर्मिथ्यारचितचक्रिका ।
मनोराज्यमिवाऽऽलोलसलिलावर्तसुन्दरी ॥ ४१ ॥
किमिवाऽस्यां वद ज्ञप्तौ कथं सम्भवतीह ते ।
क्वचिद् बालमनोराज्यमिदं पर्यनुयुज्यते ॥ ४२ ॥
कदाचिदम्बरे शुद्धे मनस्तत्त्वानुरञ्जनात् ।
सौवर्णं ब्रह्मगर्भं च स्वयमण्डं प्रवर्तते ॥ ४३ ॥

उसके देहावयवोंसे सृष्टिकी प्रवृत्ति दिखाते हैं—**'तस्य'** इत्यादिसे ।

इसके अनन्तर कभी उसके मुँहसे, कभी चरणसे, कभी उसके अग्रभागसे, कभी पीठसे, कभी नेत्रोंसे और कभी बाहुओंसे ब्राह्मण आदि शब्द अपने अर्थोंके साथ यथायोग्य उत्पन्न होते हैं, अतएव 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' ऐसी श्रुति है ॥ ३९ ॥

कभी नारायण नामक पुरुषकी नाभिमें कमल उत्पन्न होता है, उसमें ब्रह्मा वृद्धिको प्राप्त होता है, कमलमें जन्म होनेके कारण वह पद्मज कहा जाता है ॥४०॥

सद्रूपसे विद्यमान उसकी सत्‌से ही उत्पत्ति कैसे हो सकती है, यों पूछ रहे श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कहते हैं—**'मायेयम्'** इत्यादिसे ।

मिथ्या ही इस चक्रकी रचना करनेवाली, चञ्चल जलकी भौंरीके समान सुन्दर यह भ्रान्ति स्वप्न और मनोराज्यके समान माया है ॥ ४१ ॥

यदि सत् पुरुषका अपने नाभिकमलमें जन्म नहीं हो सकता है, तो इस असंग अद्वितीय ब्रह्ममें आपका यह जगद्रूप द्वैत कैसे हुआ, इसे आप बताइये, सद्रूपसे विद्यमान सत्‌का जन्म कैसे हो सकता है, आपका यह प्रश्न बालकके मनोराज्य-प्रश्नके समान ही है, भाव यह कि क्या कहीं बालकका मनोराज्य भी प्रश्नका विषय हो सकता है ! ॥ ४२ ॥

पद्मजकी उत्पत्तिके समान व्योमजकी उत्पत्ति भी मनकी अचिन्त्य रचनाशक्ति-का अवलम्बन करके ही होती है, यों समर्थन करते हैं—**'कदाचित्'** इत्यादिसे ।

कदाचिदेव पुरुषो वीर्यं सृजति वारिणि ।
तस्मात् प्रजायते पद्मं ब्रह्माण्डमथवा महत् ॥ ४४ ॥
तस्मात् प्रजायते ब्रह्मा कदाचिद्भास्करोऽप्यसौ ।
कदाचिद्वरुणो ब्रह्मा कदाचिद्वायुरण्डजः ॥ ४५ ॥
एवमन्तर्विहीनासु विचित्रास्विह सृष्टिषु ।
विचित्रोत्पत्तयो राम ब्रह्मणो विविधा गताः ॥ ४६ ॥
निदर्शनार्थं सृष्टेस्तु मयैकस्य प्रजापतेः ।
भवते कथितोत्पत्तिर्न तत्र नियमः क्वचित् ॥ ४७ ॥
मनोविजृम्भणमिदं संसार इति संमतम् ।
सम्बोधनाय भवतः सृष्टिक्रम उदाहृतः ॥ ४८ ॥
सात्त्विकीप्रभृतयो याश्च जातयश्चेत्थमागताः ।
इति ते कथनायैष सृष्टिक्रम उदाहृतः ॥ ४९ ॥

किसी समय शुद्ध आकाशमें मनकी शक्तिसे सुवर्णका ब्रह्माण्ड, जिसके गर्भमें ब्रह्मा रहते हैं, अपने आप उत्पन्न होता है ॥ ४३ ॥

कभी परम पुरुष जलमें बीजकी सृष्टि करता है । उससे पद्म (भूकमल) अथवा विशाल ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं । कभी पहले कल्पमें सूर्यके अधिकारपर स्थित इस कल्पमें ब्रह्मा होते हैं, कभी पूर्वकल्पमें वरुणके अधिकारपर स्थित इस कल्पमें ब्रह्मा होते हैं और कभी पूर्वकल्पमें वायुके अधिकार-पर स्थित इस कल्पमें ब्रह्मा होते हैं ॥ ४४, ४५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार प्रत्यगात्मामें अविद्यमान इन विचित्र सृष्टियोंमें ब्रह्माकी बहुत-सी बिचित्र उत्पत्तियाँ बीत चुकी हैं ॥ ४६ ॥

एकका यह वर्णन स्थालीपुलाकन्यायसे अन्यान्य सृष्टियोंके भी दृष्टान्तके लिए है, ऐसा कहते हैं—**'निदर्शनार्थम्'** इत्यादिसे ।

एक प्रजापतिकी उत्पत्ति सृष्टिके दृष्टान्तके लिए मैंने आपसे कही, उसमें कहींपर नियम नहीं है ॥ ४७ ॥

यह संसार मनका विलासमात्र है, यह सिद्धान्त है । आपके सम्यग् ज्ञानके लिए मैंने यह सृष्टिक्रम कहा है ॥ ४८ ॥

पूर्ववर्णित सात्विक, राजस आदि जीवजातिभेद भी दृष्टान्तार्थ ही कहे हैं—ऐसा कहते हैं—**'सात्विकी'** इत्यादिसे ।

पुनः सृष्टिः पुनर्नाशः पुनर्दुःखं पुनः सुखम् ।
पुनरज्ञः पुनस्तज्ज्ञो बन्धमोक्षदृशः पुनः ॥ ५० ॥
पुनः सृष्टिकरावीतवीतस्नेहदृशः पुनः ।
दीपा इव कृतालोकाः प्रशाम्यन्त्युद्भवन्ति च ॥ ५१ ॥
देहोत्पत्तौ विनाशे च दीपानां ब्रह्मणामपि ।
कालेनाऽधिकतां त्यक्त्वा नाशे भेदो न कश्चन ॥ ५२ ॥
पुनः कृतं पुनस्त्रेता पुनः स द्वापरः कलिः ।
पुनरावर्तते सर्वं चक्रावर्ततया जगत् ॥ ५३ ॥
पुनर्मन्वन्तरारम्भाः पुनः कल्पपरम्पराः ।
पुनः पुनः कार्यदशाः प्रातः प्रातरहो यथा ॥ ५४ ॥

सात्विकी आदि जीवजातियाँ भी इस प्रकार उत्पन्न हुई हैं, यह कहनेके लिए ही यह सृष्टिक्रम आपसे कहा गया है ॥ ४९ ॥

जब तक इस मनका समूलोन्मूलन नहीं किया जाता, तबतक संसारपरम्पराका कभी विराम नहीं होता, यह दर्शाते हैं—**'पुनः'** इत्यादिसे ।

फिर सृष्टि, फिर नाश, फिर दुःख, फिर सुख, फिर अज्ञानी, फिर ज्ञानी, फिर बन्ध और मोक्षकी अस्तित्वकल्पना होती है । फिर वर्तमान और आगामी प्रियजनोंमें तथा अतीत प्रियजनोंमें स्नेहदृष्टियाँ, जो सृष्टि करनेवाली हैं, उजाला करनेवाले दीपोंके समान पुनः पुनः शान्त होती हैं, पुनः-पुनः उत्पन्न होती हैं ॥ ५०,५१ ॥

यदि कोई कहे अल्पकालस्थायी दीपक दो परार्धतक रहनेवाले ब्रह्मा आदिके शरीरोंके उपमान कैसे हो सकते हैं, इसपर कहते हैं—**'देहोत्पत्तौ'** इत्यादिसे ।

दीपोंके और ब्रह्माओंके शरीरोंकी उत्पत्ति और विनाशमें कालकी अधिकताके सिवा नाशमें और कोई भेद नहीं है ॥ ५२ ॥

फिर कृत युग, फिर त्रेता, फिर द्वापर, फिर कलि इस प्रकार सारा जगत् चक्रके भ्रमणकी तरह पुनः-पुनः आता है ॥ ५३ ॥

फिर मन्वन्तरोंके आरम्भ होते हैं, फिर एक कल्पके बाद अनेकानेक कल्पोंकी परम्पराएँ फिर-फिर कार्यावस्थाएँ ऐसे होती हैं, जैसे प्रति प्रातःकालके बाद दिन होते हैं ॥ ५४ ॥

लोकालोककलाकालकलनाकलितान्तरम् ।
पुनः पुनरिदं सर्वं न किञ्चन पुनः पुनः ॥ ५५ ॥
अनाहते प्रतप्तेऽयःपिण्डेऽनलकणा इव ।
इमे भावाः स्थिता नित्यं चिदाकाशे स्वभावतः ॥ ५६ ॥
कदाचिदनभिव्यक्तं कदाचिद्व्यक्तिमागतम् ।
इदमस्ति परे तत्त्वे सर्वं वृक्ष इवाऽऽर्तवम् ॥ ५७ ॥
चित्स्पन्द एव सर्वात्मा सर्वदैवेदृशाकृतिः ।
यदस्माज्जायते सर्गो द्वीन्दुत्वमिव लोचनात् ॥ ५८ ॥
चितः सर्वाः समायान्ति सन्तताः सृष्टिदृष्टयः ।
तत्स्था एवाऽप्यतत्स्थाभाश्चन्द्रादिव मरीचयः ॥ ५९ ॥
न कदाचन संसारः किलाऽयं राम सत्सदा ।
सर्वशक्तावसंसारशक्तिता विद्यते यतः ॥ ६० ॥

दिन-रात और कलाओंसे (तीस काष्ठारूप यानी मुहूर्तके द्वादशभागरूप क्षणका तीसवाँ हिस्सारूप कलाओंसे), जो कि प्राणियोंके आयुकालकी कल्पनारूप हैं, परिच्छिन्न सब पदार्थोंसे युक्त यह सब जगत् पुनः-पुनः होता है और पुनः-पुनः कुछ भी नहीं रहता है ॥ ५५ ॥

जैसे पत्थर आदिके आघातसे रहित, तपाये हुए लोह-पिण्डमें आगकी चिनगारियाँ स्थित रहती हैं वैसे ही ये सब पदार्थ चिदाकाशमें मायारूप स्वभावसे नित्य स्थित हैं ॥ ५६ ॥

जैसे वृक्षमें विभिन्न ऋतुओंमें होनेवाले फल-फूल आदि कभी अनभिव्यक्त रहते हैं ,कभी प्रकट हो जाते हैं वैसे ही परमतत्त्वमें यह सब जगत् कभी अनभिव्यक्त रहता है, कभी प्रकट हो जाता है ॥ ५७ ॥

सर्वात्मा चिद्विवर्त ही सदा इस प्रकारकी आकृतिवाला होता है, क्योंकि जैसे लोचनोंसे द्विचन्द्रत्व उत्पन्न होता है वैसे ही इससे यह सृष्टि उत्पन्न होती है ॥५८॥

जैसे चन्द्रमासे ही ये सब किरणें आती हैं, उसमें स्थित होती हुई भी उसमें अस्थित-सी प्रतीत होती हैं वैसे ही ये सब चारों ओर विस्तृत सृष्टियाँ चैतन्यसे ही प्राप्त होती हैं और उसमें स्थित होती हुई भी अस्थित-सी प्रतीत होती हैं ॥५९॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह संसार कभी भी सत् नहीं है, क्योंकि सर्वशक्ति

न चैवेदं कदाचित्तु साधो जगदनीदृशम् ।
सर्वशक्तौ हि संसारशक्तिता विद्यते यतः ॥ ६१ ॥
महाकल्पावधिः कालेन संसारितयेद्धया ।
न भविष्यति संसार इदानीमिति युज्यते ॥ ६२ ॥
ज्ञदृष्ट्या सर्वमेवेदं ब्रह्मैवेति महामत ।
नाऽस्ति संसार इत्येतदुपपद्यत एव च ॥ ६३ ॥
अज्ञदृष्ट्या त्वविच्छिन्नसंसारत्वादनारतम् ।
नित्या संसारमायेयं मिथ्याऽपीहोपपद्यते ॥ ६४ ॥
पुनः पुनश्च भावित्वान्न कदाचिदनीदृशम् ।
जगदित्येतदित्युक्तं न मृषा रघुनन्दन ॥ ६५ ॥

चैतन्यमें असंसारस्वभावता, (असङ्गाद्वितीयस्वभावता) सदा परमार्थतः विद्यमान है ॥ ६० ॥

हे सज्जनशिरोमणे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत् कभी भी असत् नहीं है, क्योंकि सर्वशक्ति चैतन्यमें जगद्बीजमर्यादा विद्यमान है ॥ ६१ ॥

अधिष्ठान चैतन्यसे दीप्त संसारिता और कालसे उपलक्षित संसार महाकल्प तक रहता है, आगे नहीं रहेगा, यह व्यवहार इस समय उचित ही है ॥ ६२ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि संसारकी सत्ता और असत्ता परस्पर विरुद्ध है ? तो इसपर दृष्टिभेद होनेसे कोई विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'ज्ञदृष्ट्या'** इत्यादिसे।

हे महामते श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानीकी दृष्टिसे यह सब कुछ ब्रह्म ही है, इसलिए यह संसार नहीं है, यह उपपन्न ही है ॥ ६३ ॥

अज्ञानीकी दृष्टिसे निरन्तर अविच्छिन्न संसारके रहनेके कारण मिथ्या भी यह संसारमाया नित्य है, यह उपपन्न ही है ॥ ६४ ॥

इसीलिए मीमांसकोंका जगत् कभी भी असत् नहीं है, इस प्रकार जगत्प्रवाह नित्य है, यह व्यवहार भी उपपन्न होता है, ऐसा कहते हैं—**'पुनः'** इत्यादिसे ।

हे रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी, बार-बार होनेके कारण यह जगत् कभी भी असत् नहीं है, ऐसा जो मीमांसकोंने कहा है, वह भी पूर्वोक्त दृष्टिसे असत्य नहीं है, क्योंकि वह उनके अभीष्ट कर्मकाण्डके प्रामाण्यका उपपादक है ॥ ६५ ॥

अनारतपतद्रूपा दिशो दृष्टा विनश्वराः ।
विनाशीदं जगत्सर्वमिति किं नोपपद्यते ॥ ६६ ॥
सर्वत्रोदितचन्द्रार्का दिशो दृष्टाः स्थिराचलाः ।
अविनाशि जगत्सर्वमित्यप्यवितथोपमम् ॥ ६७ ॥
न तदस्ति न यत्तस्मिन्नेकस्मिन्विततात्मनि ।
सङ्कल्पकलनाजालमनाख्ये नोपपद्यते ॥ ६८ ॥
पुनः पुनरिदं सर्वं पुनर्मरणजन्मनी ।
पुनः सुखं पुनर्दुःखं पुनः करणकर्मणी ॥ ६९ ॥

अज्ञानियोंकी दृष्टियोंके विचित्र होनेके कारण बुद्ध आदि द्वारा अपनी-अपनी प्रक्रियाके निर्वाहके लिए कल्पित क्षणिक, परमाण्वादि व्यवहार भी उक्त दृष्टिसे उपपन्न होते ही हैं, ऐसा कहते हैं—'**अनारत०**' इत्यादिसे ।

दिशाओंमें उदित हुए विनाशी बिजली आदि सदा क्षणध्वंसी स्वभाववाले देखे गये हैं, क्योंकि वैसी ही सर्वत्र लोगोंने कल्पना की है, उसीके अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् विनाशी है, यह बात क्या उपपन्न नहीं हो सकती ! ॥ ६६ ॥

इसी प्रकार चन्द्रमा और सूर्यके तेज प्रकाशसे युक्त दिशाओंमें पर्वत, भूमि, समुद्र आदिकी स्थिरता देखनेसे जगत् अपनी सत्तासे सदा सत् ही है, इस प्रकारकी सांख्य आदिकी कल्पना भी उपपन्न होती है, ऐसा कहते हैं—'**सर्वत्र**' इत्यादिसे ।

सभी जगह जिनमें चन्द्रमा और सूर्य उदित हुए हैं, ऐसी दिशाएँ सर्वत्र स्थिर और निश्चल दिखाई देती हैं, इसलिए सारा जगत् अविनाशी है, यह कथन भी सत्य-सा है ॥ ६७ ॥

ऐसा कोई संकल्पकल्पनाओंका समूह नहीं है, जो सर्वव्यापक, अद्वितीय नामरूपरहित, परमतत्त्वमें उपपन्न न हो ॥ ६८ ॥

प्रसङ्गतः प्राप्त सब पदार्थोंकी उत्पत्तिकी उपपत्ति कर प्रस्तुत सृष्टिके बार-बार होनेका वर्णन करते हैं—'**पुनः**' इत्यादिसे ।

यह सब दृश्य पुनः पुनः होता है, जन्म और मरण फिर फिर होते हैं, फिर सुख होता है, फिर दुःख होता है, फिर करण और कर्म होते

पुनराशाः पुनर्व्योम पुनरम्भोधयोऽद्रयः ।
अभ्युदेति पुनः सृष्टिः खवदर्कप्रभा यथा ॥ ७० ॥
पुनर्दैत्याः पुनर्देवाः पुनर्लोकान्तरक्रमाः ।
पुनः स्वर्गापवर्गेहाः पुनरिन्द्रः पुनः शशी ॥ ७१ ॥
पुनर्नारायणो देवः पुनर्दनुसुतादयः ।
पुनराशाश्चलच्चारुचन्द्रार्कवरुणानिलाः ॥ ७२ ॥
सुमेरुकर्णिकाकान्ता सह्यकेसरशालिनी ।
पूर्णा स्फीतोदरोदेति रोदसी नलिनी पुनः ॥ ७३ ॥
व्योमकाननमाक्रम्य वल्गत्यंशुनखोत्करैः ।
तमःकरिघटा भेत्तुं पुनर्भास्करकेसरी ॥ ७४ ॥
पुनरिन्दुश्चलत्स्वच्छमञ्जरीसुन्दरैः करैः ।
करोत्यमृतमाह्लादि दिग्वधूमुखमण्डनम् ॥ ७५ ॥

हैं, फिर दिशाएँ होती हैं, फिर आकाश होता है, फिर सागर और पर्वत होते हैं । जैसे खिड़कीवाले घरोंमें एक ही सूर्यकी प्रभा फिर फिर अनेकों तरहसे प्राप्त होती है वैसे ही बार बार यह सृष्टि नानारूपसे होती है ॥६९,७०॥

फिर दैत्य होते हैं, फिर देवता होते हैं, पुनः अन्यान्य लोकोंका प्रसार होता है, पुनः स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्त करनेकी चेष्टाएँ होती हैं, पुनः इन्द्र होते हैं, पुनः चन्द्रमा होते हैं, नारायण देवका भी पुनः प्रादुर्भाव होता है अनेक दानव भी पुनः उत्पन्न होते हैं, दिशाएँ फिर चञ्चल और सुन्दर चन्द्रमा, सूर्य, वरुण, और वायुके प्रसारसे युक्त होती हैं ॥ ७१,७२ ॥

सुमेरुरूप कर्णिकासे मनोहर, सह्याद्रिरूपी केसरसे सुशोभित, प्राणियोंके पुण्यरूपी सुगन्धसे और भोगरूपी मकरन्दसे भरी हुई अन्तरिक्ष और पृथिवीरूपी कमलिनी फिर उत्पन्न होती है ॥ ७३ ॥

सूर्यरूपी सिंह व्योमरूपी वनमें आक्रमणकर किरणरूपी नखोंसे अन्धकाररूपी गजघटाओंको छिन्न-भिन्न करनेके लिए फिर उदित होता है ॥ ७४ ॥

चन्द्रमा चञ्चल और सफेद मञ्जरियोंके समान सुन्दर अपनी किरणोंसे दिशारूपी वधूके मुखको अलङ्कृत करनेवाले और सब प्राणियोंको सुख देनेवाले अमृतका पुनः संचय करता है ॥ ७५ ॥

पुनः स्वर्गतरोः पुण्यक्षयवातसमीरिताः ।
पतन्तीह विलुनाङ्गाः पुण्यकृत्पुष्पराशयः ॥ ७६ ॥

पुनः कार्यक्रियापक्षैः संसारारम्भनामकम् ।
किञ्चित्पटपटं कृत्वा याति कालकपिञ्जलः ॥ ७७ ॥

पुनरिन्द्रालिके याते सज्जमास्थाय केवलम् ।
आयात्यपरदेवेन्द्रषट्पदः स्वर्गपङ्कजम् ॥ ७८ ॥

पुनः कालं कृतापूतं कलुषीकुरुते कलिः ।
सचक्रिणमिवाऽम्भोधिं प्रवृद्धोऽवकरानिलः ॥ ७९ ॥

पुनः कालकुलालेन कृतभूतशरावकम् ।
चक्रमावर्त्यते वेगादजस्रं कल्पनामकम् ॥ ८० ॥

पुनर्नीरसतामेति जगदस्तशुभस्थिति ।
अभ्यासीभूतसङ्कल्पं संशुष्कमिव काननम् ॥ ८१ ॥

पुण्यनाशरूपी वायुसे उड़ाए गये पुण्यात्मारूपी पुष्पसमूह क्षत-विक्षतशरीर होकर स्वर्गरूपी वृक्षसे फिर इस लोकमें गिरते हैं ॥ ७६ ॥

सष्टिकालरूपी कपिञ्जल क्रियारूपी पक्षोंसे संसारनिर्माणनामक कुछ पट-पटरूप कार्य करके फिर चला जाता है ॥ ७७ ॥

पूर्व इन्द्ररूपी भ्रमरके अपने अधिकारसे निवृत्त होनेपर नवीन, तत्तद् मन्वन्तरके अधिकारी अन्यान्य देवताओंसे सन्नद्ध ऐरावतमें बैठकर अपर देवेन्द्ररूपी भ्रमर पूर्व प्रदेशोंसे रहित स्वर्गरूपी कमलमें पुनः प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

जैसे प्रलयकालका वायु अपने भीतर सो रहे भगवान् विष्णुके साथ समुद्रको कलुषित कर देता है वैसे ही सत्ययुगसे पवित्र कालको कलि (अधर्म) पुनः दूषित करता है ॥ ७९ ॥

कालरूपी कुम्भकारसे, जिससे प्राणीरूपी सकोरे बनाए गए हैं, ऐसा कल्पनामक चक्र निरन्तर वेगसे घुमाया जाता है ॥ ८० ॥

शुभस्थितिसे रहित जगत् , जिसमें जिस विषयमें पूर्व अभ्यास है उस विषयके अनुगुण संकल्प है, सूखे हुए वनके समान फिर नीरसताको (धर्मरस-हीनताको) प्राप्त होता है ॥ ८१ ॥

पुनरर्कगणेष्वग्निदग्धानन्तकलेवरम् ।
सर्वभूतास्थिसम्पूर्णं जगदेति श्मशानताम् ॥ ८२ ॥
पुनः कुलाचलाकारपुष्करावर्तवर्षणैः ।
नृत्यद्भवबृहत्फेनां यात्येकार्णवतां जगत् ॥ ८३ ॥
पुनः संशान्तवाय्वम्बु रिक्तं सकलवस्तुभिः ।
तदपूर्वमिवाऽऽकाशं जगदायाति शून्यताम् ॥ ८४ ॥
पुनः कतिपया भुक्त्वा समाः समरसाशयः ।
जीवितं जीर्णया तन्वा पुनः स्वात्मनि लीयते ॥ ८५ ॥
पुनरन्येन कालेन तथैव जगतां गणान् ।
मनस्तनोति वै शून्ये गन्धर्वनगरं यथा ॥ ८६ ॥
पुनः सर्गसमारम्भः प्रलये सर्वसम्भवः ।
सर्वं पुनरिदं राम चक्रवत्परिवर्तते ॥ ८७ ॥
किमेतस्मिन् महामायाडम्बरे दीर्घशम्बरे ।
राम सत्यमसत्यं वा निर्णेयं यदिहोच्यते ॥ ८८ ॥

सूर्यसमूहोंके उदय होनेपर सूर्यसमूहरूपी प्रदीप्त वह्निसे जिसमें अनन्त शरीर जलाये गये हैं एवं सब प्राणियोंकी हड्डियोंसे परिपूर्ण जगत् फिर श्मशान बन जाता है ॥ ८२ ॥

कुलाचलके समान विपुल आकारवाले पुष्करावर्त नामक प्रलयकालके मेघोंकी वृष्टियोंसे जगत् फिर एकमात्र सागरताको, जिसमें नाच रहे संहार रुद्र ही सफेद होनेके नाते विशाल फेनकी ढेर-से प्रतीत होते हैं ॥ ८३ ॥

फिर जिसमें वायु और जल निश्चल हो गया है एवं सब वस्तुओंसे रिक्त जगत् अपूर्व आकाशके समान शून्यताको प्राप्त होता है ॥ ८४ ॥

समरस हृदयवाले आदि देव कितने ही वर्षों तक जीर्ण शरीरसे जीवनका अनुभवकर फिर अपनी आत्मामे लीन हो जाते हैं । फिर दूसरे समयमें मन शून्यमें गन्धर्वनगरके समान उसी प्रकार जगतोंका निर्माण करता है ॥ ८५,८६ ॥

फिर प्रलय होनेपर सृष्टिसमारम्भरूप सबकी उत्पत्ति होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, चक्रके समान फिर यह सब घूमता है ॥ ८७ ॥

दीर्घ भ्रमरूप इस महामायाके आडम्बरमें यह सत्य है, यह असत्य है

दाशूराख्यायिकेवेयं राम संसारचक्रिका ।
कल्पनारचिताकारा वस्तुशून्या न वस्तुतः ॥ ८९ ॥
अविरलमिदमाततं विकल्पैरसदुदितैरपि तैर्द्विचन्द्रकल्पैः ।
विरचितमसताऽनुपन्नसत्यं जगदिह तेन विमूढता किमुत्था ॥ ९० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे जगद्भास-निर्णययोगोपदेशो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

क्रियाविशेषबहुला भोगैश्वर्यहताशयाः ।
नाऽपेक्षन्ते यदा सत्यं न पश्यन्ति शठास्तदा ॥ १ ॥

इस प्रकार निश्चय करनेके योग्य क्या कोई वस्तु है ? जो यहाँपर कही जाय । दाशूरकी आख्यायिकाके समान यह संसारचक्र कल्पनासे रचित आकारवाला तथा वस्तुशून्य है, वास्तविक नहीं है। ८८, ८९ ॥

जब कि यह जगत् अज्ञानसे उत्पन्न हुए अतएव दो चन्द्रमाओंके भ्रमके तुल्य विकल्पोंसे निरन्तर व्याप्त है, अविद्यमान कर्तासे ही इसकी रचना हुई है एवं अधिष्ठानरूप ब्रह्मका इसने अनुसरण कर रक्खा है, तो यहाँपर आपकी विमूढ़ता किस कारणसे उत्पन्न हुई है। भाव यह कि जिस निमित्तको आप देखते हैं, वह है ही नहीं और जो परमार्थतः है, वह अभय ब्रह्म ही है, इसलिए आपको बिना किसी निमित्तके यह मोह होना उचित नहीं है ॥ ९० ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तालीसवाँ सर्ग

[भोग आदिकी लालसाकी निन्दा, दाशूरकी उत्पत्ति और प्रसन्न हुए अग्निदेवसे उनको वरप्राप्ति]

यदि यह संसारचक्र एकमात्र मनकी कल्पना ही है, यह ब्रह्म ही परमार्थतः है; तो बुद्धि, प्रतिभा, निपुणता आदिसे सम्पन्न महापुरुषोंमें कोई भी वैसा क्यों नहीं

ये तु पारं गता बुद्धेरिन्द्रियैर्न वशीकृताः ।
त एनां जागतीं मायां पश्यन्ति करबिल्ववत् ॥ २ ॥
तुच्छां तां जागतीं मायां दृष्ट्वा जीवो विचारवान् ।
अहङ्कारमयीं मायां त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ ३ ॥
असक्ततां ततोऽभ्येत्य पुना राम न जायते ।
क्षेत्रेष्वपि चिरं तिष्ठन्बीजं दग्धमिवाऽग्निना ॥ ४ ॥
आधिव्याधिपरीताय प्रातर्वाऽद्य विनाशिने ।
प्रयतन्ते शरीराय हितमज्ञास्तु नाऽत्मने ॥ ५ ॥

देखता, इसमें क्या कारण है ? ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो परमार्थ तत्त्वकी ओर ध्यान न देना और उसके विरुद्ध भोग-ऐश्वर्य आदिकी आसक्ति ही इसमें कारण है, ऐसा कहते हैं—**'क्रियाविशेष०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, भोग और ऐश्वर्यसे हतबुद्धि अतएव ऐहिक और पारलौकिक भोग, ऐश्वर्यके उपायभूत लौकिक और वैदिक विविध कर्मोंसे बढ़े हुए अभिलाषवाले एवं स्वयं अपनी आत्मा और दूसरोंकी वञ्चना करनेवाले पुरुष जब सत्य तत्त्वकी ओर ध्यान नहीं देते, तब वे उसे नहीं देखते ॥ १ ॥

तब कौन देखते हैं, ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—**'ये तु'** इत्यादिसे ।

जो पुरुष विवेकबुद्धिकी चरम सीमाको पहुँचे हैं एवं इन्द्रियोंके वशीभूत नहीं हैं, वे इस जगत्की माया एवं सत्य तत्त्वको हाथमें रक्खे हुए बेलके समान भली भाँति देखते हैं ॥ २ ॥

जो विचारवान् जीव इस जगत्की बाह्यमाया और अहङ्कारमयी आभ्यन्तर मायाको तुच्छ जानकर जैसे साँप केंचुलको छोड़ देता है वैसे ही मायाका त्याग करता है तदनन्तर अनासक्तिको प्राप्त होकर जैसे अग्निसे जला हुआ बीज चिरकालतक खेतोंमें रहता हुआ भी उत्पन्न नहीं होता वैसे ही वह भी चिरकालतक देहोंमें स्थित होता हुआ भी फिर उत्पन्न नहीं होता ॥ ३,४ ॥

किन्तु अज्ञानी पुरुष आधि-व्याधिसे घिरे हुए, प्रातःकाल या आज नष्ट होनेवाले शरीरके हितके लिए प्रयत्न करते हैं, आत्माके हितके लिए प्रयत्न नहीं करते ॥ ५ ॥

त्वमप्यज्ञवदज्ञस्य शरीरस्य समीहितम् ।
मा संपादय दुःखाय भवाऽऽत्मैकपरायणः ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

दाशूराख्यायिकेवेयं सुखसंसारचक्रिका ।
कल्पनारचिताकारा वस्तुशून्येति किं प्रभो ॥ ७ ॥

वसिष्ठ उवाच

जगन्मायास्वरूपस्य वर्णनाव्यपदेशतः ।
दाशूराख्यायिकां राम वर्ण्यमानां मया शृणु ॥ ८ ॥
अस्त्यस्मिन् वसुधापीठे विचित्रकुसुमद्रुमः ।
मागधो नाम विख्यातः श्रीमान् जनपदो महान् ॥ ९ ॥
कदम्बवनविस्तारलीलावलितजङ्गलः ।
विचित्रविहगव्यूहसर्वाश्चर्यमनोहरः ॥ १० ॥
सस्यसङ्कटसीमान्तः पुरोपवनमण्डितः ।
कमलोत्पलकह्लारपूर्णसर्वसरित्तटः ॥ ११ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप भी अज्ञानियोंकी तरह जड़ शरीरके हितका दुःखके लिए सम्पादन न कीजिये, एकमात्र आत्मनिष्ठ होइये ॥ ६ ॥

पहले प्रस्तुत दाशूरकी आख्यायिकाको सुननेकी इच्छावाले श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'दाशूरा०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, यह विषयसुखको देनेवाला संसारचक्र दाशूरकी आख्यायिकाके तुल्य कल्पना द्वारा रचित आकारवाला एवं अवास्तविक है, ऐसा जो आपने कहा, वह कैसा है ? वह आख्यायिका जिस प्रकारकी है, उसे वर्णन करनेकी कृपा कीजिये ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत्‌की मायाके स्वरूपके उदाहरणरूपसे मेरे द्वारा कही जा रही दाशूरकी आख्यायिकाको आप सुनिये ॥ ८ ॥

इस पृथिवीतलमें विचित्र फूलोंके वृक्षोंसे परिपूर्ण मागध नामसे प्रसिद्ध बड़ा समृद्ध देश है । उसमें कदम्ब वनके विस्तारने अनायास सब जङ्गलोंको वेष्टित कर रक्खा है । भाँति-भाँतिके पक्षियोंके झुण्डों और आश्चर्यमय वस्तुओंसे वह बड़ा रमणीय है । उसकी ग्रामसीमाकी भूमियां धान आदिकी खेतीसे व्याप्त हैं । नगरके

उद्यानदोलाविलसल्ललनागेयघुंघुमः ।
निशोपभुक्तकुसुमनीरन्ध्रविशिखावनिः ॥ १२ ॥
तत्रैकस्मिन् गिरितटे कर्णिकारसमाकुले।
कदलीखण्डनीरन्ध्रनीपगुल्मविराजिते ॥ १३ ॥
पुष्पौघस्फूर्जदनिले केसरारुणधूलिनि ।
कारण्डवकृतारावे रसत्सरससारसे ॥ १४ ॥
तस्मिन्नगवरे पुण्ये विचित्रविहगद्रुमे।
कश्चित् परमधर्मात्मा मुनिरासीन्महातपाः ॥ १५ ॥
दाशूरनामा महता तपोयोगेन संयुतः ।
कदम्बपृष्ठवास्तव्यो वीतरागो महामतिः ॥ १६ ॥

श्रीराम उवाच

असौ तपस्वी भगवन् विपिने केन हेतुना ।
कथं चाऽप्यवसत् पृष्ठे कदम्बस्य महातरोः ॥ १७ ॥

वसिष्ठ उवाच

शरलोमेति विख्यातः पिता तस्य बभूव ह ।
रामाऽपर इव ब्रह्मा तस्मिन्नेवाऽवसद्गिरौ ॥ १८ ॥

उपवनोंसे वह सुशोभित है। उसकी सब नदियोंके तट कमल, उत्पल और कह्लारसे भरे हैं। उपवनोंके झूलोंमें झूल रहीं महिलाओंके गानोंसे वह गुलजार है। निशासे उपभुक्त हुए-से मुर्झाए फूलोंसे वहाँकी सड़कें निविड़ रहती हैं। उस देशमें कनैलके वृक्षोंसे व्याप्त, केलेकी झाड़ियोंसे निविड़, कदम्बोंके वृक्षोंसे सुशोभित एक पर्वततट था, जहाँ फूलोंमें बहनेसे वायु शब्द करता था, केसररूपी लाल धूलिसे जो व्याप्त था, जिसपर कलहंस तथा अनुरागयुक्त सारस शब्द करते थे। उस पुण्य पर्वतपर, जिसमें विचित्र पक्षी और वृक्ष थे, परम धर्मात्मा और महातपस्वी कोई मुनि निवास करते थे। उनका नाम दाशूर था। वे अत्यन्त कठिन तपस्या कर रहे थे। कदम्ब वृक्षकी चोटीपर वे रहते थे। उन्हें सांसारिक किसी वस्तुसे अनुराग न था और वे महाज्ञानी थे ॥ ९–१६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, वे महातपस्वी वनमें कदम्बके विशाल वृक्षकी चोटीपर किस प्रभावसे और कैसे रहते थे? ॥ १७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, शरलोम नामसे विख्यात उनके

तस्याऽसावेकपुत्रोऽभूत् कचो देवगुरोरिव ।
तेन सार्धं स पुत्रेण नीतवाञ्जीवितं वने ॥ १९ ॥
अथाऽसौ शरलोमाऽत्र भुक्त्वा युगगणं ययौ ।
त्यक्तदेहः सुरागारं मुक्तनीडः खगो यथा ॥ २० ॥
एक एव वने तस्मिन् दाशूरः प्ररुरोद ह ।
दशापनीतपितृकः करुणं कुररो यथा ॥ २१ ॥
मातापितृवियोगेन शोकसन्तापिताशयः ।
म्लानिमभ्याययौ नूनं हेमन्त इव पङ्कजम् ॥ २२ ॥
बालोऽसावतिदीनात्मा वनदेवतया वने ।
इत्थमाश्वासितो राम तदाऽदृश्यशरीरया ॥ २३ ॥
ऋषिपुत्र महाप्राज्ञ किमज्ञ इव रोदिषि ।
संसारस्य न कस्मात्त्वं स्वरूपं वेत्सि चञ्चलम् ॥ २४ ॥
सर्वदैवेदृशी साधो संसारे संसृतिश्चला ।
जायते जीव्यते पश्चादवश्यं च विनश्यति ॥ २५ ॥

पिता थे । वे दूसरे ब्रह्माके सदृश थे, उसी पर्वतपर निवास करते थे ॥ १८ ॥

देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र कचकी तरह उनके यह एक पुत्र हुआ । उस पुत्रके साथ उन्होंने वनमें सारी आयु व्यतीत की ॥ १९ ॥

तदुपरान्त वे शरलोमा ऋषि यहांपर अनेक वर्षोंका उपभोग करके जैसे पक्षी घोंसला छोड़कर चला जाता है वैसे ही देहका त्याग कर स्वर्गको चले गये ॥२०॥

दुर्भाग्य द्वारा दाशूरके पिता दाशूरसे पृथक् किये गये थे, अतएव एकाकी* वे कुरर पक्षीके सदृश करुण विलाप करने लगे ॥ २१ ॥

माता और पिताके वियोगसे शोकसन्तप्त वे हेमन्तमें कमलके समान अत्यन्त म्लान हो गये । हे श्रीरामचन्द्रजी, अत्यन्त दीन उस बालकको वनदेवताने अदृश्यशरीर होकर इस प्रकार आश्वासन दिया ॥ २२,२३ ॥

हे ऋषिपुत्र, हे महाप्राज्ञ, तुम अज्ञानीके समान क्यों रोते हो । तुम संसारके चंचल स्वरूपको क्या नहीं जानते ? ॥ २४ ॥

हे सज्जन, संसारमें चंचल सृष्टि सदा ऐसी ही है, वह पहले तो उत्पन्न होती है, जीवित रहती है और पीछे अवश्य विनष्ट हो जाती है ॥ २५ ॥

* 'एक एव' इस शब्दसे ज्ञात होता है कि उनकी माताने पिताका अनुगमन कर लिया था ।

यद्यत्किञ्चिद्दृश्यदृशि ब्रह्मादिकमिदं मुने ।
गन्तव्यस्तेन सर्वेण विनाशो नाऽत्र संशयः ॥ २६ ॥
तदर्थं मा कृथा व्यर्थं विषादं मरणे पितुः ।
अवश्यभाव्यस्तमयो जातस्याहर्पतेरिव ॥ २७ ॥
अशरीरामिति श्रुत्वा गिरमारक्तलोचनः ।
धैर्यमासादयामास शिखण्डी स्तनितादिव ॥ २८ ॥
उत्थायाऽऽवश्यकं कृत्वा पाश्चात्यं पितुरादरात् ।
चकार तपसे बुद्धिं दृढामुत्तमसिद्धये ॥ २९ ॥
ब्राह्मेण कर्मणा तस्य विपिने चरतस्तपः ।
अनन्तसङ्कल्पमयं श्रोत्रियत्वं बभूव ह ॥ ३० ॥
अज्ञातज्ञेयबुद्धेस्तु श्रोत्रियस्य तया तया ।
न विशश्राम चेतोऽस्य पवित्रेऽपि धरातले ॥ ३१ ॥
केवलं सर्वमेवेदमपि शुद्धं धरातलम् ।
अशुद्धमिव पश्यन् स न रेमे क्वचिदेव हि ॥ ३२ ॥

हे मुने, व्यवहार दृष्टिमें ब्रह्मा आदि यह जो कुछ भी वस्तु प्रसिद्ध है, उसका अवश्य विनाश हो जायगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिए पिताके मरणके लिए तुम व्यर्थ विषाद मत करो। जैसे उदित हुए सूर्य अवश्य डूबते हैं वैसे ही उत्पन्न हुएका विनाश अवश्यम्भावी है ॥ २६,२७ ॥

दाशूरके नेत्र मारे विलापके लाल हो गये थे। वे ऐसी आकाशवाणी सुनकर जैसे मोर मेघका गर्जन सुनकर धैर्यको प्राप्त होता है वैसे ही धैर्यको प्राप्त हुए ॥ २८ ॥

उठकर अपने पिताका और्ध्वदैहिक कर्म बड़े आदरके साथ करके उत्तम सिद्धि प्राप्त करनेके लिए उन्होंने तपस्याके लिए दृढ़ निश्चय किया ॥ २९ ॥

वनमें ब्राह्मणोचित कर्मसे तपस्या कर रहे उन्होंने अनन्त शुद्धि और अशुद्धि आदि कल्पनाओंसे युक्त श्रोत्रियत्व प्राप्त किया, जिससे ज्ञेय तत्त्वका ज्ञान नहीं हुआ, ऐसी बुद्धिवाले उस श्रोत्रियका चित्त उन-उन शुद्धि और अशुद्धिकी कल्पनाओंसे इस पवित्र पृथिवीपर विश्रामको प्राप्त नहीं हुआ। यद्यपि यह सारा भूमण्डल शुद्ध था, तथापि इसे केवल अशुद्ध सा देखते हुए वे कहींपर विश्रान्तिको प्राप्त नहीं हुए॥ ३०—३२ ॥

अथ सङ्कल्पयामास स्वसङ्कल्पनयैव सः ।
वृक्षाग्रमेव संशुद्धं स्थितिस्तत्रोचिता मम ॥ ३३ ॥
तदिदानीं तपस्तप्स्ये तपसा येन शाखिषु ।
खगवत्स्थितिमाप्नोमि शाखासु च दलेषु च ॥ ३४ ॥
इति सञ्चिन्त्य सञ्ज्वाल्य हुताशमतिभास्वरम् ।
जुहाव तस्मिन् प्रोत्कृत्य मांसं स्वस्कन्धभित्तितः ॥ ३५ ॥
अथ गीर्वाणवृन्दस्य समग्रा गलभित्तयः ।
मन्मुखत्वेन मा यान्तु विप्रमांसेन भस्मताम् ॥ ३६ ॥
इति सञ्चिन्त्य भगवान् सप्तार्चिस्तस्य देवता ।
पुरो बभूव दीप्तांशुर्दीप्तांशुर्वाक्पतेरिव ॥ ३७ ॥
उवाच वचनं धीरं कुमाराभिमतं वरम् ।
गृहाण स्थापितं साधो कोशाकाशान्मणिं यथा ॥ ३८ ॥
इत्युक्तवन्तमनलमर्घपुष्पेण शोभिना ।
सम्पूज्य स्तुतिवादेन प्राह विप्रकुमारकः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर अपनी कल्पनासे ही उन्होंने विचार किया कि वृक्षकी चोटी ही पवित्र है, उसीपर मेरा रहना ठीक है ॥ ३३ ॥

इसलिए अब मैं तपस्या करूँगा, जिस तपस्यासे वृक्षों, शाखाओं और पत्तोंपर पक्षियोंकी तरह रह सकूँ ॥ ३४ ॥

ऐसा विचार कर खूब धधकती हुई आग जलाकर उसमें अपने कन्धोंसे नोच नोच कर मांसकी आहुति देने लगे ॥ ३५ ॥

तदुपरान्त मैं देवताओंका मुख हूँ, इसलिए देवताओंके कण्ठ ब्राह्मणके मांससे भस्म न हों, ऐसा विचार कर देदीप्यमान भगवान् अग्निदेव उनके सामने जैसे बृहस्पतिके सामने सूर्य प्रकट हों वैसे ही प्रकट हुए ॥ ३६,३७ ॥

हे सज्जन, जैसे कोशके भीतरसे कोशाधिपति पहलेसे स्थापित मणिको ग्रहण करता है वैसे ही हे कुमार, तुम्हारे अन्दर पहलेसे विद्यमान अभीष्ट वर तुम ग्रहण करो, ऐसा धीर वचन उन्होंने कहा ॥ ३८ ॥

जब अग्निदेवने ऐसा कहा, तब ब्राह्मणकुमारने अर्घ्य और पुष्पसे सुशोभित स्तुतियों द्वारा अग्निकी पूजा कर उनसे कहा ॥ ३९ ॥

भगवन् भूतपूर्णाया भुवः पावनमण्डलम् ।
नाऽऽप्नोमि तेन वृक्षाणामुपरिस्थितिरस्तु मे ॥ ४० ॥
इत्युक्ते मुनिपुत्रेण सर्वदेवमुखं शिखी ।
एवमस्तु तवेत्युक्त्वा जगामाऽन्तर्द्धिमीश्वरः ॥ ४१ ॥
तस्मिन्नन्तर्हिते देवे क्षणात्सान्ध्य इवाऽम्बुजे ।
पूर्णकामः कुमारोऽसौ पूर्णेन्दुरिव चाऽऽबभौ ॥ ४२ ॥
अधिगताभिमताननमण्डलद्युतिभरेण जहास स तुष्टिमान् ।
शशिनमाप्तकलाकुलमम्बुजं विकसितं च सितस्मितशोभिना ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दाशूरो-पाख्याने दाशूरवरप्रदानवर्णनं नाम अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥४८॥

भगवन्, प्राणियोंसे चारों ओर ठसाठस भरी हुई पृथिवीका पवित्र प्रदेश मुझे कहीं नहीं दिखाई दिया । इसलिए वृक्षोंके ऊपर मेरी स्थिति हो ॥ ४० ॥

मुनिपुत्रके ऐसा कहनेपर सब देवताओंके मुखरूप अग्निदेव 'वृक्षोंके ऊपर ही तुम्हारी स्थिति हो' ऐसा कहकर अन्तर्हित हो गये ॥ ४१ ॥

सायंकालीन कमलके समान अग्निदेवके क्षणभरमें अन्तर्हित होनेपर पूर्णकाम वह मुनिकुमार पूर्ण चन्द्रमाके समान सुशोभित हुआ ॥ ४२ ॥

अत्यन्त सन्तोषको प्राप्त हुए उस मुनिकुमारने अभीष्ट वरकी प्राप्ति द्वारा उत्पन्न हुई मुखकी कान्तिसे, जो मन्द हाससे अधिक सुशोभित हो रही थी, सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त चन्द्रमाको और विकसित कमलको फीका कर दिया ॥ ४३ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

एकोनपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ काननमध्यस्थं चुम्बिताम्बुदमण्डलम् ।
मध्याह्नखिन्नसूर्याश्वसेवितस्कन्धमण्डलम् ॥ १ ॥
वितानमिव दिक्कुक्षिदीर्घं विटपबाहुभिः ।
आलोकयन्तं ककुभो विकासिकुसुमेक्षणैः ॥ २ ॥
वातावधूलितानल्पभ्रमद्भ्रमरकुन्तलम् ।
प्रमार्जयन्तमाशानां मुखं पल्लवपाणिभिः ॥ ३ ॥
कच्छैरुरुगुडुच्छाच्छमञ्जरीपुञ्जकञ्जरैः ।
आस्यैरिव सताम्बूलैर्हसन्तं वनमालिकाः ॥ ४ ॥
लताविलसितोल्लासैः पुष्पकेसरधूलिभिः ।
आबद्धमण्डलाभोगं पूर्णेन्दुमिव दीप्तिभिः ॥ ५ ॥

उनचासवाँ सर्ग

[शाखा, पल्लव, पुष्प, फल और पक्षियोंसे मनोहर कदम्ब वृक्षका उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारोंसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उसने वनके मध्यमें स्थित कदम्ब वृक्षको देखा। वह इतना ऊँचा था कि मेघोंको छूता था, मध्याह्नके समय थके हुए सूर्यके घोड़े उसके स्कन्ध-प्रदेशमें विश्राम लेते थे, वह अपनी शाखारूपी बाहुओंसे दिशाओंके मध्य भागके समान विशाल वितानकी रचना कर रहा था, फूले हुए फूलरूपी नेत्रोंसे मेरी शाखाओंके वितानसे अनावृत बचा हुआ और कोई प्रदेश है या नहीं ? यों मानो दिशाओंको देख रहा था, तेज वायु बहनेके कारण परागरहित होकर घूम रहे प्रचुर भँवर ही उसके केश थे, वह अपने पल्लवरूपी हाथोंसे दिशारूपी कान्ताओंका मुख पोंछ रहा था ॥ १—३ ॥

गुडुच्छ लताओंकी दन्तपङ्क्तिके समान स्थित स्वच्छ मञ्जरीके पुञ्जोंसे केसर युक्त हुए, ओसकी बिन्दुओंको सीकररूपमें परिणत कर देनेवाले पल्लवरूपी ताम्बूलयुक्त मुखोंसे मानों वह वनराजिका परिहास कर रहा था ॥ ४ ॥

लताओंकी अत्यन्त शोभासे उल्लसित हो रहे फूलोंके केसरमें स्थित परागोंसे

सङ्कटं विटपावल्या कुञ्जकूजच्चकोरया ।
छन्नया सिद्धवीथ्येव जगदुच्चतया श्रितम् ॥ ६ ॥
स्कन्धपीठोपविष्टानां लम्बमानैः कलापिनाम् ।
कलापैः शोभितं व्योम सेन्द्रचापैरिवाऽम्बुदैः ॥ ७ ॥
मग्नोन्मग्नैः प्रतिस्कन्धमाश्रितैश्चमरैः सितैः ।
पूर्णं मुहुर्दृष्टनष्टैः संवत्सरमिवेन्दुभिः ॥ ८ ॥
कपिञ्जलकुलालापैः कलकोकिलकूजितैः ।
जीवंजीवविरावैश्च प्रगायन्तमिवोच्छ्रितैः ॥ ९ ॥
कादम्बककदम्बैश्च कुलायकृतकेलिभिः ।
स्वर्गकोटरविश्रान्तैः सिद्धैर्जगदिवाऽऽवृतम् ॥ १० ॥
प्रवालचलहस्ताभिरलिनेत्राभिराश्रितम् ।
अप्सरोभिरिव स्वर्गं मञ्जरीभिरितस्ततः ॥ ११ ॥

उसने मण्डलाकार वेष बना रक्खा था । दीप्तिसे वह चन्द्रमाकी तरह प्रतीत होता था । शाखाओंकी परम्पराओंसे, जिनके लताओंसे आवृत प्रदेशोंमें चकोर शब्द करते थे, वह व्याप्त था । ग्रह, नक्षत्र, तारा, विमान आदिसे आवृत सिद्धमार्गसे उन्नतरूपसे आश्रित ब्रह्माण्डकी तरह वह स्थित था, कन्धे और चोटीपर बैठे हुए मयूरोंके लटक रहे मोरपङ्खोंसे वह, इन्द्रधनुषसे युक्त मेघोंसे आकाशके समान, सुशोभित था ॥ ५–७ ॥

प्रत्येक स्कन्धप्रदेशमें खोखलोंमें रहनेवाले, भीतर स्थित आधे शरीरसे खोखलेमें निमग्न और बाहर निकले हुए आधे शरीरसे उन्मग्न तथा क्षणमें दिखाई देने और क्षणमें नष्ट होनेवाले सफेद चमर मृगोंसे वह ऐसे पूर्ण था, जैसे कि चन्द्रमाओंसे संवत्सर पूर्ण रहता है ॥ ८ ॥

कपिञ्जल नामक पक्षियोंके जोरके चह-चहानेसे, कोकिलोंके मधुर कूजितसे और चकोरोंकी दीर्घ ध्वनियोंसे मानो वह गा रहा था ॥ ९ ॥

अपने घोंसलेमें क्रीड़ा कर रहे कलहंसोंके समूहोंसे वह ऐसे व्याप्त था जैसे स्वर्गरूप कोटरमें विश्राम ले रहे सिद्धोंसे ब्रह्माण्ड आवृत रहता है ॥ १० ॥

जैसे पल्लवके समान चञ्चल सुन्दर हाथवाली और भँवरके समान नेत्रवाली अप्सराओंसे स्वर्ग चारों ओर व्याप्त रहता है, वैसे ही किसलयरूपी चञ्चल हाथवाली भँवररूपी सुन्दर नेत्रवाली मञ्जरियोंसे वह चारों ओर व्याप्त था ॥ ११ ॥

सेन्द्रचापविलासेन कुमुदोत्कररेणुना ।
मञ्जरीपिञ्जराश्यामं विद्युत्वन्तमिवाऽम्बुदम् ॥ १२ ॥
सहस्रभुजशाखाढ्यं पूरिताकाशकोटरम् ।
विश्वरूपमिवोन्नृत्तं चन्द्रार्ककृतकुण्डलम् ॥ १३ ॥
तले निषण्णनागेन्द्रं व्योम्नि तारागणाकुलम् ।
लतापुष्पमयं मध्ये खमण्डलमिवाऽपरम् ॥ १४ ॥
पितामहमिवाऽशेषशैलकाननशालिनम् ।
फलपल्लवपुष्पाणां कोशमेकमिवाऽवनौ ॥ १५ ॥
दधानं कलिकाजालं स्थगितं पुष्पधूलिभिः ।
कच्छेष्वर्ककरच्छन्नताराजालमिवाऽम्बरम् ॥ १६ ॥

इन्द्रधनुषकी सुन्दरतावाले कुमुद, नीलकमल, रक्तकमल आदिके तुल्य भाँति-भाँतिके फूलोंके परागोंसे युक्त, मञ्जरियोंसे पीला और पत्तोंसे चारों ओर हरा वह वृक्ष बिजलीवाले मेघके समान दिखाई देता था ॥ १२ ॥

वह हजारों भुजाओंरूपी शाखाओंसे युक्त था और उसने आकाश और पृथिवीके मध्यभागको भर दिया था, अतएव वह उद्धत नृत्यवाले, चन्द्रमा और सूर्यरूपी कुण्डलोंको धारण करनेवाले विश्वरूप भगवान्के तुल्य था ॥ १३ ॥

उसके तलप्रदेशमें गजराज बैठे रहते थे, आकाशमें वह तारागणोंसे युक्त था तथा मध्यप्रदेशमें लता-पुष्पमय था, अतएव जि के तलप्रदेशमें (पातालमें) शेष आदि नागराज निवास करते हैं, ऊपर तारागण रहते हैं और जिसके मध्यमें लता-पुष्पमयी पृथ्वी विद्यमान है, ऐसे दूसरे आकाशमण्डलके समान वह था ॥ १४ ॥

पर्वतके समस्त वनोंसे शोभित हो रहा वह कदम्बवृक्ष अपने द्वारा रचे गये सब प्राणियों, पर्वतों और वनोंसे शोभित हो रहे ब्रह्माजीके तुल्य था, पृथ्वीमें फल, पल्लव और फूलोंका वह एकमात्र निधान-सा था ॥ १५ ॥

पल्लवोंमें फूलोंके परागोंसे आच्छादित कलियोंके समूहोंको धारण कर रहा वह सूर्यकी किरणोंसे आच्छन्न तारागणोंसे युक्त आकाशके समान प्रतीत हो रहा था ॥ १६ ॥

विलोलविहगैः स्कन्धैः कुलायकुलसङ्कुलैः ।
वलितं भूतलं लोकपूर्णैर्जनपदैरिव ॥ १७ ॥
मञ्जरीसुपताकाढ्यं लतामण्डपमण्डितम् ।
पुष्पमङ्कोलधवलं पुष्पप्रकरपूरितम् ॥ १८ ॥
कूजच्चकोरभ्रमरशुककोकिलसारिकम् ।
घनस्तबकसंछन्नकुहरोग्रगवाक्षकम् ॥ १९ ॥
सञ्चरत्पक्षिबहुलं जनमन्थरकोटरम् ।
सर्वासां वनदेवीनामन्तःपुरमिवोत्तमम् ॥ २० ॥
कूजद्भृङ्गतरङ्गौघैः पुष्पकेसरराजिभिः ।
राजमानं पतन्तीभिः सरिद्भिरिव पर्वतम् ॥ २१ ॥
भ्रमद्भिः पुष्पपत्रौघैर्मन्दवातविलासिभिः ।
वर्धमानैर्वृतस्कन्धं शुभ्राभ्रैरिव भूधरम् ॥ २२ ॥
मातङ्गकटघृष्टेन जानुस्तब्धेन पीठिना ।
आभोगिना बद्धपदं तरुणेव महाचलम् ॥ २३ ॥

चञ्चल पक्षियोंसे पूर्ण हजारों घोसलोंसे व्याप्त स्कन्धोंसे परिवेष्टित वह लोगोंसे भरे हुए देशोंसे वेष्टित भूतलके समान था ॥ १७ ॥

वह सब वनदेवियोंके उत्तम अन्तःपुरके सदृश था, मञ्जरियाँ ही उसमें पताका थीं, लताओंके मण्डपोंसे वह अलङ्कृत था एवं वह फूलरूपी मंकोलसे (चूर्ण-विशेषसे) सफेद, फूलोंके समूहोंसे भरा हुआ, शब्द कर रहे चकोर, भँवर, शुक, कोयल, मैनासे युक्त, इधर-उधर उड़ रहे पक्षियोंसे सुशोभित तथा छायाका सेवन करनेवाले मनुष्योंसे सेवित (अन्तःपुरके पक्षमें परिचारक जनोंसे पूर्ण) था ॥१८—२०॥

गुन-गुना रहे भँवररूपी तरङ्गसमूहोंसे युक्त गिर रहीं पुष्पोंकी केसरराशियोंसे वह ऐसे विराजमान था, जैसे कि शब्द कर रहे तरङ्गोंसे और फूलोंकी केसर-परम्पराओंसे युक्त गिर रही नदियोंसे पर्वत सुशोभित होता है ॥ २१ ॥

मन्द-मन्द वायुसे विलसित होनेवाले घूम रहे पत्र-पुष्पोंके समूहोंसे, जो कि दिन-प्रति-दिन बढ़ते थे, उसका स्कन्ध-प्रदेश इस प्रकार आच्छादित था जैसे सफेद मेघोंसे पर्वत आच्छादित होता है ॥ २२ ॥

वनगजके गण्डस्थलसे घिसे हुए अतएव अत्यन्त उन्नत ऊपरको जानु किये हुए

विचित्रवर्णपक्षाणां स्कन्धकोटरचारिणाम् ।
वृतं खगानां वृन्देन भूतानामिव शार्ङ्गिणम् ॥ २४ ॥
स्तबकाङ्गुलिजालेन लोलेनाऽभिनयक्रियाम् ।
दिशन्तमिव वल्लीनां प्रनृत्तानां वनानिलैः ॥ २५ ॥
कश्चिदेव निवासो मे नाऽर्थिनामिति तुष्टितः ।
नृत्यन्तमिव बह्वाढ्यलतावलयवल्गनैः ॥ २६ ॥
लताकान्तैककान्तत्वाच्छृङ्गाररसनिर्भरम् ।
काकल्येव प्रगायन्तं मत्तालिनिजनिःस्वनैः ॥ २७ ॥
आदरोन्मुक्तकुसुमं सिद्धानां व्योमचारिणाम् ।
स्वागतानीव कुर्वाणं कोकिलालिकुलारवैः ॥ २८ ॥
लतापुष्पफलोल्लासं प्रान्तपञ्चमहीरुहाम् ।
विहसन्तमिवाऽच्छाभिः पुष्पकुड्मलदीप्तिभिः ॥ २९ ॥

पुरुषकी जानुके समान निश्चल, पीढ़ेके समान चौड़े विशाल मूलप्रदेशसे वह ऐसे स्थित था जैसे कि नीचेकी भूमिमें उगे हुए वृक्षोंसे महापर्वत स्थित रहता है ॥२३॥

जैसे पार्षदोंके समूहसे भगवान् विष्णु आवृत रहते हैं वैसे ही विचित्र रंग विरंगके परवाले, कन्धोंके खोंखलोंमें रहनेवाले पक्षियोंके समूहसे वह व्याप्त था ॥२४॥

चञ्चल फूलोंके गुच्छरूपी अङ्गुलियोंसे वह वनवायुसे नाच रहीं लताओंको नृत्यक्रियाका मानो उपदेश दे रहा था ॥ २५ ॥

मूल, कोटर, कन्धा, शाखा, पत्र, पुष्प आदि प्रदेशोंमें से मेरा कोई एक ही प्रदेश आश्रयप्रार्थी मनुष्य, मृग, पक्षी आदिका निवास नहीं है, किन्तु और भी सभी अङ्ग उनके निवासके उपयोगी हैं, अहा ! परोपकारमें मेरे सभी अङ्ग सफल हैं, यों सन्तोषके कारण पत्र-पुष्पोंसे पूर्ण बहुत-सी लताओंकी चञ्चलतासे मानो वह नाचता था ॥ २६ ॥

लतारूपी कान्ताओंका एकमात्र प्रिय होनेके कारण श्रृङ्गार-रससे परिपूर्ण वह मत्त भँवरके शब्दरूपी अव्यक्त मधुर अपने शब्दोंसे मानो गा रहा था ॥२७॥

आकाशमें चलनेवाले सिद्धोंका वह आदरपूर्वक पुष्पवृष्टि कर कोयल और भ्रमरोंकी ध्वनियोंसे मानो स्वागत कर रहा था ॥ २८ ॥

समीपमें स्थित वट, गूलर, पाकड़, आम और पलाशनामक पाँच पवित्र

पारिजातमिवाऽऽजेतुमूर्ध्वगैः खगमण्डलैः ।
व्योमान्तराऽभिधावन्तमलमुद्धतकन्धरम् ॥ ३० ॥
मध्यभागस्फुरद्भृङ्गैः स्तबकैर्घनपङ्क्तिभिः ।
सहस्राक्षत्वमतुलैर्जेतुमिन्द्रमिवोद्यतम् ॥ ३१ ॥
क्वचित् कुसुमगुच्छाच्छफणामणिगणावृतम् ।
पातालादुत्थितं शेषमिव व्योमदिदृक्षया ॥ ३२ ॥
राजसोद्धूलिताकारं द्वितीयमिव शङ्करम् ।
छायया फलशालिन्या समस्तजनशङ्करम् ॥ ३३ ॥
निबिडदलनिवाहभिन्नकोशैः कुसुमलतानवमण्डपैरुपेतम् ।
पुरमिव गगने कदम्बवृक्षं खगकुलनागरसंकुलं ददर्श ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दाशूरोपाख्याने दाशूरकदम्बवर्णनं नाम एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥४९॥

वृक्षोंके या उत्तर प्रदेशमें (मेरुमें) स्थित मन्दार आदि पांच वृक्षोंके लता-पुष्प, फल आदिके उल्लासका अपने स्वच्छ फूलोंकी कलियोंकी कान्तिसे मानो उपहास कर रहा था ॥ २९ ॥

ऊपर उड़नेवाले पक्षियोंके झुण्डोंसे मानो पारिजातको जीतनेके लिए खूब ऊँची गर्दन करके आकाशके मध्यमें मानो वह दौड़ रहा था ॥ ३० ॥

मध्यभागमें चमक रहे, भँवरोंसे युक्त, बड़ी-बड़ी निविड़ पङ्क्तिवाले पुष्पगुच्छोंसे, जिनकी—शोभा और संख्यामें इन्द्रनेत्रोंसे अधिक होनेके कारण—उनसे तुलना नहीं की जा सकती, सहस्राक्षताको प्राप्त करके मानो इन्द्रको जीतनेके लिए वह उद्यत था ॥ ३१ ॥

कहींपर फूलोंके गुच्छेरूप फणामें स्थित निर्मल मणियोंसे आवृत वह आकाश-को देखनेकी इच्छासे पातालसे निकले हुए शेषनागके समान स्थित था ॥ ३२ ॥

पुष्पपरागसे उसका सारा आकार धूसरित था, अतएव वह धूलिधूसरित द्वितीय शङ्कर-सा था। भगवान् शङ्कर तो केवल भक्तोंका ही कल्याण करते हैं, किन्तु वह फलसे सुशोभित होनेवाली छायासे सब लोगोंका कल्याण करता था ॥३३॥

उस कदम्बवृक्षको, जो घने पत्तोंके समूहोंमें खिली हुई कलियाँवाले, पुष्प-

पञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

तमथाऽसौ तथाबुद्धिः फलपल्लवशालिनम् ।
आनन्दमन्थरमनाः पुष्परूपाचलोपमम् ॥ १ ॥
कदम्बं रोदसीस्तम्भमारुरोह वनस्थितम् ।
एकार्णवगतं शौरिर्वटवृक्षमिवोन्नतम् ॥ २ ॥
तत्राऽसौ व्योमलग्नायाः शाखायाः प्रान्तपल्लवे ।
विवेश विगताशङ्कमेकाग्रं तप आस्थितः ॥ ३ ॥
अथोपविश्य मृदुनि नवपल्लवविष्टरे ।
क्षणमालोकितास्तेन दिशः कौतुकचञ्चलम् ॥ ४ ॥
सरिदेकावलीरम्याः शैलेन्द्रस्तनकुड्मलाः ।
निर्मलाकाशकबरा लोलनीलाम्बुदालकाः ॥ ५ ॥

लताओंके नूतन मण्डपोंसे युक्त था और पक्षिराशिरूप नागरिकजनोंसे युक्त था, आकाशमें निर्मित नगरकी भाँति उसने देखा ॥ ३४ ॥

ऊनचासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

[उस कदम्बके वृक्षकी चोटीपर बैठे हुए दाशूर द्वारा देखी गयीं दिशारूपी वनिताओंका गुणोंके साथ वर्णन]

तदनन्तर भूमिमें अपवित्रताबुद्धिवाले, आनन्दसे प्रफुल्लितचित्त दाशूर फल-पल्लवोंसे शोभायमान पुष्परूपी पर्वतके सदृश, अन्तरिक्ष और पृथिवीके स्तम्भरूप उस कदम्बवृक्षपर जैसे एकमात्र सागरमें स्थित ऊँचे वटवृक्षपर भगवान् विष्णु चढ़ते हैं वैसे ही चढ़े ॥ १, २ ॥

एकाग्र तपमें स्थित वे वहाँपर आकाशसे सटी हुई शाखाकी चोटीके पल्लवपर निःशङ्क होकर बैठे ॥ ३ ॥

तदनन्तर कोमल नव पल्लवरूपी आसनपर बैठकर कौतुकवश चञ्चल दृष्टि होकर उन्होंने एक क्षणभर दिशाएँ देखीं ॥ ४ ॥

वे नदीरूपी एकावलीसे रमणीय थीं, पर्वतराज ही उनके स्तन थे,

नीलपल्लववसनाः　पुष्पपूरावतंसिकाः ।
गृहीतसागरापूर्णकलशाः　पुरुभूषणाः ॥ ६ ॥
धृतप्रफुल्लपद्मिन्यः　सुगन्धिमुखमारुताः ।
नीलघुंघुमकाकल्यो　निर्झरारावनूपुराः ॥ ७ ॥
द्युमूर्द्धानो　महीपादा　वनालीरोमराजयः ।
जङ्गलोरुनितम्बिन्यश्चन्द्रार्ककृतकुण्डलाः ॥ ८ ॥
शालिसंसारकेदाराश्चन्दनस्थालिकान्विताः ।
शिखरोरसिजालग्नहिमशुभ्राम्बुदांशुकाः ॥ ९ ॥
महार्णवपयःपूरनवमण्डनदर्पणाः ।
ऋक्षौघघर्मपुलका　भुवनान्तःपुरान्तराः ॥ १० ॥
आर्तवस्तनधारिण्यो　लग्नसूर्यांशुकुङ्कुमाः ।
विचित्रकुसुमोपेताश्चन्द्रांशुसितचन्दनाः ॥ ११ ॥

निर्मल आकाश ही उनकी केशराशि थी, चञ्चल नील मेघ ही उनके अलक थे, नीले (हरे-भरे) पल्लव ही उनके वस्त्र थे, पुष्पराशियाँ ही उनके अवतंस (कर्णका भूषण या शिरोमाला) थे। सागररूपी भरे कलश उन्होंने हाथमें ले रक्खे थे और वे अनेक आभूषणोंसे भूषित थीं ॥ ५, ६ ॥

खिले हुए कमलके तालाब उन्होंने धारण कर रक्खे थे, उनके मुखके निःश्वास वायु सुगन्धित थे। भँवर, कोकिल आदिकी ध्वनियाँ ही उनके मधुर आलाप थे तथा झरनोंके झर्झर शब्द ही उनके नूपुर थे ॥ ७ ॥

द्युलोक ही उनका मस्तक था, पृथिवी उनकी चरणरूप थी। वृक्ष पङ्क्तियां ही उनकी रोमराजियां थीं, वन ही उनके विशाल नितम्ब थे, चन्द्रमा और सूर्यको उन्होंने अपना कुण्डल बना रक्खा था ॥ ८ ॥

धान आदि सस्योंके कम्पसे चञ्चल हो रहे खेत ही उनके अङ्गविलास थे, उनके ललाट चन्दनसे पूर्ण थे, पर्वत शिखररूपी स्तनोंमें चारों ओर सटी हुई हिमराशि और सफेद मेघ ही उनके वस्त्र थे ॥ ९ ॥

महासागरकी जलराशि ही नूतन अलङ्कारोंको देखनेके लिए उनके दर्पण थे। नक्षत्रपङ्क्तियाँ ही उनके स्वेदबिन्दु थे, भुवनका मध्यभाग ही उनका अन्तःपुर था ॥ १० ॥

तत्तद् ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले फूल, पल्लव आदि ही स्तनवस्त्र (चोली)

गगनगतलतादलोपविष्टः
प्रसृतवनावनिवारिवाहवेषाः ।
त्रिभुवनवनिता ददर्श हृष्टः
कुसुमनिरन्तरमण्डिता दशाऽऽशाः ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दाशूरोपाख्याने दाशूरदिगवलोकनं नाम पञ्चाशः सर्गः ॥५०॥

एकपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततःप्रभृति तत्राऽसौ प्रसिद्धस्तापसाश्रमे ।
कदम्बदाशूर इति शूरस्तपसि दारुणे ॥ १ ॥
तस्मिंल्लतादले स्थित्वा विलोक्य ककुभः क्षणात् ।
दृढपद्मासनं बद्ध्वा दिग्भ्यः प्रत्याहृतात्मना ॥ २ ॥

थे, सूर्यकिरणरूपी कुङ्कुम उनमें लगे थे, विचित्र कुसुमोंसे वह युक्त थीं और चाँदनी ही उनका सफेद चन्दन था ॥ ११ ॥

आकाशमें फैली हुई शाखाके पत्तोंपर बैठे हुए सन्तुष्ट दाशूरने दस दिशाओंको, विस्तृत बन, पृथिवी और मेघ ही जिनके कृत्रिमाकारके भेदक अलङ्कार थे, जो तीनों भुवनोंमें रहनेवाले लोगोंकी उपभोग्य होनेके कारण त्रिभुवनवनितारूप और फूलोंसे खूब सुशोभित थीं, देखा ॥ १२ ॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

[मानसिक यज्ञोंसे दाशूरका आत्मबोध, वनदेवीमें पुत्रोत्पत्ति और पुत्रके लिए ज्ञानप्रदान]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तपस्वीके उस आश्रममें घोर तपस्यामें अविमुख वे दाशूर तबसे लेकर कदम्बदाशूर नामसे प्रख्यात हुए ॥ १ ॥

उस शाखाके पत्तेपर बैठकर, क्षणभर दिशाओंको देखकर, दृढ पद्मासन

अज्ञातपरमार्थेन क्रियामात्रे च तिष्ठता ।
फलकार्पण्ययुक्तेन मनसा सोऽकरोन्मखम् ॥ ३ ॥
नभोगतलतापत्रसंस्थितेनाऽन्तरात्मना ।
सर्वाः स्वमनसा तेन कृता यज्ञक्रियाः क्रमात् ॥ ४ ॥
तत्राऽसौ दश वर्षाणि मनसैवाऽयजत्सुरान् ।
गवाश्वनरमेधाद्यैर्यज्ञैर्विपुलदक्षिणैः ॥ ५ ॥
कालेनाऽमलतां याते वितते तस्य चेतसि ।
बलादवततराऽन्तर्ज्ञानमात्मप्रसादजम् ॥ ६ ॥
ततो विशीर्णावरणो विगलद्वासनामलः ।
स ददर्शैकदा तस्यां लतायामग्रतः स्थिताम् ॥ ७ ॥
वनदेवीं विशालाक्षीमालोककुसुमाम्बराम् ।
कामिनीं कान्तवदनां मदघूर्णितलोचनाम् ॥ ८ ॥
नीलोत्पलामोदवतीमतीव सुमनोहराम् ।
तामुवाचाऽनवद्याङ्गीं स मुनिर्विनताननाम् ॥ ९ ॥

बाँधकर दिशाओंसे परावर्तित, परमार्थज्ञानरहित केवल कर्मकाण्डमें अभिरुचिवाले, फलाभिलाषसे युक्त मनसे उन्होंने यज्ञ किया ॥ २, ३ ॥

आकाशमें फैली हुई शाखाके पत्तेपर बैठे हुए समाधिस्थ उन्होंने क्रमशः सब यज्ञक्रियाएँ अपने मनसे कर डालीं ॥ ४ ॥

वहाँपर उन्होंने दस वर्षोंतक गोमेध, नरमेध, अश्वमेध आदि विपुल दक्षिणावाले यज्ञोंसे देवताओंकी मनसे ही आराधना की ॥ ५ ॥

समय आनेपर रागादि दोषोंसे शून्य हुए उनके विशाल चित्तमें प्रतिबन्धका क्षय होनेपर पूर्वजन्ममें किये गये शास्त्रश्रवण आदिके संस्कारके उद्बुद्ध होनेसे अन्तःकरणकी निर्मलतासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥

ज्ञान होनेके बाद उनका अज्ञानरूप आवरण छिन्न-भिन्न हो गया और वासनाके हट जानेसे वे निर्मल हो गये। उन्होंने एक समय उस शाखाके अग्र-भागमें बैठी हुई, प्रकाशमान पुष्परूप वस्त्रोंसे आवृत विशालाक्षी वनदेवीको देखा। उसका मुख बड़ा सुन्दर था, मदसे उसके नेत्र घूम रहे थे, नीलकमलोंकी सुगन्धसे वह सुगन्धित थी एवं उसका रूप अत्यन्त मनोहर था। निर्दोष अङ्गवाली कोकिला

कोकिलाकुसुमापूरनतां वनलताभिव ।
का त्वमुत्पलपत्राक्षि कान्तिविक्षोभितस्मरा ॥ १० ॥
वयस्यामिव पुष्पाढ्यां लतां किमिव तिष्ठसि ।
इत्युक्ते मृगशावाक्षी गौरपीनपयोधरा ॥ ११ ॥
मुनिमाह मनोहारि मुग्धाक्षरमिदं वचः ।
यानि यानि दुरापानि वाञ्छितानि महीतले ॥ १२ ॥
प्राप्यन्ते तानि ताभ्याशु महतामेव याच्ञया ।
अहमस्मिँल्लताकीर्णे त्वत्कदम्बाभ्यलङ्कृते ॥ १३ ॥
लतालीलालया ब्रह्मन् विपिने वनदेवता ।
यश्चैत्रसितपक्षस्य त्रयोदश्यां स्मरोत्सवे ॥ १४ ॥
बभूव वनदेवीनां समाजो नन्दने वने ।
तत्राऽऽहमगमं नाथ त्रैलोक्यललनासदः ॥ १५ ॥
तत्र दृष्टा मया सर्वा वयस्या मदनोत्सवे ।
अपुत्रया पुत्रयुतास्तेनाऽहं दुःखिता भृशम् ॥ १६ ॥

और फूलोंके समूहोंसे झुकी हुई वनलताके समान नम्रमुखी उस कामिनीसे मुनिने कहा—हे कमलपत्राक्षी, अपनी कान्तिसे कामदेवको भी क्षोभित करनेवाली तुम कौन हो, फूलोंसे लदी हुई शाखाको सखीकी नाईं पकड़ कर तुम क्यों खड़ी हो ? मुनिके ऐसा कहनेपर मृगके समान नेत्रवाली, गौर और विशाल स्तनवाली वनदेवीने मुनिसे कोमल अक्षरोंसे युक्त यह ममोहर वचन कहा—'भगवन्, इस पृथिवीतलमें जो-जो दुष्प्राप्य वाञ्छित हैं, वे सब महापुरुषोंकी ही प्रार्थनासे शीघ्र प्राप्त होते हैं। हे ब्रह्मन्, लताओंसे व्याप्त और आपके कदम्बवृक्षसे सुशोभित इस वनमें रहने-वाली मैं वनदेवता हूँ। लतानिकुञ्ज ही मेरे क्रीड़ागृह हैं । नन्दनवनमें चैत्र शुक्लपक्षकी त्रयोदशीके दिन स्व के अभ्यासके लिए प्रवर्तित गाना, बजाना, नाचना, भोज आदिके उत्सवमें जो वनदेवियोंका सम्मेलन हुआ था। हे नाथ, वहाँ त्रैलोक्यकी महिलाओंके समाजमें मैं गई ॥ ७–१५ ॥

उस मदनोत्सवमें पुत्ररहित मैंने सब सखियोंको पुत्रयुक्त देखा, इससे मैं अत्यन्त दुःखित हूँ ॥ १६ ॥

त्वयि सर्वार्थसार्थस्य बृहत्कल्पतरौ स्थिते ।
अनाथेव कथं नाथ किल शोचाम्यपुत्रिका ॥ १७ ॥
देहि मे भगवन् पुत्रं नो चेद्देहमिहाऽग्नये ।
प्रकरोम्याहुतिं पुत्रदुःखदाहोपशान्तये ॥ १८ ॥
तामित्युक्तवतीं तन्वीं विहस्य मुनिपङ्गवः ।
प्राह हस्तगतं पुष्पं तस्यै दत्त्वा दयान्वितः ॥ १९ ॥
गच्छ तन्वङ्गि मासेन पूजार्हमलिलोचनम् ।
प्रसोष्यसे सुतं कान्तं प्रसूनमिव सल्लता ॥ २० ॥
किन्त्वसौ मरणावेशयायिन्या नस्त्वया सुतः ।
याचितः कृच्छ्रं सम्प्राप्य ज्ञाता तेन भविष्यति ॥ २१ ॥
इत्युक्त्वा स मुनिस्तन्वीं प्रसन्नमुखमण्डलाम् ।
परिचर्यां करोमीति प्रार्थनोत्कां व्यसर्जयत् ॥ २२ ॥
सा जगामाऽऽत्मसदनं सोऽतिष्ठत्स्वात्मना सह ।
अवहत्क्रमशः काल ऋतुसंवत्सराङ्कितः ॥ २३ ॥

सब पुरुषार्थोंके विशाल कल्पतरुरूप आपके रहते हे नाथ, पुत्ररहित मैं अनाथकी नाईं क्यों शोक करूँ ? ॥ १७ ॥

हे भगवन्, मुझे पुत्र दीजिये, नहीं तो मैं पुत्रके दुःखदाहकी शान्तिके लिए देहको अग्निके लिए आहुति कर देती हूँ ॥ १८ ॥

उस तन्वीके ऐसा कहनेपर दयायुक्त मुनिश्रेष्ठने मुसकरा कर अपने हाथमें स्थित फूल उसको देकर कहा ॥ १९ ॥

हे सुन्दरी, तुम जाओ, एक महीनेमें जैसे लता सुन्दर फूलको पैदा करती है, वैसे ही तुम भी पूजायोग्य, भँवरोंके समान नेत्रवाले, सुन्दर पुत्रको पैदा करोगी । किन्तु प्राणसंकटको प्राप्त करके आत्मघातके संकल्पसे मेरे पास आई हुई तुमने मुझसे यह पुत्र माँगा, अतएव यह तत्त्वज्ञानी होगा, अन्य वन-देवियोंके पुत्रोंके समान भोग-लम्पट नहीं होगा ॥ २०, २१ ॥

ऐसा कह कर उस मुनिने वरदान पानेसे प्रसन्न मुखमण्डलवाली उस सुन्दरीको, जो मैं आपकी सेवा करूँ, इस प्रकारकी प्रार्थना करनेके लिए उत्कण्ठित थी, विदा किया ॥ २२ ॥

वह तो अपने घर चली गई और मुनि अकेले वहाँ रह गये । ऋतु, वर्ष

अथ दीर्घेण कालेन सैवोत्पलविलोचना ।
द्वादशाब्दमुपादाय सुतं मुनिमुपाययौ ॥ २४ ॥
सा प्रणम्योपविश्याऽग्रे मुनिमिन्दुसमाननम् ।
उवाच कलया वाचा चूतद्रुममिवाऽलिनी ॥ २५ ॥
अयं स भगवन्भव्यः कुमारः पुत्र आवयोः ।
कृतो मया समग्राणां कलानां किल कोविदः ॥ २६ ॥
प्रभो केवलमेतेन ज्ञानं नाऽधिगतं शुभम् ।
येन संसारचक्रेऽस्मिन्न पुनः परिपीड्यते ॥ २७ ॥
ज्ञानं त्वमेवाऽस्य विभो कृपयोपदिशाऽधुना ।
को हि नाम कुले जातं पुत्रं मौर्ख्येण योजयेत् ॥ २८ ॥
एवं वदन्तीं स मुनिः सच्छिष्यमबले सुतम् ।
इहैव स्थापयैनं त्वमित्युक्त्वा तां व्यसर्जयत् ॥ २९ ॥
तस्यां गतायां स पितुरन्तेवासितया तया ।
अतिष्ठत् संयतो धीमानर्कस्येवाऽरुणः पुरः ॥ ३० ॥

आदिके क्रमसे काल बीतने लगा । दीर्घ समयके अनन्तर वही कमलके तुल्य नेत्र-वाली वनदेवी बारह वर्षके पुत्रको लेकर मुनिके समीप उपस्थित हुई ॥२३,२४॥

जैसे भँवरी आमके वृक्षके समीप जाकर मधुर ध्वनिसे बोलती है, वैसे ही चन्द्रमाके समान मुखवाले मुनिको प्रणाम कर और उनके आगे बैठकर उसने मधुर वाणीसे कहा—हे भगवन्, हम दोनोंका पुत्र यह सुन्दर कुमार है । इसे मैंने सब कलाओंमें दक्ष कर दिया है ॥ २५, २६ ॥

हे प्रभो, केवल इसने मङ्गलमयी ब्रह्मविद्या, जिससे जीव इस संसारचक्रमें फिर पीड़ित नहीं होते, प्राप्त नहीं की । हे प्रभो, कृपा करके इस समय इसे ब्रह्मविद्याका उपदेश आप ही दीजिये । कौन ऐसा पुरुष होगा जो अपने कुलमें उत्पन्न हुए पुत्रको मूर्ख रक्खेगा । भाव यह है कि अन्य विद्याएँ तत्त्वविषयिणी नहीं हैं, अतएव वे अविद्या ही हैं, उनसे मूर्खताकी निवृत्ति नहीं हो सकती है ॥ २७,२८ ॥

ऐसा कह रही उससे हे अबले, उत्तम शिष्यके गुणोंसे सम्पन्न इस पुत्रको तुम यहीं रहने दो, ऐसा कहकर मुनिने उसे बिदा कर दिया ॥ २९ ॥

उसके चले जानेपर गुरुशुश्रूषारूप व्रतसे स्थिर नियमवाला वह बुद्धिमान्

कदर्थः प्राप्य विज्ञानं ततश्चित्र भिरुक्तिभिः ।
चिरकालमसौ तत्र मुनिः पुत्रमबोधयत् ॥ ३१ ॥
आख्यायिकाख्यानशतैर्दृष्टान्तैर्दृष्टिकल्पितैः ।
तथेतिहासवृत्तान्तैर्वेदवेदान्तनिश्चयैः ॥ ३२ ॥
अनुद्वेगितया नित्यं विस्तरेण कथाक्रमैः ।
अनुभूतिमूपारूढैरूढिमेति यथा मयि ॥ ३३ ॥
अनुभववशतो रसातिरिक्तैरलमुचितार्थवचोगणैर्महात्मा ।
जलद इव शिखण्डिनं पुरःस्थं तनयमबोधयदम्बरे महर्षिः ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दाशूरोपाख्याने दाशूरसुतानुबोधनं नाम एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

बालक जैसे सूर्यके सामने अरुण रहता है वैसे ही अपने पिताके आगे स्थित रहा ॥ ३० ॥

शुश्रूषाकी व्रतचर्या आदि क्लेशोंसे पीड़ित होकर उपायभूत शास्त्रजन्य परोक्ष-ज्ञानको प्राप्त कर चुके उन मुनिने विविध प्रकारकी उक्तियोंसे चिरकालतक अपरोक्षज्ञानके लिए पुत्रको उपदेश दिया ॥ ३१ ॥

सैकड़ों आख्यायिका और आख्यानोंसे, साम्यदर्शन द्वारा स्वयंकल्पित दृष्टान्तोंसे, महाभारत आदि इतिहासोंके वृत्तान्तोंसे और वेद, वेदान्तोंके निश्चयोंसे प्रत्यगात्मामें दृढ़ व्युत्पत्तिको जिस प्रकार पुत्र प्राप्त होता था, वैसे ही अनुभवसे प्रसिद्ध कथा-क्रमोंसे अनायास विस्तारपूर्वक पुत्रको नित्य उपदेश देते थे ॥ ३२,३३ ॥

आत्मबोधके चमत्कारसे सब रसोंसे बढ़े हुए, परम पुरुषार्थरूप होनेके कारण अवश्य बोधयोग्य अर्थवाले वचनोंसे वह महात्मा आगे स्थित पुत्रको वृक्षके अग्रभागमें ऐसे प्रबुद्ध करते थे, जैसे कि श्रवणमात्रसे मयूरोंको आनन्द उत्पन्न करनेके कारण अन्य रसोंसे बढ़ी-चढ़ी गर्जनाओं द्वारा मेघ आकाशमें आगे स्थित मयूरको प्रबुद्ध करता है ॥ ३४ ॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

द्विपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

कदाचिदथ मार्गेण तेन कैलासवासिनीम् ।
अहं स्नातुमदृश्यात्मा व्योमवीथीगतोऽगमम् ॥ १ ॥
निर्गत्य नभसः सप्तमुनिमण्डलकोटरात् ।
रात्रौ प्राप्तोऽस्मि सुमते दाशूरतरुसमुन्नतम् ॥ २ ॥
यावच्छृणोमि विटपकुहरात्कानने वचः ।
कुड्मलाम्भोजलग्नस्य षट्पदस्येव निःस्वनम् ॥ ३ ॥
शृणु पुत्र महाबुद्धे वस्तुतोऽस्य समामिमाम् ।
वर्णयामि महाश्चर्यामेकामाख्यायिकां तव ॥ ४ ॥
अस्ति राजा महावीर्यो विख्यातो भुवनत्रये ।
नाम्ना खोत्थ इति श्रीमाञ्जगदाक्रमणक्षमः ॥ ५ ॥

बावनवाँ सर्ग

[संकल्पसे कल्पित विश्व मिथ्या ही है यह सूचित करनेकी इच्छासे खोत्थ राजाके चरितकी कल्पना करके वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इसके बाद कभी आकाशमार्गमें स्थित और अदृश्यस्वरूप मैं उसी मार्गसे, जिसमें दाशूरका कदम्बवृक्ष पड़ता था, कैलासवासिनी मन्दाकिनीमें स्नान करनेके लिए गया ॥ १ ॥

हे सुबुद्धे, मैं आकाशसे, जिसका कि सप्तर्षिमण्डल एक भाग है, निकल कर रात्रिमें ऊँचे दाशूरके कदम्बवृक्षके पास पहुँचा ॥ २ ॥

मैंने जंगलमें शाखाओंके खोखलेसे मुकुलित कमलके अन्दर बैठे हुए भँवरकी ध्वनिके समान सम्पूर्ण वचन सुना ॥ ३ ॥

जो वचन सुना उसीको कहते हैं—'शृणु पुत्र' इत्यादिसे ।

हे महामते, हे पुत्र, सुनो, इस संसारकी उपमानरूप इस एक आश्चर्यमयी आख्यायिकाको मैं आपसे कहता हूँ ॥ ४ ॥

तीनों लोकोंमें विख्यात महापराक्रमी एक राजा है । उसका नाम खोत्थ है, वह बड़ा समृद्धिशाली और तीनों लोकोंपर आक्रमण करनेमें समर्थ है ॥ ५ ॥

अस्याऽनुशासनं सर्वे भुवनेष्वपि नायकाः ।
शिरोभिर्धारयन्त्युच्चैश्चूडामणिमिवाऽर्थिनः ॥ ६ ॥
यः साहसैकरसिको नानाश्चर्यविहारवान् ।
केनचित्त्रिषु लोकेषु न महात्मा वशीकृतः ॥ ७ ॥
यस्याऽऽरम्भसहस्राणि सुखदुःखप्रदान्यलम् ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते कल्लोला जलधेरिव ॥ ८ ॥
यस्य वीर्यं सुवीर्यस्य न शस्त्रैर्न च पावकैः ।
केनचिद्भुवने क्रान्तमाकाशमिव मुष्टिना ॥ ९ ॥
यदीयां वितताऽरम्भां लीला निर्माणभासुराम् ।
न मनागनुवर्तन्ते शक्रोपेन्द्रहरा अपि ॥ १० ॥
त्रयस्तस्य महाबाहो देहा विहरणक्षमाः ।
जगदाक्रम्य तिष्ठन्ति ह्युत्तमाधममध्यमाः ॥ ११ ॥

सब लोकोंमें ब्रह्मा, विष्णु आदि सभी प्रभु जैसे धनी शिरोरत्नको सिरपर धारण करते हैं वैसे ही इसकी आज्ञाको सिरसे धारण करते हैं ॥ ६ ॥

जो बड़े-बड़े साहसपूर्ण कार्य करनेमें एकमात्र रसिक है, विविध प्रकारके आश्चर्यमय स्थलोंमें विहार करता है, उस महात्माको तीनों लोकोंमें किसीने भी अपने वशमें नहीं किया ॥ ७ ॥

जिसके सुख-दुःखप्रद हजारों कार्योंको सागरकी तरङ्गोंकी तरह कौन गिन सकता है ? ॥ ८ ॥

जैसे कोई पुरुष मुट्ठीसे आकाशका अभिभव नहीं कर सकता वैसे ही जिस महाबलीके बलका न शस्त्रोंसे और न अग्निसे कोई भी तिरस्कार नहीं कर सका ॥९॥

जिसकी लीलाका, जो प्रयोजन थोड़ा होनेपर भी हजारों कल्पनाओंसे पूर्ण होनेके कारण विशाल आरम्भवाली है और स्वप्न, मनोरथ आदिके निर्माणोंसे देदीप्यमान है, इन्द्र, विष्णु और शङ्कर तनिक भी अनुकरण नहीं कर सकते हैं ॥ १० ॥

हे महाबाहो, उसके सब व्यवहाररूपी क्रीड़ा करनेमें क्षम, उत्तम, मध्यम और अधम, सात्त्विक राजस और तामसभेदसे तीन प्रकारके शरीर जगत्को आक्रान्त करके स्थित हैं ॥ ११ ॥

व्योमन्येवाऽतिविततेे जातोऽसौ त्रिशरीरकः ।
तत्रैव च स्थितिं यातः शब्दपातश्च पक्षिवत् ॥ १२ ॥
तत्रैवाऽपारगगने नगरं तेन निर्मितम् ।
चतुर्दशमहारथ्यं विभागत्रयभूषितम् ॥ १३ ॥
वनोपवनमालाढ्यं क्रीडाशिखरिसुन्दरम् ।
मुक्तालताविवलितवापीसप्तकभूषितम् ॥ १४ ॥
शीतलोष्णात्मकाक्षीणदीपद्वयविराजितम् ।
ऊर्ध्वाधोगतिरूपेण वणिङ्मार्गेण सङ्कुलम् ॥ १५ ॥
तस्मिन्नेवाऽतिविपुले पत्तने तेन भूभृता ।
संसारिणो विरचिता मुग्धापवरका गणाः ॥ १६ ॥

तीन शरीरवाला यह पक्षीके तुल्य अत्यन्त विशाल अव्याकृत आकाशमें ही उत्पन्न हुआ है, वहींपर रहता है, विधि-निषेधरूप शब्दके अनुसार चलता है । भाव यह है कि जैसे पक्षी आकाशमें ही अण्डमय, पिण्डमय और पक्षमय तीन शरीरवाला क्रमसे उत्पन्न होता है, सब ओरसे उसे जानजोखिमकी शङ्का रहती है, असार पीपल आदिके फलास्वादमें लोलुप रहता है, शब्दमात्रसे उड़ता है, वास्तविक बातका विचार नहीं करता वैसे ही यह भी स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन शरीरवाला है, ब्रह्माकाशमें उत्पन्न होकर चारों ओरसे भयकी शङ्का करता है, तुच्छ विषयोंमें आसक्त हो विधि-निषेधरूप शब्दके अनुसार चलता हुआ घूमता है ॥ १२ ॥

उसी असीम आकाशमें उसने ब्रह्माण्डरूपी नगरकी, चौदह भुवन ही जिसके बड़े भारी रथोंका समूह है या चौदह विद्यारूपी रथ्यामार्गोंसे जो विभक्त है, रचना कर रक्खी है और वह त्रिलोकरूप और वेदत्रयीरूप विभागसे विभूषित है ॥१३॥

नन्दन आदि वन और उपवनोंकी पङ्क्तियोंसे वह पूर्ण है, मेरु आदि क्रीड़ा-शैलोंसे सुशोभित है, मोतियोंकी लताओंसे व्याप्त समुद्ररूपी सात बावड़ियोंसे अलङ्कृत है, कभी न बुतनेवाले शीतल और उष्णरूप दो दीपकोंसे विराजमान है तथा शास्त्रीय सत् कर्मोंसे ऊर्ध्वगति और अशास्त्रीय निन्दित कर्मोंसे अधोगतिरूप व्यापारी मार्गोंसे वह भरा है ॥ १४,१५ ॥

उसी अतिविशाल नगरमें उक्त राजाने विषयोंके मोहमें फँसे हुए, अपवरक

ऊर्ध्वं केचिदधः केचित्केचिन्मध्ये नियोजिताः ।
केचिच्चिरेण नश्यन्तः केचिच्छीघ्रविनाशिनः ॥ १७ ॥
असितच्छादनच्छन्ना नवद्वारविभूषिताः ।
अनारतवहद्वाता बहुवातायनान्विताः ॥ १८ ॥
दीपपञ्चकसालोकास्त्रिस्थूणाः शुक्लदारवः ।
मसृणालेपमृदवः प्रतोलीभुजसङ्कुलाः ॥ १९ ॥
मायया रचितास्तेन राज्ञा तेषु महात्मना ।
रक्षितारो महायक्षा नित्यमालोकभीरवः ॥ २० ॥
अथाऽपवरकौघेषु चलत्सु स महीपतिः ।
करोति विविधां क्रीडां नीडेष्विव विहङ्गमः ॥ २१ ॥
त्रिशरीरशतेष्वन्तस्तैर्यक्षैः सह पुत्रक ।
लीलावशमुषित्वा तु पुनर्निर्गम्य गच्छति ॥ २२ ॥

(मध्यगृह) के समान आकाशके परिच्छेदक होनेके कारण अपवरकरूप संसारी देवता, मनुष्य आदि देहसमूहोंकी सृष्टि की ॥ १६ ॥

कोई ऊपर रक्खे गये, कोई नीचे रक्खे गये और किन्हींको उसने बीचमें नियोजित किया । कोई चिरकालमें नाशको प्राप्त होनेवाले हैं, तो कोई शीघ्र विनष्ट होनेवाले हैं। वे काले केशरूपी तृणोंसे आच्छादित और आँख, कान, नाक, मुँह आदि नौ द्वारोंसे अलङ्कृत हैं । उनमें निरन्तर वायु बहता रहता है, वे रोमकूपरूपी अनेक खिड़कियोंसे युक्त हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियरूपी पाँच दीपकोंसे वे आलोकयुक्त हैं । जाँघ और रीढ ही उनके तीन स्तम्भ हैं, सफेद हड्डियाँ ही बाँसके स्थानापन्न हैं, चिकनी मिट्टीके स्थानापन्न चर्मसे वे कोमल हैं, सड़करूपी बाहुओंसे वे व्याप्त हैं । उस महात्मा राजाने उन देहसमूहोंमें अभिमान द्वारा उनके रक्षक और स्वामीरूप अहङ्कारोंकी सृष्टि की । उक्त अहङ्कार आत्मविवेकरूपी आलोकसे सदा भयभीत रहते हैं, क्योंकि उससे उनका विनाश हो जाता है ॥ १७–२० ॥

अहङ्कारोंकी सृष्टि करनेके उपरान्त उन देव, मनुष्य आदिके देहसमूहोंके व्यवहार करनेपर संकल्पात्मा जीवरूपी वह राजा जैसे घोंसलेमें चिड़ियां विविध प्रकारकी क्रीड़ाएँ करती हैं वैसे ही विविध प्रकारकी क्रीड़ाएँ करता है ॥ २१ ॥

हे पुत्र, तीन प्रकारके अनन्त शरीरोंके अन्दर उन यक्षोंके साथ लीलाओं द्वारा अस्वाधीनरूपसे निवास कर और निकल कर फिर चला जाता है ॥ २२ ॥

तस्येच्छा जायते वत्स कदाचिच्चलचेतसः ।
पुरं भविष्यन्निर्माणं किञ्चिद्यामीति निश्चला ॥ २३ ॥

भूताविष्ट इवाऽऽवेगात्तत उत्थाय धावति ।
पुरं तदप्यथाऽऽप्नोति गन्धर्वैरिव निर्मितम् ॥ २४ ॥

तस्येच्छा जायते पुत्र कदाचिच्चलचेतसः ।
विनाशं संप्रयामीति तेनाऽऽशु स विनश्यति ॥ २५ ॥

पुनरुत्पद्यते तूर्णं स्वात्मनोर्मिरिवाऽम्भसः ।
व्यवहारं तनोत्युच्चैः पुनरारम्भमन्थरम् ॥ २६ ॥

स्वयैव व्यवहृत्याऽथ कदाचित्परिभूयते ।
किंकरोऽस्म्यहमज्ञोऽस्मि दुःखितोऽस्मीति शोचति ॥ २७ ॥

मुदमेत्य कदाचिच्च स्वयमायाति दीनताम् ।
प्रावृड्वर्षकलोल्लासपूरादिव नदीरयः ॥ २८ ॥

हे वत्स, चञ्चल चित्तवाले उसकी कभी निश्चल इच्छा होती है कि अविद्यमान किसी स्वप्नादि जगद्रूप नगरमें जाऊँ ॥ २३ ॥

तदनन्तर वह भूताविष्टकी तरह निद्रा आदिके आवेशसे जाग्रद् देहादिके अभिमानका त्याग कर दौड़ता है, तदुपरान्त गन्धर्वनगरके समान मिथ्याभूत उस नगरको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

हे पुत्र, चञ्चल चित्तवाले उसकी कभी संकल्पके लयकी अवस्थारूप सुषुप्तिको प्राप्त होऊँ, ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है, उससे वह शीघ्र विनष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥

फिर वह जलसे तरङ्गके समान पूर्ण स्वभावसे ही तुरन्त फिर उत्पन्न हो जाता है। (क्योंकि वही मैं हूँ, ऐसा सोकर उठे हुए पुरुषको प्रत्यभिज्ञा होती है) और फिर विविध आरम्भोंसे परिपूर्ण व्यवहार करता है ॥ २६ ॥

फिर अपने ही व्यवहारसे कभी उसका पराभव होता है, मैं किंकर हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, मैं दुःखी हूँ, यों शोक करता है। कभी पूर्वानुभूत हर्षका अतिक्रमण कर वर्षा ऋतुकी कलाके उल्लासके प्रवाहका अतिक्रमण कर नदीवेगके समान वह स्वयं दीनताको प्राप्त होता है ॥ २७,२८ ॥

जयति गच्छति वल्गति जृम्भते
स्फुरति भाति न भाति च भासुरः ।
सुत महामहिमा स महीपतिः
पतिरपामिव वातरयाकुलः ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दाशूरोपाख्याने खोत्थविभववर्णनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

—:*:—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथाऽपृच्छत्सुतस्तत्र जम्बूद्वीपे महानिशि ।
कदम्बाग्रावचूडस्थं पितरं पावनाशयम् ॥ १ ॥

पुत्र उवाच

कोऽसौ खोत्थ इति ख्यातो भूपस्तातोत्तमाकृतिः ।
कथितं च किमेतन्मे त्वयेति ब्रूहि तत्त्वतः ॥ २ ॥

हे पुत्र, अन्तर्गत आत्मज्योतिसे देदीप्यमान अतएव महामहिमशाली वह राजा आँधीके झोकोंसे अशान्त सागरके समान शत्रुओंका तिरस्कार करनेकी सामर्थ्य रहते शत्रुओंकी ओर चलता है, विजय प्राप्त करता है, शब्द करता है, सम्पत्तियोंको प्राप्त कर वृद्धिको प्राप्त होता है, दमकता है, स्वप्न और जाग्रत्में प्रतीत होता है एवं सुषुप्ति, प्रलय, समाधि और मुक्तिमें प्रतीत नहीं होता है ॥२९॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

[जगत् संकल्पसे कल्पित है, इस अर्थमें दृष्टान्तभूत खोत्थ राजाके उपाख्यानके तात्पर्यका विस्तारपूर्वक वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ जम्बूद्वीपमें अर्धरात्रिके समय कदम्बवृक्षकी चोटीपर कदम्बके शिरोभूषणकी तरह बैठे हुए पवित्र अन्तःकरणवाले पितासे पुत्रने पूछा ॥ १ ॥

पुत्रने कहा—हे तात, खोत्थनामसे प्रख्यात उत्तम आकृतिवाला कौन-सा

क्क भविष्यति निर्माणं वर्तमाने क्क गम्यता ।
उभयार्थविरुद्धत्वान्मन्मोहाय वचस्तव ॥ ३ ॥

दाशूर उवाच

शृणु पुत्र यथाभूतमेतत्ते कथयाम्यहम् ।
येन संसारचक्रस्य तत्त्वमस्याऽवबुध्यसे ॥ ४ ॥

असदप्युत्थितारम्भमवस्तुमयमाततम् ।
संसारसंस्थानमिदमेवमाकथितं मया ॥ ५ ॥

परमात्मनभसो जातः सङ्कल्पः खोत्थ उच्यते ।
जायते स्वयमेवाऽसौ स्वयमेव विलीयते ॥ ६ ॥

तत्स्वरूपमिदं सर्वं जगदाभोगि विद्यते ।
जायते तत्र जाते तु तस्मिन्नष्टे विनश्यति ॥ ७ ॥

वह राजा है ? आपने मुझसे यह क्या कहा ? इसे आप यथार्थरूपसे कहिए ॥२॥

यथाश्रुत अर्थमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु अन्य अर्थमें तात्पर्य है, ऐसा तुमने कैसे जाना, ऐसा यदि कहें, तो 'पुरं भविष्यन्निर्माणं किञ्चिद् यामीति निश्चला' इस उक्तिमें भविष्यत्व और वर्तमानत्वके यौगपद्यका विरोध होनेसे उसका अर्थ अन्वित नहीं दिखाई देता, यह कहते हैं—'क्क' इत्यादिसे ।

कहाँ भविष्यमें नगरका निर्माण कहाँ वर्तमानकालमें उसकी गम्यता इन दोनों अर्थोंके विरुद्ध होनेके कारण आपका वचन मेरे मोहके लिए हो रहा है ॥ ३ ॥

दाशूरने कहा—हे पुत्र, सुनो, यथार्थ यह मैं तुमसे कहता हूँ, जिससे तुम इस संसारचक्रके तत्त्वको जान जाओगे ॥ ४ ॥

परमार्थसत्ताशून्य अज्ञानसे उत्पन्न अतएव मायामय विस्तृत इस संसारकी स्थितिका मैंने इस प्रकार परोक्षरूपसे वर्णन किया है ॥ ५ ॥

परमाकाशसे उत्पन्न हुआ संकल्प खोत्थ कहा जाता है, यह अपने संकल्पसे उत्पन्न प्रवृत्तिकी वासनाके प्रादुर्भावसे ही उत्पन्न होता है और निवृत्तिवासनाकी दृढ़तासे स्वयं विलीन हो जाता है ॥ ६ ॥

यह विशाल सारा जगत् उसका परिणाम है, क्योंकि संकल्पके उत्पन्न होनेपर उत्पन्न होता है और संकल्पके नष्ट होनेपर नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्यांस्तस्यैवाऽवयवान्विदुः ।
विटपानिव वृक्षस्य शृङ्गाणीव महीभृतः ॥ ८ ॥
शून्ये व्योमनि तेनेदं निर्मितं त्रिजगत्पुरम् ।
प्रतिभासानुसन्धानमात्रेणैत्य विरिञ्चिताम् ॥ ९ ॥
यत्रेमे विततालोका लोककोशाश्चतुर्दश ।
वनोपवनमालाश्च यत्रोद्यानपरम्पराः ॥ १० ॥
क्रीडाशिखरिणो यत्र सह्यमन्दरमेरवः ।
शीतोष्णदीप्ती चन्द्रार्कौ दीपौ यत्राऽनलाकृती ॥ ११ ॥
सूर्यांशुकचदालोलतरङ्गोत्तुङ्गमौक्तिकाः ।
वहन्ति सरितो यत्र सन्मुक्तावलयश्चलाः ॥ १२ ॥
इक्षुक्षीरादिसलिला मणिरत्नबिसाङ्कुराः ।
और्वानलाम्बुजा यत्र वाप्यः सप्तमहार्णवाः ॥ १३ ॥

यदि कोई शङ्का करे ब्रह्मा, विष्णु आदिसे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, ऐसा सुना जाता है, फिर कैसे आप अन्यसे इसकी उत्पत्ति कहते हैं? तो इसपर कहते हैं—'**ब्रह्म०**' इत्यादिसे ।

जैसे लोग शाखाओंको वृक्षोंके अवयव मानते हैं, जैसे शिखरोंको पर्वतोंके अवयव मानते हैं, वैसे ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र आदिको संकल्पके ही अवयव जानते हैं ॥ ८ ॥

तीनों कालोंमें जगत्‌के अभावसे युक्त ब्रह्ममें उसने इस त्रिजगत्‌रूपी पुरको बना रक्खा है । अचेतन संकल्पमें जगन्निर्माणशक्ति कहाँसे आई, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अधिष्ठानभूत चैतन्यके अनुग्रहसे उसने चेतन विरञ्चिके स्वरूपको प्राप्त कर त्रिजगद्रूपी नगरको बनाया है, जिस त्रिजगद्रूप नगरमें सूर्य आदिके प्रकाशसे युक्त चौदह लोक हैं, जहाँपर वन, उपवनोंकी मालाओंसे युक्त उद्यानपरम्पराएँ हैं, जहाँपर सह्य, मन्दर, मेरु क्रीड़ाशैल हैं, जहाँपर अग्निके समान प्रकाशमान शीतल और उष्णकान्तिवाले चन्द्रमा-सूर्यरूपी दीपक हैं॥९–११॥

जहाँपर सूर्यकी किरणोंसे चमकती हुई चञ्चल तरङ्ग ही बड़ी-बड़ी मुक्ता हैं, ऐसी सुन्दर मोतियोंकी मालारूप चञ्चल नदियाँ जहाँपर बहती हैं ॥ १२ ॥

जहांपर ईखके रस, दूध आदिरूप जलवाले, मणि, रत्नरूपी भसींड़के अङ्कुरोंसे युक्त, बड़वानलरूपी कमलोंसे भरे हुए सात महार्णव ही सात बावड़ियां हैं ॥१३॥

अध उर्व्यां तथोर्ध्वे खे पुण्यापुण्यधनश्रियः ।
नरामरकिराटानां यत्राऽन्तः क्रयविक्रयौ ॥ १४ ॥
तस्मिन्नेव जगत्यस्मिन् पुरे सङ्कल्पभूभृता ।
क्रीडार्थमात्मनश्चित्रा देहापवरकाः कृताः ॥ १५ ॥
केचिद्गीर्वाणनामान ऊर्ध्व एव नियोजिताः ।
नरनागादयः केचिदध एव नियोजिताः ॥ १६ ॥
वातयन्त्रप्रवाहेण चलन्तो मांसमृन्मयाः ।
सितास्थिदारवश्चित्रास्त्वग्लेपमसृणामलाः ॥ १७ ॥
केचिच्चिरेण नश्यन्ति केचिच्छीघ्रविनाशिनः ।
केचित्केशोलपोल्लासरचिताच्छादनश्रियः ॥ १८ ॥
कर्णाक्षिनासाप्रमुखैर्द्वारैर्नेत्रभिरन्विताः ।
अनारतवहत्प्राणपवनेनोष्णशीतलाः ॥ १९ ॥

'ऊर्ध्वाधोगतिरूपेण वाणिज्यमार्गेण संकुलम्' (शास्त्रीय कर्मोंसे ऊर्ध्वगति होती है, अशास्त्रीय कर्मोंसे अधोगति होती है, इस प्रकारके व्यापारीमार्गसे परिपूर्ण) ऐसा जो पहले कहा था, उसका अर्थ कहते हैं—'**अधः**' इत्यादिसे ।

नीचे पृथ्वीपर तथा ऊपर आकाशमें पुण्य और पाप ही जिनकी धन-सम्पत्ति है, उन कर्म और उपासनामें अधिकारी श्रेष्ठ पुरुषों, देवताओं और म्लेच्छ देशमें रहनेवाले कर्माधिकारसे रहित पुरुषोंके क्रय, विक्रय जिस पुरमें होते हैं* ॥१४॥

पूर्वोक्त इसी त्रिजगद्रूपी नगरमें संकल्परूपी राजाने अपनी क्रीड़ाके लिए भाँति-भाँतिके देव, नर, तिर्यगादिके देहरूपी अपवरक (मध्यगृह) बनाए हैं, कुछ देवनामवालेंको ऊपर ही रक्खा । नर, नाग आदि कुछको नीचे ही रक्खा ॥१५,१६॥

उसने प्राणोंके प्रवाहसे चल रहे, मांसरूपी मिट्टीके बने हुए, सफेद अस्थिरूपी लकड़ीवाले, तेल, उबटन आदिसे चिकने और निर्मल विविध प्रकारके जीव बनाए हैं। कोई चिरकालमें नष्ट होते हैं। कोई शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं, किन्हींकी केशरूपी तृणोंकी वृद्धिसे आच्छादनशोभा बनाई गई है। कान आँख, नासिका

* मनुष्य और देवताओंके, 'देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः' इस भगवद्वाक्यसे पुण्य और उसके फलसे क्रय-विक्रय होते हैं। म्लेच्छोंके, जो कर्माधिकारसे वहिष्कृत हैं, पाप और उसके फल स्थावर, तिर्यगादि योनियोंसे क्रय विक्रय होते हैं।

कर्णनासास्यताल्वादिवातायनगणान्विताः ।
भुजाद्यङ्गप्रतोलीकाः पञ्चेन्द्रियकुदीपकाः ॥ २० ॥
मायया रचितास्तेषु संकल्पेन महामते ।
अहंकारमहायक्षाः परमालोकभीरवः ॥ २१ ॥
देहापवरकेष्वन्तर्महाहंकारयक्षकैः ।
सह संक्रीडतेऽत्यर्थं स सदैवाऽसदुत्थितैः ॥ २२ ॥
यथा कुसूले मार्जारो भस्त्रायां भुजगो यथा ।
मुक्ताफलं यथा वेणावहंकारस्तथा तनौ ॥ २३ ॥
क्षणमभ्युदयं यान्ति क्षणं शाम्यन्ति दीपवत् ।
देहगेहेषु संकल्पतरङ्गाः सागरेष्विव ॥ २४ ॥

आदि नौ द्वारोंसे वे युक्त हैं । निरन्तर बह रहे प्राणवायुसे वे उष्ण और शीतल हैं ॥ १७–१९ ॥

कान, नासिका, मुख, तालु आदि बहुत-सी खिड़कियोंसे वे युक्त हैं, भुजा आदि अङ्गरूपी सड़कोंसे वे व्याप्त हैं और पांच इन्द्रिय ही उनमें कुत्सित पांच दीपक हैं ॥ २० ॥

हे महामते, उन देहरूपी मध्यगृहोंमें संकल्पने मायासे अहंकाररूपी महा-यक्षोंकी रचना कर रक्खी है । वे परमात्माके दर्शनसे भयभीत होते हैं, तात्पर्य यह है कि परमात्माके दर्शनसे हृदयग्रन्थिरूप अहंकारका विनाश सुना जाता है, अतएव वे परमात्माके दर्शनसे डरते हैं ॥ २१ ॥

देहरूपी मध्यगृहोंके अन्दर अहंकाररूपी महायक्षोंके, जो कि मायासे उत्पन्न हुए हैं, साथ वह सदा खूब क्रीड़ा करता है ॥ २२ ॥

यदि कोई कहे कि देह ही अहंकार है, अन्य अहंकार नहीं है, तो इसपर नहीं, ऐसा कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे कोठिलेमें बिल्ली रहती है, जैसे धौंकनीमें सांप रहता है और जैसे बांसमें मोती रहता है वैसे ही शरीरमें अहंकार भी है ॥ २३ ॥

जैसे सागरमें तरङ्ग क्षणभरमें उदित होती है और क्षणभरमें विलीन हो जाती है, वैसे ही देहरूपी घरमें संकल्पकी वृत्तियां क्षणभरमें दीपकके समान उदित होती हैं और क्षणभरमें नष्ट हो जाती हैं ॥ २४ ॥

भविष्यन्नवनिर्माणं स व्याप्नोति तदा पुरम् ।
यदा संकल्पितं वस्तु क्षणादेव प्रपश्यति ॥ २५ ॥
असङ्कल्पनमात्रेण स्वेनैवाऽऽशु विनश्यति ।
श्रेयसे परमायाऽस्य नाशत्वेन तु सम्भवः ॥ २६ ॥
स्वयं सङ्कल्पनामात्रं जायते बालयक्षवत् ।
अनन्तायाऽऽत्मदुःखाय नाऽऽनन्दाय कदाचन ॥ २७ ॥
इदं स्फारं जगद्दुःखं प्रतनोत्यात्मसत्तया ।
असत्तया नाशयति घनमान्ध्यं यथा तमः ॥ २८ ॥
स्वयैव दुःखदायिन्या चेष्टया परिरोदिति ।
काष्ठावष्टब्धवृषणः कीलोत्पाटी कपिर्यथा ॥ २९ ॥

'तस्येच्छा जायते' इत्यादिके तात्पर्यका पुत्र द्वारा उक्त विरोधके परिहारसे वर्णन करते हैं—**'भविष्यत्'** इत्यादिसे ।

जब वह संकल्पित वस्तुको क्षणभरमें ही देखने लगता है तब जिसका निर्माण आगे होनेवाला है, ऐसे नगरको (स्वप्नजगत्को) प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

'तेनाऽऽशु स विनश्यति' इसके तात्पर्यको कहते हैं—**'असंकल्पन०'** इत्यादिसे।

अनेक करोड़ों जन्मोंमें दुःखका अनुभव करके भाग्यवश निर्वेदको प्राप्त होकर शास्त्र, आचार्य और समाधिके अभ्याससे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर संकल्पाभावमात्रसे वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। संकल्पकी वासनाक्षयप्रयुक्त-शून्यभावसे जो अभिनिष्पत्ति है, वह परम कल्याणके लिए होती है ॥ २६ ॥

'पुनरुत्पद्यते' इसका तात्पर्य कहते हैं—**'स्वयम्'** इत्यादिसे ।

बालकके द्वारा कल्पित यक्षके समान संकल्पमात्रस्वरूप वह स्वयं अनन्त आत्म-दुःखोंके लिए उत्पन्न होता है, आनन्दके लिए कभी उत्पन्न नहीं होता ॥ २७ ॥

जैसे घन अन्धकार अपनी सत्तासे आन्ध्यका विस्तार करता है और अपनी असत्तासे उसका विनाश करता है वैसे ही संकल्प अपनी सत्तासे ही विशाल जगद्दुःखका विस्तार करता है और अपनी असत्तासे उसका विनाश करता है॥२८॥

'किंकरोऽस्म्यहमज्ञोऽस्मि' इत्यादि शोकोक्तिका तात्पर्य कहते हैं—**'स्वयैव'** इत्यादिसे ।

काष्ठके बीचमें जिसके अण्डकोश दब गये, उस कील उखाड़नेवाले बन्दरके समान दुःख देनेवाली अपनी करनीसे ही वह रोता है ॥ २९ ॥

सङ्कल्पितानन्दलवस्तिष्ठत्युद्धरकन्धरम् ।
अकस्मात् प्रच्युतमधुबिन्दुभुक्खरभो यथा ॥ ३० ॥
क्षणं विरतिमायाति रतिमेति क्षणं स्वयम् ।
क्षणं विकारमायाति सङ्कल्पेनैव बालवत् ॥ ३१ ॥
एनं सकलभावेभ्यः कृत्वा निर्मूलमादरात् ।
मतिरन्तः पदं याति यथा पुत्र तथा कुरु ॥ ३२ ॥
त्रयस्तस्या मतेर्देहा अधमोत्तममध्यमाः ।
तमःसत्त्वरजःसंज्ञाः कारणं जगतः स्थितेः ॥ ३३ ॥
तमोरूपो हि सङ्कल्पो नित्यं प्राकृतचेष्टया ।
परां कृपणतामेत्य प्रयाति कृमिकीटताम् ॥ ३४ ॥

जैसे गदहा अकस्मात् गिरे हुए शहदकी बूँदोंका स्वाद लेता है, वैसे ही आनन्दलेशका संकल्प करनेवाला वह मारे हर्षके ऊँची गर्दन करके स्थित रहता है। गदहा इस दृष्टान्तसे यह सूचित किया कि जैसे गदहेके लिए शहद चाटना अत्यन्त दुर्लभ है वैसे ही उसके लिए विषयसुख भी अत्यन्त दुर्लभ है, मोक्ष-सुखकी तो कौन कहे ! ॥ ३० ॥

बालकके समान संकल्पसे ही यह स्वयं एक क्षणमें विरक्त होता है, क्षण-भरमें स्वयं अनुरागको प्राप्त होता है और क्षणभरमें विकारको प्राप्त होता है ॥३१॥

खोत्थकी आख्यायिकाके वर्णनका प्रयोजन कहते हैं—**'एनम्'** इत्यादिसे ।

हे पुत्र, बुद्धि इस संकल्पको सब बाह्य वस्तुओंसे लौटाकर, समाधिके अभ्याससे और तत्त्वज्ञानसे निर्वासन बनाकर, प्रत्यग्भूत ब्रह्मका अवलम्बन कर जिस प्रकार विश्रान्त हो, वैसा तुम करो ॥ ३२ ॥

पहले सर्गमें जो तीन शरीर कहे गये थे, उन्हींका विस्तार करते हैं—**'त्रयः'** इत्यादिसे ।

उस संकल्पात्मक मनके सत्त्व, रज और तमनामक उत्तम, मध्यम और अधम तीन शरीर इस जगत्स्थितिके कारण हैं ॥ ३३ ॥

तमोरूप संकल्प प्राकृत चेष्टासे (स्वाभाविक प्रवृत्तिसे) नरकोंमें प्रसिद्ध परम दीनताको प्राप्त होकर कृमि-कीट योनिमें प्राप्त होता है । यहांपर कृमि, कीटका ग्रहण स्थावर आदि योनियोंका भी उपलक्षक है ॥ ३४ ॥

सत्त्वरूपो हि सङ्कल्पो धर्मज्ञानपरायणः ।
अदूरकेवलीभावं स्वाराज्यमधितिष्ठति ॥ ३५ ॥
रजोरूपो हि सङ्कल्पो लोकसंव्यवहारवान् ।
परितिष्ठति संसारे पुत्रदारानुरञ्जितः ॥ ३६ ॥
त्रिविधं तु परित्यज्य रूपमेतन्महामते ।
सङ्कल्पः परमायाति पदमात्मपरिक्षये ॥ ३७ ॥
सर्वा दृष्टीः परित्यज्य नियम्य मनसा मनः ।
सबाह्याभ्यन्तरार्थस्य सङ्कल्पस्य क्षयं कुरु ॥ ३८ ॥
यदि वर्षसहस्राणि तपश्चरसि दारुणम् ।
यदि वा विलयात्मानं शिलायां चूर्णयस्यलम् ॥ ३९ ॥
यदि वाऽग्निं प्रविशसि वडवाग्निमथापि वा ।
यदि वा पतसि श्वभ्रे खड्गधाराजवे तथा ॥ ४० ॥

सत्वरूप संकल्प धर्म और ज्ञानमें परायण होकर स्वाराज्यको (हिरण्यगर्भ-भावपर्यन्त देवताभावको), जिसमें मोक्ष सन्निहित है, प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

रजोरूप संकल्प मनुष्यरूप जन्मसे मनुष्योचित व्यवहारवाला होता है, वह संसारमें पुत्र, स्त्री आदिसे अनुरञ्जित होकर रहता है ॥ ३६ ॥

हे महामते, तीन प्रकारके इस स्वरूपका त्याग कर संकल्प—आत्यन्तिक संकल्पोच्छेद होनेपर—मोक्षरूप परम पदको प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

संकल्पके क्षयमें कौन उपाय है, ऐसा प्रश्न होनेपर उसे कहते हैं—**'सर्वाः'** इत्यादिसे ।

हे पुत्र, सब बाह्य दृष्टियोंका त्याग करके, मनसे मनका नियमन करके तुम बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंके साथ संकल्पका विनाश करो ॥ ३८ ॥

यदि कोई शंका करे कि संकल्पका विनाश दुष्कर है । अन्य किसी उपायका मोक्षके लिए उपदेश दीजिये, तो इसपर अन्य उपाय नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'यदि'** इत्यादिसे ।

यदि हजारों वर्षोंतक तुम घोर तपस्या करो, यदि अपने शरीरको शिलापर पटक कर चूर-चूर कर डालो, यदि अग्निमें प्रवेश करो अथवा बड़वानलमें प्रवेश करो, गड्ढेमें गिरो, यदि खड्गधाराके वेगमें प्रवेश करो, यदि साक्षात् शिवजी

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा।
अत्यन्तकरुणाक्रान्तो लोकनाथोऽथवा यतिः ॥ ४१ ॥
पातालस्थस्य भूस्थस्य स्वर्गस्थस्याऽपि तत्त्व।
नाऽन्यः कश्चिदुपायोऽस्ति सङ्कल्पोपशमादृते ॥ ४२ ॥
अनाबाधेऽविकारे च सुखे परमपावने।
सङ्कल्पोपशमे यत्नं पौरुषेण परं कुरु ॥ ४३ ॥
सङ्कल्पतन्तावखिला भावाः प्रोताः किलाऽनघ।
छिन्ने तन्तौ न जाने ते क्व यान्ति विशरारवः ॥ ४४ ॥
असत्सत्सदसत्सर्वं सङ्कल्पादेव नाऽन्यतः।
सङ्कल्पं सदसच्चैवमिह सत्यं किमुच्यताम् ॥ ४५ ॥

तुम्हें उपदेश देनेवाले हों अथवा साक्षाद् विष्णु उपदेशक हों या भगवान् ब्रह्मा उपदेष्टा हों अथवा अत्यन्त दयालु श्रीदत्तात्रेय यति उपदेष्टा हों, चाहे तुम पातालमें रहो, चाहे पृथ्वीपर रहो, चाहे स्वर्गमें ही क्यों न रहो, तुम्हारे लिए संकल्पकी शान्तिके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ ३९–४२ ॥

वह संकल्पकी निवृत्ति ब्रह्मस्वरूप ही है, इस आशयसे कहते हैं— **'अनाबाधे'** इत्यादिसे।

बाधरहित, अविकारी, परमपवित्र, सुखरूप संकल्पकी निवृत्तिमें साधनचतुष्टय-सम्पत्ति, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनरूप परम यत्न पौरुषसे करो ॥ ४३ ॥

यदि कोई शंका करे कि एकमात्र संकल्पके नष्ट होनेपर संपूर्ण जगद्रूप बन्धनकी निवृत्ति कैसे होती है, तो इसपर कहते हैं—**'संकल्प०'** इत्यादिसे।

हे निष्पाप, सम्पूर्णपदार्थ संकल्परूपी सूत्रमें गुँथे हुए हैं। संकल्परूपी सूत्रके टूटनेपर छिन्न-भिन्न हुए पदार्थ न मालूम कहाँ चले जाते हैं। भाव यह है कि आरोपित पदार्थोंकी अधिष्ठानमें प्रतीति होती है, उनके अन्यत्र गमनकी प्रसिद्धि नहीं है ॥ ४४ ॥

यदि कोई शंका करे कि यह संकल्प आदि सब भावोंकी निवृत्ति असत् है या सत् है या सदसत् है। यदि असत् है, तो मोक्षकी असिद्धि हो जायगी। यदि सत् है, तो मोक्ष होनेपर भी द्वैतकी आपत्ति हो जायगी। यदि सदसत् है, तो बन्ध और द्वैतकी पाक्षिक अनुवृत्ति होगी, इसलिए मोक्षमें अक्षुण्णताकी सिद्धि नहीं होगी, इत्यादि दोषोंका एक उक्तिसे परिहार करते हैं—**'असत्'** इत्यादिसे।

सङ्कल्प्यते यथा यद्यत्तत्तथा भवति क्षणात् ।
मा किञ्चिदपि तत्त्वज्ञ सङ्कल्पय कदाचन ॥ ४६ ॥
निःसङ्कल्पो यथाप्राप्तव्यवहारपरो भव ।
चिदचेत्योन्मुखत्वं हि याति सङ्कल्पसंक्षये ॥ ४७ ॥
उत्थाय सत्त्वरूपेण योऽन्या सत्यमयात्मकम् ।
न तज्जगद्दुःखमिदं व्यर्थं सदृशमात्मनः ॥ ४८ ॥
तेन दुःखाय महते किं मृतेन तवाऽनघ ।
यद्दुःखाय तत्प्राज्ञाः संश्रयन्तीह नेतरत् ॥ ४९ ॥

असत्, सत्, सदसत्—सब विकल्प संकल्पसे ही पदार्थोंके साथ उत्पन्न हुए हैं, वे संकल्पका ही सदसद्रूपसे विकल्प करनेके लिए समर्थ नहीं हैं। परमार्थसत्यसंकल्प ब्रह्मका वे स्पर्श भी नहीं कर सकते, इसमें कहना ही क्या है। कार्य जहांपर अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले आन्तर कारणमें भी कुण्ठित होते हैं, वहांपर असंग परमात्मामें तो उनके कुण्ठीभावका क्या कहना है ॥ ४५ ॥

जिस-जिसका जैसा संकल्प किया जाता है, वह क्षणभरमें वैसा हो जाता है, इसलिए हे तत्त्वज्ञ, तुम कभी भी किसी वस्तुका संकल्प मत करो ॥ ४६ ॥

संकल्पसे रहित हुए तुम जो व्यवहार जैसे प्राप्त हो, वैसे उसमें तत्पर होओ, क्योंकि संकल्पका क्षय होनेपर चित् (जीव) अचेत्यकी (ब्रह्मकी) ओर आकृष्ट हो जाता है ॥ ४७ ॥

मोक्षका सम्पादन यदि न किया जाय, तो क्या क्षति है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—**'उत्थाय'** इत्यादिसे।

सत्यैकस्वभाव ब्रह्म असत्य मायावश देवता, मनुष्य, तिर्यगादि चौरासी लाख योनियों द्वारा तत्तत् प्राणियोंके रूपसे उत्पन्न होकर व्यर्थ ही जगद्दुःखका अनुभव करता है। यह उसके स्वरूपानुरूप नहीं है ॥ ४८ ॥

हे निष्पाप, नाना योनियोंमें जन्मके लिए दुःखार्थ पुनः पुनः उस मरणसे तुम्हें क्या लाभ है, जो दुःखके लिए नहीं होता, विद्वान् लोग उसीका आश्रयण करते हैं, अन्यका नहीं करते ॥ ४९ ॥

अधिगतपरमार्थतामुपेत्य
प्रसभमपास्य विकल्पजालमुच्चैः ।
अधिगमय पदं तदद्वितीयं
विततसुखाय सुषुप्तचित्तवृत्तिः ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दाशूरोपाख्याने संसारनगरविकल्पयोगविचारो नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥५३॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

पुत्र उवाच

कीदृशस्तात सङ्कल्पः कथमुत्पद्यते प्रभो ।
कथं च वृद्धिमाप्नोति कथं चैष विनश्यति ॥ १ ॥

दाशूर उवाच

अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य सत्तासामान्यरूपिणः ।
चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तत्संकल्पाङ्कुरं विदुः ॥ २ ॥

तो मुझे क्या करना चाहिए, यदि ऐसा पुत्रकी ओरसे प्रश्न हो, तो उसपर कहते हैं—'**अधिगत०**' इत्यादिसे ।

सुषुप्त चित्तवृत्तिवाले होकर तत्त्वज्ञताको प्राप्त करके मूलोच्छेदपूर्वक संपूर्ण विकल्पोंको दूर कर जो अद्वितीय मोक्षनामक पद है, उसे निरतिशय आनन्दकी प्राप्तिके लिए प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करो ॥ ५० ॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

[संकल्पकी जैसे उत्पत्ति होती है, जैसा उसका स्वरूप है, जैसे वह घनताको प्राप्त होता है और जिस उपायसे उसका उच्छेद होता है, इन सबका वर्णन]

पुत्रने कहा—हे तात, यह संकल्प कैसा है, हे प्रभो, यह कैसे उत्पन्न होता है और कैसे वृद्धिको प्राप्त होता है और कैसे नष्ट होता है ॥ १ ॥

दाशूरने कहा—हे पुत्र, अनन्त, सत्तासामान्यरूपी आत्मतत्त्वरूप चित्‌की, जो विषयोन्मुखता है, उसीको संकल्परूपी वृक्षका अङ्कुर कहते हैं ॥ २ ॥

लेशतः प्राप्तसत्ताकः स एव घनतां शनैः ।
याति चित्तखमापूर्य दृढजाड्याय मेघवत् ॥ ३ ॥
भावयन्ती चितिश्चेत्यं व्यतिरिक्तमिवाऽऽत्मनः ।
संकल्पतामुपायाति बीजमङ्कुरतामिव ॥ ४ ॥
संकल्पेन हि संकल्पः स्वयमेव प्रजायते ।
वर्धते स्वयमेवाऽऽशु दुःखाय न सुखाय तु ॥ ५ ॥
संकल्पमात्रं हि जगज्जलमात्रं यथाऽर्णवः ।
ऋते संकल्पमन्या ते नाऽस्ति संसारदुःखिता ॥ ६ ॥
काकतालीययोगेन सञ्जातोऽस्ति मुधैव हि ।
मृगतृष्णा द्विचन्द्रत्वमिवाऽसत्यं च वर्धते ॥ ७ ॥

सूक्ष्मरूपसे अस्तित्वको प्राप्त हुआ वह संकल्प ही मेघकी नाईं चित्ताकाशको चारों ओरसे व्याप्त करके अधिष्ठान चैतन्यकी चित्स्वभावताके तिरोधान द्वारा जड़ प्रपञ्चाकारकी प्राप्तिके लिए धीरे-धीरे घनताको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

इस प्रकार समष्टिसंकल्पसे जगत्‌की उत्पत्ति कहकर उसी प्रकार बुद्धि, अहंकार, प्राण, इन्द्रिय, देह आदिके आकारवाले व्यष्टिसंकल्पकी उत्पत्ति कहते हैं—**'भावयन्ती'** इत्यादिसे ।

विषयोंकी अपनेसे अतिरिक्तकी तरह भावना करता हुआ चेतन जैसे बीज अङ्कुरताको प्राप्त होता है वैसे ही संकल्परूपताको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

उस मूलाङ्कुरसे शाखाङ्कुरोंकी तरह बाह्यविषयाकारसंकल्पपरम्पराओंसे संकल्पोंकी दुःखदायिनी वृद्धि कहते हैं—**'संकल्पेन'** इत्यादिसे ।

संकल्पसे संकल्प स्वयं ही पैदा होता है और स्वयं ही दुःखके लिए वृद्धिको प्राप्त होता है, उसकी वृद्धि सुखके लिए नहीं होती ॥ ५ ॥

जैसे समुद्र एकमात्र जलरूप है वैसे ही सारा जगत् संकल्पमात्र ही है, संकल्पको छोड़कर दूसरी वस्तु संसारदुःख नहीं है, अर्थात् संकल्प ही संसाररूपी दुःख है ॥ ६ ॥

यदि कोई शंका करे, निर्विकार अद्वितीय वस्तुमें बिना बीजके जगत्‌की उत्पत्ति कैसे हुई, तो उसपर कहते हैं—**'काकतालीय०'** इत्यादिसे ।

काकतालीय न्यायसे यह संसार मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है । विवर्तवादके

निगीर्णमातुलिङ्गस्य कनकप्रत्ययो यथा।
स्वयमभ्येत्यसत्योऽन्तःसंकल्पस्ते तथा हृदि ॥ ८ ॥
असत्यमेव जातस्त्वमसत्यमपि वर्तसे ।
अस्मिन् ज्ञाते च विज्ञाने ह्यसत्यं संविलीयते ॥ ९ ॥
असौ सोऽहमिमे भावाः सुखदुःखमया मम ।
व्यर्थमेवेति नाऽनास्था येनाऽन्तः परितप्यसे ॥ १० ॥
असन्नेवाऽस्य जातोऽसि कुतो जन्म विलासतः ।
व्यर्थमेवाऽवमूढोऽसि संकल्पवशतः स्वतः ॥ ११ ॥
मा संकल्पय संकल्पं भावं भावय मा स्थितौ ।
एतावतैव भावेन भव्यो भवति भूतये ॥ १२ ॥

आश्रयणसे उक्त दोषका परिहार करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—मृगतृष्णा और द्विचन्द्रत्वके समान यह असत्य ही वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

पूर्वानुभूत विषयवासनाओंके उद्‌बुद्ध होनेसे यह हेय जगद्‌भ्रान्ति हुई है, ऐसा कहते हैं—**'निगीर्ण०'** इत्यादिसे ।

जिस पुरुषने मातुलिङ्गका फल (फलविशेष, जो नेत्रके पित्तको बढ़ाता हुआ शुक्ल वस्तुमें पीतभ्रम उत्पन्न करता है) निगल लिया, उसे जैसे सर्वत्र कनकप्रतीति होती है वैसे ही असत्य यह संकल्प तुम्हारे हृदयमें स्वयं ही प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

असत्य ही तुम उत्पन्न हुए हो और असत्य ही स्थित हो, मेरे इस उपदेश-रूप शास्त्रके ज्ञात होनेपर असत्यका विलय हो जाता है ॥ ९ ॥

यह जो वेदान्तोंमें प्रसिद्ध पूर्णात्मा है, वह मैं ही हूँ, मेरे ये सुख-दुःखमय जन्मादिविकार मिथ्या ही हैं, इस प्रकारकी अनास्था अज्ञानवश नहीं होती, इसीसे तुम्हें अन्तःकरणमें संताप होता है ॥ १० ॥

इस जन्म आदिके सम्बन्धी तुम कभी न होते हुए भी भ्रान्तिसे उत्पन्न हुए हो । तात्त्विक पूर्णतारूप आत्मतत्त्वके स्फुरणसे जन्म कहाँ, संकल्पवश तुम व्यर्थ ही मूढ़ हुए हो ॥ ११ ॥

तब इस भ्रमकी निवृत्तिके लिए कौन-सा उपाय है, ऐसा प्रश्न होनेपर भ्रमनिवृत्तिका उपाय कहते हैं—**'मा संकल्पय'** इत्यादिसे ।

संकल्पका संकल्प मत करो, पहले अनुभूत सुख-दुःखादिभावका वर्तमान

संकल्पनाशयत्नेन न भयान्यनुगच्छति ।
भावनाभावमात्रेण संकल्पः क्षीयते स्वयम् ॥ १३ ॥
सुमनःपल्लवामर्दे किञ्चिद्व्यतिकरो भवेत् ।
सुसाध्योऽभावमात्रेण न तु सङ्कल्पनाशने ॥ १४ ॥
पुष्पाक्रान्तौ करस्पन्दयत्नः पुत्रोपयुज्यते ।
तदप्युपकरोत्यस्मिन्न संकल्पपरिक्षये ॥ १५ ॥
सङ्कल्पो येन हन्तव्यस्तेन भावविपर्ययात् ।
अप्यर्धेन निमेषेण लीलयैव निहन्यते ॥ १६ ॥
भावमात्रोपसम्पन्ने स्वात्मनि स्थितिमागते ।
साध्यते यदसाध्यं तत्कस्य स्यात्किमिवाऽङ्ग ते ॥ १७ ॥

स्थितिमें स्मरण मत करो। पूर्वभावका स्मरण करनेपर उनके ग्रहण और त्यागके लिए संकल्पका उदय होगा ही। केवल वर्तमान स्थितिमें पूर्वानुभूत सुख-दुःखादि-भावोंकी अस्मरणरूपी भावनासे ही भव्य पुरुष भूतिके लिए उन्मुख होता है ॥१२॥

संकल्पके क्षयसे सब भयोंका नाश हो जाता है और पूर्वभावोंकी भावना न करनेसे संकल्पका नाश हो जाता है, यह क्रम सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—**'संकल्प०'** इत्यादिसे।

संकल्पके विनाशमें यत्न करनेसे मनुष्य विविध भयोंको प्राप्त नहीं होता। एकमात्र भावनाके अभावसे संकल्प अपने-आप क्षीण हो जाता है ॥ १३ ॥

यह उपाय अत्यन्त सरल है, यों उसकी प्रशंसा करते हैं—**'सुमनः०'** इत्यादिसे।

शिरीष आदि फूलोंको और कोमल पल्लवोंको मसलनेमें थोड़ा बहुत प्रयत्न हो सकता है, किन्तु भावना न करनेमात्रसे सिद्ध होनेवाले संकल्पनाशमें उसकी भी संभावना नहीं है ॥ १४ ॥

हे पुत्र, फूलको मसलनेके लिए हाथकी चेष्टारूप यत्नका उपयोग होता है, लेकिन इस संकल्पविनाशमें उतने भी यत्नका उपयोग नहीं है ॥ १५ ॥

जिस पुरुषको संकल्पका विनाश करना हो, वह भावनाके अस्मरणसे आधे पलकमें ही अनायास उसका विनाश कर डालता है ॥ १६ ॥

संकल्पका क्षय होनेसे दुःखक्षय होनेपर भी निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति किस उपायसे हो सकती है? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—**'भाव०'** इत्यादिसे।

सङ्कल्पेनैव सङ्कल्पं मनसा स्वमनो मुने ।
छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम् ॥ १८ ॥
उपशान्ते हि सङ्कल्पे उपशान्तमिदं भवेत् ।
संसारदुःखमखिलं मूलादपि महामते ॥ १९ ॥
सङ्कल्पो हि मनो जीवश्चित्तं बुद्धिः सवासना ।
नाम्नैवाऽन्यत्वमेतेषां नाऽर्थेनाऽर्थविदांवर ॥ २० ॥

निरन्तर अपनी पूर्णानन्दात्मताके चिन्तनमात्रसे प्राप्त हुई स्वात्मामें स्थितिको (स्वरूपाप्रच्युतिको) प्राप्त होनेपर जो वस्तु असाध्य है, वह भी साध्य हो जाती है ।

शङ्का—जो वस्तु असाध्य है, वह साध्य हो जाती है, यह कथन तो विपरीत है ?

समाधान—वह स्वरूपस्थिति स्वतःसिद्ध है, कभी नष्ट नहीं होती, इस आशयसे उसे साध्य कहा और वह उत्पन्न होती है, इस आशयसे उसे साध्य नहीं कहा । भावोंकी निवृत्ति दो प्रकारकी हैं, दूसरे द्वारा अपहृत होनेपर अथवा नाशसे दूसरे जन्मकी प्राप्ति होनेपर । हे पुत्र, तुम्हारा आत्मा अन्यसे अपहृत होता हुआ किसका होगा; क्योंकि अद्वितीय आत्मासे अतिरिक्त कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, अथवा नष्ट होता हुआ वह भला क्या वस्तु होगा ? घट तो नष्ट होता हुआ कपाल बनता है, पर आत्मा क्या होगा ? जो होगा वह नष्ट हुए आत्मासे देखा ही नहीं जा सकता । आत्मासे अन्य कोई द्रष्टा है ही नहीं, इसलिए निःसाक्षिक आत्मनाश सिद्ध नहीं ही हो सकता । इसलिए आत्मरूप मोक्ष स्वतःसिद्ध है, न कि असत् ही उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥

हे मननशील पुत्र, संकल्पसे ही संकल्पका और मनसे ही अपने मनका उच्छेद करो यानी असंकल्पनके संकल्पसे ही सब पदार्थोंके संकल्पका और आत्मतत्त्वमननरूप मनसे ही अपने मनका उच्छेद करके तुम स्वात्मनिष्ठ हो जाओ, ऐसा करनेमें कौन-सी कठिनाई है ? ॥ १८ ॥

हे महामते, संकल्पके शान्त होनेपर यह सारा संसारदुःख जड़से उपशान्त हो जाता है । भाव यह कि पूर्वोक्त दो उपायोंसे संकल्पके मूलतः उपशान्त होनेपर दुःख भी मूलतः उपशान्त हो जाता है ॥ १९ ॥

संकल्पके शान्त होनेपर भी जीव, चित्त, वासना आदिसे दुःख होगा ही ? ऐसी आशंका करके चित्त आदिका संकल्पमें ही अन्तर्भाव कहते हैं— **'संकल्पः'** इत्यादिसे ।

सङ्कल्पनादृते नेह किञ्चिदेवाऽस्ति कुत्रचित् ।
तमेव हृदयाच्छिन्धि किमन्यत् परिशोचसि ॥ २१ ॥
यथैवेदं नभः शून्यं जगच्छून्यं तथैव हि ।
असन्मयविकल्पोत्थे उभे एते तते यतः ॥ २२ ॥
असिद्धं सर्वमेवैतदसिद्धेनैव साधितम् ।
सङ्कल्पेन जगद्यस्माद्भावना काऽत्रतिष्ठताम् ॥ २३ ॥
(सत्यास्थायामसत्यां तु किंनिष्ठा वासना भवेत् ।)
भावनाक्षयतः सिद्धिस्ततः प्राप्यं न शिष्यते ।
तस्मादसदिदं सर्वं विज्ञेयं हेलयेद्धया ॥ २४ ॥

संकल्प ही मन, जीव, चित्त तथा वासनासहित बुद्धि है । इनका नामसे ही भेद है । हे अर्थवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, अर्थतः इनमें भेद नहीं है ॥ २० ॥

संकल्पके सिवा यहाँ कहींपर कुछ भी नहीं है, इसलिए हृदयसे संकल्पको ही तुम दूर करो । व्यर्थ अन्यका शोक क्यों करते हो ? ॥ २१ ॥

यदि कोई शंका करे, संकल्प ही यदि जीव और जगद्रूप है, तो उसका नाश होनेपर नैरात्म्यरूप शून्यतापत्ति हो जायगी, क्योंकि जीवसे अन्य आत्मा नामकी कोई वस्तु नहीं है, इसपर कहते हैं—**'यथैव'** इत्यादिसे ।

जैसे ही यह आकाश शून्य है वैसे ही यह जगत् भी शून्य है, क्योंकि असन्मय विकल्पसे उत्पन्न हुए ये दोनों विस्तृत हैं । भाव यह कि मरुमरीचिकाका नाश होनेपर भी मरुभूमि जैसे शून्य नहीं कही जाती वैसे ही जीव, जगद्रूप दृश्यका बाध होनेपर भी दृग्रूप आत्मा शून्य नहीं कहा जा सकता । मरुमरीचिका और जगत् ये दोनों समान ही हैं ॥ २२ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि एक बार बाधित होकर भी यह जगत् भावनासे पुनः होगा ? इसपर कहते हैं—**'असिद्धम्'** इत्यादिसे ।

यह सारा जगत् असत् ही है, क्योंकि असत् संकल्पसे ही इसका निर्माण हुआ है, इसलिए भावना कहाँपर रहेगी ? भाव यह है कि बाधित पदार्थमें भावनाका अवतरण ही नहीं हो सकता है ॥ २३ ॥

इसलिए भावनाके उच्छेदको चाहनेवाले पुरुषको सबसे पहले जगत् मिथ्या है, ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, यह कहते हैं—**'भावना०'** इत्यादिसे ।

तनुभावनया तेन सुखदुःखैर्न लिप्यते ।
अवस्त्विति च निर्णीय स्नेहास्था न प्रवर्तते ॥ २५ ॥
आस्थाक्षये न जायेते हर्षामर्षौ भवाभवौ ।
तस्मादसदिदं सर्वं सुखदुःखादिविभ्रमैः ॥ २६ ॥
मनो जीवः स्फुरत्युच्चैर्मानसं नगरं जगत् ।
भविष्यद्वर्तमानं च भूतं च परिवर्तयन् ॥ २७ ॥
वासनावलितं लोके स्फुरच्छक्ति मनः स्थितम् ।
करोति स्वाशयेनेमां व्यवस्थां मलिनश्चलः ॥ २८ ॥
आत्मनः सदृशीं लीलां जीवो हृद्वनमर्कटः ।
दीर्घमाकारमादाय निमेषाद्याति ह्रस्वताम् ॥ २९ ॥

(जगत्में 'यह सत्य है' इस विश्वासके न होनेपर भावना किसमें रहेगी ?) भावनाके नाशसे सिद्धि प्राप्त होती है। तदनन्तर प्राप्तव्य कुछ वस्तु अवशिष्ट नहीं रहती है । इसलिए अभ्यासवश दृढ़ हुए दृश्यके अनादरसे इस समस्त जगत्को असत् समझना चाहिये ॥ २४ ॥

पुरुष दृश्यके अनादरसे देहमें आत्मताके अनुसन्धानवश होनेवाले सुख-दुःखोंसे लिप्त नहीं होता। देहसम्बन्धी पुत्र, मित्र आदि भी अवास्तविक हैं, यह जानकर उनमें स्नेहसे आदर नहीं होता है ॥ २५ ॥

आदरका अभाव होनेपर हर्ष, क्रोध तथा जन्म-मरण आदि नहीं होते हैं, इसलिए सुख, दुःख आदिकी भ्रान्तियोंसे युक्त यह सब असत् ही है ॥ २६ ॥

मन ही चित्के प्रतिबिम्बसे जीव होकर मनोरथसे कल्पित नगररूपी भूत, भविष्यत् और वर्तमान जगत्की रचना करता हुआ, वृद्धि करता हुआ और विनाश करता हुआ खूब स्फुरित होता है ॥ २७ ॥

कैसे पूर्वोक्त रीतिसे परिवर्तन करता हुआ स्फुरित होता है ? उसपर कहते हैं—**'वासना०'** इत्यादिसे ।

लोकमें मन विषयोंके सम्बन्धसे तत्-तत् विषयवासनाओंसे आवृत और अधिष्ठानरूप चित्के सम्बन्धसे स्फुरण शक्तिवाला होकर स्थित है, इसलिए मलिन और चञ्चल होकर अपनी इच्छासे पूर्वोक्त रचना आदिकी व्यवस्था करता है ॥२८॥

तब वह इष्ट वस्तु ही क्यों नहीं करता है, अनिष्ट वस्तुको क्यों करता है ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'आत्मनः'** इत्यादिसे ।

ग्रहीतुं च न शक्यन्ते सङ्कल्पजलवीचयः ।
मनाग्दृष्टा विवर्द्धन्ते ह्रसन्ति सपरिच्छदाः ॥ ३० ॥
तृणमात्रेण दीप्यन्ते सङ्कल्पा वह्निशेषवत् ।
जगत्यप्रकटाकाराः प्रदीप्ताः क्षणभङ्गुराः ॥ ३१ ॥
भ्रमदा जडसंस्थानाः सङ्कल्पास्तडिदग्नयः ।
यदेवाऽसन्मयं पुत्र तदेवाऽऽशु चिकित्सितुम् ॥ ३२ ॥
शक्यते नाऽत्र संदेहो नाऽसत् सद्भवति क्वचित् ।
संस्थितो यदि सङ्कल्पो दुश्चिकित्स्यः स्वतो भवेत् ॥ ३३ ॥

हृदयरूपी वनका बन्दर जीव अपने स्वभावके अनुरूप लीला करता है। बड़े आकारको प्राप्त कर क्षणमात्रमें छोटा बन जाता है ॥ २९ ॥

यह बड़े और छोटे आकारका कैसे हो जाता है ? इसपर कहते हैं—**'ग्रहीतुम्'** इत्यादिसे ।

संकल्परूपी जलतरंगोंका नियन्त्रण किसीसे नहीं किया जा सकता । विषयोंके थोड़े दर्शनसे उद्बुद्ध हुई वे बढ़ती हैं और विषयोंके दर्शन और स्मरणका त्याग होनेपर अपने परिवारके साथ ह्रासको प्राप्त होती हैं ॥ ३० ॥

जैसे अग्निकी चिनगारी केवल एक तृणसे प्रदीप्त हो उठती है वैसे ही संकल्प तृणतुल्य अल्पविषयसे भी प्रदीप्त होते हैं । जैसे बिजलीकी अग्नियोंका आकार गुप्त रहता है, कभी चमक कर वे क्षणभरमें नष्ट हो जाती हैं, ठूँठ आदिमें चोरकी भ्रान्ति उनसे होती है, मेघस्थित जलमें उनकी स्थिति रहती है वैसे ही संकल्पोंका भी आकार गुप्त रहता है, वे प्रदीप्त होकर क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं, खम्भे आदिमें चोरकी भ्रान्तिके हेतु हैं और जड़ विषयोंमें उनका निवास है ।

इस प्रकार "कीदृशस्तात संकल्पः" (हे तात संकल्प किस प्रकारका है) इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर कहकर "कथं चैष विनश्यति" (किस प्रकार इसका विनाश होता है) इस अन्तिम प्रश्नका उत्तर कहनेके लिए पूर्वोक्त संकल्पका निवारण कोई कठिन काम नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'यदेव'** इत्यादिसे ।

हे पुत्र, जो भी वस्तु असन्मय (मिथ्या) है उसीका ज्ञानसे शीघ्र निवारण किया जा सकता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । असद् वस्तु कभी सद् नहीं हो सकती है । यदि संकल्प परमार्थभूत होता, तो वह स्वतः ही अनिवार्य हो जाता ॥ ३१–३३ ॥

किं त्वसद्भूत एवैष सुचिकित्स्यस्तदा भवेत् ।
अकृत्रिमं चेत्संसारमलमङ्गारकाष्र्ण्यवत् ॥ ३४ ॥
तदेतत्क्षालने साधो कः प्रवर्तेत दुर्मतिः ।
किं त्वेतत्तण्डुलेष्वेव तुषकञ्चुकवत् स्थितम् ॥ ३५ ॥
यतस्ततः प्रयत्नेन पौरुषेण विनश्यति ।
अकृत्रिममपि प्राप्तं भृशं पुत्र तथा पुनः ॥ ३६ ॥
सुखोच्छेद्यतया ज्ञस्य संसारमलमाततम् ।
तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिमा ॥ ३७ ॥
नश्यति क्रियया पुत्र पुरुषस्य तथा मलम् ।
नश्यत्येव न सन्देहस्तस्मादुद्यमवान् भव ॥ ३८ ॥

किन्तु यह असन्मय ही है, इसलिए इसका सुखपूर्वक निवारण किया जा सकता है ।

जगत् सत्य है, इस पक्षमें तो आत्मा भी जगत्के तुल्य ही है, अतएव आत्मामें मलिनस्वभावताकी प्राप्ति होनेपर ज्ञानसे सत्यका निरास ही सब प्रमाणोंसे विरुद्ध है, इससे अनिर्मोक्षप्रसंग हो जायगा । विरुद्धका (ज्ञानसे सत्यके निरासका) भी यदि स्वीकार किया जाय, तो जैसे कोयलेकी कालिमा यदि कुछ बाकी रखकर धोई जाय तो कालिमा ही शेष रहेगी, यदि कुछ शेष न रखकर धोई जाय तो केवल शून्यतामें पर्यवसान होगा, इसी दृष्टान्तसे इस पक्षमें पुरुषार्थका अस्तित्व ही मिट जायगा, इस आशयसे कहते हैं—**'अकृत्रिमम्'** इत्यादिसे ।

हे साधो, यदि संसाररूपी मल कोयलेकी कालिमाके समान सत्य हो, तो इसको धोनेके लिए कौन दुर्बुद्धि प्रवृत्त होगा ? किन्तु यह चावलोंमें छिलकोंकी नाईं स्थित है, इसलिए इसका पौरुष प्रयत्नसे विनाश हो जाता है ।

हे पुत्र, प्राप्त हुआ अनादिभूत भी यह संसारमल तत्त्वज्ञानीके लिए तो अनायास ही उच्छेद्यरूपसे विस्तृत है; क्योंकि अनादि अज्ञानसे उत्पन्न, अतिविस्तृत भी रजत, स्वप्न आदिकी भ्रान्तिका ज्ञानमात्रसे उच्छेद दिखाई देता है, यह तात्पर्य है ।

असंभावना, विपरीतभावना आदि मलका तो ज्ञानभूमिकाभ्यासरूप पुरुष-प्रयत्नसे भी विनाश होता है, इस आशयसे कहते हैं—**'तण्डुलस्य'** इत्यादिसे ।

जैसे पुरुषप्रयत्नसे धानका छिलका नष्ट हो जाता है और जैसे ताँबेकी कालिमा

असत्कल्पैर्विकल्पैर्यत् संसारो न जितो मुधा ।
स्तोकेनाऽऽशु लयं याति क्वाऽसद्वस्तु चिरं स्थितम् ॥३९॥

असत्यामेति संसारः स्वव्यवस्थां विचारतः ।
दीपालोकादिवाऽन्धस्य द्वीन्दुत्वं स्वीक्षितादिव ॥ ४० ॥

नाऽसौ तव न चाऽस्य त्वं भ्रान्तिं पुत्र परित्यज ।
असत्ये सत्यवद् दृष्टे भावना मा स्म हीदृशः ॥ ४१ ॥

मम गुरुविभवोज्ज्वला विलासा
इति तव माऽस्तु वृथैव विभ्रमोऽन्तः ।
त्वमपि च विताताश्च ते विलासा
विलसति सर्वमिदं तदात्मतत्त्वम् ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दाशूरोपाख्याने संकल्पचिकित्सा नाम चतुष्पञ्चाशः सर्गः ॥५४॥

—o—

नष्ट हो जाती है वैसे ही प्रयत्नसे पुरुषके असम्भावना, विपरीत भावना आदिरूप मल अवश्य नष्ट हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है, इसलिए तुम उसमें प्रयत्न करो ॥ ३४–३८ ॥

असत्य विकल्पोंसे युक्त मिथ्या संसारको इतने समयतक जो तुमने नहीं जीता, यह उपाय न जाननेके कारण ही हुआ । तनिक भी उपायके परिज्ञानसे यह शीघ्र लयको प्राप्त होता है । भला बतलाइये तो सही, असत् वस्तु कहीं चिरकाल-तक रहती है ? ॥ ३९ ॥

विचारसे संसार स्वनिष्ठ बाधको ऐसे प्राप्त होता है जैसे कि दीपकका प्रकाश होनेपर अन्धकारवश क्षीण दर्शनशक्तिवाले पुरुषकी अन्धता निवृत्त हो जाती है और जैसे भली-भाँति देखनेसे द्विचन्द्रताकी निवृत्ति हो जाती है ॥ ४० ॥

हे पुत्र, यह संसार न तो तुम्हारा सम्बन्धी है और न इसके सम्बन्धी तुम हो । तुम यह मेरा सम्बन्धी है या मैं इसका सम्बन्धी हूँ, ऐसी भ्रान्तिका त्याग करो । असत्य वस्तुको सत्यके तुल्य देखनेपर इसकी भावना उचित नहीं है ॥४१॥

संसारीस्वभाववाले मेरे ये महासमृद्धियोंसे देदीप्यमान भोगविलास सत्य हैं,

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्याकर्ण्य तदा तत्र रात्रावालपनं द्वयोः ।
अहं रघुकुलाकाशशशाङ्क रघुनन्दन ॥ १ ॥
पतितः खात्कदम्बाग्रे पत्रपुष्पफलाकुले ।
तूर्णीं निर्वृष्टमुक्तात्मा शृङ्गाग्र इव तोयदः ॥ २ ॥
अपश्यं तत्र दाशूरं शूरमिन्द्रियनिग्रहे ।
परेण तपसा युक्तं तेजसेव हुताशनम् ॥ ३ ॥
तेजोभिर्देहनिष्क्रान्तैः काञ्चनीकृतभूतलम् ।
तापयन्तं प्रदेशं तं भुवनं भास्करो यथा ॥ ४ ॥

ऐसा व्यर्थ भ्रम तुम्हारे अन्दर न हो । तुम और वे फैले हुए विलास तथा और भी जन्ममरणादिरूप जो दृश्य है इन सबके रूपसे आत्मतत्त्व ही विलसित हो रहा है, दृश्यरूप कोई अतिरिक्त सत् नहीं है ॥ ४२ ॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

[पूजित श्रीवसिष्ठजी का दाशूरके साथ वार्तालाप, कदम्बशोभाका दर्शन और प्रातःकाल गमन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुकुलरूपी आकाशके चन्द्र श्रीरामचन्द्रजी, रात्रिमें उन दोनोंके वार्तालापको इस प्रकार सुनकर मैं वहांपर वृष्टिजलके वेषसे मेघ जैसे पर्वतकी चोटीपर उतरता है वैसे ही चुपचाप पत्ते, फूल और फलोंसे लदे हुए कदम्बवृक्षकी चोटीपर उतरा ॥ १, २ ॥

यहांपर मैंने जैसे तेजसे अग्नि युक्त रहती है वैसे ही बड़ी भारी तपस्यासे युक्त और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेमें शूरवीर दाशूर मुनिको देखा । देहसे निकल रहे तेजसे उन्होंने सारी पृथिवीको सुवर्णमय बना रक्खा था, उस प्रदेशको वे ऐसे सन्तप्त कर रहे थे जैसे कि सूर्य भुवनको सन्तप्त करता है ॥ ३,४ ॥

मामथाऽऽलोक्य संप्राप्तं दाशूरोऽर्घसपर्यया ।
वितीर्णविष्टरं पत्रपूजया पर्यपूजयत् ॥ ५ ॥
ततः पूर्वकथास्तेन सह दाशूरभास्वता ।
कृतास्तनयसम्बोधाः संसारोत्तरणक्षमाः ॥ ६ ॥
दृष्टवांस्तमहं वृक्षं कोरकोत्तरकोटरम् ।
दाशूरस्येच्छया सर्वैरयतद्भिर्मृगव्रजैः ॥ ७ ॥
सेव्यमानं वनमिव लतामण्डलमण्डितम् ।
स्मितेन विस्फुटमिव श्वसनस्फुरितच्छदम् ॥ ८ ॥
लताकोटिगतैर्भ्रान्तैश्चामरैरिन्दुसुन्दरैः ।
शुभ्राभ्रखण्डनिकरैः शरन्नभ इवाऽऽवृतम् ॥ ९ ॥
प्रालेयकणपद्धत्या मुक्तावल्याऽभ्यलङ्कृतम् ।
सर्वावयवमेवाऽच्छपुष्पपूरैः प्रपूरितम् ॥ १० ॥
स्वरेणुचन्दनालेपैः समालब्धमखण्डितम् ।
स्वच्छदाभोगविपुलरक्ताम्बरपरिच्छदम् ॥ ११ ॥

मुझे आया हुआ देखकर दाशूरने आसन देकर अर्घ्य एवं फल, पत्र, पुष्प आदिसे मेरी पूजा की ॥ ५ ॥

तदनन्तर उस दाशूररूपी सूर्यके साथ पहलेसे प्रस्तुत ब्रह्मचर्चा, जो उनके पुत्रको सम्यग् बोध करानेवाली और संसारसे उद्धार करनेमें समर्थ थी, मैंने की ॥ ६ ॥

मैंने उस कदम्ब वृक्षको देखा, जिसके खोखले कलियोंसे व्याप्त थे, और जो दाशूरकी इच्छासे किसीको व्याकुल न कर रहे मृगोंके समूहोंसे लताओंके मण्डलसे मण्डित वनकी नाईं सेवित था। वायुसे उसके पल्लवरूपी ओठ हिल रहे थे, अतएव वह हँसने-से खिला हुआ-सा था। शाखाओंकी चोटियोंपर चढ़े हुए, चन्द्रमाके समान सुन्दर चमरमृगोंसे, जो भटके हुए थे, सफेद-सफेद मेघखण्डोंसे शरत्कालके आकाशके समान वह आवृत था ॥ ७–९ ॥

हिमकणोंकी पङ्क्तिरूपी मुक्तावलीसे वह अलङ्कृत था। निर्मल फूलोंके समूहसे उसका सर्वाङ्ग भरा हुआ था ॥ १० ॥

अपने परागरूपी चन्दनके लेपसे वह जड़से लेकर चोटीतक लिप्त था और

विवाहायेव वेषेण पुष्पभारातिभारिणा ।
लताङ्गनानुषक्तेन नागरेण कृतोपमम् ॥ १२ ॥
मुनिबद्धोटजाकारलतामण्डपमण्डितम् ।
मञ्जरीभिः पताकाभिर्युक्तं पुरमिवोत्सवे ॥ १३ ॥
मृगकण्डूयनध्वस्तपुष्पधूलिविधूसरम् ।
प्रोत्सारितोपान्तवनं वृषमल्लमिवोत्थितम् ॥ १४ ॥
बर्हिभिः कुसुमोद्भ्रान्तपरागपरिपाटलैः ।
निक्षेपक्षिप्तसन्ध्याभ्रबालबालमिवाऽचलैः ॥ १५ ॥
प्रवालारुणहस्तेन कुसुमस्मितशोभिना ।
मधुना घूर्णमानेन प्रान्तेन पुलकत्विषा ॥ १६ ॥

अपने पल्लवोंके विस्तारसे प्रचुर एवं लाल वर्णके धोती, दुपट्टा, अङ्गरखा, पगड़ी आदिसे युक्त था ॥ ११ ॥

मानो विवाहके लिए पुष्पोंके भारसे भरे हुए, लतारूपी अङ्गनासे संयुक्त उसने नागरिक वेषसे अपनी उपमा कर रक्खी थी ॥ १२ ॥

मुनियोंसे बनाई हुई पर्णशालाओंके आकारके तुल्य लतामण्डपोंसे वह विभूषित था तथा महोत्सवके समय पताकाओंसे सुशोभित नगरके समान वह मंजरिओंसे सुशोभित था ॥ १३ ॥

मृगोंके खुजलानेसे उत्पन्न कम्पसे गिरी हुई पुष्पधूलियोंसे वह धूसरित था अपने विस्तारके आधिक्यसे समीपवर्ती वनको उसने नीचा दिखा दिया था, अतएव वह युद्धके लिए उद्यत हुए बड़े श्रेष्ठ वृषभके समान था ॥ १४ ॥

फूलोंसे गिरी हुई पुष्पधूलियोंसे लाल हुए मयूरोंसे वह ऐसा प्रतीत होता था मानो पर्वतोंने सन्ध्याकालीन मेघखण्डोंके बच्चे-से अपने केश धरोहररूपसे उसमें रख दिये हैं ॥ १५ ॥

अब 'अलिनेत्रेण भासिना' यहाँतकके श्लिष्ट विशेषणोंसे विलासी पुरुषरूपसे कदम्ब या वसन्त अथवा वनदेवियोंका वर्णन करते हुए उनके निवासरूपसे कदम्बका वर्णन करते हैं—**'प्रवाला०'** इत्यादिसे ।

पल्लवरूपी लाल हाथवाले, पुष्परूपी हाससे सुशोभित, मकरन्दरूपी मदसे घूर्णमान, केसरसे पूर्ण अतएव पुलकोंकी शोभा धारण करनेवाले, पुष्पोंसे अत्यन्त निविड़ और वनवायुसे चञ्चल, कुड्मलरूपी निद्रालु नेत्रवाले, स्तवकरूपी स्तनोंका

नीरन्ध्रपुष्पपूर्णेन घूर्णितेन वनानिलैः ।
निद्रालुकुड्मलदृशा स्तबकस्तनधारिणा ॥ १७ ॥
पुष्पजालरजःपुञ्जकुङ्कुमारुणवाससा ।
लतावितानलयवातायननिषङ्गिणा ॥ १८ ॥
नीलपुष्पलतादोलालीलालास्यविलासिना ।
आपादमस्तकप्रान्तं सर्वतो निर्मितालयम् ॥ १९ ॥
वृन्देन वनदेवीनां कोकिलालापशालिना ।
सन्दिग्धमञ्जरीजालमलिनेत्रेण भासिना ॥ २० ॥
अवश्यायोपशमितरतिखेदैर्मदालसैः ।
पुष्पधूलिसमालब्धैराश्लिष्टैर्निबिडं मिथः ॥ २१ ॥

पल्लवरूपी करोंसे स्पर्श करनेवाले, पुष्पोंकी धूलिराशिरूपी कुङ्कुमसे रक्तवस्त्रवाले, लताओंसे रचित वितानरूपी घरोंके झरोखोंपर अनुराग रखनेवाले, चिकने हरे पत्तोंसे भरी हुई पुष्पयुक्त लताओंके झूलोंमें कौतुकपूर्वक झूलनेमें विलासी पुरुषरूप उसने पैरसे लेकर मस्तकतक सब अवयव फूल, फल, पक्षी आदि आभूषणोंके आश्रय बना डाले थे। वनदेवीके पक्षमें—पल्लवोंकी तरह लाल हाथवाले, फूलकी तरह निर्मल हाससे शोभित होनेवाले, मदके नशेसे घूर्णमान, केसरयुक्त पुलककी कान्तिवाले, फूलोंसे खूब भरे हुए, वनकी वायुसे उल्लासयुक्त, कुड्मलकी तरह मुकुलित नेत्रवाले, स्तबकोंकी तरह स्तन धारण करनेवाले, पुष्पोंकी पराग-राशिरूपी कुङ्कुमसे अरुणवस्त्रवाले, लताओंसे निर्मित वितानरूपी घरोंके झरोखोंपर बैठनेमें अनुरक्त, पत्तोंसे हरी-भरी फूली हुई लताओंके झूलोंमें झूलनेके लिए विलास-युक्त, कोकिलकी-सी मधुर ध्वनिसे शोभित होनेवाले वनदेवियोंके समूहने उसके पैरसे लेकर चोटीतक चारों ओर अपने-अपने निवास बना रक्खे थे। वसन्तके पक्षमें—कदम्बपक्षोक्त विशेषणवाले वसन्तने सदा उसके सर्वाङ्गमें अपना आलय बना रक्खा था। चमक रहे भँवरोंके—क्रमसे लता और कदम्बकी मञ्जरियोंमें—बैठनेसे क्या ये लताके नेत्र हैं अथवा कदम्बके नेत्र हैं, यों सन्देहास्पद मञ्जरियोंके जालसे वह युक्त था अथवा वनदेवियोंके भँवरोंके सदृश नेत्रवृन्दोंसे क्या ये वन-देवियोंके नेत्र हैं अथवा भ्रमरयुक्त मञ्जरियाँ हैं, यों सन्देहमें डालनेवाली मञ्जरियोंसे वह युक्त था ॥ १६–२० ॥

हिमकणोंसे जिनका रतिश्रम शान्त हो गया था, मदसे अलसाए हुए,

पुष्पान्तरान्तःपुरगैः किमपि प्रणयोचितम् ।
ध्वनद्भिरभितः स्वच्छमत्तालियुगलैर्वृतम् ॥ २२ ॥
काननोपान्तनगरीघुंघुमाकर्णनेच्छया ।
क्षणमुत्कर्णमाशान्तचारुवर्वणटाङ्कृतैः ॥ २३ ॥
क्षणं दलाग्रविश्रान्तमुग्धमुग्धशिरस्तया ।
पश्यद्भिरिन्दुंशुकवज्जालामर्णवमेखलाम् ॥ २४ ॥
वनस्थलीनां तनयैर्नयैर्मूर्तिमिवाऽऽस्थितैः ।
शुभैः पत्रपुटेष्वन्तर्मृगैः सारतलान्तरम् ॥ २५ ॥
नीडश्वसन्सुविश्वस्तसुप्तमात्रकपक्षिणम् ।
पाकच्युतफलोपान्तभूतकञ्चुकमण्डली- ॥ २६ ॥
सन्दिग्धमूकभ्रमरं गुच्छैः पूजाक्षसूत्रकैः ।
सुगन्धिताशेषवनं पुष्पमेघीकृताम्बरम् ॥ २७ ॥

पुष्पोंकी धूलिसे सने हुए, परस्पर खूब आलिङ्गित, पुष्पगर्भरूपी अन्तःपुरमें बैठे हुए, प्रेमोचित कुछ शब्द कर रहे मत्त भँवरोंके अनेक जोड़ोंसे वह आवृत था ॥२१,२२॥

उसने दिशाओंमें नीली मक्खियोंकी सुन्दर ध्वनियोंसे निवेदित हुए-से वनोपान्तरूपी नगरीके मृग, पक्षी आदिके शब्दरूपी घुङ्घुमको सुननेकी इच्छासे मानो क्षणभरके लिए अपने कान ऊँचे कर रक्खे थे ॥ २३ ॥

पल्लवोंमें, जो तकियेके तुल्य थे, निद्रावश अथवा चपलतासे क्षणभर रक्खे हुए दर्शनीय सिरवाले अतएव चन्द्रमाकी किरणोंसे आच्छादित, बनादिरूप अवयवसमूहवाली भूमिको रात्रिके बीतनेकी प्रतीक्षासे देख रहे, वनस्थलियोंके पुत्ररूप एवं पत्तोंके जालोंके अन्दर छिपे हुए और मुनिके प्रभावसे मूर्तिमान् विनयकी तरह स्थित बन्दरोंसे उसके अधोभाग और शाखादि अवयव शोभायमान थे ॥ २४,२५ ॥

घोंसलोंमें सांस ले रहे पक्षी मुनिके प्रभावसे निःशंक होकर सोनेके कारण नहीं दिखाई देते थे । पहले भँवरोंसे परिवेष्टित, दैववश पकनेके कारण नीचे गिरे हुए फलोंमें—समीपमें बैठे हुए मृगादि प्राणियोंकी अँगरखेकी भाँति चारों ओरसे परिवेष्टित मण्डलियोंसे भक्षण और मर्दन आदिकी शंकासे—भँवर आदि वहाँपर संदेहयुक्त और भयसे मूक थे । तात्कालिक जपमें रुद्राक्षमालाकी तरह लटक रहे

श्यामलीकृतपर्यन्तं नीडैः पल्लवमण्डितैः ।
धूलीकदम्बशबलफलौघवलितं तले ॥ २८ ॥

बहुनाऽत्र किमुक्तेन न किञ्चिदपि विद्यते ।
पदं यत्र तरौ यत्र नोष्यते वा न युज्यते ॥ २९ ॥

पत्रे पत्रे मृगाः सुप्ता विश्रान्ताश्च पदे पदे ।
कच्छे कच्छे खगा लीनास्तस्य भूरुहभूपतेः ॥ ३० ॥

एवंगुणविशिष्टं तं समालोकयतो मम ।
महोत्सवेन सदृशी सा बभूव तमस्विनी ॥ ३. ॥

ततः कथाभी रम्याभिः स तस्य तनयो मया ।
विज्ञानालोकरम्याभिर्नीतो बोधं परं पुनः ॥ ३२ ॥

आवयोस्तत्र चित्राभिः कथाभिरितरेतरम् ।
शर्वरी सा व्यतीयाय मुहूर्त इव कान्तयोः ॥ ३३ ॥

लतागुच्छोंसे उसने सारे वनको सुगन्धित कर दिया था । फूलोंसे आकाशको मानों मेघाच्छन्न कर दिया था ॥ २६,२७ ॥

पल्लवोंसे सुशोभित घोंसलोंसे उसका सारा भाग काला हो गया था और जड़की भूमिपर धूलिकदम्बोंसे उसकी फलराशियाँ मिश्रित थीं ॥ २८ ॥

बहुत क्या कहूँ, उस वृक्षमें ऐसा एक पत्ता भी न था, जिसपर कोई जीव न रहता हो और किसीके उपयोगमें न आता हो। उस वृक्षराजके नीचे गिरे हुए प्रत्येक पत्तेपर मृग सोए थे, प्रत्येक स्थानपर मृग आराम कर रहे थे और पेड़में स्थित प्रत्येक पल्लवपर पक्षी बैठे थे ॥ २९,३० ॥

इस प्रकारके गुणोंसे युक्त उस कदम्बवृक्षको दिव्यदृष्टिसे देख रहे मेरी वह अँधेरी रात्रि महोत्सवके सदृश हो गई ॥ ३१ ॥

तदनन्तर मनोहर कथाओंसे, जो विज्ञानरूपी आलोकसे अधिक रमणीय थीं, दाशूरके उस पुत्रको मैंने पुनः परम ज्ञानका बोध करा दिया ॥ ३२ ॥

हम दोनोंकी आपसकी विविध कथाओंसे वह रात्रि इस प्रकार मुहूर्तकी भाँति व्यतीत हुई, जैसे कि प्रेमयुक्त नायक-नायिकाओंकी परस्परकी विविध कथाओंसे रात्रि मुहूर्तकी भाँति बीत जाती है ॥ ३३ ॥

प्रातः प्रतनुतां याते पुष्पर्द्धिघनजालके ।
स्वर्गाङ्गनाङ्गभोगाभे तारकानिकरे शनैः ॥ ३४ ॥
आकदम्बनभोभागमुपयातं सुतान्वितम् ।
अहं विसृज्य दाशूरं ततोऽमरनदीं गतः ॥ ३५ ॥
तत्राऽभिमतमासाद्य स्थानमेत्य नभस्तलम् ।
प्रविश्य खं मुनीनां च मध्यं स्वस्थ इव स्थितः ॥ ३६ ॥
दाशूराख्यायिकैषा ते कथिता रघुनन्दन ।
जगतः प्रतिबिम्बाभा सत्याकाराप्यसन्मयी ॥ ३७ ॥
दाशूराख्यायिकेवेयमित्येतत्कथितं मया ।
तुभ्यं राघव बोधाय जगद्रूपनिरूपणे ॥ ३८ ॥
तस्मादवास्तवीं त्यक्त्वा वास्तवीमपि रञ्जनाम् ।
दाशूरसिद्धान्तदृशा सदोदारो भवाऽऽत्मवान् ॥ ३९ ॥
तस्माद्विकल्पं मलमात्मनस्त्वं
निर्धूय पश्याऽमलमात्मतत्त्वम् ।

प्रातःकाल अप्सराओंके अङ्गभोगकी तरह सुशोभित, पुष्पशोभाके निविड़ समूहके सदृश तारामण्डलके धीरे-धीरे विरल होनेपर कदम्बवृक्षके आकाशभाग-तक पुत्रके साथ मुझे बिदा करनेके लिए आये हुए दाशूर मुनिको उनके निवास-स्थानके लिए लौटाकर मैं आकाशगंगा गया ॥ ३४,३५ ॥

वहां अपने अभीष्ट स्थानको पाकर और आकाशतलमें जाकर और आकाशमें प्रविष्ट होकर मैं सप्तर्षियोंके मध्यमें स्वस्थकी तरह स्थित हो गया ॥ ३६ ॥

हे रघुनन्दन, यह दाशूरकी आख्यायिका, जो सत्य-सी होती हुई भी जगत्के प्रतिबिम्बकी तरह असन्मयी है, मैंने आपसे कही ॥ ३७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत्स्वरूपके निरूपणके सिलसिलेमें यह जगत् दाशूरकी आख्यायिकाके तुल्य है, यह मैंने बोधके लिए आपसे कहा ॥ ३८ ॥

इसलिए ज्ञानीकी दृष्टिसे अवास्तविक, अज्ञानीकी दृष्टिसे चाहे यह वास्तविक ही क्यों न हो, इस जगत्में अहं-मम इत्यादि आस्थाका त्याग करके दाशूरसे उपदिष्ट सिद्धान्तके अनुसार उदार दृष्टिवाले आप सदा आत्मवान् होइये ॥ ३९ ॥

इसलिए विकल्प, उसके आश्रयरूप मन और उसके हेतुभूत अज्ञानको दूर

आसादयिष्यस्यचिरात्पदं तद्
भविष्यसीज्यो भुवनेषु येन ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे दाशूरोपाख्याने वसिष्ठदाशूरमेलनं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

॥ दाशूरोपाख्यानं समाप्तम् ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

नाऽस्तीदमिति निर्णीय सर्वतस्त्यज रञ्जनाम् ।
यन्नाऽस्ति तत्प्रति किल केवाऽऽस्थेह विचारिणाम् ॥१॥
दृश्यमानमथेदं चेदस्ति सत्तामुपागतम् ।
तिष्ठ स्वात्मनि बध्नासि त्वं किमत्र किलाऽऽत्मताम् ॥२॥

करके आप निर्मल आत्मतत्त्वका दर्शन कीजिए । शीघ्र उस उत्तम पदको आप प्राप्त होंगे, जिसकी प्राप्तिसे तीनों भुवनोंमें आप पूज्य हो जायँगे ॥ ४० ॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

॥ दाशूरोपाख्यान समाप्त ॥

छप्पनवाँ सर्ग

[जड़की सत्ता और असत्ता तथा शुद्ध चेतनके कर्तृत्व, अकर्तृत्वका विचार कर दृश्यमें तादात्म्यसंसर्गाध्यासरूप आस्थाका सर्वथा निवारण]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जड़ जगत् नहीं है, ऐसा निश्चय करके इसमें सब ओरसे अहं, मम इत्यादि तादात्म्यसंसर्गाध्यासरूप आस्थाका आप त्याग कीजिए। जो वस्तु है ही नहीं, उसके प्रति विवेकी पुरुषोंकी आस्था ही कैसे हो सकती है ? ॥ १ ॥

दृश्य सत है अथवा सदसत् है या असत् ही है, इन तीनों पक्षोंमें उसमें अहं, मम इत्यादि तादात्म्यसंसर्गाध्यास उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**दृश्य०**' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

अथ चेदस्ति नाऽस्तीदमिति निश्चयवानसि ।
तथाऽपि भावनासंगः कथं युक्तश्चलाचले ॥ ३ ॥
नेदमस्ति जगद्राम तत्र नाऽस्ति महामते ।
केवलं स्वच्छमेवेत्थमाततं मितमीदृशम् ॥ ४ ॥
नेदं कर्तृकृतं किञ्चिन्न वाऽकर्तृकृतक्रमम् ।
स्वयमाभासते चेदं कर्त्रकर्तृपदं गतम् ॥ ५ ॥
अकर्तृकं जगज्जालं भवत्वथ सकर्तृकम् ।
मा त्वमेतेन शबलं भावयन्नास्व चेतसि ॥ ६ ॥

ये देहादि आपकी सत्तासे निरपेक्ष सत्ताको प्राप्त होकर स्थित हैं, ऐसा यदि आप मानते हैं, तो आप देहादिसत्तासे निरपेक्ष असंग उदासीन चिद्रूप स्वात्मामें स्थित होइये । आप निरपेक्ष देहादिमें अध्यास द्वारा आत्माको क्यों बांधते हैं ? ऐसा करना तो आपके लिए उचित नहीं है ॥ २ ॥

यह जगत् सदसत् है, ऐसा यदि आपका निश्चय है, तो भी सत्ता और असत्ताके परस्पर नाशक होनेके कारण अनियतस्वभाववाले दृश्यमें पूर्वोक्त अध्यास कैसे हो सकता है ? ॥ ३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जड़ जगत् असत् है, ऐसा यदि आप मानते हैं, तो आपका बन्धन ही नहीं है । केवल स्वच्छ आत्मतत्त्व ही इस प्रकार चारों ओर विस्तृत ज्ञात हो गया, अतएव अन्यमें रञ्जनाका (तादात्म्यसंसर्गाध्यासका) अवकाश ही नहीं रहा ॥ ४ ॥

इस जगत्का कोई कर्ता है अथवा यह अकर्तृक है अथवा कर्ता और अकर्ता साधारण यह उदासीन आत्माकी सन्निधिमात्रसे लभ्य है, तीनों पक्षोंमें आपकी उसके प्रति आस्था उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'नेदम्'** इत्यादिसे ।

यह जगत् कर्तासे निर्मित नहीं है और अकर्तासे किये गये क्रमवाला भी नहीं है, यह स्वयं ही कर्ता और अकर्तारूपी पदको प्राप्त हुआ प्रतीत होता है ॥ ५ ॥

यह जगत्-जाल कर्तारहित हो अथवा सकर्तृक हो, आप इससे अन्योन्य तादात्म्याध्यासवश एकत्वको (देहाद्यात्मभावको) देखते हुए बुद्ध्युपाधिपरिच्छेदमें स्थित न होइये ॥ ६ ॥

सर्वेन्द्रियविहीनात्मा कर्तेव स जडोपमः ।
अकर्तृ च तदा मन्ये काकतालीयवज्जगत् ॥ ७ ॥
काकतालीययोगेन जातं यत् किञ्चिदेव तत् ।
तस्मिन् भावानुसन्धानं बालो बध्नाति नेतरः ॥ ८ ॥
न कदाचिदिदं शान्तं जगद्राम न च क्षयि ।
अजस्रं दृश्यमानत्वाद्भावित्वाच्च पुनः पुनः ॥ ९ ॥
न कदाचिदिदं चाऽस्ति जगद्राम न च क्षयि ।
अजस्रं क्षीयमाणत्वान्नाऽस्तित्वाच्चाऽनुमानतः ॥ १० ॥

यदि कोई शङ्का करे, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', 'विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता' इत्यादि श्रुतियोंसे विरुद्ध यह अकर्तृत्वपक्ष कैसे उठा और कैसे आपने इसका निरूपण किया ? इसपर कहते हैं—'सर्वे०' इत्यादिसे ।

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति' इत्यादि श्रुतियोंसे असंग उदासीन होनेके कारण जड़ पर्वत आदिके तुल्य, सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे विहीन आत्मा 'मेरु सूर्यकी परिधि करता है' इसकी तरह कर्ताकी तरह जगन्मिथ्यात्वज्ञानके लिए उपचरित होता है यानी लक्षणया कर्ता माना जाता है । इस तरह जब सकर्तृत्वप्रतिपादक श्रुतियोंका तत्त्व ज्ञात हो गया तब जगत् काकतालीयके समान अकर्तृक ही है, ऐसा मेरा विश्वास है । काकतालीय न्यायसे अनिर्वचनीय ही वह उत्पन्न हुआ है । उसमें अहन्तादिके अभिमानसे पुनः पुनः स्मृति मूर्खको ही होती है, अन्यको नहीं होती ॥ ७, ८ ॥

उसकी अनिर्वचनीयताको ही युक्तिसे दिखलाते हैं—'न' इत्यादिसे ।

यह जगत् न तो कभी अत्यन्ताभावरूप शून्यस्वभाव था और न कभी प्रध्वंस-प्रयुक्त शून्यस्वभाव था, कारण कि शून्य वस्तुका दर्शन नहीं होता, किन्तु जगत् सदा प्रवाहरूपसे दिखाई देता है एवं ध्वस्त वस्तुकी उत्पत्तिमें विरोध होता है किन्तु जगत् पुनः पुनः उत्पन्न होता है , इसलिए यह जगत् अत्यन्ताभाव एवं प्रध्वंसाभावरूप कभी नहीं था ॥ ९ ॥

तब तो वह आत्मवत् सदा सत्स्वभाव अथवा क्षणिकसत्तास्वभाव हो ? इसपर कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत् न कभी नित्यसत्तास्वभाव था और न क्षणिक-सत्तास्वभाव था, क्योंकि प्रथम पक्ष यदि मानिए, तो प्रत्येक क्षणमें परिणाम होनेसे

सर्वेन्द्रियपदातीतो यदा कर्तेह विज्वरः ।
कुर्वाणः सर्वदा खेदं न कदाचन गच्छति ॥ ११ ॥
तेनेयं नियतिः प्रौढा भावाभावदशामयी ।
ईदृश्येव स्थिरा दीर्घा मिथ्योत्थाऽपि च दृश्यते ॥ १२ ॥
अपर्यन्तस्य कालस्य कश्चिदंशः शरच्छतम् ।
तावन्मात्रमहाश्चर्यः किमर्थं सोऽनुधावति ॥ १३ ॥
स्थिराश्चेज्जगतां भावास्तत्त्वादास्था न शोभते ।
कथमन्योन्यसंश्लेषो जडचेतनयोः किल ॥ १४ ॥

इसके क्षणिकत्वका जो अनुभव होता है, उसके साथ विरोध होगा । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि अनादि, अनन्त पूर्व और उत्तर कालमें असत् जगत्के—वर्तमानरूपसे अभिमत क्षणमें भी असत्की सत्ता न होनेके कारण—असत्त्वका अनुमान होता है ॥ १० ॥

भले ही नियतिसे होनेवाली सृष्टिमें परमात्माकी सन्निधिमात्रसे कर्तृता हो पर यह मेरे सृष्टि करने योग्य वस्तु है, इस अभिमानसे उसमें उसका खेद युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'सर्वेन्द्रिय०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित और आयासशून्य परमात्मा यदि इसका कर्ता हो, तो सदा इसकी रचना करता हुआ भी कभी खेदको प्राप्त नहीं होता । इसीसे भाव और अभाव अवस्थावाली यह प्रौढ़ नियतिशक्ति मिथ्या उदित हुई भी इस प्रकारकी स्थिर और दीर्घ दिखाई देती है ॥ ११, १२ ॥

असीम कालका मनुष्य देहकी परमावधिरूप सौ वर्ष कोई एक अंश है । पूर्व और उत्तर कालमें कभी न रहनेके कारण अत्यन्त असंभावित, केवल उतने ही कालके लिए मनुष्यदेहात्मतारूप आश्चर्यसे युक्त वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित आत्मा किस लिए उसका अनुसरण करता है ? उसका ऐसा करना सर्वथा अनुचित है ॥ १३ ॥

जगत्के पदार्थ यदि स्थिर हैं, तो स्थिर होनेके कारण ही यानी त्याग और उपादानके लिए अयोग्य होनेके कारण ही उनमें आस्था करना शोभा नहीं देता । असंग शुद्ध चेतनका जड़के साथ सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, इसलिए भी उनपर आस्था करना अनुचित है, इस आशयसे कहते हैं—जड़ और चेतनका अन्योन्य संबन्ध कैसे हो सकता है ? ॥ १४ ॥

अस्थिराश्चेज्जगद्भावास्तदाऽप्यास्था न शोभते ।
पयःफेनास्थिरस्याऽन्ते दुःखमेषा ददाति ते ॥ १५ ॥
आस्थाबन्धो महाबाहो जगद्भावत्वमात्मनः ।
न स्थिरास्थिरयोः फेनशैलयोरिव राजते ॥ १६ ॥
सर्वकर्ताप्यकर्तेव करोत्यात्मा न किञ्चन ।
तिष्ठत्येवमुदासीन आलोकं प्रति दीपवत् ॥ १७ ॥
कुर्वन्न किञ्चित् कुरुते दिवाकार्यमिवांऽशुमान् ।
गच्छन्न गच्छति स्वस्थः स्वास्पदस्थो रविर्यथा ॥ १८ ॥
यतः कुतश्चिदेवेदं संपन्नमिव लक्ष्यते ।
अरुणातीरवद्वारिपूरावर्तवदाततम् ॥ १९ ॥

जगत्के पदार्थ यदि अस्थिर हैं, तो भी उनमें आस्था करना शोभा नहीं देता, क्योंकि अस्थिर पदार्थमें आस्था कर रहे आपको दूधके फेनके सदृश अस्थिर पदार्थका नाश होनेपर वह आस्था दुःख ही दे सकती है । भाव यह है कि दूधके फेनमें आस्था करनेसे उसका नाश होनेपर यदि शोक उचित होता, तो देहादिमें आस्था करनेसे उनका नाश होनेपर भी शोक उचित होता ॥ १५ ॥

हे महाबाहो श्रीरामचन्द्रजी, आत्माकी जगत्स्वभावता यानी जन्मनाशादि-स्वभावता अन्योन्यतादात्म्यसंसर्गाध्यासरूप आस्थाबन्धन ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है । वह स्थिर और अस्थिर आत्मा और जगत्का तादात्म्याध्यासरूप आस्थाका बन्ध फेन और पर्वतके तादात्म्याध्यासकी तरह शोभित नहीं होता ॥१६॥

यदि कोई शङ्का करें कि सकर्तृकत्वपक्षमें इसके प्रति अनास्था कैसे हो सकती है ? इसपर कहते हैं—**'सर्व०'** इत्यादिसे ।

यद्यपि आत्मा सर्वकर्ता है, तथापि वह अकर्ताके समान कुछ भी नहीं करता । जैसे दीपक आलोकके प्रति उदासीन रहता है वैसे ही आत्मा इस जगन्निर्माणके प्रति उदासीन रहता है ॥ १७ ॥

जैसे सूर्य सब प्राणियोंके दिवसकृत्यका निर्वाह करता हुआ भी कुछ नहीं करता वैसे ही परमात्मा भी सबका निर्वाह करता हुआ भी कुछ नहीं करता । जैसे सूर्य अपने पदमें स्थित होकर चलता हुआ भी नहीं चलता वैसे ही अपने स्वरूपमें स्थित आत्मा चलता हुआ भी नहीं चलता ॥ १८ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि सूर्य सब प्राणियोंके दिनकृत्यके निर्वाहमें निमित्त-

इति चेद् भवता राम नैपुण्येनाऽवधारितम् ।
प्रमाणपरिशुद्धेन चेतसा च विचारितम् ॥ २० ॥
तथापि भावनां साधो पदार्थं प्रति नाऽर्हसि ।
अलातचक्रे स्वप्ने च भ्रमे वा केव भावना ॥ २१ ॥
अकस्मादागतो जन्तुः सौहार्दस्य न भाजनम् ।
भ्रमोद्भूतं जगज्जालमास्थायास्तन्न भाजनम् ॥ २२ ॥
औष्ण्येन्दौ शीतले भानौ मृगतृष्णाजले तथा ।
यथा न भावयस्याऽऽस्थामेवं भावय मा स्थितौ ॥२३॥

मात्र है, दिनकृत्यके कर्ता लोग तो उससे भिन्न दिखाई देते हैं, लेकिन जगत्के निर्माणमें दूसरे कर्ता नहीं हैं; यों दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें विषमता है, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—**'यतः'** इत्यादिसे ।

जैसे अरुणा नदीका तीर, जो स्वभावतः शिलाओंसे विषम (ऊँचा-नीचा) है और जिसका जलप्रवाह भी निम्नगतिशील है, प्रवाहमें विषमता पैदा नहीं करता, किन्तु उन दोनोंकी सन्निधिमें उत्पन्न हुआ आवर्त आकस्मिक ही है, वैसे ही चित् और जड़की सन्निधिमें यह जगत् भी अकस्मात् ही उत्पन्न हुआ-सा दिखाई देता है । जगन्निर्माणके विषयमें कर्तृताका भार किसीके सिर मढ़ा नहीं जा सकता, यह भाव है ॥ १९ ॥

इस प्रकार विचार करनेपर तो जगत्में आस्था सुतरां उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'इति'** इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा यदि आपने कुशलतापूर्वक निश्चय कर लिया और प्रमाणसे शुद्ध चित्तसे विचार कर लिया, तो हे साधो, आप पदार्थोंके प्रति भावना करनेके योग्य नहीं हैं । भला बतलाइये तो सही अलातचक्रमें, स्वप्नमें और भ्रान्तिमें भावना कैसे सम्भव है ? ॥ २०, २१ ॥

जैसे अकस्मात् कहींसे आया हुआ अपरिचित प्राणी मैत्रीका पात्र नहीं होता, वैसे ही भ्रमसे उत्पन्न हुआ वह जगज्जाल भी आस्थाका भाजन नहीं है ॥ २२ ॥

असत्य होनेसे भी उसमें आस्था उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'औष्ण्येन्दौ'** इत्यादिसे ।

जैसे शीतसे पीड़ित हुए आपको उष्णताकी भ्रान्तिसे प्रतीत चन्द्रमामें आस्था

सङ्कल्पपुरुषस्वप्नजनद्वीन्दुत्वविभ्रमम् ।
यथा पश्यसि पश्य त्वं भावजातमिदं तथा ॥ २४ ॥
अन्तरास्थां परित्यज्य भावश्रीभावनामयीम् ।
योऽसि सोऽसि जगत्यस्मिँल्लीलया विहराऽनघ ॥ २५ ॥
अकर्तृत्वपदं पीत्वा पीत्वेच्छामपि कुर्वतः ।
सर्वभावान्तरस्थस्य सर्वातीतस्य चाऽऽत्मनः ॥ २६ ॥
इयं सन्निधिमात्रेण नियतिः परिजृम्भते ।
दीपसन्निधिमात्रेण निरिच्छैव प्रकाशते ॥ २७ ॥
अभ्रसन्निधिमात्रेण कुटजानि यथा स्वयम् ।
आत्मसन्निधिमात्रेण त्रिजगन्ति तथा स्वयम् ॥ २८ ॥
सर्वेच्छारहिते भानौ यथा व्योमनि तिष्ठति ।
जायते व्यवहारश्च सति देवे तथा क्रिया ॥ २९ ॥

नहीं होती, जैसे तापसे पीड़ित आपको भ्रान्तिवश शीतल प्रतीत हो रहे सूर्यमें आस्था नहीं होती और जैसे प्याससे आकुल आपको मृगतृष्णा-जलमें आस्था नहीं होती, वैसे ही जगत्-स्थितिमें भी आपको आस्था नहीं करनी चाहिए ॥२३॥

जैसे आप मनोरथसे कल्पित पुरुषको, स्वप्नमें देखे गये मनुष्यको और द्विचन्द्रत्वभ्रमको देखते हैं वैसे ही इन बाह्य दृश्य पदार्थोंको भी देखिये ॥२४॥

स्त्री आदि वस्तुओंके सौन्दर्यकी चिन्तनमयी आस्थाका अपने अन्दर अच्छी तरह परित्याग कर, अकर्तृत्वपद और उसकी इच्छाको निगलकर जो आप परिशिष्ट हैं वही आप हैं । हे अनघ, इस प्रकारके आप इस जगत्में लीलासे विहार कीजिए । व्यवहारमें उदासीनतासे कर्तारूप, सब पदार्थोंके अन्दर स्थित और सबसे अतीत आत्मरूप आपके सन्निधानमात्रसे इच्छारहित यह नियति व्यवहारके आकारसे प्रतीत होती है जैसे कि दीपकके सन्निधानमात्रसे इच्छारहित प्रभा प्रकाशित होती है ॥ २५–२७ ॥

जैसे मेघोंके सन्निधानमात्रसे कुटजके फूल अपने आप उत्पन्न होते हैं वैसे ही आत्माकी केवल सन्निधिसे तीनों जगत् स्वयं उत्पन्न होते हैं ॥ २८ ॥

जैसे सब प्रकारकी इच्छासे रहित सूर्यके आकाशमें रहनेपर सब लौकिक व्यवहार होते हैं, वैसे ही परमात्माकी सत्तासे सब व्यवहार होते हैं ॥ २९ ॥

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथाऽऽलोकः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रेण देवे तु तथैवाऽयं जगद्गणः ॥ ३० ॥
अतः स्वात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम् ।
निरिच्छत्वादकर्ताऽसौ कर्ता सन्निधिमात्रतः ॥ ३१ ॥
सर्वेन्द्रियाद्यतीतत्वात् कर्ता भोक्ता न सन्मयः ।
इन्द्रियान्तर्गतत्वात्तु कर्ता भोक्ता स एव हि ॥ ३२ ॥
द्वे एवाऽऽत्मनि विद्येते कर्तृताऽकर्तृताऽनघ ।
ययैव पश्यसि श्रेयस्तामाश्रित्य स्थिरो भव ॥ ३३ ॥
सर्वस्थोऽहमकर्तेति दृढभावनयाऽनया ।
प्रवाहपतितं कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ३४ ॥
याति नीरसतां जन्तुरप्रवृत्तेश्च चेतसः ।
यस्याऽहं किञ्चिदेवेह न करोमीति निश्चयः ॥ ३५ ॥
भोगौघकामवांस्तत्र कः करोतु जहातु वा ।
तस्मान्नित्यमकर्ताऽहमिति भावनयेद्धया ॥ ३६ ॥

जैसे रत्नमें यह इच्छा नहीं रहती है कि मुझसे प्रकाश हो, किन्तु उसके रहनेपर जैसे प्रकाश होता है वैसे ही इच्छाशून्य परमात्माके एकमात्र सत्तारूपसे स्थित होनेपर यह जगतोंका समूह होता है ॥ ३० ॥

इसलिए आत्मामें कर्तृत्व और अकर्तृत्व भी स्थित है, क्योंकि इच्छा-रहित होनेके कारण वह अकर्ता है और सन्निधिमात्रसे कर्ता है ॥ ३१ ॥

सन्मय पुरुष सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे अतीत होनेके कारण कर्ता और भोक्ता नहीं है और इन्द्रियोंके अन्तर्गत होनेके कारण वही कर्ता और भोक्ता है ॥ ३२ ॥

हे पापरहित श्रीरामचन्द्रजी, आत्मामें कर्तृता और अकर्तृता दोनों ही विद्यमान हैं, जिससे आप अपना कल्याण देखें, उसका अवलम्बन करके स्थिर होइये ॥ ३३ ॥

मैं सबमें स्थित और अकर्ता हूँ, इस दृढ़ भावना द्वारा प्रवाहसे प्राप्त हुए कार्यको करता हुआ भी पुरुष पुण्य-पापसे लिप्त नहीं होता ॥ ३४ ॥

चित्तकी अप्रवृत्तिसे जीव वैराग्यको प्राप्त होता है । जिस पुरुषको मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, ऐसा निश्चय है, वह भोगसमूहोंकी कामनावाला होकर क्या

परमामृतनाम्नी सा समतैवाऽवशिष्यते ।
अथ सर्वं करोमीति महाकर्तृतया तया ॥ ३७ ॥
यदीच्छसि स्थितिं राम तत्तामप्युत्तमां विदुः ।
अहो यन्न करोमीमं समग्रं जागतं भ्रमम् ॥ ३८ ॥
रागद्वेषक्रमस्तत्र कुतोऽन्यस्याऽत्यसंभवात् ।
यदन्येन शरीरं तु दग्धमन्येन लालितम् ॥ ३९ ॥
सोऽस्मदारम्भ एवाऽतः कः खेदोल्लासयोः क्रमः ।
मत्सुखासुखविस्तारे जगज्जालक्षयोदये ॥ ४० ॥
अहं कर्तेति मत्वाऽन्तः कः खेदोल्लासयोः क्रमः ।
खेदोल्लासविलासेषु स्वात्मकर्तृतयैतया ॥ ४१ ॥
स्वयमेव लयं याते समतैवाऽवशिष्यते ।
समता सर्वभूतेषु याऽसौ सत्या परा स्थितिः ॥ ४२ ॥

कार्य करेगा अथवा क्या त्याग करेगा ? इसलिए नित्य मैं अकर्ता हूँ, इस प्रकारकी दीप्त भावनासे अमृतनामक वह परम समता ही अवशिष्ट रह जाती है। यदि उस महाकर्तृतासे मैं ही सब कुछ करता हूँ, ऐसा यदि मानते हो, तो उस स्थितिको भी वृद्ध लोग उत्तम स्थिति कहते हैं।

प्रथम पक्षमें राग-द्वेष आदिकी प्रसक्तिका अभाव दिखलाते हैं—**'अहो'** इत्यादिसे ।

इस समस्त जगद्भ्रमको मैं नहीं करता हूँ, ऐसा यदि मानते हो, तो उस कल्पमें अपनेसे अन्यका अत्यन्त अभाव होनेके कारण रागद्वेषका प्रसंग कहां है ?

दूसरे पक्षमें भी रागद्वेष आदिकी प्रसक्तिका अभाव दिखलाते हैं—**'यदन्येन'** इत्यादिसे ।

अन्यने जो शरीरको जलाया और अन्यने जो पालन किया, वह भी हमारे द्वारा किया गया है, अतः उसमें खेद और हर्षका कौन प्रसंग है। मेरे सुख और दुःखका विस्तार करनेवाले जगज्जालके नाश और अभ्युदयमें मैं ही कर्ता हूँ, ऐसा हृदयमें निश्चय करके स्थित हुए पुरुषके सुख और दुःखका कौन प्रसंग है ? इस आत्मकर्तृता द्वारा दुःख और हर्षके विलासके अपने-आप विलीन होनेपर एकमात्र समता ही शेष रहती है। सब भूतोंमें जो समता है, वही सत्य परम स्थिति है ॥ ३५–४२ ॥

तस्यामवस्थितं चित्तं न भूयो जन्मभाङ् मनाक् ।
अथवा सर्वकर्तृत्वमकर्तृत्वं च राघव ॥ ४३ ॥
सर्वं त्यक्त्वा मनः पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ।
अयं सोऽहमयं नाऽहं करोमीदमिदं तु न ॥ ४४ ॥
इति भावानुसन्धानमयी दृष्टिर्न तुष्टये ।
सा कालसूत्रपदवी सा महावीचिवागुरा ॥ ४५ ॥
साऽसिपत्रवनश्रेणी या देहोऽहमिति स्थितिः ।
सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते ॥ ४६ ॥
स्प्रष्टव्यासा न भव्येन सश्वमांसेव पुष्कसी ।
तया सुदूरोज्झितया दृष्टौ पटललेखया ॥ ४७ ॥

उक्त समतामें स्थित हुआ चित् फिर तनिक भी जन्मभागी नहीं होता । अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्माकी सर्वकर्तृता, अकर्तृता इन सबका त्याग करके मनका विलयकर जो आप अवशिष्ट रहें, वही आपका यथार्थस्वरूप है । आप स्थिर होइये ।

इस दृष्टिकी अपेक्षा पूर्वोक्त दृष्टियाँ स्वल्प महिमावाली हैं, ऐसा दर्शाते हैं—**'अयम्'** इत्यादिसे ।

यह (इस देहमें प्रसिद्ध) मैं हूँ, इसे मैं करता हूँ और इसे नहीं करता, इस प्रकारके भावोंका अनुसन्धान करनेवाली दृष्टि सन्तोषके लिए नहीं होती ।

यदि वे सन्तोषके लिए नहीं हैं, तो क्यों आपने उनका उपन्यास किया ? ऐसी यदि शंका हो, तो सम्पूर्ण अनर्थोंके मूल देहमें अहंभावकी निवृत्तिके उपायरूपसे उनका उपन्यास किया है, इस आशयसे देहमें अहंभावकी अनर्थरूपता और सर्वथा हेयताको दर्शाते हैं—**'सा'** इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त दृष्टि कालसूत्र नरककी राह है, वही महावीचिनरकरूपी जाल है और असिपत्रवनोंकी (एक प्रकारके नरकोंकी) परम्परा है, जो कि देहमें 'अहं' ऐसी प्रतीति है । उसका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये । यदि सर्वनाश भी उपस्थित होता हो, तो भी भव्यपुरुषोंको कुत्तेके मांसको ली हुई चण्डालिनके समान उसका स्पर्श नहीं करना चाहिये । विशुद्धात्मदृष्टिके लिए पटलरूप नेत्रदोषकी परम्पराके समान आवरण और विक्षेपमें हेतुभूत उस दृष्टिका दूरसे त्याग कर देनेपर

उदेति परमा दृष्टिर्ज्योत्स्नेव विगताम्बुदा ।
ययाऽभ्युदितया राम तीर्यते भवसागरः ॥ ४८ ॥

कर्ता नाऽस्मि न चाऽहमस्मि स इति ज्ञात्वैवमन्तः स्फुटं
कर्ता चाऽस्मि समग्रमस्मि तदिति ज्ञात्वाऽथवा निश्चयम् ।
कोऽप्येवाऽस्मि न किञ्चिदेवमिति वा निर्णीय सर्वोत्तमे
तिष्ठ त्वं स्वपदे स्थिताः पदविदो यत्रोत्तमाः साधवः ॥४९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे कर्तृत्व-विचारयोगोपदेशकरणं नाम षष्ठपञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

बादलरहित चांदनीके समान परम निर्मल आत्मदृष्टि उदित होती है । हे श्रीराम-चन्द्रजी, उदित हुई जिस दृष्टिसे भवसागर पार किया जाता है ॥ ४४—४८ ॥

अब उक्त तीनों दृष्टियोंको इकट्ठा कर उनमें अपने अधिकारके अनुसार ऐच्छिक स्थितिकी उपपत्ति करते हुए सर्गका उपसंहार करते हैं—'**कर्ता**' इत्यादिसे ।

मैं कर्ता नहीं हूँ, कर्तृताका प्रयोजक देहादि भी नहीं हूँ, ऐसा अपने हृदयमें स्पष्ट जानकर अथवा सबका कर्ता मैं हूँ, सबका अधिष्ठानभूत ब्रह्माण्ड भी मैं ही हूँ, यों निश्चय कर अथवा मैं यह प्रसिद्ध दृश्यरूप कुछ भी नहीं हूँ, किन्तु लोक-प्रसिद्ध, परिच्छिन्न, जड़, दुःखस्वभाव संसारसे विलक्षण पूर्णानन्द चिदात्मा मैं हूँ, ऐसा निर्णय करके आप सर्वोत्तम अपने स्वरूपमें स्थित होइये, जिसमें कि ब्रह्मवेत्ता साधु पुरुष स्थित हुए हैं ॥ ४९ ॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सप्तपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

सत्यमेतत्त्वया ब्रह्मन् यदुक्तं सूक्तिसुन्दरम् ।
अकर्तैव हि कर्ताऽऽत्माऽभोक्ता भोक्तैव भूतकृत् ॥ १ ॥
सर्वेश्वरः सर्वगश्च चिन्मात्रममलं पदम् ।
स्थानं भुवि वपुर्देवः सर्वभूतान्तरस्थितः ॥ २ ॥
हृदयङ्गमतां प्राप्तमिदानीं ब्रह्म मे विभो ।
त्वदुक्तिभिर्यथाऽम्भोदधाराभिर्भूभृदव्यथः ॥ ३ ॥
औदासीन्यादनिच्छत्वान्न भुङ्क्ते न करोति च ।
समग्रालोककारित्वाद्भुङ्क्ते देवः करोति च ॥ ४ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग

[श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका अनवसर, वासनाके त्यागका क्रम और एकमात्र वसनात्यागसे सिद्ध हुए लोगोंकी प्रशंसा]

आगे कहे जानेवाले प्रश्नकी इच्छावाले श्रीरामचन्द्रजी श्रीवसिष्ठजी द्वारा कही गई पूर्वोक्त बातोंके अनुवाद और प्रशंसा द्वारा उनका मुझे बोध हो गया यों दर्शाते हैं—**'सत्यम्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, सदुक्तियोंसे सुन्दर जो आपने पहले कहा, यह वास्तवमें ठीक है । भूतोंका निर्माण करनेवाले परमात्मा अकर्ता होते हुए भी कर्ता हैं और अभोक्ता होते हुए भी भोक्ता हैं । यद्यपि आपने परमात्माकी सर्वभोक्तृता और अभोक्तृता नहीं कही, तथापि अकर्तृता और सर्वकर्तृताके समान मैंने उसे भी जान लिया ॥ १ ॥

सबके नियन्ता, सर्वव्यापक, चिन्मात्र, निर्मल पद, जैसे पृथिवीमें जरायुज, उद्भिज आदि चार प्रकारके प्राणिशरीर रहते हैं वैसे ही सब भूत जिसमें निवास करते हैं और स्वयं जो सब भूतोंका अन्तर्यामी है, हे प्रभो, ऐसा ब्रह्म इस समय मेरे हृदयङ्गम हो गया है । जैसे मेघोंकी मुसलाधार वृष्टिसे पर्वत ग्रीष्मके सन्तापसे रहित हो जाता है वैसे ही आपकी उक्तियोंसे मैं सन्तापरहित हो गया हूँ ॥ २, ३ ॥

परमात्माके भोक्तृत्व और अभोक्तृत्वके अविरोधमें भी उपपत्ति कर्तृत्व और

किं त्वयं भगवन् स्फारः संशयो मे हृदि स्थितः ।
तं त्वं छिन्धि गिरा ब्रह्मन् दीधित्येन्दुर्यथा तमः ॥ ५ ॥
इदं सत्तदिदं वाऽसदयं सोऽहमिदं न तु ।
अयमेको द्वितीयोऽयमित्यादिकलनामयम् ॥ ६ ॥
एकस्मिन् विद्यतेऽध्वान्ते नीहार इव भास्करे ।
इदं प्रथममेवाऽच्छे कथमात्मनि संस्थितम् ॥ ७ ॥

वसिष्ठ उवाच

सिद्धान्तकाल एवाऽस्य संप्रश्नस्योत्तरं स्थिरम् ।
कथयिष्यामि ते राम येन ज्ञास्यसि तत्त्वतः ॥ ८ ॥

अकर्तृत्वके अविरोधमें कही गई उपपत्तिके तुल्य ही है, ऐसा मैंने जान लिया, यह दर्शाते हैं—**'औदासीन्या०'** इत्यादिसे ।

परमात्मा उदासीन और इच्छारहित होनेके कारण न भोगकर्ता है और न सृष्टिकर्ता है । सम्पूर्ण लोकोंका प्रकाशक होनेके कारण प्रकाशस्वरूप वह परमात्मा भोगकर्ता और सृष्टिकर्ता भी है । किन्तु हे ब्रह्मन्, मेरे हृदयमें यह निम्नलिखित महान् सन्देह है, जैसे चन्द्रमा अपनी किरणोंसे अन्धकारको तहस-नहस कर देते हैं वैसे ही आप अपनी वाणीसे इस सन्देहको छिन्न-भिन्न कर दीजिये ॥ ४, ५ ॥

प्रश्नमें उपयोगी होनेके कारण पूर्व सर्गमें कही गई जगत्की सत्ता और असत्तारूप दृष्टिके पक्षका तथा व्यष्टिकी अहन्ताके परित्यागसे समष्टिमें अहंभावके पक्षका अनुवाद करके श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे ।

आपके कथनानुसार यह जगत् सत् है या असत् है, यह प्रसिद्ध समष्टि ही मैं हूँ या एकमात्र व्यष्टि देह मैं नहीं हूँ, यह प्रपञ्च समष्टिदृष्टिसे एक है या व्यष्टिदृष्टिसे नाना है, इत्यादि अनियत बहुत कल्पनाओंसे भरा हुआ विरोध अद्वितीय, स्वप्रकाश होनेके कारण ही मोहान्धकारशून्य, निर्मल आत्मामें सूर्यमें हिमके समान कैसे इस समय विद्यमान है ? यदि कहिये, पहले मायाशबल ब्रह्मके अन्दर यह विद्यमान था, वही इस समय अभिव्यक्त हुआ है, तो उसपर प्रश्न होता है कि वह पहले भी कैसे था, क्योंकि उस समय भी उक्त विरोध समान ही है ॥ ६, ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके वचनोंसे ही उनको स्वप्रकाश प्रत्यगात्माका दर्शन हो गया

मोक्षोपायस्य सिद्धान्तमसंप्राप्य न राघवः।
श्रोतुं प्रश्नोत्तराण्येतान्यलं योग्यो भविष्यसि ॥ ९ ॥
कान्तागीतगिरां राम तरुणो भाजनं यथा।
प्रश्नानामुत्तमोक्तीनां पुण्यकृद्भाजनं तथा ॥ १० ॥
वृथा भवति बालेषु यथा रागमयी कथा।
निरर्थिकाऽल्पबोधेषु तथोदारोदया कथा ॥ ११ ॥
कस्मिंश्चिदेव समये किञ्चित् पुंसो विराजते।
फलमाभाति वृक्षस्य शरद्येव न माधवे ॥ १२ ॥

है, उनको सब शरीरोंमें एकताज्ञान और जगत्‌की अनिर्वचनीयताका परिज्ञान हो गया है; किन्तु वासनाओंका क्षय न होनेके कारण सब संशयोंकी कारण अविद्याका उच्छेद करनेवाला प्रत्यगात्मब्रह्मैक्यरूप अखण्डाकार अनुभव नहीं हुआ, ऐसा निश्चयकर पूर्वोक्त अखण्डाकारानुभवके उपायरूपसे वासनोच्छेदके उपायोंको कहनेकी इच्छासे श्रीवसिष्ठजी पहले आपके प्रश्नोंका उत्तर कहनेके लिए यह अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'सिद्धान्त०'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धान्तकालमें (निर्वाणप्रकरणके उत्तरार्धमें पाषाणाख्यायिका आदि कहनेके अवसरपर) इस प्रश्नका स्थिर उत्तर मैं आपसे कहूँगा। जिससे आप इसे तत्त्वतः जान जायँगे ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मोक्षोपायके उपदेशके सिद्धान्तको यानी ब्रह्मनिष्ठारूप अखण्डाकार बोधको प्राप्त किये बिना आप इन प्रश्नोंके उत्तर सुननेके लिए पर्याप्त योग्य नहीं होंगे ॥ ९ ॥

इस समय यदि मैं आपसे कहूँगा भी, तो वह आपके चित्तमें आरूढ़ नहीं होगा, इस आशयसे कहते हैं—**'कान्ता०'** इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे युवा पुरुष प्रेयसीके गीतोंका पात्र होता है वैसे ही सम्पूर्ण कर्मफलोंकी अवधिरूप आत्मज्ञानवाला पुरुष इन प्रश्नोंके उत्तरवाक्योंका भाजन होता है ॥ १० ॥

जैसे बालकोंके विषयमें प्रेमकी कथाएँ व्यर्थ होती हैं वैसे ही अल्प ज्ञानवाले पुरुषोंके विषयमें मोक्षप्रद कथा निरर्थक है ॥ ११ ॥

इस प्रकारके प्रश्न भी तभी शोभा देते हैं, इस आशयसे कहते हैं—**'कस्मिंश्चित्'** इत्यादिसे।

उपदेशगिरो वृद्धे रञ्जना निर्मले पटे ।
लगन्त्युदारविज्ञानकथाश्चाऽधिगतात्मनि ॥ १३ ॥
प्रश्नस्याऽस्योत्तरं पूर्वं लेशतः कथितं मया ।
न विस्तरेण तेनैतन्न ज्ञातं भवता स्फुटम् ॥ १४ ॥
यदि त्वमात्मनाऽऽत्मानमधिगच्छसि तं स्वयम् ।
एतत्प्रश्नोत्तरं साधु जानास्यत्र न संशयः ॥ १५ ॥
मया सिद्धान्तकाले तु प्राप्तबोधे त्वयि स्थिते ।
वक्तव्यो विस्तरेणैव साधो प्रश्नोत्तरक्रमः ॥ १६ ॥
जानात्यात्मानमात्मैव कृत आत्माऽऽत्मनैव हि ।
आत्मैव संप्रसन्नः सन्नात्मानं प्रतिपद्यते ॥ १७ ॥

जैसे नारंगी, सुपारी, जम्बीर आदि वृक्षोंके फल शरत्कालमें ही शोभा देते हैं, वसन्तमें शोभा नहीं देते हैं वैसे ही किसी समयमें ही पुरुषकी कुछ बातें शोभित होती हैं यानी आपका यह प्रश्न अभी शोभित नहीं होता है ॥ १२ ॥

जैसे निर्मल वस्त्रमें रंग लगता है वैसे ही आत्मज्ञानी, ज्ञानवृद्ध पुरुषमें उदार विज्ञानकथाओंसे युक्त उपदेशवाणियाँ सार्थक होती हैं ॥ १३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रश्नका उत्तर मैंने भार्गवोपाख्यानमें संक्षेपसे कह दिया है; लेकिन आपको अनधिकारी देखकर उसे विस्तारसे पूरा नहीं कहा । इसीलिए आपको स्पष्टरूपसे वह परिज्ञात नहीं हुआ ॥ १४ ॥

अखण्डार्थका बोध होनेपर मेरे उपदेशके बिना भी इस प्रश्नका उत्तर आप स्वयं जान जायँगे, ऐसा कहते हैं—**'यदि'** इत्यादिसे ।

यदि आप अपनेसे उस आत्माको जान लेते हैं, तो इस प्रश्नके उत्तरको अपने-आप भली भाँति जान जायँगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १५ ॥

हे सज्जनशिरोमणे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धान्तकालमें जब कि आपको आत्मज्ञान हो जायगा, तब मैं प्रश्न और उत्तरका क्रम विस्तारसे ही कहूँगा ॥ १६ ॥

मेरा उपदेश तो द्वारप्रदर्शनमात्र है, आपको एकाग्रतासे स्वयं आत्माका दर्शन करना होगा, ऐसा कहते हैं—**'जानाति'** इत्यादिसे ।

संसारी आत्माको भी आत्मा ही जानता है, क्योंकि आत्माने ही मालिन्यवश आत्माको संसारी बनाया है । वह आत्मा ही आत्मज्ञानसे निर्मल होकर वास्तविक पूर्ण आत्माको प्राप्त होता है यानी तद्रूप हो जाता है ॥ १७ ॥

तदेतत्कथितं राम कर्त्रकर्तृविचारणम् ।
अज्ञातत्वात्तु तामेतामक्षीणवासनो भवेत् ॥ १८ ॥
बद्धो हि वासनाबद्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः ।
वासनास्त्वं परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज ॥ १९ ॥
तामसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासिताः ।
मैत्र्यादिभावनानाम्नीं गृहाणाऽमलवासनाम् ॥ २० ॥
तामप्यन्तः परित्यज्य ताभिर्व्यवहरन्नपि ।
अन्तःशान्तसमस्तेहो भव चिन्मात्रवासनः ॥ २१ ॥
तामप्यथ परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम् ।
शेषे स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज ॥ २२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्माके कर्तृत्व और अकर्तृत्वका विचार भी इसी अखण्ड ब्रह्मज्ञानके उद्देश्यसे मैंने कहा है । मेरे कहनेपर भी उक्त अखण्डात्मताका आपको परिज्ञान नहीं हुआ, अतएव आपकी वासना क्षीण नहीं हुई है, ऐसी मैं संभावना करता हूँ ॥ १८ ॥

अब बन्ध और मोक्षका रहस्य दिखलाते हुए वासनाओंके उच्छेदमें उपाय-क्रमको दर्शाते हैं—'**बद्धः**' इत्यादिसे ।

वासनाओंसे बद्ध पुरुष बद्ध है और वासनाओंका क्षय मोक्ष है । आप वासनाओंका त्याग करके मोक्षार्थिताका भी त्याग कीजिये ॥ १९ ॥

वासनाके क्षयमें वैराग्यकी दृढ़ता ही पहली भूमिका है, ऐसा कहते हैं—'**तामसीः**' इत्यादिसे ।

पहले विषयों द्वारा चित्तमें स्थापित, तिर्यग् आदि योनिको देनेवाली तामसी वासनाओंका त्याग करके मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षारूप भावना नामवाली निर्मल वासनाओंको स्वीकार कीजिये ॥ २० ॥

मैत्री आदि भावना नामवाली निर्मल वासनाओंका भी—चिन्मात्रसे अतिरिक्त मैत्र्यादि नहीं है—इस ज्ञानसे भीतर त्याग कर बाहर उनसे व्यवहार करते हुए भी आप, जिनकी कि अन्तःकरणमें सब वासना शान्त हो गई, संप्रज्ञात समाधिके अभ्याससे चिन्मात्र ही मैं हूँ, इस प्रकारके दृढ़ वासनावाले होइये ॥ २१ ॥

मन, बुद्धि आदिसे युक्त उक्त मैत्र्यादिवासनाका भी परित्याग कर आत्मा होनेके

चिन्मयः कलनाकालप्रकाशतिमिरादिकम् ।
वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम् ॥ २३ ॥
समूलमपि संत्यक्त्वा व्योमसौम्यप्रशान्तधीः ।
यस्त्वं भवसि सद्बुद्धे स भवानस्तु सत्कृतः ॥ २४ ॥
हृदयात्संपरित्यज्य सर्वमेव महामतिः ।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥ २५ ॥
समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदयेनाऽस्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥ २६ ॥

कारण ही त्याग करनेके अयोग्य होनेसे अवश्य शेष रहनेवाले प्रत्यक्तत्त्वमें स्थिर विश्रान्तिवाले यानी असंप्रज्ञात समाधिमें विश्रान्त हुए आप जिस कलना-नामक द्वैतकल्पनाके मूलस्तम्भरूप अहंकारसे पूर्वोक्त सबका त्याग यानी सर्वत्र 'अहं मम' इत्यादि अभिमानका त्याग कर देते हैं, उसका भी त्याग कीजिये। उक्त त्याग अहंकारमें भी शुद्ध चिन्मात्ररूप अहंभावरहित पूर्णात्माके दर्शन द्वारा मूल अज्ञानका समूल उच्छेद होनेसे स्वयं ही हो जाता है, इसलिए उसमें अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं है, इसलिए अनवस्था दोषका अवसर नहीं हो सकता ॥२२॥

हे सुबुद्धे, प्राणस्पन्दनपूर्वक कलना, काल, प्रकाश, तिमिर आदिका एवं वासना और विषयोंका, उनके द्वारभूत इन्द्रियों और समूल अहंकारका त्याग करके आकाशके समान निर्मल (विक्षेपरहित) एकमात्र ब्रह्मात्माखण्डाकार बुद्धिवाले होकर जो चिन्मय आप हो रहे हैं, सर्वपूजित वही परमार्थरूप आप होइये ॥ २३,२४ ॥

इस प्रकारकी अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषकी पूज्यता ही प्रशंसा द्वारा दिखलाते हैं—**'हृदयात्'** इत्यादिसे ।

जो महामति पुरुष पूर्वोक्त सबका हृदयसे परित्याग कर सब विक्षेपोंके कारण-भूत अभिमानसे रहित होकर स्थित होता है, वह मुक्त है, परमेश्वर है ॥ २५ ॥

इस प्रकार अभ्यासके दृढ़ होनेसे सातवीं भूमिकामें पहुँचे हुए सिद्धकी कृतकृत्यता ही हो जाती है, उसका कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, ऐसा कहते हैं—**'समाधिम्'** इत्यादिसे ।

जिसने पूर्वोक्त अभिमानाध्यासका हृदयसे परित्याग कर दिया है, ऐसा उत्तम आशयवाला पुरुष समाधि और कर्म करे, चाहे न करे, वह मुक्त ही है ॥ २६ ॥

नैष्कर्म्येण न तस्याऽर्थो न तस्याऽर्थोऽस्ति कर्मभिः ।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥ २७ ॥
विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ।
संत्यक्तवासनान्मौनादृते नाऽस्त्युत्तमं पदम् ॥ २८ ॥
दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा दिशो दश ।
जनाः कतिपया एव यथावस्त्ववलोकिनः ॥ २९ ॥
यद्यदालोक्यते किञ्चित्कश्चिद्यत्तन्न विद्यते ।
ईप्सितानीप्सितादन्यन्न तत्र यतते जनः ॥ ३० ॥

जिसका मन वासनारहित हो गया, उसे न तो नैष्कर्म्यसे प्रयोजन है, न कर्मोंसे और न समाधि और जपसे ही उसे प्रयोजन है ॥ २७ ॥

कुछ समयतक किये गये श्रवण, मनन और ध्यानसे वासनाक्षय होनेके पहले ही मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, ऐसी भ्रान्तिसे प्रयत्नसे विमुख नहीं होना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'विचारितम्'** इत्यादिसे ।

मैंने शास्त्रका खूब विचार किया और बड़े भारी परिश्रमसे सब विद्वानोंकी सम्मतिसे यही मोक्षशास्त्रका रहस्य है, यों निर्णय भी किया, किन्तु श्रुतियोंमें बाल्य और पाण्डित्य शब्दोंसे कहे जानेवाले श्रवण और मननकी दृढ़तासे उत्पन्न पूर्वोक्त निर्विकल्प असंप्रज्ञातसमाधिके परिपाकपर्यन्त मुनिभावके सिवा परम पद यानी परिनिष्ठित तत्त्वज्ञान नहीं है, अतः इससे विरत होना उचित नहीं है ॥ २८ ॥

अतएव तत्त्वज्ञानी विरल और दुर्लभ हैं, ऐसा कहते हैं—**'दृष्टम्'** इत्यादिसे ।

दसों दिशाओंमें घूम घूमकर सब दृश्य मैंने देखा, किन्तु तत्त्वज्ञानी विरल ही लोग देखे ॥ २९ ॥

सब लोग बहिर्मुख हैं । बाहर इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके परिहारके उपायमें ही लोगोंकी लगन देखी, आत्माके प्रति लगन नहीं देखी, ऐसा कहते हैं—**'यद्यत्'** इत्यादिसे ।

यहांपर जो कुछ दिखाई देता है, वह इष्ट और अनिष्टसे अतिरिक्त नहीं है । उससे अतिरिक्त जो अविषय आत्मतत्त्व है, उसमें कोई भी पुरुष प्रयत्न नहीं करता; किन्तु इष्ट और अनिष्टमें ही लोग प्रयत्न करते हैं ॥ ३० ॥

ये केचन समारम्भा ये जनस्य क्रियाक्रमाः ।
ते सर्वे देहमात्रार्थमात्मार्थं न तु किञ्चन ॥ ३१ ॥
पाताले ब्रह्मलोके च स्वर्गे च वसुधातले ।
व्योम्नि कतिपया एव दृश्यन्ते दृष्टदृष्टयः ॥ ३२ ॥
इदं हेयमुपादेयमिदमित्यसदुत्थितौ ।
निश्चयौ गलितौ यस्य ज्ञस्याऽसावतिदुर्लभः ॥ ३३ ॥
करोतु भुवने राज्यं विशत्वम्भोदमम्बु वा ।
नाऽऽत्मलाभादृते जन्तुर्विश्रान्तिमधिगच्छति ॥ ३४ ॥
ये महामतयः सन्तः शूराश्चेन्द्रियशत्रुषु ।
जन्मज्वरविनाशाय त उपास्या महाधियः ॥ ३५ ॥

अनात्मामें प्रयत्न एकमात्र अनात्म देहके लिए ही है, अतएव वह पुनः पुनः देहप्राप्तिरूप अनर्थका हेतु है , इस आशयसे कहते हैं—'ये' इत्यादिसे ।

मनुष्योंके जो कोई लौकिक गृह, प्रासादादिके निर्माण कार्य हैं और जो वैदिक यज्ञादि क्रियाएँ हैं, वे सब एकमात्र देहके लिए हैं, आत्माके लिए उनका कोई भी उपयोग नहीं है ॥ ३१ ॥

पातालमें, ब्रह्मलोकमें, स्वर्गमें, पृथिवीपर और अन्तरिक्षमें जिन्हें चिदेक-रसका परिज्ञान हो गया ऐसे विरल ही पुरुष दिखाई देते हैं ॥ ३२ ॥

यह हेय है, यह उपादेय है, इस प्रकार अज्ञानसे उत्पन्न हुए निश्चय जिस ज्ञानीके नष्ट हो गये, ऐसा पुरुष अति दुर्लभ है ॥ ३३ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि संसारमें उत्तम राज्यादि पद प्राप्त करनेपर भी शान्ति दिखाई देती है, फिर आत्मदर्शनसे क्या प्रयोजन है ? इसपर नहीं, ऐसा कहते हैं—'**करोतु**' इत्यादिसे ।

प्राणी चाहे भुवनमें राज्य करे, चाहे इन्द्रपदप्राप्ति द्वारा मेघमें प्रवेश करे अथवा वरुणपदप्राप्ति द्वारा जलमें प्रवेश करे, पर आत्मलाभके बिना उसे शान्ति नहीं मिल सकती ॥ ३४ ॥

तब विश्रान्ति चाहनेवाले पुरुषको किनकी उपासना करनी चाहिये ? ऐसा प्रश्न होनेपर उनके उपासनीय पुरुषोंको कहते हैं—'ये' इत्यादिसे ।

जो महाज्ञानी सज्जन इन्द्रियरूपी शत्रुओंका दमन करनेमें शूर-वीर हैं, जन्मरूपी ज्वरके नाशके लिए उन्हीं महामतियोंकी उपासना करनी चाहिये ॥३५॥

सर्वत्र पञ्च भूतानि षष्ठं किञ्चिन्न विद्यते ।
पाताले भूतले स्वर्गे रतिमेतु क्व धीरधीः ॥ ३६ ॥
युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य संसारो गोष्पदाकृतिः ।
दूरसंत्यक्तयुक्तेस्तु महामत्तार्णवोपमः ॥ ३७ ॥
कदम्बगोलकैस्तुल्यं ब्रह्माण्डं स्फारचेतसः ।
किं प्रयच्छति किं भुङ्क्ते प्राप्तेऽस्मिन् सकलेऽपि सः ॥३८॥

उनकी उपासनासे तत्त्वज्ञान होनेपर भी फिर भोगोंमें अनुरागका निवारण कौन करेगा ? इस शङ्कापर कहते हैं—**'सर्वत्र'** इत्यादिसे ।

सर्वत्र पाँच भूत हैं, छठा कुछ भी नहीं है, इसलिए कौन धीरबुद्धि पुरुष पातालमें, पृथिवीमें और स्वर्गमें र. को प्राप्त होगा । भाव यह है 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुतिमें कही गयी रीतिसे सब भौतिक पदार्थोंके भूतमात्रतारूप मिथ्यात्वका बोध होनेपर उनमें अनुरागका उदय ही नहीं होता ॥ ३६ ॥

तब भूत भी तो बहुत हैं, बचे हुए भूतोंके भी अनन्त होनेसे उनसे उद्धार पाना संभव नहीं है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो ठीक है, अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ऐसा ही है, तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें तो 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ' इस श्रुतिमें दर्शित युक्तिसे सबके अधिष्ठानभूत ब्रह्मके दर्शनसे भूतोंमें भी ये अनृत हैं, ये मिथ्या हैं, ऐसे निश्चयसे भूतोंसे भी निस्तार पाना सुलभ ही है, इस आशयसे कहते हैं—**'युक्त्या'** इत्यादिसे ।

युक्तिसे व्यवहार कर रहे ज्ञानीका संसार गौके खुरके समान अनायास तरने योग्य है, किन्तु जिसने युक्तिका दूरसे परित्याग कर दिया है, ऐसे अज्ञानीका संसार प्रलयके महासागरके समान दुस्तर है ॥ ३७ ॥

अपरिच्छिन्न आत्मानन्दकी दृष्टिसे ब्रह्माण्डको अत्यल्प देखनेसे भी कदम्बमें स्थित मशकोंके भोग्यके सदृश तुच्छ धन, स्त्री आदिमें दान, भोग आदिकी इच्छाकी प्रसक्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं—**'कदम्ब०'** इत्यादिसे ।

उदार चित्तवाले ज्ञानीकी दृष्टिमें ब्रह्माण्ड कदम्बगोलकके तुल्य है । इस सारे ब्रह्माण्डके प्राप्त होनेपर भी वह ज्ञानी पुरुष क्या देता है और क्या भोग करता है ! ॥ ३८ ॥

एतदर्थमबुद्धीनां यन्महासमरक्रियाः ।
तन्मन्ये राम धिक्कार्यं द्वन्द्वलक्षक्षयावहम् ॥ ३९ ॥
कल्पमात्रेण कालेन सुमहापेलवोदरे ।
तस्मिन्नपि हि यो नाशः सर्वाधिरमहाधियाम् ॥ ४० ॥
आत्मनो ज्ञस्य सर्गादेर्यन्मनागपि नोद्गतम् ।
तस्मिञ्जगत्त्रये प्राप्ते किंचिदात्मा बली भवेत् ॥ ४१ ॥
इतः शैलशतैर्व्याप्ता तथेतो जलराशिभिः ।
कियानस्य भुवो देहो येनोदारं प्रपूरयेत् ॥ ४२ ॥

राज्यादिसुख युद्ध आदि अनर्थों द्वारा लाखों योद्धाओंके क्षयका कारण होता है, इसलिए दयालु तत्त्वज्ञानी द्वारा वह धिक्कारके योग्य ही है, सत्कारके योग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'एतदर्थम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिसके लिए अज्ञानी लोगोंकी महायुद्धादि क्रियाएँ होती हैं, लाखों योद्धाओंके विनाशका हेतु उस राज्यसुखको मैं धिक्कारके योग्य समझता हूँ ॥ ३९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि महाकल्पतक चिरकाल भोगने योग्य ब्रह्मपदमें (हिरण्यगर्भपदमें) उसकी रति होगी ? इसपर नहीं, ऐसा कहते हैं—**'कल्पमात्रेण'** इत्यादिसे ।

द्विपरार्ध अवधिवाले महाकल्पान्तरूप कालसे नष्ट होनेके कारण अत्यन्त कोमल उस पदमें भी सब प्राणियोंकी प्रलयका निमित्त होनेके कारण मानस-व्यथाका निमित्तभूत नाश होता है, अतः वह पद मूढोंका ही स्पृहणीय है, तत्त्वज्ञानियोंका स्पृहणीय नहीं हैं ॥ ४० ॥

तत्त्वज्ञानी आत्माकी दृष्टिसे जो तीनों जगत् सृष्टि आदिसे तनिक भी उत्पन्न नहीं हुए, क्योंकि 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' इत्यादि श्रुति है । उन बन्ध्यापुत्रके समान तुच्छ तीनों जगतोंके प्राप्त होनेपर आत्मा क्या बलवान् होगा, जिससे कि उनमें उसका अनुराग होगा ? ॥ ४१ ॥

असार अंशके अधिक होने और उपयुक्त अंशके न्यून होनेसे भी सार्वभौम आदि पद स्पृहणीय नहीं हैं, इस आशयसे कहते हैं—**'इतः'** इत्यादिसे ।

यह पृथ्वी इधर सैकड़ों पर्वतोंसे व्याप्त है एवं इस तरफ अनन्त जलराशियोंसे

न तदस्ति जगत्यस्मिन् सपातालसुरालये ।
यन्नामाऽऽत्मवतो ज्ञस्य किञ्चित्कार्यतरं भवेत् ॥ ४३ ॥
एकतामनुयातस्य व्योमवद्विततस्य च ।
स्वस्थस्याऽऽत्मवतो ज्ञस्य स्थिरस्याऽऽत्मन्यचेतसः ॥४४॥
शरीरजालनीहारधूसरा शून्यकोटरा ।
शान्तसंसारसुभगा त्रिलोकीविपुलातटी ॥ ४५ ॥
स्फारब्रह्मामलाम्भोधिफेनाः सर्वे कुलाचलाः ।
चिदादित्यमहाभासमृगतृष्णा जलश्रियः ॥ ४६ ॥

व्याप्त है। इस पृथ्वीका शरीर ही कितना बड़ा है, जिससे कि वह सबके त्यागसे रिक्त हुए उस ज्ञानीके विशाल आशयको पूर्ण कर सके । भाव यह है कि भूमिका सर्वांश उपयोगमें नहीं आ सकता, इसलिए भी सार्वभौमपद स्पृहणीय नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

पाताल और स्वर्गसहित इस जगत्में वह कार्य नहीं है, जो कि आत्मज्ञानी पुरुषको अवश्य कर्तव्य हो, क्योंकि सब कामनाओंकी प्राप्तिसे वह कृतकृत्य है ॥४३॥

जैसे मृगतृष्णा सूर्यके प्रकाशसे उत्पन्न होती है, अतएव सूर्यकी अपेक्षा करती है, किन्तु सूर्य मृगतृष्णाका निमित्त होता हुआ भी उसकी अपेक्षा नहीं करता वैसे ही तत्त्वज्ञानीके चित्प्रकाशसे उत्पन्न हुआ जगत् ही तत्त्ववित्की अपेक्षा करे, तत्त्ववित् तो पूर्णानन्दमें रमता है, अतएव कटाक्षसे भी जगत्को नहीं देखता, जगत्की अपेक्षा करना तो उसके लिए बहुत दूर है, ऐसा कहते हैं—**'एकतामनु०'** इत्यादिसे ।

एकताको प्राप्त हुए, आकाशके समान सब जगह व्याप्त, स्वस्थ, आत्मज्ञानी, आत्मनिष्ठ, मनरहित पुरुषका त्रिलोकीरूपी विशाल मृगतृष्णानदीका तट निवृत्त हुए सारे संसारसे सुन्दर होकर आकाशके मध्य भागके तुल्य ही मूर्तस्वरूपवाला नहीं है । यद्यपि शरीर आदि असत् हैं, फिर भी बाधित पदार्थोंकी अनुवृत्तिसे प्रारब्ध कर्मोंका नाश होनेतक उनका आभास होता ही है ; अतएव उक्त त्रिलोकीरूपी मृगतृष्णानदीका तट शरीरसमूहरूपी कुहरेसे धूसर रंगका है ॥ ४४, ४५ ॥

जगत्को तत्त्वज्ञानीके आत्मप्रकाशकी अपेक्षा है, इस बातको विस्तारसे स्पष्ट करते हैं—**'स्फार०'** इत्यादिसे ।

आत्मतत्त्वमहाम्भोधिवीचयः सर्गराजयः ।
अनुत्तमपदाम्भोदवृष्टयः शास्त्रदृष्टयः ॥ ४७ ॥
चन्द्राग्नितपनालोका घटकाष्ठादिसन्निभाः ।
प्रकाशनीयाश्चिद्रूपत्विषो मलकणास्तथा ॥ ४८ ॥
विहरन्ति स्वमात्मानः संसारवनचारिणः ।
कामभोगोलपग्रासमृगा नरसुरासुराः ॥ ४९ ॥

सभी कुलपर्वत विशाल ब्रह्मरूपी निर्मल सागरके फेन हैं; नदी, समुद्र आदि जलशोभाएँ चित्सूर्यकी महाप्रभामें मृगतृष्णा हैं; सारीकी सारी सृष्टियां आत्मतत्त्वरूपी महासागरकी तरङ्गें हैं और शास्त्रदृष्टियाँ यानी श्रौत-स्मार्त धर्म और ब्रह्मतत्त्वप्रतिभास (ब्रह्मज्ञान) ब्रह्मरूपी मेघकी वृष्टि हैं। यद्यपि लौकिक चाक्षुष आदि दृष्टियाँ भी प्रकाशरूप होनेके कारण ब्रह्मरूपी मेघकी वृष्टिके सदृश ही हैं, तथापि सुन्दर उपजाऊ खेतमें वृष्टिके समान शास्त्रदृष्टियोंका ही पुरुषार्थमें उपयोग है, अतएव उन्हींका उपादान किया है ॥ ४६, ४७ ॥

अधिष्ठानरूपसे आत्मप्रकाशकी अपेक्षा कहकर जड़ पदार्थोंके प्रकाशके लिए भी उसकी अपेक्षा है, ऐसा कहते हैं—**'चन्द्र०'** इत्यादिसे ।

जब घड़े, काठ आदिके तुल्य चन्द्रमा, अग्नि और सूर्य चिद्रूप कान्तिके प्रकाशनीय हैं, तो मलकणके तुल्य पृथिवीके धातु उसकी अपेक्षा करते हैं, इसमें कहना ही क्या है। भाव यह है कि जब निर्मल आदित्य आदि भी उसके प्रकाशकी अपेक्षा करते हैं तब अत्यन्त मलिन होनेके कारण मलकणके सदृश पार्थिव आदि धातु अपने प्रकाशके लिए उसकी अपेक्षा करते हैं, इसमें कहना ही क्या है ? ॥ ४८ ॥

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इस श्रुतिसे सब प्राणियोंके जीवनके हेतु विषयानन्दके लिए भी उसकी अपेक्षा है, ऐसा कहते हैं— **'विहरन्ति'** इत्यादिसे ।

देहरूपसे जो परिच्छिन्न होता है या अनुभूत होता है या नष्ट होता है, ऐसे आत्मावाले पुरुष, नर और असुर, जो संसाररूपी वनमें विहार करनेवाले तथा कामभोगरूप तृणोंके ग्रासमें मृगके समान हैं, आनन्दपूर्वक विहार करते हैं ॥ ४९ ॥

अस्थिखण्डार्गला मूर्धपिधानाः स्नायुशृङ्खलाः ।
जगद्देहा जरज्जीवरक्तमांससमुद्गकाः ॥ ५० ॥
वनमालामृगा मुग्धाः पुरसञ्चारसंस्थितौ ।
बालबुद्धिविनोदाय योजिताश्चर्मपुत्रिकाः ॥ ५१ ॥
नैवंविधोदारमना मनागपि महामतिः ।
न ञ्श्चलति भोगौघैर्मन्दवातैरिवाऽचलः ॥ ५२ ॥
तस्मिन् किल पदे राम ज्ञस्तिष्ठति महोत्तमे ।
यस्मिंश्चन्द्रार्कदेशोऽपि न पातालमिव स्थितः ॥ ५३ ॥

मृगोंको वनविहारमें स्वातन्त्र्य है, किन्तु देहरूपी पिंजड़ेमें बँधे रहनेके कारण नर, सुर और असुरोंको अत्यन्त परतन्त्रताका दुःख ही है, इस आशयसे कहते हैं—'**अस्थि०**' इत्यादिसे ।

ब्रह्मा द्वारा जगत्के नर, सुर और असुर आदिके शरीर अनादि संसाररूपी महावनमें जर्जर हुए जीवोंके पर्यायक्रमसे बन्धनके लिए रक्त और मांसके पिजड़े बनाए गये हैं । हड्डीके टुकड़े ही उनके अर्गल (द्वारावरोधक काष्ठ) हैं और सिर ही उनके ऊपरके ढकने हैं और नसें ही लोहकी सिकड़ियाँ हैं ॥ ५० ॥

इस प्रकार संसाररूपी देहके विवेकसे शून्य, वनपङ्क्तियोंकी मृगरूपी मांसकी पुतलियाँ, जिनके अन्दर जीव प्रविष्ट है, अपनी अपनी मूढबुद्धियोंके भोगरूपी किसलयोंके ग्राससे विनोद करनेके लिए तत्तद्भोगभूमिरूप नगरसंचारमें ब्रह्मा द्वारा नियोजित हैं ॥ ५१ ॥

तत्त्वज्ञानीकी भी देह देखी जाती है, अतएव वह भी क्या वैसा ही है, इसपर नहीं ऐसा कहते हैं—'**नैवंविधो०**' इत्यादिसे ।

सर्वत्यागी पूर्वोक्त महामतिवाला तत्त्वज्ञ पुरुष तनिक भी इस प्रकारका नहीं है । जैसे पर्वत मन्दवायुसे विचलित नहीं होता वैसे ही भोगोंके समूहसे तत्त्वज्ञानी विचलित नहीं होता ॥ ५२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिसमें चन्द्र और सूर्यके संचारका प्रदेश आकाश विपुल होता हुआ भी पृथ्वीके छिद्रके समान अल्परूपसे भी स्थित नहीं है, उस महान् पदमें ज्ञानी स्थित होता है । भाव यह है कि उस प्रकारके महापदमें स्थित हुए ज्ञानीकी आकाशके मध्यके एक देशसे परिच्छिन्न पदोंमें कैसे लगन हो सकती है ? ॥ ५३ ॥

यस्याऽऽलोकाल्लोकपालाः समालोकाः सुवेदिनः ।
शरीरं पान्त्ययमिव पश्यन्मूढाः क्षपार्णवे ॥ ५४ ॥
न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यमी ।
अप्यभ्यासगताः स्फारहृदयं खमिवाऽम्बुदाः ॥ ५५ ॥
न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यमी ।
मर्कटा इव नृत्यन्तो गौरीलास्यार्थिनं हरम् ॥ ५६ ॥
न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यमी ।
प्राक्तनप्रतिबिम्बश्री रत्नं कुम्भगतं यथा ॥ ५७ ॥
वज्रार्पितोपममसन्मयमम्बुभङ्ग-
तुङ्गं तरङ्गकृतबिम्बमिवाऽवलोक्य ।

जिस तत्त्ववेत्ताके चित्प्रकाशसे ब्रह्मा आदि लोकपाल प्रकाशवाले होकर एवं चक्षु आदि द्वारा बाहर और बुद्धि द्वारा भीतर सम्यग् व्यवहारके उचित बोधवाले होकर अज्ञान समुद्रमें मग्न हो अपने आत्माको अशरीर समझते हुए भी मूढ़ होकर अज्ञ जनकी तरह देहात्मभावसे शरीरकी रक्षा करते हैं ॥ ५४ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुषको, वैराग्यके दृढ़ होनेके कारण भोगवासनाका क्षय होनेसे जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, लोकपालोंके भोगके योग्य भी त्रैलोक्यराज्यादि जगत्‌के भाव पुनः पुनः अभ्यस्त होनेपर भी ऐसे रञ्जित नहीं करते जैसे कि आकाशको मेघ रञ्जित नहीं करते ॥ ५५ ॥

जैसे भगवती पार्वतीजीके नृत्यकी इच्छा करनेवाले भगवान् शङ्करको नाचते हुए बन्दर अनुरञ्जित नहीं करते वैसे ही कोई भी जगत्‌के पदार्थ तत्त्वज्ञ पुरुषको अनुरञ्जित नहीं करते ॥ ५६ ॥

जैसे घड़ेसे बाहर रहनेकी अवस्थामें रत्नके भीतर दिखाई दे रही स्तम्भ, कुड्य आदिके प्रतिबिम्बकी शोभा घड़ेमें स्थित रत्नको अनुरञ्जित नहीं करती वैसे ही ये कोई भी पदार्थ तत्त्वज्ञ पुरुषको अनुरञ्जित नहीं करते ॥ ५७ ॥

पूर्वोक्त अर्थका ही संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—'वज्रा०' इत्यादिसे ।

जैसे राजहंस बगुलेके खाने योग्य गन्दे शैवालके टुकड़ोंमें रतिको प्राप्त नहीं होते वैसे ही तत्त्वज्ञानी भी ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त जगद्वैभवको अज्ञानीकी दृष्टिसे अति दुर्भेद्य होनेके कारण वज्रके तुल्य, विवेकीकी दृष्टिसे जलविलासोंमें उन्नत,

लोलां तदीहितसुखेषु रतिं न याति
तज्ज्ञः कुशैवललवेष्विव राजहंसः ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे पूर्णाशयस्वरूपवर्णनं नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अत्रैव वस्तुन्युदिताः शृणु राघव पूर्वजाः ।
कचेन गाथा या गीता बार्हस्पत्येन पावनाः ॥ १ ॥
कस्मिंश्चिन्मेरुगहनेऽतिष्ठन्सुरगुरोः सुतः ।
कदाचिदभ्यासवशाद्विश्रान्तिं प्राप चाऽऽत्मनि ॥ २ ॥
सम्यग्ज्ञानामृतापूर्णा मतिर्नाऽरमताऽस्य सा ।
पञ्चभूतमयेऽमान्ये दृश्येऽस्मिन्पेलवाऽऽत्मनि ॥ ३ ॥

तरङ्ग द्वारा अपने अग्रभागमें किये गये चन्द्र आदिके प्रतिबिम्बके तुल्य अनिर्वचनीय और अस्थिर एवं तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे अति तुच्छ जानकर अज्ञके समान उनके अभीष्ट सुखोंमें अति लालसापूर्ण अनुरागको प्राप्त नहीं होते ॥ ५८ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठावनवाँ सर्ग

[पूर्ण पदमें आरूढ़ हुए पुरुषके सर्वात्मत्वका बोध करानेवाली कचगाथाका श्रीवसिष्ठजी द्वारा श्रीरामचन्द्रजीको उपदेश]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—इसी पूर्वोक्त वस्तुके विषयमें कही गई पूर्वकालकी जो गाथा बृहस्पतिके पुत्र कचने गाई थी, हे श्रीरामचन्द्रजी, उसे आप सुनिये ॥१॥

किसी मेरुके बनमें सुरगुरुके पुत्र कच रहते थे। कभी शुद्ध ब्रह्मविद्याके मनन-निदिध्यासनके परिपाकसे वे आत्मामें विश्रान्तिको प्राप्त हुए ॥ २ ॥

उनकी आत्मज्ञानके अमृतसे परिपूर्ण वह मति पंचभूतोंसे निर्मित, अनादरके योग्य इस मिथ्या दृश्य प्रपञ्चमें नहीं रमी ॥ ३ ॥

स तेन निर्विण्ण इव सदात्मत्वादृते पदम् ।
अपश्यन् समुवाचेदमेको गद्गदया गिरा ॥ ४ ॥
किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम् ।
आत्मना पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा ॥ ५ ॥
दुःखमात्मा सुखं चैव खमाशासुमहत्तया ।
सर्वमात्ममयं ज्ञातं नष्टकष्टोऽहमात्मना ॥ ६ ॥
सबाह्याभ्यन्तरे देहे अधश्चोर्ध्वं च दिक्षु च ।
इत आत्मा ततश्चाऽऽत्मा नाऽस्त्यनात्ममयं क्वचित् ॥ ७ ॥
सर्वत्रैव स्थितो ह्यात्मा सर्वमात्ममयं स्थितम् ।
सर्वमेवेदमात्मैवमात्मन्येव भवाम्यहम् ॥ ८ ॥

दृश्यमें न रमनेके कारण सद्रूप ऐकात्म्यसे अतिरिक्त वस्तुको न देखते हुए, एकमात्र आत्मवस्तुका परिशेष होनेसे उदास हुए-से एकाकी उन्होंने हर्षसे गद्गद् हुई वाणीसे यह कहा—मैं क्या करूँ, कहां जाऊँ, किसका ग्रहण करूँ और किसका त्याग करूँ ? जैसे महाप्रलयके जलसे संसार भरा रहता है वैसे ही यह सारा विश्व आत्मासे भरा हुआ है ॥ ४, ५ ॥

यदि कोई कहे, जीवात्माके जो सुखसाधन हैं, उन्हें करो, वे सुखसाधन जहाँ प्राप्त हों वहाँ जाओ, सुख और सुखके साधनोंका ग्रहण करो एवं दुःखसाधन और दुःखका त्याग करो, तो इसपर कहते हैं—'**दुःखम्**' इत्यादिसे ।

दुःख, दुःखका उपभोग करनेवाला जीव और जीवके अभिलाषयोग्य सुख इत्यादि सारा जगत् यदि मूलका अन्वेषण किया जाय, तो आकाशमात्र ही है, फिर भी दिशाओंसे और मनोरथोंसे सुमहान् वह आत्ममय है यानी आत्मा ही है, ऐसा मुझे ज्ञात हो गया, अतः उसी आनन्दैकरस आत्मासे मेरा सब दुःख नष्ट हो गया है, इसलिए किसी वस्तुके त्याग और किसी वस्तुके ग्रहणकी मुझे आवश्यकता नहीं है ॥ ६ ॥

बाह्य (आधिभौतिक) और आभ्यन्तर (आध्यात्मिक) भावोंसे युक्त इस देहमें ऊपर, नीचे और पूर्व आदि दिशाओंमें इधर-उधर आत्मा ही है । अनात्ममय कहींपर भी नहीं है । इस विषयमें श्रुति भी है—'आत्मैवाऽधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वम्' ॥ ७ ॥

सभी जगह अधिष्ठानरूपसे आत्मा स्थित है । विवर्तरूप कल्पित विकारके

यन्नाम नाम तत्किञ्चित् सर्वमेवाऽहमान्तरः ।
आपूरितापारनभाः सर्वत्र सन्मयः स्थितः ॥ ९ ॥
पूर्णस्तिष्ठामि मोदात्मा सुखमेकार्णवोपमः ।
इत्येवं भावयंस्तत्र कनकाचलकुञ्जके ॥ १० ॥
उच्चारयन्नोङ्कारं च घण्टास्वनमिव क्रमात् ।
ॐकारस्य कलामात्रं पाश्चात्यं बालकोमलम् ।
नाऽऽन्तरस्थो न बाह्यस्थो भावयन् परमे हृदि ॥ ११ ॥

दर्शनसे सब आत्ममय ही है। तत्त्वदर्शनसे तो सब आत्मा ही है। इस दृष्टिसे मैं परमार्थ आत्मामें ही सर्वदा स्थित हूँ ॥ ८ ॥

जो चेतनरूपसे प्रसिद्ध है और जो अचेतनरूपसे प्रसिद्ध है, वह सब सन्मय, अपार आकाशको पूर्ण करनेवाला आत्मरूप मैं सर्वत्र स्थित हूँ ॥ ९ ॥

आनन्दरूप एकमात्र सागरके तुल्य मैं सर्वत्र सुखपूर्वक स्थित हूँ, इस प्रकार मेरु पर्वतके निकुञ्जमें भावना करते हुए वे स्थित रहे ॥ १० ॥

विशुद्ध आत्माको उन्होंने किस प्रमाणसे देखा, इसपर कहते हैं—**'उच्चारयन्'** इत्यादिसे ।

क्रमशः घण्टानादकी तरह ॐकारका उच्चारण करते हुए उन्होंने देखा। श्रुति भी है—

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥'

अर्थात् प्रणव धनुष है, जीवात्मा बाण है, ब्रह्म लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर उसका वेध करना चाहिये। वेधन करनेके पश्चात् शरके समान तन्मय होना चाहिये।

यदि कोई शङ्का करे कि ॐकारमें अकारादिमात्राएँ विराट् आदिकी वाचक हैं। तुरीय तत्त्वको ॐकारके किस अंशसे देखा? इसपर कहते हैं—**'ॐकारस्य'** इत्यादिसे ।

पूर्व-पूर्व मात्राओंका विराडादि अर्थोंके साथ उत्तरोत्तर मात्राओंमें लय करके बालके समान ॐकारके सिरपर दिखाई देनेवाला, अति सूक्ष्म और कोमल, सबसे पीछेके अर्धमात्ररूप कलामात्रकी, जो सबके विलयका चरम सीमारूप तुरीयतत्त्व है, तुरीयात्मासे ही भावना करते हुए तुरीय भावापन्न होकर न तो आन्तर कारणमें स्थित और न बाह्यभूत कार्यमें स्थित वे आगे कहे जानेवाले प्रकारसे स्थित हुए॥११॥

व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धो
हृदयनिरन्तरलीनवातवृत्तिः ।
गतघनशरदाशयोपमानः
स्थित इति राम कचः स गायमानः ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे कचगाथा नाम अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अन्नपानाङ्गनामङ्गादृते नाऽस्तीह किञ्चन ।
शुभं वस्त्विति संवादि महान् किमिव वाञ्छतु ॥ १ ॥

उसी स्थितिको दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं—**'व्यपगत०'** इत्यादिसे । हे श्रीरामचन्द्रजी, कल्पनारूपी लंकसे रहित अतएव शुद्ध एवं जिनका प्राणस्पन्दन हृदयमें निरन्तर लीन हो गया, इसलिए जिससे मेघ हट गये, ऐसे शरत्कालके आकाशके समान निर्मल वे महात्मा कच गाते हुए स्थित रहे ॥१२॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

[विषयोंकी निःसारता ब्रह्माके संकल्पसे जगत्की रचना, ब्रह्माकी निर्वेदसे विश्रान्ति और शास्त्रसृष्टिका वर्णन]

प्रसंगप्राप्त कचगाथाको समाप्त करके भोग तत्त्वज्ञोंकी इच्छा आदिके योग्य नहीं है, इस विषयका, जो प्रकृत है, उपपादन करते हुए श्रीवसिष्ठजी वैराग्यके उपदेशके लिए विषयोंकी निःसारताका विस्तारसे वर्णन करते हैं—**'अन्नपाना०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसारमें अन्न-पान तथा स्त्रीरूप विषयोंसे जिह्वा, उपस्थ आदि इन्द्रियोंका जो संसर्ग है, उसके सिवा उत्तम पुरुषार्थ-रूप और कुछ भी नहीं है, यह बात श्रुति, स्मृति और पुरुषोंके उपदेशसे सिद्ध है,

तिर्यञ्चः पशवो मूढा ये नु तुष्यन्त्यसाधवः ।
भोगैः कृपणसर्वस्वैरादिमध्यान्तपेलवैः ॥ २ ॥
विश्वासं यान्ति ये लोके तैरलं नरगर्दभैः ।
इतः केशा इतो रक्तमितीयं प्रमदातनुः ॥ ३ ॥
एतया तोषमायान्ति सारमेया न मानवाः ।
मृन्मही दारु तरवो देहा मांसमया अपि ॥ ४ ॥
अधो भूरम्बरं पृष्ठे किमपूर्वं सुखाय तु ।
मात्रास्पर्शानुसारिण्यो विवेकपदभङ्गुराः ॥ ५ ॥
मोहायैवाऽपरामृष्टाः सकला लोकसंविदः ।
सर्वस्या एव पर्यन्ते सुखाशायाश्च संस्थितम् ॥ ६ ॥
मालिन्यं दुःखमप्येवं ज्वालाया इव कज्जलम् ।
आगमापायिनोऽनित्या मनःषष्ठेन्द्रियक्रियाः ॥ ७ ॥

यह विचार कर परम पदमें आरूढ़ पुरुष इन भोगोंमें भला क्योंकर वाञ्छा करेगा ? भाव यह कि यहांपर वाञ्छाके योग्य कुछ भी नहीं है ॥ १ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि मोक्षके समान काम भी पुरुषार्थ ही है, उसकी भी वाञ्छा करनी ही चाहिये ? ऐसा कहनेवालेके प्रति कहते हैं—**'तिर्यञ्चः'** इत्यादिसे।

जो मूढ़ असाधु पुरुष कृपणोंके सर्वस्व तथा आदि, मध्य और अन्तमें असत् भोगोंसे सन्तुष्ट होते हैं, वे निरे पशु-पक्षी ही हैं ॥ २ ॥

जो पुरुष लोकमें यह सत्य है, यों विश्वासको प्राप्त होते हैं, मनुष्योंमें गर्दभ-रूप उनसे कोई भी प्रयोजन नहीं है। इधर केश हैं तो इधर रक्त है, यही तो स्त्रीका शरीर है, इससे जो सन्तोषको प्राप्त होते हैं, वे कुत्ते ही हैं मनुष्य नहीं हैं। सारी पृथिवी मिट्टी ही है, सभी पेड़ काठ ही है और शरीर भी मांसके पुतले ही हैं। नीचे पृथिवी है, ऊपर आकाश ही है। भला बतलाइये तो सही सारभूत पदार्थ क्या है, जो सुखके लिए हो। सब लोकव्यवहार इन्द्रियोंके स्पर्शके अनुसार होनेवाले, विवेकके तत्त्वमें बाधित होनेवाले और बिना विचारे ही भले लगनेवाले हैं। जैसे ज्वालाके अन्तमें काजल स्थित रहता है, वैसे ही सब सुखाशाका विषयोंके लाभसे अथवा अलाभसे अन्त होनेपर पाप, विषय आदिकी कलुषता और वियोग, विषाद आदिसे होनेवाला दुःख भी वर्तमानकालके सुखके समान ही रहता है। उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली

लता नागेन्द्रमृदिता धारयन्ति न संपदः ।
पुत्रिका रक्तमांसस्य कान्तेयमिति सादरम् ॥ ८ ॥
स्वदेहनाम्नाऽस्थिचये श्लिष्यते मोहकक्रमः ।
सर्वं सत्यमिदं राम स्थिरमज्ञस्य तुष्टये ॥ ९ ॥
ज्ञस्याऽस्थैर्यमसत्यं च जगद्राम न तुष्टये ।
अभुक्तेऽपि विषा यैषा विषमूर्छां प्रयच्छति ॥ १० ॥
तां परित्यज्य भोगास्थां स्वात्मैकत्वगतिं भज ।
अनात्ममयभावेन चित्तं स्थितिमुपागतम् ।
यदा तदैतदाजातं जगज्जालमसन्मयम् ॥ ११ ॥
वासनावशतो ब्रह्ममनसा कल्पितं वपुः ।
तेजसा श्रितकुड्येन हेमाभत्वमिवाऽऽत्मनः ॥ १२ ॥

अतएव अनित्य मन और इन्द्रियोंसे उत्पन्न सब सम्पत्तियाँ गजराजसे कुचली हुई लताओंके तुल्य क्षीण हो जाती हैं ।

कान्ता आदिका भोग केवल अनित्य ही नहीं है, किन्तु अमेध्य नरकरूप भी है, ऐसा कहते हैं—'**पुत्रिका**' इत्यादिसे ।

हड्डियोंके समूहमें देह नामवाला पुरुष रक्त और मांसकी पुतलीका—यह मेरी प्रेयसी है, इस बुद्धिसे—सादर आलिङ्गन करता है यह मोहक कामका क्रम है ।

यह सब अज्ञानियोंकी दृष्टिमें सत्य और स्थिर है, अतएव यह अज्ञानीकी तुष्टिके लिए होता है, किन्तु हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानीकी दृष्टिमें अस्थिर और असत्य यह सब उनकी तुष्टिके लिए नहीं होता है ।

विषैली जो यह भोगतृष्णा है, वह भोग न करनेपर भी विषके तुल्य मूर्च्छा पैदा करती है, भोग करनेपर तो वह क्यों नहीं करेगी ? उस भोगास्थाका त्याग करके स्वात्मैकत्वपदको प्राप्त होइये ।

जब यह चित्त अनात्ममयरूपसे स्थितिको प्राप्त हुआ, तभी यह असन्मय जगज्जाल उत्पन्न हुआ ॥ ३–११ ॥

यदि शङ्का हो कि हमारे चित्तकी स्थितिके अनुसार देहादि जगत् उत्पन्न हुआ है, फिर आप कैसे कहते हैं कि ब्रह्माके सङ्कल्पसे उत्पन्न हुए जगत्को ब्रह्माके मनका अनुसारी ही होना उचित है, इसपर कहते हैं—'**वासना०**' इत्यादिसे ।

श्रीराम उवाच

वैरिञ्चपदमासाद्य मनो ब्रह्मन् महामते ।
इदं जगत्सुघनतां कथमानयति क्रमात् ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

गर्भतल्पात्समुत्थाय पद्मजः प्रथमः शिशुः ।
ब्रह्मेति शब्दमकरोद् ब्रह्मा तेन स उच्यते ॥ १४ ॥
संकल्पजालरूपस्य मनसा कल्पिताकृतेः ।
अकरोत्तस्य सङ्कल्पलक्ष्मीः पदमथोत्तरे ॥ १५ ॥
ततः सङ्कल्पयामास पूर्वं तेजो महाप्रभम् ।
शरदन्ते लताचक्रचक्रीकृतदिगन्तरम् ॥ १६ ॥

जैसे सोने, चाँदी, नीलम आदिकी दीवारोंपर पड़ा हुआ सूर्य आदिका प्रकाश तत्-तत् आधारके अनुरूप अपने स्वरूपकी कल्पना करता है वैसे ही ब्रह्माके मनने हम लोगोंके वासना, कर्म आदिके अनुसार सङ्कल्प करनेसे जगत्की कल्पना कर रक्खी है ॥ १२ ॥

प्रसङ्गवश श्रीरामचन्द्रजी ब्रह्माके मनके जगत्कल्पनाक्रमको पूछते हैं—**'वैरिञ्च०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, हे महामते, पूर्व उपासकका मन पहलेके व्यष्टि-अभिमानको समष्ट्यात्मताकी अतिशय भावनासे उत्पन्न दृढ़ संस्कार द्वारा छोड़कर, समष्टि सिद्धिरूप विरञ्चिका पद प्राप्त कर, कार्यभूत ब्रह्म बनकर इस जगत्को क्रमशः कैसे सुघन (चार प्रकारके प्राणियोंके समूहसे निविड़) बनाता है ॥१३॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, कमलकोशरूप विस्तरसे उठकरके सर्वप्रथम बालक ब्रह्माजीने 'ब्रह्म' शब्दका उच्चारण किया, इसलिए वह ब्रह्मा कहे जाते हैं ॥ १४ ॥

उत्थानरूप जागरणकी कल्पनाके बाद सकलसङ्कल्पात्मक मनोंके समष्टिरूप एवं अपने ही मनसे चतुर्मुख आकृतिकी कल्पना किए हुए ब्रह्माके सङ्कल्पने आगेकी सृष्टिमें उद्यम किया ॥ १५ ॥

सब व्यवहार सूर्य आदि प्रकाशके अधीन हैं, अतः पहले आदित्यकी सृष्टिको कहनेकी इच्छासे श्रीवसिष्ठजी सूर्यके उपादानभूत सारे आकाशमें व्याप्त तेजकी सृष्टि कहकर उसी तेजका वर्णन करते हैं—**'ततः'** इत्यादिसे ।

पक्षप्रतिमनि स्यूतकर्मणाऽतिगुणाक्षरम् ।
पुञ्जपिञ्जरपर्यन्तं हेमज्ञाननिभाम्बरम् ॥ १७ ॥
जालहेमलताजालजटालनिजमन्दिरम् ।
कचत्प्रसरदुद्यानाकारकुण्डलमण्डितम् ॥ १८ ॥
तं शरीरं मनस्तस्मिंस्ततस्तेजसि भास्वरे ।
आत्माकारसमाकारं भास्वरं समकल्पयत् ॥ १९ ॥
स ततस्तेजसस्तस्मादभ्युदेति दिवाकरः ।
जालमण्डलमध्यस्थो ज्वलत्कनककुण्डलः ॥ २० ॥

तदनन्तर उन्होंने पहले अत्यन्त प्रकाशसे युक्त तेजका सङ्कल्प किया, जिसने शरत्कालके अन्तमें बर्फसे सफेद हुई लताओंके समूहकी तरह दिशाओंके मध्य-भागको परिवेष्टित किया था, जिसने पक्षियोंके परोंके सदृश दोनों पार्श्वोंमें तन्तुओंके फैलानेसे कभी क्षीण न होनेवाले शून्यरूप आकाशको बहुतसे तन्तुओंसे युक्त-सा बनाया था, जिसने फैली हुई तेजकी राशियोंसे दिगन्त तक पहुँचे हुए लोकालोक पर्वतके शिखरके रंग-विरंग धातुओंके संसर्गसे दिगन्तोंको पीला कर दिया था, जिसने आकाशको स्वर्णके समान चमकदार और अनावृत, अपरिच्छिन्न तथा प्रकाशमय होनेके कारण ब्रह्मज्ञानके तुल्य बना दिया था, जिसने ब्रह्माके कमलको विकसित करनेके लिए पँखुरियोंके अन्दर प्रविष्ट हुई किरणोंसे झरोखोंपर बनाई गई सुवर्णकी झालरोंकी तरह चमकदार केसरोंसे जटायुक्त कर दिया था और जो एकमात्र समुद्रकी तरङ्गोंमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण देदीप्यमान तथा चलते हुए उपवनोंके तुल्य किरणोंसे विभूषित था ॥१६–१८॥

उस तेजमें अपने सदृश दूसरी मूर्तिकी कल्पना द्वारा हिरण्यगर्भका प्रवेश कहते हैं—'तम्' इत्यादिसे ।

तेजोमण्डलकी सृष्टि करनेके अनन्तर चतुर्मुख शरीराकारसे स्थित पूर्वोक्त मनने उस चमकीले तेजमें देदीप्यमान, पुराण आदिमें प्रसिद्ध अपने आकारके तुल्य शरीरकी कल्पना की ॥ १९ ॥

तदनन्तर वह देव उस पिण्डीभूत तेजसे आदित्य बनकर आज भी प्रत्यक्ष उदित होता है, वह प्रभासमूहरूप मण्डलके मध्यमें स्थित और जलते हुए कनक-कुण्डलोंसे युक्त है ॥ २० ॥

ज्वलज्जटाभारधरोपान्तविस्फारपावकः ।
ज्वालाविशालावयवः पूरिताकाशमण्डलः ॥ २१ ॥
अथ ब्रह्मा महाबुद्धिरन्यास्तास्तेजसः कलाः ।
अपाल्य यदसद् ब्रह्मा तरङ्गानिव सागरः ॥ २२ ॥
तेऽपि सङ्कल्पसंप्राप्तसिद्धयः समशक्तयः ।
यथासङ्कल्पितं वस्तु क्षणाद्दृष्ट्वाऽऽपुरग्रतः ॥ २३ ॥
सङ्कल्पयन्तो यान् यांस्ते नानाभूतगणान् बहून् ।
भूतेष्वन्यांस्तु तेष्वन्यांस्तेष्वन्यान् विविधानपि ॥ २४ ॥
संस्मृत्य वेदांस्तदनु यज्ञक्रमगुणान् बहून् ।
जगद्गृहादयं ब्रह्मा मर्यादां समकल्पयत् ॥ २५ ॥

उसके चारों ओर जल रही ज्वालाओंकी पङ्क्तियोंको धारण करनेवाली धधकती हुई अग्नियाँ हैं और वह ज्वालाओंसे विशालकाय है एवं उसने उक्त विशाल अवयवोंसे आकाशमण्डलको पूर्ण कर रक्खा है ॥ २१ ॥

तदनन्तर मरीचि आदि प्रजापतियोंकी सृष्टि कहते हैं—**'अथ'** इत्यादिसे ।

तदनन्तर विश्वकी वृद्धि करनेवाले सर्वज्ञ चतुर्मुख ब्रह्माने जैसे सागर तरङ्गोंको विभक्त करता है वैसे ही आदित्य आदिके निर्माणसे बची हुई तेजकी उन कलाओंको विभक्त कर जिनका नौ प्रकारसे निर्माण किया, वे भी तेजके टुकड़े ब्रह्माजीके संकल्पसे ही सब सिद्धियोंको प्राप्त और ब्रह्माके समान ही शक्तिवाले प्रजापति होकर संकल्पानुसार वस्तुको क्षणभरमें ही अपने आगे देखकर प्राप्त करते थे ॥ २२, २३ ॥

उनसे देव, दानव, यक्ष, राक्षस, मनुष्य आदिकी सृष्टिका प्रवाह कहते हैं—**'संकल्पयन्तः'** इत्यादिसे ।

वे प्रजापति जिन-जिनका पुत्र, पौत्र आदि परम्परासे और देव, दानव आदि जातिभेदोंसे नाना प्रकारका एवं व्यक्तिभेदसे बहुत भूतगणोंका संकल्प करते थे, उन-उनको प्राप्त करते थे। उन भूतोंमें आगे मैथुनसृष्टिका प्रवाह दर्शाते हैं—**'भूतेषु'** इत्यादिसे ।

उन भूतोंमें बहुतसे औरोंका, उनमें औरोंका, उनमें औरोंका संकल्प करते हुए उनको प्राप्त करते थे ॥ २४ ॥

तदनन्तर यज्ञादि कर्मोंकी प्रवृत्ति दिखलाते हैं—**'संस्मृत्य'** इत्यादिसे ।

ब्राह्मं रूपमुपादाय मनो नाम महद्वपुः ।
तनोतीत्थमिमां दृष्टिं भूतसन्ततिसङ्कुलाम् ॥ २६ ॥
समुद्राचलवृक्षाढ्यां कृतलोकोत्तरक्रमाम् ।
मेरुभूपीठदिक्कुञ्जजटालोदरमण्डलाम् ॥ २७ ॥
सुखदुःखजराजन्ममरणस्वाधिबोधिताम् ।
रागद्वेषमयोद्विग्नां गुणत्रयमयात्मिकाम् ॥ २८ ॥
मनोहस्तैर्विरिञ्चोत्थैर्यद्यथा कल्पितं पुरा ।
तत्तथैवाऽखिलं द्रष्टुं दृश्यतेऽद्याऽपि मायया ॥ २९ ॥
इत्थं सर्वेषु भूतेषु केषुचित्त्वथवा मनः ।
सङ्कल्पयति संसारं परं पश्यति चित्स्थितम् ॥ ३० ॥

तदनन्तर वेदोंका स्मरण कर फिर बहुतसे यज्ञोंके गुण और क्रमका स्मरण कर ब्रह्माने जगद्रूपी घरके लिए मर्यादाकी कल्पना की ॥ २५ ॥

इस प्रकार मन विशाल शरीरवाले ब्रह्माका रूप धारण करके इस दृश्य सृष्टिका विस्तार करता है, जो प्राणियोंकी परम्परासे ठसाठस भरी है, समुद्र, पर्वत और वृक्षोंसे पूर्ण है, लोकोत्तर क्रमसे युक्त है, मेरु, भूमण्डल, दिङ्मण्डलसे जिसका मध्य भाग जटिल है एवं जो सुख-दुःख, जरा, जन्म, मरण आदि शारीरिक क्लेशोंसे और मानसिक क्लेशोंसे भी यह संसार सर्वथा हेय है, इस तरह बोधित हुई है, राग और द्वेषमय होनेके कारण उद्वेगयुक्त है और सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंसे रची गई है ॥ २६–२८ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि सब व्यवहार ब्रह्माके मनसे रचे गये हैं, ऐसी अवस्थामें यज्ञ आदि कर्म शारीरिक हैं और उपासना आदि मानसिक हैं, इस व्यवस्थामें क्या हेतु है ? तो इसपर कहते हैं—'**मनोहस्तैः**' इत्यादिसे ।

ब्रह्मासे उत्पन्न हुई मनोवृत्तियोंसे अथवा हाथोंसे जो वस्तु जैसे देखने और प्राप्त करनेयोग्य पहले माया द्वारा कल्पित हुई, वह सब वैसे ही आज भी दिखाई देती है और पाई जाती है । ब्रह्माके संकल्पानुसार ही और लोगोंकी भी यह शारीरिक है और यह मानसिक है ऐसी कल्पना नियत है । उससे भिन्न अन्यकी कल्पना नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ २९ ॥

समष्टिदृष्टिसे सब भूतोंमें और व्यष्टिदृष्टिसे अथवा एकजीववादसे कुछ

मोह एवंमयो मिथ्या जागतः स्थिरतां गतः ।
सङ्कल्पनेन मनसा कल्पितोऽचिरतः स्वयम् ॥ ३१ ॥
सङ्कल्पवशतः सर्वाः प्रसवन्ति जगत्क्रियाः ।
सङ्कल्पवशतो देवा निर्यान्ति नियतिस्थिताः ॥ ३२ ॥
कोपितायाः प्रजानाथैर्जगत्सृष्टेः कुलोद्भवः ।
ब्रह्मा सञ्चिन्तयत्येष पद्मासनगतः प्रभुः ॥ ३३ ॥
मनःस्पन्दनमात्रेण चित्रं चित्तं यदुत्थितम् ।
सृष्टिर्वा भोगिनी स्फारा व्यवहारविकारिणी ॥ ३४ ॥
रुद्रोपेन्द्रमहेन्द्राढ्या शैलसागरसङ्कुला ।
पातालरोदोदिक्स्वर्गमार्गसङ्कटकोटरा ॥ ३५ ॥

लोगोंमें स्थित मन ही चित्‌में स्थित संसारका संकल्प करता है और परब्रह्मका साक्षात्कार भी करता है ॥ ३० ॥

इस प्रकारका जगत्सम्बन्धी मिथ्या मोह स्थिरताको प्राप्त हुआ है। सङ्कल्प करनेवाले स्वयं मनने ही शीघ्र उसकी कल्पना की है ॥ ३१ ॥

सङ्कल्पसे ही सब जगत्‌की क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और सङ्कल्पवश ही नियतिके अधीन देवता लोग उत्पन्न होते हैं ॥ ३२ ॥

इस प्रकार सृष्टिके विस्तारका वर्णन करके सृष्टिकी निवृत्ति और शास्त्रके निर्माणमें कारण कहनेके लिए भूमिका बांधते हैं—'**कोपितायाः**' इत्यादिसे।

अपने-अपने उत्कर्षके लिए मनुष्य आदि प्रजाओंमें धर्म और अधर्मकी अभि-वृद्धिके लिए प्रयत्न कर रहे इन्द्र, विरोचन आदि देवता और असुरोंके अधिपतियों द्वारा जबरदस्ती सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियोंमें लोगोंको लगानेसे बध, बन्धन, जन्म-जरा, रोग आदि हजारों क्लेशोंसे अति पीड़ित जगत्‌की सृष्टिसे विरक्त एवं प्रजासमूहोंको उत्पन्न करनेवाले ये पूर्वोक्त प्रभु कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्मा निम्नलिखित विचार करते हैं ॥ ३३ ॥

मनके सङ्कल्पमात्रसे व्यष्टिजीवोपाधिभूत जो विचित्र चित्त उत्पन्न हुआ और जो उसके उपभोगके लिए व्यवहाररूप विकारसे युक्त विशाल भुवन आदिकी सृष्टि, जो रुद्र, विष्णु और महेन्द्रसे युक्त है, पर्वतोंसे और सागरोंसे व्याप्त है, जिसका मध्यभाग पाताल, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, दिशा और स्वर्गमार्गसे

सङ्कल्पजालमत्यन्तं मयेदमभितस्ततम् ।
अधुना विरतोऽस्म्यस्माद्विकल्पोल्लासनक्रमात् ॥ ३६ ॥
इति निश्चित्य विरतः कल्पनानर्थसङ्कटात् ।
अनादिमत्परं ब्रह्म स्मरत्यात्मानमात्मना ॥ ३७ ॥
तमासाद्य तदाभासे पदे गलितमानसे ।
सुखं तिष्ठति शान्तात्मा तल्पेऽध्वश्रमवानिव ॥ ३८ ॥
निर्ममो निरहङ्कारः परां शान्तिमुपागतः ।
अविक्षुब्ध इवाऽम्भोधिरात्मनाऽऽत्मनि तिष्ठति ॥ ३९ ॥
ध्यानात् कदाचिद्भगवान् स्वयं विरमति प्रभुः ।
बन्धनात् सलिलस्पन्दात्सौम्यत्वादिव वारिधिः ॥ ४० ॥
विचारयति संसारं सुखदुःखसमन्वितम् ।
आशापाशशतैर्बद्धं रागद्वेषभयातुरम् ॥ ४१ ॥

आकीर्ण है, यह सब मैंने अपना सङ्कल्पसमूह ही चारों ओर विस्तृत किया है। इस समय इस विकल्पके उल्लासनक्रमसे मैं विरक्त हो गया हूँ, ऐसा विचार कर कल्पनारूपी अनर्थकारी सङ्कटसे विरत हो ब्रह्मा अनादि, आत्मरूप परब्रह्मका अपनेसे स्मरण करते हैं ॥ ३४–३७ ॥

उस परमात्माको स्मरणमात्रसे प्राप्तकर, जहाँ चारों ओर एकमात्र उन्हींका प्रकाश है, मानसव्यापाररहित यानी सप्तमभूमिकारूप उस पदमें शान्त आत्मावाले ब्रह्मा सुखपूर्वक ऐसे स्थित होते हैं, जैसे थका हुआ पुरुष भली-भाँति बिछाये हुए बिछौनेपर स्थित होता है ॥ ३८ ॥

ममतारहित, अहङ्कारशून्य अतएव परमशान्तिको प्राप्त हुए क्षोभरहित ब्रह्मा निश्चल सागरकी तरह अपने आत्मासे आत्मामें स्थित होते हैं ॥ ३९ ॥

किसी समय एकाकारवृत्तिकी धारणामें आग्रहरूप ध्यानसे भगवान् ब्रह्मा स्वयं ऐसे विरत होते हैं जैसे जलकी निश्चलतारूप सौम्यतासे समुद्र विरत होता है ॥ ४० ॥

तब वे सुख-दुःखसे युक्त, सैकड़ों आशापाशोंसे बंधे हुए, राग, द्वेष और भयसे पीड़ित संसारका विचार करते हैं ॥ ४१ ॥

ततः स करुणाक्रान्तमना भूतविभूतये ।
करोतीह महार्थानि शास्त्राणि विविधानि च ॥ ४२ ॥
अध्यात्मज्ञानगर्भाणि वेदवेदाङ्गसङ्ग्रहम् ।
पुराणादीनि चाऽन्यानि मुक्तये सर्वदेहिनाम् ॥ ४३ ॥
पुनस्तत्पदमालम्ब्य परमापद्विनिर्गतः ।
स्वस्थस्तिष्ठति शान्तात्मा निर्मन्दर इवाऽर्णवः ॥ ४४ ॥
अवलोक्य जगच्चेष्टां मर्यादां विनियोज्य च ।
ब्रह्मा कमलपीठस्थः पुनः स्वात्मनि तिष्ठति ॥ ४५ ॥
कदाचित् केवलं सर्वसङ्कल्पपरिहीनया ।
यदृच्छयाऽनुग्रहार्थं लोकक्रमवदास्थितः ॥ ४६ ॥
नाऽऽर्जवं नाऽस्य संत्यागो वपुषो न च सङ्ग्रहः ।
नाना न चेतनं नेह न स्थितिर्नाऽस्थितिः स्थिता ॥ ४७ ॥

फिर दयासे आक्रान्त चित्तवाले वे प्राणियोंके कल्याणके लिए अध्यात्मज्ञानसे भरे हुए गम्भीर अर्थवाले बहुतसे शास्त्रोंकी रचना करते हैं । वेद, वेदाङ्गके सङ्ग्रहकी और पुराण आदि अन्यान्य शास्त्रोंकी भी सब जीवोंकी मुक्तिके लिए रचना करते हैं ॥ ४२, ४३ ॥

फिर पूर्वोक्त सप्तमभूमिकारूप परमपदको पाकर सृष्टिविक्षेपरूप परम आपत्तियोंसे छुटकारा पाये हुए ब्रह्मा मन्थनदण्डरूप मन्दराचलसे छुटकारा पाये हुए सागरके समान स्वस्थ और शान्तात्मा होकर स्थित होते हैं ॥ ४४ ॥

कमलासनमें स्थित हुए ब्रह्मा जगत्की चेष्टाको देखकर और जगत्की मर्यादाको ठीककर फिर आत्मामें स्थित हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

किसी समय सब संकल्पोंसे हीन स्वेच्छामात्रसे केवल लोगोंके अनुग्रहके लिए ही लोकके सदृश कार्य करते हुए स्थित होते हैं ॥ ४६ ॥

तब तो समाधिकालमें उनकी सरलता, सृष्टि, संहार आदिके समय उस सरलताका त्याग, देह आदिका ग्रहण, सृष्टिके रूपसे नाना होना, व्युत्थानकालमें चेतन होना, पद्ममें स्थिति, अन्यत्र अस्थिति यों नाना प्रकारके भावारम्भोंसे युक्त चित्तवृत्तियोंमें अज्ञानीके तुल्य ही विषमता हुई ? ऐसी आशङ्का कर क्रमशः उक्त शङ्काओंका परिहार करते हैं—**'नाऽऽर्जवम्'** इत्यादिसे ।

सर्वभावसमारम्भः समः सर्वासु वृत्तिषु ।
परिपूर्णार्णवाकारो मुक्तशेषोऽवतिष्ठते ॥ ४८ ॥
कदाचित् केवलं सर्वसङ्कल्पपरिहीनया ।
यदृच्छयाऽनुग्रहार्थं लोकानां प्रतिबुध्यते ॥ ४९ ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पुण्या या मयोक्ता महामते ।
यातां विधिसुरानीकौ तामेतां सात्त्विकीमपि ॥ ५० ॥
चित्सर्गोपरमाकाशे ब्रह्मणो यन्मनःफलम् ।
उदेति प्रथमः सैव ब्रह्मत्वं समवाश्नुते ॥ ५१ ॥

ब्रह्माको समाधिकालमें न ऋजुता होती है, न सृष्टि और संहारकालमें उसका त्याग होता है, न देहादिका ग्रहण होता है, न सृष्टिरूपसे अनेकता होती है, न व्युत्थानके समय चेतनता होती है और न कमलपर स्थिति तथा अन्यत्र अस्थिति होती है ॥ ४७ ॥

सब भावोंका आरम्भ करनेवाले ब्रह्मा सब वृत्तियोंमें समान और परिपूर्ण सागरके समान आकारवाले मुक्तरूप होकर स्थित रहते हैं ॥ ४८ ॥

किसी समय सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित अपनी स्वेच्छासे केवल लोगोंके अनुग्रहके लिए ही वे प्रतिबुद्ध होते हैं ॥ ४९ ॥

हे महामते, जो मैंने आपसे कही, यह परम पवित्र ब्राह्म स्थिति है। प्रजापतियोंकी मानसिक सृष्टि पहला विध्यनीक है, क्योंकि प्रजापतियोंको संकल्पसे सिद्धियां प्राप्त हैं एवं ज्ञान और योगरूप ऐश्वर्य स्वयं ही उन्हें ज्ञात है। मैथुनसृष्टिमें भी देव, गन्धर्व, यक्ष आदिके सात्त्विक होनेके कारण एक बारके उपदेशसे ज्ञानरूप ऐश्वर्यको प्राप्त हुआ देवानीक मध्यम है। मनुष्य आदि तो रजोगुण और तमोगुणसे ग्रस्त हैं, हजारों प्रयत्नोंसे उन्हें ज्ञानरूप ऐश्वर्य प्राप्त हो सकता है, अतएव नरानीक अधम है, यों तीन अनीकोंका विभाग अपने मनमें रखकर उनकी अपने कारणसे प्राप्त चित्तशुद्धिके अनुरूप ज्ञानसे ब्रह्मप्राप्तिको पृथक् पृथक् दर्शाते हैं—'**याताम्**' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त इस सात्त्विक ब्राह्म स्थितिको विध्यनीक और सुरानीक भी प्राप्त हों ॥५०॥

उन पूर्वोक्त तीन अनीकोंमें (दलोंमें) पहला अनीक मानस उपासनाका फल होनेके कारण एकमात्र मनसे उत्पन्न होनेवाला है, अतएव सूक्ष्म होनेसे उसकी प्राप्तिमें विशेषता कहते हैं—'**चित्सर्गो०**' इत्यादिसे ।

सर्गे स्थितिं गते त्वन्या योदेति कल्पनाऽपरा ।
सा व्योमानिलमाश्रित्य प्रविश्यौषधिपल्लवान् ॥ ५२ ॥
काचित्सुरत्वमायाति काचिदायाति यक्षताम् ।
उदेति प्रथमं सैषा ब्रह्मत्वं समवाश्नुते ॥ ५३ ॥
या यत्सत्त्वं समन्वेति सा तदेवाऽऽशु जायते ।
जाता संसर्गवशतस्तस्मिन्नेव च जन्मनि ।
बध्यते मुच्यते वाऽसौ स्वयमन्वारभेदतः ॥ ५४ ॥

चूँकि पहला अनीक चिद्रूप सब सृष्टियोंके उपरमस्वरूप ब्रह्माकाशमें ब्रह्माके मनसे कल्पित फलके समान मनका फल होकर पहले उत्पन्न होता है, अतः वही स्वतःसिद्ध ज्ञानरूप ऐश्वर्यसे पहले ब्रह्मत्वको भली भाँति जानकर उसको प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

दूसरा अनीक ओषधिपल्लवोंके विकारभूत सोमरस, घृत, दूधसे सिद्ध होनेवाले कर्मका फल है, अतः उनका परिणाम होनेके कारण प्रथम अनीककी अपेक्षा स्थूल होनेसे उसे उपदेशमात्रसे ब्रह्मप्राप्ति होती है, यों विशेषता दिखलाते हैं—**'सर्गे'** इत्यादिसे ।

प्रजापतियोंकी और ओषधियोंकी सृष्टि होनेपर जो देवानीकरूप दूसरी पहलेकी अपेक्षा न्यून कल्पना उदित होती है, वह पहले चन्द्रमाकी कलारूपसे आकाश और वायुका अवलम्बन करके ओषधिपल्लवोंमें प्रवेश कर सोम, घृत और दूधरूपसे अग्निमें हवन होनेपर सूर्यमण्डलमें अमृतके आकारसे परिणत हो प्रजापति आदिसे उपभुक्त होती है। उनके उपभोगके अनन्तर उनके वीर्यरूपसे परिणत हुई मैथुन द्वारा कोई इन्द्र आदि सुरता, कोई कुबेर आदि यक्षयोनिताको प्राप्त होती है। वह सात्त्विक होनेसे मनुष्य आदिकी अपेक्षा पहले प्रजापतियोंके अनुग्रहपूर्ण उपदेश आदिसे ज्ञानैश्वर्यसम्पत्ति द्वारा अभ्युदित होती है, इसलिए पहले ही वह ब्रह्मत्वको प्राप्त होती है ॥ ५२, ५३ ॥

तो क्या सब देवताओंकी मुक्ति होती है ? इसपर नहीं, ऐसा कहते हैं—**'या'** इत्यादिसे ।

देवताओंमें अथवा मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ जो व्यक्ति ज्ञान-वैराग्यसे सम्पन्न अथवा भोगलम्पट जिस जीवकी मैत्री आदिसे सङ्गति करता है, वह उसकी

इत्थं गतास्थितिरियं किल रामभद्र
सृष्टिः स्फुटप्रकटसङ्कटकर्मलब्धा ।
आविर्भवेद्विविधवेगविहारभार-
संरम्भगर्भविधृता कलनापदे सा ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे कमलजव्यवहारवर्णनं नाम एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

सङ्गतिसे शीघ्र वैसे गुणवाला हो जाता है । भोगलम्पट पुरुषके संसर्गवश स्वयं भी वैसा होकर उसी जन्ममें बन्धनको प्राप्त होता है और ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न पुरुषकी संगतिसे स्वयं भी ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न होकर उसी जन्ममें मुक्त हो जाता है । तब तीसरे अनीकरूप मनुष्योंको क्या करना चाहिए ? इसपर उनका कर्तव्य कहते हैं—'स्वयं' इत्यादिसे । बन्ध और मोक्ष संगतिके अनुसार होते हैं, इसलिए स्वयं ही अपने पौरुष प्रयत्नसे साधुसंगति, सत् शास्त्रोंके श्रवण आदि एवं इन्द्रिय और मनकी जयके उपायोंका, जबतक फलकी प्राप्ति न हो, अभ्यास करना चाहिये ॥ ५४ ॥

पूर्वोक्त सबका संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—**'इत्थम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अधिक प्रकाशवाली उपासनाओं, सब लोगोंमें प्रसिद्ध यज्ञ आदि कर्मों और अनर्थ फल देनेवाले निषिद्ध और मिश्रित कर्मोंसे क्रमसे प्राप्त तथा अनेक प्रकारके प्रारब्धवेगों, क्रीड़ा-कौतुकों तथा क्रोध, लोभसे बढ़े हुए व्यवहारोंसे क्रमशः दृढ़ स्थितिको प्राप्त हुई यह तीन अनीकरूप सृष्टि सर्गोन्मुख ब्रह्ममें इस प्रकार पूर्वोक्त संकल्पकल्पनासे ही सत्ताको प्राप्त होकर आविर्भावको प्राप्त हुई है ॥ ५५ ॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

षष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अस्मिन् भगवति ब्रह्मंश्चपलं पदमाश्रिते।
पितामहे महाबाहो कृतसर्गव्यवस्थितौ ॥ १ ॥
जगज्जीर्णारिघट्टेऽस्मिन् वहति स्वव्यवस्थया।
विप्रेतभूतघटया रज्ज्वा जीविततृष्णया ॥ २ ॥
ब्रह्मोत्थेषु च भूतेषु विशत्सु भवपञ्जरम्।
आवर्तेष्वीश्वरव्योमबालमध्यविवर्तिषु ॥ ३ ॥
मनःस्वन्येषु वातान्तलोलाहतकणेष्विव।
अनारतं विनिर्यान्ति विशन्त्यन्ये तथाऽभितः ॥ ४ ॥

साठवाँ सर्ग

[ब्रह्मासे उत्पन्न हुए जीवोंके देहग्रहणके क्रमका और प्रधानरूपसे ज्ञानके भाजन सात्त्विक जीवोंके देहग्रहणके क्रमका वर्णन]

पूर्वोक्त तीन अनीकसृष्टियोंका—'सा व्योमानिलमाश्रित्य' इत्यादिसे संक्षेपसे कहे गये क्रमके विस्तारसे—वर्णन करनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—**'अस्मिन्'** इत्यादिसे ।

हे महाबाहो श्रीरामचन्द्रजी, सृष्टिकी व्यवस्था करनेवाले पितामह भगवान् ब्रह्माके समाधिसे व्युत्थित होनेपर, इस जगद्रूपी जीर्ण घटीयन्त्रके—मरे हुए प्राणि-रूपी घड़ोंसे युक्त रस्सी द्वारा पुनः-पुनः देहग्रहणसे जीवन और जलकी तृष्णासे आरोह और अवरोहक्रमसे—चलनेपर, ब्रह्मासे उत्पन्न हुए जीवोंके संसाररूपी पिंजड़ेमें प्रवेश करनेपर, अन्यान्य मनोंके मायाशबल ब्रह्मके प्रथम उत्पन्न पुत्रभूत आकाशमें वायुके झँकोरेसे चञ्चल और आहत जलकणोंसे व्याप्त आवर्तकी भाँति घूमनेपर ब्रह्ममें जीवोंके समूह निरन्तर उपाधिके उत्पन्न होनेके कारण अग्निके विस्फुलिङ्गके समान बाहर निकलते हैं और कोई उपाधिके नष्ट होनेसे सुषुप्तिकी तरह विश्रान्तिके लिए ब्रह्ममें प्रवेश करते हैं ॥ १–४ ॥

राम ब्रह्मणि जीवौघास्तरङ्गा इव वारिधौ ।
अनाद्यन्तपदोत्पन्नाः कलनापदमागताः ॥ ५ ॥
भूताकाशं विशन्त्येते धूमश्रीरिव चाऽम्बुदम् ।
एकतां यान्ति जीवौघा ब्रह्मण्याकाशमारुतैः ॥ ६ ॥
दिनं तन्मात्रवातेन तत्प्राणात्मतया यथा ।
आक्रम्यन्ते प्रचण्डेन दैत्यौघेनाऽमरा इव ॥ ७ ॥
भूतप्राणानिलं तेन गन्धवाहेन तेन च ।
निविशन्ति शरीरेषु जीवा गच्छन्ति वीर्यताम् ॥ ८ ॥
ततो जगति जायन्ते भवन्ति प्राणिनोऽस्फुटाः ।
अन्या धूमादिमाजाता राम जीवपरम्परा ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अनादि अनन्त ब्रह्मरूपी पदसे उत्पन्न हुए यानी कल्पनाको प्राप्त हुए ये जीवसमूह समुद्रमें तरङ्गोंकी भाँति ब्रह्ममें स्थित हैं ॥ ५ ॥

जैसे धूमकी शोभा मेघमें प्रविष्ट होती है वैसे ही ये जीवसमूह भूताकाशमें प्रवेश करते हैं । जैसे क्षीर और जल एकताको प्राप्त होते हैं वैसे ही ये जीवसमूह अध्यस्त आकाश और वायुके साथ ब्रह्ममें एकताको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

तदनन्तर तेज, जल और पृथ्वीकी उत्पत्ति हो जानेपर प्रकाशको प्राप्त करके वे जीव शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप तन्मात्राओंके सहित पूर्वोक्त वायुसे और अपने उपभोगके हेतु अमुख्य और मुख्य दो प्रकारके प्राणवायुसे ऐसे आक्रान्त होते हैं, जैसे कि प्रचण्ड दैत्योंके समूहसे देवता आक्रान्त होते हैं ॥ ७ ॥

इस प्रकार लिङ्गदेहताको प्राप्त हुए वे जीव प्राणा मभावके और भूततन्मात्र-सहित वायुके साथ अन्न और जलके द्वारा चार प्रकारके भूतोंके प्राणवायु यानी अन्नग्रासक अपानवृत्तिभेदको प्राप्त करके शरीरोंमें प्रवेश करते हैं और वीर्यताको प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

तदनन्तर जगत्में पैदा होते हैं और अनभिव्यक्त ज्ञानैश्वर्यवाले प्राणी होते हैं ।

तीसरे दलकी सृष्टिका क्रम कह कर दूसरे दलकी सृष्टिका क्रम कहते हैं— **'अन्या'** इत्यादिसे ।

अन्य कुछ इष्टापूर्तकारी जीवराशियाँ श्रद्धापूर्वक अग्निमें दी गई आहुतिसे यानी तज्जन्य अपूर्वसे परिवेष्टित होकर धूमके द्वारा सूर्यमण्डलमें पहुँच कर

तन्मात्रवति तावद्भिरशून्येऽम्बरकोटरे ।
उदेति यावद्भगवानिन्दुरुद्दाममण्डलः ।
क्षीराम्बुधिनिधौ लोलैः पाण्डुवद्रश्मिभिर्जगत् ॥ १० ॥
ततस्तेष्वतिरम्येषु चन्द्ररश्मिषु संपतत् ।
करोति विहगी लोला वने प्रेष्याऽऽन्तरेष्विव ॥ ११ ॥
तेभ्योऽपि स्वरसेनैव यान्ति पीवरतामपि ॥ १२ ॥
फलेषु तेषु बध्नाति पदमिन्दुकरात् क्षता ।
जीवाली क्षीरपूर्णेषु मातुः स्तनभरेष्विव ॥ १३ ॥
ताः फलावलयः पक्का भविष्यन्ति मरीचिभिः ।
तेष्वेव वीर्यमागत्य तिष्ठन्त्यप्राप्तबोधिताः ॥ १४ ॥

सूर्यकी किरणों द्वारा चन्द्रमण्डलमें प्रवेश करनेसे धूमादि मार्गमें प्रविष्ट हुई हैं। उन जीवपरम्पराओंका भी लिङ्गदेहप्राप्तिपर्यन्त क्रम पूर्वोक्त ही है ॥ ९ ॥

चन्द्रकलास्वरूपताको प्राप्त हुए वे भी जीवसमूह कल्पवृक्षके फलोंमें रसरूपसे प्रवेश द्वारा उपभोक्ताके वीर्यरूपसे परिणत होकर देवगर्भसे उत्पन्न होते हैं, ऐसा क्रम बतलाते हैं—**'तन्मात्रवति'** इत्यादिसे ।

पूर्ण भगवान् चन्द्रमा जितनी किरणोंसे संसारको प्रकाशित करते हुए उदित होते हैं, चञ्चल, सफेद वर्णकी उतनी किरणोंसे पूर्ण इसलिए क्षीरसागरके स्थानापन्नरूप पूर्वोक्त तन्मात्रास्वरूप लिंगदेहवाले आकाशमें वह जीवपरम्परा स्थित होती है ॥ १० ॥

तदनन्तर उन चन्द्रकिरणोंके नन्दन आदि वनमें गिरनेपर किरणोंके साथ गिर रही वह जीवपरम्परा उस वनमें—जैसे दासी घरके कार्योंमें व्यग्र रहती है वैसे ही व्यग्र हो पक्षीके तुल्य—प्रवेश करती है ॥ ११ ॥

उस वनमें फल चन्द्रमाकी और सूर्यकी किरणोंके लगनेसे अपने रससे क्रमशः वृद्धि और मधुरताको प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त जीवपरम्परा चन्द्रमाकी किरणोंसे गिर कर जैसे बालक दूधसे भरे हुए माताके स्तनोंमें स्थिति करता है वैसे ही रससे भरे हुए उन फलोंमें स्थिति करती है ॥ १३ ॥

वे फलोंकी पङ्क्तियाँ सूर्यकी किरणोंसे पक जायँगी। कश्यप आदिसे उपभुक्त उन्हीं फलोंमें वीर्यताको प्राप्त होकर मूर्च्छितप्राय वे जीवजातियां रहती हैं ॥ १४ ॥

प्रसुप्तवासनाजालाजीवता गर्भपञ्जरम् ।
अधितिष्ठति बीजश्रीः सुप्तपत्रा यथा वटम् ॥ १५ ॥
यथा काष्ठे स्थितश्चाऽग्निर्यथा मृदि घटाः स्थिताः ।
अनेकक्रमयोगेन परागत्य महेश्वरात् ॥ १६ ॥
अदृष्टान्यशरीरश्रीः क्रमते यो न चोदति ।
स हि सत्येव जातिः स्यादुदारव्यवहारवान् ।
तेनैव मोक्षभागी चेज्जन्मना स तु सात्त्विकः ॥ १७ ॥
अथैतां योनिमासाद्य कृत्यां जन्मपरम्पराम् ।
रक्षार्थं प्राप्तजन्मा चेत् तमोराजससात्त्विकः ॥ १८ ॥

जैसे अङ्कुर, शाखा, पत्ते जिसमें आविर्भूत नहीं हुए, ऐसा वट वृक्षका बीज शाखा, अङ्कुर, पत्ते और फलसे युक्त वट वृक्षमें रहता है, जैसे काष्ठमें अग्नि स्थित रहती है और जैसे मिट्टीमें घड़े स्थित रहते हैं वैसे ही जीवता, जिसकी वासनाएँ सुप्त रहती हैं, गर्भरूपी पिंजड़ेमें स्थित रहती है। केवल गर्भमें ही मूर्च्छित जीवपरम्पराओंका अन्यके आश्रय द्वारा तिरोधान नहीं होता, किन्तु प्रलयके समय उपाधिका नाश होनेके कारण प्राप्त हुए अव्यक्तसे निकल कर आकाशरूपमें, लिङ्ग शरीरके आरम्भसमयमें और चन्द्रकिरण आदिमें प्रवेश करनेके समयमें भी तिरोधानसे स्थिति रहती है ॥ १५, १६ ॥

इस प्रकार गर्भमें प्राप्त हुए जीवोंके जन्ममें निमित्तभेद होनेसे विशेषता दर्शाते हैं—'अदृष्टा०' इत्यादिसे ।

पूर्वजन्ममें जिसने स्त्री, पुत्र आदिके शरीरोंकी शोभा नहीं देखी, जो मरनेतक सर्वथा विरक्त होकर रहता है और जो राग आदिसे और बहुतसे कर्मकाण्ड आदि शास्त्रोंसे ऐहिक और पारलौकिक भोगके साधन लौकिक और वैदिक कर्मोंमें प्रेरित होता हुआ भी उनमें प्रवृत्त नहीं होता है, वह श्रेष्ठ पुरुष पूर्वोक्त क्रमसे देवगर्भमें उत्पन्न होता हुआ अत्यन्त सात्त्विक जातिका होकर उस जन्ममें ज्ञान प्राप्त करके उदार जीवन्मुक्तोचित व्यवहारवाला होता है। उसी जन्मसे यदि वह मोक्षभागी हो, तो सात्त्विक कहा जाता है ॥ १७ ॥

देवपदमें अधिकार प्राप्तिके अनुकूल कर्म और उपासना करनेवालोंके जन्ममें विशेष भेद दिखलाते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

इस देवयोनिको प्राप्त करके नष्ट की जा सकनेवाली जन्मपरम्पराका भोग-

पाश्चात्यजन्मना पुंसो राम वक्ष्यामि चाऽधुना ॥ १९ ॥
प्राधान्येन यथा यातः संसारमिति सात्त्विकः ।
स कदाचिन्न कश्चिच्च सम्भवत्यनघाकृते ॥ २० ॥
सम्भवन्तीह पुरुषा राम राजससात्त्विकाः ।
प्रविचार्य समायाता मन्तव्यं चेह तद्धिया ॥ २१ ॥
प्राधान्येन समायाता ये यदा परमात्मनः ।
दुर्लभाः पुरुषा राम ते महागुणशालिनः ॥ २२ ॥

लम्पटतावश उच्छेद न करता हुआ जो अपने अधिकारभोगकी रक्षाके लिए ही जन्म प्राप्त करे, वह तमोयुक्त राजससात्त्विक है।

अब प्रथम दलमें (विध्यनीकमें) उत्पन्न हुए केवल सात्त्विक लोगोंका पुनर्जन्म नहीं होता है, ऐसा कहते हैं—**'पाश्चात्य०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी पुरुषके अन्तिम जन्मसे, जो नर और देवताओंके दलकी (अनीककी) अपेक्षा प्रधान है, अर्थात् प्रजापतिके अधिकारसे संसारमें आया हुआ केवल सात्त्विक विध्यनीक जैसे मुक्त होता है, वैसा इस समय मैं आपसे कहूँगा ।

हे पुण्याकृतिवाले श्रीरामचन्द्रजी, प्रथम दलमें यानी विध्यनीकमें उत्पन्न हुआ पुरुष कोई भी और कभी भी पुनः उत्पन्न नहीं होता है यानी मुक्त ही हो जाता है ॥ १८–२० ॥

तब कौन उत्पन्न होते हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर उन्हें कहते हैं—**'सम्भवन्ति'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, राजस-सात्त्विक पुरुष यहाँपर उत्पन्न होते हैं ।

शङ्का—केवल सात्त्विकके पुनर्जन्म न होनेमें क्या कारण है ?

समाधान—केवल सात्त्विक पुरुष पूर्वजन्ममें भी आत्मतत्त्वका श्रवण, मनन आदि उपायोंसे विचार कर केवल प्रतिबन्धके क्षयके लिए प्रतिबन्धक्षययोग्य जन्मको प्राप्त हुए हैं । इस जन्ममें भी उनकी बुद्धिसे सदा आत्मतत्त्व ही मननीय है, इसलिए उनका पुनर्जन्म नहीं होता है ॥ २१ ॥

अतएव वे दुर्लभ हैं, ऐसा कहते हैं—**'प्राधान्येन'** इत्यादिसे ।

जो जब परमात्मासे नर और सुरके अनीककी अपेक्षा प्रधानतासे प्राप्त हुए हैं, हे श्रीरामचन्द्रजी, वे महागुणशाली पुरुष दुर्लभ हैं ॥ २२ ॥

ये चाऽन्ये विविधा मूढा मूकास्तामसजातयः ।
तेषां स्थावरतुल्यानां किञ्च राम विचार्यते ॥ २३ ॥
कतिपया न गता भवभावनां
नरसुराः प्रकृतक्रमजन्मनि ।
अहमिव प्रविचारणयोग्यता-
मनुगतो ननु राजससात्त्विकः ॥ २४ ॥
स्थितस्य ते महापदा विचार्य यैवमायता ।
विचारय त्वमञ्जसा तदद्य चेह न द्वयम् ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे विचार-पुरुषनिर्णयप्रसंगोपदेशजीवावतारो नाम षष्टितमः सर्गः ॥६०॥

——:❀:——

जो प्रजापति, सुर, और मनुष्यके अनीकसे अन्य राक्षस, पिशाच, पशु-पक्षी आदि हैं, वे पेड़, पत्थरके तुल्य हैं, ज्ञानाधिकारकी चर्चामें उनकी योग्यता ही नहीं है, इसलिए उनका उल्लेख नहीं किया है, ऐसा कहते हैं—'**ये चाऽन्ये**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो और विविध प्रकारके तामस जातिवाले मूढ़, मूक जीव हैं, वे सब स्थावर पेड़, पत्थरोंके समान हैं, उनका क्या विचार किया जाय ? ॥२३॥

तत्त्वज्ञानकी दुर्लभताका ही उपपादन करते हैं—'**कतिपयाः**' इत्यादिसे ।

क्रमसे प्राप्त उत्तम जन्ममें भी कुछ ही नर और सुर सांसारिक भोगरुचिको प्राप्त नहीं हुए हैं, अतः वैराग्य अत्यन्त दुर्लभ है । उन लोगोंमें मेरे तुल्य जन्मसे लेकर शम, दम आदि सब गुणोंकी सम्पत्तिसे खूब आत्मविचारयोग्यताको प्राप्त हुए भी कुछ लोग निरन्तर समाधिसुखमें विघ्नभूत राजकुलपौरोहित्यके कारण कुछ राजसयुक्त सात्त्विक ही हैं, शुद्ध सात्त्विक नहीं हैं । यह शुद्ध सात्त्विकताकी अतिदुर्लभताके सूचनके लिए निरभिमानतावश अतिशयोक्ति है ॥ २४ ॥

मेरे सदृश आप भी वैराग्य, शम, दम आदि सम्पत्तिसे पूर्ण हैं ही, किन्तु परमात्मपदका विचार न करनेसे आपकी इस प्रकारकी संसारभ्रान्तिरूप महापत्ति विस्तीर्ण हुई है । परमात्मपदका यहाँपर मेरे सामने आज ही आप शीघ्र विचार कीजिये । एकमात्र विचार करनेसे आप ही यहाँपर अद्वितीय परमपद हैं ॥ २५ ॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

एकषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ये हि राजससात्त्विक्या जाता भुवि महागुणाः ।
ते नित्यमेव मुदिताः प्रकाशाः ख इवेन्दवः ॥ १ ॥
न खेदमभिगच्छन्ति व्योमभागो मलं यथा ।
नाऽऽपदा म्लानिमायान्ति निशि हेमाम्बुजं यथा ॥ २ ॥
नेहन्ते प्रकृतादन्यत्ते नाऽन्यत्स्थावरो यथा ।
रमन्ते स्वसदाचारैः स्वार्थेभ्यः पादपा यथा ॥ ३ ॥
नित्यमापूर्यतां याति सुधायामिन्दुसुन्दरी ।
राम राजससत्त्वस्य मोक्षमायात्यसौ यथा ॥ ४ ॥

इकसठवाँ सर्ग

[मुक्तिके योग्य राजससात्त्विक लोगोंकी प्रशंसा और उनके विवेक-वैराग्यके क्रमका उपदेश]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो विचरणाकी योग्यताको प्राप्त पुरुष राजससात्त्विकी पूर्वजन्मकी कर्मोपासनासे पृथिवीमें उत्पन्न हुए हैं, वे महागुणशाली पुरुष जैसे आकाशमें चन्द्रमा प्रकाशमान रहते हैं वैसे ही सदा प्रसन्न और प्रकाशमान रहते हैं ॥ १ ॥

जैसे आकाश मेघोंसे की गई मलिनताको प्राप्त नहीं होता वैसे ही वे भी मानसिक दुःखको प्राप्त नहीं होते हैं, जैसे सुवर्णका कमल रात्रिमें म्लान नहीं होता वैसे ही वे शारीरिक दुःखको प्राप्त नहीं होते हैं। जैसे स्थावर वृक्ष आदि प्रारब्ध-भोगसे अतिरिक्त कोई दूसरी चेष्टा नहीं करते हैं वैसे ही वे भी ज्ञान और ज्ञान-साधनोंकी सिद्धिके सिवा अन्य वस्तु नहीं चाहते हैं और जैसे वृक्ष अपने पुष्प, फल आदिसे रमता है वैसे ही वे भी अपने सदाचारोंसे रमते हैं ॥ २,३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, राजससात्त्विक पुरुषकी बुद्धि शान्ति आदि सुधाके बढ़नेपर वृद्धिको प्राप्त हो जाती है, अतएव वह शुक्लपक्षके चन्द्रमाके तुल्य सुन्दर हो जाती है, जिससे वह पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

आपद्यपि न मुञ्चन्ति शशिवच्छीततामिव ।
प्रकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणकान्तया ॥ ५ ॥
नवस्तबकभाविन्या लतयेव वनद्रुमाः ।
समाः समरसाः सौम्याः सततं साधुसाधवः ॥ ६ ॥
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति भवता समाः ।
अतस्तेषां महाबाहो पदमापद्वासनम् ॥ ७ ॥
सततं तत्तु गन्तव्यं गन्तव्यं नाऽऽपदर्णवे ।
तथा तथेह जगति विहर्तव्यमखेदिना ॥ ८ ॥
आत्मोदयाश्च वर्धन्ते यथा राजससात्त्विकाः ।
अचिन्त्यगत्या सच्छास्त्रं विचार्यं च पुनः पुनः ॥ ९ ॥
अनित्यता स्वमनसा विविधैवाऽऽशु भावतः ।
आदावन्ते च यां नित्यं क्रियां त्रैलोक्यवर्तिनीम् ॥ १० ॥

जैसे चन्द्रमा शीतलताका त्याग नहीं करता वैसे ही वे शीतलताके समान स्थित सौम्यताका आपत्तिमें भी त्याग नहीं करते हैं। मैत्री आदि गुणोंसे मनोहर प्रकृतिसे ही वे ऐसे विराजमान रहते हैं जैसे कि नूतन गुच्छोंसे शोभित लतासे वनके वृक्ष शोभित होते हैं। सबपर समान दृष्टि रखनेवाले, एकमात्र परमात्मामें अनुराग रखनेवाले, सदा सौम्य, साधुओंसे भी बढ़कर साधु, समुद्रके तुल्य मर्यादा धारण किये हुए पुरुष आपके तुल्य हैं। इसलिए हे महाबाहो, आपत्तियोंका अनधिकरण उनका जो स्थान है वही गन्तव्य है। आपत्तियोंके सागरमें जाना उचित नहीं है। खेदरहित आपको इस जगत्में वैसे वैसे बर्ताव करना चाहिये जैसे कि रजोगुणरहित सात्त्विक आत्मानन्दलाभ बढ़े एवं मूढ़ोंके विचारणीय विषयोंके परित्याग द्वारा बार-बार सत् शास्त्रोंका विचार करना चाहिये ॥ ५—९ ॥

इस प्रकार भावना करनेवाले पुरुषको अत्यन्त आदरके साथ सब वस्तुओंकी नाना निमित्तोंसे उपपन्न होनेवाली अनित्यताका भी विचार करना चाहिये।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार अनित्यताका विचार कर रहा विशुद्धबुद्धि-वाला पुरुष अज्ञानको बढ़ानेवाले मिथ्याभूत असम्यग्दर्शनका त्याग कर पहले ऐहिक विषयोंके उपभोगके योग्य लौकिक क्रियाकी, मरनेके बाद उपयोगमें आनेवाली पारलौकिक क्रियाकी और उन क्रियाओंके फल, पशु, पुत्र, धन, स्वर्ग,

पदार्थानापदेवाऽऽशु भावयेन्नेतरत् सुधीः ।
असम्यग्दर्शनं त्यक्त्वा व्यर्थमज्ञानसन्ततिम् ॥ ११ ॥
स्मर्तव्यं सम्यगेवेदं ज्ञानमर्थमनन्तकम् ।
कोऽहं कथमिदं जातं संसाराडम्बरं विभो ॥ १२ ॥
प्रविचार्य प्रयत्नेन प्राज्ञेन सह साधुभिः ।
न च कर्मसु मङ्क्तव्यं नाऽनर्थेन सहाऽऽवसेत् ॥ १३ ॥
द्रष्टव्यः सर्वविच्छेदः संसारानुगतः सदा ।
साधुरेवाऽनुगन्तव्यो मयूरेणाऽम्बुदो यथा ॥ १४ ॥
अहङ्कारस्य देहस्य संसारस्याऽऽप्लुवस्य च ।
स्वविचारमलङ्कृत्य सत्यमेवाऽवलोकयेत् ॥ १५ ॥
शरीरमस्थिरमपि सन्त्यक्त्वा घनशोभनम् ।
वीतमुक्तावलीतन्तुं चिन्मात्रमवलोकयेत् ॥ १६ ॥

विमान, अप्सरा आदि पदार्थोंकी, ये आपत्ति ही हैं, ऐसी भावना करे, ये सम्पत्ति हैं, ऐसी कभी भावना न करे ॥ १०, ११ ॥

आगे कहे जानेवाले विचाररूप ज्ञानका—असीम परब्रह्मरूप वस्तुको प्राप्त करनेके लिए साधु सतीर्थ्योंके साथ विधिवत् प्राप्त हुए सेवा आदि प्रयत्न द्वारा प्रसन्न किये हुए गुरुसे हे प्रभो, मैं कौन हूँ, यह संसाराडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ, इत्यादि सविनय प्रश्नपूर्वक विचार कर—स्मरण करना चाहिए । कर्मोंमें निमग्न नहीं होना चाहिये और अनर्थकारी लोगोंके साथ सङ्गति भी नहीं करनी चाहिये ॥ १२, १३ ॥

सब प्रिय वस्तुओंका विच्छेद संसारमात्रके लिए अवश्यम्भावी है, ऐसा सदा विचार करना चाहिये । जैसे मयूर मेघोंका अनुसरण करता है वैसे साधुओंका ही अनुसरण करना चाहिये ॥ १४ ॥

आभ्यन्तर अहंकारके, उससे बाहरी शरीरके, उससे भी बाहरी पुत्र, मित्र आदि संसारके, जो तीन सागरतुल्य हैं, नौकारूप आत्मविचारको पूर्ण करके सत्यका ही अवलोकन करना चाहिये ॥ १५ ॥

सत्यका ही अवलोकन करना चाहिये, ऐसा जो कहा उसमें उपाय कहते हैं—**'शरीरम्'** इत्यादिसे ।

तस्मिन् पदे नित्यतते सर्वगे सर्वभाविते ।
शिवे सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा यथा ॥ १७ ॥
यैव चिद् भुवनाभोगभूषणे व्योम्नि भास्करे ।
धराविवरकोशस्थे सैव चित्कीटकोदरे ॥ १८ ॥
कुम्भव्योम्नां न भेदोऽस्ति यथेह परमार्थतः ।
चितौ शरीरसंस्थानां न भेदोऽस्ति तथाऽनघ ॥ १९ ॥
सर्वेषामेव भूतानां तिक्तकट्वादिभेदिनाम् ।
एकत्वादनुभूतेर्हि कुतश्चिन्मात्रभिन्नता ॥ २० ॥
एकस्मिन्नेव सततं स्थिते सन्मात्रवस्तुनि ।
जातोऽयमयमुन्नष्ट इति तेषां तवेह धीः ॥ २१ ॥

अस्थिर शरीरका और अहंकारका भी त्यागकर अत्यन्त कल्याणकारी, जिसने मोतीकी मालाको व्याप्त कर रक्खा है, ऐसे मोती-मालाके अन्तर्गत सूतके समान सब देह, अहंकार आदिके अन्तर्गत चिन्मात्रका ही अवलोकन करना चाहिए ॥ १६ ॥

उस नित्य विस्तृत, सर्वत्र व्याप्त, सर्वभावित, कल्याणकारी परम पदमें जैसे सूतमें मणिराशियां पिरोई रहती हैं वैसे ही यह सारा जगत् पिरोया हुआ है ॥ १७ ॥

जो चित् विशाल भुवनके, भूषणरूप आकाशमें स्थित सूर्यमें है, वही चित् पृथिवीके विवरके मध्यमें स्थित कीड़ेमें भी है ॥ १८ ॥

हे अनघ, जैसे यहांपर घटाकाश और महाकाशका परमार्थतः भेद नहीं है वैसे ही शरीरमें स्थित जीवोंका भेद नहीं है ॥ १९ ॥

तीता, कड़ुआ आदि रसके भेदको जाननेवाले सभी प्राणियोंकी अनुभूति एक ही होती है, अतः चिन्मात्रमें भेद कैसे ? भाव यह कि जैसे एक पुरुषसे आस्वादनीय तीता, कड़ुआ आदि रसका भेद होनेपर भी उनके अनुभवका भेद नहीं है वैसे ही देहादिका भेद होनेपर भी चिन्मात्रमें भेद नहीं है ॥ २० ॥

चेतनोंमें जैसे चित्का भेद नहीं है, वैसे ही सब वस्तुओंमें तत्स्वरूपका भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'एकस्मिन्'** इत्यादिसे ।

जब कि एकमात्र सद्वस्तु ही सदा स्थित है, तब यह उत्पन्न हुआ, यह

न च तन्नाम वस्त्वस्ति यद् भूत्वा संप्रलीयते ।
आभासमात्रमेवेदं न सन्नाऽसच्च राघव ॥ २२ ॥
उद्भूतेनाऽप्रशान्तेन चेतसा सपदि स्थितम् ।
नेह मोहान्त आमोक्षान्नेदं यत्तदवस्तु च ॥ २३ ॥
किं किलाऽसति रामेह मोहजाले समुज्झति ।
यत्किञ्चित्सङ्गसङ्गत्या विमोहे कारणं हि तत् ॥ २४ ॥

नष्ट हुआ, इस प्रकारकी उत्पत्त्यादिविषयक मूढ़जनसाधारण आपकी बुद्धि शास्त्रीय नहीं है ॥ २१ ॥

तब शास्त्रीय बुद्धि कैसी है ? ऐसा प्रश्न होनेपर उसे कहते हैं—**'न च'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो उत्पन्न होकर विलीन हो जाता है, वह वस्तु नहीं है । यह आभासमात्र है, न यह सत् है और न असत् है ॥ २२ ॥

यह न सत् है और न असत् है, ऐसा जो कहा, उसका उपपादन करते हैं—**'उद्भूतेना०'** इत्यादिसे ।

चूँकि मोक्ष होनेके पहले अभिव्यक्त और अशान्त चित्तसे भली भाँति गृहीत हो रहा यह जगत् अपने स्थितिकालमें विद्यमान है, अतः असत् नहीं है । मोहकी निवृत्ति होनेपर तो मोक्षप्राप्तिसे पहले भी जो यह नहीं ही है तो मोक्षकालमें यह सुतरां नहीं है, अतः सत् भी नहीं है ॥ २३ ॥

ज्ञानकी सार्थकताका विचार करनेपर भी मोह आदिकी सत्ता या असत्ता नहीं कही जा सकती, अतएव इसकी अनिर्वचनीयता ही सिद्ध हुई, ऐसा कहते हैं—**'किं किला०'** इत्यादिसे ।

मोहजाल यदि अत्यन्त असत् है, तो भला बतलाइए, पुरुष ज्ञान द्वारा किसका निरास करेगा ? क्योंकि निरास करने योग्य वस्तुके अभावमें निरासक ज्ञानकी सार्थकता नहीं हो सकती । यदि मोहजाल अत्यन्त सत् है, तो ज्ञानसे किसका त्याग करेगा ? कारण कि ज्ञान सत्य वस्तुका निवर्तक नहीं देखा जाता, इसलिए अनिर्वचनीय अध्यासरूप संगतिसे रज्जुसर्प आदिके समान यह दृश्य समुदाय मोहमें कारण है, ऐसा परिशेषसे सिद्ध होता है ॥ २४ ॥*

असति जगति किं किलेह मोहः
सति च किमङ्ग विमोहकारणं तत् ।
जननमरणसंस्थितिष्वतस्त्वं
भव खमिवाऽतिसमः सदोपशान्तः ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे जननमरणसंस्थितिर्नाम एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

धीरो विचारवान् साक्षादादावेव महाधिया ।
शास्त्रेण विदुषा शास्त्रं सुजनेन विचारयेत् ॥ १ ॥

यदि जगत् असत् है, तो यहाँपर मोह कैसे ? यदि वह सत् है, तो मोहका कारण कैसे ? इसलिए सदा शान्त हुए आप जन्म, मरण और स्थितिरूप संसारमें आकाशके समान समदृष्टि होइए ॥ २५ ॥

एकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

[श्रीरामचन्द्रजीमें शास्त्रोक्त सब गुणोंकी समृद्धिका कथन और अधम पुरुषकी भी सत्सङ्ग और पौरुषसे उत्तम स्थितिका प्रतिपादन]

मूढ़ोंके चिन्तनयोग्य विषयोंके परित्यागसे बार बार सत् शास्त्रका विचार करना चाहिए, ऐसा जो पहले कहा, उसपर कैसे उसका विचार करना चाहिए, ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—'धीरः' इत्यादिसे ।

बाह्य और आभ्यन्तर द्वन्द्वोंको सहनेवाला, ऊहापोहमें कुशल पुरुष स्वयं ही 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः' इत्यादि शास्त्रके अनुसार प्राप्त हुए, तत्त्वज्ञानी और शिष्यके अपराधको सहनेवाले महामति गुरुके साथ शास्त्रका पहले विचार करे ॥ १ ॥

सुजनेन वितृष्णेन विदुषा महता सह ।
प्रविचार्य महायोगात् पदमासाद्यते परम् ॥ २ ॥
शास्त्रार्थसुजनासङ्गवैराग्याभ्याससत्कृतः ।
पुरुषस्त्वमिवाऽऽभाति निजविज्ञानभाजनम् ॥ ३ ॥
त्वमुदारनिजाचारो धीरो गुणगणाकरः ।
अधितिष्ठसि निर्दुःखं वीतसर्गमनोमलः ॥ ४ ॥
नूनमुत्सर्जिताभ्रेण शरद्व्योम्ना समो भवान् ।
भव भावनया युक्तो युक्त उत्तमसंविदा ॥ ५ ॥
चिन्तामुक्तकलावत्या मुक्तकल्पनया स्थितम् ।
मनो मुक्तविभागं च मुक्तमेव न संशयः ॥ ६ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए, विषयतृष्णाशून्य, तत्त्वज्ञानी महापुरुषके साथ शास्त्रका विचारकर मनका नाश करनेवाली समाधिसे परमपद प्राप्त किया जाता है ॥ २ ॥

वेदान्तमें उपयोगी अन्यान्य शास्त्रोंके, सत्कर्म, सदाचार आदिके और सज्जनोंकी सङ्गति, वैराग्य आदिके निरन्तर अभ्याससे संस्कृत हुआ पुरुष प्रत्यक्-तत्त्वविषयक आत्मज्ञानका भाजन होकर आपके समान शोभित होता है ॥ ३ ॥

उक्त गुण आपमें हैं ही, ऐसा कहते हैं—'**त्वम्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप बाह्य और आभ्यन्तर द्वन्द्वोंको सहन करनेवाले, एवं विविध गुणोंके आकर हैं, आपका आचार उत्तम है तथा आपके मनके सभी मल दूर हो गये हैं; अतः आप दुःखरहित परमपदमें स्थित हैं ॥ ४ ॥

अब श्रीरामचन्द्रजीमें ज्ञानसे जीवन्मुक्तताकी सम्भावना करते हुए कहते हैं—'**नूनम्**' इत्यादिसे ।

सचमुच आप जिससे मेघ हट गये हों, ऐसे शरद् ऋतुके आकाशके तुल्य हैं । उत्तम ज्ञानसे युक्त आप भावनासे युक्त होइए ॥ ५ ॥

जीवन्मुक्तताकी सम्भावनामें बीजभूत मुक्त मनका लक्षण कहते हैं—'**चिन्ता०**' इत्यादिसे ।

सब बाह्य पदार्थोंकी चिन्तासे रहित एवं भीतर परमात्माके साथ क्षीर-नीरके तुल्य एकता होनेसे ब्रह्माकारपरिणामरूप कुशलतावाली कल्पनासे, जो मुक्तोंके

तवोत्तमानुभावस्य त इदानीं नरा भुवि ।
चेष्टामनुसरिष्यन्ति रागद्वेषविहीनया ॥ ७ ॥
बहिर्लोकोचिताचारा विहरिष्यन्ति ये जनाः ।
भवार्णवं तरिष्यन्ति धीमन्तः पोतकान्विताः ॥ ८ ॥
तव तुल्यमतिर्यः स्यात् सुजनः समदर्शनः ।
योग्योऽसौ ज्ञानदृष्टीनां मयोक्तानां सुदृष्टिमान् ॥ ९ ॥
यावद्देहं धिया तिष्ठ रागद्वेषविहीनया ।
बहिर्लोकोचिताचारस्त्वन्तस्त्यक्ताखिलैषणः ॥ १० ॥
परां शान्तिमुपागच्छ यथाऽन्ये गुणशालिनः ।
अविचार्यास्त एवेह गोमायुशिशुधर्मकाः ॥ ११ ॥

अनुभवसे सिद्ध है, स्थित और द्वैतरहित मन मुक्त ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ६ ॥

इस प्रकार मुक्त मनवाले आपकी चेष्टाका इस समय संसारमें पूर्वोक्त जीवन्मुक्त पुरुष राग-द्वेषहीन पूर्वोक्त कल्पना द्वारा अनुसरण करेंगे ॥ ७ ॥

जो लोग बाहर लोकोचित आचारवाले होकर विहार करते हैं, ज्ञानरूपी नौकासे युक्त वे बुद्धिमान् पुरुष संसाररूपी सागरको पार करेंगे ॥ ८ ॥

जो सज्जन पुरुष आपके सदृश बुद्धिवाला और समदृष्टि है, वही सुदृष्टि पुरुष मुझसे कही गई ज्ञानदृष्टियोंका भाजन है ॥ ९ ॥

तो क्या जीवन्मुक्त हुआ मैं शरीरका त्याग अथवा यथेष्टाचरण करूँ ? इसपर नहीं, ऐसा कहते हैं—**'यावद्०'** इत्यादिसे ।

जबतक आपका शरीर है, तबतक आप बाहर धर्मशास्त्र और सदाचारके अनुसार आचारवाले और अन्दर सब एषणाओंका त्याग करके राग-द्वेष-हीन बुद्धिसे स्थित रहिए ॥ १० ॥

जैसे और गुणी पुरुष शान्तिको प्राप्त हुए हैं वैसे ही आप परमशान्तिको प्राप्त होइए। जो स्वार्थकुशलतासे दूसरोंको ठगनेवाले श्रृगालसदृश हैं और बच्चोंकी तरह यथेष्ट अचारवाले हैं, वे ही मूढ़ पुरुष विचारयोग्य नहीं हैं ॥ ११ ॥

ये स्वभावा महासत्या नृणां सात्त्विकजन्मनाम् ।
तान् भजन् पुरुषो याति पाश्चात्योदारजन्मताम् ॥ १२ ॥

यानेव सेवते जन्तुरिह जातिगुणान् सदा ।
अथाऽन्यजातिजातोऽपि जातिं भजति तां क्षणात् ॥ १३ ॥

प्राक्तनानखिलान् भावान् यान्ति कर्मवशं गताः ।
पौरुषेणाऽवजीयन्ते धराधरमहाकुलाः ॥ १४ ॥

धैर्येणाऽभ्युद्धरेद् बुद्धिं पङ्कान्मुग्धगवीमिव ।
तामसीं राजसीं चैव जातिमन्यामपि श्रितः ॥ १५ ॥

स्वविवेकवशाद्यान्ति सन्तः सात्त्विकजातिताम् ।
अतश्चित्तमणौ स्वच्छे यद्राघव नियोज्यते ॥ १६ ॥

शुद्ध सात्त्विक जन्मवाले जीवन्मुक्त पुरुषोंके जो स्वाभाविक शम, दम आदि गुण हैं, उनका उपार्जन कर रहा साधारण पुरुष भी क्रमशः ज्ञान प्राप्त करके अन्तिम जीवन्मुक्त शरीरको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

क्योंकि पुरुष जिन्हीं जातिगुणोंका सदा यहाँ सेवन करता है, दूसरी जातिमें उत्पन्न होकर भी वह एक क्षणमें उस जातिको प्राप्त होता है । भाव यह कि उत्कृष्ट जातिके गुणोंका सेवन करनेपर उत्कृष्ट जातिमें जन्म पाता है और अधम जातिके गुणोंका सेवन करनेपर अधम जातिमें जन्म पाता है, यह नियम है ॥ १३ ॥

कर्माधीनताको प्राप्त हुए जीव पूर्वजन्मके सब भावोंको प्राप्त होते हैं, राजाकी सेनाओंको और पर्वतोंके वनोंको क्रमशः नीतिशास्त्रके अनुसार पराक्रमसे और काटने आदिसे लोग जीत लेते हैं, इसलिए अधम पुरुषको भी मोक्षके लिए ही अवश्य प्रयत्न करना चाहिए । जो पुरुष पौरुषसे विरत नहीं होता, उसे फलसिद्धि अवश्य प्राप्त होती है, यह अभिप्राय है ॥ १४ ॥

पुरुष चाहे राक्षस, पिशाच, शूद्र आदि तामसी योनिमें उत्पन्न हुआ हो, चाहे क्षत्रिय, वैश्य आदि राजस योनिको प्राप्त हुआ हो अथवा सत्त्व, तमसे मिश्रित सर्प आदि योनिको प्राप्त हो, उसे कीचड़से भोली-भाली गायकी तरह विषयोंसे बुद्धिका धैर्यके साथ उद्धार करना चाहिए ॥ १५ ॥

पूर्वोक्त बातको ही विस्तारसे कहते हैं—**'स्वविवेक०'** इत्यादिसे ।

तन्मयो विभवत्येवं तस्माद् भवति पौरुषम् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन महार्हगुणशालिनः ॥ १७ ॥
मुमुक्षवो भवन्तीह पाश्चात्यशुभजातयः ।
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा क्वचित् ॥ १८ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन यन्नाऽऽप्नोति गुणान्वितः ।
ब्रह्मचर्येण धैर्येण वीर्यवैराग्यरंहसा ।
युक्त्या युक्तेन हि विना न प्राप्नोषि तदीहितम् ॥ १९ ॥
हितं महासत्त्वतयाऽऽत्मतत्त्वं
विधाय बुद्ध्या भव वीतशोकः ।
तव क्रमेणैव ततो जनोऽयं
मुक्तो भविष्यत्यथ वीतशोकः ॥ २० ॥
पाश्चात्यजन्मनि विवेकमहत्महिम्ना
युक्ते त्वयि प्रसृतसर्वगुणाभिरामे ।

अपने विवेकसे ही सन्त लोग देवता आदि सात्त्विक योनिको प्राप्त होते हैं, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, निर्मल चित्तरूपी मणिमें जिस वस्तुका संसर्ग होता है, वह चित्तरूपी मणि तन्मय हो जाती है, इसलिए पौरुष ही प्रधान है। पौरुष प्रयत्नसे ही बड़े उत्तम गुणोंसे अलङ्कृत मुमुक्षु पुरुष पाश्चात्य यानी जीवन्मुक्त उत्तम शरीरवाले होते हैं। न कोई ऐसी वस्तु पृथ्वीमें है, न स्वर्गमें, न देवताओंमें अथवा न अन्यत्र कहीं है, जिसे गुणवान् पुरुष अपने पौरुष प्रयत्नसे हस्तगत न कर ले। युक्तिके सहित ब्रह्मचर्य, धैर्य, वीर्य और वैराग्यके वेगके बिना आप उस अभीष्ट वस्तुको प्राप्त नहीं कर सकते ॥ १६–१९ ॥

सब प्राणियोंके आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्तिसे उपलक्षित, निरतिशय आनन्द-रूप होनेके कारण अत्यन्त हितकर इस उपदिष्ट आत्मतत्त्वको विशुद्ध सत्त्वगुणोंकी वृद्धिके उपायमें सावधान बुद्धि द्वारा आत्मरूपसे स्थिर करके आप शोकरहित होइए। तदनन्तर आपके द्वारा उपदिष्ट क्रमसे आपके ये और लोग भी मुक्त और शोकरहित हो जायँगे ॥ २० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, विवेककी विपुल-महिमासे युक्त, बढ़े हुए शम, दम

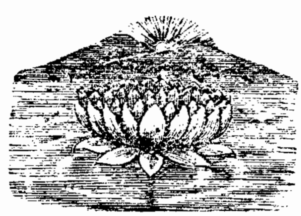
सत्त्वस्थकर्मणि पदं कुरु रामभद्र
मैषा करोतु भवसङ्गविमोहचिन्ता ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते द्वात्रिंशत्साहस्र्यां संहितायां मोक्षोपाये स्थितिप्रकरणे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

आदि गुणोंसे मनोहर इस अन्तिम जीवन्मुक्त शरीरके प्राप्त होनेपर आप जीवन्मुक्त पुरुषोंके सप्तम भूमिकारूप कर्ममें स्थिति कीजिए। यह वैराग्यप्रकरणमें कही गई सब लोगोंमें प्रसिद्ध संसारप्राप्तिसे होनेवाली मोहचिन्ता आपमें स्थित न हो ॥२१॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

पण्डितश्रीकृष्णपन्तशास्त्रिविरचित योगवासिष्ठभाषानुवादमें
स्थितिप्रकरण समाप्त



ॐ

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

योगवासिष्ठ

[भाषानुवादसहित]

उपशमप्रकरणम्

प्रथमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ स्थितिप्रकरणादनन्तरमिदं शृणु ।
उपशमप्रकरणं ज्ञातं निर्वाणकारि यत् ॥ १ ॥

पहला सर्ग

[मध्याह्नकालकी शङ्खध्वनिसे सभाके उत्थानका वर्णन तथा वसिष्ठजीका आह्निककृत्य और रात्रिमें विश्वामित्रजीके साथ स्थिति]

उत्पत्तिप्रकरणमें सृष्टिकी प्रतिपादक सब श्रुतियोंके तात्पर्यको स्पष्ट करनेके लिए सारी प्रपञ्चरचना मनके अधीन ही है, यह दर्शाया। स्थितिप्रकरणमें भी जगत्की स्थितिका प्रतिपादन करनेवाली सब श्रुतियोंके तात्पर्यको दिखलानेके लिए सारी प्रपञ्चस्थिति मनके अधीन ही है, यह दिखलाया। अब 'यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति' (हे गार्ग्य, जैसे अस्त हो रहे सूर्यकी सब किरणें सर्वजनप्रत्यक्ष तेजोराशिरूप तेजोमण्डलमें एकस्वरूपताको प्राप्त होती हैं। फिर वे मरीचियाँ दूसरे दिन सूर्यका उदय होनेपर सब दिशाओंमें संचार करती हैं, वैसे ही सब वागादि इन्द्रियाँ सब व्यवहारोंके कारणभूत अन्तः-करणमें स्वप्नके समय एकताको प्राप्त होती हैं।), 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' (आनन्दभोगके समय सब विशेष विज्ञानके स्वकारणमें लीन होनेपर) 'यत्प्रयन्त्यभि-संविशन्ति' (जिस कारणभूत ब्रह्ममें विनाशके समय मरते हुए भूत प्रवेश करते

वाल्मीकिरुवाच

शरत्तारकिताकाशस्तिमितायां सुसंसदि ।
कथयत्येवमाह्लादि वसिष्ठे पावनं वचः ॥ २ ॥
श्रवणार्थित्वमौनस्थपार्थिवे संसदन्तरे ।
निर्वात इव निस्पन्दकमले कमलाकरे ॥ ३ ॥

हैं), 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय' (जैसे बह रही नदियां अपने नाम और रूपका त्याग करके समुद्रमें लीन हो जाती हैं), 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाम्' (मोक्षके समय ज्ञानीकी प्राण, श्रद्धा, पाँच महाभूत, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोभरूप पन्द्रह कलाएँ अपने कारणमें प्राप्त हो जाती हैं) और 'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (इस द्रष्टाकी ये सोलह कलाएँ, जिनका पुरुष स्थान है, पुरुषको प्राप्त करके यानी पुरुषात्मभावको प्राप्त होकर अस्तको प्राप्त होती हैं ।) सुषुप्ति, प्रलय, समाधि, साक्षात्कार और विदेह कैवल्यमें प्रपञ्चकी निवृत्ति होनेके कारण जीवकी ब्रह्मरूपताप्राप्तिके प्रतिपादन द्वारा प्रत्यक्ब्रह्मैकरस अखण्ड वस्तुकी लक्षक पूर्वोक्त इन श्रुतियोंका भी मनका नाश होनेसे ही सारे प्रपञ्चकी निवृत्ति द्वारा स्वरूपप्रतिष्ठामें तात्पर्य है, इस रहस्यका उद्घाटन करनेके लिए उपशमप्रकरणका आरम्भ कर रहे श्रीवसिष्ठजी पूर्व और उत्तर प्रकरणोंकी संगति दर्शाते हुए विषय और प्रयोजनको दिखलाकर शिष्यको सुननेके लिए सावधान करते हुए कहते हैं— **'अथ'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, दृश्यकी स्थितिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंके तात्पर्यका वर्णन करनेके उपरान्त आप इस उपशम प्रकरणको, जो समझमें आनेसे मोक्षकारी है, सुनिये । यहांपर स्थितिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंके तात्पर्यका वर्णन करनेके पश्चात् उपसंहारबोधक श्रुतियोंके तात्पर्यवर्णनकी अवसरसंगति है । 'ज्ञातं निर्वाणकारि यत्' से पूर्व प्रकरणका प्रयोजन ही इसका भी प्रयोजन है, यों दोनोंकी एककार्यकारिता संगति भी दिखलाई, यह जानना चाहिये ॥ १ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—वत्स भरद्वाज, जब देवता, ऋषि, मुनि, राजा आदिकी सुन्दर सभा शरद् ऋतुमें तारोंसे ठसाठस भरे हुए आकाशके तुल्य निश्चल थी, श्रीवसिष्ठजी इस प्रकार मनको आनन्दमें डुबा देनेवाले पवित्र वचन कह रहे थे,

विलासिनीषु संशान्तमदमोहबलासु च ।
शममन्तः प्रयान्तीषु चिरप्रव्रजितास्विव ॥ ४ ॥
कराम्भोरुहहंसेषु लीनेषु श्रवणादिव ।
मुक्तघुर्घुरवादेषु वायसेषु तराविव ॥ ५ ॥
नासाग्रपरिविश्रान्ततर्जन्यङ्गुलिकोटिषु ।
विचारयत्सु विज्ञानकलां तज्ज्ञेषु राजसु ॥ ६ ॥
रामे विकासमायाते प्रभात इव पङ्कजे ।
परित्यक्ततमःपीठे सूर्योदय इवाऽम्बरे ॥ ७ ॥
आकर्णयति वासिष्ठीर्गिरो दशरथे रसात् ।
कलापिनीव जीमूतनिर्ह्लादान् मुक्तवर्षणात् ॥ ८ ॥
आहृत्य सर्वभोगेभ्यो मनोमर्कटचञ्चलम् ।
श्रवणं प्रति यत्नेन सारेण मन्त्रिणि स्थिते ॥ ९ ॥

वायुरहित अतएव निश्चल कमलवाले कमलोंके तालाबकी नाईं सभाका मध्यभाग वसिष्ठजीके ज्ञानपूर्ण वचन सुननेमें उत्सुकतावश मौन होकर बैठे हुए राजाओंसे पूर्ण था, विलासिनियोंके मद और मोहका बल शान्त हो गया था, वे चिरसंन्यासिनियोंकी तरह अन्तःकरणमें परम शान्तिको प्राप्त हो रही थीं, विलासिनीगणके करकमलोंमें हंस-से मालूम हो रहे चँवर मानो वसिष्ठजीका उपदेश सुन लेनेसे श्रुत अर्थमें समाधि लगाकर लीन हो गये थे, वृक्षकी तरह सभामें पक्षियोंने अपना चह-चहाना बन्द कर दिया था, नासिकाके अग्रभागपर तर्जनी अङ्गुलीके अग्रभागको रखकर विचारवान् राजा गण विज्ञानकलाका विचार रहे थे, प्रातःकालमें कमलकी नाईं श्रीरामचन्द्रजी विकसित हो उठे थे, जब सूर्यके प्रकटकालमें आकाश अन्धकाररूपी आसनका त्याग कर चुका था। (अन्धकार भूमिमें ही घन होता है अतएव ऊपर स्थित आकाशके आसनरूपसे उसकी उत्प्रेक्षा की गई है। भाव यह है कि जैसे गुरुजनोंके आनेपर शिष्य उनका अभ्युत्थान करता हुआ आसनका त्याग करता है वैसे ही सूर्यका उदय होनेपर आकाशने अन्धकाररूपी आसन छोड़ दिया था), महाराज दशरथ जैसे मयूर वृष्टिके कारण हुई आर्द्रतासे मेघका शब्द सुनता है वैसे ही प्रेमार्द्रभावसे श्रीवसिष्ठजीके उपदेशवचन सुन रहे थे, बन्दरकी तरह चञ्चल मनको सब विषयभोगोंसे हटाकर मन्त्री लोग बड़े प्रयत्नके साथ सुननेमें लगे थे,

वसिष्ठोक्त्या परिज्ञातस्वात्मनीन्दुकलामले ।
लक्ष्मणे विलसल्लक्ष्ये शिक्षाबलविचक्षणे ॥ १० ॥
शत्रुघ्ने शत्रुदलने चेतसा पूर्णतां गते ।
अलमानन्दमायाते राकाचन्द्रोपमे स्थिते ॥ ११ ॥
सुमित्रे मित्रतां याते मानसे दुःखशीलिते ।
विकासिहृदये जाते तत्काल इव पङ्कजे ॥ १२ ॥
तत्रस्थेषु तथाऽन्येषु तदा मुनिषु राजसु ।
सुधौतचित्तरत्नेषु प्रोल्लसत्स्विव चेतसा ॥ १३ ॥
उदभूत् पूरयन्नाशाः कल्पाभ्ररवमांसलः ।
अथ मध्याह्नशङ्खानामब्धिघोषसमः स्वनः ॥ १४ ॥
महता तेन शब्देन तिरोधानं मुनेर्गिरः ।
ययुर्जलदनादेन कोकिलध्वनयो यथा ॥ १५ ॥
मुनिरन्तरयाञ्चक्रे स्वां वाचमथ संसदि ।
जितसारो गुणः केन महता समुदीर्यते ॥ १६ ॥

श्रीवसिष्ठजीके उपदेशवचनोंसे लक्ष्मणजीके, जिन्हें आत्मतत्त्वका परिज्ञान हो चुका था तथा जो चन्द्रमाके खण्डके समान निर्मल और शिक्षाबलसे विचक्षण हो गये थे, हृदयमें ब्रह्मका स्फुरण हो रहा था, शत्रुओंका संहार करनेवाले शत्रुघ्नजी चित्तसे पूर्णताको प्राप्त हो चुके थे, पूर्ण आनन्दको प्राप्त वे पौर्णमासीके पूर्ण चन्द्रमाके समान स्थित थे, दुःखी मनके वशीभूत हो जानेपर सुमित्र मन्त्रीका हृदय जैसे मानसरोवरमें दुःखसे चिन्तित सुन्दर सूर्यके उदय द्वारा प्रीतिकर होनेपर प्रातःकालके कमल विकसित हो उठते हैं वैसे ही विकसित हो उठा था ॥२–१२॥

उस समय वहाँपर बैठे हुए अन्यान्य राजा और मुनि, जिनके चित्तरूपी रत्न भली भाँति धुल गये थे, चित्तसे उल्लसित-से हो गये । उस समय दसों दिशाओंको पूर्ण करती हुई, प्रलयकालके मेघके गर्जनके समान तेज और सागरके घोषके तुल्य गम्भीर मध्याह्नकालके शंखोंकी ध्वनि हुई ॥ १३, १४ ॥

उस विशाल शङ्खध्वनिसे मुनिकी उपदेशवाणियाँ ऐसे तिरोहित हुईं जैसे कि मेघके गर्जनसे कोकिलोंकी ध्वनियाँ तिरोहित हो जाती हैं ॥ १५ ॥

तदुपरान्त मुनिने सभामें अपनी उपदेशवाणियोंका उपसंहार किया । जिस गुणका जनोंको आह्लादित करनेवाला अंश अभिभूत हो गया हो, उसे कौन गुणी

उत्तस्थौ सावतंसोत्थभृङ्गमण्डलमण्डिता ।
करिसेनेव सन्ध्याद्रावालोलकरपुष्करा ॥ २३ ॥
परस्पराङ्गसंघट्टचूर्णिताङ्गदमण्डली ।
रत्नपूर्णाऽरुणाम्भोदसन्ध्यासमयसूचनी ॥ २४ ॥
पतदुत्तंसविश्रान्तभृङ्गोपहितघुंघुमा ।
मुकुटोद्दामविद्योतशक्रचापीकृताम्बरा ॥ २५ ॥
कान्तालताहस्तदलचारुचामरमञ्जरी ।
वनलेखेव विक्षुब्धवरवारणमण्डला ॥ २६ ॥
कचत्कटकभारक्तीकृतान्योन्यतताम्बरा ।
वातव्याधूतपुष्पेव मन्दारवनमालिका ॥ २७ ॥

सिरकी मालाओंसे उड़ रहे भँवरोंके दलोंसे अलंकृत वह सभा अस्ताचलमें * चञ्चल सूंड़वाली गजसेनाके सदृश उठी ॥ २३ ॥

एकके शरीरके दूसरेके शरीरके साथ टकरानेके कारण उस सभामें हजारों बाजू-बन्द चूर-चूर हो गये थे, अतएव वह जहाँ तहाँ रत्नोंसे भरी हुई थी, इसलिए उस सभाको देखनेसे लाल मेघोंसे युक्त सन्ध्याका स्मरण हो जाता था ॥ २४ ॥

उड़ रहे और मालाओंसे गुंथे हुए मुकुटोंपर मंडरा रहे भँवरोंने घुंघुम ध्वनिसे उस सभाको गुलजार बना रक्खा था और मुकुटोंपर भाँति-भाँतिके जड़े हुए रत्नोंकी प्रभासे उस सभाने आकाशको इन्द्रधनुष बना डाला था ॥ २५ ॥

कान्तारूपी लताओंके हाथरूपी पल्लवोंमें सुन्दर चँवररूपी मञ्जरीवाली वह सभा क्षुब्ध गजराजोंके मण्डलसे युक्त वनश्रेणीके तुल्य थी यानी जैसे वनश्रेणीमें लताओंके पल्लवोंमें सुन्दर मञ्जरियां सुशोभित होती हैं और उसमें मदोन्मत्त गजराज क्षुब्ध रहते हैं वैसे ही उस सभामें महिलाओंके हाथोंमें चँवर शोभित थे और सभासे उठ रहे लोग ही विक्षुब्ध मत्त गजराज थे ॥ २६ ॥

उस सभाने चमक रही कड़ोंकी कान्तियोंसे सबके वस्त्र लाल कर दिये थे और परस्परके आकर्षणसे फैला दिये गये थे, अतएव वह सभा वायुसे जिसके फूल उड़ाये गये हों, ऐसी मन्दारवनराजिके तुल्य थी ॥ २७ ॥

---

* यहाँके मध्याह्नका समय अस्ताचलके सूर्योदयका समय है, वह हाथियोंके उठनेका समय है, इस आशयसे सन्ध्याद्रौ (अस्ताचलमें) कहा है ।

मुहूर्तमात्रं विश्रम्य श्रुत्वा मध्याह्ननिःस्वनम् ।
घने कोलाहले शान्ते रामं मुनिरुवाच ह ॥ १७ ॥
रामाऽद्यतनमेतावदाह्निकं कथितं मया ।
प्रातरन्यत्तु वक्ष्यामो वक्तव्यमरिमर्दन ॥ १८ ॥
इदं नियतितः प्राप्तं कर्तव्यं तद् द्विजन्मनाम् ।
मध्याह्नमुपपन्नं यत्कर्तव्यं नाऽवसीदति ॥ १९ ॥
त्वमप्युत्तिष्ठ सुभग समस्ताचारसत्क्रियाम् ।
आचराऽऽचारचतुर स्नानदानार्चनादिकाम् ॥ २० ॥
इत्युक्त्वा मुनिरुत्तस्थौ समं दशरथः प्रभुः ।
ससदाः सेन्दुरादित्य उदयाद्रितटादिव ॥ २१ ॥
तयोरुत्तिष्ठतोः सर्वा सभोत्थातुमकम्पत ।
मन्दवातपरामृष्टा नलिनीवाऽलिलोचना ॥ २२ ॥

पुरुष प्रकट करेगा ! भाव यह है कि मध्याह्नकालीन शङ्खोंकी ध्वनिसे लोगोंका मन चञ्चल हो उठा था, अतएव उन्होंने अपने उपदेशवचनोंमें लोगोंकी एकाग्रता न देखकर उसका उपसंहार किया ॥ १६ ॥

मध्याह्नकालकी शङ्खध्वनि सुन कर मुहूर्त भर विश्राम करके घन कोलाहलके शान्त होनेपर श्रीवसिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, आजका इतना ही आह्निक मैंने कहा, हे शत्रुतापन, शेष वक्तव्य कल प्रातःकाल कहूँगा ॥१७,१८॥

मध्याह्न समयमें करने योग्य द्विजातियोंका नियमतः प्राप्त कर्तव्य कर्म नष्ट न हो; इसलिए उसका अनुष्ठान मुझे भी करना चाहिए ॥ १९ ॥

हे सुन्दर, आप भी उठिए। हे आचारचतुर, स्नान, दान, अर्चन, पूजन आदिरूप सब सत्क्रियाओंका अनुष्ठान कीजिए ॥ २० ॥

ऐसा कहकर मुनिजी उठे। जैसे उदयाचलके शिखरसे चन्द्रमाके साथ सूर्य उदित हों, वैसे ही मुनिजीके साथ महाराज दशरथ सभासहित उठे ॥ २१ ॥

उन दोनोंके उठनेपर मन्द मन्द वायुसे कम्पित भँवररूपी नेत्रवाली नलिनीके (कमलोंके तालाबके) समान भँवरोंके तुल्य सुन्दर नयनवाली वह सारी सभा उठनेके लिए चञ्चल हुई ॥ २२ ॥

कर्पूरकणनीहाररचितामलवारिदा ।
शरद्दिक्तटमालेव प्रसृताशेषभूमिका ॥ २८ ॥
लोलमौलिमणिप्रान्तपाटलाम्बरकोटरा ।
सन्ध्येवाऽफुल्लनीलाब्जा कार्यसंहारकारिणी ॥ २९ ॥
रत्नांशुसलिलापूरमुखपद्मनिरन्तरा ।
पद्मिनीवाऽलिवलिता नूपुरारवसारसा ॥ ३० ॥
संतता सा सभोत्तस्थौ भूभृच्छतसमाकुला ।
भूतसंततिसंभ्रान्ता सृष्टिर्नवमिवोदिता ॥ ३१ ॥
प्रणम्याऽथ नृपं भूपा निर्ययुर्नृपमन्दिरात् ।
शक्रचापीकृता रत्नैरम्बुधेरिव वीचयः ॥ ३२ ॥

उस सभाने इधर-उधर उड़ रहे कपूरके चूर्णसे और उसके सदृश हिमकणोंसे सफेद मेघ बना रक्खे थे, अतएव वह जिसकी सारीकी सारी भूमि हिम, काश और फूल आदिसे व्याप्त हो, ऐसी शरत्कालके दिक्तटोंकी पङ्क्तिके सदृश थी ॥ २८ ॥

चञ्चल मस्तकमणियोंके अग्रभागसे उस सभाके आकाशका मध्यभाग लाल हो गया था, अतएव वह जिसमें नीलकमल खिले न हों तथा दिनके कार्योंका उपसंहार करनेवाली सन्ध्याके तुल्य थी ॥ २९ ॥

रत्नोंके किरणरूपी जलप्रवाहमें मुखरूपी कमलोंसे ठसा-ठस भरी हुई नूपुरोंकी ध्वनिरूपी सारसवाली और भँवरोंसे व्याप्त वह सभा कमलिनीके (कमलके तालाबके) सदृश थी । उसमें मणियोंकी किरणें ही जलप्रवाहके स्थानापन्न थीं, लोगोंके मुंह ही पद्मस्थानीय थे, नूपुरोंकी ध्वनियोंने ही सारसोंका स्थान लिया था और भंवर भी फूलोंकी मालाओंमें मंडरा रहे थे; अतएव वह कमलिनीके तुल्य थी ॥ ३० ॥

सैकड़ों राजाओंसे व्याप्त, विस्तृत वह सभा सैकड़ों पर्वतोंसे व्याप्त और प्राणियोंकी परम्पराओंसे पूर्ण नूतन उत्पन्न हुई सृष्टिके समान थी ॥ ३१ ॥

तदनन्तर मणियों द्वारा इन्द्रधनुषके तुल्य बनाए गये राजा लोग राजा दशरथको प्रणाम कर जैसे मणियों द्वारा इन्द्रधनुषके तुल्य बनाई गई तरङ्गें सागरसे निकलती हैं वैसे ही राजमन्दिरसे निकले ॥ ३२ ॥

सुमन्त्रो मन्त्रिणश्चैव वसिष्ठमथ भूमिपम् ।
प्रणम्य जग्मुः स्नानाय रसविज्ञानकोविदाः ॥ ३३ ॥
वामदेवादयश्चाऽन्ये विश्वामित्रादयस्तथा ।
वसिष्ठं पुरतः कृत्वा तस्थुरावर्जनोन्मुखाः ॥ ३४ ॥
राजा दशरथस्तत्र पूजयित्वा मुनिव्रजम् ।
तद्विसृष्टो जगामाऽथ स्वकार्यार्थमरिन्दमः ॥ ३५ ॥
वनं वनास्पदा जग्मुर्व्योम व्योमनिवासिनः ।
नगरं नागराश्चैव प्रातरागमनाय ते ॥ ३६ ॥
महीपतिवसिष्ठाभ्यां प्रणयात् प्रार्थितः प्रभुः ।
वसिष्ठसद्मनि निशां विश्वामित्रोऽत्यवाहयत् ॥ ३७ ॥
वसिष्ठः सह विप्रेन्द्रैः पार्थिवैर्मुनिभिस्तथा ।
उपास्यमानो रामाद्यैः सर्वैर्दशरथात्मजैः ॥ ३८ ॥
जगाम स्वाश्रमं श्रीमान् सर्वलोकनमस्कृतः ।
अनुयातः सुरौघेन ब्रह्मलोकमिवाऽब्जजः ॥ ३९ ॥

सुमन्त्र और अन्यान्य मन्त्री, जो ब्रह्मरस और जलके विहारज्ञानमें बड़े निपुण थे, श्रीवसिष्ठजी और राजा दशरथको प्रणाम कर स्नान करनेके लिए गये । वामदेव आदि और विश्वामित्र आदि अन्यान्य ऋषिगण श्रीवसिष्ठजीको आगे करके अनुज्ञाकी प्रतीक्षामें खड़े रहे ॥ ३३, ३४ ॥

तदनन्तर वहांपर शत्रुतापन राजा दशरथ मुनियोंकी पूजा करके मुनियोंसे आज्ञा पाकर अपने कार्यके लिए गये ॥ ३५ ॥

प्रातःकाल फिर आनेके लिए वानप्रस्थ लोग वनको गये, गन्धर्व आदि व्योमचारी आकाशको गये और नागरिक लोग नगरको गये ॥ ३६ ॥

राजा दशरथ और वसिष्ठजीके बड़े विनयसे प्रार्थना करनेपर भगवान् श्रीविश्वामित्रजीने श्रीवसिष्ठजीके वासस्थानपर रात बिताई ॥ ३७ ॥

जैसे देवताओंके समूहसे अनुगत सर्वलोकनमस्कृत भगवान् ब्रह्मा ब्रह्म-लोकको जाते हैं, वैसे ही सब ब्राह्मणश्रेष्ठों, राजाओं, और मुनियोंके साथ राम आदि दशरथके सब पुत्रों द्वारा उपासित श्रीवसिष्ठजी अपने आश्रमको गये ॥ ३८, ३९ ॥

तस्मात् प्रदेशाद् रामादीन् पुनर्दशरथात्मजान् ।
सर्वान् विसर्जयामास पादोपान्ते नतानसौ ॥ ४० ॥

नभश्चरान् धरणिचरानधश्चरान्
विसृज्य संस्तुतगुणगोचरांश्च तान् ।
यथाक्रमं स्वगृहमुदारसत्त्ववां-
श्चकार तां द्विजजनवासरक्रियाम् ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे आह्निकवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

ते समेत्य गृहं गत्वा राजपुत्राः शशित्विषः ।
चक्रुः सर्वमशेषेण स्वसद्मसु दिनक्रमम् ॥ १ ॥

तदुपरान्त अपने आश्रमस्थानसे उन्होंने अपने चरणोंपर गिरे हुए राम आदि सब दशरथपुत्रोंको बिदा किया ॥ ४० ॥

आकाशमें रहनेवाले, भूमिमें रहनेवाले और पातालमें रहनेवाले उन सबको, जो कि उत्तम-उत्तम गुणोंसे अलङ्कृत थे, यथायोग्य बिदा करके अपने घरमें प्रवेश कर उदारचरित श्रीवसिष्ठजीने द्विजातियोंकी दिवसोचित पञ्चयज्ञ-क्रिया की ॥ ४१ ॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

[आह्निक कर्मानुष्ठान, श्रीरामचन्द्रजीका सुनी हुई वार्ताओंका चिन्तन तथा सुने हुए पदार्थोंमें स्थिरताके लिए बुद्धि आदिकी प्रार्थना करना]

चन्द्रमाके तुल्य कान्तिवाले उन राजपुत्रोंने साथ-साथ घर जाकर अपने-अपने भवनोंमें भली भाँति आह्निक कार्य किया ॥ १ ॥

वसिष्ठो राघवश्चैव राजानो मुनयो द्विजाः ।
इति चक्रुः स्वकार्याणि तथा स्वगृहवीथिषु ॥ २ ॥

सस्नुः कमलकह्लारकुमुदोत्पलहारिषु ।
जलाशयेषु चक्राह्वहंससारसराजिषु ॥ ३ ॥

गोभूतिलहिरण्यानि शयनान्यासनानि च ।
ददुर्दानानि विप्रेभ्यो भाजनान्यंशुकानि च ॥ ४ ॥

हेमरत्नविचित्रेषु स्वेषु चाऽमरसद्मसु ।
आनर्चुरच्युतेशानहुताशार्कादिकान् सुरान् ॥ ५ ॥

पुत्रपौत्रसुहृद्भृत्यबन्धुमित्रगणैः सह ।
तत आस्वादयामासुर्भोजनान्युचितानि वै ॥ ६ ॥

एतस्मिन् समये चाऽस्मिन्नगरे दिवसोऽभवत् ।
तनुरष्टाङ्गशेषत्वाद् दृष्टो ननु मनोहरः ॥ ७ ॥

सायन्तनदिनान्तं ते तत्कालोचितचेष्टया ।
अनयन्नंशुभिः सार्धं यावदस्तं ययौ रविः ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजी, श्रीरामचन्द्रजी, अन्यान्य राजाओं, मुनियों और द्विजातियोंने अपने घरोंमें, गलियोंमें और बाहर करने योग्य अपने-अपने कार्य निम्नलिखित रीतिसे किये ॥ २ ॥

कमल, कह्लार, कुमुद तथा उत्पलोंसे मनोहर और चक्रवाक, हंस तथा सारसोंकी पङ्क्तियोंसे युक्त जलाशयोंमें उन लोगोंने स्नान किया । गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, शय्या, आसन, वस्त्र, बर्तन आदिका दान ब्राह्मणोंको दिया । सुवर्ण और मणियोंसे अद्भुत देवालयोंमें और अपने घरोंमें विष्णु, शङ्कर, अग्नि, सूर्य आदि देवताओंकी पूजा की ॥ ३–५ ॥

तदनन्तर इन लोगोंने पुत्र, पौत्र, सखा, भृत्य और बन्धु-बान्धवोंके साथ अपने अनुरूप भोजन किया । इस समय इस नगरमें केवल अष्टम भाग शेष रहनेसे दिन सूक्ष्म हो गया था, अतएव वह देखनेमें अच्छा मालूम पड़ता था । सायंकालतकका समय उन्होंने तबतक उस समयके उचित पुराण, धर्मशास्त्रके अवलोकन आदि कर्मसे बिताया, जबतक कि भगवान् सूर्य अपनी किरणोंके साथ अस्त नहीं हो गये ॥ ६–८ ॥

सन्ध्यां ववन्दिरे सुष्ठु जेपुश्चैवाऽघमर्षणम् ।
पेठुः स्तोत्राणि पुण्यानि जगुर्गाथा मनोहराः ॥ ९ ॥
ततश्चाऽभ्युदिता श्यामा कामिनीशोकहारिणी ।
क्षीरोदादिव माहेन्द्री चन्द्रावश्यायदायिनी ॥ १० ॥
शनैरास्तीर्णपुष्पेषु कीर्णकर्पूरमुष्टिषु ।
दीर्घेन्दुबिम्बरम्येषु तस्थुस्तल्पेषु राघवाः ॥ ११ ॥
अथ रामादृतेऽन्येषां तत्र तद्व्यवहारिणी ।
व्यतीयाय शनैः श्यामा मुहूर्त इव शोभना ॥ १२ ॥
तस्थौ रामस्तु तामेव वासिष्ठीं वचनावलीम् ।
चिन्तयन् मधुरोदारां करिणीं कलभो यथा ॥ १३ ॥
किमिदं नाम संसारभ्रमणं किमिमे जनाः ।
भूतानि च विचित्राणि किमायान्ति प्रयान्ति किम् ॥१४॥
मनसः कीदृशं रूपं कथं चैतत् प्रशाम्यति ।
मायेयं सा किमुत्था स्यात्कथं चैव निवर्तते ॥ १५ ॥

तदनन्तर उन्होंने भली भाँति सन्ध्यावन्दन किया, अघमर्षण मन्त्रोंका जप किया, पवित्र स्तोत्र पढ़े और मनोहर गाथाएँ गाईं ॥ ९ ॥

तदुपरान्त कान्तके संगमसे कामिनियोंके शोकका नाश करनेवाली तथा चन्द्रमा और तुषारको देनेवाली रात्रि चन्द्रमा और तुषारको देनेवाली तथा क्षीरसागरसे प्रकट हुई पूर्व दिशाके तुल्य आविर्भूत हुई ॥ १० ॥

धीरे-धीरे श्रीरामचन्द्रजी आदि राजकुमार दीर्घ चन्द्रबिम्बके समान रमणीय विस्तरोंपर, जो फूलोंसे भरे थे और कपूरका चूर्ण जिनपर मुट्ठियोंसे बखेरा था, सोये ॥११॥

तदुपरान्त श्रीरामचन्द्रजीको छोड़कर और लोगोंकी उस समयके उचित विषयभोग, निद्रा आदि व्यवहारवाली वह मनोहर रात्रि विस्तरोंपर मुहूर्तके समान धीरे-धीरे बीत गई । किन्तु श्रीरामचन्द्रजी जैसे हाथीका बच्चा अपनी माताका चिन्तन करता है वैसे ही श्रीवसिष्ठजीकी पूर्वोक्त उदार और मधुर उपदेशवाणीका चिन्तन करते हुए बैठे रहे । यह संसारभ्रमण क्या वस्तु है, ये लोग क्या हैं, ये विचित्र भूत क्यों आते हैं और क्यों जाते हैं, मनका स्वरूप कैसा है, कैसे वह निवृत्त होता है, यह माया कहाँसे आविर्भूत हुई है और कैसे यह निवृत्त होती है ? ॥ १२–१५ ॥

निवृत्तयाऽनया कः स्याद्गुणो दोषोऽथवा भवेत् ।
कथमात्मनि चैवाऽयं तते सङ्कोच आगतः ॥ १६ ॥
किमुक्तं स्याद् भगवता मुनिना मनसः क्षये ।
किञ्चेन्द्रियजये प्रोक्तं किमुक्तमथवाऽऽत्मनि ॥ १७ ॥
जीवश्चित्तं मनो मायेत्येवमादिभिराततैः ।
रूपैरात्मैव संसारं तनोतीममसन्मयम् ॥ १८ ॥
एभिरेवं मनोमात्रतन्तुबद्धैः क्षयं गतैः ।
दुःखोपशान्तिरेतानि सुचिकित्स्यानि नः कथम् ॥१९॥
भोगाभ्रमालावलयां धीबलाकामिमां कथम् ॥
पृथक्करोमि पयसो धारां हंस इवाऽम्भसः ॥ २० ॥
भोगास्त्यक्तुं न शक्यन्ते तत्त्यागेन विना वयम् ।
प्रभवामो न विपदामहो सङ्कटमागतम् ॥ २१ ॥

इस मायाके निवृत्त होनेसे क्या गुण होता है ? अथवा सम्पूर्ण भोग्य, भोक्ता और भोगकी निवृत्ति होनेसे पुरुषार्थविघातरूप दोष होता है ? आकाशसे भी विस्तीर्ण आत्मामें यह संकोच (परिच्छेद) कहाँसे आया ? ॥ १६ ॥

भगवान् श्रीवसिष्ठजीने मनके क्षयके लिए क्या साधन और फल कहा है और इन्द्रियोंपर विजय पानेके लिए क्या साधन और फल कहा है अथवा आत्माके विज्ञात होनेपर क्या कहा है ? ॥ १७ ॥

जीव, चित्, मन, माया इत्यादि फैले हुए रूपोंसे आत्मा ही इस मिथ्याभूत संसारका विस्तार करता है एवं एकमात्र मनरूपी तन्तुमें बंधे हुए इनका क्षय होनेसे दुःखनिवृत्ति सिद्ध होती है। मायारूप ये सब हम लोगोंके द्वारा कैसे भली भाँति चिकित्सायोग्य होंगे ? ॥ १८, १९ ॥

विषयरूपी मेघोंका (विषय ही संसाररूपसे घन बन कर चित्ताकाशको आवृत करनेके और दुःखोंकी हजारों धाराओंको वर्षानेके कारण मेघके सदृश हुए) अनुसरण कर मालाके समान घेरनेवाली अपनी बुद्धिवृत्तिरूपी इस बकपङ्क्तिको जैसे हंस जलसे दूधका भाग अलग कर देता है वैसे ही मैं कैसे पृथक् करूँ ? ॥ २० ॥

यदि कोई शङ्का करे, विचारसे क्या प्रयोजन है, भोगोंका ही त्याग कीजिये, तो इसपर कहते हैं—'**भोगाः**' इत्यादिसे ।

मनोमात्रमिदं प्राप्यं तच्चैवेदं प्रयोजनम् ।
संपन्नं नो गिरिगुरु मौर्ख्याद् यक्षः शिशोरिव ॥ २२ ॥
परमां शान्तिमागत्य गतसंसारसंभ्रमा ।
बालेव लब्धदयिता कश्चित्प्राप्स्यति नो मतिः ॥ २३ ॥
कदोपशान्तसंरम्भं विगताशेषकौतुकम् ।
अपापमात्मविश्रान्तं मम स्यात् पावनं मनः ॥ २४ ॥

भोगोंका त्याग नहीं किया जा सकता और उनके त्यागके बिना हम विपत्तिओंसे निस्तार नहीं पा सकते, अहो यह बड़ा संकट आया । भाव यह है कि सर्वथा भोगोंका त्याग करनेसे जीवन ही नहीं रह सकता । जीवनके लिए थोड़ा भी यदि भोगका उपादान किया जाय, तो वासनावृद्धिका सङ्कट आ गया ॥ २१ ॥

दूसरा सङ्कट भी कहते हैं—**'मनोमात्रम्'** इत्यादिसे ।

इस अवश्यप्राप्तव्य आत्मतत्त्वमें मन ही प्रमाण है और यह बाहरी विषय-समुदाय ही जिसकी सिद्धिमें कारण और पुरुषार्थभूत है, ऐसा हमारा मन अपनी मूर्खतावश पहाड़से भी बढ़-चढ़कर भारी बन गया है । जैसे कि बालक द्वारा मूर्खतासे कल्पित यक्ष पहाड़के समान भारी हो जाता है । भाव यह है कि मनकी सिद्धि विषयोंके अधीन है अतएव विषयोंसे मनको निवृत्त करना संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे उसकी निःस्वरूपतापत्ति हो जायगी । विषयोंसे उसकी निवृत्ति किये बिना तत्त्वसाक्षात्कारमें वह प्रमाण नहीं बनाया जा सकता, यह दूसरा सङ्कट है ॥ २२ ॥

यदि सब विषयोंकी निवृत्ति होनेपर भी एकमात्र ब्रह्माकारताका अवलम्बन करके वासनारहित मनको स्थापित किया जा सके, तो अभिलषितसिद्धि हो सकती है, ऐसा विचार करते हुए कहते हैं—**'परमाम्'** इत्यादिसे ।

जिस युवतीने अपने पतिको पा लिया, वह फिर दूसरेका स्मरण नहीं करती वैसे ही संसारभ्रमसे रहित ब्रह्माकारताको प्राप्त हुई हमारी मति परम शान्तिको प्राप्त करके दूसरे किसीका स्मरण नहीं करेगी ॥ २३ ॥

उस दशाको प्राप्त करनेके लिए उत्कण्ठा करते हैं—**'कदा'** इत्यादिसे ।

कब मेरा मन क्रोधरहित, सम्पूर्ण अभिलाषाओंसे शून्य, पापहीन, पवित्र और परमात्मामें विश्रान्त होगा ? ॥ २४ ॥

कलाकलापसम्पूर्णाच्छशाङ्कादपि शीतले ।
पदे सुरूढं विश्रम्य भ्रमिष्यामि कदा जगत् ॥ २५ ॥
कलनापेलवं रूपमुत्सृज्याऽऽलीनमात्मनि ।
कदैष्यति मनः शान्तिमम्भसीव तरङ्गकः ॥ २६ ॥
तृष्णातरङ्गाकुलितमाशामकरमालिनम् ।
कदा संसारजलधिं तीर्त्वा स्यामहमज्वरः ॥ २७ ॥
कदोपशमशुद्धासु पदवीषु विचक्षणाः ।
मुमुक्षूणां निवत्स्यामो निःशोकं समदर्शनाः ॥ २८ ॥
सन्तापितसमस्ताङ्गः सर्वधातुभयङ्करः ।
संसृतिज्वर आदीर्घः कदा नाशमुपैष्यति ॥ २९ ॥
निर्वातदीपलेखेव कदा चित्तं गतव्यथम् ।
शममेष्यति हे बुद्धे सुप्रकाशघनान्तरम् ॥ ३० ॥
कदेन्द्रियाणि दुःखेभ्यः सन्तरिष्यन्ति हेलया ।
दुरीहादग्धदेहानि गरुत्मन्त इवाऽर्णवान् ॥ ३१ ॥

सोलह कलाओंसे सम्पूर्ण चन्द्रमासे भी शीतल परम पदमें सप्तमभूमिका-पर्यन्त भली भाँति विश्राम कर (जीवन्मुक्तिसुखको प्राप्त कर) मैं कब जगत्में भ्रमण करूँगा ॥ २५ ॥

जैसे जलमें छोटी तरङ्ग विलीन हो जाती है वैसे ही कल्पित असत्यरूपका त्यागकर आत्मामें लीन हुआ मन कब शान्तिको प्राप्त होगा ? ॥ २६ ॥

तृष्णारूपी तरङ्गोंसे अशान्त, आशारूपी मगरोंसे भरे हुए संसारसागरको तैरकर मैं कब सन्तापरहित होऊँगा ? ॥ २७ ॥

ज्ञानी और समदृष्टि होकर मैं उपशमसे शुद्ध, मुमुक्षुओंको प्राप्त होने योग्य पदोंमें शोकरहित होकर कब निवास करूँगा ? ॥ २८ ॥

मेरा बड़ा भारी संसाररूपी ज्वर, जिसने मेरे सब अङ्गोंको संतप्त कर रक्खा है एवं धातुओंके क्षयसे जो भयङ्कर है, कब नष्ट होगा ? ॥ २९ ॥

हे बुद्धे, व्यथारहित और तेज प्रकाशसे परिपूर्ण मेरा चित्त निर्वात स्थानमें रक्खे हुए दीपककी शिखाके समान कब शान्तिको प्राप्त होगा ? ॥ ३० ॥

गरुड़ जैसे सागरको अनायास पार कर जाते हैं, वैसे ही मेरी इन्द्रियाँ

अयं सोऽहं रुदन्मूढ इति व्यर्थाहितो भ्रमः ।
शरदीवाऽसितो मेघः कदा नाशमुपैष्यति ॥ ३२ ॥
मन्दारवनलेखासु या मतिः सा तृणायते ।
याचे तत्पदमात्मीयं संप्राप्स्यामः कदा वयम् ॥ ३३ ॥
वीतरागजनप्रोक्ता निर्मला ज्ञानदृष्टयः ।
कच्चित्पदं त्वयि मनः करिष्यन्तीति मे वद ॥ ३४ ॥
हा तात मातः पुत्रेति गिरामासामहं पुनः ।
भाजनं चित्त मा भूवं भोजनं दुःखभोगिनाम् ॥ ३५ ॥
हे बुद्धे भगिनि भ्रातुरर्थितां पूरयाऽऽशु मे ।
आवयोर्दुःखमोक्षाय विचारय मुनेर्गिरः ॥ ३६ ॥

विषयोंकी अवहेलनासे दुःखोंको दूर करनेके लिए दुष्ट अभिलाषसे होनेवाले विविध भावी शरीरोंको कब पार कर जायँगी ? ॥ ३१ ॥

पशु, पुत्र, धन, अन्न, पान आदिकी अप्राप्ति और वियोगसे रो रहे मुझ मूढ़में रोदनका कारणभूत यह देह ही वह प्रसिद्ध आत्मा मैं हूँ, इस प्रकारका पूर्व-पूर्व देहोंकी वासना और काम-कर्मपरम्परासे उत्पन्न व्यर्थ भ्रम प्रबोधरूप विमलताकी प्राप्ति होनेपर शरत्कालमें मेघकी तरह कब नाशको प्राप्त होगा ? ॥३२॥

उत्कट मोक्षेच्छासे स्वर्ग भी मुझे तृणके समान मालूम पड़ता है, ऐसा कहते हैं—**'मन्दार०'** इत्यादिसे ।

नन्दनवनमें जो सुखानुभव है, वह जिस परमपदमें तृणके तुल्य नगण्य है, उस आत्मीय परम पदको मैं चाहता हूँ, उसको मैं कब प्राप्त होऊँगा ? ॥ ३३ ॥

अब विवेकग्रहणके लिए मन आदिकी प्रार्थना करते हैं—**'वीतराग०'** इत्यादिसे ।

हे मन, कहो तो सही, वीतराग पुरुषों द्वारा उपदिष्ट निर्मल ज्ञानदृष्टियाँ क्या तुममें स्थिति करेंगी ? ॥ ३४ ॥

हे चित्त, मैं दुःखरूपी अजगरोंका भोजन होकर हा तात, हा मातः, हा पुत्र—इन रोदनोंका भाजन फिर न होऊँ ॥ ३५ ॥

हे बुद्धे, हे बहन * मैं तुम्हारा भाई हूँ, मेरी प्रार्थनाको तुम जल्द पूरी करो ।

* जीव और बुद्धि एक अविद्याके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिए बुद्धिको भगिनी कहा और अपनेको भाई कहा ।

त्वां पादपतितः प्रीत्या याचे सति सुते मते ।
तेन भव्ये भवोच्छेदभूतये सुस्थिरा भव ॥ ३७ ॥
वसिष्ठमुनिना प्रोक्ता विरक्ताः प्रथमं गिरः ।
ततो मुमुक्षोराचार उत्पत्तीनां क्रमस्ततः ॥ ३८ ॥
ततः स्थितिप्रकरणं समं दृष्टान्तसुन्दरम् ।
विज्ञानगर्भसुलभं यथावत् स्मर हे मते ॥ ३९ ॥
कृतमति शतशो विचारितं यद्
यदि तदुपैति न मानसस्य बुद्धिः ।
भवति तदफलं शरद्घनाभं
सततमतो मतिरेव कार्यसारः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे उपदेशानुवर्णनं नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

——:*:——

हम दोनोंके दुःखसे छुटकारा पानेके लिए मुनिजीकी उपदेशवाणियोंका चिन्तन करो ॥ ३६ ॥

हे साध्वि, हे पुत्रि, * हे सन्मते, हे भव्ये, तुम्हारे पैर पड़कर प्रेमसे मैं प्रार्थना करता हूँ । मेरी प्रार्थनासे संसारके उच्छेदसे उपलक्षित पूणताकी प्राप्तिके लिए तुम खूब सावधान होओ ॥ ३७ ॥

इस प्रकार प्रार्थना द्वारा सावधान की गई बुद्धिको वैराग्य-प्रकरण आदि चार प्रकरणोंके अर्थके स्मरणमें क्रमशः नियुक्त करते हैं—**'वसिष्ठ०'** इत्यादिसे ।

हे मते, श्रीवसिष्ठ मुनि द्वारा मेरे मुखसे कहलाई गई और स्वयं कही गई वैराग्यवाणियोंका, तदनन्तर मुमुक्षुओंके आचारका, तदनन्तर उत्पत्तियोंके क्रमका, तदनन्तर दृष्टान्तोंसे सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उपाख्यानोंसे सुबोध इस स्थिति-प्रकरणका तुम भली भाँति स्मरण करो ॥ ३८, ३९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि मनकी पहले प्रार्थना की गई है, उसीसे चारों प्रकरणोंके अर्थके अवधारणकी सिद्धि हो गई, फिर उससे पृथक् मतिकी क्यों प्रार्थना की जाती है ? तो इसपर कहते हैं—**'कृतमति'** इत्यादिसे ।

* शास्त्राभ्यास और सज्जनोंके अनुग्रहसे पीछे उत्पन्न होनेके कारण सन्मतिको पुत्री कहा ।

तृतीयः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

तस्यैवंप्रायया तत्र ततयोदारचिन्तया ।
सा व्यतीयाय रजनी पद्मस्येवाऽर्ककाङ्क्षिणः ॥ १ ॥
किञ्चित्तमःकडारासु किञ्चिदप्यरुणासु च ।
नभोविरलतारासु दिक्षु सम्मार्जितास्विव ॥ २ ॥
प्रभाततूर्यघोषेण सममिन्दुसमाननः ।
उत्तस्थौ राघवः श्रीमान् पद्मः पद्माकरादिव ॥ ३ ॥
प्रातःस्नानविधिं कृत्वा सम्पाद्य भ्रातृभिः पुनः ।
प्रहिताल्पपरीवारो वसिष्ठसदनं ययौ ॥ ४ ॥

मनसे सैकड़ों बार जो वस्तु विचारित होती है, उसे यदि बुद्धि स्वीकार न करे, तो वह भली भाँति विचारित हुई भी शरत्कालके मेघके समान स्थिर नहीं रहती, अतः श्रवण द्वारा तत्त्वका विचार होनेपर भी मनन द्वारा सम्पादित निश्चयात्मिका बुद्धि ही कर्तव्यसम्पादनमें समर्थ होती है, इसलिए पुनः मतिकी प्रार्थना उचित ही है ॥ ४० ॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

[प्रातःकाल स्नानगृहमें आये हुए श्रीरामचन्द्रजी आदिके साथ श्रीवसिष्ठजीका सभागृहमें जाना और सभाका आरम्भ]

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—हे वत्स, जैसे सूर्योदयकी आकांक्षा करनेवाले कमलकी रात्रि व्यतीत होती है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीकी वह रात्रि इस प्रकारकी विस्तृत ज्ञानविषयक चिन्तासे व्यतीत हुई ॥ १ ॥

कुछ अन्धकारवश पीले, कुछ लाल आकाशमें विरल ताराओंवाली दिशाओंको मानों बुहारीसे झाड़नेपर प्रातःकालके तूर्यशब्दके साथ चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाले श्रीरामचन्द्रजी कमलके तालाबसे सुन्दर कमलके समान उठे ॥ २, ३ ॥

प्रातःकालकी स्नानविधि कर और सन्ध्या-वन्दन आदि कर्मसे निवृत्त होकर

समाधिसंस्थमेकान्ते मुनिमात्मपरायणम् ।
दूर एवाऽऽननामाऽसौ रामो विनतकन्धरः ॥ ५ ॥
तं प्रणम्याऽङ्गणे तस्थुस्तस्मिंस्ते विनयान्विताः ।
यावत्तमः समालूनं व्यक्तं दिङ्मुखमण्डलम् ॥ ६ ॥
राजानो राजपुत्राश्च ऋषयो ब्राह्मणास्ततः ।
आययुः सदनं मौनं ब्रह्मलोकमिवाऽमराः ॥ ७ ॥
तद् वसिष्ठस्य सदनं बभूव जनसङ्कुलम् ।
हस्त्यश्वरथसम्बाधं पार्थिवाचारशोभनम् ॥ ८ ॥
क्षणाद् वसिष्ठो भगवान् विरराम समाधितः ।
आचारेणोपचारेण जग्राह प्रणतं जनम् ॥ ९ ॥
तथाऽनुयातो मुनिभिर्विश्वामित्रान्वितो मुनिः ।
आरुरोह रथं श्रीमान् सहसाऽब्जमिवाऽब्जजः ॥ १० ॥

भाइयोंके साथ थोड़ेसे अपने परिजनोंको भेजकर फिर स्वयं वसिष्ठजीके निवास-स्थानपर गये ॥ ४ ॥

पहले ही स्नान, सन्ध्या आदिसे निवृत्त होकर एकान्तमें समाधिमें बैठे हुए आत्मपरायण मुनिको श्रीरामचन्द्रजीने सिर झुकाकर दूरसे ही प्रणाम किया ॥ ५ ॥

विनययुक्त वे राजकुमार उन्हें प्रणाम कर जबतक अन्धकार भली भाँति नष्ट नहीं हो गया, दिशाएँ साफ-साफ नहीं दिखाई देने लगीं, तबतक उस आँगनमें खड़े रहे ॥ ६ ॥

तदनन्तर राजा, महाराज, राजकुमार, ऋषि और ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें देवताओंके समान चुप-चाप श्रीवसिष्ठजीके स्थानपर आये ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठजीका वह निवासस्थान लोगोंसे ठसाठस भर गया । हाथी, घोड़े और रथोंकी भीड़ लग गयी । वहाँ राजाओंके उचित शिष्टाचारके रहनेपर भी, वह घर राजमहलके सदृश सुशोभित हो गया यानी विनय आदि राजोचित व्यवहार तो था ही, घर भी अब राजमहलके सदृश हो गया ॥ ८ ॥

एक क्षणमें श्रीवसिष्ठजी समाधिसे जाग उठे । उन्होंने विनय आदि व्यवहारसे और प्रिय वचन आदिके उपचारसे प्रणाम कर रहे लोगोंके ऊपर अनुग्रह किया ॥९॥

विश्वामित्रजीके साथ मुनि श्रीवसिष्ठजी, जिनके पीछे बहुतसे मुनि चल रहे थे, जैसे ब्रह्मा कमलपर आरूढ़ होते हैं वैसे ही रथपर शीघ्र आरूढ़ हुए ॥ १० ॥

ययौ गृहं दाशरथं सैन्येन महता वृतः ।
ब्रह्मेव शक्रनगरं समस्तसुरमालितः ॥ ११ ॥
विवेशाऽवनतां तत्र रम्यां दाशरथीं सभाम् ।
हंसयूथानुवलितो राजहंस इवाऽब्जिनीम् ॥ १२ ॥
त्रीणि तत्र पदान्याशु तदा दशरथो नृपः ।
निर्जगाम महावीरः सिंहासनसमुत्थितः ॥ १३ ॥
विविशुस्तत्र ते सर्वे नृपा दशरथादयः ।
वसिष्ठाद्याश्च मुनयो ऋषयो ब्राह्मणास्तथा ॥ १४ ॥
मन्त्रिणश्च सुमन्त्राद्याः सौम्याद्याश्च विपश्चितः ।
राजपुत्राश्च रामाद्या मन्त्रिपुत्राः शुभादयः ॥ १५ ॥
अमात्याद्याः प्रकृतयः सुहोत्राद्याश्च नागराः ।
मालवाद्यास्तथा भृत्याः पौराद्याश्चैव मालिनः ॥ १६ ॥
अथ तेषूपविष्टेषु स्वेषु स्वेष्वासनेषु च ।
सर्वेष्वेवोपविष्टेषु वसिष्ठोन्मुखदृष्टिषु ॥ १७ ॥
सभाकलकले शान्ते मौनसंस्थेषु वन्दिषु ।
वृत्तासु स्थितिवार्तासु सौम्ये तस्मिन् सभान्तरे ॥ १८ ॥

जैसे सब देवताओंसे परिवृत ब्रह्मा इन्द्रके नगरमें जाते हैं वैसे ही विशाल-वाहिनीसे परिवृत श्रीवसिष्ठजी महाराज दशरथके घर गये ॥ ११ ॥

जैसे हंसोंके झुण्डसे परिवेष्टित राजहंस कमलके तालाबमें प्रवेश करता है वैसे ही विनीत लोगोंसे पूर्ण राजा दशरथकी मनोहर सभामें उन्होंने प्रवेश किया॥१२॥

उनके सभामें प्रवेश करनेके समय महाबली राजा दशरथ सिंहासनसे शीघ्र उठकर वहांपर तीन कदम उनके स्वागतके लिए गये ॥ १३ ॥

उस सभामें उन सब दशरथ आदि राजाओं, वसिष्ठ आदि मुनियों, ऋषियों, ब्राह्मणों, सुमन्त्र आदि मन्त्रियों, सौम्य प्रभृति विद्वानों, राम आदि राजकुमारों, शुभ आदि मन्त्रिपुत्रों, अमात्यों, प्रजाओं, सुहोत्र आदि नागरिकों, मालव आदि नौकर-चाकरों और माली आदि पुरवासियोंने प्रवेश किया ॥१४–१६॥

तदनन्तर जब वे सबके-सब अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये और आसनोंपर बैठे हुए वे श्रीवसिष्ठजीकी ओर टकटकी लगाए हुए थे, सभाका कोलाहल शान्त

स्फुरत्पवनमालासु विशत्स्वम्भोजकोटरात् ।
परागेषु विलोलेषु मुक्तादामसु चञ्चलम् ॥ १९ ॥
बृहत्कुसुमदोलाभ्यः प्रसृताभ्यः समन्ततः ।
वाति मांसलमामोदमादाय मधुरानिले ॥ २० ॥
वातायनेषु मृदुषु कुसुमाकीर्णभूमिषु ।
पर्यङ्केषूपविष्टासु पश्यन्तीषु पुरन्ध्रिषु ॥ २१ ॥
जालागतार्ककरलोलविलोचनासु
रत्नप्रभानिकरपिङ्गलकोमलासु ।
संत्यक्तचापललवं चपलासु तासु
मौनस्थितासु सितचामरधारिणीषु ॥ २२ ॥
मुक्ताफलप्रतिफलप्रतिमार्करश्मि-
रागोदरास्वजिरभूमिषु पुष्पकौघम् ।
नाऽऽसादयत्यभिनवातपबिम्बबुद्ध्या
भ्रान्ते भ्रमत्यलिकुले नभसीव मेघे ॥ २३ ॥

हो चुका था, बन्दिगण चुप हो गये थे, रात्रिमें सुखपूर्वक रहनेके सम्बन्धकी प्रश्नोत्तर-रूप आपसकी बातें समाप्त हो चुकी थीं, उस सभाके मध्यमें निश्चलता छा गई थी, कमलोंके पराग कमलके गर्भसे निकल कर सभामें प्रवेश कर रहे थे एवं वायुसे चंचल मोतियोंकी लरोंमें चंचलतापूर्वक भोगलम्पट हो रहे थे, चारों ओर झूल रहे बड़े बड़े फूलोंके झूलोंसे खूब अधिक सुगन्ध लेकर मन्द-मन्द वायु बह रहा था, झरोखोंपर लगे हुए कोमल बिछौनोंपर, जिनमें फूल बखेरे थे, बैठी हुई महिलाएँ देख रही थीं, झरोखोंसे आई हुई सूर्यकी किरणोंसे चका-चौंध होनेके कारण चञ्चल नेत्रवाली, मणियोंकी प्रभासे पीली और सुकुमारी, सफेद चँवर धारण करनेवाली वे चञ्चल नारियाँ चपलताका त्याग कर चुपचाप खड़ी थीं, विविध प्रकारके रत्नोंसे जड़े हुए आंगनोंके मोतियोंके प्रतिबिम्बके तुल्य सूर्यकी किरणोंके रागसे युक्त मध्यवाले यानी नाना पुष्पोंके आकारमें चित्रित होनेपर, ये फूल नहीं हैं किन्तु प्रातःकालके धूपके प्रतिबिम्ब हैं, इस भ्रान्तिसे भौंरे पुष्पराशिका ग्रहण नहीं कर रहे थे, अतएव पृथिवीका स्पर्श न होनेसे आकाशमें मेघके समान मँडरा रहे थे, उस सज्जनोंके समाजमें पूजनीयजन, पूर्वसञ्चित पुण्योंसे श्रीवसिष्ठजीके मुखसे निकला हुआ जो वचन सुना था, हृदयमें उस वचनके विस्तार

पुण्यैर्वसिष्ठवदनप्रसृतं श्रुतं य-
त्तत्सन्ततिप्रसृतविस्मयमार्यलोके ।
सत्सङ्गमे मृदुपदाक्षरमुग्धवाक्य-
मन्योन्यमीप्सितमनल्पगुणाभिरामम् ॥ २४ ॥
दिग्भ्यः पुराच्च गगनाच्च वनाच्च सिद्ध
विद्याधरार्यमुनिविप्रगणे वसिष्ठम् ।
मौनप्रणाममभितः प्रविशत्यशब्दं
सोपांशु गौरववता सह जातवाक्ये ॥ २५ ॥
उन्निद्रकोकनदकोमलकोशकृष्ट-
मग्नालिजालमकरन्दसुवर्णरागैः ।
आपिङ्गले मरुति वाति विलोलघण्टा-
टाङ्कारगीतविनिपीतनिशान्तगीते ॥ २६ ॥
अगुरुतगरधूमे चन्दनामोदमिश्रे
सरसकुसुमदामोद्दामगन्धाङ्किताभ्रे ।
सरति सति वितानाम्भोरुहामोदलेशै-
श्चलकुसुमरजोङ्के शब्दविज्ञातभृङ्गम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सभासंस्थानवर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

———०———

द्वारा बड़े आश्चर्यके साथ बहुत गुणगणोंसे सुन्दर, कोमल पदावलियोंसे मनोहर अभीष्ट वाक्य आपसमें कह रहे थे, दिशाओंसे, नगरसे, आकाशसे और वनसे आये हुए सिद्ध, विद्याधर, श्रेष्ठ मुनिगण और ब्राह्मणवृन्द श्रीवसिष्ठजीको चारों ओरसे मौनपूर्वक प्रणाम कर चुपचाप प्रवेश कर रहे थे, तदनन्तर जिनके साथ अवश्य सम्भाषण करना चाहिये, ऐसे गौरवशाली पुरुषोंके साथ अतिमन्द स्वरसे कानके पास बातें कह रहे थे, खिले हुए रक्त कमलोंके कोशोंसे निकले हुए, पहले उनके अन्दर डूबे हुए भौंरों, पुष्परस और पुष्पपरागके रंगसे कुछ पीले रंगवाले तथा घरमें लगी हुई वायुके धक्केसे चंचल घण्टियोंके शब्दसे जिसने घरोंके अन्दर होनेवाले गीतोंको तिरस्कृत कर दिया था, ऐसा वायु बह रहा था,

चतुर्थः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

मेघगम्भीरया वाचा विश्रब्धपदसुन्दरम् ।
इदं दशरथो वाक्यमुवाच मुनिनायकम् ॥ १ ॥
भगवन् ह्यस्तनेन त्वं वाक्यसंदर्भजन्मना ।
कच्चिन्मुक्तोऽसि खेदेन तपःकार्श्यातिशायिना ॥ २ ॥
ह्यस्तनोक्तो य आनन्दी विविक्तो वचसां गणः ।
अमृतावर्षणेनेव तेनैवाऽऽश्वासिता वयम् ॥ ३ ॥
चन्द्रांशव इवोत्सार्य तमांस्यमृतनिर्मलाः ।
अन्तः शीतलयन्त्येता महतामला गिरः ॥ ४ ॥

चन्दनकी सुगन्धसे मिश्रित, फूलके चञ्चल परागसे युक्त अतएव ताजे फूलोंकी उत्कट सुगन्धसे मेघोंको सुगन्धित करनेवाले अगर और तगरके धुएँ, सामियानोंमें बँधे हुए कमलोंकी सुगन्धके साथ जिस बहनेमें शब्द होनेके कारण भौंरोकी प्रतीति होती थी, यों बह रहे थे ॥ १७–२७ ॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

[राजा दशरथजीका श्रीवसिष्ठजीके वाक्योंकी प्रशंसा करना तथा वसिष्ठजीके वचनसे श्रीरामचन्द्रजी द्वारा चिन्तित पदार्थोंका अनुवाद]

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—वत्स, राजा दशरथने मेघके गर्जनके तुल्य गंभीर वाणीसे यह निम्ननिर्दिष्ट वचन, जो उनके उपदेशमें अत्यन्त विश्वास प्रकट करनेवाली पदावलियोंसे सुन्दर था, मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजीसे कहा ॥ १ ॥

भगवन्, कलकी उपदेशकथावलीसे उत्पन्न हुए तथा तपस्याके क्लेशसे भी बढ़े-चढ़े श्रमसे आप मुक्त तो हो गये हैं ? ॥ २ ॥

श्रोताओंको आनन्द देनेवाला जो विशद वचनसमूह आपने कल कहा था, अमृतकी वर्षाके तुल्य उसी वचनसमूहसे हम लोग आश्वासित हुए हैं। जैसे अमृत-से निर्मल चन्द्रमाकी किरणें अन्धकारको हटाकर अन्तःकरणको शीतल

अपूर्वाह्लाददायिन्य उच्चैस्तरपदाश्रयाः ।
अतिमोहापहारिण्यः सूक्तयो हि महीयसाम् ॥ ५ ॥
आत्मरत्नावलोकैकदीपिका सरसात्मिका ।
यस्माद् युक्तिलतोदेति स वन्द्यः सुजनद्रुमः ॥ ६ ॥
दुरीहितं दुर्विहितं सर्वं सज्जनसूक्तयः ।
प्रमार्जयन्ति शीतांशोस्तमःकाण्डमिवाऽङ्घ्रयः ॥ ७ ॥
तृष्णालोभादयोऽस्माकं संसारनिगडा मुने ।
तवोक्त्या तनुतां याताः शरदीवाऽसिताम्बुदाः ॥ ८ ॥
संप्रवृत्ता वयं द्रष्टुमात्मानमपकल्मषम् ।
रसाञ्जनानीतदृशो जात्यन्धा इव काञ्चनम् ॥ ९ ॥

करती है वैसे ही अमृतकी तरह निर्मल ये महात्माओंके विशद उपदेश अज्ञानान्धकारको हटाकर अन्तःकरणको सन्तापरहित कर देते हैं ॥ ३,४ ॥

अब चन्द्रमाकी किरणोंसे भी महात्माओंकी उपदेशवाणियां उत्कृष्ट हैं, ऐसा कहते हैं—'अपूर्वा०' इत्यादिसे ।

मनुष्यके आनन्दसे लेकर हिरण्यगर्भके आनन्दपर्यन्त विषयसुखोंसे भी अत्यन्त ऊँचे पदसे संबन्ध रखनेवाली जो महात्माओंकी सूक्तियां हैं, वे अपूर्व आनन्दको देनेवाली और मोहको सर्वथा दूर करनेवाली हैं ॥ ५ ॥

आत्मरूपी रत्नके प्रकाशनमें एकमात्र दीपकरूप तथा सरस युक्तिरूपी लताएँ जिससे उदित होती हैं, वह सज्जनरूपी वृक्ष वन्दनीय है ॥ ६ ॥

जैसे चन्द्रमाकी किरणें अन्धकारराशिको हटा देती हैं वैसे ही सज्जनोंकी सूक्तियां मनसे जो बुरा विचार किया, शरीरसे जो बुरा काम किया, उन सबको निवृत्त कर देती हैं ॥ ७ ॥

हे मुनिजी, जैसे शरत्कालमें वर्षा ऋतुके मेघ क्षीण होने लगते हैं वैसे ही हम लोगोंके संसारमें बन्धनशृङ्खलारूप तृष्णा, लोभ आदि आपके उपदेशवचनसे क्षीण होने लग गये हैं ॥ ८ ॥

सिद्ध रससे बनाये गये सिद्धाञ्जनसे जिन्हें दृष्टि प्राप्त हो गई, ऐसे जन्मान्ध लोग जिस प्रकार सुवर्णको देखने लगते हैं वैसे ही ब्रह्मरसरूपी अञ्जनसे प्राप्त प्रत्यग् दृष्टिवाले हम लोग निर्दोष आत्माको देखनेके लिए उपयुक्त हो गये हैं ॥९॥

संसारवासनानाम्नी मिहिका हृदयाम्बरे ।
प्रवृत्ता तनुतां गन्तुं त्वदुक्तिशरदेव नः ॥ १० ॥
मुने मन्दारमञ्जर्यस्तरङ्गा वाऽमृताम्भसः ।
न तथा ह्लादयन्त्यन्तर्यथोदारधियां गिरः ॥ ११ ॥
यद्यद् राघव संयाति महाजनसपर्यया ।
दिनं तदिह सालोकं शेषास्त्वन्धा दिनालयः ॥ १२ ॥
राम राजीवपत्राक्ष प्रकृतार्थमिहाऽव्ययम् ।
मुनिमाबोधय पुनः प्रसादे समवस्थितम् ॥ १३ ॥
इत्युक्तो भूभृता तत्र रामाभिमुखमास्थितः ।
उवाचेदमुदारात्मा वसिष्ठो भगवान्मुनिः ॥ १४ ॥

वसिष्ठ उवाच

राघव स्वकुलैकेन्दो यन्मयोक्तं महामते ।
कच्चित् स्मरसि वाक्यार्थं पूर्वापरविचारितम् ॥ १५ ॥
उत्पत्तीनां विचित्राणां सत्त्वादिगुणभेदतः ।
कच्चित् स्मरसि सर्वासां विभागमरिमर्दन ॥ १६ ॥

आपकी उक्तिरूपी शरदृतुसे हमारे हृदयरूपी आकाशमें स्थित संसार-वासनानामक कुहरा नष्ट होने लग गया है ॥ १० ॥

हे मुनिजी, उदारबुद्धि पुरुषोंकी उपदेशवाणियां जैसे हृदयको आह्लादित करती हैं वैसे मन्दारके फूलोंके गुच्छे अथवा अमृतसागरकी तरङ्गें आह्लादित नहीं करतीं ॥ ११ ॥

हे रघुवर, जो-जो दिन महापुरुषोंकी पूजासे व्यतीत होता है, वही दिन प्रकाशयुक्त है, शेष दिन अन्धकारसे आवृत हैं । हे कमलके समान विशाल नेत्रवाले श्रीरामचन्द्रजी, प्रस्तुत अविनाशी तत्त्वको मुनिसे, जो प्रसन्नतामें स्थित हैं, पूछो ॥ १२, १३ ॥

राजाके यों कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीके सामने बैठे हुए, उदारबुद्धि भगवान् श्रीवसिष्ठ मुनिने यों कहना आरम्भ किया ॥ १४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, हे अपने रघुकुलके एकमात्र प्रकाशक चन्द्र, हे महामते, जो मैंने पूर्वापरविचारित वाक्यार्थ कहा था, क्या उसका आपको स्मरण है ? क्या आप नटके समान मायासे जगत्के वेषमें स्थित ब्रह्मरूप,

कच्चित् सर्वमसर्वं च सदसच्च सदोदितम् ।
रूपं स्मरसि वेत्स्येव विविक्तं परमात्मनः ॥ १७ ॥
यथेदमुदितं विश्वं विश्वेशादेव चेश्वरात् ।
कच्चित् स्मरसि तत्साधो साधुवादैकभाजन ॥ १८ ॥
रूपं कच्चिदविद्याया बलाङ्कुरमाततम् ।
अनन्तमन्तवच्चैव सम्यक्स्मरसि सन्मते ॥ १९ ॥
चित्तमेव नरो नाऽन्यदिति यत् प्रतिपादितम् ।
लक्षणादिविचारेण कच्चित् स्मरसि साधु तत् ॥ २० ॥
वाक्यार्थश्चाऽखिलः कच्चित्त्वया राम विचारितः ।
ह्यस्तनस्य विचारस्य रात्रौ हृदि निवेशितः ॥ २१ ॥
भूयो भूयः परामृष्टं हृदये सुनियोजितम् ।
प्रयोजनं फलत्युच्चैर्न हेलाहतसंस्थितेः ॥ २२ ॥

निष्प्रपञ्च ब्रह्मरूप, स्थूल, सूक्ष्म सदा उदित परमात्माके रूपका, जो हमने कहा था, स्मरण करते हो ? अथवा अपनी बुद्धिसे दृश्यसे अतिरिक्त उसे जानते हो ? ॥ १५–१७ ॥

हे सज्जनशिरोमणे, हे साधुवादोंके एकमात्र भाजन, सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्मसे ही जैसे यह विश्व उदित हुआ है, उसका क्या आप स्मरण करते हैं ? ॥ १८ ॥

हे सन्मते, फैले हुए अविद्याके रूपका, जो कालके बलसे नष्ट होनेवाला, संख्यासे अनन्त और देश, काल आदिसे अन्तवाला है, क्या आप स्मरण करते हैं ? ॥ १९ ॥

चित्त ही नर है, चित्तसे अतिरिक्त नर नहीं है, ऐसा जो मैंने कहा था, उसका लक्षण आदिके विचार द्वारा क्या आप भली-भाँति स्मरण करते हैं ? ॥२०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, क्या आपने कलके श्रवणके विषयभूत वाक्यार्थको मनन द्वारा परिष्कृत किया और रात्रिमें उसे हृदयमें स्थापित किया ? ॥ २१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बार-बार विचारा हुआ, मनन द्वारा हृदयमें स्थापित तत्त्व-चिन्तन मोक्षरूप प्रयोजनको देता है । किन्तु जिस नराधमने उपदिष्ट पदार्थकी धारणा अनादरसे नष्ट-भ्रष्ट कर दी, उसे मोक्षरूप फल प्राप्त नहीं होता ॥ २२ ॥

भाजनं त्वं विविक्तानां वचसां शुद्धिशालिनाम् ।
विविक्तहृदयः कण्ठे मुक्तानामिव राघव ॥ २३ ॥

वाल्मीकिरुवाच

कमलासनपुत्रेण मुनिना स महौजसा ।
एवं वितीर्णावसरो रामो वाक्यमुवाच ह ॥ २४ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ तवैवैतद्विजृम्भितम् ।
यदहं परमोदारो बुद्धवान् वचनं तव ॥ २५ ॥
यदादिशसि तत् सर्वं तथैव न तदन्यथा ।
अपास्तनिद्रेण मया वाक्यार्थो हृदि चिन्तितः ॥ २६ ॥
भवान्धकारक्षतये भवतोक्तिविवस्वता ।
ह्यः प्रसादितमाह्लादि वाग्रश्मिपटलं प्रभो ॥ २७ ॥
तदतीतमदीनात्मन् सर्वमन्तः कृतं मया ।
रम्यं पुण्यं पवित्रं च रत्नवृन्दमिवाऽन्वितम् ॥ २८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे विशाल वक्षःस्थलवाला पुरुष कण्ठमें जातिशुद्धिसे शोभित होनेवाले सुन्दर मोतियोंका भाजन होता है, वैसे ही विवेकयुक्त चित्तवाले आप विचारित, शुद्धिसे शोभित होनेवाले उपदेशवचनोंके भाजन हैं ॥ २३ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—ब्रह्माजीके पुत्र महातेजस्वी श्रीवसिष्ठजीके इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीको कहनेके लिए अवसर देनेपर श्रीरामचन्द्रजीने निम्नलिखित वाक्य कहा ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, हे सब धर्मोंके ज्ञाता, आपके ही यह प्रभावका विस्तार है, जो कि मैं परम उदार होकर आपके वचनको समझ सका ॥२५॥

जैसा आप आदेश देते हैं, वैसे ही वह सब मैंने किया, उससे विपरीत नहीं किया है। रात्रिमें निद्राका त्याग करके मैंने हृदयमें वाक्यार्थका चिन्तन किया। हे प्रभो, उपदेशयोग्य अर्थके प्रकाशनमें सूर्यरूप आपने संसाररूप अन्धकारके विनाशके लिए जड़तारूप शीतको हटानेसे सुख देनेवाला वाणीरूपी किरणोंका समूह कल फैलाया था ॥ २६,२७ ॥

हे उदारचरित, मनोहर, पुण्यमय और क्रमयुक्त वह साराका सारा अतीत

हितानुबन्धि हृद्यं च पुण्यमानन्दसाधनम् ।
शिरसा ध्रियते कैर्नो सिद्धैस्त्वदनुशासनम् ॥ २९ ॥
प्रतिक्षिपन्तः संसारमिहिकावरणं वयम् ।
प्रसन्नास्त्वत्प्रसादेन वर्षान्त इव वासराः ॥ ३० ॥
आपातमधुरारम्भं मध्ये सौभाग्यवर्धनम् ।
अनुत्तमफलोदर्कं पुण्यं त्वदनुशासनम् ॥ ३१ ॥
विकासि सितमम्लानमाह्लादितशुभाशुभम् ।
त्वद्वचःकुसुमं नित्यं श्रीमत्फलदमस्तु नः ॥ ३२ ॥

उपदेश सिलसिलेवार गुँथे हुए मनोहर और पवित्र रत्नोंके समान मैंने अपने हृदयमें स्थापित किया ॥ २८ ॥

सब अनिष्टोंकी निवृत्ति करनेवाला, अत्यन्त मधुर, परम पुरुषार्थका साधन और अनुल्लङ्घनीय होनेके कारण आपका वचन अवश्य सिरसे प्रणाम कर हृदयमें धारण करने योग्य है, ऐसा कहते हैं—'**हितानुबन्धि**' इत्यादिसे ।

भगवन्, आपका शासन हितकारी, मनोहर, पुण्य और आनन्दका साधन है, अतएव किन देवयोनिविशेष सिद्धों द्वारा अथवा स्वतःसिद्ध सनकादि द्वारा या योग, मन्त्र आदिसे सिद्ध पुरुषों द्वारा सिरसे धारण नहीं किया जाता ॥ २९ ॥

संसाररूपी कुहरेके आवरणका निवारण कर रहे हम लोग आपके प्रसादसे वर्षा ऋतुके अन्तमें दिवसोंके समान प्रसन्न हो गये हैं यानी हममें आपका उपदेश व्यर्थ नहीं हुआ ॥ ३० ॥

आपका पवित्र उपदेश तीनों कालोंमें हितकारी है । श्रवणके समय वह मधुर है, मनन और निदिध्यासनके समय अन्तर्मुखतासे होनेवाले शम आदिके सम्पत्ति-सुखको बढ़ानेवाला है एवं उसका उत्तरकाल मोक्षरूप उत्तम फलसे युक्त है ॥ ३१ ॥

विकसित, सफेद, अम्लान एवं पुण्य, पाप और उनके फलोंको एकमात्र आनन्द-रूप बना देनेवाला आपका उपदेशरूपी कल्पवृक्षपुष्प हम लोगोंको कल्याणकारी फल देनेवाला हो ॥ ३२ ॥

सकलशास्त्रविचारविशारद
प्रसृतपुण्यजलैकमहाह्रद ।
भज भृशं विततव्रत संप्रति
प्रसृततां हतकिल्बिष सन्ततिम् ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशम-प्रकरणे राघवप्रश्नो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इदमुत्तमसिद्धान्तसुन्दरं सुन्दराकृते ।
उपशान्तिप्रकरणं शृणुष्वाऽवहितो हितम् ॥ १ ॥

अब तीर्थरूप होनेके कारण महाह्रदरूपसे गुरुका सम्बोधन कर अवशिष्ट उपदेश कहनेके लिए प्रार्थना करते हैं—**'सकल०'** इत्यादिसे ।

हे देश, काल और शास्त्रके विचारोंमें विशारद, हे फैले हुए सदाचाररूपी पवित्र जलोंके एकमात्र जलाशय, हे महाव्रत, हे निष्पाप मुनिजी, इस समय आप मेरे प्रति उपदेशवाणीके प्रवाहका पुनः प्रसार कीजिये ।

जलाशयपक्षमें—सब शास्त्ररूपी हंस आदि पक्षियोंके सञ्चारसे सुशोभित, मुनियों द्वारा जिसमें अपने व्रत विस्तृतरूपसे किये गये हैं, स्नान करनेवालोंके पापोंका विनाश करनेवाले, फैले हुए पवित्र जलके एकमात्र आश्रय हे जलाशय, तुम इस समय वाणीप्रवाहरूपी अपने प्रवाहका विस्तार करो ॥ ३३ ॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

[अविवेकसे बढ़ी हुई मनोमात्ररूपी जगत्-सृष्टिकी निवृत्तिके उपायका क्रम]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे मनोहर आकृतिवाले श्रीरामचन्द्रजी, उत्तम सिद्धान्तोंसे सुन्दर, मोक्षरूपी कल्याण देनेवाले इस उपशमप्रकरणको आप सावधान होकर सुनिये ॥ १ ॥

दीर्घसंसारमायेयं राम राजसतामसैः ।
धार्यते जन्तुभिर्नित्यं सुस्तम्भैरिव मण्डपः ॥ २ ॥
सत्त्वस्थजातिभिर्धीरैस्त्वादृशैर्गुणबृंहितैः ।
हेलया त्यज्यते पक्का मायेयं त्वगिवोरगैः ॥ ३ ॥
ये सत्त्वजातयः प्राज्ञास्तथा राजससात्त्विकाः ।
विचारयन्ति ते साधो जगत्पूर्वपरम्पराम् ॥ ४ ॥
शास्त्रसज्जनसत्कार्यसङ्गेनोपहतैनसाम् ।
सारावलोकिनी बुद्धिर्जायते दीपिकोपमा ॥ ५ ॥
स्वयमेव विचारेण विचार्याऽऽत्मानमात्मना ।
यावन्नाऽधिगतं ज्ञेयं न तावदधिगम्यते ॥ ६ ॥
प्रज्ञावतां नयवतां धीराणां कुलशालिनाम् ।
जात्या राजससत्त्वानां मुख्यस्त्वं रघुनन्दन ॥ ७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सुन्दर खम्भे गृहमण्डपको धारण करते हैं वैसे ही राजस-तामस जीव इस विशाल संसारमायाको धारण करते हैं ॥ २ ॥

जैसे साँप अपनी पुरानी केचुलका त्याग करते हैं वैसे ही पूर्वोक्त लक्षणवाले, राजससात्त्विक और शुद्धसात्त्विक आपके तुल्य गुणवान् धीर पुरुष अवहेलना द्वारा इस तुच्छ मायाका त्याग करते हैं ॥ ३ ॥

किस उपायसे उसका त्याग करते हैं, ऐसा प्रश्न होनेपर उस उपायको कहते हैं—'**ये**' इत्यादिसे ।

हे साधो, जो शुद्धसात्त्विक जन्मवाले अथवा राजससात्त्विक जन्मवाले प्राज्ञ पुरुष हैं, वे जगत्की मूलपरम्पराका विचार करते हैं ॥ ४ ॥

शास्त्रके अभ्यास, सज्जनोंकी संगति और सत्कर्मोंके आचरणसे जिनके पाप नष्ट हो चुके, ऐसे महात्मा पुरुषोंकी सार वस्तुका अवलोकन करनेवाली दीपकके तुल्य बुद्धि उत्पन्न होती है ॥ ५ ॥

स्वयं ही विचार द्वारा अपने-आप अपने स्वरूपका विचार कर जबतक ज्ञान नहीं हुआ, तबतक ज्ञातव्य वस्तु प्राप्त नहीं होती ॥ ६ ॥

आपमें तो उसकी प्राप्तिकी योग्यता है ही, ऐसा कहते हैं—'**प्रज्ञावताम्**' इत्यादिसे ।

स्वयमालोकय प्राज्ञ संसारारम्भदृष्टिषु ।
किं सत्यं किमसत्यं वा भव सत्यपरायणः ॥ ८ ॥

आदावन्ते च यन्नाऽस्ति कीदृशी तस्य सत्यता ।
आदावन्ते च यन्नित्यं तत्सत्यं नाम नेतरत् ॥ ९ ॥

आद्यन्तासन्मये यस्य वस्तुन्यासज्जते मनः ।
तस्य मुग्धपशोर्जन्तोर्विवेकः केन जन्यते ॥ १० ॥

जायते मन एवेह मन एव विवर्धते ।
सम्यग्दर्शनदृष्ट्या तु मन एव हि मुच्यते ॥ ११ ॥

श्रीराम उवाच

ज्ञातमेतन्मया ब्रह्मन् यथाऽस्मिन् भुवनत्रये ।
मन एव हि संसारि जरामरणभाजनम् ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानवान्, प्रमाणकुशल, धीर और राजससात्त्विक जन्मवाले सत्पुरुषोंमें आप मुख्य हैं ॥ ७ ॥

हे प्राज्ञ, संसाररूपी कार्योंमें क्या वस्तु सत्य है अथवा क्या असत्य है, इस बातका निरीक्षण विचारसे स्वयं कीजिए और सत्यपरायण होइए ॥ ८ ॥

जो वस्तु आदि और अन्तमें नहीं है, उसकी सत्यता कैसी ? जो वस्तु आदि और अन्तमें नित्य है, वही सत्य है, वह उससे अतिरिक्त असत्यस्वभाव कैसे हो सकती है, क्योंकि स्वभावका विपर्यय नहीं हो सकता। जिसका मन आदि और अन्तमें असन्मय वस्तुमें सत्य बुद्धिसे अनुरक्त है, उस मूढ़ पशुरूप जन्तुका विवेक किस उपायसे उत्पन्न किया जा सकता है ॥ ९, १० ॥

मनोरथसे बनाए गये प्रसादके तुल्य यह जगत् एकमात्र मनका कार्य है, इस कारण भी इसमें सत्यत्वप्रसङ्ग नहीं हो सकता, इस आशयसे कहते हैं—**'जायते'** इत्यादिसे।

मन ही यहाँपर जन्म लेता है, मन ही बढ़ता है और तत्त्वदर्शनसे मन ही मुक्त होता है ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, यह बात मुझे ज्ञात हो गई है कि इस त्रिभुवनमें मन ही जरा, मरणका भाजन संसारी है, उसके उत्तरणका जो सुनिश्चित

यस्तस्योत्तरणोपायस्तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।
हार्दं तमस्त्वयाऽर्केण राघवाणां विनाश्यते ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

पूर्वं राघव शास्त्रेण वैराग्येण परेण च ।
तथा सज्जनसङ्गेन नीयतां पुण्यतां मनः ॥ १४ ॥
सौजन्योपहितं चेतो यदा वैराग्यमागतम् ।
तदाऽनुगम्या गुरवो विज्ञानगुरवोऽपि ये ॥ १५ ॥
ततस्तस्योपदिष्टेन कृत्वा ध्यानार्चनादिकम् ।
क्रमेण पदमाप्नोति तद्यत्परमपावनम् ॥ १६ ॥
विचारेणाऽवदातेन पश्याऽऽत्मानमात्मना ।
इन्दुना शीतलेनाऽन्तर्विश्वं खमिव तेजसा ॥ १७ ॥
तावद्भवमहाम्भोधौ जनस्तृणवदुह्यते ।
विचारतटविश्रान्तिमेति यावन्न चेतसा ॥ १८ ॥

उपाय है, उसे मुझसे कहिये । क्योंकि रघुवंशियोंके हृदयके अज्ञानान्धकारका सूर्यरूप आप विनाश करते हैं ॥ १२, १३ ॥

पहले शास्त्राभ्यास और सज्जनसङ्गतिसे वैराग्य आदि साधनचतुष्टयका सम्पादन करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'**पूर्वम्**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले शास्त्राभ्यास, सज्जनसङ्ग और उत्कृष्ट वैराग्यसे मनको ज्ञानोदयके योग्य बनानेवाली विशुद्धिको प्राप्त कीजिए ॥१४॥

जब निरभिमानतासे युक्त मन वैराग्यको प्राप्त होता है, तब सब शास्त्रोंके रहस्यज्ञानसे अत्यन्त गौरवशाली और उपदेश देनेकी कुशलतासे शिष्यको सुबुद्ध करनेमें समर्थ गुरुओंका विधिपूर्वक अनुगमन करना चाहिए ॥ १५ ॥

तदुपरान्त गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्गसे पहले त्रिलोचन आदि सगुण परमेश्वरका ध्यान, पूजन आदि करके क्रमशः साधक पुरुष जो परम पावन पद है, उसे प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

स्वच्छ विचार द्वारा अपनेसे आत्माका शीतल चन्द्रमारूपी तेजसे पूर्ण समस्त आकाशकी तरह भीतर साक्षात्कार कीजिए ॥ १७ ॥

तबतक पुरुष संसाररूपी महासागरमें तृणके समान बहता है, जबतक कि बुद्धिरूपी नावसे विचाररूपी तटपर स्थिर नहीं हो जाता ॥ १८ ॥

विचारेण परिज्ञातवस्तुनोऽस्य जनस्य धीः ।
सर्वानधः करोत्याधीन्सौम्याम्भ इव वालुकाः ॥ १९ ॥
इदं रुक्ममिदं भस्म परिज्ञातमिति स्फुटम् ।
न यथा हेमकारस्य हेमज्ञानात्मनस्तथा ॥ २० ॥
अक्षयोऽयं मनागात्मा स्वात्मन्यवगते चिरम् ।
भवतीति नरस्येह मोहस्याऽवसरः कुतः ॥ २१ ॥
अपरिज्ञातसारे हि मनोऽन्तर्यदि मुह्यते ।
ज्ञातसारे त्वसंदिग्धमसती किल मूढता ॥ २२ ॥
हे जना अपरिज्ञात आत्मा वो दुःखसिद्धये ।
परिज्ञातस्त्वनन्ताय सुखायोपशमाय च ॥ २३ ॥

विचारसे जिसने ज्ञातव्य वस्तुको जान लिया, उस पुरुषकी बुद्धि जैसे स्थिर जल बालुकाके कणोंको दबा देता है वैसे ही सब मानसिक चिन्ताओंको दबा देती है ॥ १९ ॥

राखमें छिपे हुए सोनेको यद्यपि और लोग अलग नहीं कर सकते; तथापि सदा सुवर्णका शोधन करनेसे उसे पृथक् करनेमें दक्ष स्वर्णकारको यह सोना है, यह भस्म है, यह जैसे साफ ज्ञात हो जाता है, उसके न मिलनेसे होनेवाला मोह उसे नहीं होता वैसे ही अज्ञानियोंकी दृष्टिसे परिच्छिन्न यह जीव चिरकालतक विचार द्वारा विवेक करके अपने स्वरूपका परिज्ञान कर लेनेपर स्वतः कालादिपरिच्छेद-शून्य हो जाता है, इसलिए मनुष्यको इसमें मोहका अवसर ही कहाँ ? ॥२०,२१॥

जिस पुरुषने तत्त्व वस्तुका ज्ञान प्राप्त नहीं किया, उसमें मन यदि मोहको प्राप्त होता है तो हो, किन्तु जिसे सार पदार्थका परिज्ञान हो चुका है, उसमें मूढ़ता सम्भावित ही नहीं है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ २२ ॥

हे जनो, अपरिज्ञात (जिसका परिज्ञान नहीं हुआ) आत्मा आप लोगोंकी दुःखसिद्धिके लिए है, क्योंकि "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति, तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य" (जब यह इस आत्मामें थोड़ा भी भेद करता है, तब इसे भय होता है, ज्ञानके अपरिपाकवश उपास्य-उपासक भावको देख रहे विद्वान्‌को भी भय होता है) ऐसी श्रुति है । परिज्ञात आत्मा तो अनन्त सुख और शान्ति के लिए है, क्योंकि 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति', 'सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्'

मिश्रीभूतमिवाऽनेन देहेनोपहतात्मना ।
व्यक्तीकृत्य स्वमात्मानं स्वस्था भवत मा चिरम् ॥ २४ ॥

देहेनाऽस्य न सम्बन्धो मनागेवाऽमलात्मनः ।
हेम्नः पङ्कलवेनेव तद्वतस्याऽपि मानवाः ॥ २५ ॥

पृथगात्मा पृथग्देही जलपद्मलवोपमौ ।
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ॥ २६॥

जडधर्मि मनो यावद्गर्तकच्छपवत्स्थितम् ।
भोगमार्गवदामूढं विस्मृतात्मविचारणम् ॥ २७ ॥

'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इत्यादि श्रुतियां हैं ॥ २३ ॥

जिसने आत्माका तिरोधान कर रक्खा है, ऐसे इस शरीरसे मिले-जुले हुए-से अपने आत्माका पञ्चकोशोंके विवेक द्वारा साक्षात्कार कर आप लोग शीघ्र स्वस्थ होइये ॥ २४ ॥

लोगो, जैसे कि कीचड़में गिरे हुए सोनेका कीचड़के साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं रहता वैसे ही इस निर्मल आत्माका देहके साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं है ॥ २५ ॥

जैसे कमलोंके आधारभूत विपुल जल और कमलके पत्तेमें स्थित जलकी बूंदें उपाधिसे ही भिन्न हैं; वस्तुतः उनमें भेद नहीं है वैसे ही ब्रह्म और जीव उपाधिवश ही पृथक्-पृथक् हैं।

शङ्का—विपुल जलके कमलके पत्तेमें बिन्दुरूपसे आरूढ़ होने और परिच्छेद आदिमें वायु आदि निमित्त प्रसिद्ध है। पूर्णात्माके परिच्छेद द्वारा देहमें आरूढ़ होनेमें कौन-सा निमित्त है ?

समाधान—ठीक है, मैं बार-बार भुजाएँ फैलाकर और गला फाड़कर इस बातकी घोषणा कर चुका हूँ कि आत्माके परिच्छेद द्वारा देहमें आरूढ़ होनेमें एकमात्र कारण पापी मन ही है, इसलिए उसके नाशके लिए ही प्रयत्न करना चाहिये, पर मेरी बातको कोई सुनता ही नहीं ॥ २६ ॥

दुर्वासनारूपी पंकपूर्ण गर्तमें कछुएके समान छिपा हुआ और कठोर, भोग-प्राप्तिमें मार्गके समान द्वारभूत इन्द्रियों द्वारा विषयोंमें संलग्न, जड़ मन, जिसने

तावत्संसारतिमिरं सेन्दुनाऽपि सवह्निना ।
अर्कद्वादशकेनाऽपि मनागपि न भिद्यते ॥ २८ ॥
संप्रबुद्धे हि मनसि स्वां विवेचयति स्थितिम् ।
नैशमर्कोदय इव तमो हार्दं पलायते ॥ २९ ॥
नित्यमुत्तमबोधाय योगशय्यागतं मनः ।
बोधयेद् भवभेदाय भवो ह्यत्यन्तदुःखदः ॥ ३० ॥
यथा रजोभिर्गगनं यथा कमलमम्बुभिः ।
न लिप्यते हि संश्लिष्टैर्देहैरात्मा तथैव च ॥ ३१ ॥
कर्दमादि यथा हेम्ना श्लिष्टमेति पृथक् स्थितम् ।
नाऽन्तः परिणतिं याति जडो देहस्तथाऽऽत्मना ॥ ३२ ॥
सुखदुःखानुभावित्वमात्मनीत्यवबुध्यते ।
असत्यमेव गगने बिन्दुताम्लानते यथा ॥ ३३ ॥

आत्मविचारको भुला दिया है, जब तक स्थित है, तब तक इस संसाररूपी अन्धकारका चन्द्रमा, अग्नि, नक्षत्र, मणि आदि सब तेजोंके साथ बारहों सूर्य भी तनिक भी भेदन नहीं कर सकते ॥ २७, २८ ॥

प्रबुद्ध मन जब अपनी पारमार्थिक स्थितिको असत्यभूत प्रपञ्चसे पृथक् कर देखता है, तब हृदयस्थ अज्ञानान्धकार सूर्यका उदय होनेपर रात्रिके अन्धकारके समान निवृत्त हो जाता है ॥ २९ ॥

देहादितादात्म्याध्यासरूप शय्यापर शयन किये हुए मनको उत्तम ज्ञानके लिए और संसारकी निवृत्तिके लिए नित्य जाग्रत् करे, क्योंकि संसार अत्यन्त दुःखदायी है ॥ ३० ॥

जैसे धूलिसे आकाशका सम्बन्ध होनेपर भी धूलिसे आकाश लिप्त नहीं होता और जैसे जलसे कमलका सम्बन्ध होनेपर भी जलसे कमल लिप्त नहीं होता वैसे ही सम्बद्ध हुए शरीरोंसे आत्मा लिप्त नहीं होता ॥ ३१ ॥

जैसे पृथक् स्थित कीचड़ आदिका सुवर्णके साथ संसर्ग होता है ; किन्तु वह सुवर्णतादात्म्यापत्तिरूप परिणतिको वस्तुतः भीतर प्राप्त नहीं होता है वैसे ही जड़ शरीरका आत्माके साथ संसर्ग तो होता है, परन्तु वह आत्मतादात्म्यापत्तिरूप परिणामको वस्तुतः प्राप्त नहीं होता है ॥ ३२ ॥

जैसे आकाशमें हजारों बिन्दुओंकी आकृति और मलिनता असत्य ही प्रतीत

सुखदुःखे न देहस्य सर्वातीतस्य नाऽऽत्मनः ।
एते ह्यज्ञानकर्म्यैव तस्मिन्नष्टे न कस्यचित् ॥ ३४ ॥
न कस्यचित्सुखं किञ्चिद् दुःखं च न च कस्यचित् ।
सर्वमात्ममयं शान्तमनन्तं पश्य राघव ॥ ३५ ॥
इमा याः परिदृश्यन्ते वितताः सृष्टिदृष्टयः ।
पयसीव तरङ्गास्ते पिच्छं व्योम्नीव चाऽऽत्मनि ॥ ३६ ॥
यथा मणिर्ददात्यात्मच्छायाः स्वयमकारणम् ।
तेजोमयीस्तथैवाऽयमात्मा सृष्टीः प्रयच्छति ॥ ३७ ॥
आत्मा जगच्च सुमते नैकं न द्वैतमप्यसत् ।
आभासमात्रमेवेदमित्थं संप्रति जृम्भते ॥ ३८ ॥

होती है वैसे ही आत्मामें सुख और दुःखकी अनुसारिता और अनुभवकर्तृता असत्य ही मूढ़ोंको प्रतीत होती है ॥ ३३ ॥

सुख और दुःख न तो देहके हैं और न सर्वातीत आत्माके हैं। ये अज्ञानके ही हैं, अज्ञानका नाश होनेपर किसीके भी नहीं हैं ॥ ३४ ॥

न तो किसीका कुछ सुख है और न किसीका कुछ दुःख है। हे श्रीरामचन्द्रजी सबको आप अपनी ज्ञानदृष्टिसे अनन्त आत्माका विवर्त और नित्य-प्रशान्त देखिये ॥ ३५ ॥

जो ये विस्तृत सृष्टिदृष्टियाँ चारों ओर दिखाई देती हैं, वे जलमें तरङ्गोंकी तरह और आकाशमें पिच्छककी * तरह आत्मामें ही हैं ॥ ३६ ॥

जैसे मणि किसी प्रकारका व्यापार किये बिना अपने आप तेजोमय अपनी कान्तियोंको फैलाती है वैसे ही यह आत्मा भी कार्यव्यापारके बिना अपने आप सृष्टियोंका प्रसार करता है ॥ ३७ ॥

हे सुमते, आत्मा और जगत् न तो एक (अद्वितीय) हैं और न नाना ही हैं, क्योंकि जगत्का रूप असत् है, भाव यह कि असत्से सत्का न अभेद कहा जा सकता है और न भेद ही कहा जा सकता है। अज्ञानकालमें यह इस प्रकार आभासमात्र ही स्फुरित होता है ॥ ३८ ॥

---

* आंखें आधी बन्द करके सूर्यके सन्मुख सो रहे पुरुषको भ्रान्तिवश जो मयूरकी पूंछके सदृश दिखाई देता है।

समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मैवमाततम् ।
अहमन्यदिदं चाऽन्यदिति भ्रान्तिं त्यजाऽनघ ॥ ३९ ॥
तते ब्रह्मघने नित्ये सम्भवन्ति न कल्पनाः ।
विच्छित्तयः पयोराशौ यथा राम न सन्मयाः ॥ ४० ॥
एकस्मिन्नेव सर्वस्मिन् परमात्मनि वस्तुनि ।
द्वितीया कल्पना नाऽस्ति वह्नौ हिमकणो यथा ॥ ४१ ॥
भावयन्नात्मनाऽऽत्मानं चिद्रूपेणैव चिन्मयम् ।
ऋजूज्ज्वलमये ह्यात्मा स्वयमात्मनि जृम्भते ॥ ४२ ॥
न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जन्माऽस्ति न जन्मवान् ।
यदस्तीह तदेवाऽस्ति विज्वरो भव राघव ॥ ४३ ॥

वास्तवमें तो भ्रान्तिका भी पृथक् निरूपण नहीं किया जा सकता, 'ब्रह्मैवेदं सर्वमात्मैवेदं सर्वम्' इस श्रुतिमें कही गई रीतिसे यह सब ब्रह्म ही है, ऐसा कहते हैं—**'समस्तम्'** इत्यादिसे ।

यह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार यह सब आत्मा ही फैला है । हे अनघ, मैं पृथक् हूँ और जगत् पृथक् है, इस भ्रान्तिका आप परित्याग कीजिये ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सागरमें सन्मय विच्छित्तियाँ (तरङ्गकल्पनाएँ) नहीं हो सकतीं वैसे ही देशकृत परिच्छेदसे शून्य, वस्तुकृत परिच्छेदसे शून्य और कालिक परिच्छेदसे हीन आत्मामें कल्पनाएँ हो ही नहीं सकती हैं ॥ ४० ॥

वास्तविक एकत्वके विरोधसे भी परमात्मामें द्वैतकल्पना नहीं हो सकती, ऐसा कहते है—**'एकस्मिन्'** इत्यादिसे ।

जैसे अग्निमें हिमकणका अस्तित्व नहीं है, वैसे ही अद्वितीय, सर्वात्मक परमात्मवस्तुमें दूसरी कल्पना है ही नहीं ॥ ४१ ॥

अब पूर्वोक्त आत्माके परिचयसे उसमें विश्राम पानेके लिए सदा उसकी भावना करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'भावयन्'** इत्यादिसे ।

नीर क्षीरके समान चिद्रूपताको प्राप्त हुए मनसे ही चिन्मय आत्माकी भावना कर रहा जीव मायाकौटिल्यरूप मालिन्यसे रहित आत्मामें स्वयं प्रकाशित होता है यानी उसीरूपसे स्वयं भासित होता है ॥ ४२ ॥

आत्मभावापन्न पुरुषकी जीवन्मुक्तिरूप विश्रान्ति दिखलाते हैं—**'न शोकोऽस्ति'** इत्यादिसे ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।
अद्वितीयो विशोकात्मा विज्वरो भव राघव ॥ ४४ ॥
समः स्वस्थः स्थिरमतिः शान्तशोकमना मुनिः ।
मौनी वरमणिस्वच्छो विज्वरो भव राघव ॥ ४५ ॥
विविक्तः शान्तसङ्कल्पो धीरधीर्विजिताशयः ।
यथाप्राप्तानुवर्ती च विज्वरो भव राघव ॥ ४६ ॥
वीतरागो निरायासो विमलो वीतकल्मषः ।
नाऽऽदाता न परित्यागी विज्वरो भव राघव ॥ ४७ ॥
विश्वातीतपदं प्राप्तः प्राप्तप्राप्तव्यपूरितः ।
पूर्णार्णववदक्षुब्धो विज्वरो भव राघव ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस आत्मतत्त्वमें न शोक है, न मोह है, न जन्म है और न कोई जन्मवाला है । यहाँ जो है, वही है । आप संतापरहित होइये ॥४३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी,आप सुख-दुःख आदि शारीरिक द्वन्द्वोंके विक्षेपसे रहित, नित्य सत्त्वमें स्थित होनेके कारण रजोगुण और तमोगुणसे होनेवाले मानसिक विक्षेपसे शून्य अतएव शारीरिक विक्षेप और मानसिक विक्षेपकी निवृत्तिके उपायभूत योग, क्षेमकी चिन्तासे विहीन, आत्मवान्, अद्वितीय, शोकरहित और सन्तापरहित होइये ॥ ४४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सर्वत्र सम, अपने स्वरूपमें स्थित, स्थिरबुद्धि, शोकरहित मनवाले मुनि, मौनी, सुन्दर मणिके समान निर्मल और सन्तापरहित होइये ॥ ४५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अविद्या और उसके कार्योंसे विशुद्ध (अविद्या और अविद्याके कार्यसे रहित) शान्तसंकल्प (जिनका संकल्प निवृत्त हो गया है), धीरमति, स्वाधीनचित्त, जैसा मिला उसका अनुसरण करनेवाले और सन्तापरहित होइए ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप विषयोंके रागसे रहित, क्लेशशून्य; निर्मल, निष्पाप, न ग्रहण करनेवाले और न त्याग करनेवाले एवं सन्तापशून्य होइये ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप संसारातीत पदको प्राप्त हुए, प्राप्तव्यवस्तुके प्राप्त होनेसे परिपूर्ण, पूर्ण सागरके समान क्षोभरहित और सन्तापशून्य होइये ॥ ४८ ॥

विकल्पजालनिर्मुक्तो मायाञ्जनविवर्जितः ।
आत्मनाऽऽत्मनि तृप्तात्मा विज्वरो भव राघव ॥ ४९ ॥
अनन्तापारपर्यन्तवपुरात्मविदांवर ।
धराधरशिरोधारो विज्वरो भव राघव ॥ ५० ॥
यथाप्राप्तानुभवनात्सर्वत्राऽनभिवाञ्छनात् ।
त्यागादानपरित्यागाद् विज्वरो भव राघव ॥ ५१ ॥
आत्मन्येवाऽऽत्मनौदार्यं भज पूर्ण इवाऽर्णवः ।
आत्मन्येवाऽऽत्मनाऽऽह्लादं भज पूर्णेन्दुबिम्बवत् ॥ ५२ ॥
विश्वप्रपञ्चरचनेयमसत्यरूपा
नाऽसत्यरूपमनुधावति राम तज्ज्ञः ।
तज्ज्ञोऽसि शान्तकलनोऽसि निरामयोऽसि
नित्योदितोऽसि भव सुन्दरशान्तशोकः ॥ ५३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप विकल्पोंकी परम्पराओंसे रहित, मायारूपी काजलसे शून्य, अपनेसे अपनेमें तृप्त और सन्तापशून्य होइये ॥ ४९ ॥

हे आत्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, आप संसारसे भी विशाल शरीरवाले (सर्वव्यापक), पर्वतोंके सिरके समान श्रेष्ठ यानी सुमेरु पर्वतके तुल्य धीर और सन्ताप रहित होइये ॥ ५० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो कुछ मिल गया उसका भोग करने, सभी जगह अभिलाषा न करने तथा त्याग और ग्रहणका परित्याग करनेसे आप सन्ताप-शून्य होइये ॥ ५१ ॥

पूर्ण सागरके समान अपनेसे ही अपनेमें पूर्णकामताका सेवन कीजिये, पूर्ण चन्द्रमण्डलके समान अपनेसे ही अपनेमें सब तापोंकी निवृत्तिके सुखका अनुभव कीजिये ॥ ५२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सारी प्रपञ्चरचना असत्य है । यह असत्य है, ऐसा जाननेवाला तत्त्वज्ञ पुरुष असत्य स्वरूपका अनुगमन नहीं करता है । हे श्रीराम-चन्द्रजी, आप तत्त्वज्ञानी हैं, आपकी कल्पनाएँ शान्त हो गई हैं, आप दोष-रहित, नित्यप्रकाश और शोकरहित होइये ॥ ५३ ॥

एकातपत्रमवनौ गुरुणोपदिष्टं
सम्यक् सुपालय चिरं समयेह दृष्ट्या ।
राज्यं समस्तगुणरञ्जितराजलोक-
स्त्यागो न युक्त इह कर्मसु नाऽपि रागः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रशमोपदेशो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इमं विश्वपरिस्पन्दं करोमीत्यस्तवैसनम् ।
प्रवर्तते यः कार्येषु स मुक्त इति मे मतिः ॥ १ ॥

यदि तत्त्वज्ञ पुरुष असत्य वस्तुका अनुसरण नहीं करता है, तो राज्य आदिसे मेरा क्या प्रयोजन है, मेरे लिए तो संन्यासका ग्रहण करना ही उचित है, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीका आशय इङ्गित द्वारा समझ कर कहते हैं—**'एका०'** इत्यादिसे ।

पिताजी द्वारा प्रदत्त एकच्छत्र राज्यका अपने गुणोंसे राजाओं और प्रजाओंको प्रसन्नकर आप समान दृष्टिसे चिरकाल तक पालन कीजिये, प्रारब्ध होनेके कारण अवश्य भोगयोग्य कर्मों और उनके फलोंका न त्याग उचित है और न उनमें राग उचित है ॥ ५४ ॥

पाचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

[पहले कर्मगतियोंको कहकर जीवन्मुक्तिरूप अन्तिम जन्मवालोंकी जीवन्मुक्तिके लिए गुणप्राप्तिमें साधारण क्रमका कथन]

आगे कहे जानेवाले गुणोपार्जनक्रमका प्रकृतमें सम्बन्ध दिखानेके लिए प्रस्तुत अनासक्तिसे किये गये अप्रतिषिद्ध कार्योंमें प्रवृत्ति द्वारा जीवन्मुक्त पुरुषका लक्षण कहते हैं—**'इमम्'** इत्यादिसे ।

पौरुषीं तनुमाश्रित्य केचिदेतत्क्रियारताः ।
स्वर्गान्नरकमायान्ति स्वर्गं च नरकात् पुनः ॥ २ ॥
केचित्स्वकर्मणि रता विरता अपि कर्मणः ।
नरकान्नरकं यान्ति दुःखाद् दुःखं भयाद्भयम् ॥ ३ ॥
केचित् स्ववासनातन्तुबद्धाः कर्मफलोदिताः ।
तिर्यक्त्वात् स्थावरतनुं यान्ति तिर्यक्तनुं ततः ॥ ४ ॥
केचिदात्मविदो धन्या विचारितमनोदृशः ।
विच्छिन्नतृष्णानिगडा यान्ति निष्केवलं पदम् ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पुरुष मैं श्रुति, स्मृति और सदाचारसे प्राप्त सकल व्यवहारको अयस्कान्त मणिके समान केवल अपनी सन्निधिसे करता हूँ, यों वासनारहित हो कार्योंमें प्रवृत्त होता है, अज्ञानीके समान कर्तृत्वाभिमानपूर्वक प्रवृत्त नहीं होता, वह मुक्त है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १ ॥

कर्मफलोंमें आसक्ति होनेके कारण ही अज्ञानियोंको अनर्थकी प्राप्ति होती है, ऐसा दिखलाते हैं—**पौरुषीम्**' इत्यादिसे ।

मनुष्यशरीरको पाकर भी कोई मूढ़ अनासक्तिसे कर्मानुष्ठानरूप इस क्रियामें रत नहीं होते, वे कामात्मा पुरुष स्वर्गका भोग करके नरकमें जाते हैं और नरकसे फिर स्वर्गमें आते हैं ॥ २ ॥

निषिद्ध कर्ममें निरत और सत्कर्मसे विरत कोई लोग नरकसे नरक, दुःखसे दुःख और भयसे भयको प्राप्त होते हैं। श्रुति भी है—

'विहितस्याऽननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥'

(विहित कर्मोंको न करनेसे, गर्हित कर्मोंके आचरणसे और इन्द्रियोंकी स्वच्छन्दतासे मनुष्यका पतन होता है) ॥ ३ ॥

नरकोंमें उपभुक्त दुष्कर्मफलोंके क्रमसे तिर्यक् योनिमें उत्पन्न हुए, अपने वासनारूप तन्तुओंसे बंधे हुए कोई जीव तिर्यग् योनिसे वृक्ष आदि स्थावर योनिको प्राप्त होते हैं, उनसे फिर तिर्यग् योनिको जाते हैं ॥ ४ ॥

राजसतामस और शुद्धतामस जीवोंको कह कर शुद्धसात्त्विक जीवोंको कहते है—**'केचित्'** इत्यादिसे ।

पुरा कतिपयान्येव भुक्त्वा जन्मानि राघव ।
अस्मिञ्जन्मनि यो मुक्तस्तस्माद्राजससात्त्विकः ॥ ६ ॥
जातोऽसौ वृद्धिमभ्येति पार्वणश्चन्द्रमा इव ।
कुटजं प्रावृषीवैनं सौभाग्यमनुगच्छति ॥ ७ ॥
यस्येदं जन्म पाश्चात्यं तमाश्वेव महामते ।
विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम् ॥ ८ ॥
आर्यता हृद्यता मैत्री सौम्यता करुणा ज्ञता ।
समाश्रयन्ति तं नित्यमन्तःपुरमिवाऽङ्गनाः ॥ ९ ॥
यः कुर्वन् सर्वकार्याणि पुष्टे नष्टेऽथ तत्फले ।
समः सन् सर्वकार्येषु न तुष्यति न शोचति ॥ १० ॥
तमांसीव दिवा यान्ति तत्र द्वन्द्वानि संक्षयम् ।
शरदीव घनास्तत्र गुणा गच्छन्ति शुद्धताम् ॥ ११ ॥

कोई आत्मज्ञानी धन्य पुरुष, जिन्होंने मनके साक्षी आत्माका विचार कर लिया और जिनकी तृष्णारूपी बन्धनशृङ्खला टूट गयी, परम कैवल्यरूप पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

राजससात्त्विकोंको दिखलाते हैं—'पुरा' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले उत्तरोत्तर उत्कृष्ट कतिपय ही मनुष्यजन्मोंका भोग करके जो इस जन्ममें मुक्त हो गया, इसीलिए वह राजससात्त्विक है ॥ ६ ॥

उसकी शान्ति आदि गुणोंसे अभिवृद्धि कहते हैं—'जातोऽसौ' इत्यादिसे ।

उत्पन्न होकर वह पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान वृद्धिको प्राप्त होता है । जैसे वर्षा ऋतुमें कुटजके वृक्षको पुष्पशोभा प्राप्त होती है, वैसे ही उसे साधनचतुष्टय-सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

हे महामते श्रीरामचन्द्रजी, जिसका यह अन्तिम जन्म है, उसमें ब्रह्मविद्याकी उपायभूत सब निर्मल विद्याएँ शीघ्र ऐसे प्रविष्ट होती हैं, जैसे उत्तम बाँसमें निर्मल मोती प्रविष्ट होते हैं ॥ ८ ॥

जैसे अङ्गनाएँ अन्तःपुरका आश्रय लेती हैं वैसे ही पूज्यता, मनोहरता, मैत्री, सौम्यता, कृपा और अपरोक्षज्ञान नित्य उसका आश्रय लेते हैं ॥ ९ ॥

सब कार्योंको कर रहा जो पुरुष कार्योंके फलके बढ़ने या नष्ट होनेपर सब कर्मोंमें सम होकर, न प्रसन्न होता है, न शोक करता है, उसमें दिनमें अन्धकार-

पेशलाचारमधुरं सर्वे वाञ्छन्ति तं जनाः ।
वेणुं मधुरनिध्वानं वने वनमृगा इव ॥ १२ ॥
नरं पाश्चात्यजन्मानमेवंप्राया गुणश्रियः ।
जातमेवाऽनुधावन्ति बलाका इव वारिदम् ॥ १३ ॥
ततोऽसौ गुणसंपूर्णो गुरुमेवाऽनुगच्छति ।
स तमेवं विवेके वै नियोजयति पावने ॥ १४ ॥
विचारवैराग्यवता चेतसा गुणशालिना ।
देवं पश्यत्यथाऽऽत्मानमेकरूपमनामयम् ॥ १५ ॥
तनोत्ययं विचारेण चारुणा शान्तचेतसा ।
प्रबोधनाय प्रथमं मनोमननमान्तरम् ॥ १६ ॥

राशिके समान सुख, दुःख आदि सब द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं एवं जैसे शरद् ऋतुमें मेघ स्वच्छ हो जाते हैं वैसे ही उसमें पहले मलिन भी धैर्य, श्रद्धा आदि सब गुण निर्मलताको प्राप्त हो जाते हैं । जैसे वनमें वायुसे छिद्रोंके पूर्ण होनेके कारण मधुर ध्वनिवाले बाँसको सब मृग चाहते हैं वैसे ही कोमल आचारसे मधुरतावाले उस पुरुषको सब लोग चाहते हैं ॥ १०—१२ ॥

जैसे उत्पन्न होते ही मेघके पीछे बकपङ्क्ति दौड़ती है, वैसे ही इस प्रकारकी गुणशोभाएं अन्तिम जन्मवाले पुरुषका बचपनसे ही अनुसरण करती हैं ॥ १३ ॥

इस प्रकार गुणोंकी सम्पत्ति होनेपर गुरुमुखसे श्रवणमें अधिकार होता है । अपक्वचित्तवाले पुरुषोंका गुरुमुखसे श्रवणमें अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं— **'ततोऽसौ'** इत्यादिसे ।

तदनन्तर गुणोंसे परिपूर्ण वह जीवन्मुक्त पुरुष गुरुका ही अनुगमन करता है । गुरु उसे आत्मतत्त्व एवं अनात्मतत्त्वके विवेकमें उपायोंका उपदेश देकर अपनी बुद्धिसे भी मननरूप पवित्र कार्यमें प्रवृत्त करता है ॥ १४ ॥

इस प्रकारके गुणोंसे परिपूर्ण पुरुषको ही गुरुपूर्वक श्रवण आदिसे साक्षात्कार-प्राप्ति होती है, ऐसा दिखलाते हैं—**'विचार०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर विचार-वैराग्यवाले गुणशाली चित्तसे आनन्दैकरस निर्विकार स्वयंप्रकाश आत्माका वह साक्षात्कार करता है ॥ १५ ॥

यह विचारसे सुन्दर तथा शान्त चित्तसे पहले आभ्यन्तर मनोमननको ज्ञानके

ये हि पाश्चात्यजन्मानस्ते हि सुप्तं मनोमृगम् ।
प्रबोधयन्ति प्रथमं गुणहीनं महागुणाः ॥ १७ ॥
प्रथितगुणान् सुगुरून्निषेव्य यत्ना-
दमलधिया प्रविचार्य चित्तरत्नम् ।
गतिममलामुपयान्ति मानवास्ते
परमवलोक्य चिरं प्रकाशमन्तः ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रथमोपदेशो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

लिए बढ़ाता है । जो अन्तिम जन्मवाले जीवन्मुक्त पुरुष हैं, वे महागुणी पुरुष सोये हुए मनरूपी मृगको ऐसे बोधित करते हैं, जैसे वह निर्गुण ब्रह्म ही हो जाता है ॥ १७ ॥

पूर्वोक्त अर्थका संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—**'प्रथित०'** इत्यादिसे ।

वे पूर्वोक्त गुणोंसे सम्पन्न अन्तिम जन्मवाले मनुष्य जिनके जीवन्मुक्तिरूप गुण प्रख्यात हैं, ऐसे सुगुरुओंकी प्रयत्नसे सेवा कर उनसे प्रदर्शित युक्तियोंसे निर्मल हुई बुद्धि द्वारा चित्तके अन्तर्गत प्रत्यगात्मरूप रत्नका विचार कर, चित्तके अन्दर प्रकाशमान, प्रत्यगभिन्न ब्रह्मका चिरकालतक साक्षात्कार कर उनके साक्षात्कारमात्रसे ही ब्रह्मभावापत्तिस्वरूप निर्मल (माया और उसके कार्यरूपी मलसे निर्मुक्त) परम पुरुषार्थरूप गतिको अपने स्थानमें ही प्राप्त करते हैं । उपासकके समान उत्क्रमणपूर्वक लोकान्तरमें जाकर नहीं, यह मतलब है ॥ १८ ॥

छठा सर्ग समाप्त

सप्तमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एष तावत्क्रमः प्रोक्तः सामान्यः सर्वदेहिनाम् ।
इममन्यं विशेषं त्वं शृणु राजीवलोचन ॥ १ ॥
अस्मिन् संसारसंरम्भे जातानां देहधारिणाम् ।
अपवर्गक्षमौ राम द्वाविमावुत्तमौ क्रमौ ॥ २ ॥
एकस्तावद्गुरुप्रोक्तादनुष्ठानाच्छनैः शनैः ।
जन्मना जन्मभिर्वाऽपि सिद्धिदः समुदाहृतः ॥ ३ ॥
द्वितीयस्त्वात्मनैवाऽऽशु किञ्चिद्व्युत्पन्नचेतसाम् ।
भवति ज्ञानसंप्राप्तिराकाशफलपातवत् ॥ ४ ॥

सातवाँ सर्ग

[अपने विचारसे कुछ व्युत्पन्न चित्तवाले पुरुषकी आकाशसे फल-पतनके समान ज्ञानप्राप्तिका वर्णन]

पूर्वोक्त साधारण क्रमका अनुवाद कर किसी बड़भागी पुरुषका पूर्वोक्त क्रमके बिना ही प्राप्त एकमात्र अपने विचारसे ही सहसा सर्वगुणसम्पत्तिसहित ज्ञानोदय-रूप विशेष दिखलाते हैं—'एष' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे कमलदलायतनयन, यह (पूर्वोक्त) सब देहधारियोंका साधारणक्रम मैंने आपसे कहा । इस समय आप नीचे कहे जा रहे दूसरे क्रमको सुनिये ॥ १ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसाराडम्बरमें उत्पन्न हुए देहधारी जीवोंको मोक्षरूप फल देनेमें समर्थ ये (पूर्वोक्त और आगे कहा जा रहा) दो उत्तम क्रम हैं ॥२॥

उनमेंसे एक तो यानी पूर्वोक्त क्रम गुरुके उपदेशके अनुसार आचरण करनेसे धीरे-धीरे एक जन्मसे अथवा अनेक जन्मोंसे मोक्षरूप सिद्धि देनेवाला कहा गया है ॥ ३ ॥

दूसरा (आगे कहा जा रहा) क्रम तो है—दैववश प्राप्त जीव और जगत्-तत्त्वके विचारवाले लोगोंको स्वयं ही शीघ्रतासे आकाशसे फलपतनके तुल्य ज्ञान-प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

नभःफलनिपाताभज्ञानसंप्रतिपत्तये ।
तत्रेमं शृणु वृत्तान्तं प्राक्तनं कथयामि ते ॥ ५ ॥
शृणु सुभग कथां महानुभावा
व्यपगतपूर्वशुभाशुभार्गलौघाः ।
खपतितफलवत् परं विवेकं
चरमभवा विमलं समश्नुवन्ति ॥ ६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे आकाशफलप्राप्तिवज्ज्ञानसंप्राप्तिक्रमसूचनं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अस्त्यस्तमितसर्वापदुद्यत्सम्पदुदारधीः ।
विदेहानां महीपालो जनको नाम वीर्यवान् ॥ १ ॥

दूसरे क्रममें जनककी आख्यायिकाका दृष्टान्त देनेवाले श्रीवसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'**नभःफल०**' इत्यादिसे ।

उक्त क्रममें आकाशसे फल गिरनेके तुल्य ज्ञानप्राप्तिके लिए इस प्राचीन वृत्तान्तको आप सुनिये, मैं आपसे कहता हूँ ॥ ५ ॥

हे सकलैश्वर्यसम्पन्न श्रीरामचन्द्रजी, अन्तिम जन्मवाले महानुभाव पुरुष, जिनके पूर्वसंचित पुण्य-पापरूप मोक्षके प्रतिबन्ध नष्ट हो चुके हैं, निर्मल परम विवेकको जैसे आकाशसे निपतित फलके तुल्य प्राप्त करते हैं वैसी वक्ष्यमाण कथाको आप सुनिये ॥ ६ ॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

[वसन्त ऋतुमें उपवनमें विहार कर रहे श्रीजनकजीने सिद्धों द्वारा गीत शुभ श्लोक सुने, यह वर्णन]

महाबली उदारमति श्रीजनकजी, जिनकी सब आपत्तियाँ निवृत्त हो चुकी थीं और दिन दूनी और रात चौगुनी सम्पत्ति बढ़ रही थी, विदेह देशोंके शासक थे ।

कल्पवृक्षोऽर्थिसार्थानां मित्राब्जानां दिवाकरः ।
माधवो बन्धुपुष्पाणां स्त्रीणां मकरकेतनः ॥ २ ॥
द्विजकैरवशीतांशुर्द्विषत्तिमिरभास्करः ।
सौजन्यरत्नजलधिर्भुवं विष्णुरिवाऽऽस्थितः ॥ ३ ॥
प्रफुल्लबाललतिके मञ्जरीपुञ्जपिञ्जरे ।
स कदाचिन्मधौ मत्ते कोकिलालापलासिनि ॥ ४ ॥
ययौ कुसुमिताभोगं सुविलासलताङ्गनम् ।
लीलयोपवनं कान्तं नन्दनं वासवो यथा ॥ ५ ॥
तस्मिन् वरवने हृद्ये केसरोद्दाममारुते ।
दूरस्थानुचरः सानुकुञ्जेषु विचचार ह ॥ ६ ॥
अथ शुश्राव कस्मिंश्चित्तमालवनगुल्मके ।
सिद्धानामप्रदश्यानां स्वप्रसङ्गादुदाहृताः ॥ ७ ॥

वे याचकोंके (मनोरथपूर्ण करनेके कारण) कल्पवृक्ष थे, इष्टमित्ररूपी कमलोंके सूर्यके तुल्य विकासकारी थे, बन्धुबान्धवरूपी फूलोंकी वसन्त ऋतुके तुल्य अभिवृद्धि करनेवाले थे, स्त्रियोंके कामदेवतुल्य रतिवर्द्धक थे, ब्राह्मणरूपी कुमुदोंके लिए चन्द्रमा थे यानी चन्द्रमाके तुल्य उल्लासक थे, शत्रुरूपी अन्धकारके लिए भास्कर थे यानी भगवान् सूर्यके तुल्य उनके निवर्तक थे, सौजन्यरूपी मणियोंके सागर थे और भगवान्‌के तुल्य पालनके लिए वे पृथिवीमें स्थित थे ॥ १—३ ॥

किसी समय फूली हुई छोटी-छोटी लताओंसे भरी हुई वसन्त ऋतुमें, जो मतवालेके समान बढ़ रही थी, कोकिलोंके गानोंसे मानो नाच रही थी और थी मञ्जरियोंकी राशियोंसे पीली, महाराज जनक जैसे देवराज इन्द्र सुन्दर नन्दनवनमें जाते हैं वैसे ही सुन्दर उपवनमें, जिसका सारा भाग प्रफुल्लित था, सुन्दर विलास-वाली लताओं और महिलाओंसे भरा था, लीलासे गये ॥ ४, ५ ॥

उस मनोरम श्रेष्ठ उपवनमें, जिसमें केसरोंमें स्थित पराग, सुगन्धि और मकरन्दके कणोंको हरनेमें—न कि धूलि उड़ाने आदिमें—समर्थ उद्दाम यानी मन्द, सुगन्ध और शीतल वायु बह रहे थे, अनुचरोंको दूर रखकर उन्होंने क्रीड़ाशैलके शिखरोंपर उगे हुए लतागृहोंमें विचरण किया ॥ ६ ॥

हे कमलनयन, तदनन्तर उन्होंने किसी तमालवृक्षकी झाड़ीमें छिपे हुए,

विविक्तवासिनां नित्यं शैलकन्दरचारिणाम् ।
इमाः कमलपत्राक्ष गीता गीतात्मभावनाः ॥ ८ ॥

सिद्धा ऊचुः

द्रष्टृदृश्यसमायोगात् प्रत्ययानन्दनिश्चयः ।
यस्तं स्वमात्मतत्त्वोत्थं निःस्पन्दं समुपास्महे ॥ ९ ॥

अन्ये ऊचुः

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शनप्रथमाभासमात्मानं समुपास्महे ॥ १० ॥

सदा पर्वतोंकी गुफाओंमें विचरण करनेवाले, एकान्तमें निवास करनेवाले सिद्धोंकी अपने अनुग्रहके लिए कही गई तथा श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहासोंसे गीत आत्म-तत्त्वकी श्रवणमात्रसे साक्षात् भावना करानेवाली निम्न लिखित गीताएँ सुनीं ॥७,८॥

सिद्धोंने कहा—चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा विषयोंके प्रमाताका स्रक्, चन्दन, वनिता आदि विषयके साथ सम्बन्ध होनेसे उत्पन्न हुई विषयाकार बुद्धिवृत्तिमें स्वयं प्रकाशमान जो आनन्दरूप निश्चय है, तद्रूप आत्मतत्त्वके परिशोधन द्वारा निरतिशय भूमारूपसे आविर्भूत आत्माका, निर्विकल्पक समाधि द्वारा बाहरी और अन्तःकरणके स्पन्दका त्याग कर, हम निरन्तर अनुभव करते है । भाव यह कि विषयाकार वृत्तिमें स्वयं प्रकाशमान आनन्द विषयकोटिमें नहीं आ सकता, क्योंकि उसे विषय मानो तो वह जड़ हो जायगा । कर्ता, करण और वृत्तिकोटिमें भी नहीं आ सकता, क्योंकि वे कारक हैं । आनन्दरूप,साध्यका तदवयव (साधनका अङ्ग) होना अनुभवविरुद्ध है । इसलिए वह साक्षिकोटिमें ही आता है । साक्षी ही अविद्यारूपी आवरणसे मन्द चिदा-नन्दस्वभाववाला होकर अन्य अहङ्कारात्माकी कल्पना कर मानो उसकी अङ्गताको प्राप्त होकर विषयाकार वृत्तिसे आविर्भूत अपने आनन्दको उसका अङ्ग बनाता हुआ-सा निरतिशय आनन्दरूप अपने आत्माको नहीं जानता है ; अतएव उसी स्वतत्त्वके विचारसे आविर्भूत निरतिशयानन्दस्वभावकी समाधिस्थ मनसे हम उपासना करते हैं । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (इसी आनन्दकी मात्राका—एक अंशका—अन्य प्राणी उपजीवन करते हैं) इस श्रुतिसे ब्रह्मानन्दकी ही अविद्या द्वारा विषयाकारवृत्तिके परिच्छेदसे विषयानन्दत्वप्रतीति होती है ॥ ९ ॥

औरोंने कहा—द्रष्टा, दर्शन, दृश्य इस त्रिपुटीका वासनाके साथ त्याग कर चाक्षुष, मानस आदि वृत्तियोंके पहले ही उन वृत्तियोंकी उत्पत्तिमें साक्षीरूपसे भास-

अन्ये ऊचुः

द्वयोर्मध्यगतं नित्यमस्ति नास्तीति पक्षयोः ।
प्रकाशनं प्रकाश्यानामात्मानं समुपास्महे ॥ ११ ॥

अन्ये ऊचुः

यस्मिन् सर्वं यस्य सर्वं यतः सर्वं यस्मायिदम् ।
येन सर्वं यद्धि सर्वं तत्सत्यं समुपास्महे ॥ १२ ॥

मान आत्माकी हम लोग उपासना करते हैं। द्रष्टा आदि त्रिपुटीके त्यागसे दो अवस्थाओंका (जाग्रत्-स्वप्नका) त्याग कहा। 'वासनाके साथ' इससे तो पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओंकी बीजभूत वासनासे पूर्ण सौषुप्त अज्ञानका भी निरास कहा। 'चाक्षुष मानस आदि वृत्तियोंके पूर्व ही उनकी उत्पत्तिमें साक्षीरूपसे भासमान' इससे पहलेसे सिद्ध त्रिपुटीका साक्षी सर्वानुभवसिद्ध है, यों पृथक् करके दर्शाया है। उसी बीजसहित त्रिपुटीके त्यागसे तुरीय आत्माकी हम लोग उपासना करते हैं, यह अर्थ है ॥ १० ॥

दर्शनके (मानस-चाक्षुषवृत्तिके) पहले उनकी उत्पत्तिका साक्षीरूप जो तत्त्व है, उसके विषयमें जो लोग अस्ति, नास्ति इस प्रकारका संदेह करते हैं, उनके प्रति भी दोनों (अस्ति-नास्ति) पक्षोंके अविरुद्ध साक्षीको दर्शाते हुए दूसरे सिद्ध लोग कहते हैं—'**द्वयोः**' इत्यादिसे।

जो लोग—मानस, चाक्षुष आदि वृत्तियोंके पहलेसे ही सिद्ध उनकी उत्पत्तिका साक्षीभूत तत्त्व है, परन्तु वह भी जन्य ही है, नित्य नहीं है—ऐसा कहते हैं, उनके पक्षमें पूर्व-पूर्वके आभासोंके स्वप्रकाशता अथवा स्वविषयता दोनों पक्षोंमें स्वमात्रके भानमें परिक्षीण होनेसे वे पूर्वोत्तर विज्ञानोंका स्पर्श नहीं कर सकते। इसलिए उनमें उनकी (पूर्वोत्तर विज्ञानकी) उत्पत्ति आदिकी साक्षिता नहीं हो सकती। स्वयं अपनी उत्पत्ति आदिका साक्षी तो हो नहीं सकता, क्योंकि अपनी उत्पत्तिके पहले वह स्वयं असिद्ध है, इसलिए कोई दूसरा ही साक्षी आवश्यक है, अतएव अस्ति पक्षके मध्यगत और अविरुद्ध एवं जो लोग साक्षी नहीं है, ऐसा कहते हैं उनकी नास्तिता भी साक्षीरहित होनेके कारण असिद्ध ही है, अतएव उस पक्षका साधक होनेसे उस पक्षके मध्यगत और उसके अविरुद्ध तथा प्रकाश्योंका प्रकाशक जो नित्य आत्मा है, उसकी हम उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

औरोंने कहा—जिसमें यह सब है, जिसका यह सब है, जिससे यह सब

अन्ये ऊचुः

अशिरस्कं हकारान्तमशेषाकारसंस्थितम् ।
अजस्रमुच्चरन्तं स्वं तमात्मानमुपास्महे ॥ १३ ॥

अन्ये ऊचुः

सन्त्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये ।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः ॥ १४ ॥

अन्ये ऊचुः

सर्वाशाः किल सन्त्यज्य फलमेतदवाप्यते ।
येनाऽऽशाविषवल्लीनां मूलमाला विलूयते ॥ १५ ॥

अन्ये ऊचुः

बुद्ध्वाऽप्यत्यन्तवैरस्यं यः पदार्थेषु दुर्मतिः ।
बध्नाति भावनां भूयो नरो नाऽसौ स गर्दभः ॥ १६ ॥

है, जिसके लिए यह सब है, जिसके द्वारा यह सब है। जो यह सब है, उस सत्यकी हम उपासना करते हैं ॥ १२ ॥

औरोंने कहा—'अ' सिरके समान जिसका प्रथम वर्ण है और 'ह' जिसके अन्तमें है यानी अकारादि-हकारान्त समस्त वस्तुओंके प्रकाशक वेद-शास्त्र आदि शब्दसमूहके प्रकृतिभूत समस्त वर्णोंका अक्षरसमाम्नायमें (आकारादि हकारान्त-समुदायमें) निवेश होनेसे सम्पूर्ण जगत्के आकारवाले सप्रपञ्च ब्रह्ममें अनुगत, 'अह्नोति व्याप्नोति' इस व्युत्पत्ति द्वारा अशेषाकार यानी आकाररहित निर्गुण ब्रह्ममें भी स्थित तथा निरन्तर क्रियमाण स्वव्यवहारोंमें उच्चार्यमाण अहंपदके वाच्य स्वात्मभूत ब्रह्मात्माकी हम लोग निरन्तर भावना करते हैं ॥ १३ ॥

औरोंने कहा—हृदयगुहामें स्थित देदीप्यमान ईश्वरका त्याग कर जो लोग अन्यके पास जाते हैं, वे हाथमें आये कौस्तुभमणिका त्याग कर अन्य रत्नोंकी चाह करते हैं ॥ १४ ॥

औरोंने कहा—सम्पूर्ण आशाओंका त्याग कर हृदयमें स्थित ज्ञानका फलरूप यह ब्रह्म प्राप्त होता है, जिसके लाभसे वासनाजालोंसे जटिल हृदयग्रन्थि, जो विषवल्लियोंकी मूलपरम्परा है, कट जाती है ॥ १५ ॥

औरोंने कहा—जो दुर्बुद्धि पुरुष भोग्यविषयोंमें अत्यन्त नीरसताको जानकर भी उनमें भोगतृष्णा करता है, वह नर नहीं है, वह गर्दभ है ॥ १६ ॥

अन्ये ऊचुः

उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रियाहीन् पुनःपुनः ।
हन्याद्विवेकदण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन् ॥ १७ ॥

अन्ये ऊचुः

उपशमसुखमाहरेत् पवित्रं
सुशमवतः शममेति साधुचेतः ।
प्रशमितमनसः स्वके स्वरूपे
भवति सुखे स्थितिरुत्तमा चिराय ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सिद्धगीता नाम अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति सिद्धगणोद्गीता गीताः श्रुत्वा महीपतिः ।
विषादमाजगामाऽऽशु· भीरू रणरवादिव ॥ १ ॥

औरोंने कहा—जैसे इन्द्र वज्रसे पर्वतोंके ऊपर प्रहार करते हैं वैसे ही पुनः पुनः उठे हुए इन इन्द्रियरूपी सांपोंपर विवेकरूपी दण्डसे प्रहार करना चाहिये॥१७॥

औरोंने कहा—पवित्र उपशम सुखको प्राप्त करे। शमवान् पुरुषका विशुद्ध चित्त शान्तिको प्राप्त होता है। जिस पुरुषका चित्त उपशमको प्राप्त हो गया, उसकी निरतिशय सुखरूप अपने स्वरूपमें चिरकालतक उत्तम स्थिति होती है॥१८॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नवाँ सर्ग

[यह सुनकर निर्वेदसे घर आये हुए राजाका अर्थोंके मूलकारणके विचारसे मनका निर्णयकथन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—सिद्ध गणोंसे गाई गईं इन गीताओंको सुनकर राजा जनक जैसे डरपोक आदमी रणके कोलाहलसे दुःखी होता है वैसे ही शीघ्र दुःखी हुए ॥ १ ॥

जगाम परिवारं स्वमाकर्षन् स्वगृहं प्रति ।
स्वतीरवृक्षानुगतः सरिदोघ इवाऽर्णवम् ॥ २ ॥
परिवारमशेषेण विसृज्य स्वं स्वमालयम् ।
एक एवाऽऽरुरोहाऽग्र्यं गृहमर्क इवाऽचलम् ॥ ३ ॥
तत्र प्रोड्डयनालोलखगपक्षतिचञ्चलाः ।
आलोकयँल्लोकगतीर्विललापेदमाकुलः ॥ ४ ॥
हा कष्टमतिकष्टासु लोकलोलदशास्वयम् ।
पाषाणेष्विव पाषाणा आलुठामि बलादहम् ॥ ५ ॥
अपर्यन्तस्य कालस्य कोऽप्यंशो जीव्यते मया ।
तस्मिन् भावं निबध्नामि धिङ्मामधमचेतनम् ॥ ६ ॥
कियन्मात्रमिदं नाम राज्यमाजीवितं मम ।
किमेतेन विना दुःखं तिष्ठामि हतधीर्यथा ॥ ७ ॥
आदावन्तेऽप्यनन्तोऽहं मध्ये पेलवजीवितः ।
बालश्चित्रेन्दुनेवाऽहं किं मुधा धृतिमास्थितः ॥ ८ ॥

अपने परिवारको ले जा रहे वे अपने घरके प्रति ऐसे गये जैसे नदीका वेग अपने तीरवर्ती वृक्षोंसे अनुगत होकर सागरको जाता है ॥ २ ॥

अपने सारे परिवारको अपने-अपने घरमें छोड़कर जैसे सूर्य उदयाचलपर चढ़ते हैं वैसे ही वे अकेले ही उत्तम प्रासादपर चढ़े ॥ ३ ॥

वहांपर उड़नेके लिए तत्पर पक्षियोंके डैनोंके समान चंचल लोकगतिको देख रहे राजाने व्याकुल होकर यह विलाप किया ॥ ४ ॥

बड़े खेदकी बात है कि जीवोंकी जन्म, जरा, रोग, मरण आदिसे चंचल दशाओंमें, जो अति कष्ट देनेवाली हैं, पत्थरोंपर पत्थरोंके समान जबर्दस्ती मैं लोट रहा हूँ ॥ ५ ॥

जिस कालका अन्त ही नहीं, उसका एक अति सूक्ष्म अंश मेरा जीवन है, उस जीवनमें मैं आशा रखता हूँ, मुझ जड़के लिए धिक्कार है ॥ ६ ॥

जीवितपर्यन्त रहनेवाला मेरा यह राज्य कितना है ? केवल इससे ही सन्तुष्ट होकर मैं मूर्खके समान आनेवाले दुःखोंके प्रतिकारकी चिन्ताके बिना क्यों बैठा हूँ ॥ ७ ॥

मैं आदि और अन्तमें अनन्त हूँ । मध्यमें तुच्छ थोड़ा-सा जीवनवाला हूँ ।

प्रपञ्चरहितेनाऽहमिन्द्रजालेन जालिना ।
हा कष्टमतिमुह्यामि केनाऽस्मि परिमोहितः ॥ ९ ॥
यद्वस्तु यच्च वा रम्यं यदुदारमकृत्रिमम् ।
किञ्चित्तदिह नाऽस्त्येव क्विनिष्ठेह मतिर्मम ॥ १० ॥
दूरस्थमप्यदूरस्थं यन्मे मनसि वर्तते ।
इति निश्चित्य बाह्यार्थभावनां सन्त्यजाम्यहम् ॥ ११ ॥
लोकाजवं जवीभावः सलिलावर्तभङ्गुरः ।
दृष्टोऽद्यापि हि दुःखाय केयमास्था सुखं प्रति ॥ १२ ॥

जैसे बालक चित्रमें लिखे गये चन्द्रमासे ही, जो कि चन्द्रमाकी बुद्धिसे ज्ञात है, न कि वास्तविक चन्द्रमा है, आश्वासनको प्राप्त होता है, वैसे ही आत्मरूपसे ज्ञात इस देहसे मैं व्यर्थ आश्वासनको क्यों प्राप्त हुआ ? ॥ ८ ॥

किस ऐन्द्रजालिकने प्रपञ्चरहित इन्द्रजाल द्वारा मुझे मोहित किया । ओह ! कष्ट है कि मैं अत्यन्त मोहित हो रहा हूँ ॥ ९ ॥

जो सत्य है, जो एकमात्र सुखरूप है, जो अपरिच्छिन्न है और जो अजन्य है, ऐसी कोई वस्तु इस संसारमें नहीं ही है । मेरी बुद्धि कहाँ विश्रान्त हो ? ॥ १० ॥

यदि कोई शङ्का करे कि दूर देशमें शायद कोई वैसी वस्तु प्रसिद्ध हो ? इसपर नहीं ऐसा कहते हैं—**'दूरस्थम्'** इत्यादिसे ।

दूरस्थरूपसे प्रसिद्ध भी जो कोई वस्तु है, वह वस्तुतः समीपस्थ ही है, क्योंकि वह मेरे मनमें विद्यमान है । मन देहके बाहर दूर तो जाता नहीं है । यदि वह दूर जावे, तो दूरमें ही उसकी प्रतीतिका अनुभव होगा, न कि हृदयमें । हृदयमें ही सब लोग बाह्य वस्तुके बोधका अनुभव करते हैं, इसलिए भीतर भासमान दूर आदिकी कल्पना भी वास्तविक नहीं है, किन्तु अनर्थ ही है, अतः दूर आदिकी कल्पना त्याज्य ही है, उपादेय नहीं है, ऐसा निश्चय करके मैं बाह्य अर्थकी भावनाका त्याग कर रहा हूँ ॥ ११ ॥

लोगोंके भोगके लिए धनोपार्जन आदिमें प्रवृत्तिरूप जो आवेग है, वह जलकी भँवरीकी तरह नश्वर तथा जन्म, मरण आदि दुःखका हेतु प्रायः देखा गया है । इसलिए आज भी विषय-सुखके प्रति मेरी यह आस्था कैसी ? ॥ १२ ॥

प्रत्यब्दं प्रतिमासं च प्रत्यहं च प्रतिक्षणम् ।
सुखानि दुःखपिण्डानि दुःखानि तु पुनःपुनः ॥ १३ ॥
परामृष्टं विशिष्टं हि दृष्टं नष्टं न भावितम् ।
अत्रस्थं न तदस्तीह सतां यत्राऽस्तु संस्थितिः ॥ १४ ॥
अद्य ये महतां मूर्ध्नि ते दिनैर्निपतन्त्यधः ।
हतचित्त महत्तायां कैषा विश्वस्तता बत ॥ १५ ॥
अरज्जुरेव बद्धोऽहमपङ्कोऽस्मि कलङ्कितः ।
पतितोऽस्म्युपरिस्थोऽपि हा ममात्मन् हता स्थितिः ॥ १६ ॥
कस्मादकस्मान्मोहोऽयमागतो धीमतोऽपि मे ।
असितः पिहितालोको भास्कराग्रमिवाऽम्बुदः ॥ १७ ॥
क इमे मे महाभोगाः क इमे मम बान्धवाः ।
बालो भूतभयेनेव सङ्केतेनाऽहमाकुलः ॥ १८ ॥

प्रतिवर्ष, प्रतिमास, प्रतिदिन, प्रतिक्षण जो दुःखसे निविड़ सुख हैं, दुःख ही हैं ॥ १३ ॥

इस संसारमें कुछ कालतक देखे गये, तदनन्तर तुरन्त नष्ट हुए स्वाराज्य आदि पदका अत्यन्त तुच्छ होनेके कारण चिन्तन भी मैंने नहीं किया । सर्वोच्च जो ऐन्द्र, प्राजापत्य आदि पद हैं, उनका अच्छी तरह विचार किया, किन्तु जहाँ विवेकी पुरुषोंकी आत्यन्तिक विश्रान्ति होती हो, वैसी कोई वस्तु यहाँ नहीं ही है ॥ १४ ॥

आज जो बड़े लोगोंके मस्तकपर विराजमान हैं यानी महत्तम हैं, वे कुछ ही दिनोंमें नीचे गिर जाते हैं, हे दुष्ट चित्त भला बतलाओ तो सही महत्तामें (राज्य आदिके वैभवके उत्कर्षमें) मेरा क्या विश्वास हो ? ॥ १५ ॥

मैं बिना रस्सीके ही बँधा हूँ । बिना पङ्कके ही कलङ्कसे युक्त हूँ । सबसे ऊपर स्थित होकर भी नीचे गिरा हूँ । ओह ! स्वरूपमें मेरी जो स्थिति है, वह नष्ट हो गई ॥ १६ ॥

यद्यपि मैं बुद्धिमान् हूँ तथापि जैसे सूर्यके सामने प्रकाशको आच्छादित करनेवाला काला मेघ आता है, वैसे ही मेरे सामने आत्मप्रकाशको आच्छादित करनेवाला यह मोह कहाँसे आया ? ॥ १७ ॥

ये महाभोग मेरे कौन हैं ? ये बन्धुगण मेरे कौन हैं ? जैसे बालक भूतके

स्वयमेव निबध्नामि जरामरणरागिणीम् ।
किमिमामहमेतेषु धृतिमुद्वेगकारिणीम् ॥ १९ ॥
यातु तिष्ठतु वा सम्यङ्मैतां प्रति को ग्रहः ।
बुद्बुदश्रीरिवैषा हि मिथ्यैवेत्थमुपस्थिता ॥ २० ॥
ते महाविभवा भोगास्ते सन्तः स्निग्धबान्धवाः ।
सर्वं स्मृतिपथं प्राप्तं वर्तमानेऽपि का धृतिः ॥ २१ ॥
क्व धनानि महीपानां ब्रह्मणः क्व जगन्ति वा ।
प्राक्तनानि प्रयातानि केयं विश्वस्तता मम ॥ २२ ॥
गिलितानीन्द्रलक्षाणि बुद्बुदानीव वारिणि ।
मां जीवितनिबद्धास्थं विहसिष्यन्ति साधवः ॥ २३ ॥
ब्रह्मणां कोटयो याता गताः सर्गपरम्पराः ।
प्रयाताः पांसुवद्भूपाः का धृतिर्मम जीविते ॥ २४ ॥

भयसे व्याकुल हो उठता है वैसे ही मैं इनमें ममतारूप सम्बन्धकी कल्पनासे व्याकुल हो गया हूँ ॥ १८ ॥

इन भोगोंमें जरा, मरणको प्राप्त करानेवाली एवं उद्वेग देनेवाली इस आस्थाको मैं स्वयं ही क्यों बाँध रहा हूँ ? ॥ १९ ॥

यह भोग और बान्धव आदिकी सम्पत्ति भले ही अच्छी तरहसे चली जाय या रहे, इसके प्रति मेरा क्या आग्रह है ? बुद्बुद्की शोभाकी भाँति यह मिथ्या ही इस प्रकार प्राप्त हुई है ॥ २० ॥

पृथु, मरुत्त आदि चक्रवर्ती राजाओंके वे महाविभव, वे सुन्दर गुणवाले, स्नेहयुक्त बान्धव सभी इस समय जब स्मृतिशेष हो गये हैं यानी वे विद्यमान नहीं हैं, तब फिर वर्तमानमें भी क्या आस्था ? ॥ २१ ॥

प्राचीन राजाओंके प्राक्तन धन कहाँ गये, पूर्वकल्पीय ब्रह्माके प्राचीन जगत् कहाँ गये, यानी सभी नष्ट हो गये, तो फिर धन आदिमें मेरी क्या आस्था हो ? ॥२२॥

जैसे जलमें बुद्बुद कालसे नष्ट हो जाते हैं वैसे ही लाखों इन्द्र काल द्वारा नष्ट कर दिये गये, इसलिए यदि मैं जीवनमें आस्था बाँध रक्खूँ, तो विवेकी लोग हँसेंगे ॥ २३ ॥

करोड़ों ब्रह्मा नष्ट हो गये, सृष्टिपरम्पराएँ बीत गईं, धूलिकी तरह राजा लोग मिट्टीमें मिल गये । भला मेरे जीवनमें क्या विश्वास है ? ॥ २४ ॥

संसाररात्रिदुःस्वप्ने चेत्ये देहमये भ्रमे ।
आस्थां चेदनुबध्नामि तत्रेमां तु धिगस्थितिम् ॥ २५ ॥
अयं सोऽहमिति व्यर्थकल्पनाऽसत्स्वरूपिणी ।
अहङ्कारपिशाचेन किमज्ञवदहं स्थितः ॥ २६ ॥
हतं हतमिदं कस्मादायुराततयाऽनया ।
पश्यन्नपि न पश्यामि सूक्ष्मया काललेखया ॥ २७ ॥
पादपीठे कृतेशानाः शार्ङ्गिक्रीडनकन्दुकाः ।
कालकापालिका ग्रस्ताः किमास्थे मयि वल्गसि ॥ २८ ॥
अजस्रमुपयान्त्येते यान्ति चाऽद्यापि वासराः ।
अविनष्टैकसद्वस्तुर्दृष्टो नाऽद्याऽपि वासरः ॥ २९ ॥
सारसाः सरसीवैते सर्वस्मिञ्जनचेतसि ।
भोगा एव स्फुरन्त्यन्तर्न तु स्वपददृष्टयः ॥ ३० ॥

संसाररूपी रात्रिके दुःस्वप्नभूत, देहमय, अहंममताव्यवहारभ्रममें यदि मैं आस्था रखता हूँ, तो मेरी इस अविवेकिताको धिक्कार है ॥ २५ ॥

शरीरसन्निहित वस्तुमें अपरोक्षताकी कल्पना, शरीरविप्रकृष्ट वस्तुमें परोक्षताकी कल्पना और शरीरमें आत्मताकी कल्पना यह तीन प्रकारकी कल्पना असत्यरूप ही है । अहङ्काररूपी पिशाचके द्वारा मोहित हुआ मैं क्यों अज्ञकी नाईं इतने कालतक विचाररहित होकर स्थित हूँ ? ॥ २६ ॥

मैं इस क्षण, निमेष, मुहूर्त आदिरूप फैली हुई कालरेखासे प्रतिक्षण नष्ट हो रही अपनी आयुको देख रहा हूँ फिर भी मैं न मालूम क्यों नहीं विचार करता हूँ ? ॥ २७ ॥

जिन्होंने ब्रह्मा आदि उत्तम अधिकारियोंको अपने चरणोंपर झुका दिया एवं विष्णु आदिकी देहको क्रीड़ाकन्दुककी भाँति युद्ध आदिके समय आकाशमें फेंक दिया, ऐसे कालरूपी रुद्र भी जब महाकाल द्वारा नष्ट कर दिये गये, तो हे जीविताशे, मेरे अन्दर तुम क्यों नृत्य कर रही हो ॥ २८ ॥

ये दिन निरन्तर अब भी आते हैं और इस अवस्थामें भी व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं । आजतक भी कोई दिन, जिसमें नित्य, एक, निर्दोष और आनन्दैकरस वस्तु प्राप्त हो, नहीं देखा ॥ २९ ॥

जैसे तालाबमें हंस स्फुरित होते हैं वैसे ही सम्पूर्ण मनुष्योंके चित्तमें

कष्टात्कष्टतरं प्राप्तो दुःखाद् दुःखतरं गतः ।
अद्याऽपि न विरक्तोऽस्मि हा धिङ्मामधमाशयम् ॥ ३१ ॥

येषु येषु दृढा बद्धा भावना भव्यवस्तुषु ।
तानि तानि विनष्टानि दृष्टानि किमिहोत्तमम् ॥ ३२ ॥

यन्मध्ये यच्च पर्यन्ते यदापाते मनोरमम् ।
सर्वमेवाऽपवित्रं तद्विनाशामेध्यदूषितम् ॥ ३३ ॥

येषु येषु पदार्थेषु धृतिं बध्नाति मानवः ।
तेषु तेष्वेव तस्याऽयं दृष्टो नाशोदयो भृशम् ॥ ३४ ॥

श्वःश्वः पापीयसीमेष श्वःश्वः क्रूरतरामपि ।
श्वःश्वः खेदकरीमेति दशामिह जडो जनः ॥ ३५ ॥

ये भोग ही स्फुरित होते हैं; किन्तु प्रत्यगात्मभूत परम पदका साक्षात्कार स्फुरित नहीं होता ॥ ३० ॥

मैं कष्टसे भी अत्यन्त कष्टको प्राप्त हुआ, दुःखसे भी अत्यन्त दुःखको प्राप्त हुआ; परन्तु आज भी विरक्त नहीं हुआ । हा ! राग, लोभ आदिसे दूषित होनेके कारण अधम चित्तवाले मुझे धिक्कार है ॥ ३१ ॥

जिन-जिन उत्तम विषयोंमें मैंने दृढ़ प्रीति बाँधी, उन-उन विषयोंका भी विनाश जब देखा गया, तब भला इस संसारमें उत्तम वस्तु क्या है ? ॥ ३२ ॥

मध्यकालमें जो मनोहर है यानी युवावस्था, परिणाममें जो मनोहर है यानी धर्म एवं अविचारसे जो मनोहर है यानी विषय, विनाशरूपी अशुद्धिसे दूषित वे सब अपवित्र हैं ॥ ३३ ॥

जिन-जिन पदार्थोंमें मनुष्य अपनी आस्था बांधता है, उन-उन पदार्थोंमें उस मनुष्यके दुःखका प्रादुर्भाव बार-बार देखा गया है ॥ ३४ ॥

बादमें भी अज्ञ पुरुषके सुखकी आशा नहीं है, यह कहते हैं—'**श्वः**' इत्यादिसे ।

इस संसारमें अज्ञ मनुष्य प्रत्येक दूसरे दिन राग और लोभकी अभिवृद्धिसे अत्यन्त पापमयी, हिंसा आदि कर्मोंमें प्रवृत्ति द्वारा अत्यन्त क्रूर तथा फलकालमें खेद देनेवाली दशाको प्राप्त होते हैं ॥ ३५ ॥

अज्ञानैकहतो बाल्ये यौवने मदनाहतः ।
शेषे कलत्रचिन्तार्तः किं करोति कदा जडः ॥ ३६ ॥
आगमापायि विरसं दशावैषम्यदूषितम् ।
असारसारं संसारं किं तत्पश्यति दुर्मतिः ॥ ३७ ॥
राजसूयाश्वमेधाद्यैरिष्ट्वा यज्ञशतैरपि ।
महाकल्पान्तमप्यंशं स्वर्गं प्राप्नोति नाऽधिकम् ॥ ३८ ॥
कोऽसौ स्वर्गोऽस्ति भूमौ वा पाताले वा प्रदेशकः ।
न यत्राऽभिभवन्त्येता दुर्भ्रमर्य इवाऽऽपदः ॥ ३९ ॥

अज्ञ पुरुष, जो बाल्यावस्थामें अज्ञानसे पीड़ित रहता है, युवावस्थामें कामसे पीड़ित रहता है तथा शेष अवस्थामें (वृद्धावस्थामें) स्त्रीके सहित कुटुम्बके पालन-पोषणकी चिन्तासे पीड़ित रहता है, कब अपने उद्धारका साधन करता है ? यानी कभी भी नहीं करता ॥ ३६ ॥

दुर्मति पुरुष आदि और अन्तमें अत्यन्त असत्य, भोगकालमें भी विरस, दारिद्र्य, रोग, वार्धक्य आदि दशाओंसे दूषित तथा असार होते हुए भी सार-बुद्धिसे गृहीत इस संसारको, जो देख रहा है, वह किसलिए ? यानी संसारदर्शनका कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥ ३७ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि 'यन्न दुःखेन संभिन्नम्' इत्यादि श्रुतिसे * बतलाये गये लक्षणसे युक्त स्वर्ग क्या सारभूत नहीं है ? उसपर कहते हैं—**'महाकल्पा०'** इत्यादिसे ।

सुकृती पुरुष राजसूय, अश्वमेध आदि सैकड़ों यज्ञोंको करके महाकल्पपर्यन्त भोग्य भी स्वर्गको, जो महाकालकी दृष्टिसे क्षणमात्रभोग्य अतएव अल्प ही है, प्राप्त होता है, किन्तु अधिककी (अपरिच्छिन्न अनन्तकी) प्राप्ति उसे नहीं होती । इसलिए वह भी असार ही है, यह भाव है ॥ ३८ ॥

'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' (शरीरधारी प्राणीके प्रिय

* "यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम् ॥
अर्थात् जो दुःखसे मिश्रित न हो, न किसीकी अपेक्षा न्यून हो और बिना प्रयत्नके इच्छामात्रसे प्राप्त हो, वह सुख स्वर्गपदसे कहा जाता है ।

निजचेतोबिलव्यालाः शरीरस्थलपल्वलाः ।
आधयो व्याधयश्चैते निवार्यन्ते कथं किल ॥ ४० ॥
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि मूर्ध्नि रम्येष्वरम्यता ।
सुखेषु मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥ ४१ ॥
जायन्ते च म्रियन्ते च प्राकृताः क्षुद्रजन्तवः ।
धरा तैरेव नीरन्ध्रा दुर्लभाः साधुसाधवः ॥ ४२ ॥
नीलोत्पलालिनयनाः परमप्रेमभूषणाः ।
हासायैव विलासिन्यः क्षणभङ्गितया स्थिताः ॥ ४३ ॥

एवं अप्रियका वारण नहीं होता है) इस श्रुतिके अनुसार तथा स्वर्गवासियोंकी भी असुर आदिसे पीड़ाके श्रवणसे स्वर्गमें दुःखका असम्बन्ध भी असम्भव है, इस आशयसे कहते हैं—**'कोऽसौ'** इत्यादिसे ।

भूमि अथवा पातालमें स्वर्ग नामका कौन-सा प्रदेश है, जहाँ दुष्ट भँवरियोंकी भाँति ये आपत्तियाँ अभिभूत नहीं करतीं ॥ ३९ ॥

देहका अभिमान रहनेपर आधि-व्याधिके दुर्निवार होनेके कारण अज्ञ पुरुषको कहीं भी विश्रान्ति नहीं मिलती है, इस आशयसे कहते हैं—**'निज०'** इत्यादिसे ।

अपने चित्तरूपी बिलके सर्प जो आधियां हैं एवं शरीररूपी स्थलके पल्वल (छोटे जलाशय) जो व्याधियां हैं, इनका भला कैसे निवारण किया जा सकता है ॥४०॥

विनाशी एवं दुःखमिश्रित होनेके कारण सम्पूर्ण दृश्यकी अभद्रता दिखलाते हैं—**'सतः'** इत्यादिसे ।

वर्तमानकालिक दृश्यके सिरपर विनाश, मनोहर पदार्थोंके सिरपर अरम्यता एवं सुखोंके सिरपर दुःख विद्यमान हैं । यानी वर्तमानकालिक दृश्य, मनोहर पदार्थ और सुख ये सभी क्रमशः विनाश, अरम्यता और दुःखसे व्याप्त हैं । भला कौन ऐसी मुख्य वस्तु है, जिसका मैं आश्रयण करूँ ॥ ४१ ॥

अज्ञानसे विमोहित क्षुद्र प्राणी उत्पन्न होते हैं और मरते हैं । पृथ्वी इन्हीं लोगोंसे निविड़ है । उत्तम महात्मा लोग दुर्लभ हैं ॥ ४२ ॥

नील कमलके तुल्य मनोहर और भ्रमरके तुल्य चञ्चल नेत्रवाली, अतिशय प्रीतिरूप भूषणसे युक्त (अत्यन्त अनुरागवाली) भी स्त्रियां क्षणमात्रमें विनाशी होनेके कारण हासके ही योग्य हैं ॥ ४३ ॥

येषां निमेषणोन्मेषैर्जगतां प्रलयोदयौ ।
तदृशाः पुरुषाः सन्ति मादृशां गणनैव का ॥ ४४ ॥
सन्ति रम्यतराद्रम्याः सुस्थिरादपि सुस्थिराः ।
चिन्तापर्यवसानेयं पदार्थश्रीः किमीहसे ॥ ४५ ॥
संपदश्च विचित्रा यास्ताश्चेच्चित्तेन संमताः ।
तत्ता अपि महारम्भा हन्त मन्ये महापदः ॥ ४६ ॥
आपदोऽपि विचित्रा यास्ताश्चेन्मनसि संमताः ।
तत्ता अपि महारम्भा मन्ये मनसि सम्पदः ॥ ४७ ॥
मनोमात्रविवर्तेऽस्मिञ्जगत्यब्धीन्दुभङ्गुरे ।
ममेदमित्यपूर्वेयं कुतस्त्याऽक्षरमालिका ॥ ४८ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि राजा होनेके कारण निग्रह और अनुग्रहमें समर्थ, उत्तम पुरुषरूप आपको विषयोंमें आश्वासन क्यों न प्राप्त होगा ? इसपर कहते हैं—**'येषाम्'** इत्यादिसे ।

जिनके नेत्रनिमीलन और नेत्रोन्मीलनसे प्रलय और सृष्टि होते हैं, वैसे भी पुरुष जब विद्यमान हैं, तो मेरी क्या गणना है । भाव यह है कि ब्रह्मा आदि महापुरुषोंको भी जब आश्वासन नहीं प्राप्त होता, तो मेरी क्या गणना है ? ॥४४॥

मनोहरसे भी मनोहर एवं स्थिरसे भी स्थिर पदार्थ हैं; परन्तु इन पदार्थोंकी शोभाका फल उपार्जन, रक्षण, वियोग आदिसे चिन्तारूप ही है; इसलिए क्यों उसकी इच्छा करते हो ? ॥ ४५ ॥

नाना रत्न, घोड़े, हाथी, धन, स्त्री आदिके भेदसे विचित्र सम्पत्तियां यदि चित्तसे आदरणीय हों, तब वे भी बहुत प्रयत्नोंसे प्राप्त करने योग्य, दुःखसे रक्षा करने योग्य एवं अवश्य नष्ट होनेवाली होनेके कारण महापत्तियाँ ही हैं, ऐसा मेरा मत है ॥ ४६ ॥

इसी तरह यदि दारिद्र्य, बन्धुनाश, राज्यनाश आदि आपत्तियाँ भी साधु-सङ्गति, तीर्थ, तपस्या, ज्ञान आदिकी प्राप्ति करा देनेसे विचित्र अतएव कल्याण-कर ही हैं, यों मनमें भान हो, तो वे भी विवेक, वैराग्य आदि महारम्भसे युक्त सम्पत्तियाँ ही हैं, यों मैं मानता हूँ ॥ ४७ ॥

इसलिए असत्यभूत जगत्में ममताकी अभिवृद्धि ही विपत्ति है, विवेकसे

काकतालीययोगेन संपन्नायां जगत्स्थितौ ।
धूर्तेन कल्पिता व्यर्थं हेयोपादेयभावना ॥ ४९ ॥
इयत्ताच्छिन्नतप्तासु सुखनाम्नीषु दृष्टिषु ।
कास्वेतास्वनुरक्तोऽस्मि पतङ्गोऽग्निशिखास्विव ॥ ५० ॥
वरमेकान्तदाहेषु लुठनं रौरवाग्निषु ।
न त्वालूनविवर्तासु स्थितं संसारवृत्तिषु ॥ ५१ ॥
संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते ।
तन्मध्यपतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥ ५२ ॥

ममताका परिक्षय ही सम्पत्ति है, इस आशयसे जगत्में ममताकी अयोग्यता दिखलाते हैं—**'मनोमात्र०'** इत्यादिसे ।

समुद्रमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाकी भाँति क्षणविनाशी, मिथ्याभूत, एकमात्र मनके विवर्त जगत्में 'मेरा यह है' यह अपूर्व पदवाक्यरूप अक्षर-पङ्क्ति किधरसे आई ! यानी यह निरर्थक ही है ॥ ४८ ॥

काकतालीयन्यायसे अकस्मात् अविचारसे सम्पन्न इस जगत्स्थितिमें भोग-लम्पट इस मनने व्यर्थ ही हेय और उपादेयकी कल्पना की है ॥ ४९ ॥

जैसे परिच्छिन्न एवं सन्तप्त अग्निशिखाओंमें फतींगे अनुरक्त रहते हैं वैसे ही देश, काल और वस्तुकी इयत्तासे परिच्छिन्न, आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधि-भौतिक तापोंसे संतप्त किन सुखनामकी दृष्टियोंमें मैं अनुरक्त हुआ हूं ॥ ५० ॥

अभ्यासवश निरन्तर दुःखका भोग सह्य भी हो सकता है; परन्तु सुखभोगसे अभ्यासके विच्छिन्न हो जानेपर दुःखभोग दुःसह हो जाता है, ऐसा कहते हैं—**'वरम्'** इत्यादिसे ।

निरन्तर दाहसे युक्त रौरवकी अग्निमें लोटना अच्छा है, परन्तु विच्छिन्न सुख-दुःखके परिवर्तनसे युक्त संसारकी अवस्थाओंमें स्थिति करना अच्छा नहीं है ॥ ५१ ॥

सुख सुख नहीं है; किन्तु दुःखविशेषरूप ही है, इसका युक्तिसे उपपादन करते हैं—**'संसारः'** इत्यादिसे ।

संसार ही सब दुःखोंकी चरम सीमा है, उसके मध्यमें जब देह गिर गई, तब कैसे सुख प्राप्त हो सकता है ? ॥ ५२ ॥

अकृत्रिममहादुःखे संसारे ये व्यवस्थिताः ।
त एतेऽन्यानि दुःखानि जानते मधुराण्यलम् ॥ ५३ ॥
अहमप्यधमोत्कृष्टकाष्ठलोष्टसमस्थितिः ।
अज्ञैरेवाऽऽगतः साम्यं परमामृष्टवस्तुभिः ॥ ५४ ॥
सहस्राङ्कुरशाखात्मफलपल्लवशालिनः ।
अस्य संसारवृक्षस्य मनो मूलमहाङ्कुरः ॥ ५५ ॥
सङ्कल्पमेव तन्मन्ये संङ्कल्पोपशमेन तत् ।
शोषयामि यथा शोषमेति संसारपादपः ॥ ५६ ॥
आकारमात्ररम्यासु मनोमर्कटवृत्तिषु ।
परिज्ञातास्विहाऽद्यैव न रमे नाशनीष्वहम् ॥ ५७ ॥

स्वाभाविक महादुःखसे पूर्ण इस संसारमें जो स्थित हैं; वे लोग—जैसे तलवारके आघातकी अपेक्षा कोड़ेका आघात सुखकर मालूम होता है वैसे ही महादुःखकी अपेक्षा कुछ अल्प दुःखको ही—सुखकर मानते हैं। संसारमें आत्यन्तिक सुखकी सत्ता नहीं ही है, यह भाव है ॥ ५३ ॥

यद्यपि मैं श्रुति, स्मृति आदि प्रमाणोंमें कुशल, मेधावी, विचारचतुर हूँ, तथापि छोटे-बड़े काठ तथा लोष्टके तुल्य स्थितिवाला होकर मूर्खोंकी, जिन्होंने शास्त्र, लोक, प्रमाण तथा वस्तुका अच्छी तरह विचार नहीं किया है, समानताको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५४ ॥

अब अपनी प्रमाणकुशलताको संसारके मूलनिश्चयसे सफल बनाते हैं—**'सहस्रा०'** इत्यादिसे ।

सैकड़ों सङ्कल्परूपी अङ्कुरों, देह और भुवनरूपी शाखाओं, विराड्रूपी अवयवी (मोटी डाल), सुख-दुःखरूपी फलों और राग, लोभरूपी पल्लवोंसे शोभित हो रहे संसारवृक्षका मन मूलभूत महाङ्कुर है ॥ ५५ ॥

मनका भी रहस्य मुझे ज्ञात है, यह कहते हैं—**'सङ्कल्पमेव'** इत्यादिसे ।

मैं सङ्कल्पको ही मन समझता हूँ, उस मनका सङ्कल्पके उपशमन द्वारा शोषण करता हूँ, जिससे कि यह संसाररूपी वृक्ष शोषको प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

आकारमात्रसे रमणीय, नाशको प्राप्त करानेवाली मनरूपी बन्दरकी चपलताओंके परिज्ञात हो जानेपर मैं आजसे इनमें रमण नहीं कर सकता ॥ ५७ ॥

आशापाशशतप्रोताः पातोत्पातोपतापदाः ।
संसारवृत्तयो भुक्ता इदानीं विश्रमाम्यहम् ॥ ५८ ॥

हा हतोऽस्मि विनष्टोऽस्मि मृतोऽस्मीति पुनः पुनः ।
शोचितं गतमेवाऽहमिदानीं नाऽनुरोदिमि ॥ ५९ ॥

प्रबुद्धोऽस्मि प्रहृष्टोऽस्मि दृष्टश्चोरोऽयमात्मनः ।
मनो नाम निहन्म्येनं मनसाऽस्मि चिरं हतः ॥ ६० ॥

एतावन्तमिमं कालं मनोमुक्ताफलं मम ।
अविद्धमासीदधुना विद्धं तु गुणमर्हति ॥ ६१ ॥

मनस्तुषारकणिका विवेकार्कातपेन मे ।
चिरप्रवृत्तये नूनमचिराल्लयमेष्यति ॥ ६२ ॥

विविधैः साधुभिः सिद्धैरहं साधु प्रबोधितः ।
आत्मानमनुगच्छामि परमानन्दसाधनम् ॥ ६३ ॥

सैकड़ों आशारूपी पाशोंसे ओत-प्रोत, अधोगति, ऊर्ध्वगति और दुःखको देनेवाली संसार वृत्तियां मैंने बहुत भोगीं, अब मैं विश्राम लेता हूँ ॥ ५८ ॥

ओह ! मैं मारा गया, नष्ट हुआ, मरा, ऐसा जो मैंने बारम्बार शोक किया था, वह शोक मेरा बीत गया । अब मैं शोक नहीं कर सकता ॥ ५९ ॥

क्यों नहीं अब शोक करते ? इसपर कहते हैं—**'प्रबुद्धोऽस्मि'** इत्यादि ।

मैं प्रबुद्ध हूँ, प्रसन्न हूँ, अपने पारमार्थिक धनको चुरानेवाले मन-नामक चोरको मैंने पकड़ लिया, इसे मारता हूँ । यह केवल चोर ही नहीं है, किन्तु वैरी भी है, क्योंकि इसने मुझे बहुत दिनतक मारा है ॥ ६० ॥

इतने दिनतक मेरा मनरूपी मोती विद्ध यानी लक्षित नहीं था । अब वह लक्षित होकर शम, दम आदिरूप सूत्रके योग्य हो रहा है ॥ ६१ ॥

जैसे तुषारकणिका सूर्यके आतपसे वायुमें स्थिति प्राप्त करनेके लिए लयको प्राप्त होती है वैसे ही मेरा मन विवेकसे ब्रह्मतत्त्वमें स्थिति प्राप्त करनेके लिए बहुत शीघ्र लयको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥

सिद्ध महात्माओंने मुझे विविध उपदेशों द्वारा अच्छी तरह बोध करा दिया है । अब मैं परमानन्दरूप आत्माका अनुगमन कर रहा हूं ॥ ६३ ॥

आत्मानं मणिमेकान्ते लब्ध्वैवाऽऽलोकयन् सुखम् ।
तिष्ठाम्यस्तमितान्येहः शरदीवाऽचलेऽम्बुदः ॥ ६४ ॥

अयमहमिदमाततं ममेति
स्फुरितमपास्य बलादसत्यमन्तः ।
रिपुमतिबलिनं मनो निहत्य
प्रशममुपैमि नमोऽस्तु ते विवेक ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशम-
प्रकरणे जनकवितर्को नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इसलिए मैं कभी भी परमात्मनिष्ठाका त्याग नहीं करूँगा, यह कहते हैं—**'आत्मानम्'** इत्यादिसे ।

आत्मरूपी मणिको पाकर एकान्तमें उसीको देख रहा मैं, जिसकी अन्य वस्तुकी इच्छा अत्यन्त शान्त हो गई है, शरद् ऋतुमें हिमालय आदि पर्वतोंपर बादलकी भांति सुखपूर्वक स्थित होता हूँ ॥ ६४ ॥

अब पूर्वोक्त विषयका ही संक्षेपसे उपसंहार करते हुए विवेकरूपी गुरुको नमस्कार करते हैं—**'अयम्'** इत्यादिसे ।

यह देह मैं हूं, यह धन राज्य आदि मेरा है, इस तरह स्फुरित हुए विस्तृत असत्यरूपका ज्ञानबलसे नाश कर अत्यन्त बलवान् अन्दर स्थित मनरूपी शत्रुको समाधिके अभ्याससे अच्छी तरह मारकर सप्तम भूमिकामें विश्रान्तिरूप प्रशमको मैं प्राप्त हो रहा हूं । हे विवेक, आपको नमस्कार है ॥ ६५ ॥

नवां सर्ग समाप्त

दशमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति चिन्तयतस्तस्य पुरः संप्रविवेश ह ।
प्रतीहारः परो भानोः स्यन्दनाग्र इवाऽरुणः ॥ १ ॥

प्रतीहार उवाच

देव दोःस्तम्भविश्रान्तसमस्तवसुधाभर ।
सम्पादयोत्तिष्ठ दिनव्यापारं नृपतोचितम् ॥ २ ॥

एताः कुसुमकर्पूरकुङ्कुमाम्बुघटाः स्त्रियः ।
स्नानभूमौ स्थिताः सज्जा नद्यो मूर्तियुता इव ॥ ३ ॥

एताः कमलकह्लारकाननभ्रान्तषट्पदाः ।
कृताः कमलिनीपाशरचितांशुकमण्डपाः ॥ ४ ॥

एताः कमलिनीतीरभुवश्छत्रैः प्रपूरिताः ।
सचामररथेभाश्वैः स्नानावसरसेविनाम् ॥ ५ ॥

दसवाँ सर्ग

[मध्याह्नकालके कृत्योंमें प्रवृत्त होनेके लिए द्वारपाल द्वारा प्रार्थना करनेपर भी राजा जनकका मौन होकर विचार करना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त प्रकारसे विचार कर रहे राजा जनकके सामने जैसे सूर्यके रथके आगे अरुण प्रवेश करते हैं वैसे ही प्रधान द्वारपालने प्रवेश किया ॥ १ ॥

प्रतीहारने कहा—हे देव, आपके भुजारूपी स्तम्भपर समस्त पृथ्वीका भार स्थित है, आप उठिये, राजधर्मके योग्य व्यवहारोंका सम्पादन कीजिये ॥ २ ॥

फूल, कपूर और कुङ्कुमसे (केसरसे) मिश्रित जलके घड़ोंसे युक्त ये स्त्रियां मूर्तिमती नदियोंकी भांति सज-धजकर स्नानभूमिमें खड़ी हैं ॥ ३ ॥

जहांपर कमल और श्वेतकमलके वनमें भौंरे घूम रहे हैं एवं कमलसे युक्त कमलके नालकी रस्सियोंसे जहांपर शामियाने सजाए गये हैं; ऐसी बनाई गयीं ये कमलयुक्त तालाबकी तीरभूमियां स्नानके समयमें सेवा करनेवाले लोगोंके चामर,

समग्रसुमनःपूर्णैरन्नौषधिपरिप्लुतैः ।
सज्जीकृताः पटलकैर्देवार्चनगृहास्तथा ॥ ६ ॥
स्नातः पवित्रहस्तश्च परिजप्याघमर्षणः ।
त्वामेव प्रेक्षते देव दक्षिणार्हो द्विजव्रजः ॥ ७ ॥
लसच्चामरहस्ताभिः पाल्यते परमेश्वर ।
सज्जीकृतास्ते कान्ताभिः शीता भोजनभूमयः ॥ ८ ॥
शीघ्रमुत्तिष्ठ भद्रं ते नियतं कार्यमाचर ।
न कालमतिवर्तन्ते महान्तः स्वेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
प्रतीहारपतावित्थमुक्तवत्यथ पार्थिवः ।
तथैव चिन्तयामास चित्रां संसारसंस्थितिम् ॥ १० ॥
कियन्मात्रमिदं नाम राज्यं सुखमिति स्थितम् ।
न प्रयोजनमेतेन ममेह क्षणभङ्गिना ॥ ११ ॥

रथ, हाथी और घोड़ोंके सहित छत्रोंसे प्रपूरित हैं। इससे ये तीरभूमियां हंस, सारस, नक्र, कमल आदिसे युक्त कमलिनीके (कमलसे युक्त तालाबके) तुल्य हैं, यह अर्थतः प्रतीत होता है ॥ ४, ५ ॥

ये देवताओंके पूजागृह सब पुष्पों और आप्त भृत्योंसे पूर्ण एवं पक्वान्न और जौके अङ्कुर आदि औषधियोंसे अलङ्कृत प्रान्तभागोंसे सजाये गये हैं ॥ ६ ॥

हे देव, स्नानके समय अघमर्षण मन्त्रोंका जप करनेवाले अतएव दक्षिणाके योग्य ब्राह्मण लोग, जो स्नान कर चुके और पवित्रहस्त हैं, आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ७ ॥

राजन्, आपकी कान्ताओंने भोजनभूमियाँ, जो लेपन, चन्दनजलके सेक आदिसे परिष्कृत होनेके कारण शीतल हैं, सजा रक्खी हैं, हे महाराज, वे हाथमें सुन्दर चँवर लेकर आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥ ८ ॥

हे महाराज, आपका कल्याण हो, शीघ्र उठिये, नित्यकर्मका सम्पादन कीजिये। महापुरुष अपने कर्मोंमें कालका अतिक्रमण नहीं करते ॥ ९ ॥

प्रतीहारराजके इस तरह कहनेपर भी राजा जनक वैसे ही विचित्र संसारकी स्थितिका चिन्तन करते रहे ॥ १० ॥

सुखकररूपसे स्थित यह राज्य कितना है? यानी कुछ भी नहीं है।

सर्वमेव परित्यज्य मिथ्याशम्बरडम्बरम् ।
एकान्त एव तिष्ठामि संशान्त इव वारिधिः ॥ १२ ॥
अलमेभिरसत्प्रायैर्मम भोगविजृम्भितैः ।
त्यक्त्वा सर्वाणि कर्माणि सुखं तिष्ठामि केवलम् ॥ १३ ॥
चित्त चातुर्यमेतस्माद्भोगाभ्यासकुसम्भ्रमात् ।
त्यज जन्मजराजाड्यजालजम्बालशान्तये ॥ १४ ॥
दशासु स्वासु यास्वेव संभ्रमं चित्त पश्यसि ।
ताभ्य एवाऽभिरचितं परमं दुःखमेष्यसि ॥ १५ ॥
प्रवृत्तं सन्निवृत्तं सद्भूयो भूयश्चिरं चिरम् ।
भोगभूमिषु सर्वासु चित्तं तृप्तिं न गच्छति ॥ १६ ॥
तस्मात् पापाऽलमनया तुच्छया भोगचिन्तया ।
भवत्यकृत्रिमा तृप्तिर्येनाऽभिपत तं ततः ॥ १७ ॥

क्षणमात्रमें नष्ट होनेवाले इस राज्यसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ११ ॥

मिथ्याभूत मायाके सभी आडम्बरका परित्याग करके प्रशान्त समुद्रकी भाँति शान्त होकर मैं एकान्तमें ही स्थित रहता हूँ ॥ १२ ॥

इन असत्य भोगविस्तारोंसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । सभी कर्मोंका परित्याग कर मैं केवल सुखसे स्थित होता हूँ ॥ १३ ॥

हे चित्त, तुम इस भोगाभ्यासरूपी दुर्भ्रमसे सुखलवके आस्वादकी जो चतुरता है, उसका जन्म, वृद्धावस्था एवं जड़ताके समूहरूपी कीचड़की शान्तिके लिए त्याग कर दो ॥ १४ ॥

हे चित्त, तुम विषयाभिलाष, उनके लिए उद्योग, उनके उपभोग और उनके स्मरण आदिरूप जिन-जिन अपनी अवस्थाओंमें सुखलवके आस्वादकी भ्रान्ति अथवा उत्साह देखते हो, तुम उन्हीं अवस्थाओंसे सम्पादित परम दुःखको प्राप्त होओगे ॥ १५ ॥

सब भोगभूमियोंमें बार-बार भोगकी आशासे चिरकालतक प्रवृत्त एवं भोगकी शक्तिके कुण्ठित हो जानेसे तथा लोक-शास्त्रके भयसे चिरकालतक निवृत्त हुआ चित्त तृप्तिको प्राप्त नहीं होता है ॥ १६ ॥

इसलिए हे पापी मन, इस तुच्छ भोगचिन्तनसे कोई प्रयोजन नहीं है । यह

इति सञ्चिन्त्य जनकस्तूष्णीमेव बभूव ह ।
शान्तचापलचेतस्त्वाल्लिपिकर्मार्पितोपमः ॥ १८ ॥
प्रतीहारोऽपि नोवाच गौरवेण भयेन च ।
पुनर्वाक्यं महीपानां चित्तवृत्तिषु शिक्षितः ॥ १९ ॥
तूष्णीमथ क्षणं स्थित्वा जनको जनजीवितम् ।
पुनः सञ्चिन्तयामास मनसा शमशालिना ॥ २० ॥
किमुपादेयमस्तीह यत्नात् संसाधयाम्यहम् ।
कस्मिन् वस्तुनि बध्नामि धृतिं नाशविवर्जिते ॥ २१ ॥
किं मे क्रियापरतया किं मे निष्क्रिययाऽपि वा ।
न तदस्ति विनाशेन वर्जितं यत्किलोदितम् ॥ २२ ॥
क्रियावानक्रियो वाऽस्तु कायोऽयमसदुत्थितः ।
समस्थितस्य शुद्धस्य चितः का नाम मे क्षतिः ॥ २३ ॥

कृत्रिम सुख अनर्थका बीज है, इसलिए जिस हेतुसे अकृत्रिम (स्वाभाविक) प्रीति उत्पन्न हो, उस हेतुको प्राप्त करो ॥ १७ ॥

ऐसा विचार कर राजा जनक चित्तकी चपलताके शान्त होनेके कारण चित्रमें अङ्कितके तुल्य मौन हो गये ॥ १८ ॥

राजाओंके चित्तके अनुवर्तनके विषयमें अत्यन्त पटु उस द्वारपालने भी गौरव एवं भयसे फिर कोई वाक्य नहीं कहा ॥ १९ ॥

तदनन्तर राजा जनकने क्षणमात्र चुप रहकर पुनः शमयुक्त मनसे प्राणियोंके जीवनमें हेतुभूत तत्त्वका चिन्तन किया ॥ २० ॥

इस संसारमें क्या उपादेय है, जिसको मैं प्रयत्नसे सिद्ध करूँ। नाशरहित ऐसी कौन वस्तु है, जिसमें मैं आस्था बाँधू ?॥ २१ ॥

मेरी क्रियातत्परतासे क्या एवं मेरी निष्क्रियतासे ही क्या ? ऐसा कोई कार्य नहीं है जो उत्पन्न हुआ हो, पर विनाशरहित हो; क्योंकि जन्य वस्तुमात्र विनाशी है, ऐसा नियम है ॥ २२ ॥

असत्यभूत उत्पन्न हुआ यह शरीर क्रियायुक्त रहे या क्रियारहित रहे, देहके चलन और अचलन दशामें समानरूपसे स्थित, विशुद्ध, चिन्मात्रस्वभाव मेरी क्या क्षति है ॥ २३ ॥

नाऽभिवाञ्छाम्यसंप्राप्तं संप्राप्तं न त्यजाम्यहम् ।
स्वस्थ आत्मनि तिष्ठामि यन्ममाऽस्ति तदस्तु मे ॥ २४ ॥

न ममेह कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
क्रिययाऽक्रियया वाऽपि यत्प्राप्तं तदसन्मयम् ॥ २५ ॥

अकुर्वतः कुर्वतो वा युक्तायुक्ताः क्रिया मम ।
नाऽभिवाञ्छितमस्तीह यदुपादेयतां गतम् ॥ २६ ॥

तदुत्थाय क्रमप्राप्तां कायोऽयं प्रकृतां क्रियाम् ।
करोत्वस्पन्दिताङ्गस्तु किमयं साधु शुष्यति ॥ २७ ॥

स्थिते मनसि निष्कामे समे विगतरञ्जने ।
कायावयवजौ कार्यौ स्पन्दास्पन्दौ फले समौ ॥ २८ ॥

कर्मजासु फलश्रीषु मनसा कर्तृभोक्तृते ।
तस्मिन् प्रशान्तिमायाते कृतमप्यकृतं नृणाम् ॥ २९ ॥

मैं न तो अप्राप्त वस्तुकी इच्छा करता हूँ और न प्राप्त वस्तुका त्याग ही करता हूँ । स्वस्थ होकर अपने स्वरूपमें स्थित हूं । जो मेरे प्रारब्धसे प्राप्त है, वही मुझे प्राप्त रहे और कुछ नहीं ॥ २४ ॥

यहाँ मेरा न तो कर्मसे कोई प्रयोजन है और न कर्मकी उपेक्षासे कोई अनर्थ ही है । क्रिया अथवा उसकी उपेक्षासे जो कुछ भी प्राप्त है, वह मायामय ही है यानी मिथ्या ही है ॥ २५ ॥

शास्त्रविहित एवं लोकप्राप्त क्रियाओंको कर रहे या न कर रहे मुझे इस संसारमें कुछ भी अपेक्षित नहीं है, जो कि उपादेय हो ॥ २६ ॥

इसलिए यह शरीर उठकर पूर्व-पूर्व व्यवहारके क्रमसे प्राप्त प्रस्तुत कर्मोंको करे । निर्व्यापार अङ्गवाला होकर तो यह शरीर सूख जाता है, यह क्या अच्छा है ? अर्थात् ऐसा करना उचित नहीं है ॥ २७ ॥

मनके निष्काम, रागहीन और सम होनेपर शरीरके अवयवोंसे प्रारब्ध कर्मों द्वारा उत्पन्न हुए चेष्टा-अचेष्टारूप कार्य फलके लिए समान हैं अर्थात् उनसे पुण्य-पापरूप फलका उदय नहीं होता ॥ २८ ॥

यदि कोई कहे यह कैसे ? तो इसपर कहते हैं—'**कर्मजासु**' इत्यादिसे ।

यो निश्चयोऽन्तः पुरुषस्य रूढः
क्रियास्वसौ तन्मयतामुपैति ।
अनामयं मे पदमाहता धी-
रधीरतामन्तरलं त्यजामि ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे जनकनिश्चयो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति सञ्चिन्त्य जनको यथाप्राप्तां क्रियामसौ ।
असक्तः कर्तुमुत्तस्थौ दिनं दिनपतिर्यथा ॥ १ ॥

कर्मसे उत्पन्न हुई फलसम्पत्तियोंमें कर्तृता और भोक्तृता मनसे कल्पित हैं। मनके शान्त हो जानेपर मनुष्यका किया हुआ भी न किया हुआ एवं भोगा हुआ भी न भोगा हुआ हो जाता है ॥ २९ ॥

पुरुषके भीतर जैसा कर्तृता या भोक्तृताका निश्चय रूढ़ हो गया, वह पुरुष सम्पूर्ण देहक्रियाओंमें अपने निश्चयके अनुकूल तन्मय हो जाता है। इस समय मेरी बुद्धि कर्तृता और भोक्तृतारूपी रोगसे शून्य आत्मपदके दृढ़निश्चयसे सम्पन्न नहीं है। इसलिए चित्तके भीतर कृत और अकृत कर्मके फलको अवश्य भोगनेके लिए पुनर्जन्म आदिकी शङ्कासे उत्पन्न तथा इष्टप्राप्ति और अनिष्टविघातसे उत्पन्न अधीरताका अच्छी तरह त्याग करता हूँ ॥ ३० ॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

[आह्निक कार्यको कर चुके राजाका रात्रिके अन्तमें अनेकों विचित्र विवेकोंसे अपने चित्तका प्रबोधन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त रीतिसे विचार कर राजा जनक जैसे सूर्य दिवसका सम्पादन करनेके लिए उठते (उदित होते) हैं वैसे ही

इष्टानिष्टाः परित्यज्य चेतसा वासनाः स्वयम् ।
यथाप्राप्तं चकाराऽसौ जाग्रत्येव सुषुप्तवत् ॥ २ ॥
संपाद्य तदहःकार्यमार्याविर्जनपूर्वकम् ।
अनयच्छर्वरीमेकस्तथैव ध्यानलीलया ॥ ३ ॥
मनः समरसं कृत्वा संशान्तविषयभ्रमम् ।
शर्वर्यां क्षीयमाणायामित्थं चित्तमबोधयत् ॥ ४ ॥
चित्त चञ्चल संसार आत्मनो न सुखाय ते ।
शममेहि शमाच्छान्तं सुखं सारमवाप्यते ॥ ५ ॥
यथा यथा विकल्पौघान् सङ्कल्पयसि हेलया ।
तथा तथैति स्फारत्वं संसारस्तव चिन्तया ॥ ६ ॥
शतशाखत्वमायाति सेकेन विटपी यथा ।
अनन्ताधित्वमायासि शठ भोगेच्छया तथा ॥ ७ ॥

कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमानरूप आसक्तिसे रहित होकर यथाप्राप्त क्रियाका संपादन करनेके लिए उठे ॥ १ ॥

यह मेरा इष्ट है, यह मेरा अनिष्ट है, इस कल्पनामें निमित्तभूत वासनाओंका स्वयं चित्तसे त्याग कर उन्होंने जाग्रत् अवस्थामें ही सुषुप्तके समान (कारण कि स्थूल, सूक्ष्म देह आदिका अभिमान न होनेपर जाग्रत् और सुषुप्तिमें कोई भेद नहीं रहता) यथाप्राप्त कर्म किया ॥ २ ॥

देवता, ब्राह्मण आदि पूजनीय लोगोंका पूजा, दान आदि द्वारा सम्मान कर उस दिनका कार्य पूरा करके उसी ध्यानलीलासे उन्होंने अकेले रात बिताई ॥३॥

मनको, जिसका विषयभ्रम निवृत्त हो गया था, सम हित करके रात्रि व्यतीत होनेपर उन्होंने अपने चित्तको इस प्रकार समझाया ॥ ४ ॥

हे चञ्चल चित्त, संसार तुम्हारे आत्माके सुखके लिए नहीं है, तुम शान्तिको प्राप्त होओ । शान्तिसे विक्षेपरहित सारभूत आत्मसुख प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

जैसे-जैसे तुम विविध विकल्पोंका संकल्प करते हो वैसे-वैसे तुम्हारे चिन्तनसे यह संसार अनायास वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

जैसे वृक्ष जलसेकसे सैकड़ों शाखावाला हो जाता है वैसे ही हे शठ, तुम भी भोगकी इच्छासे असंख्य व्यथाओंसे युक्त होते हो ॥ ७ ॥

चिन्ताजालविलासोत्था जन्मसंसारसृष्टयः ।
तस्मात्त्यक्त्वा विचित्रां त्वं चिन्तामुपशमं व्रज ॥ ८ ॥

संसारसृष्टिं तरलामिमां तुलय सुन्दर ।
अस्यां चेत्सारमाप्नोषि तदेतामेव संश्रय ॥ ९ ॥

आस्थां यस्मात्परित्यज्य दृश्यदर्शनलालसात् ।
मैतद् गृहाण मा मुञ्च स्वेच्छया विहरेच्छया ॥ १० ॥

इदं दृश्यमसत्सद्वाऽप्युदेत्वस्तमुपैतु वा ।
साधो विषमतां गच्छ मैतदीयैर्गुणागुणैः ॥ ११ ॥

मनागपि न सम्बन्धस्तव दृश्येन वस्तुना ।
अविद्यमानरूपेण सम्बन्धः कोऽयमीदृशः ॥ १२ ॥

चूँकि जन्म तथा संसारसृष्टियां बिषयचिन्ताओंके विकल्पसे उदित हैं, इसलिए तुम विविध चिन्ताओंका त्याग कर उपशमको प्राप्त होओ ॥ ८ ॥

हे सुन्दर, इस चञ्चल संसारसृष्टि और शान्तिसुखको तराजूमें रखकर अपनी बुद्धिसे कौन सारभूत है, इसकी परीक्षा करो । यदि तुम्हें संसारसृष्टिमें सार प्रतीत हो, तो इसी संसारसृष्टिका अवलम्बन करो ॥ ९ ॥

चूंकि यह संसारसृष्टि असार है, इसलिए तुम इसमें आदरका त्याग कर यह साररहित दृश्य दर्शनयोग्य है, इस प्रकारकी दर्शनलालसासे प्रियका ग्रहण मत करो और अप्रियका यह दर्शनके अयोग्य है, यों द्वेषसे त्याग न करो; किन्तु प्रिय और अप्रिय दोनोंके साक्षी एकमात्र आत्माकी इच्छासे आत्मकाम होकर इच्छापूर्वक विहार करो ॥ १० ॥

पहले अविद्यमान यह दृश्य सुख-दुःखके साधनरूपसे उदित हो अथवा इस समय विद्यमान यह नष्ट हो, किन्तु हे साधो, तुम इसके उदय और नाशसे उदय-नाशप्रयुक्त हर्ष-विषादरूप विषमताको प्राप्त मत होओ ॥ ११ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि दृश्यका सम्बन्ध रहते उससे होनेवाले वैषम्यका त्याग कैसे हो सकता है ? तो इसपर कहते हैं—'**मनागपि**' इत्यादिसे ।

वत्स, तुम्हारा दृश्य वस्तुके साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। जिसका स्वरूप विद्यमान नहीं है, ऐसे असद्रूप दृश्यसे सद्रूप तुम्हारा सम्बन्ध ही कौन है ? ॥१२॥

असत्त्वमेतच्च न सद् द्वयोरेवाऽसतोः सतोः ।
सम्बन्ध इति चित्रेयमपूर्वैवाऽक्षरावली ॥ १३ ॥
असदेतत्तु सच्चेत्त्वं तथापि किल सुन्दर ।
सङ्गः सदसतोः कीदृग्वद् त्वं मत्यजीवयोः ॥ १४ ॥
चित्त त्वमथ दृश्यं च द्वे एव यदि सन्मये ।
सदा स्थिते तत्प्रसरः कुतो हर्षविषादयोः ॥ १५ ॥
तस्मान्महाधिं मुञ्च त्वं मूकमुल्लासमाहर ।
संक्षुब्धाम्बुधिमाविष्टां त्यजाऽभव्यामिमां स्थितिम् ॥ १६ ॥
कन्दुकालातवद् व्यर्थमात्मनैव परिज्वलन् ।
मा मोहमलमासाद्य मन्दतां गच्छ सन्मते ॥ १७ ॥

हे मन, तुम असत् हो और यह दृश्य भी सत् नहीं है, इसलिए दोनोंके ही बन्ध्यापुत्र और आकाशपुष्पके समान असत् होनेपर निःस्वरूप स्थितिवालोंका सम्बन्ध, ऐसी उक्ति अपूर्व (विस्मयकारिणी) ही है ॥ १३ ॥

यदि कहते हो, मैं असत् नहीं हूं सत्य आत्मा ही मैं हूँ। दृश्य ही असत् है, तो भी दोनोंका सम्बन्ध नहीं बन सकता, ऐसा कहते हैं—**'असत्'** इत्यादिसे ।

हे सुन्दर, यदि यह दृश्य असत् है और तुम सत्य हो, तो भला बतलाओ तो सही, सदसद्रूप सदा मृत और जीवितोंका सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? ॥१४॥

दोनों सत् ही हैं कोई भी असत् नहीं है, इस पक्षमें भी कभी इष्टका वियोग न होनेसे हर्ष तथा विषादका अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'चित्त त्व०'** इत्यादिसे ।

हे चित्त, तुम और दृश्य दोनों ही यदि सन्मय और सदा रहनेवाले हैं, तो हर्ष और विषादका विस्तार ही कहां है ?॥ १५ ॥

इसलिए तुम महान् विषादका त्याग करो। आत्मस्वरूपस्थितिमें उत्साहको, जो मौन होकर स्थित है, समाधिके अभ्याससे जगाओ। विक्षेपरूप सागरमें आविष्ट हुई इस अमङ्गलमयी स्थितिका त्याग करो ॥ १६ ॥

उत्सवोंमें लोगोंके कौतुकके लिए बारूद आदिसे बने हुए कन्दुकाकार अलात-यन्त्रके (अनार यानी एक प्रकारकी आतशबाजीके) समान व्यर्थ अपने-आप जल रहे तुम मोहरूपी मलको प्राप्त होकर हे सन्मते, मन्दताको प्राप्त मत होओ ॥१७॥

न तदिऽहास्ति समुन्नतमुत्तमं
व्रजसि येन परां परिपूर्णताम् ।
तदवलम्ब्य बलादतिधीरतां
जहिहि चञ्चलतां शठ रे मनः ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे चित्तानुशासनं नाम एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं विचारयंस्तत्र स्वराज्ये जनको नृपः ।
चकाराऽखिलकार्याणि न मुमोह च धीरधीः ॥ १ ॥
न मनः प्रोल्ललासाऽस्य क्वचिदानन्दवृत्तिषु ।
केवलं सुषुप्तसंस्थं सदैव व्यवतिष्ठत ॥ २ ॥

इस दृश्यवर्गमें जिसके प्राप्त होनेसे तुम परम परिपूर्णताको प्राप्त हो जाओ, ऐसी कोई भी उन्नत उत्तम वस्तु नहीं है, इसलिए अभ्यास और वैराग्यके बलसे अति धीरताका अवलम्बन कर हे शठ मन, तुम चञ्चलताका त्याग करो ॥ १८ ॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

[राजा जनककी जीवन्मुक्तरूपसे स्थितिका और विचार तथा प्रज्ञाके विचित्र माहात्म्यका विस्तारसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स, वहाँ अपने राज्यमें इस प्रकार विचार कर रहे धीरमति राजा जनकने सब राजकार्य किये, किन्तु उन्हें पहलेके समान अहन्ता-ममतासे मोह नहीं हुआ ॥ १ ॥

उनका मन कहीं हर्षस्थानोंमें उल्लासको प्राप्त नहीं हुआ । केवल सुषुप्तिके समान निर्विक्षेपरूपसे सदा स्थित रहा ॥ २ ॥

ततःप्रभृत्यसौ दृश्यं नाऽऽजहार न वाऽत्यजत् ।
केवलं विगताशङ्कं वर्तमाने व्यवस्थितः ॥ ३ ॥
अनारतविवेकेन तेन सद्यः सनातनम् ।
पुनः कलङ्कं नैवाऽऽप्तमम्बरेणेव राजसम् ॥ ४ ॥
स्वविवेकानुसन्धानादिति तस्य महीपतेः ।
सम्यग्ज्ञानमनन्ताभमलं विमलतां ययौ ॥ ५ ॥
अनामृष्टविकल्पांशुश्चिदात्मा विगतामयः ।
उदियाय हृदाकाशे तस्य व्योम्नीव भास्करः ॥ ६ ॥
स ददर्शाऽखिलान् भावांश्चिच्छक्तौ समवस्थितान् ।
आत्मभूताननन्तात्मा सर्वभूतात्मकोविदः ॥ ७ ॥
प्रहृष्टो न बभूवाऽसौ क्वचिन्न च सुदुःखितः ।
प्रकृतेर्व्यवहारत्वात् सदैव सममानसः ॥ ८ ॥

तबसे लेकर उन्होंने न तो दृश्यका ग्रहण ही किया अथवा न त्याग ही किया, केवल तत्कालमें उपस्थित दृश्यमें वह निःशङ्क होकर स्थित रहे ॥ ३ ॥

जैसे धूलिसे प्राप्त कलङ्कसे आकाश कलङ्कको प्राप्त नहीं होता वैसे ही निरन्तर विचारवाले राजा जनकने अनादिस्वभावप्राप्त, रजोगुणसे उदित अहं-ममाभिमानरूप कलङ्क पुनः नहीं ही प्राप्त किया ॥ ४ ॥

इस प्रकार आत्मविवेकके अनुसन्धानसे राजा जनकका अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार सम्यक् ज्ञान अत्यन्त निर्मल हो गया ॥ ५ ॥

जैसे आकाशमें सूर्य उदित होते हैं, वैसे ही उनके हृदयाकाशमें चिदात्मा, जिसके प्रकाश विक्षेपोंसे सम्पादित रञ्जनाभेदोंसे रहित हैं और जो दुःखोंसे शून्य है, उदित हो गया ॥ ६ ॥

अनन्त आत्मावाले, सब भूतोंके आत्माके अभिज्ञ उन्होंने सब पदार्थोंको चिदात्मामें अध्यस्त अतएव आत्मभूत देखा ॥ ७ ॥

वे न तो कहींपर विशेषरूपसे हर्षित हुए और न कहींपर दुःखी हुए । मायाके सर्वव्यवहाररूप होनेके कारण असङ्ग आत्मासे उसका स्पर्श न देखनेसे सदा ही वे समचित रहे ॥ ८ ॥

जीवन्मुक्तो बभूवाऽसौ ततःप्रभृति मानदः ।
जनको जरठज्ञानी ज्ञातलोकपरावरः ॥ ९ ॥
राज्यं कुर्वन्विदेहानां जनको जनजीवितम् ।
नैव हर्षविषादाभ्यां सोऽवशः परितप्यते ॥ १० ॥
नाऽस्तमेति न चोदेति गुणदोषविचेष्टितैः ।
अर्थानर्थैः स राज्योत्थैर्न ग्लायति न हृष्यति ॥ ११ ॥
कुर्वन्नपि करोत्येष न किञ्चिदपि कुत्रचित् ।
स तिष्ठत्येव सततं सर्वदैवाऽन्तरे चितः ॥ १२ ॥
सुषुप्तावस्थितस्यैव जनकस्य महीपतेः ।
भावनाः सर्वभावेभ्यः सर्वथैवाऽस्तमागताः ॥ १३ ॥
भविष्यं नाऽनुसंधत्ते नाऽतीतं चिन्तयत्यसौ ।
वर्तमाननिमेषं तु हसन्नेवाऽनुवर्तते ॥ १४ ॥

प्राणियोंका सत्कार करनेवाले ज्ञानवृद्ध जनक, जिन्होंने लोकमें परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त कर लिया था, तबसे लेकर जीवन्मुक्त हो गये ॥ ९ ॥

विदेह देशोंका राज्य कर रहे, लोगोंको प्राणोंके समान प्रिय राजा जनक हर्ष और विषादके अधीन होकर उनसे कभी भी सन्तप्त नहीं होते थे ॥ १० ॥

मानसिक गुण और दोषोंके व्यापारसे न तो स्वरूपतिरोधानरूप अस्तको प्राप्त होते थे और न पुनः स्वरूपके आविर्भावरूप उदयको प्राप्त होते थे। बाहरी राज्यसे उत्पन्न अर्थ और अनर्थोंसे न तो उन्हें हर्ष होता था और न खेद होता था। कर्म करते हुए भी वे कहींपर कुछ भी नहीं करते थे। वे निरन्तर चित्के मध्यमें सदा स्थित रहते थे ॥ ११,१२ ॥

सुषुप्तरूपसे स्थित राजा जनककी राग, द्वेष आदि सब वासनाएँ सब पदार्थोंसे सर्वथा निवृत्त हो गईं थीं। वे न तो भविष्यका अनुसन्धान करते थे और न अतीतकी चिन्ता करते थे। वर्तमान क्षणका हँसते हुए अनुसरण करते थे। भाव यह कि वासनावश पूर्वोत्तरका अनुसन्धान होता है, उससे पूर्वमें अनिष्ट करनेवाले पदार्थोंमें द्वेष होता है और भावी प्रियके लिए अनुराग होता है, तदनन्तर प्रवृत्ति होती है, यों सब अनर्थोंकी प्राप्ति वासनासे ही होती है। एकमात्र वर्तमानका दर्शन करनेमें दुःखके प्रति द्वेष न होनेसे उसमें अप्रि-यताका अनुसन्धान नहीं होता, इसलिए वे स्वाभाविक आनन्दकी अनुवृत्तिसे

स्वविचारवशेनैव तेन तामरसेक्षण ।
प्राप्तं प्राप्यमशेषेण राम नेतरयेच्छया ॥ १५ ॥
तावत्तावत् स्वकेनैव चेतसा प्रविचार्यते ।
यावद्यावद् विचाराणां सीमान्तः समवाप्यते ॥ १६ ॥
न तद्गुरोर्न शास्त्रार्थान्न पुण्यात् प्राप्यते पदम् ।
यत्साधुसङ्गाभ्युदिताद्विचारविशदाद्धृदः ॥ १७ ॥
सुन्दर्या निजया बुद्ध्या प्रज्ञयेव वयस्यया ।
पदमासाद्यते राम न नाम क्रिययाऽन्यया ॥ १८ ॥
यस्योज्ज्वलति तीक्ष्णाग्रा पूर्वापरविचारिणी ।
प्रज्ञादीपशिखा जातु जाड्यान्ध्यं तं न बाधते ॥ १९ ॥

हँसते हुए ही एकमात्र वर्तमान क्षणका अनुसरण करते थे ॥ १३, १४ ॥

हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र अपने विचारसे ही राजा जनकको प्राप्तव्य परम ब्रह्मरूप वस्तु निःशेषरूपसे प्राप्त हुई यानी विस्मृत गलेके सुवर्णहारकी तरह ज्ञानमात्रसे मिली, न कि अन्य इच्छासे ॥ १५ ॥

जबतक फलकी प्राप्ति न हो, तबतक विचार करना चाहिये, बीचमें निर्वेदवश विचारका त्याग नहीं करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'तावद्'** इत्यादिसे ।

तबतक अपने चित्तसे आत्मतत्त्वका विचार करना चाहिये जबतक कि विचारोंकी सीमाका अन्त (आत्मज्ञानरूप फल) प्राप्त न हो ॥ १६ ॥

सन्तोंकी संगतिसे निर्मलतारूप अभ्युदयको प्राप्त हुए, विचारसे विशद चित्तसे जो परम पद प्राप्त होता है, वह न तो गुरुके उपदेशसे न शास्त्रार्थके अनुशीलनसे और न पुण्यसे प्राप्त होता है। यहांपर साधनभूत गुरु, शास्त्रार्थ और पुण्यको परम पदका असाधन कहना विचारकी प्रधानताके बोधनके लिए है जैसे कि गौ और अश्वसे भिन्न अपशु हैं, गौ तथा अश्व पशु हैं, यहांपर गौ और अश्वकी प्रधानताके द्योतनके लिए उनसे भिन्नको अपशु कहा है ॥ १७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सत् शास्त्रोंके अभ्यास और विचारसे परिष्कृत तथा ऊहापोहमें कुशल—अनुरागयुक्त सखीके सदृश—अपनी मतिसे उत्तम पद प्राप्त होता है, अन्य क्रियासे प्राप्त नहीं होता ॥ १८ ॥

जिस पुरुषकी पूर्वापरका विचार करनेवाली, कुशाग्र प्रज्ञारूपी दीपशिखा जलती है, उसे कभी भी अज्ञानरूपी अन्धकार क्लेश नहीं पहुँचाता ॥ १९ ॥

दुरुत्तरा या विपदो दुःखकल्लोलसङ्कुलाः ।
तीर्यते प्रज्ञया ताभ्यो नावाऽऽपद्भ्यो महामते ॥ २० ॥
प्रज्ञाविरहितं मूढमापदल्पाऽपि बाधते ।
पेलवा चाऽनिलकला सारहीनमिवोलपम् ॥ २१ ॥
प्रज्ञावानसहायोऽपि विशास्त्रोऽप्यरिमर्दन ।
उत्तरत्येव संसारसागराद्राम पेलवात् ॥ २२ ॥
प्रज्ञावानसहायोऽपि कार्यान्तमधिगच्छति ।
दुष्प्रज्ञः कार्यमासाद्य प्रधानमपि नश्यति ॥ २३ ॥
शास्त्रसज्जनसंसर्गैः प्रज्ञां पूर्वं विवर्धयेत् ।
सेकसंरक्षणारम्भैः फलप्राप्तौ लतामिव ॥ २४ ॥

हे महामते, जो विपत्तियाँ दुस्तर हैं और दुःखरूपी महातरङ्गोंसे भरी हैं, उन आपत्तिरूपी नदियोंसे प्रज्ञारूपी नौका द्वारा ही निस्तार होता है ॥ २० ॥

जैसे कोमल वायुकी लहर असार तृणको लथेड़ देती है वैसे ही पूर्वोक्त प्रज्ञासे रहित मूढ़ पुरुषको छोटी-सी भी आपत्ति पीड़ित कर डालती है ॥ २१ ॥

हे शत्रुतापन, प्रज्ञावान् पुरुषके चाहे गुरु आदि सहायक न हों, शास्त्राभ्यास भी उसने न किया हो, फिर भी एकमात्र ज्ञानसे बाधित होनेके कारण अति-कोमल संसाररूपी सागरसे वह निस्तार पा ही जाता है ॥ २२ ॥

लोकमें भी प्रज्ञावान् मन्त्री आदिकी अन्य बलसे युक्त पुरुषकी अपेक्षा प्रबलता प्रसिद्ध ही है, ऐसा कहते हैं—**'प्रज्ञावान्'** इत्यादिसे ।

प्रज्ञावान् पुरुष चाहे सहायशून्य ही क्यों न हो, फिर भी वह कार्यमें सफलता प्राप्त करता है, किन्तु प्रज्ञाविहीन पुरुष कार्यको प्राप्त कर बहुत सी सेना आदिके बलसे प्रधान होकर भी नष्ट हो जाता है * ॥ २३ ॥

यदि कोई कहे कि प्रज्ञा जब ऐसी वस्तु है, तब उसे किस उपायसे प्राप्त करना चाहिये ? इसपर कहते हैं—**'शास्त्र०'** इत्यादिसे ।

जैसे फलप्राप्तिके लिए सींचने, रक्षण करने आदिसे लता बढ़ाई जाती है वैसे

* इस श्लोकका दूसरा अर्थ यों है—चरमसाक्षात्कारवृत्तिरूप प्रज्ञासे सम्पन्न असङ्ग आत्मा सब कार्यप्रपञ्चोंके बाधकों और सब अवश्य कर्तव्य पुरुषार्थोंकी अवधिभूत परम पुरुषार्थको प्राप्त होता है । किन्तु मोह सकलप्रपञ्चविस्ताररूप कार्यको पाकर उसका कारण होनेसे प्रधान होता हुआ भी ज्ञानमात्रसे नष्ट हो जाता है ।

प्रज्ञाबलबृहन्मूलः काले सत्कार्यपादपः ।
फलं फलत्यतिस्वादु भासो बिम्बमिवैन्दवम् ॥ २५ ॥
य एव यत्नः क्रियते बाह्यार्थोपार्जने जनैः ।
स एव यत्नः कर्त्तव्यः पूर्वं प्रज्ञाविवर्धने ॥ २६ ॥
सीमान्तं सर्वदुःखानामापदां कोशमुत्तमम् ।
बीजं संसारवृक्षाणां प्रज्ञामान्द्यं विनाशयेत् ॥ २७ ॥
स्वर्गाद्यद्यच्च पातालाद्राज्याद्यत्समवाप्यते ।
तत्समासाद्यते सर्वं प्रज्ञाकोशान्महात्मना ॥ २८ ॥
प्रज्ञयोत्तीर्यते भीमात्तस्मात्संसारसागरात् ।
न दानैर्न च वा तीर्थैस्तपसा न च राघव ॥ २९ ॥

ही शास्त्राभ्यास और सज्जनोंकी संगतिसे पहले प्रज्ञाको बढ़ाना चाहिये ॥ २४ ॥

जैसे चन्द्रमाका मण्डल संसारके अन्धकारको दूर करनेवाली चांदनीको उत्पन्न करता है वैसे ही प्राक्तन शुभ कर्मरूपी वृक्ष, जिसका प्रज्ञाबल ही महान् मूल है, समयपर मूलाज्ञानकी निवृत्तिमें समर्थ आत्मज्ञानको उत्पन्न करता है ॥ २५ ॥

बाह्य पदार्थोंके अर्जनमें लोग जैसा उद्योग करते हैं, प्रज्ञाकी अभिवृद्धिके लिए पहले वैसा ही उद्योग करना चाहिए, उससे अधिक परिश्रमकी आवश्यकता नहीं है, यह भाव है ॥ २६ ॥

बुद्धिमान्द्यका, जो सब दुःखोंकी सीमा है, आपत्तियोंका उत्तम भण्डार है और संसाररूपी वृक्षोंका बीज है, विनाश करना चाहिए ॥ २७ ॥

इसी प्रकार प्रज्ञाकोश भी सब सम्पत्तियोंकी चरम सीमा है, ऐसा दिखलाते हैं—**'स्वर्गात्'** इत्यादिसे ।

स्वर्गसे जो सुख मिलता है, पातालसे * जो सुख मिलता है और राज्यसे जो सुख मिलता है, वह सारा सुख महात्माको प्रज्ञाकोशसे प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

आत्यन्तिक दुःखक्षय भी एकमात्र प्रज्ञाका ही फल है, ऐसा कहते हैं—**'प्रज्ञा०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, भयङ्कर इस संसारसागरसे प्रज्ञा द्वारा ही निस्तार होता है,

* स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः । जगाद सुसदां मध्ये पातालेभ्यः समागतः ॥ (पाताल लोकोंसे आए हुए श्रीनारदजीने देवताओंकी सभामें कहा कि पाताल स्वर्गलोकसे भी रमणीय हैं) इस पौराणिक वचनसे पातालमें भी सुखातिशय प्रसिद्ध है ।

यत्प्राप्ताः सम्पदं दैवीमपि भूमिचरा नराः ।
प्रज्ञापुण्यलतायास्तत्फलं स्वादु समुत्थितम् ॥ ३० ॥
प्रज्ञया नखराल्लूनमत्तवारणयूथपाः ।
जम्बुकैर्विजिताः सिंहाः सिंहैर्हरिणका इव ॥ ३१ ॥
सामान्यैरपि भूपत्वं प्राप्तं प्रज्ञावशान्नरैः ।
स्वर्गापवर्गयोग्यत्वं प्राज्ञस्यैवेह दृश्यते ॥ ३२ ॥
प्रज्ञया वादिनः सर्वे स्वविकल्पविलासिनः ।
जयन्ति सुभटप्रख्यान्नरानप्यति भीरवः ॥ ३३ ॥
चिन्तामणिरियं प्रज्ञा हृत्कोशस्था विवेकिनः ।
फलं कल्पलतेवैषा चिन्तितं संप्रयच्छति ॥ ३४ ॥
भव्यस्तरति संसारं प्रज्ञयाऽपोह्यतेऽधमः ।
शिक्षितः पारमाप्नोति नावा नाऽऽप्नोत्यशिक्षितः ॥ ३५ ॥

दानोंसे, तीर्थोंसे अथवा तपस्यासे इस संसारसे निस्तार नहीं मिलता। दान, तप आदिका फल छोटे-मोटे पापोंका क्षय है, संसारसागरसे निस्ताररूप महाफल नहीं है ॥२९॥

जो स्वर्ग आदि अन्यान्य पदार्थ दानादि कर्मोंके फल कहे गये हैं, वे भी प्रज्ञाके फल ही हैं, ऐसा कहते हैं—'*यत्*' इत्यादिसे।

भूमिचर लोग भी नभश्चरत्व आदिरूप दैवी सम्पत्तिको जो प्राप्त हुए हैं, वह भी प्रज्ञारूपी पवित्र लतासे उत्पन्न हुआ स्वादिष्ट फल है ॥ ३० ॥

जिन सिंहोंने अपने पञ्जोंसे मत्त गजेन्द्रोंके कुम्भस्थल चीर डाले, वे भी प्रज्ञासे सियारों द्वारा ऐसे पराजित हुए हैं, जैसे सिंहोंसे हरिण पराजित होते हैं ॥ ३१ ॥

साधारणसे भी साधारण लोगोंने अपनी प्रज्ञासे राजगद्दी प्राप्त की है। इस लोकमें प्राज्ञमें ही स्वर्ग और अपवर्गकी योग्यता दिखाई देती है ॥ ३२ ॥

अतिभीरु भी सब वादी जन प्रज्ञासे ही अपने विकल्पोंसे शोभित होनेवाले प्रगल्भ वादियोंको जीत लेते हैं ॥ ३३ ॥

विवेकी पुरुषके हृदयकोशमें स्थित यह प्रज्ञा चिन्तामणिरूप है, यह कल्पलताकी नाईं वाञ्छित फल देती है ॥ ३४ ॥

कुशल पुरुष प्रज्ञासे संसारसे निस्तार पाता है और अधम पुरुष डूबता है। ठीक भी है, नौका चलानेकी शिक्षाको प्राप्त हुआ केवट नौकासे पार चला जाता है और नौका चलानेमें अशिक्षित केवट पार नहीं पहुँचता ॥ ३५ ॥

धीः सम्यग्योजिता पारमसम्यग्योजिताऽऽपदम् ।
नरं नयति संसारे भ्रमन्ती नौरिवाऽर्णवे ॥ ३६ ॥
विवेकिनमसंमूढं प्राज्ञमाशागणोत्थिताः ।
दोषा न परिबाधन्ते सन्नद्धमिव सायकाः ॥ ३७ ॥
प्रज्ञयेह जगत्सर्वं सम्यगेवाऽङ्ग दृश्यते ।
सम्यग्दर्शनमायान्ति नाऽऽपदो न च संपदः ॥ ३८ ॥
पिधानं परमार्कस्य जडात्मावितत्तोऽसितः ।
अहङ्काराम्बुदो मत्तः प्रज्ञावातेन बाध्यते ॥ ३९ ॥
पदमतुलमुपैतुमिच्छतोच्चैः प्रथममियं मतिरेव लालनीया ।
फलमभिलषता कृषीवलेन प्रथमतरं ननु कृष्यते धरैव ॥ ४० ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
प्रज्ञामाहात्म्यं नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

प्रज्ञा नौकाके समान यदि विवेक वैराग्य आदि सन्मार्गमें लगाई जाय, तो पार पहुँचाती है किन्तु राग, द्वेष, लोभ आदि असद् मार्गमें लगाई गयी, संसारमें भ्रमण करती हुई बुद्धि सागरमें घूमती हुई नौकाके समान मनुष्यको आपत्ति देती है ॥३६॥

तृष्णाके वर्गके लोभ, मोह, क्रोध, चिन्ता आदिसे उत्पन्न हुए द्वेष, चिन्ता, अविद्या आदि दोष विवेकशील अतएव असंमूढ़ पुरुषको इस प्रकार पीड़ित नहीं करते, जिस प्रकार कि कवचयुक्त पुरुषको बाण पीड़ित नहीं कर सकते ॥ ३७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस लोकमें प्रज्ञासे सारा जगत् गुण-दोषतत्त्वविवेकके साथ भली भाँति दिखाई देता है। परमार्थदृष्टिवाले पुरुषके पास न सम्पत्तियां आती हैं, न विपत्तियां ही आती है ॥ ३८ ॥

जैसे सूर्यको आवृत करनेवाला जलरूप विस्तृत काला मत्त मेघ वायुसे छिन्न-भिन्न हो जाता है वैसे ही परमात्माको आवृत करनेवाला जड़रूप विस्तृत मलिन मत्त अहङ्कार प्रज्ञासे विनष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

उन्नत अनुपम पदमें पहुंचनेकी इच्छावाले पुरुषको पहले इस मतिका ही क्रमशः विवेकशिक्षा द्वारा शोधन करना चाहिये। धान्य आदिकी अभिवृद्धि चाहनेवाला कृषक सबसे पहले पृथवीको ही जोतता है ॥ ४० ॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

त्रयोदशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं जनकवद् राम विचार्याऽऽत्मानमात्मना ।
पदं विदितवेद्यानामविघ्नेनाऽधिगच्छसि ॥ १ ॥
ये हि पाश्चात्यजन्मानः प्राज्ञा राजससात्त्विकाः ।
प्राप्नुवन्ति स्वयं प्राप्यं ते जना जनका इव ॥ २ ॥
तावत्तावद् विजित्याऽरीनिन्द्रियाख्यान् पुनः पुनः ।
यावदात्माऽऽत्मनैवाऽयमात्मन्येव प्रसीदति ॥ ३ ॥
प्रसन्ने सर्वगे देवे देवेशे परमात्मनि ।
स्वयमालोकिते सर्वाः क्षीयन्ते दुःखदृष्टयः ॥ ४ ॥

तेरहवाँ सर्ग

[जनकके विचारको उदाहरण बनाकर चित्तके प्रशमनके उपायोंका युक्तियों द्वारा विस्तारपूर्वक वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जनकके समान अपनेसे आत्माका विचार कर आप असम्भावना आदि प्रतिबन्धकोंके निरास द्वारा ज्ञातज्ञेय (जिन लोगोंको ज्ञातव्य वस्तुका—ब्रह्मका—परिज्ञान हो चुका) लोगोंके पदको पा जाओगे ॥ १ ॥

जो लोग अन्तिम जीवन्मुक्ति जन्मवाले प्रज्ञावान् और राजससात्त्विक हैं, वे लोग जनकके समान प्राप्य वस्तुको स्वयं पा जाते हैं। भाव यह कि रजोगुणसे पौरुष प्रयत्न होने और सत्वगुणसे चित्तप्रसादकी अभिवृद्धि होनेके कारण राजस-सात्त्विक पुरुष ही अपने विवेकसे आकाशसे फलपतनके तुल्य ज्ञानप्राप्तिमें अधिकारी हैं ॥ २ ॥

वे प्राप्तव्य वस्तुको कैसे प्राप्त करते हैं, ऐसी शङ्का होनेपर उसे कहते हैं—**'तावत्'** इत्यादिसे ।

सत्त्वगुणकी अभिवृद्धिसे जबतक आत्मा अपनेसे ही अपनेमें प्रसन्न होता है, तबतक रजोगुणकी विष्टम्भशक्तिसे इन्द्रियनामक शत्रुओंको पुनः-पुनः जीतकर वे स्वयं प्राप्तव्य वस्तुको प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

प्रसन्न, सर्वव्यापक, इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले, स्वयंज्योति परमात्माके

मुष्टयो मोहबीजानां वृष्टयो विविधापदाम् ।
कुदृष्टयः क्षयं यान्ति दृष्टे तस्मिन् परावरे ॥ ५ ॥
सदा जनकवद् राम सर्वारम्भवदात्मना ।
प्रज्ञयाऽऽत्मानमालक्ष्य लक्ष्मीवानुत्तमो भव ॥ ६ ॥
नित्यमन्तर्विचारस्य पश्यतश्चश्चलं जगत् ।
जनकस्येव कालेन स्वयमात्मा प्रसीदति ॥ ७ ॥
न दैवं न च कर्माणि न धनानि न बान्धवाः ।
शरणं भवभीतानां स्वप्रयत्नादृते नृणाम् ॥ ८ ॥
ये दैवनिष्ठाः कृत्यादौ कुविकल्पपरायणाः ।
तेषां मन्दा मतिस्तात नाऽनुगम्या विनाशनी ॥ ९ ॥

अपने-आप साक्षात्कृत होनेपर सब दुःखदृष्टियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥ ४ ॥

उस परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार होनेपर अहन्ता-ममताप्रतीतिरूप हृदय-ग्रन्थियां, जो दुर्वासनाओंकी मुट्ठियां हैं यानी बीजकी मुट्ठीकी तरह अपने भीतर दुर्वासनाओंका दृढ़तापूर्वक ग्रहण करनेवाली और चित्तरूपी क्षेत्रमें बोई जानेवाली हैं और आध्यात्मिक आदि विविध दुःखोंकी वृष्टियां हैं, नष्ट हो जाती हैं ॥ ५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपनी विवेकबुद्धिसे अपनेको सम्पूर्ण जगत्के उत्पत्ति आदिके अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूपसे जानकर राजा जनकके समान परम पुरुषार्थरूप शोभावाले आप सर्वोत्कृष्ट हो जाइये ॥ ६ ॥

अब आत्मप्रसादके उपायोंमें विचार ही मुख्य है, ऐसा कहते हैं—**'नित्यम्'** इत्यादिसे ।

नित्य आन्तरिक विचारवाले और जगत्को अनित्य देख रहे पुरुषका आत्मा राजा जनकके समान समय आनेपर स्वयं प्रसन्न हो जाता है ॥ ७ ॥

विचारकी भी जड़ पुरुषप्रयत्न ही है, इस आशयसे कहते हैं—**'न'** इत्यादिसे ।

संसारसे भयभीत हुए पुरुषोंका अपने प्रयत्नको छोड़कर न तो भाग्य शरण है, न कर्म शरण हैं, न धन शरण है और न बन्धु-बान्धव ही शरण हैं ॥ ८ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि भाग्यवश स्वयं ही समय आनेपर ज्ञान हो ही जायगा ? हमारे प्रयत्नसे क्या लाभ है ? तो इसपर कहते हैं—**'ये'** इत्यादिसे ।

विवेकं परमाश्रित्य विलोक्याऽऽत्मानमात्मना ।
धिया विरागोद्धुरया संसारजलधिं तरेत् ॥ १० ॥
एषा सा कथिता राम नभःफलनिपातवत् ।
सुखदा ज्ञानसंप्राप्तिरज्ञानतरुशातनी ॥ ११ ॥
जनकस्येव सद्बुद्धेः स्वयमेव विलोकिनः ।
विकासमेत्ययं देही देवः प्रातरिवाऽम्बुजम् ॥ १२ ॥
संसारमननं चित्रं विचारेण विलीयते ।
गलद्वशीकृतस्पर्शमातपेन हिमं यथा ॥ १३ ॥
अयमेवाऽहमित्यस्या निशाया उदिते क्षये ।
स्वयं सर्वगतः स्फारः स्वालोकः संप्रवर्तते ॥ १४ ॥

जो लोग प्रयत्न, विवेक, वैराग्य, विचार आदि कार्योंमें भाग्याधीन रहते हैं, और—भाग्यके प्रतिकूल होनेपर अपने हजारों प्रयत्नोंसे क्या सिद्ध होगा, बहुतसे लोग फलप्राप्तिके लिए प्रयत्न करते हैं, पर दैवसे विनष्ट हुए उनका काम, क्रोध आदिसे पतन देखा जाता है—इत्यादि कुकल्पनाएँ करते हैं, उनकी मन्द मति विनाशकी ओर ले जानेवाली है, उनका अनुसरण नहीं करना चाहिए ॥ ९ ॥

परम विवेकका अवलम्बन कर आत्माका अपने आप साक्षात्कार कर वैराग्यसे वृद्धिको प्राप्त हुई (अनादिकालसे निमग्न आत्माके उद्धारमें समर्थ) बुद्धिसे संसार-सागरको पार करे ॥ १० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जनककी आख्यायिकाके उदाहरणसे विस्तारित, आकाशसे फलपतनके तुल्य यह ज्ञानसंप्राप्ति, जो अज्ञानरूपी वृक्षको उखाड़ फेकनेवाली और निरतिशय सुख देनेवाली है, मैंने आपसे कही ॥ ११ ॥

जैसे प्रातःकालमें कमल विकासको प्राप्त होता है, वैसे ही जनकके तुल्य सद्बुद्धि और स्वयं ही आत्मसाक्षात्कार करनेवाले पुरुषकी देहके अन्दर हृदयमें स्थित स्वयंज्योति परमात्मा विकासको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

जैसे धूपसे जिसकी शीतलता हर ली गयी, ऐसा हिमकण गल कर लीन हो जाता है, वैसे ही यह विचित्र संसारचिन्तन विचारसे विलीन हो जाता है ॥१३॥

देहमें अहंभावका त्याग ही पूर्ण आत्मदर्शनमें मुख्य साधन है, ऐसा कहते हैं—**'अयम्'** इत्यादिसे ।

अयमेवाऽहमित्यस्मिन् सङ्कोचे विलयं गते ।
अनन्तभुवनव्यापी विस्तार उपजायते ॥ १५ ॥
जनकेन परित्यक्ता यथाऽहङ्कारवासना ।
तथा त्वमपि सद्बुद्धे विचार्याऽन्तः परित्यज ॥ १६ ॥
अहङ्काराम्बुदे क्षीणे चिद्व्योम्नि विमले तते ।
नूनं संप्रौढतामेति स्वालोको भास्करः परः ॥ १७ ॥
एतावदेवाऽतितमो यदहम्भावभावनम् ।
तस्मिंश्च शममानीते प्रकाश उपजायते ॥ १८ ॥
नाऽहमस्ति न चाऽन्योऽस्ति न च नाऽस्तीति भावितम् ।
मनः प्रशान्तिमायातं नोपादेयेषु मज्जति ॥ १९ ॥
उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविवर्जनम् ।
यदेतन्मनसो राम तद्बन्धं विद्धि नेतरत् ॥ २० ॥

यह देह ही मैं हूँ, इस रात्रिका विनाश होनेपर अपने-आप सर्वव्यापक विशाल आत्मालोक प्रकट होता है । 'यह देह ही मैं हूँ, इस परिच्छेदके विनष्ट होनेपर अनन्त भुवनव्यापी विस्तार उत्पन्न हो जाता है ॥ १४, १५ ॥

हे सद्बुद्धे, जैसे राजा जनकने विचार कर अहंकारवासनाका त्याग किया वैसे आप भी अपने हृदयमें विचार कर अहंकारवासनाका त्याग कीजिए ॥ १६ ॥

अहङ्काररूपी मेघके नष्ट होनेपर सर्वव्यापक, निर्मल चिदाकाशमें आत्मालोकरूपी परम सूर्य अवश्य ही अत्यन्त प्रकाशको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

जो अहङ्कारकी भावना है, वही तमका (अज्ञानका) मुख्य बल है, उसके शान्त होनेपर प्रकाश उत्पन्न हो जाता है ॥ १८ ॥

न अहन्ता है, न अन्य है और न तो शून्य ही है, क्योंकि दोनोंका साक्षी विद्यमान है, इस प्रकारसे भावित मन शान्तिको प्राप्त होकर ग्रहणयोग्य विषयोंमें मग्न नहीं होता ॥ १९ ॥

उपादेय विषयोंमें मनका अनुराग और हेय विषयोंमें मनका द्वेष ही पुरुषका बन्धन है, उससे अतिरिक्त बन्धन नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'उपादेया०'** इत्यादिसे ।

मनका जो उपादेय वस्तुओंकी ओर आकृष्ट होना है और जो हेय वस्तुओंका सर्वथा त्याग है, उसीको आप बन्धन समझिये, उससे अतिरिक्त बन्धन नहीं ॥२०॥

मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भव ।
हेयादेयदृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः स्वच्छतां व्रज ॥ २१ ॥
येषामिदमुपादेयमिदं हेयमिति स्थितिः ।
विलीना ते न वाञ्छन्ति न त्यजन्तीह किञ्चन ॥ २२ ॥
हेयोपादेयकलने क्षीणे यावन्न चेतसः ।
न तावत् समता भाति साभ्रे व्योम्नीव चन्द्रिका ॥ २३ ॥
अवस्त्विदमिदं वस्तु यस्येति लुलितं मनः ।
तस्मिन्नोदेति समता शाखोट इव मञ्जरी ॥ २४ ॥
युक्तायुक्तैषणा यत्र लाभालाभविलासिनी ।
समता स्वच्छता तत्र कुतो वैराग्यभासिनी ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, हेय वस्तुओंके प्राप्त होनेपर आप खिन्न न होइये और उपादेय वस्तुओंमें अभिलाषा न कीजिये। हेय और उपादेय वस्तुओंमें राग-द्वेषात्मक वृत्तियोंका त्याग कर उनके साक्षीमें एकनिष्ठ होकर विक्षेपकालुष्य-शून्य होइये ॥ २१ ॥

जिन लोगोंकी, यह उपादेय है, यह हेय है, ऐसी अवस्था सर्वत्र अहेय आत्ममात्रके दर्शनसे विलीन हो गई, वे पुरुष न तो किसी वस्तुकी वाञ्छा करते हैं और न किसी वस्तुका त्याग ही करते हैं ॥ २२ ॥

जबतक चित्तसे हेय और उपादेयकी कल्पना क्षीण नहीं हुई, तबतक जैसे मेघाच्छन्न आकाशमें चाँदनी शोभित नहीं होती वैसे ही समता (अविषम ब्रह्मात्मता) शोभित नहीं होती ॥ २३ ॥

यह वस्तु खराब है, इसलिए त्याज्य है, यह वस्तु उत्तम है, इसलिए ग्राह्य है, इस प्रकार जिसका मन चञ्चलताको प्राप्त हुआ, उस पुरुषमें समता शाखोटवृक्षमें मञ्जरीके समान नहीं होती ॥ २४ ॥

यह वस्तु मेरे अनुकूल है, अतः यह मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार लाभसे विलसित होनेवाली, यह वस्तु मेरे प्रतिकूल है, अतः यह मुझे कभी भी प्राप्त न हो, इस प्रकार द्वेषसे विलसित होनेवाली एषणा जिस पुरुषमें है, उसमें वैराग्यसे उदित होनेवाली समता और स्वच्छता कहाँ ? ॥ २५ ॥

एकस्मिन् ब्रह्मतत्त्वेऽस्मिन् विद्यमाने निरामये ।
नानाऽनानातया नित्यं किमयुक्तं क्व युक्तता ॥ २६ ॥
ईप्सितानीप्सिताशङ्के मर्कट्यौ चित्तपादपे ।
चञ्चले स्फुरतो यस्मिन् कुतस्तस्येह सौम्यता ॥ २७ ॥
निराशता निर्भयता नित्यता समता ज्ञता ।
निरीहता निष्क्रियता सौम्यता निर्विकल्पता ॥ २८ ॥
धृतिर्मैत्री मतिस्तुष्टिर्मृदुता मृदुभाषिता ।
हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्यपवासनम् ॥ २९ ॥
धावमानमधोभागे चित्तं प्रत्याहरेद् बलात् ।
प्रत्याहारेण पतितमधो वारीव सेतुना ॥ ३० ॥

उस पुरुषमें समता और स्वच्छताकी संभावनामें क्या विरोध है, ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—**'एकस्मिन्'** इत्यादिसे ।

अद्वितीय निर्दोष इस ब्रह्मतत्त्वके ही भेदाभेद कल्पनासे विद्यमान रहनेपर क्या अत्यन्त अयुक्त है ? और कहाँपर युक्तता है ? भाव यह कि यदि सब पदार्थ असङ्ग, अद्वितीय, आनन्दरूप और अभिन्न ही हैं तो आत्मरूप होनेके कारण सब अनुकूल ही हैं, यदि भिन्न हैं तथापि आत्मासे उनका स्पर्श न होनेसे न अनुकूल हैं, न प्रतिकूल हैं, इसलिए भेदकी अवस्थामें भी अयुक्तता और युक्तताका अवकाश नहीं है । पूर्वोक्त पुरुषमें तो युक्तता-अयुक्तता विद्यमान है, अतः उसमें स्वच्छता और समताकी संभावनामें विरोध है ही ॥ २६ ॥

ईप्सित, अनीप्सितकी आशङ्कारूपी चञ्चल वानरियाँ जिस पुरुषके चित्तरूपी वृक्षपर स्फुरित होती हैं । भला उस पुरुषको शान्ति कहाँसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ २७ ॥

अब जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षणभूत पन्द्रह गुणोंको कहते हैं–**'निराशता०'** इत्यादिसे ।

निराशता, निर्भयता, नित्यता, समता, ज्ञता, निरीहता, निष्क्रियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, धैर्य, मैत्री, सन्तोष, मधुरता, मधुर-भाषिता और मननशीलता ये हेय और उपादेयसे रहित ज्ञानीमें, वासनाके बीज अज्ञानके नष्ट होनेके कारण, वासनारहित रहते हैं ॥ २८, २९ ॥

इस समय उक्त गुणोंके अर्जनमें उपायका उपदेश देते हैं—**'धावमानम्'** इत्यादिसे ।

बाह्यानर्थानिमांस्त्यक्त्वा तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ।
सर्वथा सर्वदा सर्वानान्तरांश्च विचारय ॥ ३१ ॥
गृहीततृष्णाशफरि वासनाजालमाविलम् ।
संसारवारिप्रसृतं चिन्तातन्तुभिराततम् ॥ ३२ ॥
अनया तीक्ष्णया तात च्छिन्धि बुद्धिशलाकया ।
वात्ययेवाऽम्बुदं काले वहन्त्या वितते पदे ॥ ३३ ॥
अस्य संसारवृक्षस्य मूलं दोषाङ्कुरास्पदम् ।
भव्य धीरेण धैर्येण प्रोद्धरोद्धुरया धिया ॥ ३४ ॥
मनसैव मनश्छित्त्वा कुठारेणेव पादपम् ।
पदं पावनमासाद्य सद्य एव स्थिरो भव ॥ ३५ ॥

जैसे बह रहे जलको बांधसे रोकते हैं वैसे ही निकृष्ट विषयोंमें दौड़ रहे मनको विषयोंसे सब बाह्येन्द्रियोंकी परावृत्ति द्वारा जबरदस्ती रोके ॥ ३० ॥

बाह्य पदार्थोंमें आत्मतत्त्वभ्रान्ति नहीं हो सकती अतः उनका त्याग ही उपाय है। आन्तर पदार्थोंमें तो आत्मतत्वभ्रान्ति हो सकती है अतः उनका रत्नकी तत्त्व-परीक्षाके समान सदा सब तरह विचार करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'बाह्यान्'** इत्यादिसे।

इन बाह्य पदार्थोंका त्याग करके आप बैठते, चलते, सोते सदा सब आन्तर पदार्थोंका भली-भाँति विचार कीजिए। वृद्धोंने कहा भी है—चलते, बैठते अथवा जागते, सोते जिसका मन विचारमग्न नहीं रहता वह मृतक कहलाता है ॥ ३१ ॥

तृष्णारूपी मछली जिसमें फँसी है, मोहरूपी सेवारसे जो मैला हुआ है, संसाररूपी जलमें फैला है एवं जो चिन्तारूपी तन्तुओंसे निर्मित है, ऐसे वासना-जालको जैसे आकाशमें बह रही तेज आँधीसे बादल छिन्न-भिन्न हो जाता है वैसे ही मेरे द्वारा उपदिष्ट इस तीखी बुद्धिरूपी कैंचीसे, जो अत्यन्त विस्तीर्ण ब्रह्मकी ओर उन्मुख है, काटिये ॥ ३२, ३३ ॥

हे सौम्य, चिर अभ्याससे दृढ़ हुए एकात्मस्थिरतारूप चित्तधैर्यसे सम्पन्न अतएव अनादिकालसे संसारसागरमें डूबे हुए आत्माका उद्धार करनेमें समर्थ अपरोक्षसाक्षात्कारबुद्धिसे संसाररूपी वृक्षके मूलको, जो दोषरूपी अङ्कुरोंकी उत्पत्तिभूमि है, जैसे वृक्षके अवयव काष्ठरूप कुल्हाड़ेसे वृक्ष काटा जाता है, वैसे ही मनसे ही मनका विनाश कर शीघ्र ही परम-पवित्र स्थानको पाकर आप स्थिर होइये ॥ ३४, ३५ ॥

मनसैव मनश्छित्त्वा विस्मृत्या चरमं मनः ।
वर्तमानमपि च्छित्त्वा च्छिन्नसंसारतां व्रज ॥ ३६ ॥
मोहो विस्मृत्य संसारं न भूयः परिरोहति ।
चित्तं विस्मृत्य संसारो न भूयः परिरोहति ॥ ३७ ॥
तिष्ठन् गच्छन् स्वपञ्जाग्रन्निवसन्नुत्पतन्पतन् ।
असदेवेदमित्यन्तर्निश्चित्याऽऽस्थां परित्यज ॥ ३८ ॥
समतामलमाश्रित्य संप्राप्तं कार्यमाहरन् ।
अचिन्तयंस्तथा प्राप्तं विहरेह हि राघव ॥ ३९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि पहलेसे सिद्ध मनका उक्त उपाय द्वारा विनाश होनेपर भी भावी मनोवृत्तियोंका अथवा ब्रह्माकार वर्तमान मनोवृत्तिका कैसे विनाश होगा, तो इसपर कहते हैं—'**मनसैव**' इत्यादिसे ।

वासनोच्छेदरूपी विस्मृतिसे उत्तरकालमें प्राप्त हुए वृत्तिरूप मनका विनाश कर वर्तमान मनका भी कतकरेणु न्यायसे मनसे ही विनाश कर आप संसारका विच्छेद कीजिये ॥ ३६ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि ऐसी अवस्थामें भी तत्त्वज्ञानीके जीवनकी सिद्धिके लिए जीवनके मूलभूत अविद्यानामक मोहको अवश्य ही मानना पड़ेगा, वही फिर संसारको उत्पन्न करेगा, तो इसपर कहते हैं—'**मोह०**' इत्यादिसे ।

मोह संसारको भूल कर फिर नहीं उत्पन्न होता, भाव यह कि वासनाक्षयरूप विस्मृति होनेपर मोहमें बीजशक्ति नहीं रह जाती ।

शङ्का—तब संसार ही मोहक्षेत्रमें अपने आप उगेगा ?

समाधान—संसार चित्तका विस्मरण कर फिर नहीं उगता । भाव यह कि चित्तसंस्कारोच्छेदरूप विस्मरण होनेपर फिर संसारका उद्गम नहीं होता ॥ ३७ ॥

चित्त और चेत्य इन दोनोंके विस्मरणमें उनके ऊपर आस्थाका त्याग ही उपाय है, ऐसा कहते हैं—'**तिष्ठन्**' इत्यादिसे ।

खड़े होते, चलते, सोते, जागते, रहते, उछलते, कूदते यह असत् ही है, ऐसा मनमें निश्चय कर इसमें आस्थाका परित्याग कीजिये ॥ ३८ ॥

आस्थाका त्याग करनेपर समता भी सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं—'**समताम्**' इत्यादिसे ।

यथा शर्वोऽपि लिङ्गानि न बिभर्ति बिभर्ति च ।
त्वमेवमिह कार्याणि कुरु मा कुरु चाऽनघ ॥ ४० ॥
त्वमेव वेत्ता त्वमजस्त्वमात्मा त्वं महेश्वरः ।
आत्मनोऽव्यतिरिक्तः संस्त्वयेत्थमिदमाततम् ॥ ४१ ॥
येनाऽऽत्मदृश्यसद्भावादभितो भावनोज्झिता ।
स न संगृह्यते दोषैर्हर्षामर्षविषादजैः ॥ ४२ ॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
युक्त इत्युच्यते योगी त्यक्तसंसारवासनः ॥ ४३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, समताका पूर्णरूपसे अवलम्बन कर प्राप्त कार्य कर रहे और अप्राप्त कार्यका चिन्तन न कर रहे आप इस लोकमें विहार कीजिये ॥ ३९ ॥

जैसे महेश्वर पृथ्वी आदि अष्टमूर्तिरूप लिङ्गोंको शुद्ध चिन्मात्रदृष्टिसे नहीं धारण करते और जगदाकारमें विवर्तित मायाके अधिष्ठान होनेसे अपने संनिधान-मात्रसे उन्हें धारण भी करते हैं, उससे सर्वकर्ता भी होते हैं वैसे ही आप भी राज्य आदि कार्योंको अनास्थासे केवल संनिधि-मात्रसे कीजिये और आत्मा अकर्ता है, इस निश्चयसे न भी कीजिये ॥ ४० ॥

"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता" (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है, इससे अन्य श्रोता नहीं है) इत्यादि श्रुतिसे सब शरीरोंमें आप ही अप्रच्युत स्वभाव हैं, परमार्थ सत् हैं, आप ही जन्मादिविकारशून्य अज हैं, आप ही सबकी आत्मा हैं एवं आप ही पूर्वोक्त महेश्वर हैं। इस प्रकारके आपने अपने अज्ञानसे इस प्रकार इस प्रपञ्चका विस्तार किया है, दूसरेने नहीं किया है ॥४१॥

यदि मैंने ही इसका विस्तार किया है, तो इसमें मेरे हर्ष-क्रोधसे होनेवाले दोष क्यों होते हैं ? इसपर कहते हैं—'**येन**' इत्यादिसे ।

जिस तत्त्वज्ञानीने सद्रूप आत्मदृश्यकी परमार्थसन्मात्रभावनासे चारों ओर अन्य कोई वस्तु है, ऐसी भावनाका त्याग कर दिया, वह पुरुष हर्ष, क्रोध, विषाद आदिसे होनेवाले दोषोंसे आक्रान्त नहीं होता, इसलिए आप भी द्वैतकी भावनाका त्याग कीजिये ॥ ४२ ॥

जो राग और द्वेषका त्याग कर चुका है, जिसके लिए ढेला, पत्थर और सोना समान है एवं जिसने संसारकी वासनाओंका त्याग कर दिया है, ऐसा योगी युक्त कहा जाता है ॥ ४३ ॥

स यत् करोति यद् भुङ्क्ते यद्ददाति निहन्ति यत् ।
तत्र मुक्तधियस्तस्य समता सुखदुःखयोः ॥ ४४ ॥
प्राप्तं कर्तव्यमेवेति त्यक्तेष्टानिष्टभावनः ।
प्रवर्तते यः कार्येषु न स मज्जति कुत्रचित् ॥ ४५ ॥
चित्सत्तामात्रमेवेदमिति निश्चयवन्मनः ।
त्यक्तभोगाभिमननं शममेति महामते ॥ ४६ ॥
मनः प्रकृत्यैव जडं चित्तत्त्वमनुधावति ।
मांसगर्धेन मार्जारो वने मृगपतिं यथा ॥ ४७ ॥
सिंहवीर्यवशाल्लब्धं मांसं भुङ्क्तेऽनुगो हरेः ।
चिद्वीर्यवशतः प्राप्तं दृश्यमाश्रयते मनः ॥ ४८ ॥
मन एवमसत्कल्पं चित्प्रसादेन जीवति ।
भावयन् विश्वमेवैकं चिन्तामेत्य चिदच्युत ॥ ४९ ॥

वह जो कुछ करता है, जो भोजन करता है, जो देता है और जो मारता है, इन सबमें उस मुक्तबुद्धिवाले पुरुषकी सुख-दुःखके विषयमें समानता रहती है। जो इष्ट और अनिष्ट भावनाका त्याग कर यह प्राप्त कर्म कर्तव्य ही है, इस बुद्धिसे कार्योंमें प्रवृत्त होता है, वह कहींपर भी निमग्न नहीं होता है ॥ ४४, ४५ ॥

हे महामते, यह मैं और जगत् चित्सत्तामात्र ही है, इस प्रकारके निश्चयवाला मन, जिसने भोगचिन्ताका त्याग कर दिया है, शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

यह मैं और जगत चित्सत्तामात्र ही है; ऐसा जो ऊपर कहा है, उसका उपपादन करते हैं—'**मनः०**' इत्यादिसे ।

चूँकि मन स्वभावतः जड़ है, अतः स्वतः सिद्ध होने और दूसरेका (अपने विषयका) साधन करनेके लिए स्वयं असमर्थ होनेके कारण अपनी सिद्धि और अपने विषयके साधनके लिए स्वसाक्षिभूत, स्वप्रकाश, चिद्रूप पारमार्थिक वस्तुका अनुसरण करता है। जैसे कि अपने जीवननिर्वाहके लिए और अपने बच्चोंके भरण-पोषणके लिए मांसकी अभिलाषासे बिलाव वनमें सिंहका अनुसरण करता है ॥ ४७ ॥

जैसे सिंहका अनुगामी बिलाव सिंहके पराक्रमसे प्राप्त मांस खाता है वैसे ही मन चित्के बलसे प्राप्त दृश्यका (स्व और स्वविषयका) आश्रयण करता है ॥४८॥

इस प्रकार मन असत्कल्प है, यह बात सिद्ध हुई, वह एक अद्वितीय

जडं यत्किल निर्हीनं चिता दीपिकयौजसा ।
तन्मनः शवसङ्काशमचिदुत्तिष्ठते कथम् ॥ ५० ॥
चित्स्वभावपरामृष्टा स्पन्दशक्तिरसन्मयी ।
कल्पना चित्तमित्युक्त्या कथ्यते शास्त्रदृष्टिभिः ॥ ५१ ॥
यश्चित्तफणिफूत्कारः सैवेयं कलनोच्यते ।
चिदेवाऽहमिति ज्ञात्वा सा चित्तामेव गच्छति ॥ ५२ ॥
चेत्येन रहिता यैषा चित् तद् ब्रह्म सनातनम् ।
चेत्येन सहिता यैषा चित् सेयं कलनोच्यते ॥ ५३ ॥

आत्माका विस्मरण कर, उसकी जगत्के आकारसे भावना कर स्वयं जगदाकार हो चित्तत्त्वकी कृपासे जीता है, इसलिए आत्मस्मृतिको प्राप्त कर फिर चित् भी हो जाता है यानी मनस्ताका त्याग करता है ॥ ४९ ॥

मनकी प्रकाशशक्तिके समान स्पन्दशक्ति भी चित्के अधीन है, ऐसा कहते हैं—**'जड़म्'** इत्यादिसे ।

जो जड़ मन शवके तुल्य अचेतन है, वह चिद्रूप दीपिकाके बलके बिना कैसे चेष्टा कर सकता है ? ॥ ५० ॥

अतएव चित्में जो स्पन्दकल्पना है, वही मन है, ऐसा विद्वानोंका प्रवाद है, यह कहते हैं —**'चित्स्वभाव०'** इत्यादिसे ।

शास्त्रज्ञ लोग चित्स्वभावसे सम्बद्ध असन्मय स्पन्दशक्तिरूप कल्पनाको चित्त शब्दसे कहते हैं ॥ ५१ ॥

स्पन्दशक्तिके ही विलास चित्त और चित्तवृत्तियां हैं, ऐसा कहते हैं—**'यः'** इत्यादिसे ।

जो चित्तरूपी साँपका फुफकारना है, वही यह कलना शब्दसे कहा जाता है । मैं चित् ही हूँ, ऐसा जान कर वह कलना शुद्ध चिद्रूपताको प्राप्त होती है ॥५२॥

इससें सिद्ध हुआ कि चित्का चेत्यत्याग ही ब्रह्मतारूपसे पर्यवसन्न होना है, ऐसा कहते हैं—**'चेत्येन'** इत्यादिसे ।

चेत्यसे रहित जो यह चित् है, वह सनातन ब्रह्म है और चेत्यसहित जो यह चित् है, वही यह कलना है ॥ ५३ ॥

किञ्चिदामृष्टरूपं यद् ब्रह्म तच्च स्थिरं मनः ।
कल्पना सत् सदैवैतत् सदिवोपस्थिता हृदि ॥ ५४ ॥
चित्तमित्येव रूढेयं यदैव कलनोदिता ।
तदैव चित्त्वं विस्मृत्य सा जडेव व्यवस्थिता ॥ ५५ ॥
सम्पन्ना कलनानाम्नी सङ्कल्पानुविधायिनी ।
अवच्छेदवती वाऽग्रा हेयोपादेयधर्मिणी ॥ ५६ ॥
सैषा चिदेव जगत्तामागतेव स्वशक्तितः ।
न सम्प्रबोधिता यावद् रूपं तावन्न बुध्यते ॥ ५७ ॥
अतः शास्त्रविचारेण वैराग्येण परेण च ।
निग्रहेणेन्द्रियाणां च बोधयेत् कलनां स्वयम् ॥ ५८ ॥

काल द्वारा मननसे वह कलना मन होती है, ऐसा कहते हैं—**'किञ्चित्'** इत्यादिसे ।

जो सच्चिदानन्दरूप है, वही कलना बन कर सदा हृदयमें सत्के समान स्थित संकल्प-विकल्पकल्पना होकर यह प्रसिद्ध मन बन जाता है ॥ ५४ ॥

नित्य अनुभवस्वभाव ब्रह्मका स्वरूपविस्मरण होनेपर कलना ही स्मृतिताको और चित्तताको प्राप्त होती है, ऐसा कहते हैं—**'चित्तम्'** इत्यादिसे ।

चित्तरूपसे प्रसिद्ध यह कलना जभी उदित होती है, तभी वह चित्त्वको भूलकर जड़के समान स्थित हो जाती है ॥ ५५ ॥

अतीत विषयोंके आकारकी कल्पनासे चित्तताके समान अनागत विषयोंके आकारकी कल्पनासे सङ्कल्प-विकल्पका अनुविधान करनेके कारण मनस्ताको भी वह प्राप्त हुई है, इस आशयसे कहते हैं—**'सम्पन्ना'** इत्यादिसे ।

इस तरह दो प्रकारसे परिच्छेदको प्राप्त हुई, पूर्व जन्मके इष्ट-अनिष्ट-साधनोंका निश्चय कर भावी इष्ट-अनिष्टसाधनताका सङ्कल्प कर हेय-उपादेय धर्म वाली मुख्य वह चित् ही सङ्कल्पको उत्पन्न करनेवाली कलना नामक हो गई ॥५६॥

वह चित् ही अपनी मायाशक्तिसे जगत्ताको मानो प्राप्त हुई है । जबतक गुरु, शास्त्र और अपने विचारोंसे वह प्रबोधित नहीं की जाती है, तबतक वास्तविक पूर्णानन्दाद्वितीयरूप ब्रह्म नहीं जाना जाता ॥ ५७ ॥

इसलिए शास्त्रविचारसे, उत्कृष्ट वैराग्यसे और इन्द्रियोंके निग्रहसे कलनाको कलनारूप जो तीन अवस्थाएँ हैं तद्रूप स्वप्नसे लौटावे ॥ ५८ ॥

कलना सर्वजन्तूनां विज्ञानेन शमेन च ।
प्रबुद्धा ब्रह्मतामेति भ्रमतीतरथा जगत् ॥ ५९ ॥
व्यामोहमदिरामत्तां लुठितां विषयावटे ।
आत्मावेदनसंसुप्तां कलनामेव बोधयेत् ॥ ६० ॥
अप्रबुद्धा यदा ह्येषा न किञ्चिदवबुध्यते ।
सङ्कल्पकलनेवाऽन्तर्दृश्यमानाऽप्यसन्मयी ॥ ६१ ॥
तया परमया दृष्ट्या कलनैषाऽऽन्तरस्थया ।
मञ्जरी गन्धशक्त्येव पदार्थेषु विराजते ॥ ६२ ॥
तनुः सङ्कल्पिता यैषा कलनेति जगत्त्रये ।
सा हि किञ्चिद्विजानाति नित्यं ज्ञानैकधर्मिणी ॥ ६३ ॥

शास्त्रजन्यज्ञानसे, शम आदि साधनयुक्त मनन और निदिध्यासनोंसे प्रबुद्ध हुई सब लोगोंकी कलना ब्रह्मताको प्राप्त होती है, अन्यथा संसारमें भ्रमण करती है ॥ ५९ ॥

रागरूपी मदिरासे मत्त, विषयरूपी गड्ढेमें गिरी हुई और आत्माके अज्ञानसे सोई हुई कलनाको ही प्रबुद्ध करना चाहिये ॥ ६० ॥

यदि कोई शङ्का करे कि कलना यदि सोई है, तो जगत्को कैसे जानती है, अथवा जाननेपर प्रसिद्ध चित्स्वभावसे उसमें कौन अन्तर है ? तो इसपर कहते हैं—'**अप्रबुद्धा**' इत्यादिसे ।

जब यह अप्रबुद्ध रहती है, तब जगत्का कुछ भी बोध नहीं होता, क्योंकि जगत् एकमात्र अज्ञानका विलास है, दिखाई देती हुई भी जगत्स्थिति भीतर साङ्कल्पिकप्रासादकलनाके समान असन्मयी है ॥ ६१ ॥

विषयांशका त्याग करनेपर बची हुई कलना ही आत्मा है, ऐसा कहनेपर वृत्तिज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कोई न समझ जाय, इसलिए उसके साक्षी उसके अन्दर स्थित शुद्ध चित्को पृथक् करके दिखलाते हैं—'**तया**' इत्यादिसे ।

गन्धशक्तिसे मञ्जरीके समान यह चित्तवृत्तिरूप कलना अन्दर स्थित उस सर्वसाक्षिणी परमदृष्टिसे व्याप्त होकर अपने-अपने विषयोंके प्रकाशनमें समर्थ होती है, स्वतः नहीं होती ॥ ६२ ॥

यदि वह सर्वसाक्षिणी है, तो तत्तत् अन्तःकरणधर्मोंको ही क्यों प्रकाशित

चेतनेन जडा राम कलनोपलरूपिणी ।
पद्मिनीवाऽऽतपेनाऽसौ परेणैव प्रबोध्यते ॥ ६४ ॥
यथा शिलामयी कन्या चोदिताऽपि न नृत्यति ।
तथेयं कलना देहे न किञ्चिदवबुध्यते ॥ ६५ ॥
लिपिकर्मनृपैर्युद्धं क्व कृतं घर्घरारवम् ।
क्वचिन्नु चन्द्रकिरणैरोषध्यः प्रतिबोधिताः ॥ ६६ ॥
असृगालिप्तगात्रैश्च शवैः क्व परिवल्गितम् ।
क्व गीतं मधुरध्वानं वनपाषाणखण्डकैः ॥ ६७ ॥

करती है, सबको क्यों नहीं प्रकाशित करती है ? तो इसपर कहते हैं—**'तनुः-सङ्कल्पिता०'** इत्यादिसे ।

जो यह नित्यबोधस्वरूप साक्षी चित् है, वह परिच्छिन्न वृत्तिरूप कलनोपाधिके कारण थोड़ी ही है, इस तरह तीनों जगतोंमें उन-उन प्राणियों द्वारा वह सङ्कल्पित है, इसलिए थोड़ा ही (तत्तत् अन्तःकरणधर्मोंको ही) नित्य जानती है ॥ ६३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, पाषाणतुल्य, जड़ कलना जैसे पद्मिनी धूपसे प्रबोधित होती है वैसे ही परम चेतनसे ही बोधित होती है ॥ ६४ ॥

जो नैयायिक आदि नित्य साक्षीको न जानते हुए परप्रकाश्य अनित्य ज्ञानको ही अर्थप्रकाशक मानते हैं, उनका बहुत उदाहरणोंसे उपहास करते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे पाषाणमयी कन्याको नाचनेके लिए कितना भी कहा जाय, पर वह नाचती नहीं वैसे ही यह कलना शरीरमें कुछ भी नहीं जानती ॥ ६५ ॥

अचेतन अन्तःकरणवृत्ति आदिमें नित्य चित्की सन्निधिके अभावमें विषयोन्मुख प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, उनकी प्रकाशता तो दूर रही, इस आशयसे कहते हैं—**'लिपिकर्म०'** इत्यादिसे ।

क्या कहीं चित्रलिखित राजाओंने कोलाहलसे भरा हुआ युद्ध किया ? क्या चन्द्रमाकी किरणों द्वारा वनस्पतियाँ कहीं आप्यायित हुई हैं ? ॥ ६६ ॥

खूनसे लथपथ शरीरवाले मुर्दे कहाँ दौड़े, वनके पत्थरके टुकड़ोंने कहाँ मधुर गीत गाया ? ॥ ६७ ॥

क्व पुंसा विहितैरर्कैः क्षपितं यामिनीतमः ।
क्व सङ्कल्पमयैश्छाया क्रियते व्योमकाननैः ॥ ६८ ॥
क्व जडैरुपलाकारैर्मिथ्याभ्रमभरोत्थितैः ।
मृगतृष्णामयैरेभिर्मनोभिः क्रियते क्रिया ॥ ६९ ॥
यथाऽऽतपे तते स्फारे मृगतृष्णातरङ्गिणी ।
कलना तद्वदेवेयं स्फुरत्यात्मनि सत्यलम् ॥ ७० ॥
यदेतत्स्पन्दितं नाम तन्मनोऽधिगतं शठैः ।
मरुतां विद्धि तां शक्तिमन्तः प्राणशरीरिणीम् ॥ ७१ ॥
येषां संविदनाक्रान्ता सङ्कल्पलवनिश्चयैः ।
अनाक्षिप्तरसाकारा प्रभैषा पारमात्मिकी ॥ ७२ ॥

पुरुषों द्वारा पाषाण आदिसे निर्मित सूर्योंने कहाँ रात्रिका अन्धकार दूर किया ? सङ्कल्पमय आकाशवनोंसे कहाँ छायाकी जाती है ॥ ६८ ॥

पत्थरके तुल्य जड़, मिथ्या भ्रमोंसे उत्पन्न मृगतृष्णामय इन मनोंसे कहाँ क्रिया की जाती है ? ॥ ६९ ॥

नित्य चिदात्माका यदि स्वीकार न किया जाय, तो कलना आदिके अध्यासकी सिद्धि ही नहीं होगी, ऐसा कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे तेज धूपके तपनेपर मृगतृष्णानदी स्फुरित होती है वैसे ही आत्माके रहनेपर ही यह कलना खूब स्फुरित होती है ॥ ७० ॥

चित्‌की परिच्छिन्न स्पन्दकल्पना ही मन है, ऐसा पहले कहा गया है, अब चित् और अचित् अंशका विवेक होनेपर चिदंशके आत्ममात्र होनेसे जडांश स्पन्दकल्पना ही अवशिष्ट रहती है, इस प्रकारकी स्पन्दशक्ति तो प्राण ही है, उसका निरोध करनेपर मन-नामक अन्य कोई निरोधयोग्य नहीं है, ऐसा कहनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—**'यदेतत्'** इत्यादिसे ।

जो यह स्पन्दित है, उसीको स्वयं अपनी वञ्चना करनेवाले अज्ञानियोंने मन जाना, उसे आप अन्नमयकोशके अन्दर स्थित प्राणमयकोशरूप वायुओंकी शक्ति जानिये ॥ ७१ ॥

पूर्वोक्त प्राणशक्ति सङ्कल्पसे उत्पन्न हुई है, सङ्कल्परहित योगियोंकी चिदात्मरूप ही वह पृथक् विद्यमान है, ऐसा कहते हैं—**'येषाम्'** इत्यादिसे ।

अयं सोऽहमिदं तन्म इति या कलनाऽऽविला ।
प्राणात्मतत्त्वयोस्तस्याः संज्ञा जीवेति कथ्यते ॥ ७३ ॥

धीश्चित्तं जीव इत्येताः सङ्कल्पस्याऽसतो मताः ।
संज्ञाः संकल्पितास्तज्ज्ञैर्न राम परमार्थतः ॥ ७४ ॥

मनो नो न मतिर्नाऽपि धीरेषा न शरीरकम् ।
अस्तीह परमार्थेन स्वात्मैवेहाऽस्ति सर्वदा ॥ ७५ ॥

आत्मैवेदं जगत्सर्वमात्मा कालक्रमस्तथा ।
स चाऽऽकाशादच्छतरो नाऽस्तीवाऽस्त्येव चाऽमलः ॥ ७६ ॥

जिन लोगोंकी संवित् सङ्कल्पलेशरूप निश्चयोंसे आक्रान्त नहीं है, उनकी यह संवित्, जिसने विषयाकारकी कल्पना नहीं की, परमात्माकी प्रभारूप है ॥ ७२ ॥

वही 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है' इस प्रकार जब विषयोंकी कल्पना करती है, तब स्पन्दके बिना उसमें आक्षेप हो नहीं सकता, इसलिए स्पन्दरूप प्राणतत्त्वके और चिदात्मक आत्मतत्त्वके, जो पृथक्-से हो गये, विवेक न होनेके कारण फिर ऐक्यके अध्याससे जड़संवलितचिद्रूप कलना जीव नामसे कही जाती है ॥ ७३ ॥

इसी प्रकार और भी उसकी संज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं—**'धीः'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, असत् सङ्कल्पकी बुद्धि, चित्त जीव ये संज्ञाएँ विद्वानों द्वारा कल्पित हैं । परमार्थतः वे नहीं हैं ॥ ७४ ॥

क्यों परमार्थतः नहीं हैं ? ऐसा यदि कोई कहे, तो इसपर कहते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

चूँकि परमार्थतः न मन है, न बुद्धि है, न यह धी है और न शरीर है यानी इनसे उपलक्षित दृश्यमात्र नहीं है, केवल एकमात्र आत्मा ही सदा विद्यमान है, क्योंकि दृश्य 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' 'अकायमव्रणमस्नाविरम्' 'अस्थूलमनणु' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों, विद्वानोंके अनुभवों और युक्तियोंसे बाधित है ॥ ७५ ॥

यदि आत्मा ही है, तो वह क्यों नहीं प्रतीत होता अथवा जगद्रूपसे कौन प्रतीत होता है ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'आत्मैव'** इत्यादिसे ।

आत्मा ही यह सम्पूर्ण जगत् है और आत्मा ही कालक्रम है । आकाशसे भी सूक्ष्म होनेके कारण नहीं-सा प्रतीत हो रहा वह निर्मल ही है ॥ ७६ ॥

अच्छत्वादसदाभासः संविद्रूपतया तु सत् ।
आत्मा सर्वपदातीतः स्वानुभूत्याऽनुभूयते ॥ ७७ ॥
मनस्तत्र परिक्षीणं यत्र संवित् परात्मनः ।
अन्धकारक्षयस्तत्र यत्राऽऽलोकः प्रवर्तते ॥ ७८ ॥
यत्राऽऽत्मसंविदोऽच्छायाः संकल्पोत्थतया मताः ।
तत्राऽऽत्मनो विस्मरणं स्मरणं चित्तजन्मनः ॥ ७९ ॥
परस्य पुंसः संकल्पमयत्वं चित्तमुच्यते ।
अचित्तत्वमसंकल्पान्मोक्षस्तेनाऽभिजायते ॥ ८० ॥

कैसे वह नहीं-सा है और कैसे है ही, यह निश्चय हुआ ? इसपर कहते हैं—'**अच्छत्वात्**' इत्यादिसे ।

स्वच्छ होनेके कारण चक्षु आदिकी योग्यतामें प्रयोजक स्थूलता, नीलता आदिके अभावसे वह असत्-सा प्रतीत होता है और चिद्रूप होनेसे स्वपरप्रकाशक होनेके कारण वह सत् है, अतएव सर्वपदातीत आत्मा केवल अपने अनुभवसे ही प्रतीत होता है न कि इन्द्रियोंसे ॥ ७७ ॥

स्थूलता आदिके अभावसे अन्य इन्द्रियाँ उसमें भले ही प्रवृत्त न हों; पर मन तो सूक्ष्म होनेके कारण अर्थनिर्णयहेतुरूपसे प्रसिद्ध है, वह उसमें क्यों न प्रवृत्त होगा ? इसपर कहते हैं—'**मनः**' इत्यादिसे ।

जहाँपर परमात्मसंवित् है, वहाँपर मन क्षीण हो जाता है । जहाँपर आलोक रहता है, वहाँपर अन्धकार क्षीण हो जाता है । भाव यह कि ठीक है मन उसमें प्रवृत्त होता, यदि उसके दर्शनके समयमें ही वह स्वयं नष्ट न हो जाता । मन अज्ञानका कार्य है, अतः आत्मसाक्षात्कारकी वृत्तिका उदय होते ही अविद्याके साथ वह तुरन्त नष्ट हो जाता है, अतः मनमें आत्मदर्शनयोग्यता नहीं है ॥ ७८ ॥

तब कहाँपर मनकी प्रवृत्तिशक्ति है ? इसपर कहते हैं—'**यत्र**' इत्यादिसे ।

जिस अवस्थामें अत्यन्त स्वच्छ आत्मरूप संवित्को बाह्य अर्थ सङ्कल्पवश बाह्यविषयाकाररूपसे उत्पन्न होनेके कारण प्रकाश्यरूपसे अभिमत होते हैं, वहाँपर पारमार्थिक आत्माका विस्मरण और चित्तसे उत्पन्न हुए मिथ्या पदार्थोंका दर्शन प्रसिद्ध है ॥ ७९ ॥

अपनी उत्पत्तिका विरोधी होनेसे भी मनकी आत्मदर्शनमें शक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**परस्य**' इत्यादिसे ।

एतावच्चेतसो जन्मबीजं संसारभूतये ।
संकल्पोन्मुखतां यातः संविदो वा किलाऽऽत्मनः ॥ ८१ ॥
निर्विकल्पाच्चितः सत्ता सङ्कल्पाङ्ककलङ्किता ।
कलनेत्युच्यते तेन पुंस्त्ववद् बुध्यते मनः ॥ ८२ ॥
प्राणशक्तौ निरुद्धायां मनो राम विलीयते ।
द्रव्यच्छायाऽनु तद् द्रव्यं प्राणरूपं हि मानसम् ॥ ८३ ॥
देशान्तरानुभवनं प्राणो वेत्ति हृदि स्थितम् ।
स्पन्दवेदनतो यत्तन्मन इत्यभिधीयते ॥ ८४ ॥

परम पुरुषकी जो सङ्कल्पमयता है, वही चित्त शब्दसे कही जाती है। असङ्कल्पसे चित्ताभाव होता है, उससे मुक्ति होती है। भाव यह है कि जिसकी उत्पत्ति सङ्कल्पमयताके अधीन है, वह भला सङ्कल्पोंके क्षयसे उपलक्षित मोक्षरूप आत्मामें कैसे प्रवृत्त होगा ? ॥ ८० ॥

इसलिए सङ्कल्प चित्तकी उत्पत्तिमें बीज है, यह हम बहुत बार कह आये हैं, ऐसा कहते हैं—**'एतावत्'** इत्यादिसे ।

संसारकी उत्पत्तिके लिए सङ्कल्पोन्मुखताको प्राप्त हो रहे आत्माका चित्स्वभावसे जो थोड़ा-सा विचलित होना है, वही चित्तके जन्मका कारण है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ८१ ॥

पूर्वोक्त विषयको ही स्पष्ट करके कहते हैं—**'निर्विकल्पात्'** इत्यादिसे ।

निर्विकल्प चित्से प्रच्युत हुई, सङ्कल्परूपी कलङ्कसे कलंकित सत्ता कलना कही जाती है। जैसे स्त्री आदिकी सङ्कल्पकलनासे पुंस्त्व उद्बुद्ध होता है, वैसे ही उक्त कलनासे मन जगत्की उत्पत्तिके लिए प्रबुद्ध होता है ॥ ८२ ॥

'यदेतत्स्पन्दितं नाम' इत्यादिसे जो विषय प्रस्तुत किया, उसका प्रयोजन कहते हैं—**'प्राणशक्तौ०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दर्पण आदि पदार्थका प्रतिबिम्ब उसके नष्ट होनेपर तुरन्त नष्ट हो जाता है वैसे ही प्राणशक्तिके निरुद्ध होनेपर मन लीन हो जाता है, क्योंकि जैसे प्रतिबिम्ब दर्पणका ही कल्पित रूप है वैसे ही यह मन भी प्राणरूप ही है ॥ ८३ ॥

प्राणरूप ही मन है, यह कैसे ज्ञात हुआ ? इसपर कहते हैं—**'देशान्तरा०'** इत्यादिसे ।

वैराग्यात्कारणाभ्यासाद् युक्तितो व्यसनक्षयात् ।
परमार्थावबोधाच्च रोध्यन्ते प्राणवायवः ॥ ८५ ॥
दृषदो विद्यते शक्तिः कदाचिच्चलनैधसाम् ।
न पुनर्मनसामस्ति शक्तिः स्पन्दावबोधने ॥ ८६ ॥
स्पन्दः प्राणमरुच्छक्तिश्चलद्रूपैव सा जडा ।
चिच्छक्तिः स्वात्मनः स्वच्छा सर्वदा सर्वगैव सा ॥ ८७ ॥

जीवित पुरुष मनके दूर देशान्तरके अनुभवको हृदयमें स्थित जानता है, यानी उस दूर देशका अनुभव मेरे हृदयमें है, ऐसा अनुभव करता है। मनके साथ दूर देशका सम्बन्ध स्पन्दके बिना नहीं हो सकता और वेदनांश चित्सम्बन्धके बिना नहीं हो सकता; अतएव स्पन्दन और वेदन दो शक्तियोंके योगसे प्राण ही मन कहा जाता है ॥ ८४ ॥

इस प्रकार प्राणके निरोधसे मनो-निरोधकी सिद्धिके लिए दोनोंकी एकताका प्रतिपादन कर अब निरोधका उपाय बतलाते हैं—**'वैराग्यात्'** इत्यादिसे।

वैराग्यसे, प्राणायामके अभ्याससे, समाधिसे, चित्तके बाह्यविषयोंमें गमनरूप दुरभ्यासके विनाशसे और परमार्थ-तत्त्वके ज्ञानसे प्राणवायुका निरोध किया जाता है ॥ ८५ ॥

अब 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' इस श्रुतिके अनुसार भिन्न उपादानवाले प्राण और मन भिन्न हैं, इस पक्षमें भी मनमें स्वतः स्पन्दशक्ति और चिच्छक्तिका अभाव होनेसे वे दोनों प्राण और चिदात्माके अधीन ही हैं, इसलिए प्राणका निरोध होनेपर मनके निरोधकी उपपत्ति हो गई ; इस आशयसे कहते हैं—**'दृषदः'** इत्यादिसे।

शिलामें भी कदाचित् चलनशक्ति और ज्वलनशक्ति हो सकती है, किन्तु मनोंकी स्पन्दमें और वेदनमें शक्ति नहीं है ॥ ८६ ॥

तब वे शक्तियाँ किसकी हैं, यह आशङ्का होनेपर कहते हैं—**'स्पन्दः'** इत्यादिसे।

स्पन्द प्राणवायुकी शक्ति है, वह चलद्रूप और जड़ ही है। चिच्छक्ति आत्माकी है, वह सर्वदा स्वच्छ और सर्वगामी है ॥ ८७ ॥

चिच्छक्तेः स्पन्दशक्तेश्च सम्बन्धः कल्प्यते मनः ।
मिथ्यैव तत्समुत्पन्नं मिथ्या ज्ञानं तदुच्यते ॥ ८८ ॥

एषा ह्यविद्या कथिता मायैषा सा निगद्यते ।
परमेतत्तदज्ञानं संसारादिविषप्रदम् ॥ ८९ ॥

चिच्छक्तेः स्पन्दशक्तेश्च सङ्गं सङ्कल्पकल्पनम् ।
न कृतं चेत्परिक्षीणास्तदिमा भवभीतयः ॥ ९० ॥

वायुतः स्पन्दशक्तिर्या सा चिता चेत्यते यदा ।
सचेत्या चिदेत् तत्राऽन्तः सङ्कल्पायाति चित्तताम् ॥ ९१ ॥

चित्तैषा चितो मिथ्या कल्पिता बालयक्षवत् ।
अखण्डमण्डलाकारस्पन्दरूपा चिदेव यत् ॥ ९२ ॥

सैषा चित्ता तदन्येन केन सम्बाध्यते किल ।
अखण्डशक्तेरिन्द्रस्य केन स्यात्सह सङ्गरः ॥ ९३ ॥

अतः सम्बन्धिनोऽभावात्सम्बन्धोऽत्र न विद्यते ।
सम्बन्धेन विना कस्य सिद्धं तत्कीदृशं मनः ॥ ९४ ॥

चिच्छक्ति और स्पन्दशक्तिका जो सम्बन्ध है, वही मन है। मिथ्या ही वह उत्पन्न हुआ है, अतएव मिथ्या ज्ञान कहा जाता है ॥ ८८ ॥

यही कार्याविद्या है, यही मायाशक्ति कही जाती है, यही संसारादिरूप विष देनेवाला वह परम अज्ञान है ॥ ८९ ॥

चिच्छक्ति और स्पन्दशक्तिकी सङ्गतिमें यह सङ्कल्पकल्पन निमित्त है, सङ्कल्प-कल्पन यदि न किया जाय, तो ये संसारभीतियां परिक्षीण हो जाती हैं ॥ ९० ॥

वायुकी जो स्पन्दशक्ति है, वह चित्से चेतन बनाई जाती है, चेत्यसहित वह चित् तभी सङ्कल्पसे अन्दर चित्तताको प्राप्त हो जाती है ॥ ९१ ॥

चित्की यह चित्तता बालकके यक्षके समान मिथ्याकल्पित है, क्योंकि जिसमें खण्डमण्डलाकाररूप स्पन्द नहीं है, ऐसी चित् ही परमार्थरूप है। उक्त अखण्डपूर्णतारूप यह चित्स्वभाविता चित्से अन्य किससे खण्डित होगी? भला अखण्डशक्तिवाले इन्द्रका युद्ध किसके साथ हो सकता है? ॥ ९२, ९३ ॥

इसलिए सम्बन्धी न होनेके कारण सम्बन्ध यहाँ नहीं है, सम्बन्धके बिना

चित्स्पन्दयोरेकतायां किं नाम मन उच्यते ।
का सेना हयमातङ्गसङ्गसङ्घट्टनं विना ॥ ९५ ॥
तस्मान्नाऽस्त्येव दुष्टात्म चित्तं राम जगत्त्रये ।
सैषा सम्यक्परिज्ञानाच्चेतसो जायते क्षतिः ॥ ९६ ॥
मुधा मैवमनर्थाय मनः सङ्कल्पयाऽनघ ।
मनो मिथ्यासमुदितं नाऽस्त्यत्र परमार्थतः ॥ ९७ ॥
मा त्वमन्तः क्वचित् किञ्चित् सङ्कल्पय महामते ।
मनः सङ्कल्पकं राम यस्मान्नाऽस्तीह कुत्रचित् ॥ ९८ ॥
असम्यग्ज्ञानसम्भूता कल्पना मृगतृष्णिका ।
हृन्मरौ तव संशान्ता सम्यगालोकनान्मुने ॥ ९९ ॥

मन किसका और कैसा सिद्ध हो ? भाव यह कि अचित्का चित्के साथ विरोध है, विरोध होनेपर चित्सत्तासे बाधित स्थितिवाला होनेसे मन क्या पदार्थ होगा । यदि जड़ भी मन अपनी सत्तामें अन्यनिरपेक्ष, स्वतः सिद्ध कहा जाय, तो उसका अनुभव करनेवाले उसके सम्बन्धी अन्य चेतनका अभाव होनेसे चित्सम्बन्धके बिना वह मन किसका और कैसा सिद्ध होगा । अनुभवमें आरूढ़ न होनेपर अलीक ख-पुष्प और मनका क्या अन्तर होगा ॥ ९४ ॥

इस प्रकार चित् और स्पन्दके भेदपक्षमें मनकी अलीकता कह कर अभेद-पक्षमें तो वह सुतरां अलीक है, ऐसा कहते हैं—**'चित्स्पन्दयोः'** इत्यादिसे ।

चित् और स्पन्दका अभेद होनेपर तो मन नामकी वस्तुकी सम्भावना ही क्या है ? भला बताइये, हाथी, घोड़ेके सम्मर्दके बिना सेना ही क्या हुई ? ॥९५॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, दोनों पक्षोंमें मनका सम्भव न होनेसे तीनों जगतोंमें दुष्टात्मा मन नहीं ही है । ऐसे निश्चयसे ही मनोनाश होता है ॥ ९६ ॥

हे अनघ, अनर्थके लिए व्यर्थ मनका सङ्कल्प आप मत कीजिये । मन मिथ्या ही उदित हुआ है, परमार्थतः वह यहाँपर है नहीं ॥ ९७ ॥

हे महामते, कहींपर आप अपने मनमें कुछ भी सङ्कल्प न कीजिये, क्योंकि सङ्कल्प करनेवाला मन यहाँ कहींपर है ही नहीं ॥ ९८ ॥

हे मननशील श्रीरामचन्द्रजी, सम्यग् ज्ञानसे आपके हृदयरूपी मरुभूमिमें असम्यग् ज्ञानसे उत्पन्न हुई मृगतृष्णारूपी कल्पना शान्त हो गई है ॥ ९९ ॥

जडत्वान्निःस्वरूपत्वात् सर्वदैव मृतं मनः ।
मृतेन मार्यते लोकश्चित्रेयं मौर्ख्यचक्रिका ॥ १०० ॥
यस्य नाऽऽत्मा न देहोऽस्ति नाऽऽधारो नाऽपि चाऽऽकृतिः ।
तेनेदं भक्ष्यते सर्वं चित्रेयं मौर्ख्यवागुरा ॥ १०१ ॥
सर्वसामर्थ्यहीनेन हन्यते मनसाऽपि यः ।
नीलोत्पलदलाघातैर्मन्ये दलितमस्तकम् ॥ १०२ ॥
जडेन मूकेनाऽन्धेन निहतो मनसाऽपि यः ।
मन्ये स दह्यते मूढः पूर्णचन्द्रमरीचिभिः ॥ १०३ ॥
विद्यमानोऽपि यः शूरो लोकस्तेनाऽभिभूयते ।
अविद्यमानमेवेदं हन्यते मुग्धतोदिता ॥ १०४ ॥
मिथ्यासङ्कल्पकलितं मिथ्यावस्थितिमागतम् ।
अन्विष्टमपि नो दृष्टं का तस्य किल शक्तता ॥ १०५ ॥

जड़ होनेसे और स्वरूपहीन होनेसे मन सदा ही मरा है, मरे हुए मनसे लोग मारे जाते हैं, यह चक्रवत् घूमती हुई मूर्खताकी परम्परा बड़ी ही विचित्र है ॥ १०० ॥

जिसका न स्वरूप है, न शरीर है, न कोई आधार है और न जाति ही है वह इन सबको खा डालता है, यह बड़ा अद्भुत मूर्खतारूपी जाल है ॥ १०१ ॥

जो पुरुष सब प्रकारकी सामग्रियोंसे रहित मनसे भी मारा जाता है, उसे मैं जिसका सिर नीलकमलकी पँखुरियोंसे चूर-चूर किया गया, ऐसा समझता हूँ ॥१०२॥

जो पुरुष जड़ मूक और अन्धे मनसे भी मारा गया, वह मूढ़ चन्द्रमाकी किरणोंसे जलता है, ऐसी मेरी समझ है ॥ १०३ ॥

विद्यमान और शत्रुको जीतनेकी सब सामग्रीसे सम्पन्न भी मूढ़ पुरुष अविद्यमान मनसे अभिभूत होता है और विवेकी पुरुषों द्वारा वैराग्य आदि महाप्रयास-साध्य साधनोंसे और योग, ध्यान, समाधि-अभ्यास, साक्षात्कारके उपायोंसे अविद्यमान ही मनका नाश किया जाता है, यह सब कल्पना मिथ्या ही उदित हुई है, वास्तविक नहीं है ॥ १०४ ॥

मिथ्या सङ्कल्पसे कल्पित, मिथ्या ही स्थितिको प्राप्त हुआ, खोजनेपर भी जो दृष्टि-गोचर नहीं हुआ, उसकी लोगोंके ऊपर आक्रमण करनेकी क्या शक्ति है ? ॥ १०५ ॥

अहो नु खलु चित्रेयं माया मयविधायिनी ।
चेतसाऽप्यतिलोलेन लोकोऽयमभिभूयते ॥ १०६ ॥

मौर्ख्यं यदाऽऽपदान्विष्टः का हि नाऽऽपदज्ञानतः ।
पश्य मौर्ख्यादियं सृष्टिरज्ञानेनैत्र जन्यते ॥ १०७ ॥

हा कष्टमपि दुर्बुद्धेः सृष्टिर्मौर्ख्यवशं गता ।
असतैव यदेतेन जीवेनाऽप्युपपाद्यते ॥ १०८ ॥

मन्ये मौर्ख्यमयी सृष्टिरियमत्यन्तपेलवा ।
वास्तरङ्गप्रवाहेण कणशः परिशीर्यते ॥ १०९ ॥

नीलाञ्जनालवालेन यन्त्रेणैव विचूर्ण्यते ।
इन्दोराभोगपूर्णस्य करस्पर्शेन मुह्यति ॥ ११० ॥

महामायावी-रूपसे प्रसिद्ध मयासुरका भी निर्माण करनेवाली यह माया अत्यन्त अद्भुत है, जिससे कि अत्यन्त चञ्चल चित्तसे भी यह लोक अभिभूत हो रहा है ॥ १०६ ॥

जब मूर्खता आती है, तब पुरुष सभी आपत्तियोंका भाजन होता है, इसमें तनिक भी विवाद नहीं है, क्योंकि मूर्खको कौन आपत्ति नहीं है, अर्थात् सभी आपत्तियाँ है। देखिये, अज्ञानीने ही मूर्खतासे दुष्कर्म आदि द्वारा इस सृष्टिको, जो सब आपत्तियोंकी खान है, उत्पन्न किया है ॥ १०७ ॥

बड़े क्लेशकी बात है, यह सृष्टि मन, देह आदिकी दुर्बुद्धिके कारण मूर्खताके वशीभूत है यानी मूर्खतासे पीड़ित है, फिर भी इस प्रसिद्ध जीव द्वारा असन्मार्गानुवर्तनसे उत्तरोत्तर दुःखके लिए प्राप्त की जाती है। भाव यह है कि अन्धके तुल्य जड़ मन आदिकी स्वाभाविक मूर्खतासे पीड़ित प्रपञ्चका पुनः उसके दुःखको जाननेवाले जीवसे पीड़न अत्यन्त अनुचित है ॥ १०८ ॥

यह मूर्खतामयी सृष्टि अविचारमात्रसे सिद्ध है, अतएव एकमात्र विचारसे इसका बाध किया जा सकता है, जैसे जल अपने द्वारा कल्पित तरङ्गके प्रवाहसे छोटी-छोटी बूँदोंमें विभक्त होता है, यह भ्रान्ति विचार-मात्रसे नष्ट होती है वैसे ही यह सृष्टिकी भ्रान्ति भी विचारमात्रसे नष्ट होती है ॥ १०९ ॥

वही जल जहाँपर भँवरी होती है, वहाँपर नीलाञ्जनके तुल्य वर्णवाला, बीचमें

रिपुभिर्नयनोन्मुक्तैर्दृष्टः सूत्रैर्निबध्यते ।
सङ्कल्पकृतया शूरसेनया परिभूयते ॥ १११ ॥
तस्मात्किलेयं मनसा न स्थितेनैव कुत्रचित् ।
कल्पितेन मुधाऽन्येन कृपणेन निहन्यते ॥ ११२ ॥
मूर्खलोकमयी सृष्टिर्मन एवाऽसदुत्थितम् ।
यः शक्तो न वशीकर्तुं नाऽसौ रामोपदिश्यते ॥ ११३ ॥
अभिजाता स्वरूपैषा प्रज्ञा क्षोदेषु न क्षमा ।
नोपदेशगिरां योग्या परिपूर्णेव संस्थिता ॥ ११४ ॥
बिभेत्येषाऽपि वीणायास्तन्त्रीगुणतनुध्वनेः ।
बन्धोरपि सनिद्रस्य बिभेति वदनद्युतेः ॥ ११५ ॥

छेदसे युक्त, पीसनेके यन्त्रसे मानो चूर-चूर किया जाता है, फिर वही जल जहाँपर काँपता है, वहाँपर मण्डलसे पूर्ण चन्द्रमाके किरण-स्पर्शसे मानो उन्मत्त-सा होता है, इस प्रकारकी जैसे भ्रान्ति होती है, वैसे ही यह भी भ्रान्ति है ॥ ११० ॥

रिपुओंसे केवल देखा गया पुरुष नेत्रोंसे रची गई रस्सियोंसे मानो बाँधा जाता है, और सङ्कल्प-मात्रसे रची गयी शूर-वीर सेनाओंसे मानो वह परिभूत होता है, इत्यादि भ्रान्तिके तुल्य ही यह भ्रान्ति है ॥ १११ ॥

इसलिए अत्यन्त कोमल होनेके कारण यह सृष्टि कहींपर भी स्थित न हुए, व्यर्थ कल्पित, द्वितीय कृपण मनसे नष्ट होती है। यह मूर्खलोकमयी सृष्टि असत् उदित हुए मनके सिवाय कुछ भी नहीं है। जो पुरुष उसको वशमें करनेके लिए समर्थ नहीं है, हे श्रीरामचन्द्रजी, वह आध्यात्मिक शास्त्रके उपदेशके योग्य नहीं है ॥ ११२, ११३ ॥

क्योंकि उस पुरुषकी बुद्धि चारों ओरसे विषयोंमें ही आरूढ़ है, उसीसे ही वह परिपूर्ण-सी स्थित है, अतएव वह प्रत्यक्-प्रवण नहीं होती, इसलिए सूक्ष्म पदार्थोंके विचारोंमें वह समर्थ नहीं है, अतः अध्यात्मशास्त्रके उपदेशके योग्य नहीं है ॥ ११४ ॥

बीणाकी तन्त्रीकी मधुर ध्वनिसे भी यह डरती है। निद्रायुक्त बन्धुकी भी मुखकान्तिसे डरती है। भाव यह है कि धैर्यके हेतुका अभाव होनेसे वह सबसे डरती है ॥ ११५ ॥

असतोऽपि जनादुच्चैर्गीताद् भीता पलायते ।
स्वेनैव मनसाऽप्यज्ञा किलैषा विवशीकृता ॥ ११६ ॥
सुखलवविवशा द्विषेव तप्ता
हृदयगतेन निजेन चेतसैव ।
विधुरितधिषणा न वेत्ति सत्यं
तदपि कथं परिमोहितो मुधैव ॥ ११७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे मनोविनिवारणं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

वञ्चक पुरुषों द्वारा यह तुम्हारा शत्रु आया, इस प्रकार ऊँचे स्वरसे कहे गये अविद्यमान शत्रुसे भी भयभीत होकर भागती है । बहुत क्या कहें, अपने ही मनसे भी यह विवश (भयभीत) की गई है, अन्यसे तो कहना ही क्या है ? ॥ ११६ ॥

अब पूर्वोक्त दुष्प्रज्ञा भले ही डरे, तथापि उसके कारण पुरुषका व्यामोह उचित नहीं है, इस प्रकार पूर्व प्रस्तुतका ही उपसंहार करते हैं—'सुख०' इत्यादिसे ।

उक्त दुष्प्रज्ञा विषमिश्रित मोदकके आस्वादलेशरूप विषयसुखलेशसे मरणासन्न-सी विवश, शत्रुके समान प्रहार कर रहे हृदयगत चित्तसे ही सन्तापित और विवेक-बुद्धिसे रहित है, अतः वह सत्य वस्तुको बिलकुल नहीं जानती । इस प्रकारकी भी उस प्रज्ञासे पुरुष व्यर्थ ही मोहित हुआ है । भाव यह है कि स्वच्छ चित्तवाले, और स्वजनोंसे असंतप्त, विवेक-बुद्धिवाले और सत्य स्व-रहस्यको जाननेवाले शत्रुसे मोह होना ठीक है, किन्तु उससे विपरीत दुष्प्रज्ञासे मोह होना ठीक नहीं है ॥ ११७ ॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चतुर्दशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संसारसागरासारकल्लोलैरुह्यमानया ।
मतेर्मानद मूकत्वं यया जनतयाऽर्जितम् ॥ १ ॥
आत्मलाभमयोदारकलाभिरिह सा मया ।
विचारोक्तिभिरेताभिः शास्त्रे स्मिन्नोपदिश्यते ॥ २ ॥
न पश्यत्येव योऽत्यर्थं तस्य कः खलु दुर्मतिः ।
विचित्रमञ्जरीचित्रं संदर्शयति काननम् ॥ ३ ॥
कः कुष्ठघर्घरघ्राणं नानामोदविचारणे ।
मूर्खमात्मोपदेशेन प्रमाणीकुरुतेऽमतिः ॥ ४ ॥

चौदहवाँ सर्ग

[नाना योनियोंमें दुःख पा रहे, उपदेशके अयोग्य लोगोंकी उपेक्षा कर उपदेशके योग्य लोगोंके लिए मनके मार्जनके उपायका वर्णन]

'मन एवाऽसदुत्थितम्। यः शक्तो न वशीकर्तुं नाऽसौ रामोपदिश्यते ॥' इस प्रकार पहले प्रस्तुत उपदेशके अनधिकारी जनोंका ही उपेक्ष्यरूपसे वर्णन करते हैं—**'संसार०'** इत्यादिसे।

हे सम्मान देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूपी सागरके निःसार कल्लोलरूप विषयसुखाभिलाषोंसे निरन्तर कर्ममें प्रवृत्त की जा रही जिस जनताने मनके निग्रह, विवेक, वैराग्य आदिके विषयमें अपेक्षा न होनेसे विद्वानोंको पा कर भी प्रश्न, प्रार्थना आदि न कर मतिकी मूकताका ही अवलम्बन किया, वह जनता मेरे द्वारा आत्म-लाभके उपायोंसे भरे हुए, उत्कृष्ट-कलासे युक्त इन विचारवचनोंसे इस जगत्में शास्त्रका उपदेश नहीं पा सकती ॥ १,२ ॥

नेत्रके रहनेपर भी जो दुरदृष्ट, द्वेष आदिसे सदा नहीं देखता, कौन दुर्मति पुरुष उसे विचित्र मञ्जरियोंसे चित्रित वनको दिखला सकता है ? जो स्वयं नहीं देखता उसे दिखलाना अनुचित है, यह सूचन करनेके लिए 'योऽन्धः' ऐसा कहनेके बदले 'अत्यर्थं न पश्यति' यह कहा ॥ ३ ॥

कौन दुर्बुद्धि पुरुष कुष्ठ रोगसे छिन्न-भिन्न, घर्घर शब्द करनेवाली नासिकासे

विपर्यस्तेन्द्रियं मत्तं मदिराघूर्णितेक्षणम् ।
धर्मनिर्णयसाक्षित्वे कः प्रमाणीकरोत्यधीः ॥ ५ ॥
कः शवं वा श्मशानस्थं समवायकथाशतम् ।
परिपृच्छति संदेहे कश्च मूर्खं प्रशास्ति च ॥ ६ ॥
येनाऽऽशयबिलस्थोऽपि मूकोऽन्धोऽपि न निर्जितः ।
मनोव्यालः स दुर्बुद्धिः कथं नामोपदिश्यते ॥ ७ ॥
जितमेव मनो विद्धि वस्तुतो यन्न विद्यते ।
निकटात् सा चिरास्तैव या शिला नैव विद्यते ॥ ८ ॥
मनो न विजितं राम येनाऽसदपि दुर्धिया ।
तेनाऽग्रस्तविषेणैव म्रियते विषमूर्च्छया ॥ ९ ॥
ज्ञः पश्यति सदैवाऽऽत्मा स्पन्दने प्राणशक्तयः ।
इन्द्रियाणि स्वधर्मेषु मनो राम किमुच्यते ॥ १० ॥

युक्त पुरुषको विविध सुगन्धोंकी परीक्षामें सुगन्धतत्त्वका निर्णायक बनावेगा वैसे ही कौन अबुद्धि पुरुष आत्मोपदेश द्वारा मूर्खको प्रामाणिक बनावेगा ॥ ४ ॥

कौन अबुद्धि पुरुष मदिराके नशेसे जिसकी आँखें चढ़ी हों, अतएव जिसकी इन्द्रियाँ अपना कार्य करनेमें असमर्थ हों, ऐसे मत्त पुरुषको धर्म-तत्त्वके निर्णयमें साक्षीरूपसे प्रमाणित करेगा ॥ ५ ॥

कौन पुरुष श्मशानमें पड़े हुए शवसे सन्देह होनेपर जन-समूहोंकी सैकड़ों कथाएँ पूछेगा वैसे ही कौन मूर्खको उपदेश देगा ! यानी मूर्खको उपदेश देना श्मशानमें पड़े हुए मुर्देसे जनसमूहोंसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा पूछनेके तुल्य व्यर्थ है ॥ ६ ॥

जो हृदयरूपी बिलमें स्थित मनरूपी साँपको, जो गूंगा और अन्धा है, नहीं जीत सका, उस दुर्बुद्धिको किस प्रकार उपदेश दिया जा सकता है ॥ ७ ॥

वस्तुतः जो है ही नहीं, उस मनको आप जीता हुआ ही जानिये । जो शिला है ही नहीं, वह अपने निकटसे सुतरां दूर निरस्त ही है ॥ ८ ॥

जिस दुर्बुद्धि पुरुषने अविद्यमान भी मनपर विजय प्राप्त नहीं की, वह विष खाये बिना ही विषकी मूर्च्छासे मरता है ॥ ९ ॥

'वस्तुतो यन्न विद्यते' ऐसा जो पहले कहा, उसकी उपपत्ति कहते हैं—'ज्ञः' इत्यादिसे ।

प्राणानां स्पन्दनी शक्तिर्ज्ञानशक्तिः परात्मनः ।
इन्द्रियाणां निजा शक्तिरेकः कोऽत्र निबध्यते ॥ ११ ॥
सर्वास्ता अंशवस्तस्य सर्वशक्तेः किलाऽऽत्मनः ।
पृथक्ता वाच्यता चेयं कुतो नाम तवोत्थिता ॥ १२ ॥

ज्ञानी आत्मा सदा ही देखता है, स्पन्दमें प्राण-शक्तियाँ समर्थ हैं, इन्द्रियाँ अपने धर्मोंमें समर्थ हैं; हे श्रीरामचन्द्रजी, भला मननामक वस्तु क्या कही जाती है ! भाव यह कि क्या पदार्थोंकी प्रसिद्धिके लिए मन माना जाता है अथवा स्पन्दके लिए या ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियके प्रयोजनकी सिद्धिके लिए ? प्राणप्रेरित इन्द्रियों-से समीपमें लाये गये पदार्थोंकी प्रसिद्धि साक्षीसे ही हो सकती है, इसलिए मनका कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १० ॥

यदि कोई कहे सब शक्तियोंसे बंधा हुआ मन क्यों नहीं माना जाता ? तो इसपर यह उक्ति विवेक करनेपर सङ्गत नहीं होती, क्योंकि वीणाकी मधुर ध्वनिके समान शक्तियोंके समुदायसे ही समुदित व्यवहारकी सिद्धि हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'**प्राणानाम्**' इत्यादिसे ।

प्राणोंकी स्पन्दनी शक्ति है, परमात्माकी ज्ञान-शक्ति है और-इन्द्रियोंकी पृथक् पृथक् अपनी अपनी शक्तियाँ हैं, भला उनसे यहां एक कौन बाँधा जाता है ! भाव यह है कि जैसे किसी समाजमें स्नान, दान, गान, स्तुति, आदि नाना व्यवहार किसी एक सर्वशक्तिमान् पुरुषसे सम्पन्न नहीं होता, उसी तरह यहां भी सब व्यवहार एक-से ही नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

यदि कोई कहे कि समुदाय किसी समुदायकर्ता अन्यके लिए ही होता है, ऐसा नियम है, अतः यहाँपर भी कोई सङ्घात-कर्ता अपेक्षित है ? तो इस सङ्घातके भी जगद्रूप सङ्घातके मध्यपाती होनेके कारण सबकी सब व्यवहारशक्तियाँ सबके निर्माणकर्ता आत्मरूप परमेश्वरकी ही किरणरूप हैं, अतः यह सङ्घात भी उन्हींके लिए सिद्ध होगा, अचेतन मनके लिए नहीं, इसलिए प्रतिशरीर भिन्न चेतन मनकी सिद्धि नहीं हुई, इस आशयसे कहते हैं—'**सर्वाः**' इत्यादिसे ।

ये सब व्यवहारशक्तियाँ सर्वशक्ति परमात्माकी ही किरणें हैं । मन आदिशब्द-वाच्यता एवं पृथक्ता आपकी कहांसे उदित हुई ॥ १२ ॥

किं नाम जीव इत्युक्तं येनेहाऽन्धीकृतं जगत् ।
चित्तं चैवाऽसदेव त्वं विद्धि का तस्य शक्तता ॥ १३ ॥
मनोनिर्दग्धदृष्टीनां दृष्ट्वा दुःखपरम्पराम् ।
मतिर्मे करुणाक्रान्ता राम मुग्धेव तप्यते ॥ १४ ॥
कः किलाऽत्र कुतः खेदो यन्मूर्खः परितप्यते ।
दुःखायैव हि जायन्ते करभाः प्राकृतास्तथा ॥ १५ ॥

अच्छा, चेतन जीव इसका अधिष्ठाता हो, वह चित्तरूपी लगामके बिना इन्द्रियरूपी घोड़ोंको काबूमें रखनेके लिए समर्थ नहीं हो सकता, इसलिए चित्त भी सिद्ध हो ही गया, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—**'किं नाम'** इत्यादिसे ।

जीवरूपसे जो कहा गया है, उसको और जिसने कि इस जगत्‌को अन्धा बना डाला है उस चित्तको भी आप असत् ही जानिये, उसकी कौन शक्ति है । भाव यह है कि 'जीव इति' और 'चित्तमेव च' यों आपने जो दो कहें हैं, वे क्या हैं, क्या आत्मासे भिन्न कोई अन्य चेतन हैं या अचेतन हैं ? प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इस श्रुतिसे ब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य चेतनका निषेध है । दूसरे पक्षमें अचेतनको चेतन पदार्थकी आवश्यकता होनेसे इन्द्रियोंसे उसमें कोई अन्तर नहीं रहा, अतः इन्द्रियाधिष्ठानशक्ति उसमें नहीं हो सकती । इन सब हेतुओंसे आप उन दोनोंको असत् ही जानिये ॥ १३ ॥

अपनेसे कल्पित मनसे जिनकी परमार्थ दृष्टि जल गयी है, उन लोगोंकी दुःखपरम्पराको देखकर मेरी करुणासे सराबोर-मति मानो व्यामोहको प्राप्त हो जाती है, क्योंकि उनकी दुःखनिवृत्तिका उपाय खोजनेपर करोड़ों वर्षोंमें भी नहीं मिल सकता ॥ १४ ॥

जिस दुःखका कोई निमित्त होता है, उस दुःखका, निमित्तके निवारणसे, निवारण किया जा सकता है, मूर्खोंका दुःख तो निर्निमित्त है, अतः उसका निवारण नहीं हो सकता, इस आशयसे कहते हैं—**'कः'** इत्यादिसे ।

यहांपर दूसरा कौन है, किससे मूर्खको खेद होता है, जिससे कि मूर्ख सन्तप्त होता है । गधे और मूर्ख दुःखके लिए ही उत्पन्न होते हैं, इनके लिए

विनाशायैव जायन्ते जडा देहेष्वबुद्धयः ।
अनारतोदयाः पापा बुद्बुदा जलधेरिव ॥ १६ ॥
कियन्तः पश्य पशवः प्रत्यहं प्रतिमण्डलम् ।
सूनावद्भिर्निहन्यन्ते कैवाऽत्र परिदेवना ॥ १७ ॥
अर्बुदान्यनिलो हन्ति क्ष्माजातेषु चाऽन्वहम् ।
दंशानां मशकानां च कैवाऽत्र परिदेवना ॥ १८ ॥
दिशं प्रति गिरीन्द्रेषु पुलिन्दाद्या वने वने ।
निघ्नन्ति मृगलक्षाणि कैवाऽत्र परिदेवना ॥ १९ ॥
जले जलचरव्यूहान् सूक्ष्मान् स्थूलो निकृन्तति ।
ग्रासार्थं निर्दयो मत्स्यः कैवाऽत्र परिदेवना ॥ २० ॥
लिक्षामणुकणक्षामां क्षुधा खादति मक्षिका ।
तां कोशकारः क्षुधितो दंशस्तमपि चञ्चलम् ॥ २१ ॥

शोक करना ठीक नहीं है, क्योंकि इनके सदृश असंख्य मूढ़ योनियां दिखाई देती हैं, उनके समान ही ये भी उपेक्षणीय हैं ॥ १५ ॥

निरन्तर पैदा होनेवाले जड़, पापी, दुर्बुद्धि सागरसे बुद्बुदोंकी तरह विनाशके लिए ही विविध योनियोंमें पैदा होते हैं ॥ १६ ॥

देखिये, प्रत्येक देशमें प्रतिदिन पशुहिंसास्थानमें नियुक्त लोगों द्वारा कितने पशु मारे जाते हैं, इसमें कौन-सी विलाप करनेकी बात है ? ॥ १७ ॥

भूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंमेंसे अरबों डांसों और मच्छरोंका प्रतिदिन वायु संहार कर डालता है, इसमें कौन-सा शोक है ॥ १८ ॥

प्रत्येक दिशामें हर एक बनमें बड़े-बड़े पर्वतोंपर शबर आदि लाखों मृगोंको मारते हैं, इसमें भला विलापकी क्या गुञ्जाइश है ॥ १९ ॥

निर्दय बड़ी मछली जलमें छोटे-छोटे अनेक जलजीवोंको अपने आहारके लिए काटती है । इसमें कौन-सा शोक है ॥ २० ॥

अब बलवानों द्वारा दुर्बलोंके पीडनका परम्परा द्वारा उपपादन करते हैं—'लिक्षा०' इत्यादिसे ।

मक्खी भूखवश परमाणुकणके समान सूक्ष्म लीखको खाती है, उसको भूखी मकड़ी खा जाती है, चञ्चल मकड़ीको भी जङ्गली डांस खा डालता है, उस

तं दंशं दर्दुरो भुङ्क्ते व्यालस्तमपि दर्दुरम् ।
सर्पमुग्रं खगो हन्ति बभ्रुश्चैनं निकृन्तति ॥ २२ ॥
बभ्रुं हिनस्ति मार्जारो मार्जारं श्वा निकृन्तति ।
ऋक्षः कौलेयकं हन्ति ऋक्षं व्याघ्रो निकृन्तति ॥ २३ ॥
सिंहोऽभिभवति व्याघ्रं शरभः सिंहमत्ति च ।
शरभो नाशमायाति मत्तमेघविलङ्घने ॥ २४ ॥
मेघा वातैर्विधूयन्ते वायवो गिरिभिर्जिताः ।
गिरयो वज्रनिष्पिष्टाः शक्रस्य वशगः पविः ॥ २५ ॥
विष्णुना क्रियते शक्रो विष्णुर्गच्छति जन्तुताम् ।
सुखदुःखदशामेतां जरामरणपालिताम् ॥ २६ ॥
जन्तवोऽपि महाकाया अपि विद्यायुधान्विताः ।
लिक्षाभिरङ्गलग्नाभिरुपजीव्यन्त एव हि ॥ २७ ॥
अजस्रमेवमालूनविशीर्णं भूतजङ्गलम् ।
परस्परमलं मोहादद्यते रक्ष्यतेऽपि च ॥ २८ ॥

डांसको मेढ़क खा डालता है । मेढ़कको भी साँप निगल जाता है, भयङ्कर साँपको गरुड़ मार डालता है और नकुल काट डालता है, नकुलको बिलाव मार डालता है और बिलावको कुत्ता काट डालता है, कुत्तेको भालू मार डालता है, भालूको बाघ मार डालता है, बाघके ऊपर सिंह आक्रमण करता है और शरभ नामका मृग सिंहको खा डालता है, गरज रहे मेघके अपने ऊपर चलनेपर उसका सहन न करनेसे उछल कर पत्थरोंके चट्टानोंपर गिरनेके कारण मेघ द्वारा शरभ नाशको प्राप्त होता है, मेघ वायुओंसे उड़ाये जाते हैं, वायु पर्वतोंसे जीते जाते हैं । पर्वत वज्रसे चूर-चूर किये गये हैं, वज्र भी इन्द्रका वशीभूत है, इन्द्रको विष्णु बनाते हैं, विष्णु भी सुख-दुःख दशाओंसे भरी हुई, जरा-मरणसे अपने भोज्य अन्नके समान पालित जन्तुताको प्राप्त होते हैं और जन्तु भी, जो महाकाय हैं और विद्या तथा आयुधोंसे युक्त हैं, तथापि लीख, मच्छर, खटमल, मक्खी आदि शरीरमें लगे हुए जीवोंसे खाये ही जाते हैं ॥ २१—२७ ॥

इस प्रकार आधिभौतिक दुःखोंसे चारों ओर छिन्न-भिन्न, आध्यात्मिक और आधिदैविक दुःखोंसे जर्जरित जीववर्ग मोहवश परस्पर खाया जाता है और आगे खानेके लिए कुछ अंशमें रक्षित भी होता है ॥ २८ ॥

अनारतं विनश्यन्ति विविधा भूतजातयः ।
अनारतं च जायन्ते लिक्षायूकापिपीलिकाः ॥ २९ ॥
जलकोशेषु जायन्ते मत्स्येभमकरादयः ।
भूमावन्तः प्रजायन्ते कीटौघा वृश्चिकादयः ॥ ३० ॥
अन्तरिक्षेऽपि जायन्ते आकाशविहगादयः ।
वनवीथिषु जायन्ते सिंहव्याघ्रमृगादयः ॥ ३१ ॥
प्राण्यङ्गेष्वपि जायन्ते विचित्राः ककुभं प्रति ।
स्थावरेष्वपि जायन्ते घुणा जघनकादयः ॥ ३२ ॥
शिलान्तरेषु जायन्ते कीटभेकघुणादयः ।
विष्ठायामपि जायन्ते नानाकीटगणास्तथा ॥ ३३ ॥
एवमेतेष्वसंख्येषु जन्मस्वपचयेषु च ।
अजस्रं करुणावन्तो नन्दन्तु प्ररुदन्तु वा ॥ ३४ ॥
अनारतमृतावस्मिन्ननारतसमुद्भवे ।
संसारसंभ्रमे युक्ता न तुष्टिर्न च दुःखिता ॥ ३५ ॥

विविध भूतोंकी जातियाँ निरन्तर नष्ट होती हैं और निरन्तर लीखें, जुएँ, चीटियाँ आदि बहुतसे जीव उत्पन्न होते हैं। जलमें मछली, जलहाथी, मगर आदि जीव पैदा होते हैं, भूमिके अन्दर बिच्छू आदि कीड़ोंके समूह उत्पन्न होते हैं, आकाशमें भी आकाशपक्षी * आदि उत्पन्न होते हैं एवं वनपङ्क्तियोंमें सिंह, व्याघ्र, मृग आदि पैदा होते हैं ॥ २९, ३१ ॥

प्रत्येक दिशामें प्राणियोंके शरीरोंमें भी कीड़े, जुएँ आदि विचित्र जीव पैदा होते हैं, वृक्ष आदि स्थावर जीवोंमें घुन, भ्रमरीके आकारके अन्य काष्ठजीव आदि उत्पन्न होते हैं, शिलाओंके अन्दर भी कीड़े, मेढ़क, घुन आदि जीव उत्पन्न होते हैं और विष्ठामें भी भाँति-भाँतिके कीड़े उत्पन्न होते हैं ॥ ३२, ३३ ॥

इस प्रकार असंख्य जन्मोंमें और मरणोंमें करुणावान् लोग सदा प्रसन्न होवें चाहे रोवें। किन्तु इस संसाररूपी भ्रममें, जिसमें निरन्तर मृत्यु और निरन्तर

* आकाश-पक्षी = एक प्रकारके छोटे-छोटे पक्षी। वे सदा आकाशमें ही घूमते हुए ही बच्चे देते हैं। उत्पन्न हुए अण्डेको नीचे गिरनेसे पहले ही तोड़ कर निकले हुए बच्चे तुरन्त पक्षवाले हो जाते हैं और वे भी आकाशमें ही उड़कर घूमते हैं, यह लोकप्रसिद्ध है।

पङ्क्तयस्त्वेवमेवेमा वृक्षपर्णगणैः समाः ।
उत्पद्योत्पद्य लीयन्ते भूतानां भूरिसम्भवाः ॥ ३६ ॥
यः प्रवृत्तः कुबुद्धीनां दयावान् दुःखमार्जने ।
स्वगतच्छत्रनिर्मृष्टसूर्यांशु खिद्यते नभः ॥ ३७ ॥
न तिर्यक्समधर्माण उपदेश्या नरा भुवि ।
कथार्थकथनेनाऽर्थः कः स्थाणुनिकटे वने ॥ ३८ ॥
किं किल स्फारमनसां पशूनां च विशेषणम् ।
कृष्यन्ते पशवो रज्ज्वा मनसा मूढचेतसः ॥ ३९ ॥
स्वचित्तपङ्कमग्नानां स्वनाशारब्धकर्मणाम् ।
मूर्खाणामापदं दृष्ट्वा प्ररुदन्त्युपला अपि ॥ ४० ॥

उत्पत्ति है, न तो प्रसन्नता उचित है, न तो दुःखिता ही उचित है । भाव यह कि द्वेष न होनेके कारण दूसरेकी पीड़ाके अभिनन्दनकी तरह स्नेह न होनेके कारण दूसरेकी पीड़ाके लिए रोदन भी ठीक नहीं है, किन्तु उपेक्षा ही उचित है ॥ ३४, ३५ ॥

इस प्रकार प्राणियोंकी प्रचुर जन्मवाली ये पङ्क्तियाँ वृक्षके पत्तोंके तुल्य व्यर्थ ही उत्पन्न हो-होकर लीन हो जाती हैं ॥ ३६ ॥

जो पुरुष दयालु बनकर कुबुद्धि लोगोंके दुःखको दूर करनेके लिए प्रवृत्त हुआ, वह सारे आकाशको अपने छातेसे आतपरहित करनेके लिए परिश्रम करता है यानी कुबुद्धियोंके दुःखको दूर करना अपने ऊपर ताने हुए छातेसे सारे आकाशके आतपको दूर करनेकी तरह असम्भव है ॥ ३७ ॥

संसारमें पशु-पक्षी सरीखे लोगोंको उपदेश देना उचित नहीं है । भला वनमें ठूँठके निकट कथाका अर्थ कहनेसे कौन प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? ॥ ३८ ॥

जिन्होंने अपने मनको विषयोंमें फैला रक्खा है, उन मनुष्योंमें और पशुओंमें क्या अन्तर है ? पशु रस्सीसे खींचे जाते हैं और मूढ़चित्तवाले पुरुष मनसे खींचे जाते हैं ॥ ३९ ॥

अपने चित्तरूपी कीचड़में फँसे हुए और अपने नाशके लिए कर्मका आरम्भ करनेवाले मूर्खोंकी आपत्तियोंको देखकर पत्थर भी रोते हैं, चेतनोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४० ॥

अनिर्जितात्मचित्तानां समन्ताद् दुःखदा दशाः ।
तन्मार्जने कृतप्रज्ञो नाऽतः संप्रतिपद्यते ॥ ४१ ॥
विनिर्जितात्मचित्तानां दुःखानि रघुनन्दन ।
सुविचार्याणि तेनाऽत्र ज्ञातज्ञेयः प्रवर्तताम् ॥ ४२ ॥
मनो नाऽस्ति महाबाहो मा मुधोपप्रकल्पय ।
अनेन कल्पितेन त्वं वेतालेनेव हन्यसे ॥ ४३ ॥
यावद्विस्मृतवानात्मतत्त्वं मूढोऽभवद्भवान् ।
तावत्तव मनोव्यालो बभूवाऽभ्युदितस्ततः ॥ ४४ ॥
इदानीं भवता ज्ञातं यथाभूतमरिन्दम ।
सङ्कल्पाद् वर्धते चित्तं तदेवाऽऽशु परित्यज ॥ ४५ ॥

जिन लोगोंने अपने चित्तपर विजय प्राप्त नहीं की, उनकी सब देशोंमें सदा दुःख देनेवाली दशाएँ भरी हुई हैं, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष उनके मार्जनमें प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि उनका मार्जन समस्त भूमिकी धूलिके मार्जनके समान असम्भव है ॥ ४१ ॥

हे श्रीरघुनन्दन, जिन लोगोंने अपने चित्तपर विजय प्राप्त कर ली है, उनके दुःखको दूर करना सहज है, इसलिए ज्ञानी पुरुष उनके दुःखमार्जनमें प्रवृत्त हो ॥४२॥

प्रसङ्गप्राप्त अधिकारिविचारको समाप्त कर प्रस्तुत विषयका ही अनुसरण करते हुए कहते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

हे महाबाहो, मन नहीं है, वृथा आप उसकी कल्पना न कीजिये । जैसे कल्पित वेतालसे बालक मारा जाता है वैसे ही कल्पित मनसे आप मारे जाते हैं ॥ ४३ ॥

यदि मन नहीं है, तो प्रतियोगीकी असिद्धि होनेसे उसके निषेधका अवसर ही नहीं है ? ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो इसपर कहते हैं—**'यावत्'** इत्यादिसे ।

जबतक आत्मतत्त्वको भूले हुए आप मूढ़ हुए थे, तभीतक आपका मनरूपी सर्प उदित हुआ था ॥ ४४ ॥

हे शत्रुनाशन, इस समय आप परमार्थ आत्मरूपको जान चुके हैं । सङ्कल्पसे चित्तकी अभिवृद्धि होती है; इसलिए आप सङ्कल्पका ही शीघ्र परित्याग कीजिये ॥ ४५ ॥

दृश्यमाश्रयसीदं चेत्तत्सचित्तोऽसि बन्धवान् ।
दृश्यं संत्यजसीदं चेत्तदचित्तोऽसि मोक्षवान् ॥ ४६ ॥
अयं गुणसमाहारो बन्धायैव समाश्रितः ।
संत्यक्तो भवमोक्षाय यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ४७ ॥
नाऽहं नेदमिति ध्यायंस्तिष्ठ त्वमचलाचलः ।
अनन्ताकाशसङ्काशहृदयो हृदयेश्वरः ॥ ४८ ॥
आत्मनो जगतश्चाऽस्य त्वमङ्ग कलनामलम् ।
राम द्वित्वमयीं त्यक्त्वा शेषस्थः सुस्थिरो भव ॥ ४९ ॥
आत्मनो जगतश्चाऽन्तर्द्रष्टृदृश्यदशान्तरे ।
दर्शनाख्ये स्वमात्मानं सर्वदा भावयन् भव ॥ ५० ॥

अब बन्ध और मोक्षका रहस्य कहते हैं—**'दृश्यम्'** इत्यादिसे ।

यदि आप इस दृश्यका अवलम्बन करते हैं, तो आप चित्तयुक्त और बन्धनवाले हैं । यदि आप इस दृश्यका त्याग करते हैं, तो आप चित्तशून्य और मोक्षवान् हैं ॥ ४६ ॥

यदि कोई प्रश्न करे, यह दृश्यतत्त्व क्या है, तो इसपर कहते हैं—**'अयम्'** इत्यादिसे ।

इस त्रिगुणात्मक मायामय प्रपञ्चका आश्रयण बन्धनके लिए ही है । यदि इसका त्याग किया जाय, तो संसारके मोक्षके लिए होता है । बन्धन और त्यागके विषयमें जैसी आपकी अभिरुचि हो, वैसा कीजिये ॥ ४७ ॥

'अहम्' यानी आन्तर दृश्य और 'इदम्' यानी बाह्य दृश्य नहीं ही है, इस प्रकार ध्यान कर रहे, अनन्त आकाशके तुल्य विशाल हृदयवाले, आत्मरूप आप पर्वतके समान निश्चल हो स्थित होइये ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप आत्माकी और इस जगत्की 'मैं' और 'यह' इस प्रकारकी भेदमयी कलनाका सर्वथा परित्याग कर ब्रह्मनिष्ठ हो स्थिर होइये ॥४९॥

यदि कोई कहे, उन दोनोंकी कलनाका त्याग करनेपर कौन वस्तु अवशिष्ट रहती है, जिसमें आप स्थितिका उपदेश देते हैं, तो इसपर कहते हैं—**'आत्मनः'** इत्यादिसे ।

द्रष्टा और दृश्य दशाओंके मध्यमें एवं आत्मा और जगत्के मध्यमें यानी

स्वाद्यस्वादकसंत्यक्तं स्वाद्यस्वादकमध्यगम् ।
स्वादनं केवलं ध्यायन्नित्यमात्ममयो भव ॥ ५१ ॥
रामाऽनुभवनीयस्य तथाऽनुभवितुः स्वयम् ।
अवलम्ब्य निरालम्बं मध्यं मध्ये स्थिरो भव ॥ ५२ ॥
भवभावनया हीनं भावाभावदशोज्झितम् ।
भावयन्नेवमात्मानमात्मसंस्थः स्वयं भव ॥ ५३ ॥
आत्मसत्तां त्यजन्नेतां चेत्यं भावयसि स्वयम् ।
यदा राम तदा यासि चित्ततामतिदुःखदाम् ॥ ५४ ॥
चित्ततां शृङ्खलामेतां स्वरूपज्ञानयुक्तितः ।
बिलाच्चित्तान्महाबाहो स्वात्मसिंहं विमोचय ॥ ५५ ॥

त्रिपुटीमें अनुस्यूत, सन्मात्ररूप, दर्शननामक त्रिपुटीके साक्षीस्वभावमें स्थित अपने स्वरूपकी सर्वदा भावना कीजिये ॥ ५० ॥

चाक्षुष त्रिपुटीकी भाँति रासन आदि त्रिपुटियोंमें भी उस साक्षीका ही ध्यान करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'स्वाद्य०'** इत्यादिसे ।

आस्वाद्य और आस्वादकसे परित्यक्त और स्वाद्य और स्वादकके मध्यमें स्थित केवल स्वादनका ध्यान करते हुए आप सदा आत्ममय होइये ॥ ५१ ॥

अनुमिति आदि अन्य अनुभवोंमें भी ऐसा ही समझना चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—**'रामा०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अनुभव करने योग्य और अनुभव-कर्ताके विषयभूत त्रिपुटी-अंशसे व्यतिरिक्त मध्यका (उसके साक्षीका) अपने हृदयमें अवलम्बन करके आप स्वयं स्थित होइये ॥ ५२ ॥

भवकी भावना यानी संस्कारवश संसारके दर्शनसे (स्वप्नदशासे) शून्य, भावदशा (जाग्रद्दशा) और अभावदशा (सुषुप्ति) से रहित आत्माकी इस प्रकार भावना कर रहे आप स्वयं आत्मनिष्ठ होइये ॥ ५३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, शुद्धचिन्मात्र स्वभाववाली आत्मसत्ताका प्रमादवश त्याग कर रहे आप जब स्वयं चेत्यकी भावना करते हैं, तब आप अतिदुःख देनेवाली चित्तताको प्राप्त होते हैं ॥ ५४ ॥

हे महाबाहो, इस चित्ततारूप सिकड़ीको स्वरूपज्ञानयुक्तिसे तोड़कर चित्तरूपी पिंजड़ेसे आत्मारूपी सिंहको मुक्त कीजिये ॥ ५५ ॥

परमात्मदशां त्यक्त्वा चेत्यं परिपतन्नलम् ।
यदा गच्छसि सङ्कल्पं चेत्यं संपश्यसे तदा ॥ ५६ ॥
आत्मनो व्यतिरिक्तं सच्चित्तमित्यङ्ग संविदा ।
मनः सम्पद्यते दुःखि क्षीयते त्यक्तया तया ॥ ५७ ॥
आत्मैवेदं जगत् सर्वमित्यन्तः संविदोदये ।
क्व चेत्ता क्व च वा चित्तं किं चेत्यं चेतनं च किम् ॥ ५८ ॥
अहमात्मेति जीवोऽस्मीत्येतावच्चित्तकं विदुः ।
अनेनेत्थमनाद्यन्तं दुःखं राघव तन्यते ॥ ५९ ॥
अहमात्मा न जीवाख्याः सत्ताः सन्तीतराः क्वचित् ।
इत्येव चित्तोपशमः परमं सुखमुच्यते ॥ ६० ॥

जब आप परमात्मदशाका त्यागकर तेजीसे चेत्यकी ओर गिरते हुए सङ्कल्पको प्राप्त होते हैं, तब चेत्यको देखते हैं ॥ ५६ ॥

कैसे चेत्यकी ओर जीव गिरता है, उससे कैसे सङ्कल्पोंको प्राप्त होता है और कैसे सङ्कल्पका क्षय होता है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—**'आत्मनः'** इत्यादिसे ।

जब चित्त—पूर्व अनुभवसे उत्पन्न दृश्य संस्कारके उद्बुद्ध होनेपर चित् ही कुछ स्थूलताको प्राप्त चित्त है, इस ज्ञानसे—आत्मासे व्यतिरिक्त सिद्ध होता है तब पुनः पुनः मननसे दृढ़ सङ्कल्प करनेमें समर्थ हो मन होता है और वही दुःखी है । अपनेसे अतिरिक्त मन है, इस संवित्के त्यागसे तो वह नष्ट हो जाता है ॥ ५७ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा ही है, अन्दर ऐसे ज्ञानका उदय होनेपर उपहित चेतिता कहाँ है ? उपाधिरूप चित्त कहाँ है ? चित्तवृत्तिसे व्याप्त चेत्य कहाँ है और चित्तवृत्ति कहाँ है ? अर्थात् कुछ भी शेष नहीं रहता ॥ ५८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार अनुभवमें आ रहे देह, इन्द्रिय आदिसे युक्त जीव हूँ, केवल इतना ही तुच्छ चित्त है, यह इस प्रकार अनादि और अनन्त दुःखका विस्तार करता है ॥ ५९ ॥

मैं ब्रह्म ही हूँ, ब्रह्मसे अतिरिक्त जीव नामक परमार्थ सत् कुछ कहीं नहीं हैं । यही चित्तका विनाश है, इसीको परम सुख कहते हैं ॥ ६० ॥

आत्मैवेदं जगदिति जाते राघव निश्चये ।
असत्ता चेतसो जाता भवत्येव न संशयः ॥ ६१ ॥
एवं सत्यावबोधेन स्वात्मैवेदमिति स्थितिः ।
मनः सुगलितं विद्धि सूर्यभासा तमो यथा ॥ ६२ ॥
मनःसर्पः शरीरस्थो यावत्तावन्महद् भयम् ।
तस्मिन्नुत्सारिते योगाद् भयस्याऽवसरः कुतः ॥ ६३ ॥
भ्रान्तिमात्रोत्थितश्चित्ते वेतालोऽतिबलोऽनघ ।
सम्यग् ज्ञानेन मन्त्रेण प्रसभं विनिपात्यताम् ॥ ६४ ॥
देहगेहाद् गते चित्तयक्षे बलवतां वरे ।
निराधिर्विगतोद्वेगस्तिष्ठ नाऽस्ति भयं तव ॥ ६५ ॥
नीराग एव निरुपार्जन एव चाऽस्मीत्येतावतैव गलिता तव चित्तसत्ता ।
निर्दुःखमुत्तमपदं परमं गतोऽसि तिष्ठोपशान्तपरमैषण एवमन्तः ॥ ६६ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
स्वचित्तनिरूपणं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्मा ही यह जगत् है, ऐसा निश्चय होनेपर चित्तकी असत्ता अर्थात् सम्पन्न हो जाती है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ६१ ॥

मनोनाशके उपायका उपसंहार करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

परमार्थ तत्त्वका ज्ञान होनेसे यह जगत् आत्मा ही है, ऐसा निश्चय स्थिर हो जाता है, तब आप मनको जैसे सूर्यकी कान्तिसे अन्धकारका विनाश होता है वैसे ही विनष्ट जानिये ॥ ६२ ॥

जबतक मनरूपी साँप शरीरमें है, तबतक महाभय रहता है, मनरूपी सर्पके समाधिसे हटा देनेपर भयका अवसर कहाँसे है ? ॥ ६३ ॥

हे अनघ, यह अतिबलवान् चित्तरूपी वेताल एकमात्र भ्रान्तिसे उत्पन्न हुआ है, सम्यग्ज्ञानरूपी मन्त्रसे उसका जबरदस्ती विनाश कर डालिये ॥ ६४ ॥

देहरूपी घरसे बलवानोंमें श्रेष्ठ चित्तरूपी यक्षके चले जानेपर आप मानस-चिन्ताशून्य और व्याकुलतारहित होइये । आपको कोई भय नहीं है ॥ ६५ ॥

आत्मलाभसे सब कामनाओंकी प्राप्ति होनेपर रागरहित अतएव बाह्य सुखोंके

पञ्चदशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतामनुसरन् राम चित्तसत्तामपावनीम् ।
संसारबीजकणिकां जीवबन्धनवागुराम् ॥ १ ॥
आत्मा त्यक्तात्मरूपाभो मलिनामाप तदृशम् ।
चित्तं समनुसन्धत्ते धत्ते च कलनामलम् ॥ २ ॥
वर्धमानमहामोहदायिनी भयकारिणी ।
तृष्णा विषलतारूपा मूर्छामेव प्रयच्छति ॥ ३ ॥

साधनोंके उपार्जनसे हीन ही मैं हूँ, केवल इतनेसे ही आपकी चित्तसत्ता नष्ट हो गई और आप दुःखरहित उत्तम परमपदको प्राप्त हो गये हैं, इस प्रकार मुमुक्षा भी जिसके अन्तःकरणमें शान्त हो गई, ऐसे आप स्थित होइये ॥ ६६ ॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

[चित्तताको प्राप्त हुआ आत्मा जिससे संसारमें बँधता है, अनर्थबीजोंसे पूर्ण उस विचित्र तृष्णाका वर्णन]

चित्तका नाश होनेपर परमपुरुषार्थप्राप्ति कही गयी है, इस समय चित्तका अनुसरण करनेपर तृष्णाकी अभिवृद्धिसे अनर्थोंकी परम्परा प्राप्त होती है, यह दर्शानेके लिए भूमिका बाँधते हैं—**'एताम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसारकी बीजकणरूप, जीवोंके बन्धनके लिए जालस्वरूप अपवित्र इस चित्तसत्ताका अनुसरण कर रहा आत्मा, जिसने अपनी ब्रह्मात्मरूपताका त्याग कर दिया, अविद्यासे आच्छन्न ज्ञानको, जिसकी अभिव्यक्ति इन्द्रियवृत्तियोंकी अधीन है, प्राप्त कर रहे चित्तके ही अनुरोधसे चित्तकल्पित देहादिसंघात ही मैं हूँ, ऐसा अनुसंधान करता है और चित्तसे प्राप्त किये गये नानाविषयोंकी कल्पनासे होनेवाले राग-द्वेषवासनारूप मलको धारण करता है ॥१,२॥

वह राग-द्वेषवासनारूप मलको धारण करे, उससे क्या ? ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—**'वर्धमान०'** इत्यादिसे ।

यदा यदोदेति तदा महामोहप्रदायिनी ।
तृष्णा कृष्णा निशेवेयमनन्तात्मविकारिणी ॥ ४ ॥
कल्पानलशिखादाहं सोढुं शक्ता हरादयः ।
तृष्णानलशिखादाहं सोढुं शक्ता न केचन ॥ ५ ॥
तीक्ष्णा कृष्णा सुदीर्घा च वहत्यङ्गं सदा निजम् ।
शीतलैवाऽसुखोदर्का घोरा तृष्णा कृपाणिका ॥ ६ ॥
यान्येतानि दुरन्तानि दुर्जराण्युन्नतानि च ।
तृष्णावल्ल्याः फलानीह तानि दुःखानि राघव ॥ ७ ॥
अदृश्यैवाऽत्ति मांसास्थिरुधिरादि शरीरकात् ।
मनोबिलविलीनैषा तृष्णा वनशुनी नृणाम् ॥ ८ ॥
क्षणमुल्लासमायाति क्षणमायाति शून्यताम् ।
जडा विदलयत्याशु तृष्णा प्रावृट्तरङ्गिणी ॥ ९ ॥

प्रतिदिन बढ़ रहे महामोहको देनेवाली, भय देनेवाली और हजारों मरण, मूर्छा और भ्रान्तियोंकी हेतु होनेसे विषलतारूप तृष्णा राग-द्वेषवासनारूपी मलको धारण करनेवाले आत्माके लिए मूर्छा ही देती है, सुखका लेश भी नहीं देती ॥३॥

जैसे आकाशमें मेघगर्जन, वृष्टि आदि अनेक विकार करनेवाली वर्षा ऋतुकी अँधेरी रात जब-जब उदित होती है, तब-तब महामोहप्रद होती है, वैसे ही अनन्त आत्मामें विकार करनेवाली यह तृष्णा भी जब-जब उदित होती है तब-तब महामोह देती है ॥ ४ ॥

महादेव आदि देवता प्रलयकालकी अग्निकी ज्वालाओंके संतापको सहनेके लिए समर्थ हैं, किन्तु तृष्णारूपी अग्निकी ज्वालाओंके संतापको सहनेके लिए समर्थ नहीं हैं ॥ ५ ॥

तीखी, काली, दीर्घ और घोर तृष्णारूपी तलवार, जो शीतल होती हुई भी उत्तरकालमें दुःख देनेवाली है, अपने अङ्गको सदा काटती है ॥ ६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसारमें जो ये दुर्निवार, दुःखसे दूर करनेके अयोग्य बड़े-बड़े दुःख हैं, वे तृष्णारूपी लताके फल हैं ॥ ७ ॥

मनरूपी बिलमें छिपी हुई यह तृष्णारूपी भेड़िया अदृश्य होकर ही मनुष्योंके शरीरसे मांस, हड्डी, खून आदि खाती है ॥ ८ ॥

जड़ तृष्णा जलमय वर्षा ऋतुकी नदीके समान क्षणभरमें वृद्धिको प्राप्त

दृष्टदैन्यो हतस्वान्तो हतौजा याति नीचताम् ।
मुह्यते रौति पतति तृष्णयाऽभिहतो जनः ॥ १० ॥
न स्थिता कोटरे यस्य तृष्णा कृष्णभुजङ्गमी ।
तस्य प्राणानिलाः स्वस्थाः पुंसो हृदयरन्ध्रगाः ॥ ११ ॥
नूनमस्तं गतो यत्र तृष्णाकृष्णनिशाक्रमः ।
पुण्यानि तत्र वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवेन्दवः ॥ १२ ॥
यो न तृष्णाघुणावल्ल्या क्षतः पुरुषपादपः ।
पुण्यप्रसूनैः स सदा दशां याति विकासिनीम् ॥ १३ ॥
अनन्ताकुलकल्लोला विवर्तावर्तसङ्कुला ।
प्रवहत्याशयारण्ये तृष्णाऽन्धानां नदी नृणाम् ॥ १४ ॥

होती है, क्षणभरमें रिक्त हो जाती है और टीला, कांटे, जङ्गल आदिमें प्रवेश करा कर पुरुषको काटती है ॥ ९ ॥

मूर्छा ही देती है, ऐसा जो पहले कहा था, उसीका विवरण करते हैं—**'दृष्टदैन्यः'** इत्यादिसे ।

तृष्णासे पीड़ित पुरुष, जो दीनताका भोग कर चुका, जिसका हृदय नष्ट हो गया एवं जिसका तेज चला गया, नीचताको प्राप्त होता है, घबराता है, रोता है और गिरता है ॥ १० ॥

तृष्णाका नाश होनेपर सब दुःख निवृत्त हो जाते हैं, सब पुण्योंका उदय होता है, ऐसा कहते हैं—**'न स्थिता'** इत्यादिसे ।

जिस वृक्षरूपी पुरुषके खोखलेरूपी हृदयमें काली साँपिनरूपी तृष्णा बैठी नहीं है, उस पुरुषके हृदयरन्ध्रमें चलनेवाले प्राणवायु स्वस्थ रहते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि जिस पुरुषमें तृष्णारूपी अँधेरी रात अस्त हो गई, उसमें शुक्लपक्षमें चन्द्रमाके समान पुण्य बढ़ते हैं ॥ ११, १२ ॥

जो पुरुषरूपी वृक्ष तृष्णारूपी घुनोंसे घुन नहीं गया, वह सदा पुण्यरूपी फूलोंसे प्रफुल्लित दशाको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

विवेकरहित पुरुषोंके चित्तरूपी अरण्यमें अनन्त व्याकुलतारूप कल्लोलोंसे युक्त और भ्रान्तिरूपी भँवरियोंसे ठसाठस भरी हुई तृष्णारूपी नदी बहती है ॥ १४ ॥

तृष्णयेमे जनाः सर्वे सूत्रयन्त्रपतत्रिवत् ।
भ्राम्यन्ते प्रविशीर्यन्ते संह्रियन्ते च भूरिशः ॥ १५ ॥

मूलान्यपि सुसूक्ष्माणि कठिनाशयकर्कशा ।
तृष्णा परशुधारेव वल्गन्ती विनिकृन्तति ॥ १६ ॥

निपतत्यवटे मूढस्तृष्णामनुसरञ्जनः ।
नीलामनुपतञ्छभ्रतृणशाखां यथैणकः ॥ १७ ॥

नोन्मत्ताऽपि जरा चक्षुस्तथा जरयति क्षणात् ।
यथा जरयति क्षामा तृष्णा हृदयरूपिका ॥ १८ ॥

तृष्णयाऽऽशयकौशिक्या ह्यमङ्गलभूतया ।
रूढया भगवानेष विष्णुर्वामनतां गतः ॥ १९ ॥

कयाचिदेव दैविक्या हृदि ग्रथितयाऽनया ।
तृष्णया भ्राम्यते व्योम्नि रज्ज्वेवाऽर्कोऽन्वहं किल ॥ २० ॥

तृष्णा द्वारा ये सब लोग सूत्रसे बँधे हुए पक्षीके तुल्य पहले धनार्जनके लिए देश-विदेशमें घुमाए जाते हैं, तदनन्तर धनकी रक्षा, व्यय, नाश आदिकी चिन्ता और शोकसे जर्जरित किये जाते हैं और अन्तमें मारे जाते हैं ॥ १५ ॥

निर्दय चित्तसे कर्कश तृष्णा कुल्हाड़ेकी धारके समान शीघ्र गिरती हुई धर्म और ज्ञानके मूलोंको तथा दया, विवेक आदिके छोटे-छोटे अङ्कुरोंको भी काट डालती है ॥ १६ ॥

जैसे मृग कुएँके ऊपर उगे हुए हरे तिनकोंकी ओर जाता हुआ अन्धे कुएँमें गिर पड़ता है, वैसे ही तृष्णाका अनुसरण करता हुआ मूढ़ पुरुष नरकमें गिरता है ॥ १७ ॥

बुढ़ापा कितना ही जोर-शोरका क्यों न हो, पर वह नेत्रोंको उतना अन्धा नहीं बनाता, जितना कि हृदयकी पिशाचीरूप कृश तृष्णा अन्धा बनाती है ॥ १८ ॥

हृदयमें स्थित उल्लूरूप अमङ्गलभूत तृष्णासे, जो हृदयमें घोंसला बना चुकी, भगवान् विष्णु तक वामनताको प्राप्त हुए ॥ १९ ॥

ईश्वरसे प्रयुक्त या देवभोग्यसुखलेशविषयिणी रज्जुकी तरह हृदयमें गुँथी हुई इस अलौकिक तृष्णासे ही प्रतिदिन सूर्य आकाशमें घुमाए जाते हैं ॥ २० ॥

सर्वदुःखमयाकारां जगतीजीवनच्छिदम् ।
तृष्णां परिहरेत् क्रूरामुरगीमिव दूरगः ॥ २१ ॥
तृष्णया वायवो वान्ति शैलास्तिष्ठन्ति तृष्णया ।
तृष्णयैव धरा धात्री त्रैलोक्यं तृष्णया धृतम् ॥ २२ ॥
सर्वैव लोकयात्रेयं प्रोता तृष्णावरत्रया ।
रज्जुबन्धाद् विमुच्यन्ते तृष्णाबन्धान्न केचन ॥ २३ ॥
तस्माद्राघव तृष्णां त्वं त्यज सङ्कल्पवर्जनात् ।
मनस्त्वकल्पनं नाऽस्ति निर्णीतमिति युक्तितः ॥ २४ ॥
अयं त्वमहमित्येव प्रथमं तावदाशये ।
मा दुराशां महाबाहो सङ्कल्पय तमोमयीम् ॥ २५ ॥
एतां दुःखप्रसविनीमनात्मन्यात्मभावनाम् ।
न भावयसि चेद्राम तदा तज्ज्ञेषु गण्यसे ॥ २६ ॥

जिसका आकार सर्वदुःखमय है एवं जो जगत्के सब लोगोंके जीवनका नाश करती है, ऐसी तृष्णाका क्रूर साँपिनके समान मनुष्यको दूरसे ही त्याग करना चाहिये ॥ २१ ॥

सारा संसारव्यवहार तृष्णासे ही होता है, इस आशयसे कहते हैं—**'तृष्णया'** इत्यादिसे ।

तृष्णासे ही वायु बहता है, तृष्णासे पर्वत खड़े हैं, तृष्णासे ही पृथ्वी जीवोंका धारण करती है, सारा त्रैलोक्य तृष्णासे ही धारण किया गया है ॥ २२ ॥

यह सारी लोकयात्रा तृष्णारूपी रज्जुसे बँधी हुई है, रज्जुबन्धनसे तो लोग मुक्त हो सकते हैं, परन्तु तृष्णारूपी बन्धसे कोई मुक्त नहीं हो सकते ॥ २३ ॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, संकल्पत्यागसे आप तृष्णाका त्याग कीजिये । संकल्पहीन मन नहीं है अर्थात् संकल्पके अभावमें मन नहीं रह सकता, ऐसा युक्तियोंसे निर्णय किया गया है । मन ही जब नहीं रहेगा, तब तृष्णा कहाँसे होगी ? यह भाव है ॥ २४ ॥

हे महाबाहो, पहले आप अपने चित्तमें तुम, मैं, यह, इस दुराशाका अर्थात् सब दुराशाओंके निमित्तभूत अभिमानका, जो तमोमय है, सङ्कल्प न कीजिये ॥२५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि आप दुःखको उत्पन्न करनेवाली अनात्मामें आत्म-भावनाकी भावना न करेंगे, तो आप तत्त्वज्ञानियोंमें गिने जायँगे ॥ २६ ॥

एतामहंभाववमयीमपुण्यां
छित्त्वाऽनहंभावशलाकयैव ।
स्वभावनां भव्य भवान्तभूमौ
भवाऽभिभूताखिलभूतभीतिः ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे तृष्णावर्णनं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

श्रीराम उवाच

स्वभावगम्भीरमेतद् भगवन् वचनं तव ।
यदहङ्कारतृष्णां त्वं मा गृहाणेति वक्षि माम् ॥ १ ॥
यद्यहङ्कारसंत्यागं करोमि तदिदं प्रभो ।
त्यजामि देहनामानं सन्निवेशमशेषतः ॥ २ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस अपवित्र अहंभावमयी तृष्णाको अनहंभावरूप कैंचीसे काट कर आप सम्पूर्ण भूतोंसे होनेवाले भयोंका तिरस्कार कर संसारकी बाध-भूमि ब्रह्ममें स्थित होइये ॥ २७ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

[ध्येय-ज्ञेयभेदसे वासनात्यागका वर्णन, उससे जीवन्मुक्त और विदेहोंके लक्षणका कथन]

जीवित पुरुष देहमें अहंभावका त्याग नहीं कर सकता और शिष्यके मरणमें गुरुका तात्पर्य नहीं हो सकता, अतः 'एतामहंभावमयीं तृष्णां छित्त्वा' इत्यादि कथनके तात्पर्यको न समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'स्वभाव०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, जो आप मुझसे कहते हैं कि अहङ्कार-तृष्णाका ग्रहण तुम मत करो, आपका यह वचन स्वभावतः जटिल है ॥ १ ॥

हे प्रभो, यदि मैं अहङ्कारका त्याग करूँ, तो मुझे देहनामक अवयव-

जानुस्तम्भेन महता धार्यते सुतरुर्यथा ।
अहङ्कारेण देहोऽयं तथैव किल धार्यते ॥ ३ ॥
अहङ्कारक्षये देहः किलाऽवश्यं विनश्यति ।
मूले क्रकचसंलूने सुमहानिव पादपः ॥ ४ ॥
तत्कथं संत्यजाम्येनं जीवामि च कथं मुने ।
एनमर्थं विनिश्चित्य वद मे वदतां वर ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वत्र वासनात्यागो राम राजीवलोचन ।
द्विविधः कथ्यते तज्ज्ञैर्ज्ञेयो ध्येयश्च मानद ॥ ६ ॥

संनिवेशका पूर्णरूपसे त्याग करना पड़ेगा। भाव यह कि प्राण और अहङ्कारकी एकता स्वयं आप ही पहले कह आये हैं, अतः प्राणोंको बचाकर अहङ्कारके त्यागका सम्भव नहीं, इसलिए अहङ्कारके साथ प्राण भी अवशिष्ट नहीं रहेंगे ॥ २ ॥

जैसे जानुके तुल्य विशाल तनेसे वृक्ष धारण किया जाता है वैसे ही अहङ्कारसे यह शरीर धारण किया जाता है ॥ ३ ॥

अहङ्कारका विनाश होनेपर यह शरीर अवश्य नष्ट हो जाता है, जैसे कि तनेके आरा द्वारा काटे जानेपर महान् वृक्ष गिर जाता है ॥ ४ ॥

इसलिए मैं इस अहङ्कारका कैसे त्याग करूँ और कैसे जीऊँ, हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनिजी, इस विषयको खूब विचार कर मुझसे कहिए ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, विद्वानों द्वारा ज्ञेय और ध्येय भेदसे दो प्रकारका वासनात्याग सर्वत्र कहा जाता है। ज्ञेय यानी विद्वानोंके समाधिकालमें या विदेहमुक्तिमें ज्ञानसे बाधित। ध्येय यानी अधिष्ठान-मात्रपरिशेषरूप। व्युत्थानकालमें वाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्तिसे वासनासहित अज्ञानका बाध होनेपर भी जीवन्मुक्तिप्रतिपादक शास्त्रके अनुरोधसे और प्रारब्ध-फलभोगके शेष रहनेसे उन दोनोंके निर्वाहके लिए बाधित अनुवृत्तिवाले अविद्या-लेशके शेषका या विक्षेपांशके अबाधका स्वीकार करना पड़ता है एवं जिसमें अहंभावका अध्यास नहीं, ऐसी देहसे भोगहेतु व्यवहारकी सिद्धि न होनेसे उसमें तात्कालिक अहङ्काराभासकी अनुवृत्ति विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध है, अतः व्युत्थानदशामें अहङ्कारबाधका अनुसन्धान प्रयत्नसाध्य होनेके कारण प्रायः ध्यानरूप है, इसलिए उक्त वासनात्याग ध्येयके समान होनेके कारण ध्येय है ॥ ६ ॥

अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम् ।
नाऽहमेभिर्विना कश्चिन्न मयैते विना किल ॥ ७ ॥
इत्यन्तर्निश्चयं कृत्वा विचार्य मनसा सह ।
नाऽहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते ॥ ८ ॥
अन्तः शीतलया बुद्ध्या कुर्वत्या लीलया क्रियाम् ।
यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो राम स कीर्तितः ॥ ९ ॥
सर्वं समतया बुद्ध्वा यं कृत्वा वासनाक्षयम् ।
जहाति निर्ममो देहं ज्ञेयोऽसौ वासनाक्षयः ॥ १० ॥

उन दोनोंमें दूसरे पक्षका उपपादन करते हैं। विवेकियोंकी दृष्टिसे दो अहं-प्रतीतिके गोचर प्रतीत होते हैं। एक देह, इन्द्रिय, बुद्धि और मनकी अपेक्षा करनेवाला और मित्र, पुत्र, स्त्री, धन आदिकी ममतावाला सङ्घातात्मा और दूसरा अखण्डैकस्वभाव, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं और मरण, मूर्छा, जन्मान्तरका साक्षी, विवेक करनेपर अवशिष्टचिन्मात्रस्वभाववाला। उनमें प्रथमके स्वरूपका पहले विचार कर निश्चय करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'अहम्'** इत्यादिसे।

इन देह, इन्द्रिय आदि पदार्थोंका और उपभुक्त बाहरी अन्न, पान आदि पदार्थोंका मैं संघातात्मा हूँ, मेरे ये जीवित हैं यानी मेरी स्वरूपसिद्धिमें निमित्त-भूत हैं। अतएव इनके बिना मैं व्यवहारमें कुछ भी नहीं हूँ और मेरे बिना ये कुछ नहीं हैं, ऐसा अन्तःकरणमें प्रथम अहंपदार्थका निश्चय करके मनके साथ उसके पृथक् करनेपर संघातात्माको अत्यन्त असद्रूप ही जानकर दूसरे अखण्डैकरस आत्माकी चिद्रूपसे मैं पदार्थका संघातात्मा नहीं हूँ और ये पदार्थ मेरे जीवित नहीं हैं, ऐसे ज्ञानसे तद्रूप भावना करनेपर लीलासे कार्य कर रही अन्तः शीतल बुद्धिसे जो भावनारूप वासनात्याग है, उसे हे श्रीरामचन्द्रजी मैंने ध्येयवासनात्याग कहा है ॥ ७, ९ ॥

प्रथम वासनाक्षयका उपपादन करते हैं—**'सर्वम्'** इत्यादिसे।

सारे जगत्को ब्रह्मरूपसे जानकर भूमिकाभ्यासके क्रमसे जिस वासना-त्यागको करके निरहङ्कार और निर्विकल्पसमाधिस्थ हो अथवा प्रारब्धक्षय द्वारा जो सर्वथा देहत्याग है, वह ज्ञेय वासनाक्षय कहा गया है ॥ १० ॥

अहङ्कारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी जीवन्मुक्त स उच्यते ॥ ११ ॥
निर्मूलकलनां त्यक्त्वा वासनां यः शमं गतः ।
ज्ञेयत्यागमयं विद्धि मुक्तं तं रघुनन्दन ॥ १२ ॥
ध्येयं तं वासनात्यागं कृत्वा तिष्ठन्ति लीलया ।
जीवन्मुक्ता महात्मानः सुजना जनकादयः ॥ १३ ॥
ज्ञेयं तु वासनात्यागं कृत्वोपशममागताः ।
विदेहमुक्तास्तिष्ठन्ति ब्रह्मण्येव परावरे ॥ १४ ॥
द्वावेव राघव त्यागौ समौ मुक्तपदे स्थितौ ।
द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेव विगतज्वरौ ॥ १५ ॥
युक्तायुक्तमती स्वासे केवलं विमलेऽनघ ।
एकः स्थितः स्फुरद्देहः शान्तदेहः स्थितोऽपरः ॥ १६ ॥
एकः सदेहो निर्मुक्तस्तिष्ठत्यपगतज्वरः ।
त्यक्तदेहो विमुक्तोऽन्यो वर्ततेऽज्ञेयवासनः ॥ १७ ॥

अहंकारमयी वासनाका त्याग कर जो लोकसङ्ग्रहोचित व्यवहारसे स्थित रहता है, ध्येयवासना त्यागवाला वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ११ ॥

हे रघुनन्दन, मूलाज्ञानके साथ कलनारूप वासनाका त्यागकर जो पुरुष शमको प्राप्त हुआ, उसे ज्ञेयत्यागमय (जिसके सवासन अज्ञानका नाश होकर चिन्मात्रका अवशेष हो) मुक्त जानिये । पूर्वोक्त ध्येय वासनात्याग करके जीवन्मुक्त महात्मा, सज्जनशिरोमणि जनक आदि लोकसंग्रहोचित व्यवहारसे स्थित रहते हैं ॥१२,१३॥

ज्ञेयवासनात्याग करके शान्तिको प्राप्त हुए विदेह मुक्त पुरुष परब्रह्ममें ही स्थित रहते हैं ॥ १४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये पूर्वोक्त दोनों ही त्याग समान हैं, दोनों मुक्तपदमें स्थित हैं। ये दोनों ही ब्रह्मताको प्राप्त हैं और दोनों सन्तापरहित हैं। हे अनघ युक्तमति (समाधिमें आरूढ़), अयुक्तमति (व्युत्थानव्यवहारवाला)—ये दोनों ही अविद्या-मलरहित ब्रह्ममें ही केवल स्थित हैं। उनमें से एक यानी व्युत्थित पुरुष चंचल शरीरवाला स्थित रहता है और दूसरा शान्तदेह रहता है ॥ १५, १६ ॥

एक सदेह निर्मुक्त पुरुष सन्तापरहित स्थित रहता है, दूसरा शरीरत्याग करके मुक्त हुआ पुरुष वासनाशून्य होकर रहता है ॥ १७ ॥

आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतम् ।
न हृष्यति ग्लायति यः स मुक्त इति होच्यते ॥ १८ ॥
ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्येष्टानिष्टवस्तुषु ।
सुषुप्तवच्चरति यः स मुक्त इति कथ्यते ॥ १९ ॥
हेयोपादेयकलने ममेत्यहमिहेति च ।
यस्याऽन्तः संपरिक्षीणे स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ २० ॥
हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ।
न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ २१ ॥
सुषुप्तवत्प्रशमितभाववृत्तिना
स्थितं सदा जाग्रति येन चेतसा ।
कलान्वितो विधुरिव यः सदा मुदा
निषेव्यते मुक्त इतीह स स्मृतः ॥ २२ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।

निरन्तर यथासमय सुख-दुःखोंके आनेपर जिसको न हर्ष होता है, न विषाद होता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥ १८ ॥

जिस पुरुषके इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंमें इच्छा और द्वेष नहीं होते और जो पुरुष अज्ञानीकी दृष्टिमें इष्ट और अनिष्टरूपसे सम्मत वस्तुओंमें सुषुप्त पुरुषके तुल्य अनासक्त होकर व्यवहार करता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥ १९ ॥

शरीरमें और शरीरके सम्बन्धमें 'अहम्' (मैं), 'मम' (मेरा) ऐसी हेयोपादेय-कलना जिस पुरुषके अन्दर क्षीण हो गई है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥२०॥

हर्ष, रोष, भय, क्रोध, काम और कार्पण्यदृष्टियोंका जिसके हृदयमें स्पर्श नहीं होता, वह मुक्त कहलाता है ॥ २१ ॥

जो पुरुष जिसकी पदार्थोंमें आस्था शान्त हो गई, ऐसे चित्तसे युक्त होकर जागरणमें भी सदा सुषुप्तकी तरह स्थित रहता है और जैसे पूर्ण चन्द्रमा स्वाभाविक प्रसन्नतासे सेवित होते हैं वैसे ही जो स्वाभाविक हर्षसे सेवित होता है, वह इस लोकमें मुक्त कहा जाता है ॥ २२ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—मुनिजीके ऐसा कहनेपर दिन बीत गया। सूर्य

स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे तृष्णाचिकित्सा नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

एकादशो दिवसः

सप्तदशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

विदेहमुक्ता ये राम ते गिरामिह गोचरे।
नैव तिष्ठन्ति तस्मात्त्वं जीवन्मुक्तिमिमां शृणु ॥ १ ॥

अस्त हो गये। मुनियोंकी सभा महामुनिको प्रणाम कर सायंकालके कृत्यके लिए स्नान करने चली गई। रात्रि बीतनेपर सूर्यके किरणोंके साथ फिर मुनियोंकी सभा उपस्थित हो गई ॥ २३ ॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ दिवस

सत्रहवाँ सर्ग

[जिस प्रकारके निश्चयोंसे युक्त जीवन्मुक्त पुरुष बन्धनमें नहीं पड़ता और अज्ञ बन्धनमें पड़ता है, उनके विभागका पुनः वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीके इङ्गितोंसे इन्हें विदेहमुक्तका लक्षण जाननेकी इच्छा है, यह ताड़कर एक रूपसे उसके लक्षण आदिका अभाव होनेसे वहाँपर वाणियोंके कुण्ठीभावकथनसे ही निरतिशय, स्वप्रकाश, भूमानन्दका परिशेष ही विदेहमुक्तिका स्वरूप लक्षण है, यह सूचित करते हुए जीवन्मुक्तिलक्षणोंमें ही अवश्य उपादेय विशेषोंको कहनेके लिए वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'**विदेह०**' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जो लोग विदेहमुक्त हैं, वे वाणीके विषय नहीं ही हो सकते, इसलिए आप इस जीवन्मुक्तिको सुनिये ॥ १ ॥

प्राकृतान्येव कर्माणि यया वर्जितवाञ्छया ।
क्रियन्ते तृष्णयेमानि तां जीवन्मुक्ततां विदुः ॥ २ ॥
या स्थितिस्तृष्णया जन्तोर्बाह्यार्थे बद्धभावया ।
तं बन्धमाहुराचार्याः संसारनिगडं दृढम् ॥ ३ ॥
नूनमुज्झितसङ्कल्पा हृदि बाह्ये विहारिणी ।
वासना योदिता सेह जीवन्मुक्तशरीरिणी ॥ ४ ॥
बाह्यार्थव्यसनोच्छ्रना तृष्णा बद्धेति राघव ।
सर्वार्थव्यसनोन्मुक्ता तृष्णा मुक्तेति कथ्यते ॥ ५ ॥
पूर्वं यस्यास्तु तृष्णाया वर्तमानेऽपि शाश्वती ।
निर्दुःखता निष्कलता सा मुक्तेति बुधैः स्मृता ॥ ६ ॥

यदि कोई कहे, जीवन्मुक्तोंमें यदि तत्तद् वर्णाश्रमके उचित कर्मफलोंमें तृष्णा है, तो अज्ञानियोंकी तरह ही उन कर्मफलोंके भोगके लिए उनको भी देहरूप बन्धन प्राप्त होगा। यदि उनमें तत्तत् वर्णाश्रमके उचित कर्मफलोंमें तृष्णा नहीं है, तो उनकी उन कर्मोंमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी, क्योंकि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' ऐसा न्याय है, इस दोषका परिहार करनेके लिए ज्ञानी और अज्ञानीकी कर्ममें प्रवृत्ति करानेवाली शुद्ध और अशुद्ध तृष्णाकी विलक्षणताका उपपादन करते हैं—**'प्राकृतान्येव'** इत्यादिसे ।

विषयके आस्वादनमें उत्साहरहित जिस तृष्णासे तत्-तत् वर्णाश्रमके स्वभावसे प्राप्त किये गये ये कर्म किये जाते हैं, उस तृष्णाको जीवन्मुक्तता कहते हैं ॥ २ ॥

संसार सत्य है, इस बुद्धिसे जिसके द्वारा भोगोंमें उत्साह दृढ़ हो गया है, ऐसी तृष्णासे प्राणीकी बाह्य पदार्थोंमें जो आस्था है, उसे आचार्य लोग दृढ़ संसारनिगड़रूप बन्धन कहते हैं ॥ ३ ॥

भोग्य पदार्थोंमें 'ये मिथ्या हैं' इस निश्चयसे हृदयमें भोगसंकल्परहित और एकमात्र लोकसंग्रहके लिए बाह्य पदार्थोंमें विहार करनेवाली जो तृष्णा उदित होती है, वह जीवन्मुक्तोंके ही शरीरमें आश्रित है ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बाह्य विषयोंमें जो लम्पटता उससे बढ़ी-चढ़ी तृष्णा बद्ध कहलाती है । सम्पूर्ण पदार्थोंमें जो लम्पटता उससे रहित जो तृष्णा, वह मुक्त कहलाती है ॥ ५ ॥

विषयप्राप्तिके पहले और अन्तमें रागविरह आदिके कारण तृष्णाकी जो

इदमस्तु ममेत्यन्तर्यैषा राघव भावना ।
तां तृष्णां श‍ृङ्खलां विद्धि कलनां च महामते ॥ ७ ॥
तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा ।
संत्यज्य परमोदारः परमेति महामनाः ॥ ८ ॥
बन्धाशामथ मोक्षाशां सुखदुःखदशामपि ।
त्यक्त्वा सदसदाशां च तिष्ठाऽक्षुब्धमहाब्धिवत् ॥ ९ ॥
अजरामरमात्मानं बुद्ध्वा बुद्धिमतां वर ।
जरामरणशङ्काभिर्मा मनः कलुषं कृथाः ॥ १० ॥
पदार्थतत्त्वं नेदं ते नाऽयं त्वमसि राघव ।
किञ्चित्तदन्यदेवेदमन्य एवाऽसि राघव ॥ ११ ॥

दुःखशून्यता थी, वही शून्यता यदि विषयप्राप्तिकालमें भी निरन्तर रहे, तो वह तृष्णा विद्वानों द्वारा मुक्त कही गई है ॥ ६ ॥

हे महामते श्रीरामचन्द्रजी, यह मुझे प्राप्त हो, इस प्रकारकी हृदयमें जो भावना है, उसे आप तृष्णारूपी और कलनारूपी श‍ृङ्खला जानिये । उस तृष्णाका सत् और असत् सब पदार्थोंमें सदा त्याग कर परम उदार और महामना पुरुष जीवन्मुक्ति पदको प्राप्त करता है । देह आदि बन्धनकी आशाका, देह आदिकी निवृत्तिकी आशाका, * सुख-दुःखदशाका और सत्-असत्की आशाका भी त्याग कर प्रशान्त महासागरकी तरह आप स्थित होइये ॥ ७–९ ॥

हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, अजर, अमर आत्माको जानकर आप जरा व मरणकी शङ्कासे मनको कलुषित न कीजिये ॥ १० ॥

आशाके त्यागमें उपाय बताते हैं—**'पदार्थ०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह पदार्थरूपी दृश्य आपका नहीं है और आप भी यह नहीं हैं, यह परमार्थतत्त्वसे अन्य ही कुछ है और आप भी अन्य ही इससे हैं ॥ ११ ॥

---

* बन्ध मिथ्या है, ऐसा निश्चय होनेपर बन्धकी निवृत्तिके प्रार्थनीय न होनेके कारण उसमें आशात्याग स्वाभाविक है, क्योंकि जागता हुआ कोई पुरुष स्वप्नके निगडबन्धनसे छुटकारा पानेकी आशा नहीं रखता ।

असदभ्युदिते विश्वे सतीवाऽसति संस्थिते ।
त्वयि तत्तामतिगते तृष्णायाः सम्भवः कुतः ॥ १२ ॥
अन्यच्च राम मनसि पुरुषस्य विचारिणः ।
जायते निश्चयः साधो स्फाराकारश्चतुर्विधः ॥ १३ ॥
आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः ।
इत्येको निश्चयो राम बन्धायाऽसद्विलोकनात् ॥ १४ ॥
अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति द्वितीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम् ॥ १५ ॥
जगज्जालपदार्थात्मा सर्वमेवाऽहमक्षयः ।
तृतीयो निश्चयश्चेत्थं मोक्षायैव रघूद्वह ॥ १६ ॥
अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योमसमं सदा ।
एवमेष चतुर्थोऽन्यो निश्चयो मोक्षसिद्धये ॥ १७ ॥
निश्चयेषु चतुर्ष्वेषु बन्धाय प्रथमः स्मृतः ।
त्रयो मोक्षाय कथिताः शुद्धभावनयोत्थिताः ॥ १८ ॥

असत् उदित हुए इस असत् विश्वके सत्की तरह स्थित होनेपर और आपके उक्त विश्वताका अतिक्रमण करनेपर तृष्णाका सम्भव ही कहाँ हो सकता है? ॥१२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारवान् पुरुषके हृदयमें चार प्रकारका विस्तृत निश्चय होता है, उसे भी आप सुनिये ॥ १३ ॥

पैरसे लेकर सिरतक मैं माता-पिता द्वारा निर्मित हूँ, इस प्रकारका एक निश्चय है, हे श्रीरामचन्द्रजी, असदूदर्शनसे उक्त निश्चय बन्धके लिए है ॥ १४ ॥

मैं देह, इन्द्रिय आदि सब पदार्थोंसे परे, बालके अग्रभागसे भी सूक्ष्म हूँ, ऐसा दूसरा निश्चय सज्जनोंके मोक्षके लिए होता है ॥ १५ ॥

हे रघुवर, जगत्के सब पदार्थोंका स्वरूपभूत अविनाशी मैं ही सब कुछ हूँ, इस प्रकारका तीसरा निश्चय भी मोक्षका ही कारण है ॥ १६ ॥

मैं अथवा यह जगत् सब आकाशके तुल्य सदा शून्य ही है, इस प्रकारका यह चौथा निश्चय भी मोक्षसिद्धिके लिए होता है ॥ १७ ॥

इन निश्चयोंमें पहला निश्चय बन्धनके लिए कहा गया है, शुद्ध भावनासे उत्पन्न हुए शेष तीन मोक्षके लिए कहे गये हैं ॥ १८ ॥

एतेषां प्रथमः प्रोक्तस्तृष्णाया बन्धयोग्यता ।
शुद्धतृष्णास्त्रयः स्वच्छा जीवन्मुक्तविलासिनः ॥ १९ ॥
सर्वमात्माऽहमेवेति निश्चयो यो महामते ।
तमादाय विषादाय न भूयो याति मे मतिः ॥ २० ॥
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च व्यापको महिमाऽऽत्मनः ।
सर्वमात्मेति तेनाऽन्तर्निश्चयेन न बध्यते ॥ २१ ॥
शून्यं तत्प्रकृतिर्माया ब्रह्म विज्ञानमित्यपि ।
शिवः पुरुष ईशानो नित्य आत्मैव कथ्यते ॥ २२ ॥
सदा सर्वं सदेवेदं नेह द्वित्वान्यते क्वचित् ।
विद्येते विद्यया व्याप्तं जगन्नेतरया धिया ॥ २३ ॥

यदि कोई शङ्का करे, तृष्णाभेदके निरूपणके अवसरपर इस विभागकी क्या आवश्यकता है ? तो इसपर कहते हैं—**'एतेषाम्'** इत्यादिसे ।

इनमेंसे पहला निश्चय बन्धनका हेतु है, इसके रहनेपर ही तृष्णा बन्धक होती है। निर्दोष तृष्णावाले शेष तीन निश्चय स्वच्छ हैं। जीवन्मुक्त पुरुषोंमें ही वे विलास करते हैं ॥ १९ ॥

उनमें तीसरे निश्चयका प्रयोजन कहते हैं—**'सर्वम्'** इत्यादिसे ।

हे महामते, सर्वात्मा मैं ही सब कुछ हूँ, इस प्रकारका जो निश्चय है, उसे प्राप्त कर मेरी बुद्धि फिर विषादको प्राप्त नहीं होती है ॥ २० ॥

आत्माकी महिमा ऊपर-नीचे-तिरछे सर्वत्र व्यापक है, सभी आत्मा है, इस प्रकारके उस आन्तरिक निश्चयसे पुरुष बन्धनमें नहीं पड़ता ॥ २१ ॥

चौथा निश्चय शून्यवादीके मतमें प्रविष्ट है, इस शङ्काका वारण करते हुए कहते हैं—**'शून्यम्'** इत्यादिसे ।

परिशिष्ट, नित्य आत्मा ही वादियों द्वारा शून्य, प्रकृति, माया, ब्रह्म, विज्ञान, शिव, पुरुष, ईशान—इन शब्दोंसे कहा जाता है। अवस्तु इन शब्दोंसे नहीं कहा जाता ॥ २२ ॥

यह सब सदा सत् ही है, यहाँपर द्वित्व या अन्यत्व विद्यमान नहीं है । परमार्थस्वरूपदृष्टिसे सारा जगत् व्याप्त है, भ्रान्तिबुद्धिसे व्याप्त नहीं है ॥ २३ ॥

आपातालमनन्तात्मा पूरितोऽम्भोधिरम्बुभिः ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगदापूर्णमात्मना ॥ २४ ॥
अतः सत्यमृतं नित्यं नाऽनृतं विद्यते क्वचित् ।
वार्येव सकलाम्भोधिर्न तरङ्गादयः क्वचित् ॥ २५ ॥
पृथक्कटककेयूरनूपुरादि न काञ्चनात् ।
भिन्नास्तरुतृणाकारकोटयश्चैव नाऽऽत्मनः ॥ २६ ॥
द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्जगन्निर्माणलीलया ।
परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते ॥ २७ ॥
आत्मीये परकीये च सर्वस्मिन्नेव सर्वदा ।
नष्टे वोपचिते कार्ये सुखदुःखे गृहाण मा ॥ २८ ॥
भावाद्वैतमुपाश्रित्य सत्ताद्वैतमयात्मकः ।
कर्माद्वैतमनादृत्य द्वैताद्वैतमयो भव ॥ २९ ॥

जैसे असीम सागर पातालतक जलसे भरा हुआ है वैसे ही ब्रह्मासे लेकर पेड़-पौधों तक सारा जगत् आत्मासे पूर्ण है, इसलिए प्रमाणसे बोधित ब्रह्मैक्य ही नित्य और सत्य है, उससे अतिरिक्त मिथ्या जगत् कहीं नहीं है। जैसे कि सारा सागर जल ही है, तरङ्ग आदि कहींपर नहीं हैं, यह सिद्ध हुआ ॥ २४, २५ ॥

जैसे कड़ा, बाजूबन्द, नूपुर आदि सुवर्णसे पृथक् नहीं है, वैसे ही वृक्ष, तृण आदि करोड़ों आकार आत्मासे भिन्न नहीं हैं ॥ २६ ॥

तो जल-समुद्र आदिरूप जगत्में भेदाभेदप्रतीति कैसे होती है? इसपर कहते हैं—'**द्वैताद्वैत०**' इत्यादिसे।

परमात्ममयी अद्वैत शक्ति ही द्वैत और अद्वैतभेदसे जगन्निर्माणलीला द्वारा अज्ञोंके लिए विस्तारको प्राप्त होती है ॥ २७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वकीय अथवा परकीय पुत्र-मित्र आदि सारे जगत्के वृद्धिको प्राप्त होनेपर अथवा नष्ट होनेपर आप सुख-दुःखका ग्रहण कभी भी न कीजिये ॥ २८ ॥

मुझे किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, इसपर कहते हैं—'**भावाद्वैत०**' इत्यादिसे।

ब्रह्मके तुल्य ही आप परमार्थतः सत्ताद्वैतात्मक ही होकर व्यवहारकालमें

भवभूमिषु भीमासु भावभावनवात्यया ।
मा पतोत्पातपूर्णासु दरीष्वन्तः करी यथा ॥ ३० ॥

द्वैतं न संभवति चित्तमयं महात्म-
न्नात्मन्यथैक्यमपि न द्वितयोदितात्म ।
अद्वैतमैक्यरहितं सततोदितं सत्
सर्वं न किञ्चिदपि चाऽऽहुरतः स्वरूपम् ॥ ३१ ॥

नैवाऽहमस्ति न च नाम जगन्ति सन्ति
सर्वं च विद्यत इदं ननु निर्विकारम् ।
विज्ञानमात्रमवभासत एव शान्तं
नाऽसन्न सज्जगदिदं च सदेति विद्धि ॥ ३२ ॥

भी भावना द्वारा अद्वैतका ही आश्रयण कर तत्तत् प्राणियोंके कर्मफल देनेके समय ब्रह्मके सदृश ही वर्ण-आश्रमधर्मव्यवस्थापनके विषयमें अद्वैतका सर्वथा अनादर कर सर्वथा व्यवहार करते हुए यथायोग्य द्वैत-अद्वैत परायण होइये, भाव यह है कि अद्वैतमें कर्मोंकी ही सिद्धि न होनेके कारण एकरूपतासे सर्वत्र कथञ्चित् अद्वैताचरण करनेपर जगत्की व्यवस्था तथा धर्म-शास्त्र आदिका बाध होगा, इसलिए वहाँपर द्वैतका आश्रयण ही उचित है ॥ २९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप पदार्थोंकी भावनारूप आंधीसे भीषण, उत्पातोंसे भरी हुई जन्मभूमियोंमें, उत्पातपूर्ण गर्तोंमें हाथीके समान, मत गिरिये ॥ ३० ॥

परमार्थतः द्वैतका सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वह चित्तसे कल्पित ही है वास्तविक नहीं है। अन्यवादियोंने भी द्वित्वकी अपेक्षा बुद्धिसे उत्पत्ति तथा अपेक्षाबुद्धिके नाशसे नाश माना है। इसी प्रकार आत्मामें एकत्वनामक संख्यागुण भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी द्वित्व आदिके व्यावर्तकत्वरूपसे ही कल्पित होनेके कारण द्वित्वसे ही उदित हुआ है अतएव अद्वैत, ऐक्यसे भी रहित, अपनी सिद्धिमें अन्यकी अपेक्षा न रखनेके कारण सदा उदित, सन्मात्र ब्रह्म ऐक्यके निराससे सर्वरूप है और द्वैतके निराशसे कुछ भी नहीं है, क्योंकि 'तस्मात्तत् सर्वमभवत्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियाँ और उसके अनुभव करनेवाले ज्ञानी जन ऐसा कहते हैं ॥ ३१ ॥

न तो 'अहम्' है और न जगत् ही है; किन्तु यह सब निर्विकार, विज्ञानमात्र

परममृतमनाद्यं भासनं सर्वभासा-
मजरमजमचिन्त्यं निष्कलं निर्विकारम् ।
विगतकरणजालं जीवनं जीवशक्तेः
सकलकलनहीनं कारणं कारणानाम् ॥ ३३ ॥

सततमुदितमीशं व्यातते चित्प्रकाशे
स्थितमनुभवबीजं स्वात्मभावोपदेश्यम् ।
स्वदनमनु चितोऽन्तर्ब्रह्म सर्वं सदैव-
त्वमहमपि जगच्चेत्यस्तु ते निश्चयोऽन्तः ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे तृष्णाविच्छेदोपदेशो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

ही है, उसके साक्षात्कारमात्रसे शान्त हुए इस जगत्को सदा न तो असत् और न सत् जानिये ॥ ३२ ॥

परम, अमृत, अनादि, सब ज्योतियोंको भासित करनेवाला, अजर, अज, अचिन्त्य, निष्कल, निर्विकार, सब इन्द्रियोंसे रहित, प्राणके भी प्राणनमें निमित्तभूत, सब कलनाओंसे रहित, कारणोंके भी कारण, सदा उदित, ईश्वर, फैले हुए चिदाकाशमें स्थित, अनुभवोंके बीजस्वरूप, स्वरूपस्थिति द्वारा उपदेश देनेके योग्य, आन्तरानन्दैकरस ब्रह्म ही तुम, मैं और जगत् है उससे भिन्न कुछ नहीं है, इस प्रकारका निश्चय तुम्हारे हृदयमें हो ॥ ३३, ३४ ॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अष्टादशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

युक्ताशयानां महतामहतानां कुदृष्टिभिः ।
स्वभावोऽयं महाबाहो लीलया चरतामिह ॥ १ ॥
विहरन्नपि संसारे जीवन्मुक्तमना मुनिः ।
आदिमध्यान्तविरसा विहसेज्जागतीर्गतीः ॥ २ ॥
सर्वप्रकृतकार्यस्थो मध्यस्थः सर्वदृष्टिषु ।
ध्येयं तं वासनात्यागमवलम्ब्य व्यवस्थितः ॥ ३ ॥
सर्वत्र विगतोद्वेगः सर्वार्थपरिपोषकः ।
विवेकोद्योतदृष्टात्मा प्रबोधोपवनस्थितिः ॥ ४ ॥
सर्वातीतपदालम्बी पूर्णेन्दुशिशिराशयः ।
नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नाऽवसीदति ॥ ५ ॥

अट्ठारहवाँ सर्ग

[जिस स्थितिसे स्थित पुरुष संसारमें दुःखी नहीं होता, उस स्थितिका विस्तारपूर्वक श्रीरामचन्द्रजीके लिए उपदेश]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे आजानबाहु श्रीरामचन्द्रजी, समाहित चित्तवाले, काम, लोभ आदि कुदृष्टियोंसे अदूषित, इस संसारमें लीलापूर्वक विचरण कर रहे महात्माओंकी यह स्थिति आप सुनिये ॥ १ ॥

जीवन्मुक्त मनवाला मुनि इस संसारमें विचरण करते हुए भी पहले जन्म आदि दुःखोंसे, बीचमें आध्यात्मिक आदि दुःखोंसे और अन्तमें मृत्यु आदि दुःखोंसे विरस जगत्की गतियोंको ये परिहासके योग्य हैं, यों तुच्छ समझ कर देखे ॥२॥

तत्-तत् समयमें प्राप्त हुए सब उचित कार्योंमें स्थित, शत्रु, मित्र आदि दृष्टियोंमें सम, पूर्वोक्त ज्ञेय और ध्येय भेदसे वर्णित दो प्रकारके वासनात्यागोंमेंसे ध्येय वासनात्यागका अवलम्बन करके स्थित, सर्वत्र उद्वेगरहित, सब लोगोंके अभिमतका पोषक यानी किसीका भी अप्रिय न करनेवाला, विवेकरूपी प्रकाशसे आत्म-साक्षात्कारवान्, ज्ञानरूप उपवनमें स्थित, सर्वातीत पदका यानी ब्रह्मका अवलम्बन करनेवाला, पूर्ण चन्द्रमाके समान शीतल आशयवाला, न किसीसे उद्वेग करनेवाला और न किसीसे सन्तुष्ट होनेवाला पुरुष संसारमें दुःखी नहीं होता ॥ ३—५ ॥

सर्वशत्रुषु मध्यस्थो दयादाक्षिण्यसंयुतः ।
प्राप्तकर्मकरोऽर्य्याणां संसारे नाऽवसीदति ॥ ६ ॥
नाऽभिनन्दति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
मौनस्थः प्रकृतारम्भी संसारे नाऽवसीदति ॥ ७ ॥
पृष्टः सन् प्रकृतं वक्ति न पृष्टः स्थाणुवत्स्थितः ।
ईहितानीहितैर्मुक्तः संसारे नाऽवसीदति ॥ ८ ॥
सर्वस्याऽभिमतं वक्ता चोदितः पेशलोक्तिमान् ।
आशयज्ञश्च भूतानां संसारे नाऽवसीदति ॥ ९ ॥
युक्तायुक्तदशा ग्रस्तमाशोपहतचेष्टितम् ।
जानाति लोकदृष्टान्तं करकोटरबिल्ववत् ॥ १० ॥

सब शत्रुओंमें सम दृष्टि रखनेवाला, दया, दाक्षिण्य आदि गुणोंसे युक्त, गुरु आदि पूजनीय लोगोंके समयोचित सेवा, परिपालन आदि कार्य करनेवाला पुरुष संसारमें दुःखी नहीं होता ॥ ६ ॥

जो पुरुष प्राप्त प्रियका न अभिनन्दन करता है, न अप्रियका द्वेष करता है, न विनष्टका शोक करता है, न अप्राप्तकी आकाङ्क्षा करता है, मित भाषण करता है और आवश्यक काममें आलस्य नहीं करता है, वह संसारमें पीड़ित नहीं होता ॥७॥

जो पूछनेपर प्रस्तुत विषयको कहता है, बिना पूछे मौन होकर खम्भेकी तरह खड़ा रहता है, इच्छा और अनिच्छासे रहित वह पुरुष संसारमें दुःखी नहीं होता ॥ ८ ॥

सबका प्रिय कहनेवाला, अगर कोई आक्षेप करे तो चतुरतापूर्वक समाधान करनेवाला और प्राणियोंके आशयको जाननेवाला पुरुष संसारमें पीड़ित नहीं होता ॥ ९ ॥

यह युक्त है और यह अयुक्त है, इस प्रकार वैषम्य दृष्टिसे ग्रस्त, एवं आशासे जिसकी दृष्टि नष्ट है, ऐसे पुरुषसे किये-गये लोकदृष्टान्तको अपक्षपाती होनेके कारण हाथमें स्थित बिल्वफलके समान वह जानता है। भाव यह कि यदि एकका पक्षपात होता तो उस पक्षके दोष तथा दूसरे पक्षके गुण—राग-द्वेषसे आच्छन्न होनेके कारण—स्पष्ट नहीं भासित होते, अपक्षपातीको दोनों स्पष्टरूपसे भासित होते हैं ॥ १० ॥

परं पदमुपारूढो भङ्गुरां जागतीं स्थितिम् ।
अन्तःशीतलया बुद्ध्या हसन्निव निरीक्षते ॥ ११ ॥
जितचित्ता महात्मानो ये हि दृष्टपरावराः ।
स्वभाव ईदृशस्तेषां कथितस्तव राघव ॥ १२ ॥
वयं तु वक्तुं मूर्खाणामजितात्मीयचेतसाम् ।
भोगकर्दममग्नानां न विद्मोऽभिमतं मतम् ॥ १३ ॥
तेषामभिमता नार्यो भावाभावविभूषिताः ।
ज्वाला नरकवह्नीनां यास्ताः कनकरोचिषः ॥ १४ ॥
अनर्थगहनाश्चाऽर्था व्यर्थानर्थकदर्थनाः ।
दिशन्तो दुःखसंरम्भमभितः प्रहितापदः ॥ १५ ॥

परम पदमें आरूढ़ होकर वह विनाशको प्राप्त होनेवाली जगत्‌की स्थितिको, अन्तःशीतल अपनी बुद्धिसे उपहास करते हुए, देखता है ॥ ११ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिन लोगोंने अपने चित्तपर विजय प्राप्त कर ली है, जिन महात्माओंने परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है, उन लोगोंका ऐसा स्वभाव मैंने आपसे कहा ॥ १२ ॥

मुक्तोंकी स्थितिके समान बद्ध पुरुषोंकी स्थितिका भी उनके आशयके उद्घाटन द्वारा आप वर्णन कीजिये, ऐसा यदि श्रीरामचन्द्रजी कहें, तो मूर्खोंकी मनोरथयुक्त भ्रान्तियां, उनसे प्रयुक्त दुश्चेष्टाएँ तथा उनके फलभूत दुःखोंकी विचित्रताएँ अनन्त हैं, अतएव उनका वर्णन नहीं किया जा सकता, इस आशयसे कहते हैं—**'वयम्'** इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

जिन्होंने अपने चित्तपर विजय प्राप्त नहीं की एवं जो भोगरूपी कीचड़में डूबे हैं, ऐसे मूर्खोंके अभिमत मतको कहनेके लिए हमें परिज्ञान नहीं है । उन मूर्खोंको नारियाँ, जो विवेक-बुद्धियोंके अत्यन्ताभावसे, पूर्वसंचित पुण्योंके प्रध्वंसाभावसे और सम्भावित पुण्य, तप, संयम आदिके प्रागभावके परिपालनसे पैरसे लेकर मस्तकतक अलङ्कृत हैं अतएव जो सुवर्णकी कान्तिके समान कान्तिवाली नरकाग्नियोंकी ज्वाला हैं, अभिमत हैं और अनर्थोंसे भरे हुए यानी उपार्जन, रक्षण, व्यय और नाशमें बहुत आयास एवं अधर्मके निमित्तभूत, व्यर्थ अनर्थप्रयोजक कलह, वैर आदि क्लेशोंके कारण, संसारदुःखको देनेवाले तथा चारों ओरसे आपत्तियोंकी वर्षा करनेवाले धन अभिलषित हैं ॥ १३–१५ ॥

फलसन्धीनि कर्माणि नानाचारमयानि च ।
सुखदुःखावपूर्णानि तानि वक्तुं न शक्नुमः ॥ १६ ॥
पूर्णां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम् ।
जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर राघव ॥ १७ ॥
अन्तः संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः ।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राघव ॥ १८ ॥
उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान् ।
अन्तः सर्वपरित्यागी लोके विहर राघव ॥ १९ ॥
प्रविचार्य दशाः सर्वा यदतुच्छं परं पदम् ।
तदेव भावेनाऽऽलम्ब्य लोके विहर राघव ॥ २० ॥

यदि कोई कहे, इस प्रकारके धनसे भी यज्ञादि सत्कर्मोंका आचरण होनेसे उनका निस्तार हो सकता है, तो इसपर नहीं, ऐसा कहते हैं—**'फलसन्धीनि'** इत्यादिसे ।

मूर्खोंके जो यज्ञादि कर्म हैं, वे भी फलाभिलाषयुक्त ही हैं और विविध प्रकारके दम्भ, मान, मद, मात्सर्य आदि दुराचारोंसे पूर्ण हैं अतएव पुनर्जन्म आदिसे होनेवाले सुख-दुःखोंसे भरे हुए हैं, इसलिए मूर्खोंका कुछ भी निस्तारका हेतु हम नहीं कह सकते ॥ १६ ॥

इसलिए आप भी विद्वच्चरित्रसे ही विहार कीजिये, अन्यसे नहीं, ऐसा कहते हैं—**'पूर्णाम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ध्येयनामक वासनात्यागसे विलसित होनेवाली पूर्ण दृष्टिका अवलम्बन करके स्वस्थ हुए आप जीवन्मुक्तरूपसे विहार कीजिये ॥ १७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भीतर सब आशाओंका त्याग कर वीतराग, वासनारहित हुए आप बाहर सब कर्म आचारोंमें अनुवर्तनशील होकर लोकमें विहार कीजिये ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उदार, मधुर आचारवाले, सबके (अज्ञानियोंके भी) कर्म आदि आचारोंमें अनुवर्तनशील होकर भीतर सबका परित्याग करनेवाले आप लोकमें विहार कीजिये ॥ १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सब संसारदशाओं और परमार्थस्वरूपमें स्थितिरूप भिन्न-भिन्न भूमिका दशाओंका विचार करके जो परमार्थसत्य परम पद है, उसीका भावना द्वारा अवलम्बन कर आप लोकमें विहार कीजिये ॥ २० ॥

अन्तर्नैराश्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः ।
बहिस्तप्तोऽन्तराशीतो लोके विहर राघव ॥ २१ ॥
बहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः ।
कर्ता बहिरकर्ताऽन्तर्लोके विहर राघव ॥ २२ ॥
ज्ञातवानसि सर्वेषां भावानां सम्यगन्तरम् ।
यथेच्छसि तथा दृष्ट्या लोके विहर राघव ॥ २३ ॥
कृत्रिमोल्लासहर्षस्थः कृत्रिमोद्वेगगर्हणः ।
कृत्रिमारम्भसंरम्भो लोके विहर राघव ॥ २४ ॥
त्यक्ताहङ्कृतिराश्वस्तमतिराकाशशोभनः ।
अगृहीतकलङ्काङ्को लोके विहर राघव ॥ २५ ॥
आशापाशशतोन्मुक्तः समः सर्वासु वृत्तिषु ।
बहिः प्रकृतिकार्यस्थो लोके विहर राघव ॥ २६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भीतर निराशताका ग्रहण कर और बाहर आशान्वित पुरुषोंकी-सी चेष्टावाले अतएव धनादिनाश होनेपर बाहर संतप्तके समान संतप्त किन्तु भीतर चारों ओर शीतल आप लोकमें विहार कीजिये ॥ २१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बाहर कृत्रिम आडम्बरवाले और हृदयमें आडम्बरहीन, बाहर कर्ता और भीतर अकर्ता आप लोकमें विहार कीजिये ॥ २२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सब पदार्थोंका व्यवहारतः और परमार्थतः सारासार-तारतम्य जान चुके हैं, इसलिए आप जैसा चाहते हैं, वैसी दृष्टिसे लोकमें विहार कीजिये ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, कृत्रिमरूपसे उल्लास और हर्षमें स्थित, कृत्रिमरूपसे दुःखकी गर्हा करनेवाले और कृत्रिमरूपसे कार्याडम्बरसे युक्त आप लोकमें विहार कीजिये ॥ २४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अहङ्कारका त्याग कर चुके, स्वस्थ बुद्धिवाले और आकाशके सदृश सुन्दर एवं जिन्होंने कलङ्करूपी चिह्नका ग्रहण नहीं किया, ऐसे आप लोकमें व्यवहार कीजिये । चन्द्रमा रात्रिमें केवल मैं ही प्रकाशक हूँ, यों अहङ्कारयुक्त, क्षयरोगी होनेके कारण अस्वस्थबुद्धि तथा कलङ्कसे लांछित भी है, आप वैसे नहीं हैं, इस तरह इस श्लोक द्वारा चन्द्रमासे श्रीरामचन्द्रजीमें व्यतिरेक दर्शाया ॥ २५ ॥

हे राघव, सैकड़ों आशारूपी पाशोंसे उन्मुक्त, सब वृत्तियोंमें सम, बाहर तत्तत्

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति देहिनः परमार्थतः ।
मिथ्येयमिन्द्रजालश्रीः संसारपरिवर्तिनी ॥ २७ ॥
भ्रान्तिमात्रमिदं मोहाज्जगद्राघव दृश्यते ।
जनितप्रत्ययं स्फारं जलं तीव्रातपे यथा ॥ २८ ॥
अबद्धस्यैकरूपस्य सर्वगस्याऽऽत्मनः कथम् ।
बन्धः स्यात्तदभावे तु मोक्षः कस्य विधीयते ॥ २९ ॥
अतत्त्वज्ञानजातेयं संसारभ्रान्तिरातता ।
तत्त्वज्ञानात् क्षयं याति रज्ज्वामिव भुजङ्गधीः ॥ ३० ॥
ज्ञातवानसि तत्त्वं स्वमेकया सूक्ष्मया धिया ।
जातोऽसि निरहङ्कारो व्योमवत्तिष्ठ निर्मलः ॥ ३१ ॥

वर्णाश्रमस्वभावके उचित कार्योंमें अथवा प्रजाओंके हितकर कार्योंमें संलग्न आप लोकमें विहार कीजिये ॥ २६ ॥

सब वृत्तियोंमें सम, ऐसा जो ऊपर कहा है, उसका बन्ध-मोक्ष आदि विषमताके प्रतिषेध द्वारा उपपादन करते हैं—**'न बन्धः'** इत्यादिसे ।

देहीका परमार्थतः न बन्ध है और न मोक्ष है । यह मिथ्या इन्द्रजालश्री संसारमें भ्रमण करानेवाली है ॥ २७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जसे तेज धूपमें जलकी प्रतीति करानेवाला चु मृग-तृष्णाजल भ्रमवश दिखाई देता है, वैसे ही अज्ञानसे भ्रान्तिमात्र यह जगत् दिखाई देता है ॥ २८ ॥

देहीका बन्धन क्यों नहीं है, ऐसा प्रश्न होनेपर उसमें युक्ति दिखाते हैं—**'अबद्धस्य'** इत्यादिसे ।

असङ्ग, एकरूप, सर्वव्यापक, आत्माका बन्धन कैसे हो सकता है, जब वह बद्ध नहीं है, तो मोक्षका किसके लिए विधान हो सकता है ? ॥ २९ ॥

यह विशाल संसारभ्रान्ति अतात्त्विक ज्ञानसे उत्पन्न हुई है । तत्त्वज्ञानसे यह जैसे रज्जुमें सर्पबुद्धि चली जाती है वैसे ही नष्ट हो जाती है ॥ ३० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अपनी एकाग्र सूक्ष्मबुद्धिसे अपने तत्त्वको जान चुके हैं और अहङ्काररहित हो चुके हैं, इसलिए आप आकाशके तुल्य निर्मल होकर स्थित होइये ॥ ३१ ॥

ज्ञोऽसि त्वित्थं तदखिलाः सुहृद्बान्धववासनाः ।
संत्यजाऽसत्स्वभावस्य का नाम किल भावना ॥ ३२ ॥
अपि चेत्थं तदन्यस्त्वं सत्त्ववाननुमीयसे ।
इदं प्रथमतः प्राप्तं परमादपि कारणात् ॥ ३३ ॥
भोगबन्धुजगद्भावैः कर्मभिश्च शुभाशुभैः ।
आत्मनो नाऽस्ति संबन्धः किमेताननुशोचसि ॥ ३४ ॥
आत्मतत्त्वैकसारोऽहमिति जातधियो भयैः ।
न ते रामाऽस्ति संबन्धः किं बिभेषि जगद्भ्रमात् ॥३५॥
अजातस्य सतो बन्धोर्बन्धुदुःखसुखभ्रमैः ।
कस्ते राघव सम्बन्धो यदेताननुशोचसि ॥ ३६ ॥
त्वं चेद्बभूविथ पुरा तथेदानीं भविष्यसि ।
अद्य चेह स्थितोऽसीति ज्ञानवानसि निश्चयम् ॥ ३७ ॥

आप इस प्रकार साक्षी हैं, इसलिए मित्र, बन्धु, बान्धवोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सब वासनाओंका त्याग कीजिये । जिनका स्वरूप ही विद्यमान नहीं है, ऐसे बन्धु-बान्धवोंकी वासना कैसी ? ॥ ३२ ॥

इस प्रकार वासनाका त्याग होनेपर वासनाओंसे परिशिष्ट साक्षीरूप आपका परिशेषतः परमार्थसत्त्ववान्‌रूपसे अनुमान होता है । वासनाओंके त्यागके पहले परम कारण ब्रह्मसे प्रलय और सुषुप्तिमें नित्य प्राप्त हुआ भी यह आत्मतत्त्व परिच्छिन्न, असत्यरूप ही प्राप्त हुआ; किन्तु परमार्थसत्यरूप प्राप्त नहीं हुआ । इस प्रकार वासनात्याग ही आत्मप्राप्तिमें हेतु है, अन्य हेतु नहीं है । यह भाव है ॥३३॥

भोगोंसे, भोगसाधकबन्धुओंसे, जगत्‌के माला, चन्दन आदि पदार्थोंसे और उनकी प्राप्तिमें निमित्तभूत शुभ-अशुभ कर्मोंसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर इनके लिए आप व्यर्थ ही शोक क्यों करते हैं ? ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं, जिसका केवल आत्मतत्त्व ही एकमात्र परमानन्द सत्य है, ऐसा हूँ, इस प्रकारकी जिन्हें बुद्धि प्राप्त हो गई, ऐसे आपका भयके कारणोंसे सम्बन्ध नहीं है, फिर आप जगत्‌के भयसे क्यों डरते हैं ॥ ३५ ॥

मिथ्या होनेके कारण बन्धुके उत्पन्न न होनेपर उसके दुःख-सुखके भ्रमोंसे आपका कौन सम्बन्ध है ? जो आप इनके लिए शोक करते हैं ॥ ३६ ॥

इस प्रकार आत्माके असङ्गत्व, अद्वितीयत्वके दर्शनसे शोकको असम्भव कहा है

तदानन्तरगानन्यान्प्राणादीन्निकटस्थितान् ।
बन्धूनतीतान्सुबहून् कस्मात्त्वं नाऽनुशोचसि ॥ ३८ ॥
पूर्वमन्यस्तथेदानीं त्वभूविथ भविष्यसि ।
यदि राम तथापि त्वं सद्रूपं किं विमुह्यसि ॥ ३९ ॥
पुरा भूत्वाऽद्य भूत्वा च भूयश्चेन्न भविष्यसि ।
तथापि क्षीणसंसारः किमर्थमनुशोचसि ॥ ४० ॥
तस्मान्न दुःखिता युक्ता प्राकृते जागते क्रमे ।
तथैव मुदिता युक्ता युक्तं कार्यानुवर्त्तनम् ॥ ४१ ॥

अब भले ही आत्मा सङ्गी हो, तथापि वह नित्य है या क्षणिक है या प्रागभाव या घटादिके समान कालान्तरमें नष्ट होनेवाला है ? इन सभी पक्षोंमें बन्धुके लिए शोक करना उचित नहीं है, यों प्रगल्भतासे समाधान करनेकी इच्छासे श्रीवसिष्ठजी पहला पक्ष लेकर कहते हैं—**'त्वम्'** इत्यादिसे ।

आप यदि पूर्व जन्मोंमें हुए थे, भावी जन्मोंमें होंगे और इस सयय इस जन्ममें स्थित हैं, इस प्रकारके स्वभाववाले आत्माको निश्चयरूपसे जान चुके हैं, तो विद्यमान और निकटस्थित बन्धुओंके समान अतीत और बहुत-से प्राणोंके समान प्यारे बन्धुओंका शोक क्यों नहीं करते हैं ? भाव यह कि विनिगमना-विरहसे सबमें शोक न होनेके कारण कहीं शोक करना उचित नहीं है ॥३७,३८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले आप अन्य हुए थे, इस समय अन्य हैं और आगे भी अन्य होंगे इस प्रकार क्षणिक आत्माको यदि आप जानते हैं, फिर भी आप सद्रूपका अवलम्बन करके क्यों शोक करते हैं, दूसरे क्षणमें शोच्य और शोचिताका अभाव होनेसे शोकका अवसर ही नहीं है, यह दूसरा पक्ष है ॥ ३९ ॥

तीसरे पक्षमें कहते हैं—**'पुरा'** इत्यादिसे ।

पहले उत्पन्न होकर और इस समय उत्पन्न होकर फिर आप आगे नहीं उत्पन्न होंगे, तथापि अपने नष्ट होनेके कारण क्षीणसंसार (जिसका संसार क्षीण हो गया हो) आप किसलिए शोक करते हैं ॥ ४० ॥

जब कि आत्माके जन्म आदिका सङ्गी होनेपर भी शोक युक्त नहीं है, तब फिर असङ्ग, उदासीन, नित्य, कूटस्थ, स्वप्रकाश, पूर्ण, आनन्दैकरस आत्मामें शोक उचित नहीं, इसमें कहना ही क्या है, इस आशयसे उपसंहार करते हैं— **'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

मा गच्छ दुःखितां राम सुखितामपि मा व्रज ।
समतामेहि सर्वत्र परमात्मा हि सर्वगः ॥ ४२ ॥
अनन्तः सत्स्वरूपस्त्वं खमिवाऽतिततान्तरम् ।
प्रकाशो नित्यशुद्धस्त्वं ज्वालानामिव कोटरम् ॥ ४३ ॥
जागतानां पदार्थानामदृष्टात्मतनुस्तनुः ।
हृत्स्थोऽसि हारमुक्तानामेकस्तन्तुरिवाऽऽततः ॥ ४४ ॥
संसारस्थितिरेवेयं यद्भूत्वा भूयते पुनः ।
अज्ञेनैव न तज्ज्ञेन ज्ञोऽसि राम सुखी भव ॥ ४५ ॥
स्वरूपमिदमस्यास्तु संसृतेः सतताधिमत् ।
अज्ञानात् स्फारतामेति ज्ञानवानसि सन्मते ॥ ४६ ॥
रूपं किमन्यद्भवतु भ्रममात्रादृते भ्रमे ।
स्वप्नमात्रादृते स्वप्ने भवत्यन्यो हि कः क्रमः ॥ ४७ ॥

इसलिए मायिक जगत्के क्रममें दुःखिता उचित नहीं है; किन्तु स्वाभाविक सन्तोषवृत्ति ही उचित है तथा स्वाभाविक कार्योंका अनुवर्तन उचित है ॥ ४१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप दुःखी न होइये और सुखी भी न होइये। सब जगह आप समताको प्राप्त होइये; क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक है ॥ ४२ ॥

अनन्त, सत्स्वरूप आप व्यापक आकाशके समान हैं तथा ज्वालाओंके मध्यभागके समान प्रकाशमान और नित्यशुद्ध हैं। जैसे ज्वालाओंके चारों ओरसे प्रभासे व्याप्त मध्यभागमें अन्धकारका अवकाश नहीं है, वैसे ही आपमें भी अज्ञान, दुःख आदिका अवसर नहीं है, यह भाव है ॥ ४३ ॥

आप ही सबके अन्तरात्मा हैं, ऐसा कहते हैं—'**जागतानाम्**' इत्यादिसे।

जिनका स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं हुआ, ऐसे सूक्ष्म आप हारभूत मोतियोंके दीर्घ एक तन्तुके समान सब जगत्के पदार्थोंके अन्दर स्थित हैं ॥ ४४ ॥

यह संसारकी स्थिति ही है कि अज्ञको ही उत्पन्न होकर फिर उत्पन्न होना पड़ता है, ज्ञानीको नहीं। हे श्रीरामचन्द्रजी आप ज्ञानी हैं, आप सुखी होइये ॥४५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसारका यह स्वरूप दुःखोंसे पूर्ण है, अज्ञानसे ही यह विस्तारको प्राप्त होता है। हे सन्मते, आप ज्ञानवान् हैं ॥ ४६ ॥

भ्रममें एकमात्र भ्रमके सिवाय और दूसरा रूप क्या हो सकता है। स्वप्नमें

सर्वशक्तेरियं शक्तिर्भ्रममात्रमयं तथा ।
राम दृश्यत एवेदमाभानमतिभास्वरम् ॥ ४८ ॥
सुबन्धुः कस्यचित्कः स्यादिह नो कश्चिदप्यरिः ।
सदा सर्वे च सर्वस्य सर्वं सर्वेश्वरेच्छया ॥ ४९ ॥
आलूनशीर्णमखिलमिदमन्योन्यसंश्रितम् ।
अनारतं याति जगत्तरङ्गौघ इवाऽम्भसः ॥ ५० ॥
अध ऊर्ध्वत्वमायाति यात्यूर्ध्वत्वमधस्तथा ।
संसारस्य चलस्याऽस्य चक्रनेमिरिवाऽभितः ॥ ५१ ॥
स्वर्गस्था नरकं यान्ति नारकाश्च त्रिविष्टपम् ।
योनेर्योन्यन्तरं यान्ति द्वीपाद् द्वीपान्तरं जनाः ॥ ५२ ॥

एकमात्र स्वप्नको छोड़कर अन्य कौन क्रम हो सकता है । भाव यह है कि अन्य भ्रान्तियोंमें वास्तविकताकी प्रसिद्धि न होनेके कारण इसमें भी कोई वास्तविकता नहीं है ॥ ४७ ॥

जो निस्तत्त्व है, वह सत्यरूपसे कैसे दिखाई देता है, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'सर्वशक्तेः'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वशक्तिकी यह शक्ति है, जो कि भ्रममात्रमय यह जगदाकारभान अतिस्फुट दिखाई देता है ॥ ४८ ॥

जगत्‌की भ्रममात्रताके प्रदर्शनके लिए उसकी अनियतस्वभावता दिखलाते हैं—**'सुबन्धुः'** इत्यादिसे ।

यहाँपर कोई किसीका सुबन्धु नहीं है, कोई किसीका शत्रु भी नहीं है, सर्वेश्वर भगवान्‌की इच्छासे सब सबके सब (शत्रु, मित्र और उदासीन) होते हैं ॥४९॥

परस्परका निमित्तभूत और जर्जरित यह सारा जगत् जलके तरङ्गोंके समूहके समान सदा बहता है ॥ ५० ॥

इस चञ्चल संसारका चक्रनेमिके (पहियेके घेरेके) समान चारों ओरसे नीचेका भाग ऊपर आता है और ऊपरका भाग नीचे आता है ॥ ५१ ॥

स्वर्गके लोग नरकमें जाते हैं और नारकीय लोग स्वर्गको जाते हैं । लोग एक योनिसे दूसरी योनिमें और एक द्वीपसे दूसरे द्वीपमें जाते हैं ॥ ५२ ॥

धीराः कार्पण्यमायान्ति कृपणा यान्ति धीरताम् ।
परिस्फुरन्ति भूतानि पातोत्पातशतभ्रमैः ॥ ५३ ॥
एकरूपस्थिरं चक्रं स्वच्छं सन्तापवर्जितम् ।
नेह संप्राप्यते किञ्चिदग्नौ हिमकणो यथा ॥ ५४ ॥
ये ये नाम महाभागा बहवो बान्धवास्तथा ।
विनष्टा एव दृश्यन्ते ते ते कतिपयैर्दिनैः ॥ ५५ ॥
परतात्मीयतान्यत्वत्वत्त्वमत्त्वादिभावना ।
नेह सत्या महाबाहो द्विचन्द्रादिदृशो यथा ॥ ५६ ॥
अयं बन्धुः परश्चाऽयमयं चाऽहमयं भवान् ।
इति मिथ्यादृशो राम विगलन्तु तवाऽधुना ॥ ५७ ॥
क्रीडार्थं व्यवहारस्थ एताभिर्हतदृष्टिभिः ।
आमूलमन्तश्छिन्नाभिर्बहिर्विहर हेलया ॥ ५८ ॥
संसारसरणावस्यां तथा विहर सुव्रत ।
न यथैव श्रमश्रान्तो वासनाभारवानिव ॥ ५९ ॥

धीर लोग दीनताको प्राप्त होते हैं और दीन धीरताको प्राप्त होते हैं। अधोगति, ऊर्ध्वगति आदि सैकड़ों भ्रमोंसे प्राणी परिस्फुरित होते हैं ॥ ५३ ॥

यह पदार्थसमूह एकरूपसे स्थित, स्वच्छ और सन्तापरहित है। जैसे अग्निमें हिमकण प्राप्त नहीं होता वैसे ही यहाँ कुछ भी नहीं प्राप्त होता ॥ ५४ ॥

जो-जो महाभाग्यशाली बहुत-से बान्धव हैं, वे सब कुछ ही दिनोंमें नष्ट हुए ही देखनेमें आते हैं। हे महाबाहो, परता, आत्मीयता, अन्यता, त्वत्ता, मत्ता इत्यादि भावनाएँ द्विचन्द्रदर्शनके समान सत्य नहीं हैं ॥ ५५, ५६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह बन्धु है, यह शत्रु है, यह मैं हूँ, यह आप हैं, इस प्रकारकी आपकी मिथ्यादृष्टियाँ अब छिन्न-भिन्न हो जायँ ॥ ५७ ॥

क्रीड़ाके लिए व्यवहारमें स्थित आप भीतर अज्ञान और वासनाके साथ छिन्न-भिन्न हुई, बाधित अनुवृत्तिवाली इन दृष्टियोंसे आनन्दपूर्वक बाहर व्यवहार कीजिये ॥ ५८ ॥

हे सुव्रत श्रीरामचन्द्रजी, वासनाभारवान्‌की यानी अज्ञानीकी तरह जैसे आप श्रमसे परिश्रान्त न हों, वैसे इस संसारमार्गमें आप विहार कीजिये ॥ ५९ ॥

यथा यथैषा कार्याणि वासनाक्षयकारिणी ।
विचारणा तवोदेति संशाम्यन्ति तथा तथा ॥ ६० ॥
अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु विगतावरणैव धीः ॥ ६१ ॥
न तदस्ति न यत्राऽहं न तदस्ति न यन्मम ।
इति निर्णीय धीराणां विगतावरणैव धीः ॥ ६२ ॥
नाऽस्तमेति न चोदेति यश्चिदाकाशवन्महान् ।
सर्वं संपश्यति स्वस्थः खस्थो भूमितलं यथा ॥ ६३ ॥
सर्वा एव हि ते भूतजातयो राम बन्धवः ।
अत्यन्तासंयुता एतास्तव राम न काश्चन ॥ ६४ ॥

वासनाओंका क्षय करनेवाली यह विचारणा जैसे-जैसे आपमें उदित होती है वैसे-वैसे व्यवहार बन्द होते जाते हैं। यह बन्धु है, यह बन्धु नहीं है, ऐसी गणना सङ्कुचित चित्तवाले पुरुषोंमें होती है, उदाराशय पुरुषोंकी तो बुद्धि आवरणशून्य (यही बन्धु है, इस प्रकारके परिच्छिन्नतारूप आवरणसे रहित) यानी सर्वत्र समदर्शिनी है ॥ ६०,६१ ॥

वह वस्तु नहीं है, जहाँपर मैं नहीं हूँ; वह वस्तु नहीं है, जो मेरी न हो, ऐसा निश्चय कर धीर पुरुषोंकी बुद्धि पूर्वोक्त आवरणसे रहित ही होती है ॥ ६२ ॥

जो पुरुष महान् है, वह चिदाकाशके समान न तो अस्तको प्राप्त होता है और न उदित होता है, जैसे आकाशमें स्थित पुरुष भूतलको देखता है, वैसे ही वह स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो सबको देखता है ॥ ६३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सभी भूतजातियाँ आपके बन्धुभूत हैं, क्योंकि अनादि संसारमें सब योनियोंमें बहुत बार आपने जन्म लिया है। ये सब आपकी बन्धुतासे अत्यन्त असंबद्ध नहीं हैं, क्योंकि पारा-पारीसे सबके साथ आपका सम्बन्ध है। अथवा देहद्वारक परम्परासम्बन्धकी अपेक्षा सब जीवोंके साथ ऐकात्म्य सम्बन्ध अन्तरङ्ग है, अतएव उस सम्बन्धसे अत्यन्त असम्बद्ध कोई नहीं है, यह भाव समझना चाहिये ॥ ६४ ॥

विविधजन्मशताहितसंभ्रमे जगति बन्धुरबन्धुरितीक्षणम् ।
भ्रमदशैव विवल्गति वस्तुतस्त्रिभुवनं चिरबन्धुरबन्ध्वपि ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
जीवन्मुक्तवर्णनं नाम अष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भ्रात्रोस्त्रिपथगातीरे संवादं मुनिपुत्रयोः ॥ १ ॥
अयं बन्धुरयं नेति कथाप्रस्तावतः स्मृतम् ।
इतिहासमिमं पुण्यमाश्चर्यं शृणु राघव ॥ २ ॥

जहाँ नाना योनियोंसे विचित्र सैकड़ों जन्मोंसे यह भ्रम निहित है, ऐसे इस जगत्में यह बन्धु है, यह बन्धु नहीं है, यह भेददर्शन भ्रमके सिवाय और कुछ नहीं है, वस्तुतः तो जीवभावदृष्टिमें तीनों भुवनोंके समस्त जीव अपने बन्धु ही हैं और ब्रह्मभावदृष्टिमें तो स्वयं ही सब कुछ है, इसलिए त्रिभुवनस्थ सब जीव ही अबन्धु भी हैं ॥ ६५ ॥

अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

[पूर्वोक्त कथनकी सिद्धिके लिए पुण्य और पावनके आख्यानका वर्णन, जिसमें पुण्यने पितृशोकार्त पावनको ज्ञानोपदेश दिया]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त विषयमें ही मुनिपुत्र दो भाइयोंके गङ्गाजीके तटपर हुए संवादरूप इस प्राचीन इतिहासको विद्वान् लोग कहते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह बन्धु है, यह बन्धु नहीं है, इस कथाके सिलसिलेमें मुझे इसका स्मरण हो आया है। आप इस पवित्र और अद्भुत इतिहासको सुनिये ॥ १, २ ॥

अस्त्यस्य जम्बूद्वीपस्य कस्मिंश्चिद्गिरिकुञ्जके ।
वनव्यूहमहोत्तंसो महेन्द्रो नाम पर्वतः ॥ ३ ॥
कल्पद्रुमवनच्छायाविश्रान्तमुनिकिन्नरः ।
शृङ्गैराततमाकाशं जितवान् यः समुन्नतैः ॥ ४ ॥
ब्रह्मलोकान्तरप्राप्तशृङ्गकन्दरचारिभिः ।
सामवेदप्रतिध्वानघुंघुमैर्गायतीव यः ॥ ५ ॥
यः पयोमेदुरैर्मेघैर्लसितैः शृङ्गकोटिषु ।
लताकुसुमसंप्रोतैः कुन्तलैरिव राजते ॥ ६ ॥
यस्तदोड्डयनोत्कानां शरभाणां विजृम्भितैः ।
विस्फूर्जति गुहावक्त्रैः कल्पाभ्राणि हसन्निव ॥ ७ ॥
येन निर्झरनिर्ह्रादैः कन्दरान्तरचारिभिः ।
समुद्रजलकल्लोलविलासो विजितोऽभितः ॥ ८ ॥
तस्यैकदेशे वितते रत्नसानौ मनोरमे ।
मुनिभिः स्नानपानार्थं व्योमगङ्गाऽवतारिता ॥ ९ ॥
तस्यास्त्रिपथगायास्तु तीरे विकसितद्रुमे ।
रत्नाद्रितटविद्योते कचत्कनकपिञ्जरे ॥ १० ॥

इस जम्बूद्वीपके किसी पर्वतसमूहके मध्यमें महेन्द्रनामक पर्वत है, जिसकी वन-राजियां महामुकुटभूत हैं, जिसके कल्पवृक्षके वनोंकी छायामें मुनि और किन्नर विश्राम लेते हैं, जिसने अपने गगनचुम्बी शिखरोंसे विस्तृत आकाशको भी व्याप्त कर दिया है, जो ब्रह्मलोकके भीतर पहुँचे हुए शिखरोंकी गुफाओंमें फैल-रहे साम-वेदकी प्रतिध्वनियोंके कोलाहलोंसे मानो गान करता है, जो शिखरोंकी चोटियोंपर बिजलीसे सुशोभित नीले मेघोंसे, जो लताके फूलोंसे गुँथे हुए केशोंके समान दिखते हैं, सुशोभित होता है, जो उस समय तटोंमें उछलनेके लिए उत्कण्ठित शरभोंके विजृम्भणोंसे अपने गुहारूपी मुँहों द्वारा प्रलयकालके मेघोंका उपहास करता हुआ-सा गर्जता है, जिसने गुफाओंके अन्दर होनेवाले झरनोंके कलरवसे समुद्रजलकल्लोलोंके विलासको सर्वथा जीत लिया है ॥ ३–८ ॥

उसके एकभाग, रत्नमय, मनोहर, विस्तृत शिखरपर मुनियोंने स्नान, जलपान आदिके लिए आकाशगङ्गाको उतार लिया था ॥ ९ ॥

उस आकाशगङ्गाके देदीप्यमान सुवर्ण-से पीले तटपर, जहाँ फूले हुए

आसीदभ्युदितज्ञानस्तपोराशिरुदारधीः ।
मुनिर्दीर्घतपा नाम तपो मूर्तमिवाऽपरम् ॥ ११ ॥
मुनेर्बभूवतुस्तस्य पुत्रौ द्वाविन्दुसुन्दरौ ।
पुण्यपावननामानौ द्वौ कचाविव वाक्पतेः ॥ १२ ॥
स ताभ्यां सह पुत्राभ्यां भार्यया च सहैकया ।
उवास सरितस्तीरे तस्मिन् सफलपादपे ॥ १३ ॥
अथ काले तयोस्तस्य पुत्रयोर्ज्ञानवानभूत् ।
पुण्यो नाम च यो ज्येष्ठो गुणज्येष्ठश्च राघव ॥ १४ ॥
पावनोऽर्द्धप्रबुद्धोऽभूत् पूर्वसन्ध्याम्बुजं यथा ।
मौर्ख्यादधिगतो नाऽऽप्तः पदे दोलायितः स्थितः ॥ १५ ॥
ततो वहत्यकलिते काले कलितकारणे ।
संवत्सरशते जीर्णदीर्घदेहलतायुषि ॥ १६ ॥
अस्माद्भङ्गुरभूताढ्याद् वृत्तान्तशतभीषणात् ।
रतिमुत्सृज्य संसाराज्जराजर्जरजीवितः ॥ १७ ॥

वृक्ष थे और रत्नमय पर्वतके तटका प्रकाश जगमगाता था, ज्ञानवान् , तपस्याकी राशिरूप, उदारबुद्धि दीर्घतपानामक मुनि, जो मूर्तिमान् दूसरे तपरूप थे, निवास करते थे ॥ १०, ११ ॥

उस मुनिके चन्द्रमाके तुल्य सुन्दर पुण्य और पावन नामके दो लड़के थे, यदि बृहस्पतिके कच नामके दो पुत्र होते, तो उनसे उनकी उपमा हो सकती॥१२॥

दीर्घतपा मुनि उन दोनों पुत्रों और भार्याके साथ फलसे लदे हुए वृक्षोंसे पूर्ण उस गङ्गातटपर निवास करते थे ॥ १३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, समय बीतनेपर उनके दो लड़कोंमें-से पुण्य नामवाला लड़का तत्त्वज्ञानी हुआ, जो अवस्थासे ज्येष्ठ और गुणोंसे भी ज्येष्ठ था ॥ १४ ॥

पावन प्रातःकालकी सन्ध्याके कमलके समान अर्धप्रबुद्ध हुआ । मूर्खतासे तो बाहर हो गया, किन्तु परमात्मवस्तुमें प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए उसकी स्थिति मध्यमें दोलायमान थी ॥ १५ ॥

तदनन्तर प्राणियों द्वारा आयुके क्षयरूपसे अलक्षित सौ संवत्सर कालके, जिसने उनकी दीर्घ देहरूपी लता और आयु जीर्ण कर दी-थी, बीतनेपर इस क्षणभङ्गुर प्राणियोंसे पूर्ण, जन्म, जरा, मरण, स्वर्गसे पतन, नरक आदि सैकड़ों

कलनापक्षिणीनीडं देहं दीर्घतपा मुनिः ।
जहौ गिरिगुहागेहे भारं वैवधिको यथा ॥ १८ ॥

प्रशान्तकलनारम्भं चेत्यरिक्तचिदास्पदम् ।
पदं जगाम नीरागं पुष्पगन्ध इवाऽम्बरम् ॥ १९ ॥

अथ भार्या मुनेर्देहं प्राणापानविवर्जितम् ।
दृष्ट्वा विलुलितं भूमौ विनालमिव पङ्कजम् ॥ २० ॥

चिरमभ्यस्तया योगयुक्त्या पतिवितीर्णया ।
तत्याज तनुमम्लानां षट्पदी पद्मिनीमिव ॥ २१ ॥

भर्त्तारमेवाऽनुययौ जनस्याऽदृष्टतां गता ।
प्रभा गगनकोशस्थमस्तं यातमिवोडुपम् ॥ २२ ॥

मातापित्रोस्तु गतयोरौर्ध्वदेहिककर्मणि ।
पुण्य एव स्थितोऽव्यग्रः पावनो दुःखमाययौ ॥ २३ ॥

वृत्तान्तोंसे भयङ्कर संसारका अनुराग त्याग कर जरासे जर्जरित जीवनवाले दीर्घतपा मुनिने गिरिगुफारूपी घरमें कलनारूपी चिड़ियाके घोंसलेरूप देहका, जैसे भारवाहक पुरुष घरमें भारका त्याग करता है, वैसे ही त्याग किया ॥ १६–१८ ॥

जैसे फूलकी सुगन्ध आकाशमें जाती है, वैसे ही जिसमें कलनाके कार्य शान्त हैं एवं चेत्यसे रहित जो तत्तद् जीवचेतन हैं, उनके स्थानभूत रागरहित परम पदको वे प्राप्त हुए ॥ १९ ॥

तदनन्तर मुनिकी पत्नीने प्राण और अपानसे रहित मुनिकी देहको नालरहित कमलके समान गिरी हुई देखकर पति द्वारा सिखाई गई चिरकालसे अभ्यस्त योगक्रियासे अपने शरीरका, जो रोग, बुढ़ापे आदिसे जर्जरित नहीं हुआ था, ऐसे त्याग किया, जैसे भँवरी अम्लान कमलनीका त्याग करती है ॥ २०, २१ ॥

लोगोंकी अदृश्यताको प्राप्त उसने जैसे प्रभा आकाशमें स्थित अस्तको प्राप्त हुए चन्द्रमाका अनुसरण करती है वैसे ही पतिका ही अनुसरण किया ॥ २२ ॥

माता-पिताके चले जानेपर उनके और्ध्वदेहिक कर्ममें पुण्य ही अव्यग्रता-पूर्वक स्थित रहा और पावन दुःखको प्राप्त हुआ ॥ २३ ॥

शोकोपहतचित्तोऽसौ भ्रमन् काननवीथिषु ।
ज्यायांसमनवेक्ष्यैव पावनो विललाप ह ॥ २४ ॥
अथौर्ध्वदेहिकं कृत्वा मातापित्रोरुदारधीः ।
आययौ विपिने पुण्यः पावनं शोकलालसम् ॥ २५ ॥

पुण्य उवाच

किं पुत्र घनतां शोकं नयस्यान्ध्यैककारणम् ।
बाष्पधाराधरं घोरं प्रावृट्काल इवाऽऽम्बुजम् ॥ २६ ॥
पिता तव महाप्राज्ञ गतः सार्धं त्वदम्बया ।
स्वामेव परमात्मात्मपदवीं मोक्षनामिकाम् ॥ २७ ॥
तत्स्थानं सर्वजन्तूनां तद्रूपं विजितात्मनाम् ।
स्वभावमभिसम्पन्ने किं पितर्यनुशोचसि ॥ २८ ॥
ईदृशी तु त्वया बद्धा भावनेह विमोहजा ।
संसारे यदशोच्योऽपि त्वया तातोऽनुशोच्यते ॥ २९ ॥

शोकसे व्याकुल चित्तवाला वह पावन अरण्यभूमियोंमें घूमता हुआ अपने ज्येष्ठ भाईके समान धैर्यका अवलम्बन न कर विलाप करता था ॥ २४ ॥

तत्त्वज्ञानी पुण्य माता-पिताका और्ध्वदेहिक कर्म समाप्त कर वनमें शोकसे व्याकुल पावनके समीप आया ॥ २५ ॥

पुण्यने कहा—हे वत्स, जैसे वर्षा ऋतु अन्धताकी एकमात्र कारण तथा भाफके समूहको धारण करनेवाली जल-सम्बन्धी गर्मीको मेघ बना देती है, वैसे ही तुम अन्धताके एकमात्र कारण तथा अश्रुओंकी धारा धारण करनेवाले कमलसदृश-नेत्रसम्बन्धी घोर शोकको निविड़ बना रहे हो ॥ २६ ॥

हे महाप्राज्ञ, तुम्हारे पिता तुम्हारी माताके साथ स्वरूपभूत, मोक्षनामक परमात्मपदवीको प्राप्त हो गये हैं ॥ २७ ॥

वही सब जन्तुओंका—उत्पत्ति आदि तीनों कालोंमें—आधारभूत है । ब्रह्म-वेत्ताओंका वह स्वरूप है । पिताके अपने स्वरूपको प्राप्त हो जानेपर तुम क्यों शोक करते हो ? ॥ २८ ॥

तुमने, यही मेरी माँ है, यही मेरे पिता हैं, इस प्रकारकी मोहसे उत्पन्न हुई भावना यहाँपर बाँध रक्खी है, जिससे शोकके अयोग्य भी पिताका तुम शोक करते हो ॥ २९ ॥

न सैव भवतो माता नाऽसावेव पिता तव ।
न भवानेष तनयस्तयोर्निःसंख्यपुत्रयोः ॥ ३० ॥
मातापितृसहस्राणि समतीतानि ते सुत ।
बहून्यम्बुप्रवाहस्य निम्नानीव वने वने ॥ ३१ ॥
असंख्यपुत्रयोर्नैव भवानेव सुतस्तयोः ।
सरित्तरङ्गवत् पुत्र गताः पुत्रगणा नृणाम् ॥ ३२ ॥
अस्मत्पित्रोरतीतानि पुत्रलक्षाण्यनेकशः ।
पत्रकोरकवृन्तानि लताविटपयोरिव ॥ ३३ ॥
मित्रबान्धववृन्दानि जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ।
ऋतावृतावतीतानि फलानीव महातरोः ॥ ३४ ॥
शोचनीया यदि स्नेहान्मातापितृसुताः सुत ।
तदतीता न शोच्यन्ते किमजस्रं सहस्रशः ॥ ३५ ॥
प्रपञ्चोऽयं महाभाग दृश्यते जागते भ्रमे ।
परमार्थेन ते प्राज्ञ नाऽस्ति मित्रं न बान्धवाः ॥ ३६ ॥

न वही तुम्हारी माता है, न वही तुम्हारे पिता हैं तथा असंख्य पुत्रवाले उनके न तुम्हीं पुत्र हो ॥ ३० ॥

हे वत्स, जैसे प्रत्येक वनमें जलप्रवाहके बहुत-से गड्ढे होते हैं, वैसे ही तुम्हारे हजारों माता-पिता हो चुके हैं ॥ ३१ ॥

हे वत्स, असंख्य पुत्रवाले उनके तुम्हीं केवल पुत्र नहीं हो । नदियोंकी तरङ्गोंके समान मनुष्योंकी बहुत-सी पुत्रराशियाँ व्यतीत हो चुकीं हैं ॥ ३२ ॥

जैसे लता और शाखाके लाखों पत्ते, कोंढ़ी, डंठल व्यतीत होते हैं, वैसे ही हमारे माता और पिताके अनेक लाखों पुत्र बीत चुके हैं ॥ ३३ ॥

जैसे महावृक्षके प्रत्येक ऋतुमें फल व्यतीत होते हैं, वैसे ही जन्तुके प्रत्येक जन्ममें मित्र, बान्धव आदिके वृन्द व्यतीत हुए हैं ॥ ३४ ॥

हे वत्स, यदि माता, पिता, पुत्र आदि स्नेहवश शोकके योग्य हैं, तो निरन्तर अतीत हजारों माता-पिता पुत्र आदिका शोक क्यों नहीं किया जाता है ? ॥ ३५ ॥

हे महाभाग, जगत्की कल्पनाके निमित्तभूत मोहके होनेपर ही यह प्रपञ्च दिखाई देता है । हे प्राज्ञ, परमार्थतः आपके मित्र, बन्धु-बान्धव नहीं ही हैं ॥३६॥

न नाश इह हि भ्रातः परमार्थेन विद्यते ।
महत्यपि चिरात् तप्ते माराविव पयोलवाः ॥ ३७ ॥
एता याः प्रेक्षसे लक्ष्मीश्छत्रचामरचञ्चलाः ।
स्वप्न एव महाबुद्धे दिनानि त्रीणि पञ्च वा ॥ ३८ ॥
दृष्ट्या तु पारमार्थिक्या पुत्र सत्यं विचारय ।
नैव त्वं न वयं चैव भ्रान्तिमन्तः परित्यज ॥ ३९ ॥
अयं गतो मृतश्चाऽयमिति दुर्दृष्टयः पुरः ।
स्वसङ्कल्पोपतापोत्था दृश्यन्ते न तु सत्यतः ॥ ४० ॥
अज्ञानविस्तीर्णमरौ विलोलं शुभाशुभस्यन्दमयैस्तरङ्गैः ।
स्ववासनानाम मरीचिवारि परिस्फुरत्येतदनन्तरूपम् ॥४१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे पावनबोधनं नाम एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

हे भ्रातः, चिरकालसे संतप्त महान् मरुस्थलमें जैसे जलबिन्दु नहीं रहते, वैसे ही ब्रह्मस्वभाव होनेके कारण परमार्थदृष्टिसे यहाँ नाश नहीं है। ब्रह्मबोध होनेपर तो कहना ही क्या है ? ॥ ३७ ॥

जो इन छत्र, चामरोंसे चञ्चल राजसम्पत्तियोंको तुम देखते हो, हे महाबुद्धे, यह तीन अथवा पांच दिनोंका स्वप्न ही है ॥ ३८ ॥

हे वत्स, पारमार्थिक दृष्टिसे तुम सत्यका विचार करो, न तो तुम हो और न हम हैं। तुम्हारे भीतर जो भ्रान्ति है, उसका तुम त्याग करो ॥ ३९ ॥

यह गया, यह मर गया इत्यादि दुर्दृष्टियाँ अपने सङ्कल्परूप सन्निपात भ्रमसे उत्पन्न हुई सामने दिखाई देती हैं, परमार्थतः नहीं दिखाई देती हैं ॥ ४० ॥

अज्ञानरूप आतपसे आच्छन्न मरुभूमिसदृश आत्मामें पुण्य-पापरूप प्रवाहसे युक्त तरङ्गोंसे चञ्चल स्वसङ्कल्पवासनानामक यह असीम मृगतृष्णाजल परिस्फुरित होता है ॥ ४१ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

विंशः सर्गः

पुण्य उवाच

कः पिता किञ्च वा मित्रं का माता के च बान्धवाः ।
स्वबुद्ध्यैवावधूयन्ते वात्यया जनपांसवः ॥ १ ॥
बन्धुमित्रसुतस्नेहद्वेषमोहदशामयः ।
स्वसंज्ञामात्रकेणैव प्रपञ्चोऽयं वितन्यते ॥ २ ॥
बन्धुत्वे भावितो बन्धुः परत्वे भावितः परः ।
विषामृतदशेवेह स्थितिर्भावनिबन्धनी ॥ ३ ॥

बीसवाँ सर्ग

[पुण्य द्वारा पावनके तथा अपने नाना योनियोंमें जन्मोंका
शोक-मोहकी निवृत्तिके लिए वर्णन]

शोक मोहमूलक है, मोहके निरास द्वारा ही इसका शोक दूर करना चाहिये, यों समझ रहे पुण्य शोकके विषयभूत पिता आदिके अनिर्वचनीय होनेसे उनके मिथ्यात्वकी प्रतिज्ञा कर ज्ञानसे उसकी निरसनीयताका वर्णन करते हैं—**'कः'** इत्यादिसे ।

पुण्यने कहा—हे वत्स, कौन पिता है अथवा कौन मित्र है, कौन माता है और कौन बन्धु-बान्धव हैं, तत्त्वतः इन सभीका निर्वचन नहीं हो सकता है । अपने भ्रमरूपी अँधड़से ही ये जनरूपी धूलिकण उत्पन्न होते हैं । अथवा—अपनी विवेकबुद्धिरूप आंधीसे ही ये स्वजनरूपी धूलिकण निवारित होते हैं ॥ १ ॥

बन्धु, मित्र, पुत्र, स्नेह, द्वेष, मोहदशारूप रोगसे युक्त यह प्रपञ्च अपने द्वारा किये गये सङ्केतसे ही विस्तारको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

यह मेरा बन्धु है, यों बन्धुरूपमें भावित पुरुष बन्धु होता है, यह मेरा शत्रु है, यों शत्रुरूपमें भावित पुरुष शत्रु होता है । विष और अमृतकी दशाके समान यहाँपर स्थिति भावमयी है । जैसे विषके कृमियों द्वारा विषकी यह हमारा जीवनहेतु है, यों दृढ़ भावना करनेसे उनके प्रति वह अमृत हो जाता है और लोगों द्वारा यह हमारे मरणका हेतु है, यों भावना करनेसे उनके प्रति विष होता है, इसी प्रकार जगत्‌की स्थिति भावनामयी है, यह भाव है ॥ ३ ॥

एकत्वे विद्यमानस्य सर्वगस्य किलाऽऽत्मनः ।
अयं बन्धुः परश्चाऽयमित्यसौ कलना कुतः ॥ ४ ॥
रक्तमांसास्थिसंघाताद् देहादेवाऽस्थिपञ्जरात् ।
कोऽहं स्यामिति चित्तेन स्वयं पुत्र विचारय ॥ ५ ॥
दृष्ट्या तु पारमार्थिकया न कश्चित्त्वं न वाऽस्म्यहम् ।
मिथ्याज्ञानमिदं पुण्यः पावनश्चेति वल्गति ॥ ६ ॥
कस्ते पिता कश्च सुहृत् का माता कश्च वा परः ।
खस्याऽनन्तविलासस्य किमस्वं किं स्वमुच्यताम् ॥ ७ ॥

बन्धुओंकी वास्तविकताका विचार जाने दीजिये, उनके प्रति शोक करनेवाले तुम यदि केवल स्वतत्त्वका विचार करो, तो उसीसे उनका निरास हो सकता है, इस आशयसे कहते हैं—**'एकत्वे'** इत्यादिसे ।

सब देहोंमें अभिन्नरूपसे विद्यमान, सर्वव्यापी आत्माकी यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, ऐसी कल्पना कैसे हो सकती है ? ॥ ४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि सम्पूर्ण देहोंमें मैं कैसे एक हूँ, तो इसपर अहं-प्रत्ययवेद्यका ही यह कौन पदार्थ है, यों विचार करो, इस आशयसे कहते हैं—**'रक्तमांसा०'** इत्यादिसे ।

हे वत्स, रक्त, मांस आदि जड़सङ्घात अस्थिपञ्जररूप देहसे अन्य चेतन-स्वभाव मैं कौन हूँ, ऐसा अपने चित्तसे स्वयं विचार करो ॥ ५ ॥

परमार्थदृष्टिसे न पावनशब्दवाच्य तुम कोई हो अथवा न पुण्यशब्द-वाच्य मैं ही कोई हूँ, यह मिथ्याज्ञान (देहात्मभ्रम) ही पुण्य-पावनशब्दसे प्रसिद्ध होता है ॥ ६ ॥

इस प्रकार पिता आदिका शरीर भी भ्रान्तिसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं ठहरता, यह कहते हैं—**'कः'** इत्यादिसे ।

कौन तुम्हारी माता है, कौन तुम्हारे पिता हैं, कौन मित्र है अथवा कौन शत्रु है । जरा बतलाओ तो सही, अनन्तविलासवाले चिदाकाशका कौन स्वभिन्न है और कौन स्व है ? भाव यह है कि यदि देहादि उपाधिसे पृथक् किया गया चिदाकाश ही मैं, तुम और पिता आदि हैं, ऐसा समझते हो, तो 'मेरे पिता, मेरा भाई' इत्यादि भेदयुक्त स्वत्व आदि सम्बन्ध नहीं घट सकता ॥ ७ ॥

अथि चेत्त्वं तदन्येषु यातेषु बहुजन्मसु।
ये बन्धवो ये विभवाः किं तानपि न शोचसि ॥ ८ ॥

बभूवुस्ते सुपुष्पासु स्थलीषु मृगयोनिषु।
बहवो बन्धवो मार्गास्तान् कथं नाऽनुशोचसि ॥ ९ ॥

बभूवुस्ते सपद्मासु तटेष्वम्भोजिनीषु ते।
हंसस्य बन्धवो हंसास्तान् कथं नाऽनुशोचसि ॥ १० ॥

बभूवुस्तेऽलमन्यत्र चित्रासु वनराजिषु।
बहवो बन्धवो वृक्षास्तान् कथं नाऽनुशोचसि ॥ ११ ॥

बभूवुस्ते महोग्रेषु शिखरेषु महीभृताम्।
बहवो बान्धवाः सिंहास्तान् कथं नाऽनुशोचसि ॥ १२ ॥

बभूवुस्ते स्रवन्तीषु सरःस्वम्भोजिनीषु च।
बहवो बन्धवो मत्स्यास्तान् कथं नाऽनुशोचसि ॥ १३ ॥

यदि लिङ्ग शरीर ही मैं और मेरे बन्धु हैं, ऐसा मानो, तो इसपर सुनो, ऐसा कहते हैं—'असि' इत्यादिसे।

यदि तुम मुझसे पृथक् लिङ्गात्मा हो, तो व्यतीत अनेक जन्मोंमें तुम्हारे जो बन्धु और जो धन, सम्पत्ति आदि थे, उनके लिए भी तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥ ८ ॥

उन फूली हुई वनस्थलियोंमें तुम्हारे मृगयोनियोंमें उत्पन्न बहुतसे मृग बन्धु हुए थे, उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥ ९ ॥

कमलके बनोंमें और नदियोंके तटोंपर हँसरूप तुम्हारे हंस बन्धु हुए थे, उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥ १० ॥

अन्य जन्मोंमें बड़ी विचित्र वनपंक्तियोंमें तुम्हारे बहुतसे वृक्ष अत्यन्त बन्धु हुए थे। उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥ ११ ॥

बड़े ऊँचे-ऊँचे पर्वतशिखरोंपर तुम्हारे बहुतसे सिंह बान्धव हुए थे, उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥ १२ ॥

नदियों, तालाबों और पोखरोंमें तुम्हारे बहुतसे मत्स्य बन्धु हुए थे, उनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥ १३ ॥

बभूविथ दशार्णेषु कपिलो वनवानरः ।
राजपुत्रस्तुषारेषु पुण्ड्रेषु वनवायसः ॥ १४ ॥
हैहयेषु च मातङ्गस्त्रिगर्तेषु च गर्दभः ।
शाल्वेषु सरमापुत्रः पतत्री सरलद्रुमे ॥ १५ ॥
विन्ध्याद्रौ पिप्पलो भूत्वा घुणो भूत्वा महावटे ।
मन्दरे कुक्कुटो भूत्वा विप्रो जातोऽसि कन्दरे ॥ १६ ॥
कोसलेषु द्विजो भूत्वा भूत्वा वङ्गेषु तित्तिरिः ।
अश्वो भूत्वा तुषारेषु जातस्त्वं ब्रह्मणोऽध्वरे ॥ १७ ॥
यः कीटस्तालकन्दान्तर्मशको य उदुम्बरे ।
यः प्राग् बको विन्ध्यवने स त्वं पुत्र ममाऽनुजः ॥१८॥
हिमवत्कन्दरे भूर्जतनुत्वग्ग्रन्थिकोटरे ।
पिपीलिको यः षण्मासान्सोऽयं त्वमनुजो मम ॥ १९ ॥

अब योगबलसे देखे गये भाईके विविध जन्मोंका विशेषरूपसे स्मरण कराते हुए कहते हैं—'**बभूविथ**' इत्यादिसे ।

हे वत्स, तुम दशार्ण देशमें कपिल वनवानर हुए थे, तुषार देशमें राजपुत्र हुए थे और पुण्ड्र देशमें जङ्गली कौवा हुए थे ॥ १४ ॥

हैहय देशमें हाथी हुए थे, त्रिगर्तदेशमें गधा हुए थे, शाल्वप्रदेशमें कुत्ता हुए थे और वहीं चीड़के पेड़पर पक्षी हुए थे ॥ १५ ॥

विन्ध्याचलमें पीपल होकर, बड़े भारी वटके वृक्षमें घुन होकर और मन्दराचलमें मुर्गा होकर मन्दरकी ही गुफामें तुम ब्राह्मण हुए थे ॥ १६ ॥

कोशल देशमें ब्राह्मण होकर, बंग देशमें तीतिर होकर और तुषार देशमें घोड़ा होकर तुम पुष्करमें प्रसिद्ध ब्रह्माके यज्ञमें पशु हुए थे ॥ १७ ॥

जो पहले विन्ध्यके वनमें ताड़के वृक्षकी जड़के भीतर कीड़ा हुआ था, जो गूलरके फूलमें मच्छर हुआ था और जो बगुला हुआ था, हे वत्स, वह तुम अब मेरे भाई हुए हो ॥ १८ ॥

हिमालयकी कन्दरामें भोजपत्रके वृक्षकी पतली त्वचाके भीतर छः मासतक जो चींटा हुआ था, वही तुम मेरे अनुज हुए हो । स्वदेशसीमाके अन्तमें जो

स्थितः सीमान्तकुग्रामगोमये यश्च वृश्चिकः ।
सार्धसंवत्सरं साधो सोऽयं त्वमनुजो मम ॥ २० ॥
पुलिन्दीस्तनपीठेषु निलीनं येन कानने ।
षट्पदेनेव पद्मेषु सोऽयं त्वमनुजो मम ॥ २१ ॥
एतास्वन्यासु बह्वीषु जनयोनिषु पुत्रक ।
जातोऽसि जम्बूद्वीपेऽस्मिन् पुरा शतसहस्रशः ॥ २२ ॥
इत्थं तवाऽऽत्मनश्चैव प्राक्तनं वासनाक्रमम् ।
पश्यामि सूक्ष्मया बुद्ध्या सम्यग्दर्शनशुद्धया ॥ २३ ॥
ममाऽपि बह्व्यो बहुधा योनयो मोहमन्थराः ।
समतीताः स्मराम्यद्य ता ज्ञानोदितया दृशा ॥ २४ ॥
त्रिगर्तेषु शुको भूत्वा भेको भूत्वा सरित्तटे ।
वनेषु लावको भूत्वा जातोऽहमिह कानने ॥ २५ ॥
भुक्त्वा पुलिन्दतां विन्ध्ये कृत्वा वङ्गेषु वृक्षताम् ।
उष्ट्रत्वमपि विन्ध्याद्रौ जातोऽहमिह कानने ॥ २६ ॥

छोटा-सा गाँव है, वहाँके कंडोंके ढेरमें जो छः महीनेतक विच्छूरूपसे स्थित रहा, हे साधो, वही तुम मेरे भाई हो ॥ १९, २० ॥

जो वनमें शवरीके बच्चेका जन्म पाकर जैसे पद्मोंमें भ्रमर लीन होता है वैसे ही शवरीके स्तनोंके ऊपर छिपा, वही तुम मेरे भाई हो ॥ २१ ॥

हे वत्स, इन अन्यान्य बहुतसी जीवयोनियोंमें इसी जम्बूद्वीपमें पहले सैकड़ों, हजारों बार तुम उत्पन्न हो चुके हो ॥ २२ ॥

मैं तत्त्वज्ञानसे विशुद्ध सूक्ष्म बुद्धिसे तुम्हारे और अपने पूर्वजन्मोंके वासना-क्रमको इस प्रकार देखता हूँ ॥ २३ ॥

भाईके जन्मोंके कथनका उपसंहार कर अपने बहुत जन्मोंका कहना आरम्भ करते हैं—**'ममाऽपि'** इत्यादिसे ।

मेरी भी अज्ञानसे जड़ बहुत-सी योनियाँ बहुत बार बीत चुकी हैं । आज मैं ज्ञानसे उत्पन्न दृष्टिसे उनका स्मरण करता हूँ ॥ २४ ॥

त्रिगर्त देशमें सुग्गा होकर, नदीके तटपर मेढक होकर, वनोंमें लवा (एक प्रकारका छोटा पक्षी) होकर मैं इस वनमें उत्पन्न हुआ हूँ ॥ २५ ॥

विन्ध्याचलमें शवरयोनिका भोगकर, बंग देशमें वृक्षयोनिका भोगकर,

यश्चातको हिमगिरौ यो राजा पौण्ड्रमण्डले ।
व्याघ्रो यः सह्यकुञ्जेषु स एवाऽहं तवाऽग्रजः ॥ २७ ॥
यो गृध्रो दश वर्षाणि यो ग्राहो मासपञ्चकम् ।
यः समानां शतं सिंहः स एवेह तवाऽग्रजः ॥ २८ ॥
आन्ध्रग्रामचकोरेण तुषारनृपराजिना ।
श्रीशैलाचार्यपुत्रेण दम्भवत्कथ्यते मया ॥ २९ ॥
सर्वे विविधसंसारा विविधाचारचेष्टिताः ।
विलासा जन्मनो भ्रान्तेः स्मर्यन्ते प्राक्तना मया ॥ ३० ॥
एवं स्थिते जगज्जाता बान्धवाः शतशो गताः ।
पितरो मातरश्चैव भ्रातरः सुहृदस्तथा ॥ ३१ ॥
कांस्तान् समनुशोचावो न शोचावश्च कानपि ।
बन्धूनिहाऽतिशोचाव ईदृश्येव जगद्गतिः ॥ ३२ ॥
अनन्ताः पितरो यान्ति यान्त्यनन्ताश्च मातरः ।
इह संसारिणां पुंसां वनपादपपर्णवत् ॥ ३३ ॥

विन्ध्याचलमें हीं ऊँटकी योनिका भी भोग कर इस वनमें उत्पन्न हुआ हूँ । जो हिमालयमें चातक हुआ, जो पौण्ड्र देशमें राजा हुआ और जो सह्याचलकी झाड़ियोंमें व्याघ्र हुआ, वही मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ ॥ २६,२७ ॥

जो दस वर्ष तक गीध, जो पांच महीनेतक मगर और जो सौ वर्ष तक सिंह रहा, वही मैं इस जन्ममें तुम्हारा अग्रज हुआ हूँ ॥ २८ ॥

आन्ध्र ग्राममें चकोर एवं तुषार प्रदेशमें राजाके समान विराजमान होनेवाला, सामन्तरूप, श्रीशैलाचार्यका पुत्र मैं अपुण्यात्मा होता हुआ भी लोगोंकी वञ्चनाके लिए पुण्यनामसे प्रख्यापनरूप दम्भसे युक्त होकर यह कह रहा हूँ ॥ २९ ॥

अनेक जन्मोंकी भ्रान्तिके प्राक्तन सभी विलासोंका, जो विविध संसारवाले और विविध आचारोंसे युक्त चेष्टावाले हैं, मैं स्मरण करता हूँ ॥ ३० ॥

ऐसी अवस्थामें जगत्में उत्पन्न हुए सैकड़ों माता, पिता, भाई, बन्धु और मित्र चले गये । उनमें से किनका शोक करें, किनका शोक न करें एवं उन बन्धुओंका अतिक्रमण कर यहाँ किनका शोक करें, इसलिए किन्हींका भी शोक हम नहीं करते, क्योंकि ऐसी ही जगत्की गति है ॥ ३१, ३२ ॥

वनके वृक्षोंके पत्तोंके समान संसारी पुरुषोंके अनन्त पिता जाते हैं, अनन्त

किं प्रमाणमतः पुत्र दुःखस्याऽत्र सुखस्य च ।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य तिष्ठावः स्वच्छतां गतौ ॥ ३४ ॥
प्रपञ्चभावनां त्यक्त्वा मनस्यहमिति स्थिताम् ।
तां गतिं गच्छ भद्रं ते यां यान्ति गतिकोविदाः ॥ ३५ ॥
इहाऽऽजवं जवीभावं पतनोत्पतनात्मकम् ।
न च शोचन्ति सुधियश्चिरं वल्गन्ति केवलम् ॥ ३६ ॥
भावाभावविनिर्मुक्तं जरामरणवर्जितम् ।
संस्मराऽऽत्मानमव्यग्रो मा विमूढमना भव ॥ ३७ ॥
न ते दुःखं न ते जन्म न ते माता न ते पिता ।
आत्मैवाऽसि न सद्बुद्धे त्वमन्यः कश्चिदेव हि ॥ ३८ ॥
अस्यां संसारयात्रायां नानाभिनयदायिनः ।
अज्ञा एव नराः साधुरसभावसमन्विताः ॥ ३९ ॥
मध्यस्थदृष्टयः स्वस्था यथाप्राप्तार्थदर्शिनः ।
तज्ज्ञास्तु प्रेक्षका एव साक्षिधर्मे व्यवस्थिताः ॥ ४० ॥

माताएँ जाती हैं । इसलिए हे वत्स, यहांपर दुःख-सुखकी क्या अवधि है ? अतः सबका त्याग कर स्वच्छताको प्राप्त हुए हम लोग स्थित हैं ॥ ३३, ३४ ॥

हे भद्र, मनमें अहंरूपसे स्थित प्रपञ्चभावनाका त्याग कर उस गतिको प्राप्त होओ, जिस गतिको आत्मज्ञानी लोग प्राप्त होते हैं । सुबुद्धि लोग यहांपर अधोगति, ऊर्ध्वगतिरूप आवेग एवं विश्रामरहित निरन्तर भ्रमणका शोक नहीं करते, केवल निरभिमानतासे चिरकालतक व्यवहार करते हैं ॥ ३५, ३६ ॥

हे वत्स, व्यग्रतारहित होकर तुम आत्माको भाव-अभावसे रहित एवं जरा-मरणविहीन समझो, विमूढ़ मनवाले न बनो ॥ ३७ ॥

न तुम्हें दुःख है, न तुम्हारा जन्म है, न तुम्हारी माता है और न तुम्हारे पिता हैं । हे सद्बुद्धे, तुम आत्मा ही हो । अनात्मभूत देह आदि कोई भी तुम नहीं हो ॥ ३८ ॥

नटोंके समान विविध अभिनय करनेवाले अज्ञानी लोग ही इस संसारयात्रामें यही परम पुरुषार्थ है, ऐसी बुद्धिवाले होते हैं ॥ ३९ ॥

स्वस्थ और यथाप्राप्त वस्तुका दर्शन करनेवाले तत्त्वज्ञ पुरुष तो उदासीन दर्शक ही हैं; अतएव वे साक्षिधर्ममें स्थित हैं ॥ ४० ॥

कर्तारोऽपि न कर्तारो यथा दीपा निशागमे ।
आलोककर्मणामेवं तज्ज्ञा लोकस्थिताविह ॥ ४१ ॥
प्रतिबिम्बे न दृश्यन्ते स्वात्मबिम्बगतैरपि ।
यथा दर्पणरत्नाद्यास्तथा कार्ये महाधियः ॥ ४२ ॥
सर्वैषणामयकलङ्कविवर्जितेन
स्वस्थात्मभावकलितेन हृदब्जमध्ये ।
पुत्राऽऽत्मनाऽऽत्मनि महामुनिनाऽमुनैव
संत्यज्य संभ्रममलं परितोषमेहि ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
पावनबोधो नाम विंशः सर्गः ॥ २० ॥

जैसे दीपक रात्रि आनेपर प्रकाशन क्रियामें सन्निधिमात्रसे कर्ता होते हुए भी व्यापार न करनेके कारण अकर्ता ही हैं, वैसे ही यहां तत्त्वज्ञानी पुरुष लोकव्यवहार-स्थितिमें कर्ता होते हुए भी अकर्ता ही हैं ॥ ४१ ॥

अब दूसरा दृष्टान्त कहते हैं—'प्रतिबिम्बे' इत्यादिसे ।

जैसे हाथमें स्थित दर्पण, रत्न आदि प्रतिबिम्बकी उपाधिभूत वस्तुएँ बिम्बभूत अपनी सारी देहमें स्थित सब धर्मोंके साथ भी स्वदेहमें रचित प्रतिबिम्बमें बिम्बके अन्य धर्मोंके समान स्वयं निविष्ट नहीं दिखाई देतीं वैसे ही स्वात्मामें अध्यस्त कार्योंके कर्ता होते हुए भी महामति पुरुष स्वयं उनमें अभिनिवेशवाले नहीं होते ॥४२॥

हे वत्स, सब एषणामय कलङ्कोंसे रहित अतएव मननशील, अपनेसे ही अपने हृदयकमलमें स्वस्थ आत्मरूपसे साक्षात्कृत एवं संसारभ्रमका सर्वथा त्यागकर परिशिष्ट हुए इस आत्मासे ही सन्तोषको प्राप्त होओ ॥ ४३ ॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

एकविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं प्रबोधितस्तेन तदा पुण्येन पावनः ।
प्रबोधमाप प्राकाश्यं प्रभात इव भूतलम् ॥ १ ॥
उभावपि ततः सिद्धौ ज्ञानविज्ञानपारगौ ।
विचेरतुर्वने तस्मिन् यावदिच्छमनिन्दितौ ॥ २ ॥
ततः कदाचित्कालेन निर्वाणपदमागतौ ।
तौ विदेहौ गतस्नेहौ दीपाविव शमं गतौ ॥ ३ ॥
एवं प्राग्भुक्तदेहानामनन्ता जनबन्धुता ।
आः कैः किं गृह्यते ताभ्यः किं वा संत्यज्यतेऽनघ ॥४॥
तस्मादासामनन्तानां तृष्णानां रघुनन्दन ।
उपायस्त्याग एवैको न नाम परिपालनम् ॥ ५ ॥

इक्कीसवाँ सर्ग

[तृष्णारूपी पाशका क्षय ही मोक्ष है, आशासे चित्तवृत्तियाँ होती हैं, निराश और अपनेसे पूर्ण पुरुषकी स्वतः मुक्ति होती है, यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार उस पुण्य द्वारा प्रबोधित पावन जैसे प्रातःकालमें भूतल प्रकाशताको प्राप्त होता है, वैसे ही परिनिष्ठित आत्मनिश्चयको प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

ज्ञान और विज्ञानमें पारङ्गत, सिद्ध और अनिन्दित वे दोनों ही प्रारब्ध कर्मोंका नाश होनेतक उस वनमें भ्रमण करते थे ॥ २ ॥

तदनन्तर समय पाकर कभी तेलरहित दीपकोंके समान शान्तिको प्राप्त हुए वे दोनों विदेह होकर निर्वाण पदको प्राप्त हो गये ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त आख्यानका उपसंहार कर प्रस्तुत प्रसङ्गमें उसकी योजना करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार पहले जन्मोंमें देहधारण कर चुके लोगोंके मित्र, बन्धु और बान्धवोंका समूह अनन्त है, भला बतलाइये तो सही, उनमें से कौन किसका ग्रहण करते हैं और कौन किसका त्याग करते हैं ? ॥ ४ ॥

हे रघुनन्दन, इसलिए सब शोकोंकी मूलभूत, प्रत्येक विषयमें अनन्त तृष्णाओंका एक-

चिन्तनेनैधते चिन्ता त्विन्धनेनेव पावकः ।
नश्यत्यचिन्तनेनैव विनेन्धनमिवाऽनलः ॥ ६ ॥
ध्येयत्यागरथारूढः करुणोदारया दृशा ।
लोकमालोकयन् दीनमातिष्ठोत्तिष्ठ राघव ॥ ७ ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया ।
एनां प्राप्य महाबाहो विमूढोऽपि न मुह्यति ॥ ८ ॥
एकं विवेकं सुहृदमेकां प्रौढसखीं धियम् ।
आदाय विहरन्नेवं संकटेषु न मुह्यति ॥ ९ ॥
विनिवारितसर्वार्थादपहस्तितबान्धवात् ।
न स्वधैर्यादृते कश्चिदभ्युद्धरति सङ्कटात् ॥ १० ॥
वैराग्येणाऽथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि ।
यत्नेनाऽऽपद्विघातार्थं स्वयमेवोन्नयेन्मनः ॥ ११ ॥

मात्र त्याग ही उनकी निवृत्तिमें उपाय है। विषयोंके उपार्जन द्वारा उनका वर्धन उपाय नहीं है ॥ ५ ॥

जैसे लकड़ीसे आग बढ़ती है वैसे ही चिन्तनसे चिन्ता बढ़ती है, जैसे लकड़ीके बिना अग्नि बुझ जाती है वैसे ही चिन्तनके अभावसे वह नष्ट हो जाती है ॥ ६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उठिये और पूर्वोक्त ध्येय वासनात्यागरूपी रथमें बैठे हुए आप सब भूतोंके ऊपर कृपासे उदार दृष्टि द्वारा दीन लोगोंको देखते हुए प्रकृत व्यवहारका अनुष्ठान कीजिये ॥ ७ ॥

हे महाबाहो, यह स्वच्छ, कामनारहित, निर्दोष ब्राह्मी स्थिति है, इसे प्राप्त कर व्यवहारमें अकुशल पुरुष भी मोहको प्राप्त नहीं होता ॥ ८ ॥

केवल एक विवेकरूपी मित्रको एवं एकमात्र बुद्धिरूपी प्रिय सखीको लेकर विहार कर रहा पुरुष सङ्कटोंमें मोहको प्राप्त नहीं होता ॥ ९ ॥

जिसने सब धन-सम्पत्तियोंका त्याग कर दिया और भीतर स्नेह न रहनेके कारण अपने बन्धु-बान्धवोंको मानो गलहस्त देकर निकाल दिया, ऐसे अपने विवेकके सिवाय सङ्कटसे कोई उद्धार नहीं कर सकता ॥ १० ॥

वैराग्यसे, शास्त्रसे अथवा महत्व आदि गुणोंसे बड़े प्रयत्नके साथ आपत्तियोंको दूर करनेके लिए स्वयं ही मनको उन्नत बनावे ॥ ११ ॥

न तत्त्रिभुवनैश्वर्यान्न कोशाद्रत्नधारिणः ।
फलमासाद्यते चित्ताद् यन्महत्त्वोपबृंहितात् ॥ १२ ॥
तदेतस्मिञ्जगत्कुक्षौ पातोत्पातनदोलनैः ।
पतन्ति पुरुषा ये वै मनस्तेषां गतज्वरम् ॥ १३ ॥
पूर्णे मनसि संपूर्णं जगत्सर्वं सुधाद्रवैः ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः ॥ १४ ॥
वैराग्यात्पूर्णतामेति मनो नाऽऽशावशानुगम् ।
आशया रिक्ततामेति शरदेव सरोमलम् ॥ १५ ॥

तीनों भुवनोंके ऐश्वर्यसे वह फल प्राप्त नहीं हो सकता और रत्नोंसे भरे हुए कोशसे भी वह फल प्राप्त नहीं हो सकता, जो फल तुच्छ विषयोंमें अनभिलाष द्वारा उत्कर्षको प्राप्त हुए मनसे प्राप्त हो सकता है ॥ १२ ॥

इस जगत्के मध्यमें अधोगति, ऊर्ध्वगति और मनुष्यलोकमें ही जन्मपरम्परा द्वारा भ्रमणोंसे जो पुरुष गिरते हैं, उनका मन सदा ही संतप्त रहता है, कभी विश्रान्त नहीं होता । अथवा पूर्वश्लोकसे 'न' शब्दकी अनुवृत्ति कर जो पुरुष ऊर्ध्व-गति, अधोगति और मनुष्यलोकमें ही जन्मपरम्परा द्वारा भ्रमणोंसे इस जगत्के मध्यमें नहीं गिरते, उनका मन निश्चय संतापरहित रहता है, ऐसा अर्थ करना चाहिये ॥ १३ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि सन्तापके कारणभूत आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, रोग, वर्षा, धूप, चोर, सर्प आदिके रहते कैसे मनकी एकमात्र शान्तिसे सब सन्तापोंकी निवृत्ति हो सकती है? इसपर कहते हैं—'**पूर्णे**' इत्यादिसे ।

मनके पूर्ण होनेपर सारा जगत् सुधारससे पूर्ण हो जाता है, जिसके पैर जूतेसे ढके हुए रहते हैं, उसके लिए सारी भूमि चमड़ेसे ढकी ही हुई है। भाव यह है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भेदसे तीनों प्रकारके सन्तापोंकी जड़ मनोदोष ही है । मनके विशुद्ध ब्रह्मामृतरससे पूर्ण होनेपर सारा जगत् आनन्दपूर्ण ही प्रतीत होता है । जैसे कि मुलायम जूतोंसे जिसका पैर सुरक्षित है, उसे कुश और काँटोंसे भरी हुई भी सारी पृथिवी मुलायम चमड़ेसे ढकी हुई ही प्रतीत होती है ॥ १४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मन वैराग्यसे पूर्णताको प्राप्त होता है, आशाके

हृदयं शून्यतामेति प्रकटीकृतकोटरम् ।
अगस्तिपीतार्णववदाशाविवशचेतसाम् ॥ १६ ॥
यस्य चित्ततरौ स्फारे तृष्णा चपलमर्कटी ।
न वल्गति महत्तस्य राजते हृद्वनं ततम् ॥ १७ ॥
पद्माक्षकोशं त्रिजगद्गोष्पदं योजनव्रजम् ।
निमेषार्धं महाकल्पः स्पृहारहितचेतसाम् ॥ १८ ॥
शीतता सा न शीतांशोर्न हिमाचलकन्दरे ।
न रम्भाचन्दनावल्यां निःस्पृहेषु मनःसु या ॥ १९ ॥

वशमें चलनेवाला मन पूर्णताको प्राप्त नहीं होता। जैसे शरत्कालसे तालाबका पङ्क रिक्तताको प्राप्त होता है वैसे ही आशासे मन सूखे हुए सागरके गर्तके समान रिक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

पूर्व श्लोकमें 'रिक्ततामेति' जो कहा है, उसीका दृष्टान्त द्वारा विवरण करते हैं—**'हृदयम्'** इत्यादिसे।

जिन लोगोंका मन आशासे विवश रहता है, उन लोगोंका हृदय, जिसने भीतरके गर्तको प्रकट कर दिया है, अगस्त्य ऋषिसे पीये गये सागरके समान शून्यताको प्राप्त होता है। भाव यह है कि जैसे समुद्रके रिक्त हो जानेपर उसके गर्तके प्रकट हो जानेसे भीतर मगर, साँप आदि स्पष्टरूपसे प्रकाशित हो रहे थे, वैसे ही मनके रिक्त होनेपर उसके गर्तके प्रकट हो जानेसे भीतरके लोभ, दैन्य, आदि सभी दोषोंका प्रकाश हो जाता है ॥ १६ ॥

जिसके धर्म, ज्ञान, वैराग्य, शम, दम आदिरूप पुष्प, फल, पल्लव आदिसे समृद्ध विशाल चित्तरूपी वृक्षपर तृष्णारूपी चञ्चल बानरी नहीं घूमती, उस पुरुषका मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त इन चार प्रकारके वृक्षोंसे भरा हुआ अन्तःकरणरूपी विशाल वन खूब सुशोभित होता है ॥ १७ ॥

जिनके चित्तमें स्पृहा नहीं है, उन लोगोंके लिए त्रैलोक्य भी कमलगट्टेके कोशके समान अत्यन्त छोटा है, योजनसमूह गोष्पद है और महाकल्प आधा पलक है, भाव यह कि अपरिच्छिन्न ब्रह्मसुखकी दृष्टिसे देश-कालसे परिच्छिन्न आधिपत्यवैभव भी अत्यल्प ही है ॥ १८ ॥

जो शीतलता निःस्पृह लोगोंके मनमें विराजमान रहती है, वह शीतलता न

न तथा भाति पूर्णेन्दुर्न पूर्णः क्षीरसागरः ।
न लक्ष्मीवदनं कान्तं स्पृहाहीनं यथा मनः ॥ २० ॥
यथाऽब्दलेखा शशिनं सुधालेपं मषी यथा ।
दूषयत्येवमेवाऽन्तर्नरमाशापिशाचिका ॥ २१ ॥
आशाख्याश्चित्तवृक्षस्य शाखाः स्थगितदिक्तटाः ।
तासु च्छिन्नास्वरूपत्वं याति चित्तमहाद्रुमः ॥ २२ ॥
छिन्नतृष्णामहाशाखे चित्तस्थाणौ स्थितिं गते ।
एकरूपतया धैर्यं प्रयाति शतशाखताम् ॥ २३ ॥
अनस्तमितधैर्येण तेन चित्ते क्षयं गते ।
तत्पदं प्राप्यते राम यत्र नाशो न विद्यते ॥ २४ ॥
एतासां चित्तवृत्तीनामाशानामुत्तमाशयः ।
न ददासि प्ररोहं चेत्तद्भयं नाऽस्ति राघव ॥ २५ ॥

चन्द्रमामें है, हिमालयकी गुफामें है और न वह केले और चन्दनके वृक्षोंकी श्रेणीमें है ॥ १९ ॥

निःस्पृह मन जैसा शोभित होता है वैसा न पूर्ण चन्द्रमा शोभित होता है, न क्षीरसागर शोभित होता है और न लक्ष्मीका रमणीय मुख ही शोभित होता है ॥२०॥

जैसे मेघपङ्क्ति चन्द्रमाको मलिन कर देती है और जैसे काजलका लेप चूनेके लेपको दूषित कर देता है, वैसे ही आशारूपी पिशाचिनी मनुष्योंको मलिन कर देती है ॥ २१ ॥

चित्तरूपी वृक्षकी आशानामक शाखाओंने दिशाओंके तटोंको व्याप्त कर रक्खा है, उनके कट जानेपर चित्तरूपी महावृक्ष ब्रह्मरूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

तृष्णारूपी महाशाखाएँ जिसकी कट गईं, ऐसे चित्तरूपी ठूँठके रहनेपर बढ़नेमें रुकावट डालनेवाले कुवृक्षके कट जानेके बाद उसके नीचे उगे हुए सुवृक्षके समान धैर्य सैकड़ों शाखाओंवाला हो जाता है ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तके क्षीण होनेपर बढ़े हुए वैराग्य, जितेन्द्रियता, द्वन्द्वसहिष्णुता आदि धैर्यवाला पुरुष उस परम पदको प्राप्त होता है, जहाँपर फिर नाश नहीं है ॥ २४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उत्तम आशयवाले आप यदि चित्तवृत्तिरूपी इन आशाओंको

चित्तं वृत्तिविहीनं ते यदा यातमचित्तताम् ।
तदा मोक्षमयीमन्तः सत्तामाप्नोषि तां तताम् ॥ २६ ॥
चित्तकौशिकपक्षिण्या तृष्णया क्षुब्धयाऽऽन्तरे ।
अमङ्गलानि विस्तारमलमायान्ति राघव ॥ २७ ॥
चिन्तनं वृत्तिरित्युक्तं वर्तते चित्तमाशया ।
चित्तवृत्तिमतो ह्याशां त्यक्त्वा निश्चित्ततां व्रज ॥ २८ ॥
यो यया वर्तते वृत्त्या स तयैव विना क्षयी ।
अतश्चित्तोपशान्त्यर्थं तद्वृत्तिं प्रक्षयं नय ॥ २९ ॥

पुनः पनपनेके लिए अवसर नहीं देंगे, तो आपको जन्म आदिका कोई भय नहीं है ॥ २५ ॥

वृत्तिरहित आपका चित्त जभी अचित्तताको प्राप्त हुआ, तभी आप अपने अन्दर मोक्षमयी उस पूर्ण सत्ताको प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तमें प्रविष्ट हुई उल्लू-पक्षीरूपी क्षुब्ध तृष्णासे भीतरमें अमङ्गल खूब विस्तारको प्राप्त होते हैं। भाव यह कि जब कभी घरमें उल्लूका प्रवेश होता है, तो मरण, दरिद्रता आदि अनेक अमङ्गल होते हैं, ऐसा ज्योतिष आदि शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। वह जब देहके अन्दर चित्तमें निरन्तर प्रविष्ट होकर सब व्यवहारोंमें क्षुब्ध होकर स्थित हो, तब उससे सभी अमङ्गल खूब विस्तारको प्राप्त होते हैं, इसमें कहना ही क्या है ॥ २७ ॥

यदि कोई शङ्का करे, एकमात्र आशाके त्यागसे कैसे चित्तकी शान्ति हो सकती है ? सङ्कल्प, सन्देह, धृति, अधृति आदि अन्य वृत्तियोंसे भी चित्तका पनपना नहीं रोका जा सकता ? तो इस शङ्काका सब वृत्तियोंकी जड़ आशा ही है, यह दिखलाते हुए परिहार करते हैं—**'चिन्तनम्'** इत्यादिसे।

समाधिके समय बाह्य करण रुके रहते हैं, अतएव चाक्षुष आदि वृत्तियाँ नहीं होतीं, इसलिए उस समय केवल चिन्तन ही चित्तकी वृत्ति अवशिष्ट रहती है। यह सिद्धान्त हम पहले कह आये हैं और चिन्तनमें भी चित्त आशासे ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि आशास्य विषयोंमें ही पुरुषोंका चिन्तन देखा जाता है, इसलिए आशानामक चित्तवृत्तिका त्यागकर आप निश्चित्तताको प्राप्त होइये ॥ २८ ॥

ज्वाला और उष्णताका नाश होनेपर अग्निके उपशमके समान वृत्तिका

प्रशमितसकलैषणो महात्मन्
भव भवबन्धमपास्य मुक्तचित्तः ।
मनसि निगडरज्जवः कदाशाः
परिगलितासु च तासु को न मुक्तः ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे तृष्णाविचिकित्सायोगोत्पत्तिर्नाम एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

नाश होनेपर मनका उपशम सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—**'यो यया'** इत्यादिसे।

जो जिस वृत्तिसे जीवित रहता है, उस वृत्तिके सर्वथा निरोधसे वह अपक्षय-क्रमसे नष्ट हो जाता है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप चित्तके उपशमके लिए चित्तवृत्तिका नाश कीजिये ॥ २९ ॥

पूर्वोक्त अर्थका ही संग्रह करके उपसंहार करते हैं—**'प्रशमित०'** इत्यादिसे।

हे महात्मन्, आप पुत्र, धन, लोक आदिकी सम्पूर्ण एषणाओंका त्यागकर आशानामक संसारबन्धनको दूरकर जीवन्मुक्त होइये, क्योंकि मनमें स्थित कुत्सित आशाएँ आत्माकी हथकड़ियां हैं, उनके नष्ट होनेपर कौन मुक्त नहीं होगा यानी सभी मुक्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

द्वाविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथवा रघुवंशाख्यनभःपूर्णनिशाकर ।
बलिवद् बुद्धिभेदेन ज्ञानमासादयाऽमलम् ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ त्वत्प्रसादान्मया हृदि ।
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं विश्रान्तं चाऽमले पदे ॥ २ ॥
शरदीवाऽम्बरादभ्रमदभ्रं मम चेतसः ।
विभो व्यपगतं सर्वं तृष्णाख्यं तन्महातमः ॥ ३ ॥
अमृतापूरितः खस्थः शीतलात्मा महाद्युतिः ।
तिष्ठाम्यानन्दवानन्तः सायं पूर्ण इवोडुराट् ॥ ४ ॥

बाईसवाँ सर्ग

[बलिके आख्यानके सिलसिलेमें पातालका वर्णन तथा बलिके राज्यका और वैराग्यसे मेरुके शिखरपर विचारणाका वर्णन]

अब 'पद्माक्षकोशं त्रिजगत्' इत्यादिसे विवेक होनेपर त्रैलोक्यका ऐश्वर्य भी अत्यल्प है, ऐसा जो पहले कहा था, उसके उपपादनके लिए बलिका उपाख्यान कहनेकी इच्छासे भूमिका बांधते हैं—'अथवा' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा, हे रघुवंशरूपी आकाशके पूर्ण चन्द्र श्रीरामचन्द्रजी, अथवा आप अकस्मात् विचारके उदयसे बलिके समान निर्मल ज्ञान प्राप्त कीजिये ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, हे सब धर्मोंके ज्ञाता गुरुजी, आपके प्रसादसे मैंने पानेके योग्य सर्वात्मक ब्रह्मको हृदयमें प्राप्त कर लिया है और उसी निर्मल पदमें मैंने विश्राम किया है ॥ २ ॥

हे विभो, जैसे शरद् ऋतुमें आकाशसे विशाल मेघ चला जाता है, वैसे ही मेरे चित्तसे तृष्णानामक वह महातम हट गया है ॥ ३ ॥

अमृतसे पूरित, आकाशमें स्थित, शीतलस्वरूप, महाकान्तिवाले सायंकालमें पूर्ण चन्द्रमाके समान मैं अमृतसे लबालब भरा हुआ, चिदाकाशमें स्थित, सन्ताप-शून्य चित्तवाला, महाकान्तिसे युक्त और अन्तःकरणमें आनन्दसे पूर्ण हो स्थित हूँ ॥ ४ ॥

अशेषसंशयाम्भोदशरत्समय किन्त्वहम् ।
तृप्तिमेषां न गच्छामि वचसः वदतस्तव ॥ ५ ॥
बलेर्विज्ञानसम्प्राप्तिं पुनर्मद्बोधवृद्धये ।
विभो कथय खिद्यन्ते सन्तो नाऽवनतं प्रति ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

श्रृणु राघव ते वक्ष्ये वलेर्वृतान्तमुत्तमम् ।
श्रुतेन येन तं तत्त्वबोधं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ७ ॥
अस्त्यस्मिञ्जगतः कोशे कस्मिंश्चिद्दिङ्निकुञ्जके ।
पातालमिति विख्यातो लोको भूमेरधः स्थितः ॥ ८ ॥
क्षीरोदार्णवजाताभिर्दिग्धाभिरमृतांशुभिः ।
क्वचिद्दानवकन्याभिर्भाति निर्विवरान्तरः ॥ ९ ॥
जिह्वागणोद्दामरवैर्विलोलरसनायुगैः ।
क्वचिद्भोगिभिरापूर्णः सहस्रशतमस्तकैः ॥ १० ॥

किन्तु हे सब सन्देहरूपी मेघोंके निवारणके लिए शरद् ऋतुके तुल्य, मुनिवर, कह रहे आपके इन वचनोंसे मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ ५ ॥

हे विभो, फिर आप मेरी ज्ञानवृद्धिके लिए बलिकी बोधप्राप्तिके प्रकारको कहिये । गुरुजनोंको शिष्योंको उपदेश देनेमें कभी खेद नहीं होता ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुवर, मैं आपसे बलिका उत्तम वृत्तान्त कहूँगा, आप उसे सुनिये । जिसके श्रवणसे आप नित्य, तत्त्वरूप आत्मस्वरूपबोधको प्राप्त हो जायँगे ॥ ७ ॥

इस ब्रह्माण्डमें किसी दिग्रूप छोटे निकुञ्जमें भूमिके नीचे विद्यमान पाताल-नामसे प्रसिद्ध लोक है ॥ ८ ॥

कहींपर वह क्षीरसागरमें उत्पन्न हुई अतएव वहां उत्पन्न अमृतके द्रवसे मानो लिप्त अतिसुन्दरी दानवकन्याओंसे ठसाठस भरा है ॥ ९ ॥

कहींपर वह दोसे लेकर दो हजारतक संख्यावाली जिह्वाओंसे औरोंकी अपेक्षा व्याकरण, छन्दःशास्त्र आदिका दुगुना व्याख्यान करनेसे तेज शब्दवाले अतएव चञ्चल जिह्वासे युक्त हजारों सिरवाले सांपोंसे भरा है ॥ १० ॥

देहाद्रिवलिताशेषविश्वोद्धरणघस्मरैः ।
क्वचिद्दनुसुतैर्व्याप्तश्चलद्भिरिव मेरुभिः ॥ ११ ॥
कुम्भकूटाग्रविश्रान्तवसुधामण्डलोदरैः ।
क्वचिद् दिग्दन्तिभिर्दन्तद्रुमाद्रिभिरुपाश्रितः ॥ १२ ॥
महाकटकटाशब्दत्रस्तभूतपरम्परैः ।
क्वचिद् दुर्गन्धभूताभैरधो नारकमण्डलैः ॥ १३ ॥
आभूतलमभिप्रोतसप्तपातालमण्डलैः ।
क्वचिद्रत्नाकरैर्व्याप्तः पातालैर्विवरैरिव ॥ १४ ॥
सुरासुरशिरःसुप्तपादाम्भोरुहपांसुना ।
क्वचिद्भगवता तेन कपिलेन पवित्रितः ॥ १५ ॥
आसुरीसम्भृतानन्तपूजनक्रीडनैषिणा ।
क्वचिद्भगवता तेन हाटकेशेन पालितः ॥ १६ ॥

कहींपर अपने शरीररूपी पर्वतसे सारे संसारको व्याप्त करनेवाले और धर्म या यज्ञके हविष्यको जबर्दस्ती छीनकर खानेवाले दानवोंसे, जो चल रहे मेरु पर्वतके समान विशालकाय हैं, वह आच्छन्न है ॥ ११ ॥

कहींपर जिनके मस्तकरूपी शिखरकी चोटियोंपर भूमण्डलका मध्यभाग विश्रान्त है और जो दाँतरूपी वृक्षोंके पर्वतके तुल्य आश्रयभूत हैं, ऐसे दिग्गजोंने उसको अपना निवासस्थान बनाया है ॥ १२ ॥

कहींपर बड़े कट-कट शब्दोंसे जिनमें भूतराशियाँ भयभीत हैं और जहाँ दुर्गन्ध-रूपसे नारकीय जीवोंके कर्म भासित हो रहे हैं, ऐसे नरकमण्डलोंसे सबसे नीचे वह व्याप्त है ॥ १३ ॥

कहींपर नीचेके नरक-प्रदेशसे लेकर ऊपर हम लोगोंके भूतलतक सात पुओंमें पिरोई गई लोहकी सींकके समान सात पातालोंमें पिरोए गये रत्नोंके आकर-रूप मेरु आदि पर्वतोंसे वह व्याप्त है एवं कहींपर छिद्रोंकी तरह अत्यन्त संकुचित पातालके अवयवोंसे व्याप्त है ॥ १४ ॥

कहींपर वह जिनकी चरणकमलकी धूलि सुर और असुरोंके मस्तकोंपर सुप्तकी भाँति विश्राम ले रही है, ऐसे त्रिलोकवन्दित भगवान् कपिलमुनि द्वारा पवित्र बनाया गया है। कहींपर असुर स्त्रियोंसे तैयार किये गये विविध उपकरणोंसे पूजा और क्रीड़ाके अभिलाषी भगवान् हाटकेश्वरसे वह पालित है॥ १५, १६ ॥

तस्मिन्नसुरदोस्तम्भधार्यमाणमहाभरे ।
बभूव दानवो राजा विरोचनसुतो बलिः ॥ १७ ॥
साक्रन्देन समं सर्वैः सुरविद्याधरोरगैः ।
पादसंवाहनं यस्य सुरराजेन वाञ्छितम् ॥ १८ ॥
कोशस्त्रैलोक्यरत्नानां पाता सर्वशरीरिणाम् ।
धर्त्ता भुवनधर्तॄणां यस्य पालयिता हरिः ॥ १९ ॥
ऐरावणस्य संशोषं यन्नाम्ना कटभित्तयः ।
केकयेवाहिहृन्नाड्यो जग्मुराजग्मुरार्तताम् ॥ २० ॥
प्रतापोग्रोष्मभिर्यस्य कल्पकाल इवाऽब्धयः ।
ययुः शोषोन्मुखाः सप्त सप्ततां कुपिताकृतेः ॥ २१ ॥
यदध्वराग्र्यधूमाभ्रराजयो वलिताब्धयः ।
ब्रह्माण्डकोटरस्याऽस्य सदा कवचतां ययुः ॥ २२ ॥

उस पातालमें, जहाँपर असुरोंके बाहुस्तम्भोंसे महान् राज्यभार धारण किया जा रहा है, विरोचनके पुत्र बलिनामक दानव राजा हुए ॥ १७ ॥

सब देवता, विद्याधर और नागोंके साथ रोदनयुक्त देवराज इन्द्रने जिसके पैर दबानेकी जबर्दस्ती इच्छा की ॥ १८ ॥

उसकी ऐसी सामर्थ्य कहाँसे हुई, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—**'कोशः'** इत्यादिसे ।

त्रैलोक्यरूपी रत्नोंकी—कोशके समान—अपने उदरमें रक्षा करनेवाले, सब जीवोंके पालक, तीनों लोकोंका पालन करनेवाले इन्द्र, मनु, शेषनाग आदिके आधारभूत भगवान् श्रीहरि जिसके पालक थे ॥ १९ ॥

जिसका नाम सुननेसे ऐरावतके गण्डस्थल मयूरके शब्दसे साँपोंके हृदय-शिराओंकी तरह सूख जाते थे और भयसे स्वेदयुक्त हो जाते थे ॥ २० ॥

क्रुद्ध आकृतिवाले जिस बलिके प्रतापकी दुःसह गर्मीसे सातों महासागर शोषको प्राप्त होकर प्रलय कालकी तरह केवल गर्तसंख्यासे ही सात रहे, जलादि प्रवाहसे सात नहीं रहे यानी सभी सूख गये ॥ २१ ॥

जिसके अश्वमेध आदि श्रेष्ठ यज्ञोंके धुएँसे उत्पन्न हुई मेघपङ्क्तियाँ जलग्रहणके लिए समुद्रको घेरी हुई अतएव इस ब्रह्माण्डरूपी कोटरकी कवच बन गईं ॥ २२ ॥

यस्य दृष्टिदृढाघाततुन्नाधारकुलाचलाः ।
विनमन्ति दिशः सर्वा लताः फलनता इव ॥ २३ ॥
लीलाविजितनिःशेषभुवनाभोगभूषणः ।
दशकोटीः स वर्षाणि दैत्यो राज्यं चकार ह ॥ २४ ॥
अथ गच्छत्स्वनल्पेषु युगेष्वावर्तवृत्तिषु ।
सुरासुरमहौघेषु प्रोत्पतत्सु पतत्सु च ॥ २५ ॥
अजस्रमतिभुक्तेषु त्रैलोक्योदारवृत्तिषु ।
भोगेष्वभजदुद्वेगं बलिर्दानवनायकः ॥ २६ ॥
मेरुशृङ्गशिखारत्नकृतवातायनस्थितः ।
एकदा चिन्तयामास स्वयं संसारसंस्थितिम् ॥ २७ ॥
कियन्तमिदमक्षुण्णशक्तिनैव मयाऽधुना ।
साम्राज्यमिह कर्तव्यं विहर्तव्यं जगत्त्रये ॥ २८ ॥
महता मम राष्ट्रेण त्रैलोक्याद्भुतकारिणा ।
किं वा भवति भुक्तेन भूरिभोगातिहारिणा ॥ २९ ॥

जिसके तिरछे देखनेसे जिनके आधारभूत कुलाचल विचलित हो उठते थे, ऐसी सब दिशाएँ फलभारसे नमित हुई लताओंके समान झुकने लगती हैं ॥२३॥

लीलासे जिसने सब भुवनोंके भूषणभूत इन्द्र आदिपर भी विजय प्राप्त कर ली थी, ऐसे उस दैत्यराजने दस करोड़ वर्ष तक राज्य किया ॥ २४ ॥

तदनन्तर जलके भँवरके समान घूमनेवाले बहुत-से युगोंके बीतनेपर, सुर-असुरोंके बड़े भारी समूहके उन्नत और अवनत होनेपर एवं त्रैलोक्यमें अत्यन्त उत्कृष्ट बहुतसे भोगोंके निरन्तर भोगे जानेपर दानव राजा बलिको विषय-भोग विरस प्रतीत होने लगे ॥ २५,२६ ॥

मेरु पर्वतके शिखरपर रत्ननिर्मित घरके झरोखेपर बैठे हुए उसने एक बार संसारस्थितिका स्वयं विचार किया ॥ २७ ॥

अकुण्ठित शक्तिवाले मुझे अब इस लोकमें कितने समयतक यह साम्राज्य करना होगा और तीनों लोकोंमें विहार करना होगा ॥ २८ ॥

तीनों लोकोंको आश्चर्यमें डालनेवाले, प्रचुर भोगोंसे अत्यन्त मनोहर इस महान् राष्ट्रके उपभोगसे मेरा क्या प्रयोजन है ? ॥ २९ ॥

आपातमात्रमधुरमावश्यकपरिक्षयम् ।
भोगोपभोगमात्रं मे किं नामेदं सुखावहम् ॥ ३० ॥

पुनर्दिनैककलना शर्वरीसंस्थितिः पुनः ।
पुनस्तान्येव कर्माणि लज्जायै न च तुष्टये ॥ ३१ ॥

पुनरालिङ्ग्यते कान्ता पुनरेव च भुज्यते ।
सेयं शिशुजनक्रीडा लज्जायै महतामिह ॥ ३२ ॥

तमेव भुक्तविरसं व्यापारौघं पुनः पुनः ।
दिवसे दिवसे कुर्वन् प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते ॥ ३३ ॥

पुनर्दिनं पुना रात्रिः पुनः कार्यपरम्पराः ।
पुनः पुनरहं मन्ये प्राज्ञस्येयं विडम्बना ॥ ३४ ॥

ऊर्मितां पुनरासाद्य पुनरेति निरूर्मिताम् ।
यथा जलं तथैवाऽयं तां तामेति क्रियां जनः ॥ ३५ ॥

अविचारमात्रसे मधुर लगनेवाला और अवश्य विनष्ट होनेवाला यह सम्पूर्ण भोग मेरे लिए क्या सुखावह होगा ? ॥ ३० ॥

पुनः दिनकी एकमात्र कल्पना, पुनः रात्रिकी स्थिति, फिर वे ही स्नान, भोजन, शयन आदि कार्य, अभिनव कुछ भी कर्म या सुख नहीं है, इसलिए उनमें लम्पटता महापुरुषोंकी लज्जाके लिए ही है, न कि सन्तोषके लिए है ॥ ३१ ॥

पुनः कान्ताका आलिङ्गन किया जाता है, पुनः उपभोग किया जाता है यहाँपर यह बालकोंकी क्रीड़ा महान् पुरुषोंकी लज्जाके लिए ही है ॥ ३२ ॥

एक बार भोग करनेसे विरस हुए उन्हीं व्यापारोंको प्रतिदिन पुनः-पुन कर रहा प्राज्ञ पुरुष क्यों नहीं लज्जित होता ? ॥ ३३ ॥

फिर दिन, फिर रात्रि, फिर कार्यपरम्पराएँ, प्राज्ञ पुरुषकी दृश्य यह विडम्बना पुनः-पुनः किये गये कर्मके अनुकरणके समान उपहासकी हेतु है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ३४ ॥

जैसे जल फिर तरङ्गताको प्राप्त कर फिर निस्तरङ्ग हो जाता है वैसे ही यह जन उस-उस क्रियाको प्राप्त करता है यानी व्यर्थ ही उन पूर्वकृत क्रियाओंका अनुकरण करता है ॥ ३५ ॥

उन्मत्तचेष्टिताकारा पुनः पुनरियं क्रिया ।
जनं हासयते प्राज्ञं बाललीलोपमा मुहुः ॥ ३६ ॥
कृतयाऽप्यनया नित्यं क्रियया कृतकार्यया ।
कोऽर्थः स्यात्तादृशो येन पुनः कर्म न विद्यते ॥ ३७ ॥
कियन्तमथवा कालमिदमाडम्बरं महत् ।
इहाऽस्माभिरनुष्ठेयं किं तावत् समवाप्यते ॥ ३८ ॥
अनन्तेयं शिशुक्रीडा वस्तुशून्यैव वस्तुतः ।
आवृत्त्या क्रियते व्यर्थमनर्थप्रसरार्थिभिः ॥ ३९ ॥
फलमेकं महोदारं नेह पश्यामि किञ्चन ।
कार्यमस्तीतरत् प्राप्ते यस्मिन्नाम न किञ्चन ॥ ४० ॥
भोगादृते किमन्यत्स्यात्तद्भव्यमविनाशि यत् ।
एवं सञ्चिन्तयाम्याशु दध्यौ मत्वेत्यसौ बलिः ॥ ४१ ॥
अथाऽभ्युवाचाऽसुरराडाः संस्मृतमिति क्षणात् ।
स्वात्मन्येव मनस्यर्थं सभ्रूभङ्गं विमर्शयन् ॥ ४२ ॥

उन्मत्तकी चेष्टाकी तरह यह पुनः पुनः की जानेवाली क्रिया, जो बाललीलाकी तरह है, प्राज्ञ पुरुषको बार-बार हँसाती है यानी उसे देखकर प्राज्ञ पुरुष बार-बार हँसता है ॥ ३६ ॥

नित्य की गई भी इस निष्प्रयोजन क्रियासे कौन ऐसा प्रयोजन सिद्ध होगा, जिसके प्राप्त होनेपर फिर कर्म नहीं रहता है यानी कृतकृत्यता हो जाती है ॥३७॥

अथवा कितने समयतक यह बड़ा भारी आडम्बर (दृष्ट और अदृष्ट फलके लिए कर्मसंघात) हमें करना पड़ेगा, उससे हमें क्या प्राप्त होगा ? ॥ ३८ ॥

वस्तुतः वस्तुशून्य ही यह अनन्त शिशुक्रीड़ा दुःखपरम्परा चाहनेवाले पुरुषों द्वारा ही बार-बार की जाती है ॥ ३९ ॥

जिसके प्राप्त होनेपर कोई भी अन्य कार्य कर्तव्य नहीं रहता, वैसे महोदार अद्वितीय फलको (पुरुषार्थको) यहाँ मैं कुछ भी नहीं देखता ॥ ४० ॥

क्षणिक, तुच्छ विषयसुखके सिवाय दूसरा नित्य वह उत्तम सुख क्या है, ऐसा मैं विचार करता हूँ, यह सोचकर राजा बलि शीघ्र ध्यानमग्न हो गये ॥ ४१ ॥

ध्यानसे संस्कारके जागृत होनेके कारण राजा बलि पहले स्वयं पूछे गये पिताके उपदेशकी स्मृतिको विमर्शके साथ दिखलाते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

पुरा किलेह भगवान् पृष्टोऽभूत् स विरोचनः ।
पिता मयाऽऽत्मतत्त्वज्ञो दृष्टलोकपरावरः ॥ ४३ ॥

यथा सकलदुःखानां सुखानां च महामते ।
यत्र सर्वे भ्रमाः शान्ताः कोऽसौ सीमान्त उच्यते ॥ ४४ ॥

क्वोपशान्तो मनोमोहः क्वाऽतीताः सकलैषणाः ।
विरामरहितं कुत्र तात विश्रमणं चिरम् ॥ ४५ ॥

किं प्राप्तेह समस्तेभ्यः प्राप्येऽस्मिंस्तृप्तिमान् पुमान् ।
किं दृष्ट्वा दर्शनं भूयो न तातोपकरोत्यलम् ॥ ४६ ॥

अत्यन्तबहवोऽप्येते भोगा हि न सुखावहाः ।
क्षोभयन्ति मनो मोहे पातयन्ति सतामपि ॥ ४७ ॥

तत्ताताऽविहतानन्दसुन्दरं किञ्चिदेव मे ।
तादृक् कथय यत्रस्थश्चिरं विश्रान्तिमेम्यहम् ॥ ४८ ॥

स्मृत अर्थका मनमें ही भौंह चढ़ाकर विचार करते हुए दैत्यराज क्षण भरमें बोले कि मुझे स्मरण हो आया ॥ ४२ ॥

प्राचीन समयमें आत्मतत्त्वज्ञानी तथा लोकके विविध व्यवहारोंको देख चुके अपने पिता भगवान् विरोचनसे मैंने पूछा था ॥ ४३ ॥

हे महामते, संसारसीमाकी अवधि वह कौन कहा जाता है, जहाँपर सब दुःखों और सुखोंके सम्बन्धके सब भ्रम शान्त हो गये हैं ॥ ४४ ॥

मनका मोह कहाँपर शान्त है, सब एषणाएँ कहाँपर बीत चुकी हैं, हे तात, पुनरावृत्तिरहित चिरविश्राम कहाँपर है ? ॥ ४५ ॥

पुरुष किस सुखको प्राप्त होकर इसी देहमें ब्रह्मलोकपर्यन्त प्राप्त होनेवाले सभी सुखोंके विषयमें तृप्तिमान् हो जाता है । हे तात, किसके दर्शन करके फिर अन्य फलकी अभिलाषा नहीं रहती ? ॥ ४६ ॥

अत्यन्त प्रचुर भी ये भोग सुखावह नहीं हैं, ये सन्त पुरुषोंके मनको भी क्षुब्ध करते हैं और मोहमें डालते हैं ॥ ४७ ॥

इसलिए हे तात, अविनाशी आनन्दसे सुन्दर कोई वैसा पद मुझसे कहिये, जहाँपर स्थित होकर मैं चिरकालतक विश्रान्तिको प्राप्त होऊँ ॥ ४८ ॥

इत्याकर्ण्य पुरा निशाकरकरस्पर्द्धालुगुच्छस्खल-
त्पुष्पापूरकृतावगुण्ठनपदस्योक्तं तले तेन मे ।
पित्रा स्वर्गहृतस्य सागरतरोः संरोपितस्याऽजिरे
स्फाराकाररसायनासवसमं संमोहशान्त्यै वचः ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
विरोचनस्मरणं नाम द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

विरोचन उवाच

अस्ति पुत्राऽतिविततो देशो विपुलकोटरः ।
त्रैलोक्यानां सहस्राणि यत्र मान्ति बहून्यपि ॥ १ ॥

प्राचीन कालमें चन्द्रमाकी किरणोंके साथ—सौन्दर्य, अमृतरसपूर्णता आदि गुणोंकी अधिकता होनेके कारण—स्पर्धा करनेवाले फूल और फलोंके गुच्छोंसे गिर रहे फूलों और फलोंके समूहसे आच्छन्न मूल प्रदेशवाले, स्वर्गसे जबरदस्ती लाकर अपने आंगनमें लगाये गये कल्पवृक्षके नीचे बैठे हुए मेरे पिता विरोचनने पूर्वोक्त प्रश्नको सुनकर उस कल्पवृक्षके प्रचुर रसायनरूपी आसवोंके तुल्य मधुर जो वचन मेरे अज्ञानके निवारणके लिए कहा, उसका मुझे स्मरण हो आया ॥४९॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

[चित्त-जय कहनेके लिए राजमन्त्रीके उपाख्यानका और मन्त्रीके अप्रतिद्वन्द्व विपुल बलका वर्णन]

'चित्तं वृत्तिविहीनं ते यदा यातमचित्तताम् । तदा मोक्षमयीमन्तः सत्तामाप्नोषि तां तताम्' ॥ (यो० वा० ५ । २१ । २६) इससे मोक्ष चित्त-जयके अधीन है, यह कहा । चित्तजयका भी आत्यन्तिक आशात्याग ही उपाय कहा गया है । उक्त आशात्याग आत्मदर्शनके बिना नहीं हो सकता, क्योंकि 'विषया विनिवर्तन्ते निहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा विवर्तते ॥' ऐसा भगवान्‌का वचन है । और आत्मदर्शन भी मनपर विजय

यत्र नाऽम्भोधयो नाऽपि सागरा वा न चाऽद्रयः ।
न वनानि न तीर्थानि न नद्यो न सरांसि च ॥ २ ॥
न मही नाऽपि चाऽऽकाशं न द्यौर्न पवनादयः ।
न चन्द्रार्कौ न लोकेशा न देवा न च दानवाः ॥ ३ ॥
न भूतयक्षरक्षांसि न गुल्मा न वनश्रियः ।
न काष्ठतृणभूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ४ ॥
नाऽऽपो न ज्वलनो नाऽऽशा नोर्ध्वं नाऽधो न विष्टपम् ।
नाऽऽलोको नाऽऽतपो नाऽहं न हरीन्द्रहरादयः ॥ ५ ॥
एक एवाऽस्ति सुमहांस्तत्र राजा महाद्युतिः ।
सर्वकृत् सर्वगः सर्वः स च तूष्णीं व्यवस्थितः ॥ ६ ॥
तेन सङ्कल्पितो मन्त्री सर्वसम्मन्त्रणोन्मुखः ।
अघटं घटयत्याशु घटं विघटयत्यलम् ॥ ७ ॥

पाये बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्योन्याश्रयताको प्राप्त हुआ यह आत्मदर्शन अशक्य ही है, ऐसी आशङ्काको दूर करनेके लिए दो साधनोंके एक साथ अभ्यास आदिरूप उपायको कहनेके लिए बलिके उपाख्यानके बीचमें राजमन्त्रीका उपाख्यान विरोचनके मुखसे प्रस्तुत करते हैं—'अस्ति' इत्यादिसे।

हे पुत्र, अत्यन्त विस्तृत, विशाल मध्यभागवाला मोक्षनामक देश है, जिसमें अनेकों हजार त्रैलोक्य समा सकते हैं, जहाँपर न जलाशय हैं, न समुद्र हैं, न पर्वत हैं, न वन हैं, न तीर्थ हैं, न नदियां हैं, न तालाब हैं, न पृथ्वी है, न आकाश है, न अन्तरिक्ष है, न वायु आदि हैं, न चन्द्रमा और सूर्य है, न लोकपाल हैं, न देवता हैं, न दानव हैं, न भूत, यक्ष और राक्षस हैं, न झाड़ियाँ हैं, न वनकी विविध शोभाएँ हैं, न स्थावर और जङ्गमरूप काठ, तृण और प्राणी हैं, न जल है, न अग्नि है, न दिशाएँ हैं, न ऊर्ध्वभाग है, न अधोभाग है, न लोक है, न आलोक है, न धूप है और न विष्णु, इन्द्र, शिव आदि हैं। वहांपर अकेला वही महातेजस्वी राजा (आत्मा) है। वह सर्वकर्ता, सर्वव्यापक और कूटस्थ है॥१—६॥

उसने सब सन्मन्त्रणाओंमें तत्पर मन्त्रीका (मनका) सङ्कल्प किया, वह आत्माकी संसारिताका, जो अत्यन्त असंभव है, भी शीघ्र निर्माण करता है। आत्माकी पूर्णानन्दैकरसताका, जो अत्यन्त उपपन्न है, भी नहीं प्रतीत होती है, यों अपलाप करता है ॥ ७ ॥

भोक्तुं न किञ्चिच्छक्नोति न च जानाति किञ्चन ।
राजार्थं केवलं सर्वं करोत्यज्ञोऽपि सन् सदा ॥ ८ ॥
स एव सर्वकार्यैककर्ता तस्य महीपतेः ।
राजा केवलमेकान्ते स्वस्थ एवावतिष्ठते ॥ ९ ॥

बलिरुवाच

आधिव्याधिविनिर्मुक्तः कः स देशो महामते ।
कथमासाद्यते चाऽपि केन वाऽधिगतः प्रभो ॥ १० ॥
कः स तादृग्विधो मन्त्री राजा चाऽपि महाबलः ।
हेलालूनजगज्जालैर्योऽस्माभिरपि नो जितः ॥ ११ ॥
अपूर्वमेतदाख्यानं ममाऽमरभयप्रद ।
कथयाऽपनयाऽस्माकं हृद्व्योम्नः संशयाम्बुदम् ॥ १२ ॥

विरोचन उवाच

स तत्र मन्त्री बलवान् देवासुरगणैः सुत ।
समेतैर्लक्षगुणितैरपि नाऽऽक्रम्यते मनाक् ॥ १३ ॥

स्वयं जड़ होता हुआ भी केवल राजाके लिए सब कुछ सदा करता है, वह कुछ भी भोग नहीं करता और कुछ भी नहीं जान सकता ॥ ८ ॥

उस राजाके सब कार्योंका एकमात्र कर्ता वही है, राजा तो केवल अद्वितीय-स्वभावमें स्वस्थ होकर ही स्थित रहता है ॥ ९ ॥

बलिने कहा—हे महामते, आधि-व्याधिसे रहित वह देश कौन है, कैसे वह मिलता है और हे प्रभो किसको वह मिला है ? ॥ १० ॥

पूर्वोक्त प्रकारका वह मन्त्री कौन है और वह महाबली राजा कौन है, जिसे कि हम लोग भी, जिन्होंने अनायास तीनों लोकोंको छिन्न-भिन्न कर डाला, जीत न सके ॥ ११ ॥

हे देवताओंको भय देनेवाले, पिताजी, यह अपूर्व आख्यान मुझसे कहिये और मेरे हृदयरूपी आकाशसे संशयरूपी मेघको दूर कीजिये ॥ १२ ॥

विरोचनने कहा—हे पुत्र, यदि देवता और असुर मिलकर लाख गुने भी हों, तो भी वहाँपर उस बलवान् मन्त्रीके ऊपर तनिक भी आक्रमण नहीं कर सकते ॥ १३ ॥

नाऽसौ सहस्रनयनो न यमो न धनेश्वरः ।
नाऽमरो नाऽसुरो वाऽपि यदि पुत्रक जीयते ॥ १४ ॥
तत्राऽसिमुसलप्रासवज्रचक्रगदादयः ।
हेतयः कुण्ठतां यान्ति दृषदीवोत्पलाहतिः ॥ १५ ॥
गम्योऽसौ नाऽस्त्रशस्त्राणां न भटोद्भवकर्मणाम् ।
तेन देवासुराः सर्वे सर्वदैव वशीकृताः ॥ १६ ॥
अविष्णुनाऽपि तेनेह हिरण्याक्षादयोऽसुराः ।
पातिताः कल्पवातेन मेरुकल्पद्रुमा इव ॥ १७ ॥
नारायणादयो देवा अपि सर्वाविबोधिनः ।
तेनाऽऽक्रम्य यथाकाममवटेषु निवेशिताः ॥ १८ ॥

हे पुत्र, वह मन्त्री न तो इन्द्र है, न कुबेर है, न कोई देवता है और न असुर है, जो कि तुमसे जीता जा सके ॥ १४ ॥

क्या मेरे पास आयुध अथवा योद्धा नहीं है, जो मैं उसपर विजय प्राप्त न कर सकूँ ? ऐसा यदि बलिकी ओरसे प्रश्न हो, तो उसपर भले ही तुम्हारे पास आयुध और योद्धा हों; पर वह उनका विषय नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं — **'तत्र'** इत्यादिसे ।

जैसे पत्थरपर कमलका आघात कुण्ठित हो जाता है, वैसे ही उसपर तलवार, मूसल, भाले, वज्र, चक्र, गदा आदि आयुध कुण्ठित हो जाते हैं ॥ १५ ॥

तुम उसपर क्या विजय प्राप्त करोगे, बल्कि उसीने तुम्हारे ऐसे बहुतसे लोगोंपर विजय प्राप्त की है, ऐसा कहते हैं—**'गम्योऽसौ'** इत्यादिसे ।

वहाँतक अस्त्र-शस्त्रोंकी पहुँच नहीं है, योद्धाओंके पराक्रमपूर्ण कर्मोंकी भी वहां पहुँच नहीं है, बल्कि उसीने सब देवता और असुर सदा ही अपने वशीभूत कर रक्खे हैं ॥ १६ ॥

हमारे पूर्वज आदिको भी उसीने अपने वशमें कर विष्णु द्वारा मरवाया है, इस आशयसे कहते हैं—**'अविष्णुना'** इत्यादिसे ।

यद्यपि वह विष्णु नहीं है, तथापि उसने इस लोकमें हिरण्याक्ष आदि असुरोंको ऐसे गिराया, जैसे कि प्रलयकालका वायु मेरुपर्वतके कल्पद्रुमको गिराता है ॥१७॥

सबको विवेकका उपदेश देनेवाले नारायग आदि देवताओंको भी उसने

तत्प्रसादेन साटोपं पञ्चमात्रशरः स्मरः ।
त्रैलोक्यमिदमाक्रम्य सम्राडिव विवल्गति ॥ १९ ॥
सुरासुरौघगृह्योऽपि गुणहीनोऽपि दुर्मतिः ।
दुराकृतिरपि क्रोधस्तत्प्रसादेन जृम्भते ॥ २० ॥
देवासुरसहस्राणां संगरो यः पुनः पुनः ।
तदेतत्क्रीडनं तस्य मन्त्रिणो मन्त्रशालिनः ॥ २१ ॥
स मन्त्री केवलं पुत्र तेनैव प्रभुणा यदि ।
जीयते तत्सुजेयोऽसावन्यथा त्वचलोपमः ॥ २२ ॥
तस्यैव तत्प्रभोः काले जेतुं तं मन्त्रिणं निजम् ।
इच्छा संजायते तेन जीयतेऽसावयत्नतः ॥ २३ ॥
त्रैलोक्यबलिनां मल्लमुच्छ्वासितजगत्त्रयम् ।
जेतुं चेदस्ति ते शक्तिस्तत्पराक्रमवानसि ॥ २४ ॥

भृगुशाप आदि निमित्तके उद्घाटन द्वारा उनपर आक्रमण कर अपने इच्छानुसार गर्भरूपी गर्तोंमें प्रविष्ट कराया ॥ १८ ॥

केवल पाँच बाणवाला कामदेव उसीके प्रसादसे इन तीनों लोकोंपर बड़े आटोपके साथ आक्रमण कर सम्राट्के समान समृद्ध हो रहा है ॥ १९ ॥

क्रोधने यद्यपि सुर और असुरोंके समूहको स्वतन्त्र नहीं छोड़ा, उसमें कोई गुण भी नहीं है, कोई आकृति भी अच्छी नहीं है एवं बुद्धि भी उसकी अच्छी नहीं है, फिर भी वह उस मन्त्रीके प्रसादसे समृद्ध हो रहा है ॥ २० ॥

हजारों देवता और असुरोंका जो बार-बार युद्ध होता है, वह मन्त्र जाननेवाले उस मन्त्रीके बाएँ हाथका खेल है ॥ २१ ॥

हे पुत्र, उसी प्रभु द्वारा यदि वह मन्त्री जीता जाता है; तो सुजेय होता है। अन्यथा तो वह पर्वतके समान अचल है ॥ २२ ॥

बहुतसे पुण्योंके परिपाकसे विवेकके उदयके समयमें अपने उस मन्त्रीको जीतनेकी उसी प्रभुकी यदि इच्छा होती है, तो यत्नके बिना उसके ऊपर विजय प्राप्त होती है ॥ २३ ॥

तीनों लोकोंमें जितने बलवान् हैं, उन्हें अपने बलसे जीतनेवाले और तीनों लोकोंको मर रहे जन्तुके समान उच्छ्वासित कर देनेवाले उसे जीतनेकी यदि तुम्हें शक्ति है, तो तुम निश्चित पराक्रमशाली हो ॥ २४ ॥

तस्मिन्नभ्युदिते सूर्ये त्रैलोक्यकमलाकराः ।
इमे विकासमायान्ति विलीयन्तेऽस्तमागते ॥ २५ ॥
तमेवमेकया बुद्ध्या व्यामोहपरिहीनया ।
यदि जेतुं समर्थोऽसि धीरस्तदसि सुव्रत ॥ २६ ॥
तस्मिञ्जिते जिता लोका भविष्यन्त्यजिता अपि ।
अजिते त्वजिता एते चिरकालजिता अपि ॥ २७ ॥
तस्मादनन्तसिद्ध्यर्थं शाश्वताय सुखाय च ।
तज्जये यत्नमातिष्ठ कष्टयाऽपि हि चेष्टया ॥ २८ ॥
ससुरदनुजनागयक्षसङ्घं सनरमहोरगकिन्नरं समेतम् ।
त्रिजगदपि वशीकृतं समन्तादतिबलिना ननु हेलयैव तेन ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे विरोचनवचनं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

उसमें सबको जीतनेकी केवल शक्ति ही नहीं है, किन्तु त्रैलोक्यको उत्पन्न करनेकी शक्ति भी है, ऐसा कहते हैं—'**तस्मिन्**' इत्यादिसे ।

सूर्यरूपी उस मन्त्रीका उदय होनेपर ये त्रिलोकरूपी कमल-तड़ाग विकासको प्राप्त होते हैं और उसके अस्त होनेपर विलीन हो जाते हैं ॥ २५ ॥

व्यामोहरहित एकाग्र बुद्धिसे उसे इस प्रकार जीतनेके लिए यदि तुम समर्थ हो, तो हे सुव्रत, तुम धीर हो ॥ २६ ॥

उसके ऊपर विजय प्राप्त होनेपर अजित लोग भी विजित हो जाते हैं। यदि उसपर विजय प्राप्त न हुई, तो जो चिरकालसे विजित हैं, वे लोग भी अविजित ही हैं ॥ २७ ॥

इसलिए मृत्युपर विजय प्राप्त करनेके लिए और अक्षय सुखके लिए श्रमसे होनेवाली सर्वत्याग आदि चेष्टा द्वारा भी उसपर विजय पानेके लिए यत्नवान् होओ ॥२८॥

अतिबलशाली उसने अनायास ही देवता, दानव, नाग और यक्षोंके समूहोंसे युक्त तथा मनुष्य, सर्प और किन्नरोंके सहित सारे त्रैलोक्यको चारों ओरसे अपने वशमें किया है ॥ २९ ॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चतुर्विंशः सर्गः

बलिरुवाच

केनोपायेन बलवान् स तात परिजीयते ।
कोऽसावतिमहावीर्यः सर्वं प्रकथयाऽऽशु मे ॥ १ ॥

विरोचन उवाच

मन्त्रिणस्तस्य तनय नित्याजेयस्थितेरपि ।
शृणु वच्मि सुसाधत्वं येनाऽसौ परिजीयते ॥ २ ॥
पुत्र युक्त्या गृहीतोऽसौ क्षणादायाति वश्यताम् ।
युक्तिं विना दहत्येष आशीविष इवोद्धतः ॥ ३ ॥
बालवल्लालयित्वैनं युक्त्या नियमयन्ति ये ।
राजानं तं समालोक्य पदमासादयन्ति ते ॥ ४ ॥

चौबीसवाँ सर्ग

[राजाके दर्शनमें उपायभूत वैराग्य आदिके साथ उस दुष्ट मन्त्रीपर विजयप्राप्तिके उपायका वर्णन]

बलिने कहा—हे तात, उस बलवान् मन्त्रीपर किस उपायसे विजय प्राप्त की जा सकती है तथा महाबलशाली वह कौन है ? कृपाकरके यह सब शीघ्र मुझसे कहिये ॥ १ ॥

विरोचनने कहा—हे पुत्र, यद्यपि वह मन्त्री नित्य अजेय स्थितिवाला है, तथापि उसको सुखसे जीतनेका उपाय मैं तुमसे कहता हूँ, जिससे उसपर विजय प्राप्त की जा सकती है, उसे तुम सुनो ॥ २ ॥

हे पुत्र, युक्तिसे पकड़ा गया वह एक क्षणमें वशीभूत हो जाता है। युक्तिके बिना तो वह दुर्दान्त साँपके समान दाह उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥

जो लोग बालककी नाईं उसे थोड़ेसे विषयप्रदान और बार-बार विषयदोष-प्रख्यापन द्वारा वञ्चित कर राजयोगनामक युक्तिसे वशमें करते हैं, वे उस राजाका साक्षात्कार कर राजाके पदको प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

दृष्टे तस्मिन् महीपाले स मन्त्री वशमेति च ।
तस्मिंश्च मन्त्रिण्याक्रान्ते स राजा दृश्यते पुनः ॥ ५ ॥
यावन्न दृष्टो राजाऽसौ तावन्मन्त्री न जीयते ।
मन्त्री च यावन्न जितस्तावद्राजा न दृश्यते ॥ ६ ॥
राजन्यदृष्टे दुर्मन्त्री स दुःखाय फलत्यति ।
मन्त्रिण्यनिर्जिते राजा सोऽत्यन्तं यात्यदृश्यताम् ॥ ७ ॥
अभ्यासेनोभयं तस्मात् सममेव समारभेत् ।
राजसंदर्शनं तस्य मन्त्रिणश्च पराजयम् ॥ ८ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन स्वभ्यासेन शनैः शनैः ।
द्वयं सम्पाद्य यत्नेन देशमाप्नोषि तं शुभम् ॥ ९ ॥
त्वमभ्यासे फलीभूते तं देशमभिगच्छसि ।
यदि दैत्येन्द्र तद्भूयो मनागपि न शोचसि ॥ १० ॥
संशान्तसकलायासा नित्यप्रमुदिताशयाः ।
साधवस्तत्र तिष्ठन्ति प्रशान्ताशेषसंशयाः ॥ ११ ॥

उस राजाका साक्षात्कार होनेपर वह मन्त्री वशमें आता है । उस मन्त्रीके वशीभूत होनेपर राजाका साक्षात्कार होता है ॥ ५ ॥

जबतक राजाका साक्षात्कार नहीं होता तबतक मन्त्रीपर विजय प्राप्त नहीं हो सकती, जबतक मन्त्रीपर विजय प्राप्त न हुई, तबतक राजाका साक्षात्कार नहीं होता ॥ ६ ॥

राजाका साक्षात्कार न होनेपर वह दुष्ट मन्त्री अत्यन्त दुःखके लिए राग-द्वेष आदि पैदा करता है और मन्त्रीपर विजय न होनेपर वह राजा सर्वथा अदृश्यताको प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

इसलिए अभ्याससे राजदर्शन और मन्त्रिपराजय इन दोनोंका एक साथ आरम्भ करना चाहिये ॥ ८ ॥

पौरुष प्रयत्नरूप सुन्दर अभ्याससे धीरे-धीरे उक्त दोनोंका प्रयत्नसे सम्पादन कर तुम उस शुभ मोक्षरूप देशको प्राप्त हो रहे हो ॥ ९ ॥

अभ्यासके सफल होनेपर यदि तुम उस देशको प्राप्त होओगे, तो हे दैत्येन्द्र, तुम्हें फिर तनिक भी शोक नहीं रहेगा ॥ १० ॥

जिन लोगोंके सब आयास शान्त हो गये हैं, जिनका आशय सदाके लिए

श्रृणु कः पुत्र देशोऽसौ सर्वं प्रकटयामि ते ।
देशनाम्ना मयोक्तस्ते मोक्षः सकलदुःखहा ॥ १२ ॥

राजा तु तत्र भगवानात्मा सर्वपदातिगः ।
तेन मन्त्री कृतः प्राज्ञो मनो नाम महामते ॥ १३ ॥

मनोनिष्ठतया विश्वमिदं परिणतिं गतम् ।
घटत्वेनेव मृत्पिण्डो धूमोऽम्बुदतयैव च ॥ १४ ॥

तस्मिञ्जिते जितं सर्वं सर्वमासादितं भवेत् ।
दुर्जयं तद्विजानीयाद् युक्त्यैव परिजीयते ॥ १५ ॥

बलिरुवाच

या युक्तिर्भगवंस्तस्य चित्तस्याऽऽक्रमणे स्फुटम् ।
तां मे कथय तत्त्वावद्यथा जेष्यामि दारुणम् ॥ १६ ॥

प्रफुल्लित हो उठा है और जिनके सब सन्देह शान्त हो चुके हैं, ऐसे साधुजन उस शुभ देशमें निवास करते हैं ॥ ११ ॥

अब गूढ़ोक्तिका विवरण करते हैं—'श्रृणु' इत्यादिसे ।

हे पुत्र, कौन वह देश है, यह सब मैं तुमसे प्रकट करता हूँ, सुनो—सम्पूर्ण दुःखोंका नाश करनेवाला मोक्ष ही मैंने देशनामसे तुमसे कहा है ॥ १२ ॥

हे महामते, वहाँपर मनुष्य आदिके आनन्दसे लेकर हिरण्यगर्भके आनन्द-पर्यन्त सम्पूर्ण पदोंका अतिक्रमण करनेवाले, वाणी और मनके अगोचर, भगवान् आत्मा ही राजा हैं । उन्होंने सब प्रज्ञाओंके समष्टिभूत मनको अपना मन्त्री बनाया ॥ १३ ॥

जैसे मिट्टीका पिण्ड घटरूपसे तथा धूम बादलके रूपसे स्थूलताको प्राप्त होता है, वैसे ही यह विश्व वासनात्मक सूक्ष्मभावसे मनमें स्थित होकर ही स्थूलताको प्राप्त हुआ है ॥ १४ ॥

उस मन्त्रीके विजित होनेपर सब जीतनेके योग्य पदार्थ जीत लिये जाते हैं तथा सब प्राप्त करनेके योग्य पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं । उसे अत्यन्त दुर्जय जानना चाहिये, वह युक्तिसे ही जीता जाता है ॥ १५ ॥

बलिने कहा—हे भगवन्, उस चित्तकी विजयमें जो युक्ति हो, उसे आप स्पष्टरूपसे कहिये, जैसे कि मैं उस दारुण मनको जीतूँगा ॥ १६ ॥

विरोचन उवाच

विषयान् प्रति भोः पुत्र सर्वानेव हि सर्वथा ।
अनास्था परमा ह्येषा सा युक्तिर्मनसो जये ॥ १७ ॥
एषैव परमा युक्तिरनयैव महामदः ।
स्वमनोमत्तमातङ्गो द्रागित्येवाऽवदम्यते ॥ १८ ॥
एषा ह्यत्यन्तदुष्प्रापा सुप्रापा च महामते ।
अनभ्यस्ताऽतिदुष्प्रापा स्वभ्यस्ता प्राप्यते सुखम् ॥१९॥
क्रमादभ्यस्यमानैषा विषयारतिरात्मज ।
सर्वतः स्फुटतामेति सेकसिक्ता लता यथा ॥ २० ॥
नाऽऽसाद्यते ह्यनभ्यस्ता काङ्क्षिताऽपि शठात्मना ।
पुत्र शालिरिवाऽव्युप्ता तस्मादेनां समाहर ॥ २१ ॥
तावद् भ्रमन्ति दुःखेषु संसारावटवासिनः ।
विरतिं विषयेष्वेते यावन्नाऽऽयान्ति देहिनः ॥ २२ ॥

विरोचनने कहा—हे पुत्र, सभी विषयोंके प्रति जो यह सर्वथा अत्यन्त अस्पृहा है, वही मनकी विजयके लिए युक्ति है ॥ १७ ॥

यही परम युक्ति है, इसीके द्वारा महामदमत्त अपने मनरूपी मत्त हस्तीका शीघ्र ही दमन किया जाता है ॥ १८ ॥

हे महामते, यह युक्ति अत्यन्त दुष्प्राप्य है और सहजमें प्राप्त होनेवाली भी है । अगर इसका अभ्यास न किया जाय, तो अत्यन्त दुष्प्राप्य है । भली भाँति यदि अभ्यास किया जाय, तो अनायास प्राप्त होती है ॥ १९ ॥

हे पुत्र, इन विषयोंमें विरक्तिका यदि क्रमसे अभ्यास किया जाय, तो यह जैसे सेकसे सींची गई लता चारों ओरसे स्फुटताको प्राप्त होती है वैसे ही शान्ति आदिरूप शाखा-प्रशाखाओंके विस्तारसे व्यक्तताको प्राप्त होती है ॥ २० ॥

हे पुत्र, जैसे बोये बिना धान नहीं मिलते वैसे ही यदि विरक्तिका अभ्यास न किया जाय, तो भोगोंमें लुब्ध पुरुष कितना ही इसे क्यों न चाहे, पर यह नहीं मिलती, इसलिए इसको अभ्याससे स्थिर करो ॥ २१ ॥

संसाररूपी गर्तमें निवास करनेवाले ये जीव तबतक विविध दुःखोंमें भटकते हैं, जबतक विषयोंमें वैराग्यको प्राप्त नहीं होते ॥ २२ ॥

अभ्यासेन विना कश्चिन्नाऽऽप्नोति विषयारतिम् ।
अप्यत्यन्तबलो देही देशान्तरमिवाऽगतिः ॥ २३ ॥
ध्येयत्यागमतोऽजस्रं ध्यायता देहधारिणा ।
भोगेष्वरतिरभ्यासाद् वृद्धिं नेया लता यथा ॥ २४ ॥
पुरुषार्थादृते पुत्र नेह संप्राप्यते शुभम् ।
क्रियाफलं परिप्राप्तुं हर्षामर्षविवर्जितम् ॥ २५ ॥
दैवमित्युच्यते लोके न दैवं देहवत् क्वचित् ।
अवश्यं भवितव्याख्या स्वेह या नियतिक्रिया ॥ २६ ॥
उच्यते दैवशब्देन सा नरैरेव नेतरैः ॥ २७ ॥

जैसे अत्यन्त बलवान् भी देही यदि गमन न करे तो अन्य देशको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही अभ्यासके बिना कोई भी जीव चाहे वह कितना ही बलवान् क्यों न हो, विषयोंमें विरक्तिको प्राप्त नहीं होता ॥ २३ ॥

इसलिए निरन्तर पूर्वोक्त जीवन्मुक्तिके हेतुभूत ध्येयवासनात्यागकी अभिलाषा कर रहे देहधारीको अभ्याससे भोगोंमें विरक्ति ऐसे बढ़ानी चाहिये जैसे कि सेक आदिसे लता बढ़ाई जाती है ॥ २४ ॥

अकस्मात् सब विषयोंका त्याग नहीं किया जा सकता; किन्तु क्रमसे एक-एक विषयका चिरकालतक त्याग कर पुनः कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा सेवन करता हुआ पुरुष क्रमसे वैराग्यकी दृढ़ता होनेपर सबका त्याग करे। वैराग्यकी दृढ़तामें हर्ष, क्रोध, चञ्चलता आदिकी प्राप्तिका निवारण करनेवाली पौरुषदृढ़ता आवश्यक है, इस आशयसे कहते हैं—'**पुरुषार्थात्**' इत्यादिसे ।

हे पुत्र, पुरुषार्थके सिवाय हर्ष-क्रोधसे रहित क्रियाफलको प्राप्त करनेके लिए अनुकूल शुभ साधन यहांपर प्राप्त नहीं होता ॥ २५ ॥

यदि कोई कहे दैवसे ही उसकी प्राप्ति क्यों न हो जायगी ? तो इसपर कहते हैं—'**दैवम्**' इत्यादिसे ।

यद्यपि संसारमें लोग दैव कहते हैं; तथापि दैव कोई देहधारी वस्तु नहीं है, किन्तु अवश्यभवितव्यतानामक जो नियतिप्रयुक्त अपनी शुभाशुभ क्रिया है, वह मानुषदृष्टिवाले पुरुषोंसे ही दैव कही जाती है, न कि दिव्य शास्त्रीय दृष्टिवाले पुरुषोंसे; अतः दैव भी पुरुषप्रयत्न ही है, उससे भिन्न नहीं है ।

यद्यस्येह यदा यत्र सम्पन्नं समतां गतम् ।
हर्षामर्षविनाशाय तद्दैवमिति कथ्यते ॥ २८ ॥
दैवं नियतिरूपं च पौरुषेणोपजीयते ।
सम्यग्ज्ञानविलासेन मृगतृष्णाभ्रमो यथा ॥ २९ ॥
यथा सङ्कल्प्यते यद्यत् पौरुषेण तथैव तत् ।
फलवत्तागृहीतत्वे फलवत्तासुखप्रदम् ॥ ३० ॥
कर्ता नो मन एवेह यत्कल्पयति तत्तथा ।
नियतिं यादृशीमेतत्सङ्कल्पयति सा तथा ॥ ३१ ॥
नियतानियतान् कांश्चिदर्थाननियतानपि ।
करोति चित्तं तेनैतच्चित्तं नियतियोजकम् ॥ ३२ ॥

शङ्का—प्रयत्नके बिना भी दैवसे ही किन्हींको हर्ष और क्रोधकी शान्ति दिखाई देती है, सो कैसे ?

समाधान—हर्ष और क्रोधके हेतुभूत कर्मका क्षय होनेपर जब जहां जिसका जो ही हर्ष और क्रोधके विनाशके लिए सम्पन्न हुआ, वही यहां दैवशब्दसे कहा जाता है ॥ २६–२८ ॥

जैसे मृगतृष्णाभ्रम मरुभूमिके तत्त्वज्ञानसे जीता जाता है, वैसे ही नियतिरूप दैव वैराग्यदार्ढ्य, अभ्यास आदिरूप पौरुषसे थोड़े ही समयमें जीता जाता है ॥२९॥

यदि दैवनामक नियति पौरुषनामक नियतिसे जीती जाती है, तो नियतिके फलमें नियम न होनेके कारण अनियम हो जायगा ? ऐसा यदि कहो, तो इष्टापत्ति है, क्योंकि मनके सङ्कल्पसे उत्पन्न सब पदार्थोंमें यदि कोई बाधक न हो, तो प्रमाणोंसे फलवत्ता गृहीत है, अतः मनःसंकल्पजन्य पौरुष फलवत्ता द्वारा सुखप्रद है, ऐसा ही नियम माना गया है, ऐसा कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जिस-जिस वस्तुका जैसे सङ्कल्प किया जाता है, वह वैसे ही प्रमाणोंसे फलवत्ताके गृहीत होनेपर पौरुषसे फलवत्ता द्वारा सुखप्रद होता है ॥ ३० ॥

हमारे मतमें कर्ता भी मन ही है, वह यहांपर जिस वस्तुकी जैसी कल्पना करता है, वह वैसे ही होती है । वह जैसी नियतिका सङ्कल्प करता है, वह वैसे ही होती है ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्त कथनका ही उपपादन करते हैं—'**नियता०**' इत्यादिसे ।

नियत्यां नियतिं कुर्वन् कदाचित् स्वार्थनामिकाम् ।
स्फुरत्यस्मिञ्जगत्कोशे जीवो व्योम्नीव मारुतः ॥ ३३ ॥
नियत्या विहितं कुर्वन् कदाचिन्नियतिं चरः ।
संज्ञार्थं रूढनियतिशब्दः स्फुरति सानुवत् ॥ ३४ ॥
तस्माद्यावन्मनस्तावन्न दैवं नियतिर्न च ।
मनस्यस्तंगते साधो यद् भवत्यस्तु तत्तथा ॥ ३५ ॥
जीवो हि पुरुषो जातः पौरुषेण स यद्यथा ।
संकल्पयति लोकेऽस्मिंस्तत्तथा तस्य नाऽन्यथा ॥ ३६ ॥

चित्त स्वभावतः नियत फलवाले, अपवाद विषयोंमें अनियत फलवाले व्यावहारिक पदार्थोंका एवं अत्यन्त अनियत फलवाले प्रातिभासिक पदार्थोंका भी निर्माण करता है, इसलिए यह चित्त नियतिका भी उपपादक है ॥ ३२ ॥

इसलिए वस्तुके पारमार्थिक होनेपर तद्विषयक बोधमें नियतफलता ही है। दैवके अथवा कर्मके समान अनियतफलता नहीं है, इस आशयसे कहते हैं— **'नियत्याम्'** इत्यादिसे ।

यह चित्तरूप जीव कभी (मोक्षाधिकारी जन्ममें) नित्य नियत एक स्वभाववाले परमात्मामें प्रत्यक्परमार्थविषयक साक्षात्कारनामक निर्विकल्प समाधि करता हुआ जैसे वायु आकाशमें स्फुरित होता है, वैसे ही इस जगत्कोशमें स्फुरित होता है यानी स्वस्वभावमें प्रकाशित होता है ॥ ३३ ॥

कभी (उत्थानकालमें) शास्त्ररूप नियमसे विहित वर्णाश्रमोचित कर्म करता हुआ, अज्ञानी लोगोंके बोधनके लिए 'ये याज्ञिक एवं सदाचारके प्रवर्तक हैं' इत्यादि रूपसे लोकमें प्रख्यात नियतिशब्दसे युक्त वह जैसे पर्वतका शिखर स्वयं निश्चल होता हुआ भी वायुके वेगसे वृक्षोंके चञ्चल होनेपर चञ्चल-सा और वृक्षोंके स्थिर होनेपर स्थिर-सा उदित होता है, वैसे ही नियतिके अनुसार चञ्चल व स्थिर होता है ॥ ३४ ॥

इसलिए जबतक मन है, तबतक न दैव है, न नियति है। मनके अस्त होनेपर जो होता है, वह वैसे ही रहे ॥ ३५ ॥

पुरुष कर्म और ज्ञानके अधिकारी शरीरको प्राप्त होकर पौरुषसे जिस पदार्थका जैसे सङ्कल्प करता है, वह वैसे होता है, उससे विपरीत नहीं होता ॥ ३६ ॥

पुरुषार्थादृते पुत्र न किञ्चिदिह विद्यते ।
परं पौरुषमाश्रित्य भोगेष्वरतिमाहरेत् ॥ ३७ ॥
न भोगेष्वरतिर्यावज्जायते भवनाशनी ।
न परा निर्वृतिस्तावत् प्राप्यते जयदायिनी ॥ ३८ ॥
विषयेषु रतिर्यावत्स्थिता संमोहकारिणी ।
तावद् भवदशादोला विलोलान्दोलनस्थितिः ॥ ३९ ॥
अभ्यासेन विना पुत्र न कदाचन दुःखदा ।
भोगभोगिभरप्रोता कदाशा विनिवर्तते ॥ ४० ॥

बलिरुवाच

भोगेष्वरतिरेवाऽन्तः कथं सर्वासुरेश्वर ।
स्थितिमायाति जीवस्य दीर्घजीवितदायिनी ॥ ४१ ॥

विरोचन उवाच

आत्मावलोकनलता फलिनी फलति स्फुटम् ।
जीवस्य भोगेष्वरतिं शरदीव महालता ॥ ४२ ॥

सङ्कल्पके स्वाधीन होनेपर पौरुष द्वारा वैराग्य आदि साधनोंका सम्पादन कर परम पुरुषार्थरूप ब्रह्मात्मभावका ही सङ्कल्प करना चाहिये, देहात्मभावका सङ्कल्प नहीं करना चाहिये, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'पुरुषार्थात्'** इत्यादिसे ।

हे पुत्र, पुरुषार्थके सिवाय यहांपर कुछ भी नहीं है, इसलिए पुरुष परम पौरुषका अवलम्बन कर भोगोंके प्रति वैराग्य करे । जबतक संसारका विनाश करनेवाली भोगोंमें विरक्ति नहीं होती, तबतक विजय देनेवाली परम विश्रान्ति प्राप्त नहीं होती । जबतक मोहमें डालनेवाली विषयोंमें रति रहती है, तबतक संसारदशारूपी दोला चञ्चल आन्दोलनवाली रहती है । हे पुत्र, अभ्यासके बिना भोगरूपी साँपोंके समूहोंसे भरी हुई दुःखदायिनी दुराशा कभी निवृत्त नहीं होती ॥ ३७–४० ॥

बलिने कहा—हे सब असुरोंके अधिपति, नित्यात्मभावरूप स्थिति देनेवाली भोगोंमें अरति ही जीवके अन्तःकरणमें कैसे स्थिर होती है ? ॥ ४१ ॥

विरोचनने कहा—हे पुत्र, मोक्षरूप फलवाली आत्म-साक्षात्काररूप लता भोगोंमें जीवकी अरति इस प्रकार स्पष्टरूपसे पैदा करती है, जैसे कि अंगूर आदिकी महालता शरद् ऋतुमें कच्चे फल पैदा करती है ॥ ४२ ॥

आत्मावलोकनेनैषा विषयारतिरुत्तमा ।
हृदये स्थितिमायाति श्रीरिवाऽम्भोजकोटरे ॥ ४३ ॥
तस्मात् प्रज्ञानिकाषेण विचारेणाऽतिचारुणा ।
देवमालोकयेद् भोगाद् रतिं चाऽवहरेत् समम् ॥ ४४ ॥
चित्तस्य भोगैर्द्वौ भागौ शास्त्रेणैकं प्रपूरयेत् ।
गुरुशुश्रूषया चैकमव्युत्पन्नस्य सत्क्रमे ॥ ४५ ॥
किञ्चिद्व्युत्पत्तियुक्तस्य भागं भोगैः प्रपूरयेत् ।
गुरुशुश्रूषया भागौ भागं शास्त्रार्थचिन्तया ॥ ४६ ॥
व्युत्पत्तिमनुयातस्य पूरयेच्चेतसोऽन्वहम् ।
द्वौ भागौ शास्त्रवैराग्यैर्द्वौ ध्यानगुरुपूजया ॥ ४७ ॥

जैसे लक्ष्मी कमलके अन्दर निवास करती है, वैसे ही यह विषयोंमें उत्तम अरति आत्मसाक्षात्कारसे हृदयमें निवास करती है ॥ ४३ ॥

इसलिए पुरुष प्रज्ञारूप मणिकी कसौटी, अति उत्तम विचारसे परब्रह्म परमात्माका दर्शन करे और साथ ही साथ भोगोंके प्रति अनुरागको हटावे ॥४४॥

चित्तके परिपाकके अनुसार भूमिकाभेदोंके कहनेकी इच्छावाले विरोचन पहली भूमिका कहते हैं—**'चित्तस्य'** इत्यादिसे ।

अव्युत्पन्न चित्तके सन्मार्गारम्भमें दिनके दो भागोंको एकमात्र देहके भोगोपायोंसे पूर्ण करे, एक भागको शास्त्रश्रवणसे पूर्ण करे और एक भागको गुरुशुश्रूषासे पूर्ण करे ॥ ४५ ॥

प्रथम भूमिकापर विजय प्राप्त होनेके अनन्तर उसके आगेकी भूमिका कहते हैं—**'किञ्चित्'** इत्यादिसे ।

कुछ व्युत्पत्तियुक्त चित्तके सन्मार्गारम्भमें दिनके एक भागको भोगोंसे पूर्ण करे, दो भागोंको गुरुशुश्रूषासे बितावे; क्योंकि अधिक समयतक गुरुकी सन्निधिमें रहनेपर समय-समयपर गुरुओंसे अपना सन्देह होनेपर पूछा जा सकता है और एक भागको शास्त्रार्थके चिन्तनसे बितावे ॥ ४६ ॥

द्वितीय भूमिकापर विजय प्राप्त होनेपर उसके आगेकी भूमिका कहते हैं—**'व्युत्पत्तिम्'** इत्यादिसे ।

व्युत्पत्तिको (रत्नतत्त्वके समान चिरकालकी परीक्षासे यथार्थ निश्चयको) प्राप्त

साधुतामागतो जीवो योग्यो ज्ञानकथाक्रमे ।
निर्मलाकृतिरादत्ते पट उत्तमरञ्जनाम् ॥ ४८ ॥
शनैः शनैर्लालनीयं युक्तिभिः पावनोक्तिभिः ।
शास्त्रार्थपरिणामेन पालयेच्चित्तबालकम् ॥ ४९ ॥
परे परिणतं ज्ञाने शिथिलीभूतदुर्ग्रहम् ।
ज्योत्स्नाहीनस्फटिकवच्चेतः शीतं विराजते ॥ ५० ॥
प्रज्ञया परया ऋज्व्या भोगानामीश्वरस्य च ।
सममेवाऽथ देहस्य रूपमाश्ववलोकयेत् ॥ ५१ ॥
प्रज्ञाविचारवशतः सममेव सदा सुत ।
आत्मावलोकनं तृष्णासंत्यागं च समाहरेत् ॥ ५२ ॥

हुए चित्तके सन्मार्गारम्भमें दिनके दो भागोंको शास्त्र और वैराग्यसे और दो भागोंको ध्यान और गुरु-पूजासे पूर्ण करना चाहिये ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्त चारों प्रकारके क्रमोंमें शुद्धचित्त पुरुष ही अधिकारी है, ऐसा कहते हैं—**'साधुताम्'** इत्यादिसे ।

साधुताको (शुद्धचित्तताको) प्राप्त हुआ पुरुष ही ज्ञानकथाके आरम्भमें योग्य है । निर्मल वस्त्र ही उत्तम रङ्गको ग्रहण करता है, मलिन ग्रहण नहीं करता ॥४८॥

थोड़े मलिन चित्तका ज्ञानकथाक्रममें कैसे अधिकार है ? इसपर कहते हैं—**'शनैः'** इत्यादिसे ।

दुःखके अन्वय-व्यतिरेकके प्रदर्शन और पवित्र श्रुति, स्मृति और गुरुके वचनोंसे धीरे-धीरे चित्तका लालन करना चाहिये । शास्त्रार्थमें चित्तके चिरपरिशीलन द्वारा आंवलेके मुरब्बेके समान मधुरैकरसताके परिणामसे चित्तका पालन करना चाहिये ॥ ४९ ॥

परम ज्ञानमें परिणत हुआ चित्त, जिसका बाह्य मलिनजड़ाकारग्रहण शिथिल हो गया, चांदनीसे युक्त स्फटिकके समान शीतल होकर विराजमान होता है ॥५०॥

जिसमें भेदसे विषमतारूप कुटिलता नहीं रह गई, ऐसी सरल उत्कृष्ट प्रज्ञासे वह इन्द्रिय, विषय और उनकी वृत्तियोंके, उनके स्वामी जीवके और भोगायतन देहके समानरूपसे अधिष्ठानभूत ब्रह्मको, जो सच्चिदानन्द अद्वितीय एकरस है, शीघ्र देखे ॥५१॥

विचारका फल तृष्णाका आत्यन्तिक त्याग भी तभी होता है, इस आशयसे कहते हैं—**'प्रज्ञा०'** इत्यादिसे ।

परदृष्टौ वितृष्णत्वं तृष्णाभावे च दृक्परा ।
एते मिथः स्थिते दृष्टी तेजोदीपदशे यथा ॥ ५३ ॥
भोगपूगे गतास्वादे दृष्टे देवे परावरे ।
परे ब्रह्मणि विश्रान्तिरनन्तोदेति शाश्वती ॥ ५४ ॥
विषयाकलितानन्दमनन्तोदेति निर्वृतिः ।
न कदाचन जीवानामात्मविश्रवणादृते ॥ ५५ ॥
यज्ञदानतपस्तीर्थसेवाभिर्जायते सुखम् ।
न तपोभिर्न दानेन न तीर्थैरपि जायते ।
भोगेषु विरतिर्जन्तोः स्वभावालोकनादृते ॥ ५६ ॥
कयाचिदपि नो युक्त्या बुद्धिरात्मावलोकने ।
स्वप्रयत्नादृते पुंसः श्रेयसे संप्रवर्तते ॥ ५७ ॥

हे पुत्र, प्रज्ञा द्वारा विचार करनेसे आत्मदर्शन और तृष्णाका त्याग इन दोनोंको एक ही कालमें करे ॥ ५२ ॥

विचारका फल पुरुषापराधनिवृत्ति और ज्ञानका फल मूलाविद्यानिवृत्ति पृथक् सिद्ध नहीं होते, ऐसा कहते हैं—**'परदृष्टौ'** इत्यादिसे ।

परमात्माका दर्शन होनेपर निःस्पृहता होती है और निःस्पृहता होनेपर परमात्मदर्शन होता है । जैसे अग्निकी प्रभावस्था और दीपाकारावस्था अन्धकार और तेल इन दोनोंकी निवर्तिका होकर परस्पर एक कालमें स्थित हैं वैसे ही ये दोनों दृष्टियां परस्पर एक कालमें स्थित हैं ॥ ५३ ॥

भोगोंके समूहके रसरहित होनेपर और परमोत्कृष्ट परब्रह्म देवका दर्शन होनेपर कभी नष्ट न होनेवाली असीम विश्रान्ति प्राप्त होती है ॥ ५४ ॥

किन्तु जो लोग भोगास्वादमें लम्पट हैं, उन्हें तो आत्मानन्दकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं—**'विषया०'** इत्यादिसे ।

विषयोंमें ही सारभूत आनन्द समझकर उनका आस्वादन करनेवाले जीवोंको इस जगत्में कभी भी आत्मश्रवणके बिना असीम निरतिशयानन्द प्राप्त नहीं होता ॥५५॥

यज्ञ, दान, तप और तीर्थसेवनसे अदृष्ट द्वारा विषयसुख ही होता है; किन्तु स्वात्माके अवलोकनके बिना तपसे, दानसे और तीर्थोंसे भी प्राणीकी विषयोंमें विरति नहीं होती ॥ ५६ ॥

हे पुत्र, अपने प्रयत्नके बिना पुरुषकी बुद्धि किसी भी युक्तिसे अपने कल्याणके

भोगसंत्यागसंप्राप्तपरमार्थादृते सुत ।
न ब्रह्मपदविश्रान्तिसुखमासाद्यते परम् ॥ ५८ ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते जगत्यस्मिन्न कुत्रचित् ।
तद्वदाश्वस्यते माते परमे कारणे यथा ॥ ५९ ॥
पौरुषं यत्नमाश्रित्य दैवं कृत्वा सुदूरतः ।
भोगान् विगर्हयेत् प्राज्ञः श्रेयोद्वारदृढार्गलान् ॥ ६० ॥
प्रौढायां भोगगर्हायां विचार उपजायते ।
वृद्धायां प्रावृषि श्रीमान् शरत्काल इवाऽमलः ॥ ६१ ॥
विचारो भोगगर्हातो विचाराद् भोगगर्हणम् ।
अन्योन्यमेते पूर्येते समुद्रजलदाविव ॥ ६२ ॥
भोगगर्हा विचारश्च स्वात्मालोकश्च शाश्वतः ।
अन्योन्यं साधयन्त्यर्थं सुस्निग्धाः सुहृदो यथा ॥ ६३ ॥

लिए आत्मावलोकनमें प्रवृत्त नहीं होती । हे पुत्र, भोगोंके त्यागसे प्राप्त हुए परमार्थके बिना परम ब्रह्मपदविश्रान्तिसुख नहीं मिलता ॥ ५७–५८ ॥

जैसे स्वात्मरूपसे अभिव्यक्त परम कारण परमात्मामें विश्राम किया जाता है वैसे विश्राम ब्रह्मसे लेकर स्तम्बपर्यन्त इस जगत्में कहींपर भी नहीं मिलता ॥५९॥

पौरुष प्रयत्नका अवलम्बन कर दैवका दूरसे त्याग कर प्राज्ञ पुरुष भोगोंकी, जो मुक्ति द्वारके मजबूत अर्गलसदृश हैं, गर्हा करे ॥ ६० ॥

भोगोंकी गर्हाके प्रौढ़ होनेपर विचार उत्पन्न होता है । जैसे कि वर्षा ऋतुके धान आदिकी फसलसे वृद्धियुक्त होनेपर धानोंकी फलसम्पत्तिसे सुशोभित निर्मल शरत्काल उत्पन्न होता है ॥ ६१ ॥

भोगोंकी गर्हासे विचार उत्पन्न होता है और विचारसे भोगोंकी गर्हा उत्पन्न होती है, ये दोनों जैसे समुद्र किरणों द्वारा मेघोंको भरता है और मेघ वृष्टि द्वारा समुद्रको भरते हैं वैसे ही परस्पर एक दूसरेको पूर्ण करते हैं ॥ ६२ ॥

भोगगर्हा, विचार और अविनाशी आत्मदर्शन ये तीनों जैसे परस्पर अत्यन्त प्रीतिवाले मित्र एक दूसरेके प्रयोजनको सिद्ध करते हैं वैसे ही परस्पर एक दूसरेकी वृद्धि करते हैं ॥ ६३ ॥

पूर्वं दैवमनादृत्य पौरुषेण प्रयत्नतः ।
दन्तैर्दन्तान् प्रसंपीड्य भोगेष्वरतिमाहरेत् ॥ ६४ ॥
देशाचाराविरुद्धेन बान्धवैकमतेन च ।
पौरुषेण क्रमेणाऽऽदौ धनानि समुपार्जयेत् ॥ ६५ ॥
धनैरभ्याहरेद् भव्यान् सुजनान् गुणशालिनः ।
प्रवर्तते समासंगात् तेषां भोगविगर्हणा ॥ ६६ ॥
ततो विचारस्तदनु ज्ञानं शास्त्रार्थसंग्रहः ।
ततः क्रमेण परमपदप्राप्तिः प्रजायते ॥ ६७ ॥
यदा तूपरते काले विषयेभ्यो विरंस्यसे ।
तदा विचारवशतः परमं पदमेष्यसि ॥ ६८ ॥
सम्यक् प्राप्स्यसि विश्रान्तिमात्मन्यत्यन्तपावने ।
न पुनः कल्पनापङ्के दुःखाय निपतिष्यसि ॥ ६९ ॥
स्थिताऽपि नाऽऽस्था ते शुद्ध नमस्तेऽस्तु सदाशिव ॥ ७० ॥

पहले दैवका अनादर कर पौरुष प्रयत्नसे दांतोंसे दांतोंको पीसकर भी भोगोंमें विरक्ति प्राप्त करे ॥ ६४ ॥

देश और आचारसे अविरुद्ध, बन्धु-बान्धवजनोंसे सम्मत पौरुषसे पहले क्रमशः धनोपार्जन करे । धनसे कुलीन गुणशाली सज्जनोंकी आराधना कर उन्हें वशीभूत करे, उनके सत्संगसे भोगोंमें गर्हा होती है ॥ ६५, ६६ ॥

तदनन्तर विचार होता है, विचारके बाद विचारित वाक्यार्थका ज्ञान होता है । उसके बाद गतिसामान्यन्यायके आलोचनसे सब श्रुतियोंके अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्यका निर्णय होता है । तदनन्तर क्रमसे परमपदप्राप्ति होती है ॥ ६७ ॥

विषयोंका त्याग करनेमें यदि इस समय असमर्थ हो, तो यौवन आदि कालके बीतनेपर जब विषयोंसे विरत होओगे, तभी विचारवश परमपदको पाओगे, इस समय नहीं ॥ ६८ ॥

तब अत्यन्त पवित्र आत्मामें पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त करोगे, फिर दुःखके लिए कल्पनारूपी पङ्कमें नहीं गिरोगे ॥ ६९ ॥

हे शुद्ध, तुम्हारी आस्था भोगोंमें स्थित भी नहीं है, जिससे कि तुम्हें अन्य-कालकी प्रतीक्षा करनी पड़े । अतएव तुम सदाशिव ही हो । अतः ब्रह्मभूत

देशक्रमेण धनमल्पविगर्हणेन
तेनाऽङ्ग साधुजनमर्जय मानपूर्वम् ।
तत्सङ्गमोत्थविषयाद्यवहेलनेन
सम्यग् विचारविभवेन तवाऽऽत्मलाभः ॥ ७१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे चित्तविचिकित्सायोगोपदेशो नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

बलिरुवाच

एतन्मे कथितं पूर्वं पित्रा चारुविचारिणा ।
इदानीं संस्मृतं दिष्ट्या संप्रबोधमहं गतः ॥ १ ॥

तुम्हारे लिए नमस्कार है [यद्यपि यहांपर पुत्रदृष्टिसे नमस्कार अनुचित है तथापि ब्रह्मदृष्टिसे उचित है, यह समझना चाहिये] ॥ ७० ॥

पूर्वोक्त अर्थका संक्षेप कर उपसंहार करते हैं—'**देश०**' इत्यादिसे ।

देश और आचारसे अविरुद्ध क्रमसे धनका उपार्जन करो । उस धनसे अत्यन्त तुच्छ भोगकी गर्हणा द्वारा यानी भोगके लिए धनव्यय न कर ब्रह्मवेत्ता जनोंको नमस्कार, सेवा, अन्न-वस्त्रदान आदि सम्मान द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करो । तदनन्तर सत्संगतिसे उत्पन्न हुए विषयोंके अनादरसे साधनचतुष्टयसम्पत्तिसे उत्पन्न अध्यात्मशास्त्रके सम्यक् विचारवैभवसे तुम्हें आत्मलाभ कण्ठस्थित-विस्मृत सुवर्णके लाभके समान होगा ॥ ७१ ॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

[सन्देहकी निवृत्तिके लिए शुक्राचार्यके चिन्तनकी इच्छासे बलिके हृदयमें विवेकरूपी चन्द्रमाके शुभोदयका वर्णन]

बलिने कहा—सुन्दर विचारवाले मेरे पिताने यह पहले मुझसे कहा था । इस समय भाग्यसे मुझे इसका स्मरण हो आया है; इससे मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ । आज

अद्येयं मम सञ्जाता भोगान् प्रत्यरतिः स्फुटम् ।
दिष्ट्या शमसुखं स्वच्छं विशाम्यमृतशीतलम् ॥ २ ॥
पुनरापूरयन्नाशां पुनरप्याहरन् धनम् ।
पुनरावर्जयन् कान्तां खिन्नोऽस्मि विभवस्थितौ ॥ ३ ॥
अहो नु खलु रम्येयं शमभूः शीतलान्तरा ।
सर्वा एव शमं यान्ति सुखदुःखदृशः शमे ॥ ४ ॥
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे शमे स्थितः ।
अयमन्तः प्रहृष्यामि चन्द्रबिम्ब इवाऽर्पितः ॥ ५ ॥
उत्ताण्डवन्मनोरंहःप्रेषितोरुशरीरकम् ।
अनारतपरिक्षोभं हा दुःखं विभवार्जनम् ॥ ६ ॥
अङ्गमङ्गेन सम्पीड्य मांसं मांसेन च स्त्रियः ।
पुराऽहमभवं प्रीतो यत्तन्मोहविजृम्भितम् ॥ ७ ॥

मेरी भोगोंके प्रति यह विरक्ति स्पष्टरूपसे उत्पन्न हो गई है। बड़े हर्षकी बात है कि मैं अमृतके समान शीतल, निर्मल शान्तिसुखमें प्रविष्ट हूँ ॥ १, २ ॥

पुनः पुनः अपनी आशाको पूर्ण कर रहा, पुनः पुनः धन बटोर रहा एवं पुनः पुनः प्रियाको प्रार्थना आदि द्वारा अपने अनुकूल कर रहा मैं सम्पत्तिके परिपालनके विषयमें संतप्त हो गया हूँ ॥ ३ ॥

अहा, अत्यन्त शीतल यह शान्तिभूमि बड़ी रमणीय है। शान्तिगुणमें सभी सुख-दुःखदृष्टियां नष्ट हो जाती हैं ॥ ४ ॥

शान्तिमें स्थित मैं शान्तिको प्राप्त हो रहा हूँ, चन्द्रबिम्बमें रक्खे हुएकी तरह मैं सन्तापरहित हो रहा हूँ, सुखपूर्वक स्थित हूँ एवं मेरा अन्तःकरण अत्यन्त प्रहृष्ट हो रहा है ॥ ५ ॥

धनोपार्जन, जिसमें भोगोंकी उत्कण्ठासे इधर-उधर तेजीसे नाच रहे मनके वेगसे विशाल शरीर जलाया जाता है और जिसमें निरन्तर क्षोभ भरा रहता है, दुःखरूप ही है ॥ ६ ॥

अब धनोपार्जनके फलरूप स्त्री आदिका भोग भी असार है, ऐसा विचार कर उनके लिए शोक करते हैं—'अङ्गम्' इत्यादिसे ।

पहले मैं स्त्रीके अङ्गसे अङ्गका मांससे मांसका संमर्दन कर जो प्रसन्न हुआ

दृष्टान्तदृष्टयो दृष्टा भुक्तं भोक्तव्यमक्षतम् ।
आक्रान्तमखिलं भूतं जातं किमिव शोभनम् ॥ ८ ॥
पुनस्तान्येव तान्येव तत्रेहाऽन्यत्र वाऽपि च ।
इतश्चेतश्च वस्तूनि नाऽपूर्वं नाम किञ्चन ॥ ९ ॥
सर्वमेव परित्यज्य परिहृत्य धिया स्वयम् ।
स्वस्थ एवाऽत्रतिष्ठेऽहं पूर्णात् पूर्ण इवाऽऽत्मनि ॥ १० ॥
पाताले भूतले स्वर्गे स्त्रियो रत्नोपलादयः ।
सारं तदपि तुच्छेन कालेनाऽऽशु निगीर्यते ॥ ११ ॥
एतावन्तमहं कालं भृशं बालोऽभवं पुरा ।
यः कुर्वन् द्वेषममरैस्तुच्छया जगदिच्छया ॥ १२ ॥

था, वह मेरा अज्ञानविलास ही था । सब वैभवोंके दृष्टान्तभूत महावैभव मैंने स्वयं देखे, बेरोक-टोक राज्यादि भोगोंका भोग किया, सब प्राणियोंको अपनी सामर्थ्यसे नत कर दिया, फिर भी अविनाशी सुख क्या उत्पन्न हुआ ? भाव यह कि अनादि संसारमें सभीका कभी ऐसा वैभव रहा होगा और मेरी भी अनेकों बार हजारों दुर्दशाएँ हुई होंगी और आगे भी हो सकती हैं, फिर यह वैभव कौन-सा शोभन है ॥ ७, ८ ॥

नया चमत्कार न दिखाई देने और चर्वितचर्वणरूप होनेसे भी ऐहिक और पारलौकिक भोगोंमें सार नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'पुनः'** इत्यादिसे ।

स्वर्गमें, इस लोकमें अथवा अन्य नागलोक आदिमें पुनः पुनः पूर्वानुभूत वे ही वस्तुएँ इधर-उधर स्थित हैं, कुछ भी नया नहीं है ॥ ९ ॥

इसलिए सभीका परित्याग कर और बुद्धिसे स्वयं परिहार कर प्राप्त हुए स्वरूपबोधसे पूर्णकी तरह स्थित मैं आत्मामें स्वस्थ होकर स्थित हूँ ॥ १० ॥

जो कुछ भी भोग अज्ञानियोंकी दृष्टिमें सारभूत प्रतीत होता है, वह भी नश्वर होनेसे अन्तमें दुःखदायी होता है । अतएव उनकी दृष्टिमें भी वह असार ही है, इस आशयसे कहते हैं—**'पाताले'** इत्यादिसे ।

पातालमें, भूतलमें स्वर्गमें, स्त्रियां, रत्न, मणियां आदि जो सार पदार्थ हैं, उन्हें भी तुच्छ काल शीघ्र निगल जाता है ॥ ११ ॥

पहले इतने समयतक तुच्छ जगत्के आधिपत्यकी इच्छासे देवताओंके साथ द्वेष करता हुआ मैं अत्यन्त मूर्ख ही हुआ था ॥ १२ ॥

मनोनिर्माणमात्रेण जगन्नाम्ना महाधिना ।
त्यक्तेनाऽनेन[1] कोऽर्थः स्यात् कोऽनुरागो महात्मनः ॥१३॥
कष्टं चिरतरं कालमनर्थोऽर्थधिया मया ।
अज्ञानमदमत्तेन कालेन स्वेन सेवितः ॥ १४ ॥
तरत्तरलतृष्णेन किमिवाऽस्मिञ्जगत्त्रये ।
मया न कृतमज्ञेन पश्चात्तापाभिवृद्धये ॥ १५ ॥
एतया तदलं मेऽस्तु तुच्छया पूर्वचिन्तया ।
पौरुषं याति साफल्यं वर्तमानचिकित्सया ॥ १६ ॥
अद्याऽपरिमिताकारकारणैकतयाऽऽत्मनि ।
सर्वतः सुखमभ्येति रसायनमिवाऽर्णवे ॥ १७ ॥

एकमात्र मनके निर्माणरूप जगदाधिपत्यनामक इस महामानसिक दुःखका त्याग न करनेसे कौन पुरुषार्थ है और महात्माका उसमें राग ही क्या है ? भाव यह है कि अनुराग होनेपर ही उसमें पुरुषार्थता बुद्धि हो सकती है, पर महात्माका उसमें अनुराग नहीं होता ॥ १३ ॥

कष्टकी बात है, अज्ञानरूपी मदसे मत्त अपने मृत्युभूत स्वयं ही मैंने बहुत समयतक अनर्थका पुरुषार्थबुद्धिसे सेवन किया ॥ १४ ॥

अत्यन्त चञ्चल तृष्णावाले अज्ञानी मैंने इस त्रिजगत्में अपने पश्चात्तापकी अभिवृद्धिके लिए क्या नहीं किया ? ॥ १५ ॥

अथवा बीते हुएके लिए शोक करनेसे क्या प्रयोजन है ? अब मैं वर्तमान मोहचिकित्सा द्वारा पुरुषजन्मकी सफलताके उपायका चिन्तन करूँ, ऐसा कहते हैं—**'एतया'** इत्यादिसे ।

इसलिए इस तुच्छ अतीतकी चिन्तासे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? वर्तमान मोहके प्रतीकारसे पुरुषजन्म सफलताको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

जैसे अपरिच्छिन्नस्वरूप ब्रह्मके साथ अभेदस्थितिसे आत्मामें चारों ओरसे पूर्ण सुख—क्षीरसागरमें अमृतमथनसे रसायनके समान—आविर्भूत होता है वैसे मैं आज शुक्राचार्यजीसे पूछता हूँ ॥ १७ ॥

१—'अत्यक्तेन' ऐसा पदच्छेद करना चाहिये ।

कोऽयं तावदहं किं स्यादात्मेत्यात्मावलोकनम् ।
पृच्छाम्यौशनसं नाथं नूनमज्ञानशान्तये ॥ १८ ॥
संचिन्तयामि परमेश्वरमाशु शुक्र-
मुद्यत्प्रसादमथ तेन गिरोपदिष्टे ।
तिष्ठाम्यनन्तविभवे स्वयमात्मनात्म-
न्यक्षीणमर्थमुपदेशगिरः फलन्ति ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे बलिचिन्तासिद्धान्तयोगोपदेशो नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥२५॥

षड्विंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति संचिन्त्य बलवान् बलिरामीलितेक्षणः ।
दध्यौ कमलपत्राक्षं शुक्रमाकाशमन्दिरम् ॥ १ ॥

यह प्रपञ्च क्या है, अहंप्रत्ययवेद्य जीवतत्त्व क्या है ? इस आत्मदर्शनके उपायको मैं अज्ञानकी शान्तिके लिए अपने कुलगुरु होनेसे कुलके ईश्वर शुक्राचार्यजीसे पूछता हूँ ॥ १८ ॥

मैं योगसिद्ध होनेसे सब अभिलाषोंके अधिपति आश्रित जनोंपर सदा प्रसन्न शुक्राचार्यजीका चिन्तन करता हूँ । उनके द्वारा वाणीसे उपदिष्ट अनन्त वैभवशाली आत्मामें स्वयं अपनेसे स्थित होऊँगा, क्योंकि महात्माओंकी उपदेशवाणियां अक्षय-वस्तुको उत्पन्न करती हैं, कभी भी विफल नहीं होतीं ॥ १९ ॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

[स्मृतिसे बलिके समीप गये हुए शुक्राचार्यके बलिके प्रति तत्त्वज्ञानोपदेशका और तदनन्तर आकाशगमनका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, बलवान् बलिने ऐसा सोचकर, आंखें बन्द कर कमलनयन शुक्राचार्यका, जिनका ब्रह्माकाश ही विश्रान्तिस्थान है, ध्यान किया ॥ १ ॥

सर्वस्थं चिन्तयानं तु नित्यध्यानोऽथ भार्गवः ।
चेतःस्थं ज्ञातवान् शिष्यं बलिं गुर्वर्थिनं पुरे ॥ २ ॥
अथ सर्वगतानन्तचिदात्मा भार्गवः प्रभुः ।
आनिनाय सदेहं स्वं रत्नवातायनं बलेः ॥ ३ ॥
गुरुदेहप्रभाजालपरिमृष्टतनुर्बलिः ।
बुबुधे प्रातरर्कांशुसंबोधितमिवाऽम्बुजम् ॥ ४ ॥
तत्र रत्नार्घ्यदानेन मन्दारकुसुमोत्करैः ।
पादाभिवन्दनैरेनं पूजयामास भार्गवम् ॥ ५ ॥
रत्नार्घ्यपरिपूर्णाङ्गं कृतमन्दारशेखरम् ।
महार्हासनविश्रान्तमथोवाच गुरुं बलिः ॥ ६ ॥

बलिरुवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादोत्था प्रतिभेयं पुरस्तव ।
नियोजयति मां वक्तुं कार्यं कर्तुमिवाऽर्कभाः ॥ ७ ॥

तदनन्तर नित्य समाधिपरायण शुक्राचार्यजीने सबके अन्तर्यामी ब्रह्मरूप होनेके कारण सबमें स्थित अपना चिन्तन कर रहे अपने चित्तमें स्थित शिष्य बलिको अपने नगरमें तत्त्वजिज्ञासासे गुरुदर्शनके लिए इच्छुक जाना ॥ २ ॥

तदनन्तर भगवान् शुक्राचार्यजी, जो सर्वगत अनन्त चिदात्मा हैं, देहसहित अपनेको बलिके रत्नमय झरोखेके प्रति ले आये ॥ ३ ॥

बलि, जिनका शरीर गुरुकी देहप्रभासे सुशोभित था, जैसे प्रातःकालमें सूर्यकी किरणोंसे विकसित कमल उद्बुद्ध होता है, वैसे ही उठ खड़े हुए ॥ ४ ॥

वहांपर राजा बलिने रत्नमय अर्घ्यके प्रदानसे, मन्दारवृक्षके फूलोंकी राशियोंसे और पादाभिवन्दनसे शुक्राचार्यजीकी पूजा की ॥ ५ ॥

बलिने रत्नमय अर्घ्यसे पूर्ण शरीरवाले, मन्दारपुष्पोंके शिरोभूषणसे विभूषित और बहुमूल्य आसनपर बैठे हुए गुरुसे कहा ॥ ६ ॥

बलिने कहा—हे भगवन्, जैसे सूर्यकी प्रभा सन्ध्यावन्दन आदि कार्य करनेके लिए लोगोंको प्रेरित करती है, वैसे ही आपकी प्रसन्नतासे उत्पन्न हुई मेरी यह प्रतिभा मुझे आपके सामने कहनेके लिए प्रेरित करती है ॥ ७ ॥

भोगान् प्रति विरक्तोऽस्मि महासंमोहदायिनः ।
तत्त्वं ज्ञातुमिच्छामि महासंमोहहारि यत् ॥ ८ ॥
कियन्मात्रमिदं भोगजालं किंमयमेव वा ।
कोऽहं कस्त्वं किमेते वा लोका इति वदाऽऽशु मे ॥ ९ ॥

शुक्र उवाच

बहुनाऽत्र किमुक्तेन खं गन्तुं यत्नवानहम् ।
सर्वदानवराजेन्द्र सारं सङ्क्षेपतः शृणु ॥ १० ॥
चिदिहाऽस्ति हि चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति संग्रहः ॥ ११ ॥
भव्योऽसि चेत्तदेतस्मात् सर्वमाप्नोषि निश्चयात् ।
नो चेत्तद् बह्वपि प्रोक्तं त्वयि भस्मनि हूयते ॥ १२ ॥

भगवन्, महामोह देनेवाले भोगोंके प्रति मैं विरक्त हूँ, जो अपने ज्ञानमात्रसे महामोहका नाश करे, ऐसे तत्त्वको जानना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

इस भोगजालके उत्कर्षकी अवधि कितनी बड़ी है, इसकी प्रकृति क्या है, मैं क्या हूँ और ये भोग्य लोक क्या हैं ? यह सब आप मुझसे शीघ्र कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ९ ॥

शुक्राचार्यजीने कहा—हे सर्वदानवराजेन्द्र, इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? मैं आकाशमें जानेके लिए तत्पर हूँ, इसलिए संक्षेपसे तुम सारभूत तत्त्वको सुनो ॥ १० ॥

इस जगत्में अन्यनिरपेक्ष सिद्धिवाला चैतन्य ही है। चैतन्यके अधीन सिद्धिवाले इन भोगोंके उत्कर्षकी अवधि चित् ही है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते'. इस श्रुतिसे पूर्ण चैतन्य ही सब आनन्दोंके उत्कर्षकी अवधिरूपसे कहा गया है। चित्में ही भेदवैचित्र्यका अध्यास होनेसे यह सब चिन्मय ही हैं, क्योंकि 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ऐसी श्रुति है । एवं 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्माऽस्मि', 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः', 'नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे भोक्तृतत्त्व भी चिन्मात्र ही है । इसी प्रकार भोग्य समूहरूप ये लोक भी परमार्थतः चित् ही हैं, क्योंकि 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' ऐसी श्रुति है । यह सिद्धान्तका संक्षेपसे संग्रह है ॥ ११ ॥

यदि तुम श्रद्धालु और विवेकी हो, तो इस निश्चयसे तुम सब कुछ प्राप्त कर

चिच्चेत्यकलना बन्धस्तन्मुक्तिर्मुक्तिरुच्यते ।
चिदचेत्याऽखिलात्मेति सर्वसिद्धान्तसंग्रहः ॥ १३ ॥
एवं निश्चयमादाय विलोकयसि हेलया ।
स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानमनन्तं पदमाप्स्यसि ॥ १४ ॥
खं व्रजाम्यहमत्रैव मुनयः सप्त सङ्गताः ।
केनाऽपि सुरकार्येण वस्तव्यं तत्र वै मया ॥ १५ ॥
राजन् यावदयं देहस्तावन्मुक्तधियामपि ।
यथाप्राप्तक्रियात्यागो रोचते न स्वभावतः ॥ १६ ॥
इति कथितवताऽथ भार्गवेण
स्फुटजलराशिपथा महाजवेन ।
प्लुतमलिशबले नभोन्तराले
तरलतरङ्गवदाकुले ग्रहौघैः ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे बल्युपदेशयोगो नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

सकोगे । यदि श्रद्धालु और विवेकी नहीं हो, तो तुमसे बहुत कहा गया भी राखमें हवनके तुल्य निष्फल है ॥ १२ ॥

चित्‌की जो चेत्याकार कल्पना है, वही बन्ध है, उससे मुक्ति मोक्ष कहलाता है । चेत्याकाररहित चित् पूर्ण आत्मा है, यह सब सिद्धान्तोंका संग्रह है ॥१३॥

ऐसा निश्चय कर यदि तुम स्वयं अखण्डाकारवृत्तिसे आत्माका अनायास दर्शन कर सकोगे, तो तुम अनन्तपदको प्राप्त होओगे ॥ १४ ॥

मैं देवलोकमें जाता हूँ, यहींपर सप्तर्षि मुझे मिले थे, वहाँपर किसी देवकार्यसे मुझे जाना है ॥ १५ ॥

यदि बलिकी ओरसे यह प्रश्न हो कि आप मुक्त हैं, अतएव कृतकृत्य हैं, यदि आप वहाँपर न जायँ, तो आपकी क्या क्षति है ? तो इसपर कहते हैं— **'राजन्'** इत्यादिसे ।

हे राजन्, जबतक यह शरीर है, तबतक मुक्त पुरुषोंको भी यथाप्राप्त क्रियाका त्याग स्वभावतः अच्छा नहीं लगता ॥ १६ ॥

तदनन्तर यह कह चुके शुक्राचार्यजी ग्रहोंसे व्याप्त अतएव पुष्पपरागसे लिप्त

सप्तविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सुरासुरसभाज्येष्ठे तस्मिन् भृगुसुते गते ।
मनसा चिन्तयामास बलिर्बुद्धिमतां वरः ॥ १ ॥
युक्तमुक्तं भगवता चिदेवेदं जगत्त्रयम् ।
चिदहं चिदिमे लोकाश्चिदाशाश्चिदियं क्रिया ॥ २ ॥
सबाह्याभ्यन्तरे सर्वं चिदेव परमार्थतः ।
अस्ति चिद्व्यतिरेकेण नेह किञ्चन कुत्रचित् ॥ ३ ॥
अयमादित्य इत्यर्को न चिता यदि चेत्यते ।
तदर्कतमसोर्भेदः कः इहैवोपलभ्यते ॥ ४ ॥
इयं भूरिति भूरेषा चिता यदि न चेत्यते ।
भूमेः किन्नाम भूमित्वं शुव्येव भव्यतां गतम् ॥ ५ ॥

भँवरके समान कर्बुरित आकाशके मध्यमें स्पष्ट मेघ और समुद्रके ऊपरी मार्गसे चञ्चल तरङ्गके समान बड़े वेगसे उड़े ॥ १७ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

[शुक्राचार्यजी द्वारा उपदिष्ट मार्गसे विचार कर रहे बलिकी चैतन्य-पूर्णानन्दमें विश्रान्तिसे चिरकालतक स्थितिका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, सुर और असुरोंकी गोष्ठीमें अत्यन्त प्रशंसनीय शुक्राचार्यजीके चले जानेपर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ बलिने अपने मनसे विचार किया कि भगवान् श्रीशुक्राचार्यजीने ठीक ही कहा। ये तीनों जगत् चित् ही हैं, मैं चित् हूँ, ये लोक चित् ही हैं, दिशाएँ चित् ही हैं और यह क्रिया चित् है। परमार्थरूपसे बाहर भीतर सर्वत्र सब चित् ही हैं, चित्से अतिरिक्त यहांपर कहीं कुछ नहीं है। यह सूर्य आदित्यरूपसे यदि चित् द्वारा चेतित न होता, तो सूर्य और अन्धकारका भेद कैसे उपलब्ध होता ? ॥ १–४ ॥

यह भूमि है, इस प्रकार यह भूमि चित्से यदि प्रकाशित न होती, तो

इमा दिशो दश इति चेत्यन्ते न चिता यदि ।
तत् किन्नाम दिशां दिक्त्वं शैलानां चाऽपि काऽद्रिता ॥ ६ ॥
इदं जगज्जगदिति चिता यदि न चेत्यते ।
तत्किं जगत्त्वं जगतो नभस्त्वं नभसोऽथ किम् ॥ ७ ॥
कायोऽयं पर्वताकारश्चिता यदि न चेत्यते ।
तत् किं नाम शरीरत्वं शरीरस्य शरीरिणाम् ॥ ८ ॥
चिदिन्द्रियाणि चित्कायश्चिन्मनश्चित् तदेषणा ।
चिदन्तश्चिद्बहिश्चित् खं चिद्भावाश्चिद्भवस्थितिः ॥ ९ ॥
चितैवैनमहं सर्वं स्पर्शनैषणपूर्वकम् ।
करोमि मात्रासंस्पर्शं शरीरेण न किञ्चन ॥ १० ॥
किमनेन शरीरेण काष्ठलोष्टसमेन मे ।
अशेषजगदेकात्मा चिदहं चेतनात्मकः ॥ ११ ॥

भूमिका भूमित्व यानी जलादिसे व्यावृत्तरूप जो केवल भूमिमें ही निरूढ़ताको प्राप्त है, क्या होता ? ॥ ५ ॥

यदि दिशाएँ ये दिशाएँ हैं, यों चित् द्वारा चेतित न होतीं, तो दिशाओंका दिशात्व क्या होता ? इसी प्रकार यदि शैल ये शैल हैं, यों चित् द्वारा चेतित न होते, तो शैलोंकी शैलता क्या होती ? ॥ ६ ॥

यदि जगत् यह जगत् है, यों चित् द्वारा चेतित न होता, तो जगत्की जगत्ता (मूर्तता) क्या होती और आकाशकी अमूर्तता क्या होती ? ॥ ७ ॥

यह स्थूल शरीर चित्से यदि चेतित न होता, तो प्राणियोंके शरीरकी शरीरता क्या होती ? ॥ ८ ॥

इन्द्रियां चित् हैं, शरीर चित् है, मन चित् है, मनकी अभिलाषा चित् है, भीतर चित् है, बाहर चित् है, असत् चित् है, असत्से विलक्षण सत् पदार्थ चित् हैं, सत् और असत्पदार्थके सम्बन्धसे व्यावहारिकी जगत्सत्ता चित् है ॥ ९ ॥

मैं भोगेच्छापूर्वक सब शब्द आदि विषयोंके भोग चित्से ही करता हूँ, शरीरसे कुछ नहीं करता, क्योंकि अचेतन शरीर भोक्ता नहीं हो सकता ॥ १० ॥

जब मैं शरीरसे कुछ नहीं करता, तब शरीराभिमान वृथा ही है, इसलिए वह त्याज्य ही है, ऐसा कहते हैं—**'किमनेन'** इत्यादिसे ।

अहं चिदम्बरे भानावहं चिद् भूतपञ्जरे ।
सुरासुरेषु चिदहं स्थावरेषु चरेषु च ॥ १२ ॥
चिदस्तीह द्वितीया हि कल्पनैव न विद्यते ।
द्वित्वस्याऽसंभवाल्लोके कः शत्रुः कश्च वा सुहृत् ॥ १३ ॥
बलिनाम्नः शरीरस्य च्छिन्ने शिरसि भासुरे ।
चितः किं तद् भवेच्छिन्नं सर्वलोकावपूरणात् ॥ १४ ॥
चिता संचेतितो द्वेषो द्वेषो भवति नाऽन्यथा ।
तस्माद् द्वेषादयः सर्वे भावाभावाश्चिदात्मकाः ॥ १५ ॥
न चितो व्यतिरेकेण प्रविचार्योऽपि किञ्चन ।
आसाद्यते किल स्फारादस्मात् त्रिभुवनोदरात् ॥ १६ ॥

काठ और ढेलेके समान जड़ इस शरीरसे मेरा क्या प्रयोजन है ? चेतनरूप मैं सकल जगद्रूप चित् ही हूँ । आकाशमें चिद्रूप मैं हूँ, सूर्य आदिके तेजमें चिद्रूप मैं हूँ और अवशिष्ट तीनों भूतोंमें भी चिद्रूप मैं हूँ, सुर-असुरोंमें और स्थावर, जङ्गमोंमें चिद्रूप मैं हूँ ॥ ११, १२ ॥

यहांपर केवल चित् ही है, दूसरी कल्पना ही नहीं है । लोकमें द्वित्वका संभव न होनेसे कौन शत्रु है अथवा कौन मित्र है ? ॥ १३ ॥

देहादि द्वैत भले ही हो, तथापि उसकी क्षतिसे असङ्ग, पूर्ण, चिन्मात्ररूप मेरी कोई क्षति नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'बलिनाम्नः'** इत्यादिसे ।

बलिनामधारी शरीरके प्रकाशमान सिरके कटनेपर सब लोकोंको पूर्ण करनेवाले चैतन्यका क्या कटा ? ॥ १४ ॥

भले ही चित्का ही छिन्न हो, तथापि छेद्य, छेदन आदि भाव और अभाव और तद्विषयक राग, द्वेष आदि भी, चित्के अधीन ही उनकी कल्पना होनेसे, चित्से अतिरिक्त नहीं हैं, अतएव चित्के प्रतिकूल कुछ नहीं हुआ, ऐसा कहते हैं—**'चिता'** इत्यादिसे ।

चित्से यह द्वेष है यों संकेतित होनेसे द्वेष द्वेष होता है, अन्यथा द्वेष नहीं होता; इसलिए द्वेष आदि सब भाव और अभाव चैतन्यरूप ही हैं ॥ १५ ॥

बहुत विचार करके भी चित्से पृथक् इस विशाल त्रिभुवनके मध्यसे कुछ भी वस्तु प्राप्त नहीं होती है ॥ १६ ॥

न द्वेषोऽस्ति न रागोऽस्ति न मनो नाऽस्य वृत्तयः ।
चिन्मात्रस्याऽतिशुद्धस्य विकल्पकलना कुतः ॥ १७ ॥
चिदहं सर्वगो व्यापी नित्यानन्दमयात्मकः ।
विकल्पकलनातीतो द्वितीयांशविवर्जितः ॥ १८ ॥
चितश्चिदिति यन्नाम निर्नामाया न नाम तत् ।
शब्दात्मिकैषा चिच्छक्तिः परिस्फुरति सर्वगा ॥ १९ ॥
दृश्यदर्शननिर्मुक्तकेवलामलरूपवान् ।
नित्योदितो निराभासो द्रष्टाऽस्मि परमेश्वरः ॥ २० ॥
कल्पनाविकलाकारः कालकान्तकलामयः ।
आभासमात्रमुदितो नित्याभासविवर्जितः ।
भारूपैकस्वरूपेऽस्मिन् स्वरूपेण जयाम्यहम् ॥ २१ ॥

अतिशुद्ध चेतनरूप मुझमें न द्वेष है, न अनुराग है, न मन है और न मनकी वृत्तियाँ ही हैं। ये हों भी कैसे ? भला अतिशुद्ध चिन्मात्रमें विकल्प कल्पना कैसे हो सकती है ? ॥ १७ ॥

सर्वत्र जानेवाला, सर्वव्यापक, नित्य आनन्दमयरूप, विकल्पकल्पनासे शून्य, द्वैत अंशसे रहित मैं चित् ही हूँ ॥ १८ ॥

नामरहित चित्का जो 'चित्' यह नाम है, वह नाम नहीं है, यह सर्वत्र जानेवाली सब नाम-रूप कल्पनाकी अधिष्ठानभूत चित्-शक्ति ही नामशब्दकी तरह स्फुरित होती है ॥ १९ ॥

इसी प्रकार 'कोऽहम्' (मैं कौन हूँ) इस प्रश्नका उत्तर भी स्वयं मुझे ज्ञात हो गया है, ऐसा कहते हैं—'**दृश्य०**' इत्यादिसे ।

मैं दृश्य-दर्शनसे रहित केवल अद्वितीय निर्विकार स्वरूपवाला, नित्य उदित, भ्रान्तिरहित साक्षी परमेश्वर हूँ ॥ २० ॥

इस प्रकारके प्रकाशमात्रस्वरूपवाले मुझमें नित्य स्वात्माके अवभाससे शून्य जल अथवा केशोंके अग्रभागमें प्रतिबिम्बित चन्द्रकलाके सदृश स्वकल्पनारूपी परिच्छिन्न जीवभाव जो उदित हुआ है, वह एकमात्र भ्रान्ति ही है, वास्तविक नहीं है, इसलिए उस जीवभावको मैं चरमसाक्षात्कारवृत्तिसे प्रदीप्त हुए स्वरूपसे ही अभिभूत करता हूँ ॥ २१ ॥

चेत्यरञ्जनरिक्ताय विमुक्ताय महात्मने ।
प्रत्यक्चेतनरूपाय स्वरूपाय नमोऽस्तु ते ॥ २२ ॥
चितये चेत्यमुक्ताय युक्त्या युक्ताय योग्यया ।
सर्वावभासदीपाय मह्यमेव नमोऽस्तु ते ॥ २३ ॥
चेत्यनिर्मुक्तचिद्रूपं विष्वग्विश्वावपूरकम् ।
संशान्तसर्वसंवेद्यं सच्चिन्मात्रमहं महत् ॥ २४ ॥
आकाशवदनन्तोऽहमप्यणोरणुराततः ।
नाऽऽसादयन्ति मामेताः सुखदुःखदशादृशः ॥ २५ ॥
संवेदनमसंवेद्यमचेत्यं चेतनं ततम् ।
न शक्ता मां परिच्छेत्तुं भावाभावा जगद्गताः ॥ २६ ॥
अथ चैते जगद्भावाः परिच्छिन्दन्तु मामिमम् ।
यथाभिमतमेवैते मत्तो न व्यतिरेकिणः ॥ २७ ॥

चेत्यके सम्बन्धसे शून्य, विमुक्त महात्मा प्रत्यक्चेतनरूप स्वरूपभूत ब्रह्मके लिए नमस्कार है ॥ २२ ॥

अपना आत्मा ही, जिसने जीवभावपर विजय प्राप्त कर ली, परमेश्वर है, इसलिए उसे नमस्कार करते हैं—'**चेत्य०**' इत्यादिसे ।

चेत्यसे रहित चिद्रूप, साक्षात्कारके योग्य मनन-निदिध्यासनरूप युक्तिसे युक्त, सब पदार्थोंके प्रकाशनमें दीपक प्रत्यग्रूप ब्रह्मके लिए नमस्कार है ॥ २३ ॥

मैं जिसमें सब ज्ञातव्य वस्तुएँ शान्त हो चुकीं, चेत्यसे रहित चित्रूप, सर्वत्र विश्वको पूर्ण करनेवाला, सर्वव्यापक एकमात्र सच्चित् आनन्दरूप हूँ ॥ २४ ॥

सर्वत्र व्याप्त मैं आकाशके समान अनन्त हूँ और अणुसे भी अणु हूँ, इसलिए ये सब सुख-दुःख दशारूपी दृष्टियाँ मुझे प्राप्त नहीं कर सकती हैं ॥ २५ ॥

वर्तमानमें असंवेद्य (चक्षु आदि वृत्तियोंकी व्यावृत्तिके लिए असंवेद्य कहा है) संवेदनरूप और अचेत्य (अतीत और अनागतके विषयमें स्मृति आदि वृत्तियोंकी व्यावृत्तिके लिए अचेत्य कहा है) चेतनरूप सर्वव्याप्त मुझको ये जगत्के भाव और अभाव देशतः, कालतः अथवा वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं कर सकते हैं, बल्कि ये भाव और अभाव ही साक्षीसे परिच्छेद्य हैं, यह भाव है ॥ २६ ॥

यदि कहिये कि हम इयत्तामें स्थापनको परिच्छेद नहीं कहते हैं, किन्तु

यदि स्वभावभूतेन वस्तुना वस्तु नीयते ।
ह्रियते दीयते वाऽपि तत् किं कस्य किल क्षतम् ॥२८॥
सर्वदा सर्वमेवाऽहं सर्वकृत् सर्वसंगतः ।
चेत्यमस्म्यहमेवैतन्न किञ्चिदपि चोदितम् ॥ २९ ॥
किं सङ्कल्पविकल्पाभ्यां चितं चिदियमेकिका ।
संक्षोभयाम्यहं तावच्छाम्याम्यात्मनि पावने ॥ ३० ॥
इति संचिन्तयन्नेव बलिः परमकोविदः ।
ओङ्कारादर्धमात्रार्थं भावयन् मौनमास्थितः ॥ ३१ ॥

तत्त्वावधारणको परिच्छेद कहते हैं, तत्त्वज्ञानके अनुकूल प्रमाण आदि जगत्के भाव वास्तवमें आत्माका उक्त परिच्छेद करते ही हैं, इसपर कहते हैं—'**अथ च**' इत्यादिसे।

अथवा ये जगत्के पदार्थ मुझे परिच्छिन्न करें, इस प्रकारका परिच्छेद मुझे अभिमत ही है, किन्तु इतनेसे ये मुझसे पृथक् नहीं हो सकते। मद्रूप ही हो जाते हैं, यह भाव है ॥ २७ ॥

इनसे परिच्छेद होनेपर बाएँ हाथमें रखे गये धनका दाहिने हाथसे ले जाने, हरने अथवा लौटाकर देनेसे दोनों हाथोंसे अभिन्न देहरूप देवदत्तकी जैसे धन-क्षति नहीं होती है वैसे ही मेरी कोई क्षति नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**यदि**' इत्यादिसे।

यदि अपने स्वरूपभूत वस्तुसे वस्तु ले जाई जाती है, हरी जाती है अथवा वापस लेकर दी जाती है, तो किसका क्या नष्ट हुआ ? ॥ २८ ॥

वस्तुतः तत्त्वबोधसे पहले भी जगत् मैं ही था, इसलिए पहले भी न तो कुछ उत्पन्न हुआ था और न विनष्ट हुआ था, इस आशयसे कहते हैं—'**सर्वदा**' इत्यादिसे।

मैं ही सदा सब कुछ सबका कर्ता और सर्वगत था। यह चेत्य भी मैं ही हूँ। नया कुछ भी उदित नहीं हुआ ॥ २९ ॥

मैं एकमात्र यह चित् हूँ, चिद्रूप मेरा संकल्प और विकल्पसे क्या बढ़ा और क्या विनष्ट हुआ ? अपने अज्ञानसे मैं संक्षोभको प्राप्त होता हूँ और तत्त्वज्ञानसे पवित्र आत्मामें विश्रान्तिको प्राप्त होता हूँ ॥ ३० ॥

ऐसा विचार कर रहा परम ज्ञानी दैत्यराज बलि ओंकारसे स्थूल और सूक्ष्मके संक्षोभसे एवं उनके हेतुभूत अज्ञानसे युक्त चैतन्यको बोधित कर रहीं अकार

संशान्तसर्वसङ्कल्पः प्रशान्तकलनागणः ।
निःशङ्कमपि दूरास्तचेत्यचिन्तकचिन्तनः ॥ ३२ ॥
ध्यातृध्येयध्यानहीनो निर्मलः शान्तवासनः ।
बभूवाऽवातदीपाभो बलिः प्राप्तमहापदः ॥ ३३ ॥
उपशान्तमनास्तत्र रत्नवातायने बलिः ।
अवसद् बहुकालं स समुत्कीर्ण इवोपले ॥ ३४ ॥
प्रशमितैषणया परिपूर्णया
मननदोषदशोज्झितयैतया ।
बलिरराजत निर्मलसत्तया
विघनमच्छतयेव शरन्नभः ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे बलिविश्रान्तिर्नाम सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

आदि तीन मात्राओंका त्यागकर तुरीयकी आत्मरूपसे भावना करता हुआ समाधिस्थ होकर स्थित रहा ॥ ३१ ॥

उस महान् पदको प्राप्त हुए बलिके सब संकल्प विलीन हो गये, सब कल्पनाएँ नष्ट हो गईं, ध्याता, ध्येय और ध्यानसे रहित होनेके कारण उसने चेत्य, चिन्तक और चिन्तनका त्याग कर दिया। वह निर्मल और वासनाशून्य हो गया, इसलिए निर्वात स्थानमें रक्खे हुए दीपककी प्रभाके समान निश्चल हो गया ॥ ३२,३३ ॥

शान्त मनवाला राजा बलि उस रत्ननिर्मित झरोखेपर पत्थरपर गढ़ी हुई मूर्तिके सदृश रहा ॥ ३४ ॥

राजा बलि जिसने तीनों एषणाओंको शान्त कर दिया अतएव परिपूर्ण तथा विषयोंके चिन्तनरूपी दोषदशासे शून्य इस निर्मल ब्रह्मभावप्राप्तिरूप सत्तासे ऐसे सुशोभित हुआ जैसे मेघरहित शरत्कालीन आकाश निर्मलतासे सुशोभित होता है ॥३५॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अष्टाविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ ते दानवास्तत्र बलेरनुचरास्तदा ।
तद्गेहं स्फाटिकं सौधमुच्चैरारुरुहुः क्षणात् ॥ १ ॥
डिम्भाद्या मन्त्रिणो धीराः सामन्ताः कुमुदादयः ।
सुराद्याश्चैव राजानो वृत्ताद्या बलहारिणः ॥ २ ॥
हयग्रीवादयः सैन्याश्चाक्राजाद्याश्च बान्धवाः ।
लड्डुकाद्याश्च सुहृदो वल्लुकाद्याश्च लालकाः ॥ ३ ॥
कुबेरयमशक्राद्या उपायनकराः सुराः ।
यक्षविद्याधरा नागाः सेवावसरकाङ्क्षिणः ॥ ४ ॥
रम्भातिलोत्तमाद्याश्च चामरिण्यो वराङ्गनाः ।
सागराः सरितः शैला दिशश्च विदिशस्तथा ॥ ५ ॥
सेवार्थमाययुस्तस्य तं प्रदेशं तदा बलेः ।
अन्ये च बहवः सिद्धास्त्रैलोक्योदरवासिनः ॥ ६ ॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग

[बलिको निश्चेष्ट देखकर दुःखित हुए दानवों द्वारा शुक्राचार्यजीका स्मरण और उनका बलिकी स्थिति कहकर दानवोंका शोक दूर करना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा——हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर बलिके अनुचर वे दानव लोग स्फटिकके बने हुए बलिके निवासभूत ऊँचे राजमहलपर एक क्षणमें चढ़ गये ॥ १ ॥

वे अनुचर थे——डिम्ब आदि धीर मन्त्री, कुमुद आदि सामन्त, सुर आदि राजा, वृत्त आदि सेनापति, हयग्रीव आदि सैनिक, चाक्राज आदि बान्धव, लड्डुक आदि मित्र, बल्लुक आदि प्रीतिकारी, कुबेर, यम, इन्द्र आदि भेंट देनेवाले देवता, सेवा करनेका अवसर चाहनेवाले यक्ष, विद्याधर और नाग, चँवर डुलानेवाली रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराएँ, सागर, नदियां, पर्वत, दिशाएँ, विदिशाएँ (दिशा और विदिशाओंके देवता और उनमें अधिकारीरूपसे नियुक्त लोग) उस समय बलिकी सेवाके लिए उस स्थानपर आ पहुँचे । इनके अतिरिक्त त्रैलोक्यके मध्यमें निवास करनेवाले बहुतसे सिद्ध भी आये ॥ २–६ ॥

ध्यानमौनसमाधिस्थं चित्रार्पितमिवाऽचलम् ।
नमत्किरीटावलयो ददृशुर्बलिमादृताः ॥ ७ ॥
तं दृष्ट्वा कृतकर्तव्यप्रणामास्ते महासुराः ।
विषादविस्मयानन्दभयमन्थरतां ययुः ॥ ८ ॥
मन्त्रिणः प्रविचार्याऽत्र किं प्राप्तमिति दानवाः ।
भार्गवं चिन्तयामासुर्गुरुं सर्वविदां वरम् ॥ ९ ॥
चिन्तनानन्तरं दैत्या भार्गवं भास्वरं वपुः ।
ददृशुः कल्पितं प्राप्तं गन्धर्वनगरं यथा ॥ १० ॥
पूज्यमानोऽसुरगणैर्निविष्टो गुरुविष्टरे ।
ददर्श ध्यानमौनस्थं भार्गवो दानवेश्वरम् ॥ ११ ॥
विश्रम्य स क्षणमिव प्रेमवानवलोक्य च ।
बलिं विचारयन् दृष्ट्वा परिक्षीणभवभ्रमम् ॥ १२ ॥

सबने, जिनकी मुकुटोंकी पङ्क्तियां झुक रही थीं, बड़े आदरके साथ बलिको, जो ध्यान और मौनसे समाधिमें बैठा था और चित्रमें लिखित चित्रके समान निश्चल था, प्रणाम किया ॥ ७ ॥

राजा बलिका दर्शन कर अवश्य कर्तव्य प्रणाम आदि कर चुके वे महा असुर बलिके प्राणोंका सन्देह होनेसे विषादवश गम्भीर हुए, उसकी प्रसन्नता और आनन्द देखनेसे विस्मित हुए, रोमाञ्च आदि आनन्दके चिह्न देखनेसे आनन्दित और अपना रक्षक न देखनेसे भयभीत हुए ॥ ८ ॥

दानव मन्त्रियोंने यहांपर क्या करना चाहिये, यह विचार कर सब ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ गुरु शुक्राचार्यका स्मरण किया ॥ ९ ॥

चिन्तनके पश्चात् दैत्योंने कल्पित* देदीप्यमान भार्गवका शरीर प्राप्त हुए गन्धर्व-नगरके समान देखा ॥ १० ॥

असुरों द्वारा पूजे जा रहे और गुरुके उच्च आसनपर स्थित शुक्राचार्यजीने ध्यानसे चुपचाप बैठे हुए दानवराज बलिको देखा ॥ ११ ॥

दानवोंपर प्रेम करनेवाले श्रीशुक्राचार्यजीने क्षणभर विश्राम करके ध्यानसे देखकर विचार करते हुए बलिको संसारभ्रमरहित (जिसका संसाररूपी भ्रम क्षीण

* शुक्राचार्यजीके द्वारा ही, जो सप्तर्षियोंकी सभामें गये हुए थे, योगबलसे बलिके महलमें प्राप्त होनेके कारण उस शरीरकी कल्पना की गई थी, अतः उसे 'कल्पित' कहा ।

देहरश्मिशतैर्दत्तदीप्तिभिः क्षीरसागरम् ।
क्षिपन्निव सभामाह हसन् वाक्यमिदं गुरुः ॥ १३ ॥
अतिमात्रमिदं दैत्याः स्वविचारणयैव यत् ।
संप्राप्तविमलाबासः सिद्धोऽयं भगवान् बलिः ॥ १४ ॥
अयं तदेवमेवेह तिष्ठन् दानवसत्तमाः ।
स्वात्मनि स्थितिमाप्नोतु पदं पश्यत्वनामयम् ॥ १५ ॥
श्रान्तो विश्राममायातः क्षीणचित्तभवभ्रमः ।
शान्तसंसारनीहारो वाचनीयो न दानवाः ॥ १६ ॥
स्व एवाऽऽलोक एतेन संप्राप्तोऽज्ञानसंकटे ।
शान्तेऽत्र संभ्रमे सौरो दिनेनेव करोत्करः ॥ १७ ॥
स्वयमेव हि कालेन प्रबोधमयमेष्यति ।
बीजकोशात् स्वसंवित्त्या सुप्तमूर्तिरिवाऽङ्कुरः ॥ १८ ॥

हो गया था) जाना । तदनन्तर प्रकाशित करनेवाली अपने शरीरकी सैकड़ों किरणोंसे क्षीरसागरको भी नीचा दिखा रहे-से गुरुने हँसते हुए सभामें स्थित लोगोंसे यह वाक्य कहा ॥ १२, १३ ॥

हे दैत्य लोगों, सिद्ध हुआ यह ऐश्वर्यशाली बलि अपने विचारसे ही विमल पदको जो प्राप्त हुआ है । यह विश्रान्तिसुखका अतिशय है ॥ १४ ॥

हे दानवश्रेष्ठो, इसलिए यह ऐसे ही समाधिमें स्थित होकर निरतिशय आनन्दरूप आत्मामें चिरस्थितिको प्राप्त हो और निर्विकार पदका साक्षात्कार करे ॥१५॥

चिरकालसे श्रान्त हुआ-सा यह चित्तभ्रान्तिरहित होकर विश्रामको प्राप्त हो रहा है । इसका संसाररूपी कुहरा शान्त हो गया है । इससे आप लोग भाषण न कीजिये ॥ १६ ॥

जैसे पृथिवीपर रात्रिके अन्धकार, निद्रा आदिके शान्त होनेपर दिनको सूर्यका किरणसमूह प्राप्त होता है, वैसे ही अज्ञानरूपी संकटके दूर होनेपर अपना ही प्रकाश इसको प्राप्त हुआ है ॥ १७ ॥

समय आनेपर यह स्वयं ही प्रबोधको ऐसे प्राप्त होगा, जैसे कि बीजके सम्पुटसे 'मैं अङ्कुर हूँ' इस प्रबोधसे सुप्तमूर्ति अङ्कुर प्रबोधको प्राप्त होता है ॥१८॥

कुरुध्वं स्वामिकार्याणि सर्वे दानवनायकाः ।
बलिर्वर्षसहस्रेण समाधेर्बोधमेष्यति ॥ १९ ॥
इत्युक्ता गुरुणा तत्र हर्षामर्षविषादजाम् ।
दैत्याश्चिन्तां जहुः शुष्कां मञ्जरीमिव पादपाः ॥ २० ॥
वैरोचनिसभासंस्थां विधाय प्राग्व्यवस्थया ।
स्वव्यापारपरास्तस्थुः सर्व एवाऽसुरास्ततः ॥ २१ ॥
नरा महीमहिपतयो रसातलं
ग्रहा नभस्त्रिदशगणास्त्रिविष्टपम् ।
दिशोऽद्रयोऽदिक्पतयश्च कन्दरान्
वनेचरा गगनचराश्च खं ययुः ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे बलिसमाधानवर्णनं नामाऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

हे दानवनायको, आप सब लोग राज्य-कार्य करो, बलि एक हजार वर्षमें समाधिसे प्रबुद्ध होगा ॥ १९ ॥

गुरुके ऐसा कहनेपर जैसे वृक्ष सूखी हुई मञ्जरीका त्याग करते हैं वैसे ही वहांपर दैत्योंने हर्ष, कोप और दुःखसे उत्पन्न हुई चिन्ताका त्याग किया ॥ २० ॥

तदनन्तर पहले जैसी राज्यकी व्यवस्था स्थापित कर रक्खी थी, उसीके अनुसार बलिके राज्यव्यवहार क्रमको स्थिर करके सब असुर अपने-अपने व्यापारमें निरत हुए ॥ २१ ॥

उस समय बाहरसे आये हुए मनुष्य, नाग आदिने क्या किया ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—'**नराः**' इत्यादिसे ।

मनुष्य पृथिवीको गये, नागराज आदि रसातलको गये, ग्रह अन्तरिक्षको गये, देववृन्द स्वर्गको, कुलाचल आदि पर्वतोंमें अधिकृत देवता और दिक्पाल अपनी-अपनी दिशाओंको, ऋक्ष, वानर आदि यूथपति किष्किन्धा आदि कन्दराओंको एवं गरुड़, संपाति, जटायु आदि आकाशचारी आकाशको गये ॥ २२ ॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

एकोनत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ वर्षसहस्रेण दिव्येनाऽसुरपुङ्गवः ।
देवदुन्दुभिनिर्घोषैर्बुबुधे भगवान् बलिः ॥ १ ॥
बलौ प्रबुद्धे तद् बालं विरेजे नगरं तदा ।
वैरिञ्च इव सूर्यौघ उदिते कमलाकरः ॥ २ ॥
बलिः प्रबुद्ध एवाऽसौ यावन्नाऽऽयान्ति दानवाः ।
तावत् संचिन्तयामास समाधिसदने क्षणम् ॥ ३ ॥
अहो नु रम्या पदवी शीतला पारमार्थिकी ।
अहमस्यां क्षणं स्थित्वा परां विश्रान्तिमागतः ॥ ४ ॥
तदेतामेव पदवीमवलम्ब्य करोम्यहम् ।
भवतीहोपभुक्ताभिः किं मे बाह्यविभूतिभिः ॥ ५ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग

[जीवन्मुक्त बलिकी राज्यसम्पत्ति और पातालमें बन्धनका वर्णन एवं श्रीरामचन्द्रजीके लिए बलिके समान पूर्णपदमें स्थितिका उपदेश]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर पूरे एक हजार दिव्य वर्षोंमें असुरश्रेष्ठ महा ऐश्वर्यशाली बलि देवताओंकी दुन्दुभियोंकी तुमुल ध्वनिसे समाधिसे जागा ॥ १ ॥

बलिके समाधिसे जागनेपर उस समय वह बलिका नगर ब्रह्माजीके निवासभूत आकाशमें सूर्यकी किरणोंके उदित होनेपर जैसे कमलका तालाब विकासशोभासे सुशोभित होता है वैसे ही सुशोभित हुआ ॥ २ ॥

जागते ही बलिने जबतक दानव उसके निकट नहीं आये तबतक समाधिभवनमें क्षणभर विचार किया ॥ ३ ॥

अहा! यह पदवी बड़ी रमणीय, शीतल और पारमार्थिक है। मैं इस पदवीमें एक क्षण * स्थित होकर परम विश्रान्तिको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ४ ॥

इसलिए इसी पदवीका अवलम्बन करके मैं विश्रान्तिसुखको प्राप्त करूँ।

* समाधि-सुखमें निमग्न बलिके दिव्य हजार वर्ष भी क्षणके तुल्य बीते, इसलिए 'एक क्षण स्थित होकर' कहा है।

ऐन्दवेष्वपि बिम्बेषु न तथाऽऽनन्दवीचयः ।
तोषयन्ति यथाऽन्तर्मे संसिद्धिभवभूतयः ॥ ६ ॥
इति भूयोऽपि विश्रान्त्यै कुर्वाणं गलितं मनः ।
बलिमावारयामासुर्दैत्याश्चन्द्रमिवाऽम्बुदाः ॥ ७ ॥
तानालोक्य पुनर्दध्यौ तत्प्रणामाकुलेक्षणः ।
तैः कुलाचलसंकाशैः परिवीतवपुस्त्विदम् ॥ ८ ॥
चितः क्षीणविकल्पस्य किमुपादेयमस्ति मे ।
मनस्तदभिपातित्वाद् याति तद्रसतामलम् ॥ ९ ॥
मोक्षमिच्छाम्यहं कस्माद् बद्धः केनाऽस्मि वै पुरा ।
अबद्धो मोक्षमिच्छामि केयं बालविडम्बना ॥ १० ॥

बाह्य विभूतियोंके उपभोगसे मेरा क्या होगा ? यानी उनसे इस प्रकारका कुछ भी विश्रान्तिसुख मुझे नहीं मिलेगा ॥ ५ ॥

समाधिके परिपाकसे उत्पन्न आनन्दराशि मेरे अन्तःकरणको जैसा सन्तुष्ट कर रही है चन्द्रमाके बिम्बोंमें आनन्दलहरियाँ भी वैसा सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं ॥ ६ ॥

यों सोचकर विषयोंसे व्यावृत्त मनको फिर भी विश्रान्तिसुखके लिए लगा रहे बलिको चारों ओरसे दैत्योंने ऐसे घेर लिया जैसे चन्द्रमण्डलको मेघ घेर लेते हैं ॥७॥

उनके प्रणामोंसे बलिकी दृष्टि आकुल हो गई। कुलाचलोंके तुल्य विशाल शरीरवाले दैत्योंसे घिरे हुए उसने उन्हें देखकर फिर यह विचार किया ॥ ८ ॥

चैतन्यरूप मेरा, जिसका विकल्प नष्ट हो गया, कौन-सा पदार्थ उपादेय है। उपादेयबुद्धिसे ही बाह्य पदार्थोंको देखनेपर मन उनकी ओर आकृष्ट होनेके कारण रागितारूप मलको प्राप्त होता है, केवल दर्शनमात्रसे नहीं ॥ ९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि मोक्षकी इच्छासे समाधिग्रहणमें ही आपका आग्रह हो, तो उसपर कहते हैं—**'मोक्षम्'** इत्यादिसे ।

मैं किससे मोक्षकी इच्छा करता हूँ। पहले मैं बँधा ही किससे हूँ। भाव यह कि ज्ञानसे अज्ञान और अज्ञानके कार्यका त्रैकालिक बाध होनेपर बन्धका ही दर्शन नहीं है। बद्ध न होता हुआ भी मैं मोक्ष चाहता हूँ, यह मूर्खोंकी चेष्टाका अनुकरण नहीं तो और क्या है ? ॥ १० ॥

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति मौर्ख्यं मे क्षयमागतम् ।
किं मे ध्यानविलासेन किं वाऽध्यानेन मे भवेत् ॥ ११ ॥
ध्यानाध्यानभ्रमौ त्यक्त्वा पुंस्त्वं स्वमवलोकयत् ।
यदायाति तदायातु न मे वृद्धिर्न वा क्षयः ॥ १२ ॥
न ध्यानं नाऽपि वाऽध्यानं न भोगान्नाऽप्यभोगिताम् ।
अभिवाञ्छामि तिष्ठामि सममेव गतज्वरः ॥ १३ ॥
न मे वाञ्छा परे तत्त्वे न मे वाञ्छा जगत्स्थितौ ।
न मे ध्यानदशाकार्यं न कार्यं विभवेन मे ॥ १४ ॥
नाऽहं मृतो न जीवामि न सन्नाऽसन्न सन्मयः ।
नेदं मे नैव चाऽन्यन्मे नमो मह्यमहं बृहत् ॥ १५ ॥

न मेरा बन्धन है, न मेरा मोक्ष है । मेरे अज्ञानका विनाश हो चुका । ध्यान करनेसे ही मेरा क्या होगा अथवा ध्यान न करनेसे ही क्या होगा ? ॥११॥

ध्यान और अध्यानकी भ्रान्तिका त्याग करके प्रत्यग्रूप आत्मतत्त्व अपने द्रष्टृ स्वभावसे ही बाहर उदासीनतासे देखता हुआ जिस वस्तुके प्रति आता है, वह स्फुरित हो । उतनेसे ही अज्ञोंके तुल्य देहादितादात्म्याध्याससे देहादिके वृद्धि और क्षयसे होनेवाले वृद्धि और क्षय मेरे नहीं हो सकते, जिससे अनर्थ हो ॥ १२ ॥

मैं न ध्यानकी इच्छा करता हूँ और न ध्यानाभावकी इच्छा करता हूँ । न भोगोंकी इच्छा करता हूँ और न अभोगकी ही इच्छा करता हूँ, किन्तु सन्ताप-रहित होकर समरूपसे स्थित होता हूँ ॥ १३ ॥

न परम तत्त्वमें मुझे अभिलाषा है और न जगत्की स्थितिमें मेरी वाञ्छा है । न तो ध्यानदशासे मेरा कोई प्रयोजन है और न धन-सम्पत्तिसे ही मेरा कोई कार्य है ॥ १४ ॥

देहसम्बन्धका अभाव होनेसे मैं मरा भी नहीं हूँ और प्राणका सम्बन्ध न होनेसे मैं जीवित भी नहीं हूँ । न मैं मूर्त हूँ, न अमूर्त हूँ और न मैं सन्मय हूँ । ये देह, लोक आदि मेरे नहीं हैं । अन्य देह और अन्य लोक आदि भी मेरे नहीं हैं । प्रत्यक्चैतन्यरूप मेरे लिए नमस्कार है । मैं महान् हूँ ॥ १५ ॥

इदमस्तु जगद्राज्यं तिष्ठाम्यत्र तु संस्थितः ।
नेह वाऽस्तु जगद्राज्यं तिष्ठाम्यात्मनि शीतलः ॥ १६ ॥
किं मे ध्यानदृशा कार्यं किं राज्यविभवश्रिया ।
यदायाति तदायातु नाऽहं किञ्चन मे क्वचित् ॥ १७ ॥
न किञ्चिदपि कर्तव्यं यदि नाम मयाऽधुना ।
तत्कस्मान्न करोमीदं किञ्चित्प्रकृतकर्म वै ॥ १८ ॥
इति निर्णीय पूर्णात्मा बलिर्ज्ञानवतां वरः ।
दैन्यानालोकयामास पद्मानीव दिवाकरः ॥ १९ ॥
दृष्टिपातविभागेन सर्वेषां दनुजन्मनाम् ।
शिरः प्रणामाञ्जग्राह पुष्पामोदानिवाऽनिलः ॥ २० ॥
अथ वैरोचनिस्तत्र ध्येयत्यागमयात्मना ।
मनसा सकलान्येव राजकार्याणि संव्यधात् ॥ २१ ॥
द्विजान् देवान् गुरूंश्चैव पूजयामास पूजया ।
संमानयामास सुहृद्बन्धुसामन्तसज्जनान् ॥ २२ ॥

यह जगत्साम्राज्य मेरा हो, इसमें स्थित होकर मैं बैठा हूँ अथवा यहांपर जगत्साम्राज्य मेरा मत हो, मैं सन्तापरहित हो आत्मामें स्थित हूँ ॥ १६ ॥

ध्यानदृष्टिसे मेरा क्या काम है ? राज्य, वैभव-सम्पत्तिसे मेरा क्या प्रयोजन है ? जो आता है, वह आवे । न वह मैं हूँ और न वह मेरा है ॥ १७ ॥

यदि इस समय कर्तव्यत्वकी आस्थासे मेरा कुछ भी करणीय नहीं है, तो यह प्रस्तुत राज्यपालनरूप कुछ कर्म मैं किसलिए न करूँ । ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ पूर्णात्मा बलिने ऐसा निर्णय कर जैसे सूर्य कमलोंको देखता है वैसे ही दैत्योंको देखा । यथायोग्य दृष्टिपात कर दैत्यराज बलिने जैसे वायु फूलोंकी सुगन्ध ग्रहण करता है वैसे ही सब दानवोंके प्रणाम ग्रहण किये ॥ १८—२० ॥

तदनन्तर बलिने वहांपर ध्येय-त्यागमय मनसे सभी राजकार्य किये । ब्राह्मणों, देवताओं और गुरुओंकी पाद्य, अर्घ्य आदिसे उसने पूजा की एवं मित्र, बन्धु, सामन्त और सज्जनोंका उनके उचित दान, समादर आदि द्वारा संमान किया ॥ २१,२२ ॥

अर्थेनाऽऽपूरयामास भृत्यानर्थिगणांस्तथा ।
ललना लालयामास विचित्रविभवार्पणैः ॥ २३ ॥

इत्यसौ ववृधे तस्मिन् राज्ये सकलशासने ।
यज्ञं प्रति बभूवाऽथ मतिरस्य कदाचन ॥ २४ ॥

तर्पिताशेषभुवनं देवर्षिगणपूजितम् ।
सह शुक्रादिभिर्मुख्यैः स चकार महामखम् ॥ २५ ॥

बलिर्भोगभरस्याऽर्थी नेति निर्णीय माधवः ।
बलेरीहितसिद्ध्यर्थं सिद्धिदस्तन्मखं ययौ ॥ २६ ॥

भोगैककृपणायेदं जगज्जङ्गलखण्डकम् ।
दातुं शोच्याय शक्राय वयोज्येष्ठाय कार्यवित् ॥ २७ ॥

क्रममाणो बलेनाऽत्र वञ्चयित्वा बलिं हरिः ।
बबन्ध पातालतले भूगेह इव वानरम् ॥ २८ ॥

नौकर-चाकर और याचकोंको धनसे परिपूर्ण किया और भाँति-भाँतिके विभवोंके समर्पण द्वारा ललनाओंको प्रसन्न किया ॥ २३ ॥

राजा बलि देवता, असुर आदि सबपर शासनरूप राज्यमें राज्याङ्ग आदिकी अभिवृद्धिको प्राप्त हुआ। तदनन्तर कभी उसकी अश्वमेध यज्ञ करनेकी इच्छा हुई ॥ २४ ॥

उसने शुक्राचार्य आदि प्रधान पुरुषोंके साथ अश्वमेधनामक महायज्ञ, जिसमें तीनों भुवनोंके लोग तृप्त किये गये थे और सब देवता तथा ऋषि पूजे गये थे, किया ॥ २५ ॥

सिद्धि देनेवाले भगवान् श्रीहरि बलि संसारी विविध भोगोंका अभिलाषी नहीं है, ऐसा निर्णय कर बलिकी अभिलाषाकी सिद्धिके लिए उस यज्ञमें आये ॥ २६ ॥

एकमात्र भोगमें आसक्त होनेके कारण कृपण अतएव शोचनीय तथा अवस्थामें ज्येष्ठ इन्द्रको जगद्रूपी जंगलका भाग देनेके लिए अपने मायाबलसे तीन लोकोंको अपने पगसे नाप रहे कार्यकुशल हरिने बलिको ठगकर जैसे कोई भूगर्भमें बने हुए पृथिवीके अन्दर स्थित घरमें बन्दरको बांधे वैसे ही पातालमें बलिको बांध दिया। आज भी जीवन्मुक्तशरीरवाला, निर्विकल्प समाधिमें बुद्धिरहित

अद्याऽसौ संस्थितो राम पुनरिन्द्रत्वहेतुना ।
जीवन्मुक्तवपुः स्वस्थो नित्यं ध्यानविषण्णधीः ॥ २९ ॥
पातालकुहरे तिष्ठन् जीवन्मुक्तगतिर्बलिः ।
आपदं संपदं दृष्ट्या समयैव स पश्यति ॥ ३० ॥
नाऽस्तमेति न चोदेति तत्प्रज्ञा सुखदुःखयोः ।
समा स्थिरकरा चित्रलेख्या सूर्यावलिर्यथा ॥ ३१ ॥
आविर्भावतिरोभावसहस्राणीह जीवताम् ।
तन्मनश्चिरमालोक्य भोगेषु विरतिं गतम् ॥ ३२ ॥
दशकोटीश्च वर्षाणामनुशास्य जगत्रयम् ।
अन्ते विरक्ततां प्राप्तमुपशान्तं बलेर्मनः ॥ ३३ ॥
ऊहापोहसहस्राणि भावाभावशतानि च ।
बलिना परिदृष्टानि क्व समाश्वासमेत्यसौ ॥ ३४ ॥
भोगाभिलाषं संत्यज्य बलिः संपूर्णमानसः ।
आत्मारामः स्थितो नित्यं मध्ये पातालकोटरे ॥ ३५ ॥

और नित्य आत्मनिष्ठ बलि पातालमें पुनः इन्द्रत्वप्राप्तिके हेतुभूत प्रारब्धसे युक्त होकर स्थित है ॥ २७–२९ ॥

पातालरूपी गर्तमें स्थित जीवन्मुक्त गतिवाला बलि आपत्ति और सम्पत्तिको समान रूपसे ही देखता है । जैसे उदय और अस्तसे रहित स्थिर किरणवाला चित्रलिखित सूर्यमण्डल न तो अस्तको प्राप्त होता है और न उदित होता है वैसे ही उसकी प्रज्ञा भी सुख और दुःखमें न तो अस्त होती है और न उदित होती है ॥ ३०,३१ ॥

जीवनमें आदर रखनेवाले भोगलम्पट पुरुषोंके विभव और जन्मोंके हजारों बार आविर्भाव और तिरोभाव चिरकालतक देखकर बलिका मन भोगोंमें वैराग्यको प्राप्त हो गया ॥ ३२ ॥

दस करोड़ वर्ष तक लगातार तीनों लोकोंका शासन करके अन्तमें वैराग्यको प्राप्त हुआ बलिका मन शान्त हो गया ॥ ३३ ॥

सुख और दुःखोंके हजारों बार आगमन और विनाश सैकड़ों सम्पत्ति और विपत्तियां बलिने देखीं । इसलिए कहांपर बलि आश्वासनको प्राप्त हो यानी किस विषयमें बलिको आश्वासन मिले ॥ ३४ ॥

परिपूर्ण चित्तवाला बलि भोगोंमें अभिलाषाका त्यागकर नित्य आत्मनिष्ठ

पुनरेतेन बलिना जगदिन्द्रतयाऽखिलम् ।
अनुशास्यमिदं राम बहून् वर्षगणानिह ॥ ३६ ॥
न तस्येन्द्रपदप्राप्त्या तुष्टिः समुपजायते ।
न तस्य स्वपदभ्रंशादुद्वेग उपजायते ॥ ३७ ॥
समः सर्वेषु भावेषु सर्वदैवोदिताशयः ।
संप्राप्तमाहरन् स्वस्थ आकाश इव तिष्ठति ॥ ३८ ॥
बलेर्विज्ञानसंप्राप्तिरेषा ते कथिता मया ।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य त्वमप्यभ्युदितो भव ॥ ३९ ॥
बलिवत् प्रविवेकेन नित्योऽहमिति निश्चयात् ।
पदमासादयाऽद्वैतं पौरुषेणैव राघव ॥ ४० ॥
द्वे चाऽष्टौ चैव वर्षाणां कोटीर्भुक्त्वा जगत्त्रयम् ।
अन्ते वैरस्यमापन्नो बलिरप्यसुरोत्तमः ॥ ४१ ॥

होकर पातालके मध्यमें यानी रसातलमें जबतक विपत्तिका क्षय नहीं होता, तबतक स्थित है ॥ ३५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, फिर इस बलिको सारे जगत्का इन्द्ररूपसे बहुत वर्षोंतक शासन करना होगा ॥ ३६ ॥

बलिको इन्द्रपदकी प्राप्तिसे न तो सन्तोष है और न अपने पदसे च्युत होनेसे दुःख ही है। सब भावोंमें सम तथा सदा ही सन्तुष्टचित्त बलि प्रारब्धसे प्राप्त वस्तुका उपभोग करता हुआ आकाशके समान स्वस्थ है॥ ३७,३८ ॥

अब बलिके चरित्रका उपसंहार कर श्रीरामचन्द्रजीको उपदेश देते हैं—**'बलेः'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बलिकी यह ज्ञानप्राप्ति मैंने आपसे कही। इस दृष्टिका अवलम्बन कर आप भी जीवन्मुक्तिरूप अभ्युदयवाले होओ ॥ ३९ ॥

हे रघुवर, आप बलिके सदृश अपने विचारसे 'मैं नित्य हूँ' इस प्रकारके निश्चयसे पौरुषपूर्वक अद्वैत पदको प्राप्त कीजिये ॥ ४० ॥

दस करोड़ वर्षतक लगातार तीनों लोकोंपर शासन कर अन्तमें असुरश्रेष्ठ बलि भी वैराग्यको प्राप्त हुआ ॥ ४१ ॥

तस्मादवश्यवैरस्यं भोगभारमरिन्दम ।
संत्यज्य सत्यमानन्दमवैरस्यं पदं व्रज ॥ ४२ ॥
इमा दृश्यदृशो राम नानाकारविकारदाः ।
नेह कान्ततया ज्ञेया दूराच्छैलशिला इव ॥ ४३ ॥
धावमानमिहाऽमुत्र लुठितं लोकवृत्तिषु ।
संस्थापय निबध्यैतच्चेतो हृदयकोटरे ॥ ४४ ॥
चिदादित्यो भवानेव सर्वत्र जगति स्थितः ।
कः परस्ते क आत्मीयः परिस्खलसि किं मुधा ॥ ४५ ॥
त्वमनन्तो महाबाहो त्वमाद्यः पुरुषोत्तमः ।
त्वं पदार्थशताकारैः परिस्फूर्जसि चिद्वपुः ॥ ४६ ॥

हे शत्रुतापन, इसलिए अन्तमें अवश्य दुःखदायी सभी भोगोंका त्यागकर आप सत्य आनन्दरूप दुःखरहित परम पदको प्राप्त होओ ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, विविध प्रकारकी विकृतियोंकी सृष्टि करनेवाली इन दृश्य दृष्टियोंको—जैसे दूरसे पर्वतशिलाएँ रमणीय मालूम पड़ती हैं वैसे—रमणीयरूपसे नहीं जानना चाहिये ॥ ४३ ॥

पामर पुरुषोंके व्यवहारोंमें प्रवृत्त हुए इस लोक और परलोकमें दौड़ रहे इस मनको बांधकर हृदयरूपी कोठरीमें स्थिर कीजिये ॥ ४४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि शत्रु और मित्रमें समदृष्टि कैसे हो सकती है ? तो इसपर कहते हैं—'**चिदादित्ये**' इत्यादिसे ।

आदित्यके समान सबको प्रकाशित करनेवाले चैतन्यरूप आप ही सारे जगत्में स्थित हैं, ऐसी अवस्थामें शत्रुकी देहमें भी प्रकाशक आत्मरूप आप ही हैं, इसलिए वैषम्य दृष्टि होनेमें कोई कारण नहीं है । कौन आपका शत्रु है और कौन आपका आत्मीय है ? क्यों वृथा आप यह शत्रु है, यह मित्र है ऐसी भूल करते हैं ॥ ४५ ॥

यदि श्रीरामचन्द्रजीको शङ्का हो कि मैं जीव हूँ, मेरी ईश्वरात्मसमदृष्टि कैसे हो सकती है, तो इसपर कहते हैं—'**त्वम्**' इत्यादिसे ।

हे महाबाहो, आप अनन्त हैं, आदि पुरुषोत्तम भी आप ही हैं, अनन्त पदार्थोंके आकारसे चैतन्यरूप आप ही वृद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ ४६ ॥

त्वयि सर्वमिदं प्रोतं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
बोधे नित्योदिते शुद्धे सूत्रे मणिगणा यथा ॥ ४७ ॥
न जायसे न म्रियसे त्वमजः पुरुषो विराट् ।
चिच्छुद्धा जन्ममरणभ्रान्तयो मा भवन्तु ते ॥ ४८ ॥
समस्तजन्मरोगाणां प्रविचार्य बलाबलम् ।
तृष्णामुत्सृज्य भोगानां भोक्तैव भव केवलम् ॥ ४९ ॥
त्वयि स्थिते जगन्नाथे चिदादित्ये सदोदिते ।
इदमाभासते सर्वं संसारस्वप्नमण्डनम् ॥ ५० ॥
मा विषादं कृथा व्यर्थं सुखदुःखैषणा न ते ।
शुद्धचित्तोऽसि सर्वात्मा सर्ववस्त्ववभासकः ॥ ५१ ॥
पूर्वमिष्टमनिष्टं त्वमनिष्टं चेष्टमित्यपि ।
परिकल्प्य तदभ्यासात्ततोऽपि परित्यज ॥ ५२ ॥

जैसे सूतमें मणियाँ पिरोई रहती हैं वैसे ही सदा प्रकाशमान शुद्ध-बुद्ध-ज्ञानरूप आपमें यह सारा चराचर जगत् पिरोया हुआ है ॥ ४७ ॥

कालकृत वैषम्य भी आपमें नहीं है, यह कहते हैं—**'न जायसे'** इत्यादिसे ।

अज, पुरुष विराट्रूप आप शुद्ध चैतन्य ही हैं। न तो आप उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं। आपको जन्ममरणभ्रान्तियाँ न हों ॥ ४८ ॥

तृष्णा बढ़नेपर जन्म आदि रोगोंकी प्रबलता और तृष्णाके कम होनेपर जन्म आदि रोगोंकी दुर्बलता होती है, इस बातको अन्वय-व्यतिरेकसे जानकर भोगोंकी तृष्णाका त्यागकर आप एकमात्र भोगसाक्षी ही होइये ॥ ४९ ॥

आपके चैतन्यबलसे ही यह जगत् सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—**'त्वयि'** इत्यादिसे ।

चिदादित्यरूप सदा प्रकाशमान जगत्के अधिपति आपके स्थित होनेपर ही यह संसाररूपी स्वप्न आभासित होता है ॥ ५० ॥

हे वत्स, आप व्यर्थ विषाद मत करो, आपको सुख और दुःखकी अभिलाषा नहीं है। आप शुद्धचित्त, सबके आत्मा और सब वस्तुओंके प्रकाशक हैं ॥५१॥

यदि आप अशुद्धचित्त ही हैं, तो उसकी शुद्धिके लिए क्रमसे उपाय सुनिये, ऐसा कहते हैं—**'पूर्वम्'** इत्यादिसे ।

इष्टानिष्टदृशोस्त्यागे समतोदेति शाश्वती ।
तया हृदयवर्तिन्या पुनर्जन्तुर्न जायते ॥ ५३ ॥
येषु येषु प्रदेशेषु मनो मज्जति बालवत् ।
तेभ्यस्तेभ्यः समाहृत्य तद्धि तत्त्वे नियोजयेत् ॥ ५४ ॥
एवमभ्यागताभ्यासं मनो मत्तमतङ्गजम् ।
निबध्य सर्वभावेन परं श्रेयोऽधिगम्यते ॥ ५५ ॥
मा शरीरयथार्थज्ञैर्मिथ्यादृष्टिहताशयैः ।
धूर्तैः सङ्कल्पविक्रीतैर्विमूढैः समतां व्रज ॥ ५६ ॥
अकिञ्चनात् स्वनिर्णीतौ लम्बमानात् परोक्तिषु ।
न मौर्ख्यादधिको लोके कश्चिदस्तीह दुःखदः ॥ ५७ ॥

जो जो वस्तु मनको प्रिय है वह अनर्थसाधन है और जो मनका तप, क्लेश, इन्द्रियसंयम, प्राणायाम आदि मनको अप्रिय हैं वे सब मेरे लिए आवश्यक हैं, ऐसी कल्पना कर सप्तमभूमिका-का परिपाक होनेतक उसके अभ्याससे मनके ऊपर विजय प्राप्त होनेपर उस कल्पनाका भी तदनन्तर त्याग कीजिये ॥ ५२ ॥

इष्ट और अनिष्ट दृष्टिका त्याग करनेपर अक्षय समता उत्पन्न होती है । अभ्याससे हृदयमें स्थिर हुई समतासे फिर प्राणी उत्पन्न नहीं होता ॥ ५३ ॥

बालककी नाईं जिन-जिन प्रदेशोंमें मन निमग्न होता है उन-उन प्रदेशोंसे लौटाकर मनको अधिष्ठान चिन्मात्रमें लगावे । भगवान्‌ने भी कहा है—

'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥' ॥ ५४ ॥

इस प्रकार अभ्यासको प्राप्त हुए मनरूपी मत्त हाथीको सब प्रयत्नोंसे बांधकर परम कल्याण प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

जो लोग शरीरको ही परमार्थ जानते हैं, मिथ्यादृष्टिसे जिनका हृदय दूषित है और भोगसंकल्पोंके जो अधीन हैं, ऐसे धूर्त मूर्ख पुरुषोंकी समताको आप प्राप्त न होइये ॥ ५६ ॥

जो लोग पराधीनबुद्धि हैं, स्वयं विचार नहीं कर सकते, उनका अज्ञान ही महा अनर्थ है, ऐसा कहते हैं—'**अकिञ्चनात्**' इत्यादिसे ।

आत्मतत्त्वके निर्णयमें विवेक, वैराग्य आदि उपायोंसे दरिद्र, परवञ्चक मूर्खोंके

त्वमेतदविवेकाभ्रमुदितं हृदयाम्बरे ।
विवेकपवनेनाऽऽशु दूरं नय महामते ॥ ५८ ॥
आत्मनैव प्रयत्नेन यावदात्मावलोकने ।
न कृतोऽनुग्रहस्तावन्न विचारोदयो भवेत् ॥ ५९ ॥
वेदवेदान्तशास्त्रार्थतर्कदृष्टिभिरप्ययम् ।
नाऽऽत्मा प्रकटतामेति यावन्न स्वमवेक्षितम् ॥ ६० ॥
त्वमात्मन्यात्मना राम प्रसादे समवस्थितः ।
प्राप्तोऽसि विततं बोधं मद्वचस्येव बुध्यसे ॥ ६१ ॥
विकल्पांशविहीनस्य त्वयैषा चिद्विवस्वतः ।
गृहीता वितता व्याप्तिर्मदुक्त्या परमात्मनः ॥ ६२ ॥

कथनपर अवलम्बित अज्ञानसे बढ़कर इस लोकमें अधिक दुःखदायी और कोई नहीं है ॥ ५७ ॥

हे महामते, आप हृदयरूपी आकाशमें उदित हुए इस अविवेकरूपी मेघको विवेकरूपी वायुसे शीघ्र दूर कीजिये ॥ ५८ ॥

जबतक स्वयं श्रवण, वैराग्य आदि पुरुषप्रयत्नसे आत्मसाक्षात्कारमें यत्न नहीं किया जाता, तबतक विचारोदय नहीं होता ॥ ५९ ॥

वैराग्य, विचार, श्रवण आदिके रहते भी बहिर्मुख दृष्टिवाले पुरुषोंको ज्ञान नहीं होता, इसलिए आन्तरदृष्टि भी आवश्यक है, इस आशयसे कहते हैं—**'वेद०'** इत्यादिसे ।

जबतक प्रत्यक्तत्त्वका दर्शन नहीं होता तबतक वेद-वेदान्तशास्त्रोंके अर्थ और तर्कोंकी दृष्टियोंसे भी यह आत्मा प्रकट नहीं होता ॥ ६० ॥

यदि कोई कहे, तब तो एकमात्र प्रत्यक्तत्त्वदृष्टि ही ज्ञानके लिए पर्याप्त हो, गुरुके उपदेशका क्या प्रयोजन है ? तो इस शङ्कापर कहते हैं—**'त्वम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्मामें अपनेसे ही स्थित हुए आप विस्तृत बोधको प्राप्त हुए हैं । मेरा उपदेश होनेपर ही आपको बोध हुआ है ॥ ६१ ॥

विकल्पके अंशसे रहित चैतन्यरूपी सूर्य परमात्माकी यह विस्तृत व्याप्ति (देशतः, कालतः और वस्तुतः अपरिच्छिन्नता) मेरे उपदेशसे ही आपको गृहीत हुई है ॥६२॥

विलीनसर्वसङ्कल्पः शान्तसन्देहविभ्रमः ।
क्षीणकौतुकनीहारो जातोऽसि विगतज्वरः ॥ ६३ ॥
यदुपगच्छसि पासि निहंसि वा
पिबसि विस्मयसे च विवर्धसे ।
तदपि ते न तदाऽस्तु यदा मुने
विगतबोधकलङ्कविशङ्कितः ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे बलेर्विज्ञानप्राप्तिर्नाम एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

आपके सब सङ्कल्प नष्ट हो गये हैं, सन्देहभ्रम शान्त हो गये हैं, कौतुकरूपी तुषार हट गया है, आप सन्तापशून्य हो गये हैं ॥ ६३ ॥

हे मननशील श्रीरामचन्द्रजी, जब आप आत्मतत्त्वके आवरण और विक्षेपसे रहित होंगे तब आप जो प्राप्त नहीं हैं ऐसे ज्ञान और ज्ञानके साधनका (विचार, गुरु शास्त्रोपदेश आदिका) मोक्षके लिए जो स्वीकार करते हैं, जो विवेक, वैराग्य आदिकी यत्नसे रक्षा करते हैं; जो आलस्य, प्रमाद आदि दोषोंपर यत्नसे विजय प्राप्त करते हैं, जो समाधि सुखरूपी अमृतको पीते हैं, जो उत्तरोत्तर-भूमिकामें आरूढ़ होनेसे आश्चर्य करते हैं और जो सप्तम भूमिकामें विश्रान्तिसे पूर्व-पूर्व अवस्थासे अधिक सुखके उत्कर्षसे अभ्युदयको प्राप्त होते हैं, वह सब आपको न हो, किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही आप स्थित रहें ॥ ६४ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त

त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथेमं परमं राम विज्ञानाभिगमे क्रमम् ।
शृणु दैत्येश्वरः सिद्धः प्रह्लादः स्वात्मना यथा ॥ १ ॥
आसीत् पातालकुहरे विद्रावितसुरासुरः ।
हिरण्यकशिपुर्नाम नारायणपराक्रमः ॥ २ ॥
आक्रान्तभुवनाभोगः स जहार हरेर्जगत् ।
षट्पदस्य बृहत्पत्रं राजहंस इवाऽम्बुजम् ॥ ३ ॥
चकार जगतां राज्यं समाक्रान्तसुरासुरः ।
दन्ती निरस्तहंसौघो नलिन्यामलिनामिव ॥ ४ ॥

तीसवाँ सर्ग

[हिरण्यकशिपुका पराक्रम, प्रह्लाद आदि पुत्रोंकी उत्पत्ति, नृसिंह द्वारा बध और शोकपूर्वक और्ध्वदेहिक क्रिया]

इस प्रकार केवल काकतालीय न्यायसे प्रवृत्त हुए तथा शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे परिपुष्ट अपने विचारसे ज्ञानोदयका क्रम पहले कहा जा चुका है। अब आराधित भगवान्‌के अनुग्रहसे उत्पन्न विचारसे ज्ञानोदयके प्रकारका वर्णन करनेके लिए प्रह्लादोपाख्यान कहनेकी इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी उसके सुननेमें रामचन्द्रजीको सावधान करते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानकी निर्विघ्न प्राप्तिमें इस उत्तम प्रकारको आप सुनिये । जैसे कि दैत्यराज प्रह्लाद अपने-आप सिद्ध हो गया ॥ १ ॥

नारायणके समान पातालमें पराक्रमी हिरण्यकशिपु नामका दैत्य था । उसने अपने पराक्रमसे देवता और असुरोंको पराजित कर दिया था ॥ २ ॥

जैसे रात्रिमें भ्रमरके निवासभूत और प्रातःकालमें फूलनेसे विकसित पत्रवाले कमलको राजहंस भ्रमरसे छीनकर ले लेता है वैसे ही उसने तीनों भुवनोंपर आक्रमण कर इन्द्रसे तीनों लोकोंका ऐश्वर्य छीन लिया ॥ ३ ॥

जैसे हाथी हंसोंको हटाकर कमलिनीमें भ्रमरोंका राज्य करता है वैसे ही उसने देवता और असुरोंके अधिपतियोंपर विजय प्राप्त कर तीनों लोकोंका राज्य किया ॥ ४ ॥

अथाऽसावसुराधीशः कुर्वंस्त्रिभुवनेशताम् ।
कालेन सुषुवे पुत्रानङ्कुरानिव माधवः ॥ ५ ॥
तेऽवर्धन्ताऽचिरेणैव तेजस्यूर्जितबालकाः ।
दशाऽर्कांशुशतानीव व्योमाक्रान्तिविलासिनः ॥ ६ ॥
प्रह्लादनामा बलवान् प्रधानात्मा बभूव ह ।
तेषां मध्ये महार्हाणां मणीनामिव कौस्तुभः ॥ ७ ॥
तेनाऽराजत पुत्रेण हिरण्यकशिपुर्भृशम् ।
सर्वसौन्दर्ययुक्तेन वसन्तेनेव वत्सरः ॥ ८ ॥
अथ पुत्रसहायोऽसौ बलकोशसमन्वितः ।
आजगाम मदं दैत्यस्त्रिगण्डगलितेभवत् ॥ ९ ॥
ततापाऽऽक्रान्तितापेन त्रिजगन्ति विकासिना ।
कल्पान्तसूर्यगणवन्नवयैव करश्रिया ॥ १० ॥

तदुपरान्त तीनों भुवनोंपर शासन कर रहे उस दैत्यराजने समय आनेपर जैसे वसन्त ऋतु बहुतसे अङ्कुर उत्पन्न करती है वैसे ही बहुतसे पुत्र उत्पन्न किये ॥ ५ ॥

जैसे तेजमें बढ़ी-चढ़ीं और अवस्थामें नयीं आकाशमें फैलनेसे शोभित होनेवाली सूर्यकी हजार किरणें शीघ्र वृद्धिको प्राप्त हो जाती हैं वैसे ही तेजमें बढ़े-चढ़े अवस्थासे बालक स्वर्गमें आक्रमण करनेसे शोभित होनेवाले वे शीघ्र ही युवा हो गये ॥ ६ ॥

जैसे बहुमूल्य मणियोंमें कौस्तुभमणि प्रधान है वैसे ही उनके बीचमें प्रह्लाद नामका बलवान् पुत्र प्रधान हुआ ॥ ७ ॥

जैसे सब प्रकारकी सुन्दरतासे युक्त वसन्तसे वर्ष सुशोभित होता है वैसे ही उस पुत्रसे हिरण्यकशिपु अत्यन्त सुशोभित हुआ ॥ ८ ॥

तदनन्तर पुत्रोंकी सहायता, सेना और धनसम्पत्तिसे युक्त वह दैत्य साठ वर्षके हाथीके समान मदोन्मत्त हुआ ॥ ९ ॥

जैसे प्रलयके बारह सूर्य बढ़ रहे तापसे और अपनी प्रखर किरणोंसे तीनों जगतोंको सन्तप्त करते हैं वैसे ही दिन-पर-दिन बढ़ रही आक्रमणजनित पीड़ासे और करग्रहणजनित नित्य नई-नई संपत्तिसे उसने तीनों जगतोंको सन्तप्त किया ॥ १० ॥

अखिद्यन्ताऽस्य तेनाऽथ सूर्येन्दुप्रमुखाः सुराः ।
दुर्विलासविलोलस्य बालस्येव स्वबन्धवः ॥ ११ ॥
प्रार्थयाञ्चक्रिरेऽथाऽजं दैत्येन्द्रेभपतेर्वधे ।
न क्षमन्ते महान्तोऽपि पौनःपुन्येन दुष्क्रियाम् ॥ १२ ॥
ततः प्रलयपर्यस्तजगद्घर्घरजृम्भितम् ।
दिग्दन्तिदशनप्रख्यनखवज्रादिजृम्भितम् ॥ १३ ॥
स्थिरविद्युल्लताजालभासुरद्विजमण्डलम् ।
दशदिक्कोटरोद्भ्रान्तज्वलज्ज्वलनकुण्डलम् ॥ १४ ॥
समस्तकुलशैलेन्द्रपिण्डपीठोद्भटोदरम् ।
दोर्द्रुमाधूतनिर्धूतस्फुरद्ब्रह्माण्डखर्परम् ॥ १५ ॥
वदनोदरनिष्क्रान्तवातोत्सारितपर्वतम् ।
त्रिजगद्दहनोद्युक्तकोपकल्पाग्निगर्वितम् ॥ १६ ॥
सटाविकटपीनांसस्पन्दप्रेरितभास्करम् ।
रोमकूपलसद्वह्निपुञ्जापिञ्जरपर्वतम् ॥ १७ ॥

जैसे दुलारसे बिगड़े हुए बालकके मर्यादोल्लङ्घनसे बन्धु-बान्धव दुःखी होते हैं वैसे ही उसके आक्रमणजनित सन्तापसे सूर्य, चन्द्र आदि देवता खिन्न हुए॥११॥

तदनन्तर उन्होंने दैत्यराजरूपी गजराजके वधके लिए ब्रह्माजीसे प्रार्थना की। ठीक ही है, बारबार किये गये अपराधको महापुरुष भी सहन नहीं कर सकते ॥१२॥

तदनन्तर भगवान् हरिने नरसिंहशरीर धारण कर जैसे हाथी घोड़ेको कटकट शब्दके साथ काट डालता है वैसे ही उसे विदीर्ण कर दिया। वह नारसिंह शरीर प्रलयकालमें ढह रहे जगत्के समान घर्घर शब्द कर रहा था, उसमें दिग्गजोंके दाँतोंके सदृश नख वज्र आदिके तुल्य बढ़े थे, उसकी दन्तपङ्क्तियां स्थिर विद्युल्लताके तुल्य चमकीली थीं, दस दिशारूपी कोटरोंमें घूम रहीं जलती अग्नियां ही उसके कुण्डल थे, उसका उदर सब कुलाचलोंकी पिण्डाकारस्थितिके समान भीषण था, उसके बाहुरूपी वृक्षोंके हिलने-डुलनेसे उड़ा हुआ ब्रह्माण्डरूपी खप्पर विदीर्ण हो रहा था, मुख द्वारा पेटसे निकले हुए उसके श्वासवायुओंसे पर्वत एक स्थानसे दूसरे स्थानपर हटाये गये थे, तीनों जगतोंको जलानेके लिए तत्पर कोपरूपी प्रलयाग्निसे वह अत्यन्त गर्वीला था, अयालसे भयङ्कर विशाल कन्धोंके

कुलाचलमहाकुड्यघटनोद्भटदिक्तटम् ।
सर्वावयवनिष्क्रान्तपट्टिशप्रासतोमरम् ॥ १८ ॥
नारसिंहं वपुः कृत्वा माधवोऽहन्महासुरम् ।
लसत्कटकटारावं तुरङ्गममिव द्विपः ॥ १९ ॥
पौरमासुरमुद्भ्रान्तैर्ददाहेक्षणवह्निभिः ।
स सर्वभूतकल्पान्ते जगज्जालमिवाऽनलः ॥ २० ॥
नृसिंहमारुते तस्मिन् भृशं क्षोभमुपागते ।
विस्फूर्जितघनास्फोटैरेकार्णव इवाऽऽकुले ॥ २१ ॥
दुद्रुवुर्दानवौघास्ते दिग्ज्वलन्मशका इव ।
उपाययुरदृश्यत्वं दीपा इव गतत्विषः ॥ २२ ॥
अथ विद्रुतदैत्येन्द्रं दग्धान्तःपुरमण्डलम् ।
बभूव पातालतलं कल्पक्षुण्णजगत्समम् ॥ २३ ॥
अकालकल्पान्तविधौ हत्वा दैत्यं शनैर्विभौ ।
क्वाऽपि याते समाश्वस्तसुरसंरम्भपूजिते ॥ २४ ॥

कम्पसे उसने सूर्यको विचलित कर दिया था, उसके रोमकूपोंमें देदीप्यमान अग्निराशिसे पर्वत पीले पड़ गये थे, उसमें उखाड़े गये कुलाचलोंसे बड़ी भारी दीवारकी रचनामें मानो दिक्तट उद्यत थे और उसके सब अवयवोंसे पट्टिश, प्रास, तोमर आदि विविध आयुध उत्पन्न हुए थे ॥ १३–१९ ॥

जैसे सब प्राणियोंके प्रलयके अन्तमें अग्नि सम्पूर्ण जगतोंको जला डालती है वैसे ही इस प्रकारके नारसिंह शरीरको धारण किये हुए भगवान्‌ने निकल रहीं नेत्रवह्नियोंसे असुरोंके नगरमें रहनेवाले सब जीवों और सब सामग्रीको जला दिया ॥ २० ॥

प्रलयकालके संवर्तनामक मेघोंके गर्जनसे व्याकुल जलप्रलयके समान मेघ-गर्जनके तुल्य घनघोर ताल ठोकनेसे उस नृसिंहरूपी वायुके अत्यन्त क्षोभको प्राप्त होनेपर दिशाओंमें जल रहे मच्छड़ोंके समान दानवोंके झुण्डके झुण्ड भाग गये और क्षीण कान्तिवाले दीपकोंके समान अदृश्य हो गये ॥ २१,२२ ॥

तदनन्तर पाताल, जहाँसे दैत्यनायक भाग गये थे और सब अन्तःपुर जल गये थे, प्रलयमें बरबाद हुए जगत्‌के तुल्य हो गया। अकालके प्रलयके तुल्य भीषण युद्धमें हिरण्यकशिपुको मारकर स्वस्थ हुए देवताओं द्वारा बड़े आदरके साथ पूजित

मृतशिष्टा दनुसुताः प्रह्लादपरिपालिताः ।
दग्धं तं देशमाजग्मुः सरः शुष्कमिवाऽण्डजाः ॥ २५ ॥
तत्र कालोचितां कृत्वा स्वनाशपरिदेवनाम् ।
और्ध्वदेहिकसत्कारं चक्रुः प्रेतेषु बन्धुषु ॥ २६ ॥
हतबन्धुजनं प्लुष्टबन्धुबान्धवमण्डलम् ।
शनैराश्वासयामासुर्मृतशिष्टं स्वकं जनम् ॥ २७ ॥
चित्रार्पितोपमदुराकृतयो निरीहा
दीनाशया हिमहताम्बुरुहोपमानाः ।
शोकोपतप्तमनसोऽसुरनायकास्ते
दग्धद्रुमा इव निरस्तविकारमासन् ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रह्लादविश्रान्तौ हिरण्यकशिपुवधो नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

भगवान् नृसिंहके धीरे-धीरे वाणीके अगोचर अपने पदको जानेपर मरनेसे बचे हुए दानव प्रह्लादके संरक्षणमें—जैसे पक्षी सूखे तालाबमें जाते हैं वैसे ही—अपने उस जले हुए देशमें गये ॥ २३–२५ ॥

वहांपर आत्मीय बन्धु-बान्धवोंका नाशप्रयुक्त समयोचित विलाप कर मरे हुए बन्धुओंका उन्होंने और्ध्वदेहिक सत्कार किया ॥ २६ ॥

जिनके बन्धु-बान्धव मारे जा चुके थे और अधिकांश बन्धु-बान्धव जीते-जी जलाये गये थे, ऐसे मरनेसे बचे हुए आत्मीय जनोंको उन्होंने धीरे-धीरे आश्वासन दिया ॥ २७ ॥

चिन्तावश निश्चेष्ट अतएव चित्रलिखितके तुल्य दुःखित आकृतिवाले दीनमलिन-चित्त अतएव तुषारसे नष्ट-भ्रष्ट किये गये कमलोंके सदृश शोकसन्तप्त अन्तःकरणवाले वे प्रह्लाद आदि असुरनायक, जिनके शाखा, पत्ते आदि जल गये हों, ऐसे वृक्षोंके समान निश्चेष्ट हो गये। (ठूंठ वृक्षोंका वायुसे न हिलना प्रसिद्ध ही है) ॥२८॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

एकत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ दुःखपरीतात्मा हरिणा हतदानवे ।
प्रह्लादश्चिन्तयामास मौनी पातालकोटरे ॥ १ ॥
कोऽन्वस्माकमुपायः स्याद्य एवेहाऽसुराङ्कुरः ।
तीक्ष्णाग्रो जायते तं तं भुङ्क्ते शाखामृगो हरिः ॥ २ ॥
न कदाचन पाताले दैत्या दोर्दण्डशालिनः ।
स्थिरा बभूवुरुद्भिन्नाः पद्मा इव हिमाचले ॥ ३ ॥
उत्पद्योत्पद्य नश्यन्ति भासुराकारघर्घराः ।
क्षीणप्रस्फुरितारम्भास्तरङ्गा इव वारिधेः ॥ ४ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं कष्टं समग्रालोकहारिणः ।
रिपवः प्रौढिमायाता अपूर्वतिमिरभ्रमाः ॥ ५ ॥
तमःप्रपूर्णहृदयाः संकुचत्पत्रसंपदः ।
सुहृदः खेदमायान्ति निशीथकमलाकराः ॥ ६ ॥

इकतीसवाँ सर्ग

[प्रह्लादका श्रीहरिके पराक्रमका चिन्तन, आत्मीयोंके कल्याणका विचार और भगवद्भक्तिसे भगवद्भावका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर पातालगर्तमें, जहाँ दानवोंका विनाश किया गया था, दुःखसन्तप्त अतएव मौनी प्रह्लादने विचार किया—हमारा कौन सहायक हो ? सम्पत्तिरूपी पल्लवोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ जो ही असुररूपी वृक्षका अङ्कुररूप तेजस्वी यहाँपर पैदा होता है, उसीको श्रीहरिरूपी बन्दर खा डालता है। जैसे हिमालयमें विकसित कमल कभी स्थिर नहीं होते वैसे ही पातालमें भुजदण्डशाली बलवान् दैत्य कभी भी अङ्कुरित होकर स्थिर नहीं हुए। समुद्रकी तरङ्गोंके समान प्रखर आकृति और गर्जनवाले सब दैत्य, जिनका तनिक विकसित कार्य नष्ट कर दिया जाता है, उत्पन्न हो होकर विलीन हो जाते हैं ॥ १–४ ॥

बड़ा खेद है, बाहरी और भीतरी सब सम्पत्तिरूपी प्रकाशोंको हरनेवाले अद्भुत अन्धकारके तुल्य हमारे शत्रु उन्नतिके शिखरपर पहुंच चुके हैं ॥ ५ ॥

हमारे मित्ररूपी अर्धरात्रिके कमलतड़ाग, जिनके हृदय अन्धकारसे पूर्ण हैं

तातस्य मलिनैर्नूनं पादपीठोपमर्दकैः ।
सुरैर्विषय आक्रान्तो मृगैरिव महावनम् ॥ ७ ॥
निरुद्यमा गतश्रीका दीनाः प्रकटिताशयाः ।
बान्धवा न विराजन्ते पद्माः प्लुष्टदला इव ॥ ८ ॥
स्फुरन्त्यसुरवीराणां गृहेष्वविरतानिलैः ।
धूसरा भस्मनीहारा धूपधूमभरा इव ॥ ९ ॥
हृतद्वारकपाटासु दैत्यान्तःपुरभित्तिषु ।
प्रभा मरकतस्येव जाता नवयवाङ्कुराः ॥ १० ॥
त्रिलोकीनाभिनलिनीमत्तेभा दानवा अपि ।
देववद्दैन्यमायाताः किमसाध्यमहो विधेः ॥ ११ ॥
मनाक्चलति पर्णेऽपि दृष्टारिभयभीतयः ।
वध्वस्त्रस्यन्ति विध्वस्ता मृग्यो ग्रामगता इव ॥ १२ ॥

और जिनकी पंखुरीरूपी संपत्ति दिन-पर-दिन संकुचित हो रही है, खेदको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ६ ॥

द्वेषसे कलुषित देवताओंने, जो प्रणामके समय मेरे पिताजीके चरण-कमलका स्पर्श करते थे, हमारा देश ऐसे आक्रान्त कर दिया है जैसे मृग सिंहके वनको आक्रान्त करें ॥ ७ ॥

उद्यमरहित, कान्तिहीन तथा दीनहीन हमारे बान्धव, जो अपना हृदयवर्ती महा दुःख सबके आगे कहते फिरते हैं, ग्रीष्म ऋतुमें जिनकी पँखुरियाँ झुलस चुकीं ऐसे कमलोंके समान शोभित नहीं होते हैं ॥ ८ ॥

आजकल शूरवीर असुरोंके घरोंमें निरन्तर बहनेवाले उत्पात वायुओंसे बखेरे जा रहे भस्मरूपी कुहरे पहलेकी धूपकी धूमराशिके समान प्रतीत हो रहे हैं ॥९॥

दैत्योंके अन्तःपुरकी दीवारोंपर, जिनके चौखट और किवाड़ देवता हर ले गये हैं, समृद्धिकालकी मरकतप्रभाके समान इस समय जौके अङ्कुर उगे हैं ॥१०॥

जो दानव पहले सुमेरुरूपी कमलिनीके मर्दनमें मदोन्मत्त हाथीके सदृश थे, वे भी आज देवताओंके सदृश दीनताको प्राप्त हुए हैं । अहो, भाग्यके लिए क्या असाध्य है ? ॥ ११ ॥

जैसे गाँवमें गई हुई भयभीत मृगियाँ तनिक पत्तेके फड़कनेपर भी डरती हैं

आसुरीकर्णपूरार्थं फुल्ला रत्नगुलुच्छकाः ।
नरसिंहकरालूनाः स्थाणुतामागता द्रुमाः ॥ १३ ॥
दिव्याम्बरलतापत्रा रत्नस्तबकदन्तुराः ।
पुनरारोपितास्तत्र नन्दने कल्पपादपाः ॥ १४ ॥
पुरा त्वमरबन्दीनामसुरैः संस्तुतं मुखम् ।
अद्य त्वसुरबन्दीनां सुरैरालोकितं मुखम् ॥ १५ ॥
मन्ये दानमहानद्यः सुरेभकटभित्तिषु ।
प्रवृत्तास्ता भविष्यन्ति शैलसानुष्विवाऽऽपगाः ॥ १६ ॥
अस्माकमिभगण्डेषु दानदाहविभूतयः ।
लसन्ति मरुखण्डेषु संशुष्केष्विव धूलयः ॥ १७ ॥
विकासिसितमन्दारमकरन्दारुणानिलाः ।
ते मेरुशिखरैस्तुल्या दैत्या दुर्लभतां गताः ॥ १८ ॥
सुरगन्धर्वसुन्दर्यो दानवान्तःपुरोचिताः ।
अद्य मेरौ स्थितिं याता मञ्जर्य इव पादपे ॥ १९ ॥

वैसे ही दैत्योंकी स्त्रियाँ, जिन्हें शत्रुभयका अनुभव हो चुका है, तनिक पत्तोंके फड़कनेपर भी डरती हैं ॥ १२ ॥

असुरनारियोंके कर्णपूर बनानेके लिए लगाये गये रत्नोंके गुच्छेवाले फूले हुए दिव्य वृक्ष नरसिंहके हाथोंसे तहस-नहस होकर ठूंठ बन गये हैं ॥ १३ ॥

देवताओंने उस नन्दन वनमें दिव्य वस्त्रोंसे युक्त लता और पत्तेवाले रत्नोंके गुच्छोंसे लदे हुए कल्पवृक्ष फिर लगा लिये हैं ॥ १४ ॥

पहले असुरोंने देवताओंकी बन्दीनारियोंके सुन्दर मुख प्रशंसाके साथ देखे थे, लेकिन अब असुरोंकी बन्दीनारियोंके मुख देवताओं द्वारा देखे जाते हैं ॥१५॥

मालूम पड़ता है, देवताओंके ऐरावत आदि हाथियोंके गण्डस्थलमें बह रहीं मदधारारूपी महानदियां शैलशिखरोंपर बह रहीं नदियोंके समान हो जायँगी ॥१६॥

मदके दाहसे उत्पन्न हुई राख हमारे हाथियोंके सूखे हुए गण्डस्थलोंमें—सूखे हुए मरुस्थलोंमें धूलिके समान—प्रतीत होती है ॥ १७ ॥

फूले हुए सफेद मन्दारके परागयुक्त मकरन्दोंसे रंगे हुए वायु जिनका अंगस्पर्श करते थे, अतएव जो मारे हर्षके मेरुशिखरोंके तुल्य थे, वे दैत्य दुर्लभ हो गये हैं ॥१८॥

पहले दानवोंके अन्तःपुरमें अभ्यस्त (चिरकालतक निवास कर चुकीं)

कष्टं तातपुरन्ध्रीणां शुष्काम्बुरुहनीरसाः ।
विलासाः सुरनारीभिर्भर्त्स्यन्ते लास्यलीलया ॥ २० ॥
पूर्वं यैरेव मत्तातश्चामरैरुपवीजितः ।
सहस्रनयनः स्वर्गे कष्टं तैरेव वीज्यते ॥ २१ ॥
इयमस्माकमप्यापदागता दैन्यदायिनी ।
तस्यैकस्य प्रसादेन दुष्पौरुषगतेर्हरेः ॥ २२ ॥
तद्दोर्वनघनच्छायालब्धविश्रान्तयः सुराः ।
न कदाचन तप्यन्ते हिमाद्रेरिव सानवः ॥ २३ ॥
शौरिशौर्याग्रशिखरसंश्रयेणाऽऽश्रितश्रियः ।
अस्मान् समुपरुन्धन्ति शुनः शाखामृगा इव ॥ २४ ॥
तेनाऽसुरपुरन्ध्रीणां नित्यं मण्डनमण्डने ।
मुखपद्मे स्थितं बाष्पमब्जिनीनां हिमं यथा ॥ २५ ॥

देवता और गन्धर्वोंकी सुन्दरियां आज वृक्षपर मञ्जरियोंके समान मेरुपर निवास करती हैं ॥ १९ ॥

बड़े खेदकी बात है, मेरे पिताजीकी पटरानियोंके सूखे हुए कमलोंकी तरह नीरस विलासोंकी अप्सराएँ नृत्योंमें अनुकरण द्वारा भर्त्सना करती हैं ॥ २० ॥

पहले जो चँवर मेरे पितापर डुलाये गये थे, बड़े खेदकी बात है, वे ही चँवर आज स्वर्गमें इन्द्रपर डुलाये जाते हैं ॥ २१ ॥

जिनका पराक्रमस्मरण भी दुःखदायी है, ऐसे उन एकमात्र भगवान् श्रीहरिके प्रसादसे हम लोगोंको भी, जो महाप्रतापशाली हैं, ये आपत्तियाँ प्राप्त हैं ॥ २२ ॥

जैसे हिमालयके शिखर कभी सन्तप्त नहीं होते वैसे ही उन विष्णु भगवान्की बाहुओंकी निबिड़ छायामें विश्रान्त देवताओंको कभी सन्ताप प्राप्त नहीं होता ॥२३॥

जैसे पर्वत या वृक्षकी चोटीपर बैठे हुए बन्दर बलवान् कुत्तोंको भी तंग करते हैं वैसे ही भगवान् विष्णुके पराक्रमरूपी पर्वत या वृक्षकी चोटीके अवलम्बनसे समृद्ध हुए देवता लोग हम बलवानोंको भी पातालमें ढकेल रहे हैं ॥ २४ ॥

भगवान्के पराक्रमसे अलङ्कारोंको भी अलङ्कृत करनेवाले असुरनारियोंके मुखारविन्दपर कमलिनियोंके मुखभूत कमलपर हिमके समान आंसू सदा बने रहते हैं ॥२५॥

शीर्णभिन्नलुठद्भित्तिर्जगज्जरठमण्डपः ।
अयं नीलमणिस्तम्भैस्तद्भुजैरेव धार्यते ॥ २६ ॥
स धर्ता सुरसैन्यस्य मज्जतो विपदर्णवे ।
क्षीरोदोदरमग्नस्य मन्दरस्येव कच्छपः ॥ २७ ॥
एते तातादयः सर्वे तेनैवाऽसुरसत्तमाः ।
पातिताः क्षुब्धकल्पान्तवातेनेव कुलाचलाः ॥ २८ ॥
स एक एव संहारकर्मक्षमभुजानलः ।
सुरसार्थगुरुः श्रीमान् विषमो मधुसूदनः ॥ २९ ॥
दैत्यदोर्दण्डपरशोस्तस्य वीर्येण वीर्यवान् ।
दानवान् बाधते शक्रो बालकानिव मर्कटः ॥ ३० ॥
दुर्जयः पुण्डरीकाक्षः प्रतिमुक्तायुधोऽपि सन् ।
नाऽसौ शस्त्रास्त्रविच्छेदैर्वज्रसारो विदीर्यते ॥ ३१ ॥
अभ्यस्ता बहवस्तेन मिथःप्रेरितपर्वताः ।
भीमाः समरसंरम्भाः सममस्मत्पितामहैः ॥ ३२ ॥

जगद्रूपी जीर्ण-शीर्ण मकान, जिसकी जीर्ण-शीर्ण टूटी-फूटी भित्तियाँ गिर रही हैं, नील मणिके स्तम्भरूप भगवान्‌की भुजाओं द्वारा सम्हाला जाता है ॥ २६ ॥

जैसे क्षीरसागरके मध्यमें डूबे हुए मन्दराचलके धारणकर्ता कच्छप भगवान् हैं, वैसे ही विपत्तिरूपी सागरमें डूब रही देवसेनाके वह भगवान् ही धारणकर्ता हैं ॥२७॥

उन्होंने ये मेरे पिता आदि सब असुरश्रेष्ठ ऐसे गिरा डाले जैसे कि क्षुब्ध हुआ प्रलयकालका वायु कुलाचलोंको गिराता है ॥ २८ ॥

केवल एक उन्हींकी भुजारूपी अग्नि हम लोगोंका संहार करनेमें समर्थ है। देवताओंके गुरु श्रीमान् मधुसूदन हम लोगोंके द्वारा आक्रान्त नहीं हो सकते ॥२९॥

दैत्योंके बाहुदण्डके लिए कुठारभूत उन श्रीहरि भगवान्‌के पराक्रमसे पराक्रम-शाली होकर इन्द्र जैसे बन्दर बालकोंको छेड़ता है वैसे ही दैत्योंको छेड़ रहा है ॥ ३० ॥

यदि भगवान् शस्त्रास्त्रका त्याग कर दें, तो भी उनपर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। वज्रसे भी कठिन वे शस्त्रास्त्रोंके आघातोंसे छिन्न-भिन्न नहीं किये जा सकते ॥ ३१ ॥

उन्होंने हमारे बाप-दादोंके साथ बहुतसे भयङ्कर युद्धकौशलोंका, जिनमें

तासु तास्वतिघोरासु विततास्वरिराजिषु ।
यो न भीत इदानीं स भयमेष्यति का कथा ॥ ३३ ॥
उपायमेकमेवेमं हरेराक्रमणे स्फुटम् ।
मन्ये तद्व्यतिरेकेण विद्यते न प्रतिक्रिया ॥ ३४ ॥
सर्वात्मना सर्वधिया सर्वसंरम्भरंहसा ।
स एव शरणं देवो गतिरस्तीह नाऽन्यथा ॥ ३५ ॥
न तस्मादधिकः कश्चिदस्ति लोकत्रयान्तरे ।
प्रलयस्थितिसर्गाणां हरिः कारणतां गतः ॥ ३६ ॥
अस्मान्निमेषादारभ्य नारायणमजं सदा ।
संप्रपन्नोऽस्मि सर्वत्र नारायणमयो ह्यहम् ॥ ३७ ॥
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ।
नाऽपैति मम हृत्कोशादाकाशादिव मारुतः ॥ ३८ ॥

परस्पर पर्वत फेंके गये थे, अभ्यास किया है । उन अति भीषण और विशाल शत्रुपङ्क्तियोंमें जो भयभीत नहीं हुआ था, वह इस समय भयभीत होगा, इसकी कथा ही क्या है ? ॥ ३२,३३ ॥

क्यों दूसरा प्रतीकारका उपाय नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'सर्वात्मना'** इत्यादिसे ।

जगत्में सब वस्तुओंके स्वभावसे, सब प्रकारकी बुद्धियोंसे और सब प्रकारके कर्मोंके उद्योगोंसे शरणार्थी लोगोंके लिए एकमात्र भगवान् ही शरण हैं, अन्यथा गति नहीं है ॥ ३५ ॥

और लोग शरण क्यों नहीं हो सकते ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'न'** इत्यादिसे ।

तीनों लोकोंमें उनसे बढ़कर कोई भी नहीं हैं । सृष्टि, प्रलय और संहारके एकमात्र हेतु हरि ही हैं ॥ ३६ ॥

ऐसा विचारकर सर्वात्मना उनकी शरणागतिका संकल्प करते हैं—**'अस्मात्'** इत्यादिसे ।

इस क्षणसे मैं सदा अजन्मा नारायणकी शरणमें प्राप्त हुआ हूँ । सब देश, सब काल और सब वस्तुओंमें मैं नारायणमय हूँ ॥ ३७ ॥

निरन्तर भगवान्की शरणागति, धारणा, स्मरण और जपके साधनभूत

हरिराशा हरिर्व्योम हरिरुर्वी हरिर्जगत् ।
अहं हरिरमेयात्मा जातो विष्णुमयो ह्यहम् ॥ ३९ ॥
अविष्णुः पूजयन् विष्णुं न पूजाफलभाग्भवेत् ।
विष्णुर्भूत्वा यजेद्विष्णुमयं विष्णुरहं स्थितः ॥ ४० ॥
हरिः प्रह्लादनामा यो मत्तो नाऽन्यो हरिः पृथक् ।
इति निश्चयवानन्तर्व्यापकोऽहं च सर्वतः ॥ ४१ ॥
अनन्तमिदमाकाशमापूर्य विनतासुतः ।
कनकाङ्गो ममाऽङ्गानामयमासनतां गतः ॥ ४२ ॥

उनके श्रौत मन्त्रका स्मरण कर निरवच्छिन्न उसके जपका संकल्प करते हैं—**'नमः'** इत्यादिसे ।

जैसे आकाशसे वायु कभी नहीं हटता वैसे ही सब पुरुषार्थोंका साधक 'नमो नारायणाय'* यह मन्त्र मेरे हृदयकोशसे दूर न हो ॥ ३८ ॥

सब देश, सब काल और सब वस्तुओंमें मैं नारायणमय हूँ, ऐसा जो कहा था, उसका स्पष्टीकरण कहते हैं—**'हरिः'** इत्यादिसे ।

हरि दिशा हैं, हरि आकाश हैं, हरि पृथ्वी हैं, हरि जगत् हैं और अप्रमेयात्मा हरि मैं हूँ । मैं भावनावश प्रायः विष्णु हो गया हूँ ॥ ३९ ॥

यदि कोई कहे कि किसलिए तुम ऐसी कल्पना करते हो, तो इसपर कहते हैं—**'अविष्णुः'** इत्यादिसे ।

स्वयं विष्णु हुए बिना विष्णुकी पूजा करता हुआ पुरुष पूजाका फल-भागी नहीं होता है । अतः विष्णु बनकर विष्णुकी पूजा करनी चाहिये, इसलिए मैं विष्णुरूपसे स्थित हुआ हूँ, क्योंकि 'नाविष्णुः पूजयेद्विष्णुं' नाशिवः पूजयेच्छिवम्' ऐसी विधि है ॥ ४० ॥

जो हरि है वही प्रह्लादनामक है । प्रत्यगात्मासे अन्य हरि पृथक् नहीं है ऐसा मनमें निश्चलवाला मैं सर्वव्यापक हूँ ॥ ४१ ॥

अब श्रीहरिके बाहन, अस्त्र, आभरण, शरीर आदिकी अपने रूपसे कल्पना करते हैं—**'अनन्तम्'** इत्यादिसे ।

---

* प्रणवयुक्त 'नमो नारायणाय' यह मन्त्र पवित्र देशमें ही जपने योग्य है, निरन्तर जपने योग्य नहीं है, इसलिए प्रणव रहित उक्त मन्त्रका उपादान किया । श्लोकमें 'हृत्कोशात्' यह कथन मानस जपकी मुख्यताके द्योतनके लिए है ।

करशाखैकविश्रान्तसर्वहेतिविहङ्गमाः ।
नखांशुमञ्जरीकीर्णा महामरकतद्रुमाः ॥ ४३ ॥
इमे ते मृदुमन्दारदामदिग्धांसमण्डलाः ।
मन्दराघृष्टकेयूराश्चत्वारो मम बाहवः ॥ ४४ ॥
चलच्छशिकलापूरचारुचामरधारिणी ।
इयं मे पार्श्वगा लक्ष्मीः क्षीरोदकुहरोत्थिता ॥ ४५ ॥
हेलाविलुब्धभुवना त्रैलोक्यतरुमञ्जरी ।
इयं मे पार्श्वगा कीर्तिरचलाऽमलभासिनी ॥ ४६ ॥
अनारतजगज्जालनवनिर्माणकारिणी ।
इयं मे पार्श्वगा माया स्वेन्द्रजालविलासिनी ॥ ४७ ॥
इयं सा हेलयाऽऽक्रान्तत्रैलोक्यतरुखण्डिका ।
जया स्फुरति मे पार्श्वे लता कल्पतरोरिव ॥ ४८ ॥
इमौ मे नित्यशीतोष्णौ देवौ शीतांशुभास्करौ ।
प्रकटीकृतसंसारौ मुखमध्ये विलोचने ॥ ४९ ॥

इस असीम आकाशको व्याप्त करके स्थित यह गरुड़, जो सुवर्णके समान वर्णवाला है, मेरे अङ्गोंका आसन बन गया है ॥ ४२ ॥

जिनके हाथोंके अवयवोंपर सब चक्र, गदा, खड्ग आदि अस्त्ररूपी पक्षी नित्य निवास करते हैं, नखकान्तिरूपी मञ्जरियोंसे जो व्याप्त हैं, कोमल-कोमल मन्दारके फूलोंकी मालाओंसे जिनके मूलप्रदेश सुगन्धित हैं एवं मन्दराचलसे जिनके भुजूबन्द घिसे गये हैं, महामरकत मणिके वृक्षरूप ये मेरे चार बाहु हैं ॥४३,४४॥

चञ्चल चन्द्रकलाकी राशिके समान सुन्दर चंवर धारण करनेवाली क्षीर-सागरके मध्यसे उत्पन्न यह लक्ष्मी मेरी एक बगलमें स्थित है ॥ ४५ ॥

अनायास तीनों भुवनोंको जिसने प्रलोभित कर दिया है, त्रैलोक्यरूपी वृक्षकी मंजरीके समान विराजमान यह हरिकी निर्मल निश्चल कीर्ति मेरे समीपमें स्थित है ॥४६॥

निरन्तर अनेक जगतोंका नूतन निर्माण करनेवाली अपने इन्द्रजालसे शोभित होनेवाली यह विष्णुकी माया मेरे समीपमें स्थित है ॥ ४७ ॥

जिसने अनायास त्रैलोक्यकी वृक्षराशियोंपर विजय प्राप्त की है, ऐसी कल्पवृक्षकी लताके तुल्य यह लक्ष्मीकी सखी जया मेरी दूसरी बगलमें विराजमान हो रही है । नित्य शीतल और नित्य उष्ण चन्द्रमा और भास्कर ये दो देवता, जिन्होंने

ममेयमुत्पलश्यामा पीनाम्भोधरसुन्दरी ।
श्यामीकृतककुप्चक्रा देहदीप्तिर्विसर्पिणी ॥ ५० ॥
अयं मम करे शङ्खः पाञ्चजन्यः स्फुरद्ध्वनिः ।
मूर्तं खमिव शब्दात्मा क्षीरोद इव संस्थितः ॥ ५१ ॥
अयं मे कर्णिकाकोशनिलीनब्रह्मषट्पदः ।
पद्मः करतले श्रीमान् स्वनाडीकुहरोद्भवः ॥ ५२ ॥
इयं मे रत्नचित्राङ्गी सुमेरुशिखरोपमा ।
हेमाङ्गदा गदा गुर्वी दैत्यदानवमर्दिनी ॥ ५३ ॥
अयं मे भास्कराकार उद्यदंशुः सुदर्शनः ।
ज्वालाजटिलपर्यन्तपरिपाटलदिक्तटः ॥ ५४ ॥
अयं मे केतुमद्वह्निसुन्दरो ज्वलितोऽसितः ।
कुठारो दैत्यवृक्षाणां नन्दयन्नन्दकः स्थितः ॥ ५५ ॥
इदं मे शरधाराणां पुष्करावर्तकोपमम् ।
शार्ङ्गं धनुरहीन्द्राभमिन्द्रकार्मुकसुन्दरम् ॥ ५६ ॥

संसारको प्रकाशित कर रक्खा है, मेरे मुँहमें मेरे दो लोचन हैं। मेरी नील कमलके समान श्यामल, घन मेघके समान सुन्दर, फैल रही यह देहकान्ति है, इसने दिशाओंको श्यामल बना रक्खा है ॥ ४८—५० ॥

यह पाञ्चजन्य शङ्ख, जो मूर्तिमान् आकाशके समान शब्दरूप है, क्षीरसागरके समान शुभ्र है और जिससे सदा ध्वनि निकलती है, मेरे हाथमें है ॥५१॥

यह सुन्दर कमल, जो मेरी नाभिसे उत्पन्न हुआ है और जिसकी कर्णिकाके मध्यमें ब्रह्मरूपी भ्रमर छिपा है, मेरी हथेलीपर विद्यमान है ॥ ५२ ॥

यह रत्नोंसे चित्र-विचित्र शरीरवाली, अतएव सुमेरुके शिखरके तुल्य, सोनेसे मढ़ी हुई मेरी भारी गदा है, जो दैत्य और दानवोंका संहार करती है ॥५३॥

यह सूर्यके समान चमकीला मेरा सुदर्शन चक्र है, जिससे सदा किरणें बाहर फूट रही हैं और जो चारों ओर ज्वालारूपी जटाओंसे व्याप्त है। इसने चारों ओर दिक्तटोंको पाटलके समान रक्त कर दिया है ॥ ५४ ॥

यह धूमयुक्त अग्निके समान सुन्दर काला और चमकीला मेरा नन्दकनामक खड्ग है। यह दैत्यरूपी वृक्षोंके लिए कुठारभूत है और देवताओंको आनन्द

इमान्यहमनन्तानि जगन्ति जठरे चिरम् ।
बिभर्मि जातनष्टानि वर्तमानान्यनेकशः ॥ ५७ ॥

इमौ मही मे चरणाविदं मे गगनं शिरः ।
इदं वपुर्मे त्रिजगदिमे मे कुक्षयो दिशः ॥ ५८ ॥

साक्षादयमहं विष्णुर्नीलमेघोदरद्युतिः ।
सुपर्णपर्वतारूढः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ५९ ॥

एते मत्तः पलायन्ते समग्रा दुष्टचेतसः ।
तार्णास्तरलसंचाराः पवनादिव राशयः ॥ ६० ॥

अयं नीलोत्पलश्यामः पीतवासा गदाधरः ।
लक्ष्मीवान् गरुडारूढः स्वयमेवाऽहमच्युतः ॥ ६१ ॥

को मामेति विरुद्धात्मा त्रैलोक्यदहनक्षमम् ।
स्वनाशाय ततः क्षुब्धं कालाग्निं शलभो यथा ॥ ६२ ॥

देनेवाला है । यह वाणरूपी वृष्टिधाराओंको वर्षानेमें पुष्करावर्त मेघके तुल्य और शेषनागके सदृश विशाल शार्ङ्गनामक धनुष है, जो विविध मणियोंसे विचित्र होनेके कारण इन्द्रधनुषके समान सुन्दर है ॥ ५५,५६ ॥

मैं उत्पन्न होकर नष्ट हुए अतीत और वर्तमान इन अनेक जगतोंको अपने उदरमें चिरकालतक धारण करता हूँ ॥ ५७ ॥

पृथिवी मेरे चरण हैं, आकाश मेरा सिर है, तीनों जगत् मेरा शरीर है, दिशाएँ मेरे उदर हैं। मैं नील मेघके मध्यके समान श्यामल कान्तिवाला, गरुड़रूपी पर्वतपर आरूढ़ तथा शङ्ख-चक्र-गदाधारी साक्षात् विष्णु हूँ ॥ ५८,५९ ॥

ये सब दुष्ट चित्तवाले जीव जैसे चञ्चल तृणराशियां वायुसे उड़ती हैं वैसे ही मुझसे भाग रहे हैं ॥ ६० ॥

यह नील कमलके समान श्यामल कान्तिवाला, पीताम्बरधारी, हाथमें गदा लिया हुआ, गरुड़पर आरूढ़ और लक्ष्मीयुक्त मैं स्वयं ही अच्युत हो गया हूँ ॥ ६१ ॥

कौन मेरा विरोधी होकर त्रैलोक्यको भस्म करनेमें समर्थ मेरे प्रति युद्धके लिए आता है ? जो आता है, वह क्षुब्ध हुई कालाग्निके प्रति शलभ जैसे अपने नाशके लिए आता है वैसे ही स्वविनाशके लिए आता है ॥ ६२ ॥

इमे मे तैजसीं सृष्टिं ममाऽग्रस्थाः सुरासुराः ।
न शक्नुवन्ति संरोद्धुं चक्षुर्मन्दाः प्रभा इव ॥ ६३ ॥
इमं मामीश्वरं विष्णुं ब्रह्मेन्द्राग्निहरादयः ।
स्तुवन्त्यनन्तया वाचा बहुवक्त्रसमुत्थया ॥ ६४ ॥
अयं विजृम्भितैश्वर्यो जातोऽहमजिताकृतिः ।
सर्वद्वन्द्वपदातीतो महिम्ना परमेण हि ॥ ६५ ॥
त्रिभुवनभवनोदरैकमूर्त्ति
प्रसभविभिन्नसमस्तदुष्टसत्वम् ।
घनगिरितृणकाननान्तरस्थं
सकलभयापहरं वपुः प्रणौमि ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रह्लादनिर्वाणे नारायणीकरणं नाम एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

ये मेरे सामने खड़े हुए सुर और असुर जैसे कमजोर नेत्रवाले लोग सूर्यकी प्रभाको नहीं सह सकते वैसे ही मेरे तेजकी ज्वालाओंको नहीं सह सकते ॥६३॥

ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, शिव आदि देवता बहुतसे मुखोंसे निर्गत वेदवाणीसे इस ऐश्वर्यशाली विष्णुरूप मेरी स्तुति करते हैं ॥ ६४ ॥

विपुल ऐश्वर्यवाला मैं विष्णुकी आकृतिवाला हो गया हूँ और परमार्थस्वभावसे सब द्वन्द्वोंसे अतीत हो गया हूँ ॥ ६५ ॥

जिसके उदरमें त्रिभुवनरूपी भवन स्थित हैं ऐसी मूर्तिवाला, सब दुष्ट प्राणियोंको छिन्न-भिन्न कर चुका, मेघ, पर्वत, तृण, वन आदि सब वस्तुओंके अधिष्ठानरूपसे स्थित और सब भयोंको दूर करनेवाला विराट्रूप परब्रह्मात्मक मैं ही हूँ । उसे मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६६ ॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

द्वात्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

प्रह्लाद इति संचिन्त्य कृत्वा नारायणीं तनुम् ।
पुनः संचिन्तयामास पूजार्थमसुरद्विषः ॥ १ ॥
वपुषो वैष्णवादस्मान्मा भून्मूर्तिः परावरा ।
अयं प्राणप्रवाहेण बहिर्विष्णुः स्थितोऽपरः ॥ २ ॥
वैनतेयसमारूढः स्फुरच्छक्तिचतुष्टयः ।
शङ्खचक्रगदापाणिः श्यामलाङ्गश्चतुर्भुजः ॥ ३ ॥
चन्द्रार्कनयनः श्रीमान् कान्तनन्दकनन्दनः ।
पद्मपाणिर्विशालाक्षः शार्ङ्गधन्वा महाद्युतिः ॥ ४ ॥
तदेनं पूजयाम्याशु परिवारसमन्वितम् ।
सपर्यया मनोमय्या सर्वसंभाररम्यया ॥ ५ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग

[प्रह्लादका विष्णुकी मानस पूजा और असुरोंके साथ बाह्य पूजा करना और उसे सुनकर आश्चर्यमें पड़े हुए देवताओंका भगवान् विष्णुसे पूछना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रह्लादने यह विचार कर और भावना द्वारा अपने शरीरको नारायणरूप बनाकर भगवान् विष्णुकी पूजाके लिए फिर विचार किया ॥ १ ॥

मुझसे कल्पित इस वैष्णव शरीरसे अन्य समष्टिरूप अथवा व्यष्टि देवतारूप मूर्ति न हो, किन्तु यह मद्रूप विष्णु ही, जो गरुड़पर बैठे हुए, क्रिया, ज्ञान, इच्छा, अनुग्रहरूप चार शक्तियोंसे सम्पन्न, हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा लिये हुए, श्यामलशरीर, चतुर्बाहु, चन्द्रसूर्यरूपी नेत्रवाले, सुन्दर नन्दननामक खड्गसे अपने भक्तोंको प्रसन्न करनेवाले, हाथमें कमल लिये हुए, विशालनेत्र, शार्ङ्ग-नामक धनुषको धारण किये हुए, महाकान्तिवाले और संकर्षण, प्रद्युम्न आदि व्यूह और पार्षदोंसे युक्त हैं, हृदयसे पुष्पाञ्जलिभावना द्वारा बाहर आवाहित होकर पूजाकी समाप्तितक अन्यकी तरह स्थित हों। इनकी मैं सब सामग्रियोंसे रमणीय मानसिक पूजासे पूजा करता हूँ ॥ २–५ ॥

तत एनं महादेवं पूजयिष्याम्यहं पुनः ।
पूजया बाह्यसम्भोगमहत्या बहुरत्नया ॥ ६ ॥
प्रह्लाद इति संचिन्त्य सम्भारभरभारिणा ।
मनसा पूजयामास माधवं कमलाभवम् ॥ ७ ॥
रत्नौघपात्रपटलैश्चन्दनादिविलेपनैः ।
धूपदीपैर्विचित्रैश्च नानाविभवभूषणैः ॥ ८ ॥
मन्दारमालावलनैर्हेमाब्जपटलोत्करैः ।
कल्पवृक्षलतागुच्छै रत्नस्तबकमण्डलैः ॥ ९ ॥
पल्लवैर्दिव्यवृक्षाणां नानाकुसुमदामभिः ।
किंकिरातैर्बकैः कुन्दैश्चम्पकैरसितोत्पलैः ॥ १० ॥
कह्लारैः कुमुदैः काशैः खर्जूरैश्चूतकिंशुकैः ।
अशोकैर्मदनैर्बिल्वैः कर्णिकारैः किरातकैः ॥ ११ ॥
कदम्बैर्बकुलैर्निम्बैः सिन्दुवारैः सयूथकैः ।
पारिभद्रैर्गुग्गुलीभिर्बिन्दुकैः पुष्पकोत्करैः ॥ १२ ॥
प्रियङ्गुपटलैः पाटपाटलैर्धातुपाटलैः ।
आम्रैराम्रातकैर्गव्यैर्हरीतकबिभीतकैः ॥ १३ ॥

इन पूजनीय देवाधिदेवकी बाहरी उपकरणोंसे विस्तृत तथा बहुत रत्नोंसे पूर्ण पूजासे फिर बाह्य पूजा करूँगा ॥ ६ ॥

प्रह्लादने ऐसा विचारकर विविध पूजा-सामग्रियोंसे पूर्ण मनसे लक्ष्मीके पति भगवान् विष्णुकी पूजा की ॥ ७ ॥

रत्नोंके समूहोंसे जटित विविध पात्रोंके प्रान्तों द्वारा किये गये अभिषेकोंसे, चन्दन आदिके विलेपनोंसे, धूप, दीप और विविध प्रकारके विभव वाले आभूषणोंसे, मन्दारकी मालाओंके वेष्टनोंसे, सुवर्ण-कमलोंकी राशियोंसे, कल्पवृक्षकी लताओंके गुच्छोंसे, रत्नोंके गुच्छोंसे और कल्पवृक्ष आदि देववृक्षोंके पल्लवोंसे, विविध प्रकारके फूलोंकी मालाओंसे, किंकिरात, अगस्ति, कुन्द, चम्पा, नीलकमल, रक्त-कमल, कुईं, काश, खजूर, आम, पलास, अशोक, मैनफल, बिल्व, कनैल, किरातक, कदम्ब, मौलसिरी, नीम, सेन्दुआर, जुही, बकायन, गुगुलि, बिन्दुक आदि फूलोंके समूहोंसे, मेंहदी, पाटल, आम, अमड़ा, गव्य और हर्रे, बहेड़ोंके फूलोंसे, शाल,

शालतालतमालानां लताकुसुमपल्लवैः ।
कोमलैः कलिकाजालैः सहकारैः सकुङ्कुमैः ॥ १४ ॥
केतकैः शतपत्रैश्च तथैलामञ्जरीगणैः ।
सर्वसौन्दर्यसंमानैः स्वयमात्मार्पणैरपि ॥ १५ ॥
हरिं परमया भक्त्या जगद्विभवभव्यया ।
मनसा पूजयामास प्रह्लादोऽन्तःपुरे पतिम् ॥ १६ ॥
अथ देवगृहे तस्मिन् बाह्यार्थैः परिपूर्णया ।
पूजया पूजयामास दानवेशो जनार्दनम् ॥ १७ ॥
बहिर्द्रव्यैरनेनैव क्रमेण परमेश्वरम् ।
पुनः पुनः पूजयित्वा तुष्टिमान् दानवोऽभवत् ॥ १८ ॥
ततस्ततःप्रभृत्येव प्रह्लादः परमेश्वरम् ।
तथैव प्रत्यहं भक्त्या पूजयामास पूर्णया ॥ १९ ॥
अथ तस्मिन् पुरे दैत्यास्ततःप्रभृति वैष्णवाः ।
सर्व एवाऽभवन् भव्या राजा ह्याचारकारणम् ॥ २० ॥

ताल और तमालोंके लता, फूल और पल्लवोंसे, कोमल-कोमल कलियोंसे, काश्मीर केसर युक्त आमके बौरोंसे, केवड़े, कमल और इलायचीकी मञ्जरियोंसे, इनके अतिरिक्त, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, दर्पण, छत्र, चँवर, आरती, पुष्पाञ्जलि, प्रदक्षिणा, नमस्कार आदि सौन्दर्ययुक्त सब उपचारोंसे स्वयं अपने अर्पण द्वारा भी जगत्‌में जो जो विभव प्रसिद्ध हैं उपकरण बनाये गये उनसे भव्य भक्तिसे प्रह्लादने अपने अन्तःपुरमें मनसे अपने स्वामी भगवान्‌की पूजा की ॥ ८—१६ ॥

तदुपरान्त दानवराज प्रह्लादने उस देवगृहमें बाह्य सामग्रीसे पूर्ण पूजासे भगवान् विष्णुकी पूजा की ॥ १७ ॥

इसी मानस पूजामें कहे गये क्रमसे बाह्य पदार्थोंसे परमेश्वरकी बार-बार पूजा कर दानवराज प्रह्लादको अत्यन्त संतोष हुआ ॥ १८ ॥

तदुपरान्त तभीसे लेकर प्रह्लाद प्रतिदिन पूर्वोक्त पूर्ण भक्तिसे भगवान्‌की पूजा करने लगा ॥ १९ ॥

तदनन्तर उस नगरमें सभी दैत्य विष्णुभक्त और सदाचारी हो गये। राजा आचारका हेतु है, यदि राजा धर्मात्मा होता है, तो प्रजा भी धार्मिक होती

जगाम वार्ता गगनं देवलोकमथाऽरिहन् ।
विष्णोर्द्वेषं परित्यज्य भक्ता दैत्याः स्थिता इति ॥ २१ ॥

देवा विस्मयमाजग्मुः शक्राद्याः समरुद्गणाः ।
गृहीता वैष्णवी भक्तिर्दैत्यैः किमिति राघव ॥ २२ ॥

क्षीरोदे भोगिभोगस्थं विबुधा विस्मयाकुलाः ।
जग्मुरम्बरमुत्सृज्य हरिमाहवशालिनम् ॥ २३ ॥

तत्रैनं दैत्यवृत्तान्तं कथयामासुरस्य ते ।
पप्रच्छुश्चैनमासीनमपूर्वाश्चर्यविस्मयम् ॥ २४ ॥

विबुधा ऊचुः

किमेतद् भगवन् दैत्या विरुद्धा ये सदैव ते ।
ते हि तन्मयतां याता मायेयमिति भाव्यते ॥ २५ ॥

क्व किलाऽत्यन्तदुर्वृत्ता दानवा दलिताद्रयः ।
क्व पाश्चात्यमहाजन्मलभ्या भक्तिर्जनार्दने ॥ २६ ॥

है और राजा दुराचारी होता है तो प्रजा भी दुराचारनिरत हो जाती है ॥ २० ॥

हे शत्रुनाशन, तदुपरान्त यह समाचार दूतों द्वारा अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकमें पहुँचा कि दैत्य भगवान् विष्णुका द्वेष करना छोड़कर उनके भक्त बन गये हैं ॥२१॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मरुतोंसहित इन्द्र आदि सब देवताओंको बड़ा आश्चर्य हुआ कि दैत्योंने किस हेतु विष्णु भगवान्की भक्ति अपनाई है ? ॥ २२ ॥

आश्चर्यमें डूबे हुए देवता अमरावतीका त्यागकर क्षीरसागरमें शेषशय्यापर विराजमान युद्धविजयी श्रीहरिके समीप गये ॥ २३ ॥

वहाँपर उन्होंने श्रीहरिके लिए यह वृत्तान्त कहा और शेषशय्यापर बैठे हुए भगवान्से यह अपूर्व अद्भुत आश्चर्य पूछा ॥ २४ ॥

देवताओंने कहा—भगवन्, यह क्या बात है, जो दैत्य सदा ही आपके विरुद्ध रहे, वे आपके भक्त हो गये हैं। मालूम होता है यह माया है ॥ २५ ॥

कहाँ तो अत्यन्त दुष्ट दानव, जिन्होंने आपके भक्तों, देवता और मुनियोंके निवासभूत पर्वततक तोड़-फोड़ डाले थे और कहां अन्तिम उत्तम जन्ममें प्राप्त होनेवाली भगवान् जनार्दनमें भक्ति ॥ २६ ॥

प्राकृतो गुणवान् जात इत्येषा भगवन् कथा ।
अकालपुष्पमालेव सुखायोद्वेजनाय च ॥ २७ ॥
नोपपन्नं हि यद्यत्र तत्र तन्न विराजते ।
मध्ये काचकलापस्य महामूल्यो मणिर्यथा ॥ २८ ॥
यो यो यादृग्गुणो जन्तुः स तामेवैति संस्थितिम् ।
सदृशेष्वप्यजेषु श्वा न मध्ये रमते क्वचित् ॥ २९ ॥
न तथा दुःखयन्त्यङ्गे मज्जन्त्यो वज्रसूचयः ।
वैसादृश्येन सम्बद्धा यथैता वस्तुदृष्टयः ॥ ३० ॥
यद्यत्र क्रमसंप्राप्तमुपपन्नमनिन्दितम् ।
तदेव राजते तत्र जलेऽम्भोजं न तु स्थले ॥ ३१ ॥
क्वाऽधमः प्राकृतारम्भो हीनकर्मरतिः सदा ।
वराको दानवो हीनजातिर्भक्तिः क्व वैष्णवी ॥ ३२ ॥

हे भगवन्, पामर पुरुष गुणवान् हो गया, यह कथा औत्पातिकी अकाल-पुष्पमालाके समान सुखके लिए और उद्वेगके लिए भी है ॥ २७ ॥

जैसे काँचोंके बीचमें बहुमूल्य मणि शोभित नहीं होती वैसे ही जो जहाँपर उचित न हो वह वहां शोभित नहीं होता ॥ २८ ॥

यदि कहिये कश्यप ऋषिके वंशधर होनेके कारण वे भी तुम्हारे सदृश ही हैं, तो गुणोंमें वैषम्य होनेके कारण ऐसी बात नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'यो यः'** इत्यादिसे ।

जो जो जैसे गुणका प्राणी होता है, वह उसी तामसी, राजसी या सात्त्विकी स्थितिको प्राप्त होता है, यही बात उचित है । यद्यपि बकरे कुत्तेके सदृश ही हैं फिर भी कुत्ता उनके बीचमें शोभित नहीं होता ॥ २९ ॥

शरीरमें चुभती हुई वज्रकी सुइयां वैसा दुःख नहीं देतीं जैसा कि अनौ-चित्यसे संबद्ध ये वस्तुदृष्टियां दुःख देती हैं ॥ ३० ॥

जो जहांपर क्रमसे प्राप्त हो, उचित हो और अनिन्दित हो, वही वहांपर शोभित होता है । देखिये न, कमल जलमें ही शोभित होता है, स्थलमें नहीं ॥३१॥

कहां तो पामरोचित कार्य करनेवाला, सदा निन्दित कर्मोंमें निरत और तामसयोनि अधम शोचनीय दानव (प्रह्लाद) और कहां भगवान् विष्णुकी भक्ति ? ॥ ३२ ॥

कमलिनी परुषोषरभूगता
सुखयतीह यथा न दुराश्रया ।
दितिसुतोऽपि हि माधवभक्तिमान्
इति कथा न तथेश सुखाय नः ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे विबुधवाक्यं नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

गर्जन्तमतिसंरब्धं सुरलोकमथाऽरिहा ।
उवाच माधवो वाक्यं शिखिवृन्दमिवाऽम्बुदः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

विबुधा मा विषण्णाः स्थ प्रह्लादो भक्तिमानिति ।
पाश्चात्यं जन्म तस्येदं मोक्षार्होऽसावरिन्दमः ॥ २ ॥

कमलिनी सन्तप्त ऊषर भूमिमें स्थित है, यह कथा जैसे श्रोताओंको सुख नहीं देती वैसे ही हे भगवन्, दितिकी सन्तति भी भगवान्‌में भक्ति करती है यह अधम पुरुषका अवलंबन करनेवाली कथा भी हमारे लिए सुखदायी नहीं है ॥३३॥

बत्तीसवां सर्ग समाप्त

तेंतीसवाँ सर्ग

[हरिभक्तिसे प्रह्लादके विवेक आदि गुणोंका उदय और प्रसन्न हुए हरिको अपने आगे देखकर स्तुति]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अनुचित देखनेसे कुपित हुए अतएव पूर्वोक्त रीतिसे जोरसे चिल्लाकर पूछ रहे देववृन्दसे शत्रुओंका विनाश करनेवाले भगवान् जैसे मयूरोंके झुण्डसे बादल बोलता है वैसे ही निम्न निर्दिष्ट वाक्य बोले ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे देववृन्द, प्रह्लाद भक्तिमान् हो गया है, यह जान

अत उत्तरमेतेन गर्भता दनुजन्मना ।
न कर्तव्या प्रदग्धेन बीजेनेवाङ्कुरक्रिया ॥ ३ ॥
गुणवान्निर्गुणो जात इत्यनर्थक्रमं विदुः ।
निर्गुणो गुणवान् जात इत्याहुः सिद्धिदं क्रमम् ॥ ४ ॥
आत्मीयानि विचित्राणि भुवनान्यमरोत्तमाः ।
प्रयात नासुखायैषा प्राह्लादी गुणितेह वः ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा विबुधांस्तत्र क्षीरोदार्णववीचिषु ।
अन्तर्धानं ययौ देवस्तटतापिच्छगुच्छवत् ॥ ६ ॥
सोऽपि संपूजितहरिः सुरौघोऽव्रजदम्बरम् ।
पुनर्मन्दरनिर्धूतात् कणजालमिवाऽर्णवात् ॥ ७ ॥

कर आप लोग दुःखी न हों ? यदि कहो कि पहले दैत्य स्वतः ही बलवान् हैं, आपकी भक्तिसे और भी बलवान् हो जायँगे, अतः हम विषाद क्यों न करें, तो आपका यह तर्क ठीक नहीं है, कारण कि शत्रुतापन प्रह्लाद मोक्षयोग्य है, अतएव आप लोगोंके समान तुच्छ राज्यसुखको वह नहीं चाहता है। उसका यह अन्तिम जन्म है ॥ २ ॥

जैसे जला हुआ बीज अङ्कुर पैदा नहीं कर सकता, वैसे ही इसके बाद इस दानवको मातृगर्भनिवास नहीं करना होगा ॥ ३ ॥

देवताओंने जो उसकी भगवद्भक्तिको अनुचित दोषरूप ठहराया था, उसका परिहार करते हैं—**'गुणवान्'** इत्यादिसे ।

यदि गुणवान् पुरुष गुणहीन हो जाय, तो इसे विद्वान् लोग पुरुषार्थका विघात करनेवाला क्रम कहते हैं । यदि निर्गुण गुणवान् हो जाय, तो इसे सिद्धिदायक क्रम कहते हैं ॥ ४ ॥

हे देवश्रेष्ठो, आप लोग अपने-अपने अद्भुत लोकोंको जाइये । प्रह्लादकी यह भक्ति आदि गुणवत्ता आप लोगोंके अमङ्गलके नहीं है ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, भगवान् देवताओंसे यह कहकर वहाँ क्षीरसागरकी लहरोंमें तटवर्ती तापिच्छ वृक्षके गुच्छोंकी तरह अन्तर्हित हो गये ॥६॥

जैसे पहले आकाशसे समुद्रमें गिरा हुआ जलकणसमूह मन्दराचलसे कम्पित

प्रह्लादं प्रति गीर्वाणास्ततः स्निग्धत्वमाययुः ।
महान्तो यत्र नोद्विग्नास्तत्र विश्वासवन्मनः ॥ ८ ॥
प्रत्यहं पूजयामास देवदेवं जनार्दनम् ।
मनसा कर्मणा वाचा प्रह्लादो भक्तिमानिति ॥ ९ ॥
अथ पूजापरस्याऽस्य समवर्धन्त कालतः ।
विवेकानन्दवैराग्यविभवप्रमुखा गुणाः ॥ १० ॥
नाऽभ्यनन्ददसौ भोगपूगं शुष्कमिव द्रुमम् ।
न चाऽरमत कान्तासु मृगो लोकमहीष्विव ॥ ११ ॥
न रेमे लोकचर्यासु शास्त्रार्थकथनादृते ।
न जायते रतिस्तस्य दृश्ये स्थल इवाऽब्जिनी ॥ १२ ॥
न विशश्राम चेतोऽस्य भोगरोगानुरञ्जने ।
मुक्ताफलमसंश्लिष्टं मुक्ताफल इवाऽमले ॥ १३ ॥

सागरसे फिर आकाशमें चला जाता है वैसे ही पहले आकाशसे आये हुए वे देवता भी स्तुति द्वारा भगवान्‌की पूजाकर फिर आकाशमें चले गये ॥ ७ ॥

तबसे प्रह्लादके प्रति देवताओंकी मित्रता हो गई । जिस पुरुष या विषयमें अपने पूजनीय पिता, आचार्य आदि उद्विग्न नहीं हुए, उसमें बालकोंका भी मन विश्वासी हो जाता है, यह प्रसिद्ध है ॥ ८ ॥

इस प्रकारके भक्तिमान् प्रह्लादने देवाधिदेव भगवान् विष्णुकी प्रतिदिन मन, कर्म और वचनसे पूजा की ॥ ९ ॥

तदनन्तर भगवत्पूजामें परायण प्रह्लादके समय पाकर विवेक, आनन्द, वैराग्य, विभव आदि गुण बढ़ गये ॥ १० ॥

जैसे सूखे हुए वृक्षकी ओर किसीका आकर्षण नहीं होता है वैसे ही उसकी भोगोंकी ओर अभिरुचि न थी और जैसे मृग जनाकीर्ण भूमिमें प्रसन्न नहीं होता वैसे ही वह कान्ताओंमें नहीं रमता था ॥ ११ ॥

शास्त्रार्थकथनके सिवा अशास्त्रीय लोकवृत्तोंमें वह नहीं रमता था । स्थलमें जैसे कमलिनीका प्रेम नहीं होता वैसे ही दर्शनयोग्य समाज, उत्सव आदि कौतुकोंमें उसका प्रेम न था ॥ १२ ॥

जैसे न गूँथा हुआ मोती निर्मल मोतीपर स्थिर नहीं रह सकता वैसे ही

त्यक्तभोगादिकलनं विश्रान्तिमनुपागतम् ।
चेतः केवलमस्याऽऽसीद्दोलायामिव योजितम् ॥ १४ ॥
प्राह्लादीं तां स्थितिं विष्णुर्देवः क्षीरोदमन्दिरात् ।
विवेद सर्वगतया धिया परमकान्तया ॥ १५ ॥
अथ पातालमार्गेण विष्णुराह्लादिताग्रतः ।
पूजादेवगृहं तस्य प्रह्लादस्य समाययौ ॥ १६ ॥
विज्ञायाऽभ्यागतं देवं पूजया द्विगुणेद्धया ।
दैत्येन्द्रः पुण्डरीकाक्षमादरात् पर्यपूजयत् ॥ १७ ॥
पूजागृहगतं देवं प्रत्यक्षावस्थितं हरिम् ।
प्रह्लादः परमप्रीतो गिरा तुष्टाव पुष्टया ॥ १८ ॥

प्रह्लाद उवाच

त्रिभुवनभवनाभिरामकोशं
सकलकलङ्कहरं परं प्रकाशम् ।

भोगरूपी रोगोंके विषयरूपी अपथ्यके सेवन द्वारा अनुकूलाचरणमें उसका चित्त स्थिर नहीं होता था ॥ १३ ॥

यदि कोई पूछे कि तब कैसा उसका चित्त था, तो इसपर कहते हैं— **'त्यक्त०'** इत्यादिसे ।

उसके चित्तने भोग आदिकी कल्पनाका त्याग कर दिया था, किन्तु विश्रान्ति-सुखको वह प्राप्त नहीं हुआ था, अतएव वह झूलेमें लटकाये हुएकी तरह बीचमें लम्बमान स्थित रहा ॥ १४ ॥

भगवान् विष्णुने प्रह्लादकी उस स्थितिको क्षीरसागरसे सबमें विद्यमान अपनी परम रमणीय बुद्धिसे जान लिया ॥ १५ ॥

तदनन्तर भक्तोंको आह्लादित करनेवाले भगवान् विष्णु पातालमार्गसे पूजादेवगृहमें प्रह्लादके सामने आये ॥ १६ ॥

भगवान् पुण्डरीकाक्षको आया हुआ जानकर दैत्यराज प्रह्लादने दुगुनी सामग्रीसे देदीप्यमान पूजासे आदरपूर्वक उनकी पूजा की ॥ १७ ॥

परम प्रसन्न हुए प्रह्लादने पूजागृहमें आये हुए नेत्रोंके सामने स्थित भगवान् श्रीहरिकी मारे हर्षके विकासको प्राप्त हुई वाणीसे स्तुति की ॥ १८ ॥

प्रह्लादने कहा—मैं त्रिभुवनकी सुरक्षित स्थितिके अनुकूल सुन्दर कोश-

अशरणशरणं शरण्यमीशं
हरिमजमच्युतमीश्वरं प्रपद्ये ॥ १९ ॥
कुवलयदलनीलसन्निकाशं
शरदमलाम्बरकोटरोपमानम् ।
भ्रमरतिमिरकज्जलाञ्जनाभं
सरसिजचक्रगदाधरं प्रपद्ये ॥ २० ॥
विमलमलिकलापकोमलाङ्गं
सितदलपङ्कजकुड्मलाभशङ्खम् ।
श्रुतिरणितविरञ्चिचञ्चरीकं
स्वहृदयपद्मदलाश्रयं प्रपद्ये ॥ २१ ॥
सितनखगणतारकावकीर्णं
स्मितधवलाननपीवरेन्दुबिम्बम् ।
हृदयमणिमरीचिजालगङ्गं
हरिशरदम्बरमाततं प्रपद्ये ॥ २२ ॥

गृहरूप, बाह्य और आभ्यन्तर अन्धकारका विनाश करनेवाले, स्वयंज्योतिस्वरूप, अनाथोंके रक्षक, शरणके योग्य, सर्वशक्तिसम्पन्न, रजोगुणसे ब्रह्मा, सत्त्वगुणसे अच्युत और तमोगुणसे शिवरूप, सब दुःखोंका हरण करनेवाले हरिके शरणागत होता हूँ ॥ १९ ॥

नीलकमल और नीलमणिके समान कान्तिवाले, शरत्कालीन निर्मल आकाशके मध्यभागके तुल्य श्यामल, भ्रमर, अन्धकार, काजल और अञ्जनके समान कान्तिवाले, कमल, चक्र और गदा धारण करनेवाले आपकी शरणमें मैं प्राप्त होता हूँ ॥२०॥

जिनका शरीर भौंरोंकी राशिके समान कोमल है, जिनका शुभ्र शङ्ख सफेद कमलके कुड्मलके समान सुशोभित होता है, श्रुति ही जिनका गुंजन है—ऐसे ब्रह्माजी जिनके नाभिकमलके भ्रमर हैं एवं जो अपने भक्तोंके हृदयकमलमें निवास करते हैं, ऐसे भगवान्‌की मैं शरण लेता हूँ ॥ २१ ॥

सफेद नखरूपी तारे जिसमें बिखरे हैं, मन्द-मन्द हाससे प्रकाशमान मुख ही जिसमें पूर्ण चन्द्रबिम्ब है एवं कौस्तुभमणिकी किरणराशि ही जिसमें आकाशगंगा है, इस प्रकारके विस्तृत हरिरूपी शरत्कालिक आकाशकी मैं शरण लेता हूँ ॥ २२ ॥

अविरलकृतसृष्टिसर्वलीनं
सततमजातमवर्द्धनं विशालम् ।
गुणशतजरठाभिजातदेहं
तरुदलशायिनमर्भकं प्रपद्ये ॥ २३ ॥
नवविकसितपद्मरेणुगौरं
स्फुटकमलावपुषा विभूषिताङ्गम् ।
दिनशमसमयारुणाङ्गरागं
कनकनिभाम्बरसुन्दरं प्रपद्ये ॥ २४ ॥
दितिसुतनलिनीतुषारपातं
सुरनलिनीसततोदितार्कबिम्बम् ।
कमलजनलिनीजलावपूरं
हृदि नलिनीनिलयं विभुं प्रपद्ये ॥ २५ ॥
त्रिभुवननलिनीसितारविन्दं
तिमिरसमानविमोहदीपमग्र्यम् ।
स्फुटतरमजडं चिदात्मतत्त्वं
जगदखिलार्तिहरं हरिं प्रपद्ये ॥ २६ ॥

रची गई घनी सृष्टि जिनमें बिना किसी संकोचके निविष्ट है, सत्त्व आदि मायागुणोंसे होनेवाले अनन्त कल्याण गुणगणोंसे जिनकी चिरन्तन मूर्ति रमणीय है, प्रलयकालमें बटपत्रपर सोनेवाले बालकरूप अविनाशी, अज, अविकारी, सर्वव्यापक, भगवान्‌की मैं शरणमें जाता हूँ ॥ २३ ॥

ताजे फूले हुए नाभिकमलके परागसे वक्षःस्थलमें पीले वर्णवाले, प्रकाशमान लक्ष्मीके शरीरसे विभूषित वामाङ्गवाले, सायंकालके समयके समान अरुण अङ्गरागवाले एवं सुवर्णके समान चमकदार पीताम्बरसे सुन्दर भगवान्‌की शरणमें मैं जाता हूँ ॥ २४ ॥

दैत्यरूपी नलिनीके लिए हिमपातरूप, देवरूपी नलिनीके लिए सदा उदित सूर्य मण्डलरूप, ब्रह्मारूपी नलिनीके तड़ागरूप एवं हृदयकमलमें निवास करनेवाले विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ ॥ २५ ॥

त्रिभुवनरूपी कमलिनीके लिए सूर्यरूप, अन्धकारके सदृश आच्छादक

वसिष्ठ उवाच

इति गुणबहुलाभिर्वाग्भिरभ्यर्चितोऽसौ
हरिरसुरविनाशः श्रीनिषण्णांसदेशः ।
जलद इव मयूरं प्रीतिमान् प्रीयमाणं
कुवलयदनीलः प्रत्युवाचाऽसुरेन्द्रम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे नारायणागमनं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

श्रीभगवानुवाच

वरं गुणनिधे दैत्यकुलाचूडामहामणे ।
गृहाणाऽभिमतं भूयो जन्मदुःखोपशान्तये ॥ १ ॥

अज्ञानके लिए श्रेष्ठ दीपरूप, नित्यस्वप्रकाश, अजड़, चिदात्मतत्त्वरूप, जगत्की सब पीड़ाओंको दूर करनेवाले भगवान्की मैं शरण लेता हूँ ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—इस प्रकारके विविध गुणोंसे युक्त स्तुतिवचनोंसे पूजित असुरोंका विनाश करनेवाले नील कमलके सदृश श्यामल भगवान् श्रीहरि, जिनका कण्ठ श्रीलक्ष्मीजीसे आलिङ्गित था, प्रसन्न होकर जैसे मेघ मयूरके प्रति बोलता है वैसे ही दैत्यराज प्रह्लादके लिए बोले ॥ २७ ॥

तेंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौंतीसवाँ सर्ग

[श्रीहरिके वरसे सुविचारको प्राप्त कर तथा अनात्मवर्गका त्यागकर प्रह्लादका अपने अद्वितीय सच्चिदात्मस्वरूपका दर्शन]

श्रीभगवान्ने कहा—हे दैत्यकुलके चूड़ामणिरूप, हे गुणसागर, पुनः जन्मरूपी दुःखकी निवृत्तिके लिए तुम अभीष्ट वर माँगो ॥ १ ॥

प्रह्लाद उवाच

सर्वसङ्कल्पफलद सर्वलोकान्तरस्थित ।
यदुदारतमं वेत्सि तदेवाऽऽदिश मे विभो ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

सर्वसंभ्रमसंशान्त्यै परमाय फलाय च ।
ब्रह्मविश्रान्तिपर्यन्तो विचारोऽस्तु तवाऽनघ ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा दितिपुत्रेन्द्रं विष्णुरन्तरधीयत ।
कृतघर्घरनिर्ह्रादस्तरङ्गस्तोयधेरिव ॥ ४ ॥

विष्णावन्तर्हिते देवे पूजायां कुसुमाञ्जलिम् ।
पाश्चात्यं दानवस्त्यक्त्वा मणिरत्नपरिष्कृतम् ॥ ५ ॥

पद्मासनस्थोऽतिमुदा ह्युपविश्य वरासने ।
स्तोत्रपाठविधावन्तश्चिन्तयामास चेतसा ॥ ६ ॥

प्रह्लादने कहा—हे प्रभो, आप सब सङ्कल्पोंका फल देनेवाले हैं और सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित हैं, अतएव जिस वस्तुको आप सर्वोत्तम समझते हों, उसीको मुझे देनेकी कृपा कीजिये ॥ २ ॥

इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान् विष्णु अपने विचारसे उत्पन्न आत्म-तत्त्वसाक्षात्कारके बिना आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकती, यह समझकर वर देते हैं—**'सर्व०'** इत्यादिसे ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे पापरहित, सब सन्देहोंकी निवृत्तिके लिए और मुक्तिरूपी सर्वोत्तम फलके लिए तुम्हारा ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त विचार हो ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, दैत्यराज प्रह्लादसे यह कहकर जैसे कलकल ध्वनि करके समुद्रकी लहर छिप जाती है वैसे ही भगवान् विष्णु अन्तर्हित हो गये ॥ ४ ॥

भगवान् विष्णुके अन्तर्हित होनेपर प्रह्लादने पूजामें मणि-रत्नोंसे सुशोभित अन्तिम पुष्पाञ्जलि देकर, सुन्दर आसनपर बैठकर, पद्मासन लगाकर स्तोत्रपाठ करनेके समय बड़े हर्षसे अपने अन्तःकरणमें विचार किया ॥ ५,६ ॥

विचारवानेव भवान् भवत्विति भवारिणा ।
देवेनोक्तोऽस्मि तेनाऽन्तः करोम्यात्मविचारणम् ॥ ७ ॥
किमहं नाम तावत् स्यां योऽस्मिन् भुवनडम्बरे ।
वच्मि गच्छामि तिष्ठामि प्रयत्नेनाऽऽहरामि च ॥ ८ ॥
जगत्तावदिदं नाऽहं सवृक्षतृणपर्वतम् ।
यद्बाह्यं जडमत्यन्तं तत्स्यां कथमहं किल ॥ ९ ॥
असन्नभ्युदितो मूकः पवनैः स्फुरितः क्षणम् ।
कालेनाऽल्पेन विलयी देहो नाऽहमचेतनः ॥ १० ॥
जडया कर्णशष्कुल्या कल्प्यमानः क्षणक्षयी ।
शून्याकृतिः शून्यभवः शब्दो नाऽहमचेतनः ॥ ११ ॥

जन्ममरणरूपी संसारसे छुटकारा देनेवाले भगवान्ने तुम विचारवान् ही होओ, ऐसा मुझे उपदेश दिया है। इसलिए मैं अपने अन्तःकरणमें आत्मविचार करता हूँ ॥ ७ ॥

सारा दृश्य आत्माके लिए है, इसलिए आत्मा ही प्रधान है, यह निश्चय कर वह आत्मा कौन है, ऐसा विचार करते हैं—**'किमहं'** इत्यादिसे ।

जो इस संसाररूपी आडम्बरमें बोलता हूँ, चलता हूँ, बैठता हूँ और सब उद्योगोंसे विषयोंका उपभोग करता हूँ वह मैं कौन हूँ, यही विचार पहले मुझे करना चाहिये ॥ ८ ॥

देहसे बाह्य वस्तु तो आत्मा हो नहीं सकती, ऐसा कहते हैं–**'जगत्'** इत्यादिसे।

वृक्ष, तृण, पर्वत आदिसे युक्त यह सारा जगत् तो आत्मा हो नहीं सकता, क्योंकि जो बाहरी और अत्यन्त जड़ है, वह मैं कैसे हो सकता हूँ ॥ ९ ॥

देह भी मैं नहीं हूँ, ऐसा कहते हैं—**'असन्'** इत्यादिसे ।

वस्तुतः असत् होता हुआ भी उदित, जड़ होनेके कारण ही बोलनेमें असमर्थ, प्राणवायुओं द्वारा केवल अपने संचारके समयमें ही संचलित, थोड़े समयमें नष्ट होनेवाला यह अचेतन शरीर भी मैं नहीं हूँ ॥ १० ॥

इस प्रकार शब्द आदि विषय भी मैं नहीं हूँ, ऐसा कहते हैं—**'जडया'** इत्यादिसे ।

जड़ (अचिद्रूप) कर्णच्छिद्र द्वारा अति दीर्घ, गम्भीर, पद, वाक्य आदि

त्वचा क्षणविनाशिन्या प्राप्यमप्राप्यमप्यथ ।
चित्प्रसादोपलब्धात्म स्पर्शनं नाऽस्म्यचेतनम् ॥ १२ ॥
बद्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया ।
स्वल्पस्पन्दो द्रव्यनिष्ठो रसो नाऽहमचेतनः ॥ १३ ॥
दृश्यदर्शनयोर्लीनं क्षयि क्षणविनाशिनोः ।
केवले द्रष्टरि क्षीणं रूपं नाऽहमचेतनम् ॥ १४ ॥
नासया गन्धजडया क्षयिण्या परिकल्पितः ।
पेलवोऽनियताकारो गन्धो नाऽहमचेतनः ॥ १५ ॥
निर्ममोऽमननः शान्तो गतपञ्चेन्द्रियभ्रमः ।
शुद्धचेतन एवाऽहं कलाकलनवर्जितः ॥ १६ ॥

भेदोंसे कल्पित क्षणभरमें नष्ट होनेवाला, क्षयी होनेके कारण ही शून्याकार, आकाशसे उत्पन्न होनेवाला अचेतन शब्द भी मैं नहीं हूँ ॥ ११ ॥

क्षणमें नष्ट होनेवाली त्वगिन्द्रियसे प्राप्त होनेवाला और अन्य प्रकारसे प्राप्त न होनेवाला, चित्के प्रसादसे आत्मस्वरूपको प्राप्त करनेवाला (चेतनके अधीन सिद्धिवाला) अचेतनस्वरूप स्पर्श भी मैं नहीं हूँ ॥ १२ ॥

अनित्य, चञ्चल जिह्वासे संबद्धस्वभाववाला यानी रसनेन्द्रियके अधीन सिद्धि-वाला, द्रव्यमें रहनेवाला, अचेतन तुच्छ रस, जिह्वाके अग्रभागसे लेकर कण्ठतक जिसके आस्वादका प्रसार है, मैं नहीं हूँ ॥ १३ ॥

क्षणविनाशी पदार्थ और चक्षु इन दोनोंके अधीन सिद्धिवाला अतएव विनश्वर तथा केवल द्रष्टामें अविद्यमान अचेतन रूप मैं नहीं हूँ ॥ १४ ॥

गन्धवती, जड़, नष्ट होनेवाली नासिका (घ्राणेन्द्रिय) द्वारा कल्पित, (दूसरे क्षणमें अन्य गन्धका प्रादुर्भाव होनेसे) अनियत आकारवाला अचेतन तुच्छ गन्ध भी मैं नहीं हूँ ॥ १५ ॥

शब्द आदि विषयोंको अनात्म कहना वचन, ग्रहण आदिमें भी समान होकर सर्वत्र त्रिपुटियोंके अनात्मत्वका उपलक्षक है, क्योंकि सर्वत्र न्याय समान है, इससे अहंकार, मन, बुद्धि, चित्त त्रिपुटीका भी अनात्मरूपसे निरास होनेपर शुद्ध चिन्मात्र ही आत्मा परिशिष्ट रहता है, इस आशयसे कहते हैं—**'निर्ममः'** इत्यादिसे ।

'मम' इस प्रकारके अभिमानसे रहित, मननरूप मनके व्यापारसे शून्य,

चेत्यवर्जितचिन्मात्रमहमेषोऽवभासकः ।
सबाह्याभ्यन्तरव्यापी निष्कलामलसन्मयः ॥ १७ ॥

अनेन चेतनेनेमे सर्वे घटपटादयः ।
सूर्यान्ता अवभास्यन्ते दीपेनोत्तमतेजसा ॥ १८ ॥

आ इदानीं स्मृतं सत्यमेतत्तदखिलं मया ।
निर्विकल्पचिदाभास एष आत्माऽस्मि सर्वगः ॥ १९ ॥

अनेनैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियवृत्तयः ।
तेजसाऽन्तःप्रकाशेन यथाऽग्निकणपङ्क्तयः ॥ २० ॥

अनेनैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियपङ्क्तयः ।
सर्वगेन निदाघेन यथा मरुमरीचिकाः ॥ २१ ॥

मायाके सम्बन्धसे रहित, पञ्चेन्द्रियोंके भ्रमसे शून्य (पञ्चेन्द्रियतादात्म्य भ्रान्तिरहित) शान्त शुद्ध चेतन ही मैं हूँ ॥ १६ ॥

चेतन पदसे चेतनावान् जड़ांशका भी ग्रहण न हो, उसके शोधनके लिए कहते हैं—**'चेत्य०'** इत्यादिसे ।

स्वयंज्योति, सबका प्रकाशक, बाह्य और आभ्यन्तर सर्वत्र व्यापक, अखण्ड निर्मल, सन्मय यह मैं चेत्यरहित चिन्मात्र ही हूँ ॥ १७ ॥

इस प्रकार परिशुद्ध त्वंपदार्थका विचारकर उसके द्वारा ही तत्पदार्थका भी शोधन करके उसको समझानेके लिए भूमिका बांधते हैं—**'अनेन'** इत्यादिसे ।

अन्यनिर्पेक्ष होनेके कारण उत्तम तेजरूप इस चेतनरूप दीपकसे ही घट-पट आदि सूर्यपर्यन्त ये सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं ॥ १८ ॥

हाँ, इस सारे सत्यका मुझे अब स्मरण हो आया है । आकाश आदि विकल्पोंसे रहित चिद्रूप प्रकाश सर्वव्यापक यह आत्मा मैं हूँ ॥ १९ ॥

भीतर प्रकाशमान तेजरूप इसीसे इन विचित्र इन्द्रियवृत्तियोंका स्फुरण होता है जैसे कि भीतर प्रकाशमान तेजसे अग्निभूत अंगारकणपङ्क्तियोंका स्फुरण होता है ॥ २० ॥

जैसे ग्रीष्म ऋतुसे मरुमरीचिकाओंका (मृगतृष्णाओंका) स्फुरण होता है वैसे ही सर्वव्यापक इस चेतनसे ये विचित्र इन्द्रियपङ्क्तियां स्फुरित होती हैं ॥२१॥

अनेनैतत्पदार्थानां वस्तुत्वं प्रतिपाद्यते ।
शुक्लादिगुणवत्त्वं स्वं प्रदीपेनेव वाससाम् ॥ २२ ॥
असावेव हि भूतानां सर्वेषामेव जाग्रताम् ।
सर्वानुभविताभूमिरात्मा मुकुरवत् स्थितः ॥ २३ ॥
तस्यैकस्याऽविकल्पस्य चिद्दीपस्य प्रसादतः ।
उष्णोऽर्कः शिशिरश्चन्द्रो घनोऽद्रिर्विद्रुतं पयः ॥ २४ ॥
सातत्येनाऽनुभूतानां सर्वेषां च जगत्स्थितौ ।
एतत्कारणमाद्यं तत्कारणं नाऽस्य विद्यते ॥ २५ ॥
सातत्येनाऽनुभूतानां पदार्थानामनेन तत् ।
पदार्थत्वमुदेत्युच्चैः प्रतापेनेव तप्तता ॥ २६ ॥
अनाकारात् कारणाच्च सर्वकारणकारणात् ।
एतस्मादिदमुत्पन्नं जगच्छैत्यं हिमादिव ॥ २७ ॥

सब पदार्थोंकी स्फूर्तिके समान सत्ता भी इसके अधीन ही है, ऐसा कहते हैं—**'अनेन'** इत्यादिसे ।

जैसे वस्त्रोंका अपना शुक्लादि गुणवत्त्व प्रदीपसे प्रतिपादित होता है वैसे ही पदार्थोंकी यह अपनी सत्ता इसीसे प्रतिपादित होती है ॥ २२ ॥

जैसे दर्पण सब प्रतिबिम्बोंका विश्रान्तिस्थान है वैसे ही आत्मा चेतन सभी जीवोंके सब अनुभवोंका विश्रान्तिस्थान है ॥ २३ ॥

उसी एक विकल्परहित चिद्रूपी दीपकके प्रसादसे सूर्य गर्म, चन्द्रमा शीतल, पर्वत ठोस और जल तरल है । भाव यह है कि विभिन्न पदार्थोंके विविध विचित्र स्वभावोंकी सिद्धि उसीके अधीन है ॥ २४ ॥

'आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल' इत्यादि क्रमसे श्रुति और प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत सब पदार्थोंकी जगत्में उत्पत्ति आदिकी व्यवस्थामें सद्रूपसे सब कार्योंमें व्यक्त यही आदि कारण है, इसका कोई कारण नहीं है ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त नैरन्तर्य क्रमसे अनुभूत सब पदार्थोंका जैसे ग्रीष्म ऋतुके सूर्यके सन्तापसे भूमि आदिकी अत्यन्त सन्तप्तता उत्पन्न होती है वैसे ही इसीसे प्रसिद्ध आकाश आदि पदार्थत्व उत्पन्न होता है ॥ २६ ॥

जैसे बर्फसे शीतलता उत्पन्न होती है वैसे ही वस्तुतः निराकार यानी

ब्रह्मविष्ण्वन्द्ररुद्राणां कारणानां जगत्स्थितौ ।
एतत्कारणमाद्यं तत्कारणं नाऽस्य विद्यते ॥ २८ ॥
चिच्चेत्यद्रष्टृदृश्यादिनामभिर्वर्जितात्मने ।
स्वयं सकृद्विभाताय मह्यमस्मै नमो नमः ॥ २९ ॥
एतस्मिन् सर्वभूतानि निर्विकल्पचिदात्मनि ।
गुणभूतानि भूतेशे तिष्ठन्ति विविशन्ति च ॥ ३० ॥
यत्किलाऽनेन कलितं चेतनेनान्तरात्मना ।
तत्तद्भवति सर्वत्र नेतरत्सदपि स्थितम् ॥ ३१ ॥
यच्चिता कलितं किञ्चित्तदाप्नोति निजं पदम् ।
यच्चिता कलितं नेह तत्सदप्यन्तमागतम् ॥ ३२ ॥

कारणत्व आदि आकारसे शून्य और अविद्यासे कारणभूत सब कारणोंके कारण इससे यह दृश्य उत्पन्न हुआ है ॥ २७ ॥

जगत्‌में उत्पत्ति आदिकी व्यवस्थामें कारणभूत ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और रुद्रका यही आदि कारण है। इसका कोई कारण नहीं है। चित्, चेत्य, द्रष्टा, दृश्य आदि नामोंसे वर्जित स्वरूपवाले स्वयं नित्यस्वप्रकाश इस मुझ प्रत्यक् चैतन्यके लिए बार-बार नमस्कार है ॥ २८,२९ ॥

कारण होनेसे जैसे यह सर्गका हेतु है वैसे ही पालन और संहारका हेतु भी है, ऐसा कहते हैं—**'एतस्मिन्'** इत्यादिसे।

निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप सब प्राणियोंके अधिष्ठाता इसमें गुणोंकी नाईं अभिन्न सत्तावाले सब भूत स्थित रहते हैं और प्रवेश भी करते हैं। भाव यह कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिमें कहे गये ब्रह्मलक्षणका इसमें समन्वय है ॥ ३० ॥

कारणमें सूक्ष्मरूपसे स्थित इस समय वर्तमान भी जिसका इस चेतन अन्त-रात्माने यह उत्तर क्षणमें उत्पन्न हो, ऐसा संकल्प किया वही सर्वत्र उत्तर क्षणमें उत्पन्न होता है, अन्य नहीं ॥ ३१ ॥

जिस वस्तुको चेतनने अपनी सत्ता और स्फूर्तिके प्रदान द्वारा उज्जीवित किया, वही अपने 'घट है' इत्यादि व्यवहारपदको प्राप्त होता है और जिसको चेतनने अपनी सत्ता और स्फूर्तिके प्रदान द्वारा उज्जीवित नहीं किया, वह असत्त्वरूप नाशको प्राप्त हुआ है ॥ ३२ ॥

इमे घटपटाकाराः पदार्थशतपङ्क्तयः ।
जागत्यो विपुलादर्शे ह्यस्मिन् व्योमनि बिम्बिताः ॥ ३३ ॥
एतद्वृद्धं वृद्धतरे क्षयि क्षयिणि जायते ।
पदार्थे सदसच्चापि प्रतिबिम्बार्कवत्स्थितम् ॥ ३४ ॥
अदृश्यं सर्वभूतानां प्राप्यं गलितचेतसाम् ।
एतत्तद्दृश्यते सद्भिः परं व्योमाऽतिनिर्मलम् ॥ ३५ ॥
इयमभ्युदयं याति नानादृश्यसुमञ्जरी ।
आचारचञ्चरीकाढ्या एतस्मात् कारणद्रुमात् ॥ ३६ ॥
अस्मादियमुदेत्युच्चैः संसाररचना चला ।
विचित्रतरुगुल्माढ्या शैलादिव वनावली ॥ ३७ ॥

ये घटपटाकार जगत्के सैकड़ों पदार्थ विशाल दर्पणरूप इस चिदाकाशमें प्रतिबिम्बित हैं ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार वृद्धि आदि भावविकार भी इसीमें अध्यस्त हैं, ऐसा कहते हैं—**'एतत्०'** इत्यादिसे ।

जैसे प्रतिबिम्बित सूर्यमें क्षय और वृद्धि प्रतिबिम्बरूपसे स्थित सूर्यमें ही अध्यस्त होकर अन्यवृत्तितया प्रतीत होते हैं वैसे ही यह भी विशाल पदार्थमें विशाल, विनष्ट होनेवाले पदार्थमें विनाशी और सत्-असत्रूपसे स्थित है ॥३४॥

सब अज्ञानी प्राणियोंके दर्शनके अयोग्य जिनका चित्त विलीन हो चुका, ऐसे महात्माओंको प्राप्त होने योग्य यह अति निर्मल परमाकाश सत्पुरुषों द्वारा देखा जाता है ॥ ३५ ॥

जो लोग कारणके एक देशमें परिणामरूप जगत् है, ऐसी कल्पना करते हैं, उनकी कल्पना भी इसी परमाकाशमें है अन्यमें नहीं है, इसी आशयसे कहते हैं—**'इयं'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

आचाररूपी भौंरोंसे वेष्टित यह विविध दृश्यरूपी सुन्दर मञ्जरी इसी कारणरूप वृक्षसे उत्पन्न होती है । जैसे विविध प्रकारके वृक्ष, झाड़ी और लताओं द्वारा वेष्टित वनपङ्क्ति पर्वतसे उत्पन्न होती है वैसे ही यह चञ्चल विशाल संसाररचना इसीसे उत्पन्न होती है ॥ ३६,३७ ॥

सर्वेषामविभिन्नोऽसौ त्रैलोक्योदरवर्त्तिनाम् ।
ब्रह्मादीनां तृणान्तानां चिदात्मा संप्रकाशकः ॥ ३८ ॥
एकोऽसावहमाद्यन्तरहितः सर्वगाकृतिः ।
चराचराणां भूतानामन्तः स्वानुभवः स्थितः ॥ ३९ ॥
अस्य तस्य ममेमानि स्थावराणि चराणि च ।
परिसंख्यादिहीनानि शरीराणि बहूनि च ॥ ४० ॥
एकोऽसावनुभूत्यात्मा स्वानुभूतिवशात् स्वयम् ।
सर्वदृग्द्रष्टृदृश्यत्वात् सहस्रकरलोचनः ॥ ४१ ॥
एषोऽसावहमाकाशे सूर्यदेहेन चारुणा ।
विहरामीतरेणाऽपि वायुदेहेन वायुना ॥ ४२ ॥
ममैतद्वपुरानीलं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
सर्वसौभाग्यसीमान्तं ह्यस्मिञ्जगति वल्गति ॥ ४३ ॥
अहमस्मिन् समुद्भूतः पद्मासनगतः सदा ।
निर्विकल्पसमाधिस्थः परां निर्वृतिमागतः ॥ ४४ ॥

इसीमें कल्पना है, यह कैसे जाना ? ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो जगत्की स्फूर्ति इससे अभिन्न है, इससे जाना, ऐसा कहते हैं—'**सर्वेषाम्**' इत्यादिसे ।

त्रैलोक्य मध्यवर्ती ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सब पदार्थोंका प्रकाशक यह स्वयंज्योति चिदात्मा सबसे अभिन्न है ॥ ३८ ॥

जन्म और विनाश रहित सर्वव्यापक यह एक मैं सब चराचर भूतोंके अन्दर स्वानुभवरूप स्थित हूँ । इस मेरे ये स्थावर और जंगम बहुत शरीर हैं, जिनकी संख्यागणना, कालकी इयत्ता और देशकी इयत्ता नहीं हो सकती ॥ ३९,४० ॥

अनुभूतिस्वरूप एक यह अपनी अनुभूतिवश स्वयं सर्वद्रष्टा, सर्वदृश्य और सर्वदर्शन एवं हजारों लोचन और हाथवाला है ॥ ४१ ॥

यह प्रत्यक्ष ईश्वरभूत मैं सुन्दर सूर्यरूप होकर आकाशमें विचरण करता हूँ एवं वायुरूप होकर अन्य वायुदेहसे भी आकाशमें विचरण करता हूँ ॥ ४२ ॥

मेरा शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाला यह श्यामल शरीर, जो सब सौभाग्योंकी चरमसीमा है, इस संसारमें व्यवहार करता है ॥ ४३ ॥

इस जगत्में सदा पद्मासनासीन होकर निर्विकल्पक समाधिमें स्थित परमसुखको प्राप्त मैं ब्रह्मारूपसे उत्पन्न हुआ हूँ ॥ ४४ ॥

अहं त्रिनेत्रयाऽऽकृत्या गौरीवक्त्राब्जषट्पदः ।
सर्गान्ते संहरामीदं कूर्मोऽङ्गपटलं यथा ॥ ४५ ॥
अहमिन्द्रेण रूपेण त्रिलोकीमखिलामिमाम् ।
पालयामि क्रमप्राप्तां मठिकामिव तापसः ॥ ४६ ॥
स्त्री पुमानहमेवैतत्कुमारो ह्यहमित्यपि ।
जीर्णोऽहं देहधारित्वाज्जातोऽहं विश्वतोमुखः ॥ ४७ ॥
अहं तृणलतागुल्मजालं रसतया स्थितः ।
उत्थापयामि चिद्भूमेः कूपोऽन्तरलतामिव ॥ ४८ ॥
स्वलीलार्थमिदं चारु जगदाडम्बरं ततम् ।
मयाऽभिजातबालेन पङ्कक्रीडनकं यथा ॥ ४९ ॥
मयेदमाप्यते सर्वं सत्ता मां प्राप्य गच्छति ।
मत्परित्यक्तमेतच्च सदप्येव न किञ्चन ॥ ५० ॥

मैं तीन नेत्रवाली आकृतिसे श्रीपार्वतीजीके मुखकमलका भ्रमर बनकर जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको समेट लेता है वैसे ही इस जगत्‌का प्रलयकालमें संहार करता हूँ ॥ ४५ ॥

जैसे तपस्वी गुरुपरम्पराप्राप्त अपने मठकी रक्षा करता है वैसे ही इन्द्ररूपसे मैं मन्वन्तरक्रमसे प्राप्त हुए इस सारे त्रिलोकका पालन करता हूँ ॥ ४६ ॥

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥' इस श्रुतिका अपने अनुभव द्वारा अपनेमें समन्वय करते हैं—'**स्त्री**' इत्यादिसे ।

यह मैं ही स्त्री हूँ, मैं ही पुरुष हूँ, कुमार भी मैं ही हूँ, देहधारी होनेसे मैं जीर्ण हो गया हूँ और मैं ही सर्वतोमुख विराट् पुरुष हूँ ॥ ४७ ॥

मैं जीवसाररूपसे स्थित होकर तृण, लता, झाड़ी आदिके समूहको चिद्रूप भूमिसे ऐसे उत्पन्न करता हूँ जैसे जलरूपसे स्थित जीर्ण कूप अपने अन्दर लताको उत्पन्न करता है ॥ ४८ ॥

सुन्दर बालकरूप मैंने इस सुन्दर जगद्रूपी आडम्बरका मिट्टीके खिलौनेके समान अपनी क्रीडाके लिए विस्तार किया है ॥ ४९ ॥

मुझसे कारणरूपसे यह जगत् व्याप्त किया जाता है । मुझे ही प्राप्त होकर यह सत्ताको प्राप्त होता है। अपने तत्त्वदर्शन द्वारा मुझसे परित्यक्त हुआ यह जगत् जीवन्मुक्तव्यवहारमें विद्यमान होता हुआ भी कुछ नहीं है ॥ ५० ॥

मयि स्फारे चिदादर्शे प्रतिबिम्बं यदागतम् ।
तदस्ति नेतरद्यस्मान्मत्तोऽन्यन्नेह विद्यते ॥ ५१ ॥
कुसुमेष्वहमामोदः पुष्पपत्रेष्वहं छविः ।
छविष्वहं रूपकला रूपेष्वनुभवोऽप्यहम् ॥ ५२ ॥
यद्यत्किञ्चिदिदं दृश्यं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वसङ्कल्परहितं तच्चित्तत्त्वमहं परम् ॥ ५३ ॥
आद्या रसमयी शक्ती रसौघो विस्तृतो यया ।
सा यथा दारुकुड्येषु तथाऽहं सर्ववस्तुषु ॥ ५४ ॥
परमां तामहं सर्वपदार्थान्तरवर्तिताम् ।
उपेत्य संविद्वैचित्र्यं प्रतनोमि स्वयेच्छया ॥ ५५ ॥
घृतं यथाऽन्तः पयसो रसशक्तिर्यथा जले ।
चिच्छक्तिः सर्वभावेषु तथाऽन्तरहमास्थितः ॥ ५६ ॥

मुझ विशाल चिद्रूपी दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब प्राप्त हुआ है, वह मुझसे पृथक् नहीं है, क्योंकि इस संसारमें मुझसे अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं ॥ ५१ ॥

अब ईश्वररूप अपने विभूतिविस्तारका वर्णन करते हैं–'**कुसुमेषु**' इत्यादिसे।

मैं फूलोंमें सुगन्ध हूँ, फूलोंकी पंखुरियोंमें मैं कान्ति हूँ, कान्तियोंमें रूपकला हूँ और रूपोंमें भी मैं अनुभव हूँ ॥ ५२ ॥

चराचर जगद्रूप जो कुछ यह दृश्य है, वह सब सर्वसंकल्परहित परम चिदात्मतत्त्व मैं ही हूँ ॥ ५३ ॥

रसमयी आदि शक्ति यानी रसतन्मात्रा जिससे सागर, नदी, तालाब, कूप आदि जलौघ विस्तृत है, वही जलभूत शक्ति जैसे वृक्षोंमें शाखा, पल्लव आदिकी उत्पत्तिमें हेतुरूपसे और दीवारोंमें तिनके, जौके अङ्कुर आदिकी उत्पत्तिमें हेतुरूपसे फैली है वैसे ही मैं सब वस्तुओंमें तत्-तत् कार्योंकी उत्पत्तिमें हेतुरूपसे फैला हूँ ॥ ५४ ॥

मैं अपनी इच्छासे सब पदार्थोंकी उस परम अन्तर्यामिताको प्राप्त करके ज्ञान-वैचित्र्यका विस्तार करता हूँ ॥ ५५ ॥

जैसे दूधके अन्दर घृत रहता है और जलके अन्दर रसशक्ति रहती है वैसे ही चिच्छक्तिरूप मैं सब पदार्थोंमें स्थित हूँ ॥ ५६ ॥

इदं जगत्त्रिकालस्थं चिति मध्ये च संस्थितम् ।
चेत्योपचाररहितं वस्तुजातमिवाऽवनौ ॥ ५७ ॥
भरिताशेषदिक्कुक्षिस्त्यक्तसङ्कोचविभ्रमः ।
सर्वस्थः सर्वकर्ता च विराट् सम्राडहं स्थितः ॥ ५८ ॥
अपूर्वमनिबद्धेन्द्रमशस्त्रदलितामरम् ।
अप्रार्थितं मे संप्राप्तं जगद्राज्यमिदं ततम् ॥ ५९ ॥
अहो नु विततात्माऽस्मि न माम्यप्यात्मनाऽऽत्मनि ।
कल्पान्तपवनाधूत एकार्णव इवाऽर्णवे ॥ ६० ॥
नाऽऽत्मन्यन्तमवाप्नोमि स्वस्थेऽन्तः स्वदिते स्वयम् ।
क्षीरवारिनिधौ पङ्गुः सरीसृप इव स्फुरन् ॥ ६१ ॥

जैसे तृण, काष्ठ, लोष्ठ आदि वस्तुएँ पृथ्वीपर स्थित हैं वैसे ही अतीत, वर्तमान और भविष्य यह जड़ जगत् चिद्रूप मुझमें व्यवस्थित है ॥ ५७ ॥

सब दिशाओंके मध्यको जिसने पूर्ण कर रक्खा है, संकोचभ्रमका जिसने त्याग कर दिया है, सबमें स्थित सबका रचयिता और व्यष्टिभेदसे शोभित होनेवाला एवं समष्टिरूपसे शोभित होनेवाला मैं हूँ ॥ ५८ ॥

इन्द्रसे बढ़कर राज्यकी प्राप्ति हुए बिना आपकी सम्राट्ता कैसी ? ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—**'अपूर्वम्'** इत्यादिसे ।

यह विस्तृत अपूर्व जगद्राज्य, जिसमें इन्द्रका बन्धन नहीं किया गया और अस्त्रशस्त्रोंके द्वारा देवताओंका संहार नहीं किया गया, बिना प्रार्थनाके मुझे प्राप्त हुआ है । इन्द्रराज्यकी प्राप्तिके लिए बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं, शस्त्रास्त्रों द्वारा देवताओंका संहार करना पड़ता है तथा इन्द्रको बांधना पड़ता है । वह अपूर्व भी नहीं है, अनेकों द्वारा उपभुक्त है, यह उससे विलक्षण होनेसे श्रेष्ठ है, यह भाव है ॥ ५९ ॥

अहो, मैं तो विस्तृत आत्मावाला हूँ, अतएव मैं अपने-आप अपने आत्मामें, कोठिलेमें धानोंकी भाँति, ऐसे नहीं समा रहा हूँ जैसे प्रलयकालकी घोर आँधीसे उद्वेलित प्रलयसागर पहलेके सागरके घेरेमें नहीं समाता है ॥ ६० ॥

जैसे कुण्ठित गतिवाला साँप क्षीरसागरमें चलता हुआ उसका अन्त नहीं पाता वैसे ही अन्दर अपने ही निरतिशय आनन्दरूपसे स्वादमें आ रहे स्वस्थ आत्मामें मैं अन्त नहीं पाता हूँ ॥ ६१ ॥

स्वल्पेयं मठिका ब्राह्मी जगन्नाम्नी सुसङ्कटा ।
गजो विल्व इव स्वाङ्गे न माति विपुलं वपुः ॥ ६२ ॥
विरिञ्चिभवनात् पारे तत्त्वान्तेऽप्याहरत् पदम् ।
प्रसरत्येव मे रूपमद्याऽपि न निवर्तते ॥ ६३ ॥
अयं नामाऽहमित्यन्तः कुतो निरवलम्बना ।
अपर्यन्ताकृतेरेषा किलाऽऽसीत् स्वल्पता मम ॥ ६४ ॥
भवानयमयं चाऽहमिति मिथ्येव विभ्रमः ।
को देहः कोऽप्यदेहो वा को मृतः कश्च जीवति ॥ ६५ ॥
वराकाः पेलवधियो बभूवुर्मे पितामहाः ।
ये साम्राज्यमिदं त्यक्त्वा रेमिरे भवभूमिषु ॥ ६६ ॥

यह जगन्नामक ब्रह्माण्ड, जिसका भीतरका भाग संकुचित है, बड़ा छोटा है, इसलिए जैसे बेलके फलके अन्दर हाथी नहीं समा सकता वैसे ही मेरा विशाल शरीर इसमें नहीं समा सकता है ॥ ६२ ॥

उत्तर-उत्तर दस गुने विशाल पृथिवी, जल आदि आवरणोंसे आवृत ब्रह्माण्ड-रूप ब्रह्माके घरसे आगे सांख्य, वैष्णव आदिके शास्त्रोंमें प्रसिद्ध चौबीस तत्त्वोंके और शैव, पाशुपत आदिके अभिमत छत्तीस तत्त्वोंके अन्तमें भी घूम रहा मेरा स्वरूप आज भी घूमता ही है, वापिस नहीं होता है ॥ ६३ ॥

यह देह आदि मैं हूँ, इस प्रकारकी निराधार यह कल्पना, इतने दिनोंतक मेरे हृदयमें कहाँसे हुई ? जिसकी आकृतिका आर-पार नहीं है, ऐसी मेरी यह स्वल्पता कैसे हुई ? ॥ ६४ ॥

ये आप हैं, यह मैं हूँ, यह मिथ्या भ्रान्ति ही है । कौन शरीर है ? शरीर ही जब प्रसिद्ध नहीं है, तो अशरीर भी कौन है ? कारण कि बन्ध्याके पुत्रकी नाईं बन्ध्यापुत्रको मारनेवाला भी अप्रसिद्ध ही है । इसी प्रकार कौन मरा ? प्राण ही जब प्रसिद्ध नहीं हैं, कौन उनसे वियुक्त हुआ और कौन जीता है यानी प्राण-धारण करता है ॥ ६५ ॥

अब असत्य साम्राज्यमें आसक्त हुए अपने पिता, पितामह आदि पूर्वजोंके लिए शोक करते हैं—**'वराकाः'** इत्यादिसे ।

मेरे पिता, पितामह आदि बेचारे मन्दमति थे, जो इस साम्राज्यका त्यागकर भवभूमिमें अनुरक्त हुए ॥ ६६ ॥

क्केयं किल महादृष्टिर्भरिता ब्रह्मबृंहिता ।
क्क सरीसृपभीमाशाभीमा राज्यविभूतयः ॥ ६७ ॥
अनन्तानन्दसम्भोगा परोपशमशालिनी ।
शुद्धेयं चिन्मयी दृष्टिर्जयत्यखिलदृष्टिषु ॥ ६८ ॥
सर्वभावान्तरस्थाय चेत्यमुक्तचिदात्मने ।
प्रत्यक्चेतनरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ६९ ॥
जयाम्यहमजो जातो जीर्णसंसारसंसृतिः ।
प्राप्तप्राप्यो महात्माऽयं जीवामि च जयामि च ॥ ७० ॥
इदमुत्तमसाम्राज्यं बोधं संत्यज्य शाश्वतम् ।
न रमेऽहमरम्यासु राज्यदुःखविभूतिषु ॥ ७१ ॥
दारुवारिदृषन्मात्रे लुलितो यो धरातले ।
धिग्वराकमनात्मज्ञं तं कुदानवकीटकम् ॥ ७२ ॥

कहाँ ब्रह्मसे बढ़ी हुई पूर्ण यह महादृष्टि और कहाँ साँपोंकी नाईं भयंकर आशाओंसे भीषण राज्यविभूतियाँ ॥ ६७ ॥

यह शुद्ध चिन्मय दृष्टि, जिसमें अनन्त आनन्दका भोग प्राप्त होता है और जो परम शान्ति देनेवाली है, सब दृष्टियोंमें बढ़कर है ॥ ६८ ॥

सब पदार्थोंके अन्दर विद्यमान चेत्यरहित चिदात्मारूप प्रत्यक्चेतनस्वरूप मेरे लिए बार-बार नमस्कार है ॥ ६९ ॥

चूंकि चिरभुक्त अन्नके समान जिसने संसारसरणिको जीर्ण कर दिया है, ऐसा मैं अज हो गया हूँ, अतएव चारों ओरसे जेतव्यके जयके फलरूप सर्वानर्थ-निवृत्तिको प्राप्त हो गया हूँ और प्राप्तव्य सब सुखोंको प्राप्त हुए मेरा जीवन सफल हो गया है, अतएव मैं सर्वोत्कृष्टरूपसे विराजमान हूँ ॥ ७० ॥

नित्य बोधरूप इस उत्तम साम्राज्यका त्यागकर अरमणीय राज्यके विविध दुःखोंमें मुझे आनन्द नहीं मिलता ॥ ७१ ॥

भूतलमें, जहाँपर वनदुर्गमें लकड़ियां, जलदुर्गमें जल और गिरिदुर्गमें पत्थर विपत्तियोंके समय शरण होते हैं, स्वामित्वके अभिमानसे जो सतृष्ण हुआ उस अज्ञानी बेचारे कुदानवरूपी कीड़ेके लिए धिक्कार है ॥ ७२ ॥

अविद्यैकात्मभिर्द्रव्यैरविद्यामयमङ्गकम् ।
अज्ञेन संतर्पयता किं नाम गुरुणा कृतम् ॥ ७३ ॥
वर्षाणि कतिचित् प्राप्य जगच्छ्रीमठिकामिमाम् ।
किं नाम प्रापदुचितं हिरण्यकशिपुः किल ॥ ७४ ॥
अनास्वाद्येदमानन्दं जगद्राज्यशतान्यपि ।
समास्वादयता नेह किञ्चिदास्वादितं भवेत् ॥ ७५ ॥
न किञ्चिद्येन संप्राप्तं तेनेदं परमामृतम् ।
संप्राप्याऽन्तः प्रपूर्णेन सर्वं प्राप्तमखण्डितम् ॥ ७६ ॥
त्यक्त्वा पदमिदं मूर्खो मितमेति न पण्डितः ।
उष्ट्रो हि त्यक्तसुलतः कण्टकं याति नेतरः ॥ ७७ ॥
परां दृष्टिमिमां त्यक्त्वा दग्धराज्ये रमेत कः ।
कस्त्यक्त्वेक्षुरसं प्राज्ञः कटुनिम्बपयः पिबेत् ॥ ७८ ॥

एकमात्र अविद्यात्मक अन्न पान आदि पदार्थोंसे अविद्यामय गर्हित शरीरको तृप्त कर रहे अज्ञानी हमारे पिताने क्या किया ? ॥ ७३ ॥

कुछ वर्षोंतक इस जगद्रूपी सम्पत्तियुक्त छोटेसे मठको पाकर हिरण्यकशिपु ने क्या कश्यपके कुलमें जन्मके अनुरूप परम पुरुषार्थ प्राप्त किया ? ॥ ७४ ॥

इस आत्मरूप आनन्दका आस्वाद न लेकर यहां सैकड़ों जगद्राज्योंका आस्वाद ले रहे पुरुषको कुछ भी आस्वाद नहीं मिला ॥ ७५ ॥

एककी प्राप्तिसे ही विषयके बिना ही सब विषयसुखोंकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—**'न किञ्चन०'** इत्यादिसे ।

जिसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ, इस परम अमृतको पाकर पूर्ण अन्तःकरणवाले हुए उसको यह सब निरन्तर प्राप्त हो गया ॥ ७६ ॥

मूर्ख इस परम पदका त्यागकर परिमित पदार्थको प्राप्त होता है पण्डित नहीं । ऊँट ही सुन्दर लताका त्यागकर काँटोंकी ओर जाता है, अन्य नहीं ॥ ७७ ॥

इस परम दृष्टिका त्यागकर इस गर्हित राज्यमें किसको प्रीति होगी ? कौन बुद्धिमान् पुरुष ईखके रसका त्यागकर नीमके पत्तोंका कड़वा रस पीयेगा ॥७८॥

मूर्खा एव हि ते सर्वे बभूवुर्मे पितामहाः ।
इमां दृष्टिं परित्यज्य रेमिरे राज्यसङ्कटे ॥ ७९ ॥

क्व फुल्ला नन्दनस्थल्यः क्व दग्धमरुभूमयः ।
क्वेमा बोधदृशः शान्ताः क्व भोगेष्वात्मबुद्धयः ॥ ८० ॥

न किञ्चिदपि त्रैलोक्ये यद्राज्यमपि वाञ्छते ।
सर्वमस्त्येव चित्तत्त्वे तत्कस्मान्नाऽनुभूयते ॥ ८१ ॥

चिता सर्वस्थया स्वस्थसमया निर्विकारया ।
सर्वया सर्वदा सर्वं सर्वतः साधु लभ्यते ॥ ८२ ॥

भासिनी तैजसी शक्तिरमृतप्राप्तिरैन्दवी ।
ब्राह्मी महत्ता महती शाक्री त्रैलोक्यराजता ॥ ८३ ॥

परमा पूर्णता शार्वी जयलक्ष्मीश्च वैष्णवी ।
मानसी शीघ्रगतिता बलवत्ता च वायवी ॥ ८४ ॥

आग्नेयी दाहकलना पायसी रसनिर्वृतिः ।
मौनी महातपःसिद्धिर्विद्या बार्हस्पती तथा ॥ ८५ ॥

सचमुच मेरे पिता, पितामह सब मूर्ख ही रहे, जिन्होंने इस दृष्टिका त्यागकर राज्यरूपी विपत्तिमें प्रीति की ॥ ७९ ॥

कहाँ फूली हुई नन्दनवनकी स्थलियां, कहाँ सन्तप्त मरुभूमियां, कहाँ शान्त ये ज्ञानदृष्टियां और कहाँ भोगायतन शरीर आदिमें आत्मबुद्धि ? ॥ ८० ॥

त्रैलोक्यमें राज्यको प्राप्तकर कुछ भी सुख नहीं मिलता है फिर भी उसे ही पुरुष चाहता है, किन्तु चित्‌तत्त्वमें तो सब कुछ निहित है, उसका ज्ञान क्यों नहीं करता ? ॥ ८१ ॥

सबमें स्थित, स्वस्थ और सम, निर्विकार, सर्वरूप चित्‌से सदा सब जगह सब सुखके साधन खुशीसे प्राप्त होते हैं ॥ ८२ ॥

तेजकी भासनशक्ति, चन्द्रमाकी अमृतप्राप्ति, हिरण्यगर्भकी सर्वमान्यता, इन्द्रकी सर्वोत्कृष्ट त्रैलोक्यराजता, शिवजीकी निरतिशय ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्दशक्ति-पूर्णता, विष्णुकी जयलक्ष्मी, मनकी शीघ्रगतिता, वायुकी बलवत्ता, अग्निकी दाहकता, जलकी आप्यायकता, भृगु आदि मुनियोंकी महातपःसिद्धि, बृहस्पतिकी

वैमानिकी व्योमगतिः स्थिरता चाऽपि पार्वती ।
गम्भीरताऽथ सामुद्री मैरवी च महोन्नतिः ॥ ८६ ॥
शमश्रीः सौगती सौम्या मादिरी मदलोलता ।
माधवी पुष्पमयता वार्षिकी घनशब्दिता ॥ ८७ ॥
याक्षी च मायामयता नाभसी निष्कलङ्कता ।
शीतताऽपि च तौषारी नैदाघी तापतप्तता ॥ ८८ ॥
एताश्चाऽन्यास्तथा बह्वयो देशकालक्रियात्मिकाः ।
नानाकारविकारोत्थास्त्रिकालोदरसंस्थिताः ॥ ८९ ॥
विचित्राः शक्तयः स्वस्थसमया निर्विकारया ।
चिता क्रियन्ते परया कलाकलनयुक्तया ॥ ९० ॥
विकल्पहीना चित्सर्वा पदार्थशतदृष्टिषु ।
सममेवाऽभिपतति प्रभा प्राभाकरी यथा ॥ ९१ ॥
सर्वाशाकोशविश्रान्तां पदार्थपटलीं महीम् ।
कालत्रयेहाकलितां यथाऽनुभवति क्षणात् ॥ ९२ ॥

विद्या, विमानोंकी आकाशगति, पर्वतोंकी स्थिरता, समुद्रकी गम्भीरता, मेरु पर्वतकी महोन्नतता, बौद्धसिद्धान्तमें सिद्ध शून्यतारूप सर्व उपद्रवशान्ति या ब्रह्मसाक्षात्कार-सम्बन्धिनी सर्वानर्थनिर्वापणशक्ति, मदिराकी मदचञ्चलता, वसन्त ऋतुकी पुष्पमयता, वर्षा ऋतुकी मेघशब्दता, यक्षोंकी मायामयता, आकाशकी निर्मलता, हिमकी शीतलता, ग्रीष्म ऋतुकी तापतप्तता ये और इनसे अतिरिक्त अन्यान्य बहुत-सी देश, काल और क्रियारूप नाना आकार विकारोंसे उत्पन्न, भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंके अन्दर स्थित विचित्र शक्तियोंका स्वस्थ, सम निर्विकार परम चैतन्य द्वारा, जो तत्-तत् शक्तिके कार्यके अनुसन्धानसे युक्त है, निर्माण किया जाता है ॥८३–९०॥

विचित्र पदार्थोंकी विचित्र प्रथा दिखाई देती है, ऐसी अवस्थामें चित्‌की समता कैसे ? इसपर कहते हैं—**'विकल्प०'** इत्यादिसे ।

जैसे सूर्यकी प्रभा वृत्तिसे किये गये स्थाणु, पुरुष इत्यादि विकल्पोंसे रहित हो सब पदार्थोंमें समान रूपसे गिरती है वैसे ही सब वृत्तियोंमें प्रविष्ट भी चित् चित्तवृत्तिमें स्थित विकल्पोंसे रहित होकर सैकड़ों पदार्थोंमें समानरूपसे गिरती है ॥ ९१ ॥

दिशा और कालके भेदसे उत्पन्न वैषम्य भी उसमें नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'सर्वाशाकोश०'** इत्यादिसे ।

तथा समस्तसंसारबृहद्दृश्यदशाश्रियम् ।
कालत्रयस्थाममला चिच्चेतति तदात्मिका ॥ ९३ ॥
तुल्यकालपरामृष्टा त्रिकालकलनाशता ।
अनन्तभुवनाभोगा परिपूर्णैव शुद्धचित् ॥ ९४ ॥
परामृष्टत्रिकालाया दृष्टानन्तदृशश्चितः ।
समतापरपर्याया पूर्णतैवाऽवशिष्यते ॥ ९५ ॥
तुल्यकालावबुद्धेन स्वादुना कटुनाऽपि चित् ।
समेन समतामेति मधुनिम्बानुभूतिवत् ॥ ९६ ॥

जैसे सूर्यकी प्रभा सब दिशाओंके मध्यमें स्थित तीनों कालोंमें चेष्टासे युक्त प्रचुर पदार्थराशिको एक क्षणमें प्रकाशित करती है वैसे ही यह निर्मल चित् सारे संसारकी विशाल दृश्यशोभाको, जो तीनों कालोंमें स्थित है, एक क्षणमें प्रथित कर देती है ॥ ९२, ९३ ॥

देश और कालके भेद स्वप्नदेश और स्वप्नकालकी दीर्घताके तुल्य अभिन्न-कालवाले चैतन्यसे ही भासित होते हैं, ऐसा कहते हैं—**'तुल्यकाल०'** इत्यादिसे ।

अखण्ड ही शुद्ध चित् अभिन्नकालसे सम्बद्ध होती हुई ही अतीत, अनागत आदि तीनों कालोंकी सैकड़ों कल्पनाओंसे भिन्न-सी और प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि अनन्त प्रमाण, प्रमेय और पुरुषोंके भेदसे भिन्न कलेवरवाली-सी प्रतीत होती है ॥ ९४ ॥

अतएव कालभेद और वृत्तिभेद होनेपर उसके साक्षी चैतन्यका भेद नहीं है, इसलिए उसमें पूर्णता ही है, ऐसा कहते हैं—**'परामृष्ट०'** इत्यादिसे ।

चैतन्यकी, जिसे तीनों कालोंका परिज्ञान है और जिसमें अनन्त वृत्तियाँ देखी गई हैं, पूर्णता ही, जिसका दूसरा नाम समता है, अवशिष्ट रहती है ॥ ९५ ॥

अतएव दो मधुर रसोंका अथवा दो तीते रसोंका एक ही समय स्वाद लेनेपर विषयका भेद रहते भी अनुभवका भेद नहीं होता, इसलिए विषय आदिका भेद चित्के भेदका प्रयोजक नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'तुल्यकाला०'** इत्यादिसे ।

त्यक्तसङ्कल्पकलया सूक्ष्मया चिद्व्यवस्थया ।
सर्वभावानुगतया सत्ताद्वैतैकरूपया ॥ ९७ ॥
विचित्राऽपि पदार्थश्रीरन्योन्यवलितान्तरा ।
तुल्यकालानुभवना साम्येनैवाऽनुभूयते ॥ ९८ ॥
भावेनाऽभावमाश्रित्य भावस्त्यजति दुःखताम् ।
प्रेक्ष्य भावमभावेन भावस्त्यजति दुष्टताम् ॥ ९९ ॥
कालत्रयमपश्यन्त्या हीनायाश्चेत्यबन्धनैः ।
चितश्चेत्यमुपेक्षिण्याः समतैवाऽवशिष्यते ॥ १०० ॥

शहद और नीब आदि प्रत्येककी अनुभूतिके समान एक कालमें अनुभूत तुल्य रसवाले दो मधुर रसोंसे और दो कड़ुवे रसोंसे भी चित् समताको ही प्राप्त होती है यानी उनसे चित्में भेद नहीं होता है ॥ ९६ ॥

घट, पट आदि विचित्र पदार्थ-शोभा भी अन्योन्यके व्यावर्तक भेद-संकल्पकलाका त्याग की हुई, सूक्ष्म, सर्वानुगत, एकमात्र सत्ता अद्वैतरूप चिद्व्यवस्थासे एक ही समयमें अनुभूयमान होती हुई समतासे अनुभूत होती है विषमतासे नहीं यानी विषय आदिका भेद चित्का भेदक नहीं है, यह दोनोंका अर्थ है ॥ ९७, ९८ ॥

भेदसंकल्पकलाके त्यागका उपाय कहते हैं—'**भावेना०**' इत्यादिसे।

चित्तसे वाचारम्भण श्रुति द्वारा, 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति द्वारा और आचार्योपदेश, स्वविचार आदिसे भी सब दृश्यके अभावका आश्रयण कर वह चित्तरूप भाव शोक, मोह आदिके परिणामरूप दुःखताका तुरन्त त्याग करता है। फिर भी राग आदिके संस्कारोंकी दुष्टतासे समयान्तरमें शोक आदिकी पुनः उत्पत्ति हो सकती है, अतएव सर्वदृश्यप्रतिषेधरूप अभावसे परमार्थ सद् अद्वैतानन्दस्वभाव आत्माका दर्शन कर वह चित्तरूप भाव राग आदि दुष्टताका भी त्याग कर देता है, क्योंकि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' ऐसा भगवान्का वचन है, इसलिए बीज (राग आदि) के अभावसे भेद-संकल्पकलाका त्याग सिद्ध हो जाता है, यह अर्थ है ॥ ९९ ॥

उक्त अर्थका प्रकारान्तरसे उपपादन करते हैं—'**कालत्रयम्**' इत्यादिसे।

वर्तमान चेत्यकी (दृश्यकी) उपेक्षा करनेवाले, अतीत चेत्यके वासनारूपी

याति वाचामगम्यत्वादसत्तामिव शाश्वतीम् ।
नैरात्म्यसिद्धान्तदशामुपयातेव तिष्ठति ॥ १०१ ॥
भवत्यात्मा तथा ब्रह्म न किञ्चिच्चाऽखिलं च वा ।
परमोपशमेऽलीना मोक्षनाम्ना परोच्यते ॥ १०२ ॥
सङ्कल्पकलिता त्वेषा मन्दाभासतया जगत् ।
न सम्यक्पश्यतीदं चिद् दृष्टिः पटलिनी यथा ॥ १०३ ॥

बन्धनोंसे शून्य और चेत्यके आधारभूत तीनों कालोंका दर्शन न कर रहे चैतन्यके भावी चेत्ययोगकी भी संभावना नहीं की जा सकती, अतएव समता ही अवशिष्ट रहती है ॥ १०० ॥

उक्त चित् वाणीव्यवहारके अगोचर होनेसे शाश्वत असत्ताको प्राप्त-सी होती है। नैरात्म्यसिद्धान्तदशाको (शून्यवादीकी सिद्धान्तावस्थाको यानी शून्यरूपताको) प्राप्त हुई-सी स्थित होती है, चूँकि स्थित है, इसलिए वस्तुतः नैरात्म्यसिद्धान्तदशा-को प्राप्त नहीं हुई है कारण कि सत् असत् नहीं हो सकता ॥ १०१ ॥

जो (चित्) स्थित है वह शास्त्रीय व्यवहारमें प्रत्यक् होनेके कारण आत्मा है तथा बृहत् होनेसे ब्रह्म है, परमार्थ दृष्टिसे तो उसमें वाणियोंकी प्रवृत्तिका अभाव होनेसे कुछ भी नहीं है। यदि प्रवृत्तिनिमित्तकी कल्पनासे शब्दप्रवृत्ति कही जाय, तो संकोचहेतुका अभाव होनेसे सब प्रवृत्तिनिमित्तोंकी कल्पना होनेसे वह सब है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' और 'तस्मात् तत्सर्वम-भवत्' इस श्रुतिमें दोनों प्रकारोंका निरूपण है। सब दृश्योंका परम उपशम होनेपर उनकी अवधि होनेसे लयको प्राप्त न हुई वह चित् परम समता 'मोक्ष' नामसे अभिहित होती है ॥ १०२ ॥

इस प्रकार भेदसंकल्पकी कल्पनाका त्याग उपायपूर्वक कहा। अब संकल्पकी कल्पनामें चित्की मन्दताके प्रसारके क्रमको कहते हैं—**'संकल्प०'** इत्यादिसे।

संकल्पसे कलित तो यह चित् पटलरूप अवरणसे युक्त दृष्टिके समान मन्दाभास (मन्दप्रकाश) होनेके कारण इस जगत्को परमार्थरूपसे नहीं देखती है ॥ १०३ ॥

ईहानीहामयैरन्तर्या चिदावलिता मलैः ।
सा हि नोड्डयितुं शक्ता पाशबद्धेव पक्षिणी ॥ १०४ ॥
सङ्कल्पकलनेनैव ये केचन जना इमे ।
पतिता मोहजालेषु विनेत्रा इव पक्षिणः ॥ १०५ ॥
सङ्कल्पजालवलितैर्विषयावटपातिभिः ।
पदवी गतबाधेयं न दृष्टा मत्पितामहैः ॥ १०६ ॥
दिनैः कतिपयैरेव स्फुरिता धरणीतले ।
वराकास्तेन ते नष्टा मशकाः कुहरेष्विव ॥ १०७ ॥
यद्यज्ञास्यन्निमे तत्त्वं भोगदुःखार्थिनस्तदा ।
भावाभावान्धकूपेषु नाऽपतिष्यन् हताशयाः ॥ १०८ ॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः ।
धराविवरमग्नानां कीटानां समतां गताः ॥ १०९ ॥

जो चित् इष्ट-अनिष्ट संकल्परूप मलोंसे भीतर ओतप्रोत है वह जैसे जालमें बँधी हुई चिड़िया आकाशमार्गसे उड़नेमें समर्थ नहीं होती वैसे ही सारे आकाशको व्याप्त करनेमें समर्थ नहीं होती है ॥ १०४ ॥

जो कोई भी ये नेत्रविहीन पक्षियोंकी तरह मोहरूपी जालमें पड़े हैं, वे सब संकल्पकल्पनासे ही पड़े हैं ॥ १०५ ॥

विविध संकल्पोंसे परिवेष्टित अतएव विषयरूपी गड्ढोंमें गिरनेवाले मेरे पिता, पितामह आदि पूर्वजोंने यह दुःखशून्य अपरिच्छिन्न आत्मपदवी नहीं देखी ॥ १०६ ॥

अपरिच्छिन्न आत्मपदवीके अदर्शनसे गड्ढोंमें मच्छरोंके तुल्य पृथिवी-पर सुशोभित हुए वे बेचारे मेरे पिता, पितामह आदि कुछ ही दिनोंमें नष्ट हो गये ॥ १०७ ॥

दुर्बुद्धि अतएव भोगरूपी दुःखकी चाहवाले वे लोग यदि आत्मतत्त्वको जान गये होते, तो भाव और अभावरूपी अन्धे कुएँमें न गिरते ॥ १०८ ॥

सब जीव इच्छा-द्वेषसे उत्पन्न द्वन्द्वमोहसे यानी सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदिके उपार्जन और प्रतीकारके अभिनिवेशसे छिद्रमें छिपे हुए कीड़ोंके तुल्य हो गये हैं ॥ १०९ ॥

ईहितानीहिताकाराः कलनामृगतृष्णिकाः ।
सत्यावबोधमेघेन यस्य शान्ताः स जीवति ॥ ११० ॥
कुतः किलाऽस्याः शुद्धाया अविच्छिन्नामलाकृतेः ।
चन्द्रिकाया रुचः कोष्णाः कलङ्काः कलनाश्रितः ॥ १११ ॥
आत्मनेऽस्तु नमो मह्यमविच्छिन्नचिदात्मने ।
लोकालोकमणे देव चिरेणाऽधिगतोऽस्यहो ॥ ११२ ॥
परामृष्टोऽसि लब्धोऽसि प्रोदितोऽसि चिराय च ।
उद्धृतोऽसि विकल्पेभ्यो योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते ॥११३॥
मह्यं तुभ्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं शिवात्मने ।
नमो देवाधिदेवाय पराय परमात्मने ॥ ११४ ॥

जिसकी इष्ट और अनिष्ट कल्पनारूपी मृगतृष्णा सत्यज्ञानरूपी मेघसे (द्वन्द्वतापकी शान्ति द्वारा) शान्त हो चुकी है, उसका जीवन सार्थक है ॥ ११० ॥

केवल सत्य ज्ञानसे इष्टानिष्टकल्पनारूप मृगतृष्णाका कैसे नाश हो सकता है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर उसके असत् होनेसे ही उसकी शान्ति होती है, ऐसा कहते हैं—'**कुतः**' इत्यादिसे ।

चाँदनीकी मन्दोष्ण एवं कलङ्कयुक्त (काली) छबिकी तरह निरन्तर निर्मल आकारवाली इस शुद्ध चित्‌की कल्पनाएँ कहाँसे हो सकती हैं ? ॥ १११ ॥

अब अखण्ड वाक्यार्थका साक्षात्कार कर अखण्ड वाक्यार्थरूपसे स्थित प्राप्त हुए अत्यन्त दुर्लभ आत्माको प्रेमसे नमस्कार करते हैं—'**आत्मनेऽस्तु**' इत्यादिसे ।

हे लोगोंके ज्ञानप्रकाशमें हेतुभूत मणिरूप, हे देव, आप चिरकालमें प्राप्त हुए हो । अविच्छिन्न चिदात्मरूप मुझ आत्माके लिए नमस्कार है ॥ ११२ ॥

हे भगवन्, चिरकालतक मैने आपका विचार किया है, आपको प्राप्त किया है, अपने पारमार्थिकरूपसे अभिव्यक्त किया है और विकल्पोंसे आपका उद्धार किया है, आप जो हैं वह हैं आपके लिए नमस्कार है ॥ ११३ ॥

मुझरूप आप अनन्तके लिए, मुझरूप आप शिव देवाधिदेव परम परमात्माके लिए नमस्कार है ॥ ११४ ॥

गतघनपरिपूर्णमिन्दुबिम्बं
गतकलनावरणं स्वमेव रूपम् ।
स्ववपुषि मुदिते स्वयं स्वसंस्थं
स्वयमुदितं स्ववशं स्वयं नमामि ॥ ११५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रह्लादात्मोपदेशयोगो नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

प्रह्लाद उवाच

ओमित्येकोचिताकारो विकारपरिवर्जितः ।
आत्मैवाऽयमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ॥ १ ॥

मेघरूपी आवरणसे शून्य परिपूर्ण चन्द्रबिम्बके तुल्य कलनारूपी आवरणसे रहित अपने ही रूपको, जो अनन्दैकरस स्वात्मामें स्वयं (अन्य किसी आधारके बिना) अपने पारमार्थिकरूपसे स्थित, स्वप्रकाश स्वाधीन आनन्दवाला है, अभिन्नरूप मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ११५ ॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

[साक्षात्कृत आत्माका मनमें विचार कर और प्रणाम कर उसके बलसे जीते गये बन्धनोंका अनुसन्धान कर प्रह्लादका प्रसन्न होना]

प्रह्लादने कहा—'ओमिति ब्रह्म' (ॐ ब्रह्म है), 'ओमितीदं सर्वम्' (ॐ यह सब है) 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' (हे सत्यकाम, यह पर और अपर ब्रह्म है, जो यह ओङ्कार है) इत्यादि श्रुतियोंसे सबके अध्यारोपवाले ब्रह्मका बोधक और सबके अपवादसे परिशिष्ट ब्रह्मका बोधक 'ॐ' ही जिसका स्वानुरूप अभिधान है और विकारोंसे रहित यह आत्मा ही जो कुछ इस जगतीतलमें स्थित है वह सब कुछ है ॥ १ ॥

मेदोऽस्थिमांसमज्जासृगतीतोऽप्येष चेतनः ।
अन्तरस्थो हि सूर्यादीन् प्रकाशयति दीपकः ॥ २ ॥
उष्णीकरोति दहनं रसयत्यमृतं रसम् ।
इन्द्रियानुभवान् भुङ्क्ते भोगानिव महीपतिः ॥ ३ ॥
तिष्ठन्नपि हि नाऽऽसीनो गच्छन्नपि न गच्छति ।
शान्तोऽपि व्यवहारस्थः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ४ ॥
पूर्वमद्य तथेदानीमिहाऽमुत्रोभयत्र च ।
विहितोऽविहितोऽप्येष समः सर्वासु वृत्तिषु ॥ ५ ॥

यह आत्मा एकमात्र देहके अन्तर्गत है, यह बाह्य सूर्य आदि सब कुछ कैसे हो सकता है ? ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो सूर्य आदि बाह्य पदार्थोंका प्रकाशक होनेसे, ऐसा कहते हैं—'**मेदो०**' इत्यादिसे ।

यह चेतन मेदा, अस्थि, मांस, मज्जा और रक्त आदि रूप देहपरिमित नहीं है, किन्तु उससे अतीत है । सूर्य आदिके अन्दर स्थित दीपकरूप यह सूर्य आदिको प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

केवल उससे प्रकाश्य होनेके कारण सब कुछ तदात्मक कैसे है ? ऐसी यदि किसीको शङ्का हो, तो उसपर कहते हैं—'**उष्णीकरोति**' इत्यादिसे ।

चूँकि अग्नि आदिकी उष्णस्वभावता चित्के अधीन उष्णताके भानके अधीन है, इसलिए चिदात्मा ही स्वसत्तासे अग्निको उष्ण करता है एवं जलको, जो अपनी सत्तासे ही सत्तावाला है, रसरूपसे प्रगट करता है । इसी प्रकार जैसे राजा भोगोंको भोगता है वैसे ही वह अन्यान्य इन्द्रियानुभवोंका भोग करता है ॥ ३ ॥

सदा निष्क्रिय रहता भी वह बैठे हुए की तरह धावन आदि व्यापारसे विरत नहीं है, क्योंकि वायु और सूर्य रूपसे सदा गतियुक्त है । कालरूपसे सदा चलता हुआ भी कुलालके चक्रके समान एक तिलभर भी इधर-उधर नहीं जाता, व्यवहाररहित होनेपर भी सब व्यवहारमें स्थित है, कर्म करता हुआ भी उनके फलसे लिप्त नहीं होता ॥ ४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि पूर्वजन्मके कर्मोंसे इस समय सुख-दुःखसे लिप्त होता है और इस समय यहाँपर किये गये कर्मसे परलोकमें सुख-दुःखसे लिप्त होगा

उद्भवत्यभयो भावं भुवनानि ततस्ततः ।
ब्रह्मादितृणपर्यन्तं जगदावर्तयन् स्थितः ॥ ६ ॥
नित्यस्पन्दमयो नित्यमपि देवात् सदागतेः ।
स्थाणोरप्यक्रियो नित्यमाकाशादप्यलेपकः ॥ ७ ॥
मनांसि क्षोभयत्येष पल्लवानीव मारुतः ।
वाहयत्यक्षपङ्क्तिं स्वामश्वालीमिव सारथिः ॥ ८ ॥

ऐसी परिस्थितिमें 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' ऐसा कैसे कहते हैं ? तो इसपर कहते हैं—**'पूर्वम्'** इत्यादिसे ।

पूर्वजन्ममें, आज और इस समय इस लोकमें, परलोकमें तथा इस लोककी सन्धिरूप स्वप्नमें शास्त्रसे अनिषिद्ध (विहित) शुभ कर्मके फलोंका भोग करता हुआ और शास्त्रनिषिद्ध अशुभ कर्मोंके फलोंका भोग करता हुआ भी यह सब भोगवृत्तियोंमें सम ही रहता है । भाव यह कि दृश्य भोगोंसे द्रष्टामें विकारका संभव नहीं है ॥ ५ ॥

यदि कोई कहे कि भोग यदि भोक्ताका स्पर्श नहीं करते हैं, तो भोगोंसे कर्मोंकी सफलता कैसे होगी ? तो इसपर कहते हैं—**'उद्भवति'** इत्यादिसे ।

वस्तुतः भयरहित यह आत्मा ही तत् तत् कर्मोंके अनुरूप स्वयं होता है और उत्पन्न हुए ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त भोक्ता और भोगों तथा उनके आधार चौदह भुवनोंको केवल अपनी सन्निधिसे घुमाता रहता है । वही इसका कर्मफल है ॥ ६ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि आत्मामें यदि स्पन्दन ही नहीं है, तो वह जगत्को कैसे घुमायेगा, तो इसपर कहते हैं—**'नित्य'०** इत्यादिसे ।

नित्य आत्मसत्ता ही स्पन्दसत्ता है, इसलिए वह सदा चलनेवाले देवरूप वायुसे भी नित्य स्पन्दमय है । नित्य स्थाणुसे भी बढ़कर निष्क्रिय है और नित्य आकाशसे भी बढ़कर लेपरहित है ॥ ७ ॥

यदि कोई कहे कि मन अथवा इन्द्रियाँ ही देह आदिको कर्ममें प्रवृत्त करती हैं, आत्मा नहीं करता, तो इसपर कहते हैं—**'मनांसि'** इत्यादिसे ।

जैसे वायु पल्लवोंमें हलचल पैदा करता है वैसे ही यह आत्मा मनमें क्षोभ

अतिदुर्विधवद् देहगेहे कर्मरतः सदा ।
सम्राडिवाऽऽत्मनि स्वस्थः संस्थितो भोगभुग् विभुः ॥ ९ ॥
एष एव सदाऽन्विष्यः स्तुत्यो ध्यातव्य एव तु ।
जरामरणसंमोहादनेनोत्तीर्य गम्यते ॥ १० ॥
सुलभश्चाऽयमत्यन्तं सुज्ञेयश्चाऽऽप्तबन्धुवत् ।
शरीरपद्मकुहरे सर्वेषामेव षट्पदः ॥ ११ ॥
अनाक्रुष्टोऽप्यनाहूतः स्वदेहादेव लभ्यते ।
मनागेवोपहूतोऽपि क्षणाद् भवति सन्मुखः ॥ १२ ॥
नाऽस्य संसेव्यमानस्य सर्वसम्पत्तिशालिनः ।
धनानामीश्वरस्येव स्मयो गर्वो यथा भवेत् ॥ १३ ॥

पैदा करता है। जैसे सारथि घोड़ोंको हाँकता है वैसे ही यह अपनी इन्द्रियोंको तत्-तत् कार्योंमें प्रवृत्त करता है ॥ ८ ॥

भोगोंका भोग करनेवाला विभु आत्मा सम्राट्के समान अपनी आत्मामें स्वस्थ होकर स्थित होता हुआ भी अतिदुर्दशाग्रस्त पुरुषके समान देहरूपी घरमें सदा कर्मनिरत रहता है ॥ ९ ॥

इसीका सदा अन्वेषण करना चाहिये, इसीकी स्तुति करनी चाहिये और इसीका ध्यान करना चाहिये। खोजे गये इसीसे पुरुष जरामरणरूपी संसारसे पार होकर परमपदको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

सभीके शरीररूपी पद्मगर्भमें भ्रमररूप यह केवल ज्ञानसे प्राप्त होनेके कारण अत्यन्त सुलभ है। अत्यन्त आप्त बन्धुके समान केवल स्मरणमात्रसे ही वशमें हो जाता है ॥ ११ ॥

दूर देशवर्ती मित्र आदिका जोरसे चिल्लाकर पुकारनेसे और नजदीकमें स्थित मित्रका केवल पुकारनेमात्रसे लाभ हो जाता है। किन्तु यह तो बिना जोरसे पुकारे अपने शरीरसे ही प्राप्त हो जाता है तथा केवल प्रणवके उच्चारणसे थोड़ा स्मरण करनेपर क्षणभरमें सन्मुख हो जाता है ॥ १२ ॥

जैसे सेवित हो रहे सर्वसम्पत्तिशाली धनीको अभिमान या गर्व हो सकता है वैसे सेवन किये जा रहे सर्वसम्पत्तिशाली इसको तनिक भी मान या गर्व नहीं होता ॥ १३ ॥

आमोद इव पुष्पेषु तैलं तिलकणेष्विव ।
रसजातिष्विवाऽऽस्वादो देवो देहेषु संस्थितः ॥ १४ ॥
अविचारवशादेष हृदयस्थोऽपि चेतनः ।
न ज्ञायते चिराद्दृष्टो दृष्टबन्धुरिवाऽग्रतः ॥ १५ ॥
विचारणापरिज्ञात एतस्मिन् परमेश्वरे ।
अभ्युदेति परानन्दो लब्धे प्रियजने यथा ॥ १६ ॥
अस्मिन् दृष्टे परे बन्धावुद्दामानन्ददायिनि ।
आयान्ति दृष्टयस्तास्ता याभिर्भङ्गो विलीयते ॥ १७ ॥
त्रुट्यन्ते सर्वतः पाशाः क्षीयन्ते सर्वशत्रवः ।
न कृन्तन्ति मनांस्याशा गृहाणीव दुराखवः ॥ १८ ॥
यस्मिन् दृष्टे जगद् दृष्टं श्रुतेऽस्मिन् सकलं श्रुतम् ।
स्पृष्टे चाऽस्मिञ्जगत् स्पृष्टं स्थितेऽस्मिन् संस्थितं जगत् ॥ १९ ॥

कैसे यह देहमें विद्यमान रहता है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—**'आमोद'** इत्यादिसे ।

फूलोंमें सुगन्ध की तरह, तिलोंमें तेलकी तरह और रसोंमें माधुर्यकी तरह वह देव सब शरीरोंमें स्थित है ॥ १४ ॥

जैसे चिरकालसे पहले न देखा गया और तत्काल आगे देखा गया पिता आदि बन्धु पहिचानमें नहीं आता है वैसे ही सदा हृदयमें विद्यमान भी यह चेतन अविचारवश ज्ञात नहीं होता ॥ १५ ॥

जैसे प्रिय बन्धुजनके प्राप्त होनेपर परम आनन्द होता है वैसे ही विचारणा द्वारा इस परमेश्वरके ज्ञात होनेपर परमानन्द होता है ॥ १६ ॥

अतिशय आनन्द देनेवाले इस परमात्मरूप परम बन्धुके दर्शन होनेपर वे वे दृष्टिगाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे मरणादि विच्छेद नहीं होता ॥ १७ ॥

सब ओरसे स्नेह आदि पाश टूट जाते हैं, काम आदि सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और तृष्णाएँ जैसे दुष्ट चूहे घरोंको छिन्नभिन्न करते हैं वैसे मनको छिन्न-भिन्न नहीं करतीं ॥ १८ ॥

एकमात्र उसके विज्ञानसे सर्वविज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं—**'अस्मिन्'** इत्यादिसे ।

एष जागर्ति सुप्तानां प्रहरत्यविवेकिनाम् ।
हरत्यापदमार्तानां वितरत्यमहात्मनाम् ॥ २० ॥

विचरत्येष लोकेषु जीव एव जगत्स्थितौ ।
विलसत्येव भोगेषु प्रस्फुरत्येव वस्तुषु ॥ २१ ॥

आत्मनाऽऽत्मानमेवाऽतः शान्तेनाऽनुभवन् भवी ।
स्थितः सर्वेषु देहेषु तीक्ष्णत्वं मरिचेष्विव ॥ २२ ॥

चेतनाकलनारूपी सबाह्याभ्यन्तराश्रितः ।
जगत्पदार्थसंभारे सत्तासामान्यमास्थितः ॥ २३ ॥

इस परमात्माका दर्शन होनेपर सारा जगत् दृष्ट होता है, इसके सुननेपर सब सुना जाता है, इसका स्पर्श होनेपर सारे जगत्का स्पर्श हो जाता है तथा इसके रहनेपर जगत् स्थित होता है यानी जगत् उसकी सत्ताके अधीन सत्तावाला है ॥ १९ ॥

'एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' इस श्रुतिका अवलम्बन करके कहते हैं—**'एष'** इत्यादिसे ।

सोये हुए लोगोंके बीचमें यह जाग्रत् रहता है, अविवेकियोंके ऊपर प्रहार करता है, दुःखियोंकी आपत्ति दूर करता है और जो महात्मा नहीं हैं, उनको मनोवाञ्छित देता है । जगत्स्थितिमें यह आत्मा ही जीव होकर लोकोंमें विचरण करता है, भोगोंमें विलास करता है और वस्त्र, आभूषण, समाज, उत्सव आदि वस्तुओंमें शोभित होता है ॥ २०, २१ ॥

असाधारण जीवभेदभ्रमदशामें भी इसकी साधारण ऐकात्म्यस्फूर्तिकी क्षति नहीं होती, ऐसा कहते हैं—**'आत्मना'** इत्यादिसे ।

अतः जैसे मरिचोंमें तीक्ष्णता रहती है वैसे ही शान्त आत्मासे आत्माका ही अनुभव करता हुआ यह सब देहोंमें स्थित है ॥ २२ ॥

चेतना (पूर्व और उत्तरका अनुसन्धान) और कलना (वर्तमान दर्शन) रूपी, बाह्य और आभ्यन्तर चेतनोपाधियोंमें स्थित यह जगत् पदार्थोंके संभारमें तो अधिष्ठानसत्ता सामान्य स्वभावको प्राप्त हुआ है ॥ २३ ॥

एष शून्यत्वमाकाशे स्पन्द एष सदागतौ ।
प्रकाशश्चैष तेजस्सु पयस्स्वेष रसः परः ॥ २४ ॥
काठिन्यमवनावेष औष्ण्यमेष हुताशने ।
शैत्यमेष निशानाथे सत्ता चैष जगद्गणे ॥ २५ ॥
मषीपिण्डे यथा कार्ष्ण्यं शैत्यं हिमकणे यथा ।
यथा पुष्पेषु सौगन्ध्यं देहे देहपतिस्तथा ॥ २६ ॥
यथा सर्वगता सत्ता कालः सर्वगतो यथा ।
प्रभुशक्तिर्महीपस्य सर्वदेशगता यथा ।
रूपालोकमनस्कारयुक्तं सत्त्वं तथाऽऽत्मनः ॥ २७ ॥
नित्यः सोऽयं महादेवो देवानामेव बोधकः ।
अहमेवाऽस्मि मे नाऽस्ति कलनाऽपि किलेतरा ॥ २८ ॥
रेणुनेवाऽणुना व्योम्नि पद्मपत्रमिवाऽम्भसा ।
संभ्रमेणेव पाषाणे संबन्धो मयि नेतरैः ॥ २९ ॥

आकाशमें यह शून्यता है, वायुमें यह स्पन्दन है, तेजमें यह प्रकाश है, जलमें यह मधुर रस है, पृथ्वीमें काठिन्य है, अग्निमें यह उष्णता है, चन्द्रमामें यह शीतलता है और सब जगतोंमें यह सत्ता है ॥ २४, २५ ॥

मसी पिण्डमें जैसे कालिमा है, हिमकणमें जैसे शीतलता है, पुष्पोंमें जैसे सुगन्ध है वैसे ही देहमें देहपति (आत्मा) प्रकाशित होता है ॥ २६ ॥

इसकी मन, इन्द्रिय आदिसे व्यावृत्त सर्वक्षेत्रसाधारण प्रकाशताको ही दिखलाते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे सत्ता सर्वगत है, जैसे काल सर्वगत है और जैसे राजाकी प्रभुशक्ति सर्वदेश व्याप्त होती है वैसे ही नेत्र आदिके व्यापारों और मानसिक व्यापारोंसे युक्त जो बाहरी और भीतरी प्रकाश है, वह आत्माका ही कार्य है यानी वह प्रकाशैकस्वभाव है । इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र आदि सब देवताओंका भी बोधक यह प्रसिद्ध महादेव मैं ही हूँ । मेरी दूसरी कल्पना ही नहीं है ॥ २७, २८ ॥

जैसे अत्यन्त सूक्ष्म रेणुसे आकाशमें सम्बन्ध नहीं होता, जैसे जलसे कमल-दलका सम्बन्ध नहीं होता और जैसे पाषाणमें भय, कम्प आदिसे सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही मुझमें अन्योंसे सम्बन्ध नहीं है ॥ २९ ॥

सुखदुःखश्रियो देहे मा पतन्तु पतन्तु वा ।
तुम्बकोपरि धाराश्च का नः क्षतिरुपस्थिता ॥ ३० ॥
दीपाङ्गातिगतो रज्ज्वा नाऽऽलोको बध्यते यथा ।
तथा नाऽयमहं बद्धः सर्वभावगणातिगः ॥ ३१ ॥
संबन्धः कोऽस्तु नः कामैर्भावाभावैरथेन्द्रियैः ।
केन संबध्यते व्योम केन संबाध्यते मनः ॥ ३२ ॥
शरीरे शतधा याते खण्डना का शरीरिणः ।
कुम्भे भग्ने क्षते क्षीणे कुम्भाकाशस्य का क्षतिः ॥ ३३ ॥
पिशाचक इवाऽदृश्यो मनो नामोदितं मुधा ।
जडे तस्मिन् क्षते बोधात् का नः क्षतिरुपस्थिता ॥ ३४ ॥

तुम्बीके ऊपर जलधाराओंके तुल्य देहमें सुख-दुःख गिरें अथवा न गिरें उससे तुम्बीके आकाशके तुल्य हम लोगोंकी कौन क्षति है ? ॥ ३० ॥

दीपकके अङ्गभूत तेल, बत्ती, वर्तन आदिका अतिक्रमण करके निकला हुआ दीपालोक जैसे रस्सीसे नहीं बाँधा जाता वैसे ही सब पदार्थोंसे अतीत यह मैं बद्ध नहीं होता हूँ ॥ ३१ ॥

काम, भाव, अभाव और इन्द्रियोंसे हमारा कौन सम्बन्ध है । भला बतलाइये तो सही आकाश किससे बाँधा जाता है और मन किससे विनष्ट किया जाता है । भाव यह कि अमूर्त होनेसे जैसे आकाशका बाँधना सम्भव नहीं है, मनका ताड़न सम्भव नहीं है वैसे ही काम, भाव, अभाव और इन्द्रियोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ ३२ ॥

शरीरके सैकड़ों टुकड़े होनेपर शरीरीके (आत्माके) कौन खण्ड खण्ड होते हैं, घड़ा चाहे टूटे, फूटे या ध्वस्त हो जाय, पर घटाकाशकी क्या क्षति हुई ? ॥ ३३ ॥

अदृश्य पिशाचके समान यह मिथ्या मन उदित हुआ है, ज्ञानसे (मनसे अतिरिक्त आत्माके ज्ञानसे) जड़ मनका विनाश होनेपर हमारी कौन क्षति हुई ? ॥ ३४ ॥

सुखदुःखमयी यस्य वासना तन्मनो मम ।
अभवत्पूर्वमद्यैका संपन्नाऽतनुनिर्वृतिः ॥ ३५ ॥
अन्यो भुङ्क्तेऽन्य आदत्तेऽप्यन्यस्याऽनर्थसंकटः ।
अन्यः पश्यत्यहो मौर्ख्यं कस्येयं खलु चक्रिका ॥ ३६ ॥
भुङ्क्ते प्रकृतिरादत्ते मनो देहस्य संकटः ।
दुष्टात्मा मौर्ख्यमस्तीह न किंचित् केवले क्षतिः ॥ ३७ ॥
न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न च भोगविवर्जने ।
यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत् ॥ ३८ ॥
सुखेषु मम नाऽपेक्षा नोपेक्षा दुःखवृत्तिषु ।
सुखदुःखान्यपायान्तु यान्तु वाऽप्यहमेषु कः ॥ ३९ ॥
वासना विविधा देहे त्वस्तं चोदयमेव वा ।
प्रयान्तु नाऽहमेतासु न चैता मम काश्चन ॥ ४० ॥

पहले (अज्ञानावस्थामें) जिसकी सुख-दुःखमयी वासना है, इस प्रकारका मेरा मन हुआ था, अब तो मेरी एकमात्र अपरिच्छिन्न सुखविश्रान्ति हो गई है ॥ ३५ ॥

अन्य भोग करता है, अन्य ग्रहण करता है, अन्यको अनर्थप्राप्ति होती है, अन्य देखता है—इन भोक्ता आदिकी एकताके कारण अध्यासरूप मूर्खता किस जादूगरकी चक्कीके समान घूमानेकी चातुरी है ॥ ३६ ॥

प्रकृति भोग करती है, मन ग्रहण करता है, देहको क्लेश प्राप्त होता है, आत्मा प्रवृत्ति आदिसे दुष्ट (दोषारोपित) होता है । विचार करनेपर केवल आत्मामें कुछ भी मौर्ख्य नहीं है, इसलिए कोई क्षति नहीं है ॥ ३७ ॥

न मेरी भोग भोगनेकी आकाङ्क्षा है और न भोगोंके त्यागमें मेरी वाञ्छा है, जो आता है वह आवे और जो जाता है वह जावे ॥ ३८ ॥

सुखोंकी मुझे अपेक्षा नहीं है और दुःखोंमें मेरी उपेक्षा नहीं है । सुखदुःख चाहे आवें अथवा जावें, इनमें मैं कौन हूँ ॥ ३९ ॥

विविध वासनाएँ मेरे शरीरमें चाहे अस्तको प्राप्त हों चाहे उदित हों, न इन वासनाओंमें मैं हूँ और न ये मेरी कोई हैं ॥ ४० ॥

एतावन्तमहं कालमज्ञानरिपुणा हतः ।
हृत्वा विवेकसर्वस्वमेकान्तमवपोथितम् ॥ ४१ ॥
वैष्णवेन प्रसादेन स्वसमुत्थेन चारुणा ।
इदानीं संपरिज्ञाय मयैष परिमोषितः ॥ ४२ ॥
अहङ्कारपिशाचोऽयं शरीरतरुकोटरात् ।
परावबोधमन्त्रेण मयेदानीमपाकृतः ॥ ४३ ॥
निरहङ्कारयक्षोऽयं मच्छरीरमहाद्रुमः ।
पुण्यतामलमायातः प्रफुल्ल इव राजते ॥ ४४ ॥
प्रशान्तमोहदारिद्र्यो दुराशादोषसंक्षये ।
विवेकधनसंभारान् स्थितोऽस्मि परमेश्वरः ॥ ४५ ॥
ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं दृष्टा द्रष्टव्यदृष्टयः ।
तत्प्राप्तमधुना येन नाऽप्राप्तमवशिष्यते ॥ ४६ ॥

अत्यन्त विनष्ट हुए विवेकरूपी सर्वस्वको दूरकर इतने समय तक अज्ञानरूपी शत्रुने मुझे क्लेश पहुँचाया, किन्तु इस समय उत्पन्न हुए सर्वाङ्गसुन्दर श्रीविष्णुप्रसादसे परम तत्त्वका ज्ञान कर मैंने इसका त्याग कर दिया है ॥ ४१, ४२ ॥

इस समय परम ज्ञानरूपी मन्त्रसे इस अहङ्काररूपी पिशाचको शरीररूपी वृक्षके खोखलेसे मैंने निकाल दिया है ॥ ४३ ॥

अहङ्काररूपी यक्षसे विहीन यह मेरा शरीररूपी महावृक्ष अत्यन्त पवित्रताको प्राप्त होकर प्रफुल्लित वृक्षके समान सुशोभित हो रहा है ॥ ४४ ॥

दुराशारूपी दोषका नाश होनेपर विवेकरूपी धनसमृद्धिको प्राप्तकर मेरी मोहरूपी दरिद्रता नष्ट हो चुकी है, अतएव मैं परमेश्वररूपसे स्थित हूँ ॥ ४५ ॥

मैंने ज्ञातव्य सब कुछ जान लिया है तथा द्रष्टव्य सब कुछ देख लिया है । इस समय मुझे वह वस्तु प्राप्त हो चुकी है, जिससे कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता है ॥ ४६ ॥

दिष्ट्या दूरोज्झितानर्थामपेतविषयोरगाम् ।
संशान्तमोहनीहारां शान्ताशामृगतृष्णिकाम् ॥ ४७ ॥
रजोरहितसर्वाशां शीतलोपशमद्रुमाम् ।
प्राप्तोऽस्मि विततां भूमिमुन्नतां पारमार्थिकीम् ॥ ४८ ॥
स्तुत्या प्रणत्या विज्ञप्त्या शमेन नियमेन च ।
लब्धोऽयं भगवानात्मा दृष्टश्चाऽधिगतः स्फुटम् ॥ ४९ ॥
अहङ्कारपदातीतश्चिरात् संस्मृतिमागतः ।
स्वभावाद् भगवानात्मा विष्णोर्ब्रह्म सनातनम् ॥ ५० ॥
इन्द्रियोरगगर्तेषु मरणश्वभ्रभूमिषु ।
तृष्णाकरञ्जकुञ्जेषु कामकोलाहलेषु च ॥ ५१ ॥
वासनावनजालेषु जन्मकूपान्तरेषु च ।
दुःखदावाग्निदाहेषु दुःखदावाग्निहारिषु ॥ ५२ ॥
पातोत्पातदशालक्षैर्मज्जनोन्मज्जनभ्रमैः ।
आविर्भावतिरोभावैराशापाशविचेष्टनैः ॥ ५३ ॥
अहं चिरमहङ्कारद्विषा समवमोषितः ।
निशायामल्पवीर्यात्मा पिशाचेनेव जङ्गले ॥ ५४ ॥

मैं ऊँची और विस्तृत पारमार्थिक भूमिको, जिसमें अनर्थोंका नाम-निशान नहीं है, विषयरूपी साँप नहीं रह गये हैं, आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है, मोहरूपी कुहरा नष्ट हो गया है, जिसकी चारों दिशाएँ रजोगुण (धूलि) से रहित हैं और जिसमें शीतल शान्तिरूपी वृक्ष है, प्राप्त हो चुका हूँ। विष्णु भगवान्‌की स्तुतिसे, प्रणामसे, प्रार्थनासे, शम और नियमसे मैं भगवान् आत्माको पा चुका हूँ और मैंने इसे भलीभाँति जान लिया है ॥ ४७–४९ ॥

भगवान् विष्णुके अनुग्रहसे अविनाशी ब्रह्मरूप भगवान् आत्मा, जो अहङ्कारसे शून्य है, चिरकालसे मेरे स्मृतिपटलपर आरूढ़ हो गया है ॥ ५० ॥

वासनारूपी घोर वनोंमें, जहाँपर इन्द्रियरूपी साँपोंके अनेक बिल हैं, मरणरूपी बड़े बड़े गड्ढे हैं, तृष्णारूपी करञ्जकुञ्ज (करञ्जोंकी झाड़ियाँ) हैं, जो कामके कोलाहलसे पूर्ण हैं, जिनमें दुःखरूपी वनाग्नियाँ धधकती हैं तथा दुःखदायी वनाग्निके सदृश क्रूर परधन-प्राण हरनेवाले (चोर) हैं, अहङ्कार-

स्वयमेव त्वथेदानीं क्रियाशक्त्या स्वयैव हि ।
शौरिणा व्यपदेशेन विवेकश्रीर्विबोधिता ॥ ५५ ॥
प्रबुद्धे भवतीशाने तमहङ्काररराक्षसम् ।
न पश्यामि नभोदीपे ज्वलिते तिमिरं यथा ॥ ५६ ॥
तस्याऽहङ्कारयक्षस्य मनोविवरवासिनः ।
दीपस्येव प्रशान्तस्य न वेद्मि गतिमीश्वरः ॥ ५७ ॥
दृष्ट एव त्वयीशाने पलायनपरायणः ।
संपन्नो मदहङ्कारश्चोरः सूर्योदये यथा ॥ ५८ ॥
असदभ्युत्थिते तस्मिन्नहङ्कारे पिशाचवत् ।
गते तिष्ठाम्यहं स्वस्थो निर्गोनस इव द्रुमः ॥ ५९ ॥
शाम्यामि परिनिर्वामि जगत्यस्मिन् प्रबोधवान् ।
तस्करेणोज्झितोऽस्मीति निर्वृतोऽस्मि चिरोदयम् ॥ ६० ॥

रूपी शत्रुने नीचे गिरने और ऊपर चढ़नेके तुल्य लाखों विपत्ति और सम्पत्तियोंसे, अधोगति और उत्तमगतियोंसे, आविर्भाव और तिरोभावोंसे एवं आशा-पाशोंकी विविध चेष्टाओं द्वारा मुझे ऐसे ही सर्वस्वहरण द्वारा पीड़ित किया, जैसे कि रात्रिके समय अल्पबलवाले पुरुषको जंगलमें पिशाच पीड़ित करता है ॥ ५१-५४ ॥

किन्तु इस समय मैंने प्रसन्न हुए विष्णु भगवान्के बहाने अपनी ही क्रिया-शक्तिसे स्वयं विवेकको उद्दीप्त कर लिया है। उक्त विवेकसे परमेश्वर आत्माके प्रबुद्ध होनेपर मैं उस अहङ्काररूपी पिशाचको ऐसे ही नहीं देख रहा हूँ जैसे कि सूर्यके उदित होनेपर अन्धकार नहीं दिखाई देता है ॥ ५५, ५६ ॥

जैसे बुते हुए दीपककी गति ज्ञात नहीं होती यानी वह कहां चला जाता है यह मालूम नहीं होता वैसे ही मनरूपी बिलमें निवास करनेवाले उस अहङ्काररूपी पिशाचकी गतिको परमेश्वररूप मैं नहीं जानता हूँ ॥ ५७ ॥

जैसे सूर्योदय होनेपर चोर भागनेकी तैयारी करता है वैसे ही ईश्वररूपी आपका साक्षात्कार होते ही मेरा अहङ्कार भागनेके लिए तत्पर हो गया ॥ ५८ ॥

पिशाचकी नाईं भ्रान्तिवश मिथ्या उदित हुए अहङ्कारके चले जानेपर मैं जिससे अजगर भाग गया हो उस बगीचेके तुल्य स्वस्थ होकर बैठा हूँ ॥ ५९ ॥

इस जगत्में ज्ञानवान् मैं अहङ्काररूपी चोरसे छुटकारा पा चुका हूँ और

शैत्यमभ्यागतोऽस्म्यन्तः शान्ताशामृगतृष्णिकः ।
प्रावृडम्बुभरस्नातः शान्तदाव इवाऽचलः ॥ ६१ ॥
प्रमार्जितेऽहमित्यस्मिन् पदे स्वार्थविचारतः ।
को मोहः कानि दुःखानि काः कदाशाः क आधयः ॥ ६२ ॥
नरकस्वर्गमोक्षादिभ्रमाः सत्यामहङ्कृतौ ।
भित्तावेव प्रवर्तन्ते चित्रेहा न नभस्तले ॥ ६३ ॥
अहङ्कारकलापित्ते चित्ते ज्ञानचमत्कृतिः ।
न राजतेंऽशुके म्लाने यथा कुङ्कुमरञ्जना ॥ ६४ ॥
निरहङ्कारजलदे तृष्णासारविवर्जिते ।
भाति चित्तशरद्व्योम्नि स्वच्छता कान्तिशालिनी ॥ ६५ ॥
निरहङ्कारपङ्काय संप्रसन्नान्तराय च ।
मह्यमानन्दसरसे तुभ्यमात्मन्नमो नमः ॥ ६६ ॥

चिरकालसे निर्वृत्त हुआ हूँ यों सोचकर मैं विश्रान्तिको प्राप्त हो रहा हूँ और निर्वाणको प्राप्त हो रहा हूँ ॥ ६० ॥

वर्षा ऋतुकी जलराशिसे सींचे गये अतएव वनाग्निकी लपटोंसे रहित पर्वतके समान मैं हृदयमें शीतलताको प्राप्त हो गया हूँ । मेरी आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है ॥ ६१ ॥

आत्मतत्त्वके विचारसे अहङ्कारके परिमार्जित होनेपर कौन मोह है, क्या दुःख है, क्या तुच्छ आशाएँ हैं और कौन मानसिक चिन्ताएँ हैं यानी ये कुछ भी नहीं रहते हैं । जैसे चित्रनिर्माणकी चेष्टा भीतमें ही होती है आकाशमें नहीं होती वैसे ही अहङ्कारके रहते ही नरक, स्वर्ग, मोक्ष आदि भ्रम होते हैं ॥ ६२, ६३ ॥

जैसे वस्त्रके मलिन होनेपर उसमें कुङ्कुमका रंग शोभित नहीं होता है वैसे ही चित्तमें अहङ्कारावेशरूपी पित्तज उन्मादके रहनेपर ज्ञानचमत्कार शोभित नहीं होता है ॥ ६४ ॥

अहङ्काररूपी मेघसे शून्य, तृष्णारूपी मूसलाधार वृष्टिसे रहित चित्तरूपी शरत्कालीन आकाशमें आत्मरूपी चन्द्रमाके प्रकाशसे शोभित होनेवाली निर्मलता शोभित होती है ॥ ६५ ॥

हे आत्मन्, अहङ्काररूपी कीचड़से हीन, अत्यन्त प्रसन्न आनन्दके सरोवर प्रत्यगात्मरूप तुम्हारे (ब्रह्मके) लिए बारबार नमस्कार है ॥ ६६ ॥

शान्तेन्द्रियोग्रग्राहाय क्षीणचित्तौर्ववह्नये ।
आनन्दाम्बुधये तुभ्यं मह्यमात्मन्नमो नमः ॥ ६७ ॥
गताहङ्कारमेघाय शान्ताशादाववह्नये ।
मह्यमानन्दशैलाय विश्रान्ताय नमो नमः ॥ ६८ ॥
प्रफुल्लानन्दपद्माय शान्तचिन्तामयोर्मये ।
मह्यं सन्मानसायाऽऽत्मंस्तुभ्यमन्तर्नमो नमः ॥ ६९ ॥
संविदाभासपक्षाय पद्मकोटरवासिने ।
सर्वमानसहंसाय स्वात्मनेऽन्तर्नमो नमः ॥ ७० ॥
कलाकलितरूपाय निष्कलायाऽमृतात्मने ।
सदोदिताय पूर्णात्मन् शशिने ते नमो नमः ॥ ७१ ॥

हे आत्मन्, जिसके इन्द्रियरूपी भयंकर मगर शान्त हो गये हैं, जिसका चित्तरूपी बड़वानल नष्ट हो गया ऐसे आनन्दके सागर प्रत्यगात्मरूप तुम्हारे (ब्रह्मके) लिए बारबार नमस्कार है ॥ ६७ ॥

जिससे अहङ्काररूप मेघ चला गया है और आशारूपी वनाग्नि जिसमें शान्त हो चुकीं ऐसे निश्चल आनन्दपर्वतरूप प्रत्यगात्म ब्रह्मको पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ६८ ॥

हे आत्मन्, जिसमें आनन्दरूपी कमल खिले हैं और चिन्तारूपी लहरें शान्त हो चुकी हैं ऐसे सुन्दर मानसरोवररूप प्रत्यगात्मभूत तुम्हारे (ब्रह्मके) लिए पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ६९ ॥

बुद्धि और उसकी वृत्तिमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जिसके पक्ष है, जो हृदयरूपी कमलके मध्यमें निवास करता है और जो मानसरोवरमें हंसके समान सबके मनका हंसरूप है ऐसे आत्माके लिए बारबार नमस्कार है ॥ ७० ॥

हे पूर्णात्मन्, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि श्रुतिमें कही गई सत्रह कलाओंसे अथवा 'षोडशकलः सोम्य पुरुषः' इस श्रुतिमें दिखलाई गईं सोलह कलाओंसे जिसने अपने रूपकी कल्पना की है, वस्तुतः जो निरवयव है, सदा उदित अमृतरूपी चन्द्ररूप* आपके लिए बारबार नमस्कार है ॥ ७१ ॥

* चन्द्रमाके पक्षमें—प्रसिद्ध सोलह कलाओंसे जिसका रूप बना हुआ है, कलासे अतिरिक्त देवतारूप और अमृतस्वरूप, ऐसा अर्थ करना चाहिये ।

सदोदिताय शान्ताय महाहृद्ध्वान्तहारिणे ।
सर्वगायाऽप्यदृश्याय चित्सूर्याय नमो नमः ॥ ७२ ॥
अस्नेहस्नेहदीपाय वृत्तिनिष्क्रान्तवर्तिने ।
स्वभावाधारधीराय चिद्दीपाय नमो नमः ॥ ७३ ॥
मदनानलसंतप्तं शीतेन मनसा मनः ।
भग्नमन्तर्मया तप्तमयसेव बलादयः ॥ ७४ ॥
इन्द्रियेणेन्द्रियं छित्त्वा छित्त्वा च मनसा मनः ।
अहङ्कृतिमहङ्कृत्या छित्त्वा शेषो जयाम्यहम् ॥ ७५ ॥
भावेनाऽभावमाच्छिद्य हित्वा तृष्णामतृष्णया ।
निष्पिष्य प्रज्ञयाऽप्रज्ञां ज्ञोऽज्ञः सत्योऽसि ते नमः ॥ ७६ ॥

सदा उदित, सन्ताप न पहुँचानेवाले, हृदयके महान् अन्धकार (अज्ञान) का नाश करनेवाले, सर्वव्यापी होनेपर भी अदृश्य, चैतन्यरूपी सूर्यके लिए पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ७२ ॥

तेलरहित, परम प्रेमको उद्दीप्त करनेवाले, वृत्ति द्वारा निष्क्रमणरूप वत्तीसे युक्त, सब वस्तुओंके स्वभावके आधाररूप बुद्धिप्रकाशक चैतन्यरूप दीपकके लिए बारबार नमस्कार है ॥ ७३ ॥

अब मेरा पौरुष सफल है, यों उसका अभिनन्दन करते हैं—**'मदना०'** इत्यादिसे ।

जैसे लोहेके घनसे तपा हुआ लोहा टूट जाता है वैसे ही शम, दम आदिसे युक्त मनसे कामाग्निसे सन्तप्त मनको मैंने जबरदस्ती नष्ट कर दिया है ॥ ७४ ॥

प्रत्यगात्मोन्मुख चक्षु आदि इन्द्रियोंसे बाह्य पदार्थोन्मुख इन्द्रियोंको नष्ट कर, प्रत्यगात्मोन्मुख मनसे बाह्यपदार्थोन्मुख मनका उच्छेद कर और प्रत्यगात्मोन्मुख अहंकारसे बाह्य पदार्थोन्मुख अहंकारका उच्छेदकर अवशिष्ट चिन्मात्र मैं सर्वोत्कृष्ट-रूपसे स्थित हूँ ॥ ७५ ॥

श्रद्धासे अश्रद्धाका उच्छेद कर, अतृष्णासे तृष्णाका त्याग कर, ऊहापोहवती बुद्धिसे अविचार, सन्देह आदिरूप अप्रज्ञाका विनाश कर ज्ञातृत्वाभिमानशून्य ज्ञानमात्रस्वभाव ही तुम हो, ऐसे प्रत्यक्चैतन्यरूप तुम्हारे लिए नमस्कार है ॥७६॥

मनसा मनसि च्छिन्ने निरहङ्कारतां गते ।
भावेन गलिते भावे स्वच्छस्तिष्ठामि केवलः ॥ ७७ ॥
निर्भावं निरहंकारं निर्मनस्कमनीहितम् ।
केवलं स्पन्दशुद्धात्मन्येव तिष्ठति मे वपुः ॥ ७८ ॥
हेलानुकम्पितानन्तविश्वेशादतिशायिनी ।
परमोपशमोपेता जातेयं मम निर्वृतिः ॥ ७९ ॥
प्रशान्तमोहवेतालो गताहङ्कारराक्षसः ।
कदाशारूपिकोन्मुक्तो जातोऽस्मि विगतज्वरः ॥ ८० ॥
तृष्णारज्जुगुणं छित्त्वा मच्छरीरकपञ्जरात् ।
न जाने क्व गतोड्डीय दुरहङ्कृतिपक्षिणी ॥ ८१ ॥
उद्धूलिते घनाज्ञानकुलाये कायपादपात् ।
न जाने गत उड्डीय क्वाऽहंभावविहङ्गमः ॥ ८२ ॥

मनसे उच्छिन्न मनके निरहङ्कार होनेपर तथा ब्रह्माहंभावसे देहादिमें अहंभावके विनष्ट होनेपर केवल स्वच्छ चिन्मात्रस्वभाव मैं रहता हूँ ॥ ७७ ॥

भावनामें हेतुभूत बुद्धिसे रहित, अहंकाररहित, मनरहित, इच्छाहेतुभूत चित्तसे शून्य मेरा शरीर एकमात्र प्राणनक्रियासे शुद्धस्वरूपवाले जीवन्मुक्त आत्मामें ही स्थित है ॥ ७८ ॥

लीलासे ही भोग-ऐश्वर्यदान द्वारा अपने अनन्त भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु आदिसे भी उत्कृष्ट निरतिशयानन्द विश्रान्ति, जो परम शान्तिसे युक्त है, मुझे प्राप्त हो गई ॥ ७९ ॥

मेरा मोहरूपी बेताल शान्त हो चुका है, अहङ्काररूपी राक्षस मुझको छोड़कर चला गया है और कुत्सित आशारूपी पिशाचिनीसे मैं छुटकारा पा चुका हूँ, अतएव मैं सन्तापरहित हो गया हूँ ॥ ८० ॥

तृष्णारूपी रस्सीको तोड़कर दुरहङ्काररूपी चिड़िया मेरे शरीररूपी पञ्जरसे उड़कर न जाने कहाँ चली गई है ॥ ८१ ॥

निविड़ अज्ञानरूपी घोंसलेके ज्ञानाभ्यासवश चूर-चूर करके उड़ा देनेपर अहंभावरूपी पक्षी मेरे शरीररूपी वृक्षसे उड़कर न मालूम कहाँ चला गया है ॥ ८२ ॥

दुराशादीर्घदौरात्म्यधूसराभोगभस्मना ।
भयभोगिहिता दिष्ट्या भूयस्यो वासनाः क्षताः ॥ ८३ ॥
एतावन्तमहं कालं कोऽभूवं चित्रमीदृशम् ।
येनाऽहमेष मिथ्यैव दृढाहङ्कारतां गतः ॥ ८४ ॥
अद्याऽहमस्मि जातोऽयमहमद्य महामतिः ।
अहङ्कारमहाभ्रेण यत्कृष्णेनाऽलमुज्झितः ॥ ८५ ॥
दृष्टोऽयमात्मा भगवांस्तथैवाऽधिगतो मया ।
आलब्धश्चाऽनुभूतोऽङ्गं स्वानुभूतौ नियोजितः ॥ ८६ ॥

बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि दुराशाओंसे और लम्बे अर्सेसे दुष्ट देह आदिमें आत्मत्वके अभिमानसे मलिन और भयरूपी सर्पोंके लिए हितैषी बहुत-सी मेरी दुर्वासनाएँ समाधिसे उच्छिन्न हो गई हैं ॥ ८३ ॥

अब नींद टूटनेपर स्वप्नकी दुर्दशाकी तरह अपनी पहलेकी अहंकारदशाका स्मरण कर आश्चर्य करते हैं—**'एतावन्तम्'** इत्यादिसे ।

इतने समयतक मैं कौन हुआ ? जिससे यह मैं मिथ्या ही दृढ़ अहंकारताको प्राप्त हुआ, ऐसा आश्चर्य है ॥ ८४ ॥

आज मैं अनुभवमें आ रहे निरतिशयानन्द स्वभाववाला हो गया हूँ । मेरी साक्षात्कारवृत्ति अपरिच्छिन्न ब्रह्माकारा हो गई है, क्योंकि अहंकाररूपी काले बादलने मेरा सर्वथा त्याग कर दिया है ॥ ८५ ॥

मैंने भगवान् आत्माका वाक्यप्रमाणसे दर्शन कर लिया है और उनका मननसे ज्ञान भी कर लिया है । समाधिमें मनसे श्लेषपूर्वक उन्हें पा लिया है और समाधिमें उनका अनुभव कर लिया है । अपने शरीरके समान सदा अनुभूतिमें उनका नियोग भी कर लिया है । कहा भी है—

'देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद् यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥'

(देहात्मज्ञानके समान जिसे देहात्मज्ञानका बाधक ज्ञान हो जाता है, वह मुक्ति न चाहता हुआ भी मुक्त हो जाता है) ॥ ८६ ॥

गतास्पदं गतमननं गतैषणं
तिरस्कृतं निपुणमहङ्कृतिभ्रमैः ।
निरीहितं व्यपगतरागरञ्जनं
विकौतुकं प्रशममिदं गतं मनः ॥ ८७ ॥

दुरुत्तराः समविषमा महापदः
सुदुःसहाः प्रभवनदीर्घदोषदाः ।
गताः क्षयं समधिगतो महेश्वर-
श्चिदद्वयोऽपगतमचित्त्वमन्तरे ॥ ८८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे ब्रह्मात्मलाभचिन्ता नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

अब दोष और विक्षेप रहित मेरा मन शान्त हो गया है, ऐसा कहते हैं—**'गतास्पदम्'** इत्यादिसे ।

विषयरहित, अतएव मनन और एषणारहित, अहंकारभ्रमोंसे सर्वथा मुक्त अतएव निश्चेष्ट, रागोंके सम्पर्कसे रहित और भोगोत्कण्ठासे शून्य मेरा मन निरिन्धन अग्निके समान शान्तिको प्राप्त हो गया है ॥ ८७ ॥

मनकी शान्तिसे ही सब आपत्तियोंकी निवृत्ति और निरतिशय आनन्दरूप आत्माकी प्राप्तिका निर्देश करते हुए उपसंहार करते हैं—**'दुरुत्तराः'** इत्यादिसे ।

नाना योनियोंमें जन्मपरम्पराओं और काम, लोभ, मोह आदि दोषोंको देनेवाली, चिरकालतक एकमात्र दुःखरूप, क्षण-प्रतिक्षणमें विचित्र दुःखरूप, असह्य, दुस्तर बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ नष्ट हो गईं हैं और चैतन्यघन अद्वितीय पूर्णानन्द आत्मा प्राप्त हो गया है, कारण कि प्रत्यगात्मामें अज्ञानजाड्य ज्ञानसे बाधित हो चुका है ॥ ८८ ॥

पैंतीसवां सर्ग समाप्त

षट्त्रिंशः सर्गः

प्रह्लाद उवाच

आत्मा सर्वपदातीतश्चिरात् संस्मृतिमागतः ।
दिष्ट्या लब्धोऽसि भगवन्नमस्तेऽस्तु महात्मने ॥ १ ॥
अभिनन्द्याऽथ चाऽऽलोक्य चिरमालिङ्ग्यसे मया ।
कोऽन्यः स्यात्त्वदृते बन्धुर्भगवन् भुवनत्रये ॥ २ ॥
हंसि पासि ददासि त्वं स्तौषि यासि विवल्गसि ।
अयं प्राप्तोऽसि दृष्टोऽसि किं करोषि क्व गच्छसि ॥ ३ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग

[दुर्लभ आत्माको प्राप्त कर बारबार प्रणाम कर रहे प्रह्लादका आत्माकी स्तुति, अभिनन्दन और जैसे प्रिया प्रियके साथ एकान्तमें रमण करती है वैसे ही आत्माके साथ एकान्तमें रमण करना]

प्रह्लादने कहा—मानुष आनन्दसे लेकर हिरण्यगर्भके आनन्दपर्यन्त सब सुखोत्कर्षके स्थानोंसे भी बढ़कर आनन्दरूप प्रत्यगात्मा चिरकालसे मेरे स्मृति-पथपर आरूढ़ हुआ है । हे भगवन्, तुम भाग्यसे मुझे प्राप्त हुए हो । अपरिच्छिन्न स्वभाववाले तुम्हारे लिए नमस्कार है ॥ १ ॥

दर्शन कर प्रणाम करके चिरकालतक समाधिमें क्षीर-नीरकी तरह सम्मिलित-रूपसे मेरे द्वारा आपका आलिङ्गन किया जाता है । हे भगवन्, तीनों भुवनोंमें तुम्हारे सिवा मेरा कौन परम प्रिय होगा ? ॥ २ ॥

जबतक तुम मिलते नहीं, तुम्हारे दर्शन नहीं होते तबतक मृत्यु होकर तुम अभक्तोंका नाश करते हो और भक्तोंकी रक्षा करते हो, उपासना आदि कर्मोंसे आराधित होकर वरदान देते हो, स्तुतिकर्ता आदिके रूपसे स्तुति करते हो, गमनकर्ताके रूपसे चलते हो और सर्वरूपसे व्यवहार करते हो । मैंने तो यह नित्य अपरोक्षस्वभाव आत्मा पा लिया है और देख लिया है । अब मेरे प्रति क्या करते हो अथवा कहाँ जाते हो ? भाव यह है कि तुम इस समय पहलेकी नाईं अन्यत्र नहीं जा सकते और कुछ कर नहीं सकते ॥ ३ ॥

स्वसत्तापूरिताशेषविश्व विश्वजनीन भोः ।
सर्वत्र लक्ष्यसे नित्यमधुना क्व पलायसे ॥ ४ ॥
आवयोरन्तरं भूरिजन्मव्यवहितान्तरम् ।
अदूरमद्य संपन्नं दिष्ट्या दृष्टोऽसि बान्धव ॥ ५ ॥
नमस्ते कृतकृत्याय कर्त्रे भर्त्रे नमोऽस्तु ते ।
नमः संसारवृन्ताय नित्याय विमलात्मने ॥ ६ ॥
नमश्चक्राब्जहस्ताय नमश्चन्द्रार्धधारिणे ।
नमो विबुधनाथाय नमस्ते पद्मजन्मने ॥ ७ ॥
वाच्यवाचकदृष्टैव भेदो योऽयमिहाऽऽवयोः ।
असत्या कल्पनैवेषा वीचिवीच्यम्भसोरिव ॥ ८ ॥
त्वमेवाऽनन्तयाऽनन्तवस्तुवैचित्र्यरूपया ।
भावाभावविलासिन्या नित्ययैव विजृम्भसे ॥ ९ ॥

हे विश्वजनीन, आपने अपनी सत्तासे सकल विश्वको भर रक्खा है, अतः नित्य सब जगह आप दिखाई देते हैं। अब इस समय आप कहाँ भागते हैं ? ॥ ४ ॥

हम दोनोंका बहुतसे जन्मोंसे व्यवहित अज्ञान व्यवधायक था। आज उसका नाश होनेसे अत्यन्त अभेदरूप समीपता पैदा हो गई है। हे बान्धव, बड़े भाग्यसे मैंने आपको देख पाया है ॥ ५ ॥

आप कृतकृत्य हैं, कर्ता हैं, सबका भरणपोषण करनेवाले हैं, आपको बारम्बार नमस्कार है। आप संसाररूपी [illegible]के वृन्तरूप, नित्य और निर्मल हैं, आपके लिए नमस्कार है ॥ ६ ॥

हाथमें चक्र और कमल धारण करनेवाले (विष्णुरूप) [illegible] है। अर्धचन्द्र धारण करनेवाले शिवरूप आपको नमस्कार है। देवताओंके अधिपति (इन्द्ररूप) आपको नमस्कार है। कमलयोनि (ब्रह्मारूप) आपको नमस्कार है ॥ ७ ॥

व्यवहारदृष्टिसे हम दोनोंका लहर और लहरके जलके समान जो यह भेद है, वह व्यवहारदृष्टि या भेद असत्य कल्पना ही है ॥ ८ ॥

प्रवाहसे अनादि, भाव और अभावोंसे विलसित होनेवाली, अनन्त वस्तुओंकी विचित्रतासे पूर्ण स्वरूपवाली अनन्त कल्पनासे आप ही विस्तारको प्राप्त हुए हैं ॥ ९ ॥

नमो द्रष्ट्रे नमः स्रष्ट्रे नमोऽनन्तविकासिने ।
नमः सर्वस्वभावाय नमस्ते सर्वगात्मने ॥ १० ॥
प्रतिजन्म चिरं बह्व्यो दीर्घदुःखवता मया ।
त्वया मयोपदिष्टेन दग्धेनाऽपहृतौजसा ॥ ११ ॥
आलोकिता लोकदृशो दृष्टा दृष्टान्तदृष्टयः ।
न प्राप्तस्तत्त्वयाऽनेन किंचिदासादितं भवेत् ॥ १२ ॥
सर्वं मृत्काष्ठपाषाणवारिमात्रमिदं जगत् ।
नेहाऽस्ति त्वदृते देव यत्प्राप्तौ नाऽभिवाञ्छति ॥ १३ ॥
देवाऽयमद्य लब्धोऽसि दृष्टोऽस्यधिगतोऽसि च ।
संप्राप्तोऽसि गृहीतोऽसि नमस्तेऽस्तु न मुद्यसि ॥ १४ ॥

पहले स्रष्टव्य (सृष्टि करने योग्य) पदार्थोंका दर्शन करनेवाले आपको नमस्कार है तदनन्तर स्रष्टव्य पदार्थोंकी सृष्टि करनेवाले आपको नमस्कार है और सृष्टि करके अनन्तरूपोंसे विकासको प्राप्त होनेवाले आपके लिए नमस्कार है अतएव सर्वस्वभाव और अधिष्ठानरूपसे सर्वव्यापी आपके लिए नमस्कार है ॥ १० ॥

इतने समयतक मेरे स्वरूपसे आप ही मेरे अभिप्रायानुकूल चलनेसे श्रान्त हो गये हैं, इस समय आपने ही अपनेको विश्रामके लिए प्राप्त कर लिया है, ऐसा कहते हैं—**'प्रतिजन्म'** इत्यादिसे ।

मद्भावको (जीवभावको) प्राप्त हुए त्वत्स्वरूप मैंने, जो अपने कामादि दोषोंके अनुसार उपदिष्ट असन्मार्गमें प्रवृत्त होनेके कारण नष्ट हुआ अतएव तिरोहित आत्मभाववाला तथा दीर्घ दुःखका भाजन हुआ, प्रत्येक जन्ममें चिरकालतक ऊपर, नीचे और मध्य लोकोंमें बहुतसे संचारभ्रम देखे तथा उनमें विवेकके अनुकूल दृष्टान्त-दृष्टियाँ देखीं । उस बहिर्लोकके दर्शनसे आपने अपनेको प्राप्त नहीं किया । तीनों लोकोंके दर्शनसे तनिक भी पुरुषार्थरूप प्राप्त नहीं हुआ ॥ ११, १२ ॥

यह सारा जगत् मिट्टी, काष्ठ, पत्थर और जलमात्र है । हे देव, जिसकी प्राप्ति होनेपर पुरुषार्थेच्छा पूर्ण होती है, ऐसी वस्तु आपके सिवा इस जगत्में दूसरी नहीं है ॥ १३ ॥

हे देव, आज यह तुम मुझे मिल गये हो, मैंने तुम्हें देख लिया है और

योऽक्ष्णोः कनीनिकारश्मिजालप्रोतवपुः स्थितः ।
देव दर्शनरूपेण कथं सोऽत्र न दृश्यते ॥ १५ ॥
यस्त्वक्स्पर्शौ स्पृशन् सर्वं गन्धं तैलं तिले यथा ।
स्पर्शमन्तः करोत्येष स कथं नाऽनुभूयते ॥ १६ ॥
यः शब्दश्रवणादन्तः शब्दशक्तिं परामृशन् ।
रोमाञ्चं जनयत्यङ्गे स दूरस्थः कथं भवेत् ॥ १७ ॥
जिह्वापल्लवलग्नानि स्वदितस्याऽग्रतोऽपि च ।
स्वदन्ते यस्य वस्तूनि स्वदते स न कस्य च ॥ १८ ॥

मुझे तुम्हारा स्वरूपपरिज्ञान हो गया है। मुझे तुम्हारी प्राप्ति हो गई है, तुम्हें मैंने ग्रहण कर लिया है, तुम मोहशून्य हो गये हो, तुम्हारे लिए नमस्कार है ॥ १४ ॥

कैसे मैं देखा गया, ऐसा यदि कहो, तो चाक्षुष आदि सब वृत्तियोंके प्रकाशन-रूपसे 'प्रतिबोधविदितं मतम्' (ब्रह्म प्रत्येक बोधमें ज्ञात होता है) इस श्रुतिमें प्रदर्शित उपायसे मैंने तुम्हें देखा, ऐसा कहते हैं—**'यः'** इत्यादिसे ।

हे देव, अन्तःकरणके चक्षु द्वारा घटादिदेशनिर्गमनमें घटावच्छिन्नचैतन्यरूप जो नेत्रकी पुतलीकी किरणोंसे ओतप्रोतशरीर होकर स्थित है, वह यहाँपर दर्शन-रूपसे कैसे नहीं दिखाई देता है ? ॥ १५ ॥

जो त्वचा और उष्णत्व आदि स्पर्शको स्पार्शन वृत्तिसे व्याप्त करता हुआ जैसे तिलके अन्तर्गत तेल तिलसे मिले हुए पुष्पोंकी सुगन्ध ग्रहण करता है वैसे ही शीत आदि स्पर्शको व्याप्त करके प्रकाशित करता है, वह कैसे अनुभूत नहीं होता ? ॥ १६ ॥

जो शब्द सुननेसे शब्दशक्तिको (गायन, काव्य आदिके गुणचमत्कारको) प्रकाशित करता हुआ शरीरमें रोमांच पैदा करता है, वह दूरवर्ती कैसे हो सकता है ? ॥ १७ ॥

जिह्वारूपी पल्लवमें लगी हुई मीठी, खट्टी आदि वस्तुएँ स्वारसिक प्रेमके विषयभूत जिसे पहले ही स्वादित हो जाती हैं, वह किसको सुखरूपसे स्फुरित नहीं होता ॥ १८ ॥

पुष्पगन्धानुपादाय घ्राणहस्तेन देहकम् ।
य आलोकयति प्रीत्या कस्याऽसौ न करे स्थितः ॥ १९ ॥
वेदवेदान्तसिद्धान्ततर्कपौराणगीतिभिः ।
यो गीतः स कथं ह्यात्मा विज्ञातो याति विस्मृतिम् ॥ २० ॥
तेनेह देहभोगाली सुभगापीयमद्य मे ।
अद्य न स्वदते स्वच्छे त्वयि दृष्टे परावरे ॥ २१ ॥
त्वया विमलदीपेन भानुः प्रकटतां गतः ।
त्वया शीततुषारेण चन्द्रः शिशिरतां गतः ॥ २२ ॥
त्वयैते गुरवः शैलास्त्वयैते द्युचरा धृताः ।
त्वयैवेयं धरा धीरा त्वयैवाऽम्बरमम्बरम् ॥ २३ ॥
दिष्ट्या मत्तामसि प्राप्तो दिष्ट्या त्वत्तामहं गतः ।
अहं त्वं त्वमहं देव दिष्ट्या भेदोऽस्ति नाऽऽवयोः ॥ २४ ॥

हाथके समान वस्तुके ग्रहणमें कारणभूत घ्राणेन्द्रियसे गलेमें डाली हुई मालाके फूलोंकी सुगन्ध ग्रहणकर जो मालासे अलङ्कृत अपने शरीरको प्रसन्नतासे देखता है, वह किसको हाथमें स्थितकी तरह स्पष्ट प्रत्यक्ष नहीं है ॥ १९ ॥

वेद-वेदान्तके सिद्धान्त, तर्क, पुराणके गीत आदिसे जिनका वर्णन हुआ वह विज्ञात आत्मा कैसे विस्मृतिको प्राप्त होता है ? ॥ २० ॥

स्वच्छ परब्रह्म परमात्मरूप आपका साक्षात्कार होनेपर वे ही सुन्दर देहके भोग आज मुझे पहलेके समान अच्छे नहीं लगते ॥ २१ ॥

'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' इस श्रुतिके अनुसार भी कहते हैं—'त्वया' इत्यादिसे ।

निर्मल दीपरूप तुमसे सूर्य प्रकाशताको प्राप्त हुआ है, शीतल हिमरूप तुमसे चन्द्रमा शीतलताको प्राप्त हुआ है, ये पर्वत तुम्हारे द्वारा ही गुरु (भारयुक्त) किये गये हैं, ये वायु आदि आकाशचारी तुमसे धारण किये गये हैं, यह पृथिवी तुम्हारे द्वारा ही अचल है और यह आकाश तुम्हारे द्वारा ही अवकाश देनेवाला है ॥ २२, २३ ॥

बड़े भाग्यकी बात है तुम मत्स्वरूपताको प्राप्त हो गये हो और भाग्यसे

अहं त्वमिति शब्दाभ्यां पर्यायाभ्यां महात्मनः ।
तव वा मम वा शाखासंयुक्ताभ्यां नमो नमः ॥ २५ ॥
नमो मह्यमनन्ताय निरहंकाररूपिणे ।
नमो मह्यमरूपाय नमः सममयात्मने ॥ २६ ॥
मय्यात्मनि समे स्वच्छे साक्षिभूते निराकृतौ ।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने स्वात्मन्येवेह तिष्ठसि ॥ २७ ॥
मनः प्रक्षोभमायाति स्फुरन्तीन्द्रियवृत्तयः ।
शक्तिरुल्लसति स्फारा प्राणापानप्रवाहिनी ॥ २८ ॥

मैं त्वत्स्वरूपताको प्राप्त हो गया हूँ । हे देव, मैं तुम हूँ और तुम मैं हो । बड़े भाग्यकी बात है हम लोगोंका भेद नहीं रहा ॥ २४ ॥

अब अखण्डार्थमें प्रमाणरूपसे सम्पन्न अहं और त्वं शब्दोंके लिए नमस्कार करते हैं—**'अहम्'** इत्यादिसे ।

लक्ष्य महात्माके बोधनमें पर्यायरूप, कारणोपाधिविशिष्ट वाच्यार्थ तुम्हारे अथवा कार्योपाधिविशिष्ट वाच्यार्थ मेरे शाखाके समान एकदेशभूत उपाधि द्वारा भेदकल्पनसे संयुक्त त्वम् और अहं शब्दोंके लिए पुनः पुनः नमस्कार है ॥ २५ ॥

अनन्त मुझ प्रत्यगात्मरूपके लिए नमस्कार है, अत्यन्त सम स्वरूपके लिए नमस्कार है, अहंकाररहित तथा रूपरहित मुझ प्रत्यगात्माके लिए नमस्कार है ॥२६॥

सम, निर्मल, निराकार साक्षिभूत, दिशा, काल आदिसे अनवच्छिन्न स्वात्मरूप मुझ प्रत्यक्स्वभावमें ही आप रहते हैं कभी भी पराक्स्वभावमें नहीं रहते ॥ २७ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि प्रत्यक् स्वभावमें ही रहते हैं, यह कैसे जाना ? तो इसपर कहते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

आपसे प्रेरित मन क्षोभको प्राप्त होता है, आपकी प्रेरणासे चक्षु आदि इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ स्फुरित होती है, प्राण और अपानमें प्रवाहित होनेवाली प्रचुर शक्ति उल्लासको प्राप्त होती हैं । 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' इत्यादि श्रुतिमें प्रदर्शित मन आदिकी चुम्बकके समान प्रेरणासे हमें यह ज्ञात हुआ, यह अर्थ है ॥ २८ ॥

वहन्ति देहयन्त्राणि कृष्टान्याशावरत्रया ।
चर्ममांसास्थिदिग्धानि मनःसारथिमन्ति च ॥ २९ ॥
अयं संविद्वपुरहं न काचिन्न कृतास्पदः ।
देहः पततु वोदेतु यथाभिमतयेच्छया ॥ ३० ॥
चिरादहमहं जातः स्वात्मलाभश्चिरादयम् ।
चिरादुपशमं याति कल्पस्याऽन्ते जगद्यथा ॥ ३१ ॥
चिरात् संसारगामित्वाद्दीर्घे संसारवर्त्मनि ।
विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तः कल्पस्याऽन्त इवाऽनलः ॥ ३२ ॥
सर्वातीताय सर्वाय तुभ्यं मह्यं नमो नमः ।
तेभ्योऽपि च नमस्तेऽस्तु ये मां त्वां प्रवदन्ति च ॥ ३३ ॥

आशारूपी रस्सीसे खींचे गये, चर्म, मांस और हड्डियोंसे व्याप्त एवं मनरूपी सारथिसे युक्त शरीररूपी यन्त्र आपसे प्रेरित होकर चलते हैं ॥ २९ ॥

तो क्या आप प्राणन आदि शक्ति हैं अथवा देहमें स्थित अहङ्कार आदि हैं, ऐसी आशङ्का होनेपर नहीं, ऐसा कहते हैं—**'अयम्'** इत्यादिसे ।

यह मैं संवित् देह ही हूँ, न तो मैं कोई प्राणन आदि शक्ति हूँ और न देहमें स्थित अहङ्कार आदि ही हूँ ।

प्रश्न—तब आपको देहसे क्या मतलब है ?

उत्तर—कुछ भी नहीं । देह अपने इच्छानुसार चाहे गिरे चाहे उदित हो, उससे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥ ३० ॥

मैं चिरकालसे मैं 'मैं' हुआ हूँ, चिरकालसे मुझे मेरा स्वरूपलाभ हुआ है । जैसे प्रलयके अन्तमें प्रलयाग्नि शान्त होती है वैसे ही चिरकालसे भ्रम शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

चिरकालसे संसारमें भ्रमणशील होनेके कारण इतने कालतक दीर्घ संसार मार्गमें थका हुआ मैं इस समय जैसे प्रलयके अन्तमें प्रलयाग्नि श्रान्त होकर विश्रामको प्राप्त होती है वैसे ही विश्रामको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ३२ ॥

सबसे परे सर्वरूप त्वत्स्वरूप मेरे लिए नमस्कार है । जो गुरु अथवा वेदान्त तुमको मद्रूप कहते हैं, उनके लिए भी नमस्कार है ॥ ३३ ॥

अखिलानन्तसंभोगा न स्पृष्टा दोषवृत्तिभिः ।
जयत्यकृतसंरम्भा साक्षिता परमात्मनः ॥ ३४ ॥

आत्मन् पुष्प इवाऽऽमोदो भस्त्रापिण्ड इवाऽनिलः ।
तिले तैलमिवास्मिंस्त्वं सर्वत्र वपुषि स्थितः ॥ ३५ ॥

हंसि पासि ददासि त्वमवस्फूर्जसि वल्गसि ।
अनहंकृतिरूपोऽपि चित्रेयं तव मायिता ॥ ३६ ॥

जयामीशज्वलद्दीप्तिः सर्वमुन्मीलयञ्जगत् ।
जयाम्युपरतारम्भो जगद् भूयो निमीलयन् ॥ ३७ ॥

परमाणोस्तवैवाऽन्तरिदं संसारमण्डलम् ।
वटत्वं वटधानायां बभूवाऽस्ति भविष्यति ॥ ३८ ॥

जिससे अनन्त भोग प्रकाश्य हैं, फिर भी जो प्रकाश्योंकी दोषवृत्तियोंसे स्पृष्ट नहीं है और जिसमें अभिनिवेश नहीं है (जो उदासीन है) ऐसी परमात्माकी साक्षिता सर्वोत्कृष्टरूपसे विद्यमान है ॥ ३४ ॥

हे आत्मन्, फूलोंमें सुगन्धकी तरह, धौंकनीमें वायुकी तरह तथा तिलोंमें तेलकी तरह इस शरीरमें सब जगह आप ही साररूप हैं ॥ ३५ ॥

सर्वकर्ता भी तुम्हीं हो, ऐसा कहते हैं—'**हंसि**' इत्यादिसे ।

निरहंकाररूप होते हुए आप दुष्टोंका नाश करते हैं, सज्जनोंकी रक्षा करते हैं, भक्तोंको वरदान देते हैं, गर्जते हैं और व्यवहार करते हैं, यह आपकी मायावत्ता बड़ी विचित्र है ॥ ३६ ॥

सृष्टिके समयमें चिदात्मरूप आपसे बाहर-भीतर पदार्थोंके प्रकाश द्वारा प्रदीप्त हुआ मैं जीवरूपसे प्रवेश कर नामरूपात्मक सम्पूर्ण जगत्‌को रचता हुआ तुम्हारे ही स्वरूपसे उसे वशीभूत करके पालता हूँ । प्रलयकालमें उपरत-व्यापार होकर मैं फिर जगत्‌का उपसंहार करता हुआ तुम्हारे स्वरूपसे ही उसका अभिभव करता हूँ ॥ ३७ ॥

जैसे बटके बीजके अन्दर बटता पहले थी, है और होगी वैसे ही परमाणुरूप आपके अन्दर यह संसारमण्डल था, है और होगा ॥ ३८ ॥

हयद्विपरथाकारैर्यद्वत् खे दृश्यतेऽम्बुदः ।
तद्वदालोक्यसे देव पदार्थशतविभ्रमैः ॥ ३९ ॥
भावानां भूरिभङ्गानामभावाय भवाय च ।
भव भावविमुक्तात्मा भावाभावबहिष्कृतः ॥ ४० ॥
जहि मानं महाकोपं कालुष्यं क्रूरतां तथा ।
न महान्तो निमज्जन्ति प्राकृते गुणसंकटे ॥ ४१ ॥
प्राक्तनीं दीर्घदौरात्म्यदशां स्मृत्वा पुनः पुनः ।
कोऽहं किं तद्बभूवेति हसन् मुक्ताच्छटासितम् ॥ ४२ ॥
ते प्रयाताः समारम्भा गतास्ते दग्धवासराः ।
येषु चिन्तानलज्वालाजालाकीर्णो भवानभूत् ॥ ४३ ॥
अद्य त्वं देहनगरे राजा स्फारमनोरथः ।
न दुःखैर्गृह्यसे नाऽपि सुखैर्व्योमकरैरिव ॥ ४४ ॥

जैसे आकाशमें बादल घोड़े, हाथी और रथोंके आकारसे दिखाई देता है वैसे ही हे देव, आप भी सैकड़ों पदार्थोंके रूपसे दिखाई देते हैं ॥ ३९ ॥

अब स्वयं मुक्त होकर अपनेसे अभिन्न बद्धात्माके मोक्षोपायका उपदेश देते हैं—**'भावानाम्'** इत्यादिसे ।

बहुत प्रकारके विकारपूर्ण स्वभाववाले पदार्थोंके बाधके लिए और निरतिशयानन्दस्वरूपके आविर्भावके लिए असंगात्मदर्शन द्वारा भाव और अभावोंसे रहित होकर असंगात्मभावसे ही सदा विमुक्तात्मा होओ, फिर बन्धनको प्राप्त मत होओ ॥ ४० ॥

उसके उपायभूत पूर्व पीठिकाका उपदेश देते हैं—**'जहि'** इत्यादिसे ।

मान, महाकोप, कलुषता और कुटिलताका त्याग कीजिये । महापुरुष प्राकृतिक गुणसंकटमें नहीं गिरते ॥ ४१ ॥

मैं कौन हूँ, क्या हो गया, ऐसा विचार कर मोतियोंके कणोंके समान सफेद हँसी हँसते हुए अपनी पूर्व जन्मोंकी दीर्घ दौरात्म्यदशाका बारबार स्मरण करके उसका त्याग कर दीजिये ॥ ४२ ॥

वे कार्य बीत चुके, वे बुरे दिन चले गये, जिनमें आप चिन्तारूपी अग्निकी अनेक ज्वालाओंसे आक्रान्त हुए थे ॥ ४३ ॥

आज आप देहरूपी नगरमें विफल मनोरथवाले राजाके समान स्थित हैं ।

अद्येन्द्रियदुरश्वांश्च जित्वा जितमनोगजः ।
भोगारिमभितो भङ्क्त्वा साम्राज्यमधितिष्ठसि ॥ ४५ ॥
अपाराम्बरपान्थस्त्वमजस्रास्तमयोदयः ।
अवभासकरो नित्यं बहिरन्तश्च भास्करः ॥ ४६ ॥
सर्वदैवाऽसि संसुप्तः शक्त्या संबोध्यसे विभो ।
भोगालोकनलीलार्थं कामिन्या कामुको यथा ॥ ४७ ॥
दृक्क्षुद्राभिरुपानीतं दूराद् रूपमधु त्वया ।
पीयते स्वीकृतं शक्त्या नेत्रवातायनस्थया ॥ ४८ ॥
ब्रह्माण्डकोटराध्वान्ताः प्राणापानपरैस्त्वया ।
गतागतैर्ब्रह्मपुरे संप्रेक्ष्यन्ते प्रतिक्षणम् ॥ ४९ ॥

जैसे आकाश मुष्टियोंसे नहीं पकड़ा जाता वैसे ही आप दुःखोंसे गृहीत नहीं होते ॥ ४४ ॥

आप जिन्होंने मनरूपी हाथीपर विजय प्राप्त कर ली है, आज इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंको जीतकर भोगरूपी शत्रुको चारों ओरसे चूर्ण-विचूर्ण कर साम्राज्य सिंहासनपर स्थित है ॥ ४५ ॥

अपार आकाशके पथिक आप जिनसे निरन्तर जगत्‌का उदय और अस्त होता है, नित्य बाहर और भीतर प्रकाश करनेवाले सूर्य हैं । [सूर्य भी अपार आकाशके पथिक हैं और नित्य उनका उदय और अस्त होता है तथा वह प्रकाशक भी हैं] ॥ ४६ ॥

यदि ऐसा है, तो सर्वत्र मैं आपको क्यों नहीं देखता हूँ, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'**सर्वदैव**' इत्यादिसे ।

हे विभो, आप सर्वदा सुप्त हो, जैसे कामिनी द्वारा भोगालोकनलीलाके लिए कामुकप्र बोधित होता है वैसे ही भोक्ताकी अदृष्टशक्तिसे भोगालोकन क्रीड़ाके लिए केवल उतने प्रबोधको आप प्राप्त होते ही पूर्णात्मरूपसे प्रबोधको प्राप्त नहीं होते ॥४७॥

इन्द्रियवृत्तिरूपी मधुमक्खियों द्वारा दूरसे आनीत तथा नेत्ररूपी झरोंखेपर बैठी हुई चित्-शक्तिसे स्वीकृत रूपादिरूप शहद आपके द्वारा पिया जाता है ॥ ४८ ॥

योगियोंके उत्क्रमणके समय सुषुम्नादि मार्गका प्रकाश भी तुम्हारे अधीन ही है, ऐसा कहते हैं—'**ब्रह्माण्ड०**' इत्यादिसे ।

देहे पुष्पे त्वमामोदो देहेन्दौ त्वमृतामृतम् ।
रसस्त्वं देहविटपे शैत्यं देहहिमे भवान् ॥ ५० ॥
त्वय्यस्ति विस्मयस्नेहः शरीरक्षीरसर्पिषि ।
त्वमन्तरस्य देहस्य दारुण्यग्निरिव स्थितः ॥ ५१ ॥
त्वमेवाऽनुत्तमास्वादः प्राकाश्यं तेजसामपि ।
अवगन्ता त्वमर्थानां त्वं भासामवभासकः ॥ ५२ ॥
स्पन्दस्त्वं सर्ववायूनां त्वं मनोहस्तिनो मदः ।
प्रज्ञानलशिखायास्त्वं प्राकाश्यं तैक्ष्ण्यमेव च ॥ ५३ ॥

प्राण और अपानके निरोधमें तत्पर योगियों द्वारा ब्रह्म-प्राप्तिका स्थान होनेके कारण ब्रह्मपुररूप देहमें प्रतिक्षण अभ्यस्त हृदयमें एकत्र प्राणोंको निकाल कर परकायप्रवेश, अन्य स्थानमें संचार आदिके अनुकूल नाना नाडीमार्गोंमें गमना-गमन द्वारा (संचार द्वारा) अन्य ब्रह्माण्डमें जानेके लिए अथवा अर्चिरादि मार्गसे सूर्यमण्डलमें जानेके लिए ब्रह्मरन्ध्रके सम्बन्धी सुषुम्ना आदि मार्गके पर्व स्वयं-ज्योति आपके द्वारा देखे जाते हैं । 'हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतनेनैष आत्मा निष्क्रामति' इस श्रुतिके अनुसार यद्यपि सब लोगोंके मरणमें नाडीके द्वारका प्रकाश आत्मज्योतिके अधीन ही है तथापि अयोग्योंमें पीड़ापरवशता आदि द्वारा उसकी अवधानशक्ति न रहनेके कारण और योगियोंके मरणसमयमें या अभ्यास-कालमें सावधान रहनेके कारण वे ही कहे गये हैं ॥ ४९ ॥

आप देहरूपी फूलमें आमोद हैं, देहरूपी चन्द्रमें परमार्थ सत्यभूत अमृत हैं, देहरूपी शाखामें रागादिरूपी पल्लवोंकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत रस हैं और देहरूपी हिममें शीतलता हैं ॥ ५० ॥

सब प्राणियोंके शरीरमें गर्वका निमित्तभूत जो स्नेह है, वह शरीररूप दूधके घृतके सदृश सारभूत आपमें ही है । जैसे काष्ठमें अग्नि स्थित रहती है वैसे ही देहके अन्दर आप स्थित हैं ॥ ५१ ॥

आप ही सर्वोत्तम स्वाद (अति मधुर अमृतस्वरूप) हैं । सूर्यादिज्योतियोंके भी प्रकाशनिमित्त आप ही हैं । पदार्थोंके ज्ञाता तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंके अव-भासक आप ही हैं ॥ ५२ ॥

आप सब वायुओंके स्पन्दरूप हैं, मनरूपी हाथीके मदके तुल्य

त्वद्वशादियमात्मीया वाचा संप्रविलीयते ।
दीपवत् पुनरन्यत्र समुदेति कुतोऽपि सा ॥ ५४ ॥

त्वयि संसारवर्त्तिन्यः पदार्थवलयस्तथा ।
कटकाङ्गदकेयूरयुक्तयः कनके यथा ॥ ५५ ॥

भवानयमयं चाऽहं त्वं शब्दैरेवमादिभिः ।
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं लीलार्थं स्तौषि वक्षि च ॥ ५६ ॥

मन्दानिलविनुन्नोऽब्दो गजाश्वनरदृष्टिभिः ।
यथा संलक्ष्यते व्योम्नि तथा त्वं भूतदृष्टिभिः ॥ ५७ ॥

यथा हयगजाकारैर्ज्वाला लसति वह्निषु ।
तथैवाऽव्यतिरिक्तैस्त्वं दृश्यसे भुवि सृष्टिषु ॥ ५८ ॥

भ्रान्तिके निमित्त हैं, ज्ञानरूपी अग्निशिखाके प्रकाशनिमित्त और उष्णता-निमित्त हैं ॥ ५३ ॥

यह आत्मीया वाणी भी आपके उपसंहारसे ही मरण, मूर्च्छा और स्वप्नमें दीपकके समान लीन हो जाती है फिर देहान्तरमें कहींसे उदित हो जाती है ॥ ५४ ॥

जैसे सुवर्णमें कड़ा, बाजूबन्द आदि आभूषण आविर्भूत होते हैं वैसे ही संसारमें स्थित पदार्थराशियाँ आपमें ही उदित होती हैं ॥ ५५ ॥

आप ही क्रीड़ाके लिए स्वयं अपनेसे अपनी आप, यह, तुम, मैं आदि शब्दोंसे स्तुति करते हैं और कहते हैं यानी आप ही अपनेमें त्वम्, अहं आदि शब्दोंसे व्यवहार करते हैं आपसे अन्य कोई नहीं है ॥ ५६ ॥

जैसे मन्द वायुसे हिलाया जा रहा मेघ हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि आकारोंसे दिखाई देता है वैसे ही आप विविध जीवोंके आकारोंसे दिखाई देते हैं ॥ ५७ ॥

जैसे अग्नियोंमें ज्वाला हाथी और घोड़ेके आकारसे शोभित होती है वैसे ही पृथिवीमें विविध सृष्टियोंमें आप अपनेसे अभिन्न जीवोंके आकारसे दिखाई देते हैं ॥ ५८ ॥

त्वं ब्रह्माण्डकमुक्तानामच्छिन्नस्तन्तुराततः ।
क्षेत्रं त्वं भूतसस्यानां चिद्रसायनसेवितम् ॥ ५९ ॥
असत्तदनभिव्यक्तं पदार्थानां प्रकाश्यते ।
त्वया तत्त्वं यथा पक्त्या मांसानां स्वादवेदनम् ॥ ६० ॥
विद्यमानाऽपि वस्तुश्रीर्न स्थिता त्वयि न स्थिते ।
वनितारूपलावण्यसत्तेव गतचक्षुषः ॥ ६१ ॥
सदपीह न सत्तायै वस्तुना वर्जितं त्वया ।
तृप्तये न स्वलावण्यं मुकुरात् प्रतिबिम्बितम् ॥ ६२ ॥
लुठति त्वां विना देहः काष्ठलोष्टसमः क्षितौ ।
सन्नप्यसन् नगोच्छ्रायः श्यामास्विव रविं विना ॥ ६३ ॥
सुखदुःखक्रमः प्राप्य भवन्तं परिनश्यति ।
प्राकाश्यमासाद्य यथा तमस्तेजोऽथवा हिमम् ॥ ६४ ॥

आप ब्रह्माण्डरूपी मोतियोंके अविच्छिन्न दीर्घ तन्तु और भूतरूपी धान्योंके चैतन्यरूपी रसायनसे सींचे हुए क्षेत्र हैं ॥ ५९ ॥

अनभिव्यक्त अतएव असत्प्राय अविद्यारूप बीजके अन्दर स्थित स्रष्टव्य पदार्थोंका वह प्रसिद्धस्वरूप आपसे सृष्टिद्वारा ऐसे प्रकाशित किया जाता है जैसे कि पाकसे मांसोंकी आस्वादनके योग्य स्वादुता प्रकाशित होती है ॥ ६० ॥

जैसे कि अन्धेके लिए वनिताकी विद्यमान भी रूपलावण्यसत्ता विद्यमान नहीं रहती वैसे ही आपके स्थित न होनेपर विद्यमान भी वस्तुशोभा स्थित नहीं रहती ॥६१॥

जैसे दर्पण आदिमें प्रतिबिम्बित अपने मुखका सौन्दर्य कान्ताओंके चुम्बन आदि अर्थक्रियाप्रयुक्त तृप्तिके लिए पर्याप्त नहीं होता, वैसे ही वस्तुभूत आपसे रहित विद्यमान भी पदार्थ अर्थक्रियाके लिए समर्थ नहीं होता ॥ ६२ ॥

जैसे अन्धेरी रातमें सूर्यके बिना वृक्ष, पर्वत आदिकी ऊँचाई विद्यमान होती हुई भी भान न होनेके कारण असत्प्राय रहती है वैसे ही आपके बिना काष्ठ-लोष्ठके तुल्य यह शरीर पृथिवीपर पड़ा रहता है ॥ ६३ ॥

जैसे सूर्यके प्रकाशको पाकर अन्धकार नष्ट हो जाता है अथवा जैसे सूर्यके तेजको पाकर हिम नष्ट हो जाता है वैसे ही आपको प्राप्त कर यह सुख-दुःख-क्रम नष्ट हो जाता है ॥ ६४ ॥

त्वदालोकनयैवैते स्थितिं यान्ति सुखादयः ।
सूर्यालोकनया प्रातर्वर्णाः शुक्लादयो यथा ॥ ६५ ॥
लब्धात्मानो विनश्यन्ति संबन्धक्षण एव ते ।
ते तमांसीव दीपस्य दृष्टा एव व्रजन्त्यलम् ॥ ६६ ॥
तमस्ता तमसो दीपासत्तायां स्फुटतां गता ।
दीपसंबन्धसमये सा चोत्पद्य विनश्यति ॥ ६७ ॥
तदेवं सुखदुःखश्रीर्दृष्ट्वैव त्वामनामयम् ।
जायते जातमात्रैवं सर्वनाशेन नश्यति ॥ ६८ ॥
भङ्गुरत्वादिह स्थातुं कालं नाऽणुमपि क्षमा ।
निमेषलक्षभागाख्या तन्वी कालकला यथा ॥ ६९ ॥

जैसे प्रातःकालमें सूर्यके आलोकनसे शुक्ल आदि वर्ण स्थितिको प्राप्त होते हैं वैसे ही आपके आलोकनसे ही ये सुख आदि स्थितिको प्राप्त होते हैं ॥ ६५ ॥

चूँकि आपके आलोकनसे ही उत्पन्न हुए वे सुख आदि चरम साक्षात्कारसे दीप्त हुए आपके सम्बन्धसमयमें ही नष्ट हो जाते हैं, परन्तु आपके द्वारा देखे गये ही वे दूर होते हैं अन्य उपायसे नहीं ॥ ६६ ॥

दीपकके अभावमें स्फुटताको प्राप्त हुई अन्धकारकी अन्धकारता दीपकके प्रकाशके संबन्धके समय अपने धर्मीसे वियुक्त होकर नष्ट हो जाती है। उसका धर्मी तो सन्मात्रस्वभाव है, नष्ट नहीं होता ॥ ६७ ॥

दृष्टान्तमें कथितकी दार्ष्टान्तिकमें योजना करते हैं—'**तदेवम्**' इत्यादिसे ।

हे देव, इस प्रकार सुख-दुःख निर्दोष आपको देखकर ही उत्पन्न होते हैं। पूर्वोक्त रीतिसे उत्पन्न होते ही बीजभावके साथ नष्ट हो जाते हैं ॥ ६८ ॥

जैसे निमेषकी लाखवें हिस्सेके रूपसे प्रसिद्ध अतिसूक्ष्म काल-कला स्वतः ही नष्ट हो जाती है वैसे ही सुख-दुःख भी विषयोंके हटनेके कारण स्वतः भङ्गुर होनेसे इस नित्य निरतिशयआनन्द प्रकाशरूप आत्मामें क्षणभर भी रह नहीं सकते ॥ ६९ ॥

गान्धर्वी नगरी तन्वी सुखदुःखादिभावना ।
स्फुरति त्वत्प्रसादेन त्वयि दृष्टे विलीयते ॥ ७० ॥
त्वदालोकेक्षणोद्भूता त्वदालोकेक्षणक्षया ।
मृतेव जाता जातेव मृता केनोपलक्ष्यते ॥ ७१ ॥
क्षणमप्यस्थिरं वस्तु कथं कार्यकरं भवेत् ।
तरङ्गैरुत्पलाकारैर्माला कथमवेक्ष्यते ॥ ७२ ॥
यदा वा जातनिर्नष्टं क्रियां वस्तु करिष्यते ।
तदा रमेत लोकोऽयं मालां कृत्वा तडिद्गणैः ॥ ७३ ॥
इमां सुखादिकां लक्ष्मीं विवेकिजनचेतसि ।
स्थितः सन्नेव गृह्णासि न जहासि समस्थितिम् ॥ ७४ ॥

इसी प्रकार अतिसूक्ष्म काल होनेके कारण न दिखाई देनेवाली और गन्धर्वनगरीके समान मिथ्याभूत भी सुख-दुःख आदिकी भावना अज्ञात आपके प्रसादसे सत्य-सी प्रतीत होती है, किन्तु आपका साक्षात्कार होनेपर विलीन हो जाती है ॥ ७० ॥

अज्ञात आपके प्रकाशरूप दुष्ट चक्षुसे उत्पन्न हुई और सुज्ञात आपके प्रकाशरूप चक्षुसे क्षीण हुई यह सुख-दुःखादिकी भावना मरकर स्वप्नमें फिर उत्पन्न हुई-सी स्वप्नमें उत्पन्न होकर जागरणमें फिर मरी हुई-सी किसके द्वारा देखी जा सकती है ? ॥ ७१ ॥

मिथ्याभूत वस्तुओंकी क्षणस्थायिता भी नहीं घट सकती, ऐसी अवस्थामें उन्हें अर्थक्रियाकारी कहना महा आश्चर्य है, ऐसा कहते हैं—**'क्षणमपि'** इत्यादिसे ।

क्षणभर भी स्थिर न रहनेवाली वस्तु कैसे अर्थक्रियाकारी हो सकती है ? कमलबुद्धिसे कल्पित आकारवाले तरंगोंसे माला कैसे देखी जाती है ? ॥ ७२ ॥

यदि कोई शङ्का करे, बौद्ध दर्शनके समान यहाँपर भी क्षणिक पदार्थोंसे अर्थक्रिया क्यों न होगी, तो इसपर कहते हैं—**'यदा वा'** इत्यादिसे ।

जब उत्पन्न होते ही नष्ट हुई वस्तु अर्थक्रिया करेगी, तो यह लोक बिजलियोंसे माला बनाकर आनन्द करेगा । भाव यह है कि बौद्ध लोग भी क्षणिक पदार्थोंसे प्रामाणिक अर्थक्रिया सिद्ध नहीं कर सकते ॥ ७३ ॥

उक्त रीतिसे अत्यन्त दुर्घट भी सुख-दुःखादि संपत्तिको—सुख-दुःख आदिकी

अविवेकिषु योऽसि त्वं सहजात्मन् यदृच्छया ।
तद्रूपकथनेनाऽलं ममाऽनल्पपदास्पद ॥ ७५ ॥
निरीहेण निरंशेन निरहङ्कृतिना त्वया ।
सता वाऽप्यसता वाऽपि कर्तृत्वमुररीकृतम् ॥ ७६ ॥
जय प्रोड्डामराकार जय शान्तिपरायण ।
जय सर्वागमातीत जय सर्वागमास्पद ॥ ७७ ॥
जय जात जयाऽजात जय क्षत जयाऽक्षत ।
जय भाव जयाऽभाव जय जेय जयाऽजय ॥ ७८ ॥

दुर्घटता जाननेवाले विवेकी जनोंके हृदयमें स्थित हुए आप—ग्रहण करते हैं, किन्तु समस्थितिका त्याग नहीं करते, यही अविवेकियोंसे विवेकियोंमें अन्तर है ॥ ७४ ॥

तब अविवेकियोंमें मैं कैसा हूँ, ऐसा प्रश्न होनेपर तो कोई उत्तर नहीं है, क्योंकि अविवेकियोंकी कल्पनाएँ अनन्त और अनियत हैं, ऐसा कहते हैं—**'अविवेकिषु'** इत्यादिसे ।

हे सहजात्मन्, अविवेकियोंमें आकस्मिक नाना वासनाओंके उदयसे आप जो हो, हे अनन्तरूपों और नामोंके आस्पद, उनके स्वरूपकथनमें मेरी वाणी समर्थ नहीं है ॥ ७५ ॥

आपकी अनन्तरूप और नामोंकी आस्पदतामें कर्तृत्वाध्यास ही मूल है, ऐसा कहते हैं—**'निरीहेण'** इत्यादिसे ।

चेष्टारहित, निरवयव, निरहंकार, मूर्तस्थूलदेहोपाधिवाले अथवा अमूर्तसूक्ष्म-देहोपाधिवाले आपने कर्तृताका स्वीकार किया है ॥ ७६ ॥

अब विवेकी और अविवेकियोंमें प्रसिद्ध दो रूपोंसे परमात्माकी स्तुति करते हैं—**'जय'** इत्यादिसे ।

हे ब्रह्माण्ड आदि अति विस्तृत आकारवाले, आपकी जय हो, हे शान्तिपरायण, आपकी जय हो, हे भगवन्, आप सब प्रमाणोंसे परे हैं आपकी जय हो; हे भगवन्, आप सब प्रमाणोंसे वेद्य हैं आपकी जय हो, हे जात (उत्पन्न हुए), आपकी जय हो; हे अजात (अजन्मा), आपकी जय हो, हे क्षत, हे अक्षत,

उल्लसाम्युपशाम्यामि तिष्ठाम्यधिगतोऽस्मि च ।
जयी जयाय जीवामि नमो मह्यं नमोऽस्तु ते ॥ ७९ ॥

त्वयि स्थिते मयि विगतामयात्मनि
स्वसंस्थितौ व्यपगतरागरञ्जने ।
क्व बन्धनं क्व च विपदः क्व सम्पदो
भवाभवौ क्व शममुपैमि शाश्वतम् ॥ ८० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशम-प्रकरणे आत्मस्तवनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

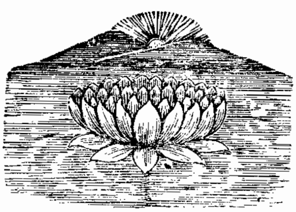
आपकी जय हो । हे भाव, आपकी जय हो, हे अभाव, आपकी जय हो, हे जय, आपकी जय हो, हे अजेय, आपकी जय हो ॥ ७७, ७८ ॥

मैं उल्लासको प्राप्त हो रहा हूँ, निर्वाणको प्राप्त हो रहा हूँ, स्थित हूँ, ज्ञाततत्त्व हूँ, आविद्यिकरूपपर जय पानेके कारण मैं जयी हूँ । प्रारब्धशेषके भी जयके लिए जी रहा हूँ । प्रत्यगात्मरूप मेरे लिए नमस्कार है, ब्रह्मरूप तुम्हारे लिए नमस्कार है ॥ ७९ ॥

त्वत्स्वरूपसे स्थित होनेपर मेरी सर्वानर्थनिवृत्ति सिद्ध हो गई है, यों उपसंहार करते हैं—'त्वयि' इत्यादिसे ।

मेरे दोषरहित आत्माराम रागरञ्जनासे शून्य त्वत्स्वभाव होनेपर मेरा बन्धन कहाँ, विपत्तियाँ कहाँ, सम्पत्तियाँ कहाँ और जन्म-मरण कहाँ ? अतः मैं शाश्वत सुखविश्रान्तिको प्राप्त होता हूँ ॥ ८० ॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त



सप्तत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति संचिन्तयन्नेव प्रह्लादः परवीरहा ।
निर्विकल्पपरानन्दसमाधिं समुपाययौ ॥ १ ॥
निर्विकल्पसमाधिस्थश्चित्रार्पित इवाऽचलः ।
शैलादिव समुत्कीर्णो बभौ स्वपदमास्थितः ॥ २ ॥
तथाऽनुतिष्ठतस्तस्य कालो बहुतरो ययौ ।
स्वगृहे भुवनस्थस्य मेरोरिव सुरद्विषः ॥ ३ ॥
बोधितोऽप्यसुराधीशैर्नाऽबुध्यत महामतिः ।
अकाले बहुसेकोऽपि बीजकोशादिवाऽङ्कुरः ॥ ४ ॥
एवं वर्षसहस्राणि पीनात्माऽतिष्ठदेकदृक् ।
शान्त एवाऽसुरपुरे मार्तण्ड इव चोपले ॥ ५ ॥

सैंतीसवाँ सर्ग

[प्रह्लादके पुनः समाधिस्थ होनेपर नायकरहित, अतएव दस्युओं द्वारा क्षत-विक्षत दानवनगरकी दुर्दशाका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, शत्रुनाशक प्रह्लाद पूर्वोक्त आत्माका चिन्तन करते करते निर्विकल्प परमानन्दपूर्ण समाधिको प्राप्त हो गया ॥ १ ॥

निर्विकल्प समाधिमें स्थित स्वरूपसाम्राज्यको प्राप्त प्रह्लाद चित्रलिखितकी तरह निश्चल अतएव पर्वतसे गढ़कर बनाया हुआ-सा शोभित हुआ ॥ २ ॥

अपने घरमें समाधिमें स्थित हो रहे प्रह्लादका—भुवनके बीचमें स्थित मेरुकी तरह—बहुत समय बीत गया। असुरश्रेष्ठों द्वारा जगानेपर भी वह महामति जैसे बहुत सेक करनेपर भी अकालमें बीजसे अङ्कुर नहीं निकलता वैसे ही समाधिसे विचलित नहीं हुआ ॥ ३, ४ ॥

इस प्रकार पत्थरपर गढ़े हुए सूर्यके समान निश्चल ब्रह्मस्वरूप वह शान्त असुरपुरमें ही हजारवर्षतक बाह्यदृष्टिशून्य होकर स्थित रहा ॥ ५ ॥

परानन्ददशैकान्तपरिणामितया तया ।
निरानन्दं पराभासमिवाऽऽभासपदं गतः ॥ ६ ॥
एतावताऽथ कालेन तद्रसातलमण्डलम् ।
बभूवाऽराजकं तीक्ष्णमात्स्यन्यायकदर्थितम् ॥ ७ ॥
हिरण्यकशिपौ क्षीणे समाधौ तत्सुते स्थिते ।
न बभूवाऽपरः कश्चिद्राजा दनुसुतालये ॥ ८ ॥
असुरेशार्थिनां तेषां दानवानां समाधितः ।
परेणाऽपि प्रयत्नेन प्रह्लादो न व्यबुध्यत ॥ ९ ॥
न प्रापुर्विकसद्रूपं पतिं तममरारयः ।
लसत्पत्रलताजालं निशि पद्ममिवाऽलयः ॥ १० ॥
संविद्वादो न तस्याऽन्तरबोध्यत विचेतसः ।
भुवश्चेष्टाक्रम इव पौरुषो गतभास्वतः ॥ ११ ॥

उस भूमाकी दशामें अत्यन्त परिणतिसे प्रह्लाद जिसमें आनन्दका लेश नहीं और परमात्माका आभास नहीं ऐसी मरणावस्थाको प्राप्त हुआ-सा लोगोंको प्रतीत हुआ ॥ ६ ॥

तदनन्तर इस बीचमें वह पातालमण्डल अराजक और प्रबल मात्स्यन्यायसे (बलवान् सजातीयों और विजातीयों द्वारा दुर्बलोंके तिरस्कार, वध आदिसे) पीड़ित हुआ ॥ ७ ॥

हिरण्यकशिपुके मर जाने और उसके पुत्र प्रह्लादके समाधिस्थ होनेपर पातालमें कोई दूसरा राजा न रहा ॥ ८ ॥

असुरोंके अधिपतिकी चाहवाले उन दानवोंके बड़े प्रयाससे भी प्रह्लाद समाधिसे प्रबुद्ध नहीं हुआ ॥ ९ ॥

जैसे रात्रिमें भ्रमर जिसकी पंखुरियां विकसित हो रही हों ऐसे कमलको नहीं पा सकते वैसे ही असुरोंने उस स्वामीको समाधिसे बोधयुक्त नहीं पाया ॥ १० ॥

जैसे जिससे सूर्य अस्त हो गये हों, ऐसी भूमिके अन्दर सोये हुए पुरुषोंकी स्नान, दान, गमन, धावन आदि चेष्टाएँ नहीं होती वैसे ही चित्तरहित उसके अन्दर प्रबोधका लेश भी ज्ञात नहीं हुआ ॥ ११ ॥

अथोद्विग्नेषु दैत्येषु गतेष्वभिमतां दिशम् ।
विचरत्सु यथाकाममराजनि पुरे पुरा ॥ १२ ॥
चिराय पातालमभूदभूपालतया तया ।
मात्स्यन्यायविपर्यस्तमस्तं गतगुणक्रमम् ॥ १३ ॥
बलिमुक्ताबलपुरं मर्यादाक्रमवर्जितम् ।
सर्वार्तशेषवनितं परस्परहृताम्बरम् ॥ १४ ॥
प्रलापाक्रन्दपुरुषं विसंस्थानपुरान्तरम् ।
लुठद्युद्यानगरं व्यर्थानर्थकदर्थितम् ॥ १५ ॥
चिन्तापरासुरगणं निरन्नफलबान्धवम् ।
अकाण्डोत्पातविवशं ध्वस्ताशामुखमण्डलम् ॥ १६ ॥
सुरार्भकपराभूतं भूतैराक्रान्तमन्त्यजैः ।
भूतरिक्तमलक्ष्मीकमुच्छिन्नप्रायकोटरम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर पहले भयभीत हुए निर्बल दैत्योंके अपने अभीष्ट देशोंको चले जानेपर और बलवान् दैत्योंके दस्युओंकी भाँति अराजक नगरमें यथेच्छ लूट-पाट व्यवहार करनेपर उक्त अराजकतासे सारा पाताल चिरकालतक बलवानों द्वारा दुर्बलोंके उत्पीडनरूप मात्स्यन्यायसे अस्त-व्यस्त और मर्यादारहित हो गया ॥ १२, १३ ॥

मात्स्यन्यायका ही उपपादन करते हैं—**'बलि०'** इत्यादिसे ।

उसमें बलवानों द्वारा दुर्बलोंके नगर छीने गये थे, मर्यादा या क्रमका कहीं नाम-निशान न था, वनिताएँ सब लोगोंसे पीड़ित थीं, नगरका मध्य भाग खण्डहरोंमें परिणत हो गया था, सब पुरुष प्रलाप और रोदनसे आक्रान्त थे, परस्पर एक दूसरेके वस्त्र हरते थे, बगीचे और नगरके वृक्ष ढह गये थे, व्यर्थ अनर्थोंसे सारा पाताल पीड़ित था, सबके सब असुर चिन्ताग्रस्त थे, अन्न, फल और बन्धु-बान्धवोंका अभाव हो गया था, अनवसरके उत्पातसे सारा पाताल विवश था, दिशाओंके मुख धूलिसे व्याप्त थे, देवताओंके बच्चे भी उसका तिरस्कार करते थे, चण्डाल, कुत्ते, शृगाल, राक्षस, पिशाच आदि तामस प्राणियोंसे वह आक्रान्त हो गया था, वहांके आदि निवासी भद्र प्राणियोंसे वह शून्य हो गया था, उसकी शोभा नष्ट हो चुकी थी और सब अटारियां भग्नप्राय हो चुकी थीं ॥ १४–१७ ॥

अनियतवनितार्थमन्त्रयुद्धं
हृतधनदारविरावितं समन्तात् ।
कलियुगसमयोद्भटोत्कटाभं
तदसुरमण्डलमाकुलं बभूव ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशम-प्रकरणे असुरमण्डलव्याकुलीभवनं नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथाऽखिलजगज्जालक्रमपालनदेवनः ।
क्षीरोदनगरे शेषशय्यासनगतो हरिः ॥ १ ॥
प्रावृण्निद्राव्युपरमे देवार्थमरिसूदनः ।
धिया विलोकयामास कदाचिज्जागतीं गतिम् ॥ २ ॥

वह असुरमण्डल चारों ओरसे भयोद्विग्न हो गया था, उसमें स्त्रियां, धन, मन्त्र, तन्निमित्तक युद्ध अनियत (नियमरहित) हो गये थे। जिनकी धन-सम्पत्ति और स्त्रियां हरी गईं थीं, उन लोगोंके विलापसे वह कोलाहलयुक्त था, अतएव कलियुगके समयमें दूसरोंके धन हरनेमें शूरवीर क्रूर दस्युओंके तुल्य था ॥ १८ ॥

सैंतीसवां सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

[जगत्की व्यवस्थाकी सिद्धिके हेतु दैत्यकुलके रक्षार्थ प्रह्लादके प्रबोधनके लिए हरिकी चिन्ताका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, तदनन्तर क्षीरसागररूपी नगरमें शेषशय्यारूप सिंहासनपर बैठे हुए अरिमर्दन भगवान् हरिने, समस्त जगतोंके नियमोंका पालन ही जिनकी क्रीड़ा है, वर्षाऋतुकी निद्रा टूटनेपर देवताओंके प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए किसी समय अपनी बुद्धिसे तीनों लोकोंकी तात्कालिक स्थितिका निरीक्षण किया ॥ १, २ ॥

त्रिविष्टपं स्वमनसा पार्थिवं चाऽवलोक्य सः ।
आचारमाजगमाऽऽशु पातालमरिपालितम् ॥ ३ ॥
तत्र स्थिरसमाधाने स्थिते प्रह्लाददानवे ।
दृष्ट्वा संपदमिन्द्रस्य पुरे प्रौढिमुपागताम् ॥ ४ ॥
व्यालतल्पतलस्थस्य क्षीरोदार्णवशायिनः ।
शङ्खचक्रगदापाणेर्देहस्याऽन्तरचारिणः ॥ ५ ॥
पद्मासनस्थस्य मनः शरीरेणाऽतिभास्वता ।
इदं संचिन्तयामास त्रैलोक्याब्जमहालिना ॥ ६ ॥
प्रह्लादे पदविश्रान्ते पाताले गतनायके ।
कष्टं सृष्टिरियं प्रायो निर्दैत्यत्वमुपागता ॥ ७ ॥
दैत्याभावे सुरश्रेणी निर्जिगीषुपदं गता ।
शममेष्यत्यदृष्टाब्दपटलेषु सरिद् यथा ॥ ८ ॥
मोक्षाख्यं निर्गतद्वन्द्वं ततो यास्यति तत्पदम् ।
क्षीणाभिमानविरसा लतेव प्रविशुष्कताम् ॥ ९ ॥

वे स्वर्गका अवलोकनकर, भूलोकके निवासियोंके शुभाशुभ आचरणका अवलोकनकर अपने मनसे दैत्यों द्वारा पालित पातालमें शीघ्र गये यानी उन्होंने अपने मनसे पातालकी स्थितिका निरीक्षण किया ॥ ३ ॥

पातालमें दानवराज प्रह्लादके निश्चल समाधिमें स्थित होनेपर इन्द्रके नगरभूत स्वर्गमें संपत्तिको अतिवृद्धिको प्राप्त हुई देखकर पहले क्षीरसागरमें सोये हुए तदनन्तर जाग कर शेषशय्यापर स्थित वहाँपर भी पद्मासन लगाकर बैठे हुए हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये हुए भगवान् विष्णुके मनने त्रिलोकरूपी कमलके महा भ्रमररूपी अपने देदीप्यमान शरीरसे यह विचार किया ॥ ४–६ ॥

प्रह्लादके समाधिसाम्राज्यमें विश्रान्त होने और पातालके नायक रहित होनेपर यह सृष्टि प्रायः दैत्यशून्य हो गई है, यह कम कष्टकी बात नहीं है ॥ ७ ॥

दैत्योंके न रहनेपर निर्जिगीषु पदको प्राप्त हुए देववृन्द जैसे अनावृष्टिके समयमें नदी सूख जाती है वैसे ही रागद्वेष रहित हो जायँगे ॥ ८ ॥

जैसे जलसेक रहित लता शुष्कताको प्राप्त होती है वैसे ही अभिमान

देवौघे शान्तिमायाते भुवि यज्ञतपःक्रियाः ।
अदेवत्वफलाः सर्वाः शममेष्यन्त्यसंशयम् ॥ १० ॥
क्रियास्वथोपशान्तासु भूर्लोकोऽस्तमुपैष्यति ।
असंसारप्रसंगोऽथ तस्य नाशे भविष्यति ॥ ११ ॥
आकल्पान्तं त्रिभुवनं यदिदं कल्पितं मया ।
नाशमेष्यत्यकालेन तापे हिमकणो यथा ॥ १२ ॥

शून्य होनेके कारण स्वर्गसुखसे विमुख देवता रागद्वेषाभावरूप शमसे शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंके उपद्रवसे रहित मोक्ष नामक उस परम पदको प्राप्त होंगे ॥ ९ ॥

देववृन्दके शान्तिको प्राप्त होनेपर 'मुक्तेश्च बिभ्यतो देवा मोहेनापिदधुर्नरान् । तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः । तस्मादेते सुरा विघ्नमाचरन्ति शपन्ति च ।' (मनुष्योंकी मुक्तिसे भयभीत देवता उन्हें मोहसे आछन्न करते हैं, इसलिए देवताओंको यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य ज्ञानी हों, वे मनुष्योंके मुक्तिमार्गमें विघ्न डालते हैं और उन्हें शाप देते हैं),

'प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः ।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते देवसंदूषिताशयाः ॥'

(संन्यासी भी आलसी, विषयवासनायुक्त, चुगुलखोर, झगड़ालू देखे जाते हैं, क्योंकि उनका मन देवताओं द्वारा दूषित रहता है) । इत्यादि श्रुति, स्मृति, वार्तिक आदिसे सिद्ध मनुष्योंकी देवदूषितचित्तताकी असिद्धिसे मनुष्योंमें भी शम आदिकी प्राप्ति होनेसे पृथिवीमें सब यज्ञ आदि क्रियाएँ देवत्वरूप फलसे रहित होकर उच्छेदको प्राप्त होंगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ १० ॥

यज्ञ आदि क्रियाओंके उच्छिन्न होनेपर कर्मभूमि व्यर्थ हो जायगी और कर्मके व्यर्थ होनेपर संसारका उच्छेद हो जायगा ॥ ११ ॥

कर्मका उच्छेद हो, इससे आपकी क्या क्षति होगी ? ऐसा कोई कहे, तो इसपर कहते हैं—**'आकल्पान्तम्'** इत्यादिसे ।

प्रलयपर्यन्त रहनेवाले तीनों भुवन, जिनका मैंने निर्माण किया है, अकालमें ही जैसे धूपमें हिमकण नष्ट हो जाता है वैसे ही नाशको प्राप्त हो जायँगे ॥ १२ ॥

किमेवमस्मिन्नाभोगे विलीय क्षयमागते ।
कृतं मयेह भवति स्वलीलाक्षयकारिणा ॥ १३ ॥
ततोऽहमपि शून्येऽस्मिन्नष्टचन्द्रार्कतारके ।
वपुःप्रशान्तिमाधाय स्थितिमेष्यामि तत्पदे ॥ १४ ॥
अकाण्ड एवमेवं हि जगत्युपशमं गते ।
नेह श्रेयो न पश्यामि मन्ये जीवन्तु दानवाः ॥ १५ ॥
दैत्योद्योगेन विबुधास्ततो यज्ञतपःक्रियाः ।
तेन संसारसंस्थानं न संसारक्रमोऽन्यथा ॥ १६ ॥

इस प्रकार इन जगतोंके विलीन होकर नष्ट होनेपर अपनी लीलाका नाश करनेवाले मुझसे क्या उचित किया गया अर्थात् कुछ भी नहीं ? ॥ १३ ॥

अपनी लीलाका नाश होनेसे मैं भी जिसमें चन्द्रमा, सूर्य और तारे नष्ट हो गये ऐसे इस शून्य जगत्में लीलाके लिए गृहीत अपने शरीरका उपसंहार कर फिर संसारकी अनुत्पत्तिके लिए उस पूर्ण आत्मपदमें स्थितिको प्राप्त हो जाऊँगा ॥ १४ ॥

इस प्रकार अनवसरमें ही जगत्के नष्ट होनेपर देव, मनुष्य आदि जीव-वर्गका मैं कल्याण नहीं देखता यह बात नहीं है मैं कल्याण देखता ही हूँ, क्योंकि 'वैराग्यात्प्रकृतौ लयः' इस स्मृतिके अनुसार प्रकृतिमें लय होनेपर सुषुप्तिकी तरह सर्वदुःखनिवृत्तिरूप श्रेयकी सिद्धि है ही, किन्तु 'तमेवेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' इत्यादि श्रुति-स्मृतिसे सिद्ध अनेक जन्मोंमें किये निष्काम कर्मसे होनेवाली विविदिषा द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार न होनेसे मूलाज्ञानरूप आवरणकी निवृत्ति न होनेके कारण बीजके रहते फिर आवृत्तिकी आशंका हो सकती है। निरतिशयानन्द-प्राप्तिरूप श्रेय किसीको भी नहीं हो सकता, इसलिए क्रमशः सबको उक्त श्रेयकी प्राप्तिके लिए दानव जीवें ॥ १५ ॥

दैत्योंके उद्योगसे देवता जिगीषु बनेंगे, देवताओं कारण यज्ञ, तप आदि क्रियाएँ होंगी, उससे संसारकी स्थिति होगी, संसार नियम अन्यथा नहीं होगा ॥ १६ ॥

तस्माद् रसातलं गत्वा यथावत् स्थापयाम्यहम् ।
स्वे क्रमे दानवाधीशमृतुः पुनरिव द्रुमम् ॥ १७ ॥
विना प्रह्लादमथचेदितरं दानवेश्वरम् ।
करोमि तदसौ मन्ये देवानाक्षादयिष्यति ॥ १८ ॥
प्रह्लादस्य त्वयं देहः पश्चिमः पावनो महान् ।
आकल्पमिह वस्तव्यं देहेनाऽनेन तेन च ॥ १९ ॥
एवं हि नियतिर्देवी निश्चिता पारमेश्वरी ।
प्रह्लादेन यथाकल्पं स्थातव्यमिह देहिना ॥ २० ॥
तस्मात्तमेव गत्वा तु दैत्येन्द्रं बोधयाम्यहम् ।
गर्जन् गिरिनदीसुप्तं मयूरमिव वारिदः ॥ २१ ॥
जीवन्मुक्तसमाधिस्थः करोत्वसुरनाथताम् ।
मणिर्मुक्तमनस्कारः प्रतिबिम्बक्रियामिव ॥ २२ ॥
नहि नश्यति सर्गोऽयमेवं सह सुरासुरैः ।
भविष्यति च तद्द्वन्द्वं तन्मे क्रीडा भविष्यति ॥ २३ ॥

इसलिए पातालमें जाकर जैसे वसन्त आदि ऋतु वृक्षको फिर पूर्ववत् स्थित करती है वैसे ही मैं दानवराज प्रह्लादको अपने कर्ममें पूर्ववत् स्थापित करता हूँ ॥१७॥

यदि मैं प्रह्लादको छोड़ दूसरेको दानवराज बनाऊँ, तो वह निश्चय देवताओंपर चढ़ाई कर देगा ॥ १८ ॥

प्रह्लादका तो यह शरीर परम पवित्र और अन्तिम है। इस देहसे वह कल्पपर्यन्त रहेगा ॥ १९ ॥

देहधारी प्रह्लादको कल्पपर्यन्त यहां रहना होगा, इस प्रकारकी परमेश्वरकी नियति देवी (नियम) निश्चित है ॥ २० ॥

इसलिए जैसे गर्ज रहा मेघ पर्वतनदीके तटपर सोये हुए मयूरको जगाता है वैसे ही पातालमें जाकर दैत्यराज प्रह्लादको ही जगाता हूँ ॥ २१ ॥

जैसे मनकी चेष्टासे रहित मणि अपनेमें संनिहित वस्तुके प्रतिबिम्बको धारण करती है वैसे ही जीवन्मुक्तोंकी अनासक्तिरूप समाधिमें स्थित प्रह्लाद दानवाधिपत्यको ग्रहण करे ॥ २२ ॥

इस प्रकार सुर और असुरोंके साथ यह सृष्टि नष्ट नहीं होगी तथा सुर और असुरोंका द्वन्द्व युद्ध होगा, यह मेरी क्रीड़ा होगी ॥ २३ ॥

सर्गक्षयोदयावेतौ सुसमौ मम यद्यपि ।
तथापीदं यथासंस्थं भवत्वन्येन किं मम ॥ २४ ॥
भावाभावेषु यत्तुल्यं तन्नाशे तत्स्थितौ च वा ।
यः प्रयत्नस्त्वबुद्धित्वात्तद्योगगमनं भवेत् ॥ २५ ॥
तस्मात् प्रयामि पातालं बोधयाम्यसुरेश्वरम् ।
स्थैर्यं यामि न संसारलीलां सम्पादयाम्यहम् ॥ २६ ॥
असुरपुरमवाप्य प्रोद्धताचारघोरं
कमलमिव विवस्वान् दैत्यमुद्बोधयामः ।
जगदिदमखिलं स्वस्थैर्यमभ्यानयामो
घनविधिरिव शैले चञ्चलं मेघजालम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशम-प्रकरणे परमेश्वरवितर्को नाम अष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

यद्यपि स्रष्टव्य जगत्के सृष्टि और संहार ये दोनों मेरे लिए समान ही हैं तथापि यह पूर्वोक्त सृष्टिके अनुसार हो, अन्यसे मेरा क्या मतलब है ॥ २४ ॥

यदि कोई शङ्का करे, योगनिद्रा द्वारा स्वरूपसुखगमनका त्यागकर दैत्यपुर-गमन आपके लिए उचित नहीं है, तो इसपर कहते हैं—'**भावाभावेषु**' इत्यादिसे ।

आसक्तिके अभावसे जो गमन आदि प्रयत्न है, वह योगगमन ही है वह अन्य ओर गमन नहीं है, क्योंकि योगनिद्रासे प्राप्त होनेवाला जो सुख है, वह गमनयत्नकी उत्पत्ति और अनुत्पत्तिमें समान है और गमनप्रयत्न आदिकी स्थिति और नाशमें समान है ॥ २५ ॥

इसलिए मैं पातालमें जाता हूँ और असुरराज प्रह्लादको जगाता हूँ । चलता हुआ भी मैं निश्चलताको ही प्राप्त होता हूँ, कारण कि मैं अज्ञके समान संसार-लीला नहीं करता ॥ २६ ॥

हम मर्यादारहित दस्युओंके अनाचारसे भयानक पातालमें जाकर जैसे सूर्य कमलको विकसित करता है वैसे ही प्रह्लादको समाधिसे जगाते हैं, उससे सम्पूर्ण जगत्को पूर्वोक्त रीतिसे स्थिरताको प्राप्त करते हैं, जैसे कि वर्षा ऋतु चञ्चल मेघराशिको पर्वतपर स्थिर करती है ॥ २७ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति संचिन्त्य सर्वात्मा क्षीरोदादात्मकात् पुरात् ।
चचाल परिवारेण सहमानुरिवाऽचलः ॥ १ ॥
क्षीरोदतलरन्ध्रेण तेनैव स्तम्भिताम्भसा ।
प्रह्लादनगरं प्राप शक्रलोकमिवाऽपरम् ॥ २ ॥
हेममन्दिरकोशस्थं ददर्शाऽत्राऽसुरं हरिः ।
अथ शैलगुहालीनं समाधिस्थमिवाऽब्जजम् ॥ ३ ॥
तत्र ते तेजसा दैत्या वैष्णवेनाऽवधूलिताः ।
दूरं ययुर्दिनेशांशुवित्रस्ता इव कौशिकाः ॥ ४ ॥
द्वित्रैः सहाऽसुरैर्मुख्यैः परिवारयुतो हरिः ।
प्रविवेशाऽसुरगृहं तारावानिव खं शशी ॥ ५ ॥

उन्तालीसवाँ सर्ग

[पातालमें जाकर शङ्खध्वनिसे प्रबोधित प्रह्लादसे भगवान्‌का कल्पपर्यन्त राज्य करनेके लिए कहना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा विचारकर सर्वात्मा भगवान् क्षीरसागररूप अपने नगरसे अपने परिवारके साथ अपने शिखरोंके साथ पर्वतकी नाईं चले ॥ १ ॥

भगवान् उसी क्षीरसागरके तलेके छेदसे, जिसका जल रोक दिया गया था, द्वितीय इन्द्रनगरके तुल्य प्रह्लादनगरमें गये । वहाँ पहुँचनेपर भगवान् श्रीहरिने प्रह्लादनगरमें सुवर्णमय गृहके अन्दर स्थित असुरराज प्रह्लादको पर्वतकी गुहामें बैठे हुए समाधिस्थ ब्रह्माके समान देखा ॥ २, ३ ॥

वहाँपर विष्णु भगवान्‌के तेजसे वे सबके सब दैत्य धूलिके समान उड़ गये और सूर्यकी प्रखर किरणोंसे भयभीत हुए उल्लुओंकी भाँति दूर चले गये ॥ ४ ॥

दो या तीन मुख्य-मुख्य असुरोंके साथ परिवारयुक्त भगवान् श्रीहरिने जैसे तारोंसे परिवेष्टित चन्द्रमा आकाशमें प्रवेश करता है वैसे ही असुरगृहमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

वैनतेयासनस्थोऽसौ लक्ष्मीविधुतचामरः ।
स्वायुधादिपरीवारो देवर्षिमुनिवन्दितः ॥ ६ ॥
महात्मन् संप्रबुद्ध्यस्वेत्येवं विष्णुरुदाहरन् ।
पाञ्चजन्यं प्रदध्मौ च ध्वनयन् ककुभां गणम् ॥ ७ ॥
महता तेन शब्देन वैष्णवप्राणजन्मना ।
तुल्यकालपरिक्षुब्धकल्पाभ्राणवरंहसा ॥ ८ ॥
आसुरीजनता भूमौ पपाताऽऽगतसम्भ्रमा ।
मत्तनीलाभ्रनादेन राजहंसावली यथा ॥ ९ ॥
जहर्ष जनितानन्दा वैष्णवी गतसम्भ्रमा ।
जनता जलदध्वानफुल्लेव कुटजावली ॥ १० ॥
बभूव संप्रबुद्धात्मा दानवेशः शनैः शनैः ।
मेघावसर उत्फुल्लकदम्ब इव कानने ॥ ११ ॥
ब्रह्मरन्ध्रकृतोत्थाना प्राणशक्तिरथाऽसुरम् ।
शनैराक्रमयामास गङ्गा सर्वमिवाऽर्णवम् ॥ १२ ॥

भगवान् गरुड़रूपी आसनपर बैठे थे, श्रीलक्ष्मीजी उनपर चँवर डुला रही थीं, शङ्ख, चक्र, गदा, आदि आयुध आदि उनके परिवार थे और देवर्षि और मुनि उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ६ ॥

इस प्रकारके विष्णु भगवान्‌ने हे महात्मन्, जागो, यह कहते हुए और दिङ्मण्डलको मुखरित करते हुए अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया ॥ ७ ॥

भगवान् विष्णुके बलसे उत्पन्न हुए उस महान् शब्दसे, जिसका वेग एक साथ क्षुब्ध हुए प्रलयकालके मेघ और सागरके शब्दके समान था, भयजनित मूर्च्छाको प्राप्त होकर आसुरी जनता भूमिपर गिर पड़ी, जैसे कि मत्त नील मेघके शब्दसे राजहंसावली भूमिपर गिर पड़ती है ॥ ८, ९ ॥

किन्तु जैसे मेघके शब्दसे कुटज वृक्षोंकी पङ्क्ति खिल उठती है वैसे ही भय-रहित वैष्णवी जनता आनन्दको प्राप्त होकर हर्षित हुई ॥ १० ॥

वर्षा ऋतुमें वनमें फूले हुए कदम्बकी तरह दानवराज प्रह्लाद धीरे-धीरे प्रबुद्ध हुआ ॥ ११ ॥

तदनन्तर जैसे गंगाजी धीरे-धीरे सारे सागरको भर देती है वैसे ही ब्रह्मरन्ध्रमें उदित हुई प्राणशक्तिने प्रह्लादको पूर्ण कर दिया ॥ १२ ॥

क्षणादाक्रमयामास प्राणश्रीः सर्वतोऽसुरम् ।
उदयानन्तरं सौरी प्रभेव भुवनान्तरम् ॥ १३ ॥

प्राणेषु रन्ध्रनवके प्रवृत्तेष्वथ तस्य चित् ।
चेत्योन्मुखी बभूवाऽन्तः प्राणदर्पणबिम्बिता ॥ १४ ॥

चेतनीयोन्मुखी चेत्यं चिन्मनस्तामुपाययौ ।
द्वित्वं मुकुरसंक्रान्ता मुखश्रीरिव राघव ॥ १५ ॥

किञ्चिदङ्कुरिते चित्ते नेत्रे विकसनोन्मुखे ।
शनैर्बभूवतुस्तस्य प्रातर्नीले यथोत्पले ॥ १६ ॥

प्राणापानपरामृष्टा नाडीविवरसंविदः ।
वातार्तस्येव पद्मस्य स्पन्दोऽस्य समजायत ॥ १७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण मनः पीवरतां ययौ ।
तस्मिन् प्राणवशात् पूर्णे तरङ्ग इव वारिणि ॥ १८ ॥

क्षणभरमें जैसे उदयके अनन्तर सूर्यकी प्रभा भुवनके मध्यको पूर्ण कर देती है वैसे ही प्राणोंने चारों ओरसे प्रह्लादको पूर्ण कर दिया ॥ १३ ॥

तदनन्तर इन्द्रियोंके नौ छिद्रोंमें प्रवृत्त होनेपर उसकी चेतनाशक्ति लिङ्गदेह-रूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर विषयोन्मुख हो गई ॥ १४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चेतनीय विषयोन्मुखी चित् चेत्याकारसंस्कारका उद्बोध होनेसे चेत्य-सी होकर चिज्जड़-उभयतारूप मनस्ताको प्राप्त हुई, जैसे कि दर्पणपर पड़ी हुई मुखश्री द्वित्वको प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

चित्तके कुछ अङ्कुरित होनेपर जैसे प्रातःकालमें नील कमल विकसित होने लगते हैं वैसे ही उसके नेत्र विकसित होने लगे ॥ १६ ॥

जैसे वायुसे प्रेरित कमलमें स्पन्द होता है वैसे ही भीतर प्रविष्ट प्राण और अपानसे उद्बोधित चारों ओरसे नाडीविवरोंमें जो संवेदन हुआ उससे उसमें स्पन्द हो गया ॥ १७ ॥

जैसे पूर्ण जलमें तरङ्ग होती है वैसे ही केवल एक निमेषमें प्राणोंसे पूर्ण उसमें मन स्थूलताको प्राप्त हो गया ॥ १८ ॥

अथाऽसौ विकसन्नेत्रमनःप्राणवपुर्बभौ ।
अर्द्धोदित इवाऽऽदित्ये सरः स्फुरितपङ्कजम् ॥ १९ ॥
अस्मिन्नवसरे यावद् बुध्यस्वेत्यवदद् विभुः ।
प्रबुद्धस्तावदेषोऽभूद् बर्ही घनरवादिव ॥ २० ॥
प्रफुल्लनयनं जातमननं पीवरस्मृतिम् ।
उवाचैनं त्रिलोकेशः पुरा नाभ्यब्जजं यथा ॥ २१ ॥
साधो स्मर महालक्ष्मीमात्मीयां स्मर चाऽऽकृतिम् ।
अकाण्ड एव किं देहविरामः क्रियते त्वया ॥ २२ ॥
हेयोपादेयसङ्कल्पविहीनस्य शरीरगैः ।
भावाभावैस्तवाऽर्थः किमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ सम्प्रति ॥ २३ ॥

जैसे सूर्यके आधे उदित होनेपर तालाबमें कमलोंमें स्फुरण हो जाता है वैसे ही उसके भी नेत्र, मन, प्राण और शरीर विकसित हुए ॥ १९ ॥

इस बीचमें जैसे ही भगवान् श्रीहरिने जागो, यह कहा वैसे ही मेघके गर्जनसे मयूरके समान वह प्रबुद्ध हो गया ॥ २० ॥

त्रिलोकाधिपति भगवान् कल्पके आदिमें जैसे नाभिकमलसे उत्पन्न ब्रह्मासे कहते हैं वैसे ही प्रफुल्लनयन प्रह्लादसे, जिसे मैं प्रह्लाद हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा हो चुकी थी और जिसकी पूर्वावस्थाकी स्मृति दृढ़ हो चुकी थी, कहा ॥ २१ ॥

हे साधो, तुम महती दैत्यराज्यश्रीका और अपनी आकृतिका स्मरण करो । तुम देहके विस्मरणसे अनवसरमें ही देहका अवसान किस लिए करते हो ॥ २२ ॥

यदि 'न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' (सशरीर पुरुषके इष्ट और अनिष्टका विनाश नहीं होता) इस श्रुतिसे तथा सब लोगोंके अनुभवसे देहका स्मरण अनर्थका कारण है, ऐसी शङ्का हो, तो उसपर कहते हैं—**'हेयोपादेय०'** इत्यादिसे ।

हेयोपादेयके संकल्पसे रहित तुम्हारे शरीरमें स्थित प्रिय और अप्रियसे क्या प्रयोजन है, इसलिए तुम इस समय अवश्य उठो । भाव यह कि हेयोपादेय संकल्पका त्याग होनेपर देहके रहनेपर भी प्रिय और अप्रियोंसे तुम्हें कोई अनर्थ प्राप्ति नहीं होगी ॥ २३ ॥

स्थातव्यमिह देहेन कल्पं यावदनेन ते ।
वयं हि नियतिं विद्मो यथाभूतामनिन्दिताम् ॥ २४ ॥
जीवन्मुक्तेन भवता राज्य एवेह तिष्ठता ।
क्षेपणीया गतोद्वेगमाकल्पान्तमियं तनुः ॥ २५ ॥
तन्वां कल्पान्तशीर्णायां स्वे महिम्नि त्वयाऽनघ ।
वस्तव्यं स्फुटिते कुम्भे कुम्भाकाशेन खे यथा ॥ २६ ॥
कल्पान्तस्थायिनी शुद्धा दृष्टलोकपरावरा ।
इयं तव तनुर्जाता जीवन्मुक्तविलासिनी ॥ २७ ॥
नोदिता द्वादशादित्या न प्रलीनाः शिलोच्चयाः ।
न जगज्ज्वलितं साधो तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ २८ ॥
वायुर्वहति नोन्मत्तस्त्रिलोकीभस्मधूसरः ।
लोलामरकपालाङ्कस्तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ २९ ॥

हे वत्स, तुम्हें कल्पपर्यन्त इस देहसे यहांपर रहना होगा । हम तुम्हारे यथार्थ और अगर्हित आयुके नियमको जानते हैं ॥ २४ ॥

यहांपर राज्यसिंहासनपर ही स्थित हो रहे जीवन्मुक्तरूप तुमको कल्पतक इस शरीरको बिना किसी उद्वेगके व्यवहारमें प्रेरित करना चाहिये ॥ २५ ॥

हे निष्पाप, जैसे घड़ेके फूटनेपर घटाकाश महाकाशमें समा जाता है वैसे ही इस शरीरके कल्पान्तमें विनष्ट होनेपर तुम्हें आत्मभूत निरतिशय महत्तामें निवास करना होगा ॥ २६ ॥

तुम्हारा यह शरीर, जो कल्पान्ततक रहनेवाला है, लोकके विविध व्यवहारों-को देख चुका है और जीवन्मुक्तिसे सुशोभित है, शुद्ध हो गया है ॥ २७ ॥

तो क्या कल्पान्त निकट है ? ऐसी आशङ्का होनेपर नहीं, ऐसा कहते हैं— **'नोदिताः'** इत्यादिसे ।

हे सज्जनशिरोमणे, अभी प्रलयकालमें उदित होनेवाले बारह सूर्य उदित नहीं हुए हैं, हिमालय आदि पर्वत मटियामेट नहीं हुए हैं और जगत् जला नहीं है, तुम व्यर्थ क्यों शरीरका त्याग करते हो ? ॥ २८ ॥

अभी तीनों लोकोंकी राखसे धूसर तथा देवताओंकी चञ्चल खोपड़ियां

अशोक इव मञ्जर्यः पुष्करावर्तविद्युतः ।
न स्फुरन्ति जगत्कोशे तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३० ॥
धरासाररणच्छैलाः प्रज्वलज्ज्वलनोज्ज्वलाः ।
ककुभो न विशीर्यन्ते तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३१ ॥
न ब्रह्मविष्णुरुद्राख्यत्रयीशेषमिदं स्थितम् ।
जगज्जरठजीमूतं तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३२ ॥
न चेहाऽद्रिदलश्रेणिमात्रैकानुमितान्तराः ।
दिशो जर्जरतां यातास्तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३३ ॥
स्फुटदद्रीन्द्रटङ्काराः कराः सौरा भ्रमन्ति खे ।
कल्पाभ्राणि न गर्जति तनुं त्यजसि किं मुधा ॥ ३४ ॥

जिसकी चिह्नभूत हैं, ऐसी प्रलय कालीन प्रखर वायु नहीं बहती है, तुम क्यों शरीरको छोड़ते हो ? ॥ २९ ॥

अशोकके वृक्षोंपर मञ्जरियोंकी नाईं इस समय ब्रह्माण्डमें पुष्करावर्तनामक प्रलयकालीन मेघोंपर बिजलियां नहीं चमकती हैं फिर तुम व्यर्थ क्यों शरीरका त्याग करते हो ? ॥ ३० ॥

जल रही भूमिके प्रकम्पसे विदीर्ण होनेके कारण जिसमें पर्वत शब्द कर रहे हों और अग्निके जलनेसे जो उज्ज्वल हों ऐसी दिशाएँ विशीर्ण नहीं हुई हैं, व्यर्थमें तुम शरीरका क्यों त्याग करते हो ? ॥ ३१ ॥

यह जगत्, जिसमें प्रलयकालके मेघ वृद्धिको प्राप्त हुए हों ऐसा नहीं हुआ है और जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामक तीन देवता शेष रह गये हैं, ऐसा नहीं हुआ है; इसलिए तुम व्यर्थ शरीरका त्याग क्यों करते हो ॥ ३२ ॥

यहांपर दिशाएँ—जिनके भेदका अनुमान लोकालोक पर्वतके शिखरोंसे, जो भूमिरूपी कमलकी पँखुरियोंके सदृश हैं, होता है—जर्जरित नहीं हुई हैं, तुम व्यर्थ शरीरका त्याग क्यों करते हो ॥ ३३ ॥

आकाशमें बारहों आदित्योंकी तोड़े जा रहे मेरुके टङ्कारकी तरह ध्वनिवाली किरणें नहीं घूमती हैं और प्रलयकालके मेघ नहीं गरजते हैं फिर तुम व्यर्थ शरीरका त्याग क्यों करते हो ? ॥ ३४ ॥

अहं भूतावकीर्णासु सालोकासु खगध्वजः ।
विहरामि दशाशासु मा देहमवधीरय ॥ ३५ ॥
इमे वयमिमे शैला भूतानीमान्ययं भवान् ।
इदं जगदिदं व्योम मा देहमवधीरय ॥ ३६ ॥
पीवराज्ञानयोगेन यस्य पर्याकुलं मनः ।
दुःखानि विनिकृन्तन्ति मरणं तस्य राजते ॥ ३७ ॥
कृशोऽतिदुःखी मूढोऽहमेताश्चाऽन्याश्च भावनाः ।
मतिं यस्याऽवलुम्पन्ति मरणं तस्य राजते ॥ ३८ ॥
आशापाशनिबद्धोऽन्तरितश्चेतश्च नीयते ।
यो विलोलमनोवृत्त्या मरणं तस्य राजते ॥ ३९ ॥
यस्य तृष्णाः प्रभञ्जन्ति हृदयं हृतभावनाः ।
प्ररोहमिव गर्धेभ्यो मरणं तस्य राजते ॥ ४० ॥

मैं गरुड़पर सवार होकर अण्डज आदि चार प्रकारके प्राणियोंसे व्याप्त तथा सूर्य आदिके प्रकाशसे युक्त दसों दिशाओंमें विहार करता हूँ, ऐसी स्थितिमें तुम शरीरका परित्याग मत करो । भाव यह कि इस समय तुम्हारा मरना शोभा नहीं देता है ॥ ३५ ॥

ये हम लोग हैं, ये पर्वत हैं, ये प्राणी हैं, यह तुम हो, यह जगत् है, यह आकाश है, इसलिए तुम प्रलयपर्यन्त स्थायी शरीरका त्याग मत करो ॥ ३६ ॥

तो किसका मरना उचित है, ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—**'पीवरा०'** इत्यादिसे ।

जिसके व्याकुल मनको घन अज्ञानके सम्बन्धसे विविध दुःख छिन्न-भिन्न करते हैं, उसका मरना शोभा देता है; क्योंकि 'अत्यन्तपीड़ितो जीवः स्थूलदेहं विमुञ्चन्ति' इस स्मृतिसे सिद्ध उसके मरणका हेतु उपपन्न है ॥ ३७ ॥

मैं कृश हूँ, मैं अत्यन्त दुःखी हूँ और मैं मूढ़ हूँ ये या इनसे अन्य भावनाएँ जिसकी मतिको नष्ट करती हैं, उसका मरना शोभा देता है ॥ ३८ ॥

जो भीतर अनेक आशारूपी पाशोंसे बँधा है और चञ्चल मनोवृत्ति द्वारा इधर उधर ले जाया जाता है, उसका मरना शोभा देता है ॥ ३९ ॥

जैसे मूढ़ पुरुष महान् फल देनेवाले धानके अङ्कुर आदिको उसे खानेवाले

चित्तवृत्तिलता यस्य तालोत्तालमनोवने ।
फलिता सुखदुःखाभ्यां मरणं तस्य राजते ॥ ४१ ॥
रोमराजीलताजालं यस्येमं देहदुर्द्रुमम् ।
अनर्थौघो हरत्युच्चैर्मरणं तस्य राजते ॥ ४२ ॥
यस्य स्वदेहविपिनमाधिव्याधिदवाग्नयः ।
दहन्ति लोलाङ्गलतं मरणं तस्य राजते ॥ ४३ ॥
कामकोपात्मका यस्य स्फूर्जन्त्यजगरास्तनौ ।
अन्तःशुष्कद्रुमस्येव मरणं तस्य राजते ॥ ४४ ॥
योऽयं देहपरित्यागस्तल्लोके मरणं स्मृतम् ।
न सता नाऽसता तेन कारणं वेद्यवेदनम् ॥ ४५ ॥

पशु आदिके लिए काट देते हैं वैसे ही तृष्णाएँ, जिन्होंने विवेकरूपी अङ्कुरको हर लिया, जिसके हृदयको भग्न कर देती हैं, उसका मरना शोभा देता है ॥ ४० ॥

जिसके ताड़वृक्षके समान राग आदिकी उन्नतिसे (अभिवृद्धिसे) सम्पन्न मनरूपी वनमें चित्तवृत्तिरूपी लता सुख-दुःखरूपी फलोंसे युक्त है, उसका मरना उचित है ॥ ४१ ॥

जिसके इस देहरूपी दुष्ट वृक्षको, जिसमें रोमराजीरूपी शाखाओंका समूह है, काम आदि अनर्थरूपी जोरकी आँधी दूर हर ले जाती है, उसका मरना शोभा देता है ॥ ४२ ॥

आधिव्याधिरूपी वनाग्नियाँ जिसके चञ्चल अङ्गरूपी लतावाले स्वदेहरूपी वनको जलाती हैं, उसका मरना उचित है ॥ ४३ ॥

जैसे सूखे हुए वृक्षके खोखलेमें अजगर फुफकारता है वैसे ही काम-क्रोधरूपी अजगर जिसके शरीरमें फुफकारते हैं, उसका मरना शोभा देता है ॥ ४४ ॥

मरणस्वरूपका पर्यालोचन करनेपर भी तत्त्वज्ञानीका मरण संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'योऽयम्'** इत्यादिसे ।

जो यह देहका परित्याग है वह लोकमें मरणनामसे प्रसिद्ध है । वह त्याग तत्त्वज्ञानीका सत् आत्मासे नहीं किया जा सकता, असत् देहसे भी उसका

यस्य नोत्क्रामति मतिः स्वात्मतत्त्वावलोकनात् ।
यथार्थदर्शिनो ज्ञस्य जीवितं तस्य शोभते ॥ ४६ ॥
यस्य नाऽहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
यः समः सर्वभावेषु जीवितं तस्य राजते ॥ ४७ ॥
योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया ।
साक्षिवत् पश्यतीदं हि जीवितं तस्य राजते ॥ ४८ ॥
येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता ।
चित्तस्याऽन्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥ ४९ ॥

सम्पादन नहीं हो सकता, क्योंकि सत् आत्माके निष्क्रिय होनेसे उसमें त्याग-क्रियाका सम्बन्ध नहीं है और असङ्ग आत्माका देहसङ्ग प्रसिद्ध नहीं है एवं असत् देहसे भी स्वपरित्याग असंभव है। यदि कोई शङ्का करे कि देहकी असत्तामें क्या कारण है ? तो उसपर कहते हैं—'**कारणम्**' इत्यादिसे। प्रमाणों द्वारा अवश्य वेदनार्ह आत्माका ज्ञान ही देह आदिकी असत्तामें कारण है, क्योंकि देहादिके सद्भावकी प्रतीति अज्ञाननिबन्धन है ॥ ४५ ॥

किसका जीवन शोभित होता है, ऐसा प्रश्न होनेपर जिसका जीवन सफल है, उसे कहते हैं—'**यस्य**' इत्यादिसे।

जिसकी बुद्धि स्वात्मतत्त्वके विचारसे उचटती नहीं, उस यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञानीका जीवन शोभित होता है। भाव यह है कि देहसे प्राणोंका उत्क्रमण मरण नहीं है किन्तु आत्मतत्त्वसे मतिका उत्क्रमण ही मरण है। उक्त मरण ज्ञानीका कदापि नहीं हो सकता, इसलिए सदा ही उसका जीवन शोभा देता है। अज्ञानीकी तो मति आत्मतत्त्वसे सदा उत्क्रान्त रहती है, अतएव वह नित्यमृतस्वरूप है ॥४६॥

किञ्च, एक देहमें अभिमान होनेपर उसका त्याग मरण है, जिसका किसी देहमें अहंभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि देहके प्रिय और अप्रियसे लिप्त नहीं होती वह सब भावोंमें (देहोंमें) और विषयोंमें सम है उसके मरणका संभव न होनेसे सदा उसका जीवन ही शोभित होता है ॥ ४७ ॥

जो रागद्वेषसे रहित अन्तःशीतल बुद्धिसे साक्षीके समान इस जगत्को देखता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥ ४८ ॥

असार जानकर हेय और उपादेयका त्याग कर रहे जिसने चित्तके

अवस्तुसदृशे वस्तुन्यसक्तं कलनामले।
येन लीनं कृतं चेतो जीवितं तस्य शोभते ॥ ५० ॥
सत्यां दृष्टिमवष्टभ्य लीलयेयं जगत्क्रिया।
क्रियतेऽवासनं येन जीवितं तस्य राजते ॥ ५१ ॥
नाऽन्तस्तुष्यति नोद्वेगमेति यो विहरन्नपि।
हेयोपादेयसंप्राप्तौ जीवितं तस्य शोभते ॥ ५२ ॥
शुद्धपक्षस्य शुद्धस्य हंसौघः सरसो यथा।
यस्माद्गुणौघो निर्याति जीवितं तस्य शोभते ॥ ५३ ॥
यस्मिन् श्रुतिपथं प्राप्ते दृष्टे स्मृतिमुपागते।
आनन्दं यान्ति भूतानि जीवितं तस्य शोभते ॥ ५४ ॥

विरामभूत साक्षीमें अपने चित्तका समर्पण कर दिया है, उसका जीवन शोभित होता है ॥ ४९ ॥

जिसने शुक्ति, रजत आदिके सदृश वस्तुके समान भासमान बाह्यार्थकल्पना-रूप मलमें अनासक्त चित्तको ब्रह्ममें ही लीन कर दिया, उसका जीवन शोभा देता है ॥ ५० ॥

जो सत्य दृष्टिका अवलम्बन करके इस जगत्-व्यवहारको बिना वासनाके लीलासे करता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥ ५१ ॥

जो लोकव्यवहार करता हुआ भी दुःखहेतु पदार्थकी प्राप्ति होनेपर न तो उद्वेगको प्राप्त होता है और न सुखहेतु वस्तुकी प्राप्ति होनेपर मनमें प्रसन्न होता है, उसका जीवन शोभा देता है ॥ ५२ ॥

तालाबसे हंसोंके समूहके समान जिससे गुणोंका (शान्ति, क्षमा, माधुर्य आदिका) समूह चला जाता है, जिसके तत्त्वज्ञानी ही आत्मीय है और स्वयं शुद्ध है, उसका जीवन शोभित होता है ॥ ५३ ॥

जिसके गुण आदिके श्रवणगोचर होनेपर, दर्शन होनेपर और स्मरण होनेपर प्राणियोंको बड़ा आनन्द होता है, उसका जीवन सफल है ॥ ५४ ॥

यस्योदयेषु हृदयेन जनाम्बुजानि
जीवालिमन्ति सकलानि विलासवन्ति ।
तस्यैव भाति परिजीवितमक्षयेन्दो-
रापूर्णतेव दनुजेश्वर नेतरस्य ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे प्रह्लाद-निर्वाणे नारायणवचनोपन्यासो नाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः

श्रीभगवानुवाच

स्थैर्यं देहस्य दृष्टस्य जीवितं प्रोच्यते जनैः ।
देहान्तरार्थं देहस्य संत्यागो मरणं स्मृतम् ॥ १ ॥

हे दनुजेश्वर, जिसकी सम्पत्ति (उदय) होनेपर जीवरूपी भ्रमरसे युक्त जनरूपी कुमुद हृदयसे आनन्दित होते हैं, क्षयरोगरहित चन्द्रमाकी पूर्णताके समान उसीका जीवन शोभित होता है, अन्यका (अज्ञानीका) नहीं ॥ ५५ ॥

उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

[सदेह होता हुआ भी विदेह और कर्मपरायण होता हुआ भी कूटस्थ ज्ञानी जिस क्रमसे व्यवहार करे, उस क्रमका प्रतिपादन]

यद्यपि प्रह्लाद जीवन्मुक्त था तथापि उसके लिए केवल संनिधिसे राज्य-पालनके निर्वाहके उपायका उपदेश देनेकी इच्छावाले भगवान् श्रीहरि देहके रहते भी उसके साथ सम्बन्ध न रहनेसे पूर्वोक्त जीवन और मरण गौण ही हैं, मुख्य नहीं हैं यह कहनेके लिए जीवन और मरणके लोकप्रसिद्ध स्वरूपको कहते हैं—**'स्थैर्यम्'** इत्यादिसे ।

दृष्ट देहकी स्थिरताको लोग जीवन कहते हैं फिर द्वितीय देहके ग्रहणके लिए पूर्वदेहका त्याग (उत्क्रमणपूर्वक गमन) मरण कहा गया है ॥ १ ॥

द्वाभ्यां चैवाऽसि पक्षाभ्यामाभ्यां मुक्तो महामते ।
किं ते मरणमस्तीह किं वा जीवितमस्ति ते ॥ २ ॥
निदर्शनार्थमेतत्तु मयोक्तमरिमर्दन ।
न त्वं जीवसि सर्वज्ञ म्रियसे न कदाचन ॥ ३ ॥
देहसंस्थोऽप्यदेहत्वाद्देहोऽसि विदेहदृक् ।
व्योमसंस्थोऽप्यसक्तत्वादव्योमेव हि मारुतः ॥ ४ ॥
स्पर्शसंबोधकारित्वाद्देह एवाऽस्ति सुव्रत ।
उत्सेधारोधकत्वेन खमुत्सेधस्य कारणम् ॥ ५ ॥

हे महामते, इन दोनों (स्थिरता और प्राणोत्क्रमण) पक्षोंसे तुम मुक्त हो, अतएव यहाँ तुम्हारा क्या मरना है अथवा क्या जीवन है, क्योंकि 'अशरीरं शरीरेषु' 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते' ऐसी श्रुतियाँ है ॥ २ ॥

यदि मेरे जीवन और मरण नहीं हैं, तो आपने तुम्हारा जीवन शोभित होता है तुम्हारा मरना शोभित नहीं होता, ऐसा क्यों कहा ? यदि प्रह्लादकी ओरसे यह प्रश्न हो, तो उसपर कहते हैं—**'निदर्शनार्थ०'** इत्यादिसे ।

हे शत्रुतापन, मैंने दृष्टान्तके लिए यानी ज्ञानी और अज्ञानियोंके गुण और दोषोंके प्रख्यापनके लिए यह सब कहा था । हे सर्वज्ञ, न तो तुम कभी जीवित हो और न कभी मरते हो ॥ ३ ॥

जैसे आकाशमें स्थित भी वायु आसङ्गरहित (संबन्धशून्य) होनेके कारण आकाशशून्य होता है वैसे ही देहदृष्टिशून्य तुम भी देहमें स्थित होते हुए भी देहरहित होनेके कारण अदेह हो ॥ ४ ॥

मेरी देहमें स्थिति कैसे ज्ञात होती है ? इसपर कहते हैं—**'स्पर्श०'** इत्यादिसे ।

हे सुव्रत, देहमें शीत, उष्ण आदि स्पर्शके वेदनका निमित्त होनेसे और अन्यत्र उसके अदर्शनसे देहमें ही तुम हो । यदि कहो कि स्पर्शके संवेदनमें असंग आत्मा कैसे कारण है, तो इसपर दृष्टान्त सुनो, जैसे वृक्षके बढ़नेमें रोधक न होनेसे आकाश बढ़नेमें कारण है वैसे ही असंग आत्मा स्पर्शके संवेदनमें कारण है ॥ ५ ॥

प्रबुद्धो ज्ञातवस्तुत्वाद्देहः क्व शमिनामिह ।
इदं त्वेकं परिच्छिन्नं रूपमज्ञेषु दुःस्थितम् ॥ ६ ॥
सर्वदा सर्वमेवाऽसि चित्प्रकाशः परैकधीः ।
को देहः कोऽप्यदेहस्ते यं गृह्णासि जहासि च ॥ ७ ॥
समुदेतु वसन्तो वा वातु वा प्रलयानिलः ।
भावाभावविहीनस्य किमभ्यागतमात्मनः ॥ ८ ॥

यदि प्रह्लाद पूछे कि मेरी अदेहता कैसे ? तो इसपर कहते हैं—**'प्रबुद्धः'** इत्यादिसे ।

तुम्हें तत्त्वज्ञान हो चुका है, अतएव तुम प्रबुद्ध हो गये हो । बोध होनेपर सर्वद्वैतसे रहित पुरुषोंका शरीर यहाँ कहाँ रहता है, स्वप्नकी निवृत्ति होनेपर स्वाप्न शरीर नहीं रहता । यह एक परिच्छिन्न देहरूप यद्यपि असंभाव्य है तथापि अज्ञानियोंमें ही स्थित है ॥ ६ ॥

यदि अज्ञानी भी देहमें रहकर देही है, तो स्पर्शके संवेदनसे देह-में स्थित मैं भी देही क्यों न होऊँगा ? इसपर कहते हैं—**'सर्वदा'** इत्यादिसे ।

प्रकाशक होनेके कारण तुम्हारी सब वस्तुओंमें स्थिति तुल्य ही है । इसलिए एकमात्र परमात्मामें बुद्धिवृत्तिवाले प्रकाशस्वरूप तुम सब कुछ हो अज्ञानीके समान देहमात्र नहीं हो । कौन वस्तु तुम्हारी देह होगी, जिसका कि तुम अहंबुद्धिसे ग्रहण करो और अदेह भी कौन होगी, जिसका कि तुम अनहंबुद्धिसे त्याग करो ॥ ७ ॥

यदि कोई कहे कि जिसकी वृद्धिसे अपने हर्षकी वृद्धि हो और जिसके विनाशनिमित्तके दर्शनसे विषाद हो वह देह है और उससे अन्य अदेह है इस प्रकारका भेद क्यों न होगा ? तो इसपर ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तत्त्व-ज्ञानीके हर्ष और विषादके हेतुका ही संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'समुदेतु'** इत्यादिसे ।

चाहे वसन्त ऋतुका उदय (आगमन) हो चाहे प्रलयकालकी घनघोर आँधी बहे तथापि प्रिय और अप्रियसे शून्य आत्माका क्या आया ॥ ८ ॥

प्रलुठत्स्वपि शैलेषु कल्पाग्निषु दहत्स्वपि ।
वहत्सूत्पातवातेषु स्वात्मन्येव हि तिष्ठति ॥ ९ ॥
सर्वभूतानि तिष्ठन्तु सर्वमेव प्रयातु वा ।
नश्यन्तु वाऽथ वर्धन्तामात्मन्येवाऽभितिष्ठति ॥ १० ॥
क्षीयते न क्षयं प्राप्ते वर्धमाने न वर्धते ।
न स्पन्दते स्पन्दमाने देहेऽस्मिन् परमेश्वरः ॥ ११ ॥
देहस्याऽहमहं देहीति क्षीणे चित्तविभ्रमे ।
त्यजामि न त्यजामीति किं मुधा कलनोदिता ॥ १२ ॥
इदं कृत्वा करोमीदमिदं त्यक्त्वेदमित्यलम् ।
इति तत्त्वविदां तात संकल्पाः संक्षयं गताः ॥ १३ ॥
प्रबुद्धाः सर्वकर्तारः करिष्यन्तीह किञ्चन ।
न तस्याऽकरणे नित्यमकर्तृत्वपदं गताः ॥ १४ ॥

पर्वतोंके ढहनेपर भी, प्रलयाग्नियोंके धधकने पर भी और उत्पात वायुओंके बहनेपर भी तत्त्वज्ञानी आत्मामें स्थित रहता है ॥ ९ ॥

सब भूत चाहे रहें चाहे सब कुछ चला जाय अथवा सबका नाश हो जाय या सब वृद्धिको प्राप्त हों, किन्तु तत्त्वज्ञानी आत्मनिष्ठ ही रहता है उससे विचलित नहीं होता ॥ १० ॥

इस देहके विनष्ट होनेपर परमात्माका बिनाश नहीं होता है, इसके बढ़नेपर परमात्मा नहीं बढ़ता और इसके चेष्टा करनेपर चेष्टा नहीं करता ॥ ११ ॥

देहके सम्बन्धीमें 'अहं' इस प्रकार तादात्म्याध्यासरूप 'मैं देही हूँ' तद्धर्म-संसर्गाध्यासरूप चित्तभ्रमके नष्ट होनेपर मैं त्याग करता हूँ अथवा त्याग नहीं करता, इस प्रकारकी निरर्थक कल्पना कैसे उदित हो सकती है ? ॥ १२ ॥

हे तात, इस कार्यको करके मैं इस कार्यको करता हूँ, इसका त्याग करके इसका त्याग करता हूँ, इस प्रकारके संकल्प तत्त्वज्ञानियोंके सर्वथा नाशको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥

ज्ञानी पुरुष इस संसारमें सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते हैं । कर्मके कभी-भी न करनेपर वे सदा अकर्तृरूपसे स्थित रहते हैं ॥ १४ ॥

अकर्तृत्वादभोक्तृत्वमर्थादेव समागतम् ।
संगृहीतं किलाऽनुप्तं केनेह भुवनत्रये ॥ १५ ॥
शान्ते कर्तृत्वभोक्तृत्वे शान्तिरेवेह शिष्यते ।
प्रौढिमभ्यागता सैव मुक्तिरित्युच्यते बुधैः ॥ १६ ॥
प्रबुद्धाश्चिन्मयाः शुद्धाः सर्वमाक्रम्य संस्थिताः ।
किं त्यक्तं परिगृह्णन्तु किं गृहीतं त्यजन्तु वा ॥ १७ ॥
ग्राह्यग्राहकसंबन्धप्रमितावयविक्रमैः ।
हीनः प्रमेयावयवैः किं गृह्णातु जहातु किम् ॥ १८ ॥
ग्राह्यग्राहकसंबन्धे क्षीणे शान्तिरुदेत्यलम् ।
स्थितिमभ्यागता शान्तिर्मोक्षनाम्नाऽभिधीयते ॥ १९ ॥

जब वे कर्ता नहीं हैं तब अभोक्तृत्व अर्थात् ही उनमें प्राप्त हो गया । भला बतलाइये तो सही, धान आदिके बीज बोये बिना तीनों लोकोंमें कौन धान आदिका संग्रह करता है ? ॥ १५ ॥

कर्तृत्व और भोक्तृत्वके शान्त होनेपर एकमात्र निर्विक्षेपता ही अवशिष्ट रहती है । कर्तृत्वके मूलोच्छेदसे बद्धमूल हुई निर्विक्षेपता ही विद्वानों द्वारा मुक्ति कही जाती है ॥ १६ ॥

ज्ञानवान्, चैतन्यस्वरूप परमात्मस्वरूपके आविर्भावसे सब कुछका तिरस्कार करके स्थित हुए शुद्धात्मा पुरुष पहले प्राप्त न हुए किस ऐहिक फलको ग्रहण करें या पहलेसे गृहीत किस फलका त्याग करें ? ॥ १७ ॥

ग्राह्य, ग्राहक और तत्संबन्धरूप अज्ञानावस्थामें यथार्थरूपसे प्रतीत क्रिया और कारकके संबन्धसे बने हुए अवान्तर वाक्यार्थरूप अवयविक्रमवाले महावाक्यार्थ-के अवयवोंसे यानी अङ्ग-प्रधानक्रियाकलापरूप विकारोंसे रहित कूटस्थ आत्मा किसका ग्रहण करे और किसका त्याग करे ? ॥ १८ ॥

ऐहिक और पारलौकिक इष्ट और अनिष्टोंके साधनोंके त्याग और उपादानके निमित्त ग्राह्यग्राहक संबन्धके नष्ट होनेपर रागादिविक्षेपोंकी शान्ति उत्पन्न होती है । वही रागादिके मूलोच्छेदसे स्थिरताको प्राप्त होकर मोक्षनामसे पुकारी जाती है ॥ १९ ॥

तत्र स्थिताः सदा शान्तास्त्वादृशाः पुरुषोत्तमाः ।
सुषुप्तावयवस्पन्दसाधर्म्येण चरन्ति हि ॥ २० ॥
परावबोधविश्रान्तवासनो जगति स्थितिम् ।
अर्धसुप्त इवेहेमां त्वं पश्याऽऽत्मस्थया धिया ॥ २१ ॥
न रमन्ते हि रम्येषु स्वात्मन्येव गताशयाः ।
नोद्विजन्तेऽन्यदुःखेषु स्वात्मन्येकरसायनाः ॥ २२ ॥
नित्यप्रबुद्धा गृह्णन्ति कार्याणीमान्यसङ्गिनः ।
मुकुरा इव बिम्बानि यथाप्राप्तान्यवाञ्छया ॥ २३ ॥
जाग्रति स्वात्मनि स्वस्थाः सुप्ताः संसारसंस्थितौ ।
बालवत् प्रविवेपन्ते सुषुप्तसदृशाशयाः ॥ २४ ॥

इस प्रकारसे स्थित हुए जीवन्मुक्त लोगोंको भी जबतक प्रारब्धका क्षय नहीं होता तबतक व्यवहारसिद्धिमें दृष्टान्त कहते हैं—'**तत्र**' इत्यादिसे ।

उक्त निर्विक्षेपतारूप शान्तिमें सदा स्थित हुए तुम्हारे ऐसे शान्त पुरुष गाढ़ निद्रामें सोये हुए पुरुषके अवयवोंकी चेष्टाओंके तुल्य व्यवहार करते हैं ॥ २० ॥

परब्रह्मके ज्ञानसे वासनारहित हुए तुम इस जगत्में आत्मनिष्ठ बुद्धिसे अर्धसुप्तके समान इस राज्यपालन आदि व्यवस्थाको देखो ॥ २१ ॥

जिनका चित्त स्वात्मामें ही संलग्न है ऐसे ज्ञानी पुरुष रमणीय अनात्म पदार्थोंमें सुखका अनुभव नहीं करते और केवल स्वात्मामें ही जिन्हें रसायनके समान मधुर सुखका आस्वाद होता है, वे आत्माका स्पर्श न करनेवाले दुःखोंके उपस्थित होनेपर उद्विग्न नहीं होते ॥ २२ ॥

यदि कोई कहे कि ज्ञानियोंको जब सुख और दुःख हैं ही नहीं तब वे सुखकी प्राप्ति और दुःखके परिहारके लिए कर्म क्यों करते हैं ? तो इसपर कहते हैं—'**नित्यप्रबुद्धाः**' इत्यादिसे ।

नित्यप्रबुद्ध असंग पुरुष यथाप्राप्त इन कार्योंको जैसे दर्पण बिम्बोंको ग्रहण करते हैं वैसे ही अनास्थासे ग्रहण करते हैं । संसारस्थितिमें सोये हुए आत्मनिष्ठ पुरुष स्वात्मामें ही जागरूक रहते हैं । सुषुप्तके सदृश आशयवाले वे बालकोंकी नाईं व्यवहार करते हैं ॥ २३, २४ ॥

त्वमजितपदवीमुपागतोऽन्तः कमलजवासरमेकमेव भुक्त्वा ।
गुणगणकलितामिहैव लक्ष्मीं व्रज परमास्पदमच्युतं महात्मन् ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशम-प्रकरणे प्रह्लादबोधनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

जगद्रत्नसमुद्रेन त्रैलोक्याद्भुतदर्शिना ।
इत्युक्ते पद्मनाभेन ज्योत्स्नाशीतलया गिरा ॥ १ ॥
प्रह्लादनामा देहोऽसौ विकाशिनयनाम्बुजः ।
मुदोवाच वचो धीरो गृहीतमननक्रमः ॥ २ ॥

हे महात्मन्, भीतर भगवान् विष्णुकी पदवीको प्राप्त हुए तुम ब्रह्माके एक दिनतक इस पातालमें ही विविध गुणोंसे युक्त राज्यलक्ष्मीका उपभोगकर विदेह कैवल्यनामक च्युतिरहित परमपदको प्राप्त होओ ॥ २५ ॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतालीसवाँ सर्ग

[भगवान्‌का स्वाज्ञावर्ती दैत्यराज प्रह्लादसे सपरिवार पूजा ग्रहणकर दैत्यराज्यमें अभिषेकपूर्वक उसे वर देना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रलयमें जगद्रूपी रत्नोंको अपने अन्दर समेट लेनेके कारण जगद्रूप रत्नोंके सन्दूकरूप और सृष्टिकालमें त्रैलोक्य-रूपी अद्भुत पदार्थका दर्शन करनेवाले भगवान् विष्णुके चाँदनीके समान शीतल वाणीसे पूर्वोक्त बातें कहनेपर पूर्वोक्त प्रह्लादनामक देहने, मारे आनन्दके जिसके नेत्रकमल विकसित थे और जिसने मनन ग्रहण कर लिया था, प्रसन्नतासे निम्न निर्दिष्ट वचन कहे ॥ १, २ ॥

प्रह्लाद उवाच

हिताहितविचारेण राजकार्यशतेन च ।
अत्यहं श्रमितो देव क्षणं विश्रामतां गतः ॥ ३ ॥
भगवंस्त्वत्प्रसादेन स्थितिः सम्यगथाऽऽगता ।
समाधावसमाधौ च रूपेणाऽहं समः सदा ॥ ४ ॥
चिरमन्तर्महादेव दृष्टोऽस्यमलया धिया ।
पुनर्बहिरयं दृष्ट्या दिष्ट्या देव प्रदृश्यसे ॥ ५ ॥
अहमासमनन्तायामस्यां दृष्टौ महेश्वर ।
सर्वसङ्कल्पमुक्तायां व्योम व्योम्नीव निर्मले ॥ ६ ॥
न शोकेन न मोहेन न च वैराग्यचिन्तया ।
न देहत्यागकार्येण न संसारभयेन च ॥ ७ ॥
एकस्मिन् विद्यमाने हि कुतः शोकः कुतः क्षतिः ।
कुतो देहः क्व संसारः क्व स्थितिः क्व भयाभये ॥ ८ ॥

प्रह्लादने कहा—भगवन्, असुरोंका क्या हित है और देवताओंका क्या अहित है, इस विचारसे और सैकड़ों राज्य कार्योंसे मैं अत्यन्त थक गया था, अतएव एक क्षणके लिए मैंने विश्राम लिया ॥ ३ ॥

हे देवाधिदेव, आपके प्रसादसे तत्त्वबोध द्वारा स्वरूपावस्थिति मुझे भली-भाँति प्राप्त हो गई है । मैं समाधि और असमाधिमें तथा सदेह और विदेह मुक्तियोंमें पारमार्थिक रूपसे सदा समान ही हूँ ॥ ४ ॥

हे महादेव, मैंने निर्मल अखण्ड मानस साक्षात्कार वृत्तिसे चिरकालतक आपके दर्शन किये हैं । इस समय फिर चर्म चक्षुसे भी बड़े भाग्यवश ये आप मेरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ ५ ॥

हे महेश्वर, मैं सब सङ्कल्पोंसे निर्मुक्त इस अनन्त आन्तर दृष्टिमें निर्मल आकाशमें आकाशकी तरह न शोकसे, न मोहसे, न वैराग्यचिन्तासे, न देहत्यागके कार्यसे और न संसारभयसे ही स्थित था । भाव यह कि शोक, मोह आदि निमित्तोंसे मैं समाधिमें स्थित नहीं था, जिससे मेरे देहत्यागका प्रसंग आता ॥ ६, ७ ॥

यदि कहें कि पिताके राज्य आदिके नाश आदि शोकके हेतु तो तुमने

यथेच्छयैवाऽमलया केवलं स्वयमुत्थया ।
एवमेवाऽहमवसं वितते पावने पदे ॥ ९ ॥
हा विरक्तोऽस्मि संसारं त्यजामीतीयमीश्वर ।
अप्रबुद्धदृशां चिन्ता हर्षशोकविकारदा ॥ १० ॥
देहाभावे न दुःखानि देहे दुःखानि मे मतिः ।
इति चिन्ताविषव्याली मूर्खमेवाऽवलुम्पति ॥ ११ ॥

देखे ही हैं, उनका अपलाप कैसे करते हो ? तो इसपर कहते हैं—**'एकस्मिन्'** इत्यादिसे ।

एक तत्त्ववस्तुके विद्यमान रहते कहाँसे शोक, कहाँसे नाश और कहाँसे शरीर होगा ? कहाँपर संसार, कहाँपर स्थिति और कहाँपर भय और अभय होंगे ? भाव यह है कि सचमुच यहाँपर मैंने शोकके हेतु पिताके राज्यादिनाश आदि देखे, पर अद्वैत आत्मामें शोकहेतु नहीं है, इसलिए मेरी यह समाधि शोकहेतुक नहीं है ॥ ८ ॥

तब तुम्हारी समाधिका हेतु क्या है ? ऐसा यदि प्रश्न हो, तो विचारसे उत्पन्न विश्रान्तिकी इच्छा ही मेरी समाधिमें हेतु है, ऐसा कहते हैं—**'यथेच्छया'** इत्यादिसे ।

अपने-आप उत्पन्न हुई निर्मल यथेच्छासे ही देहत्याग आदिके सङ्कल्पके बिना ही विस्तृत पावन पदमें मैं स्थित हुआ हूँ ॥ ९ ॥

यदि कोई कहे 'न च वैराग्यचिन्तया' इस अंशसे वैराग्यका निराकरण उचित नहीं है, क्योंकि विचारपूर्वक समाधिमें वैराग्य अनुकूल ही है; प्रतिकूल नहीं है, तो इसपर कहते हैं—**'हा विरक्तोऽस्मि'** इत्यादिसे

हे ईश्वर, हाय ! मैं विरक्त हूँ, संसारका त्याग करता हूँ, इस प्रकारकी अज्ञानियोंकी चिन्ता हर्षशोकरूपी विकार देनेवाली है ॥ १० ॥

वैराग्यके समाधिकारण होनेपर रागयुक्त देहमें भी दुःखहेतुत्वका अनुभव होगा, अतः उसका त्याग भी समाधिमें निमित्त होगा, वह भी अज्ञानियोंका ही अभीष्ट है मेरा अभीष्ट नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'देहाभावे'** इत्यादिसे ।

देहका अभाव होनेपर दुःख नहीं रहते, देहमें दुःख रहते हैं, इस प्रकारकी चिन्तारूपी विषैली नागिन मूर्खको ही डंसती है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥११॥

इदं सुखमिदं दुःखमिदं नाऽस्तीदमस्ति मे।
इति दोलायितं चेतो मूढमेव न पण्डितम् ॥ १२ ॥
अहमन्योऽन्य एवाऽयमित्यज्ञानां तु वासना।
दूरोदस्तात्मबुद्धीनां जयत्यसुमतामिह ॥ १३ ॥
इदं त्याज्यमिदं ग्राह्यमिति मिथ्या मनोभ्रमः।
नोन्मत्ततां नयत्यन्तर्ज्ञमज्ञमिव दुर्धियः ॥ १४ ॥
सर्वस्मिन्नात्मनि तते त्वयि तामरसेक्षण।
हेयोपादेयपक्षस्था द्वितीया कलना कुतः ॥ १५ ॥
विज्ञानाभासमखिलं जगत्सदसदुत्थितम्।
किं हेयं किमुपादेयमिह यत्त्यज्यते न वा ॥ १६ ॥

इसलिए सुखप्राप्तिकी इच्छासे अथवा दुःखनिवृत्तिकी इच्छासे मैंने समाधि नहीं ली, ऐसा कहते हैं—**'इदं'** इत्यादिसे।

यह सुख है, यह दुःख है, यह मेरा है और यह मेरा नहीं है इस प्रकार दोलायमान चित्त मूढ़को ही नष्ट करता है, पण्डितको नहीं ॥ १२ ॥

तब भेदवासनाके क्षयकी इच्छासे तुमने समाधि ली होगी, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—**'अहम्०'** इत्यादिसे।

मैं अन्य हूँ और यह अन्य है, इस प्रकारकी वासना उन्हीं अज्ञानी जीवोंको होती है, जिन्होंने तत्त्वज्ञानको बहुत दूर फेंक दिया है, तत्त्वज्ञानियोंको ऐसी वासना नहीं होती ॥ १३ ॥

संसारके त्यागके लिए अथवा मोक्षकी प्राप्तिके लिए तुमने समाधि ली होगी, ऐसा यदि कहें, तो उसपर कहते हैं—**'इदं'** इत्यादिसे।

यह त्याज्य हैं और यह ग्राह्य है इस प्रकारका दुर्बुद्धियोंका मिथ्या मनोभ्रम अज्ञानीकी तरह ज्ञानीको उन्मत्त नहीं बनाता ॥ १४ ॥

हे कमलनयन, सबमें आत्मरूप आपके व्याप्त होनेपर हेयोपादेय पक्षमें स्थित दूसरी कल्पना कहाँसे हो सकती है ? ॥ १५ ॥

भ्रान्तिज्ञानमें शुक्तिरजतके समान भासित होनेवाला परमार्थरूपसे भासित न होनेवाला यह सारा जगत् आत्मा और मायाके अन्योन्यतादात्म्याध्यास-

केवलं स्वस्वभावेन द्रष्टृदृश्ये विचारयन् ।
क्षणं विश्रान्तवानन्तः परमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ १७ ॥

भावाभावविनिर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः ।
एवमासमहं पूर्वमधुनेत्थं व्यवस्थितः ॥ १८ ॥

स मयाऽऽत्मीयमापन्नं सर्वमात्माऽऽत्मतां गतः ।
करोम्यहं महादेव तुभ्यं यत्परिरोचते ॥ १९ ॥

त्वमयं पुण्डरीकाक्षः पूज्यस्तावज्जगत्त्रये ।
तन्मत्तः प्रकृतिप्राप्तां पूजामादातुमर्हसि ॥ २० ॥

रूप मिथुनीकरणसे उत्पन्न हुआ है । यहाँपर क्या वस्तु हेय और क्या वस्तु उपादेय है, जिसका कि त्याग अथवा ग्रहण किया जाय ॥ १६ ॥

इसलिए मेरी तत्त्वविचारविश्रान्ति ही समाधि हो गई, ऐसा कहते हैं—**'केवलम्'** इत्यादिसे ।

अपने स्वभावसे केवल द्रष्टा और दृश्यका विचार कर रहे असीम परमात्मरूप मैंने अपनेसे अपनेमें क्षणभर विश्राम लिया ॥ १७ ॥

समाधिकालमें मैं इष्ट और अनिष्ट (प्रिय और अप्रिय) से रहित हेयोपादेयसे विहीन था । इस समय (व्युत्थान कालमें) यों (आपसे आज्ञप्त पदार्थोंके ग्रहणकी योग्यतासे) स्थित हूँ ॥ १८ ॥

वह अपने स्वभावको प्राप्त हुआ मैं मेरे द्वारा स्वकर्तव्यतासे प्राप्त किये गये आपसे आज्ञप्त सब कार्य करता हूँ, अपने रागसे नहीं, किन्तु आपकी इच्छाका वशवर्ती होकर ॥ १९ ॥

जैसे आपके द्वारा आज्ञप्त राज्यको, जो मुझे स्वभावतः प्राप्त है, मैं स्वीकार करता हूँ वैसे ही आप भी मेरे द्वारा की गई पूजाको, जो सर्वेश्वर होनेके कारण आपको नियमतः प्राप्त है, ग्रहण कीजिये, ऐसा कहते हैं—**'त्वम०'** इत्यादिसे ।

ये आप पुण्डरीकाक्ष हैं, तीनों जगतोंमें पूज्य हैं, इसलिए मुझसे शास्त्र और लोकप्रसिद्धिसे प्राप्त पूजाको आप ग्रहण कीजिये ॥ २० ॥

इत्युक्त्वा दानवाधीशः पुरः क्षीरोदशायिनः ।
शैलेन्द्र इव पूर्णेन्दुमर्घपात्रमुपाददे ॥ २१ ॥
सायुधं साप्सरोवृन्दं ससुरं सखगाधिपम् ।
पूजयामास गोविन्दं सत्रैलोक्यमथाऽग्रगम् ॥ २२ ॥
सबाह्याभ्यन्तराभ्रान्तभुवनं भुवनेश्वरम् ।
पूजयित्वाऽथ तिष्ठन्तमुवाच कमलापतिः ॥ २३ ॥

श्रीभगवानुवाच

उत्तिष्ठ दानवाधीश सिंहासनमुपाश्रय ।
यावदाश्वभिषेकं ते स्वयमेव ददाम्यहम् ॥ २४ ॥
पाञ्चजन्यरवं श्रुत्वा य इमे समुपागताः ।
सिद्धाः साध्याः सुरौघास्ते कुर्वन्तु तव मङ्गलम् ॥ २५ ॥
इत्युक्त्वा पुण्डरीकाक्षो दानवं सिंहविष्टरे ।
योजयामास योग्यं तं मेरुशृङ्ग इवाऽम्बुदम् ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर दानवराज प्रह्लादने क्षीरोदशायी भगवान्‌के आगे शैलराज जैसे पूर्ण चन्द्रमाको उपस्थित करता है वैसे ही अर्घपात्र उपस्थित किया ॥ २१ ॥

प्रह्लादने अपने शङ्ख, चक्र आदि आयुधोंसे युक्त, अप्सराओं द्वारा परिवेष्टित, देवताओंसे परिवृत, पक्षिराज गरुड़से युक्त, उदरके अन्दर स्थित त्रैलोक्यसहित, अपने सामने स्थित भगवान् विष्णुकी, जिनके बाहर रोमकूप आदिमें और भीतर वस्ति, उदर, हृदय आदिमें लोक घूम रहे थे, पूजा की । पूजा करके खड़े हुए प्रह्लादसे भगवान्‌ने कहा ॥ २२, २३ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे दानवराज, उठो, सिंहासनपर बैठो, मैं स्वयं अपने हाथोंसे शीघ्र तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ ॥ २४ ॥

पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि सुनकर जो ये सिद्ध, साध्य और देववृन्द आये हैं वे तुम्हारा मङ्गल करें, ऐसा कह कर भगवान्‌ने मेरुके शिखरपर मेघोंके समान योग्य उस दानवको सिंहासनपर बैठाया ॥ २५, २६ ॥

अथैनं हरिराहूतैः क्षीरोदाद्यैर्महाब्धिभिः ।
गङ्गादिभिः सरित्पूरैः सर्वतीर्थजलैस्तथा ॥ २७ ॥
सर्वविप्रर्षिसङ्घैश्च सर्वसिद्धगणैः सह ।
पुनर्विद्याधरयुतो लोकपालसमन्वितः ॥ २८ ॥
अभ्यषिञ्चदमेयात्मा दैत्यराज्ये महासुरम् ।
मरुद्गणैः स्तूयमानं पूर्वं स्वर्गे हरिं यथा ॥ २९ ॥
सुरासुरैः स्तूयमानं स्तूयमानः सुरासुरैः ।
अभिषिक्तमुवाचेदं प्रह्लादं मधुसूदनः ॥ ३० ॥

श्रीभगवानुवाच

यावन्मेरुर्धरा यावद्यावच्चन्द्रार्कमण्डले ।
अखण्डितगुणश्लाघी तावद्राजा भवाऽनघ ॥ ३१ ॥
इष्टानिष्टफलं त्यक्त्वा समदर्शनया धिया ।
वीतरागभयक्रोधो राज्यं समनुपालय ॥ ३२ ॥
राज्येऽस्मिन् भोगसम्पूर्णे दृष्टानुत्तमभूमिना ।
न गन्तव्यस्त्वयोद्वेगः स्वर्गे मानवकेऽथवा ॥ ३३ ॥

इसके बाद अप्रमेय भगवान् श्रीहरिने विद्याधर और लोकपालोंसे परिवृत होकर बुलाये गये क्षीरोद आदि महासागरों, गङ्गा आदि जलप्रवाहों और सब तीर्थके जलोंसे, सब विप्रर्षियों और सब सिद्धगणोंके साथ असुरराज प्रह्लादका दैत्यराज्यमें ऐसे ही अभिषेक किया जैसे कि पहले स्वर्गमें देववृन्दोंसे स्तूयमान इन्द्रका अभिषेक किया था ॥ २७–२९ ॥

सुर और असुरोंसे स्तूयमान भगवान् श्रीहरिने राज्यमें अभिषिक्त, सुर और असुरोंसे स्तूयमान प्रह्लादसे यह कहा ॥ ३० ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे अनघ, तुम जबतक पृथिवी और जबतक चन्द्र-सूर्य मण्डल हैं तबतक अखण्डित गुणोंसे प्रशंसनीय राजा होओ ॥ ३१ ॥

अनुराग, भय और क्रोधसे रहित तुम, इष्ट और अनिष्ट फलका त्यागकर समबुद्धिसे राज्यका पालन करो ॥ ३२ ॥

तुम निरतिशयानन्द भूमि देख चुके हो, अतएव तुम्हें सब भोगोंसे परिपूर्ण

देशकालक्रियाकारैर्यथाप्राप्तासु दृष्टिसु ।
प्रकृतं कार्यमातिष्ठ त्यक्त्वा मानसमास्स्व भो ॥ ३४ ॥
अतिदेहतयेदन्ताममतापरिवर्जितम् ।
भावाभावे समं कार्यं कुर्वन्निह न बाध्यसे ॥ ३५ ॥
दृष्टसंसारपर्यायस्तुलितातुलतत्पदः ।
सर्वं सर्वत्र जानासि किमन्यदुपदिश्यते ॥ ३६ ॥
वीतरागभयक्रोधे त्वयि राजनि राजति ।
नेदानीं दुःखदुर्ग्रन्थिर्नाऽसुरान् दलयिष्यति ॥ ३७ ॥
बाष्पश्रीर्नाऽसुरीकर्णमञ्जरीः प्लावयिष्यति ।
वनराजिमिवोन्मत्ता सरित्तारतरङ्गिणी ॥ ३८ ॥

राज्यमें अरतिरूप उद्वेग नहीं करना चाहिये और अपने पिता-पितामहोंकी भाँति स्वर्ग अथवा भूलोकमें उद्वेग उत्पन्न नहीं कराना चाहिये ॥ ३३ ॥

प्रजा, शत्रु आदिके ऊपर निग्रह, अनुग्रह आदि यथाप्राप्त दृष्टियोंमें तत्-तत् पुरुषोंके अनुरूप देश, काल और क्रियासे अपने ऊपर प्राप्त वध, बन्धन आदि कार्य करो। राग, द्वेष आदि विषमताका त्यागकर रहो। देहसे अतिरिक्त आत्मा है इस भावसे लाभ और हानिमें समानरूपसे इदन्ता और ममतासे वर्जित कार्य कर रहे तुम सुख-दुःखोंसे पीडित नहीं होओगे ॥ ३४, ३५ ॥

तुम संसारके व्यवहारको देख चुके हो, अनुपम उस परम पदका भी तुम्हें अनुभव हो चुका है, इसलिए सर्वत्र सब कुछ तुम जानते हो। तुम्हारे लिए अधिक क्या उपदेश किया जाय ? अर्थात् व्यवहार और परमार्थमें तुम कुशल हो तुम्हारे लिए उपदेशकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३६ ॥

अनुराग, भय और क्रोधसे रहित तुम्हारे राजा होनेपर अब असुरोंमें दुःख-रूपी दुर्ग्रन्थि नहीं रहेगी और देवताओंमें स्थित वह दुःखदुर्ग्रन्थि मेरे द्वारा असुरोंका संहार नहीं करावेगी ॥ ३७ ॥

अब जैसे वर्षा ऋतुमें बढ़ी हुई बड़ी बड़ी तरंगवाली नदी वनस्थलीको प्लावित कर देती है वैसे ही आंसुओंकी धारा असुरनारियोंकी कर्णमञ्जरियोंको प्लावित नहीं करेगी ॥ ३८ ॥

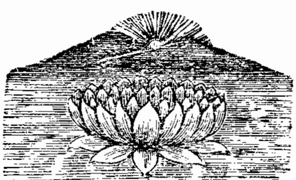
अद्यप्रभृत्यसंप्राप्तदानवामरसङ्गरम् ।
निर्मन्दराम्भोनिधिवज्जगत्स्वस्थमिव स्थितम् ॥ ३९ ॥
देवासुरकुटुम्बिन्यो भर्तृष्वन्तःपुरेषु च ।
स्वेष्वेव यान्तु विश्वासमपरस्परमाहृताः ॥ ४० ॥
भव बहुलनिशानितान्तनिद्रा-
तिमिरमपास्य सदोदिताशयश्रीः ।
दनुसुत वनिताविलासरम्यां
चिरमजितामुपभुङ्क्ष्व राज्यलक्ष्मीम् ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशम-प्रकरणे प्रह्लादाभिषेको नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

आजसे लेकर देव-दानवोंके युद्धसे वञ्चित जगत् मन्दररहित सागरके समान स्वस्थ-सा हो जायगा। देवता और असुरोंकी नारियां एक दूसरेके पतियोंसे बन्दी न होकर अपने ही अन्तःपुरों और पतियोंमें विश्वासको प्राप्त हों ॥ ३९–४० ॥

हे दानव, तुम कृष्णपक्षकी रात्रियोंमें गाढ़ निद्रा और अन्धकाररूप अज्ञानान्धकारको दूर कर सदा उदित, स्वप्रकाश ब्रह्मात्म स्फूर्तिवाले होकर असुरोंकी स्त्रियोंके विलासोंसे रमणीय तथा काम आदि शत्रुओंसे अपराभूत राज्यलक्ष्मीका चिरकालतक उपभोग करो ॥ ४१ ॥

इकतालीसवां सर्ग समाप्त



द्विचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा पुण्डरीकाक्षः सनरामरकिन्नरः ।
द्वितीय इव संसारश्चचालाऽसुरमन्दिरात् ॥ १ ॥
प्रह्लादादिविनिर्मुक्तैः पश्चात्पुष्पाञ्जलिव्रजैः ।
पूर्यमाणो विहङ्गेशपाश्चात्याङ्गरुहोत्करैः ॥ २ ॥
क्रमात् क्षीरोदमासाद्य विसृज्य सुरवाहिनीम् ।
भोगिभोगासने तस्थौ श्वेताब्ज इव षट्पदः ॥ ३ ॥
भोगिभोगासने विष्णुः शक्रः स्वर्गे सहाऽमरैः ।
पाताले दानवाधीश इति तस्थुर्गतज्वराः ॥ ४ ॥
एष ते कथिता राम निःशेषमलनाशिनी ।
प्राह्लादी बोधसंप्राप्तिरैन्दवद्रवशीतला ॥ ५ ॥

बयालीसवाँ सर्ग

[भगवान् विष्णुका पुनः क्षीरसागरमें गमन, आख्यानका उत्तम फल और समाधिसे जीवन्मुक्तोंके व्युत्थानमें हेतुका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा कहकर सुर, नर और किन्नरोंके सहित भगवान् पुण्डरीकाक्ष, जो सुर, नर और किन्नरोंसे युक्त होनेके कारण ही दूसरे संसारके समान विस्तृत थे, असुरगृहसे चले ॥ १ ॥

प्रह्लाद आदि द्वारा पीछेसे छोड़ी गई पुष्पाञ्जलियोंकी राशिसे, जो पक्षिराज गरुड़के पीछेके परोंपर राशिभूत हो गई थी, आच्छन्न किये जा रहे भगवान् क्रमसे क्षीरसागरमें पहुँचकर तदनन्तर सुरवृन्दको विदाकर जैसे सफेद कमलपर भ्रमर बैठता है वैसे ही शेषशय्यापर स्थित हुए ॥ २, ३ ॥

इस प्रकार शेषनागके शरीररूपी आसनपर भगवान् विष्णु, स्वर्गमें देवताओंके साथ इन्द्र और पातालमें असुरराज प्रह्लाद तीनों ही सन्तापरहित होकर स्थित हुए ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह अशेष पापोंको दूर करनेवाली प्रह्लादकी ज्ञानप्राप्ति, जो चन्द्रमाके अमृतके समान शीतल है, मैंने आपसे कही ॥ ५ ॥

तां तु ये मानवा लोके बहुदुष्कृतिनोऽपि हि ।
धिया विचारयिष्यन्ति ते प्राप्स्यन्त्यचिरात् पदम् ॥ ६ ॥
सामान्येन विचारेण क्षयमायाति दुष्कृतम् ।
योगवाक्यविचारेण को न याति परं पदम् ॥ ७ ॥
अज्ञानमुच्यते पापं तद्विचारेण नश्यति ।
पापमूलच्छिदं तस्माद् विचारं न परित्यजेत् ॥ ८ ॥
इमां प्रह्लादसंसिद्धिं प्रविचारयतां नृणाम् ।
सप्तजन्मकृतं पापं क्षयमायात्यसंशयम् ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

परे पदे परिणतं पाञ्चजन्यस्वनैर्मनः ।
कथं प्रबुद्धं भगवन् प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ १० ॥

उसका जो मनुष्य, चाहे वे बड़े पातकी ही क्यों न हों, संसारमें बुद्धिपूर्वक विचार करेंगे, वे शीघ्र परम पदको प्राप्त होंगे ॥ ६ ॥

सामान्य विचारसे भी जब पापका नाश हो जाता है तब वेदान्तवाक्योंके विचारसे कौन परम पदको प्राप्त न होगा ? ॥ ७ ॥

अज्ञान पाप कहलाता है, वह विचारसे नष्ट होता है, इसलिए पापकी जड़ उखाड़ फेंकनेवाले विचारका परित्याग नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

प्रह्लादकी इस सिद्धिका विचार कर रहे लोगोंके सात जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ९ ॥

विदेहमुक्तके साथ समाधिमुक्तके विश्रान्तिसुखकी समता होनेपर फिर उसके व्युत्थानमें हेतु जाननेकी इच्छा कर रहे रामचन्द्रजी पूछते हैं—**'परे'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, महात्मा प्रह्लादका परम पदमें परिणत मन पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनिसे कैसे प्रबुद्ध हुआ ? भाव यह है कि मनका विलय होनेपर पाञ्चजन्य शङ्खध्वनिका श्रवण ही दुर्लभ है, फिर उससे वह कैसे प्रबुद्ध हुआ ? ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

द्विविधा मुक्तता लोके संभवत्यनघाकृते ।
सदेहैका विदेहाऽन्या विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ११ ॥
असंसक्तमतेर्यस्य त्यागादानेषु कर्मणाम् ।
नैषणा तत्स्थितिं विद्धि त्वं जीवन्मुक्ततामिह ॥ १२ ॥
सैव देहक्षये राम पुनर्जननवर्जिता ।
विदेहमुक्तता प्रोक्ता तत्स्था नाऽऽयान्ति दृश्यताम् ॥ १३ ॥
भ्रष्टबीजोपमा भूयोजन्माङ्कुरविवर्जिताः ।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ॥ १४ ॥
पावनी परमोदारा शुद्धसत्त्वानुपातिनी ।
आत्मध्यानमयी नित्यं सुषुप्तस्येव तिष्ठति ॥ १५ ॥
अपि वर्षसहस्रान्ते तयैवाऽन्तरवस्थया ।
सति देहे प्रबुद्धयन्ते जीवन्मुक्ता रघूद्वह ॥ १६ ॥

प्रारब्धशेषसे उद्बोधित शुद्ध वासना सहित भगवद्-इच्छा ही समाधिमुक्तके प्रबोधमें हेतु है यों विदेहमुक्तसे समाधिमुक्तका अन्तर कहनेके लिए सदेह और विदेह मुक्तियोंका विभाग दिखलाते हैं—'**द्विविधा**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे निष्पाप आकृतिवाले श्रीरामचन्द्रजी, लोकमें दो प्रकारकी मुक्ति होती है—एक सदेह मुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति । उसका यह विभाग है, उसे आप सुनिये ॥ ११ ॥

जिस अनासक्तमतिवाले पुरुषका इष्ट और अनिष्ट कर्मोंके त्याग और ग्रहणमें राग नहीं है, उसकी स्थितिको आप जीवन्मुक्ति जानिये ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वही देहधारणमें हेतुभूत प्रारब्धशेषका भोग द्वारा क्षय होनेपर पुनर्जन्मसे रहित विदेहमुक्ति कही गई है । विदेहमुक्तिमें स्थित भुने हुए बीजोंके सदृश अतएव पुनर्जन्मरूपी अङ्कुरसे रहित पुरुष देहदृश्यताको प्राप्त नहीं होते, किन्तु जीवन्मुक्त पुरुषोंके हृदयमें शुद्ध, पवित्र, तृष्णा, कार्पण्य आदिसे रहित, आत्मध्यानमयी शुद्धसत्त्वानुपातिनी वासना ऐसे ही रहती है जैसे कि सुषुप्त पुरुषके हृदयमें रहती है ॥ १३—१५ ॥

हे रघुवर, देहधारणहेतु प्रारब्धके शेष रहनेपर हज़ारों वर्षोंके बाद भी हृदयमें स्थित उसी वासनासे वे प्रबोधको प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

प्रह्लादोऽन्तस्थया शुद्धसत्त्ववासनया त्वया ।
बोधमाप महाबाहो शङ्खशब्दावबुद्धया ॥ १७ ॥
हरिरात्मा हि भूतानां तस्य यत्प्रतिभासते ।
तत्तथैव भवत्याशु सर्वमात्मैव कारणम् ॥ १८ ॥
प्रबोधमेतु प्रह्लादो यदैवेति विचिन्तितम् ।
निमेषाद् वासुदेवेन तदैवैतदुपस्थितम् ॥ १९ ॥
आत्मन्यकारणेनैव भूतानां कारणेन च ।
सृष्ट्यर्थं वपुरात्तं हि वासुदेवमयात्मना ॥ २० ॥
आत्मावलोकनेनाऽऽशु माधवः परिदृश्यते ।
माधवाराधनेनाऽऽशु स्वयमात्माऽवलोक्यते ॥ २१ ॥

हे महाबाहो, प्रह्लाद हृदयमें स्थित अपनी शुद्धसत्त्वमयी वासनासे, जो शङ्ख-ध्वनिसे उद्बुद्ध हुई थी, प्रबोधको प्राप्त हुआ था ॥ १७ ॥

यदि किसीको शङ्का हो कि श्रोत्रेन्द्रियके विलीन होनेपर शङ्खध्वनिका भी ग्रहण नहीं हो सकता, अतः शङ्खध्वनिमात्रसे कैसे प्रबोध हुआ ? तो उसका परिहार करते हुए कहते हैं—**'हरिः'** इत्यादिसे ।

भगवान् हरि सब प्राणियोंके आत्मा हैं उनको जैसा भान होता है वह सब शीघ्र वैसा ही हो जाता है, क्योंकि वे सत्यसंकल्प हैं ॥ १८ ॥

भगवान् वासुदेवने जभी प्रह्लाद प्रबोधको प्राप्त हो, ऐसा विचार किया तभी पलक भरमें ऐसा हो गया ॥ १९ ॥

स्वयं अकारण यानी शुद्धरूप भूतोंके कारण यानी अव्यक्त उन्होंने काम, कर्म आदि निमित्तोंसे अपनेमें ही जगत्की सृष्टिके लिए वासुदेवमयरूपसे शरीर ग्रहण किया है, ऐसी ही श्रुति, स्मृति और पुराणोंमें प्रसिद्धि है ॥ २० ॥

इसीलिए उनके शरीरका दर्शन होनेपर आत्मदर्शन होता है और आत्म-दर्शन होनेपर उनका दर्शन सुलभ हो जाता है, ऐसा कहते हैं—**'आत्मा०'** इत्यादिसे ।

आत्मदर्शनसे शीघ्र भगवान्का दर्शन हो जाता है और भगवान्की आरा-धनासे शीघ्र अपने-आप आत्माका दर्शन हो जाता है ॥ २१ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य राघवात्माऽऽवलोकने ।
विहराऽऽशु विचारात्मा पदं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ २२ ॥
दुःखासारवती राम संसारप्रावृडातता ।
जाड्यं ददाति परमं विचारार्कमपश्यताम् ॥ २३ ॥
प्रसादादात्मनो विष्णोर्मायेयमतिभासुरा ।
प्रबाधते न धीरांस्तु यक्षी मन्त्रवतो यथा ॥ २४ ॥
आत्मेच्छयैव घनतां समुपागतान्तरात्मेच्छयैव तनुतामुपयाति काले ।
संसारजालरचनेयमनन्तमायाज्वालेह वातवलयादिव पावकस्य ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशम-प्रकरणे प्रह्लादव्यवस्था नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस सृष्टिका अवलम्बन करके आप शीघ्र आत्मदर्शनके लिए प्रयत्न करो। विचारात्मा आप नित्य पदको प्राप्त होवेंगे ॥ २२ ॥

हे रामचन्द्रजी, दुःखरूपी मुसलाधार वृष्टिवाली संसाररूपी वर्षा ऋतु, जो चारों ओर व्याप्त है, विचाररूपी सूर्यको न देख रहे लोगोंको परम अज्ञान देती है ॥ २३ ॥

यह अत्यन्त देदीप्यमान माया विष्णुरूप आत्माके प्रसादसे धीर पुरुषोंको ऐसे ही पीड़ित नहीं करती जैसे मन्त्रसिद्ध पुरुषोंको पिशाची पीड़ित नहीं कर सकती ॥ २४ ॥

जैसे अग्निकी ज्वाला वायुके कारण ही निविडताको प्राप्त होती है और अन्तमें क्षीणताको प्राप्त हो जाती है वैसे ही संसारजालरचनारूप यह विष्णुमाया आत्माकी इच्छासे ही देहादिरूप निविड़ अनर्थताको प्राप्त हुई है। निश्चय भक्ति, ध्यान आदिसे आराधित आत्माकी इच्छासे ही विवेक, विचार आदिके जन्मके समय क्षीणताको प्राप्त हो जाती है, अतएव ईश्वरप्रसादसे उत्पन्न विचार आदिसे ही अवश्य ज्ञानलाभ होता है, यही इस उपाख्यानका तात्पर्य है ॥ २५ ॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ शुद्धैस्त्वद्वचनांशुभिः ।
निर्वृताः स्म शशाङ्कस्य करैरोषधयो यथा ॥ १ ॥
कर्णाभिवाञ्छ्यमानानि पवित्राणि मृदूनि च ।
सुखयन्ति गृहीतानि पुष्पाणीव वचांसि ते ॥ २ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन सर्वमासाद्यते यदि ।
प्रह्लादस्तत्कथं बुद्धो न माधववरं विना ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यद्यद्राघव संप्राप्तं प्रह्लादेन महात्मना ।
तत्तदासादितं तेन पौरुषादेव नाऽन्यतः ॥ ४ ॥

तेंतालीसवाँ सर्ग

[यद्यपि ज्ञान ईश्वरके प्रसादसे लभ्य है तथापि ईश्वरपर भार देना ठीक नहीं। अपने पौरुष द्वारा इन्द्रियोंको वशमें करनेसे ज्ञान प्राप्त होता है, यह वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे सब धर्मोंके ज्ञाता, हे भगवन्, जैसे चन्द्रमाकी किरणोंसे औषधियां आह्लादित होती हैं वैसे ही स्फटिकके समान शुद्ध आपके वचनरूपी किरणोंसे हम आह्लादित हुए हैं ॥ १ ॥

जैसे कर्णभूषणके लिए कानों द्वारा वाञ्छित, गुरु, देवता आदिकी प्रसन्नतासे पाप दूर करनेके कारण पवित्र और कोमल फूल ग्रहण करनेपर सुख देते हैं वैसे ही कानोंको भले लगनेवाले पवित्र और कोमल आपके वचन हम लोगों द्वारा गृहीत होनेपर सुख देते हैं ॥ २ ॥

भगवन्, यदि पौरुष प्रयत्नसे ही सब कुछ प्राप्त होता है, तो प्रह्लाद भगवान्‌के वरके बिना भी अपने ही पौरुषसे क्यों प्रबुद्ध नहीं हुआ है ? इससे अपने पौरुषसे ही सर्वत्र ज्ञान लाभ होता है, ऐसा जो नियम पहले कहा था उसका भंग हो गया, यह भाव है ॥ ३ ॥

अपने पौरुषसे सिद्ध होनेवाली पुरुषार्थसिद्धिमें भगवान्‌का वर भी द्वारविशेष

आत्मा नारायणश्चैव न भिन्नस्तिलतैलवत् ।
तथैव शौक्ल्यपटवत् कुसुमामोदवत्तथा ॥ ५ ॥
यो हि विष्णुः स एवाऽऽत्मा यो ह्यात्माऽसौ जनार्दनः ।
विष्ण्वात्मशब्दौ पर्यायौ यथा विटपिपादपौ ॥ ६ ॥
प्रह्लादनामा प्रथममात्मैव स्वयमात्मना ।
स्वयैव परया शक्त्या विष्णुभक्तौ नियोजितः ॥ ७ ॥

ही है स्वतन्त्र नहीं है, इसलिए पूर्वोक्त नियमभङ्ग नहीं हुआ, इस आशयसे संक्षेपमें उत्तर देते हैं—**'यद् यद्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, महात्मा प्रह्लादने जो कुछ प्राप्त किया वह सब अपने पौरुषसे ही उसने प्राप्त किया, दूसरेसे नहीं ॥ ४ ॥

अथवा विष्णुसे प्रह्लादात्माका भेद न होनेके कारण आत्मप्रयत्नसे प्राप्त वर प्रह्लादप्रयत्नसे ही प्राप्त हुआ, ऐसा यहाँपर परिहार हो सकता है, इस आशयसे कहते हैं—**'आत्मा'** इत्यादिसे ।

जैसे तिलोंके अन्तर्गत और तिलोंसे निकाला हुआ तेल भिन्न नहीं है वैसे ही आत्मा और नारायण भिन्न नहीं हैं । जैसे शुक्लता और वस्त्र भिन्न नहीं हैं वैसे ही आत्मा और नारायण भिन्न नहीं हैं और जैसे फूलोंका सार आमोद है वैसे ही जीवोंका परमार्थ सार विष्णु हैं, इसलिए भी उनमें अभेद जानना चाहिये ॥ ५ ॥

अथवा कार्य और कारण उपाधिका त्याग करनेपर अवशिष्ट चिन्मात्रका अभेद है ही । इस प्रकार लक्ष्यपरक विष्णु और आत्म शब्दकी पर्यायता ही है, ऐसा कहते हैं—**'यः'** इत्यादिसे ।

जो विष्णु है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही विष्णु है । जैसे विटपी और पादप शब्द पर्याय हैं वैसे ही विष्णु और आत्मशब्द पर्याय हैं । भाव यह कि विटपवत्त्व (शाखावत्त्व) और पादकरणकपानकर्तृत्वरूप उपाधिका भेद होनेपर भी अखण्डवृक्षस्वरूपमें जैसे विटपी और पादप शब्दोंकी पर्यायता है वैसे ही कार्य और कारणरूप उपाधिका भेद होनेपर भी परिशिष्ट चिन्मात्र स्वरूपमें आत्मा और विष्णु शब्दोंकी पर्यायता ही है ॥ ६ ॥

पहले प्रह्लादनामक आत्मा ही स्वयं अपने द्वारा अपनी परम शक्तिसे विष्णुभक्तिमें नियोजित हुआ ॥ ७ ॥

प्रह्लादो ह्यात्मनैवैनं वरमर्जितवान् स्वयम् ।
स्वयं विचारगं कृत्वा स्वयं विदितवान् मनः ॥ ८ ॥
कदाचिदात्मनैवाऽऽत्मा स्वयं शक्त्या प्रबुध्यते ।
कदाचिद्विष्णुदेहेन भक्तिलभ्येन बोध्यते ॥ ९ ॥
चिरमाराधितोऽप्येष परमप्रीतिमानपि ।
नाऽविचारवतो ज्ञानं दातुं शक्नोति माधवः ॥ १० ॥
मुख्यः पुरुषयत्नोत्थो विचारः स्वात्मदर्शने ।
गौणो वरादिको हेतुर्मुख्यहेतुपरो भव ॥ ११ ॥
पूर्वमेव बलात्तस्मादाक्रम्येन्द्रियपञ्चकम् ।
अभ्यसन् सर्वयत्नेन चित्तं कुरु विचारवत् ॥ १२ ॥

स्वात्मभूत विष्णुसे ही प्रह्लादने स्वयं इस वरका उपार्जन किया । अपने मनको स्वयं ही विचारयुक्त बनाकर अपने आत्माका उसने स्वयं ज्ञान प्राप्त किया ॥ ८ ॥

कभी स्वात्मभूत विष्णु द्वारा ही आत्मा अपने प्रयत्नसे किये गये विचारके बलसे स्वयं प्रबुद्ध किया जाता है और कभी भक्तिरूप प्रयत्नसे प्राप्त होनेवाले विष्णुदेह द्वारा बोधित होता है ॥ ९ ॥

अन्वयसे प्रदर्शित अर्थको व्यतिरेकके भी दर्शन द्वारा दृढ़ करते हैं—**'चिरम्'** इत्यादिसे ।

चिरकालसे आराधित भी परम प्रसन्न हुए भी ये भगवान् अविचार-शील पुरुषोंको ज्ञान नहीं दे सकते ॥ १० ॥

तुम्हें आत्मज्ञानपर्यन्त विचार प्राप्त हो इस प्रकार वर दे रहे भगवान् हरिको पुरुषप्रयत्नसे उत्पन्न विचार ही मुख्यरूपसे अभिमत है वर मुख्यरूपसे अभिमत नहीं है । अन्यथा तुम्हें ज्ञान हो, ऐसा ही वरदान देते, इस आशयसे कहते हैं—**'मुख्यः'** इत्यादिसे ।

आत्मसाक्षात्कारमें पुरुषप्रयत्नसे उत्पन्न हुआ विचार मुख्य कारण है, वर आदि गौण हैं, इसलिए तुम मुख्य हेतुमें संलग्न होओ ॥ ११ ॥

जिस विषयमें प्रयत्न करनेसे विचारोदय होता है, उसे दर्शाते हैं—**'पूर्वमेव'** इत्यादिसे ।

यद्यदासाद्यते किञ्चित् केनचित् क्वचिदेव हि ।
स्वशक्तिसंप्रवृत्त्या तल्लभ्यते नाऽन्यतः क्वचित् ॥ १३ ॥
पौरुषं यत्नमाश्रित्य प्रोल्लङ्घ्येन्द्रियपर्वतम् ।
संसारजलधिं तीर्त्वा पारं गच्छ परं पदम् ॥ १४ ॥
विना पुरुषयत्नेन दृश्यते चेज्जनार्दनः ।
मृगपक्षिगणं कस्मात्तदाऽसौ नोद्धरत्यजः ॥ १५ ॥
गुरुश्चेदुद्धरत्यज्ञमात्मीयात् पौरुषादृते ।
उष्ट्रं दान्तं बलीवर्दं तत् कस्मान्नोद्धरत्यसौ ॥ १६ ॥
न हरेर्न गुरोर्नाऽर्थात् किंचिदासाद्यते महत् ।
आक्रान्तमनसः स्वस्माद् यदासादितमात्मनः ॥ १७ ॥

इसलिए दसों इन्द्रियोंको जबरदस्ती अपने वशमें कर अभ्यास करते हुए सब प्रयत्नोंसे मनको विचारवान् बनाओ ॥ १२ ॥

कहींपर किसीके द्वारा जो कुछ भी पाया जाता है वह अपने यत्नसे प्रयुक्त शुभाचरणसे ही पाया जाता है, दूसरेसे कहींपर भी नहीं ॥ १३ ॥

पौरुष प्रयत्नका अवलम्बन कर इन्द्रियरूप पर्वतको लांघ कर संसाररूप सागरको पार कर परमपदको प्राप्त होओ ॥ १४ ॥

यदि पौरुष प्रयत्नके बिना भगवान् विष्णुका दर्शन हो, तो ये भगवान् मृग और पक्षियोंका क्यों नहीं उद्धार करते यानी आत्मतत्त्वका साक्षात्कार क्यों नहीं कराते ? ॥ १५ ॥

गुरुजी शिष्यके प्रयत्नके बिना ही शक्तिपात आदि द्वारा शिष्यका उद्धार करते हैं यह योगशास्त्र आदिमें प्रसिद्ध है, इसमें व्यभिचार आवेगा, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'गुरुश्चेत्'** इत्यादिसे ।

अपना पौरुष किये बिना यदि गुरु अज्ञानीका उद्धार करते हैं, तो ऊँट अथवा बैलका उद्धार क्यों नहीं करते हैं ? गुरुभक्ति आदि प्रयत्न ही वहांपर भी ज्ञानोत्पत्तिमें गुरुकृपाको द्वार बनाते हैं, यह भाव है ॥ १६ ॥

ज्ञानकी दृढ़तासे बाधित मनवाले अपने आत्मासे जो परम पुरुषार्थरूप परम पद प्राप्त किया गया, वह न तो भगवान् विष्णुसे कुछ प्राप्त किया जा सकता है, न गुरुसे और न धनसे ही प्राप्त किया जा सकता है ॥ १७ ॥

अभ्यासवैराग्ययुतादाक्रान्तेन्द्रियपन्नगात् ।
नाऽऽत्मनः प्राप्यते यत्तत्प्राप्यते न जगत्त्रयात् ॥ १८ ॥
आराधयाऽऽत्मनाऽऽत्मानमात्मनाऽऽत्मानमर्चय ।
आत्मनाऽऽत्मानमालोक्य संतिष्ठस्वाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ १९ ॥
शास्त्रयत्नविचारेभ्यो मूर्खाणां प्रपलायिनाम् ।
कल्पिता वैष्णवी भक्तिः प्रवृत्त्यर्थं शुभस्थितौ ॥ २० ॥
अभ्यासयत्नौ प्रथमं मुख्यो विधिरुदाहृतः ।
तदभावे तु गौणः स्यात् पूज्यपूजामयक्रमः ॥ २१ ॥
अस्ति चेदिन्द्रियाक्रान्तिः किं प्राप्यं पूजनैः फलम् ।
नाऽस्ति चेदिन्द्रियाक्रान्तिः किं प्राप्यं पूजनैः फलम् ॥ २२ ॥

अभ्यास और वैराग्यसे युक्त आत्मासे, जिसने इन्द्रियरूपी साँपोंको अपने वशमें कर लिया है, जो परम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं किया जा सकता है, वह तीनों जगतोंसे भी प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥ १८ ॥

हे वत्स, तुम अपने आत्माको यह उत्कृष्ट है, यह समझकर श्रवण आदिसे अपने-आप सिद्ध करो तथा सिद्ध हुए उसका अपने-आप निरन्तर अनुसन्धान द्वारा पूजन करो, अपने आत्माका अपने आप तत्त्वतः साक्षात्कार कर उसीमें अपने-आप भलीभाँति स्थित होओ ॥ १९ ॥

यदि अपने प्रयत्नसे उत्पन्न विचारसे ही ज्ञानका उदय होता है, तो शास्त्रोंमें विष्णु भगवान्‌की आराधनाका विधान किसलिए है ? ऐसी कोई शङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'**शास्त्र०**' इत्यादिसे ।

विषयोंमें आसक्तिकी प्रबलताके कारण अध्यात्मशास्त्रोंसे, इन्द्रियजय आदि प्रयत्नोंसे और विचारोंसे दूर भागनेवाले मूर्खोंकी कथंचित् शुभ मार्गमें प्रवृत्तिके लिए विष्णुकी भक्तिकी कल्पना की गई है ॥ २० ॥

पूर्वोक्त अर्थको युक्तियोंसे दृढ़ करते हैं—'**अभ्यास०**' इत्यादिसे ।

शास्त्रमें अभ्यास और प्रयत्न पहले मुख्य विधि कही गई है। उनके अभावमें पूज्यपूजारूप विधि गौण है ॥ २१ ॥

यदि इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली गई, तो पूजनोंसे क्या फल प्राप्य है?

विचारोपशमाभ्यां हि न विनाऽऽसाद्यते हरिः ।
विचारोपशमाभ्यां च मुक्तस्याऽब्जकरेण किम् ॥ २३ ॥

विचारोपशमोपेतं चित्तमाराधयाऽऽत्मनः ।
तस्मिन् सिद्धे भवान् सिद्धो नो चेत्त्वं वनगर्दभः ॥ २४ ॥

क्रियते माधवादीनां प्रणयप्रार्थना स्वयम् ।
तथैव क्रियते कस्मान्न स्वकस्यैव चेतसः ॥ २५ ॥

सर्वस्यैव जनस्याऽस्य विष्णुरभ्यन्तरे स्थितः ।
तं परित्यज्य ये यान्ति बहिर्विष्णुं नराधमाः ॥ २६ ॥

हृद्गुहावासिचित्तत्त्वं मुख्यं सानातनं वपुः ।
शङ्खचक्रगदाहस्तो गौण आकार आत्मनः ॥ २७ ॥

यदि इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त नहीं हुई, तो पूजनोंसे क्या फल प्राप्य है, यानी कुछ भी नहीं ॥ २२ ॥

विचार और उपशमके बिना पूर्णानन्द आत्मा स्वतन्त्ररूपसे तत्त्वतः प्राप्त नहीं होता । विचार और उपशमसे रहित (विषयासक्त) पुरुषका ईश्वर भी क्या प्रिय कर सकता है ? ॥ २३ ॥

विचार और उपशमसे युक्त अपने चित्तको प्रसन्न करो । उसके प्रसन्न होनेपर आप परम पुरुषार्थरूप सिद्धिको प्राप्त हो जाओगे । नहीं तो आप जंगली गदहेके सदृश हो ॥ २४ ॥

जैसे विष्णु आदि देवताओंकी विनयप्रार्थना स्वयं की जाती है, वैसे ही अपने ही चित्तकी प्रणयप्रार्थना क्यों नहीं की जाती है ? ॥ २५ ॥

इन सभी लोगोंके अन्दर भगवान् विष्णु स्थित हैं । उनका परित्याग करके जो बाह्य आराधना करते हैं, वे नराधम हैं । भाव यह कि मनोभक्ति ही मुख्य विष्णुभक्ति है बाह्य भक्ति मुख्य नहीं है ॥ २६ ॥

हृदयरूपी गुहामें निवास करनेवाला चित्-तत्त्व ही आत्माका (विष्णुका) मुख्य शाश्वत स्वरूप है । हाथमें शङ्ख, चक्र, गदा धारण किया हुआ आकार गौण है ॥ २७ ॥

यो हि मुख्यं परित्यज्य गौणं समनुधावति ।
त्यक्त्वा रसायनं सिद्धं साध्यं संसाधयत्यसौ ॥ २८ ॥

यस्तु भोः स्थितिमेवास्यामात्मज्ञानचमत्कृतौ ।
नाऽऽसादयति संमत्तमनाः स रघुनन्दन ॥ २९ ॥

अप्राप्तात्मविवेकोऽन्तरज्ञचित्तवशीकृतः ।
शङ्खचक्रगदापाणिमर्चयेत् परमेश्वरम् ॥ ३० ॥

तत्पूजनेन कष्टेन तपसा तस्य राघव ।
काले निर्मलतामेति चित्तं वैराग्यकारिणा ॥ ३१ ॥

नित्याभ्यासविवेकाभ्यां चित्तमाशु प्रसीदति ।
आम्र एव दशामेति साहकारीं शनैः शनैः ॥ ३२ ॥

एतदप्यात्मनैवाऽऽत्मा फलमाप्नोति भाषितम् ।
हरिपूजाक्रमाख्येन निमित्तेनाऽरिसूदन ॥ ३३ ॥

जो मुख्य आकारका त्याग कर गौण रूपका अनुसरण करता है वह, सिद्ध अमृतका त्याग कर साध्य धान आदिको कृषि द्वारा उत्पन्न करता है ॥२८॥

तब बाह्य विष्णुभक्तिका अधिकारी कौन है ? ऐसा प्रश्न होनेपर उसे कहते हैं—**'यस्तु'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे वत्स रघुनन्दन, जो उन्मत्त मनवाला पुरुष आत्मज्ञानके चमत्कारमें कदापि स्थितिको प्राप्त होता ही नहीं, आत्मविवेकलाभसे शून्य और अन्तगर्त अज्ञ मनका वशीभूत वह शङ्ख-चक्र-गदाधारी परमेश्वरकी पूजा करे ॥ २९, ३० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, परमेश्वरके पूजनसे, वैराग्यकारी क्लेशप्रद तपस्यासे उसका चित्त बहुत समयमें निर्मलताको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

नित्यके अभ्यास और विचारसे चित्त बहुत जल्दी निर्मल हो जाता है। आम ही धीरे-धीरे पुष्प, फल आदिमें अतिसुगन्धिरूप दशाको प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

हे शत्रुतापन, शास्त्रमें विष्णुपूजाक्रमरूप निमित्तसे जो फल कहा गया है, उसे भी अपने ही सङ्कल्पसे प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥

वरमाप्नोति यो वाऽपि विष्णोरमिततेजसः ।
तेन स्वस्यैव तत्प्राप्तं फलमभ्यासशाखिनः ॥ ३४ ॥
सर्वेषामुत्तमस्थानां सर्वासां चिरसंपदाम् ।
स्वमनोनिग्रहो भूमिर्भूमिः सस्यश्रियामिव ॥ ३५ ॥
अप्युर्वीखननोत्कस्य कर्षतोऽपि शिलोच्चयम् ।
स्वमनोनिग्रहादन्यो नोपायोस्तीह कश्चन ॥ ३६ ॥
तावज्जन्मसहस्राणि भ्रमन्ति भुवि मानवाः ।
यावन्नोपशमं याति मनोमत्तमहार्णवः ॥ ३७ ॥
ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्याश्चिरसंपूजिता अपि ।
उपप्लवान्मनोव्याधेर्न त्रायन्तेऽपि वत्सलाः ॥ ३८ ॥
आकारभासुरं त्यक्त्वा बाह्यमान्तरमप्यजम् ।
कुरु जन्मक्षयायाऽऽशु संविन्मात्रैकचिन्तनम् ॥ ३९ ॥

जो अमित तेजवाले विष्णुसे वरदान पाता है। उसने भी अपने ही अभ्यास-रूपी वृक्षका वह फल प्राप्त किया ॥ ३४ ॥

जैसे धान आदि बीजोंके अङ्कुरका उद्गमस्थान खेत होता है वैसे ही सब श्रेष्ठ पुरुषार्थोंके आग्रहों तथा सब चिरकालके लिए भोग्य सम्पत्तियोंका उद्गमन स्थान अपना मनोनिग्रह ही है ॥ ३५ ॥

निधि, रत्न आदिके लाभके लिए पृथ्वी खोदनेके लिए उत्सुक पुरुषका या अश्वमेधके अश्वको खोजनेके लिए पृथिवी खोदनेके लिए उत्सुक सगरके लड़कोंका अथवा मन्थाचलको खींच रहे देवता, असुर आदिका अपने मनके निग्रहके सिवा दूसरा कोई भी उपाय नहीं है यानी मनकी एकाग्रताके बिना महा-कार्योंकी सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है ॥ ३६ ॥

तबतक मनुष्य हजारों जन्मोंतक संसारमें भटकते रहते हैं जबतक कि मनरूपी मत्त महार्णव प्रशान्त नहीं हो जाता ॥ ३७ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र आदि देवाधिदेव चिरकालतक पूजित हों और दया भी करते हों, फिर भी वे मनोव्याधिके उपद्रवोंसे बचा नहीं सकते ॥ ३८ ॥

बाह्य इन्द्रियोंसे अनुभवमें आनेवाले और अन्तःकरणसे अनुभवमें आनेवाले भासुराकार विषयरूपका त्यागकर जन्मक्षयके लिए जन्मादिविकारशून्य सन्मात्रका अखण्डकार चिन्तन कीजिये ॥ ३९ ॥

संवेद्यनिर्मुक्तनिरामयैकसंविन्मयास्वादमनन्तरूपम् ।
सन्मात्रमास्वादय सर्वसारं पारं परं प्राप्स्यसि जन्मनद्याः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये उपशम-प्रकरणे प्रह्लादविश्रान्तिर्नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

रामाऽपर्यवसानेयं माया संसृतिनामिका ।
आत्मचित्तजयेनैव क्षयमायाति नाऽन्यथा ॥ १ ॥
जगन्मायाप्रपञ्चस्य वैचित्र्यप्रतिपत्तये ।
इतिहासमिमं वक्ष्ये शृणुष्वाऽवहितोऽनघ ॥ २ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंसे निर्मुक्त, निरामयैक-संविन्मय, स्वयं निरतिशयानन्दरूपसे भासित होनेवाले अनन्तरूप सन्मात्रका, जो सबका सार है, निरन्तर तदाकारवृत्तिसे आस्वाद लीजिये। यों उसका आस्वाद ले रहे आप जन्मरूपी नदीके उस पारमें पहुँच जायँगे ॥ ४० ॥

तेंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

[मनकी निराशताकी सिद्धिके लिए दृश्यकी व्यर्थ दुःखस्वरूपताका गाधिके आख्यानमें विस्तारसे प्रदर्शन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजन्द्रजी, संसारनामकी यह माया अपरिमित भ्रान्तिकी हेतु है। यह अपने चित्तपर विजय पानेसे ही क्षयको प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

हे अनघ, जगन्मायाप्रपञ्चकी विचित्रताके ज्ञानके लिए इस इतिहासको मैं आपसे कहूँगा, आप ध्यान देकर सुनिये ॥ २ ॥

अस्त्यस्मिन् वसुधापीठे कोशलो नाम मण्डलः ।
कल्पवृक्षवनं मेराविव रत्नगणाकरः ॥ ३ ॥
तत्राऽभूद् ब्राह्मणः कश्चिद् गुणी गाधिरिति श्रुतः ।
परमश्रोत्रियो धीमान् धर्ममूर्तिरिव स्थितः ॥ ४ ॥
आबाल्यात् प्रविरक्तेन चेतसा स व्यराजत ।
निष्कलङ्कावदातेन भुवनं नभसा यथा ॥ ५ ॥
किमप्यभिमतं कार्यं विनिधाय स्वचेतसि ।
बन्धुवृन्दाद् विनिष्क्रम्य तपस्तप्तुं वनं ययौ ॥ ६ ॥
उत्फुल्लकमलं प्राप सरस्तत्र स विप्रराट् ।
चन्द्रः प्रसन्नविमलं तारासारमिवाऽम्बरम् ॥ ७ ॥
आशौरिदर्शनं तस्मिंस्तपो सरसि द्विजः ।
आकण्ठमम्बुनिर्मग्नः प्रावृट्पद्म इवाऽविशत् ॥ ८ ॥
ययौ मासाष्टकं तस्य मग्नस्य सरसोऽम्भसि ।
वासपङ्कजसंकोचमनाग्भग्नमुखच्छवेः ॥ ९ ॥

मेरु पर्वतपर कल्पवृक्ष-वनके समान इस पृथिवीतलमें कोशलनामक विविध रत्नोंका आकरभूत देश है ॥ ३ ॥

वहांपर गाधि नामसे प्रख्यात कोई गुणवान् ब्राह्मण हुआ । वह परम श्रोत्रिय, धीमान् और मूर्तिमान् धर्म-सा था ॥ ४ ॥

जैसे निष्कलङ्क निर्मल आकाशसे भुवन विराजमान होता है वैसे ही बाल्यावस्थासे विरक्त निष्कलङ्क निर्मल चित्तसे वह विराजमान था ॥ ५ ॥

किसी अभीष्ट तपस्यारूप कार्यको अपना लक्ष्य बनाकर वह बन्धुओंके समूहसे हटकर तपस्या करनेके लिए वनमें चला गया ॥ ६ ॥

वहांपर जैसे चन्द्रमा अतिदर्शनीय अश्विनी आदि तारोंसे मण्डित और प्रसन्न-निर्मल आकाशको प्राप्त होता है वैसे ही वह विप्रराज फूले हुए कमलोंसे युक्त तालाबको प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

जबतक भगवान् विष्णुका दर्शन न मिले तबतक तपस्या करनेके लिए वर्षाकालके कमलके समान गलेतक जलमें डूबा हुआ वह ब्राह्मण उस तालाबमें प्रविष्ट हुआ ॥ ८ ॥

तालाबके जलमें डूबे हुए तथा निवासस्थानभूत तालाबके कमलोंका सूर्यके

अथैनं तपसा तप्तमाजगामैकदा हरिः ।
निदाघार्तं घनः श्यामः प्रावृषीव धरातलम् ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच

विप्रोत्तिष्ठ पयोमध्याद् गृहाणाऽभिमतं वरम् ।
अभीप्सितफलोपेतो जातस्ते नियमद्रुमः ॥ ११ ॥

ब्राह्मण उवाच

असंख्येयजगद्भूतहृत्पद्मकुहरालिने ।
जगत्त्रयैकनलिनीसरसे विष्णवे नमः ॥ १२ ॥
मायामिमां त्वद्रचितां भगवन् पारमात्मिकीम् ।
द्रष्टुमिच्छामि संसारनाम्नीमान्ध्यैककारिणीम् ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

इमां द्रक्ष्यसि मायां त्वं ततस्त्यक्ष्यसि चेत्यजः ।
उक्त्वा ययावदृश्यत्वं गान्धर्वमिव पत्तनम् ॥ १४ ॥

वियोगसे संकोच होनेपर उनके सहवासस्नेहसे तनिक मलिन मुखकमलवाले उसके आठ मास व्यतीत हो गये ॥ ९ ॥

तदनन्तर एक समय जैसे वर्षा ऋतुमें ग्रीष्मसे संतप्त पृथिवीतलपर काला मेघ आता है, वैसे ही तपस्यासे कृश उसके पास श्यामल कान्तिवाले भगवान् श्रीहरि आये ॥ १० ॥

श्री भगवान्‌ने कहा—हे विप्र, जलके मध्यसे उठो, मनमाना वर लो। तुम्हारा नियमरूपी वृक्ष अभीष्ट फलसे युक्त हो गया है ॥ ११ ॥

ब्राह्मणने कहा—भगवन्, असंख्य ब्रह्माण्डोंमें विद्यमान प्राणियोंके हृदयकमल-मध्यमें स्थित भ्रमररूप और त्रिजगत्-रूपी कमलिनीके तड़ागरूप भगवान् विष्णुके लिए नमस्कार है ॥ १२ ॥

हे भगवन्, आपसे रचित इस संसारनामक मायाको, जो परमात्मामें अध्यस्त है और जीवोंको अन्धा बनानेवाली है, मैं देखना चाहता हूँ ॥ १३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, 'इस मायाको तुम देखोगे और देखने-

गते विष्णौ समुत्तस्थौ जलात् स ब्राह्मणेश्वरः ।
शीतलामलमूर्तित्वादिन्दुः क्षीरोदकादिव ॥ १५ ॥

बभूव परितुष्टात्मा दर्शनेन जगत्पतेः ।
दर्शनस्पर्शनैरिन्दोरुत्फुल्लमिव कैरवम् ॥ १६ ॥

अथाऽस्य कतिचित्तस्मिन् दिवसा निर्ययुर्वने ।
हरिसंदर्शनानन्दवतो ब्राह्मणकर्मणा ॥ १७ ॥

एकदाऽऽरब्धवान् स्नानं सरस्युदितपङ्कजे ।
चिन्तयन् वैष्णवं वाक्यं महर्षिरिव मानसे ॥ १८ ॥

अथ स्नानविधावन्तर्जलमेष चकार ह ।
सकलाघविघातार्थं परिवर्तमिवाऽऽत्मना ॥ १९ ॥

के बाद इसका त्याग करोगे' ऐसा ब्राह्मणसे कहकर भगवान् गन्धर्वनगरके समान अदृश्य हो गये ॥ १४ ॥

भगवान् विष्णुके चले जानेपर वह उत्तम ब्राह्मण शीतल और निर्मल मूर्ति होनेके कारण क्षीरसागरसे चन्द्रमाके समान जलसे उठा ॥ १५ ॥

वह चन्द्रमाके दर्शन और स्पर्शसे विकसित कमलकी भाँति त्रिलोकीके अधिपति भगवान्के दर्शनसे बहुत प्रसन्न हुआ ॥ १६ ॥

तदनन्तर हरि भगवान्के दर्शनसे आनन्दमें मग्न हुए उसके वनमें कितने ही दिन ब्राह्मणोचित तप, स्वाध्याय, अतिथिपूजा आदिसे व्यतीत हुए ॥ १७ ॥

एक समय जैसे महर्षि योगबलसे अतीत और अनागतको देखनेके लिए मानसरोवरमें चिन्तन करते हैं वैसे ही विष्णु भगवान्के वचनका चिन्तन कर रहे उसने फूले हुए कमलवाले तालाबमें स्नान करना आरम्भ किया ॥ १८ ॥

तदनन्तर स्नानविधिमें सब पापोंकी निवृत्तिके लिए (अघमर्षणके लिए) उसने जलके भीतर कुशयुक्त अपने हाथसे आवर्त-सा किया ॥ १९ ॥

अन्तर्जलविधौ तस्मिन् विस्मृतध्यानमन्त्रधीः ।
पर्यस्तसंवित्प्रसरः सोऽपश्यज्जलमध्यतः ॥ २० ॥
मृतमात्मानमात्मीये सदने शोच्यतां गतम् ।
पतितं वातवेगेन कन्दरान्तरिव द्रुमम् ॥ २१ ॥
प्राणापानप्रवाहेण मुक्तमन्तमुपागतम् ।
संशान्तावयवस्पन्दं निर्वात इव खण्डकम् ॥ २२ ॥
पाण्डुराननमाम्लानं वृक्षपर्णमिवाऽरसम् ।
शवीभूतमिवाऽऽग्लानं छिन्ननालमिवाऽम्बुजम् ॥ २३ ॥
विपर्यस्तेक्षणं प्रातर्मग्नतारमिवाऽम्बरम् ।
सावग्रहमिव ग्रामं सर्वतः पांसुधूसरम् ॥ २४ ॥
बाष्पक्लिन्नमुखैर्दीनैः करुणाक्रन्दकारिभिः ।
आवृतं बन्धुभिः खिन्नैः कुररैरिव पादपम् ॥ २५ ॥
सेतुभङ्गगलद्वारिह्रियमाणमुखाब्जया ।
नलिन्या समधर्मिण्या भार्यया पादयोः श्रितम् ॥ २६ ॥
ताराक्रन्दरणद्रेकप्रलापालापलुब्धया ।
मात्रा गृहीतं चिबुके नवव्यञ्जनलाञ्छिते ॥ २७ ॥

जलमें डुबकी लगा कर प्रणव आदि मन्त्रोंके स्मरणरूप उस अघमर्षण विधिमें जलके मध्यमें स्थित उसके मन्त्र, ध्यान आदि विस्मृत हो गये और ज्ञान विपरीत ग्रहणोन्मुख हो गया । उसने अपने घरपर अपनेको वायुवेगसे कन्दराके बीचमें गिरे हुए वृक्षके समान मृत और शोचनीयताको प्राप्त हुआ देखा । उसने अपनेको प्राण और अपान वायुओंके प्रवाहसे मुक्त, नाशको प्राप्त हुआ, निर्वात स्थानमें गिरे हुए कदलीके वृक्ष आदिके समान प्रशान्त अवयवचेष्टावाला, पीले मुँह-वाला, वृक्षके सूखे हुए पत्तेके समान मुरझाया हुआ, शव हुआ-सा, जिसकी नाल कट गई हो ऐसे कमलके समान कुम्हलाया हुआ, प्रातःकाल जिससे तारे अस्त हो गये ऐसे आकाशके समान अस्त नेत्रवाला देखा । वह अनावृष्टिसे उध्वस्त ग्रामके समान चारों ओर धूलिसे धूसरित था, करुण विलाप करनेवाले दुःखी दीन बन्धुओंसे, जिनका मुँह वाष्पधारासे आर्द्र था, वह ऐसे परिवृत था जैसे कुरर-नामक पक्षियोंसे वृक्ष आवृत होता है । बाँधके टूट जानेसे बह रहे जलसे जिसका

अन्यैः पार्श्वगतैर्दीनैः स्रवदश्रुमुखैर्जनैः ।
श्रितं गलदवश्यायैः शुष्कपर्णैरिव द्रुमम् ॥ २८ ॥
वियोगभीत्या संयोगपरिहारपरैरिव ।
दूरं विप्रसृतैरङ्गैरनात्मीयैरिवाऽऽवृतम् ॥ २९ ॥
परस्परमलग्नाभ्यामोष्ठाभ्यां दशनैः सितैः ।
सविरागमिवाऽऽम्लानैर्हसन्तं स्वात्मजीवितम् ॥ ३० ॥
मौनध्यानमिवाऽऽपन्नं पङ्कादिव विनिर्मितम् ।
अप्रबोधाय संसुप्तं विश्राम्यन्तमिवोच्चकैः ॥ ३१ ॥
बान्धवाक्रन्दसंरम्भकोलाहलगता गिरः ।
स्नेहभावविचारार्थं शृण्वन्तमिव यत्नतः ॥ ३२ ॥

मुखरूपी कमल हरा जा रहा हो, ऐसी कमलिनीके तुल्य भार्याने उसके चरण पकड़ रक्खे थे । ऊँचे गूंज रहे (रोदन कर रहे) भौंरोंके समान प्रलाप और दीर्घ स्वरके आलापमें आसक्त माँने उसकी ठुड्डी, जो नूतन मूँछ-दाढ़ीसे युक्त थी, पकड़ रक्खी थी ॥ २०–२७ ॥

जैसे ओस बहा रहे सूखे पत्तोंसे वृक्ष परिवेष्टित होता है वैसे ही पासमें बैठे हुए दुःखी अश्रुधारा बहा रहे अन्यान्य लोगोंसे वह परिवेष्टित था ॥ २८ ॥

वियोगके भयसे मानो संयोगका त्याग कर रहे अतएव दूर हटे हुए हाथ, पैर आदि अङ्गोंसे अनात्मीय जनोंकी भाँति वह आवृत था ॥ २९ ॥

परस्पर न सटे हुए ओठोंसे और कुछ मलिन सफेद दाँतोंसे अपने जीवनको इतने समयतक वृथा गया यों हँस रहे विरक्त पुरुषके समान मौन ध्यानको प्राप्त हुआ-सा, पङ्कसे बनाया हुआ-सा, फिर न जागनेके लिए सोया-सा, दीर्घ विश्राम कर रहा-सा था ॥ ३०, ३१ ॥

बान्धवोंके रोने पीटनेके कोलाहलसे मिली हुई वाणियोंको किसका मेरे प्रति अधिक स्नेह है और किसका कम यों विचार करनेके लिए मानो यत्नसे सुन रहा था ॥ ३२ ॥

अथ तत्कालकल्लोलप्रलापाकुलचेष्टितैः ।
सोरस्ताडनमूर्च्छोत्थनेत्रवारिवहाप्लुतैः ॥ ३३ ॥
क्रमेण स्वजनैः क्षुब्धैस्ताराक्रन्दादिघर्घरैः ।
निष्कालितममङ्गल्यमपुनर्दर्शनाय वै ॥ ३४ ॥
नीतं श्मशानं मांसान्त्रवसापङ्ककलङ्कितम् ।
शुष्काशुष्करसक्लिन्नं कङ्कालशतसंकुलम् ॥ ३५ ॥
गृध्राभ्रच्छन्नसूर्यांशु चिताज्वलननिस्तमः ।
शिवाशिवमुखज्वालाजालपल्लवितावनि ॥ ३६ ॥
वहद्रक्तसरित्स्नातमग्नकङ्कोग्रवायसम् ।
रक्तार्द्रतन्त्रीप्रसरजालाबद्धजरत्खगम् ॥ ३७ ॥
तत्र ते ज्वलने दीप्ते चक्रुस्तं भस्मसाच्छवम् ।
बान्धवाः सलिलापूरं समुद्रा इव वाडवे ॥ ३८ ॥
चितिश्चटचटास्फोटैः शवमाशु ददाह सा ।
शुष्केन्धनबहूच्छूनज्वालाजालजटावली ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उस समय राशिभूत निरन्तर प्रलापोंसे व्याकुल चेष्टावाले छाती पीटनेके साथ मूर्च्छासे उत्पन्न नेत्रके जलप्रवाहसे सराबोर दुःखी आत्मीयों द्वारा, जो दीर्घ विलाप आदिके घर्घर शब्दसे पूर्ण थे, उसका अमङ्गल शव फिर न देखनेके लिए घरसे बाहर निकाला गया और श्मशानमें ले जाया गया। वह श्मशान माँस, आँतें और चर्बीके पङ्कसे दूषित, सूखे और ताजे खूनसे तर, तथा सैकड़ों कङ्कालोंसे व्याप्त था, चील, गीधरूपी मेघोंसे उसमें सूर्यकी किरणें आच्छन्न थीं, चिताकी अग्निसे अन्धकार न था, सियारोंके मुखसे निकली हुई अशुभ ज्वालाओंसे उसमें पृथ्वी पल्लवयुक्त-सी प्रतीत होती थी, वहाँपर बह रही खूनकी नदियोंमें कोई सफेद चील और कौवे स्नान करते थे और कोई डूब गये थे, खूनसे तर आँतोंके समूहरूपी जालमें बूढ़े पक्षी बँधे हुए थे। वहाँपर उन बन्धुओंने प्रदीप्त अग्निमें जैसे समुद्र बड़वानलमें अपने जलप्रवाहको भस्म करते हैं वैसे ही उसे भस्म किया ॥ ३३—३८ ॥

सूखे हुए इन्धनोंसे खूब बढ़ी हुई ज्वालाराशिरूपी जटाओंसे युक्त उस चिताने चट-चट शब्दोंसे शवको शीघ्र जला दिया ॥ ३९ ॥

अभ्युल्लसत्कटकटारवमुक्तगन्ध-
व्याप्ताम्बुवाहपटलोऽस्थिचयं हुताशः ।
दन्ती सरन्ध्रमिव वेणुवनं समन्ता-
दुद्वान्तमेदुररसं दलयाञ्चकार ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते गाधिविनाशो नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

——:o:——

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथाऽपश्यदसौ गाधिः स्वाधिपीवरया धिया ।
अन्तर्जलस्थ एवाऽन्तरात्मनाऽऽत्मनि निर्मले ॥ १ ॥
भूतमण्डलपर्यन्तग्रामोपान्तनिवासिनाम् ।
श्वपचानां स्त्रिया गर्भे स्थितमात्मानमाकुलम् ॥ २ ॥

अग्निने, जिसने बढ़ रहे कट-कट शब्दोंसे और छोड़ी गई दुर्गन्धिसे मेघमण्डलको व्याप्त कर दिया था, उसकी अस्थिराशिको, जिससे बढ़े हुए रस निकल चुके थे, जैसे हाथी सूराखवाले बाँसके समूहको चारों ओर विदलित कर देता है वैसे ही विदलित कर दिया ॥ ४० ॥

चौवालीसवां सर्ग समाप्त

——o——

पैंतालीसवाँ सर्ग

[गाधिका भिल्लनके गर्भमें जन्म, किरातस्थिति और कीरपुरमें राज्यप्राप्तिका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके बाद जलके भीतर स्थित हुए गाधिने मानसिक दुःखोंसे भरी हुई अपनी बुद्धिसे निर्मल आत्मामें अन्तरात्मासे अपनेको भूतमण्डलनामक देशकी सीमाके गांवके नज़दीक रहनेवाले चाण्डालोंकी स्त्रीके गर्भमें स्थित अतएव आकुल देखा ॥ १, २ ॥

गर्भवासभराक्रान्तं पीडितं पेलवाङ्गकम् ।
श्वपचीहृदये सुप्तं स्वविष्ठायामिवाऽऽकुलम् ॥ ३ ॥
शनैः पक्वतया काले प्रसूतं मेचकच्छविम् ।
श्वपच्या प्रावृषेवाऽब्दं श्याममावलितं मलैः ॥ ४ ॥
संपन्नं श्वपचागारे शिशुं श्वपचवल्लभम् ।
इतश्चेतश्च गच्छन्तमुत्पीडमिव यामुनम् ॥ ५ ॥
द्वादशाब्ददशां यातं संस्थितं षोडशाब्दिकम् ।
पीवरांसमुदाराङ्गं पयोदमिव मेदुरम् ॥ ६ ॥
सारमेयपरीवारं विहरन्तं वनाद् वनम् ।
निघ्नन्तं मृगलक्षाणि पौलिन्दीं स्थितिमागतम् ॥ ७ ॥
तमाललतयेवाऽथ श्रितं श्वपचकन्यया ।
स्तनस्तबकशालिन्या नवपल्लवहस्तया ॥ ८ ॥
श्यामया मलिनाकारदशनामलमालया ।
वनपल्लवयाभूरिविलासवलिताङ्गया ॥ ९ ॥

गर्भवासके दुःखोंसे वह पीड़ित था, उसके कोमल अङ्ग थे और वह अपनी विष्ठाके समान चाण्डालीके हृदयमें सोया था, अतएव व्याकुल था ॥ ३ ॥

क्रमशः परिपक्व होनेके कारण जैसे वर्षा ऋतु काले मेघको समयपर पैदा करती है वैसे ही समयपर चाण्डालीसे उत्पन्न किया गया वह काली कान्तिवाला तथा मल मूत्र आदिसे वेष्टित था ॥ ४ ॥

चाण्डालोंके घरमें उत्पन्न हुआ और चाण्डालोंका अत्यन्त प्रिय शिशुरूप इधर उधर चल रहा वह यमुनाप्रवाहमें गिरे हुए कर्णभूषणरूप नील कमलके समान था ॥ ५ ॥

बारह वर्षकी अवस्थाको प्राप्त हुआ, तदनन्तर सोलह वर्षकी अवस्थामें स्थित, स्थूल कन्धावाला, विशालकाय, उदीयमान मेघके समान था ॥ ६ ॥

शिकार खेलनेके लिए कुत्तोंसे परिवृत होकर एक वनसे दूसरे वनमें विहार कर रहा, लाखों मृगोंको मार रहा वह व्याधोंकी अवस्थाको प्राप्त हुआ था ॥ ७ ॥

तदनन्तर तमालकी लताके समान चाण्डालकन्यासे उसने विवाह कर लिया था । वह स्तनरूपी स्तवकोंसे सुशोभित थी, नूतन पल्लवके समान उसके हाथ थे ।

विलसन्तं वनान्तेषु तया सह नवेष्टया ।
श्यामलं श्यामया भृङ्गं भृङ्ग्येव कुसुमर्धिषु ॥ १० ॥
वनपर्णलतापत्रे वसन्तं व्यसनातुरम् ।
विन्ध्यकान्तारमाकारमभ्यागतमिवोद्भटम् ॥ ११ ॥
विश्रान्तं वनकुञ्जेषु सुप्तं गिरिदरीषु च ।
निलीनं पत्रपुञ्जेषु गुल्मकेषु कृतालयम् ॥ १२ ॥
किंकिरातावतंसाढ्यं यूथिकास्रग्विभूषितम् ।
केतकोत्तंससुभगं सहकारस्रगाकुलम् ॥ १३ ॥
लुलितं पुष्पशय्यासु भ्रान्तमद्रितटीषु च ।
तज्ज्ञं काननकोशेषु बहुज्ञं मृगमारणे ॥ १४ ॥

दन्तधावन न करनेके कारण मलिन और स्वाभाविक शुक्लताके कारण निर्मल उसकी दन्तपंक्ति थी और वह स्वयं श्याम थी । नव पल्लवोंका अनुकरण करनेवाले बहुत-से विलासोंसे उसके अंग पूर्ण थे ॥ ८, ९ ॥

जैसे काली भँवरीके साथ काला भौंरा पुष्पोंकी समृद्धिसे पूर्ण वनान्तोंमें विहार करता है वैसे ही श्यामवर्णवाला वह नूतन होनेके कारण ही अभीष्ट श्यामवर्णवाली उसके साथ पुष्पोंकी समृद्धिसे पूर्ण वनप्रान्तोंमें विहार करता था ॥ १० ॥

वनकी पर्णलताओंके (ताम्बूललताओंके) पत्तोंमें निवास कर रहा व्यसनों-से आतुर वह पुरुषका आकार धारण किये हुए विन्ध्याचलके समान भीषण था ॥ ११ ॥

वह वनके कुञ्जोंमें विश्राम करता था, पर्वतकी गुफाओंमें सोता था, पत्तों-की ओटमें छिपा रहता था, बड़ी-बड़ी झाड़ियोंको उसने अपना निवासस्थान बना रक्खा था ॥ १२ ॥

वह किंकिरातकी मञ्जरियोंके कर्णभूषणोंसे अलङ्कृत रहता था, जुहीकी मालाओंसे विभूषित रहता था, केवड़ेके कर्णपूरोंसे बड़ा सुन्दर लगता था और आमके बौरोंकी मालासे आच्छन्न रहता था ॥ १३ ॥

फूलोंकी सेजोंपर लेटा रहता था, पर्वतके तटोंपर घूमता था, वनोंके विषयमें असाधारण ज्ञान रखता था और मृगोंका शिकार करनेमें पण्डित था ॥ १४ ॥

प्रसूतमथ शैलेषु पुत्रान्निजकुलाङ्कुरान् ।
अत्यन्तविषमोदन्तान् खदिरः कण्टकानिव ॥ १५ ॥
कलत्रवन्तं संपन्नं स्थितं प्रक्षीणयौवनम् ।
शनैर्जर्जरतां यातं वृष्टिहीनमिव स्थलम् ॥ १६ ॥
ततो भूतग्रहग्रामजन्मदेशमुपेत्य तम् ।
संस्थितं मठिकां पर्णैः कृत्वा दूरे मुनीन्द्रवत् ॥ १७ ॥
जराजरठतां यातं स्वदेहसमपुत्रकम् ।
जीर्णप्रायरसश्वभ्रतमालतरुसंनिभम् ॥ १८ ॥
प्रौढं श्वपचगार्हस्थ्यं कुर्वाणं बहुबान्धवम् ।
क्रूरनामार्थवचनं परां वृद्धिमुपागतम् ॥ १९ ॥
अथाऽपश्यदसौ गाधिर्वित्तस्य कलत्रिणः ।
जरठः श्वपचेभ्यश्च स्वात्मनो भ्रमहारिणः ॥ २० ॥
तत्कलत्रमशेषेण नीतमावृत्य मृत्युना ।
आसारसलिलेनाऽऽशु वनपर्णगणो यथा ॥ २१ ॥

तदनन्तर जैसे खैर काँटोंको पैदा करता है वैसे ही उसने वनोंमें अपने कुलके अङ्कुररूप पुत्रोंको, जिनके चरित अत्यन्त विषम (श्रवणके भी अयोग्य) थे, उत्पन्न किया ॥ १५ ॥

पहले वह स्त्री-पुत्र आदि परिवारवाला हुआ, उसके बाद उसका यौवन क्षीण हो गया, तदनन्तर वृष्टिरहित भूमिकी तरह धीरे-धीरे जर्जर हो गया ॥ १६ ॥

तदुपरान्त भूतमण्डलनामक देशकी अपनी जन्मभूमिमें आकर दूरमें पर्णकुटी बनाकर मुनीश्वरके समान रहने लगा ॥ १७ ॥

वह जरासे अत्यन्त जर्जरताको प्राप्त हो गया, अपने शरीरके समान प्रमाणवाले उसके लड़के थे, वह गड्ढेमें उत्पन्न सूखे हुए तमाल वृक्षके सदृश था ॥ १८ ॥

वह बड़ा प्रौढ था, चाण्डालकी गृहस्थी कर रहा था, उसके बहुतसे बन्धु-बान्धव थे, नाम, कर्म और वचन बड़े क्रूर थे और वह बहुत बड़ी कुटुम्बवृद्धिको प्राप्त हुआ था । उसने अपनेको इस प्रकार देखा ॥ १९ ॥

तदनन्तर अन्य चाण्डालोंसे वृद्ध, अपने पूर्वोक्त भ्रमका अनुसरण कर

प्रलपत्येक एवाऽसावटव्यां दुःखकर्शितः ।
वियूथ इव सारङ्गो विगतास्थोऽश्रुलोचनः ॥ २२ ॥
दिनानि कतिचित्तत्र नीत्वा शोकपरीतधीः ।
जहौ स्वदेशं संशुष्कपद्मं सर इवाऽण्डजः ॥ २३ ॥
विजहार बहून् देशाननास्थश्चिन्तयाऽन्वितः ।
प्रेर्यमाण इवाऽन्येन वातनुन्न इवाऽम्बुदः ॥ २४ ॥
एकदा प्राप कीराणां मण्डले श्रीमतीं पुरीम् ।
खेचरो विहरन् शून्ये सद्विमानमिवाऽम्बरे ॥ २५ ॥
नृत्यद्रत्नांशुकच्छन्नमार्गवृक्षलताङ्गनम् ।
आगुल्फाकीर्णकुसुमं चन्दनागुरुसुन्दरम् ॥ २६ ॥
सामन्तैर्ललनाभिश्च नागरैश्च निरन्तरम् ।
स्वर्गमार्गोपमं राजमार्गमध्यमवाप सः ॥ २७ ॥

रहे कुटुम्बी गाधिने अपना जितना कुटुम्ब था उसे मृत्यु द्वारा आवृत कर—जैसे वृष्टि-जलका प्रवाह वनमें गिरे हुए सूखे पत्तोंको ले जाता है वैसे ही—हरा गया देखा ॥ २०, २१ ॥

दुःखसे पीड़ित वह झुण्डसे बिछुड़े हुए मृगके समान एकाकी ही वनमें रोता था। उसके नेत्र आँसुओंसे भींगे रहते थे और उसका कोई अवलम्ब न था ॥२२॥

शोकसे व्याकुल बुद्धिवाले उसने कुछ दिन वहां बिता कर जैसे सूखे कमलवाले सरोवरका हंस आदि त्याग कर देते हैं वैसे ही स्वदेशका त्याग कर दिया ॥ २३ ॥

अवलम्बरहित और शोकपीड़ित वह किसी दूसरेके द्वारा प्रेरित हो रहे की नाईं वायुसे उड़ाये गये बादलकी भाँति बहुत देशोंमें भटकता फिरा ॥ २४ ॥

एक समय आकाशमें सुन्दर विमानके समान आकाशमें विचरण करनेवाला वह कीर लोगोंके निवासभूत देशमें श्रीमती पुरीमें पहुँचा ॥ २५ ॥

वह स्वर्गमार्गके तुल्य राजमार्गके मध्यमें—जहाँपर रत्नों और वस्त्रोंसे आच्छादित मार्गस्थित वृक्ष, लताएँ और अङ्गनाएँ नाच रही थीं, टखनोंतक फूल बिखरे हुए थे, अधीन राजाओं, ललनाओं और नागरिक लोगोंसे जो ठसाठस भरा था और चन्दन तथा अगरसे सुशोभित था—पहुँचा ॥ २६, २७ ॥

मणिरत्नकृतागारं तत्र मङ्गलहस्तिनम् ।
ददर्शाऽमरशैलेन्द्रमिव संचारचञ्चलम् ॥ २८ ॥
मृते राजनि राजार्थं विहरन्तमितस्ततः ।
रत्नज्ञमिव रत्नार्थं चिन्तामणिदिदृक्षया ॥ २९ ॥
तमसौ श्वपचो नागं कौतुकोद्धुरया दृशा ।
चिरमालोकयामास स्पन्दयुक्ताचलोपमम् ॥ ३० ॥
आलोकयन्तमादाय तं करेण स वारणः ।
स्वकटेऽयोजयन्मेरुस्तटेऽर्कमिव सादरम् ॥ ३१ ॥
तस्मिन् कटगते नेदुर्जयदुन्दुभयोऽभितः ।
कल्पाम्बुद इवाऽऽकाशमधिरूढे महार्णवाः ॥ ३२ ॥
पूरिताशो बभौ राजा जयतीति जनस्वनः ।
उदभूत्संप्रबुद्धानां विहगानामिवाऽऽरवः ॥ ३३ ॥

वहाँपर उसने चलनेसे चञ्चल हुए सुमेरु पर्वतके, जिसमें श्रेष्ठ मणियोंसे देवताओंके मन्दिर बने थे, तुल्य श्रेष्ठ रत्नोंके झूलसे अलङ्कृत मङ्गल हस्तीको देखा ॥ २८ ॥

जैसे रत्नपरीक्षाकुशल पुरुष चिन्तामणिको देखनेकी इच्छासे रत्नके लिए विहार करे वैसे ही राजाके मरनेपर राजाके लिए वह इधर-उधर विहार कर रहा था ॥ २९ ॥

उस चाण्डालने कौतूहलसे विस्फारित दृष्टिसे स्पन्दयुक्त पर्वतके तुल्य उस हाथीको चिरकालतक देखा ॥ ३० ॥

उस हाथीने देख रहे उस चाण्डालको अपनी सूँडसे पकड़ कर जैसे मेरु अपने तटपर सूर्यको संलग्न करता है वैसे ही बड़े आदरके साथ उसको अपने गण्डस्थल-पर चढ़ाया ॥ ३१ ॥

जैसे प्रलयकालके मेघके आकाशमें आरूढ़ होनेपर सागर गरजते हैं वैसे ही उसके गण्डस्थलपर आरूढ़ होनेपर चारों ओर विजयके नगारे बजने लगे ॥ ३२ ॥

मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला राजा सुशोभित हुआ। तदनन्तर जागे हुए पक्षियों-की ध्वनिके समान राजाकी जय हो, इस प्रकारकी जनध्वनि, जिसने दिशाओंको भर दिया था, उत्पन्न हुई ॥ ३३ ॥

उदभूद् वन्दिवृन्दानां घनकोलाहलस्ततः ।
वेलाविलुलिताम्बूनामम्बुधीनामिव ध्वनिः ॥ ३४ ॥
तं तत्राऽऽवरयामासुर्मण्डनार्थं वराङ्गनाः ।
क्षीरोदगतविभ्रान्ता लहर्य इव मन्दरम् ॥ ३५ ॥
मानिन्यस्तं गुणप्रोतैर्नानारत्नैरपूरयन् ।
नानाप्रभाप्रभातार्का वेला इव तटाचलम् ॥ ३६ ॥
तुषारशिशिरस्पर्शैस्तास्तं हारैरभूषयन् ।
श्यामा वननदीपूरैर्वर्षाः शृङ्गमिवोत्तमम् ॥ ३७ ॥
विचित्रवर्णसौगन्ध्यैः पुष्पैरावलयन् स्त्रियः ।
वनं मधुश्रिय इव तं लोलकरपल्लवाः ॥ ३८ ॥
नानावर्णरसामोदैस्तास्तमाशु विलेपनैः ।
अलेपयन् प्रभाजालैर्नगोऽभ्रमिव धातुभिः ॥ ३९ ॥

इसके बाद सागरोंकी, जिनका जल तटोंसे टकराया हो, ध्वनिके समान बन्दि-वृन्दोंका तुमुल कोलाहल हुआ ॥ ३४ ॥

क्षीरसागरके मन्थनसे जनित क्षोभसे घूम रहीं लहरियोंने जैसे मन्दराचलको परिवेष्टित किया था वैसे ही सुन्दर-सुन्दर ललनाओंने, अलङ्कृत करनेके लिए, उसे घेर लिया ॥ ३५ ॥

जैसे वेलाएँ, जिनमें सूर्य नाना प्रकारके मणियोंमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण तत्-तत् प्रभाओंसे सुशोभित रहता है, अपने तटवर्ती पर्वतको पूरित करती हैं वैसे ही उन्होंने सूत्रोंमें गुँथे हुए रत्नोंसे उसे परिपूर्ण किया ॥ ३६ ॥

जैसे वृष्टियाँ जलप्रवाहोंसे वनमध्यमें स्थित उत्तम शिखरको विभूषित करती हैं वैसे ही हिमके समान शीतल स्पर्शवाले हारोंसे उन युवतियोंने उसे विभूषित किया ॥ ३७ ॥

जैसे चञ्चल कररूपी पल्लववाली बसन्तशोभा वनको फूलोंसे वेष्टित करती है वैसे ही विचित्र वर्ण और सुगन्धिवाले फूलोंसे स्त्रियोंने उसे परिवेष्टित किया ॥ ३८ ॥

जैसे पर्वत मेरु आदि धातुओंकी प्रभाराशियोंसे मेघको लिप्त करता है वैसे ही विविध रंग, रस और सुगन्धिवाले विलेपनोंसे उन्होंने शीघ्र उसका लेप किया ॥ ३९ ॥

रत्नकाञ्चनकान्तोऽसावाददे चित्तमाततम् ।
संध्याभ्रतारेन्दुनदीव्याप्तं मेरुरिवाऽम्बरम् ॥ ४० ॥
भूषितः सविलासाभिर्बालवल्लीभिरावृतः ।
रत्नपुष्पांशुकाकीर्णः कल्पवृक्ष इवाऽऽबभौ ॥ ४१ ॥
तादृशं तमुपाजग्मुः परिवारसमन्विताः ।
सर्वाः प्रकृतयः फुल्लं मार्गद्रुममिवाऽध्वगाः ॥ ४२ ॥
ता एनमासने सैंहे तत्राऽभिषिषिचुः क्रमात् ।
तस्मिन्नेव गजे शक्रमैरावत इवाऽमराः ॥ ४३ ॥
एवं स श्वपचो राज्यं प्राप कीरपुरान्तरे ।
आरण्यं हरिणं पुष्टमप्राणमिव वायसः ॥ ४४ ॥
कीरीकरतलाम्भोजप्रमृष्टचरणाम्बुजः ।
सर्वाङ्गे कुङ्कुमालेपैः सन्ध्याम्बुधरशोभनः ॥ ४५ ॥
जज्वाल कीरनगरे नागरीगणवानसौ ।
सिंहीगणयुतः सिंहो यथा कुसुमिते वने ॥ ४६ ॥

जैसे मेरु सन्ध्याकालके मेघ, तारे, चन्द्रमा और आकाशगंगासे व्याप्त आकाशको ग्रहण करता है वैसे ही रत्न और सुवर्णके भूषणोंसे भूषित उसने उनके उदार चित्तको हर लिया ॥ ४० ॥

भाँति-भाँतिके विलासोंसे युक्त ललनारूपी लताओंसे परिवेष्टित और मणि और सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित वह विलासयुक्त छोटी-छोटी लताओंसे परिवृत रत्नरूपी पुष्प और वस्त्रोंसे सुशोभित कल्पवृक्षके समान सुशोभित हुआ ॥ ४१ ॥

इस प्रकारके उसके पास जैसे फूले हुए मार्गके वृक्षके समीप पथिक जाते हैं वैसे ही परिवारयुक्त सब प्रकृतियां आईं ॥ ४२ ॥

उन्होंने जैसे देवता ऐरावत हाथीपर इन्द्रका अभिषेक करते हैं वैसे ही उसी हाथीपर उसका सिंहासनमें अभिषेक किया ॥ ४३ ॥

जैसे कौवा परिपुष्ट, प्राणविहीन जंगली हरिणको पाता है वैसे ही उस चाण्डालने कीरनगरके मध्यमें इस प्रकार राज्य प्राप्त किया ॥ ४४ ॥

कीर देशकी नारियोंके करकमलोंसे जिसके चरण दबाये जाते थे, सर्वाङ्गमें

हरिहतकरिकुम्भोन्मुक्तमुक्ताकलाप-
प्रविरचितशरीरः शान्तचिन्ताविषादः ।
अरमत सह सद्भिस्तत्र भोगैः सरस्यां
रविकरमदतप्तो वारिपूरैरिवेभः ॥ ४७ ॥
परिविसृतनृपौजाः सर्वदिक्संस्थिताज्ञः
कतिपयदिवसेहासिद्धदेशव्यवस्थः ।
प्रकृतिभिरलमूढाशेषराजन्यभारः
स गवल इति नाम्ना तत्र राजा बभूव ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते श्वपचराज्यलाभो नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

कुङ्कुमके लेपसे जो सन्ध्याकालके समान सुन्दर था, इस प्रकारका वह नागरिक ललना जनोंसे युक्त होकर जैसे फूले हुए वनमें सिंहिनियोंके झुण्डसे युक्त सिंह सुशोभित होता है वैसे ही कीरनगरमें सुशोभित हुआ ॥ ४५, ४६ ॥

जैसे तालाबमें सूर्यकी किरण और मदसे सन्तप्त हुआ हाथी जलके प्रवाहोंसे क्रीड़ा करता है वैसे ही सिंहोंसे विदीर्ण किये गये हाथियोंके कुम्भोंसे गिरे हुए मोतियोंसे विभूषित शरीरवाला और चिन्ता एवं विषादसे शून्य वह सज्जनोंके साथ भोगोंसे आनन्द लेता था ॥ ४७ ॥

चारों ओर उसकी राज्यशक्ति व्याप्त थी, अतएव सब दिशाओंमें उसकी आज्ञा चलती थी। कुछ दिनोंमें स्वेच्छासे ही उसकी सारी राज्यव्यवस्था सिद्ध हो गई थी। प्रकृतियोंने ही उसके समस्त अधीनस्थ राजाओंका भार वहन किया था, इस प्रकारका वह गवल इस नामसे प्रसिद्ध होकर वहांपर राजा हुआ ॥ ४८ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

षट्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

विलासिनीभिर्वलितो मन्त्रिमण्डलपूजितः ।
वन्दितः सर्वसामन्तैश्छत्रचामरलालितः ॥ १ ॥
सिद्धानुशासनः कान्तो ज्ञातराज्यगुणक्रमः ।
वीतशोकभयायासप्रजः प्राप्तमहादशः ॥ २ ॥
विस्मृतात्मस्वभावोऽभूदनिशं स्तवमङ्गलैः ।
आनन्दपूर्णया वृत्त्या भृशं क्षीब इवाऽऽसवैः ॥ ३ ॥
कीरेषु श्वपचो राज्यं वर्षाण्यष्टौ चकार ह ।
आर्यवृत्तमशेषेण तावत्कालं बभार ह ॥ ४ ॥
यदृच्छयैकदाऽथाऽसावतिष्ठत् त्यक्तभूषणः ।
अतमस्तारकेन्द्वर्कतेजोम्भोदमिवाऽम्बरम् ॥ ५ ॥

छियालीसवाँ सर्ग

[उसे दूसरे चाण्डालसे चाण्डाल जानकर लोगोंके अग्निमें प्रवेश करनेपर उसका भी अग्निमें भस्म होना और गाधिका प्रबुद्ध होना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, वह विलासवती सुन्दरियोंसे परिवृत, मन्त्रिमण्डल द्वारा समादृत, सब सामन्तों द्वारा वन्दित, छत्र और चँवरोंसे लालित, अप्रतिहत आज्ञावाला तथा सुन्दर आकृतिवाला था। उसे राज्यके सब गुण ज्ञात थे। उसकी प्रजाओंके शोक, भय, क्लेश आदि नष्ट हो गये थे। निरन्तर स्तुति-मङ्गलोंसे और आनन्दपूर्ण वृत्तिसे, आसवोंसे अत्यन्त उन्मत्त हुए पुरुषकी नाईं, वह अपने स्वभावको भूल गया था ॥ १–३ ॥

कीर देशमें उस चाण्डालने आठ वर्षतक राज्य किया। तबतक उसने दया, दाक्षिण्य, शौच आदि सद्वृत्तको पूर्णरूपसे धारण किया ॥ ४ ॥

तदनन्तर एक समय वह अपनी इच्छासे भूषणरहित अतएव अन्धकार, तारे, चन्द्रमा, सूर्यके तेज और मेघोंसे रहित आकाशके तुल्य स्थित था ॥ ५ ॥

बहुमन्यत नो हारकेयूरवलयान्यसौ ।
प्रभुताबृंहितं चेतो नाऽऽहार्यमभिनन्दति ॥ ६ ॥
एक एवाऽजिरं बाह्यं तादृग्वेषः स निर्ययौ ।
मुख्याङ्गणान्नभोभागादस्तं गच्छन्निवांऽशुमान् ॥ ७ ॥
तत्राऽपश्यद् घनं श्यामं पीनं श्वपचपेटकम् ।
गायन्मृदु वसन्तोत्थं कोकिलानामिव व्रजम् ॥ ८ ॥
धुनानं वल्लकीतन्त्रीं करपल्लवलीलया ।
मृदुरेफं रणद्रेफामलिश्रेणिमिव द्रुमम् ॥ ९ ॥
एकस्तस्मात्समुत्तस्थौ जरावान् रक्तलोचनः ।
काचशृङ्गं हिमापूर्णमिव श्वपचनायकः ॥ १० ॥

वह हार, बाजूबन्द, कड़े आदि आभूषणोंका बहुत आदर न करता था, क्योंकि प्रभुतासे परिपूर्ण चित्तको कृत्रिम आभूषण आदि भले नहीं लगते ॥ ६ ॥

जैसे अस्तको प्राप्त होता हुआ सूर्य मुख्य आकाशरूपी आँगनसे आकाशके अन्तिम भागको जाता है वैसे ही वह मुख्य जनोंसे आश्रित भीतरके आँगनसे साधारण लोगोंसे सेवित बाहरी आँगनमें पूर्वोक्त वेषसे अकेले ही गया। वहांपर उसने वसन्तमें उत्पन्न हुए कोकिलोंके समूह-की नाईं मधुर गा रहे काले और स्थूल देहवाले चाण्डालोंके संघको देखा ॥ ७, ८ ॥

वह जैसे भ्रमरपंक्ति, जिसके पर शब्द कर रहे हों, वृक्षको कम्पित करती है वैसे ही करपल्लवकी लीलासे वीणाके तारोंको मधुर स्वरके साथ बजा रहा था ॥ ९ ॥

उनमें से एक बूढ़ा चाण्डालोंका नेता, जिसके लाल नेत्र थे और जो हिमसे आच्छन्न पर्वतके कांचमय शृङ्गके समान वृद्धावस्थासे सफेद हुए केशोंसे आच्छन्न काले शरीरका था, उठा ॥ १० ॥

भो कटंजेति सहसा वदन् कीरमहीपतिम् ।
इह राजा भवन्तं वा कच्चिद् गेयक्रियाविदम् ॥ ११ ॥
रक्तकण्ठं मानयति रागवानिव कोकिलम् ।
आपूरयति वा कच्चिद् गृहवस्त्रासनार्पणैः ॥ १२ ॥
मधू रसालविटपं फलपुष्पभरैरिव ।
दर्शनेन तवाऽद्याऽहं परां निर्वृतिमागतः ॥ १३ ॥
पद्मं सूर्योदयेनेव चन्द्रोदय इवौषधी ।
आनन्दानामशेषाणां लाभानां महतामपि ॥ १४ ॥
विश्रामाणामनन्तानां सीमान्तो बन्धुदर्शनम् ।
श्वपचे प्रवदत्येवं राजा यावत् तया तया ।
चकार तत्कालजया चेष्टयैवाऽत्रधीरणम् ॥ १५ ॥
तावद् वातायनगताः कान्ताः प्रकृतयस्तथा ।
श्वपचोऽयमिति ज्ञात्वा म्लानतामलमाययुः ॥ १६ ॥
पद्मास्तुषारप्रावृष्ट्या ग्रामाः सात्रग्रहा इव ।
दाववन्त इवाऽद्रीन्द्रा नागरा न विरेजिरे ॥ १७ ॥

उसने 'हे कटंज' इस पूर्वनामसे कीरदेशके अधिपति गवलका सहसा संबोधन करते हुए कहा—जैसे श्रृङ्गारी पुरुष मधुर कण्ठवाले कोकिलका सम्मान करता है वैसे ही यहांपर राजा गानविद्यामें कुशल मधुर कण्ठवाले आपका सम्मान करता है क्या ? जैसे वसन्त फल और पुष्पोंकी राशियोंसे आमके वृक्षको पूर्ण कर देता है, वैसे ही घर, वस्त्र, आसन आदिके दानसे राजा आपको पूर्ण करता है क्या ? आपके दर्शनोंसे सूर्योदयसे कमलके समान तथा चन्द्रमाके उदयसे औषधियोंके समान मैं परम आनन्दको प्राप्त हुआ हूँ। बन्धुओं-का दर्शन सब आनन्दोंकी, बड़े-बड़े लाभोंकी और अनन्त विश्रामोंकी चरम सीमा है। चाण्डालके ऐसा कहनेपर राजाने उस कालमें उत्पन्न हुई विभिन्न चेष्टाओंसे ही उसका तिरस्कार किया। उसी समय झरोखेमें बैठी हुई स्त्रियां और अमात्य आदि प्रकृतियाँ यह चाण्डाल है यह जानकर अत्यन्त उदास हुईं ॥ ११–१६ ॥

जैसे तुषारसे भरनेवाली वृष्टिसे कमल शोभित नहीं होते और जैसे उत्पातोंसे

नृपोऽवधीरयामास तां तां श्वपचसंकथाम् ।
वृक्षाग्रगतमार्जारफेत्कारं मृगराडिव ॥ १८ ॥
सत्वरं प्रविवेशाऽन्तःपुरमाम्लानमानवम् ।
राजहंस इवाऽवर्षे सीदत्सरसिजं सरः ॥ १९ ॥
सर्वावयवविश्रान्तां म्लानतामयमाययौ ।
जानुस्तम्भान्तरमहारन्ध्राग्निरिव दुर्द्रुमः ॥ २० ॥
तत्राऽपश्यदसौ सर्वं विषण्णवदनं जनम् ।
जालं कुङ्कुमपुष्पाणां भुक्तमूलमिवाऽऽखुना ॥ २१ ॥
मन्त्रिणो नागरा नार्यस्ततस्ते तं महीपतिम् ।
नाऽस्प्राक्षुरपि तिष्ठन्तं गृह एव शवं यथा ॥ २२ ॥
भृत्याश्चाऽकृतसत्कारं दूर एनमथाऽत्यजन् ।
दुःखयुक्ता घनस्नेहा अपि बालाः शवं यथा ॥ २३ ॥

युक्त ग्राम शोभित नहीं होते और जैसे वनाग्निसे भरे हुए पर्वत शोभित नहीं होते वैसे ही वे नागरिक शोभित नहीं हुए ॥ १७ ॥

जैसे वृक्षकी चोटीपर बैठे हुए बिलावके फुफकारका सिंह तिरस्कार करता है वैसे ही राजाने चाण्डालके संभाषणका तिरस्कार किया ॥ १८ ॥

उसने तुरन्त जैसे राजहंस अवर्षणमें जिसके कमल म्लान हो रहे हों ऐसे तालाबमें प्रवेश करता है वैसे ही आनन्दरहित अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ १९ ॥

जिसके तनेके बड़े खोखलेमें अग्नि लगी हो ऐसा सेमल आदिका वृक्ष जैसे म्लानताको प्राप्त होता है वैसे ही वह सब अवयवोंमें भीनी हुई म्लानताको प्राप्त हुआ ॥ २० ॥

वहांपर चूहेने जिसकी जड़ खा डाली हो ऐसे कुङ्कुमके फूलोंकी झाड़ीके समान सब लोगोंको उसने उदास देखा ॥ २१ ॥

तदनन्तर उन मन्त्री, नगरवासी और नारियोंने जैसे घरमें ही स्थित शवका लोग स्पर्श नहीं करते वैसे ही उसका स्पर्श नहीं किया ॥ २२ ॥

जैसे दुःखी अत्यन्त स्नेहवाली ललनाएँ शवका दूरसे ही त्याग कर देती हैं वैसे ही भृत्योंने असत्कृत उसका दूरसे ही त्याग कर दिया ॥ २३ ॥

अनानन्दमुखं श्यामं शरीरश्रीविवर्जितम् ।
दग्धं स्थलमिवैनं ते बह्वमन्यन्त नाऽऽकुलाः ॥ २४ ॥

धूमायमानदेहस्य परितापदशावती ।
नाऽढौकताऽस्य जनता पार्श्वमग्निर्गिरेरिव ॥ २५ ॥

मन्दोत्साहाः समुद्भूताः सभ्यसंघातवर्जिताः ।
न तदाज्ञाः पदं प्रापुर्भस्मनीवाऽम्बुविप्रुषः ॥ २६ ॥

क्रूरकर्मकराकारात् संगताशुभदायिनः ।
तस्माद् विशेषेण जना राक्षसादिव दुद्रुवुः ॥ २७ ॥

एक एव बभूवाऽसौ जनमध्यगतोऽपि सन् ।
अर्थादिगुणनिर्मुक्तः परदेश इवाऽध्वगः ॥ २८ ॥

उसके मुँहपर आनन्दकी रेखा भी न थी, शरीर काला पड़ गया था, शोभाने तो उसका सर्वथा त्याग कर दिया था, अतएव वह श्मशान भूमिके समान था। दुःखी नागरिकोंने उसका कुछ भी संमान नहीं किया ॥ २४ ॥

उसका शरीर धुएँके समान मैला था। जैसे पर्वतके शिलामय प्रदेशके समीप अग्नि नहीं जाती वैसे ही परितापदशावाली जनता उसके समीप नहीं गई ॥ २५ ॥

अपनी आज्ञाशक्तिसे उसने जनताको क्यों वशीभूत नहीं किया ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'मन्दोत्साहाः'** इत्यादिसे ।

भट आदिके समुदायसे उपेक्षित मन्दोत्साह हुई उसकी आज्ञा, भस्ममें जल-बिन्दुओंके समान, आज्ञापन योग्य पुरुषको प्राप्त न कर सकी ॥ २६ ॥

जैसे लोग राक्षससे भयभीत होकर भागते हैं वैसे ही क्रूर कार्यकारी आकार-वाले तथा संगतिसे अशुभ फल देनेवाले उससे भयभीत होकर लोग विशेषरूपसे भागते थे ॥ २७ ॥

यद्यपि वह बहुतसे लोगोंके बीचमें रहता था तथापि जैसे परदेशमें धन आदि गुणोंसे रहित पथिक बहुत बड़े जनसमुदायके बीच रहता हुआ भी अकेला ही रहता है वैसे ही वह भी अकेला ही हुआ ॥ २८ ॥

भृशमालपतेऽप्यस्मै नाऽऽलापं नागरा ददुः ।
मुक्ताजालयुतायाऽपि कीचकायाऽध्वगा इव ॥ २९ ॥
अथ सर्वे वयं दीर्घकालं श्वपचदूषिताः ।
प्रायश्चित्तैर्न शुद्धयामः प्रविशामो हुताशनम् ॥ ३० ॥
इति निर्णीय नगरे नागरा मन्त्रिणस्तथा ।
अभितो ज्वालयामासुश्चिताः शुष्केन्धनैधिताः ॥ ३१ ॥
ज्वालितास्वभितस्तासु तारकास्विव खे तदा ।
बभूव नगरं सर्वमाक्रन्दपरमानवम् ॥ ३२ ॥
करुणारावमुखरैः कलत्रैर्बाष्पवर्षिभिः ।
अवष्टब्धं ज्वलत्कुण्डोपान्तमन्दरुदत्प्रजम् ॥ ३३ ॥
अग्निकुण्डप्रविष्टानां मन्त्रिणां भृत्यरोदनैः ।
रुदत्क्रन्दद् दृढतरमरण्यमिव मारुतैः ॥ ३४ ॥

जैसे पथिक वायुके कारण शब्द कर रहे तथा मोतियोंकी राशिसे युक्त भी कीचक नामके विशेष बाँसोंको वचन नहीं देते हैं यानी उनसे बातें नहीं करते वैसे ही खूब पुकार रहे एवं मोतियोंके हारोंसे अलङ्कृत भी उसे नगरवासियोंने प्रतिवचन नहीं दिया ॥ २९ ॥

इसके अनन्तर हम सब लोग चिरकालतक चाण्डालके स्पर्शसे दूषित हैं, प्रायश्चित्तोंसे हमारी शुद्धि होनेकी नहीं; अतएव हम लोग अग्निमें प्रवेश करते हैं, ऐसा निश्चय कर नगरमें सब नागरिक तथा मन्त्रियोंने सूखी हुई लकड़ियोंसे बढ़ाई हुई चिताएँ चारों ओर बनाईं ॥ ३०, ३१ ॥

तब आकाशमें तारोंके समान चारों ओर उन चिताओंके प्रज्वलित होनेपर सारे नगरके लोग विलाप करने लगे ॥ ३२ ॥

करुण विलाप करनेवाली और आंसुओंकी धारा वर्षानेवाली नारियों द्वारा नगर व्याप्त था तथा वहां जल रहे कुण्डोंके आस-पास लोग किंकर्तव्य विमूढ होकर रो रहे थे ॥ ३३ ॥

जैसे वायुओंसे अरण्य दृढ़तर शब्द करता है वैसे ही अग्निकुण्डोंमें प्रविष्ट हुए मन्त्रियोंके भृत्योंके रोदन द्वारा सारा नगर खूब आंसू बहा रहा था और विलाप कर रहा था ॥ ३४ ॥

चितादीपितविप्रेन्द्रमांसमांसलगन्धया ।
जातनीहारमुत्पातवात्ययाऽवकरोद्धतैः ॥ ३५ ॥

वातदीर्घवसागन्धदूरानीतखगोर्जितैः ।
चक्रैर्व्योमाऽभवच्छन्नभास्करं जलदैरिव ॥ ३६ ॥

वातोद्धूतचितावह्निप्रज्वलद्व्योममण्डलम् ।
उड्डीनाग्निकणव्राततारासारदिगन्तरम् ॥ ३७ ॥

प्रमत्ततस्करक्रन्दद्वेल्लद्बालकुमारकम् ।
संत्रस्तनागरापास्तजीविताख्यमसंस्थिति ॥ ३८ ॥

अलक्षितगृहं चौरलुण्ठिताखिलसंचयम् ।
त्यक्तपुत्रकलत्रं तन्मरणव्यग्रनागरम् ॥ ३९ ॥

चिताओंमें जले हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके मांससे अधिक गन्धवाली उत्पातकी आँधी द्वारा मिट्टीके ढेरोंसे उठे हुए धूलिकणोंसे ऐसा प्रतीत होता था मानो उसपर तुषारकी वृष्टि हुई हो ॥ ३५ ॥

वायुसें दूर-दूर तक फैली चर्बीकी गन्धसे दूरसे लाये गये पक्षियों और पिशाच आदिके मण्डलोंसे आच्छन्न सूर्यवाला वह नगर बादलोंसे जिसमें सूर्य आच्छन्न हो ऐसे आकाशकी नाईं हुआ ॥ ३६ ॥

वायुसे उड़ाई गई चिताओंकी अग्निसे उस नगरका आकाशमण्डल जल रहा था तथा उड़े हुए अग्निकणोंके संघातरूपी तारोंसे दिशाएँ कर्बुरित हो गई थीं ॥ ३७ ॥

वहांपर उन्मत्त चोर-लुटेरों द्वारा आभूषण आदिके हरणके समय बालक और कुमार रो और काँप रहे थे, भयभीत नागरिकोंने अपने जीवन और नामका त्याग कर दिया था एवं किसी प्रकारकी मर्यादा नहीं रह गई थी ॥ ३८ ॥

उस नगरमें घर नहीं दिखाई देते थे, चोरोंने सब धनसञ्चय लूट लिया था, लोगोंने अपने पुत्र-कलत्रका त्याग कर दिया था और मरनेके लिए सब नगरवासी व्यग्र थे ॥ ३९ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने कष्टे विधिविपर्यये ।
अशेषजनताशेषकल्पान्तसदृशस्थितौ ॥ ४० ॥
राज्यसज्जनसंपर्कपवित्रीकृतधीरधीः ।
गवलश्चिन्तयामास शोकेनाकुलचेतनः ॥ ४१ ॥
मदर्थे हि कदर्थोऽयं देशेऽस्मिन् स्थितिमागतः ।
अकालकल्पान्तमयः सर्वनायकनाशनः ॥ ४२ ॥
किं मे जीवितदुःखेन मरणं मे महोत्सवः ।
लोकनिन्द्यस्य दुर्जन्तोर्जीवितान्मरणं वरम् ॥ ४३ ॥
इति निश्चित्य गवलो ज्वलिते ज्वलने पुनः ।
पतङ्गवदनुद्वेगमकरोदाहुतिं वपुः ॥ ४४ ॥
तस्मिन् बलाद् गवलनाम्नि हुताशराशौ
देहे पतत्यवयवाकुलतां प्रयाते ।
स्वाङ्गावदाहदहनस्फुरणानुरोधा-
दन्तर्जले झटिति बोधमवाप गाधिः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार इस कष्टकर विधिविपर्ययके, जिससे सारी जनताकी पूर्ण प्रलय-के समान स्थिति थी, प्रवृत्त होनेपर शोकसे व्याकुल चित्तवाले गवलने, राज्यके सज्जनोंके संसर्गसे जिसकी धीर बुद्धि पवित्र हो गई थी, विचार किया । मेरे ही कारण यह अनर्थ, जो अकालप्रलयमय और सब नेताओंका नाशकारी है, इस देशमें उत्पन्न हुआ है । मेरे जीवनके क्लेशसे क्या प्रयोजन है मेरा मरना ही महोत्सव है । लोकनिन्दनीय दुष्ट जीवका जीवनकी अपेक्षा मरण अच्छा है ॥ ४०–४३ ॥

ऐसा विचार कर गवलने अपने शरीरको पतङ्गकी नाईं बिना किसी उद्वेगके प्रज्वलित अग्निमें आहुति बना दिया ॥ ४४ ॥

गवलनामक उस देहके निर्वेदवश अग्निमें गिरने और अवयवोंसे व्याकुल होनेपर अपने अङ्गोंके दाहवश हिलने-डुलनेके कारण जलके अन्दर अघमर्षण कर रहे गाधि तुरन्त बोधको प्राप्त हुए ॥ ४५ ॥

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते राज्यभ्रंशो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥४६॥

॥ द्वादशो दिवसः ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

मुहूर्तद्वितयेनाऽथ गाधिराधिमवभ्रमात् ।
प्रशशामाऽऽकुलीभावो वेलावर्त इवाऽम्बुधेः ॥ १ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—मुनि महाराजके ऐसा कहनेपर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलावलम्बी हो गये और सभा मुनिजीको नमस्कार कर सायंकालकी विधिके लिए स्नानार्थ चली गई और दूसरे दिन रात्रि बीतनेपर सूर्यकी किरणोंके साथ फिर आ लगी ॥ ४६ ॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ दिवस

सैंतालीसवाँ सर्ग

[अतिथिसे अपना पूर्वोक्त कीर राजवृत्तान्त सुनकर, स्वयं वहां जाकर, देखकर और पुनः पुनः पूछकर गाधिका विस्मित होना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर श्रीगाधिजी जैसे समुद्रका अतिसंक्षुब्ध तटवर्ती आवर्त शान्त होता है वैसे पूर्वोक्त संसारभ्रमसे शान्त हुए ॥ १ ॥

मनोनिर्माणसंमोहात्तस्मात्स विरराम ह ।
कल्पान्तसमये ब्रह्मा जगद्विरचनादिव ॥ २ ॥
बोधमाप शनैः शान्तः स्वमेवोन्निद्रधीरिव ।
क्षीबतायां प्रशान्तायां यथा परिणताशयः ॥ ३ ॥
अयं सोऽहमिदं कार्यमिदं नेति ददर्श ह ।
निशाव्यपगमे लोको यथा क्षीणे तमःपटे ॥ ४ ॥
स्मृतस्वरूपोऽथ पदमुद्दध्रे स जलान्तरात् ।
शिशिरान्ते प्रवृत्तास्यं सरोजमिव माधवः ॥ ५ ॥
एतद्वारिककुब्व्योमवतीं वसुमतीमिमाम् ।
अन्यामिव पुनः पश्यन् विस्मयं परमं ययौ ॥ ६ ॥
कोऽहं किमिव पश्यामि किमकार्षमहं किल ।
एवं विचारयंश्चित्रं सभ्रूभङ्गमभूत् क्षणम् ॥ ७ ॥

जैसे प्रलयके समय ब्रह्माजी जगत्‌की रचनासे विरत होते हैं वैसे ही मनकी रचनारूप मोहसे वे विरत हुए ॥ २ ॥

जैसे मदिरा आदिके मदके शान्त होनेपर स्वच्छ चित्त हुआ पुरुष 'मैं अमुक हूँ' इस बोधको प्राप्त होता है वैसे ही निद्रारहित बुद्धिवाले शान्त हुए गाधि धीरे-धीरे पूर्वोक्त गाध्यहंभाव बोधको प्राप्त हुए ॥ ३ ॥

जो स्नानके लिए जलमें उतरा था वह गाधि मैं हूँ, यह अवशिष्ट स्नान, तर्पण आदि कृत्य मेरा कार्य है यह पहले देखा गया चाण्डालराज्य आदि मेरा कार्य नहीं है यह उन्होंने वैसे ही देखा जैसे कि रात्रिके बीतनेपर अन्धकारावरणके क्षीण होनेपर लोग देखते हैं ॥ ४ ॥

जैसे शिशिर ऋतुके अन्तमें वसन्त कमलको, जिसका मुकुलरूपी मुख उत्पन्न हो चुका हो, जलके अन्दरसे बाहर करता है वैसे ही गाधिने, जिन्हें अपने स्वरूपका स्मरण हो चुका था, जलसे पैर बाहर किया ॥ ५ ॥

पूर्वानुभूत जल दिशा और आकाशवाली इस पृथिवीको फिर अन्य-सी देख रहे वे परम विस्मयको प्राप्त हुए ॥ ६ ॥

मैं कौन हूँ, क्या देखता हूँ, मैंने क्या किया यों क्षण भर भ्रूभङ्गपूर्वक अन्दर विचार करते हुए वे स्थित रहे ॥ ७ ॥

श्रान्तस्तत्क्षणमात्रेण संभ्रमं दृष्टवानहम् ।
इति विज्ञाय सलिलादुदस्थादुदयार्कवत् ॥ ८ ॥
चिन्तयामास च तटे क्व सा माता क्व सा प्रिया ।
यदाऽहं मृतिमायातो मध्ये मातृमहेलयोः ॥ ९ ॥
बालस्य मातापितरौ नष्टौ किल ममाऽमतेः ।
वातनीतस्य पत्रस्य वल्लीवृक्षमिवाऽसिना ॥ १० ॥
अविवाहोऽस्मि जानामि न स्वरूपमपि स्त्रियः ।
दुष्टायाः क्षोभकारिण्या मदिराया इव द्विजः ॥ ११ ॥
अतिदूरतरीभूताः स्वदेशस्य स्वबान्धवाः ।
के नाम मम येषां ते मध्ये जीवं त्यजाम्यहम् ॥ १२ ॥
तस्मादेतत्समुद्भूतमहं किं नाम दृष्टवान् ।
विविधारम्भसंरम्भ गन्धर्वनगरं यथा ॥ १३ ॥

थके हुए मैंने उस थकावटसे ही क्षणभरमें महाभ्रम देखा। ऐसा विचार कर वह जैसे उदयाचलसे सूर्य निकलते हैं वैसे ही जलसे बाहर निकले ॥ ८ ॥

तटपर उन्होंने विचार किया—मेरी वह माता कहाँ है और वह स्त्री कहाँ है ? जब कि मैं माता और पत्नीके बीचमें मृत्युको प्राप्त हुआ ॥ ९ ॥

जैसे वायुसे उड़ाये गये पत्तेका माता-पिता-स्थानीय लताप्रधान वृक्ष तलवारसे नष्ट हो जाता है वैसे ही मुझ मन्दभाग्यके माता और पिता, जब मैं बालक ही था तभी, मृत्युसे नष्ट हो गये थे ॥ १० ॥

मैं अविवाहित हूँ जैसे ब्राह्मण चित्तमें क्षोभ पैदा करनेवाली दुष्ट मदिराके रसको नहीं जानता वैसे ही मैं क्षोभकारिणी स्त्रीका स्वरूप भी नहीं जानता ॥ ११ ॥

मेरे जन्मभूमिके आत्मीय बन्धुबान्धव मुझसे बहुत दूर हैं, जिनके बीचमें मैंने प्राण त्यागे थे, वे न मालूम कौन थे ? ॥ १२ ॥

इसलिए उत्पन्न हुए ये विविध प्रकारके पदार्थ और जन्म आदिका अभिमान गन्धर्वनगरके समान मैंने क्या देखा ? ॥ १३ ॥

तदास्तामेतदेषा हि बन्धुमध्ये मृतस्थितिः ।
मायामोहे मनागस्मिन् न सत्यमुपलभ्यते ॥ १४ ॥
नित्यमेवमनन्तासु भ्रान्तिदृष्टिषु देहिनाम् ।
चेतो भ्रमति शार्दूलो वनराजिष्विवोन्मदः ॥ १५ ॥
अवधार्येति तं चित्ते मोहं गाधिर्निनाय सः ।
दिनानि कतिचित्तस्मिन् स्वक एवाऽऽश्रमे तदा ॥ १६ ॥
एकदा गाधिमगमत्कश्चित्तत्र प्रियोऽतिथिः ।
ब्रह्माणमिव दुर्वासाः स विशश्राम सश्रमः ॥ १७ ॥
परमां तुष्टिमानीतः फलपुष्परसाशनैः ।
सोऽतिथिर्गाधिना तेन वसन्तेनेव पादपः ॥ १८ ॥
मिथो वन्दितसन्ध्यौ तौ कृतजाप्यावुभावपि ।
क्रमाच्छयनमासाद्य तस्थतुर्मृदुपल्लवम् ॥ १९ ॥
ततः प्रावर्तते शान्ता तयोस्तापसयोः कथा ।
स्वव्यापारोचिता पुष्पश्रीरिवर्तुत्वमाशयोः ॥ २० ॥

स्वप्नके समान बाध होनेके कारण उसकी असत्यताका निश्चय कर उसकी उपेक्षा करते हैं—**'तदास्ताम्'** इत्यादिसे ।

यह बन्धुओंके बीचमें मृतस्थिति रहे इस मायाजनित मोहमें यह कुछ भी सत्य दृष्टिगोचर नहीं होता ॥ १४ ॥

जैसे मदोन्मत्त सिंह वनराजियोंमें घूमता है वैसे ही यह प्राणियोंका चित्त अनन्त भ्रान्तियोंमें नित्य घूमता है ॥ १५ ॥

इस प्रकार गाधिने चित्तमें उस मोहका विचार कर उसी अपने आश्रममें कतिपय दिन बिताये ॥ १६ ॥

वहां एक समय गाधिके पास कोई प्रिय अतिथि ब्रह्माके पास दुर्वासाकी तरह आया । श्रान्त हुए उसने वहांपर विश्राम लिया । जैसे वसन्त फल, पुष्प, रस आदिसे वृक्षको परम प्रसन्नताको प्राप्त कराता है वैसे ही गाधिने फल, पुष्प, रस और भोजनसे उस अतिथिको प्रसन्नताको प्राप्त कराया ॥ १७, १८ ॥

एकान्तमें दोनोंने सन्ध्यावन्दन और जप किया । दोनों ही क्रमसे कोमल पल्लवोंके शयनोंपर आकर बैठे ॥ १९ ॥

तदनन्तर उन दोनों तपस्वियोंकी अपने तप, ध्यान आदि कर्मोंके

तं पप्रच्छाऽतिथिं गाधिः प्रसंगपतितं वचः ।
किं ब्रह्मन् सुकृशाङ्गस्त्वं किमिति श्रमवानसि ॥ २१ ॥

अतिथिरुवाच

ममाऽतिकार्श्यश्रमयोर्भगवन् शृणु कारणम् ।
कथयामि तथाभूतं वयं नाऽसत्यवादिनः ॥ २२ ॥
अस्त्यस्मिन् वसुधापीठे उत्तराशानिकुञ्जके ।
कीरो नामाऽतिविख्यातः श्रीमाञ्जनपदो महान् ॥ २३ ॥
तत्राऽहमवसं मासं पूज्यमानः पुरे जनैः ।
नानात्मस्वादलोलात्मा चित्तवेतालमोहितः ॥ २४ ॥
एकदैकेन तत्रोक्तं कथाप्रस्तावतः क्वचित् ।
इहाऽभूच्छ्वपचो राजा वर्षाण्यष्टौ द्विजेति मे ॥ २५ ॥

अनुरूप शान्तरसप्रधान कथा ऐसी ही प्रवृत्त हुई जैसे कि भगवान् सूर्यका उत्तर दिशासे सम्बन्ध होनेपर वसन्तमें वसन्त ऋतुके अनुरूप पुष्पशोभा प्रवृत्त होती है ॥ २० ॥

गाधिने बातचीतके सिलसिलेमें उस अतिथिसे पूछा कि ब्रह्मन्, आप क्यों कृश हैं और क्यों थके हैं ? ॥ २१ ॥

अतिथिने कहा—भगवन्, मेरी अत्यन्त कृशता और श्रमका कारण सुनिये ।

हम लोग असत्यवादी नहीं हैं । जो वास्तव बात है, उसे मैं आपसे कहता हूँ ॥ २२ ॥

इस भूतलमें उत्तर दिशारूपी निकुञ्जमें कीर नामसे विख्यात समृद्ध और विशाल देश है ॥ २३ ॥

उसमें पुरवासी लोगोंसे आदृत हो रहा और विविध प्रकारके आत्माको अच्छे लगनेवाले भोज्योंमें तृष्णायुक्त और चित्तरूपी वेतालसे मोहित मैं एक मास रहा ॥ २४ ॥

वहांपर कहीं एक समय एकने कथाके सिलसिलेमें मुझसे कहा—हे द्विज, यहांपर आठ वर्षतक चाण्डाल राजा हुआ ॥ २५ ॥

ततो ग्रामेषु तत्पृष्टैः प्रोक्तं सकलजन्तुभिः ।
राजा बभूव श्वपचो वर्षाण्यष्टाविहेति तैः ॥ २६ ॥
सोऽयमन्ते परिज्ञातः प्रविष्टो ज्वलनं जवात् ।
ततो द्विजशतानीह प्रविष्टानि हुताशनम् ॥ २७ ॥
इति तेषां मुखाच्छ्रुत्वा तस्मान्निर्गत्य मण्डलात् ।
प्रयागेऽकरवं शुद्ध्यै प्रायश्चित्तमहं द्विज ॥ २८ ॥
कृत्वा चान्द्रायणस्याऽन्ते तृतीयस्याऽद्य पारणम् ।
इहाऽहमागतस्तेन श्रान्तोऽस्म्यतिकृशोऽस्मि च ॥ २९ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति श्रुतवता तेन गाधिना स तदा द्विजः ।
भूयः पृष्टोऽप्येतदेव कथयामास नाऽन्यथा ॥ ३० ॥
अथ विस्मयवान् गाधिस्तां नीत्वा तत्र शर्वरीम् ।
जगद्गेहमहादीपे रवावुदयमागते ॥ ३१ ॥
कृतप्रातःस्नानविधावापृच्छ्य स्वातिथौ गते ।
इदं संचिन्तयामास विस्मयोद्धुरया धिया ॥ ३२ ॥

तदनन्तर गांवमें पूछे गये सब लोगोंने आठ वर्षतक यहांपर चाण्डाल राजा हुआ, यह कहा ॥ २६ ॥

वह अन्तमें जाना गया और शीघ्र अग्निमें प्रविष्ट हो गया । उससे सैकड़ों ब्राह्मणोंने यहांपर अग्निमें प्रवेश किया ॥ २७ ॥

हे विप्र, उनके मुखसे यह सुनकर उस देशसे बाहर निकलकर मैंने शुद्धिके लिए प्रयागमें प्रायश्चित्त किया ॥ २८ ॥

आज तीसरे चान्द्रायणके बाद पारणा करके मैं यहां आया हूँ, इसी कारण मैं थका हूँ और अत्यन्त कृश हूँ ॥ २९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जब गाधिने यह सुना तब उन्होंने ब्राह्मणसे फिर पूछा । उन्होंने यही बात कही इससे विपरीत बात नहीं कही ॥३०॥

इसके बाद आश्चर्यको प्राप्त हुए गाधिने उस रात्रिको वहांपर विताकर जगद्रूपी घरके महादीपस्वरूप सूर्यके उदित होनेपर और प्रातःकाल स्नानविधि कर चुकनेपर पूछकर अपने अतिथिके चले जानेपर विस्मयसे भरी हुई बुद्धिसे यह विचार किया ॥ ३१, ३२ ॥

यन्मया संभ्रमे दृष्टं सत्यभूतं द्विजेन तत् ।
उक्तं ममेति किं नाम स्यान्मायाशम्बरक्रमः ॥ ३३ ॥
यद्बन्धुमध्ये मरणं मया तद्दृष्टमात्मनः ।
सा मायैव न सन्देहः शेषं पश्यामि तस्य तम् ॥ ३४ ॥
तदात्मश्वपचोदन्तं द्रष्टुं तावदखिन्नधीः ।
भूतमण्डलपर्यन्तग्रामं गच्छामि सत्वरम् ॥ ३५ ॥
इति संचिन्तयन् गन्तुं मण्डलान्तरमादरात् ।
उत्तस्थौ भास्करः पार्श्वं मेरोर्द्रष्टुमिवोद्यतः ॥ ३६ ॥
मनोराज्यमपि प्राज्ञा लभन्ते व्यवसायिनः ।
गाधिना स्वप्नसंदृष्टं गत्वा लब्धमखण्डितम् ॥ ३७ ॥
सर्वमध्यवसायेन दुष्प्रापमपि लभ्यते ।
पश्यन् गाधिर्जगन्मायां प्रमेयीकर्तुमुद्यतः ॥ ३८ ॥

जो बात मैंने भ्रान्तिदशामें देखी वही मेरे अतिथिने सत्य कही । मेरा इस प्रकारका रूप शाम्बरी माया है क्या ? ॥ ३३ ॥

जो मैंने बन्धुओंके बीचमें अपना वह मरण देखा वह तो निःसन्देह माया ही है उसमें संवाद अर्थात् सत्यत्व देखा नहीं जा सकता, किन्तु अवशिष्ट जो अतिथिके चान्द्रायणमें निमित्तभूत अपना चाण्डालवृत्तान्त है, उसे मैं देखूँगा ॥ ३४ ॥

मैं अपने उस चाण्डालवृत्तान्तको देखनेके लिए खेदरहित होकर भूतमण्डल देशकी सीमामें स्थित ग्राममें शीघ्र जाता हूँ ॥ ३५ ॥

ऐसा विचार कर रहे गाधि मण्डलान्तरको जानेके लिए उद्यत होकर जैसे सूर्य मेरुके पार्श्वभागको देखनेके लिए उद्यत होकर उदित होते हैं वैसे ही उठे ॥ ३६ ॥

उद्योगी बुद्धिमान् पुरुष मनोराज्यको भी पा जाते हैं । गाधिने जाकर स्वप्नमें देखा हुआ ज्योंका त्यों पाया ॥ ३७ ॥

उद्योगसे दुष्प्राप्य भी सब कुछ प्राप्त होता है । देखिये न, जगन्मायाको स्वप्नमें देख रहे गाधि उसे नेत्रगोचर करनेको तत्पर हुए ॥ ३८ ॥

विनिर्गत्याऽभवन्मार्गे प्रावृडोघजवेन सः ।
देशानुल्लङ्घयामास बहून् वाततुरङ्गवत् ॥ ३९ ॥
तचेद्दशनिजाचारं भूतमण्डलमागतः ।
करभः कण्टकार्थ्येकः कारञ्जमिव काननम् ॥ ४० ॥
तत्र संवित्स्थितेनैव सन्निवेशेन वै पुनः ।
अपश्यद् ग्रामकं कंचिद् गन्धर्व इव पत्तनम् ॥ ४१ ॥
ददर्श तस्य पर्यन्ते तमेव श्वपचालयम् ।
अधस्ताद्भुवनस्येव पाताले नरकव्रजम् ॥ ४२ ॥
चित्तचिन्तितविस्तारं तन्निवेशमयं परम् ।
गन्धर्ववदसावात्मश्वपचत्वं च दृष्टवान् ॥ ४३ ॥
तेनैव सन्निवेशेन प्राग्दृष्टं श्वपचास्पदम् ।
तस्य कामपि वैराग्यपदवीमनयन्मनः ॥ ४४ ॥

गाधि घरसे निकल कर मार्गमें वर्षा ऋतुके जल-प्रवाहके वेगसे त्वरायुक्त हुए। उन्होंने वाततुरंगमके (वायु ही जिसका बाहन है यानी मेघके) तुल्य बहुतसे देशोंको लांघ डाला ॥ ३९ ॥

जैसे काँटोंको चाहनेवाला अकेला ऊँट बबूरके वनमें जाता है वैसे ही गाधि एकाकी ही पूर्वोक्त प्रकारके आचार-विचारवाले उक्त भूतमण्डल नामक देशमें पहले गये ॥ ४० ॥

फिर वहांपर बुद्धिमें स्थित (स्मृतिपथमें आरूढ हो रहे) अवयव-संनिवेशसे (आकार-प्रकारसे) गन्धर्व नगरके तुल्य किसी एक गांवको उन्होंने देखा ॥ ४१ ॥

उस गांवके छोरपर गाधिने भुवनके नीचे पातालमें नरकमण्डलके समान उसी चाण्डालगृहको देखा ॥ ४२ ॥

गन्धर्वके समान गाधिने जिसमें जन्म आदिके विस्तारका चित्तमें विचार किया था और जो गृह आदिमें प्रचुर आसक्तिवाला था इस तरहका अपना चाण्डालत्व भी चिह्नोंसे देखा ॥ ४३ ॥

पहले देखे गये चाण्डालगृहने अपने उसी आकार-प्रकारसे गाधिके मनको अपूर्व वैराग्यमें पहुँचा दिया ॥ ४४ ॥

प्रावृडासारलुठितं भित्तिजातयवाङ्कुरम् ।
पर्यस्तच्छादनार्धाङ्कं किंचिदादृष्टतल्पकम् ॥ ४५ ॥
दारिद्र्यं तद्दृढमिव दौर्भाग्यमिव कुड्यमत् ।
भ्रष्टाङ्गमिव दौरात्म्यं दौःस्थित्यमिव खण्डितम् ॥ ४६ ॥
गाधिर्दन्तावदलितैर्गवाश्वमहिषास्थिभिः ।
धवलैर्व्याप्तपर्यन्तं साक्ष्यं कर्तुमिव स्थितैः ॥ ४७ ॥
भुक्तं पीतं पुरा तेन येषु खर्परकेषु वै ।
तैरस्पन्दाभ्रसलिलैः पानपूर्णैरिवाऽऽवृतम् ॥ ४८ ॥
ताभिरेवाऽन्त्रतन्त्रीभिः संशुष्काभिर्लतावृतैः ।
तृष्णाभिरिव दीर्घाभिः परितः परिवेष्टितम् ॥ ४९ ॥
चिरमालोकयामास स तदात्मगृहं जवात् ।
प्राक्तनं शुष्कशवतां यातं देहमिवाऽऽत्मवान् ॥ ५० ॥
अतिविस्मयमातस्थौ ग्रामकं समुपाययौ ।
उल्लङ्घ्य म्लेच्छनगरमार्यदेशमिवाऽध्वगः ॥ ५१ ॥

वह चाण्डालगृह वर्षाऋतुकी मूसलाधार वृष्टिसे छिन्न-भिन्न हो गया था, उसकी दीवारोंपर जौ के अङ्कुर जमे थे, उसका आधा छप्पर अस्त-व्यस्त हो गया था एवं उसमें कुछ-कुछ शयनके भग्नावशेष दृष्टिगोचर हो रहे थे। वह दारिद्र्यके समान कठोर था, दौर्भाग्यके समान भित्तिमात्रावशिष्ट गृहाकार था, चौर्य आदि दौरात्म्यके समान उसके अवयव शिथिल हो गये थे और दुर्दशाके समान उसका एक भाग खण्डित हो गया था ॥ ४५, ४६ ॥

गाधिने दांतोंसे चबाई हुई गाय, घोड़े, भैंस आदिकी सफेद हड्डियोंसे, जो मानो गवाही देनेके लिए वहांपर पड़ी थीं, चारों ओर व्याप्त, जिनमें उसने पहले भोजन और पान किया था, वर्षाके निश्चल जलसे भरे हुए अतएव ऐसा मालूम पड़ता था आशव आदिसे भरे हैं ऐसे खप्परोंसे आवृत, तृष्णाओंके समान लम्बी-लम्बी सूखी हुई उन्हीं आंतोंसे लताके समान स्तम्भ आदिके वेष्टनों द्वारा परिवेष्टित उस प्राक्तन अपने घरको शुष्क शवप्राय हुए प्राक्तन देहके समान बड़ी त्वरासे चिरकाल तक देखा ॥ ४७—५० ॥

गाधिको बड़ा आश्चर्य हुआ वह जैसे पथिक म्लेच्छनगरको लांघकर आर्योंके देशमें जाता है वैसे ही उसके समीपवर्ती कुग्राममें गये ॥ ५१ ॥

तत्राऽपृच्छज्जनं साधो कच्चित्स्मरति भो भवान् ।
प्राग्वृत्तमस्य ग्रामस्य पर्यन्ते श्वपचक्रमम् ॥ ५२ ॥
सर्व एव हि धीमन्तश्चिरवृत्तमपि स्फुटम् ।
करस्थमिव पश्यन्ति मयेति सुजनाच्छ्रुतम् ॥ ५३ ॥
अत्र श्वपचमेकान्ते वासिनं वृद्धमुत्तमम् ।
स्मरस्येनं किमुत भो दुःखानामिव देहकम् ॥ ५४ ॥
यदि जानासि भोः साधो तन्मे कथय तत्त्वतः ।
पान्थ संशयविच्छेदे महत्पुण्यफलं स्मृतम् ॥ ५५ ॥
भूयो भूय इति ग्राम्याः पृष्टा गाधिद्विजन्मना ।
अनल्पस्मयसंरम्भमार्तेनेव चिकित्सकाः ॥ ५६ ॥

ग्राम्या ऊचुः

यथा कथयसि ब्रह्मंस्तत्तथा न तदन्यथा ।
कटंजनामा श्वपच इहाऽभूद् दारुणाकृतिः ॥ ५७ ॥

वहांपर उन्होंने लोगोंसे पूछा—हे सज्जन, क्या आपको इस गांवके छोरपर पहले हुए चाण्डालवृत्तान्तका स्मरण है। सभी धीमान् पुरुष चिरकालकी घटनाओंको भी हथेलीमें रक्खे हुए आंवलेके समान स्पष्टरूपसे देखते हैं, ऐसा मैंने सज्जनके मुँहसे सुना है ॥ ५२, ५३ ॥

हे सज्जन, यहांपर एकान्तमें निवास करनेवाले अतिवृद्ध चाण्डालका, जो दुःखोंकी मूर्तिके समान था, क्या आपको स्मरण है । हे साधो, यदि आप उसको जानते हैं, तो यथार्थरूपसे मुझसे कहिये। हे पथिक, सन्देहको निवृत्त करनेमें बड़ा पुण्य कहा गया है ॥ ५४, ५५ ॥

गाधि नामके ब्राह्मणने ग्रामीण लोगोंसे अत्यन्त आश्चर्य और प्रश्नोद्योगके साथ बार-बार पूछा जैसे कि आतुर पुरुष अत्यन्त आश्चर्य और प्रश्नोद्योगके साथ चिकित्सकसे पूछता है ॥ ५६ ॥

ग्रामीणोंने कहा—हे ब्रह्मन्, जैसा आप कहते हैं वह ठीक वैसा ही है,

पुत्रपौत्रसुहृद्भृत्यबन्धुस्वजनपेटकम् ।
यस्याऽतिविस्तीर्णमभूत् पत्रवृन्दं तरोरिव ॥ ५८ ॥
यस्य वृद्धस्य तत्सर्वं कलत्रं मृत्युराच्छिनत् ।
अद्रेः पुष्पफलोपेतं दावो वनमिवाऽनलः ॥ ५९ ॥
यस्ततो देशमुत्सृज्य ययौ कीरपुरान्तरम् ।
वर्षाण्यष्टावनुद्वेगं तत्र राजा बभूव सः ॥ ६० ॥
यस्तत्राऽर्थं परिज्ञाय जनैर्दूरे निराकृतः ।
यथा राशिरनर्थस्य यथा ग्रामे विषद्रुमः ॥ ६१ ॥
ततो जनेऽग्निं प्रविशत्यात्मना यो हुताशनम् ।
आर्यतामार्यसंसर्गादागतः प्रविवेश ह ॥ ६२ ॥
किं त्वमेव प्रयत्नेन श्वपचं पृच्छसि प्रभो ।
किं ते बन्धुरसौ कच्चिद्भवस्त्वं स्वतोऽथवा ॥ ६३ ॥

उसमें कुछ भी हेर फेर नहीं है। यहांपर क्रूर आकृतिवाला कटंजनामका चाण्डाल हुआ ॥ ५७ ॥

जिसका वृक्षके पत्रसमूहकी नाईं पुत्र, पौत्र, सुहृत, भृत्य और बन्धुवान्धवोंका संघ अति विस्तृत हुआ ॥ ५८ ॥

जैसे वनाग्नि पर्वतके पुष्पफलसे पूर्ण वनको नष्ट कर देती है वैसे ही कालने जिस वृद्धके सारे कुटुम्बको नष्ट कर दिया ॥ ५९ ॥

तदनन्तर जो देशका त्याग कर कीरपुरमें गया, वहांपर विना किसी उद्वेगके आठ वर्षतक राजा हुआ ॥ ६० ॥

वहां यथार्थ वृत्त जानकर लोगोंने जिसे ऐसे ही दूर कर दिया जैसे कि लोग अनर्थकी राशिको दूर कर देते हैं और जैसे ग्राममें विषवृक्षको दूर कर देते हैं ॥ ६१ ॥

तदुपरान्त लोगोंके अग्निमें प्रवेश करनेपर आर्योंके संसर्गसे आर्यताको प्राप्त हुआ वह स्वयं अग्निमें प्रविष्ट हुआ ॥ ६२ ॥

हे प्रभो, आप इतने प्रयाससे चाण्डालको क्यों पूछते हैं, क्या वह आपका बन्धु था या आप स्वयं उसके बन्धु हो गये ? ॥ ६३ ॥

एवं कथयतो ग्राम्यान् गाधिः पृच्छन् पुनः पुनः ।
सर्वेषु तत्र प्रान्तेषु मासमेकमुवास सः ॥ ६४ ॥

यथा तेनाऽनुभूतं तच्छ्वापचं तत् तथैव तैः ।
ग्रामीणैस्तस्य कथितं सर्वैरेवाऽवखण्डितम् ॥ ६५ ॥

अव्याहतं सकलभूतमुखादथैत
दाकर्ण्य सम्यगवलोक्य यथाऽनुभूतम् ।
गाधिः शशाङ्कमलवद्धृदयेऽधिरूढं
गूढाकृतिः परमविस्मयमाजगाम ॥ ६६ ॥

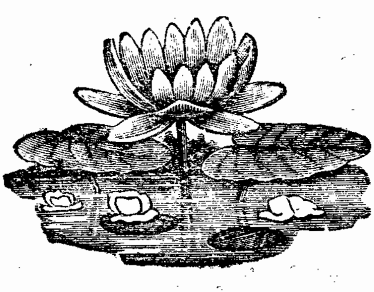
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते प्रत्यक्षावलोकनं नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार कह रहे ग्रामीणोंसे फिर-फिर पूछ रहे गाधि वहांपर सब प्रान्तोंमें पूरा एक महीना रहे ॥ ६४ ॥

जिस प्रकार गाधिने चाण्डालताका अनुभव किया था उसी प्रकार सभी ग्रामीणोंने ज्यों-का-त्यों सारा वृत्तान्त कहा ॥ ६५ ॥

सब प्राणियोंके मुँहसे सत्य वचन सुनकर स्वयं भी अबाधित प्रत्यभिज्ञासे जैसा अनुभूत हुआ था वैसा देख कर लज्जासे गूढ़ आकृतिवाले गाधि चन्द्रमाके कलङ्ककी नाईं अपने हृदयमें उत्पन्न हुए परम विस्मयको प्राप्त हुए ॥ ६६ ॥

सैंतालीसवां सर्ग समाप्त



अष्टचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

लुठितं श्वपचागारे पुनर्विस्मयमाययौ ।
गाधेर्मनो हि नाऽऽयाति तृप्तिमाश्चर्यदर्शने ॥ १ ॥
तत्राऽवलोकयामास स्थानानि सदनानि च ।
कल्पक्षोभविवृत्तानि जगन्तीवाऽम्बुजोद्भवः ॥ २ ॥
उवाच स्वात्मनैवेदमरण्ये लुठितालये ।
शुष्कास्थिमालावलिते पिशाचक इव द्रुमे ॥ ३ ॥
इमास्ता मृतमातङ्गदन्तमाला वृतौ कृताः ।
अद्याऽपि संस्थिताः कल्पं प्रति मेरुशिखा इव ॥ ४ ॥
इह तद्वानरीमांसं पक्ववंशाङ्कुरैः सह ।
भुक्तं पुराऽऽसवोन्मत्तैः सह श्वपचबन्धुभिः ॥ ५ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग

[गाधिका कीरनगरमें जाकर आश्चर्यपूर्वक देखकर तपस्यासे भगवान् विष्णुको प्रसन्न करना तथा विष्णुका यह सब माया है, यह कहना]

वसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, चाण्डालोंके घरमें चिरकालसे आसक्त गाधिका मन फिर आश्चर्यमें पड़ गया, क्योंकि अद्भुत दृश्यको देखनेसे गाधिका मन तृप्त नहीं हुआ ॥ १ ॥

वहाँ गाधिने प्रलयकालके उपद्रवसे नष्ट हुए त्रिलोकको जिस तरह ब्रह्मा देखते हैं उसी तरह बहुतसे स्थानों और घरोंको देखा ॥ २ ॥

जैसे पिशाच सूखी हड्डियोंकी मालाओंसे परिवेष्टित श्मशानके वृक्षपर अपने आप कहता है, वैसे ही जंगलमें खण्डहरमें उसने अपने मनमें कहा कि परिखामें (खाईमें) गाड़ी हुई ये मरे हुए हाथियोंके दातोंकी मालाएँ आज भी प्रलयकालको लक्ष्यकरके मेरुकी चोटियोंके समान स्थित हैं ॥ ३, ४ ॥

यहाँपर पहिले मैंने मद्य पीकर उन्मत्त हुए अपने चाण्डाल भाइयोंके साथ बन्दरियोंका मांस पके हुए बांसके अंकुरोंके साथ खाया था ॥ ५ ॥

आलिङ्ग्य श्वपचश्यामामिह केसरिचर्मणि ।
सुप्तमापीय मैरेयं तिक्तं गजमदेन च ॥ ६ ॥
कौलेयककुटुम्बिन्यः पिण्याकपलवर्द्धिताः ।
इह बद्धा वरत्राभिर्मृतेभरदकाष्ठके ॥ ७ ॥
इह वारणमुक्तानां ददासीत्पिठरत्रयम् ।
पिनद्धं माहिषेणोग्रचर्मणाऽम्बुदशोभिना ॥ ८ ॥
स्थलीष्वेतासु तास्वत्र सह श्वपचबालकैः ।
चिरं विलुठितं चूतपत्रपुञ्जे पिकैरिव ॥ ९ ॥
अत्र तद्बालनिःश्वासरणद्वंशप्रवृत्तवत् ।
गीतं पीतं शुनीरक्तं साधिता शवभूषितः ॥ १० ॥
अत्र सार्द्धं कुटुम्बेन जन्यत्रेषु कुटुम्बिना ।
नृत्तं तत्कृतमुन्नादं कल्लोलैर्जलधाविव ॥ ११ ॥

हाथियोंके मदसे तीखा मद्य पीकर मैं चाण्डाल तरुणीका सिंहचर्मपर आलिङ्गन कर यहांपर सोया था ॥ ६ ॥

यहाँपर मैंने मांस और खलसे पुष्ट हुई कुतियां मृत हाथियोंके दांतरूपी खूँटोंपर रस्सियोंसे बाँधीं थीं ॥ ७ ॥

यहाँपर हाथियोंके मोतियोंकी तीन उखाओंके (थालियोंके) परिमाणवाला हाथियोंके दाँतोंका पात्र था, जो काले मेघकी शोभाको धारण किये हुए भैंसेके चर्मसे ढका हुआ था ॥ ८ ॥

ये वे भूमिस्थल हैं जहांपर आमके पत्तोंपर कोकिलोंके समान चाण्डाल-बालकोंके साथ चिरकालतक मैंने धूलि-क्रीड़ाकी थी ॥ ९ ॥

यहांपर उन बालकोंके साँससे बजते हुए बंशके तालस्वरके समान गान किया था, कुत्तीका रुधिर पीया था और मुर्देको सजानेवाली वस्तुओंसे सबकी सजावट की थी ॥ १० ॥

यहांपर विवाहोंमें अपने सब कुटुम्बके साथ कुटुम्बवाले मैंने जैसे सागरमें कल्लोल ध्वनिपूर्वक नृत्य करते हैं वैसे ही उत्कृष्ट ध्वनिवाला नृत्य किया था ॥ ११ ॥

अत्रोड्डयनलोलानां काकभासपतत्रिणाम् ।
धृतानामन्यदाशार्थं ग्रथितं वंशपञ्जरम् ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवंप्रायाः स्मरन् गाधिः प्राक्तनीः श्वपचक्रियाः ।
विस्मयोत्कम्पितशिरा धातुश्चेष्टां परामृशत् ॥ १३ ॥
चचाल तस्माद्दीर्घेण देशात्कालेन कार्यवित् ।
भूतमण्डलमुत्सृज्य प्राप देशान्तरं क्रमात् ॥ १४ ॥
समुल्लङ्घ्य नदीशैलमण्डलारण्यसन्ततिम् ।
आससाद तुषाराद्रिरत्नं किल जनास्पदम् ॥ १५ ॥
तत्र प्राप महीपालनगरं नगसंनिभम् ।
जगद्भ्रमणखिन्नात्मा स्वर्लोकमिव नारदः ॥ १६ ॥
अथाऽऽत्मनाऽनुभूतानि दृष्टान्यासेवितानि च ।
स्थानानि नगरे पश्यन् पप्रच्छ जनमादृतः ॥ १७ ॥
साधो स्मरसि किंचित्त्वमिह श्वपचमीश्वरम् ।
यदि जानासि तत्त्वं मे वर्णयाऽऽशु यथाविधि ॥ १८ ॥

यहांपर दूसरे दिनके भोजनके लिये पकड़े हुए काक, भास आदि पक्षियोंका जो उड़नेके कारण चञ्चल थे; बांसका पिंजड़ा बनाया था ॥ १२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, इस तरहकी पहिले हुई चाण्डालोंकी क्रियाओंका (कुकर्मोंका) स्मरण करते हुए गाधि, जिनका सिर आश्चर्यसे कांप रहा था, विधाताकी विचित्र लीलाओंका विचार करने लगे ॥ १३ ॥

कर्तव्यको जाननेवाले गाधि उस देशसे बहुत कालके बाद चले एवं क्रमसे भूतमण्डल नामक देशको छोड़कर दूसरे देशमें पहुँचे ॥ १४ ॥

तदनन्तर बहुत-सी नदियों, पर्वतों, देशों तथा जंगलोंका उल्लँघन करके हिमालय पर्वतके मध्यमें रत्नके समान श्रेष्ठ पूर्वदृष्ट कीर देशमें पहुँचे ॥ १५॥

वहाँपर गाधि, जिस प्रकार संसारकी यात्रा करनेसे थके हुए नारदजी स्वर्गको प्राप्त करते हैं वैसे ही रत्नोंसे समृद्ध पर्वतके समान ऊँचे महलोंवाले राजनगरमें पहुँचे ॥ १६ ॥

उसके बाद अपने उपभोगमें आये हुए अपने महल, देखे हुए दूसरोंके

नागरा ऊचुः

अभूदिहाऽष्टौ वर्षाणि श्वपचो भूमिपो द्विज ।
राजत्वमर्पितं यस्य नाम मङ्गलहस्तिना ॥ १९ ॥
अन्ते च संपरिज्ञातः स प्रविष्टो हुताशनम् ।
अद्य द्वादशवर्षाणि समतीतानि तापस ॥ २० ॥
यं यं पृच्छत्यसौ गाधिर्जनं जातकुतूहलः ।
तस्य तस्य मुखादेव शृणोत्यास्वादयत्यपि ॥ २१ ॥
अथाऽपश्यत्पुरे तस्मिन्नृपं सबलवाहनम् ।
देवं चक्रधरं विष्णुं मन्दिरान्निर्गतं बहिः ॥ २२ ॥
स दृष्ट्वा स्थगिताकाशं चलरेणुपयोधरैः ।
प्राक्तनीं राजतां स्मृत्वा समुवाचाऽतिविस्मयः ॥ २३ ॥

मकान और पूर्वमें अपने आनन्दके साधनीभूत बाग बगीचोंको और नगरके बहुतसे स्थानोंको देखते हुए गाधि नागरिक लोगोंसे पूछने लगे—हे सज्जनो, क्या आप लोगोंको स्मरण है कि यहांका राजा चाण्डाल था, यदि आप जानते हैं, तो इस विषयका विधिपूर्वक शीघ्र वर्णन कीजिये ॥ १७–१८ ॥

नागरिक लोगोंने कहा—हे द्विज, यहां आठ वर्षतक चाण्डाल राजा हुआ, जिसको मंगल हस्तीने राजा बनाया था । अन्तमें स्वरूप ज्ञात होनेपर वह अग्निमें जल गया । हे तपस्विन्, आज इस बातको हुए बारह वर्ष बीत गये हैं ॥ १९–२० ॥

इस प्रकार कुतूहलसे भरे हुए गाधि जिस-जिस मनुष्यको देखते थे उस-उस मनुष्यसे पूछते थे और उसीके मुखसे सुनते थे और आस्वादन करते थे ॥ २१ ॥

इसके अनन्तर गाधिने उस नगरमें बल-वाहनके साथ (सेना अश्वादिके सहित) राजमहलसे बाहर निकले हुए राजाके रूपमें चक्रधर भगवान् विष्णुको देखा ॥ २२ ॥

उड़ती हुई धूलिरूपी मेघों द्वारा आकाशको आच्छादित करती हुई सेनाको देखकर अपनी पूर्वराज्यावस्थाका स्मरण करके अत्यन्त विस्मयको प्राप्त हुए गाधिने कहा ॥ २३ ॥

इमास्ताः कीरकामिन्यः पद्मगर्भोपमत्वचः ।
कनकद्रववर्णिन्यो लोलनीलोत्पलेक्षणाः ॥ २४ ॥

चामरौघा इमे चन्द्रकरसंपिण्डपाण्डुराः ।
स्थिरनिर्झरसंकाशाः काशपुष्पचया इव ॥ २५ ॥

कान्ताभिरवधूयन्ते बालव्यजनराजयः ।
इमास्ता वनबल्लीभिर्दीप्यमाना इवर्द्धयः ॥ २६ ॥

इमास्ता मत्तमातङ्गघटा घटितदिक्तटाः ।
संकल्पपादपा मेरोरिव भृङ्गपरम्पराः ॥ २७ ॥

एते ते यमवारीशकुबेरप्रतिमौजसः ।
सामन्ता वासवस्येव लोकपाला महीभृतः ॥ २८ ॥

इमास्ताः सर्ववस्त्वोघाः सर्वाभिमतदास्तताः ।
कल्पवृक्षलताकुञ्जसुन्दर्यो गृहपङ्क्तयः ॥ २९ ॥

ये वे ही कीरदेशके नृपकी कामिनियां हैं, जिनकी त्वचाएँ कमलके मध्यभागकी तरह कोमल हैं और जिनका रंग पिघले हुए सुवर्णकी भांति सुन्दर है और जिनके नेत्र चञ्चल नील कमलके सदृश हैं ॥ २४ ॥

ये चन्द्रमाकी किरणोंकी राशिके सदृश श्वेत, निश्चल निर्झरके समान, तथा काशोंके फूलोंकी राशिके समान चवँरोंका समूह सामने है २५ ॥

मनोहर ललनाएँ इन चँवरोंको डुला रही हैं, मानो वनकी लताएँ खिले हुए पुष्पोंकी समृद्धिको कँपाती हों ॥ २६ ॥

कल्पवृक्षसे युक्त मेरुपर्वतकी शिखरपरम्पराके समान ये वे सब दिशाओंके भागोंमें उन्मत्त हाथियोंके जमघट हैं ॥ २७ ॥

ये वे इन्द्रके यम आदि लोकपालोंके समान राजाके यम, वरुण, कुबेरके समान तेजस्वी अधीन देशोंके राजा लोग हैं ॥ २८ ॥

ये कल्पवृक्षकी लताओंके कुञ्जोंकी तरह सुन्दर, सब अभीष्ट वस्तुओंको देनेवाली एवं हर एक वस्तुओंसे भरी हुई घरोंकी पङ्क्तियां विस्तृत हैं ॥ २९ ॥

इदं तत् कीरजनताराज्यं प्राग्भुक्तमद्य मे ।
आत्मजन्मान्तराचार इव प्रत्यक्षतां गतम् ॥ ३० ॥

सत्यं स्वप्न इवाऽयं मे जाग्रद्भूतः पुनः स्थितः ।
न जाने किंकृतोत्थाना मायेयं प्रविजृम्भते ॥ ३१ ॥

अहो नु खलु दीर्घेण मनोमोहेन वल्गता ।
वैवश्यमुपनीतोऽहं जालेनेव शकुन्तकः ॥ ३२ ॥

हा धिकष्टमबुद्धं मे मनो वासनया हतम् ।
पश्यति भ्रमजालानि विततानि शिशोरिव ॥ ३३ ॥

एषा हि माया महती तेन मे चक्रधारिणा ।
दर्शितेत्यधुना साधु मया स्मृतमखण्डितम् ॥ ३४ ॥

तदिदानीं तथा यत्नं करिष्ये गिरिकन्दरे ।
यथा कुसंभ्रमस्याऽस्य जाने जन्म तथा स्थितिम् ॥ ३५ ॥

यह वही कीरजनताका राज्य है, जिसका मैंने पहले उपभोग किया था और जिसका आज अपने पूर्वजन्मके चरित्रकी भांति मुझे प्रत्यक्ष हुआ है ॥ ३० ॥

यह बिलकुल सत्य है कि यह समाचार पहले स्वप्नकी तरह देखा गया फिर जाग्रद्भूत होकर सामने खड़ा है, न मालूम किससे, क्यों और किस लिये इस मायाका बार बार आविर्भाव होता है ॥ ३१ ॥

कष्ट की बात है, जैसे विस्तारको प्राप्त हो रहे जालसे पक्षी विवश हो जाता है वैसे ही मैं फैल रहे मनके दीर्घ मोहसे विवश हो गया हूँ ॥ ३२ ॥

हा ! बड़े खेदकी बात है, अप्रबुद्ध और वासनासे नष्ट हुआ मेरा मन, नन्हेसे बालकके मनकी नाईं, विस्तृत विविध भ्रमोंको देखता है ॥ ३३ ॥

यह बड़ी माया पहले तपस्यासे प्रसन्न किये गये विष्णु भगवानने भलीभाँति मुझे दिखाई है । अब मुझे अच्छी तरह सारे वृतान्तका स्मरण हो गया है ॥ ३४ ॥

इसलिए अब पर्वतकी गुफामें जाकर ऐसा यत्न करूँगा, जिससे इस मिथ्याज्ञानकी उत्पत्तिके निमित्तका और इसकी स्थितिके निमित्तका मुझे ज्ञान हो जाय ॥३५॥

इति संचिन्त्य नगराद् गाधिस्तस्माज्जगाम ह ।
कन्दरं प्राप्य शैलस्य तस्थौ विश्रान्तसिंहवत् ॥ ३६ ॥
तत्र संवत्सरं सार्द्धं पयश्चुलुकभोजनम् ।
तपश्चक्रे महातेजास्तुष्टये शार्ङ्गधन्वनः ॥ ३७ ॥
अथाऽस्य पुण्डरीकाक्षः पयोमूर्तिरुपाययौ ।
प्रसादमुत्पलश्यामः शरदीव महाह्रदः ॥ ३८ ॥
तमाजगाम शैलेन्द्रकन्दरं द्विजमन्दिरम् ।
पयोधरवदच्छाच्छच्छविर्व्योमन्यथाऽवसत् ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

गाधे कच्चित्त्वया दृष्टा माया मम गरीयसी ।
दृष्टं त्वया जगज्जालचेष्टितं दैष्टिकात्मकम् ॥ ४० ॥
चित्ताभिगत एतस्मिन् प्राप्ते सम्यगनिन्दितः ।
तपो गिरितटे कुर्वन् किमन्यदभिवाञ्छसि ॥ ४१ ॥

ऐसा सोचकर गाधि उस नगरसे चले गये और पर्वतकी गुफामें जाकर थके हुए सिंहकी तरह बैठ गये ॥ ३६ ॥

वहाँ उस बड़े भारी तेजस्वी गाधिने डेढ़ वर्षतक चुल्लूभर पानी पीकर विष्णु भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए कठिन तपस्या की ॥ ३७ ॥

इसके अनन्तर जलकी तरह स्वच्छ मूर्तिवाले, कमलनेत्र एवं नील कमलकी तरह श्यामवर्णवाले विष्णु भगवान् शरत् कालमें जलस्वरूप एवं नील कमलोंसे श्यामवर्णवाले बड़े भारी सरोवरकी नाईं गाधिपर प्रसन्न हो गये ॥ ३८ ॥

गाधिके निवासभूत पर्वतराजकी उस गुफामें भगवान् उनके पास आये और आकाशमें मेघके समान विशुद्ध श्यामकान्तिवाले भगवान् वहाँ खड़े हो गये ॥ ३९ ॥

श्रीविष्णु भगवान्‌ने कहा—हे गाधि, क्या तुमने मेरी गुरुतर माया-को देखा और संसाररूपी जालके कार्यको भी, जिसमें भाग्य ही निमित्त है, देखा ? ॥ ४० ॥

हे गाधि, मनोऽभिलषित इस मायादर्शनके प्राप्त होनेपर पर्वतभूमिमें तपस्या करके निष्कलङ्क हुए तुम और क्या चाहते हो ? ॥ ४१ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं वदन्तमालोक्य हरिं गाधिर्द्विजोत्तमः ।
अर्चां कुसुमपूरेण पादयोः पर्यपूरयत् ॥ ४२ ॥
दत्त्वाऽर्घ्यं कीर्णकुसुमः प्रणम्याऽऽशु प्रदक्षिणैः ।
विष्णुमाह द्विजो वाक्यमम्भोदमिव चातकः ॥ ४३ ॥

गाधिरुवाच

देव यैषा त्वया माया दर्शिताऽतितमोमयी ।
महीं प्रातरिवाऽऽदित्यस्तां मे प्रकटतां नय ॥ ४४ ॥
भ्रमं यं पश्यति मनो वासनामलमालितम् ।
स्वप्नवत् स कथं देव जाग्रत्यपि हि दृश्यते ॥ ४५ ॥
मुहूर्तमुपलब्धश्च जलान्तः स्वप्नविभ्रमः ।
कथं प्रत्यक्षतां प्राप्तो ममाऽमलपदास्पद ॥ ४६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार कह रहे विष्णु भगवान्के दर्शन कर द्विजोंमें श्रेष्ठ गाधिने पुष्पोंकी राशिसे भगवान्के चरणोंकी पूजा की ॥ ४२ ॥

पुष्पोंको बिखेरते हुए गाधिने अर्घ्य देकर और प्रदक्षिणाके साथ शीघ्र प्रणाम कर जैसे चातक मेघसे कहता है वैसे ही श्रीविष्णु भगवान्से यह वाक्य कहा ॥ ४३ ॥

गाधिने कहा—हे भगवन्, यह जो आपने अत्यन्त अन्धकारमय माया दिखाई है, उसको आप जिस प्रकार सूर्य प्रातःकालमें पृथ्वीको प्रकट करते हैं उसी प्रकार प्रकट कीजिये ॥ ४४ ॥

हे देव, वासनारूपी मलसे मलिन मन जिस भ्रमको स्वप्नकी नाईं देखता है, वह जाग्रदवस्थामें भी क्यों दिखाई देता है ? ॥ ४५ ॥

हे अविद्यादि मलसे रहित प्रतिष्ठावाले, मुझे जलके अन्दर क्षणभरके लिए स्वप्नकी तरह उपलब्ध हुआ यह भ्रम अधिक कालतक दृष्टिगोचर क्यों हुआ ? ॥ ४६ ॥

दैर्घ्यादैर्घ्येऽस्य कालस्य शरीरस्य भवाभवाः ।
कथमन्तस्थिता न स्युर्मदीयैः श्वपचभ्रमैः ॥ ४७ ॥

श्रीभगवानुवाच

गाधे स्वाधिविधूतस्य स्वरूपस्यैतदात्मकम् ।
चेतसोऽदृष्टतत्त्वस्य यत्पश्यस्युरुविभ्रमम् ॥ ४८ ॥
बहिर्न किंचिदप्यस्ति खाद्रयब्ध्युर्वीदिगादिकम् ।
एतत् स्वचित्त एवाऽस्ति पत्रपुञ्जमिवाऽङ्कुरे ॥ ४९ ॥
फलादि स्फारतामेति यथैव बहिरङ्कुरात् ।
बहिः प्रकटतां याति तथा पृथ्व्यादि चेतसः ॥ ५० ॥
सत्यं पृथ्व्यादि चित्तस्थं न बहिष्ठं कदाचन ।
अङ्कुरस्थः पल्लवस्तु तस्माद् यस्मात् फलश्रियः ॥ ५१ ॥

मेरे चाण्डालविषयक मिथ्या ज्ञानसे कल्पित समयकी दीर्घता एवं अल्पता तथा चाण्डालशरीरका जन्म और नाश मनमें ही क्यों न स्थित रहे वे बाहर कैसे स्थित हैं ? ॥ ४७ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे गाधि, जिस संसाररूपी भ्रमको तुम देखते हो यह सब जिसको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, अतएव वासनारूपी व्याधिसे जो ग्रस्त है उस मनोभावको प्राप्त हुए आत्माका स्वरूप है, वस्तुतः कुछ नहीं है ॥ ४८ ॥

यदि कहो है, तो मनमें ही है बाहर कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'बहिर्न किञ्चिदप्यस्ति'** इत्यादिसे ।

आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, दिशा आदि कुछ भी बाहर नहीं हैं ? ये सब अङ्कुरमें पत्तोंके समूहकी नाईं अपने चित्तमें ही हैं ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार अङ्कुरसे फल, पुष्प आदि बाहर प्रकट होते हैं उसी प्रकार पृथिवी, आकाश आदि पदार्थ भी मनोभावको प्राप्त हुए आत्मासे बाहर प्रकट होते हैं ॥ ५० ॥

यह सत्य है कि पूर्वोक्त पृथिवी आदि चित्तमें स्थित हैं बाहर कभी नहीं

रूपालोकमनस्कारतत्ताकालक्रियात्मकम् ।
कुम्भकारो घटमिव चेतो हन्ति करोति च ॥ ५२ ॥
आबालमेतत् पुरुषैः सर्वैरेवाऽनुभूयते ।
स्वप्नभ्रममदावेगरागरोगादिदृष्टिषु ॥ ५३ ॥
चित्ते वृत्तान्तलक्षाणि संस्थितान्यात्तवासने ।
पादपे फलपुष्पाणि मूलाक्रान्तावनाविव ॥ ५४ ॥
त्यक्तावनेर्विटपिनो भूयः पत्राणि नो यथा ।
निर्वासनस्य जीवस्य पुनर्जन्मादि नो तथा ॥ ५५ ॥

रहते हैं, क्योंकि यह देखा गया है कि पल्लव अङ्कुरमें स्थित है और फलकी शोभा पल्लवाधीन है ॥ ५१ ॥

वर्तमान विषयमें चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा रूपालोक प्रत्यय, भावी विषयमें मनस्कार प्रत्यय, (अर्थात् भावी कालमें विषयका मनसे समर्थन किया जाता है, अतः भावी विषयमें मनस्कार प्रत्यय होता है) एवं अतीत विषयमें तत्ता प्रत्यय होता है, क्योंकि अतीत स्मृतिका विषय होता है। अतः तीनों प्रत्ययोंके ज्ञापक तीन काल हुए और कालोंकी व्यञ्जिका सूर्यकी क्रिया है। इसलिए सबका पर्यवसान क्रियामें ही हुआ। इन क्रियात्मक वस्तुओंका उपसंहार और सृष्टि मन स्वयं ऐसे ही करता है जैसे कि कुम्हार घटका नाश और सृष्टि करता है ॥ ५२ ॥

इस पूर्वोक्त बातका सब बालक, वृद्ध और बनिताएँ स्वप्न, भ्रम, मद, आवेग, राग, रोग आदिकी बुद्धियोंमें अनुभव करते हैं अर्थात् स्वप्नभ्रमादि सब चित्तके ही धर्म हैं ॥ ५३ ॥

जैसे जड़ोंसे (मूलोंसे) पृथिवीको आक्रान्त किये हुए वृक्षमें लाखों फल और पुष्प रहते हैं, उसी प्रकार वासनाओंसे युक्त चित्तमें लाखों वृत्तान्त रहते हैं। भाव यह है कि सदधिष्ठानके अवष्टम्भके बलसे चित्त संसारको धारण करता है ॥ ५४ ॥

जैसे पृथिवीसे उखाड़े गये वृक्षमें पत्ते आदि नहीं रहते वैसे ही वासना-रहित जीवके जन्म आदि नहीं होते हैं ॥ ५५ ॥

यत्राऽनन्तजगज्जालं संस्थितं तेन तेजसा ।
श्वपचत्वं प्रकटितं यदि तद्विस्मयोऽत्र किम् ॥ ५६ ॥
अवबुद्धा श्वपचता प्रतिभासवशात्त्वया ।
यथैवाऽनल्पसंरम्भा विचित्राधिविकारदा ॥ ५७ ॥
तथैवाऽतिथिरायातो भुक्तवान्सुप्तवान्द्विजः ।
कथां कथितवांश्चेति दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥ ५८ ॥
तथैवोत्थाय गच्छामि प्राप्तोऽहं भूतमण्डलम् ।
इमे भूता इमे ग्रामा दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥ ५९ ॥
तथैवेदं कटंजस्य प्राक्तनं लुठितं गृहम् ।
जनैरुक्तं कटंजस्य दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥ ६० ॥
तथैव कीरनगरं प्राप्तोऽस्मि कथितं च मे ।
कीरैः श्वपचराजत्वं दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥ ६१ ॥

जिस चित्तमें सदधिष्ठानके अवलम्बनसे अनन्त जगत्-रूपी जाल फँसा है, उस चित्तमें यदि चाण्डालत्व प्रकट हो गया, तो इसमें क्या आश्चर्य है? अर्थात् कुछ भी आश्चर्य नहीं है ॥ ५६ ॥

जिस प्रकार प्रचुर वेगवाली तथा नाना प्रकारके मानसिक चिन्तारूपी विकारोंको पैदा करनेवाली चाण्डालता प्रतिभासके द्वारा (अज्ञानके द्वारा) तुम्हें ज्ञात हुई है उसी तरह 'एक ब्राह्मण अतिथि आया, उसने भोजन किया, वह सोया और उसने कथा कही' यह भी सब तुमने भ्रमात्मक ही देखा है ॥ ५७, ५८ ॥

उसी प्रकार 'मैं उठ कर जाता हूँ, मैंने भूतमण्डल नामके ग्रामको प्राप्त किया, ये भूत हैं, ये ग्राम हैं' यह भी तुमने भ्रमात्मक ही देखा है ॥ ५९ ॥

उसी प्रकार कटंज नामके चाण्डालका यह नष्ट हुआ प्राक्तन घर है, यों मनुष्योंसे कहे गये कटंजके गृहरूप भ्रमको तुमने देखा ॥ ६० ॥

उसी प्रकार 'मैंने कीर देशको प्राप्त किया और कीर देशके वासियोंने मुझसे चाण्डालके राजा होनेकी कथा कही' यह सब भी तुमने भ्रम ही देखा ॥ ६१ ॥

एवं सर्वं त्वया दृष्टं मोहजालं द्विजोत्तम।
यत्सत्यमिति जानासि यच्चाऽसत्यमवैषि च ॥ ६२ ॥
वासनावलितं चेतः किन्नामाऽन्तर्न पश्यति।
साधितं दृश्यते स्वप्ने वर्षसाध्यं प्रयोजनम् ॥ ६३ ॥
नाऽतिथिर्न च भूतास्ते न कीरास्ते न तत्पुरम्।
सर्वमेतन्महाबुद्धे व्यामोहाद् दृष्टवानसि ॥ ६४ ॥
गच्छता भवता भूतदेशं पान्थेन कन्दरे।
कस्मिंश्चिद्विप्र विश्रान्तं कुरङ्गेणेव कानने ॥ ६५ ॥
तत्रैव श्रममूढत्वादिदं तद्भूतमण्डलम्।
इदं तच्छ्वपचागारमिति दृष्टं न सत्यतः ॥ ६६ ॥
तथैव कीरनगरं दृष्टवानसि तत्तथा।
तदैव चाऽन्यदा वाऽपि मायार्थं हि भवान् द्विज ॥ ६७ ॥

हे द्विजोत्तम, इस प्रकार तुमने यह सब मोहजाल देखा है, जिसको तुम यह सत्य है, यों जानते हो और जिसको यह असत्य है, यह भी तुम जानते हो ॥ ६२ ॥

वासनाओंसे ओतप्रोत चित्त अपने भीतर क्या नहीं देखता, वर्षभरमें सिद्ध (पूरा) होनेवाले कार्यको भी स्वप्नमें सिद्ध हुआ देखता है ॥ ६३ ॥

न अतिथि है, न वे कीर हैं, न वे भूत हैं और न वह नगर है। हे महाबुद्धि-वाले, यह सब तुमने व्यामोहसे (अज्ञानसे) देखा है ॥ ६४ ॥

तुम भूतदेश और कीरदेशको अभी भी नहीं गये, किन्तु अतिथिका वाक्य सुनकर भूतदेशको जाते हुए तुमने रास्तेमें थकावटके कारण किसी पर्वतकी गुफामें विश्राम किया और वहीं श्रमसे विमूढ़चित्त होनेके कारण स्वप्नकी तरह 'यह वह भूतमण्डल है, यह चाण्डालका घर है', इत्यादि सब तुमने भ्रमात्मक देखा है, परमार्थतः नहीं देखा है ॥ ६५–६६ ॥

हे द्विज, उसी प्रकार वहींपर कीरनगर भी भ्रमात्मक देखा है और दूसरे दिन अघमर्षणके समय भी सब मायापूर्ण वस्तुएँ (या कार्य) देखी हैं ॥ ६७ ॥

सर्वदैव समग्रासु विहरन्नसि दृष्टवान् ।
दिक्षु प्रोन्मत्तक इव विभ्रमं मनसा मुने ॥ ६८ ॥
तदुत्तिष्ठ निजं कर्म कुर्वंस्तिष्ठोपशान्तधीः ।
न स्वकर्म विना श्रेयः प्राप्नुवन्तीह मानवाः ॥ ६९ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति निगदितवान् स पद्मनाभो
भुवनगतापसवृन्दपूज्यमानः ।
विबुधमुनिगणैः पवित्रहस्तै-
र्वृत उदधिं निजमास्पदं जगाम ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते मायामहत्त्वकथनं नामाऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

हे मुनि, केवल ये ही पूर्वोक्त भ्रम तुमने नहीं देखे प्रत्युत सब कालों-में समस्त दिशाओंमें महोन्मत्तकी नाईं घूम रहे तुमने मनसे विशिष्ट भ्रम देखा है ॥ ६८ ॥

इसलिए उठो और शान्त बुद्धि होकर अपना ब्रह्मचर्याश्रमोचित अग्निहोत्रादि एवं स्वाध्यायादि कर्म करो, क्योंकि यहां मनुष्य अपने कर्म किये बिना कल्याणको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ६९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स, तीनों लोकोंके तपस्वियोंसे पूजित एवं भगवान्-के चरणस्पर्शादिसे पवित्र हाथोंवाले पण्डित और मुनियोंके समूहसे घिरे हुए पद्मनाभ भगवान्, इस प्रकार कह कर अपने स्थान क्षीरसागरको चले गये ॥ ७० ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

*

एकोनपञ्चाशत्तमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ गाधिर्गते विष्णौ पुनर्भूतादिकं क्रमात् ।
स्वयं मोहविचारार्थं बभ्रामाऽभ्रमिवाऽम्बरे ॥ १ ॥
उपलभ्य तथैवाऽऽत्मवृत्तान्तं जनतस्ततः ।
हरिमाराधयामास पुनरद्रिगुहां गतः ॥ २ ॥

उनचासवाँ सर्ग

[गाधिका भूतमण्डल और कीरदेशमें पुनः जाकर पुनः पुनः श्रीहरिसे पूछ कर तथा यह सब माया है यह निश्चय कर क्रमसे जीवन्मुक्त होना]

'तथैवोत्थाय गच्छामि प्राप्तोऽहं भूतमण्डलम् ।
इमे भूता इमे ग्रामा दृष्टवानसि संभ्रमम् ॥
नाऽतिथिर्न च भूतानि न कीरास्ते न तत्पुरम् ।'

इत्यादि भगवान्के वाक्यके अर्थको असंभावना और विपरीतभावनाकी दृढ़तासे न समझ रहे गाधि जगत्के अधिष्ठानभूत आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके बिना ही पूर्वदृष्ट देश आदिका बाध हो सकता है या नहीं परीक्षापूर्वक यह अनुभव करने की इच्छासे फिर भूतमण्डल आदि देशोंमें भटके, ऐसा कहते हैं—**'अथ'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त भगवान् विष्णुके चले जानेपर फिर गाधि स्वयं अपने मोहके विचारके लिए भूतमण्डल आदि देशोंमें आकाशमें मेघकी नाईं क्रमसे भटके ॥ १ ॥

तदनन्तर लोगोंके मुँहसे अपने चाण्डालत्व आदिके वृत्तान्तको पूर्वानुभूतके तुल्य ही सुनकर और चिह्नोंसे देखकर फिर पर्वतकी गुफामें जाकर उन्होंने श्रीहरि भगवान्की आराधना की ॥ २ ॥

आजगामैनमल्पेन कालेनाऽथ जनार्दनः ।
सकृदाराधनेनैव माधवो याति बन्धुताम् ॥ ३ ॥
उवाच गाधिं भगवाम् मयूरमिव वारिदः ।
किं त्वं प्रार्थयसे भूयस्तपसेति प्रसादवान् ॥ ४ ॥

गाधिरुवाच

भ्रान्तोऽस्मि देव षण्मासान् भूतकीरजनास्पदम् ।
तत्र व्यभिचरत्यस्मद्वृत्तान्तो न कथास्वपि ॥ ५ ॥
मायया भूतभूर्दृष्टा त्वयेत्युक्तोऽस्मि किं प्रभो ।
मोहनाशाय महतां वचो नो मोहवृद्धये ॥ ६ ॥

श्रीभगवानुवाच

काकतालीययोगेन चेतसि श्वपचस्थितिः ।
सर्वेषां भूतकीराणां तवेव प्रतिबिम्बति ॥ ७ ॥

तदुपरान्त थोड़े ही समयमें भगवान् श्रीहरि उनके पास आये । भगवान् एक बार थोड़ीसी आराधनासे ही बन्धुताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

जैसे मेघ मयूरके प्रति बोलता है वैसे ही प्रसन्न हुए भगवान् गाधिके प्रति बोले—हे गाधि, तपस्यासे तुम फिर क्या चाहते हो ? ॥ ४ ॥

गाधिने कहा—हे देवदेव, मैंने छः महीने तक भूतमण्डल और कीरराज्यमें भ्रमण किया । वहांपर जनप्रवादोंमें भी मेरे वृत्तान्तमें व्यभिचार नहीं आया यानी वह ज्योंका-त्यों सुना गया ॥ ५ ॥

हे प्रभो, आपने मुझसे 'तुमने मायासे भूतमण्डल देखा, ऐसा क्यों कहा ? महात्माओंका वचन मोहके नाशके लिए होता है न कि मोहकी वृद्धिके लिए । मायासे दृष्ट पदार्थ कालान्तरमें अवश्य व्यभिचरित होते हैं, किन्तु ये तो अव्यभिचरित हैं, अतः ये माया हैं, ऐसा कैसे समझा जा सकता है ? यह भाव है ॥ ६ ॥

मायिक पदार्थ भी जनप्रवादोंमें अव्यभिचरित हो सकते हैं, इसमें उपपत्ति कहते हैं—**'काकतालीय०'** इत्यादिसे ।

श्रीभगवान्ने कहा—गाधे, काकतालीयन्यायसे प्रसिद्ध भूतमण्डल देशके

तेनाऽङ्ग तव वृत्तान्तं यथावत् कथयन्ति ते ।
प्रतिभासो हि नाऽऽयाति पुनरप्रतिभासताम् ॥ ८ ॥
केनचिच्छ्वपचेनाऽन्ते ग्रामस्य रचितं गृहम् ।
तत्त्वया दृष्टमाविष्टमिष्टकाखण्डतां गतम् ॥ ९ ॥
कदाचित् प्रतिभैकैव बहूनामपि जायते ।
काकोलतालस्थितिवद्विचित्रा हि मनोगतिः ॥ १० ॥
तथाहि बहवः स्वप्नमेकं पश्यन्ति मानवाः ।
स्वापभ्रमदमैरेयमदमन्थरचित्तवत् ॥ ११ ॥
एकस्यामेव लीलायां रमन्ते बहुबालकाः ।
एकस्यामेव नीलायां वनस्थल्यामिवैणकाः ॥ १२ ॥

और कीरदेशके लोगोंके मनमें, तुम्हारे मनकी नाईं, कटंज चाण्डालकी स्थिति अपरोक्षरूपसे भ्रान्तिवश प्रतिबिम्बित है ॥ ७ ॥

वे भी अपनी भ्रान्तिसे ही वैसा कहते हैं, इसलिए उनके वचनका संवाद सत्यताका आपादक नहीं है, ऐसा कहते हैं—'तेनाऽङ्ग' इत्यादिसे ।

इसलिए वे तुम्हारे वृत्तान्तको जैसा का तैसा कहते हैं । बाधक ज्ञानके बिना प्रतिभास (भ्रम) अभ्रमताको प्राप्त नहीं होता ॥ ८ ॥

किसी चाण्डाल द्वारा गाँवके छोरपर बनाया गया मकान, जो कि यह पहले मैंने बनाया था यों तुम्हारे भ्रान्तिजनित आग्रहका विषयीभूत है और अब ईंटोंके टुकड़ोंके रूपमें परिणत हो गया है, तुमने देखा था ॥ ९ ॥

कभी भ्रान्तिरूप प्रतिभास बहुतोंका भी एक-सा ही होता है । कौएकी ताड़के पेड़के नीचे स्थितिके समान मनोगति बड़ी विचित्र है ॥ १० ॥

देखो न बहुतसे लोग एक ही स्वप्न देखते हैं जैसे कि निद्राके समान भ्रमप्रद मदिराके मदसे मत्तचित्तवाले बहुतसे समानरूपसे घूम रही-सी दिशाओंको देखते हैं ॥ ११ ॥

एक ही नीली वनस्थलीमें मृगछौनोंके समान बहुतसे बालक एक ही बालू आदिसे बनाये हुए गृह, महल, दुर्ग आदिकी भ्रमलीलामें खेलते हैं ॥ १२ ॥

बहवस्तुल्यकालं च प्रतिभासेन कर्मणाम् ।
जना यतन्ते स्वफलपाकेऽतिबहुलाकृतौ ॥ १३ ॥
प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञानां कालो दातेति या श्रुतिः ।
विप्र संकल्पमात्रोऽसौ कालो ह्यात्मनि तिष्ठति ॥ १४ ॥
अमूर्तो भगवान् कालो ब्रह्मैव तमजं विदुः ।
न जहाति न चाऽऽदत्ते किंचित्कस्य कदेति च ॥ १५ ॥

वध, बन्धन, पराजय, पलायन आदि विविध आकारवाले अपने प्रारब्धफल-पाकके प्राप्य होनेपर भी बहुतसे सैनिक आदि लोग एक ही समय एक तरहके जय, लाभ, भोग आदि प्रयोजनोंकी भ्रान्तिसे उनके लोभसे युद्ध आदि द्वारा यत्न करते हैं, यह प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥

यदि मानस कल्पना ही जगत् है, तो हेमन्त आदि समय धान आदिके अङ्कुरोंका प्रतिबन्धक और जौ आदिके अङ्कुरोंका सहायक है, इस लोकप्रसिद्धिका बाध होगा, क्योंकि मानस कल्पनाका बाह्य काल सहायक नहीं हो सकता है, गाधिकी इस शङ्काका निवारण करते हुए कहते हैं—**'प्रतिबन्ध०'** इत्यादिसे ।

काल प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञाका दाता है ऐसा जो लोकप्रवाद है, उसमें विरोध नहीं आता है, क्योंकि प्रतिबन्ध और अनुज्ञाका हेतुभूत काल भी संकल्पमात्र ही है । यानी दिशाविशेषसे अवच्छिन्न सूर्यकी क्रियाको देखकर मन ही शास्त्रानुसार मास, ऋतु आदि भेदोंकी कल्पना करता है ।

शङ्का—तब अकल्पित काल कौन है ?

समाधान—जो अकल्पित अखण्डकाल (परमात्मा) है, वह स्वात्मामें स्थित रहता है, किसीके लिए न तो प्रतिबन्धक होता है और न किसीको अभ्यनुज्ञा ही देता है ॥ १४ ॥

इसी अर्थको स्पष्ट करते हैं—**'अमूर्तः'** इत्यादिसे ।

अमूर्त जो भगवान् काल है, उसे तो पण्डित लोग जन्मादिविकाररहित ब्रह्म ही कहते हैं। वह न तो कभी किसीका कुछ भी त्याग करता है और न कभी किसीका कुछ भी ग्रहण करता है ॥ १५ ॥

लौकिको यस्त्वयं कालो वर्षकल्पयुगात्मकः ।
संकल्प्यते पदार्थौघैः पदार्थौघश्च तेन तु ॥ १६ ॥
समानप्रतिभासोत्थसंभ्रमं भ्रान्तचेतसः ।
तथा तं दृष्टवन्तस्ते भूतकीरजनोच्चयाः ॥ १७ ॥
स्वव्यापारपरो भूत्वा धियाऽऽत्मानं विचारय ।
साधो गतमनोमोहमिहैवाऽऽस्स्व व्रजाम्यहम् ॥ १८ ॥
इत्युक्त्वा भगवान् विष्णुर्जगामाऽन्तर्द्धिमीश्वरः ।
अतिष्ठत् कन्दरे गाधिराधिपीवरया धिया ॥ १९ ॥
ततः कतिपयेष्वद्रौ मासेष्वतिगतेषु सः ।
पुनराराधयामास पुण्डरीककरं द्विजः ॥ २० ॥

प्रथम कालकी संकल्परूपता सिद्ध करते हैं—'**लौकिकः**' इत्यादिसे ।

वर्ष, कल्प, युगरूप जो यह लौकिक काल है, वह जन्यमात्रके कालरूप उपाधिजन्य होनेके कारण सूर्यक्रिया, चन्द्रपिण्ड आदि पदार्थसमूहों द्वारा संकल्पित होता है और उस काल द्वारा प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञावश सब पदार्थोंके समूह, उनकी क्रिया, फल आदिकी व्यवस्था संकल्पित होती है ॥ १६ ॥

प्रासङ्गिक शङ्काका खण्डन कर प्रस्तुतका अवलम्बन कर कहते हैं—'**समान०**' इत्यादिसे ।

उन भ्रान्तचित्तवाले भूतदेशके और कीरदेशके लोगोंने सदृश प्रतिभाससे उत्पन्न भ्रमको वैसे ही देखा ॥ १७ ॥

तब मुझे क्या करना चाहिये ? यह पूछनेपर कहते हैं—'**स्वव्यापार०**' इत्यादिसे ।

हे साधो, स्वव्यापारमें तत्पर होकर यानी अपने वर्ण और आश्रमके आचरणमें तत्पर होकर आप बुद्धिसे अपने आत्माका विचार कीजिये तथा मोहरहित होकर यहीं रहिये, मैं जाता हूँ ॥ १८ ॥

ऐसा कहकर सबके अधिपति भगवान् विष्णु अन्तर्हित हो गये और चिन्तासे व्याप्त बुद्धिसे युक्त गाधि कन्दरामें जा बैठे ॥ १९ ॥

तदनन्तर पर्वतपर कुछ महीनोंके बीतनेपर वहीं उस गाधिने पुण्डरीकाक्ष भगवान्‌की पुनः आराधना की ॥ २० ॥

दद‍र्श चैकदा नाथमागतं प्रणनाम तम् ।
पूजयामास मनसा चोक्तेनोवाच चेश्वरम् ॥ २१ ॥

गाधिरुवाच

भगवन् संस्मरंश्चैतामात्मनः श्वपचस्थितिम् ।
इमां संसारमायां च परिमुह्यामि चेतसा ॥ २२ ॥
तदुक्त्वाऽऽस्स्व यथावस्तु महामोहनिवृत्तये ।
एकस्मिन्नेव विमले मां नियोजय कर्मणि ॥ २३ ॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन् जगदिदं माया महाशम्बरडम्बरम् ।
सर्वा आश्चर्यकलनाः सम्भवन्तीह विस्मृतेः ॥ २४ ॥
भूतकीरपुरे मोहाद् दृष्टवांस्तत्तथा भवान् ।
इत्येतत्संभवत्येव दृश्यते हि जनैर्भ्रमः ॥ २५ ॥

एक समय उन्होंने आये हुए प्रभुको देखा, प्रणाम किया, मन, वचन और कर्मसे उनकी पूजा की तथा प्रश्नकी अनुज्ञाके वाक्यसे पूछा ॥ २१ ॥

गाधिने कहा—हे भगवन्, अपनी इस चाण्डालस्थितिका चित्तसे स्मरण कर रहा और इस जन्म, मरण आदि अनर्थप्रचुर संसारमायाका स्मरण कर रहा मैं अत्यन्त मोहको प्राप्त हो रहा हूँ ॥ २२ ॥

इसलिए महामोहकी निवृत्तिके लिए उपाय कह कर झटपट न चले जाइये, किन्तु संशयसे उत्पन्न मोहका नाश होने तक स्थित होइये और मुझे एक ही निर्मल कर्ममें नियुक्त कीजिये ॥ २३ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे ब्रह्मन्, यह जगत् मायारूपी महाशम्बरासुरका आडम्बररूप है। इसमें आत्मतत्त्वके विस्मरणसे यानी आवरणके निमित्तभूत अज्ञानसे सब आश्चर्यमय कल्पनाएँ होती हैं ॥ २४ ॥

मायामें हजारों अघटित घटनाएँ हो सकती हैं, ऐसा कहते हैं—**'भूत०'** इत्यादिसे ।

तुमने भूतमण्डल और कीरनगरमें जो वैसा देखा, वह सब संभव ही है,

भूतास्त्वमिव कीराश्च दृष्टवन्तस्तथा भ्रमम् ।
मुधैवेत्यपि सत्याभं समकालादिसंभवात् ॥ २६ ॥
इदं तु शृणु वक्ष्यामि यथाभूतमनिन्दितम् ।
यथैति तनुतां चिन्ता मार्गशीर्षलतेव ते ॥ २७ ॥
योऽसौ कटंजको नाम श्वपचो भूतमण्डले ।
तेनैव सन्निवेशेन स तथैवाऽभवत् पुरा ॥ २८ ॥
तथैव विकलत्रत्वं प्राप्य देशान्तरं गतः ।
बभूव कीरनृपतिः प्रविवेशाऽनलं ततः ॥ २९ ॥
भवतः केवलं चित्ते जलान्तर्वर्तिनस्तदा ।
प्रतिभाता तथाभूता कटंजाचारसंस्थितिः ॥ ३० ॥

क्योंकि निद्रा आदिमें असंभावित पदार्थोंका भ्रम लोगोंको दिखाई ही देता है ॥ २५ ॥

भूतदेशवासियों और कीरदेशवासियोंने तुम्हारी ही तरह मिथ्या होते हुए भी सत्यकी तरह वैसा भ्रम देखा, क्योंकि समान संकल्पसे समान काल आदिका संभव है ॥ २६ ॥

मैं तुम्हारे चाण्डालनिन्दासम्बन्धको हटानेवाले यथार्थ विषयको कहूँगा, तुम इसे सुनो, इससे मार्गशीर्षकी लताके तुल्य तुम्हारी चिन्ता नष्ट हो जायगी ॥२७॥

जो यह कटंज नामका चाण्डाल भूतमण्डलमें पहले हुआ, वह तुम्हारे द्वारा देखे गये उसी आकार-प्रकारसे वैसे ही युक्त पहले हुआ। वैसे ही कलत्र रहित होकर दूसरे देशमें गया, कीरदेशका अधिपति हुआ और तदनन्तर अग्निमें प्रवेश कर गया ॥ २८, २९ ॥

यदि उस प्रकारका अन्य पुरुष हुआ, तो उसका वृत्त मेरे अनुभवपथमें कैसे आरूढ़ हुआ ? इस प्रकारकी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'भवतः' इत्यादिसे।

तब जलके अन्दर डूबे हुए तुम्हारे मनमें उस प्रकारकी कटंजके आचारकी स्थिति भ्रान्तिसे केवल प्रतिभासित हुई, क्योंकि ऐसा ही तुम्हारा संकल्प था ॥ ३० ॥

द्रष्टाऽनुभूतमप्यर्थं कदाचिद् विस्मरत्यलम् ।
कदाचिदप्यदृष्टं तु चेतः पश्यति दृष्टवत् ॥ ३१ ॥
यथा स्वप्नमनोराज्यधातुसंस्थितिविभ्रमाः ।
जाग्रत्यपि तथैवाऽङ्ग दृश्यन्ते मनसा स्वयम् ॥ ३२ ॥
भविष्यद् भूतकालस्थं यथा त्रैकाल्यदर्शिनः ।
प्रतिभामेति गाधे यत् कटंजाचरितं तथा ॥ ३३ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इति मज्जति नाऽऽत्मवान् ।
अयं सोऽहमिदं तन्म इति मज्जत्यनात्मवान् ॥ ३४ ॥

जो वस्तु कभी न देखी गई हो, दूसरे देशमें हो और बीत चुकी हो, उसका सामने वर्तमानरूपसे दर्शन कैसे हो सकता है ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं— **'द्रष्टा०'** इत्यादिसे ।

जैसे द्रष्टा पुरुष कभी अनुभूत वस्तुको भी बिलकुल भूल जाता है वैसे ही चित्त कभी न देखी गई वस्तुको भी पूर्वदृष्टके समान देखता है ॥ ३१ ॥

हे गाधे, जैसे स्वप्न, मनोरथ, संनिपातके भ्रम होते हैं वैसे ही जाग्रत्में भी मनसे स्वयं भ्रम देखे जाते हैं ॥ ३२ ॥

जैसे त्रिकालदर्शी योगीकी दृष्टिसे भविष्यत् वस्तु भी उसके उत्तर कालमें होनेवाले दृश्यमान पदार्थोंकी अपेक्षा भूतकालस्थ होती है वैसे ही हे गाधे, अतीत भी कटंजका चरित वर्तमान प्रतिभाको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

यदि कहो आत्मभिन्न कटंजमें और अनात्मीय उसके घर-द्वार, स्त्री-पुत्र आदिमें मेरा वही मैं हूँ, तदीय ही वह (गृह आदि) मेरा है, यों मज्जन कैसे हुआ ? तो इसपर थोड़ा कहा जाता है । अतत्त्वज्ञ सभी लोगोंका अनात्मा देहमें और अनात्मीय गृह, कलत्र आदिमें 'अहम्' 'मम' ऐसा अभिमान दिखाई देता है, केवल आत्मवित्-का ही उनमें मज्जन नहीं होता, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'अयम्'०** इत्यादिसे ।

यह देह मैं हूँ तथा ये घर-द्वार आदि मेरे हैं, यों आत्मज्ञानी निमग्न नहीं होता । यह देह मैं हूँ तथा ये घर-द्वार आदि मेरे हैं, यों अनात्मज्ञानी निमग्न होता है ॥ ३४ ॥

सर्वमेवाऽहमेवेति तत्त्वज्ञो नाऽवसीदति।
न गृह्णाति पदार्थेषु विभागानर्थभावनम् ॥ ३५ ॥
तेनाऽसौ भ्रमयोगेषु सुखदुःखविलासिषु।
न निमज्जति मग्नोऽपि तुम्बीपात्रमिवाऽम्भसि ॥ ३६ ॥
त्वं तावद् वासनाजालग्रस्तचित्तो विचेतनः।
किञ्चिच्छेषमहाव्याधिरिव न स्वस्थमागतः ॥ ३७ ॥
ज्ञानस्याऽपरिपूर्णत्वान्न शक्नोषि मनोभ्रमम्।
विनिवारयितुं मेघमसम्यग्यत्नवानिव ॥ ३८ ॥
यदेव ते मनोमात्रे सहसा प्रतिभास्ते।
तरुरुच्चजनेनेव तेनैवाऽऽक्रम्यसे क्षणात् ॥ ३९ ॥

सबमें अहंभावनासे भी तत्त्वज्ञानीका उनमें मज्जन नहीं होता है, क्योंकि परिच्छिन्न अहंभाव ही मज्जनका हेतु है, ऐसा कहते हैं—'**सर्वमेवा०**' इत्यादिसे।

सब कुछ मैं ही हूँ ऐसी भावनासे तत्त्वज्ञानी दुःखी नहीं होता, वह पदार्थोंमें भेदरूप अनर्थभावनाका ग्रहण नहीं करता है। इसी कारण वह सुख, दुःखसे युक्त भ्रमोंमें जलमें तुम्बीके समान निमग्नप्राय होता हुआ भी* निमग्न नहीं होता ॥ ३५, ३६ ॥

तब मैं कैसा हूँ, ऐसा पूछनेपर तुम अन्तरालवर्ती (मध्यवर्ती) हो, ऐसा कहते हैं—'**त्वम्**' इत्यादिसे।

विविध वासनाओंसे ग्रस्त चित्तवाले, चेतनारहित तुम जिसकी महाव्याधि कुछ शेष रह गई हो, उस रोगीके सदृश हो, जैसे किंचित् अवशिष्ट महाव्याधिवाला पुरुष स्वास्थ्यको प्राप्त नहीं होता वैसे ही तुम भी स्वरूपमें अवस्थित आत्माको प्राप्त नहीं हुए हो ॥ ३७ ॥

जैसे गृहरचना या गृह-प्रवेश आदि सम्यग् प्रयत्नसे रहित पुरुष वृष्टिका निवारण करनेमें समर्थ नहीं होता वैसे ही ज्ञानके परिपूर्ण न होनेके कारण तुम मनोभ्रमका निवारण करनेके लिए समर्थ नहीं हो ॥ ३८ ॥

जो ही तुम्हारे चित्तमें सहसा प्रतिभासित होता है ऊँचे पुरुषसे वृक्षके समान क्षणभरमें उसीसे तुम आक्रान्त हो जाते हो यानी उसके अभिमानसे तिरस्कृत हो जाते हो ॥ ३९ ॥

* सर्वाहंभावनामें भी अहंकार रहता है, इसलिए निमग्नप्राय कहा है।

चित्तं नाभिः किलाऽस्येह मायाचक्रस्य सर्वतः ।
स्थीयते चेत्तदाऽऽक्रम्य तन्न किञ्चित् प्रबाधते ॥ ४० ॥
त्वमुत्तिष्ठ गिरेः कुञ्जे दशवर्षाण्यखिन्नधीः ।
तपः कुरु ततो ज्ञानमनन्तं समवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥
इत्युक्त्वा पुण्डरीकाक्षस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
वाताभ्रवद्दीपकवद्यमुनोत्पीडवत् क्षणात् ॥ ४२ ॥
गाधिर्विवेकवशजं वैराग्यपदमागतः ।
शरत्समयपर्यन्ते वैरस्यमिव पादपः ॥ ४३ ॥
विचित्रं चेष्टितं धातुरसमञ्जसमागतम् ।
भ्रमद्भ्रमभरोन्मुक्तमतिर्मन्दमगर्हयत् ॥ ४४ ॥
जगाम करुणार्द्रात्मा नियमायोत्तमश्रिये ।
विश्रान्त्यै ऋष्यमूकं तु पयोधर इवाऽचलम् ॥ ४५ ॥

यहांपर इस मायाचक्रका मध्यभूत चित्त चारों ओर घूमता है । यदि पुरुष उस चित्तका आत्मामें प्रविलापन द्वारा तिरस्कार करके स्थित हो जाय, तो वह मायाचक्र कुछ भी पीड़ा नहीं पहुँचाता है ॥ ४० ॥

तुम उठो, पर्वतके कुञ्जमें दस वर्षतक अखिन्नबुद्धि होकर चित्तनिरोधका अभ्यास करो । तदनन्तर तुम अनन्त ज्ञान प्राप्त करोगे ॥ ४१ ॥

ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि वायुमें लीन मेघकी नाईं, बुते हुए दीपककी भाँति और यमुनाकी तरङ्गकी भाँति एक क्षणमें वहींपर अन्तर्हित हो गये ॥ ४२ ॥

जैसे शरदृऋतुके बाद (पतझड़में) वृक्ष पत्तोंसे रहित हो जाता है (विरसताको प्राप्त हो जाता है) वैसे ही गाधि विवेकवश उत्पन्न हुए वैराग्यको प्राप्त हुए ॥ ४३ ॥

गाधिने, जिनकी मति घूम रही भ्रमराशिसे उन्मुक्त हो चुकी थी, प्राक्तन कर्मरूप दैवकी अयोग्य चाण्डालभावप्रदर्शनरूप विचित्र चेष्टाकी थोड़ी निन्दा की ॥ ४४ ॥

जैसे गीला मेघ पर्वतपर जाता है वैसे ही करुणासे आर्द्र चित्तवाले गाधि कल्याणकारी चित्तनियमनके अभ्यासके लिए तथा सर्वश्रेष्ठ पदमें विश्रान्तिके लिए ऋष्यमूक पर्वतपर गये ॥ ४५ ॥

निरस्ताशेषसङ्कल्पस्तपस्तत्र चकार ह ।
दश वर्षाणि तेनाऽसावात्मज्ञानमवाप ह ॥ ४६ ॥
अरमत तदनु स्वां प्राप्य सत्तां महात्मा
ह्यपगतभयशोको भोगभूमावनीषु ।
सततमुदितजीवन्मुक्तरूपः प्रशान्तः
सकल इव शशाङ्को घूर्णितापूर्णचेताः ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे गाधिवृत्तान्ते गाधेर्ज्ञानप्राप्तिर्नाम एकोनपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवमेषाऽतिवितता दुर्ज्ञाना रघुनन्दन ।
महामोहमयी माया विषमा पारमात्मिकी ॥ १ ॥

वहांपर सब संकल्पोंका त्यागकर गाधिने दस वर्षतक तप (मन तथा इन्द्रियों-का संयम) किया, उससे उन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त किया ॥ ४६ ॥

आत्मज्ञानप्राप्तिके उपरान्त महात्मा गाधि अपनी पारमार्थिक सत्ता प्राप्त कर भय-शोकरहित हो तथा निरन्तर उदित जीवनमुक्तस्वरूपवाले अतएव अपरिच्छिन्न स्वानन्द मदसे आघूर्णित और पूर्ण चित्तवाले हो षोड़श कलाओंसे पूर्ण चन्द्रमाके समान अपरिच्छिन्न ब्रह्माकाशमें विहार करने लगे ॥ ४७ ॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

[चित्तके आक्रमणके उपायोंका, उत्तम ज्ञानके माहात्म्यका तथा चित्तरूपी सर्पके पीनतारूपी दोषके हेतुओंका वर्णन]

पूर्व सर्गोंमें वर्णित गाधिके वृत्तान्तकी प्रस्तुत कथामें योजना करते हैं— 'एवम्' इत्यादिसे ।

क्व मुहूर्तद्वयस्वप्नसंभ्रमाल्लोकदृष्टता ।
क्वाऽनेकवर्षसंभुक्तश्वपचावनिपभ्रमः ॥ २ ॥

क्व संभ्रमोपलब्धत्वं क्व प्रत्यक्षनिदर्शनम् ।
क्वाऽसत्यत्वमसंदिग्धं क्व सत्यपरिणामिता ॥ ३ ॥

अतो वच्मि महाबाहो मायेयं विषमाऽन्वहम् ।
असावधानमनसं संयोजयति संकटे ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

एवमस्य कथं ब्रह्मन् मायाचक्रस्य रोधनम् ।
कुर्युः प्रवहतो वेगात् सर्वाङ्गच्छेदकारिणः ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुनन्दन, इस प्रकार अत्यन्त फैली हुई यह महामोह-मयी विषम माया अचिन्तनीय है, एकमात्र परमात्मा ही इसका आश्रय और विषय है ॥ १ ॥

दुर्ज्ञानताको ही तीन प्रकारोंसे दर्शाते हैं—**'क्व'** इत्यादिसे ।

कहां दो मुहूर्तके भ्रमसे लोकदर्शन, कहां अनेकों वर्षोंमें भुक्त होनेवाला चाण्डालराजका भ्रम, कहाँ भ्रमावस्थामें प्राप्ति और कहाँ प्रत्यक्ष दर्शन, कहां निःसन्देह असत्यता और कहां सत्यमें परिणत होना ? इसलिए मैं कहता हूँ, हे महाबाहो, यह विषम माया असावधान मनवाले पुरुषको प्रतिदिन संकटमें डालती है ॥ २–४ ॥

चित्तं नाभिः किलाऽस्येह मायाचक्रस्य सर्वतः ।
स्थीयते चेत्तदाक्रम्य तन्न किञ्चित् प्रबाधते ॥'

इस प्रकार भगवान्‌ने जो अन्तमें गाधिको उपदेश दिया, उसके उपायको जाननेकी इच्छासे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, अधिकारी लोग परिपूर्ण आनन्दस्वरूप आत्माको परिच्छिन्न समझनारूप अङ्गच्छेदके हेतुभूत तथा वेगसे बह रहे इस माया-चक्रका निरोध कैसे करें ? ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्य संसाररूपस्य मायाचक्रस्य राघव ।
चित्तं विद्धि महानाभिं भ्रमतो भ्रमदायिनः ॥ ६ ॥
तस्मिन् द्रुतमवष्टब्धे धिया पुरुषयत्नतः ।
गृहीतनाभि वहनान्मायाचक्रं निरुध्यते ॥ ७ ॥
अवष्टब्धमनोनाभि मोहचक्रं न गच्छति ।
यथा रज्ज्वां निरुद्धायां कीलकं रज्जुवेष्टितम् ॥ ८ ॥
चक्रयुद्धैकतज्ज्ञोऽसि कस्माज्जानासि नाऽनघ ।
चक्रं नाभाववष्टब्धं वशमायाति नाऽन्यथा ॥ ९ ॥
चित्तं नाभिमवष्टभ्य तस्माद् यत्नेन राघव ।
संसारचक्रं वहनादात्मनः परिरोधय ॥ १० ॥

भगवान् द्वारा उपदिष्ट मायाचक्रको रोकनेके प्रकारका पहले विस्तार करनेके लिए उक्तका अनुवाद करते हैं—**'अस्य'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुवर, आप चित्तको घूम रहे और भ्रान्ति देनेवाले इस संसाररूपी मायाचक्रकी महानाभि (पहियेके बीचका भाग) जानिये ॥ ६ ॥

पुरुषप्रयत्नसे बुद्धि द्वारा उस चित्तरूपी महानाभिके (पहियेके बीचके हिस्सेके) रुकनेपर मायाचक्र, जिसकी नाभि पकड़ ली गई हो, भ्रमणसे रुक जाता है ॥ ७ ॥

जैसे रस्सीके रोकनेपर रस्सीमें लपेटा हुआ काँसे आदिका बनाया हुआ क्रीडाचक्र (लट्टू) नहीं चलता है वैसे ही मोहचक्र, जिसकी मनरूपी नाभि रोक दी गई हो, नहीं चलता ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप चक्रयुद्धोंमें मुख्य तथा उनको रोकने और घुमाने आदिमें कुशल हैं, इसलिए आप उक्त दृष्टान्तको क्यों नहीं जानते हैं । नाभिमें रोका गया चक्र वशमें आता है, अन्यथा नहीं ॥ ९ ॥

हे रामचन्द्रजी, इसलिए प्रयत्नसे चित्तरूपी नाभिको रोककर संसाररूपी चक्रको आत्माको जन्मपरम्पराकी प्राप्ति करानेसे रोकिये ॥ १० ॥

एतां युक्तिं विना दुःखमनन्तमितमात्मनः ।
अस्यां दृष्टौ क्षणादन्तं गतमेवाऽवलोकय ॥ ११ ॥

चित्ताक्रमणमात्रात्तु परमादौषधादृते ।
प्रयत्नेनाऽपि संसारमहारोगो न शाम्यति ॥ १२ ॥

तस्माद् राघव संत्यज्य तीर्थदानतपःक्रियाः ।
श्रेयसे परमायाऽन्तश्चित्तमेव वशं कुरु ॥ १३ ॥

चित्तान्तरेव संसारः कुम्भान्तः कुम्भखं यथा ।
चित्तनाशे न संसारः कुम्भनाशे न कुम्भखम् ॥ १४ ॥

चिरं संसरणाकाशकोटरं चित्तकुम्भखम् ।
विनाश्याऽतुलिताकाशस्वरूपं रूपमाविश ॥ १५ ॥

इस चित्तनिरोधरूपी उपायके बिना आत्माको अनन्त दुःख प्राप्त हुआ है। इस दृष्टिके प्राप्त होनेपर उस दुःखको क्षणभरमें नष्ट हुआ ही जानिये। यदि मेरे कथनमें संशय हो, तो आप वैसा करके देखिये, यह अर्थ है ॥ ११ ॥

इससे अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'चित्ता०'** इत्यादिसे।

केवल चित्तवशीकरणरूप परम ओषधिके सिवा यह संसाररूपी महा रोग प्रयत्नसे भी शान्त नहीं होता ॥ १२ ॥

इसलिए हे राघव, तीर्थसेवन, दान, तपस्या आदि कर्मोंका मार्ग छोड़कर परम कल्याणके लिए भीतरी चित्तको ही वशमें कीजिये ॥ १३ ॥

जैसे घड़ेके अन्दर घटाकाश रहता है वैसे ही चित्तके अन्दर ही संसार है। जैसे घड़ेके नष्ट होनेपर घटाकाश नहीं रहता वैसे ही चित्तका नाश होनेपर संसार नहीं रहता ॥ १४ ॥

जैसे घटाकाशमें रोका गया मच्छर आदि जिसमें दुःखपूर्वक संसरण है ऐसे आकाशकोटरको भाग्यवश घड़ेके विनाशसे नष्ट कर, अनुपम महाकाशमें प्रवेश कर बन्धनरहित हो सुखी होता है वैसे ही आप भी चित्तके नाशसे चित्तरूपी घटाकाशका विनाश कर अतुलित ब्रह्माकाशमें प्रवेश कीजिये ॥ १५ ॥

वर्तमानमनायासं भजद् बाह्यधिया क्षणम् ।
भूतं भविष्यदभजद् याति चित्तमचित्तताम् ॥ १६ ॥
सङ्कल्पांशानुसन्धानवर्जनं चेत् प्रतिक्षणम् ।
करोषि तदचित्तत्वं प्राप्त एवाऽसि पावनम् ॥ १७ ॥
यावत्संकल्पकलना तावच्चित्तविभूतयः ।
यावज्जलदविस्तारस्तावत्खजलबिन्दवः ॥ १८ ॥
सचित्तं चेतनं यावत्तावत् संकल्पकल्पनम् ।
सचन्द्रांशु जगद् यावत् तावत् प्रालेयलेशकाः ॥ १९ ॥
चेतनं चित्तरिक्तं चेद्भावितं तत्स्वसंसृतेः ।
आमूलमेव दग्धानि विद्धि मूलानि सिद्धवत् ॥ २० ॥

चित्तके नाशका क्या उपाय है ? इसपर कहते हैं—**'वर्तमानम्'** इत्यादिसे ।

बाह्यबुद्धिसे वर्तमान क्षणका अनायास भजन कर रहा और भूत तथा भविष्यत्‌का भजन न कर रहा चित्त अचित्तताको प्राप्त होता है । भूत, भविष्यत् विषयोंके अनुसन्धानके त्यागसे ही क्रमशः चित्तका क्षय होता है, यह अर्थ है ॥ १६ ॥

हे राघव, यदि आप भावी विषयोंके संकल्पका और उसके अंशभूत पदार्थोंका अनुसन्धानत्याग प्रत्येक क्षणमें सावधानीसे कीजिये, तो आप पवित्र अचित्तताको प्राप्त ही हैं ॥ १७ ॥

जबतक संकल्पकल्पना है तबतक चित्तविभूतियां रहती हैं तथा जबतक मेघका विस्तार रहता है तबतक वृष्टिके (आकाशजलके) बिन्दु रहते हैं ॥ १८ ॥

इसी प्रकार चित्तके रहनेपर संकल्पोंका भी वारण नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं—**'सचित्तम्'** इत्यादिसे ।

जबतक चेतन (चिदात्मरूप) चित्तसहित है तबतक अवश्य संकल्पोंकी कल्पना होगी जबतक जगत् चन्द्रमाके किरणोंसे युक्त रहेगा तबतक ओसकी बूँदें अवश्य होंगी ॥ १९ ॥

यदि चेतन चित्तसे पृथक् है यानी कूटस्थ है, यों भावनाकी जाय, तो अपने संसारके मूलोंको (काम, कर्म, वासना आदिको) मूलाज्ञाननाशके साथ महासिद्धके समान जले हुए ही जानिये ॥ २० ॥

चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक्चेतनमुच्यते ।
निर्मनस्कस्वभावं तन्न तत्र कलनामलः ॥ २१ ॥
सा सत्यता सा शिवता साऽवस्था पारमात्मिकी ।
सर्वज्ञता सा सा दृष्टिर्न तु यत्र मनः क्षतम् ॥ २२ ॥
मनो यत्र तु तत्राऽऽशास्तत्र दुःखसुखानि च ।
सदा सन्निधिमायान्ति श्मशान इव वायसाः ॥ २३ ॥
वस्तुतत्त्वावबोधेन सर्वभावव्यवस्थितेः ।
संसृतिव्रततेर्बीजं सङ्कल्पे नोपजायते ॥ २४ ॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कसन्तताभ्यासयोगतः ।
जागतानामवस्तुत्वं भावानामवगम्यते ॥ २५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि भले ही मूलाज्ञानके साथ संसारमूलोंका दाह हो, तथापि चेतनमें फिर कल्पनारूपी मलके कारण चित्त आदिकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ? इसपर कहते हैं—**'चेतनम्'** इत्यादिसे ।

चित्तसे पृथक् हुआ चेतन प्रत्यक्चेतन (आत्मा) कहा जाता है । वह स्वभावतः मनरहित है । उसमें कल्पनारूपी मलका संभव नहीं है ॥ २१ ॥

चित्तरहित जो चेतनस्वरूप है, वही परमार्थ सत्यता है, वही निरतिशय आनन्दरूपता है, वही परमात्मस्वभावभूत अवस्था है, वही सर्वावभासक चिद्रूपता है और वही परमार्थ दृष्टि है, किन्तु जिस अवस्थामें दुष्ट मन है वह वैसी नहीं है ॥ २२ ॥

निन्द्यताके बीजोंको दिखलाते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

जहांपर मन रहता है वहींपर जैसे श्मशानके समीप कौए आते हैं वैसे ही सदा विविध आशाएँ और सुख-दुःख समीपमें आते हैं ॥ २३ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि ज्ञानियोंके भी मन है फिर उसमें आशा आदि क्यों उत्पन्न नहीं होते ? तो उसपर कहते हैं—**'वस्तुतत्त्वा०'** इत्यादिसे ।

ज्ञानियोंका मन है यह बात ठीक है तथापि उनके मानस संकल्पमें आशा आदि सब भावोंकी व्यवस्थापिका संसाररूपी लताके वासनारूपी बीज ही नहीं उगते, क्योंकि वे तत्त्वज्ञानसे बाधित हो जाते हैं ॥ २४ ॥

जो पदार्थ पहले वास्तविक रूपसे ज्ञात हों उनका किस उपायसे अवस्तुत्वज्ञान-रूप बाध होता है, ऐसा प्रश्न होनेपर उसे कहते हैं—**'शास्त्र०'** इत्यादिसे ।

अविवेकादुपाहृत्य चेतः सोद्यमनिश्चयैः ।
बलात्कारेण संयोज्यं शास्त्रसत्पुरुषक्रमैः ॥ २६ ॥
मुख्यं कारणमात्मैव परमात्मावलोकने ।
अगाधे पतितं रत्नं रत्नेनैवाऽवलोक्यते ॥ २७ ॥
स्वानुभूतानि दुःखानि स्वात्मैव त्यक्तुमिच्छति ।
तेनाऽऽत्मैवाऽऽत्मविज्ञाने हेतुरेकः परःस्मृतः ॥ २८ ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
निरस्तमननानन्तसंविन्मात्रपरो भव ॥ २९ ॥

शास्त्र और सज्जनसंगतिके निरन्तर अभ्याससे जगत्के पदार्थोंकी अवास्तविकता ज्ञात होती है ॥ २५ ॥

चित्तको अविवेकसे हटाकर उद्यमके (पुरुषकारके) साथ अवश्य इसी जन्ममें ज्ञान प्राप्त करूँगा, इस तरहके दृढ़ निश्चयोंसे शास्त्र और सत्संगतिमें जबरदस्ती लगाना चाहिये ॥ २६ ॥

किस मुख्य कारणका अवलम्बन करके शास्त्र आदिसे भी आत्माका अन्वेषण करना चाहिये ऐसा यदि कोई कहे, तो स्वयंज्योतिरूप प्रत्यगात्माका ही अवलम्बन करके आत्माका अन्वेषण करना चाहिए, क्योंकि उससे वेद्य पदार्थोंकी विलक्षणतासे उसीकी स्वतः प्रथिति होती है, इस आशयसे कहते हैं—**'मुख्यम्'** इत्यादिसे ।

परमात्माके दर्शनमें मुख्य कारण आत्मा ही है, देखिये न अगाध जलमें गिरा हुआ रत्न रत्नसे ही (प्रकाशमान अपने स्वरूपसे ही) देखा जाता है ॥२७॥

पूर्व श्लोकमें उक्त मुख्य कारणताको स्पष्ट करते हैं—**'स्वा०'** इत्यादिसे । चूँकि अपना आत्मा ही अपनेसे अनुभूत दृश्य वस्तुएँ दुःख ही हैं, यों विवेकसे उन्हें छोड़ना चाहता है, अतएव अपने आत्माके अवलोकनमें दृश्यप्रतिकूल स्वभाववाला आत्मा ही स्वयं एक मुख्य कारण कहा गया है । यदि आत्मा स्वयं भी असुख जड़स्वभाव होता, तो दृश्यके प्रतिकूल न होता, यह भाव है ॥ २८ ॥

इसलिए आप आत्माके लाभके लिए सदा आत्मामें तल्लीन होइये, ऐसा कहते हैं—**'प्रलपन्'** इत्यादिसे ।

बात कर रहे, त्याग कर रहे, ग्रहण कर रहे, आँखें खोल रहे, बन्द कर रहे भी आप मननसे (मनके व्यापारसे) रहित अनन्त चिन्मात्रमें परायण (तल्लीन) होइये ॥२९॥

जायमानस्तथा जीवन्म्रियमाणः क्रियारतः ।
स्वात्मन्यमलतां प्राप्ते संविदंशे स्थिरो भव ॥ ३० ॥
ममेदं तदयं सोऽहमिति संत्यज्य वासनाः ।
एकनिष्ठतयाऽन्तस्थसंविन्मात्रपरो भव ॥ ३१ ॥
वर्तमानभविष्यन्त्योः स्थित्योरादेहमेकधीः ।
स्वसंवित्त्याऽनुसन्धानसमाधानपरो भव ॥ ३२ ॥
बाल्ययौवनवृद्धेषु दुःखेषु च सुखेषु च ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु स्वसंवित्तिपरो भव ॥ ३३ ॥
मलं संवेद्यमुत्सृज्य मनो निर्गलयन् परम् ।
आशापाशमलं छित्त्वा स्वसंवित्तिपरो भव ॥ ३४ ॥
शुभाशुभस्वसङ्केतसंशान्ताशाविषूचिकः ।
नष्टेष्टानिष्टदृष्टिस्त्वं संवित्सारपरो भव ॥ ३५ ॥

उत्पन्न हो रहे, जी रहे, मर रहे तथा अन्यान्य कर्मोंमें निरत हुए आप शोधन द्वारा निर्मलताको प्राप्त हुए संविन्मात्रांशरूप स्वात्मामें स्थिर होइये । उत्पत्ति और मरणका ग्रहण उनके तुल्य सुख, दुःख तथा अन्यान्य दुर्दशाओंमें भी आत्मपरताके अविस्मरणके विधानके लिए है, यह समझना चाहिये ॥ ३० ॥

यह (सन्मुखस्थित), वह (दूरदेशमें स्थित) मेरा है, यह प्रत्यभिज्ञायमान देह मैं हूँ, इस प्रकारकी वासनाओंका भली भाँति त्याग कर एकाग्रतासे भीतर स्थित संविन्ममात्रमें तत्पर होइये ॥ ३१ ॥

वर्तमान स्थिति (बाल्यावस्था) और भविष्यत्स्थिति (यौवन, राज्य आदि-की स्थिति) इन दोनोंमें जबतक देह रहे तबतक एकबुद्धि होकर स्वसंवित्‌से ध्यान और समाधिमें तत्पर रहिये ॥ ३२ ॥

बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्थामें, सुखोंमें, दुःखोंमें, जाग्रत् अवस्थामें, स्वप्नावस्थामें और सुषुप्ति अवस्थामें स्वसंवित्‌में (चिन्मात्रमें) तल्लीन होइये॥ ३३ ॥

बाह्य विषयरूपी मलका त्यागकर मनको खूब गला रहे आप आशापाशरूपी मलको छिन्नभिन्न कर स्वसंवित्‌में परायण हो जाइये ॥ ३४ ॥

अपने संकल्पसे किये गये शुभ और अशुभरूप संकेतोंमें जिनकी आशा-

सकर्तृकर्मकरणान् स्वास्पर्शानन्तरा स्पृशन् ।
निर्विकल्पनिरालम्बः स्वचिन्मात्रपरो भव ॥ ३६ ॥
जाग्रत्येव हि संसुप्तां भावयन् सुस्थिरां स्थितिम् ।
सर्वमस्मीति संचिन्त्य सत्तैकात्मवपुर्भव ॥ ३७ ॥
नानानानादशामुक्तो युक्तो मुक्ततया समे ।
समग्रकलनादीपः स्वचिन्मात्रपरो भव ॥ ३८ ॥
आत्मतापरते त्यक्त्वा निर्विभागो जगत्स्थितौ ।
वज्रस्तम्भवदात्मानमवलम्ब्य स्थिरो भव ॥ ३९ ॥
छित्त्वाऽन्तर्मानसान् पाशानाशारूपानुदारया ।
धिया धैर्यैकधर्मिण्या निर्धर्माधर्मतां व्रज ॥ ४० ॥

रूपी विषूचिका शान्त हो गई है, अतएव जिनकी यह इष्ट है और यह अनिष्ट है, यह दृष्टि नष्ट हो चुकी ऐसे आप संवित् रूपी सार-पदार्थमें संलग्न होइये ॥ ३५ ॥

कर्ता (विज्ञानमय), कर्म (बाह्यविषय) और करणों (इन्द्रियों) सहित तथा अपना स्पर्श न करनेवाले इस प्रकारके संसारोंका जैसे मणि अपने अन्दर प्रतिबिम्बोंका विस्तार करती है वैसे ही अपनेमें विस्तार कर रहे, विकल्परहित तथा आलम्बन रहित आप स्वचिन्मात्रपरायण होइये ॥ ३६ ॥

जाग्रत् अवस्थामें ही सुषुप्तकी-सी निर्विकल्प तथा अत्यन्त स्थिर स्थितिकी भावना कर रहे आप 'मैं सब हूँ' यह विचार कर एकमात्र सत्तारूप होइये ॥ ३७ ॥

नानादशा (जाग्रत् और स्वप्नदशा) और अनानादशा (सुषुप्तिदशा) से मुक्त अथवा सृष्टि और प्रलयदशासे मुक्त, मुक्तरूपसे सममें (ब्रह्ममें) संलग्न तथा सबकी नानाबुद्धिवृत्तियोंके दीपके तुल्य प्रकाशक आप स्वचिन्मात्रपरायण होइये ॥ ३८ ॥

आत्मता (स्वता) और परता (अन्यता) का त्यागकर जगत्की स्थितिमें द्वैतज्ञानशून्य आप आत्माका अवलम्बन कर वज्रके स्तम्भकी नाईं स्थिर होइये ॥ ३९ ॥

एकमात्र धैर्यधर्मवाली उदार बुद्धिसे आशारूप मानसिक जालोंका भीतर उच्छेद कर धर्माधर्मरहित होइये ॥ ४० ॥

समास्वादयतस्तत्त्वं स्वसंवेदनधर्मिणः ।
विषं हालाहलमपि यास्यत्यमृततामथ ॥ ४१ ॥
तदोदेति महामोहः संसृतिभ्रमकारणम् ।
निर्मलाया निरंशायाः संवित्तेश्चाऽमतिर्यदा ॥ ४२ ॥
तदा संक्षीयते मोहः संसारभ्रमकारणम् ।
निर्मलायां निरंशायां स्वसंवित्तौ स्थितिर्यदा ॥ ४३ ॥
स्वरूपमनुयातस्य तीर्णस्याऽऽशामहार्णवम् ।
प्रसरिष्यति ते संवित्सूर्यांशुरिव सर्वतः ॥ ४४ ॥
स्वभावमालोकयत आनन्दाद्वयसंस्थितेः ।
रसायनमपि स्वादु राम प्रतिविषायते ॥ ४५ ॥
तैर्नो भजामहे पुंभिर्ये स्वभावमुपागताः ।
शेषाः पुरुषनामानो गर्दभा दीर्घबाहवः ॥ ४६ ॥

आत्मज्ञानसम्पन्न एवं तत्त्वका आस्वाद ले रहे पुरुषके लिए हालाहल विष भी अमृत बन जाता है। भाव यह है कि सबके अमृत होनेपर विषकी भी अमृतता अर्थात् सिद्ध हो गई ॥ ४१ ॥

जब निर्मल और अखण्ड चैतन्यका अज्ञान होता है तब संसाररूपी भ्रमका कारणरूप महामोह उदित होता है ॥ ४२ ॥

जब निर्मल और अखण्ड स्वसंवित्में (चित्में) स्थिति होती है तब संसार-भ्रमका कारणभूत मोह नष्ट हो जाता है ॥ ४३ ॥

अपने स्वरूपको प्राप्त हुए एवं आशारूपी महासागरको पार किये हुए आपकी बुद्धि सूर्यकी किरणोंके समान चारों ओर फैलेगी ॥ ४४ ॥

मुक्त पुरुषकी अन्यत्र आशाकी संभावना तो दूर रही, बल्कि अमृत आदि रसायनके आस्वादमें भी—आत्मानन्दके आस्वादमें विघ्नकी संभावनासे—विषकी नाईं हेयताबुद्धि हो जाती है, इस आशयसे कहते हैं—**'स्वभावम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपनी अद्वितीयानन्दस्वरूपताका दर्शन कर रहे अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्ममें स्थित पुरुषको स्वादिष्ट अमृत आदि रसायन भी प्रतिकूल विषके समान लगता है ॥ ४५ ॥

जो लोग हमारे प्रत्यगात्मभावको प्राप्त हुए हैं यानी जीवन्मुक्त हैं—पुरुष-

पर्वतात् पर्वतं यान्ति पुरोऽद्रेरिव दन्तिनः ।
परां कोटिं प्रयातस्य स्वसंविच्युन्नतस्थितेः ॥ ४७ ॥
अदृष्टादृश्यसीम्नोऽन्तः सूर्यादीन्यखिलान्यपि ।
न तेजांस्युपकुर्वन्ति स्वसंविद्दिव्यचक्षुषः ॥ ४८ ॥
अवस्तुतां व्रजन्त्येते माध्याह्ना इव दीपकाः ।
अर्कादयो महालोका विद्ययाऽधिगतात्मनः ॥ ४९ ॥

जन्मको सार्थक करनेसे, पुरुषार्थसाधनसे तथा सफल पौरुषवाले होनेसे—उन श्रेष्ठतम पुरुषोंके साथ हम सदा मैत्री करते हैं । अन्य लोग तो पुरुषार्थके उपयोगी पौरुषसे हीन होनेके कारण नाममात्रसे पुरुष हैं, पुरुषशब्दके अर्थका उनमें नाम-निशान भी नहीं है, इसलिए लम्बी बाहुवाले वे गदहोंके समान उपेक्षाके ही पात्र हैं, दर्शन आदिके योग्य भी नहीं हैं ॥ ४६ ॥

इस प्रकार अन्य महान् योगी और उपासक भी जगत्में हैं ही, उनसे भी तत्त्वज्ञानीमें ही कौन उत्कर्ष है ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'पर्वतात्'** इत्यादिसे ।

अपनी संवित्से सबसे उन्नत स्थितिवाले अतएव उत्कर्षकी परम सीमामें पहुँचे हुए तत्त्वज्ञानीके सामने योगी आदि ज्ञानप्राप्तिके लिए उन-उन महापुरुषोंके पास जाते हैं । वे जैसे हाथी मेरु आदि पर्वतके सामने एक निकटवर्ती क्षुद्र पर्वतसे दूसरे पर्वतपर जाते हैं वैसे ही जाते हुए प्रतीत होते हैं । मेरुके समान सर्वोन्नत दृढ़रूपसे विश्रान्त नहीं मालूम पड़ते हैं ॥ ४७ ॥

अपनी संवित्से उन्नत स्थितिका उपपादन करते हैं—**'अदृष्टा०'** इत्यादिसे ।

स्वसंविद्रूपी दिव्य चक्षुवाले तत्त्वज्ञानीके, जिसकी सीमाएँ पहले किसीके द्वारा नहीं देखी गईं, वर्तमान समयमें एवं भविष्यमें भी देखने योग्य नहीं हैं, अन्तःकरणका कल्पित सूर्य आदि सभी तेज उपकार नहीं करते हैं । इसलिए स्वसंवित्से ही उसकी उन्नत स्थिति है, यह अर्थ है ॥ ४८ ॥

ये सूर्य आदि केवल उपकार ही नहीं कर सकते, सो बात नहीं है, किन्तु तत्त्ववेत्ताके सन्मुख अवस्तुताको ही प्राप्त होते हैं, ऐसा कहते हैं—**'अवस्तुताम्'** इत्यादिसे ।

विद्यासे जिसने आत्मतत्त्वका ज्ञान कर लिया है, ऐसे तत्त्ववेत्ताके सन्मुख ये

तेजोंऽशुषु प्रभावेषु बलिष्वपि महत्स्वपि ।
सर्वेषून्नतियुक्तेषु तत्त्वज्ञः परमोन्नतः ॥ ५० ॥
भान्तीह भासा यस्याऽर्कवह्नीन्दुमणितारकाः ।
तथा जगति राजन्ते ज्ञातज्ञेया नरोत्तमाः ॥ ५१ ॥
धराविवरकीटेभ्यो गर्दभेभ्योऽपि मानवाः ।
तिर्यग्भ्यश्चाऽप्यतत्त्वज्ञा राम तुच्छतराः स्मृताः ॥ ५२ ॥
तावत् संमोहवेतालो देही यावदनात्मवान् ।
आत्मज्ञ एव संयुक्तश्चेतनेनेति तद्विदः ॥ ५३ ॥
अनात्मज्ञो हि दुःखेहः प्रस्फुरन्नपि भूतले ।
शव एव भ्रमत्युच्चैरात्मज्ञस्तु सचेतनः ॥ ५४ ॥

महा प्रकाशवाले सूर्य आदि मध्याह्नके दीपकोंकी नाईं अवस्तुताको प्राप्त होते हैं ॥ ४९ ॥

तेजके कार्य प्रकाशनोंमें, योगसिद्धिके वशित्व आदि प्रभावोंमें, शारीरिक बलवानोंमें, ऐश्वर्य, आयु आदिसे श्रेष्ठोंमें तथा वाग्मिता आदि उन्नतिसे युक्त सबमें तत्त्वज्ञानी परम उन्नत है । सब उन्नतियाँ तत्त्वज्ञानीमें अध्यस्त हैं, यह अर्थ है ॥ ५० ॥

तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ पुरुष जिस जगदीश्वरकी दीप्तिसे सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, मणि और तारा दीप्त होते हैं, उसके तुल्य सुशोभित होते हैं ॥ ५१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिन लोगोंको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ वे पृथिवीके बिलोंमें रहनेवाले कीड़ोंसे, गदहोंसे और पशु-पक्षियोंसे भी गये गुजरे कहे गये हैं । तत्त्व-ज्ञानका अभाव होनेपर उससे भी अधम करोड़ों योनियों की प्राप्ति होती है, यह भाव है ॥ ५२ ॥

तभीतक अज्ञानरूपी वेताल है जबतक देहधारी सत् भी आत्माकी अज्ञानसे असत्ता माननेके कारण अनात्मवान् है अतएव वह अचेतन है, इसलिए आत्मज्ञानी ही चेतनसे संयुक्त है, ऐसा विद्वानोंका कथन है ॥ ५३ ॥

जो आत्मतत्त्वको नहीं जानता, उसकी सबकी-सब चेष्टाएँ दुःखके लिए ही हैं । वह भूतलमें इधर-उधर चलता फिरता हुआ भी शवरूपसे ही भ्रमण करता है, केवल आत्मज्ञानी ही सचेतन है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं ॥ ५४ ॥

दूरादात्मज्ञता याति चित्ते पीवरतां गते ।
आलोकलक्ष्मीरभितो महामेघ इवोत्थिते ॥ ५५ ॥
भोगाभोगतिरस्कारैः कार्श्यं नेयं शनैर्मनः ।
रसापहारैस्तज्ज्ञेन कालेनाऽजीर्णपर्णवत् ॥ ५६ ॥
अनात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थयाऽनया ।
पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ५७ ॥
अहंकारविकारेण ममतामलहेलया ।
इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ५८ ॥
जरामरणदुःखेन व्यर्थमुन्नतिमीयुषा ।
दोषाशीविषकोशेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ५९ ॥
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतेः ।
हेयादेयप्रयत्नेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ६० ॥

जैसे चारों ओरसे महान् मेघके उदित होनेपर प्रकाशशोभा दूर चली जाती है वैसे ही चित्तके स्थूल होनेपर आत्मज्ञता, जो थोड़ी बहुत उपार्जित भी हो चुकी हो, दूर भाग जाती है ॥ ५५ ॥

इसलिए मनको प्राप्त भोगोंके (विषयोंके) सेवनके तिरस्कार द्वारा और अप्राप्त भोगोंके अभिलाषके त्याग द्वारा समयसे अजीर्ण पत्रके समान धीरे-धीरे कृश बनाना चाहिये ॥ ५६ ॥

मनकी स्थूलताके हेतु कौन हैं ? जिनके त्यागसे मनमें कृशता हो, ऐसी आशङ्का होनेपर मनकी कृशताके हेतुओंको कहते हैं—**'अनात्मनि'** इत्यादिसे ।

अनात्मामें (देह, इन्द्रिय आदिमें) आत्मभावसे, इस देहमात्रमें आस्थासे, पुत्र, कलत्र और कुटुम्बसे चित्त स्थूलताको प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

अहंकारके विकाससे, ममतारूपी मलमें आसक्तिसे तथा यह शरीर मेरा आत्मा या भोगस्थान है, इस भावसे चित्त पीनताको प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

जरा-मरणरूपी दुःखसे पूर्ण, व्यर्थ ही दिन-पर-दिन बढ़े हुए दोषरूपी साँपोंके विषरूप पूर्वोक्त 'इदं मम' इस भावसे चित्त पीनताको प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

आधि (मानसिक व्यथा) और व्याधि (शारीरिक व्यथा) की अभिवृद्धिसे,

स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् ।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ६१ ॥

दुराशाक्षीरपानेन भोगानिलबलेन च ।
आस्थादानेन चारेण चित्ताहिर्याति पीनताम् ॥ ६२ ॥

आगमापायवपुषा विषवैषम्यशंसिना ।
भोगाभोगेन भीमेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ६३ ॥

शरीरदुःश्वभ्रचिरप्ररूढं चिन्ताचयोच्चाकृतिमञ्जरीकम् ।
जरामृतिव्याधिफलौघनम्रं कामोपभोगौघविकासिपुष्पम् ॥ ६४ ॥

विचारसारक्रकचेन चित्तविषद्रुमं त्वद्भुतमद्रिकल्पम् ।
आशामहाशाखमशङ्कमेनं छिन्धि प्रसह्याऽत्र विकल्पपत्रम् ॥ ६५ ॥

संसारकी रमणीयता, चिरस्थायिता आदिके विश्वाससे और यह हेय है यह उपादेय है इस प्रयत्नसे चित्त पीनताको प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

स्त्री, पुत्र आदिके प्रति स्नेहसे तथा मणि और स्त्रियोंके लाभसे, जो आपाततः रमणीय प्रतीत होता है, उत्पन्न हुए धनके लोभसे चित्त स्थूलताको प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

दुराशारूपी दुग्धके पानसे, भोगरूपी पवनके बलसे, आदरप्रदानसे तथा नाना विषयोंमें संचारसे चित्तरूपी सर्प पीनताको प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥

विषसे जैसी दाह, मूर्च्छा और व्याकुलता होती है वैसी दाह, मूर्च्छा और व्याकुलताको सूचित करनेवाले भीषण भोगोंके सेवनसे, जिसके स्वरूप और स्वभाव आवागमनवाले हैं, चित्त स्थूलताको प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

शरीररूपी बुरे गड्ढेमें चिरकालसे उगे हुए इस अद्भुत चित्तरूपी विषवृक्षको, विविध चिन्ताएँ ही जिसमें लम्बी-लम्बी मञ्जरियाँ हैं, जो जरा, मरण और व्याधिरूपी फलोंके समूहसे लदा है, कामोपभोगोंके समूह ही जिसमें खिले हुए फूल हैं, आशा ही बड़ी-बड़ी शाखाएँ हैं, विकल्प ही पत्ते हैं और जो पर्वतके तुल्य अचल है, विचाररूपी मजबूत आरेसे जबरदस्ती निःशङ्क काट डालो ॥ ६४, ६५ ॥

मत्तेक्षणं चैकतटोपवेशं विश्रान्तिसौख्येष्वसमर्थमुग्रम् ।
आलोकनोत्कं सुजनक्रमाब्जखण्डस्य चण्डं सुखदुःखगण्डम् ॥ ६६ ॥
चेतोगजं कायकुकाननस्थं सुतीक्ष्णया धीकरजाग्रपङ्क्त्या ।
विदारयाऽऽदीर्घविकारदन्तं क्रियाकरं राघव राजसिंह ॥ ६७ ॥
रतिं गतं नित्यमसत्प्रदेशे शरीरमांसग्रसनेन पुष्टम् ।
दुष्टक्रियाकर्कशचञ्चुदण्डमेकेक्षणं पुष्टतमोंशुकृष्णम् ॥ ६८ ॥
दूरे समुत्सारय भारभूतं दुश्चेष्टितं कर्कशमारटन्तम् ।
गन्धोद्गतं कायकुलायकोशाद् दोषोपशान्त्यै निजचित्तकाकम् ॥ ६९ ॥

इस समय उसी चित्तका गजरूपसे वर्णन करते हैं—**'मत्तेक्षणम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे रघुवर, हे राजाओंमें सर्वश्रेष्ठ, आप चित्तरूपी हाथीको अत्यन्त चोखी बुद्धिरूपी नखराशियोंसे चीर डालिये । उक्त चित्तरूपी हाथीके आगम, अनुमान-रूपी नेत्र आत्मतत्त्वविवेकमें प्रमाद करनेवाले हैं, वह एक बहिर्मुखरूप संसारपर्वत-तटपर बैठता है, अतएव अन्तर्मुख विश्रान्तिसुखका अनुभव करनेमें असमर्थ है, द्वेष, ईर्ष्या आदिसे भीषण होनेके कारण उग्र है, सज्जनों द्वारा गृहीत होनेवाले शम, दम, तितिक्षा आदिरूप कमलवनके अवलोकनमें उत्कण्ठित तो है, पर अत्यन्त क्रोधी है यानी उसके रक्षणमें अयोग्य है, सुख और दुःख ही उसके शीतल और गर्म वाष्प-वाले मदको बहानेवाले गण्डस्थल हैं, वह शरीररूपी भीषण वनमें रहता है और बड़े-बड़े काम आदि विकार ही उसके दाँत हैं, अतएव वह धैर्य आदि क्रियाका उच्छेदरूप कार्य करता है ॥ ६६, ६७ ॥

स्त्रीचिह्न आदि कुत्सित स्थानोंमें नित्य आसक्तिको प्राप्त, शरीररूपी मांसके ग्रसनके तुल्य अन्तर्भावके आपादनसे पुष्ट, परमर्मभेदनरूपी दुष्कर्ममें कठोर चोंचवाले, केवल स्वार्थमें ही दृष्टि रखनेवाले, वृद्धिको प्राप्त हुई तामसवृत्तियोंसे मलिन, वहन करनेवाले आत्माके भारभूत, दुष्ट चेष्टावाले, कठोर शब्द कर रहे तथा दुर्वासनाओंसे आविर्भूत अपने चित्तरूपी कौएको * दोषोंकी शान्तिके लिए शरीर-रूपी घोंसलेके अन्दरसे दूर हटाइये ॥ ६८, ६९ ॥

---

* कौएके पक्षमें—श्मशान आदि गर्हित स्थानोंमें सदा आसक्त, मांसके ग्रसनसे पुष्ट,

तृष्णापिशाच्या परिचर्यमाणं विश्रान्तमज्ञानमहावटेषु ।
भ्रान्तं चिरं देहशतेष्वटव्यां स्वसंसृतौ चेतनवर्जितेषु ॥ ७० ॥

विवेकवैराग्यगुरुप्रयत्नमन्त्रैः स्वतन्त्रैः स्वचिदात्मगेहात् ।
नोत्सादयेच्चित्तपिशाचमेनं यावत् कुतस्तावदिहाऽऽत्मसिद्धिः ॥ ७१ ॥

शुभाशुभास्यं हतमानवौघं चिन्ताविषं कायकुकञ्चुकं च ।
अजस्रमच्छश्वसनाशनं च सर्वस्य नानाभयनाशदं च ॥ ७२ ॥

हृदब्जदुःशाल्मलिकोटरस्थममोघया चित्खगमन्त्रशक्त्या ।
नीत्वा शमं राम मनोमहाहिं भयं भृशं प्रोज्झ्य भवाऽभयात्मा ॥७३॥

उसी चित्तका पिशाचरूपसे वर्णन करते हुए उसे न हटानेसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं—'**तृष्णा०**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

अज्ञानरूपी महान् वटवृक्षोंपर बैठे हुए, तृष्णारूपी पिशाचिनी द्वारा सेव्यमान, चित्तके हटनेपर चेतनरहित अनन्त कोटि देहरूपी अरण्यमें चिरकालतक भटके हुए इस चित्तरूपी पिशाचको चिदात्माके गृहभूत हृदयसे जबतक विवेक, वैराग्य, गुरुसमीप-गमन, पुरुषकार आदि स्वतन्त्र मन्त्रों द्वारा पुरुष नहीं हटाता तबतक यहांपर आत्मसिद्धि कैसे हो सकती है ? ॥ ७०, ७१ ॥

अब मनका सर्परूपसे निरूपण करते हुए उसका त्याग कराते हैं—'**शुभा०**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तरूपी साँपको, जिसकी शुभ और अशुभ रूप दो दाढ़ हैं, जो एक-दो नहीं अनेकानेक मनुष्योंकी हत्या कर चुका है, चिन्ता ही जिसका विष है, शरीर ही गर्हित केंचुल है, निरन्तर श्रम आदि दोषोंसे रहित प्राणवायु ही जिसका भोजन है, जो सबको विविध भय और मृत्यु देता है एवं हृदयकमल-रूपी सेमरके पेड़के खोखलेमें स्थित है, चिदेकरस ब्रह्मरूपी गरुड़के बोधक 'सत्यं-ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि मन्त्रोंके अमोघ प्रभावसे मूलाज्ञानके साथ नष्ट कर भयको सर्वथा मिटा कर निर्भय होइये ॥ ७२, ७३ ॥

शव आदिके मर्मस्थानोंको नोचनेमें कठोर चोंचवाले, एक आँखवाले, गाढ़ अन्धकारके भागोंके समान काले, वृक्ष आदिके भारभूत, दुष्ट चेष्टाएँ करनेवाले, कर्णकठोर काँव-काँव शब्द कर रहे, दुर्गन्धिसे चले हुए कौएको, यों अर्थ करना चाहिए ।

अमङ्गलाकारधरः शरीरशवावलीसन्ततसेवनेन ।
दिगावलीसंभ्रमणश्रमार्तः श्मशानसेवी वपुषा क्षतेन ॥ ७४ ॥
भोगामिषो दिक्ष्वभिधावमान उत्कन्धरो धीरविवृद्धगर्धः ।
उड्डीय वै गच्छति चित्तगृध्रो देहद्रुमात् तन्निपुणं जयस्ते ॥ ७५ ॥
भ्रान्तं वनान्तेषु दिगन्तरेषु फलार्थिनं चञ्चलमाकुलाङ्गम् ।
जन्मावनेर्जन्ममहीं प्रयातं संसारबन्धं जनतां हसन्तम् ॥ ७६ ॥
द्रुमेऽक्षिनासाकुसुमे भुजादिशाखे विलोलाङ्गुलिजालपत्रे ।
समुल्लसन्तं परिमारयाऽन्तर्मनोमहामर्कटमङ्ग सिद्ध्यै ॥ ७७ ॥
अभ्युत्थितं सत्फलसंक्षयाय लसन्मुखासङ्गितडित्प्रकाशम् ।
वर्षन्तमासारमनर्थसार्थमान्दोलितं वासनवात्ययाऽन्तः ॥ ७८ ॥
सङ्कल्पसङ्कल्पनवर्जनोग्रमन्त्रप्रभावाद्धृदयाम्बरस्थम् ।
सोत्साहमुत्सादय चित्तमेघं बृहत्फलं प्राप्य भवाऽलमाद्यः ॥ ७९ ॥

शरीररूप शवराशियोंके निरन्तर अनुसन्धानसे (दूसरे पक्षमें भक्षणसे) अमङ्गल आकारको धारण करनेवाला, नाना दिशाओंमें भ्रमणसे उत्पन्न श्रमसे पीडित, अपमान, व्यय, शोक, भय आदिसे (दूसरे पक्षमें कौए, चील आदिके चोंचोंके प्रहारोंसे) क्षत-विक्षत शरीरसे सुषुप्तिमें श्मशान-वृक्षके तुल्य सुप्त देहका (श्मशान-वृक्षका) सेवन करनेवाला, भोगोंकी अभिलाषावश दिशाओंमें इधर-उधर दौड़ रहा, ऊपरको गर्दन किया हुआ एवं अधीर और बढ़ी-चढ़ी अभिलाषावाला चित्तरूपी गृध्र यदि आपके देहवृक्षसे उड़कर चला जाय, तो आपकी खासी जीत है ॥ ७४, ७५, ॥

अब उसी मनका बन्दरके रूपकसे निरूपण करते हैं—**'भ्रान्तम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, फल चाहनेवाले, चञ्चल तथा व्याकुल अङ्ग-प्रत्यङ्गवाले मनरूपी महामर्कटको, जो वनप्रान्तोंमें दिशाओंके मध्योंमें खूब भटका है, एक जन्मरूपी भूमिसे दूसरी जन्मरूपी भूमिमें गया है, जनता और उसके संसारबन्धनका अपनी चेष्टाओं द्वारा अनुकरण कर रहा है तथा आँख और नाक जिसके फूल हैं, भुजा आदि जिसकी शाखाएँ हैं और चञ्चल अङ्गुलियाँ जिसके पत्ते हैं, ऐसे देहरूपी वृक्षपर उल्लासको प्राप्त हो रहा है, सिद्धिके लिए चारों ओरसे घेर कर भीतर ही भीतर मार डालिये ॥७६, ७७॥

अब उसी चित्तका मेघके रूपकसे वर्णन करते हैं—**'अभ्युत्थितम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

ग्रन्थीकृतं कर्मभिरात्मसृष्टैर्मन्त्रैरभेद्यं ज्वलनैरदग्धम् ।
पीडां परामात्मनि कल्पयन्तं समस्तजात्यन्तरदीर्घदाम ॥ ८० ॥
संप्रोतनिःसंख्यशरीरमालं बलादसंकल्पनमात्रशस्त्रैः ।
छित्त्वा स्वयं राघव चित्तपाशं यथासुखं त्वं विहराऽस्तशङ्कः ॥ ८१ ॥
फूत्कारदग्धाखिलपान्थलोकमत्यन्तदुष्प्रापपरप्रबोधम् ।
आशीविषं शोषितलोकखण्डं व्यात्त्यामिषोद्धूतशरीरदण्डम् ॥ ८२ ॥
आमन्थरं देहगुहासु सुप्तं संकल्पघोराजगरं जवेन ।
अकामनानाममहानलेन बलेन दग्ध्वा विभवो भव त्वम् ॥ ८३ ॥

परमार्थसुखरूप सत्फलके (मेघपक्षमें पकी हुई फसलके) नाशके लिए असमयमें उपस्थित हुए, हृदयरूपी आकाशमें स्थित चित्तरूपी मेघका, जिसके मुखसदृश बहिर्मुखवृत्तिके अग्रभागमें प्रतिबिम्बन द्वारा बिजलीके सदृश चिदाभासप्रकाश संक्रान्त है, जो अनर्थसमूहरूपी मूसलाधार वृष्टि कर रहा है, वासनारूपी आंधीने जिसे भीतर चक्करमें डाल रक्खा है, संकल्पोंके बार बार समर्थनोंके त्यागरूप अचूक मन्त्रोंके प्रभावसे उत्साहपूर्वक उच्छेद कर जीवन्मुक्तिरूप महान् पद पाकर नित्य मुक्तात्मा ही होइये ॥ ७८, ७९ ॥

अब उसी मनका जालके रूपकसे निरूपण करते हैं—**'ग्रन्थीकृतम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जिसका आत्मा ही उपादान कारण है ऐसी कल्पकी आदि सृष्टिसे लेकर आजतक किये गये पुण्य-पाप कर्मोंसे निरन्तर गांठ देनेसे मजबूत बनाये गये, मन्त्रों द्वारा छिन्न-भिन्न नहीं हुए, अग्निसे जलाये न गये, आत्मामें महती पीड़ाकी कल्पना कर रहे, अतएव सब नाना योनियोंके विविध जन्मोंके क्रमशः बन्धनके लिए लम्बी रस्सीके समान स्थित चित्तरूपी जालको, जिसमें असंख्य शरीरपङ्क्तियां गूंथी गई हैं, असंकल्परूप शस्त्रोंसे जबरदस्ती काटकर आप स्वयं पुनर्जन्मशङ्कारहित होकर सुखपूर्वक विहार कीजिये ॥ ८०, ८१ ॥

अब मनके संकल्पका अजगरके रूपकसे वर्णन कर रहे श्रीवसिष्ठजी उसके वधका उपाय कहते हैं—**'फूत्कार०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप संकल्परूपी घोर अजगरको, जिसने क्रोध आदि रूप सविष (विषैले) फुफकारसे दक्षिण-उत्तर मार्गसे जानेवाले जीवोंको जला डाला है, जिसके

चित्तेन चेतः शममाशु नीत्वा शुद्धेन घोरास्त्रमिवाऽस्त्रयुक्त्या ।
चिराय साधो त्यज चञ्चलत्वं विमर्कटो वृक्ष इवाऽक्षतश्रीः ॥ ८४ ॥
अमलमिति च कृत्वा चेतसा वीतशङ्कमुपशमितमनोऽन्तः सर्वमादेहमेव ।
तृणलवलघुपश्यँल्लीलया हेयदृष्ट्या पिब विहर रमस्व प्राप्तसंसारपारः ॥८५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशम-
प्रकरणे राघवाशयविनियोगो नाम पञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५० ॥

कारण परतत्त्वका बोध तो अत्यन्त दुर्लभ है, जो अत्यन्त विषैला है, अतएव अपने विषसे जिसने सब भुवनोंको संतप्त कर दिया है, तृष्णारूपी मुँहको खोलकर विषय-रूपी भोग्य वस्तुओंके लिए चार प्रकारके शरीररूपी दण्डको जिसने कँपाया है, जो मोक्षके उद्योगमें आलसी होनेके कारण मन्दगतिवाला है और देहरूपी गुहामें सोया है, शीघ्र परम वैराग्यनामक महा अग्निसे जबरदस्ती भस्म करके आप अपने स्वरूपमें पूर्णानन्दवैभववाले होइये ॥ ८२, ८३ ॥

वैराग्यसे संकल्पपर विजय पानेसे चित्तशुद्धि होनेपर उसी प्रकार ज्ञान और समाधि-के क्रमसे चित्तपर विजय भी हो जाती है, ऐसा कहते हैं—**'चित्तेन'** इत्यादिसे ।

हे साधुशिरोमणे, जैसे अस्त्रके प्रयोगसे घोर अस्त्रका शमन किया जाता है वैसे ही शुद्ध चित्तसे चित्तका शीघ्र शमन कर आप बन्दरसे छुटकारा पाये हुए वृक्षके—जिसकी शोभा नष्ट-भ्रष्ट नहीं हुई—समान चिरकालतक चञ्चलताका त्याग कीजिये ॥ ८४ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे और पूर्वमें उपदिष्ट तत्त्वावबोधसे प्रत्यगात्मामें उपशमको प्राप्त हुए मनको राग आदि मलोंसे शून्य बनाकर निर्मल चित्तसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहपर्यन्त सब दृश्य समूहको हेयदृष्टिसे तिनकेके टुकड़ेसे भी तुच्छ (स्वाप्न शरीर आदिके समान अत्यन्त उपेक्षाके योग्य) समझकर संसारसे पार हुए आप प्रारब्धशेषके भोगार्थ 'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इस श्रुतिमें प्रदर्शित लीलासे लोकसंग्रहके लिए सोम आदिका पान कीजिये, ऋत्विक् आदिके साथ यज्ञोंमें बिहार कीजिये तथा शास्त्रसे अविरुद्ध लौकिक विषयमें रमण कीजिये । उससे आपको पुनर्बन्धनप्राप्ति नहीं होगी ॥ ८५ ॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

एकपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

परिदीर्घासु तन्वीषु सुतीक्ष्णासु सितासु च ।
क्षुरधारोपमानासु चित्तवृत्तिषु तिष्ठ मा ॥ १ ॥
कालेन महता क्षेत्रे जातेयं बुद्धिवल्लरी ।
वृद्धिं विवेकसेकेन नय तां नयकोविद ॥ २ ॥
यावन्म्लायति नो कायलतिका कालभास्वता ।
भूतलेऽपतितां तावदेनामुद्धृत्य धारय ॥ ३ ॥

इक्यावनवाँ सर्ग

[शान्त परम पदमें विश्रान्तिकी इच्छा कर रहे उद्दालक मुनिके मनके विविध दोषोंसे विक्षेपका बहुत प्रकारसे वर्णन]

श्रवण और मननसे आत्मतत्त्वका निर्णय होनेपर भी चित्तविश्रान्तिके बिना विक्षेपरहित जीवन्मुक्तिसुखकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिए विक्षेपशून्य जीवन्मुक्ति-सुखके लिए समाधिके अभ्यासोंमें तत्परताके साथ बोधवृद्धिकी अत्यन्त आवश्यकता है, यों उद्दालक-चरित्रवर्णनके द्वारा उपदेश देनेकी इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी उद्दालकचरित्रके अवतरणके लिए पहले चित्तके चरित्रोंमें अविश्वसनीयता कहते हैं—**'परिदीर्घासु'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐहिक, पारलौकिक और दूरस्थित विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण बड़े लम्बे, वासनाप्रचुर होनेके कारण अत्यन्त महीन, प्रमाद कर रहे पुरुषके तुरन्त ही समाधिसुखके विच्छेदके हेतु होनेके कारण अत्यन्त तीक्ष्ण, आत्माके प्रतिबिम्बके ग्रहणमें योग्यतारूप निर्मलता होनेके कारण सफेद अतएव छुरेकी धारके तुल्य चित्तके चरितोंमें आप प्रमादवश विश्वस्त मत रहिये ॥१॥

हे नीतिशास्त्रके मर्मज्ञ, सत्कुलरूपी खेतमें उत्पन्न हुई देहरूपी लतामें चित्तशुद्धि, श्रवण आदि (दोहदरूपी) उपायोंसे यह परमात्मज्ञानरूप आपकी बुद्धिलता चिरकालमें उत्पन्न हुई है । इसे आप विवेकरूपी जलके सेकसे बढ़ाइये ॥ २ ॥

वह बाल्यावस्थासे यदि सींची जाय, तो बढ़ती है। वृद्धावस्था आदिसे देहरूपी

मद्वाक्यार्थैकतत्त्वज्ञ　मद्वाक्यार्थैकभावनात् ।
सुखमाप्नोषि　सर्पारिर्यथाऽभ्रवभावनात् ॥ ४ ॥
उद्दालकवदालूनं　विशीर्णं　भूतपञ्चकम् ।
कृत्वा कृत्वा धिया धीरधीरयाऽन्तर्विचारय ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

केन क्रमेण भगवन् मुनिनोद्दालकेन तत् ।
भूतपञ्चकमालूनं　कृत्वाऽन्तः प्रविचारितम् ॥ ६ ॥

लताके मुरझानेपर उसके गिरनेकी शङ्कासे उसका उद्धार भी नहीं हो सकता, उसकी मञ्जरियोंको बढ़ाना तो दूरकी बात रही, ऐसा कहते हैं—**'यावत्'** इत्यादिसे।

जबतक कालरूपी सूर्यसे यह देहरूपी लता मुरझाती नहीं तभीतक पृथ्वीपर न गिरी हुई इस देहलताका गुरु-शुश्रूषा, श्रवण आदिसे उद्धार कर बुद्धिरूपी लताका पालन कीजिये ॥ ३ ॥

आगे कहे जानेवाले आख्यानरूप मेरे वाक्यके अर्थका श्रवणपूर्वक बार बार मनन करना विवेकसेक है। उसीमें सब मननयुक्तियां विद्यमान हैं, ऐसा कहते हैं—**'मद्वाक्या०'** इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप मेरे वाक्यार्थोंके एकमात्र तत्त्वज्ञ हैं। जैसे मयूर मेघके गर्जनकी भावनासे सुखको प्राप्त होता है वैसे ही मेरे वाक्योंके अर्थोंकी एकमात्र भावनासे आप भी सुखको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

उक्त आख्यायिकाका अवतरण कर उसके अर्थ विचारकर्तव्यताको कहते हैं—**'उद्दालकवत्'** इत्यादिसे।

'तत्' और 'त्वम्' पदार्थके शोधनमें तत्पर बुद्धिसे 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो-मूलमन्विच्छ' इस श्रुतिमें प्रदर्शित युक्ति द्वारा कारणसे अतिरिक्त कार्याङ्कुरके अपलापसे देह आदिके आरम्भक और बाह्य प्रपञ्चके आरम्भक पाँच महाभूतोंको उद्दालक मुनिके समान छिन्न-भिन्न और मूलाविद्याके तहस-नहस होनेसे शिथिल कर उनके अधिष्ठानभूत सन्मात्रके अन्वेषणमें धीरोंसे भी धीर बुद्धिसे मनमें विचार कीजिये ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, उद्दालक मुनिने किस क्रमसे उन पञ्च महाभूतोंको छिन्न-भिन्न कर अपने अन्तःकरणमें विचार किया ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम यथा पूर्वं भूतवृन्दविचारणात् ।
उद्दालकेन संप्राप्ता परमा दृष्टिरक्षता ॥ ७ ॥
जगज्जीर्णगृहस्याऽस्य कोणे कस्मिंश्चिदातते ।
भूमेरनिलदिग्नाम्नि भूभृद्भाण्डसमाकुले ॥ ८ ॥
गन्धमादनशैलेन्द्रनाम्नि काचित् किल स्थली ।
विद्यते कीर्णकुसुमा द्रुमकर्पूरकेसरा ॥ ९ ॥
विचित्रवर्णविहगा नानावल्लीविलासिनी ।
वनेचरव्याप्ततटी पुष्पकेसरभासिनी ॥ १० ॥
क्वचित् स्फीतमहारत्ना क्वचिल्लोलाम्बुजोत्पला ।
क्वचिन्नीहारकबरी सरसीदर्पणा क्वचित् ॥ ११ ॥
तत्र कस्मिंश्चिदुदिते सानौ सरलपादपे ।
आगुल्फाकीर्णकुसुमे स्निग्धच्छायमहाद्रुमे ॥ १२ ॥
उद्दालको नाम मुनिर्मौनी मानी महामतिः ।
अप्राप्तयौवनः पूर्वमुवासोद्दामतापसः ॥ १३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार प्राचीन कालमें उद्दालक मुनिने पञ्च महाभूतोंके विचारसे अकुण्ठित परम दृष्टि प्राप्त की। उस प्रकारको आप सुनिये ॥७॥

इस जगत्‌रूपी जीर्ण-शीर्ण घरके किसी विस्तृत कोनेमें, जो पर्वतरूपी उल्टे करके रक्खे हुए बर्तनोंसे भरा है और जिसका नाम है भूमिकी आग्नेयी दिशा, गन्धमादन नामके शैलराजपर एक अद्भुत भूमिभाग है। उसके ऊपर खूब फूल बिखरे रहते हैं, फूले हुए पेड़ ही कपूरके तुल्य सफेद पराग और केसरोंसे चारों ओरसे व्याप्त होनेके कारण उसके कर्पूर-केसर हैं; उसपर भाँति-भाँतिके पक्षी रहते हैं, नाना प्रकारकी लताएँ सुशोभित रहती हैं, उसके तट बनेचरोंके झुण्डोंसे भरे रहते हैं, फूलोंके केसरोंसे उसकी शोभा कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है, उसके किसी प्रदेश-पर विशाल महारत्न हैं तो कहींपर चञ्चल कमल खिले हैं, कहींपर सरोवररूपी दर्पण उसकी शोभा बढ़ाये रहते हैं, तो कहींपर कुहरारूपी केशोंसे वह व्याप्त रहता है ॥८—११॥

उस गन्धमादन पर्वतके भूमिभागपर किसी एक उठे हुए शिखरपर, जिसमें सीधे वृक्ष हैं, टखनोंतक फूल बिखरे रहते हैं और घनी ठण्डी छायावाले महावृक्ष हैं, पहले उद्दालक नामके एक मौनी मुनि रहते थे। वे यत्नसे मैं अवश्य पुरुषार्थका

प्रथमं तु बभूवाऽसावल्पप्रज्ञोऽविचारवान् ।
अप्राप्तपदविश्रान्तिरप्रबुद्धः शुभाशयः ॥ १४ ॥
ततः क्रमेण तपसा शास्त्रार्थनियमैः क्रमैः ।
विवेक आजगामैनं नवर्तुरिव भूतलम् ॥ १५ ॥
अथेमं चिन्तयामास संसारामयभीरुधीः ।
एकान्त एव निवसन् कदाचित् कान्तमानसः ॥ १६ ॥
किं तत् प्राप्यं प्रधानं स्याद् यद्विश्रान्तौ न शोच्यते ।
यत् प्राप्य जन्मना भूयः सम्बन्धो नोपजायते ॥ १७ ॥
कदाऽहं त्यक्तमनने पदे परमपावने ।
चिरं विश्रान्तिमेष्यामि मेरुशृङ्ग इवाऽम्बुदः ॥ १८ ॥

साधन करूँगा ऐसा अभिमान रखते थे और शास्त्र, अनुमान आदि प्रमाणमें कुशल थे। उनका मन महा उदार था और वे बड़े तपस्वी थे। अभी उन्हें युवावस्था प्राप्त नहीं हुई थी ॥ १२, १३ ॥

पहले तो वे अल्प प्रज्ञावाले, अविचारवान्, परमपदमें विश्रान्तिको अप्राप्त, अप्रबुद्ध तथा प्रबोधके अनुकूल पुण्यपूर्ण अन्तःकरणवाले थे ॥ १४ ॥

तदनन्तर क्रमशः तपस्यासे शास्त्रार्थके नियमोंसे अभ्यासपरिपाकके क्रमोंसे उन्हें ऐसे ही विवेक प्राप्त हुआ जैसे कि भूतलको वसन्त ऋतु प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

तदनन्तर एकान्तमें ही निवास कर रहे, संसाररूपी रोगसे भयभीत बुद्धि-वाले, पवित्र मनवाले उन्होंने किसी समय निम्ननिर्दिष्ट रीतिसे विचार किया ॥ १६ ॥

प्राप्त करने योग्य पुरुषार्थोंमें से प्रधान मोक्षरूप पुरुषार्थ क्या है ? जिसमें विश्रान्ति होनेपर फिर शोक नहीं होता तथा जिसे प्राप्त करके फिर जन्मसे सम्बन्ध नहीं होता ॥ १७ ॥

जैसे मेरुपर्वतके शिखरपर मेघ चिरकालतक विश्रामको प्राप्त होता है वैसे ही मैं परम पावन पदमें, जिसमें मनके व्यापारोंका त्याग हो चुका, चिरकाल-तक कब विश्रान्तिको प्राप्त होऊँगा ? ॥ १८ ॥

कदा शममुपैष्यन्ति ममाऽन्तर्भोगसंविदः ।
आलोलकल्लोलरवा ऊर्मयोऽम्बुनिधाविव ॥ १९ ॥
इदं कृत्वेदमप्यन्यत् कर्तव्यमिति कल्पनाम् ।
कदाऽन्तर्विहसिष्यामि पदविश्रान्तया धिया ॥ २० ॥
कदा विकल्पजालं मे न लगिष्यति चेतसि ।
स्थितमप्युज्झितासङ्गं पयः पद्मदले यथा ॥ २१ ॥
कदा बहुलकल्लोलां नावा परमया धिया ।
परितीर्णो भविष्यामि मत्तां तृष्णातरङ्गिणीम् ॥ २२ ॥
कदेमां जागतैर्भूतैः क्रियमाणामसन्मयीम् ।
क्रियामपहसिष्यामि बाललीलामिवाऽऽकुलाम् ॥ २३ ॥
कदा विकल्पपर्यस्तं मनो दोलावदोलनम् ।
शममेष्यति मे शान्तवातौजस इव भ्रमः ॥ २४ ॥

जैसे चञ्चल (अशान्त) कल्लोलोंकी ध्वनिके समान ध्वनिवाली तरङ्गें समुद्रमें शान्त हो जाती हैं वैसे ही मेरे अन्दर भोगतृष्णाएँ, जिनकी ध्वनि अशान्त कल्लोलोंकी ध्वनिके समान गंभीर है, कब शान्त होंगी ॥ १९ ॥

मुझे यह कार्य करके यह भी दूसरा कार्य कर्तव्य है, इस कल्पनाका मैं परमपदमें विश्रान्त बुद्धिसे अपने अन्दर कब उपहास करूँगा ? ॥ २० ॥

जैसे कमलके पत्तेमें स्थित भी जल स्पर्श न होनेके कारण कमलके पत्तेमें नहीं लगता वैसे ही केवल आभाससे मेरे चित्तमें स्थित होते हुए भी उपेक्षा करनेके कारण सम्बन्धरहित विविध विकल्प मेरे चित्तमें कब न लगेंगे ? ॥ २१ ॥

मैं बहुत-सी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे भरी हुई तथा अविवेकसे खूब बढ़ी हुई तृष्णारूपी नदीको विवेकबुद्धिरूपी नौकासे कब पार कर जाऊँगा ? ॥ २२ ॥

मैं जगत्‌के प्राणियोंसे की जा रही असन्मयी तथा चित्तको व्यग्र करनेवाली इस बाह्य प्रवृत्तिका बालकोंकी क्रीड़ाके तुल्य कब उपहास करूँगा ? ॥ २३ ॥

जैसे जिसका उन्मादरूपी वातरोग निवृत्त हो चुका ऐसे पुरुषकी विक्षिप्तता शान्त हो जाती है वैसे ही विकल्पोंसे विक्षिप्त, झूलेके समान अशान्त मेरा मन कब शान्तिको प्राप्त होगा ? ॥ २४ ॥

कदोदितवपुर्भासा विहसञ्जागतीर्गतीः ।
अन्तः संतोषमेष्यामि विराडात्मेव पूर्णधीः ॥ २५ ॥
अन्तः समसमाकारः सौम्यः सर्वार्थनिस्पृहः ।
कदोपशममेष्यामि मन्थमुक्तामृताब्धिवत् ॥ २६ ॥
कदेमामचलां दृश्यश्रियमाशाशतात्मिकाम् ।
सर्वां सुषुप्तवत् पश्यन् भविष्याम्यन्तराततः ॥ २७ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं सर्वं शान्तकल्पनया धिया ।
पश्यंश्चिन्मात्रमखिलं भावयिष्याम्यहं कदा ॥ २८ ॥
कदोपशान्तचित्तात्मा चित्तामुपगतः पराम् ।
परमालोकमेष्यामि जात्यन्धविगमादिव ॥ २९ ॥
कदाऽभ्यासोपलभ्येन चित्प्रकाशेन चारुणा ।
दूरादालोकयिष्यामि तन्वीं कालकलामिमाम् ॥ ३० ॥

आविर्भूत हुए स्वरूपके प्रकाशके छिटकनेसे जगत्‌की विविध गतियोंका उपहास कर रहा मैं ब्रह्माण्डशरीरवाले (सर्वव्यापक) आत्माके समान परिपूर्णबुद्धि हो कब अन्तःकरणमें सन्तोषको प्राप्त होऊँगा ॥ २५ ॥

जैसे मथनसे उत्पन्न विक्षेपसे मुक्त हुआ क्षीरसागर समाधिस्थ भगवान् श्रीविष्णुसे सुशोभित आकारवाला, प्रशान्त और मथनसे निकली हुई अमृत, कौस्तुभ आदि वस्तुओंमें निस्पृह हो शान्तिको प्राप्त होता है वैसे ही परमात्मासे एकरस आकारवाला सौम्य, धर्म, अर्थ तथा कामरूप त्रिवर्गमें स्पृहारहित हो मैं कब अन्तःकरणमें शान्तिको प्राप्त होऊँगा ? ॥ २६ ॥

सैकड़ों आशापाशरूपी इस अचल-अटल सारी दृश्यशोभाको सन्मात्ररूपसे देख रहा मैं कब अपने अन्दर अपरिच्छिन्नताको प्राप्त होऊँगा ॥ २७ ॥

जिसकी कल्पनाएँ शान्त हो गईं ऐसी बुद्धिसे बाहरी और भीतरी सारे प्रपञ्चको चिन्मात्र देख रहा मैं कब उसकी भावनासे स्थिर होऊँगा ? ॥ २८ ॥

शान्त हो गया है चित्त जिसका ऐसे स्वरूपवाला अतएव उत्तम चिदेक-रसताको प्राप्त हुआ मैं जन्मान्धताके सदृश अनादि मूलाज्ञानके हटनेसे कब परम आलोकको प्राप्त होऊँगा ॥ २९ ॥

अभ्याससे प्राप्त होनेयोग्य सुन्दर चैतन्यरूपी प्रकाशसे बाधितानुवृत्तिरूप

ईहितानीहितैर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः ।
कदाऽन्तस्तोषमेष्यामि स्वप्रकाशपदे स्थितः ॥ ३१ ॥
कदाशाकौशिकीकीर्णा जाड्यजीर्णहृदम्बुजा ।
क्षयमेष्यति कृष्णेयं कदा मे दोषयामिनी ॥ ३२ ॥
कदोपशान्तमननो धरणीधरकन्दरे ।
समेष्यामि शिलासाम्यं निर्विकल्पसमाधिना ॥ ३३ ॥
कदा मे मानमातङ्गः स्वाभिमानमहामदः ।
सत्त्वावबोधहरिणा हतो नाशमुपैष्यति ॥ ३४ ॥
निरंशध्यानविश्रान्तेर्मूकस्य मम मूर्धनि ।
कदा तार्णं करिष्यन्ति कुलायं वनघूर्णिकाः ॥ ३५ ॥
कदा निःशङ्कमुरसि ध्यानधीरधियः खगाः ।
मम विश्रान्तिमेष्यन्ति शैलस्थाण्वचलस्थितेः ॥ ३६ ॥

होनेके कारण तुच्छ (थोड़ी बची हुई) आयुशेषरूप कालकलाको आत्मासे सम्बन्ध न होनेके कारण दूरसे ही कब देखूँगा ॥ ३० ॥

इष्ट और अनिष्टोंसे निर्मुक्त हेय और उपादेयसे रहित एवं स्वयंज्योति परम पदमें स्थित हुआ मैं कब अन्तःकरणमें सन्तोषको प्राप्त होऊँगा ॥ ३१ ॥

दुराशारूपी उल्लुओंसे भरी हुई, जिसने मूर्खतासे (दूसरे पक्षमें बर्फसे) हृदयरूपी कमलको जीर्ण-शीर्ण कर दिया है तथा काली मेरी यह अविद्यान्धकाररूपी रात्रि कब नाशको प्राप्त होगी ? ॥ ३२ ॥

पर्वतकी गुफामें निर्विकल्प समाधिसे शान्तमनोव्यापारवाला (चिदेकरसतासे मनोवृत्तिरहित हुआ) मैं कब शिलाकी समताको प्राप्त होऊँगा ॥ ३३ ॥

मेरा अहङ्काररूपी हाथी, जिसकी स्वांशभूत अभिमानवृत्तियाँ ही बड़े मद-प्रवाह हैं, परमार्थ सन्मात्रके ज्ञानरूप सिंहके द्वारा निहत होकर कब नाशको प्राप्त होगा ? ॥ ३४ ॥

निर्विकल्प ध्यानमें मग्न हुए मौनव्रतधारी मेरे मस्तकपर वनघूर्णिकाएँ (एक प्रकारकी चिड़ियाँ) कब तिनकोंका घोंसला बनावेंगी ॥ ३५ ॥

ध्यानमें स्थिर बुद्धिवाले अतएव पर्वतके ठूँठके समान निश्चल स्थितिवाले मेरे

तृष्णाकरञ्जजटिलां जन्मजर्जरगुल्मिकाम् ।
संसारारण्यसरसीं त्यक्त्वा यास्याम्यहं कदा ॥ ३७ ॥

इति चिन्तापरवशो वन उद्दालको द्विजः ।
पुनःपुनस्तूपविशन्ध्यानाभ्यासं चकार ह ॥ ३८ ॥

विषयैर्नीयमाने तु चित्ते मर्कटचञ्चले ।
न स लेभे समाधानप्रतिष्ठां प्रीतिदायिनीम् ॥ ३९ ॥

कदाचिद् बाह्यसंस्पर्शपरित्यागादनन्तरम् ।
तस्याऽगच्छच्चित्तकपिः प्रोद्वेगं सत्त्वसंस्थितौ ॥ ४० ॥

कदाचिदान्तरस्पर्शान् परित्यज्य मनःकपिः ।
लोलत्वात्तस्य संयातो विषयं विषदग्धवत् ॥ ४१ ॥

वक्षःस्थलपर लम्बमान जटाओंके अग्रभागमें बनाये गये घोंसलेमें चिड़ियाँ कब निःशङ्क होकर विश्राम लेंगी ॥ ३६ ॥

तृष्णारूपी कञ्जेके वृक्षोंसे चारों ओर व्याप्त, काम आदिरूपी मृगोंसे जर्जर जन्मरूपी झाड़ियोंसे भरे हुए संसाररूपी जङ्गली तालाबका त्याग कर मैं कब जाऊँगा ॥ ३७ ॥

इस प्रकारकी चिन्ताओंसे परवश हुए उद्दालक नामके ब्राह्मणने बार बार ध्यानमें बैठते हुए वनमें ध्यानाभ्यास किया ॥ ३८ ॥

किन्तु विषयोंसे हरे जा रहे अतएव बन्दरके समान चञ्चल चित्तमें प्रसन्नता-प्रदान करनेवाली समाधिस्थिरता उन्हें नहीं मिली ॥ ३९ ॥

किसी एक समय बाह्य विषयोंके सन्बन्धके त्यागके अनन्तर उनका चित्तरूपी बानर सात्त्विक देवता आदिसे भोग्य विषयमें या सात्त्विक वृत्तिके सुखास्वादमें मनोरथों द्वारा चञ्चलताको प्राप्त हुआ ॥ ४० ॥

किसी समय उनका मनरूपी वानर चञ्चलतावश अन्दर होनेवाले समाधि-सुख-सम्बन्धका त्यागकर जैसे विषसे मरा हुआ पुरुष जठराग्निसम्बन्धी देहकी उष्णताका त्यागकर अन्य लोकमें जाता है वैसे ही विषयोंको प्राप्त हुआ ॥ ४१ ॥

कदाचिदुदितार्काभं तेजो दृष्ट्वाऽन्तरे मनः ।
विषयोन्मुखतां यातं तस्य तामरसेक्षण ॥ ४२ ॥
आन्तरान्ध्यतमस्त्यागं कृत्वा विषयलम्पटम् ।
तस्योड्डीय मनो याति कदाचित् त्रस्तपक्षिवत् ॥ ४३ ॥
बाह्यानाभ्यन्तरान् स्पर्शांस्त्यक्त्वा निद्रां च तन्मनः ।
तमस्तेजोऽन्तिके लेभे कदाचिच्छाश्वतीं स्थितिम् ॥ ४४ ॥
इति पर्याकुलस्याऽन्तः स खलु ध्यानवृत्तिषु ।
दरीष्वन्वहमुग्रासु वातमग्न इव द्रुमः ॥ ४५ ॥

हे कमलनयन, कभी उनका मन हृदयाकाशमें उदित हुए सूर्यके सदृश तेजको* देखकर विषयोंमें उन्मुख हो गया ॥ ४२ ॥

कभी उनका मन हृदयवर्ती गाढ़ अज्ञानरूपी अन्धकारका थोड़ी-बहुत ब्रह्मकी अभिव्यक्तिसे त्याग कर (कुछ शमन कर) उसी समय विषयवासनाके जागनेसे विषयलम्पट होकर भयभीत पक्षीके समान उड़कर चला जाता था ॥ ४३ ॥

कभी उनका मन बाह्य स्पर्शोंका (विषयोंके सम्बन्धोंका) और आभ्यन्तर स्पर्शोंका (समाधिसुख-सम्बन्धोंका) त्यागकर तम (अज्ञान) और तेज (आत्म-ज्योतिके अन्तरालमें (सन्धिमें) लीन होकर निद्रारूपी शाश्वती (चिरकालतक चलनेवाली) स्थितिको प्राप्त होता था ॥ ४४ ॥

जैसे वायु द्वारा निकटवर्ती जलमें डुबाया गया और तीरकी लहरोंसे हिलाया जा रहा वृक्ष बड़े संकटमें स्थित रहता है वैसे ही बड़ी-बड़ी गुफाओंमें ध्यानमग्न-मनवाले उद्दालक पूर्वोक्त रीतिसे ध्यानवृत्तियोंमें व्याकुल मनके मध्यमें तुच्छ

* इस विषयमें श्रुति है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

—यानी योगीकी पहले तुषारके समान चित्तवृत्ति होती है, उसके बाद धुँएके समान चित्तवृत्ति होती है, तदनन्तर सूर्यके समान चित्तवृत्ति होती है, तदुपरान्त अग्निके समान चित्तवृत्ति होती है, तदुपरान्त भीतरका वायु बाह्य वायुके समान क्षुभित होता है, तत्पश्चात् जुगनूके समान चित्तवृत्ति होती है, तदुपरान्त विजलीके तुल्य, तदुपरान्त स्फटिकके समान, तदनन्तर पूर्ण चन्द्रके सदृश चित्तवृत्ति होती है । इस तरह तुषार धुँआ, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू, बिजली, स्फटिक और पूर्णचन्द्रमाके रूपके सदृश ये बुद्धिके रूप योगियोंके अनुभवसिद्ध हैं । योग करनेपर ब्रह्मकी अभिव्यक्तिके द्योतक ये पूर्वरूप (चिह्न) आविर्भूत होते हैं ।

अतिष्ठद् ध्यानसंरूढमननः सङ्कटे यथा ।
दोलायितवपुस्तुच्छतृष्णातीरतरङ्गकैः ॥ ४६ ॥
अथ पर्याकुलमना विजहार मुनिर्गिरौ ।
प्रत्यहं दिवसाधीशो महामेराविवैकक: ॥ ४७ ॥
समस्तभूतदुष्प्रापामेकदा प्राप कन्दराम् ।
संशान्तसर्वसंचारां मुनिर्मोक्षदशामिव ॥ ४८ ॥
अपर्याकुलितां वातैरप्राप्तमृगपक्षिणीम् ।
अदृष्टां देवगन्धर्वैः परमाकाशशोभनाम् ॥ ४९ ॥
पुष्पप्रकरसंछन्नां मृदुशाद्वलकोमलाम् ।
ज्योतीरसाश्मसंप्रोतैः कृतां मरकतैरिव ॥ ५० ॥
सुस्निग्धशीतलच्छायां प्रकटां रत्नदीपकैः ।
सुगुप्तां वनदेवीनामन्तःपुरकुटीमिव ॥ ५१ ॥

तृष्णारूपी तीरतरङ्गोंसे दोलायित शरीरवाले होकर बड़े संकटमें स्थित रहे ॥ ४५, ४६ ॥

तदनन्तर व्याकुल मनवाले मुनि जैसे सूर्य प्रतिदिन महामेरुमें अकेले ही भ्रमण करते हैं वैसे ही पर्वतपर भ्रमण करते थे ॥ ४७ ॥

एक समय वे सब प्राणियोंसे दुष्प्राप्य अतएव सबके संचारसे रहित कन्दरामें ऐसे ही पहुँचे जैसे मुनि सबके संचारसे रहित मोक्षदशाको प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

उस कन्दरामें वायु द्वारा विक्षेप-व्याकुलता न थी, कोई मृग-पक्षी वहां कभी नहीं पहुँचे थे, देवता और गन्धर्वोंतकको उसका-दर्शन कभी नहीं मिला था और वह परमाकाशके (ब्रह्मके) समान शोभायमान थी ॥ ४९ ॥

पुष्पोंकी राशियोंसे वह कन्दरा चारों ओर आच्छन्न थी, नरम हरी घाससे ढकी होनेसे बड़ी भली लगती थी, अतएव मालूम होता था कि मानो ज्योतीरूप रसके (चन्द्रमाके) पत्थरोंके साथ यानी चन्द्रकान्तमणियोंके साथ जोड़ी हुई मरकत मणियोंसे बनाई गई है ॥ ५० ॥

उसके दरवाजेपर बड़ी मीठी और ठण्ढी छाया थी, रत्नरूपी दीपकों-

कुलम्बनाहिमालोकां नाऽत्युष्णां नाऽतिशीतलाम् ।
शारदस्योदितार्कस्य हेमगौरीं प्रभामिव ॥ ५२ ॥
बालालोकपरिम्लानां कोमलाशब्दमारुताम् ।
मञ्जरीजटिलोपेतां बालां मालावतीमिव ॥ ५३ ॥
उपशमपदवीमिवाऽनुरूपां कमलजविश्रमणाय योग्यरूपाम् ।
कुसुमनिकरकोमलाभिरामां सरसिजकोटरकोमलां समन्तात् ॥५४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशम-प्रकरणे उद्दालकमनोरथो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

से वह जगमगाती थी और वनदेवियोंके अन्तःपुरकी कुटीके समान बड़ी गुप्त थी ॥ ५१ ॥

उसके दरवाजेपर केवल शीतनिवारण करनेवाले आलोक फैलते थे, शरद् ऋतुके प्रातःकालीन सूर्यकी प्रभाके समान न वह अति उष्ण थी और न अति शीतल थी। सुवर्णके समान पीला उसका रङ्ग था ॥ ५२ ॥

वह गुफा बाल आतपसे सूखी हुई थी (इससे यह व्यक्त होता है कि उसका मुँह पूर्वकी ओर था), उसमें बिना शब्दका मन्द-मन्द पवन बहता था (इससे यह व्यक्त होता है कि पश्चिमकी ओर उसमें खिड़कियां थीं) और मञ्जरियोंसे लदे हुए वृक्षोंसे वह युक्त थी (इससे उसमें सुगन्धि व्यक्त होती है)। वह स्वयंवरके लिए तत्पर अतः हाथमें वरमाला ली हुई राजकन्याके समान थी ॥ ५३ ॥

वह गुफा कमलके मध्यभागके समान कोमल थी, अतएव ब्रह्माके विश्रामके योग्य थी, चारों ओर फूलोंकी राशियोंसे कोमल और बड़ी मनोहर थी तथा उपशम पदवीके समान सदा ही आश्रयणके अनुरूप थी ॥ ५४ ॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

द्विपञ्चाशत्तमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

स तां विवेश धर्मात्मा गन्धमादनकन्दराम् ।
चित्रभ्रमणसम्प्राप्तामलिः पद्मकुटीमिव* ॥ १ ॥
समाधानोन्मुखतया प्रविशन् स व्यराजत ।
सर्गव्यापारविरतावात्मपुर्यामिवाऽब्जजः ॥ २ ॥
चकाराऽऽसनमम्लानैः पत्रैरन्तस्त्वगुच्छकम् ।
मृदु मेघविधिर्वृन्दमम्भोदमिव तत्र सः ॥ ३ ॥

बावनवाँ सर्ग

[गुहामें आसनस्थित, समाधिमें प्रवेश करनेकी इच्छावाले मुनि द्वारा चिन्तित चित्तप्रबोधनके उपायोंका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे भ्रमर बहुत प्रकारके भ्रमणसे मिले हुए कमलगर्भमें प्रवेश करता है वैसे ही वे धर्मात्मा मुनि बहुत प्रकारके अन्वेषणसे मिली हुई पद्मगर्भके समान मनोहर उस गन्धमादनगुफामें प्रविष्ट हुए ॥ १ ॥

जैसे सृष्टि-रचनासे वैराग्य होनेपर सत्यलोकमें स्थित अपराजिता नामकी अथवा भगवन्नाभिकमलरूप अपनी नगरीमें प्रवेश कर रहे ब्रह्माजी विराजमान होते हैं वैसे ही समाधिप्रवणतासे उस गुफामें प्रवेश कर रहे वे विराजित हुए ॥ २ ॥

वहांपर उन्होंने जैसे इन्द्र मेघको, जिसके मध्यमें बिजलियाँ स्वगुच्छके समान फैली रहती हैं, राशिभूत करते हैं वैसे ही ताजे (न मुरझाये हुए) पत्तोंसे कोमल आसन, जिसमें उनका शरीर ही गुच्छके समान शोभित हो रहा था, बनाया ॥ ३ ॥

---

* 'पद्मकुटीमिव' इससे वहाँपर प्रविष्ट हुए उनको निरतिशय आनन्दरस-पानसे विश्रान्ति मिलेगी, यह अभिव्यक्त होता है ।

स तत् प्रस्तारयामास पृष्ठे चारु मृगाजिनम् ।
नीलरत्नतटे मेरुस्तारासारमिवाऽम्बरम् ॥ ४ ॥
स तत्रोपाविशद् वृत्तीश्चेतसस्तनुतां नयन् ।
अन्तःशुद्धवपुः शृङ्गे वृष्य मूक इवाऽम्बुदः ॥ ५ ॥
बुद्धवत् सुदृढं बद्धपद्मासन उदङ्मुखः ।
पार्ष्णिभ्यां वृषणौ धृत्वा चकार ब्राह्ममञ्जलिम् ॥ ६ ॥
वासनाभ्यः समाहृत्य मनोमृगमुपप्लुतम् ।
निर्विकल्पसमाध्यर्थं चकारेमां विचारणाम् ॥ ७ ॥
अयि मूर्ख मनः कोऽर्थस्तव संसारवृत्तिभिः ।
धीमन्तो न निषेवन्ते पर्यन्ते दुःखदां क्रियाम् ॥ ८ ॥
अनुधावति यो भोगांस्त्यक्त्वा शमरसायनम् ।
संत्यज्य मन्दारवनं स याति विषजङ्गलम् ॥ ९ ॥

जैसे सुमेरु नीलरत्नमय अपने तटपर आकाशको, जिसमें तारे ही बहुमूल्य रत्न हैं, बिछाता है वैसे ही उन्होंने उस आसनके ऊपर सुन्दर मृगचर्म बिछाया ॥ ४ ॥

जैसे मेघ वृष्टिसे अपने जाड्यका (जलताका) त्याग कर सफेद और गर्जन रहित होकर पर्वतके शिखरपर बैठता है वैसे ही शुद्धान्तःकरणवाले वे चित्तकी वृत्तियोंको जड़ विषयके त्यागसे लघु बनाते हुए उसपर बैठे ॥ ५ ॥

प्रबुद्ध (ज्ञानी) कपिल आदिके समान दृढ सिद्धासन † बाँधकर एड़ीसे वृषणोंको (अण्डकोशोंको) दबाकर उत्तरकी ओर मुँह किये हुए उन्होंने ब्रह्मा आदि गुरु-परम्पराके लिए प्रणामाञ्जलि की ॥ ६ ॥

समीपमें (विषयोंमें) दौड़े हुए मनरूपी मृगको वासनाओंसे हटाकर उन्होंने निर्विकल्प समाधिके लिए यह विचार किया ॥ ७ ॥

अरे मूर्ख मन, तुम्हारा संसारवृत्तियोंसे क्या मतलब है ? बुद्धिमान् लोग अवसानमें दुःख देनेवाले कर्मका सेवन (आचरण) नहीं करते हैं ॥ ८ ॥

जो शान्तिरूपी रसायनका त्यागकर विषयभोगोंकी ओर दौड़ता है, वह मन्दारवनका त्यागकर विषवृक्षोंसे भरे हुए जंगलमें जाता है ॥ ९ ॥

---

† श्लोकमें पद्मासनका ग्रहण सिद्धासनका उपलक्षण है, क्योंकि एड़ियोंसे वृषणोंको दबाना उसीमें घट सकता है ।

यदि यासि महीरन्ध्रं ब्रह्मलोकमथाऽपि वा ।
तन्न निर्वाणमायासि विनोपशमनामृतम् ॥ १० ॥
आशाशतावपूर्णत्वे त्वमेवं सर्वदुःखदम् ।
त्यज्य याहि परं श्रेयः परमेकान्तसुन्दरम् ॥ ११ ॥
इमा विचित्राः कलना भावाभावमयात्मिकाः ।
दुःखायैव तवोग्राय न सुखाय कदाचन ॥ १२ ॥
शब्दादिकाभिरेताभिः किं मूर्ख हतवृत्तिभिः ।
भ्रमस्यविरतं व्यर्थं मेघे मण्डूकिका यथा ॥ १३ ॥
मनोमण्डूकिके व्यर्थमियन्तं कालमन्धया ।
भ्रमन्त्या भुवनं क्षिप्रं किं समासादितं त्वया ॥ १४ ॥
यस्मात् किञ्चिदवाप्नोषि यस्मिन् वहसि निर्वृतिम् ।
तस्मिंश्चेतः शमे मूर्ख नाऽनुबध्नासि किं पदम् ॥ १५ ॥

चाहे तुम पातालमें जाओ चाहे ब्रह्मलोकमें भी चले जाओ, किन्तु शमरूपी अमृतके बिना उस निरतिशय सुखमें विश्रान्तिको प्राप्त नहीं हो सकते ॥ १० ॥

हे मन, तुम सैकड़ों भोगाशाओंसे पूर्ण होनेपर पूर्वोक्त रीतिसे सब दुःख देते हो । अब तुम भोगाशाओंका त्यागकर दुःखस्पर्शरहित निरतिशय आनन्दरूप होनेके कारण अत्यन्त सुन्दर परम कल्याणको (निर्वाणको) प्राप्त होओ ॥ ११ ॥

भाव (इष्ट वस्तुका सम्पादन) और अभाव–(अनिष्टका निवारण)–मय ये विचित्र विषय तुम्हारे उत्कट दुःखके लिए ही हैं, ये सुखके लिए कभी नहीं हो सकते हैं ॥ १२ ॥

हे मूर्ख चित्त, मेढकी जैसे मेघमें शब्दादिक व्यर्थ वृत्तियोंसे भ्रमण करती है वैसे ही तुम शब्द आदि इन गर्हित वृत्तियोंसे क्यों निरन्तर भ्रमण करते हो ? ॥ १३ ॥

हे मनरूपी मेढकी, जरा बतला तो सही, इतने समयतक व्यर्थ भुवनमें (मेढकीके पक्षमें जलमें) त्वरासे भटक रही अन्धी तूने क्या फल पाया ? ॥ १४ ॥

हे चित्त, जिससे मन और वाणीका अगोचर विदेहकैवल्यसुख तुम्हें मिले,

आगत्य श्रोत्रतां मूर्ख व्यर्थोत्थानोपबृंहिताम् ।
धिया शब्दानुसारिण्या मृगवन्मा क्षयं व्रज ॥ १६ ॥
त्वक्तामागत्य दुःखाय स्पर्शोन्मुखतया धिया ।
मूर्ख मा बद्धतामेहि गजीलुब्धगजेन्द्रवत् ॥ १७ ॥
रसनाभावमागत्य गर्धेनाऽन्ध दुरन्धसाम् ।
मा नाशमेहि बडिशपिण्डीलम्पटमत्स्यवत् ॥ १८ ॥
चाक्षुषीं वृत्तिमाश्रित्य प्रभारूपचयोन्मुखी ।
मा गच्छ दग्धतां मुग्ध कान्तिलुब्धपतङ्गवत् ॥ १९ ॥

जिसमें तुम्हें जीवन्मुक्तिविश्रान्तिसुख मिले, उस सकलवृत्त्युपशमरूप समाधिमें उद्योग क्यों नहीं करते हो ? ॥ १५ ॥

'शब्द आदि विषय दुःखके लिए ही हैं' ऐसा जो पूर्वमें कहा है, उनमें से प्रत्येकका दृष्टान्तोंके उदाहरणों द्वारा विस्तार करते हैं—'आगत्य' इत्यादिसे ।

हे मूर्ख, व्यर्थ बहिर्मुखतारूप उत्थानसे बढ़ी हुई श्रोत्रेन्द्रिय तादात्म्यापत्तिरूप श्रोत्रताको प्राप्त कर ('प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रम्' इत्यादिसे श्रवण आदिके समय आत्माके श्रोत्रादिभावका श्रवण है) व्याधके गीत और घंटाकी ध्वनिसे मोहित मृगके समान शब्दानुसारिणी वृत्तिसे नाशको प्राप्त मत होओ ॥ १६ ॥

हे मूर्ख मन, उस स्पर्शोन्मुखतासे (स्पर्शार्ह सुखानुभवकी इच्छासे) केवल दुःखके लिए त्वगिन्द्रियताको प्राप्त होकर तू हथिनीपर लोलुप हाथी-के समान बन्धनको मत प्राप्त हो । पीलवान लोग सिखाई हुई हथिनीसे वनगजको लुभाकर गर्तकी ओर लाकर गर्तमें गिराने आदिसे बांधते हैं, यह प्रसिद्ध है ॥ १७ ॥

अरे अन्धे मन, दुष्ट अन्नोंके अभिलाषसे रसनेन्द्रियताको प्राप्त होकर बंसीमें बँधे हुए मांसके टुकड़ेपर (चारेपर) लोलुप मछलीके समान तू नाशको प्राप्त मत हो ॥ १८ ॥

हे मूढ़, तू कान्तिसम्बन्धी नानाप्रकारके रूपोंमें तत्पर चक्षुरिन्द्रियताको प्राप्त होकर प्रकाशमें लोलुप फतींगेके समान दाहको प्राप्त मत हो ॥ १९ ॥

घ्राणमार्गमुपाश्रित्य शरीराम्भोजकोटरे ।
गन्धोन्मुखतया बन्धं मा त्वं संश्रय भृङ्गवत् ॥ २० ॥
कुरङ्गालिपतङ्गेभमीनास्त्वेकैकशो हताः ।
सर्वैर्युक्तैरनर्थैस्तु व्याप्तस्याऽज्ञ कुतः सुखम् ॥ २१ ॥
हे चित्त वासनाजालं बन्धाय भवतोहितम् ।
स्वात्मनः सहजः फेनस्ततः क्षुद्रक्रमिणा यथा ॥ २२ ॥
शरदभ्रवदागत्य शुद्धिं त्यक्तभवामयाम् ।
यदि शाम्यसि निर्मूलं तदनन्तो जयस्तव ॥ २३ ॥
क्षयोदयदशाधात्रीं पर्यन्तपरितापिनीम् ।
जानन्नपि जगत्सृष्टिं न त्यक्ष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ २४ ॥

गन्धके अनुभवकी इच्छासे घ्राणेन्द्रियताका आश्रयण कर हाथी द्वारा मसले गये कमलके अन्दर स्थित भँवरेके समान शरीररूपी कमलके अन्दर बन्धनको प्राप्त मत हो ॥ २० ॥

अरे मूर्ख! मृग, भँवरा, फतींगे, हाथी और मत्स्य एक-एक शब्द आदि विषय-से विनष्ट हुए यानी मृग एकमात्र शब्दसे, भँवर एकमात्र गन्धसे, फतींगे एकमात्र रूपसे, हाथी एकमात्र स्पर्शसे और मछलियां एकमात्र रससे विनष्ट हुईं; संमिलित सब अनर्थोंसे व्याप्त हुए तुम्हें कहांसे सुख हो सकता है? ॥ २१ ॥

हे चित्त, जैसे क्षुद्र रेशमका कीड़ा अपने स्वाभाविक लारके फेनका अपने बन्धनके लिए कोशरूपसे प्रसार करता है वैसे ही तुमने भी वासनाजालकी अपने कुवितर्कसे रचना की है ॥ २२ ॥

तब प्रमादसे प्राप्त हुए इस बन्धनपर कैसे विजय प्राप्त हो सकती है? ऐसा कोई पूछे, तो इसपर कहते हैं—'**शरदभ्र०**' इत्यादिसे ।

पहले कर्म, उपासना आदिसे शरत्कालीन मेघके समान शुद्धिको—जिसमें संसाररूपी दोषका सर्वथा त्याग हो चुका—प्राप्त होकर श्रवण, मनन आदिका परि-पाक होनेके कारण ज्ञानोदयसे यदि वासनाजालका सर्वथा उच्छेद कर शान्त होते हो, तो तुम्हारी असीम विजय है ॥ २३ ॥

सारे वक्तव्यका संकलनकर एक उक्तिसे कहते हैं—'**क्षयोदय०**' इत्यादिसे ।

यदि तुम जगत्-प्रवृत्तिको जन्म तथा मरणकी एवं बाल्य आदि और दारिद्र्य

करोम्यथ किमर्थं वा तवैतदनुशासनम् ।
विचारणवतः पुंसश्चित्तमस्ति हि नाऽनघ ॥ २५ ॥
यावदज्ञानघनता तावत् प्रघनचित्तता ।
यावत् प्रावृड्जलदता तावन्नीहारभूरिता ॥ २६ ॥
यावदज्ञानतनुता तावच्चित्तस्य तानवम् ।
प्रावृट्परिक्षयो यावत्तावन्नीहारसंक्षयः ॥ २७ ॥
यावत्तानवमायातं शुद्धं चित्तं विचारतः ।
तावत्तत् क्षीणमेवाऽहं मन्ये शारदमेघवत् ॥ २८ ॥

आदि अवस्थाओंका पालन करनेवाली (धात्रीरूप), मरनेके बाद भी नरक, स्थावर आदि गतियोंमें सन्ताप देनेवाली जानते हुए भी नहीं छोड़ोगे, तो विनष्ट हो जाओगे ॥ २४ ॥

अथवा अपने वैरी चित्तको उपदेश नहीं देना चाहिए, किन्तु जबरदस्ती उसे बांधकर विचार द्वारा उसका उच्छेद ही कर डालना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**'करोमि'** इत्यादिसे ।

अथवा हे अनघ, मैं तुम्हें यह हित उपदेश क्यों दूँ ? आत्मासे पृथक् चित्त नामकी क्या कोई वस्तु है ? यों विचार कर रहे पुरुषका चित्त ही नहीं है ॥ २५ ॥

अथवा चित्तके उच्छेदके लिए पृथक् प्रयत्न करनेकी भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह मूलाज्ञानके अन्वयव्यतिरेकका अनुसरण करता है यानी मूलाज्ञानके अस्तित्वसे उसका अस्तित्व है और मूलाज्ञानके अभावसे उसका अभाव है । अतएव मूलाज्ञानके उच्छेदसे ही उसका उच्छेद करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं— **'यावत्'** इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

जबतक निविड़ अज्ञान है तबतक घनीभूत चित्त है, जबतक वर्षा ऋतुके मेघ रहेंगे तबतक अवश्य प्रचुर कुहरा रहेगा ही । जितना अज्ञान क्षीण होता जायगा उतना ही चित्त भी कृश होता जायगा । जितना पावसका विनाश होगा उतना ही कुहरा क्षीण होगा । विचारसे शुद्ध हुआ चित्त वासनाक्षयसे जितनी सूक्ष्मताको प्राप्त हुआ शरत्कालके मेघकी तरह मैं उसको उतना क्षीण हुआ भी समझता हूँ ॥ २६–२८ ॥

अनुशासनमेतद् यदसतो नश्यतोऽथवा ।
क्रियते तन्नभोवारिपवनाहननैः समम् ॥ २९ ॥
तस्मात् संक्षीयमाणत्वात् त्यजामि त्वामसन्मयम् ।
मौर्ख्यं परममेवाऽऽहुः परित्याज्याऽनुशासनम् ॥ ३० ॥
निर्विकल्पोऽस्मि चिद्दीपो निरहङ्कारवासनः ।
त्वयाऽहङ्कारबीजेन न सम्बद्धोऽस्म्यसन्मय ॥ ३१ ॥
अयं सोऽहमिति व्यर्थं दुर्दृष्टिरवलम्बिता ।
त्वया मूढविनाशाय शङ्काविषविषूचिका ॥ ३२ ॥

अविवेकीका चित्त उपदेशके अयोग्य ही है, किन्तु विवेकीका भी चित्त चाहे वह नष्ट हो रहा हो चाहे नष्ट हो चुका हो सुतरां उपदेशके अयोग्य है, इस आशयसे कहते हैं—**'अनुशासनम्'** इत्यादिसे ।

असत् अथवा नाशको प्राप्त हो रहे चित्तका जो यह उपदेश किया जाता है, यह आकाशके, जलके और वायुके ताड़नके समान व्यर्थ है ॥ २९ ॥

उक्तका ही अनुवाद द्वारा उपसंहार करते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

चूँकि तुम दिनपर दिन क्षीण हो रहे हो, इसलिए क्षीयमाण होनेके कारण असन्मय तुमको मैं त्यागता हूँ । विद्वान् जन परित्याज्यको उपदेश देना भारी मूर्खता ही कहते हैं ॥ ३० ॥

अपना उससे असम्बन्ध देखना ही उसका त्याग है, इस आशयसे कहते हैं—**'निर्विकल्पः'** इत्यादिसे ।

हे असन्मय चित्त, मैं अहंकार वासनासे रहित निर्विकल्प स्वयंजोति चैतन्य हूँ । अहङ्कारके बीजभूत तुमसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ ३१ ॥

मुझसे कौन अपराध हुआ ? जिससे विनाशके लिए आप मेरा त्याग करते हैं, ऐसा यदि मनकी ओरसे प्रश्न हो, तो देह आदिमें अहङ्काररूपी दुर्दृष्टिका अवलम्बन ही तुम्हारा अपराध है, ऐसा कहते हैं—**'अयम्'** इत्यादिसे ।

तुमने यह, वह, मैं यों व्यर्थ दुर्दृष्टिका अवलम्बन किया है । वह दुर्दृष्टि शङ्काविषसे हुई विषूचिकाके समान मिथ्याहेतुक होती हुई भी मूढ़ोंके विनाशके लिए होती है, यही तुम्हारा अपराध है, यह अर्थ है ॥ ३२ ॥

अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य तन्वीति मनसि स्थितिः ।
न संभवति बिल्वान्तर्वासितादन्तिनोर्यथा ॥ ३३ ॥
महाश्वभ्रीव गम्भीरा दुःखदा वासनाऽऽश्रिता ।
त्वयैषा बत चित्तेति नैनामनुसराम्यहम् ॥ ३४ ॥
कः किलाऽयं मुधा मोहो बालस्येवाऽविचारिणः ।
अयं सोऽहमिति भ्रान्तिस्त्वहन्ता परिकल्पिता ॥ ३५ ॥
पादाङ्गुष्ठाच्छिरो यावत् कणशः प्रविचारितम् ।
न लब्धोऽसावहं नाम कः स्यादहमिति स्थितः ॥ ३६ ॥
भरिताशेषदिक्कुञ्जं यत् स्यामेकं जगत्त्रये ।
संवेदनमसंवेद्यं सर्वत्र विगतात्मकम् ॥ ३७ ॥

जैसे हथिनी और हाथीकी बिल्वके अन्दर स्थिति नहीं हो सकती है वैसे ही अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्वकी इस प्रकारके परिच्छिन्न मनके अन्दर परिच्छिन्न स्थिति (देह आदिमें अहङ्कारभावसे स्थिति) नहीं हो सकती है ॥ ३३ ॥

चित्तकी त्याज्यतामें दूसरा भी हेतु कहते हैं—**'महाश्वभ्रीव'** इत्यादिसे ।

हे चित्त, खेदकी बात है कि तुमने बड़े भारी जीर्ण कुँए आदिके समान अगाध तथा काम, क्रोध, लोभ आदिरूप साँप, बिच्छू, पिशाच आदिके निवासभूत होनेके कारण दुःखदायी इस वासनाको ही अपने निवासस्थानके रूपमें अपनाया है, किन्तु मैं तो इसका अनुसरण नहीं करता हूँ। इसलिए उसके अनुगामी तुम्हारा त्याग करता हूँ, यह भाव है ॥ ३४ ॥

किञ्च, यह (देह) वह (आत्मा) मैं हूँ ऐसी भ्रान्तिकी जो तुमने अहन्तासे कल्पना की है, वह अविचारशील बालकोंके तुल्य व्यर्थ मोह है। मैं तो विचारशील हूँ, मेरा वह मोह कौन ? यानी कुछ भी नहीं है, यह भाव है ॥ ३५ ॥

'अहम्' की नास्तिताको ही विचारकर विशद करते हैं—**'पादाङ्गुष्ठात्'** इत्यादिसे ।

पैरके अँगूठेसे लेकर सिरतक मैंने तिल-तिलपर विचार किया। यह 'अहम्' नामका पदार्थ मुझे नहीं मिला। 'अहम्' रूपसे स्थित कौन होगा ? ॥ ३६ ॥

यदि अहंपदार्थ नहीं ही है, तो तुम कौन हो ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—**'भरिता०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

दृश्यते यस्य नेयत्ता न नामपरिकल्पना।
नैकता नाऽन्यतैवेह न महत्ता न चाऽणुता ॥ ३८ ॥
वेद तत्त्वां स्वसंवेद्यमाततं दुःखकारणम्।
विवेकजेन बोधेन तदिदं हन्यसे मया ॥ ३९ ॥
इदं मांसमिदं रक्तमिमान्यस्थीनि देहके।
इमे ते श्वासमरुतः कोऽसावहमिति स्थितः ॥ ४० ॥
स्पन्दो हि वातशक्तीनामवबोधो महाचितः।
जरा मृतिश्च कायेऽस्मिन् कोऽसावहमिति स्थितः ॥ ४१ ॥

तीनों जगतोंमें जिसने सब दिशारूपी कुञ्जोंको भर रक्खा है यानी जो दिशा-कृत परिच्छेदसे रहित है, एक यानी वस्तुकृत परिच्छेदसे रहित है, ज्ञेय क्रमसे भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीन अवस्थारूप कालसे किये गये परिच्छेदसे शून्य है, अतएव सब प्रकारोंमें वस्त्वन्तरस्वरूपशून्य है इस प्रकारका ज्ञानरूप ही मैं हूँ ॥ ३७ ॥

जिसका परिच्छिन्न रूप नहीं है, जिसकी नामकी कल्पना नहीं है, एकत्व संख्या नहीं है, न जिसकी अन्यता है, न महत्ता है और न अणुता है, वह ज्ञानरूप मैं हूँ ॥ ३८ ॥

हे चित्त, चूँकि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इसलिए साक्षीभूत अपनेसे ज्ञेय दुःख-कारण तुमको, जो चारों ओर फैले हो, देखता हूँ। दुःखके कारण होनेसे ही तुम आगे कहे जानेवाले विवेकका उपार्जन कर विवेकसे उत्पन्न बोध द्वारा मुझसे मारे जाते हो ॥ ३९ ॥

विवेचनका प्रकार दिखलाते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे।

देहमें यह मांस है, यह रक्त है, ये हड्डियां हैं, ये श्वासवायु हैं, यह 'अहम्' रूपसे स्थित कौन है? भाव यह कि इदन्तासे गृहीत हो रहे मांस आदिमें यह अहंशब्दार्थ कोई भी नहीं है, क्योंकि इदन्ता और अहन्ताका परस्पर विरोध है ॥ ४० ॥

स्पन्दनांश साराका सारा प्राणवायुओंका है, ज्ञानांश परमात्माका है, बुढ़ापा और मरण देहके धर्म हैं, यह 'अहम्' रूपसे स्थित पदार्थ कौन है? ॥ ४१ ॥

मांसमन्यदसृक्चाऽन्यदस्थीन्यन्यानि चित्त हे ।
बोधोऽन्यः स्पन्दनं चाऽन्यत् कोऽसावहमिति स्थितः ॥४२॥

इदं घ्राणमियं जिह्वा त्वगियं श्रवणे इमे ।
इदं चक्षुरसौ स्पन्दः कोऽसावहमिति स्थितः ॥ ४३ ॥

यथाभूततया नाऽहं मनो न त्वं न वासना ।
आत्मा शुद्धचिदाभासः केवलोऽयं विजृम्भते ॥ ४४ ॥

अहमेवेह सर्वत्र नाऽहं किंचिदपीह वा ।
इत्येव सन्मयी दृष्टिर्नेतरो विद्यते क्रमः ॥ ४५ ॥

हे चित्त, मांस अहंपदार्थसे पृथक् है, रक्त भी उससे अतिरिक्त है, हड्डियां भी 'अहम्' से भिन्न हैं, बोध (ज्ञानेन्द्रियव्यापार) उससे अन्य है, स्पन्दन भी उससे अतिरिक्त है फिर 'अहम्' रूपसे स्थित पदार्थ कौन है ? भाव यह कि मांस आदि तो आत्मासे भिन्नरूपसे प्रतीत हो रहे हैं, अतः उनमें अहन्ता उपपन्न नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥

यह नासिका है, यह जिह्वा है, यह त्वचा है, ये दो कान हैं, यह चक्षु है, यह स्पन्द है (कर्मकी हेतु कर्मेन्द्रियाँ हैं), फिर यह 'अहम्' रूपसे स्थित पदार्थ कौन है ? भाव यह कि नासिका आदि भी इदन्तासे प्रतीत होनेके कारण अहं-शब्दार्थ नहीं हैं ॥ ४३ ॥

परमार्थरूपसे विचार करनेपर मन 'अहम्' नहीं है, तुम (चित्त) 'अहम्' नहीं हो, वासना भी 'अहम्' नहीं है । शुद्ध चित्प्रकाश यह आत्मा तो अहन्तासे रहित ही विलसित होता है यानी आत्मा तो अहन्तासे सर्वथा अस्पृष्ट है, यह भाव है ॥ ४४ ॥

उक्त आत्मामें यदि अध्यारोपदृष्टि हो, तो मैं ही सर्वत्र अधिष्ठान हूँ, इसलिए सब कुछ मैं ही हूँ अथवा यदि अपवाददृष्टि हो, तो यहां मैं कुछ भी नहीं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है वही वास्तविक है । एकदेहमात्रमें सीमित अहंभावरूप दूसरा अहंकार-क्रम नहीं है । भाव यह कि इस जगत्में सर्वत्र प्रतीयमान मैं ही हूँ अथवा यहांपर प्रतीयमान कुछ भी मैं नहीं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है, वही वास्तविक है । दूसरा परिच्छिन्न विषयमें अहंप्रतीतिरूप क्रम वास्तविक नहीं है ॥ ४५ ॥

चिरमज्ञानधूर्तेन पोथितोऽस्मि त्वहन्तया ।
वृकेण दृप्तेनाऽटव्यां लब्धेन पशुपोतकः* ॥ ४६ ॥
दिष्ट्येदानीं परिज्ञातो मयैवाऽज्ञानतस्करः ।
पुनर्न संश्रयाम्येनं स्वरूपार्थापहारिणम् ॥ ४७ ॥
निर्दुःखो दुःखयोग्यस्य नाऽहं तस्य न चैष मे ।
कश्चिद् भवति शैलस्य तत्स्थ एव यथाऽम्बुदः ॥ ४८ ॥
भूत्वा त्वहमिदं वच्मि वेद्मि तिष्ठामि यामि च ।
आत्मावलोकनेनाऽहमनहङ्कारतां गतः ॥ ४९ ॥
नूनमेवाऽहमेवैते मन्ये ज्ञाश्चक्षुरादयः ।
यान्तु तिष्ठन्तु वा देहे ममैते तु न किञ्चन ॥ ५० ॥

अज्ञानरूपी धूर्तने वञ्चना द्वारा स्वरूपवियोगसे चिरकालतक ऐसे ही मुझे क्लेश पहुँचाया जैसे कि मस्त भेड़िया जंगलमें मृगके बच्चेको क्लेश पहुँचाता है ॥ ४६ ॥

बड़े सौभाग्यका विषय है कि अब मैं ज्ञानरूपी चोरको पहचान गया हूँ। अपने वास्तविक स्वरूपरूपी धनको हरनेवाले इसको फिर नहीं अपनाऊँगा ॥ ४७ ॥

परस्परविरोधी स्वभाववाले हम दोनोंका कोई सम्बन्ध भी नहीं है, एकताकी बातें तो दूर रहीं, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'निर्दुःखः'** इत्यादिसे ।

जैसे पर्वतपर स्थित मेघ पर्वतका कोई नहीं होता वैसे ही दुःखरहित मैं दुःखके भाजन उसका सम्बन्धी नहीं हूँ और वह मेरा सम्बन्धी नहीं है ॥ ४८ ॥

यदि तुममें अहकार आदि सर्वथा नहीं है, तो तुम वचन आदिसे कैसे व्यवहार करते हो ? ऐसी शंका होनेपर कहते हैं—**'भूत्वा'** इत्यादिसे ।

नटके समान तात्कालिक तद्भावकी कल्पना द्वारा अहंकार बनकर यह (तुम्हें उपदेश आदि) कहता हूँ, नेत्र आदिसे जानता हूँ, बैठता हूँ तथा चलता हूँ । वास्तवमें आत्मदर्शनसे मैं अहंकारशून्यताको प्राप्त हो गया हूँ ॥ ४९ ॥

मुझे इसका पूरा निश्चय है कि वास्तवमें ये चक्षु आदि मैं ही हूँ । यदि ये मुझसे भिन्न हैं, तो जड़ हैं चाहे मेरे शरीरमें रहें अथवा जावें । ये मेरे कोई नहीं हैं ॥ ५० ॥

---

* लघुयोगवासिष्ठमें 'लब्धेन पशुपोतकः' के स्थानपर 'मृगपोतो यथा तथा' पाठ मिलता है। 'लब्धेन' का खींचातानीसे अर्थ करनेकी अपेक्षा उक्त पाठ अच्छा प्रतीत होता है ।

कष्टं कोऽयमहं नाम कथं केनोपकल्पितः ।
जगद्बालकवेतालस्तालोत्तालातुलाकृतिः ॥ ५१ ॥
एतावन्तं चिरं कालं व्यर्थमालुठितोऽवटे ।
अहमत्र तृणोन्मुक्ते दुरद्रौ हरिणो यथा ॥ ५२ ॥
स्वार्थमालोकने चक्षुर्यदि तून्मुखतां गतम् ।
तदहं नाम कोऽसौ स्याद्योऽस्मिन् दुःखेन मोहितः ॥ ५३ ॥
स्पर्शनाय निजे तत्त्वे यदि जाता त्वगुन्मुखी ।
तत्कोऽयं स्यादहं नाम कुपिशाच इवोदितः ॥ ५४ ॥
रसेष्वभिनिषण्णेऽस्मिन् स्वक्रमे रसनेन्द्रिये ।
अहं मृष्टभुगित्येष कुतस्त्यः कुत्सितो भ्रमः ॥ ५५ ॥

बड़े खेदकी बात है, जगत्‌रूपी बालकका वेतालरूपी तथा ताड़के पेड़से भी लम्बी और अनूठी आकृतिवाला यह 'अहम्' कौन है ? किसने और कैसे इसकी कल्पना की है ? ॥ ५१ ॥

अब अपनी पूर्वावस्थाकी अविचारदशाके लिए शोक करते हैं—**'एतावन्तम्'** इत्यादिसे ।

जैसे तृण-विहीन खराब पर्वतमें हरिण दीर्घकालतक व्यर्थ इधर-उधर लुढ़कता है वैसे ही मैं इस संसाररूपी गड्ढेमें इतने दीर्घकालतक वृथा लुढ़का रहा ॥ ५२ ॥

अब प्रत्येक इन्द्रियके विषयसे सम्बद्ध अहंप्रतीतिके भाजनका अन्वेषण करते हैं—**'स्वार्थम्'** इत्यादिसे ।

यदि चक्षु अपने लिए आलोकनमें प्रवृत्त हुआ, तो संसारमें **'अहम्'** नामका कौन है, जो दुःखसे मोहित हुआ ॥ ५३ ॥

यदि त्वचा अपने विषयमें स्पर्शके लिए तत्पर हुई, तो यह **'अहम्'** नामका दुष्ट पिशाचके तुल्य कौन उदित हुआ ?॥ ५४ ॥

रसनेन्द्रियके अपने विषय रसोंमें प्रवृत्त होनेपर मैं मीठा भोजन करनेवाला हूँ, इस प्रकारका गर्हित भ्रम कहांसे आता है ? ॥ ५५ ॥

शब्दशक्तिं गते श्रोत्रे वराके स्वार्थपीडिते ।
तदहङ्कारदुःखस्य निर्बीजस्य क आगमः ॥ ५६ ॥
आत्मंभरित्वेन निजे घ्राणे स्वं गन्धमागते ।
अहं घ्रातेति यो माता तं चौरं नैव वेद्म्यहम् ॥ ५७ ॥
मृगतृष्णाक्रमेणैषा भावना व्यर्थभाविनी ।
भावस्तस्यामसत्यायां यः सोऽयमिति संभ्रमः ॥ ५८ ॥
वासनाहीनमप्येतच्चक्षुरादीन्द्रियैः स्वतः ।
प्रवर्तते बहिः स्वार्थे वासना नाऽत्र कारणम् ॥ ५९ ॥
वासनारहितं कर्म क्रियते ननु चित्त हे ।
केवलं नाऽनुभूयन्ते सुखदुःखदशोऽग्रगाः ॥ ६० ॥

श्रवणतृष्णासे विवश बेचारी श्रोत्रेन्द्रियके शब्दरूप विषयको प्राप्त होनेपर निर्बीज अहंकार दुःखकी प्राप्ति कैसी ? ॥ ५६ ॥

अपनी नासिकाके अभिलाषवश अपने गन्धको प्राप्त होनेपर 'मैं सूँघनेवाला हूँ' ऐसा जिसे अभिमान होता है, उस चोरको मैं नहीं ही जानता हूँ ॥ ५७ ॥

पूर्वोक्त स्थलोंमें प्रसिद्ध यह अहन्ताकी कल्पना मृगतृष्णाके समान व्यर्थ होती है । उस अहन्ताकी कल्पनाके निर्विषय होनेपर यह (देह) 'अहम्' (मैं) हूँ, इस प्रकारका जो भाव है, वह भ्रान्ति ही है, इसलिए देहमें अहंभाववासनाका सर्वथा त्याग करना चाहिये ॥ ५८ ॥

यदि कोई कहे कि वासनाके अभावमें बाहरी प्रवृत्तियाँ सर्वथा विरत हो जायँगी, इसलिए पुरुषका जीवन ही न रहेगा, तो उसपर कहते हैं—'**वासनाहीनमपि**' इत्यादिसे ।

यह शरीर वासनाहीन होनेपर भी अपने जीवनके हेतु कर्ममें चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा स्वतः बाहर प्रवृत्त होता है । इस प्रवृत्तिमें वासना कारण नहीं है । दाम, व्याल और कटोंकी, जो वासनारहित थे, पहले युद्धादि प्रवृत्तियोंका वर्णन किया जा चुका है ॥ ५९ ॥

यदि वासनाके बिना भी शरीर बाहर प्रवृत्त होता है तो प्रवृत्तिप्रयुक्त दुःख भी अवश्य होगा ही, ऐसी अवस्थामें वासनाके त्यागसे कौन लाभ हुआ ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'**वासना०**' इत्यादिसे ।

तस्मान्मूर्खाणीन्द्रियाणि त्यक्त्वाऽन्तर्वासनां निजाम्।
कुरुध्वं कर्म हे सर्वं न दुःखं समवाप्स्यथ ॥ ६१ ॥
भवद्भिरेव दुःखाय वासना वासिता मुधा।
बालैः पङ्कक्रीडनकं विनाशेनेव खिन्नता ॥ ६२ ॥
वासनाद्या दृशः सर्वा व्यतिरिक्तास्तु नाऽऽत्मनः।
जलादिव तरङ्गाद्या ज्ञस्यैवाऽन्यस्य नाऽनघ ॥ ६३ ॥
तृष्णयैव विनष्टाः स्थ व्यर्थमिन्द्रियबालकाः।
कोशकारकुक्रमयस्तन्तुनेव स्वयंभुवा ॥ ६४ ॥

हे चित्त, यदि वासनारहित कर्म किया जाय, तो तात्कालिक भोगाभासमें मैं दुःखी हूँ, यह अभिमान नहीं होता, भावी (आगे होनेवाले) सुख-दुःखोंका अनुभव नहीं होता, इसलिए उनसे होनेवाले शोक, मोह, भय, विषाद, चिन्ता, उद्वेग आदि सब संतापोंकी शान्ति ही इसका गुण है, यह भाव है ॥ ६० ॥

अब इन्द्रियोंको सम्बोधित कर इस अर्थका विचारपूर्वक उन्हें उपदेश देते हैं—'**तस्मात्**' इत्यादिसे।

इसलिए हे मूर्ख इन्द्रियाँ, भीतर अपनी वासनाका त्याग कर तुम सब कर्म करो, उससे तुम्हें दुःख प्राप्त नहीं होगा ॥ ६१ ॥

जैसे बालक पहले मिट्टीके खिलौने बनाते हैं फिर उनके विनाशसे उन्हें पश्चात्ताप होता है वैसे ही तुमने (इन्द्रियोंने) भी विषयोंके उपार्जन और उनके विनाशमें केवल दुःखके लिए ही अज्ञ आत्मामें भोगवासनाकी व्यर्थ स्थापना की है ॥ ६२ ॥

अतएव विद्वानोंकी वासना आदि सब दृष्टियाँ अज्ञानसे बाधित होकर अपने कार्य राग आदिके साथ शुद्ध आत्मा ही हो गईं, इसलिए उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, ऐसा कहते हैं—**वासनाद्या**' इत्यादिसे।

हे निष्पाप, ज्ञानीकी ही दृष्टिमें जैसे तरङ्ग, बुद्बुद, फेन आदि जलसे पृथक् नहीं हैं वैसे ही वासना आदि सब दृष्टियाँ आत्मासे पृथक् नहीं हैं। अज्ञानीकी दृष्टिमें तो उनकी पृथक् सत्ता है ॥ ६३ ॥

अतएव अज्ञानियोंने तृष्णासे ही इन्द्रियोंका विनाश किया है, ऐसा कहते हैं—'**तृष्णयैव**' इत्यादिसे।

तृष्णयैवेह　लुठथ　जरामरणसङ्कटे ।
भ्रमद्दृष्ट्येव　शिखरिपथिकाः　श्वभ्रभूमिषु ॥ ६५ ॥
वासनैवेह　भवतां　हेतुरेकत्र　बन्धने ।
रज्जुः शून्याशयप्रोता मुक्तानामातता यथा ॥ ६६ ॥
कल्पनामात्रकलिता सत्यैषा हि न वस्तुतः ।
असङ्कल्पनमात्रेण　दात्रेणेव　विलूयते ॥ ६७ ॥
एषा हि भवतामेव विमोहाय क्षयाय च ।
वातलेखेव दीपानां स्फुरतामपि तेजसाम् ॥ ६८ ॥
हे चित्त सर्वेन्द्रियकोश तस्मात् सर्वेन्द्रियैरैक्यमुपेत्य नूनम् ।
आलोक्य चात्मानमसत्स्वरूपं निर्वाणमेवाऽमलबोधमास्स्व ॥ ६९ ॥

हे इन्द्रियरूपी बालको, जैसे रेशमके कीड़े अपनेसे उत्पन्न हुए तन्तुसे नष्ट हो जाते हैं वैसे ही तुम लोग भी स्वतः उत्पन्न हुई तृष्णासे ही नष्ट हुए हो ॥ ६४ ॥

जैसे पर्वतके पथिक पर्वतके शिखरमें जाते-जाते पित्तवश घूम रही दृष्टिसे गिरकर विषम गर्तमय भूभागमें गिरते हैं वैसे ही जरा, मरण आदि क्लेशोंसे पूर्ण इस संसाररूपी पत्थरकंकड़पूर्ण भूमिमें तुम लोग तृष्णासे ही लुढ़क रहे हो ॥ ६५ ॥

जैसे छेदे हुए मनकोंमें (मनियोंमें) गूँथी हुई दीर्घ डोरी मोतियोंके बन्धनमें कारण होती है वैसे ही आप लोगोंके एक जगह बन्धनमें वासना ही हेतु है ॥ ६६ ॥

एकमात्र भ्रान्तिसे बनाई हुई यह (वासना) वस्तुतः सत्य नहीं है । हँसुएसे पत्तोंके समान एकमात्र असङ्कल्पसे ही यह काटी जाती है ॥ ६७ ॥

जैसे वायुका झोका दीपकोंके तथा चमक रहे उल्का, बिजली आदि तेजोंके विनाशके लिए होता है वैसे ही बढ़ रही यह (वासना) आप लोगोंके ही विमोहन और क्षयके लिए (मरण आदि दुःखके लिए) है ।

विषयविषविषूचिकामनन्तां निपुणमहं स्थितिवासनामपास्य।
अभिमतपरिहारमन्त्रयुक्त्या भव विभवो भगवान् भियामभूमिः॥ ७०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशम-प्रकरणे उद्दालकविचारो नाम द्विपञ्चाशत्तमः सर्गः॥ ५२॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

उद्दालक उवाच

अपारपर्यन्तवपुः परमाण्वणुरेव च।
चिदचेत्या तदाक्रान्तौ न शक्ता वासनादयः॥ १॥

इस कारण सब इन्द्रियोंके कोशके तुल्य आधारभूत हे चित्त, तुम सब इन्द्रियोंके साथ ऐकमत्यको प्राप्त होकर निश्चय अपनेको असत्स्वरूप (मिथ्याभूत) जानकर केवल निर्वाणरूप निर्मलबोधमात्र होकर स्थित होओ, फिर चित्तरूपका ग्रहण मत करो॥ ६९॥

हे चित्त, सकल शास्त्रतत्त्वज्ञाताओंके अभिमत द्वैतवासनापरिहाररूप (अभिमत विषय त्यागरूप) मन्त्रयुक्तिसे असंख्य दुःखवाली अहङ्कारवासनारूपी विषम विषतुल्य अज्ञानसे पैदा हुई विषूचिकाका भलीभाँति त्यागकर संसारशून्य हो मरण आदि सब भयोंके अस्थान परिपूर्णानन्दात्मा ही तुम होओ, यह अर्थ है॥ ७०॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

[वासनाओं तथा अहङ्कारसे आत्माकी अस्पृष्टता तथा शरीर और मनका वैर इत्यादिका वर्णन]

उद्दालकने कहा—परिच्छिन्न तिल आदि फूल आदिसे वासित होते हैं आत्मचित् तो आरपाररहित (असीम) है। स्थूल पृथिवी, जल, तेज, वायु

मनः शेमुष्यहङ्कारप्रतिबिम्बैर्जडेन्द्रियैः ।
वासना वितता शून्या वेतालत्रासनोद्यताः ॥ २ ॥
तत्कृतेभ्यो विचारेभ्योऽनुभूतेभ्योऽपि भूरिशः ।
भूयोऽप्यनुभवत्यन्तरहं हि चिदलेपिका ॥ ३ ॥
स्वदुर्भावोपरचितां देहः संसारसंस्थितिम् ।
गृह्णात्वथ त्यजतु वाऽप्यहं हि चिदलेपिका ॥ ४ ॥

कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थोंसे वासित होते हैं, चित् तो परमाणुसे, अपञ्चीकृत आकाशसे और अव्याकृत आकाशसे भी सूक्ष्मतम है, अतएव उसका तनिक भी स्पर्श करनेके लिए वासना आदि समर्थ नहीं हैं। साक्षात् उसके स्पर्शमें असमर्थ होनेपर भी उसके चेत्यके स्पर्श द्वारा वासना आदि उसका स्पर्श करेंगे, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह चेत्यरहित है ॥ १ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि चैतन्यरूप तुम्हारे द्वारा अप्रकाशित विषयमें वासनाका उदय नहीं दिखाई देता, अतः तुम्हींसे ये वासना आदि विस्तारित हैं फिर ये तुम्हारा स्पर्श न करनेवाले कैसे हैं ? तो इसपर कहते हैं—**'मनः०'** इत्यादिसे।

मैंने उनका विस्तार नहीं किया है, किन्तु बुद्धिमें और अहङ्कारमें चित्के प्रतिबिम्बवश जड़ इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयोंकी सूक्ष्म अवस्थारूप अतएव शून्य (असत्-रूप) होती हुई भी बेतालोंके समान त्रास देनेमें उद्यत विस्तृत वासनाओंका मन अनुभव करता है ॥ २ ॥

जाग्रत् अवस्थामें बुद्धि और अहङ्कारसे बहुत बार किये गये विषयविचारोंसे और मनसे अनुभूत विषयोंसे मेरा संपर्क नहीं है, क्योंकि लेपरहित चित् ही मैं हूँ, मन आदिका संघातरूप नहीं हूँ। श्रुतिने भी कहा है—'स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुषः' वह [स्वप्नदर्शी पुरुष] वहां [स्वप्नमें] जो कुछ देखता है, उससे असंस्पृष्ट होता है, क्योंकि यह पुरुष असंग है) ॥ ३ ॥

एवं स्थूल शरीरसे किये गये पाप-पुण्यरूप कर्मसे भी उसका सम्बन्ध नहीं होता, ऐसा कहते हैं—**'स्वदुर्भावो०'** इत्यादिसे।

देह अपनी दुश्चेष्टाओंसे वृद्धिको प्राप्त हुई संसारस्थितिका चाहे ग्रहण करे चाहे त्याग करे, किन्तु मैं तो उसकी दोनों अवस्थाओंमें निर्लेप चित् ही हूँ ॥ ४ ॥

चितो न जन्ममरणे सर्वगायाश्रितः किल ।
किं नाम म्रियते जन्तुर्मार्यते केन वाऽपि किम् ॥ ५ ॥
चितो न जीवितेनाऽर्थः सर्वात्मा सर्वजीवितम् ।
किं प्राप्स्यति कदात्मैषा प्रायता यदि जीवितम् ॥ ६ ॥
जीव्यते म्रियते चेति कुविकल्पकमालिनी ।
कलनां मनसामेव नाऽऽत्मनो विमलात्मनः ॥ ७ ॥
यो ह्यहंभावतां प्राप्तो भावाभावैः स गृह्यते ।
आत्मनो नास्त्यहंभावो भावाभावाः कुतोऽस्य ते ॥ ८ ॥

अतएव जन्म-मरण भी मेरे नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—**'चितः'** इत्यादिसे ।

चित्के जन्म-मरण नहीं हैं, क्योंकि वह सर्वव्यापक और चित्रूप है । अतएव क्या जीव मरता है और क्या किसीके द्वारा मारा जाता है यानी जीवका मरना और मारना दोनों असंगत हैं । अविनाशी अद्वितीय आत्माका दर्शन होनेपर वध्य-घातक बुद्धि ही नहीं रह जाती है, अतएव आत्यन्तिक अभयसिद्धि हो जाती है, यह आशय है ॥ ५ ॥

जिसको जीवनसे प्रयोजन हो, उसे मरनेसे भय होता है, किन्तु चित्का जीवनसे कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'चितः'** इत्यादिसे ।

चित्का जीवनसे कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि सर्वात्मा चित् ही सब वस्तुओंका जीवन है । यदि सब देश, काल और वस्तुओंमें फैली हुई स्वरूपभूत चित् ही इसका जीवन है, तो उस जीवनसे कब क्या दूसरी अप्राप्त वस्तु प्राप्य होगी, जिसके लिए उसकी इच्छा होगी ? ॥ ६ ॥

मरण और जीवन केवलमात्र मनकी कल्पनाएँ हैं, इस कारण भी मरण और जीवनमें द्वेष और वाञ्छाकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं—**'जीव्यते'** इत्यादिसे ।

जीता है और मरता है, इस प्रकारकी कल्पना, जो कुविकल्पोंकी मालाओंसे भरी हुई है, मनोंकी ही है, निर्मलस्वरूप आत्माकी नहीं है ॥ ७ ॥

जो देहमें अहंभावताको प्राप्त है, वह देहके भाव और अभावरूप जन्म-मरणोंके फन्देमें पड़ता है । आत्मरूप तुममें देहाहंभाव नहीं है; इसलिए तुम्हारे भाव और अभावरूप जन्म-मरण कहांसे होंगे ? ॥ ८ ॥

अहंभावो मुधा मोहो मनश्च मृगतृष्णिका ।
जडः पदार्थसंभारः कस्याऽहङ्कारभावना ॥ ९ ॥
रक्तमांसमयो देहो मनो नष्टं विचारणात् ।
जडाश्चित्तादयः सर्वे कुतोऽहंभावभावना ॥ १० ॥
आत्मंभरितया नित्यमिन्द्रियाणि स्थितान्यलम् ।
पदार्थाश्च पदार्थत्वे कुतोऽहंभावभावना ॥ ११ ॥
गुणा गुणार्थे वर्तन्ते प्रकृतौ प्रकृतिः स्थिता ।
सदेव सति विश्रान्तं कुतोऽहंभावभावना ॥ १२ ॥

देहमें अहंभावना क्या अहंकारकी है अथवा मनकी है या पदार्थसमूहकी है ? इनमें से पहलेके दो (अहंकार और मन) प्रमाणवेद्य नहीं हैं, इसलिए अस-त्स्वरूप हैं । पदार्थ भी अत्यन्त जड़ हैं, अतएव वे भी अभिमानयोग्य नहीं हैं, इसलिए अहंभावनाका न तो कोई विषय है और न आश्रय है, ऐसा कहते हैं—'**अहंभावः**' इत्यादिसे ।

अहंकार व्यर्थ मोहरूप है, मन मृगतृष्णारूप है तथा पदार्थसमूह जड़ है; अतः अहंकारभावना किसको हो ? ॥ ९ ॥

उक्त अर्थको ही प्रकारान्तरसे विस्तारपूर्वक कहते हैं—'**रक्तमांसमयः**' इत्यादिसे ।

देह रक्तमांसमय है, मन विचारसे नष्ट हो चुका और चित्त आदि सब जड़ हैं ? फिर देहमें अहंभावना कैसे हो ? ॥ १० ॥

सब इन्द्रियां नित्य स्वस्वविषयव्यापाररूप केवल स्वोदरपूरणमें ही लगी हैं अहंकारपुष्टिरूप परोपकारमें नहीं लगी हैं, सब पदार्थ पदार्थस्वरूपमें स्थित हैं, अतः अहंभावभावना कैसे हो ? ॥ ११ ॥

सत्त्व आदि गुण गुणोंके प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहरूप अपने व्यापारमें स्थित हैं, प्रकृति (प्रधाननामकी माया) गुणसाम्यावस्थारूप स्वभावमें स्थित है और सत् (ब्रह्म) स्वात्मभूत सत्स्वभावमें ही विश्रान्त है, अतः अहंभावना कैसे और किसको हो ? ॥ १२ ॥

सर्वगं सर्वदेहस्थं सर्वकालमयं महत् ।
केवलं परमात्मानं चिदात्मैवेह संस्थितः ॥ १३ ॥
एवं किमाकृतिः को वा किमादेशश्च किंकृतः ।
किंरूपः किंमयः कोऽहं किं गृह्णामि त्यजामि किम् ॥ १४ ॥
तेनाऽहं नाम नेहाऽस्ति भावाभावोपपत्तिमान् ।
अनहङ्काररूपस्य संबन्धः केन मे कथम् ॥ १५ ॥
असत्यलमहङ्कारे संबन्धः कस्य केन कः ।
संबन्धाभावसंसिद्धौ विलीना द्वित्वकल्पना ॥ १६ ॥
एवं ब्रह्मात्मकमिदं यत्किंचिज्जगति स्थितम् ।
सदेवाऽस्मि तदेवाऽस्मि परिशोचामि किं मुधा ॥ १७ ॥

इस देहमें जो चिदात्मा है, वह भी सर्वगामी (सर्वव्यापक), सब देहोंमें स्थित, सर्वकालमय महान् अद्वितीय परमात्मा ही मैं हूँ, यों निश्चय कर स्थित है, वह भी अहंकारास्पद नहीं है, यह अर्थ है ॥ १३ ॥

ऐसी अवस्थामें 'अहम्' रूपसे जो केवल इस देहका अभिमानी है, उसकी कैसी आकृति है, (क्या जाति है, अथवा कैसी अंगोंकी बनावट है) वास्तवमें कौन है, किस रूपसे निर्देशके योग्य है, किस हेतुसे बनाया गया है, कैसी उसकी रूपरेखा है और किसका विकार है ? अहंभावसे मैं किसका ग्रहण करता हूँ अथवा अहंभावके अभावसे मैं किसका त्याग करता हूँ ॥ १४ ॥

अतः निर्वचनके अयोग्य होनेसे अहंकार मिथ्या ही है, इसलिए आत्मासे उसका सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'तेन'** इत्यादिसे ।

इसलिए अपने अस्तित्व और अभावमें उपपत्ति रखनेवाला 'अहम्' नामका कोई पदार्थ यहांपर नहीं है । अतः निरहङ्कारस्वरूप मेरा किसके साथ और कैसे सम्बन्ध हो सकता है ? ॥ १५ ॥

अहंकारका सर्वथा अभाव होनेपर किसका किससे कौन सम्बन्ध ? सम्बन्धका अभाव सिद्ध होनेपर 'त्वम्' 'अहम्' ऐसी द्वैतकल्पना विलीन हो जाती है ॥ १६ ॥

इस प्रकार सद्वस्तुसे व्यतिरिक्त इदंपदार्थका अन्वेषण करनेपर भी उसका मिथ्यात्व ही अन्तमें सिद्ध होता है, यों सद् ब्रह्माद्वैतका साम्राज्य प्रतिष्ठित हुआ । शोकका अवकाश ही कहां है ? ऐसा कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

एकस्मिन्नेव विमले पदे सर्वगते स्थिते ।
अहङ्कारकलङ्कस्य कथं नामोदयः कुतः ॥ १८ ॥
नाऽस्त्येव हि पदार्थश्रीरात्मैवाऽस्तीह सर्वगः ।
पदार्थलक्ष्म्यां सत्यां च संबन्धोऽस्ति न कस्यचित् ॥ १९ ॥
इन्द्रियैरिन्द्रियैरङ्गैर्मनो मनसि वल्गति ।
चिदलिप्तवपुः केन संबन्धः कस्य किं कथम् ॥ २० ॥
उपलायःशलाकानां संबन्धो न यथा मिथः ।
तथैकत्राऽपि दृष्टानां देहेन्द्रियमनश्चिताम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार जो कुछ भी इस जगतीतलमें स्थित है, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है। मैं 'सत्' (ब्रह्म) ही हूँ, मैं 'तत्' (ब्रह्म) ही हूँ, व्यर्थ शोक क्यों करता हूँ ॥ १७ ॥

सत्-अद्वैतकी सिद्धिके बलसे भी अहंकारका निरास किया जा सकता है इस आशयसे कहते हैं—**'एकस्मिन्'** इत्यादिसे ।

सर्वव्यापक एक ही निर्मल पदके रहनेपर अहंकाररूपी कलङ्कका कैसे और कहांसे उदय हो सकता है ? ॥ १८ ॥

पदार्थशोभा बिलकुल है ही नहीं, एकमात्र सर्वव्यापक आत्मा ही है अथवा पदार्थशोभा भले ही हो फिर भी उसका किसीके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है ॥ १९ ॥

असम्बन्धका उपपादन करते हैं—**'इन्द्रियै०'** इत्यादिसे ।

मन अपने अवयवरूपसे कल्पित सब इन्द्रियोंसे मनमें ही स्वप्नके समान उल्लासको प्राप्त होता है । बाह्य विषयोंका स्पर्श करनेके लिए समर्थ नहीं होता; किन्तु चित् तो इन्द्रियों और बाह्य विषयोंसे अलिप्तस्वरूप (असंगस्वभाव) है । ऐसी अवस्थामें किसका किसके साथ सम्बन्ध कैसे और किसके द्वारा हो सकता है ? ॥ २० ॥

सम्बन्धाभावमें दृष्टान्त देते हैं—**'उपला०'** इत्यादिसे ।

जैसे एक स्थानपर देखे गये भी पत्थर और लोहेकी शलाकाओंका (सींकोंका) परस्पर सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही एक स्थानपर देखे गये भी देह, इन्द्रिय, मन और चित्का परस्पर सम्बन्ध नहीं है ॥ २१ ॥

असदभ्युत्थिते व्यर्थमहङ्कारमहाभ्रमे ।
ममेदमिदमस्येति विपर्यस्तमिदं जगत् ॥ २२ ॥
अतत्त्वालोकजातेयमहङ्कारचमत्कृतिः ।
तापेन हिमलेखेव तत्त्वालोके विलीयते ॥ २३ ॥
आत्मनो व्यतिरेकेण न किंचिदपि विद्यते ।
सर्वं ब्रह्मेति मे तत्त्वमेतत्तद्भावयाम्यहम् ॥ २४ ॥
अहङ्कारभ्रमस्याऽस्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अपुनःस्मरणं मन्ये नूनं विस्मरणं वरम् ॥ २५ ॥
समूलं संपरित्यज्य चिरायाऽहङ्कृतिभ्रमम् ।
तिष्ठाम्यात्मनि शान्तात्मा शरत्खं शरदीव खे ॥ २६ ॥

यदि कोई कहे कि तब लौकिक पुरुषोंका 'यह मेरा धन है' ऐसा व्यवहार कैसे होता है? तो इसपर कहते हैं—**'असदभ्युत्थिते'** इत्यादिसे ।

अहङ्काररूपी भ्रमके अज्ञानवश उदित होनेपर यह सारा जगत् 'यह मेरा है और यह इसका है' यों वृथा भ्रान्त हुआ है ॥ २२ ॥

यह अहङ्कारचमत्कार आत्मतत्त्वके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ है। तत्त्वज्ञान होनेपर तो जैसे सूर्यके तापसे हिम-कणिका गल जाती है वैसे ही यह गल जाता है ॥ २३ ॥

आत्मासे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, सब ब्रह्म ही है, इस प्रकारका मेरा अनुभवसिद्ध जो तत्त्व है, उसकी मैं भावना करता हूँ ॥ २४ ॥

अब अहङ्कारके मार्जनके उपायोंको कहते हैं—**'अहङ्कार०'** इत्यादिसे ।

मैं आकाशकी नीलिमाके समान उत्पन्न हुए इस अहङ्काररूपी महाभ्रमका जिसमें पुनः कभी स्मरण न हो ऐसा विस्मरण ही उत्तम समझता हूँ ॥ २५ ॥

चिरकालसे आरूढ़ हुए अहङ्कारभ्रमका समूल परित्याग कर शान्तात्मा हुआ मैं जैसे शरत्कालका आकाश अपने निर्मल स्वभावमें स्थित रहता है वैसे ही निर्मल आत्मामें स्थित हूँ ॥ २६ ॥

ददात्यनर्थनिचयं विस्तारयति दुष्कृतम् ।
विस्तारयति सन्तापमहंभावोऽनुसंहितः ॥ २७ ॥

स्फुरत्यहङ्कारघने हृद्व्योम्नि सलिलात्मनि ।
विकसत्यभितः कायकदम्बे दोषमञ्जरी ॥ २८ ॥

मरणं जीवितोपान्तं जीवितं मरणान्तगम् ।
भावोऽभावाद् व्यवच्छिन्नः कष्टेयं दुःखवेदना ॥ २९ ॥

इदं लब्धमिदं प्राप्स्यामीत्यार्तिर्दाहकारिणी ।
न शाम्यत्यर्करत्नानां ग्रीष्मेऽग्निरिव दुर्धियाम् ॥ ३० ॥

नाऽस्तीदमिदमस्तीति चिन्ता धावत्यहङ्कृतिम् ।
जडाशया जडामभ्रमाला शैलावलीमिव ॥ ३१ ॥

अहङ्कारभ्रमके रहनेपर क्या हानि है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो इसपर कहते हैं—**'ददाति'** इत्यादिसे ।

देह आदिमें वृद्धिको प्राप्त हुआ अहंभाव अनर्थोंकी परम्पराओंकी सृष्टि करता है, पापका विस्तार करता है और सन्तापकी वृद्धि करता है ॥ २७ ॥

दुर्वसनारूपी जलसे भरे हुए हृदयरूपी आकाशमें अहङ्काररूपी मेघके विकासको प्राप्त होनेपर शरीररूपी कदम्बवृक्षपर दोषरूपी मञ्जरियां चारों ओरसे विकसित हो उठती हैं ॥ २८ ॥

मरणादि पारलौकिक दुःख पुनर्जन्मतक रहता है एवं जीवन आदि ऐहिक दुःख मरणपर्यन्त रहता है और भोग्यवर्ग नाशसे खण्डित होता है, यह दुःखवेदना बड़ी कष्टकारिणी है ॥ २९ ॥

जैसे ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकान्तमणियोंकी अग्नि शान्त नहीं होती वैसे ही दुर्बुद्धियोंकी 'यह मुझे मिल गया, इसको मैं प्राप्त करूँगा' इस प्रकारकी सन्तापप्रद पीड़ा कभी शान्त नहीं होती ॥ ३० ॥

जैसे जलकी आश्रयभूत (जलसे भरी हुई) मेघमाला गुरुतर पर्वतपङ्क्तिकी ओर दौड़ती है वैसे ही 'यह है यह नहीं है' इस प्रकारकी चिन्ता, जिसका आश्रय अज्ञ पुरुष है, जड़ अहङ्कारकी ओर अग्रसर होती है ॥ ३१ ॥

अहंभावे परिक्षीणे शुष्कः संसारपादपः ।
भूयः प्रयच्छत्यरसो न पाषाणवदङ्कुरम् ॥ ३२ ॥
स्वतृष्णाकृष्णभोगिन्यो देहद्रुमकृतालयाः ।
क्वाऽपि यान्ति विचारात्मन्यागते विनतासुते ॥ ३३ ॥
असदभ्युत्थिते विश्वे तज्ज्ञाते भ्रमसन्मये ।
असन्मयपरिस्पन्दे त्वहं त्वं चेति कः क्रमः ॥ ३४ ॥
इदं जगदुदेत्यादावकारणमकारणात् ।
यदकारणमुद्भूतं तत्सदित्युच्यते कथम् ॥ ३५ ॥
अपर्यन्तपुराकाले मृदि कुम्भ इवाऽऽकृतिः ।
देहोऽभवदिदानीं तु तथैवाऽस्ति भविष्यति ॥ ३६ ॥

अहङ्कारके क्षीण होनेपर सूखा हुआ संसाररूपी वृक्ष रागरूपी अङ्कुरकी उत्पादनशक्तिसे रहित अतएव पत्थरके तुल्य होकर फिर अङ्कुरको उत्पन्न नहीं करता है, पनपता नहीं है ॥ ३२ ॥

अपनी तृष्णारूपी काली नागिनें, जिन्होंने देहरूपी वृक्षमें अपना बिल बनाया है, विचाररूपी गरुड़के आनेपर न मालूम कहां चली जाती हैं ॥ ३३ ॥

इसलिए विश्वके मिथ्याभूत अज्ञानसे उत्पन्न अतएव अध्याससे ही सन्मय और असन्मय व्यवहारवाला होनेपर 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) इस प्रकारका भेदव्यवहार भी कौन है ? भाव यह कि विश्वके असत्य सिद्ध होनेपर उससे होनेवाला साराका सारा भेदव्यवहार भी असत्य है, जब यावत् भेदव्यवहार असत्य हो गया तब 'त्वम्' 'अहम्' यह भेदव्यवहार भी कहां सत्य रहा ? ॥ ३४ ॥

अतएव सत्य प्रयोजनसे सर्वथा रहित ही यह जगत् पहले कारणत्वके अयोग्य अज्ञानसे उदित होता है । जो वस्तु बिना कारणके उत्पन्न हुई वह 'सत्' कैसे कही जा सकती है ? ॥ ३५ ॥

इस रीतिसे उत्पत्तिसे पहले देह आदिकी जैसी स्थिति थी वैसी ही सर्वदा रहती है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं—**'अपर्यन्त०'** इत्यादिसे ।

सृष्टिसे पूर्व अनादि अनन्त कालमें मिट्टीमें घटरूप आकारके समान ब्रह्ममें ही शरीर था, वैसे ही इस समय भी है और आगे भी वैसे ही होगा ॥ ३६ ॥

मध्येतरपयोमात्रं कञ्चित्कालं चलाचलम् ।
आद्यन्तसौम्यते त्यक्त्वा वारि वीचितया यथा ॥ ३७ ॥
अस्मिन् क्षणपरिस्पन्दे देहे विसरणोन्मुखे ।
तरङ्गे च निबद्धास्था ये हतास्ते कुबुद्धयः ॥ ३८ ॥
प्राक्पुरस्ताच्च सर्वाणि सन्ति वस्तूनि नाऽभितः ।
मध्ये स्फुटत्वमेतेषां कैवाऽऽस्था हतरूपिणी ॥ ३९ ॥
चित्तं पूर्वं पुरस्ताच्च चिद्देहं शान्तमित्यपि ।
सदसद्वा खसंलीनं मध्येऽस्मिन् किं तवोदितम् ॥ ४० ॥

उक्त अर्थमें दृष्टान्त कहते हैं—'**मध्येतर०**' इत्यादिसे ।

जैसे जल, जो कि पूर्व और उत्तर कालमें तरङ्ग आदिसे अविकृत केवल-मात्र जलरूपसे स्थित रहता है, मध्यमें कुछ समयके लिए चञ्चल होकर पूर्व और उत्तर कालमें प्रसिद्ध सौम्यताका त्याग कर तरङ्गरूप हो जल ही रहता है दूसरी वस्तु नहीं होता वैसे ही देह आदि भी तीनों कालोंमें ब्रह्म ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं हैं ॥ ३७ ॥

इस देहमें, जो केवल एक क्षणके लिए चेष्टायुक्त है, और भङ्गोन्मुख (जिसका भंग तुरन्त होना ही चाहता हो) तरङ्गमें जिन्होंने अहंरूपसे विश्वास किया वे मन्दमति उसके नाशसे नष्ट हो गये यानी भङ्गोन्मुख तरङ्गके समान क्षणविनश्वर तथा जीवनरूप एक क्षणके लिए चेष्टायुक्त शरीरमें अहंरूपसे आस्था मन्दमतियोंकी ही हो सकती है, अन्योंकी नहीं ॥ ३८ ॥

देशसे परिच्छिन्न होनेके कारण भी देह आदि वस्तुओंमें आस्था उचित नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**प्राक्**' इत्यादिसे ।

उत्पत्तिके पूर्व और नाशके पश्चात् सर्वत्र देह आदि सब वस्तुएँ नहीं हैं । अपने आधार वित्तेभर या हाथभर प्रदेशमें उनकी विद्यमानरूपसे प्रतीति होती है । यदि विकल्पपूर्वक यह विचार किया जाय कि उनकी उक्त सकल प्रदेशमें प्रतीति होती है या उसके एक देशमें, तो यह निर्वचन करना कठिन हो जायगा । उनमें भी हतरूपिणी यह आस्था कौन है ? यानी अनुचित है ॥ ३९ ॥

उक्त न्यायको लिङ्गदेहमें भी दिखलाते हैं, वह भी सत्‌से व्यतिरिक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**चित्तम्**' इत्यादिसे ।

यथा स्वप्नविकारेषु यथा संभ्रमदृष्टिषु ।
यथा क्षा मदलीलासु यथा नौयानसंभ्रमे ॥ ४१ ॥
यथा धातुविकारेषु यथा चेन्द्रियविक्लवे ।
यथाऽतिसंभ्रमानन्दे दोषावेशदशासु च ॥ ४२ ॥
दृश्यते क्षीयते चैव रूपं सदसतोश्चलम् ।
तथैवेयमिह त्वेषा काले न्यूनातिरिक्तता ॥ ४३ ॥

चित्त (चित्तोपलक्षित लिङ्गशरीर) अपनी उत्पत्तिसे पूर्व समयमें और पूर्व प्रदेशमें स्वसाक्षी चिन्मात्रस्वभाव ही था । उत्तरकाल और अन्य प्रदेशमें नष्ट हुआ देशसे परिच्छिन्न भी आकाशमें लीन हुएकी भाँति अत्यन्त तिरोहित हुआ वह सत् है या असत् है यह नहीं कहा जा सकता है । इस प्रकारका तुम्हारा चित्त [लिङ्गदेह] वर्तमान समयमें और इस प्रदेशमें सत्से व्यतिरिक्त क्या उदित हुआ यानी कुछ भी नहीं ॥ ४० ॥

यदि कोई पूछे कि स्थूल, सूक्ष्म देह आदि यदि असत् ही हैं, तो उनका भान कैसे होता है, इसपर कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नके विकारोंमें असत्य भी स्वशिरश्छेद आदि सत्य-सा प्रतीत होता है, जैसे बाघ, चोर आदिकी भयदृष्टियोंमें बाघ आदिके न रहनेपर भी सर्वत्र बाघ आदिकी शंका होती है, मदिरा आदिके नशेमें न घूमती हुई भी पृथिवी, घूमती हुई-सी प्रतीत होती है अथवा जैसे नावकी सवारीसे हुए भ्रममें पृथिवी पेड़ आदिके न चलनेपर भी वे चलते हुए-से प्रतीत होते हैं, जैसे वात, पित्त, आदिके संनिपातमें भय आदिके हेतुके न रहनेपर भी भय, आदि होते हैं, जैसे नेत्र आदि इन्द्रियके दोषदूषित होनेपर द्विचन्द्रत्वभ्रान्ति होती है, जैसे अतिप्रियतमके लाभ आदिसे होनेवाले आनन्दमें और विधुरोंकी काम आदि दोषावेशदशाओंमें भाव और अभावका रूप चञ्चल यानी केवल प्रतीतिकालमें ही स्थायी रहता है कुछ कामिनी आदिका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है शीघ्र ही बाध होनेसे नष्ट हो जाता है वैसे ही यह स्थूल, सूक्ष्म देह आदि रूप जगत्की भ्रान्ति भी है । अन्तर केवल इतना ही है कि स्वप्न आदि थोड़े समयतक रहते हैं और जगद्भ्रम मोक्ष-पर्यन्त रहता है यों समयमें न्यूनता और अधिकताके सिवा उनमें विशेषता नहीं है ॥ ४१—४३ ॥

सा च त्वया कृता नित्यं चित्त दुःखसुखोदये ।
यथा वियोगयामिन्यो मतयो हन्ति रागिणम् ॥ ४४ ॥
मयैवेहाऽसदभ्यासान्मिथ्या सदिव लक्ष्यसे ।
मृगतृष्णेव तेनैतत्त्वत्कृतं मत्कृतं भवेत् ॥ ४५ ॥
यदिदं किंचिदाभोगि तत्सर्वं दृश्यमण्डलम् ।
अवस्त्विति विनिर्णीय मनो यात्यमनःपदम् ॥ ४६ ॥
अवस्त्विदमिति स्फारे रूढे मनसि निश्चये ।
हेमन्त इव मञ्जर्यः क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥ ४७ ॥
चित्त्वाद् दृष्टात्मना नूनं संत्यक्तमननौजसा ।
मनसा वीतरागेण स्वयं स्वस्थेन भूयते ॥ ४८ ॥

हे चित्त, जैसे पुत्र, आदिके न मरनेपर भी वञ्चक पुरुषके कथनसे उत्पन्न हुई उनके मरणकी बुद्धि तथा उससे कल्पित वियोगदुःख रागी पुरुषको मार डालते हैं वैसे ही वह समयमें न्यूनता और अधिकता, जिसे तुमने व्यावहारिक वस्तुओंमें सत्यताके भ्रमसे वियोग और संयोग वश नित्य सुख और दुःखके उदयमें निमित्त बना रक्खा है, तुम्हें पीड़ित करती हैं ॥ ४४ ॥

अथवा यह तुम्हारा अपराध नहीं है, किन्तु तुममें अहंभावके अभ्यासवाले मेरा ही यह अपराध है। यहाँपर असद्रूप तुममें अहंभावके अभ्याससे मैं मृग-तृष्णाके तुल्य मिथ्या तुमको सत्-सा देखता हूँ। इसीसे तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह सब मेरा किया हुआ हो गया है ॥ ४५ ॥

अतएव तुम्हारे विवेकज्ञानसे ही मेरे अपराधरूप तुम्हारी शान्ति होती है, ऐसा कहते हैं—**'यदिदम्'** इत्यादिसे ।

जो कुछ भी यह विशाल दृश्यमण्डल है, वह सबका सब अवास्तविक ही है, ऐसा निर्णय करके मन मनके मननरूप व्यापारसे शून्य निर्वाण पदको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

तुम्हारे कारण हुई भोगवासनाओंका भी उसीसे क्षय हो जाता है, ऐसा कहते हैं—**'अवस्तु०'** इत्यादिसे ।

यह अवास्तविक है, ऐसा मनमें दृढ़ निश्चय होनेपर हेमन्त ऋतुमें वृक्षोंकी मञ्जरियोंकी नाईं भोगवासनाएँ क्षीण हो जाती हैं ॥ ४७ ॥

अथवा चित्के प्रतिबिम्बके ग्रहणसे चिद्रूप होनेके कारण रागरहित हुआ

परमात्माऽनले क्षिप्तं संवृत्त्याऽवयवं स्वयम् ।
दग्ध्वाऽऽत्मानमलं चित्तं शुद्धतामेति शाश्वतीम् ॥ ४९ ॥
देहमन्यतया दृष्ट्वा त्यक्त्वा विषयवासनाम् ।
विनाशमुररीकृत्य मनो जयति वीरवत् ॥ ५० ॥
मनः शत्रुः शरीरस्य शरीरं मनसो रिपुः ।
एकाभावेन नश्येते आधाराधेयकार्यवत् ॥ ५१ ॥
रागद्वेषवतोर्नित्यमन्योन्यातिविरुद्धयोः ।
एतयोर्मूलकाषेण विनाशः परमं सुखम् ॥ ५२ ॥

(विरक्त हुआ) अतएव संकल्प और विकल्परूप व्यसनका त्यागकर चुका तथा चरमसाक्षात्कारवृत्तिसे आत्मसाक्षात्कार कर चुका, मन ही स्वयं स्वस्थ (मोक्षविश्रान्तिमान्) होता है, मैं नहीं, क्योंकि मैं तो सदा एकरूप हूँ, सदा अद्वितीय ब्रह्मरूप हूँ, फिर मेरी मोक्षविश्रान्ति प्राप्ति कैसी ? ॥ ४८ ॥

चित्त अपने-आप बाहर प्रवृत्त हुए अपने अवयवरूप इन्द्रिय आदिका संवरण कर तत्त्वबोध द्वारा परमात्मरूप अग्निमें प्रक्षिप्त होकर चित्त-स्वरूपको जला कर अत्यन्त शाश्वत परम शुद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

जैसे वीर पुरुष युद्धभूमिमें स्थित अपने शरीरको स्वर्गगामी अपनेसे भिन्न देखकर और उस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले घर, खेत, धन आदिकी वासनाको त्यागकर अपने नाशतकको स्वीकार कर ब्रह्मलोकको जीतता है वैसे ही चित्त देहको अपनेसे भिन्न जानकर, विषय-वासनाका त्यागकर और अपने विनाशतकको स्वीकार कर ब्रह्मलोकपर विजय पाता है यानी मोक्षविश्रान्तिको प्राप्त होता है ॥५०॥

मन शरीरका शत्रु (संतापक) है और शरीर मनका रिपु (संतापक) है । जैसे आधार और आधेयरूप जल और घड़ेका कार्यभूत संयोग दोनोंमें से एकके नष्ट होनेपर नष्ट हो जाता है वैसे ही इन दोनोंमें से एककी वासनाके विनाशसे ये दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

जैसे परस्पर एक-दूसरे के पोषक होनेके कारण अनुरागवाले, परस्पर संतापक होनेके कारण द्वेषवाले बाघोंके रहते वनहरिणको सुख नहीं होता वैसे ही पूर्वोक्त रीतिसे परस्पर प्रबल विरोध रखनेवाले इन दोनों (शरीर और मनके) रहते बेचारे

एतयोरेकसंस्थाने मृतिरित्येव या कथा ।
सा व्योम्न्यया स्त्रिया भुक्ता धरेति कथया समा ॥ ५३ ॥
अकृत्रिमविरोधस्थौ यत्र संघटितावुभौ ।
धारा इव पतन्त्येव तत्राऽनर्थपरम्पराः ॥ ५४ ॥
मिथो विरुद्धसंसर्गे रतिमेत्यधमो हि यः ।
त्यक्तव्यः स पतद्धारावह्निराशावलेपने ॥ ५५ ॥

जीवको सुख नहीं होता, किन्तु इनका मूलाज्ञानके विनाश द्वारा विनाश ही परम सुख है ॥ ५२ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि मरणसे भोगायतन देहका नाश होनेके कारण ही सब दुःखोंका परिहार क्यों न होगा ? तो उसपर कहते हैं—'**एतयो०**' इत्यादिसे ।

इन दोनोंमें से देहका विनाश होनेपर भी एकके (मनके) रहनेपर पुनः देहकल्पना अवश्य होगी । अतः मरणकी बात आकाशमें जा रही स्त्रीने भूमि निगल डाली इस कथाके समान असंभावित है * ॥ ५३ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि मन और देह के रहनेपर जीवकी क्या क्षति है ? तो उसपर कहते हैं—'**अकृत्रिम०**' इत्यादिसे ।

स्वाभाविक विरोधवाले ये दोनों जहाँपर इकट्ठे होते हैं वहाँपर जैसे लड़ रहे दो योद्धाओंके मध्यमें स्थित पुरुषके शरीरपर तलवार और बाणोंकी बौछार गिरती है वैसे ही अनर्थोंकी परम्पराएँ अवश्य ही गिरती हैं ॥ ५४ ॥

परस्परविरुद्ध देह और मन जहाँपर संघटित होते हैं उस वैषयिक सुखभोगमें जो मूर्ख अनुराग रखता है उसे आवरणरहित (खुले हुए) बड़वानलमें, जिसमें निरन्तर समुद्रका जल गिरता है, फेंक देना चाहिये । वह वहाँपर भी अनुराग करेगा। वैषयिक सुखभोग बड़वानलसे कम भीषण नहीं है । वैषयिक सुखभोगमें अनुराग रखनेवाला बड़वानलमें भी अवश्य अनुराग करेगा, यह भाव है ॥ ५५ ॥

---

* 'व्योम्न्ययःस्त्रिया' इस पाठ में—लोहेकी स्त्रीप्रतिमाने आकाशमें भूमि निगल डाली, इस कथाके समान है, यह अर्थ है । लोहेकी प्रतिमाका आकाशमें जाना और वहाँपर भूमिको निगलना जैसे अत्यन्त असंभावित है वैसे ही मनके रहते मरण भी अत्यन्त असंभावित है, यह आशय है ।

संकल्पेन मनः पुष्ट्वा शरीरं बालयक्षवत् ।
आयुरेवाऽशनान्यस्मै स्वदुःखानि प्रयच्छति ॥ ५६ ॥
तैर्दुःखैस्तापितो देहो मनो हन्तुमथेच्छति ।
पुत्रोऽपि हन्ति पितरमाततायिपदं गतम् ॥ ५७ ॥
नाऽस्ति शत्रुः प्रकृत्यैव न च मित्रं कदाचन ।
सुखदं मित्रमित्युक्तं दुःखदाः शत्रवः स्मृताः ॥ ५८ ॥
देहो दुःखान्यनुभवन् स्वमनो हन्तुमिच्छति ।
देहं मनः स्वदुःखानां संकेतं कुरुते क्षणात् ॥ ५९ ॥

'रागद्वेषवतोः' ऐसा जो पहले कहा है, उसमें मनके देहमें रागद्वेशके अंशोंको दिखलाते हैं—'**संकल्पेन**' इत्यादिसे ।

जैसे बालक अपने संकल्पसे यक्षकी कल्पना करता है वैसे ही मन अपने संकल्पसे शरीरकी कल्पना कर इसके लिए आयुपर्यन्त भोजनकी कल्पना कर पुष्ट बनाकर अपने अभिनिवेशसे होनेवाले सब दुःखोंको इसे देता है ॥ ५६ ॥

मनमें देहके द्वेषांशको उसके निमित्तके साथ दिखलाते हैं—'**तैर्दुःखै०**' इत्यादिसे ।

तदनन्तर उन दुःखोंसे तापित शरीर मनको मारने की इच्छा करता है अर्थात् दुर्विषयोंके सेवनसे मनमें राग-द्वेष, शोक, मोह, पाप आदिके जनन द्वारा मनको पीड़ित करना चाहता है । मनसे उत्पन्न हुआ अतएव मनका पुत्ररूप शरीर पितृ-स्थानीय मनको कैसे मारना चाहता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि आततायी बने हुए (पीड़াप्रद) पिताको पुत्र भी मारता ही है ॥ ५७ ॥

उसकी शत्रुताका लोकप्रसिद्ध न्यायसे उपपादन करते हैं—'**नाऽस्ति**' इत्यादिसे ।

प्रकृतिसे ही कोई किसीका शत्रु नहीं है और प्रकृतिसे ही कोई किसीका कभी मित्र भी नहीं है । जो सुख देता है वह मित्र कहा गया है और दुःखदायी शत्रु कहे गये हैं ॥ ५८ ॥

विविध दुःखोंका अनुभव कर रहा शरीर अपने मनका विनाश करनेकी इच्छा करता है और मन क्षणभरमें शरीरको अपने दुःखोंका स्थान (भोगायतन) बना लेता है ॥ ५९ ॥

एवं मिथो दुःखदयोः श्लिष्टयोः कः सुखागमः ।
एतयोर्देहमनसोर्जात्यैवाऽतिविरुद्धयोः ॥ ६० ॥
मनस्येव परिक्षीणे न देहो दुःखभाजनम् ।
तत्क्षयोत्कतया नित्यं देहोऽपि परिधावति ॥ ६१ ॥
नष्टानष्टमनर्थाय शरीरं पदमापदाम् ।
अलब्धात्मविवेकेन मनसा सुप्रजायते ॥ ६२ ॥
एते मनःशरीरे हि मिथः पीवरतां गते ।
जडरूपे हि वपुषा पयोदसरसी यथा ॥ ६३ ॥
मिथो दुःखाय संपन्ने एकरूपे द्विधा स्थिते ।
व्यवहारपरे सार्धं लोके वार्यनलाविव ॥ ६४ ॥

इस प्रकार परस्पर एक दूसरेको दुःख देनेवाले तथा स्वभावसे ही अत्यन्त विरुद्ध इन मन और शरीरके संगत होनेपर सुखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥६०॥

मनका विनाश होनेपर तो देहको फिर दुःखप्राप्ति नहीं होती है, ऐसा कहते हैं—**'मनस्येव'** इत्यादिसे ।

मनका ही विनाश होनेपर शरीर दुःखका भाजन नहीं होता है, इसलिए शरीर भी मनके विनाशमें उत्कण्ठित होनेके कारण ज्ञान और उसकी प्राप्तिके उपायोंमें नित्य यत्न करता है ॥ ६१ ॥

यदि कोई कहे, तब मन भी देहके विनाशके लिए क्यों यत्न नहीं करता है ? तो, इसपर कहते हैं—**'नष्टा०'** इत्यादिसे ।

जिस मनको आत्मविवेक नहीं हुआ उसके द्वारा शरीर चाहे नाशको प्राप्त किया गया हो चाहे न किया गया हो वह आपत्तियोंका स्थान बनकर अनर्थोंकी ही सृष्टि करता है, इसलिए शरीरके नाशमें मनकी इष्टसिद्धि नहीं होती है, यह अर्थ है ॥ ६२ ॥

जैसे शरीरसे जलरूप मेघ और तालाब परस्पर एक दूसरेसे पुष्टिको प्राप्त होते हैं, वैसे ही शरीरसे जड़रूप ये मन और शरीर परस्परके अनुग्रहसे पुष्टिको प्राप्त हुए हैं ॥ ६३ ॥

यदि कोई पूछे कि परस्परविरुद्ध इन दोनोंकी एकत्र स्थिति किसलिए है ? तो अन्नपाकके लिए परस्परविरुद्ध जल और अग्निकी एकत्र स्थितिके समान पुरुषके

चित्ते क्षयिणि संक्षीणे देहो ह्यामूलितो भवेत् ।
वर्धमाने तरुरिव शतशाखः प्रवर्तते ॥ ६५ ॥
क्षीयते मनसि क्षीणे देहः प्रक्षीणवासनः ।
मनो न क्षीयते क्षीणे देहे तत् क्षपयेन्मनः ॥ ६६ ॥
संकल्पपादपं तृष्णालतं छित्त्वा मनोवनम् ।
विततां भुवमासाद्य विहरामि यथासुखम् ॥ ६७ ॥
प्रक्षीयमाणमेवेदं न मनो मनसि स्थितम् ।
प्रशाम्यद्वासनाजालं प्रावृडन्त इवाऽम्बुदः ॥ ६८ ॥
धातूनां सन्निवेशोऽयं देहनामा रिपुर्मम ।
प्रक्षीयमाणे मनसि गलत्वेषोऽवतिष्ठतु ॥ ६९ ॥

भोग और मोक्षके उपायोंके व्यवहारके लिए ही इनकी एकत्र स्थिति है, ऐसा कहते हैं—**'मिथो'** इत्यादिसे ।

विरुद्ध होनेके कारण दो प्रकारसे स्थित भी ये अन्योन्यतादात्म्याध्याससे एकरूप होकर दुःखोंका भोग करनेके लिए एक साथ भोग और मोक्षके व्यवहारसाधनमें तत्पर हुए हैं, जैसे कि लोकमें परस्परविरुद्ध होनेके कारण पृथक्-पृथक् स्थित भी जल और अग्नि अन्नपाकके लिए एक रूप होते हैं ॥ ६४ ॥

देहको जो चित्तके अधीन कहा, उसका फल कहते हैं—**'चित्ते'** इत्यादिसे ।

विनाशी चित्तके क्षीण होनेपर देह उन्मूलित हो जाता है और चित्तके बढ़नेपर वृक्षके समान सैकड़ों शाखाप्रशाखावाला होता है ॥ ६५ ॥

मनके क्षीण होनेपर शरीर क्षीण वासनावाला होकर क्षीण हो जाता है । देहके क्षीण होनेपर मन क्षीण नहीं होता, इसलिए मनको ही क्षीण करना चाहिए ॥६६॥

संकल्परूपी वृक्षोंसे भरे तृष्णारूपी लतावाले मनरूपी वनको छिन्न-भिन्न कर विस्तृत मुक्तिरूपी भूमिको प्राप्तकर मैं सुखपूर्वक विहार करता हूँ ॥ ६७ ॥

संकल्पका नाश होनेपर क्षीण हो रहा अतएव मनमें (मनःस्वभावमें) स्थित न हुआ यह मन वासनाजालसे रहित होकर वर्षा ऋतुके अन्तमें मेघके समान नष्ट हो जायगा ॥ ६८ ॥

त्वचा, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र नामके धातुओंका संघातरूप यह देहनामक मेरा शत्रु मनके क्षीण होनेपर चाहे नष्ट हो जाय, चाहे रहे मेरी कोई भी क्षति नहीं है ॥ ६९ ॥

यदर्थं किल भोगश्रीर्वाञ्छते स्वकलेवरम् ।
तन्मे नाऽपि न तस्याऽहं कोऽर्थः सुखलवेन मे ॥ ७० ॥
नाऽहं देह इति त्वस्मिन् युक्तिमाकर्णय क्रमे ।
सर्वाङ्गेष्वपि सत्स्वेत्र शवः कस्मान्न वल्गति ॥ ७१ ॥
तस्माद्देहादतीतोऽहं नित्योऽनस्तमितद्युतिः ।
यः सङ्गं भास्वता प्राप्य वेद्मि व्योमनि भास्करम् ॥ ७२ ॥
नाऽज्ञोऽहं न च मे दुःखं नाऽनर्थो न च दुःखिता ।
शरीरमस्तु मा वाऽस्तु स्थितोऽस्मि विगतज्वरः ॥ ७३ ॥
यत्राऽऽत्मा तत्र न मनो नेन्द्रियाणि न वासनाः ।
पामराः परितिष्ठन्ति निकटे न महीभृतः ॥ ७४ ॥

देहके रहनेपर दुःख क्यों नहीं रहेगा, ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो देह-सम्बन्धके हेतुभूत मनके नाशसे देहका संबन्ध ही नहीं है, दुःखप्राप्ति तो दूर गई, इस आशयसे कहते हैं—**'यदर्थम्'** इत्यादिसे ।

जिसके लिए भोगेच्छु अपनी देहकी इच्छा करता है वह मेरा सम्बन्धी नहीं है और न मैं ही उसका सम्बन्धी हूँ । मेरा सुखलेशसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ७० ॥

मैं देह नहीं हूँ, इस अवश्य ज्ञातव्य अर्थमें युक्तिको सुनिये । यदि देह मैं (आत्मा) होऊँ, तो सब अंगोंके रहनेपर भी शव (मुर्दा) क्यों व्यवहार नहीं करता ? इससे सिद्ध हुआ कि देह आत्मा नहीं है ॥ ७१ ॥

शवमें बोध आदिके अदर्शनसे यह सिद्ध हुआ कि मैं देहसे अतिरिक्त हूँ, नित्य हूँ, मेरी ज्योति कभी अस्त नहीं होती । जो व्यापक होनेके कारण सूर्य-मण्डलमें भी स्थित होनेसे सूर्यसे संगत होकर आकाशमें सूर्यको जानता हूँ, वही चिद्रूप मैं हूँ ॥ ७२ ॥

न तो मैं अज्ञानी हूँ, न मुझे दुःख है, न अनर्थ है और न मुझमें दुःखिता है । मेरा शरीर रहे चाहे मत रहे मैं सन्तापशून्य होकर स्थित हूँ ॥ ७३ ॥

भूमामें (सर्वव्यापक ब्रह्ममें) मन आदिकी प्राप्ति ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'यत्र'** इत्यादिसे ।

पदं तदनुयातोऽस्मि केवलोऽस्मिजयाम्यहम् ।
निर्वाणोऽस्मि निरंशोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरीप्सितः ॥७५॥
इदानीमस्म्यसम्बद्धो मनोदेहेन्द्रियादिभिः ।
पृथक्कृतस्य तैलस्य तिलैर्विगलनैरिव ॥ ७६ ॥
स्वस्मात् पदवरादस्माल्लीलया चलितस्य मे ।
पृथक्कृतमतेः किञ्च परिवारो ह्ययं शुभः ॥ ७७ ॥
स्वच्छतोर्जिततता सत्ता हृद्यता सत्यता ज्ञता ।
आनन्दितोपशमिता सदा च मृदुभाषिता ॥ ७८ ॥
पूर्णतोदारता सत्या कान्तिमत्त्वैकतानता ।
सर्वैकता निर्भयता क्षीणद्वित्वविकल्पता ॥ ७९ ॥
नित्योदिताः समाः स्वस्थाः सुन्दर्यः सुभगोदयाः ।
ममैकात्ममतेर्नित्यं कान्ता हृदयवल्लभाः ॥ ८० ॥

जैसे राजाके निकट पामर लोग नहीं रह सकते वैसे ही जहांपर आत्मा है वहां न मन रहता है, न इन्द्रियाँ रहती हैं और न विविध वासनाएँ ही रहती हैं ॥ ७४ ॥

मैं उस परमपदको प्राप्त हो चुका हूँ। मैं सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद-रहित हूँ, मैं सबसे उत्कृष्ट ब्रह्मरूप हूँ, तीनों तापोंकी शान्तिसे निर्वाणरूप हूँ, परिपूर्ण होनेके कारण अंशरहित हूँ, आप्तकाम होनेके कारण मुझे किसी वस्तुकी अभिलाषा नहीं है अतएव मैं निरीह हूँ ॥ ७५ ॥

जैसे तिलोंसे पृथक् किये गये तेलका पेरे हुए तिलोंसे कोई संबन्ध नहीं रहता वैसे ही मन, देह, इन्द्रिय आदिसे अब मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रारब्ध-शेषके भोगके लिए इस स्वात्मरूप श्रेष्ठ पदसे व्यवहाराभासमें अवतीर्ण हुए पूर्व वासनासे पृथक्कृतमतिवाले मेरा यह देहेन्द्रिय आदि परिवार परिजनकी भाँति विनोदहेतु है ॥ ७६, ७७ ॥

पूर्वोक्त प्रारब्धशेष-भोगलीलामें स्वच्छता आदि गुणसम्पत्तियां मेरी हृदयंगम कान्ताएँ हैं, यों उनका निरूपण करते हैं—'**स्वच्छता**' इत्यादि तीन श्लोकोंसे।

स्वच्छता, पूर्णकामता, सत्ता (सद्रूपता), सर्वप्रियता, सत्यता (अबाध्यता), ज्ञानिता, आनन्दस्वरूपता, निर्विकारता, सदा मृदुभाषिता, पूर्णता, निर्लोभता, अबाधित

सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वस्मिन् संभवत्यतः ।
सर्वं प्रति मम क्षीणे वाञ्छावाञ्छे सुखासुखे ॥ ८१ ॥

विगतमोहतया विमनस्तया
गतविकल्पनचित्ततया स्फुटम् ।
उपरमाम्यहमात्मनि शीतले
घनलवः शरदीव नभस्तले ॥ ८२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे उद्दालकविचारविलासो नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

स्वभावता, कान्तिमत्ता, एकतानता, सर्वात्मकता, निर्भयता, द्वित्वादिविकल्पाभावता आदि ये मेरी नित्य उदित हुई स्वस्थ, सम, सुन्दरी तथा सुन्दर उदयवाली कान्ताएँ हैं, जो एकमात्र आत्मनिष्ठ मुझे सदा प्रिय हैं ॥ ७८–८० ॥

सबमें सब कुछ सदा सर्वथा कल्पनासे संभव है, अतः सब विषयोंके प्रति मेरे राग-द्वेष और उनके फल सुख-दुःख क्षीण हो गये हैं ॥ ८१ ॥

इसलिए मैं शरत्-ऋतुमें आकाशमें मेघ खण्डके समान शीतल (त्रिविधतापशून्य) आत्मामें दृश्यभावका त्याग करके विश्राम लेता हूँ, क्योंकि मेरा मोह मिट चुका है, मेरा मन क्षीण हो गया है, अतएव चित्तके संकल्प-विकल्प भी मुझमें नहीं रह गये हैं ॥ ८२ ॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त



चतुःपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति निर्णीय ततया धिया धवलया मुनिः ।
बद्धपद्मासनस्तस्थावर्धोन्मीलितलोचनः ॥ १ ॥
ओमित्येतत् परं ब्रह्म निर्णीय स मुनिस्तदा ।
ॐकारोच्चारितो येन तेनाऽऽप्तं परमं पदम् ॥ २ ॥
ॐकारमकरोत् तारस्वरमूर्ध्वगतध्वनिम् ।
सम्यगाहतलाङ्गूलं घण्टाकुण्डमिवाऽऽरवम् ॥ ३ ॥
ओमुच्चारयतस्तस्य संवित्तत्त्वे तदुन्मुखे ।
यावदोङ्कारमूर्धस्थे वितते विमलात्मनि ॥ ४ ॥

चौवनवाँ सर्ग

[जलाने, जलप्लावन आदि द्वारा अपने शरीरमें विष्णुशरीरकी भावना कर रहे उद्दालक मुनिका विकल्पोंको हटाकर समाधिमें विश्राम लेना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, विशुद्ध तथा विशाल बुद्धिसे इस प्रकार निर्णय कर पद्मासन लगा कर और नेत्रोंको आधे मींचकर मुनि बैठ गये ॥ १ ॥

जिसने ॐकारका उच्चारण किया, उसको परमपद अवश्य प्राप्त हो गया, क्योंकि ॐ यह अक्षर परब्रह्मका प्रधान नाम और अन्तरङ्ग प्रतीक है, अतः यह अक्षर परब्रह्म ही है ऐसा निश्चय कर उद्दालक मुनिने घण्टेके अधोभागमें लटके हुए लोहेके जीभके आकारके लटकनको अच्छी तरह ताडन करनेसे घण्टेके आकाशभागमें उत्पन्न नादकी तरह ॐकारका, जिसका ऊँचा स्वर था तथा ध्वनि ऊपरको गई थी, उच्चारण किया ॥ २, ३ ॥

उद्दालक मुनिने तबतक ॐकारका उच्चारण किया जबतक कि उनकी उस प्रकारसे उच्चारित प्रणवध्वनि मूलाधारसे उठकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त परिव्याप्त न हुई और उनके संवित्तत्त्व (ॐकाराकार बुद्धिवृत्ति) और जीवतत्त्व (जीवाख्य चैतन्य यानी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) अर्द्धमात्राके उच्चारणके बाद यानी अर्धमात्रोच्चारणका उपरम होनेपर जो निरंशकूटस्थ चैतन्य (ब्रह्मचैतन्य) अनुभूतिमें अभिव्यक्त होता है, उसी ब्रह्मचैतन्यके अभिमुख न हो गये ॥ ४ ॥

सार्धत्र्यंशात्ममात्रस्य प्रथमेंऽशे स्फुटारवे ।
प्रणवस्य समाक्षुब्धप्राणारणितदेहके ॥ ५ ॥
रेचकाख्योऽखिलं कायं प्राणनिष्क्रमणक्रमः ।
रिक्तीचकार पीताम्बुरगस्त्य इव सागरम् ॥ ६ ॥
अतिष्ठत् प्राणपवनश्चिद्रसापूरिताम्बरे ।
त्यक्तदेहः परित्यक्तनीडः खग इवाऽम्बरे ॥ ७ ॥
हृदयाग्निर्ज्वलज्ज्वालो ददाह निखिलं वपुः ।
उत्पातपवनोद्धूतो दावः शुष्कमिव द्रुमम् ॥ ८ ॥

निर्विकल्प समाधिकी स्थितिकी योग्यताकी सिद्धिके लिए पहले उसी प्रणव द्वारा स्थूल देहका शोषण (सुखाना), दहन (जलाना), दुष्ट भस्मांशका निरसन (दूर करना), आप्लावन (क्षालन), दूसरे दिव्य शरीरका निर्माण आदि प्रणव-भावनासे सम्पन्न हुआ, यह कहते हैं—**'सार्धत्र्यंशात्ममात्रस्य'** इत्यादिसे ।

अर्धमात्रासहित अकार, उकार, मकाररूप तीन अवयववाले प्रणवके प्रथम अंश उदात्त 'अकार' का उच्च स्वरसे तारभाव अभिव्यक्त होनेपर बाहर निकलनेके लिए उद्यत प्राणों द्वारा मूलाधारसे लेकर ओष्ठपुटतक शरीरको ध्वनित करनेपर रेचक नामवाले प्राण निकलनेके क्रमने जिस प्रकार अगस्त्य ऋषिने जल पीकर समुद्रको रिक्त कर दिया था उसी प्रकार समस्त शरीरको खाली कर दिया अर्थात् उद्दालकमुनिने रेचन द्वारा शरीरको सुखा दिया ॥ ५, ६ ॥

मुनिका रेचित प्राणवायु कहाँ ठहरा, इसपर कहते हैं—**'अतिष्ठत्'** इत्यादिसे ।

जिस प्रकार पक्षी घोंसलेको छोड़कर आकाशमें घूमता है उसी प्रकार उनका रेचित प्राणवायु शरीरका त्यागकर ब्रह्मकी भावनासे अभिव्यक्त हार्दरससे भरे हुए बाह्याकाशमें स्थित हुआ ॥ ७ ॥

निरन्तर ब्रह्मभावनासे क्या हुआ ? यह कहते हैं—**'हृदयाग्नि०'** इत्यादिसे ।

प्राणोंके निष्क्रमण और संघर्षसे हृदयमें भावना द्वारा उत्पन्न हुई जलती ज्वालाओंवाली अग्निने, जिस प्रकार उत्पातपवनसे पैदा हुई दावाग्नि शुष्क वृक्षोंको जला देती है उसी प्रकार उनके सारे शरीरको जला दिया ॥ ८ ॥

यावदित्थमवस्थैषा प्रणवप्रथमक्रमे ।
बभूव न हठादेव हठयोगो हि दुःखदः ॥ ९ ॥
अथेतरांशावसरे प्रणवस्य समस्थितौ ।
निष्कम्पकुम्भको नाम प्राणानामभवत् क्रमः ॥ १० ॥
न बहिर्नाऽन्तरे नाऽधो नोर्ध्वे नाऽऽशासु तत्र ते ।
संक्षोभमगमन् प्राणा आपः संस्तम्भिता इव ॥ ११ ॥
दग्धदेहपुरो वह्निः शशामाऽशनिवत् क्षणात् ।
अदृश्यत सितं भस्म शारीरं हिमपाण्डुरम् ॥ १२ ॥
यत्र कर्पूरशय्यायां सुप्तानीव सुखोचितम् ।
शरीरास्थीनि लक्ष्यन्ते निष्पन्दानि सितानि च ॥ १३ ॥
तद्भस्म पवनानीतं सास्थि वायुरयोजयत् ।
स्वदेहे भृशमुत्सन्ने त्रिनेत्रव्रतवानिव ॥ १४ ॥

इस प्रकार प्रणवके प्रथम अंशमें जितनी यह पूर्वोक्त अवस्था हुई, सब भावनासे ही हुई हठसे नहीं हुई, क्योंकि हठयोगसे अर्थात् बलात्कारसे प्राणोंको बाहर निकालनेमें मूर्छा, मरण आदिका भय रहता है ॥ ९ ॥

इसके अनन्तर दूसरे 'उकार' अंशके अनुदात्तस्वरसे गंभीर उच्चारणके समय प्रणवकी समस्थिति होनेपर प्राणोंका निश्चल कुम्भक नामका क्रम हुआ ॥ १० ॥

वे प्राण न बाहर थे, न भीतर थे, न अधोभागमें थे, न ऊर्ध्वभागमें थे और न दिशाओंमें थे, बाँधमें रुके हुए जलकी तरह संक्षुब्ध थे ॥ ११ ॥

अग्नि शरीररूपी नगरको जला कर बिजलीकी तरह क्षणभरमें शान्त हो गई, बरफकी तरह सफेद रंगवाली शरीरकी भस्म दिखाई दी ॥ १२ ॥

जिस अवस्थामें शरीरकी निश्चल एवं श्वेत हड्डियाँ मानो कपूरके चूर्णसे सुसज्जित शय्यामें उचित सुखसे सोई हुई-सी भावनासे मालूम पड़ीं ॥ १३ ॥

आँधीसे उड़ाई हुई हड्डियोंसे युक्त वह भस्म श्रीमहादेवजीके भस्मधारणरूपी व्रतवालेकी नाईं प्रचण्ड वायुने तपस्यासे कृश शरीरकी तरह अलक्ष्य अपने शरीरमें लगाई अर्थात् उड़ाई ॥ १४ ॥

तच्चण्डपवनोद्धूतमावृत्य गगनं क्षणात् ।
शरदीवाऽभ्रमिहिका क्वाऽपि भस्माऽस्थिमद् ययौ ॥ १५ ॥
यावदित्थमवस्थैषा प्रणवस्याऽपरे क्रमे ।
बभूव न हठादेव हठयोगो हि दुःखदः ॥ १६ ॥
ततस्तृतीयावसरे प्रणवस्योपशान्तिदे ।
पूरणात् पूरको नाम प्राणानामभवत् क्रमः ॥ १७ ॥
अस्मिन्नवसरे प्राणाश्चेतनामृतमध्यगाः ।
व्योम्नि शीतलतामीयुर्हिमसंस्पर्शसुन्दरीम् ॥ १८ ॥

प्रचण्ड वायुसे उड़ाई हुई वह हड्डियोंसे मिली हुई भस्म क्षणभर आकाशको ढक कर शरद् ऋतुकी बदलीकी तरह कहीं चली गई ॥ १५ ॥

इस प्रकार यह जितनी भी अवस्था प्रणवके दूसरे अंशमें (कुम्भकक्रममें) हुई सब भावना द्वारा ही हुई हठसे नहीं हुई, क्योंकि हठयोग दुःखद होता है जैसा कि पूर्वक्रममें बताया गया है ॥ १६ ॥

इसके अनन्तर प्रणवके उपशान्तिप्रद तृतीय मकारक्रममें अर्थात् मकारोच्चारणके समयमें पूरण करनेके कारण प्राणोंका 'पूरक' नामका क्रम उत्पन्न हुआ ।

[यद्यपि रेचक, कुम्भक और पूरक समग्र प्रणवके ही साधन प्रसिद्ध हैं तथापि रेचकमें प्रथम भागका ही विस्तार किया जाता है, कुम्भकमें मध्यभागका और पूरकमें चरम भागका (अन्तिम भागका), क्योंकि कण्ठसे निकलते हुए प्राणवायुसे कण्ठस्थानीय अकार भागकी ही अभिव्यक्ति होती है, संकुचित हो रहे ओष्ठोंसे उकार भागकी और ओष्ठोंके सम्पुटित होनेपर मकार भागकी अभिव्यक्ति होती है । मकार भागकी अभिव्यक्तिके समय प्राणवायु यद्यपि पुनः प्रवेश करता है, तो भी उसमें प्रणवके संस्कारका ही अनुवर्तन होता है, इसलिए तत्-तद् भागके अवसरविभागकी उक्ति है, ऐसा समझना चाहिए] ॥ १७ ॥

इस तृतीय अवसरमें, जीवचैतन्यमें (जीवचित्में) अर्थात् जीवात्मामें भावना द्वारा भावित अमृतके (ब्रह्मके) मध्यमें गये हुए प्राणोंने हिमके स्पर्शकी तरह सुन्दर शीतलता प्राप्त की ॥ १८ ॥

क्रमाद् गगनमध्यस्थाश्चन्द्रमण्डलतां ययुः ।
धूमा गगनकोशस्थाः शीतलाम्बुदतामिव ॥ १९ ॥
कलाकलापसम्पूर्णे ते तस्मिंश्चन्द्रमण्डले ।
पुण्यराशाविवाऽऽपूर्णे रसायनमहार्णवे ॥ २० ॥
रसायनमया धाराः संपन्नाः प्राणवायवः ।
मणियष्टिसमाकारा जालेष्विन्दोरिवांऽशवः ॥ २१ ॥
सा पपाताऽम्बराद् धारा शेषे शारीरभस्मनि ।
रसायनी हरशिरःपतितेव सुरापगा ॥ २२ ॥
उदभूदिन्दुबिम्बाभं चतुर्बाहुवपुस्तया ।
प्रस्फुरन्मन्दरादब्धेः पारिजात इव द्रुमः ॥ २३ ॥
उद्दालकशरीरं तन्नारायणतयोदितम् ।
प्रफुल्लनेत्रवक्त्राब्जमाबभौ दीप्तिसुन्दरम् ॥ २४ ॥

जिस प्रकार गगनकोषमें स्थित कुहरा शीतल मेघभावको प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार आकाशके मध्यमें स्थित प्राण क्रमसे चन्द्रमण्डलताको प्राप्त हुए ॥ १९ ॥

अमृतमय कलाओंके समूहसे भली भाँति पूर्ण एवं धर्ममेघाख्यसमाधिकी तरह आह्लादसे भरे हुए, रसायनमहासागररूपी उस चन्द्रमण्डलमें प्राणवायु जिस प्रकार गवाक्षमें (झरोखेमें) गई हुई चन्द्रकिरणें स्फटिक दण्डाकार हो जाती हैं उसी तरह अमृतमय किरणोंकी धारा बन गये ॥ २०–२१ ॥

जिस प्रकार महादेवजीके सिरपर अमृतमय गङ्गाकी धारा गिरती है उसी प्रकार प्राणोंकी वह अमृतमय धारा शेष बचे हुए शरीरके भस्मपर आकाशसे गिरी ॥ २२ ॥

जिस प्रकार मथन करनेसे चञ्चल मन्दराचलवाले समुद्रसे पारिजात वृक्ष उत्पन्न हुआ था उसी प्रकार उक्त अमृतमय धारासे चन्द्रबिम्बकी तरह कान्तिवाला चार भुजाओंसे युक्त शरीर उत्पन्न हुआ ॥ २३ ॥

नारायणरूपसे प्रादुर्भूत एवं कमलकी तरह खिले हुए नेत्र एवं प्रसन्न मुखवाला अतएव कान्तिसे मनोहर उद्दालकका शरीर अत्यन्त सुशोभित हुआ ॥२४॥

रसायनमयाः प्राणास्तच्छरीरमपूरयन् ।
सलिलौघा इव सरो वृक्षं मधुरसा इव ॥ २५ ॥
अन्तःकुण्डलिनीं प्राणाः पूरयामासुराहृताः ।
चक्रानुवर्तप्रसृतां पयांसीव सरिद्वराम् ॥ २६ ॥
प्रकृतस्थं बभूवाऽस्य तच्छरीरं द्विजन्मनः ।
प्रावृट्शरीरविगमे धौतं तलमिवाऽवनेः ॥ २७ ॥
अथ पद्मासनगतः कृत्वा देहे स्थितिं दृढम् ।
आलान इव मातङ्गं निबद्ध्येन्द्रियपञ्चकम् ॥ २८ ॥
निर्विकल्पसमाध्यर्थं व्यवसायमुपाददे ।
स्वभावं स्वच्छतां नेतुं शरत्काल इवाऽमलम् ॥ २९ ॥
प्रशान्तवातहरिणमाशादिगणगामिनम् ।
चिन्तया हृदयं निन्ये दूराद्रज्ज्वेव कीलकम् ॥ ३० ॥

जिस प्रकार जलका समुदाय सरोवरको एवं वसन्त ऋतुमें कोमल पत्तोंको पैदा करनेवाले पार्थिव रस वृक्षको सर्वाङ्गपूर्ण बना देते हैं उसी प्रकार अमृतमय प्राणोंने उनके शरीरको सर्वाङ्गपूर्ण बना दिया ॥ २५ ॥

जिस प्रकार चक्राकार भँवरोंसे बह रही श्रीगङ्गाजीको जल पूर्ण करते हैं उसी प्रकार प्राणोंने अन्दर कुण्डलिनीको पूर्ण किया ॥ २६ ॥

दहन, प्लावन आदि द्वारा विष्णुशरीररूपसे उनकी उत्पत्ति कहनेका प्रयोजन कहते हैं—'**प्रकृतस्थं बभूवाऽस्य**' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार शरद ऋतुमें अन्तिम वृष्टिसे धुला हुआ और शीघ्र सूखा हुआ पृथिवीतल वर्षाकालके कीचड़ वगैरहके नष्ट हो जानेपर निर्मल हो जनताके यातायात आदि कार्यके योग्य हो जाता है उसी प्रकार उक्त ब्राह्मणका शरीर भी दहन, प्लावन आदिकी भावनासे कालुष्यरहित होकर प्रकृत समाधिरूप कार्यमें स्थित हो गया ॥ २७ ॥

इसके बाद पद्मासन लगाकर उस भावमय शरीरमें दृढ़तासे स्थित होकर उद्दालक मुनिने जिस प्रकार बन्धनस्तम्भमें हाथीको बांधते हैं उसी प्रकार देहमें पाँचों इन्द्रियोंको बाँधकर निर्विकल्पक समाधिके लिए तथा मनको, जिसमें प्राणायाम द्वारा प्राणवायुरूपी मृग शान्त हो चुके थे और जो आशा, लोभ, तृष्णा, उत्कण्ठा,

धावमानमधो मत्तं चित्तं विमलमाकुलम् ।
बलात् संरोधयामास सेतुर्जलमिव द्रुतम् ॥ ३१ ॥
निमिमील दृशावर्धं परिपक्ष्मलपक्ष्मके ।
निस्पन्दतारामधुरे सन्ध्याकाल इवाऽम्बुजे ॥ ३२ ॥
सौम्यतामनयन्मौनी प्राणापानजवं मुखे ।
श्वसनं श्रेयसे देशे प्रशस्तः समयो यथा ॥ ३३ ॥
तिलेभ्य इव तैलानि पृथक् चक्रे प्रयत्नतः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः कूर्मोऽङ्गानीव गोपयन् ॥ ३४ ॥

प्रतीक्षा आदिके पीछे पीछे दौड़नेवाला था, स्वच्छ बनानेके लिए ऐसे उद्योग किया जैसे कि शरत्काल शान्त मृगवाले तथा दिशाओंमें फैले हुए अपने निर्मल स्वभावको स्वच्छ करनेके लिए उद्योग करता है। परन्तु इस अवस्थामें जिस प्रकार ढीले गड़े हुए अश्व आदिके बाँधनेके खूँटेको अश्व आदिसे खींची गई रस्सी उखाड़कर खींच लेती है उसी प्रकार पूर्वानुभूत घर, खेत, पुत्र, मित्र आदिकी चिन्ताने उनके मनको दूर आकृष्ट किया ॥ २८—३० ॥

जिस प्रकार अतिशीघ्रतासे बह रहे जलको पुल अर्थात् बाँध रोक देता है उसी प्रकार उन्होंने गृह, पुत्र, मित्र आदि क्षुद्रविषयोंमें भागते हुए उन्मत्त व्याकुल मनको विवेकबलसे निर्मल बना कर रोक दिया ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार संध्याकाल निश्चल आँखकी पुतलीके सदृश भ्रमरोंसे युक्त कमलोंको संकुचित कर देता है उसी प्रकार उन्होंने निश्चल पुतलियोंसे मनोहर एवं दोनों पलकोंके मिलनेसे सघन केशोंसे युक्त पक्ष्मोंवाले नेत्रोंको आधा मींच लिया ॥३२॥

जिस प्रकार चक्रवर्तीका प्रशस्त जन्मसमय जगत्का कल्याण सूचित करनेके लिए शीतल, मन्द और सुगन्ध वायुको उसके जन्मदेशमें सम अर्थात् न अतिवेगसे और न अतिमन्द चालसे बहाता है उसी प्रकार उक्त ऋषिने मौनी होकर प्राण, अपानके वेगको मुखमें क्षोभ, वैषम्य आदिसे रहित कर दिया ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार कूर्म (कछुआ) अपने अङ्गों एवं इन्द्रियोंको छिपाता है उसी प्रकार इन्द्रियोंको छिपाते हुए उन्होंने प्रयत्न द्वारा इन्द्रियां विषयोंसे इस प्रकार पृथक् कर दीं जिस प्रकार तिलोंसे तैल पृथक् किया जाता है ॥ ३४ ॥

बाह्यस्पर्शानशेषेण जहौ दूरे स धीरधीः ।
सहसा कुण्डकच्छन्नो मणिर्दूरत्विषो यथा ॥ ३५ ॥
विलीनानान्तरांश्चक्रे स्पर्शानुज्झितदर्शनात् ।
रसान् विटपकोशस्थान् मार्गशीर्ष इव द्रुमः ॥ ३६ ॥
रुरोध गुदसंकोचान्नवद्वारानिलानथ ।
मुखसंस्थगितः कुम्भो रन्ध्रकोशानिवेतरान् ॥ ३७ ॥
स्वात्मरत्नप्रकाशाढ्यां स्पष्टां कुसुमलाञ्छिताम् ।
दधार कन्धरां धीरो मेरुः श्रृङ्गशिखामिव ॥ ३८ ॥
बभार हृदयाकाशे मनः संयममागतम् ।
विन्ध्यखात इवोन्मत्तं गजं युक्तिवशीकृतम् ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार छोटे कुण्डेसे सहसा ढकी हुई मणि दूरतक फैली हुई किरणोंको छोड़ देती है उसी प्रकार समस्त बाह्य स्पर्शोंको (बाह्य विषयोंको) उस धीर बुद्धिवालेने सहसा दूर छोड़ दिया ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार वृक्ष पत्रोंके कोशमें स्थित रसको (जलको) मार्गशीर्षमें नष्ट कर देता है उसी प्रकार उहोंने समस्त वस्तुओंका दर्शन छूट जानेसे मनोवासना-रूप आभ्यन्तरिक विषयोंको—आकर्षण द्वारा बाध होनेसे—अधिष्ठानतत्त्वमें विलीन कर दिया ॥ ३६ ॥

इसके बाद जिस प्रकार मुखमें कसकर बाँधा हुआ जलपूर्ण औंधा (अधोमुख) घड़ा अन्दर वायुके प्रवेशके बिना दूसरे छिद्रोंसे जलके न चूनेसे इतर रन्ध्रकोशों-को रोकता है, उसी प्रकार उन्होंने मूलाधारके अवरोधसे पार्ष्णि द्वारा (एड़ी द्वारा) मलद्वारके संकोचसे नवद्वारके (नौ द्वारोंसे निकलनेवाले) वायुओंको रोक दिया ॥ ३७ ॥

जैसे मेरु अपने रत्नोंके प्रकाशसे पूर्ण एवं कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे सुशोभित अतएव विशद शिखरको धारण करता है वैसे ही उस धीरने अपने आत्मरूपी रत्नके प्रकाशसे प्रकाशित तथा प्रसन्न मुखरूपी कमलपुष्पसे सुशोभित एवं रजोगुण तथा तमोगुणसे अनावृत कन्धेको धारण किया ॥ ३८ ॥

जैसे हाथी पकड़नेवाले लोग विन्ध्याचलके गड्ढेमें युक्तियोंसे वशमें किये हुए उन्मत्त हाथीको पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार उन्होंने एक विषयमें धारणा-ध्यान-समाधिरूप

शरन्नभोवदासाद्य निर्मलामतिसौम्यताम् ।
जहार परिपूर्णाब्धेर्निर्वातस्याऽचलां श्रियम् ॥ ४० ॥
दुधावाऽतिविकल्पौघान् प्रतिभासमुपेयुषः ।
पुरः परिस्फुरद्रूपान् मशकानिव मारुतः ॥ ४१ ॥
आगच्छतो यथाकामं प्रतिभासान् पुनः पुनः ।
अच्छिनन्मनसा शूरः खड्गेनेव रणे रिपून् ॥ ४२ ॥
विकल्पौघे परालूने सोऽपश्यद्धृदयाम्बरे ।
तमश्छन्नविवेकार्कं लोलकज्जलमेचकम् ॥ ४३ ॥
तमप्युन्मार्जयामास सम्यक्स्वान्तविवस्वता ।
सम्यग्ज्ञानोदितेनाऽऽशु पवनेनेव कज्जलम् ॥ ४४ ॥

संयमके प्रति उन्मुख (आकृष्ट) एवं प्रत्याहाररूप उपायोंसे वशमें किये हुए मनको हृदयाकाशमें धारण किया ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार शरदृऋतुमें आकाश निर्मल सौम्यताको प्राप्त करता है उसी प्रकार उन्होंने क्षोभ आदिविहीनता प्राप्त करके निर्वात एवं परिपूर्ण समुद्रकी अचल शोभाको हर लिया । भाव यह है कि धारणा द्वारा आत्मध्यानमें पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त की ॥ ४० ॥

जिस प्रकार सामने उड़ते हुए मच्छरोंको वायु दूर उड़ा ले जाता है उसी प्रकार ब्रह्माकारचित्तवृत्तिमें विक्षेप करनेके लिए विपरीत भावनासे उठे हुए विकल्पोंको उन्होंने दूर भगा दिया अर्थात् नष्ट कर दिया ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार शूरवीर पुरुष सामने आये हुए शत्रुओंको रणमें तलवारसे काट डालता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी उद्दालकने अपनी इच्छानुसार बार बार आ रहे विपरीत भावनाजन्य (मिथ्यावासनासे उत्पन्न) विकल्पोंको दृढ़ मनके द्वारा नष्ट कर दिया ॥४२॥

विकल्पोंके समूहका उच्छेद हो जानेपर उन्होंने अपने हृदयाकाशमें चञ्चल कज्जलकी तरह काले तमोगुणकी अधिकतासे उत्पन्न अन्धकारको, जिसने विवेकरूपी सूर्यको आच्छन्न कर दिया था, देखा ॥ ४३ ॥

उन्होंने पवनसे कज्जलके समान सत्त्वगुणके उद्रेकसे उदित ज्ञानरूपी प्रकाशवाले अन्तःकरणरूपी सूर्यसे उस तमोगुणरूपी अन्धकारको भी शीघ्र अच्छी तरह नष्ट कर दिया ॥ ४४ ॥

तमस्युपरते कान्तं तेजःपुञ्जं ददर्श सः ।
शार्वरे तिमिरे शान्ते प्रातः सन्ध्यामिवाऽम्बुजम् ।। ४५ ।।
तल्लुलाव स्थलाब्जानां वनं बाल इव द्विपः ।
अपिबच्चाऽप्यसृक्पूरं वेताल इव वेगतः ।। ४६ ।।
तेजस्युपरते तस्य घूर्णमानं मनो मुनेः ।
निशाब्जवदगान्निद्रां लोलं क्षीबवदेव वा ।। ४७ ।।
मेघमालामिव मरुद् व्यालो नीलाब्जिनीमिव ।
यामिनीमिव तीक्ष्णांशुस्तामप्याशु लुलाव सः ।। ४८ ।।

जैसे रात्रिसम्बन्धी अन्धकारके शान्त हो जानेपर कमल उदित हो रहे सूर्यसे युक्त प्रातःसन्ध्याको देखता है, वैसे ही उद्दालकने तमोगुणरूपी अन्धकारके शान्त हो जानेपर मनोहर तेजके समूहको देखा अर्थात् उन्हें सत्त्वगुणके अनुरूप तेजःपुञ्जका भ्रम हुआ ।। ४५ ।।

जिस प्रकार हाथीका बच्चा स्थलकमलोंके वनको छिन्न-भिन्न कर देता है उसी प्रकार उन्होंने उस भ्रमको नष्ट कर दिया ।

शङ्का—उन्होंने उक्त भ्रमको सत्त्वगुणके विरोधी रजोगुण आदिसे नष्ट कर दिया अथवा और किसीसे ?

समाधान—जिस प्रकार पिशाच वर्तनमें भरे हुए रक्तको अत्यन्त वेगसे क्षणभरमें पी जाता है उसी तरह वे तेजःपुञ्जात्मक भ्रमको शीघ्र पी गये अर्थात् अधिष्ठान तत्त्वका साक्षात्कार होनेसे उसका बाध हो गया, रजोगुणादि द्वारा तेजःपुञ्जका नाश नहीं हुआ ।। ४६ ।।

जिस प्रकार सूर्यके अस्त होनेपर रात्रिमें तालाबकी तरङ्गोंसे चञ्चल कमल बन्द हो जाता है अथवा जिस प्रकार उन्मत्त घूरता हुआ शराबी रात्रिमें नशेसे निद्राको प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार उस मुनिका चञ्चल और घूरता हुआ मन तेजःपुञ्जके उपरत होनेपर विषयका लाभ न होनेसे निद्रामें डूब गया ।। ४७ ।।

जिस प्रकार वायु मेघपङ्क्तिको, दुष्ट हाथी नील कमलिनीको और सूर्य रात्रिको छिन्न-भिन्न कर देता है उसी प्रकार उस मुनिने उस निद्राको भी शीघ्र छिन्न-भिन्न कर दिया ।। ४८ ।।

निद्राव्यपगमे तस्य भावयामास तन्मनः ।
व्योमश्यामलदृग्जन्तुर्नभसीव शिखण्डकान् ॥ ४९ ॥
पयोद इव तापिच्छं नीहारमिव मारुतः ।
दीपस्तम इवाऽच्छात्म तदप्याशु ममार्ज सः ॥ ५० ॥
व्योमसंविद्विनष्टायां मूढं तस्याऽभवन्मनः ।
निद्रायां तु विलीनायां मैरेयमदवानिव ॥ ५१ ॥
मोहमप्येष मनसस्तं ममार्ज महाशयः ।
यामिनीजनितं जाड्यं भुवनादिव भास्करः ॥ ५२ ॥
ततस्तेजस्तमोनिद्रामोहादिपरिवर्जितम् ।
कामप्यवस्थामासाद्य विशश्राम मनः क्षणम् ॥ ५३ ॥
विश्रम्याऽऽशु पपाताऽङ्ग संविदं विश्वरूपिणीम् ।
सेतुरुद्धं सरोवारि प्रतीपं स्वमिवाऽऽस्पदम् ॥ ५४ ॥

जिस प्रकार सूर्यके घामकी ओर दृष्टि लगाये हुए पुरुषको आकाशमें बालोंके गोले, मयूर आदिके पुच्छकी तरह चमचमाहट प्रतीत होती है उसी प्रकार उनके मनने निद्राका नाश होनेपर आकाश नानारूपवाला है ऐसी भावना की ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार मेघ तमाल पुष्पको, वायु कुहरेको और दीपक अन्धकारको नष्ट कर देता है उसी प्रकार मुनिने स्वच्छ स्वभाववाले आकाशमें देखे हुए नाना-रूपोंको भी नष्ट कर दिया ॥ ५० ॥

जिस प्रकार निद्रा-भङ्ग हो जानेपर शराबी विक्षिप्त-सा (पागल-सा) हो जाता है उसी प्रकार आकाशके पूर्वोक्त भ्रमात्मक ज्ञानका नाश होनेपर उस मुनिका मन मूढ़ अर्थात् मोहाक्रान्त हो गया ॥ ५१ ॥

जिस प्रकार सूर्य संसारसे रात्रि द्वारा उत्पन्न अन्धकारको हटा देता है उसी प्रकार इस विवेकीने उस मोहको मनसे हटा दिया ॥ ५२ ॥

इसके अनन्तर तेज, अन्धकार, निद्रा, मोह आदिसे रहित मन किसी अनिर्वचनीय अवस्थाको प्राप्त करके क्षणभरके लिए विश्रान्त हुआ अर्थात् निर्विकल्पक समाधिको प्राप्त करके क्षणभरके लिए शान्त हो गया ॥ ५३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, नहर द्वारा खेतमें पहुँचाया गया सरोवरका जल खेतको

चिरानुसंधानवशात् स्वदनाच्च स्वसंविदः ।
ततश्चिन्मयतामागाद्धेमनूपुरतामिव ॥ ५५ ॥
चित्तत्वमथ संत्यज्य चित्तं चित्तत्त्वतां गतम् ।
अन्यदेव बभूवाऽऽशु पङ्कः कुम्भस्थितो यथा ॥ ५६ ॥
चेत्यं संत्यज्य चिच्छुद्धा चित्सामान्यमथाऽऽययौ ।
त्यक्तवीच्यादिभेदोऽब्धिर्वाः सामान्यमिवैकधीः ॥ ५७ ॥

भर कर पुल अर्थात् बाँधसे रुककर जिस प्रकार नहर द्वारा लौट कर उलटे प्रवाहसे फिर स्थानपर सरोवरमें आ जाता है उसी प्रकार मन क्षणभर विश्रान्त होकर पुनः शीघ्र बाह्यप्रपञ्चाकार वृत्तिको प्राप्त हो गया ॥ ५४ ॥

उसके अनन्तर, सुवर्ण जिस प्रकार नूपुरभावको प्राप्त करता है अर्थात् नूपुराकारमें परिणत हो जाता है उसी प्रकार पूर्वमें ध्यानादिसे चिरकालतक किये गये अनुसन्धानवश और समाधिमें किये गये अनुभव द्वारा रसास्वादके कारण फिर वहीं आकृष्ट हुआ मन चिदाकारवृत्तिको प्राप्त हो गया, अर्थात् चिदंशप्रधान सविकल्प समाधिके रूपमें परिणत हो गया ॥ ५५ ॥

इस प्रकार सविकल्पक समाधिसे क्रमशः इन्धनशून्य अग्निकी तरह दिन-पर-दिन क्षीण हो रहा उनका मन क्षीरनीरके समान चिदेकरस बन गया, ऐसा कहते हैं—**'चित्तत्वम्'** इत्यादिसे ।

इसके अनन्तर जिस प्रकार घड़ेमें स्थित पङ्किल जलका पङ्क जलके सूख जानेपर घटभावको प्राप्त करता है अर्थात् घटसे सम्बद्ध हो जाता है उसी प्रकार अपने चित्तत्वको छोड़कर आत्मतत्त्वरूप एकरसताको प्राप्त हुआ उनका चित्त पूर्व अवस्थासे अन्य ही हो गया अर्थात् अधिष्ठानचित्तत्त्वमें लीन हो गया ॥ ५६ ॥

चित्तके चित्तत्वके निवृत्त होनेपर उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्यकी बिम्ब चैतन्यमें एकता हो गई, ऐसा कहते हैं—**'चेत्यम्'** इत्यादिसे ।

एकरसाकार बुद्धिवाला वह जिस प्रकार तरंग आदिके भेदको छोड़ता हुआ समुद्र जलसामान्यरूपको प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार प्रतिबिम्बवृत्त्याकारको छोड़कर शुद्ध चित् (स्वप्रकाशात्मक ब्रह्म) सर्वसाक्षिचित्सामान्यरूपको प्राप्त हो गया ॥ ५७ ॥

त्यक्तभूतौघमननं ततो विश्वम्भरं महत् ।
चिदाकाशं ततः शुद्धं सोऽभवद् बोधमागतः ॥ ५८ ॥
तत्र प्रापदथाऽऽनन्दं दृश्यदर्शनवर्जितम् ।
अनन्तमुत्तमास्वादं रसायनमिवाऽर्णवम् ॥ ५९ ॥
शरीरात् समवेतोऽसौ कामप्यवनिमागतः ।
सत्तासामान्यरूपात्मा बभूवाऽऽनन्दसागरः ॥ ६० ॥
द्विजचेतनहंसोऽसावानन्दसरसि स्थितः ।
अतिष्ठच्छरदच्छे खे कलापूर्ण इवोडुपः ॥ ६१ ॥
बभूवाऽवातदीपाभो लिपिकर्मार्पितोपमः ।
वीतवीच्यम्बुधिप्रख्यो वृष्टमूकाम्बुदस्थितिः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार निर्विकल्पक समाधिमें प्रतिष्ठित उद्दालकको समाधिके परिपाकसे तत्त्वसाक्षात्कार और उसका फल 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है) इस श्रुतिमें प्रदर्शित ब्रह्मभाव प्राप्त हुआ, यह दर्शाते हैं—**'त्यक्तभूतौघमननम्'** इत्यादिसे ।

उसके अनन्तर उस समाधिसे तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुए उद्दालक द्वैतके प्रतिभाससे रहित होकर जगत्के अधिष्ठानभूत शुद्धस्वरूप महत् चिदाकाश हो गये ॥ ५८ ॥

इसके अनन्तर अमृतके गृहस्वरूप समुद्रकी नाईं उद्दालकने बाह्य प्रपञ्चके दर्शनसे रहित होकर ब्रह्मादि उत्तम प्रकृतिवालोंसे आस्वादित निरतिशय आनन्द वहाँ प्राप्त किया ॥ ५९ ॥

उद्दालक ऋषि शरीरसे पृथक् होकर शुद्ध हुएकी नाईं अनिर्वचनीय अव-स्थितिको प्राप्त करते हुए सन्मात्रस्वभावरूप होकर आनन्दके सागर हो गये ॥ ६० ॥

जैसे शरद् ऋतुके स्वच्छ आकाशमें समस्त कलाओंसे परिपूर्ण चन्द्रमा स्थित होता है। वैसे ही द्विज चेतनात्मा उद्दालक आनन्दरूपी सरोवरमें हंसकी तरह स्थित हो गये ॥ ६१ ॥

वह उद्दालक ऋषि निर्वातदीपकके सदृश कान्तिवाले, चित्रलिखितके सदृश अनन्यमनस्क, निस्तरङ्ग समुद्रके सदृश गम्भीर, एवं पूर्वमें जो वृष्टि कर चुका

अथैतस्मिन् महालोके तिष्ठन्नुद्दालकश्चिरम् ।
अपश्यद् व्योमगान् सिद्धानमरानपि भूरिशः ॥ ६३ ॥

आगतानि विचित्राणि सिद्धिजालानि चाऽभितः ।
शक्रार्कपददातॄणि नीरन्ध्राण्यप्सरोगणैः ॥ ६४ ॥

तानि नाऽऽदरयाञ्चक्रे सिद्धिवृन्दानि स द्विजः ।
गम्भीरमतिरक्षुब्धो विलासानिव शैशवान् ॥ ६५ ॥

सिद्धिसार्थमनादृत्य तस्मिन्नानन्दमन्दिरे ।
अतिष्ठदथ षण्मासान् दिक्तटेऽर्क इवोत्तरे ॥ ६६ ॥

जीवन्मुक्तपदं तत्तद्यावत् संप्राप्तवान् द्विजः ।
तत्र सिद्धाः सुराः साध्याः स्थिता ब्रह्महरादयः ॥ ६७ ॥

बादमें निर्जल और मूक (गर्जनशून्य) हो गया ऐसे मेघकी स्थितिके समान स्थितिवाले हो गये ॥ ६२ ॥

इसके अनन्तर इस महालोकमें (परम पदमें) चिरकालतक स्थित हुए अथवा इस महाप्रकाशमें चिरकालतक स्थित हुए उद्दालक ऋषिने आकाशमें चलनेवाले बहुतसे सिद्ध और देवताओंको देखा ॥ ६३ ॥

वहाँ उनके चारों ओर इन्द्रपद और सूर्यपद देनेवाले और अप्सराओंसे निविड़ सिद्धियोंके बहुतसे विचित्र गण भी आ गये ॥ ६४ ॥

जैसे गंभीरबुद्धि उदार पुरुष बच्चोंके विलासके साधन खिलौनोंका आदर नहीं करता वैसे ही क्षोभरहित गम्भीर बुद्धिवाले उद्दालकने उन सिद्धिगणोंका आदर नहीं किया ॥ ६५ ॥

उत्तरायणके आधारभूत दिग्भागमें सूर्य जिस प्रकार छः मास तक रहता है उसी प्रकार उद्दालक उस आनन्द-मन्दिररूप समाधिमें सिद्धियोंके गणोंका अनादर करके छः महीनेतक स्थित रहे ॥ ६६ ॥

जब सर्वोत्कृष्ट सप्तमभूमिकामें स्थितिरूप जीवन्मुक्तपदको प्राप्त हुए तब वहाँ उनके पास सिद्ध, सुर, गणदेवता, ब्रह्मा, महादेव आदि सब उपस्थित रहे ॥ ६७ ॥

आनन्दे परिणामित्वादनानन्दपदं गतः ।
नाऽऽनन्दे न निरानन्दे ततस्तत्संविदाबभौ ॥ ६८ ॥

क्षणं वर्षसहस्रं वा तत्र लब्ध्वा स्थितिं मनः ।
रतिमेति न भोगौघे दृष्टस्वर्ग इवाऽवनौ ॥ ६९ ॥

तत्पदं सा गतिः शान्ता तच्छ्रेयः शाश्वतं शिवम् ।
तत्र विश्रान्तिमाप्तस्य भूयो नो बाधते भ्रमः ॥ ७० ॥

तत्पदं साधवः प्राप्य दृश्यदृष्टिमिमां पुनः ।
नाऽऽयान्ति खदिरोद्यानं लब्धचैत्ररथा इव ॥ ७१ ॥

तां महानन्दपदवीं चित्तादासाद्य देहिनः ।
दृश्यं न बहु मन्यन्ते राजानो दीनतामिव ॥ ७२ ॥

उस आनन्दमें चित्तका रसास्वादलक्षण परिणाम न होनेसे वह उद्दालक 'अनानन्द' पदको प्राप्त हो गये, अतः उनका संविदात्मचैतन्य विषयी मनुष्योंकी नाईं न क्षुद्र आनन्दमें रहा और न दुःखमें ही रहा, किन्तु स्वप्रकाशैकरसपूर्ण रहा ॥ ६८ ॥

जिस प्रकार जिस पुरुषने स्वर्ग देख लिया उसका प्रेम पृथिवीपर किसी भोगसामग्रीमें नहीं होता उसी प्रकार मन क्षणभर अथवा हजार वर्षतक उक्त स्थितिको प्राप्त कर भोगसामग्रीमें प्रेम नहीं करता ॥ ६९ ॥

वह सर्वोत्कृष्ट पद है, वही सर्वोत्कृष्ट शान्त गति है, वही शाश्वत कल्याणकर है, वह शिव है, वहाँपर विश्रान्तिको प्राप्त हुए मनुष्यको भ्रम फिर बाधा नहीं पहुँचाता ॥ ७० ॥

जैसे जो पुरुष चैत्ररथ (कुबेरका उद्यान) प्राप्त कर चुके वे खदिरके (खैरके) उद्यानमें नहीं जाते हैं वैसे ही सन्त पुरुष ब्रह्मसाक्षात्कार करके इस बाह्य प्रपञ्चात्मक दृष्टिको फिर प्राप्त नहीं करते हैं ॥ ७१ ॥

जिस प्रकार राजा लोग दीनताको कुछ नहीं गिनते उसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि द्वारा परिष्कृत चित्तसे महाआनन्द पदवीको प्राप्त करके जीव दृश्यका आदर नहीं करते ॥ ७२ ॥

चेतस्तत्पदविश्रान्तं बुद्धं दृश्यदशां प्रति ।
कदर्थाद् बोधमायाति नाऽऽयात्येवाऽथवाऽनघ ॥ ७३ ॥
उद्दालकोऽत्र षण्मासान् दूरोत्सारितसिद्धिभूः ।
उषित्वोन्मिषितोम्भोदकोशादर्को मधाविव ॥ ७४ ॥
ददर्श संप्रबुद्धात्मा पुनः परमतेजसः ।
प्रणामलालसाः स्निग्धाश्चन्द्रबिम्बवपुर्धराः ॥ ७५ ॥
रमणीर्गौरमन्दाररेणुभ्रमरचामराः ।
स्फुरत्पताकापटला द्युविमानपरम्पराः ॥ ७६ ॥
अस्मदादीन् मुनीन् दर्भपवित्राङ्ककराम्बुजान् ।
विद्याधरीभिर्वलितान् विद्याधरपतीनपि ॥ ७७ ॥
ते तमूचुर्महात्मानमुद्दालकमुनिं तथा ।
प्रसादेन प्रणामान्नो भगवन्नवलोकय ॥ ७८ ॥

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, उस पदमें विश्रान्तिको प्राप्त हुआ अतएव बोधको प्राप्त हुआ चित्त षष्ठभूमिकामें दूसरोंके महा प्रयत्नसे समाधिव्युत्थानदशाके प्रति बोधको प्राप्त करता है या सप्तमभूमिकामें उसको भी प्राप्त नहीं करता है ॥ ७३ ॥

जिस प्रकार सूर्य चैत्र मासमें नीहारपटल (कुहरे) से दूर रहता है उसी प्रकार उद्दालक ऋषि सिद्धियोंसे दूर रहे । समाधिमें छः महीने वास करके समाधिसे जागकर उन्होंने परम तेजस्विनी, प्रणाम करनेकी लालसावाली तथा चन्द्रबिम्बके सदृश शरीरको धारण की हुई स्नेहयुक्त रमणियोंको देखा एवं गौर मन्दारपुष्पोंकी धूलिसे धूसरित भ्रमरोंसे (भौंरोंसे) और चँवरोंसे युक्त फहराती हुई पताकाओंके समूहवाली दिव्यविमानोंकी पङ्क्तियोंको देखा ॥ ७४—७६ ॥

करकमलमें कुशाकी पवित्रीके चिह्नवाले हमारे जैसे मुनियोंको और विद्याधरियों सहित विद्याधरोंके अधिपतियोंको भी देखा ॥ ७७ ॥

उन सबने उन महात्मा उद्दालक मुनिसे कहा—हे भगवन्, आप हमारे प्रणामसे अनुग्रहपूर्ण दृष्टिसे हमको देखिये ॥ ७८ ॥

आरुह्येदं विमानं त्वमेहि त्रैविष्टपं पुरम् ।
स्वर्ग एव हि सीमान्तो जगत्संभोगसंपदाम् ॥ ७९ ॥
आकल्पमुचितान् भुङ्क्ष्व भोगानभिमतान् विभो ।
स्वर्गादिफलभोगार्थमेवाऽशेषतपःक्रियाः ॥ ८० ॥
हारचामरधारिण्यो विद्याधरवराङ्गनाः ।
पश्येमास्त्वामुपासीनाः करिण्यः करिणं यथा ॥ ८१ ॥
कामो धर्मार्थयोः सारः कामसाराः सुयोषितः ।
वसन्त इव मञ्जर्यः स्वर्ग एव भवन्ति ताः ॥ ८२ ॥
एवं कथयतः सर्वानतिथीनित्यसौ मुनिः ।
परिपूज्य यथान्यायमतिष्ठद् गतसंभ्रमम् ॥ ८३ ॥
नाऽभ्यनन्दन्न तत्याज तां विभूतिं स धीरधीः ।
भो सिद्धा व्रजतेत्युक्त्वा स्वव्यापारपरोऽभवत् ॥ ८४ ॥

हे भगवन्, आइये और इस विमानपर चढ़कर देवताओंके नगरको चलिये (स्वर्गको चलिये), क्योंकि संसारके उपभोगोंकी अन्तिम सीमा स्वर्ग ही है ॥ ७९ ॥

हे विभो, प्रलयपर्यन्त अपने वाञ्छित और उचित भोग्यपदार्थोंका उपभोग कीजिये, क्योंकि समस्त तपस्याएँ स्वर्गादिरूप फलके भोगनेके लिए ही होती हैं ॥ ८० ॥

जिस प्रकार हाथियोंके चारों ओर हथिनियाँ उसकी उपासना करती हैं, उसी प्रकार हार एवं चँवरोंको धारण की हुई गन्धर्वललनाएँ आपकी उपासना करती हुई खड़ी हैं, कृपया इनको देखिये ॥ ८१ ॥

हे भगवन्, धर्म और अर्थ दोनोंका सार काम है और कामका सार सुन्दर युवतियाँ हैं। ये वराङ्गनाएँ वसन्तमें मञ्जरीके समान स्वर्गमें ही होती हैं ॥ ८२ ॥

इस प्रकार कह रहे इन सब अतिथियोंकी यथोचित पूजा करके वे मुनि मिथ्यात्व आदिके निश्चयसे (स्वर्ग और स्वर्गके विविध भोग मिथ्या हैं इस निश्चयसे) बिना किसी प्रकारके कौतूहलसे बैठे रहे ॥ ८३ ॥

उस धैर्यपूर्ण बुद्धिवाले मुनिने गन्धर्वललनाएँ आदि विभूतिका न तो अभिनन्दन ही किया और न त्याग ही किया अर्थात् उनसे उदासीन रहे और हे

अथ स्वधर्मनिरतं भोगेष्वरतिमागतम् ।
तमुपास्य ययुः सिद्धा दिनैः कतिपयैः स्वयम् ॥ ८५ ॥
जीवन्मुक्तः स च मुनिर्विजहार यथासुखम् ।
यावदिच्छं वनान्तेषु मुनीनामाश्रमेषु च ॥ ८६ ॥
मेरुमन्दरकैलासहिमवद्विन्ध्यसानुषु ।
द्वीपोपवनदिक्कुञ्जजङ्गलारण्यभूमिषु ॥ ८७ ॥
ततःप्रभृति संप्राप्तपदमुद्दालको द्विजः ।
गुहासु गिरिकुक्षीणामवसद् ध्यानलीलया ॥ ८८ ॥
कदाचिदह्ना मासेन कदाचिद् वत्सरेण च ।
कदाचिद् वत्सरौघेण ध्यानासक्तो व्यबुध्यत ॥ ८९ ॥
उद्दालकस्तदारभ्य व्यवहारपरोऽपि सन् ।
सुसमाहित एवाऽसौ चित्तत्त्वैकत्वमागतः ॥ ९० ॥

सिद्धो, आप लोग जाइए, ऐसा कहकर फिर अपने समाधिरूप व्यापारमें लग गये ॥ ८४ ॥

इसके अनन्तर अपने धर्ममें निरत अतएव भोगोंमें प्रेम न करते हुए उद्दालक मुनिकी चिरकाल तक प्रतीक्षा, प्रणाम, प्रशंसा आदि द्वारा उपासना कर सिद्ध लोग कुछ दिनोंमें स्वयं चले गये ॥ ८५ ॥

जीवन्मुक्त वह मुनि वनोंमें और मुनियोंके आश्रमोंमें सुखपूर्वक यथेच्छ विहार करते रहे ॥ ८६ ॥

मेरु, मन्दराचल, कैलास, हिमालय और विन्ध्याचलकी चोटियोंपर और द्वीप, उपवन, दिशा, कुञ्ज, जङ्गल और अरण्यभूमि—इन सबमें यथेच्छ विहार करते रहे ॥ ८७ ॥

उस समयसे उद्दालक द्विज पर्वतोंकी भीतरकी गुफाओंमें ध्यानरूपी लीलासे परमपदप्राप्तिपूर्वक रहने लगे ॥ ८८ ॥

समाधिमें बैठे हुए मुनि कभी एक दिनमें, कभी एक महीनेमें, कभी एक वर्षमें और कभी कई वर्षोंमें समाधिसे जागते थे ॥ ८९ ॥

उस समयसे उद्दालक मुनि व्यवहारकालमें भी चिद्भावरूप एकत्वको प्राप्त हो समाहितचित्त ही रहते थे। अज्ञके समान विक्षिप्तचित्त नहीं रहते थे। अर्थात् व्यावहारिक दशामें भी ध्यानस्थ ही रहते थे ॥ ९० ॥

चित्तत्त्वैकघनाभ्यासान्महाचित्त्वमुपेत्य सः ।
बभूव सर्वत्र समस्तेजः सौरमिवाऽवनौ ॥ ९१ ॥
चित्सामान्यचिराभ्यासात् सत्तासामान्यमेत्य सः ।
दृश्येऽस्मिंश्चित्ररविवन्नाऽस्तमायान्न चोदयम् ॥ ९२ ॥
शमपरपदलाभप्राप्तिसंशान्तचेता गलितजननपाशः क्षीणसन्देहदोलः ।
शरदि खमिव शान्तं व्याततं चोर्जितं च स्फुटममलमचेतस्तद्वपुः संबभार ॥९३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे उद्दालकविश्रान्तिर्नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

जिस प्रकार पृथिवीपर सूर्यका तेज सर्वत्र सम रहता है उसी प्रकार अन्तः-करणवृत्तिके अनुगत और उसके साक्षी चिद्मात्रके निरन्तर साक्षात्काररूपी समाधिके अभ्याससे अपरिच्छिन्न चिद्भावको प्राप्त करके वह मुनि सर्वत्र राग-द्वेषके छोड़ देनेसे और करुणासे अविषम ब्रह्मभावके दर्शनसे सम रहे ॥ ९१ ॥

वह मुनि चित्सामान्यके निरन्तर अभ्यासके कारण सत्तासामान्यको प्राप्त करके अर्थात् दृश्य और उसके संस्कारका मूलोच्छेद होनेपर उसके प्रथनरूपचित्त्वव्यव-हारका उपरम होनेसे स्वप्रकाशात्मक निरतिशय आनन्द सन्मात्रभावका परिशेष होनेके कारण सत्तासामान्यको प्राप्त करके चित्रस्थ सूर्यके समान इस दृश्य प्रपञ्चमें न आविर्भावको (उदयको) प्राप्त करते थे और न तिरोभावको (अस्तको) प्राप्त करते थे ॥ ९२ ॥

इस प्रकार उक्त स्थितिको दिखाते हुए अन्तिम श्लोकसे उपसंहार करते हैं— **'शम०'** इत्यादिसे ।

सब विक्षेपोंका उपशमन होनेके कारण तथा परमपदकी प्राप्तिसे शान्तचित्त, जन्ममरणरूपी पाशोंका विनाश कर चुके और संशयरहित उस मुनिने शरदृतुके आकाशके समान शान्त, अपरिच्छिन्न, तेजस्वी, स्फुट अर्थात् निरावरण होनेके कारण प्रकाशमय, प्राक्तनदशाका अत्यन्त विस्मरण होनेके कारण चित्तरहित ब्रह्मस्वभावापन्न शरीरको धारण किया पहलेकी नाईं उद्दालक शरीरको धारण नहीं किया अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो गये ॥ ९३ ॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

आत्मज्ञानदिनैकार्क मत्संशयतृणानल ।
अज्ञानदाहशीतांशो सत्तासामान्यमीश किम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदा संक्षीयते चित्तमभावात्यन्तभावनात् ।
चित्सामान्यस्वरूपस्य सत्तासामान्यता तदा ॥ २ ॥

पचपनवाँ सर्ग

[सत्तासामान्यका लक्षण, उद्दालकका युक्तिसे देहत्यागक्रम तथा त्यक्त देहसे चामुण्डाका स्वभूषणनिर्माण]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, आप आत्मज्ञानरूपी दिनके लिए सूर्य-स्वरूप हैं, मेरे संशयरूपी तिनके लिए अग्निरूप हैं एवं अज्ञानसे होनेवाले तापत्रय-सन्तापके लिए चन्द्रमास्वरूप हैं; अतः कृपापूर्वक बतलाइये कि सत्तासामान्य क्या है अर्थात् सत्तासामान्यका क्या लक्षण है ? भाव यह है कि अज्ञानरूपी अन्धकारका विनाश करनेमें, अज्ञानप्रयुक्त संशयविपर्ययका उच्छेद करनेमें तथा संशय-विपर्ययप्रयुक्त सब दुःखोंके उच्छेदमें केवल आप ही समर्थ हैं, अतएव सत्ता-सामान्यका लक्षण बतानेकी कृपा कीजिए* ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जब चित् पूर्णशुद्ध है, उसमें कुछ नहीं है, ऐसी भावनासे यानी तीनों कालोंमें भी दृश्य वस्तुतः नहीं है यों श्रुति, युक्ति और अनुभवसे निरन्तर अनुसन्धान करनेसे चेत्यसंस्कारोंका मूलोच्छेद होनेपर चित्त भली भाँति क्षीण हो जाता है तब जड़ और चेतन सबमें अनुगत स्वतः सिद्ध सत्तामात्र ही सत्तासामान्य होता है। छठी भूमिकामें चित्तके अवान्तर भेदोंका परिमार्जन कर चित्सामान्यभूत चेत्याभावकी अत्यन्त-भावना करनेसे चेत्यसंस्कारोंका आत्यन्तिक उच्छेद होनेपर जब चित्त क्षीण हो

* श्लोकमें 'ईश' यह संबोधन गुरुमें सदा ईश्वरदृष्टि ही करनी चाहिये साधारण जीव-बुद्धि नहीं करनी चाहिये, यह सूचन करनेके लिए है।

नूनं चेत्यांशरहिता चिद्यदात्मनि लीयते ।
असद्रूपवदत्यच्छा सत्तासामान्यता तदा ॥ ३ ॥
यदा सर्वमिदं किञ्चित् सबाह्याभ्यन्तरात्मकम् ।
अपलप्य वसेच्चेतः सत्तासामान्यता तदा ॥ ४ ॥
यदा सर्वाणि दृश्यानि सत्तासामान्यवेदनम् ।
स्वरूपेण स्वरूपाभं सत्तासामान्यता तदा ॥ ५ ॥
कूर्मोऽङ्गानीव दृश्यानि लीयन्ते स्वात्मनाऽऽत्मनि ।
अभावितान्येव यदा सत्तासामान्यता तदा ॥ ६ ॥

जाता है तब स्वमात्रसत्तासे स्वतःसिद्ध हो रही परिशिष्ट चित्-अचित् दोनोंमें अनुगत सत्ता ही सत्तासामान्य होती है, अर्थात् विक्षेपके हेतुभूत चित्तका अभाव होनेसे आत्माकी स्वरूपसत्ता ही अवशिष्ट रहती है, यह भाव है ॥ २ ॥

समस्तवृत्तियोंमें प्रतिबिम्बित चैतन्य जब सकल प्रपञ्चका बाध होनेपर अन्तः-करणकी वृत्तियों और वृत्तिके विषयोंसे रहित होकर स्वात्मामें अर्थात् बिम्ब-चैतन्यमें लीन होता है तब उस बिम्बकी असत् रूपकी नाईं (जिसमें रूप नहीं है यानी आकाशकी नाईं) स्वच्छ सत्तासामान्यता समझनी चाहिये ॥ ३ ॥

चित्तकी वृत्तियोंमें अभिव्यक्त हुआ अखण्ड चैतन्य जब बाह्य एवं आभ्य-न्तरिक जो कुछ है इस सबका अपलाप कर (यह कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय कर) स्थित होता है तब सत्तासामान्यता समझनी चाहिये ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जब चित्तकी वृत्तियोंमें अभिव्यक्त हुआ अखण्ड चैतन्य समस्तभूतप्रपञ्चका अपलाप करके अपने पारमार्थिक स्वरूपसे स्वप्रकाशात्मक, सत्तासामान्यात्मक, केवल चित्स्वरूप होता है तब सत्तासामान्यता समझनी चाहिए ॥ ५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार कूर्म (कछुवा) अपने-आप ही अपनेमें अंगोंको लीन कर लेता है उसी प्रकार जब दृश्य प्रपञ्चको किसी भावना आदि प्रयत्नके बिना ही आत्मा अपनेसे अपनेमें लीन कर देता है तब सत्तासामान्यता समझनी चाहिए ॥ ६ ॥

दृष्टिरेषा हि परमा सदेहादेहयोः सदा ।
मुक्तयोः संभवत्येव तुर्यातीतपदोपमा ॥ ७ ॥
व्युत्थितस्य भवत्येषा समाधिस्थस्य चाऽनघ ।
ज्ञस्य केवलमज्ञस्य न भवत्येव बोधजा ॥ ८ ॥
अस्यां दृशि स्थिताः सर्वे जीवन्मुक्ता महाशयाः ।
सिद्धा रसा इव भुवि व्योमवीथ्यामिवाऽनिलाः ॥ ९ ॥
अस्मत्प्रभृतयः सर्वे नारदाद्याश्च राघव ।
ब्रह्मविष्णवीश्वराद्याश्च दृष्टावस्यां व्यवस्थिताः ॥ १० ॥
एतामालम्ब्य पदवीं समस्तभयनाशिनीम् ।
उद्दालकोऽसाववसद् यावदिच्छं जगद्गृहे ॥ ११ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि यह उक्त सप्तमभूमिकारूढ़दृष्टि तुर्यातीत पदके समान है, इसलिए सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनोंको सदा होती ही है यानी सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनोंकी समानस्वरूपस्थितिमें भेद नहीं है ॥ ७ ॥

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह बोधसे उत्पन्न दृष्टि पञ्चमादिभूमिकाओंमें भी समाधिस्थ ज्ञानीको होती है, सप्तमभूमिकामें तो व्युत्थितको भी अर्थात् समाधिस्थ जो नहीं है उसको भी होती है, केवल अज्ञको कभी नहीं होती है ॥ ८ ॥

जिस प्रकार पृथिवीपर प्रसिद्ध पारदादि (पारा आदि) रस एवं आकाशरूपी गलीमें वायु किसी वस्तुसे स्पृष्ट नहीं होते उसी प्रकार इस दृष्टिमें स्थित गम्भीर स्वभाववाले सब जीवन्मुक्त लोग किसी भी ऐहिक अथवा आमुष्मिक भोगकी तृष्णा-रूपी धूलिसे स्पृष्ट नहीं होते ॥ ९ ॥

उसीका उदाहरण देते हैं—'**अस्मत्प्रभृतयः**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अस्मत्प्रभृति अर्थात् हमारे सदृश मनुष्य भूलोकमें इस दृष्टिमें स्थित हैं, आकाशरूपी वीथीमें नारदादि मुनिगण इस दृष्टिमें स्थित हैं और उससे भी ऊर्ध्वलोकमें ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि इस दृष्टिमें स्थित हैं ॥ १० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, समस्त भयका नाश करनेवाली इस पदवीका अवलम्बन करके वे उद्दालक प्रारब्ध कर्मोंका क्षय होनेतक संसाररूपी घरमें रहे ॥ ११ ॥

अथ कालेन बहुना बुद्धिस्तस्य बभूव ह ।
विदेहमुक्तस्तिष्ठामि देहं त्यक्त्वेति निश्चला ॥ १२ ॥
एवं चिन्तितवानद्रेर्गुहायां पल्लवासने ।
बद्धपद्मासनस्तस्थावर्धोन्मीलितलोचनः ॥ १३ ॥
संयम्य गुदसंरोधाद् द्वाराणि नव चेतसः ।
मात्रास्पर्शान् विचिन्वानो भावितस्वाङ्गचिद्धनः ॥ १४ ॥
संरुद्धप्राणपवनः समसंस्थानकन्धरः ।
तालुमूलतलालग्नजिह्वामूलोल्लसन्मुखः ॥ १५ ॥
न बहिर्नाऽन्तरे नाऽधो नोर्ध्वे नाऽर्थे न शून्यके ।
संयोजितमनोदृष्टिर्दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥ १६ ॥
प्राणप्रवाहसंरोधसमः स्वच्छाननच्छविः ।
अङ्ग चित्संविदुत्तानरोमकण्टकिताङ्गभूः ॥ १७ ॥

इसके अनन्तर बहुत कालके बाद उद्दालककी यह दृढ़ बुद्धि हुई कि मैं इस देहको छोड़कर विदेहमुक्त हो जाऊँ ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार चिन्तित अर्थमें दृढ़ निश्चयवाले वे उद्दालक ऋषि बद्धपद्मासन होकर आधी आँखें मींचकर पर्वतकी गुफामें पत्तोंके आसनपर बैठ गये ॥ १३ ॥

मलद्वारके अवरोधसे नव द्वारोंका संयम कर शब्द-स्पर्शादिविषयक वृत्तियोंको बदरी फलकी तरह एक-एक चुनकर हृदयमें उनका निवेश करके फिर उनके पारमार्थिक स्वरूपकी अपने अंगके समान भावना कर अर्थात् स्वात्माके साथ ऐक्य स्थापित कर चिदात्मा एवं सैन्धव घनके समान एकरस हुए उद्दालकने चित्सामान्यको प्राप्त किया ॥ १४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, प्राणवायुओंको रोकते हुए, समरूपसे स्थित कण्ठवाले, तालुके मूलतलमें फाटकके समान लगे हुए जिह्वामूलसे उन्नत हुए-से सुन्दर मुँहवाले, न बाहर, न भीतर, न नीचे, न ऊपर, न रूपादि विषयोंमें, न शून्य आकाशमें कहीं भी मन और दृष्टिको संयुक्त न कर रहे एवं दाँतोंसे दाँतोंका स्पर्श न कर रहे तथा प्राणोंके प्रवाहके अवरोधसे सम यानी उनकी क्रियाओंसे उत्पन्न हुए शरीर, मन और इन्द्रियोंके चाञ्चल्यसे शून्य, प्रसन्नवदन, अतएव चिद्रूप ब्रह्मानन्दके अनुभवसे सीधे खड़े हुए रोंगटोंसे पुलकित शरीरवाले वे उद्दालक ऋषि अन्तःकरणके एकदेशभूत वृत्तिभेदोंमें

अङ्गचित्संविदाभ्यासाच्चित्सामान्यमुपाददे ।
तदभ्यासादवापाऽन्तरानन्दस्पन्दमुत्तमम् ॥ १८ ॥
तदास्वादनतो लीनचित्सामान्यदशाक्रमम् ।
विश्वम्भरमनन्तात्म सत्तासामान्यमाययौ ॥ १९ ॥
तस्थौ समसमाभोगः परां विश्रान्तिमागतः ।
अनानन्दसमानन्दमुग्धमुग्धमुखद्युतिः ॥ २० ॥
संशान्तानन्दपुलकः पदं प्राप्याऽमलं गतः ।
चिरकालपरिक्षीणमननादिभवभ्रमः ॥ २१ ॥

प्रतिबिम्बित चित्के निरन्तर अनुसन्धानसे स्वोपाधिभूत वृत्तिभेदोंके विलयाभ्यासके कारण बिम्बभूत चित्सामान्यको प्राप्त हो गये एवं उन्होंने बिम्बभूत चिन्मात्रके अनुसन्धानाभ्यासवश हृदयमें सर्वोत्कृष्ट आनन्दप्रवाहका अनुभव किया ॥ १५–१८ ॥

उस उद्दालक ऋषिका पूर्ववत् सत्तासामान्यानुप्रवेश कहते हैं—**'तदास्वादनतो'** इत्यादिसे ।

जबतक निरतिशय आनन्दका आस्वाद प्राप्त नहीं होता तभीतक चित्त अपनी वृत्तियोंके निरोधसे उत्पन्न क्लेशको सहन न करता हुआ बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त होता है । आनन्दका आस्वादन करनेपर तो 'गुडपिपीलिका' न्यायसे वहींपर आसक्त हुआ चित्त अपने स्वरूपको भी भूलकर अपनेमें अनुगत चित्सामान्यको निरतिशय स्वप्रकाश सत्तासामान्यताको प्राप्त करा देता है, इसीको चित्सामान्यावस्थाक्रमका लय और सत्तासामान्यप्राप्ति कहते हैं । यही बात श्लोकमें संक्षेपसे यों कही गई है—उद्दालकने आनन्दके आस्वादनसे चित्सामान्यदशाक्रमके लयवाले, विश्वम्भर, अनन्त, परिपूर्ण, सत्तासामान्यको प्राप्त किया ॥ १९ ॥

विक्षेप-वैषम्यसे सर्वथा रहित स्वभाववाले एवं अनुपम आनन्दसे अत्यन्त मनोहर मुखकान्तिवाले वे उद्दालक ऋषि सर्वोत्कृष्ट आनन्दपदवीको प्राप्त हो बैठ गये ॥ २० ॥

बभूव स महासत्त्वो लिपिकर्मार्पितोपमः ।
समः कलावपूर्णेन शरदच्छाम्बरेन्दुना ॥ २२ ॥
उपशशाम शनैर्दिवसैरसौ
कतिपयैः स्वपदे विमलात्मनि ।
तरुरसः शरदन्त इवाऽमले
रविकरौजसि जन्मदशातिगः ॥ २३ ॥
गतसकलविकल्पो निर्विकारोऽभिरामः
सकलमलविलासोपाधिनिर्मुक्तमूर्तिः ।
विगलितसुखमाद्यं तत्सुखं प्राप यस्मि-
न्स्तृणमिव जलराशावुह्यते शक्रलक्ष्मीः ॥ २४ ॥

आनन्दके आविर्भावके द्योतक रोमाञ्चचिह्नोंकी भी क्रमसे उपरति दिखलाते हैं—'**संशान्तानन्द०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, शान्त रोमाञ्चोंवाले तथा मनन, निदिध्यासन आदि द्वारा चिरकालमें जिनका जगद्विषयक भ्रम क्षीण हो चुका था, ऐसे उद्दालक ऋषि जीते हुए ही निर्वाण पदको प्राप्त करके प्रारब्धभोगके हेतुभूत शेष दोषोंके क्षयके कारण विशुद्ध हो गये ॥ २१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वे महात्मा उद्दालक चित्रलिखितके समान अनन्यचित्त एवं अचल होकर समस्त कलाओंसे परिपूर्ण शरद् ऋतुके स्वच्छ आकाशके चन्द्रमाके समान विशुद्ध हो गये ॥ २२ ॥

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते' इस श्रुतिमें कहे गये प्रकारके अनुसार उन्हींमें उनके प्राणोंका तप्तोदककी उष्णताके समान क्रमसे उपशमन हुआ, इस आशयसे कहते हैं—'**उपशशाम**' इत्यादि श्लोकसे ।

धीरे-धीरे कुछ दिनोंमें वह उद्दालक ऋषि जिस प्रकार हेमन्त ऋतुमें वृक्षोंका रस निर्मल सूर्यकिरणोंके तेजमें शान्त हो जाता है उसी प्रकार जन्म-मरणसे छुटकारा पाकर अपने प्राप्त करने योग्य स्थान शुद्ध आत्मामें शान्त हो गये अर्थात् उद्दालकने अपने प्राणोंको स्वात्मामें लीन कर दिया ॥ २३ ॥

प्राणोंका उपशमन होनेपर उनके परिशिष्ट स्वरूपको कहते हैं—'**गत०**' इत्यादिसे ।

अपरिमितनभोन्तर्व्यापिदिग्व्यापि पूर्णं
भुवनभरणशीलं भूरिभव्योपसेव्यम् ।
कथनगुणमतीतं सत्यमानन्दमाद्यं
परमसुखमनन्तं ब्राह्मणोऽसौ बभूव ॥ २५ ॥

गतवति पदमाद्यं चेतसि स्वच्छभावं
द्विजतनुरथ मासैः सोपविष्टैव षड्भिः ।
रविकरपरितप्ता वातभाङ्काररम्या
तनुतरुभुजतन्त्री शैलवीणा बभूव ॥ २६ ॥

समस्त संशयोंका विनाश हो जानेसे निःसन्देह अतएव विकाररहित एवं समस्त तुच्छ विषयोंमें आसक्त हुई अन्तःकरणवृत्तियोंसे रहित स्वभाववाले अतएव अभिराम (मनोहर) वे उद्दालक ऋषि हिरण्यगर्भपदपर्यन्त सब विषय-सुख अग्निसे चिनगारियोंकी तरह जिससे बाहर निकले थे, ऐसे वाणीके अगोचर उस सुखको प्राप्त हो गये, जिस सुखको प्राप्त करके इन्द्रलक्ष्मी भी (इन्द्रका ऐश्वर्य भी) समुद्रमें तृणके समान समझी जाती है ॥ २४ ॥

वह उद्दालक ब्राह्मण प्रतिब्रह्माण्डके भेदसे अनन्त आकाशोंको व्याप्त करनेवाली दिशाओंको भी व्याप्त करनेवाला अर्थात् देशकृत परिच्छेदसे रहित, सर्वदा समस्त वस्तुओंमें पूर्ण, सकल वस्तुओंके आधारभूत भुवनोंका धारण-पोषण करनेवाला*, बड़े भाग्योंसे और उत्तम जनोंसे सेवा करने योग्य, वाणीके अगोचर, अनन्त, आद्य अर्थात् कालसे अपरिच्छिन्न, पारमार्थिक सत्तावाला, सबको ब्रह्मरूप एक रसमें मस्त करनेवाला सर्वोत्कृष्ट भूमाख्य परम सुखस्वरूप ही हो गया ॥ २५ ॥

इसके अनन्तर उद्दालकके जीवात्माके निर्मलस्वरूप आद्य पदको प्राप्त होनेपर उस उद्दालक ब्राह्मणका शरीर छः मासतक वहीं पड़ा हुआ सूर्यकी किरणोंसे तप्त होकर सूख गया और बह रहे वायुकी टक्करसे उत्पन्न हुए भाङ्कारशब्दसे रमणीयताको

---

* इससे उसकी सर्वाधिष्ठानता अभिव्यक्त हुई, अतः कोई वस्तु उससे भिन्न नहीं है ।

अथ बहुतरकालेनैतदद्रेर्भुवं ता-
मुपययुरगकन्यासंयुता मातरः खात् ।
अभिमतफलसिद्ध्यै संयुता एव सर्वा
अनलमिव शिखानां पङ्क्तयः पिङ्गकेश्यः ॥ २७ ॥
दिनकरकरशुष्कं विप्रकङ्कालकं त-
ज्झटिति मुकुटकोटौ खड्गखट्वाङ्गमध्ये ।
सकलविबुधवन्द्या खिंखिनी देवदेवी
निशि नवतरवृत्ता कान्तकान्ति चकार ॥ २८ ॥
इत्युद्दालकदेहकं सुविलसन्मायूरबर्हव्रज-
व्यालोलाब्दलवे नवैर्विवलिते मन्दारमालागणैः ।
शेते खिंखिनिकामहाभगवतीलीलाललामे लता-
जाले भृङ्ग इवाऽन्तपुष्पपटले पश्चादुपागच्छति॥ २९ ॥

प्राप्त करता हुआ बालवृक्षरूपी भुजाओंकी बजानेयोग्य शिरातन्त्रियोंसे पर्वतके विलासके लिए वीणा हो गया ॥ २६ ॥

इसके अनन्तर चिरकालके बाद उस पर्वतभूमिपर, जहाँ उद्दालकका शव पड़ा हुआ था, पर्वतकन्याके साथ पीले केशोंवाली ब्राह्मी आदि सब माताएँ किसी भक्तकी अभिमतफलसिद्धिके लिए इस प्रकार आईं जिस प्रकार पीली ज्वालाओंकी पङ्क्तियाँ अग्निके पास आती हैं ॥ २७ ॥

उन माताओंमें से समस्त पण्डितोंकी एवं देवताओंकी भी पूज्य रात्रिके समय नूतन-नूतन आभूषणोंके वैचित्र्यसे एक-से-एक सुन्दर नये-नये लास्यादि वृत्तान्तवाली चामुण्डा नामकी माताने सूर्यकी किरणोंसे सूखे हुए उस ब्राह्मणके शवको अति शीघ्र ही उद्यत तलवार और खट्वाङ्गके (शस्त्रविशेषके) मध्यमें स्थित अपने मुकुटका भूषण बना दिया ॥ २८ ॥

जिसका मूढदृष्टि लोगोंसे कल्पित, मलमांसादिसे निर्मित स्थूल शरीर भी तीनों लोकोंसे वन्दनीय देवीके सिरका भूषण बनकर सर्वोत्कर्ष पा गया, उसके विषयमें विशेष क्या कहा जाय, यों ज्ञानके महत्त्वका उत्कर्ष दिखलाते हुए कहते हैं—
'इति' इत्यादिसे ।

इस प्रकार उद्दालक ऋषिका वह तुच्छ शरीर महाभगवती चामुण्डाके लीला-

एषोद्दालकचित्तवृत्तिकलनावल्ली विवेकस्फुर-
त्स्वानन्दप्रविकासभासिकुसुमा हृत्कानने विस्तृता ।
रूढा यस्य कदाचिदेव विहरन्नप्येव सच्छायया
नाऽसावेति वियोगमेति सफलेनोच्चैस्तरां संगमम् ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे उद्दालकनिर्वाणं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

विलासके लिए बने हुए शिरोभूषणोंकी उस मालामें आनन्दके साथ सो गया जिस मालामें मोरोंके (मयूरोंके) मनोहर पुच्छरूपी चञ्चल मेघखण्ड विराजमान थे और जो माला नूतन-नूतन मन्दारपुष्पोंसे परिवेष्टित थी और जिसके अग्रभागोंमें पुष्पोंका गुच्छा था अतएव वेणीके (चोटीके) छलसे पीछेसे आ रहे लता-जालपर मानो भौंरा (भ्रमर) आनन्दसे लेटा हो, ऐसा वह शव मालूम हुआ ॥ २९ ॥

उक्त उद्दालकके आख्यानका उपसंहार करते हुए उस आख्यानका परिशीलन करनेवाले मनुष्योंके संसाररूपी तापका उपशमन और परम पुरुषार्थका लाभ दिखलाते हैं—**'एषा'** इत्यादिसे।

समस्त दृश्य पदार्थोंके विवेकमें स्फूर्तिको प्राप्त हुए आनन्दरूपी विकसित पुष्पोंवाली, पूर्वोक्त प्रकारसे प्रदर्शित उद्दालकके विदेहकैवल्यप्राप्तिपर्यन्त चरित्रकी आदर एवं निरन्तर अभ्याससे हुई शिक्षारूपी कल्पवल्ली (कल्पलता) जिस पुरुषके हृदयरूपी वनमें उत्पन्न होकर उत्तरोत्तर भूमिमें आरूढ होकर फैल गई, वह पुरुष तीनों तापरूपी (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों तापरूपी) सूर्यसे व्याप्त व्यवहाररूपी काननमें विहार करता हुआ भी सत्य, शान्ति, दान्ति आदि गुणोंसे सुगन्धित, शीतल एवं सहज संतोषस्वरूप छायासे कभी भी वियुक्त नहीं होता। अपि तु सर्वोत्कृष्ट मोक्षफलके साथ 'न च पुनरावर्तते' इस श्रुतिके अनुसार पुनरावृत्तिरहित स्वात्मभावसे सम्बन्धको प्राप्त करता है। इसलिए ऐसी लताका हृदयमें आरोप करके विस्तार करना चाहिये ॥ ३० ॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

षट्पञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

क्रमेणाऽनेन विहरन् विचार्याऽऽत्मानमात्मना ।
विश्रान्तिमेहि वितते पदे पद्मदलेक्षण ॥ १ ॥
शास्त्रार्थगुरुचेतोभिस्तावत् तावद् विचार्यते ।
सर्वदृश्यक्षयाभ्यासाद् यावदासाद्यते पदम् ॥ २ ॥
वैराग्याभ्यासशास्त्रार्थप्रज्ञागुरुयमक्रमैः ।
पदमासाद्यते पुण्यं प्रज्ञयैवैकयाऽथवा ॥ ३ ॥
संप्रबोधवती तीक्ष्णा कलङ्करहिता मतिः ।
सर्वसामग्र्यहीनाऽपि पदं प्राप्नोति शाश्वतम् ॥ ४ ॥

छप्पनवाँ सर्ग

[मायारूपी अन्धकारसे शून्य वासनारहित प्रबुद्ध पुरुष व्यवहाररत होनेपर भी समाधिस्थ है, यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे पद्मदलेक्षण श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त विचार, वैराग्य और समाधिके अभ्यासके क्रमसे विहार कर रहे आप अपनेसे आत्मस्वरूपका विचार कर भूमाख्य परमपदमें विश्रान्तिको प्राप्त होइये ॥ १ ॥

शास्त्रके श्रवणसे, पदार्थतत्त्वके परीक्षणसे, गुरुवचनोंपर विश्वाससे तथा अपने चित्तके शोधनसे तबतक विचार करना चाहिये जबतक सब दृश्यके बाधके अभ्याससे परमपद प्राप्त न हो जाय ॥ २ ॥

वैराग्यके अभ्यास, शास्त्रार्थविचार, प्रज्ञा, गुरु-उपदेश और यमनियमोंके क्रमसे पुण्य पद प्राप्त होता है अथवा केवल प्रज्ञासे ही पुण्य पद प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

सम्यक् प्रबोधयुक्त तीक्ष्ण और दोषरहित मति अन्यान्य सब सामग्रियोंसे विहीन होती हुई भी जीवको परमपद प्राप्त करा देती है ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् भूतभव्येश कश्चिज्जातसमाधिकः ।
प्रबुद्ध इव विश्रान्तो व्यवहारपरोऽपि सन् ॥ ५ ॥
कश्चिदेकान्तमाश्रित्य समाधिनियतः स्थितः ।
तयोस्तु कतरः श्रेयानिति मे भगवन् वद ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः ।
अन्तःशीतलता याऽसौ समाधिरिति कथ्यते ॥ ७ ॥
दृश्यैर्मनसि सम्बन्ध इति निश्चित्य शीतलः ।
कश्चित् संव्यवहारस्थः कश्चिद् ध्याने व्यवस्थितः ॥ ८ ॥
द्वावेतौ राम सुखितावन्तश्चेत् परिशीतलौ ।
अन्तःशीतलता या स्यात् तदनन्ततपःफलम् ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, हे भूत और भविष्यत्के ज्ञाता, कोई प्रबुद्ध पुरुष व्यवहार करता हुआ भी समाधिस्थके तुल्य विश्रान्त रहता है; कोई एकान्तका आश्रयण कर समाधिमें स्थित रहता है। इन दोनोंमें से कौन श्रेष्ठ है, यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ५, ६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस मायिक विश्वको अनात्मरूप (मिथ्या) देख रहे पुरुषकी जो यह अन्तःशीतलता यानी ज्ञानप्रतिष्ठाकी फलभूत पूर्णकामता है, वही समाधि कही जाती है, क्योंकि पूर्णकामताके प्राप्त होनेपर विक्षेपोंका प्रसंग ही नहीं रहता। मनके रहनेपर दृश्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध, जो विक्षेपका हेतु है, होता है, किन्तु मेरा मन नहीं है, ऐसा निश्चय कर पूर्णकाम हुआ कोई पुरुष व्यवहारनिरत होता है और कोई ध्यानमें निरत होता है। यदि अन्तःकरण शीतल हो, तो ये दोनों ही सुखी हैं। जो अन्तःशीतलता है, वह अनन्त तपस्याओंका फल है ॥ ७–९ ॥

समाधिस्थानकस्थस्य चेतश्चेद् वृत्तिचञ्चलम् ।
तत्तस्य तत् समाधानं सममुन्मत्तताण्डवैः ॥ १० ॥
उन्मत्तताण्डवस्थस्य चेतश्चेत् क्षीणवासनम् ।
तदस्योन्मत्तवृत्तं तत्समं बुद्धसमाधिना ॥ ११ ॥
व्यवहारी प्रबुद्धो यः प्रबुद्धो यो वने स्थितः ।
द्वावेतौ सुसमौ नूनमसन्देहं पदं गतौ ॥ १२ ॥
अकर्तृ कुर्वदप्येतच्चेतः प्रतनुवासनम् ।
दूरं गतमना जन्तुः कथासंश्रवणे यथा ॥ १३ ॥
अकुर्वदपि कर्तैव चेतः प्रघनवासनम् ।
निस्पन्दाङ्गमपि स्वप्ने श्वभ्रपातस्थिताविव ॥ १४ ॥

यदि समाधिस्थानमें स्थित पुरुषका चित्त अपनी वृत्तिसे चञ्चल हो, तो उस पुरुषकी वह समाधि उन्मत्त पुरुषके ताण्डवके तुल्य है । यदि उन्मत्त ताण्डव कर रहे पुरुषका चित्त वासनाविहीन हो, तो उसकी उन्मत्त चेष्टा ब्रह्म-समाधिके तुल्य है । जो प्रबुद्ध व्यवहाररत है और जो प्रबुद्ध वनवासी है, ये दोनों ही समान हैं, क्योंकि दोनों ही सब सन्देहोंका उच्छेद करनेवाले परमपदमें प्रतिष्ठित हैं ॥ १०–१२ ॥

व्यवहारनिरत और अरण्यवासी दोनों ही समान कैसे हो सकते हैं ? व्यवहारी पुरुषका कर्तृत्वप्रयुक्त बन्धन क्यों नहीं होगा ? ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—**'अकर्तृ०'** इत्यादिसे ।

जैसे कान्ता आदिकी कथाके श्रवणमें अन्यत्र आसक्त मनवाला पुरुष कथा-श्रवण करता हुआ भी राग आदि विकारोंका उदय न होनेसे रागादिप्रयुक्त दोषोंसे बद्ध नहीं होता, वैसे ही वासनारहित यह मन व्यवहार करता हुआ भी अकर्ता ही है यानी कर्तृत्वप्रयुक्त दोषोंसे बद्ध नहीं होता ॥ १३ ॥

जैसे स्वप्नमें निश्चल देहावयववाला भी सुषुप्त पुरुषका मन गर्तपात और उसमें निवासका कर्ता बनता है वैसे ही प्रचुरवासनावाला चित्त कर्म न करता हुआ भी कर्ताके तुल्य होता है यानी कर्तृत्वप्रयुक्त दोषोंसे बद्ध होता है ॥ १४ ॥

चेतसो यदकर्तृत्वं तत् समाधानमुत्तमम् ।
तं विद्धि केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा ॥ १५ ॥
चेतश्चलाचलत्वेन परमं कारणं स्मृतम् ।
ध्यानाध्यानदृशोस्तेन तदेवाऽनङ्कुरं कुरु ॥ १६ ॥
अवासनं स्थिरं प्रोक्तं मनो ध्यानं तदेव तु ।
स एव केवलीभावः शान्ततैव च सा सदा ॥ १७ ॥
तनुवासनमत्युच्चैः पदायोद्यतमुच्यते ।
अवासनं मनोऽकर्तृ पदं तस्मादवाप्यते ॥ १८ ॥
घनवासनमेतत्तु चेतः कर्तृत्वभाजनम् ।
सर्वदुःखप्रदं तस्माद् वासनां तनुतां नयेत् ॥ १९ ॥
प्रशान्तजगदास्थोऽन्तर्वीतशोकभयैषणः ।
स्वस्थो भवति येनाऽऽत्मा स समाधिरिति स्मृतः ॥ २० ॥

चित्तका जो अकर्तृत्व है वह उत्तम समाधि है, उसीको आप केवलीभाव जानिये और वही श्रेष्ठ परमसुखविश्रान्ति है ॥ १५ ॥

चित्त चञ्चलता और अचञ्चलतासे समाधि और असमाधिमें परम कारण कहा गया है, इसलिए उसीको आप अङ्कुररहित यानी वासनारहित कीजिये ॥ १६ ॥

वासनारहित मन स्थिर कहा गया है, वही ध्यान है, वही केवलीभाव है और वही सदा शान्तता है ॥ १७ ॥

स्वल्पवासनावाला यानी चतुर्थी आदि भूमिकाओंमें क्षीणवासनावाला मन परमपदप्राप्तिके लिए उद्यत कहा जाता है। सर्वथा क्षीणवासनावाला मन अकर्ता है। उससे सप्तमभूमिकाप्रतिष्ठारूप पद प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रचुर वासनावाला यह मन कर्तृत्व-भाजन (कर्ता) है। कर्ता होनेके कारण ही सब दुःख देता है, इसलिए वासनाको क्षीण बनाना चाहिये ॥ १९ ॥

जिससे आत्मा देह आदि दृश्यमें अहंममताभिनिवेशसे रहित होता है, शोक, भय और एषणाओंसे शून्य होता है और स्वस्थ (स्वरूपस्थित) होता है, वह 'समाधि' कही जाती है ॥ २० ॥

चेतसा संपरित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम् ।
यथा तिष्ठसि तिष्ठ त्वं तथा शैले गृहेऽथवा ॥ २१ ॥
गृहमेव गृहस्थानां सुसमाहितचेतसाम् ।
शान्ताहङ्कृतिदोषाणां विजना वनभूमयः ॥ २२ ॥
अरण्यसदने तुल्ये समाहितमनोदृशाम् ।
भवतामिह भूतानां भूतानां महतामिव ॥ २३ ॥
शान्तचित्तमहाभ्रस्य जनज्वालोज्ज्वलान्यपि ।
नगराण्यपि शून्यानि वनान्यवनिपात्मज ॥ २४ ॥
वृत्तिमच्चित्तमत्तस्य विजनानि वनान्यपि ।
नगराणि महालोकपूर्णानि परवीरहन् ॥ २५ ॥
व्युत्थितं चित्तमभ्येति भ्रमस्याऽन्तः सुषुप्तताम् ।
निर्वाणमेति निर्वाणं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २६ ॥

सब पदार्थोंमें अहंममताध्यासका मनसे त्यागकर अपनी अभिरुचिके अनुसार आप चाहे पर्वतपर समाधिस्थ होकर बैठिये अथवा घरमें व्यवहाररत होकर बैठिये ॥ २१ ॥

भलीभाँति समाहित चित्तवाले अहंकार आदि दोषोंसे रहित गृहस्थोंके लिए घर ही निर्जन (एकान्त) वनभूमि है ॥ २२ ॥

नित्य अपरोक्ष प्रत्यगात्मामें स्थित, समाहित मन और दृष्टिवाले आप लोगोंके—आकाश आदि महाभूतोंके तुल्य—वन और घर समान हैं ॥ २३ ॥

हे राजपुत्र, जिसका चित्तरूपी महामेघ शान्त हो चुका यानी जो शरत्के आकाशके तुल्य निर्मल है, उस पुरुषके लिए जनरूपी ज्वालाओंसे उज्ज्वल नगर भी शून्य (निर्जन) वन ही हैं ॥ २४ ॥

हे शत्रुतापन, राग आदि वृत्तिवाले चित्तसे मत्त हुए पुरुषके लिए निर्जन वन भी प्रचुर लोगोंसे संकीर्ण नगर हैं ॥ २५ ॥

राग आदिसे विक्षिप्त हुआ चित्त विविध विषयभ्रमका अन्दर लय होनेसे फिर सैकड़ों व्युत्थानोंकी बीजभूत सुषुप्तिको प्राप्त होता है । राग आदिकी वासनाओंसे रहित चित्त मोक्षको प्राप्त होता है । आप जैसा चाहे वैसा करें ॥ २६ ॥

सर्वभावपदातीतं सर्वभावात्मकं च वा ।
यः पश्यति सदात्मानं स समाहित उच्यते ॥ २७ ॥
ईहितानीहिते क्षीणे यस्याऽन्तर्विततात्कृतेः ।
सर्वे भावाः समा यस्य स समाहित उच्यते ॥ २८ ॥
सदात्मना सदेवेदं जगत् पश्यति नो मनः ।
यथा स्वप्ने तथैवाऽस्मिन् जाग्रत्यपि जनेश्वर ॥ २९ ॥
यथा विपणिकालोका विहरन्तोऽप्यसत्समाः ।
असम्बन्धात्तथा ज्ञस्य ग्रामोऽपि विपिनोपमः ॥ ३० ॥

यदि कोई कहे कि पहले व्यवहारनिरत और तत्त्वज्ञानी इन दोनोंकी समाधि तुल्य कैसे कही ? तो इसपर कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

जो सर्वभावपदातीत अथवा सर्वभावात्मक आत्माको सदा देखता है वह समाहित कहा जाता है । तत्त्वज्ञानी समाधिमें सर्वभावपदातीत तत्त्वको देखता है और व्यवहारमें सर्वभावात्मक तत्त्वको देखता है यों केवल एक पिण्डमें अहंकार न होनेसे उसमें राग आदिकी प्रसक्ति नहीं होती है, यह भाव है ॥ २७ ॥

जिस विस्तृत स्वरूपके अन्दर राग-द्वेष क्षीण हो चुके हों और जिसके लिए सब भाव समान हैं वह समाहित कहा जाता है ॥ २८ ॥

हे जनेश्वर, उसका मन जैसे स्वप्नमें वैसे ही जाग्रत्‌में भी इस दृश्यको सद्रूपसे सद् ही देखता है । जगत्‌को (सद्से व्यतिरिक्त रूपको) नहीं देखता है ॥ २९ ॥

प्रशान्त चित्तवालेके लिए नगर भी शून्य (निर्जन वन) है, ऐसा जो पहले कहा था, उसकी उपपत्ति कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे बाजारमें इकट्ठे हुए भी बहुतसे लोग अपने-अपने व्यवहार करते हुए उदासीन (जो न शत्रु हैं और न मित्र हैं) के लिए कुछ भी उपकारक न होनेसे सब प्रकारसे असत् ही हैं, क्योंकि उनके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही ग्राम भी ज्ञानीके लिए, ग्रामवासी जनोंके साथ सम्बन्ध न होनेसे, अरण्य-तुल्य ही हैं यानी विक्षेपहेतु नहीं है ॥ ३० ॥

अन्तर्मुखमना नित्यं सुप्तो बुद्धो व्रजन्नपि ।
पुरं जनपदं ग्राममरण्यमिव पश्यति ॥ ३१ ॥
सर्वमाकाशतामेति नित्यमन्तर्मुखस्थितेः ।
सर्वथाऽनुपयोग्यत्वाद् भूताकुलमिदं जगत् ॥ ३२ ॥
अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत् ।
विज्वराणामिव नृणां भवत्याजीवितस्थितेः ॥ ३३ ॥
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावदाहमयं जगत् ।
भवत्यखिलजन्तूनां यदन्तस्तद्बहिः स्थितम् ॥ ३४ ॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः ॥ ३५ ॥
वटधाना वट इव यदन्तस्थं सदात्मनः ।
तद् बहिर्भासते भास्वद्विकासे पुष्पगन्धवत् ॥ ३६ ॥

जिसका मन सदा अन्तर्मुख है यानी बहिर्मुख नहीं है वह पुरुष चाहे सोया हो, चाहे जागा हो, चाहे चलता हो नगर, देश और ग्रामको अरण्यके समान देखता है ॥ ३१ ॥

नित्य अन्तर्मुख स्थितिवाले पुरुषके लिए पृथिवी आदि महाभूतोंसे व्याप्त भी यह सारा जगत् बाधित होनेके कारण सर्वथा अनुपयोग्य होनेसे शून्यताको प्राप्त हो जाता है ॥ ३२ ॥

अन्तःशीतलता (ज्ञानप्रतिष्ठाकी फलभूत पूर्णकामता) प्राप्त होनेपर तो ज्वररहित पुरुषोंके तुल्य साराका सारा जगत् जीवनपर्यन्त शीतल हो जाता है। भीतर तृष्णासे सन्तप्त लोगोंका जगत् वनाग्निसन्तापमय होता है, क्योंकि भीतर सभी जीवोंका चित्त जैसा तप्त या शीतल होता है वही बाहर जगत्‌के रूपसे स्थित होता है ॥ ३३, ३४ ॥

द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ अन्तःकरण तत्त्वके बाहरी भागोंके तुल्य स्थित हैं ॥ ३५ ॥

वटके फलके अन्दर वटबीजोंके समान जो सदा अपने अन्दर रहता है, वही देदीप्यमान होकर विकास होनेपर पुष्पके गन्धके समान बाहर प्रकट होता है ॥ ३६ ॥

न बहिष्ठं न वाऽन्तस्थं क्वचित् किञ्चन विद्यते ।
यद् यथा कचितं चित्त्वात्तथा तत्त्वमुत्थितम् ॥ ३७ ॥
आत्मतत्त्वान्तरं भाति बहिष्ठेन जगत्तया ।
कर्पूरमिव गन्धेन संकोचे प्रविकासि च ॥ ३८ ॥
आत्मैव स्फुरति स्फारं जगत्त्वेनाऽप्यहन्तया ।
बाह्यत्वेनाऽऽन्तरत्वेन स च नाऽसन्न सन्विभुः ॥ ३९ ॥
बहिष्ठेनाऽऽन्तरं बाह्यमन्तःस्थेनाऽऽन्तरस्थितम् ।
यथाविदितमात्माऽयं स्वचित्तमनुपश्यति ॥ ४० ॥
सबाह्याभ्यन्तरं शान्तमात्मनो भेदितं जगत् ।
अहन्त्वादि स्थिते भेदे भूरिभङ्गभयं तु तत् ॥ ४१ ॥

आरोपदृष्टिसे कहकर अपवाददृष्टिसे कहते हैं—**'न बहिष्ठम्'** इत्यादिसे ।

कोई वस्तु न तो बाहर है और न कहींपर भीतर है, तो जगदाकारका भान कैसे होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जिस वस्तुका पूर्व वासनाके बलसे विकास हुआ उसके वेषसे परमार्थ तत्त्व ही उदित हुआ है ॥३७॥

आत्मतत्त्वरूप जो आन्तर वस्तु है वही बाह्यरूप होकर जगद्रूपसे प्रतीत होती है । जैसे डिब्बेमें रक्खा हुआ कपूर गन्धरूपसे विकासी (अधिक प्रदेशमें विस्तृत) होता है वैसे ही वह तत्-तत् उपाधियोंके अनुसारी संकोच होनेपर भी विकसित होता है ॥ ३८ ॥

आत्मा ही जगद्रूपसे और अहन्तासे बाह्यत्वेन और आन्तरत्वेन खूब स्फुरित होता है । वस्तुतः वह न तो चक्षु आदिसे अदृश्य अहङ्काररूप है और न उससे दृश्य बाह्य स्थूलरूप है, किन्तु विभु यानी दोनोंमें अनुस्यूत सन्मात्ररूप है॥ ३९ ॥

अतएव यह आत्मा अपने चित्तको ही पूर्वपूर्व अनुभवके अनुसार बहिर्मुख चक्षु आदि द्वारा बाह्य (जगदाकार) देखता है । अन्दर स्थित जाग्रत्-वासना आदिसे हृदयमें स्थित स्वप्न आदिको देखता है ॥ ४० ॥

न कोई वस्तु बाह्य है और न कोई आन्तर है, ऐसा जो पहले कहा था उसका युक्तिसे अनुभव कराते हैं—**सबाह्या०'** इत्यादिसे ।

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारका जगत् दोनोंमें अनुस्यूत सत् आत्मासे पृथक् होकर असत् ही है, अतः शान्त ही है यानी मृत ही है, किन्तु पृथक्करणके अभावमें

द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
कल्पादिरेव ज्वलितं सर्वमाधिहतात्मनः ॥ ४२ ॥
यस्त्वात्मरतिरेवाऽन्तः कुर्वन् कर्मेन्द्रियैः क्रियाः ।
न वशो हर्षशोकाभ्यां स समाहित उच्यते ॥ ४३ ॥
यः सर्वगतमात्मानं पश्यन् समुपशान्तधीः ।
न शोचति ध्यायति वा स समाहित उच्यते ॥ ४४ ॥
सपूर्वापरपर्यन्तां यः पश्यन् जागतीं गतिम् ।
दृष्टिष्वेतासु हसति स समाहित उच्यते ॥ ४५ ॥

उसकी सत्तासे ही बाह्य और आभ्यन्तर भेदके रहनेपर उसमें अहंममताका अध्यास होनेसे उसका नाश होनेपर बड़ा भारी नाशका भय होता है ॥ ४१ ॥

बड़े भारी नाशके भयका ही उपपादन करते हैं—**'द्यौः'** इत्यादिसे ।

तत्-तत् मानसी व्यथाओंसे हतात्मा पुरुषके द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ आदि सब पदार्थ तीनों तापोंकी ज्वालाओंसे ज्वलित होकर प्रलयारम्भकाल ही हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

सन्मात्र आत्माका साक्षात्कार होनेपर तो कर्मेन्द्रियों द्वारा व्यवहार करनेपर भी अभिमान न होनेसे हर्ष, शोक आदि जनित तनिक भी विक्षेप नहीं होता, इसलिए सदा समाधिस्थ पुरुषकी समानता ही रहती है अर्थात् व्यवहाररत भी ज्ञानी पुरुष समाधिस्थके तुल्य ही होता है, इस आशयसे कहते हैं—**'यस्तु'** इत्यादिसे ।

जो पुरुष अन्दर एकमात्र आत्मरति होकर कर्मेन्द्रियोंसे क्रिया करता हुआ हर्ष और शोकके वशीभूत नहीं होता, वह समाधिस्थ कहा जाता है ॥ ४३ ॥

सर्वगत आत्माका साक्षात्कार कर रहा अतएव शान्तधी जो पुरुष न शोक करता है और न ध्यान करता है, वह समाधिस्थ कहा जाता है। जगद्गतिको उत्पत्ति और विनाशयुक्त देखता हुआ जो पुरुष मूढ़ जनोंमें प्रसिद्ध अहंता, ममता आदि दृष्टियोंपर उपहास करता है वह समाधिस्थ कहा जाता है ॥ ४४, ४५ ॥

क्यों उपहास करता है, ऐसा यदि कोई कहे तो अहन्ता-ममता आदि दृष्टियोंके विषय अभिमान और अभिमन्तव्यरूप अहन्ता और जगत् आश्रयके सिद्ध न होनेसे मिथ्या हैं, इसलिए उपहास करता है, ऐसा कहते हैं—**'समे'** इत्यादिसे ।

समे परेऽपि नाऽहन्ता न जगज्जन्म नो मयि ।
वीचिवृन्देष्विवाऽऽतप्ता नाऽऽकाशे फलधातवः ॥ ४६ ॥
यस्याऽन्तरस्थिताहन्त्वं न विभागादि नो मनः ।
न चेतनाचेतनत्वे सोऽस्ति नाऽस्तीतरो जनः ॥ ४७ ॥
व्योमस्वच्छो बहिष्ठेहां सम्यगाचरतीह यः ।
हर्षामर्षविकारेषु काष्ठलोष्ठसमः शमः ॥ ४८ ॥

उन्हें (अहन्ता और जगत्को) सर्वानुभवसिद्ध प्रत्यक्स्वभाव मेरे आश्रित मानेंगे अथवा श्रुतिसिद्ध ब्रह्मस्वभावके आश्रित मानेंगे। मुझमें तो उनका संभव नहीं है, क्योंकि द्रष्टा दृश्यका आश्रय नहीं हो सकता। परब्रह्ममें भी उनका संभव नहीं है, क्योंकि असंग, अद्वितीय, कूटस्थस्वरूप सम ब्रह्म अहन्ता और जगत्के जन्म आदि विषमताका आधार नहीं हो सकता है। जैसे शरद् ऋतुके घामसे मिश्रित दूरसे दिखाई दे रही लहरियोंमें द्रवीभूत रजतके समान स्फुरित हो रही पुञ्जीभूत कान्ति लहरियोंके अन्दर नहीं है, क्योंकि समीपमें जानेपर और लहरियोंमें डूबकर खोजनेपर वह दिखाई नहीं देती और न उनके अन्दर और बाहर स्थित आकाशमें है, क्योंकि आकाशमें प्राप्य आदि चार प्रकारोंकी क्रियाओंके फलका दर्शन नहीं होता अतएव लहरोंकी क्रियासे उत्पन्न फलका वह आश्रय हो यह संभव नहीं है। अतः उस कान्तिके समान अहन्ता और जगत् निराश्रय होनेके कारण मिथ्या ही हैं ॥ ४६ ॥

अहन्ता और जगत्के भेदका निराकरण कर उनके द्रष्टाके भेदका निराकरण करते हैं—**'यस्य'** इत्यादिसे।

जिस ज्ञानीका आभ्यन्तर प्रत्यगात्मरूप अहन्तारहित हो गया, जिस ज्ञानीके दृश्य जगत्विभाग आदि नहीं हैं, मन नहीं है और मनके अधीन कल्पनावाले चेतनत्व और अचेतनत्व नहीं हैं, वह एक ही सर्वात्मा है उससे अतिरिक्त जन (चेतन) नहीं है, क्योंकि भगवती श्रुति भी कहती है—'नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' यानी उससे अतिरिक्त द्रष्टा नहीं है ॥ ४७ ॥

उसके लक्षणोंको कहते हैं—**'व्योम०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे।

जो आकाशके समान स्वच्छ है, बाह्य चेष्टाओंका भलीभाँति (शास्त्र और शिष्टाचारके अविरोधसे) आचरण करता है और हर्ष, क्रोध आदि विकारोंमें

आत्मवत् सर्वभूतानि परद्रव्याणि लोष्टवत् ।
स्वभावादेव न भयाद् यः पश्यति स पश्यति ॥ ४९ ॥
अर्थोऽतनुस्तनुर्वाऽपि नाऽसद्रूपेण चेत्यते ।
सद्रूपो नाऽनुभूतोऽज्ञेन ज्ञेनैव न तत्तया ॥ ५० ॥
ईदृशाशयसंपन्नो महासत्त्वपदं गतः ।
तिष्ठतूदेतु वा यातु मृतिमेतु न तत्स्थितिम् ॥ ५१ ॥
वसतूत्तमभोगाढ्ये स्वगृहे वा जनाकुले ।
सर्वभोगोज्झिताभोगे सुमहत्यथवा वने ॥ ५२ ॥
उद्दाममन्मथं पानतत्परो वाऽपि नृत्यतु ।
सर्वसंगपरित्यागी सममायातु वा गिरौ ॥ ५३ ॥

काठ और ढेलेके समान शान्त स्वभाववाला है, सब जीवोंको अपने समान और परद्रव्यको ढेलेके समान स्वभावसे ही न कि भयसे देखता है वही सम्यक् दर्शनवान् है ॥ ४८, ४९ ॥

तत्त्वज्ञानी ही समदर्शी होता है, इसमें युक्ति कहते हैं—**'अर्थः'** इत्यादिसे ।

मूढ पुरुष महान् (हिरण्यगर्भके ऐश्वर्यपर्यन्त) अथवा अल्प (कौड़ीभर) स्वर्ण, कामिनी आदि विषयको मिथ्या नहीं देखता और उसके अधिष्ठान सद्रूपका उसने अनुभव नहीं किया, इसलिए सन्मात्रस्वभावसे भी उसे नहीं देखता, किन्तु तत्त्वज्ञानी ही उसे पूर्वोक्त रीतिसे देखता है, इसलिए दोनों प्रकारसे उसमें समदर्शिताकी उपपत्ति होती है, यह भाव है ॥ ५० ॥

जिसके आशयमें समदर्शिता बद्धमूल हो गई वह सब जगह और सब अवस्थाओंमें हर्ष, विषाद आदिसे लिप्त नहीं होता है, ऐसा कहते हैं—**'ईदृशा०'** इत्यादिसे ।

इस प्रकारके आशयवाला ब्रह्मपदको प्राप्त हुआ पुरुष चाहे निष्किञ्चन रहे, चाहे ऐश्वर्य आदि अभ्युदयको प्राप्त हो, चाहे जावे, चाहे पुत्र, बन्धु-बान्धव आदिकी मृत्युको प्राप्त हो, चाहे पूर्वोक्त अभ्युदयस्थितिको प्राप्त न हो । चाहे उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थोंसे परिपूर्ण और बन्धु-बान्धवोंसे भरपूर घरमें रहे, चाहे सब प्रकारके भोगोंसे शून्य विशाल अरण्यमें रहे, चाहे मदिरापानमें निरत होकर प्रबल कामवेदनाके साथ नाचे, चाहे सबपर आसक्तिका त्याग कर निर्विकार

चन्दनागुरुकर्पूरैर्वपुर्वा परिलिम्पतु ।
ज्वालाजटिलविस्तारे निपतत्वथवाऽनले ॥ ५४ ॥
पापं करोतु सुमहद् बहुलं पुण्यमेव च ।
अद्य वा मृतिमायातु कल्पान्तनिचयेन वा ॥ ५५ ॥
नाऽसौ किञ्चिन्न तत् किञ्चित् कृतं तेन महात्मना ।
नाऽसौ कलङ्कमाप्नोति हेमपङ्कगतं यथा ॥ ५६ ॥
संवित्पुरुषशब्दार्थैः सकलङ्कैः कलङ्क्यते ।
अहंत्ववासनारूपैः शुक्तिकारजतोपमैः ॥ ५७ ॥
समस्तवस्तुप्रशमात्सम्यग्ज्ञानाद्यथास्थितेः ।
स्वभावस्योपशान्तोऽन्तः कलङ्कोऽसत्तया स्वतः ॥ ५८ ॥

हो पर्वतपर तपस्याके लिए जावे, चाहे चन्दन, अगर और कपूरसे शरीरका लेप करे, चाहे धधकती हुई ज्वालाओंसे प्रचुर विस्तारवाली अग्निमें गिरे, चाहे महापाप करे, चाहे प्रचुर पुण्य करे, चाहे आज ही मृत्युको प्राप्त हो, चाहे अनेक प्रलयोंके बाद मरे, यह (समदर्शी) महात्मा कुछ (अहन्ताका आश्रय मरण, दुःख आदि विकारोंसे युक्त देह, मन आदि) नहीं होता है, अतएव उस महात्माने वह कुछ भी नहीं किया । जैसे कीचड़में गिरा हुआ सुवर्ण कलङ्कित नहीं होता वैसे ही वह कलङ्कको प्राप्त नहीं होता है ॥ ५१–५६ ॥

अज्ञ जनोंमें किसको कलङ्क होता है यानी कौन कलङ्की है, ऐसा प्रश्न होनेपर उसका निर्देश करते हैं—'**संवित्०**' इत्यादिसे ।

शास्त्रों द्वारा जिनकी अभ्यनुज्ञा प्राप्त नहीं है, ऐसे विषयोंके सेवनसे दूषित वासनारूप ऐन्द्रियक संवित् , उनके आयतन देह और उनके भोग्य शब्दार्थरूप विषयोंसे, जो शुक्तिरजतके समान हैं, अहङ्कारप्रधान लिङ्गात्मा कलङ्कित होता है ॥ ५७ ॥

किस उपायसे कलङ्ककी शान्ति होती है, ऐसा प्रश्न होनेपर उसे कहते हैं—'**समस्त०**' इत्यादिसे ।

वस्तुस्थितिका भलीभाँति ज्ञान होनेसे सब वस्तुओंका प्रशमन होनेके कारण चित्तका कलङ्क बाधवश असत्तासे स्वतः शान्त हो जाता है ॥ ५८ ॥

अहंत्ववासनानर्थप्रसूतेः संविदात्मनः ।
पुरुषस्य विचित्राणि सुखदुःखानि जन्मनि ॥ ५९ ॥
रज्ज्वां सर्पभ्रमे शान्तेऽहिर्नेति निर्वृतिर्यथा ।
अहंत्वभावसंशान्तौ तथाऽन्तः समता मता ॥ ६० ॥
यत्करोति यदश्नाति यद्ददाति जुहोति वा ।
न तज्ज्ञस्य न तत्र ज्ञो मा करोतु करोतु वा ॥ ६१ ॥
कर्मणाऽस्ति न तस्याऽर्थो नाऽर्थस्तस्याऽस्त्यकर्मणा ।
यथास्वभावावगमात्स आत्मन्येव संस्थितः ॥ ६२ ॥
इच्छास्ततः समुद्यन्ति न मज्जर्य इवोपलात् ।
याश्चोद्यन्ति च ताः सर्वाः स एवाऽप्स्विव वीचयः ॥ ६३ ॥

तब संसारदुःखप्राप्तिका क्या कारण है ? ऐसी शङ्का होनेपर संसारदुःखप्राप्तिका उपाय कहते हैं—**'अहन्त्व०'** इत्यादिसे ।

अहङ्कारके अध्यासससे वासनारूपी अनर्थोंके उद्बुद्ध होनेसे पुरुषके जन्ममें विचित्र सुख-दुःख होते हैं ॥ ५९ ॥

अतएव अहन्त्वकी शान्ति होनेसे संसारदुःखकी निवृत्ति हो जाती है, ऐसा कहते हैं—**'रज्ज्वाम्'** इत्यादिसे ।

जैसे रज्जुमें सर्पभ्रान्तिके शान्त होनेपर 'यह साँप नहीं है' यों निर्भयताप्रयुक्त आह्लाद होता है वैसे ही अहन्त्वकी शान्ति होनेपर चित्तमें सर्वदुःखवैषम्यशून्यतारूप समता प्राप्त होती है ॥ ६० ॥

पापके फलकी तरह पुण्यका फल भी ज्ञानीको नहीं होता, यों उसके सब कर्मोंकी क्षति हो जाती है, ऐसा कहते हैं—**'यत्'** इत्यादिसे ।

ज्ञानी जो कुछ काम करता है, जो भोजन करता है, जो देता है अथवा जो यज्ञमें हवन आदि करता है वह ज्ञानीका नहीं है न उनमें ज्ञानी निरत ही रहता है। वह चाहे करे, चाहे न करे, उनके फलसे वह लिप्त नहीं होता है॥६१॥

ज्ञानीका न तो कर्मसे कोई प्रयोजन है और न कर्मत्यागसे ही उसका कोई प्रयोजन है । अपने यथार्थस्वरूपके ज्ञानसे वह आत्मामें ही स्थित है ॥ ६२ ॥

फलकी इच्छासे उसके उपायभूत कर्ममें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, किन्तु

सकलमिदमसावसौ च सर्वं जगदखिलं न विभागिताऽत्र काचित् ।
परमपुरुषपावनैकरूपी स सदिति तत्सदकिञ्चिदेव नाऽसौ ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे ध्यानविचारो नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

ज्ञानी पूर्णकाम है, अतएव उसको उक्त फलेच्छा ही उदित नहीं होती, ऐसा कहते हैं—**'इच्छा०'** इत्यादिसे ।

जैसे पत्थरसे मञ्जरियां उत्पन्न नहीं होतीं वैसे ही ज्ञानी पुरुषसे इच्छाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। कदाचित् जो कोई इच्छाएँ उत्पन्न होती भी हैं, वे जलमें तरङ्गोंके समान तद्रूप (उससे अभिन्न) ही हैं यानी कभी वासनाभ्यासवश उदित हुई भी इच्छाएँ परमार्थदृष्टिसे उसकी स्वात्मभूत ही हैं ॥ ६३ ॥

ज्ञानीकी सर्वात्मताको और सबकी तदात्मताको (ज्ञानिरूपताको) दृढ़ करते हुए दोनोंकी निष्प्रपञ्च चिन्मात्रता ही परमार्थतः फलित हुई, यह दर्शाते हैं— **'सकलम्'** इत्यादिसे ।

ज्ञानी सकलजगद्रूप हैं और अखण्ड जगत् ज्ञानीरूप है, क्योंकि इस जगत्में विभागिता (त्रिविध परिच्छेदशालिता) कुछ भी नहीं है। भेदक कार्यकारणोपाधियोंके तत्तत्साक्षिचिन्मात्र होनेपर वह (तत्त्वज्ञानी) सर्वजगदधिष्ठान सन्मात्र ही है, कारण कि वह परम, पूर्ण होनेसे पुरुष और सब दोषोंसे अस्पृष्ट होनेसे पावन जो परमात्मा है एकमात्र तद्रूप ही है। इस रीतिसे सब द्वैतबन्धनोंसे निर्मुक्त सत्स्वरूपमात्र परिशिष्ट वह नित्यमुक्त हो गया ॥ ६४ ॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सप्तपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यदात्ममरिचस्याऽन्तश्चित्त्वात्तीक्ष्णत्ववेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि देशकालादि चेत्यतः ॥ १ ॥

यदात्मलवणस्याऽन्तश्चित्त्वाल्लवणवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि देशकालादिमत्स्थितम् ॥ २ ॥

स्वतो यदन्तरात्मेक्षोश्चित्त्वान्माधुर्यवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि जगत्तत्त्वादिजृम्भितम् ॥ ३ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग

[अज्ञातस्वस्वरूप चैतन्य द्रष्टा होनेके कारण जिस दृश्यस्वरूपताको धारण करता है वह चित् ही है उससे अन्य नहीं है, यह वर्णन]

इस प्रकार सारे जगत्का चित्से अभेद परमार्थरूपसे सिद्ध होनेपर व्यवहारावस्थामें भी जगद्वैचित्र्य तत्-तत्रूप चित्स्वरूप ही है, ऐसा फलितार्थ हुआ, यह कहते हैं—'**यत्**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, आत्मरूपी मरिचके (आत्मा ही हुआ स्वप्रकाशरूप तीक्ष्णतासे युक्त मिर्चा, उसके) अन्दर चेतन होनेके कारण तीक्ष्णताप्रथितिरूप जो अनुभव है, वही स्वरूपज्ञानका अभाव होनेके कारण मैं, तुम आदिरूप, घट, कुड्य भेद आदि रूप और उसके आधार देश-कालरूप जगत् है। यह चित् का अभेद होनेसे फलितार्थ हुआ ॥ १ ॥

आत्मरूपी लवणके (नमकके) अन्दर चित् होनेके कारण लवणताप्रथितिरूप जो वेदन है, वह अहम्, त्वम् आदि; घट, कुड्य भेद आदि रूप और उसके आधार देश, काल आदिसे युक्त जगद्-रूपसे स्थित है ॥ २ ॥

आत्मारूपी ईखके अन्दर चित् होनेसे जो स्वतः माधुर्यवेदन है, वह तत्-तत् आकारोंसे अभिव्यक्त अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप और घट, कुड्य भेद आदि रूप जगत् है ॥ ३ ॥

स्वतो यदात्मदृषदश्चित्त्वात्काठिन्यवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि देशकालादितां गतम् ॥ ४ ॥
स्वतो यदात्मशैलस्य ज्ञतया जाड्यवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि भुवनादीति संस्थितम् ॥ ५ ॥
स्वतो यदात्मतोयस्य चिद्द्रवत्वादिवर्तनम् ।
तदावर्ताद्यहन्तादि भेदाद्याकारिता इव ॥ ६ ॥
स्वतो यदात्मवृक्षस्य शाखादिस्तस्य वेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि भुवनादीव सत्स्फुरत् ॥ ७ ॥
यदात्मगगनस्याऽन्तश्चित्त्वाच्छून्यत्ववेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि भुवनादीति भावनम् ॥ ८ ॥
यदात्मगगनस्याऽन्तश्चित्त्वात् सौषिर्यवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि शरीरादि च दीपितम् ॥ ९ ॥

आत्मरूपी पाषाणका चित् होनेसे जो स्वतः काठिन्यप्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदि रूप, घट, कुड्य भेद आदि रूप और देश, काल आदि रूपताको प्राप्त हुआ है ॥ ४ ॥

आत्मरूपी पर्वतका चेतन होनेसे जो स्वतः गुरुताप्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदि रूप, घट, कुड्य भेदादिरूप भुवनरूपसे स्थित है ॥ ५ ॥

आत्मरूपी जलका चित् होनेसे जो स्वतः द्रवत्व आदिमें वर्तन है वह आवर्त आदि, अहन्ता त्वन्ता, आदि घट, कुड्य भेद आदि तत्-तत् आकारवत्ताके समान स्थित है ॥ ६ ॥

आत्मरूपी वृक्षका चित् होनेसे जो शाखादिरूपसे प्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप, घट, कुड्य भेद आदिरूप भुवन आदिके समान वर्तमान और भासमान है ॥ ७ ॥

आत्मरूपी आकाशका चित् होनेसे जो शून्यताप्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदिरूप, घट, कुड्य भेद आदिरूप भुवन आदि है, ऐसी कल्पना है ॥ ८ ॥

आत्मरूपी आकाशका चित् होनेसे जो मूर्त पदार्थोंके अन्दर छिद्रता-

स्वतो यदात्मकुड्यस्य नैरन्तर्यं निरन्तरम् ।
तदहन्तादिभेदेन चित्ताद्बहिरिव स्थितम् ॥ १० ॥
स्वतो यदात्मसत्तायाश्चित्त्वात्सत्त्वैकवेदनम् ।
तदहन्तादि भेदादि चेतनानीतिवत् स्थितम् ॥ ११ ॥
अन्तरात्मप्रकाशस्य स्वतो यदवभासनम् ।
तदहन्तादि चित्त्वादि जीव इत्येव वेद सः ॥ १२ ॥
अन्तरस्ति यदात्मेन्दोश्चिद्रूपं चिद्रसायनम् ।
स्वत आस्वादितं तेन तदहन्तादिनोदितम् ॥ १३ ॥
परमात्मगुडस्याऽन्तर्यच्चित्स्वादूदयात्मकम् ।
तदेवाऽऽस्वाद्यते तेन स्वतोऽहन्तादिनाऽऽन्तरे ॥ १४ ॥
परमात्ममणेश्चित्त्वाद्यदन्तः कचनं स्वयम् ।
चेतनात्मपदे चाऽन्तरहमित्यादि वेत्त्यसौ ॥ १५ ॥

प्रथितिरूप वेदन है वह अहन्ता, त्वन्ता आदि, भेद आदि और शरीर आदि रूपसे प्रदीप्त हैं ॥ ९ ॥

आत्मरूपी कुड्यका (दीवारका) जो स्वतः निरन्तर निविड़ताप्रथितिरूप अनुभव है वह अहन्ता आदि भेदसे दृश्य होनेसे चित्से व्यतिरिक्त-सा (भिन्न-सा) बाहर स्थित है ॥ १० ॥

आत्मसत्ताका चित् होनेसे जो स्वतः एकमात्रसत्ताके रूपसे वेदन है वह अहन्तादि, भेद आदि चिदाभासके तुल्य स्थित है ॥ ११ ॥

आत्मप्रकाशका जो स्वतः अवभासन है वही अहन्ता, त्वन्ता आदिकी और वृत्तिभेदसे भिन्न चिदाभासोंमें अनुगत सामान्यकी कल्पना करता है वह जीव है ॥ १२ ॥

आत्मरूपी चन्द्रमाके अन्दर जो चिद्रूप चिदमृत है उसके द्वारा स्वप्रकाशरूपसे स्वतः आस्वादित वह अहन्ता आदिरूपसे आविर्भूत हुआ है ॥ १३ ॥

परमात्मरूपी गुड़के अन्दर जो चित् स्वादुरूप है उसीका वह अपनेमें ही अहन्तारूपसे स्वतः आस्वादन करता है ॥ १४ ॥

परमात्मारूपी मणिका चित् होनेके कारण जो अन्दर स्वयं स्फुरण होना है उसीकी चेतनारूप स्वरूपमें वह 'अहम्' इत्यादि रूपसे कल्पना करता है ॥ १५ ॥

न च किञ्चन वेत्त्यन्तर्वेद्यस्याऽसम्भवादिह ।
न चाऽऽस्वादयति स्वादु स्वाद्यस्याऽसम्भवादयम् ॥ १६ ॥
न च किञ्चिच्चिनोत्यन्तश्चेत्यस्याऽसम्भवे सति ।
विन्दते न च वा किञ्चिद्वेद्यस्याऽसम्भवादसौ ॥ १७ ॥
असदाभास एवाऽऽत्मा अनन्तो भरिताकृतिः ।
स्थितः सदैवैकघनो महाशैल इवाऽऽत्मनि ॥ १८ ॥
अनया तु वचोभङ्ग्या मया ते रघुनन्दन ।
नाऽहन्तादिजगत्तादिभेदोऽस्तीति निदर्शितम् ॥ १९ ॥

मायिक जगदाकारका जो अनुभव है, वह केवल स्वप्रकाश स्वात्मानुभवस्वरूप ही है, इसका भलीभाँति परिज्ञान करानेके लिए ही 'पश्यति', 'वेत्ति', 'आस्वादयति', आस्वाद्यते' (देखता है, जानता है, स्वाद लेता है, आस्वादित होता है) इत्यादि कर्मकर्तृभावसे व्यवहार होता है, न कि तथोक्त जगदाकारानुभव स्वप्रकाश स्वात्मानुभवसे भिन्न है, यों उनके भेदका साधन करनेके आशयसे वैसा व्यवहार होता है, यों कहते हैं—**'न च'** इत्यादिसे ।

यह आत्मा यहाँपर परमार्थतः जानने योग्य वस्तुका अभाव होनेके कारण जानने योग्य वस्तुका अपने अन्दर न अनुभव करता है और स्वाद लेने योग्य वस्तुका अभाव होनेके कारण न तो आस्वाद्य वस्तुका स्वाद लेता है ॥ १६ ॥

यह आत्मा विकार होने योग्य वस्तुका अभाव होनेपर अपने भीतर विभिन्न जीवादि चैतन्यरूपसे कुछ भी विकार नहीं करता है और प्राप्य वस्तुके न रहनेसे उसकी प्राप्ति नहीं करता है ॥ १७ ॥

असत् जगदाकारका अधिष्ठानभूत ही अनन्त आत्मा, जिसका कि स्वरूप परिपूर्ण है, सर्वदा एकरूप होकर अपने स्वरूपमें ही महान् पर्वतके समान अवस्थित है ॥ १८ ॥

तब 'यदात्ममरिचस्य' इत्यादि कथनका क्या अभिप्राय है ? इस प्रश्नपर उसका अभिप्राय कहते हैं—**'अनया'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, इस वचोभङ्गीसे यानी 'यदात्ममरिचस्य' इत्यादि वाक्योंसे मैंने आपको इसका दिग्दर्शन कराया कि अहंतादि (जीवभाव आदि) एवं जगत्तादि का (जगद्भाव आदि का) तनिक भी भेद नहीं है ॥ १९ ॥

न चित्तमस्ति नो चेता न जगत्तादिविभ्रमः ।
वृष्टमूकाम्बुदसितं शान्तं शाम्यति केवलम् ॥ २० ॥
यथाऽऽवर्तादितामेति द्रवत्वाद् वारि वारिणि ।
तथाऽहन्तादितामेति ज्ञप्ता ज्ञप्तौ ज्ञ आत्मनि ॥ २१ ॥
यथा द्रवत्वं पयसि यथा स्पन्दः सदागतौ ।
अहन्तादेशकालादि तथा ज्ञे ज्ञप्तिमात्रके ॥ २२ ॥
ज्ञो ज्ञतायां शिवं ज्ञानं जानाति ज्ञानबृंहया ।
ज्ञायतेऽहन्तदि ज्ञेन जीवादीत्यभिजीवनैः ॥ २३ ॥

न चित्त है, न प्रमाता है और न जगदाकार आदि विभ्रम हैं, पहले वर्षा-कालमें बरस चुकनेके कारण अनन्तर शरत्-कालमें शब्दशून्य हुए मेघके समान शुद्ध अर्थात् अधिष्ठान-सदात्मरूपसे परिशिष्ट बाधित जगत् शान्त हुआ ही शान्तिको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

जैसे द्रवस्वभाव होनेके कारण जल ही जलमें आवर्त आदि भावको प्राप्त होता है, वैसे ही मायावी सर्वज्ञ ही अपनी मायासे संयुक्त ज्ञप्तिरूप आत्मामें अहंतादिरूपको यानी जीव और जगत्के रूपको प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

जैसे जलमें द्रवत्व रहता है, जैसे सदा गमन करनेवाले वायुमें स्पन्द रहता है, वैसे ही परमार्थरूपसे केवल ज्ञप्तिस्वरूपवाले सर्वज्ञ परमात्मामें अहंता, देश, काल आदि रहते हैं ॥ २२ ॥

यदि जीवका स्वरूप और जगत्का स्वरूप दोनों ज्ञप्तिसे भिन्न नहीं हैं, तब ज्ञप्तिके जीव और ईश्वरभावमें परस्पर क्या भेद रहा ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'ज्ञो ज्ञतायाम्'** इत्यादिसे ।

ईश्वर अपने ईश्वरभावमें निरतिशय आनन्दरूप स्वरूपज्ञानको ज्ञानाभिवृद्धिसे यानी समग्र आवरण और परिच्छिन्नतासे शून्य ज्ञानकी अभिवृद्धिसे सदा सर्वदा ही जानता है और अहङ्कार एवं स्थूल-देहस्वरूप जीवभावमें तो चेतनरूप होता हुआ भी जीवनके हेतुभूत प्राण, इन्द्रिय और विषयोंके साथ नैकविध अध्यासों-के कारण 'मैं जीव आदि स्वरूप ही आत्मा हूँ' यों जानता है, तात्त्विक ज्ञान उसे नहीं रहता, यही उनमें भेद है ॥ २३ ॥

यथोदेति ययाऽज्ञस्य तृप्तिर्ज्ञानेन यादृशी ।
अनन्ये वाऽन्यता बुद्धा स तथा जृम्भते तया ॥ २४ ॥
जीवनं ज्ञातता ज्ञाता जीवनं जीवजीवनम् ।
अत्यन्तमस्ति नो भेदश्चिद्रूपत्वे ज्ञजीवयोः ॥ २५ ॥
यथा ज्ञजीवयोर्नाऽस्ति भेदो नाम तथैतयोः ।
भेदोऽस्ति न ज्ञशिवयोर्विद्धि शान्तमखण्डितम् ॥ २६ ॥

इसलिए जीवकी ज्यों-ज्यों भ्रान्ति होती जाती है, त्यों-त्यों ईश्वरका विवर्त (उपादानकी सत्तासे विषम सत्तावाला परिणाम) होता जाता है, यह कहतेहैं— **'यथोदेति'** इत्यादिसे ।

जिस जिस काम और कर्मोंकी वासनासे जिस प्रकारके विषयपरिज्ञानसे अज्ञानी जीवात्माको जिस जिस दर्शन, लाभ और उपभोगके वैचित्र्यसे जिस जिस तरहके प्रिय, मोद, प्रमोद आदि विभिन्न विभिन्न प्रकारके उपभोगोंका आविर्भाव होता है अथवा वह अनन्य स्वरूपमें जैसी भोक्ता, भोग्य और भोगकी विचित्रतारूपी अन्यताका अनुभव कर लेता है, उस उस जीवकी काम आदिकी वासनासे वह परमेश्वर वैसे वैसे अपने अङ्गोंको विवर्तित करता है यानी वैचित्र्य धारण करता है ॥ २४ ॥

जब इसने (जीवने) सत्-शास्त्रोंसे और सद्-गुरुओंके उपदेशोंसे यह जान लिया कि इस भोग्य जगत्का जीवन (सार या परमार्थ स्थिति) अधिष्ठान सन्मात्ररूप स्फूर्ति ही है और भोक्ताका जीवन (सार) जिसके अधीन समस्त जीवोंका जीवन है ऐसा आनन्दस्वरूप जीवन ही है, तब भोग्य और भोक्ताके दोनों अधिष्ठानोंकी चिद्रूपता ही अवशिष्ट रह गई, ऐसी स्थितिमें जीव और ईश्वरका कभी भी भेद नहीं है ॥ २५ ॥

जीव और ईश्वरका भेद करनेवाले अज्ञानके विनष्ट हो जानेपर प्राज्ञ और तुरीयका भेद भी निवृत्त हो जाता है, अतः अखण्डपूर्णानन्दैकरस चिन्मात्रका साम्राज्य सिद्ध हुआ, यह कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे वास्तवमें जीव और ईश्वरका भेद नहीं है, वैसे ही इन प्राज्ञ और तुरीय दोनोंका भेद भी नहीं है । श्रीरामजी, असलियतमें आप उन सबको शान्त अखण्ड पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूप ही जानिये ॥ २६ ॥

सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्य-
माभास्वरं स्वदनमात्रमचेत्यचिह्नम् ।
सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी तु दृष्टि-
र्बोधार्थमेव हि मुधैव तदोमितीदम् ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे भेदनिरासो नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

निचोड़ अर्थका अनुवादपूर्वक उपसंहार करते हैं—'**सर्वम्**' इत्यादिसे ।

समस्त जगत् पूर्णस्वप्रकाशस्वरूप, आनन्दैकरस, विषय एवं अपने भेदक धर्मोंसे शून्य, अज, एक, आदि-मध्यसे शून्य, प्रशान्त ब्रह्मस्वरूप ही है । ऐसी स्थितिमें 'सर्वं प्रशान्तम्' (सब प्रशान्त ब्रह्मरूप है) इत्यादि तात्कालिक शब्दमयी दृष्टि—पदोंसे बोधित होनेवाले अर्थोंके अभेदसंसर्गका उल्लेख करनेवाली आहार्य (बनावटी) भेददृष्टि—साक्षात् प्रयोजन न होनेके कारण मिथ्या ही है, क्योंकि विरोधका भान होनेपर भागत्याग-लक्षणाका आश्रयण कर लक्ष्यार्थ अखण्डका बोध कराना ही उसका प्रयोजन है । उक्त वाक्यसे बोध्य अखण्डरूप अर्थ तो ॐकारसे लक्षित जो विशुद्ध चैतन्य है, वही है, अतएव यह सब ॐकारस्वरूप है, यही कहना चाहिए । ॐकारसे विशुद्ध चैतन्य यों लक्षित होता है—ॐकार, जगत् और ब्रह्मका एकीकरण कर तदनन्तर विराट् , हिरण्यगर्भ, अव्याकृत और तुरीयस्वरूप अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा—यों ॐकारके चार तरह पादोंका विभाग कर पूर्व पूर्व पादोंका उत्तरोत्तर पादोंमें उपसंहार कर लेनेके अनन्तर चतुर्थ आधी मात्रासे असंसृष्ट अद्वय पूर्णानन्दैकरस नित्य-अपरोक्ष प्रत्यक्-चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म बोधित होता है ॥ ॥ २७ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अष्टपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
किरातेशस्य सुरघोर्वृत्तान्तं विस्मयास्पदम् ॥ १ ॥
उत्तरस्या दिशो मेदः कर्पूरपटलं भुवः ।
संभूतं हसनं शार्वं शुक्लो वा चान्द्र आतपः ॥ २ ॥
हिमाद्रेः शृङ्गमस्तीह कैलासो नाम पर्वतः ।
शैलकुञ्जरनिर्मुक्तकलापस्येव नायकः ॥ ३ ॥
विष्णोः क्षीरोदक इव स्वर्गः सुरपतेरिव ।
अब्जजस्येव नाभ्यब्जं गृहं यः शशिमौलिनः ॥ ४ ॥

अट्ठावनवाँ सर्ग

[किरातेश सुरघुके वैराग्यका वर्णन तथा उसके प्रति माण्डव्यका उपदेश]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, पहलेके मुनि इसी विषयमें यानी शब्दरूपा भेददृष्टि केवल बोधके लिए है, इस कहे गये ही अर्थमें प्राचीन इतिहासका, जिसमें भिल्लोंके राजा सुरघुका अत्यन्त विस्मय करानेवाला वृत्तान्त है, उदाहरण देते हैं ॥ १ ॥

सुरघुके निवासदेशको बतलानेके लिए उसके पासके हिमालयके शिखरका वर्णन करते हैं—**'उत्तरस्याः'** इत्यादिसे ।

यहाँ हिमालयकी चोटी कैलासनामका पर्वत है, वह क्या है ? उत्तरदिशाका सार है, भूमिसे निकले हुए कपूरका समूह है, शिवजीका कल्याणमय हास्य है, विशुद्ध चन्द्रमाका तेजःपुञ्ज है अथवा उत्तर दिशाका सार, शिवजीका हास्य और चन्द्रमाका प्रकाश—ये सब पृथ्वीमें आकर मानो एक कपूरका ढेर बन गये हैं । पर्वतोंमें श्रेष्ठ हिमालयके द्वारा धारण की गई शिखरोंकी परम्परारूप मोतियोंकी मालाका सुमेरु मणि है अथवा यों कहिये कि वह शैलोंमें विहार करनेवाले हाथियोंसे निकले हुए मुक्तासमुदायका नायक—संग्राहक राशि—है । भगवान् विष्णुके क्षीरसागरकी तरह, सुरपति इन्द्रके स्वर्गकी तरह और ब्रह्माके आश्रय विष्णु-नाभिकमलकी तरह वह शशिमौली पार्वतीपतिका तो घर अर्थात् श्वशुर द्वारा निर्मित निवासस्थान है ॥ २–४ ॥

रुद्राक्षवृक्षदोलाभिः साप्सरोभिर्विभाति यः ।
लोलरत्नशलाकाभिर्लहरीभिरिवाऽर्णवः ॥ ५ ॥
गणाङ्गनानामनिशं मत्तानां चरणैर्हताः ।
अशोका इव राजन्ते यत्राऽशोका विलासिनः ॥ ६ ॥
संचरन् शङ्करो दिक्षु भृगुष्विन्दुमणिद्रवैः ।
निवर्तन्ते प्रवर्तन्ते यत्राऽजस्रं च निर्झराः ॥ ७ ॥
यो लतावृक्षगुल्मौघवापीह्रदनदीनदैः ।
मृगैर्मृगगणैर्भूतैर्ब्रह्माण्डवदिवाऽऽवृतः ॥ ८ ॥
तस्य हेमजटा नाम किराताः संस्थिताः स्थले ।
पिपीलिका वटतरोर्मूलकोशगता इव ॥ ९ ॥
कैलासपादारण्यानां रुद्राक्षैस्तरुगुल्मकैः ।
वसन्ति घूकवत् क्षुद्रास्ते वै निकटजीविनः ॥ १० ॥

दिव्याङ्गनाएँ जिसपर आरूढ़ हैं, ऐसे अति चञ्चल रत्नोंकी शलाकाओंसे युक्त रुद्राक्ष वृक्षोंमें लटक रहे झूलोंसे वह ऐसे शोभता है, जैसे समुद्र चञ्चल रत्नरूपी शलाकाओंसे युक्त लहरियोंसे शोभता हो ॥ ५ ॥

जहाँ प्रमत्त प्रमथगणोंकी अङ्गनाओंके चरणोंसे विताड़ित विलासी शोकरहित पुरुष ऐसे भले लगते हैं, जैसे अशोक वृक्ष ॥ ६ ॥

उस शिखरपर जिन जिन दिशाओंमें भगवान् शङ्करका विचरण होता है, उन उन दिशाओंमें [मस्तकमें धारित चन्द्रमाकी ज्योत्स्नाके सम्पर्कसे] चन्द्रकान्त-मणिके द्रवोंसे प्रपातस्थानोंमें झरने बह रहे हैं और जिन दिशाओंमें उनका विचरण नहीं होता, उन दिशाओंमें बहते हुए भी झरने रुक जाते हैं ॥ ७ ॥

अनेक ब्रह्माण्डोंके आधार ब्रह्मकी नाईं जो लताओं, वृक्षों, गुल्मों, बावड़ियों, तलाबों, नदियों, नदों, पशुओं, हरिणों और भूतों का आधार है अथवा उन लता आदियोंसे वह समस्त ब्रह्माण्डकी तरह आच्छादित है ॥ ८ ॥

उस हिमालयके शिखरभूत कैलासके मूल देशमें हेमजट (सुवर्णके सदृश पीत जटावाले) नामके किरात उस भाँति निवास करते थे, जिस भाँति बट वृक्षके मूलदेशमें चीटियाँ निवास करती हैं ॥ ९ ॥

कैलास पर्वतके नीचे पर्वतोंके अरण्योंमें उत्पन्न होनेवाले रुद्राक्ष और

आसीत्तेषामुदारात्मा राजा परपुरञ्जयः ।
जयलक्ष्म्या भुज इव यः प्रजायाश्च दक्षिणः ॥ ११ ॥
सुरघुर्नाम बलवान् सुरघोरारिदर्पहा ।
अर्कः पराक्रम इव मूर्तिमानिव मारुतः ॥ १२ ॥
जितो वै राज्यविभवैर्धनैर्गुह्यकनायकः ।
शतक्रतुगुरुर्बोधैः काव्यैरसुरदेशिकः ॥ १३ ॥
स चक्रे राजकार्याणि निग्रहानुग्रहक्रमैः ।
यथाप्राप्तान्यखिन्नाङ्गो दिनानीव दिवाकरः ॥ १४ ॥
तज्जाभ्यां सुखदुःखाभ्यामथ तस्याऽभ्यभूयत ।
स्वगतिर्वागुराबन्धैः श्लिष्टाङ्गस्येव पक्षिणः ॥ १५ ॥

अन्यान्य वृक्षोंके फल, पुष्प, कन्दमूल आदिसे वे क्षुद्र किरात अपना जीवन व्यतीत करनेके कारण उल्लूके समान निकट-जीवी होकर रहते थे ॥ १० ॥

उन किरातोंका एक राजा था, वह उदारचेता और शत्रुओंके दुर्गोंको जितनेवाला था, विजयलक्ष्मी तो मानो उसके हाथ थी, प्रजाके पालनमें दक्ष था, उसका नाम था—सुरघु, वह अत्यन्त बली था, बड़े बड़े शत्रुओंके दर्पको देवोंके समान मिनट भरमें विचूर्णित कर देता था, पराक्रममें वह सूर्यके सदृश था, गतिमें शरीरधारी वायुके तुल्य था। अपने नैकविध राज्यवैभवोंसे तथा विविध धनसंपत्तियोंसे उसने गुह्यकोंके नायक कुबेरको भी मात कर दिया था। उच्च आत्मज्ञानके कारण सुराधीश इन्द्रके गुरु बृहस्पतिके और रस, अलङ्कार आदि-से परिपूर्ण काव्योंकी विविध रचनाओंके कारण असुरदेशिकके—शुक्राचार्यके—ऊपर उसने विजय पा रक्खी थी ॥ ११-१३ ॥

जैसे सहस्रांशु दिवाकर किसी प्रकारकी अङ्गोंमें थकावटका अनुभव किये बिना क्रमशः एकके पीछे एक अनेक दिवसोंका निर्माण करते हैं, ठीक उसी तरह वह सुरघु नामका राजा अङ्गोंमें किसी प्रकारकी थकावटका अनुभव किये बिना जिस समय जो राजकार्य प्राप्त होते गये, उनको निग्रह और अनुग्रहकी व्यवस्थासे करता था ॥ १४ ॥

अनन्तर निग्रहानुग्रह-व्यवस्थासे किये जानेवाले उन राजकार्योंसे उत्पन्न सुख और दुःखोंके कारण उसकी पारमार्थिक गति ऐसे लुप्त हो गई जैसे कि फंदेमें फँसे पक्षीकी गति लुप्त हो जाती है ॥ १५ ॥

किमार्तं पीडयाम्येनं तिलान् यन्त्रमिवौजसा ।
सर्वेषामेव भूतानां ममेवाऽऽर्तिः प्रजायते ॥ १६ ॥
धनमस्मै प्रयच्छामि धनेनाऽऽनन्दवान् जनः ।
भवत्यहमिवाऽशेषस्तदलं मेऽतिनिग्रहैः ॥ १७ ॥
अथवा निग्रहं प्राप्तं करोम्येतेन वै विना ।
वर्तते न प्रजैवेयं विना वारि सरिद्यथा ॥ १८ ॥
हा कष्टमेष निग्राह्यो नित्यानुग्राह्य एष मे ।
दिष्ट्याऽद्य सुखवानस्मि कष्टमद्याऽस्मि दुःखवान् ॥ १९ ॥
इति दोलायितं चेतो न विशश्राम भूपतेः ।
एकत्राऽम्बुमहावर्ते चिरतृष्णमिव भ्रमत् ॥ २० ॥

दुःखसे जनित चिन्ता और शोकको दिखलाते हैं—**'किमार्तम्'** इत्यादिसे ।

कोल्हूयन्त्रमें जैसे तिल पिसे जाते हैं, वैसे इन दुःखी प्रजाजनोंको बलपूर्वक मैं क्यों पीसता हूँ यानी दुःख दे रहा हूँ । सभी प्राणियोंको वैसे ही दुःख होता है, जैसे कि मुझे होता है ॥ १६ ॥

कर्तव्यके संशयमें प्रथम कोटिको दिखलाते हैं—**'धनमस्मै'** इत्यादिसे ।

इसलिए इन दुःखी जनोंको मैं धन दूँ, इनके ऊपर निग्रह करना व्यर्थ है । जैसे धन मिलनेपर मैं आनन्दित होता हूँ, वैसे ही सम्पूर्ण मनुष्य धनसे ही आनन्दित होते हैं ॥ १७ ॥

अब दूसरी कोटि बतलाते हैं—**'अथवा'** इत्यादिसे ।

अथवा धर्मशास्त्रने जिस पुरुषके लिए जैसा निग्रह यानी वध, बन्धन आदि दण्ड योग्य ठहराया हो, उसे वैसा ही दण्ड दूँ, क्योंकि बिना दण्ड दिये यह प्रजा अपनी अपनी मर्यादामें ऐसे प्रवृत्त नहीं होती, जैसे कि जलके बिना नदी प्रवृत्त नहीं होती ॥ १८ ॥

वध और बन्धन आदिसे यह मेरा दण्डनीय है, यह पुरस्कार आदिसे सदा अनुकम्पनीय है, भाग्यवश आज सुखी हूँ तो दुर्भाग्यवश आज दुःखी हूँ, यह सब परिशेषमें कष्ट ही है, हा कष्ट ! ॥ १९ ॥

जैसे सोये हुए प्यासे पुरुषका बहुत कालकी तृषासे युक्त मन जलके बड़े बड़े आवर्तोंमें घुम रहा कहीं एक जगह विश्राम नहीं पाता, वैसे ही भूमिपति सुरघुका

अथैकदा गृहं तस्य माण्डव्यो मुनिराययौ ।
भ्रान्ताशेषककुप्कुञ्जो वासवस्येव नारदः ॥ २१ ॥
तमसौ पूजयामास पप्रच्छ च महामुनिम् ।
सन्देहदुर्द्रुमस्तम्भपरशुं सर्वकोविदम् ॥ २२ ॥

सुरघुरुवाच

भवदागमनेनाऽस्मि मुने निर्वृतिमागतः ।
परमां वसुधापीठं संप्राप्त इव माधवे ॥ २३ ॥
अद्य तिष्ठाम्यहं नाथ धन्यानां धुरि धर्मतः ।
विकासि रविणेवाऽब्जं यत्त्वयाऽस्म्यवलोकितः ॥ २४ ॥
भगवन् सर्वधर्मज्ञ चिरं विश्रान्तवानसि ।
तदमुं संशयं छिन्धि ममाऽर्कस्तिमिरं यथा ॥ २५ ॥

उपर्युक्त विकल्पोंसे चञ्चल हुआ मन कहीं एक जगह विश्रामको प्राप्त नहीं हुआ ॥ २० ॥

अनन्तर किसी एक समय जैसे देवर्षि नारद इन्द्रके घर आते हैं, वैसे ही जिन्होंने समस्त दिशारूपी मण्डलोंमें भ्रमण किया है, ऐसे महर्षि माण्डव्य उस राजाके घरपर आये ॥ २१ ॥

इस राजाने सम्पूर्ण शास्त्रोंके विज्ञाता, सन्देहरूपी दुष्ट वृक्ष-स्तम्भके छेदनमें कुठारस्वरूप उस महामुनि माण्डव्यका पूजन किया और पूछा ॥ २२ ॥

सुरघुने कहा—हे महामुने, जैसे भूमिपर वसन्त ऋतुके अथवा विष्णुके आनेपर लोक परम सुखी होते हैं, वैसे ही आपके शुभागमनसे मैं अत्यन्त सुखी हुआ ॥ २३ ॥

भगवन् , आज मैंने पुण्यवान् जनोंमें धर्मतः प्रथम स्थान प्राप्त किया, क्योंकि कमलको विकासित करनेवाले सूर्यके समान आपने मेरे ऊपर कृपादृष्टि की है ॥ २४ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंके जाननेवाले हे भगवन् , आप परम पदमें चिरकालसे ही विश्रान्ति पा चुके हैं, अतः जैसे सूर्य अन्धकारको काट डालता है, वैसे ही मेरे इस संशयको काट दीजिये ॥ २५ ॥

महतां संगमेनाऽऽर्तिः कस्य नाम न नश्यति ।
सन्देहं तु परामार्तिमाहुरार्तिविदो जनाः ॥ २६ ॥
मन्निग्रहानुग्रहजा मद्भृत्यवपुषि स्थिताः ।
कषन्ति मामलं चिन्ता गजं हरिनखा इव ॥ २७ ॥
तद्यथा समतोदेति सूर्यांशुरिव सर्वदा ।
मतौ मम मुने नाऽन्या तथा करुणया कुरु ॥ २८ ॥

माण्डव्य उवाच

स्वयत्नेन स्वसंस्थेन स्वेनोपायेन भूपते ।
एषा मनःपेलवता हिमवत् प्रविलीयते ॥ २९ ॥
स्वविचारणयैवाऽऽशु शाम्यत्यन्तर्मनोज्वरः ।
शरदागममात्रेण मिहिका महती यथा ॥ ३० ॥

महाराज, बड़ोंके संसर्गसे भला किसका दुःखसे छुटकारा नहीं होता ?। दुःखके स्वरूपको भलीभाँति जाननेवाले विज्ञ जन सन्देहको ही महान् दुःख कहते हैं ॥ २६ ॥

जैसे सिंहके नख हाथीको उत्पीडित करते हैं, वैसे ही मेरे शत्रु, मित्र आदिके शरीरोंके विषयमें मेरे द्वारा किये गये निग्रह और अनुग्रहसे जनित चिन्ताएँ मुझे अत्यन्त उत्पीड़ित कर रही हैं ॥ २७ ॥

हे भगवन्, इसलिए सूर्यके किरणोंके समान मेरी बुद्धिमें सर्वदा समदृष्टिका उदय जैसे हो और विषमदृष्टिका उदय जैसे न हो, वैसा कृपापूर्वक कीजिये ॥२८॥

माण्डव्यने कहा—राजन् , जैसे [आतपसे] कुहरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही वैराग्य, त्याग आदि स्वयत्नसे तथा आत्मसाक्षात्कार होने तक निरन्तर अनुष्ठित श्रवण, मनन आदि आत्माके अभिव्यञ्जक उपायोंसे यह मनकी मृदुता यानी हर्ष, विषाद आदि कण्टकोंसे होनेवाली छेदनयोग्यता विनष्ट हो जाती है ॥ २९ ॥

हे राजन्, जैसे शरत्-कालके आगमनमात्रसे बड़े बड़े मेघमण्डल विलीन हो जाते हैं, वैसे ही केवल अपनेपनका विचार करनेसे ही मनका भीतरी संताप शीघ्राति-शीघ्र विलीन हो जाता है ॥ ३० ॥

स्वेनैव मनसा स्वानि स्वशरीरगतानि च ।
विचारयेन्द्रियाण्यन्तः कीदृशान्यथ कानि च ॥ ३१ ॥
कोऽहं कथमिदं किं वा कथं मरणजन्मनी ।
विचारयाऽन्तरेवं त्वं महत्तामलमेष्यसि ॥ ३२ ॥
विचारणापरिज्ञातस्वभावस्य सतस्तव ।
हर्षामर्षदशाश्चैतस्तोलयिष्यन्ति नाऽचलम् ॥ ३३ ॥
मनः स्वरूपमुत्सृज्य शममेष्यति विज्वरम् ।
भूतपूर्ववपुर्भूत्वा तरङ्गः पयसीव ते ॥ ३४ ॥
तिष्ठदेव मनो रूपं परित्यक्ष्यति तेऽनघ ।
कलङ्कविकलं कालं मन्वन्तरगताविव ॥ ३५ ॥

हे राजन्, आप अपने ही मनसे भीतर विचार कीजिये कि जो अपने सम्बन्धी पुत्र, मित्र आदि, अपने शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ तथा बुद्धि आदि वस्तुएँ हैं, वे तत्त्वतः कौन हैं एवं युक्तिसे उनका प्रकार क्या है ? ॥ ३१ ॥

मैं कौन हूँ ?, कैसा हूँ ?, यह दिखाई देनेवाला जगत् क्या है ? कैसे जन्म और मरण होते हैं ?, इसका भी अन्दरसे विचार कीजिये, यों विचारनेसे आप महत्ताको (अविचारसे भासनेवाली मिथ्या परिच्छिन्नताके निकल जानेके कारण अपरिच्छिन्नताको) अनायास प्राप्त हो जायँगे ॥ ३२ ॥

जब तथोक्त विचारसे अपने सत्स्वरूपभूत स्वभावको आप जान जायँगे, तब आपके निश्चल मानसको हर्ष, अमर्ष आदि अवस्थाएँ उत्तोलन नहीं कर पायेंगी अर्थात् उन्नमन और आनमनके हेतु पदार्थोंसे तराजूकी स्थिति जैसे अनियत हो जाती है, वैसे आपके अन्तःकरणकी स्थिति अनियत नहीं होगी ॥ ३३ ॥

जैसे तरङ्ग अपने उत्तुङ्ग स्वरूपको छोड़ पूर्वसिद्ध जलस्वभाव होकर शान्त हो जाता है, वैसे ही चिन्ताज्वरसे मुक्त हुआ आपका मन अपने सङ्कल्पविकल्पात्मक स्वरूपको छोड़ पूर्वसिद्ध ब्रह्मस्वभाव होकर शान्तिको—निर्विक्षेपताको—प्राप्त हो जायगा ॥ ३४ ॥

तब क्या मनकी सत्ता ही विनष्ट हो जायगी ? नहीं, ऐसा कहते हैं—'तिष्ठदेव' इत्यादिसे ।

जैसे पहले मनुके बाद कलिकालको प्राप्त कर अनेकविध पापोंसे आक्रान्त हुआ

अनुकम्प्या भविष्यन्ति श्रीमन्तः सर्व एव ते ।
दृष्टतत्त्वस्य तुष्टस्य जनाः पितुरिवाऽवनौ ॥ ३६ ॥
विवेकदीपदृष्टात्मा मेर्वब्धिनभसामपि ।
अथो करिष्यसि नृप महत्तामुत्तमार्थदाम् ॥ ३७ ॥
महत्तामागते चेतस्तव संसारवृत्तिषु ।
न निमज्जति हे साधो गोष्पदेष्विव वारणः ॥ ३८ ॥
कृपणं तु मनो राजन् पेलवेऽपि निमज्जति ।
कार्ये गोष्पदतोयेऽपि जीर्णाङ्गो मशको यथा ॥ ३९ ॥

भूमण्डल फिर दूसरे मनुकी गतिमें विद्यमान रहता हुआ ही पापोंसे छुटकारा पाता है, वैसे ही जीवन्मुक्तके व्यवहारमें समर्थ होनेसे मन भी विद्यमान रहता हुआ ही पहलेके अपने रूपको छोड़ देता है ॥ ३५ ॥

केवल दुःखनिवृत्ति ही तत्त्वज्ञानका फल नहीं है, किन्तु जिस साम्राज्यमें ब्रह्मा आदि देवताओंके ऊपर भी अनुकम्पा की जाती है, वैसा निरतिशयानन्द-साम्राज्य भी फल है, ऐसा कहते हैं—**'अनुकम्प्याः'** इत्यादिसे ।

जैसे लोकमें प्रजाजन पालन करनेवाले सन्तुष्ट पिताकी कृपाके पात्र होते हैं, वैसे ही वे विभवसम्पन्न ब्रह्मा आदि बड़े बड़े देवता भी विदिततत्त्व अतएव सन्तुष्ट आपकी कृपाके पात्र होंगे ॥ ३६ ॥

जब आकाश आदिकी भी महत्ता उसकी सत्ताके अधीन है, तब उसकी सर्वातिशायिनी (सभीसे बढ़ी चढ़ी) महत्तामें तो कहना ही क्या ? इस आशयसे कहते हैं—**'विवेक०'** इत्यादिसे ।

हे राजन्, विवेकजनित ज्ञानरूप दीपसे आत्मतत्त्वको जान लेनेपर आप मेरु, समुद्र और आकाशकी भी उत्तम अर्थ देनेवाली महत्ता बढ़ायँगे ॥ ३७ ॥

हे साधो, जैसे गायके खुरमात्र जलमें हाथी नहीं डूबता, वैसे ही महत्त्व प्राप्त कर लेनेपर आपका अन्तःकरण सांसारिक वृत्तियोंमें नहीं डूबेगा ॥ ३८ ॥

राजन्, जैसे शिथिल शरीरवाला मच्छर गायके खुरमात्र जलमें डूब जाता है, वैसे ही काम, कार्पण्य आदि दोषोंसे दूषित मन तुच्छ कार्यमें भी मोहको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

चेतोवासनया पङ्के कीटवत् परिमज्जसि ।
दृश्यमात्रावलम्बिन्या त्वया दीनतया तया ॥ ४० ॥
तावत्तावन्महाबाहो स्वयं संत्यज्यतेऽखिलम् ।
यावद्यावत्परालोकः परमात्मैव शिष्यते ॥ ४१ ॥
तावत्प्रक्षाल्यते धातुर्यावद्धेमैव शिष्यते ।
तावदालोक्यते सर्वं यावदात्मैव लभ्यते ॥ ४२ ॥
सर्वः सार्विकया बुद्ध्या सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
सर्वथा संपरित्यज्य स्वात्मनाऽऽत्मोपलभ्यते ॥ ४३ ॥
यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते ।
सर्वावस्थापरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते ॥ ४४ ॥

केवल दृश्यका अवलम्बन करनेवाली अन्तःकरणकी वासनारूपी उक्त अपनी दीनतासे कीड़ेकी भाँति आप कीचड़में फँस रहे हैं ॥ ४० ॥

तब किन किन विषयोंमें या कितने समयतक वैराग्य करना चाहिए? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'**तावत्**' इत्यादिसे ।

हे महाबाहो, जबतक स्वयंज्योति परमात्माका ही अवशेषरूपसे अनुभव नहीं किया जाता, तबतक समस्त प्रपञ्चका स्वयं परित्याग करना चाहिए ॥ ४१ ॥

अनेक तरहकी श्रुतियों और शास्त्रों का पर्यालोचन भी तबतक करना चाहिए, जबतक कि आत्माका अपरोक्ष साक्षात्कार न हो, ऐसा कहते हैं—'**तावत्**' इत्यादिसे ।

जैसे जिस धातुमें सुवर्णका अस्तित्व है, उस धातुका तबतक शोधन किया जाता है, जबतक केवल सुवर्ण अवशिष्ट नहीं रह जाता, वैसे ही तबतक समस्त अध्यात्म आदि शास्त्र देखे (विचारे) जाते हैं, जबतक कि केवल आत्मा प्राप्त हो नहीं जाता ॥ ४२ ॥

सर्वात्मक बुद्धिसे सर्वदा सभी प्रकारोंसे सब देशोंमें सभी दृश्योंका परित्याग कर पूर्णात्मा अपने आप ही से प्राप्त होता है । एकाध बार, किसी एक जगह, किसी प्रकार कुछ विषयोंका परित्याग करने मात्रसे वह प्राप्त नहीं होता, यह तात्पर्य है ॥ ४३ ॥

कहे गये ही अर्थको व्यतिरेकसे भी दृढ़ करते हैं—'**यावत्**' इत्यादिसे ।

यावदन्यन्न संत्यक्तं तावत्सामान्यमेव हि ।
वस्तु नाऽऽसाद्यते साधो स्वात्मलाभे तु का कथा ॥ ४५ ॥
यत्र सर्वात्मनैवाऽऽत्मा लाभाय यतति स्वयम् ।
त्यक्तान्यकार्यं प्राप्नोति तन्नाम नृप नेतरत् ॥ ४६ ॥
स्वात्मावलोकनार्थं तु तस्मात् सर्वं परित्यजेत् ।
सर्वं किञ्चित्परित्यज्य यद् दृष्टं तत्परं पदम् ॥ ४७ ॥
सकलकारणकार्यपरम्परामयजगद्गतवस्तुविजृम्भितम् ।
अलमपास्य मनः स्ववपुस्ततः परिविलाप्य यदेति तदेव तत् ॥ ४८ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
सुरघुवृत्तान्ते माण्डव्योपदेशो नामाऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

जबतक सम्पूर्ण दृश्योंका परित्याग नहीं होता, तबतक आत्माका लाभ नहीं होता यानी साक्षात्कार नहीं होता, क्योंकि सभी अवस्थाओंका परित्याग करने पर जो शेष रहता है, वही आत्मा कहा जाता है ॥ ४४ ॥

साधो, व्यवहारमें भी जबतक विरोधी वस्तुको नहीं छोड़ते तबतक सामान्य गाय, धन आदि वस्तु भी जब प्राप्त नहीं की जा सकती, तब असाधारण आत्माके लाभकी तो कथा ही क्या ? ॥ ४५ ॥

राजन्, अन्यान्य सब कार्योंको छोड़कर जिस विषयकी प्राप्तिके लिए आत्मा स्वयं सब प्रकारसे प्रयत्न करता है, उसीको प्राप्त करता है, दूसरेको नहीं ॥ ४६ ॥

इससे आत्माका साक्षात्कार करनेके लिए सभी विषयोंका परित्याग करना चाहिए। सबका परित्याग करनेपर जो कुछ (जिसे छोड़ नहीं सकते, ऐसा तत्त्व) दिखाई देगा, वही परम पद है ॥ ४७ ॥

मणियोंमें सूतकी नाईं सम्पूर्ण कार्य और कारणोंकी परम्परारूप जगत्में अनुगत सद्रूप वस्तुमें केवल अपनी कल्पनासे अभिव्यक्त मिथ्याभूत सद्भिन्न वस्तुओं-का निःशेष परित्याग कर, अनन्तर अपने (मनके) स्वरूपका भी मूलाज्ञानका नाश होनेसे बाध-द्वारा प्रविलापन कर मन जिस सच्चिदानन्दैकमात्र वस्तुको प्राप्त होता है, वही परब्रह्मका स्वरूप है ॥ ४८ ॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

एकोनषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा भगवानेनं सुरघुं रघुनन्दन ।
ययौ स्वमेव रुचिरं माण्डव्यो मौनमण्डलम् ॥ १ ॥
गते वरमुनौ राजा गत्वैकान्तमनिन्दितम् ।
धिया संचिन्तयामास को नामाऽहमिति स्वयम् ॥ २ ॥
नाऽहं मेरुर्न मे मेरुर्जगन्नाऽहं न मे जगत् ।
नाऽहं शैला न मे शैला धरा नाऽहं न मे धरा ॥ ३ ॥
किरातमण्डलं नेदं मम नाऽहं च मण्डलम् ।
निजसङ्केतमात्रेण केवलं देश एव मे ॥ ४ ॥
त्यक्तो मयैष सङ्केतो नाऽहं देशो न वैष मे ।
इदानीं नगरं शिष्टमेष एवाऽत्र निश्चयः ॥ ५ ॥

उनसठवाँ सर्ग

[एकान्तमें बाह्य और आभ्यन्तर दृश्योंका परित्याग कर रहे राजा सुरघुको विचारसे स्वात्मलाभ हुआ, यह कथन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त प्रकारसे इस सुरघु राजाको उपदेश देकर भगवान् माण्डव्य अपने सुन्दर मुनियोंके रहने योग्य देशकी ओर चले गये ॥ १ ॥

तत्त्वद्रष्टा उक्त मुनिके चले जाने पर उस राजाने एकान्त और अनिन्दित स्थानमें जा कर बुद्धिसे विचार किया कि स्वयं मैं कौन हूँ ? ॥ २ ॥

राजा पहले बाह्य दृश्योंमें आत्मता और आत्मीयताका विचारसे निरास करते हैं—**'नाऽहम्'** इत्यादि छः श्लोकोंसे ।

मैं न मेरु पर्वत हूँ और न मेरा मेरु पर्वत है, मैं न जगत् (ऊपर और निचेके लोक) हूँ और न मेरा जगत् है, मैं न पर्वत हूँ और न मेरे पर्वत हैं, मैं न पृथ्वी हूँ और न मेरी पृथ्वी है । मेरा न तो यह किरातमण्डल है और न मैं ही किरातमण्डल हूँ, केवल अपने सङ्केतसे यानी सब लोगोंकी संमतिसे

पताकावनपङ्क्त्याढ्या भृत्योपवनसङ्कुला ।
गजाश्वसामन्तयुता पुरी नाऽहं न मे पुरी ॥ ६ ॥
व्यर्थसङ्केतसम्बन्धं सङ्केतविगमे क्षतम् ।
भोगवृन्दं कलत्रं च नाऽहं नैतन्ममाऽखिलम् ॥ ७ ॥
एवं सभृत्यं सबलं सवाहनपुरान्तरम् ।
नाऽहं राज्यं न मे राज्यं सङ्केतो ह्ययमाकुलः ॥ ८ ॥
देहमात्रमहं मन्ये हस्तपादादिसंयुतम् ।
तदिदं तावदाश्वन्तरलमालोकयाम्यहम् ॥ ९ ॥
तदत्र तावन्मांसास्थि नाऽहमेतदचेतनम् ।
न चैतन्मम संश्लेषमेत्यब्जस्य यथा जलम् ॥ १० ॥

पट्टाभिषेक आदिके द्वारा मैं राजा बनाया गया हूँ, यों अपनी क़ल्पनासे ही मेरा केवल देश ही है। मैंने यह कल्पना छोड़ दी, मैं न देश हूँ और न मेरा यह देश है। अब नगर बचा, पर इस नगरके विषयमें भी कल्पनात्यागसे यही निश्चय निकलता है—ध्वजाओं और बागों की पंक्तियोंसे युक्त, सेवक और उद्यानोंसे भरी, हाथियों, अश्वों और सामन्तोंसे युक्त नगरी न तो मैं हूँ और न तो नगरी मेरी है। मिथ्याभूत कल्पनासे सम्बन्ध रखनेवाला तथा कल्पनाका विनाश होनेपर नष्ट हो जानेवाला यह भोगसमुदाय तथा भार्या आदि कुटुम्ब-परिवार मैं नहीं हूँ और न तो वह सब मेरा ही है ॥ ३–७ ॥

एवं भृत्यों, सेनाओं, वाहनों और अन्य नगरों से युक्त राज्य मैं नहीं हूँ और मेरा राज्य नहीं है, क्योंकि घुँघची और कर्षापणके सम्बन्धकी नाईं यह सन्बन्ध अनादि अन्धपरम्पराके व्यवहारसे केवल कल्पित है ॥ ८ ॥

केवल कल्पनाके त्यागरूप उपायसे बाह्य विषयोंके साथ अपने सम्बन्धका निरास कर अब अचेतन होनेके कारण देह, इन्द्रिय आदिके साथ भी आत्माके सम्बन्धका निरास करनेके लिए आरम्भ करते हैं—**'देहमात्र०'** इत्यादिसे।

हाथ, पैर आदि अवयवोंसे युक्त केवल देह मैं हूँ, ऐसा हो सकता है। अतः इस विषयमें भी मैं अपने भीतर पूर्णरूपसे शीघ्र विचार करता हूँ ॥ ९ ॥

इस शरीरमें विद्यमान आमिष और अस्थि मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे अचेतन हैं, मेरे सम्बन्धको भी वे (माँस और अस्थि) प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि जलमें कमलकी भाँति मैं असङ्ग हूँ ॥ १० ॥

मांसं जडं न तदहं नैवाऽहं रक्तमप्यलम् ।
जडान्यस्थीनि नैवाऽहं न चैतानि मम क्वचित् ॥ ११ ॥
कर्मेन्द्रियाणि नैवाऽहं न च कर्मेन्द्रियाणि मे ।
जडं यत् किल देहेऽस्मिंस्तदहं नैव चेतनः ॥ १२ ॥
नाऽहं भोगा न मे भोगा न मे बुद्धीन्द्रियाणि च ।
जडान्यसत्स्वरूपाणि न च बुद्धीन्द्रियाण्यहम् ॥ १३ ॥
मूलं संसृतिदोषस्य मनो नाऽहं जडं हि तत् ।
अथ बुद्धिरहङ्कार इति दृष्टिर्मनोमयी ॥ १४ ॥
मनोबुद्धीन्द्रियाद्यन्तो भूतकोशश्चलद्वपुः ।
नाऽहमेवं शरीरादि शिष्टमालोकयाम्यहम् ॥ १५ ॥

मांस जड़ है, अतः मांस मैं नहीं हूँ, (रक्त जड़ है, अतः) वह भी मद्रूप होनेमें समर्थ नहीं है । हड्डियाँ भी जड़ हैं, अतः हड्डियाँ भी मैं नहीं हूँ और न किसी हालतमें वे मांस आदि मेरे हैं ॥ ११ ॥

कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ) मैं नहीं हूँ और मेरी कर्मेन्द्रियाँ नहीं हैं । इस देहमें जो कुछ जड़ पदार्थ है वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं चेतन हूँ ॥ १२ ॥

भोग मैं नहीं हूँ और भोग मेरे नहीं हैं, मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हैं और जड़ एवं असत्स्वरूपवाली ज्ञानेन्द्रियाँ मैं नहीं हूँ ॥ १३ ॥

संसाररूपी दोषका मूल कारण मन मैं नहीं हूँ, क्योंकि वह अचेतन है । अनन्तर अब दृष्टयात्मक (जाने जाते हैं, इसलिए दृष्टयात्मक) बुद्धि और अहङ्कार भी मैं नहीं हूँ और वे मेरे नहीं हैं, क्योंकि अन्तःकरणकी अवस्थारूप होनेके कारण वे तो जड़ हैं ॥ १४ ॥

जिसका स्वरूप अति चपल है, ऐसा शरीरसे लेकर मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि तक जो स्थूल-सूक्ष्म भूतोंका समूह है, वह भी मैं उक्त रीत्या नहीं हूँ । अब जो कुछ बचा है उसे भी देखकर विचारता हूँ ॥ १५ ॥

शेषस्तु चेतनो जीवः स चेच्चेत्येन चेतति ।
अन्येन बोध्यमानोऽसौ नाऽऽत्मतत्त्ववपुर्भवेत् ॥ १६ ॥
एवं त्यजामि संवेद्यं चेत्यं नाऽहं हि तत् किल ।
शेषो विकल्परहितो विशुद्धचिदहं स्थितः ॥ १७ ॥
चित्रमेषोऽस्मि लब्धात्मा जातः कालेन कार्यवान् ।
एष सोऽहमनन्तात्मा नाऽन्तोऽस्य परमात्मनः ॥ १८ ॥
ब्रह्मणीन्द्रे यमे वायौ सर्वभूतगणे तथा ।
स एष भगवानात्मा तन्तुर्मुक्तास्विव स्थितः ॥ १९ ॥

अब बाकी तो प्रमाता जीव है, वह विषयोंके साथ जब प्रकाशता है, तब 'मैं इसे जानता हूँ' यों त्रिपुटी-साक्षात्कारसे बोधित होनेवाला यह प्रमाता आत्माका तात्त्विक स्वरूप कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

इसी युक्तिसे साक्षिसंवेद्य प्रमिति और प्रेमयको छोड़ता हूँ, क्योंकि चेत्य मैं नहीं हूँ, यह निश्चित है । [इतने विचारके अनन्तर अब] इस निश्चयपर आरूढ़ हुआ कि समस्त विकल्पोंसे शून्य, विशुद्ध साक्षीरूप शेष आत्मा मैं हूँ ॥ १७ ॥

'हार कहीं खो गया' इस भ्रमसे यत्र तत्र खोज रहे पुरुषको अपने गलेमें ही उसके दिख जानेपर हारप्राप्ति जैसे आश्चर्यभूत होती है, वैसे ही उस साक्षीके केवल दर्शनसे ही सुरघुको आत्मप्राप्ति आश्चर्यभूत हुई, उसे दिखलाते हैं—**'चित्र०'** इत्यादिसे ।

अहो अत्यन्त आश्चर्यका विषय है—अनादि कालसे लेकर प्रयत्न कर रहा लब्धात्मा भी मैं आज ही परम पुरुषार्थरूप फलका भाजन हुआ, [क्योंकि आज तक मैं अज्ञानमें डूबा हुआ था] । यह मैं तत्पदबोध्य असीम आत्मरूप हूँ, इस परम आत्माका कहींपर अन्त नहीं है ॥ १८ ॥

अपने अनुभवके साथ 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (यह ब्रह्मा है, यह इन्द्र है) इत्यादि श्रुतियोंका संवाद देते हैं—**'ब्रह्मणीन्द्रे'** इत्यादिसे ।

जैसे मोतियोंमें अनुस्यूतरूपसे सूत अवस्थित रहता है, वैसे ही ब्रह्मा, इन्द्र, यम, वायु और समस्त प्राणियोंके समूहमें यह निखिल ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण तत्पदबोध्य आत्मा अनुस्यूतरूपसे अवस्थित है ॥ १९ ॥

चिच्छक्तिरमला सैषा चेत्यामयविवर्जिता ।
भरिताशेषदिक्कुञ्जा भैरवाकारधारिणी ॥ २० ॥
सर्वभावगता सूक्ष्मा भावाभावविवर्जिता ।
आब्रह्मभुवनान्तःस्था सर्वशक्तिसमुद्गिका ॥ २१ ॥
सर्वसौन्दर्यसुभगा सर्वप्राकाश्यदीपिका ।
सर्वसंसारमुक्तानां तन्तुराततरूपिणी ॥ २२ ॥
सर्वाकारविकाराढ्या सर्वाकारविवर्जिता ।
सर्वभूतौघतां याता सर्वदा सर्वतां गता ॥ २३ ॥
चतुर्दशविधान्येषा भूतानि भुवनोदरे ।
एतन्मयीयं कलना जागती वेदनात्मिका ॥ २४ ॥

उस प्रकारकी यह चितिशक्ति समस्त मलोंसे परे है, विषयोंके आमयसे (बिमारीसे) वर्जित है, समस्त दिशाओंके मण्डलोंको परिपूर्ण यानी व्याप्त कर लेनेवाली है और अज्ञानियोंके भयकी हेतु होनेसे भयङ्कर आकार धारण करनेवाली है ॥ २० ॥

यह चितिशक्ति समस्त मानसिक वृत्तियोंमें निवास करती है, [क्योंकि 'प्रतिबोधविदितं मतम्' यानी जब समस्त वृत्त्यात्मक बोधोंमें पड़े हुए चित्प्रतिबिम्बोंके बिम्बरूपसे ब्रह्म विदित होता है, तभी ब्रह्म ज्ञात होता है, यह श्रुति है,] सूक्ष्म है यानी इसका परिज्ञान करना साधारण खेल नहीं है, अत्यन्त कठिन है, उत्पत्ति और विनाश दोनोंसे रहित है, पातालसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त भुवनोंके भीतर निवास करती है एवं समस्त शक्तियोंकी मञ्जुषा (पिटारी) है ॥ २१ ॥

यह चिति निरतिशयानन्दरूप सर्वसौन्दर्यसे परिपूर्ण है, समस्त प्रकाश-योग्य पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाली दीपिका है और सम्पूर्ण संसाररूपी मोतियोंकी माला-को गुहनेके लिए विशाल सूत्र है ॥ २२ ॥

यह चितिशक्ति सम्पूर्ण आकार और विकारोंसे युक्त है, समस्त आकारोंसे रहित है तथा सब भूतोंके समूहकी रूपताको प्राप्त हुई इस चितिशक्तिने सदा सर्वभावको प्राप्त किया है ॥ २३ ॥

यही चितिशक्ति चौदह भुवनोंके भेदसे चौदह प्रकारके भूतोंके सङ्घोंको उनके अन्दर धारण करती है। अनुभवात्मक जगत्की यह कल्पना भी इस चितिशक्तिको छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ २४ ॥

मिथ्यावभासमात्रं तु सुखदुःखदशागतिः ।
नानाकारमयाभासः सर्वमात्मैव चित्परा ॥ २५ ॥
सेयमात्मा मम व्यापी सेयं यदवबोधनम् ।
सेयमाकलिताङ्गाभा करोति नृपविभ्रमम् ॥ २६ ॥
अस्या एव प्रसादेन मनो देहरथे स्थितम् ।
संसारजाललीलासु याति वल्गति नृत्यति ॥ २७ ॥
इदं मनःशरीरादि न किञ्चिदपि वस्तुतः ।
नष्टे न किञ्चिदप्यस्मिन् परिनश्यति पेलवे ॥ २८ ॥
जगज्जालमयं नृत्तमिदं चित्तनटैस्ततम् ।
एतयैवैकया बुद्ध्या दृश्यते दीपलेखया ॥ २९ ॥
कष्टं मुधैव मे चिन्ता निग्रहानुग्रहस्थितौ ।
बभूव देहनिष्ठेह न किञ्चिदपि देहकम् ॥ ३० ॥

सुख और दुःखकी अवस्थाका जो परिज्ञान होता है, वह तो केवल मिथ्या अवभास है और नाना प्रकारके आकारोंसे अवभासमान जो आत्मा है, वह सब कुछ परा चित् ही है ॥ २५ ॥

यही चिति समस्त जगत्में अनुगत मेरी आत्मा है, जो मेरी बुद्धिका साक्षी है, वह यही चिति है । वही यह चितिशक्ति द्रष्टा और दृश्यके भेदसे काल्पनिक शरीरवाली होकर 'मैं राजा हूँ' ऐसा भ्रम पैदा करती है यानी ज्ञानदशाके पहले उसीने 'मैं राजा हूँ' यह भ्रम पैदा किया था, यह भाव है ॥ २६ ॥

शरीररूपी रथपर आरूढ़ हुआ मन इसी चितिशक्तिके प्रसादसे अनेक तरहके संसारोंकी लीलाओंमें जाता है, दौड़-धूप करता है और नृत्य करता है ॥ २७ ॥

वास्तवमें ये मन, शरीर आदि वस्तुएँ कुछ भी नहीं हैं । तुच्छ मन आदिके नष्ट हो जानेपर भी इस आत्माका कुछ बिगड़ने नहीं पाता ॥ २८ ॥

चित्तरूपी नटों द्वारा बनाया गया जगज्जालरूपी यह नाटक इसी एक साक्षी-रूपी बुद्धिसे, जो कि दीपककी शिखाकी नाईं है, देखा जाता है ॥ २९ ॥

अन्यन्त दुःखकी बात है कि निग्रह और अनुग्रहकी स्थितिमें मुझे

अहो त्वहं प्रबुद्धोऽस्मि गतं दुर्दर्शनं मम ।
दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं प्राप्तं प्राप्यमिदं मया ॥ ३१ ॥
सर्वं किञ्चिदिदं दृश्यं दृश्यते यज्जगद्गतम् ।
चिन्निष्पन्दांशमात्रांशान्नान्यत्किञ्चन शाश्वतम् ॥ ३२ ॥
क्व तौ कीदृग्विधौ वाऽपि किन्निष्ठौ वा किमात्मकौ ।
निग्रहानुग्रहौ लोके हर्षामर्षक्रमौ तथा ॥ ३३ ॥

देहविषयिणी चिन्ता व्यर्थ ही हुई, क्योंकि यहाँ परमार्थमें देह कुछ भी नहीं है ॥ ३० ॥

अहो, अब तो मैं जाग गया हूँ, मेरा असद्विचार नष्ट हो गया, जो द्रष्टव्य था, उसे समग्ररूपसे मैंने देख लिया और यह जो प्राप्तव्य था, उसे प्राप्त कर लिया ॥ ३१ ॥

जगत्में जो यह सब कुछ दृश्य दिखाई देता है, वह चिन्निष्पन्दांशमात्रांशसे [चित्का निष्पन्द यानी मायासे जीवभावका विभ्रम, उसका अंश है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह अवयवोंसे युक्त लिङ्गशरीरका भ्रम, इसकी मात्राएँ हैं—बाह्य और अन्तःकरणके अभेद-विभ्रम, इनका अंश है—जाग्रत् और स्वप्नके दृश्योंका विभ्रम, निष्कर्ष यह निकला कि मायासे होनेवाले चित्के जीवभ्रमके अंशभूत सत्रह अवयवोंवाले लिङ्गशरीरके मात्राभूत बाह्य और अन्तःकरणके अभेदविभ्रमोंके अंश जाग्रत् और स्वप्नोंके दृश्योंके विभ्रमसे] भिन्न दूसरा स्थायी यानी त्रिकालाबाध्य कुछ भी नहीं है ॥ ३२ ॥

पूर्वोक्त प्रणालीसे जब जगत् मिथ्या सिद्ध हुआ, तब निग्रह और अनुग्रह तथा उनके हेतु हर्ष और अमर्ष भी निराश्रय, प्रकाररहित, विषयरहित और स्वरूप-रहित ही सिद्ध हुए, ऐसा कहते हैं—'**क्व तौ**' इत्यादिसे ।

लोकमें वे निग्रह और अनुग्रह कहाँ हैं, किस तरहके हैं, किसमें रहते हैं, उनका रूप क्या है, इसी तरह उनके हेतु हर्ष और अमर्षकी परम्परा भी कहाँ है अर्थात् सभी व्यर्थ यानी मिथ्या ही हैं ॥ ३३ ॥

किं सुखं किं नु वा दुःखं सर्वं ब्रह्मेदमाततम् ।
अहमासं मुधा मूढो दिष्ट्याऽमूढोऽस्म्यहं स्थितः ॥ ३४ ॥
किमस्मिन्नेवमालोके शोच्यते किं विमुह्यते ।
किं प्रेक्ष्यते किं क्रियते स्थीयते वाऽथ गम्यते ॥ ३५ ॥
किञ्चिदेवमिदं नाम चिदाकाशं विराजते ।
नमो नमस्ते निस्तत्त्व दिष्ट्या दृष्टोऽसि सुन्दर ॥ ३६ ॥
अहो नु संप्रबुद्धोऽस्मि सम्यग्ज्ञातमलं मया ।
नमो मह्यमनन्ताय सम्यग्ज्ञानोदयाय च ॥ ३७ ॥

आत्ममोहके निकल जानेपर सुख और दुःखकी प्राप्ति भी नहीं होती, ऐसा कहते हैं—**'किं सुखम्'** इत्यादिसे ।

क्या सुख है ? और क्या दुःख है ? यानी काल्पनिक सुख और दुःख दोनों ही मिथ्या हैं। यह सब कुछ व्यापक परब्रह्मस्वरूप ही है। पहले मैं व्यर्थ ही मूढ़ बन कर बैठा था, अब भाग्यवश अपने वास्तव स्वरूपमें अवस्थित हुआ हूँ ॥ ३४ ॥

जिसका आनन्दैकरस पूर्णस्वभावसे अनुभव होता है, ऐसे ब्रह्मरूप आलोकमें क्या शोक है, क्या मोह है, क्या प्रेक्षण है, क्या कार्य है, क्या अवस्थान है और क्या गमन है अर्थात् शोक आदिकी तनिक भी संभावना नहीं है ॥ ३५ ॥

अलौकिक चमत्कारसे परिपूर्ण यह चिदाकाश नामकी वस्तु सबका अतिक्रमण कर यानी सबसे परे अपना अस्तित्व रखती है। हे निरतिशयानन्दरूपी सौन्दर्यसे परिपूर्ण, निःशेषतत्त्वरूप निर्गुण चिदाकाश, आपको मेरे बार बार नमस्कार हैं, प्रबल सौभाग्यसे मैं आपको देख सका हूँ ॥ ३६ ॥

अहो, निश्चितरूपसे मैं प्रबुद्ध हो चुका हूँ, जो ज्ञातव्य था उसे भलीभाँति पूर्णरूपसे मैंने जान लिया। सम्यक्-ज्ञान होनेपर जिसका आविर्भाव होता है अथवा जो सम्यक्-ज्ञानरूपी अभ्युदय है, उस अनन्त आत्मरूप तत्त्वको नमस्कार है ॥ ३७ ॥

विगतरञ्जननिर्विषयस्थिति-
गतभवभ्रमरञ्जितवर्जिते ।
स्थिरसुषुप्तकलाभिगतस्ततः
समसमं निवसाम्यहमात्मनि ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सुरघुविश्रान्तिर्नाम एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति हेमजटाधीशो लेभे पदमनुत्तमम् ।
विवेकाध्यवसायेन ब्राह्मण्यमिव गाधिजः ॥ १ ॥

राग, द्वेष आदि दोषोंके निकल जानेके कारण मेरी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूपी तीनों अवस्थाएँ चली गई हैं तथा निश्चल सुषुप्तिकलासे उपाधियोंके हट जानेके कारण मैं परब्रह्मके साथ एकताको प्राप्त हुआ हूँ, इसलिए मैं संसार-भ्रमसे रहित अतएव आकाश आदि अध्यारोपरूपी रागसे शून्य प्रत्यक्-ब्रह्ममें परम समतासे (आत्यन्तिक अभेदसे) निवास करता हूँ, अब कभी मैं फिर विषमताको प्राप्त नहीं होऊँगा, यह भाव है । इस श्लोकमें 'विगत०' इत्यादिसे शोधित 'त्वम्' पदार्थका निर्देश किया है, 'गतभवभ्रम०' इत्यादिसे शोधित 'तत्' पदार्थका निर्देश किया है, 'स्थिरसुषुप्त०' इत्यादिसे अखण्ड ऐक्यका निर्देश किया है और चतुर्थपाद-से फलावस्थाका निर्देश किया है ॥ ३८ ॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

[जीवन्मुक्त उस सुरघुके देहविनाश पर्यन्त असङ्गरूपसे आचरण तथा देहविनाशके बाद आकाशके समान अवस्थान का वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, जैसे विश्वामित्रने अपने तपोबलसे ब्रह्मत्व प्राप्त किया था, वैसे ही उक्त प्रकारसे हेमजटनामक भिल्लोंके राजा सुरघुने विवेकके अध्यवसायसे (निश्चयात्मक ज्ञानसे) परम पदका लाभ किया ॥ १ ॥

अनर्थाकारकार्यासु नाऽऽसीच्चेष्टासु खेदवान् ।
भूयो भूयः प्रयुक्तासु दिनमालास्त्विवेश्वरः ॥ २ ॥
ततः प्रभृति सोऽतिष्ठत् सर्वदा विगतज्वरः ।
समासमे स्वके कार्ये जलौघाग्र इवाऽचलः ॥ ३ ॥
हर्षामर्षविनिर्मुक्तः प्रत्यहं कार्यमाहरन् ।
उदारगम्भीरवपुर्जहाराऽम्बुनिधेः श्रियम् ॥ ४ ॥
सुषुप्तपदधर्मिण्या चित्तवृत्त्या व्यराजत ।
निष्कम्पया प्रकाशिन्या दीपः स्वशिखयेव सः ॥ ५ ॥
न निर्घृणो दयावान् नो न द्वन्द्वी नाऽथ मत्सरी ।
न सुधीर्नाऽसुधीर्नाऽर्थी नाऽनर्थी स बभूव ह ॥ ६ ॥
समदर्शनया नित्यं वृत्त्याऽचापलधीरया ।
अन्तःशीतलया रेजे परिपूर्णार्णवेन्दुवत् ॥ ७ ॥

पुनः पुनः दिवसमालाओंका निर्माण करनेवाले भगवान् सूर्यकी नाईं वह राजा बार बार धर्म, अर्थ आदिकी प्राप्तिकी हेतुभूत क्रियाओंका अनुष्ठान करता था, दैवात् उन क्रियात्मक चेष्टाओंसे दुःख-पर्यवसित फलोंके होनेपर भी वह दुःखी नहीं होता था ॥ २ ॥

तभीसे लेकर वह राजा चिन्ताज्वरसे मुक्त होकर अपने राजोचित निग्रह और अनुग्रहरूपी कार्योंमें वैसे अटल बना रहता था, जैसे प्रबल प्रवाहके सामने नदीके मध्यमें रहनेवाला पर्वत अटल बना रहता है॥ ३ ॥

हर्ष और विषादसे रहित होकर प्रतिदिन अपने आय, व्यय आदि कार्योंको करते हुए उस उदार और गम्भीर आकृतिवाले राजाने समुद्रकी सुन्दरता चुरा ली यानी समुद्रकी शोभापर विजय पाई ॥ ४ ॥

जैसे प्रकाशमयी कम्पनशून्य अपनी शिखासे दीपक अत्यन्त शोभित होता है, वैसे ही वह राजा सुषुप्तिके समान निश्चल प्रकाश-मयी चित्तवृत्तिसे अत्यन्त शोभित होता था। वह न निर्दयी था, न दयालु था, न द्वन्द्वोंसे युक्त था, न मत्सरवाला था, न बुद्धिमान् था, न बुद्धिरहित था, न अर्थी था और न अनर्थी था। भीतर शान्ति पहुँचानेवाली तथा निश्चलताके कारण अत्यन्त धीर समदर्शनात्मक वृत्तिसे वह ऐसे शोभित होता था, जैसे परिपूर्ण समुद्र और चन्द्रमा शोभित होते हैं ॥ ५–७ ॥

सर्वं चित्तत्त्वकलनं जगदित्यवलोक्य सः ।
प्रशान्तसुखदुःखश्रीस्तस्य पूर्णा मतिर्बभौ ॥ ८ ॥
उल्लसन्विकसन्पूर्णस्तिष्ठन्गच्छन्विशन्स्वपन् ।
अभूत् समसमाधिस्थः प्रबुद्धश्चिल्लयं गतः ॥ ९ ॥
स कुर्वन् विगतासङ्गं राज्यं राजीवलोचनः ।
अतिष्ठदक्षताकारो भूरिवर्षशतान्यथ ॥ १० ॥
संनिवेशमिमं देहनामकं तदनु स्वयम् ।
स जहौ तेजसाऽऽक्रान्तो रूपं हिमकणो यथा ॥ ११ ॥
विवेश परमाद्यन्तकारणं कारणेश्वरम् ।
प्रज्ञया सरितां वारि परिपूर्णमिवाऽम्बुधिम् ॥ १२ ॥

चूँकि यह सब जगत् केवल चित्तत्त्वकी कलना ही है, यों निश्चय करनेके कारण उसकी बुद्धि भौतिक सुख-दुःखात्मक विकारोंसे रहित अतएव परिपूर्णरूपसे प्रकाशित हो रही थी, इसलिए प्रबुद्ध तथा चित्‌में लयको प्राप्त वह राजा शरीरसे उल्लसित होते, चित्तसे विकसित होते, पूर्णरूपसे अवस्थित रहते, जाते, बैठते और सोते सदा सर्वदा परब्रह्मकी समाधिमें ही स्थित रहता था ॥ ८, ९ ॥

कमलकी भाँति जिसके नेत्र थे और जिसके शरीरमें तनिक भी वार्धक्यादिका विकार प्राप्त नहीं हुआ था, ऐसा वह सुरघु राजा आसक्तिरहित राज्य करते हुए सैकड़ों वर्ष पर्यन्त इस भूमण्डलमें विद्यमान रहा ॥ १० ॥

उसके बाद जैसे बरफका कण गर्मीसे शोषित होकर स्वकीय मूर्तस्वरूपका अपने आप परित्याग कर देता है, वैसे ही उस राजाने इस देहनामधारी पञ्चभूतात्मक अवयव-संनिवेशका अपने आप ही परित्याग कर दिया ॥ ११ ॥

जैसे नदियोंका जल दो किनारोंसे प्राप्त हुई अपनी परिच्छिन्नताका परित्याग कर परिपूर्ण यानी परिच्छिन्नतासे रहित असीम समुद्रमें प्रविष्ट हो जाता है, वैसे ही वह राजा ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक वृत्तिकी सामर्थ्यसे [जन्म आदिके प्रति बीजभूत अविद्या-रूपी आवरणका तिरोधान हो जानेके कारण] समस्त हिरण्यगर्भादि कारणोंके नियन्ता तथा सृष्टि और प्रलयके हेतु परब्रह्म परमात्मामें प्रविष्ट हो गया ॥ १२ ॥

अधिगतविमलैकरूपतेजा
विजनदशां समुपेत्य शान्तशोकः ।
अलमभवदसौ परस्वरूपं
घटखमिवाऽम्बरसंयुतं महात्मा ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सुरघुवृत्तान्ते सुरघुनिर्वाणं नाम षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवमुत्पलपत्राक्ष राघवाऽघविपर्यये ।
पदमासादयाऽद्वन्द्वं विशोको भव भूतये ॥ १ ॥

उस परम पदमें प्रवेश कर सुरघु किस प्रकारका हुआ, इसे कहते हैं—**'अधिगत०'** इत्यादिसे ।

जैसे घटाकाश घटके फूट जानेपर महाकाशके साथ एकीभूत हो जाता है, वैसे ही यह महात्मा सुरघु—जिसने कि ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक प्रज्ञासे विमल, आनन्दैकरस तथा स्वप्रकाशात्मक तेजको स्वात्मरूपसे प्राप्त कर लिया था और जन्म आदि विकारोंसे रहित अवस्थाको प्राप्त कर लेनेके कारण जिसके समस्त शोक शान्त हो चुके थे—पूर्णरूपसे परस्वरूप ही हो गया यानी परमात्माके साथ एकीभूत हो गया । यही इसका निर्वाण था, यह भाव है ॥ १३ ॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

एकसठवाँ सर्ग

[अद्वितीय परब्रह्ममें स्वाभाविक चित्तैकाग्र्यात्मक समाधिके स्वरूपके ज्ञानके लिए सुरघु और परिघके संवादका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—कमलके समान नेत्रोंवाले हे राघव, राजा सुरघुके समान आप भी हर्ष, शोक आदिके निमित्त पापोंका तत्त्वज्ञानसे समूल उच्छेद होनेपर द्वन्द्वरहित परम पदको प्राप्त कीजिये और उत्तम मोक्षरूपी विभूतिके लिए शोकका परित्याग कर दीजिये ॥ १ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य न मनः परितप्यते ।
घोरे तमसि निर्मग्नं लब्धदीपं शिशुर्यथा ॥ २ ॥
विवेकावस्थया चेतस्तथैवाऽऽयाति निर्वृतिम् ।
पतच्छ्वभ्रे दृढतृणप्रचयालम्बनादिव ॥ ३ ॥
अथैतां पावनीं दृष्टिं भावयित्वाऽप्युदाहरन् ।
नित्यमेकसमाधानो भव भूषितभूतलः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

कथमेकसमाधानं कीदृशं वा मुनीश्वर ।
वाताहतमयूराङ्गरुहलोलं मनो भवेत् ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु तस्यैव सुरघोः प्रबुद्धस्य सतस्तदा ।
पर्णादस्य च राजर्षेः संवादमिममद्भुतम् ॥ ६ ॥

जैसे घोर अन्धकारमें बैठा हुआ बालक प्रकाशको प्राप्त कर खिन्न नहीं होता, वैसे ही गाढ़ अज्ञानरूपी अन्धकारमें डूबा हुआ मन इस बोधात्मक दृष्टिका अवलम्बन कर प्रकाशको प्राप्त कर सन्तप्त नहीं होता ॥ २ ॥

जैसे कुएँमें गिर रहे प्राणीको मजबूत तृणसमुदायके (प्रतानिनीके) अवलम्बनसे विश्रान्ति-सुख मिलता है, वैसे ही मोहरूपी गहरे कुएँमें गिर रहे मनको सुरघुके प्रकरणमें दर्शाई गई विवेकावस्थासे विश्रान्ति-सुख मिलता है ॥ ३ ॥

हे श्रीरामजी, आपने समस्त भूमण्डलको सुशोभित किया है। अब आप इस परम पवित्र दृष्टिको बार बार परिशीलनके द्वारा अत्यन्त दृढ़ बनाइये, दूसरोंको उसका उपदेश भी दीजिये और सदा सर्वदा एक ब्रह्मकी समाधिमें ही तत्पर हो जाइये ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिश्रेष्ठ, जैसे वायुके द्वारा हिलाया गया मोरका पंख अत्यन्त चपल होता है, वैसे ही यह मन अति चपल है, अतः भला बतलाइये कि यह अति चञ्चल मन किस तरह और किस रूपसे एक वस्तुमें स्थिर रह सकता है ? ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, जिस समय सुरघु आत्मसाक्षात्कार कर लेनेके अनन्तर प्रबुद्ध हो चुके थे, उसी समय उसी तत्त्वज्ञ सुरघु राजा और राजर्षि

राघवैकसमाधानबोधितायोजितात्मनोः ।
परस्परं समालापमिम प्रकथयामि ते ॥ ७ ॥
बभूव पारसीकानां पार्थिवः परवीरहा ।
परिघो नाम विख्यातः परिघः स्यन्दने यथा ॥ ८ ॥
स बभूव परं मित्रं सुरघो रघुनन्दन ।
नन्दनोद्यानसंस्थस्य मदनस्येव माधवः ॥ ९ ॥
कदाचित् परिघस्याऽभूदवर्षं मण्डले महत् ।
कल्पान्त इव संसारे प्रजादुष्कृतदोषजम् ॥ १० ॥
विनेशुर्जनतास्तत्र बह्व्यः क्षुत्क्षामजीविताः ।
ज्वलिते विपिने वह्नौ यथा भूतपरम्पराः ॥ ११ ॥
तद्दुःखं परिघो दृष्ट्वा विषादमतुलं ययौ ।
तत्याजाऽऽश्वखिलं राज्यं दग्धं ग्राममिवाऽध्वगः ॥ १२ ॥

पर्णादका (इसीका 'परिघ' यह दूसरा भी नाम है) परस्पर इस विषयमें अत्यन्त अद्भुत संवाद हुआ था, इसका आप श्रवण कीजिये ॥ ६ ॥

हे रामजी, उन दोनोंने अपने अपने मनको, जो बोधको प्राप्त हुआ था, एक-समाधानमें ही लगा रक्खा था, मैं यह उनका परस्परका सुन्दर संवाद आपसे कहता हूँ ॥ ७ ॥

रथके अक्ष-दण्डकी (धुरेकी) नाईं आधारभूत अथवा रथमें परिघनामका शस्त्र शत्रुदलके उद्भट शूर-वीरोंका विदलन करनेमें जैसा अत्यन्त विख्यात है, वैसा अत्यन्त विख्यात पारसीक देशका एक राजा हुआ। वह बड़े बड़े शूरवीर शत्रुओंका विनाश कर देता था। उसका नाम था—परिघ ॥ ८ ॥

हे रघुनन्दन, जैसे नन्दन वनमें रहनेवाले कामदेवका वसन्त मित्र है, वैसे राजा परिघ सुरघुका परम मित्र था। किसी समय जैसे प्रलयकालके प्राप्त होनेपर संसारमें बड़ी भारी अनावृष्टि होती है, वैसे ही इस राजाके राष्ट्रमें बड़ी भारी अनावृष्टि (वर्षाका अभाव) हुई। उसमें कारण राजाका दोष नहीं था, किन्तु कारण था—प्रजाओंका पापरूपी दोष। जङ्गलमें प्रज्वलित अग्निमें जैसे प्राणियोंकी पंक्ति-की-पंक्तियां नष्ट भ्रष्ट हो जाती हैं, वैसे ही अनावृष्टिसे वहाँकी बहुत-सी जनता क्षुधा-से गतप्राण होकर नष्ट भ्रष्ट हो गई। प्रजाका कष्ट देखकर राजा परिघ अपार विषादसे

प्रजानाशप्रतीकारेष्वसमर्थो विरागवान् ।
जगाम विपिने कर्तुं तपोऽजिनमुनीन्द्रवत् ॥ १३ ॥
पौराणामपरिज्ञाते कस्मिंश्चिद् दूरकानने ।
समुवास विरक्तात्मा लोकान्तर इवाऽपरे ॥ १४ ॥
तपश्चरञ्छान्तमतिर्दान्तः कन्दरमन्दिरे ।
स्वयं शीर्णानि शुष्काणि तत्र पर्णान्यभक्षयत् ॥ १५ ॥
चिरं हुताशवच्छुष्कपर्णान्येवाऽथ भक्षयन् ।
पर्णाद इति नामाऽसौ प्राप मध्ये तपस्विनाम् ॥ १६ ॥
ततः प्रभृति पर्णादनामा राजर्षिसत्तमः ।
जम्बूद्वीपे बभूवाऽसौ विख्यातो मुनिसद्मसु ॥ १७ ॥

ग्रस्त हुआ। जैसे बटोही जले गाँवको छोड़ देता है, वैसे ही उसने अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक अपना सारा राज्य छोड़ दिया। प्रजाजनोंको विनाशसे बचानेके लिए उसने अनेक उपाय किये, उनसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ, अतः अपने राज्यसे विरक्त होकर मृगचर्मप्रधान (मृगचर्मधारी) बड़े बड़े मुनियोंकी नाईं अरण्यमें तप करनेके लिए चला गया। जिसे नागरिक नहीं जानते थे, ऐसे किसी दूर काननमें विरक्तात्मा होकर ऐसे रहने लगा जैसे दूसरे परलोकमें रहता हो ॥ ९-१४ ॥

जिसकी बुद्धि शान्त हो चुकी थी तथा जिसने अपना दमन किया था, ऐसा पर्वतके गुहामन्दिरमें तपश्चर्या कर रहा वह राजा परिघ वहाँ स्वयं शुष्क और जीर्ण-शीर्ण पत्तोंका भक्षण करता था। यहाँ 'कन्दरमन्दिरे' इस शब्दसे उसकी अत्यन्त विरक्ति सूचित होती है, क्योंकि उसने पर्णकुटीका भी परित्याग कर केवल पर्वतकी गुफाका ही आश्रयण किया था ॥ १५ ॥

बहुत काल तक उसने अग्निकी नाईं केवल सुखे पत्तोंका ही भक्षण किया, इसलिए बड़े बड़े तपस्वियोंके बीचमें इसने अपना 'पर्णाद' यह नाम प्राप्त किया ॥ १६ ॥

तभीसे लेकर जम्बूद्वीपमें पर्णादनामका यह उत्तम राजर्षि मुनियोंके मण्डलमें अत्यन्त विख्यात हुआ ॥ १७ ॥

ततो वर्षसहस्रेण तपसा दारुणात्मना ।
प्रापदभ्यासवशतो ज्ञानमात्मप्रसादजम् ॥ १८ ॥
बभूव विगतद्वन्द्वो निराशः शान्तमानसः ।
नीरागो निरनुक्रोशो जीवन्मुक्तः प्रबुद्धधीः ॥ १९ ॥
विजहार यथा कामं त्रिलोकीमठिकामिमाम् ।
सिद्धसाध्यैः समं साधो सहंसालिरिवाऽब्जिनीम् ॥ २० ॥
एकदा तस्य सदनं हेमचूडमहीपतेः ।
प्राप रत्नविनिर्माणं मेरोः शृङ्गमिवाऽपरम् ॥ २१ ॥
ते तत्र प्राक्तने मित्रे पूजामकुरुतां मिथः ।
पूर्णौ विज्ञातविज्ञेयौ मौर्ख्यगर्भाद्विनिर्गतौ ॥ २२ ॥
अहो नु बत कल्याणैः फलितं मम पावनैः ।
संप्राप्तवानहं यत्त्वामित्यन्योन्यमथोचतुः ॥ २३ ॥

तदनन्तर एक हजार वर्षकी दारुण तपश्चर्यासे अभ्यासवश अन्तःकरणकी परम शुद्धि तथा ईश्वरके अनुग्रहसे जनित आत्मज्ञान उसने प्राप्त किया। वह द्वन्द्वोंसे परे हो गया था, उसकी समस्त विषयाभिलाषाएँ निकल चुकी थीं, उसका अन्तःकरण प्रसन्न था, उसका विषयराग हट गया था, वह आक्षेपोंसे वर्जित था तथा जीवन्मुक्त एवं प्रबुद्ध-मति था ॥ १८, १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे हंसोंके साथ भ्रमर कमलिनीमें विहार करते हैं, वैसे ही यह राजर्षि पर्णाद अपनी इच्छाके अनुसार किसी भी समय सिद्ध (तत्त्वज्ञान पा चुकनेवाले) तथा साध्य (तत्त्वज्ञानकी इच्छावाले) मुनिवरोंसे परिवृत होकर इस त्रिलोकीरूपी मठिकामें विहार करता था ॥ २० ॥

किसी समय यत्र तत्र विचर रहे राजर्षि पर्णाद उस स्वर्णजट नामक देशके अधिपति राजा सुरघुके सदनमें (निवासस्थानमें), जो कि रत्नोंसे विनिर्मित तथा सुमेरु पर्वतके दूसरे शिखरके समान ऊँचा था, प्राप्त हुए ॥ २१ ॥

पहले से ही वे मित्र थे, वहाँ उन्होंने परस्पर एक दूसरेका पूजन किया, वे पूर्ण थे, दोनों ही ज्ञातव्य तत्त्व जान चुके थे और संसारसे परे यानी जीवन्मुक्त हो गये थे। अनन्तर उन दोनोंने एक दूसरेसे यह कहा—अहो, निश्चित मेरे कल्याणमय पावन सत्कर्मोंका यह फल है, जो कि मैंने आपको पाया।

आलिङ्गितशरीरौ तावन्योन्यानन्दिताकृती ।
एकासने विविशतुश्चन्द्रार्काविव भूधरे ॥ २४ ॥

परिघ उवाच

परमानन्दमायातं चेतस्त्वद्दर्शनेन मे ।
इन्दुबिम्ब इवोन्मग्नं मनः शीतलतां गतम् ॥ २५ ॥
अकृत्रिमसुखं प्रेम वियोगे शतशाखताम् ।
प्रयाति पल्वलतटेऽच्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ २६ ॥
विश्रब्धांस्तान्कथालापांस्ता लीलास्तच्च चेष्टितम् ।
संस्मृत्य प्राक्तनं साधो हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ २७ ॥
ज्ञानमेतन्मया प्राप्तं त्वया ज्ञातं यथाऽनघ ।
माण्डव्यस्य प्रसादेन परमात्मप्रसादजम् ॥ २८ ॥

एक दूसरेका शरीरसे आलिङ्गन कर परस्पर आनन्दित आकृतिवाले वे दोनों एक पर्वतके ऊपर चन्द्र और सूर्यकी नाईं एक आसन पर बैठे ॥ २२—२४ ॥

परिघने कहा—हे सुरघो, आपके दर्शनसे मेरा चित्त अत्यन्त आनन्दको प्राप्त हुआ और चन्द्रबिम्बमें गोता लगानेवाले मनकी नाईं मेरा मन अत्यन्त शीतलताको प्राप्त हुआ। चितिशक्तिकी प्रधानता होनेपर आनन्दका आविर्भाव होता है और मननशक्तिकी प्रधानता होनेपर सन्ताप शान्त हो जाता है, यह विशेष बतलानेके लिए इस श्लोकमें 'चित्त' और 'मन' यों दो शब्दोंका पृथक्-रूपसे कथन किया गया है ॥ २५ ॥

तालाबके किनारे पर अवस्थित छिन्नशाखावाले वृक्षके समान सहज आनन्दका समर्पण करनेवाला स्वाभाविक प्रेम वियोगावस्थामें सैकड़ों शाखा-प्रशाखाओंको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

साधो, विश्वासगर्भित उन पहलेकी सुख-दुःखकी कथाओं, लीलाओं तथा व्यापारों का बार बार स्मरण कर मैं आनन्दसे परिपूर्ण हो जाता हूँ ॥ २७ ॥

राजन्, जैसे आपने महामुनि माण्डव्यके प्रसादसे परम तत्त्व जाना, वैसे ही मैंने तपसे आराधित परमात्माके प्रसादसे यह ज्ञान पाया है ॥ २८ ॥

अद्य कच्चिददुःखस्त्वं कच्चिद्विश्रन्तवानसि ।
परमे कारणे मेराविव भूमण्डलाधिपः ॥ २९ ॥

कच्चित्परमकल्याण आत्मारामतया तव ।
प्रसादो जायते चित्ते शरदीव सरोम्भसि ॥ ३० ॥

कच्चित्करोषि समया सुप्रसन्नगभीरया ।
दृष्ट्या सुभग कार्याणि कार्याण्येव नराधिप ॥ ३१ ॥

निराधिव्याधयो धीराः कच्चित्संपन्नशालयः ।
जनतास्तव देशेषु तिष्ठन्ति विगतज्वरम् ॥ ३२ ॥

कच्चिदुद्दामफलिनी फलिनीव फलानता ।
धरा तव फलापूरैर्भृशं धारयति प्रजाः ॥ ३३ ॥

महाराज, क्या आज आप समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा चुके हैं ? और जैसे कोई भूमण्डलका स्वामी उत्तरोत्तर पर्वतोंका अतिक्रमण कर मेरुके ऊपर विश्रान्ति करे, वैसे ही क्या आप परम कारणरूप (विवर्तोपादानत्वसे उपलक्षित) परब्रह्ममें उत्तरोत्तर भूमिकाओंके परिपाकसे विश्रान्ति कर चुके हैं ? ॥ २९ ॥

हे परमकल्याण, जैसे शरत्-कालमें तालाबके जलमें धूली आदिका आवरण न होनेके कारण उसमें प्रसन्नता (स्वच्छता) उत्पन्न होती है, वैसे ही क्या आपके चित्तमें आत्मारामताके कारण प्रसन्नता—रजोगुण और तमोगुणसे अनावरणरूपता—उत्पन्न होती है ? ॥ ३० ॥

हे सौभाग्यसम्पन्न राजन्, सुप्रसन्न अतएव गम्भीर समदृष्टिसे क्या आप समस्त जनोंके हितके साधन अवश्यकर्तव्य कर्मोंको करते हैं ? ॥ ३१ ॥

राजन्, शारीरिक और मानसिक पीडाओंसे रहित, धीर तथा धन-धान्योंसे सम्पन्न जनता समस्त चिन्ताओंसे निर्मुक्त होकर क्या आपके देशमें निवास करती है ? ॥ ३२ ॥

महाराज, उत्कृष्ट सस्य आदि फलोंसे सम्पन्न, विविध फलोंसे विनम्र कल्प-लताकी नाईं पृथिवी क्या आपकी प्रजाओंका समय समय पर तत्-तत् अभिलषित फलोंकी पूर्तियों द्वारा सदा सर्वदा पोषण करती है ? ॥ ३३ ॥

कच्चित्तव दिगन्तेषु चन्द्रस्येवांऽशुपञ्जरम् ।
तुषारनिकराकारं प्रसृतं पावनं यशः ॥ ३४ ॥
कच्चिद्गुणगणैरेता दिशो निर्विवरीकृताः ।
त्वया सरोम्भसाऽबाह्या बिसानामिव भूमयः ॥ ३५ ॥
कच्चित्कलमकेदारकोणस्थानेषु हृष्यतीः ।
प्रतिग्रामं कुमार्यस्ते गायन्त्यानन्दनं यशः ॥ ३६ ॥
कुशलं तव धान्येषु धनेषु विभवेषु च ।
भृत्येषु च कलत्रेषु पुत्रेषु नगरेषु च ॥ ३७ ॥
आधिव्याधिविहीनेयं कच्चित्कायलता तव ।
फलं फलति पुण्याख्यं यदिहाऽमुत्र चोदितम् ॥ ३८ ॥
आपातरमणीयेषु वर्तताऽत्यन्तवैरिषु ।
कच्चिद्विषयसर्पेषु सविरागं मनस्तव ॥ ३९ ॥

राजन्, चन्द्रमाकी अनेक किरणोंकी नाईं समस्त दिशाओंमें तुषारके समूहके सदृश आपका क्या पवित्र यश फैला है ? ॥ ३४ ॥

महात्मन्, जैसे तालाबका जल अपने अन्दर रहनेवाली कमलके नालकी भूमिको भर देता है, वैसे ही क्या आपने अपने प्रशस्त गुण-गणोंसे दिशाएँ भर दी हैं ? ॥ ३५ ॥

क्या धानकी क्यारियोंके कोनोंमें अवस्थित अति प्रसन्न कुमारियाँ प्रत्येक गाँवमें आपके आनन्दवर्धक यशोगान कर रहीं हैं ? धान्य, धन, विभव, सेवक, स्त्रीजन, पुत्र-परिवार और नगर आदि सर्वत्र स्थानोंमें कुशल तो है न ? ॥३६,३७॥

शारीरिक और मानसिक पीडाओंसे रहित यह आपकी देहरूपी लता ऐहिक फलके साधनरूपसे विहित कारीरी आदि और पारलौकिक फलके साधन-रूपसे विहित ज्योतिष्टोम आदि क्रियाओंसे होनेवाले पुण्यरूपी जो फल हैं, उनको फरती तो है न ? ॥ ३८ ॥

हे जितेन्द्रिय, ऊपर ऊपरसे रमणीय दिखाई देनेवाले, पर असलियतमें आत्म-तत्त्वज्ञानमें भारी प्रतिबन्धक होनेके कारण महान् वैरी इन विषयरूपी सर्पोंमें आपका अन्तःकरण वैराग्य धारण करता तो है न ? ॥ ३९ ॥

अहो बत चिरं कालमावां विश्लेषमागतौ ।
कालेन श्लेषितौ भूयो वसन्ताद्रितटाविव ॥ ४० ॥
न ता जगति विद्यन्ते सुखदुःखदशाः सखे ।
जीवद्भिर्या न दृश्यन्ते संयोगजवियोगजाः ॥ ४१ ॥
तथैतास्वतिदीर्घासु दशास्वन्यत्वमागताः ।
भूयो वयमपि श्लिष्टाश्चित्रो हि नियतेर्विधिः ॥ ४२ ॥

सुरघुरुवाच

भगवन् नियतेरस्या गतिं सर्पगतेरिव ।
दैविक्याः को हि जानाति गम्भीरां विस्मयप्रदाम् ॥ ४३ ॥
त्वमहं च व्यपोह्येति दूरे दूरदशासु च ।
अद्य सङ्घटितौ भूयः किमसाध्यमहो विधेः ॥ ४४ ॥

अहो, अपने दोनोंको एक दूसरेसे अलग हुए बहुत काल व्यतीत हुआ, परन्तु वसन्त ऋतु और पर्वततटकी नाईं समय प्राप्त होनेपर फिर मिल गये ॥ ४० ॥

प्रियवर, इस जगतीतलमें इष्ट और अनिष्ट जनोंके संयोग एवं वियोग से होनेवाली वे सुख और दुःखकी अवस्थाएँ हैं ही नहीं, जो देहधारी प्राणियोंके द्वारा अनुभूत न होती हों ॥ ४१ ॥

इसी तरह हम लोग इन अत्यन्त दीर्घकालिक सुख और दुःख की अवस्थाओंमें चिरकाल तक वियोगी थे, परन्तु फिर भी इस समय हम लोग एक दूसरेसे मिल गये हैं, क्योंकि प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार होनेवाली भगवदिच्छाका विलास अद्भुत है यानी कुछ और ही है ॥ ४२ ॥

परिघ द्वारा कहे गये अर्थका अनुमोदन करते हुए सुरघु उसी अर्थको कहते हैं—'**भगवन्**' इत्यादिसे ।

सुरघुने कहा—भगवन्, भगवान्‌की इच्छारूपी इस नियतिकी सर्प-गतिके समान गम्भीर और विस्मयकारक गतिको कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई नहीं जान सकता ॥ ४३ ॥

प्रियवर, विधिने इस प्रकार आप और हम दोनोंको देशतः अत्यन्त दूर तथा कालतः भी अधिक समय तक अलग रख कर आज फिर संघटित किया है । अहो, भला बतलाइये—विधिके लिए क्या असाध्य है ? ॥ ४४ ॥

वयं त्वद्य महासत्त्व भृशं कुशलिनः स्थिताः ।
त्वदागमनपुण्येन परां पावनतां गताः ॥ ४५ ॥
पश्य त्वदागमक्षीणपापानां पुण्यपादपैः ।
तथा फलितमस्माकं न यथा वयमाकुलाः ॥ ४६ ॥
सर्वाः सम्पत्तयोऽस्माकं राजर्षे संस्थिताः पुरे ।
भवदागमनेनाऽद्य प्रयाताः शतशाखताम् ॥ ४७ ॥
विकिरति परितो रसायनाना-
मिव निकरं मधुरं महानुभाव ।
तव वचनमवेक्षणं च पुण्यं
परमपदप्रतिमो हि साधुसङ्गः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सुरघुपरिघसमागमो नामैकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

महात्मन्, आज तो हम लोग अत्यन्त सुखी होकर अवस्थित हैं, आपके आगमनरूपी पुण्यसे हम अत्यन्त पवित्र हो गये हैं। महानुभाव, देखिये—आपके आगमनसे क्षीणपाप हुए हम लोगोंके पुण्यरूपी वृक्षोंने वह चित्तसमाधानरूपी फल दिया, जिससे कि हम लोग सम्पूर्ण व्याकुलताओंसे विमुक्त होकर कृतकृत्य हो गये ॥ ४५, ४६ ॥

राजर्षे, नगरमें अवस्थित हम लोगोंकी सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ आज आपके शुभागमनसे चारों ओर फलोन्मुखताको प्राप्त हो गईं ॥ ४७ ॥

हे महानुभाव, आपके पुण्य वचन और दर्शन चारों ओरसे मानो अमृतोंकी मधुर राशि बरसा रहे हैं, क्योंकि सज्जन पुरुषोंका समागम मोक्षसुखकी प्राप्तिके सदृश होता है ॥ ४८ ॥

एकसठवाँ सर्ग समाप्त

द्विषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथैवंप्रायया तत्र विश्रम्भकथया चिरम् ।
प्राक्तनस्नेहगर्भिण्या स्थित्वोवाचाऽऽयुधाभिधः ॥ १ ॥

परिघ उवाच

यद्यत्संसारजालेऽस्मिन् क्रियते कर्म भूमिप ।
तत्समाहितचित्तस्य सुखायाऽन्यस्य नाऽनघ ॥ २ ॥
कच्चित्सङ्कल्परहितं परं विश्रमणास्पदम् ।
परमोपशमं श्रेयः समाधिमनुतिष्ठसि ॥ ३ ॥

बासठवाँ सर्ग

[अज्ञानरूपी आवरणके हट जानेपर नित्य चित्-स्फुरणकी अवस्थासे विद्वानोंकी सदा सर्वदा अद्वितीय ब्रह्ममें ही समाधि होती है , यह वर्णन]

महर्षि श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, तदनन्तर चिरकाल तक करीब करीब उस तरहकी प्राचीन प्रेमसे ओतप्रोत विश्वासपूर्ण कथालापोंसे सुरघुके सुन्दर सदनमें विश्रान्ति लेकर राजा परिघ, जिसका शस्त्रविशेषके नामके सदृश नाम है, कहने लगे ॥ १ ॥

क्या यह राजा सुरघु मेरे पूछनेपर व्यवहार और समाधि दोनों दशाओंमें तत्त्व-वित् पुरुषके सुखका उत्कर्ष और अपकर्षरूप तारतम्य कहेगा या नहीं, इसकी परीक्षा करनेके लिए पहले अपने अनुभवका उद्‌घाटन करते हैं—'**यद्यत्**' इत्यादिसे

परिघने कहा—राजन्, इस संसाररूपी जालमें रहकर जो जो कर्म किये जाते हैं, वे समाहित चित्तवाले ज्ञानीके लिए तो सुखकारक हैं, पर उससे भिन्न अज्ञानीके लिए सुखकारक नहीं हैं ॥ २ ॥

इस तरह अपने अनुभवका प्रकाशन कर अब वह युक्त है या अयुक्त, इस विषयमें दूसरेके अनुभवकी जिज्ञासा कर रहे राजा परिघ मानो समाधिमें ही अधिक विश्रान्ति है, यों दिखलाते हुए प्रश्न करते हैं—'**कच्चित्**' इत्यादिसे ।

सुरघुरुवाच

एतन्मे ब्रूहि भगवन् सर्वसङ्कल्पवर्जितम् ।
परमोपशमं श्रेयः समाधिर्हि किमुच्यते ॥ ४ ॥
यो ज्ञो महात्मन् सततं तिष्ठन् व्यवहरंश्च वा ।
असमाहितचित्तोऽसौ कदा भवति कः किल ॥ ५ ॥
नित्यं प्रबुद्धचित्तास्तु कुर्वन्तोऽपि जगत्क्रियाः ।
आत्मैकतत्त्वसन्निष्ठाः सदैव सुसमाधयः ॥ ६ ॥

हे राजन् , समग्र संकल्पोंसे शून्य, विश्रान्तिके सबसे उत्तम स्थानरूप, विक्षेपात्मक दुःखोंके उपशममें परम साधन तथा सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा अधिक प्रशस्त समाधिका क्या आप अनुष्ठान करते हैं ? ॥ ३ ॥

जब कि आपका यह अनुभव है—समाहित चित्तवाले पुरुषके सभी कर्म सुखके लिए हैं और आपके इस अनुभवके साथ मेरा भी अनुभव संवाद रखता ही है, तब समाधिमें अधिक विश्रान्तिका प्रदर्शन तथा व्यवहार और समाधिका भेद मानकर किया गया प्रश्न दोनों आपके अयुक्त ही हैं, इस आशयसे तत्त्वज्ञ राजा सुरघु—'सङ्कल्परहित विक्षेपात्मक दुःखोंका परम उपशम और सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ' इस अंशका आत्मरूपतामें भी संभव होनेके कारण तन्मात्रका स्वीकार करते हुए 'विश्रान्तिस्थान समाधिका अनुष्ठान करते हैं ?' यह प्रश्नांश असंभव है, क्योंकि अविश्रामके हेतु मनका तो बाध हो ही चुका है—यों मानकर आक्षेप करते हैं—**'एतन्मे'** इत्यादिसे ।

सुरघुने कहा—भगवन् , युक्त होनेके कारण आप मुझसे यही कहिये कि सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित निरतिशय उपशमरूप (आत्मा) सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा प्रशस्त है, परन्तु यह आप मुझसे क्यों कहते हैं कि समाधिका अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ४ ॥

महात्मन् , जो तत्त्वज्ञ पुरुष है, वह चाहे चुप-चाप ही सदा बैठा रहे चाहे व्यवहार करे, तो भी उसका समाहित-चित्तताको छोड़ कर और क्या स्वरूप हो सकता है ? क्योंकि यह सर्वदा अनावृत-चित्स्वभाव होनेके कारण कभी भी असमाहित चित्तवाला नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

यदि आत्मस्वरूपमें अटल अवस्थित रहना ही समाधि है, यह आपका मत है,

बद्धपद्मासनस्याऽपि कृतब्रह्माञ्जलेरपि ।
अविश्रान्तस्वभावस्य कः समाधिः कथं च वा ॥ ७ ॥
तत्त्वावबोधो भगवन् सर्वाशातृणपावकः ।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ॥ ८ ॥
समाहिता नित्यतृप्ता यथाभूतार्थदर्शिनी ।
साधो समाधिशब्देन परा प्रज्ञोच्यते बुधैः ॥ ९ ॥
अक्षुब्धा निरहङ्कारा द्वन्द्वेष्वननुपातिनी ।
प्रोक्ता समाधिशब्देन मेरोः स्थिरतराकृतिः ॥ १० ॥

तो वह सदा है ही, फिर कुछ भी करनेको बाकी नहीं रहता, ऐसा कहते हैं— **'नित्यम्'** इत्यादिसे ।

जिनका चित्त प्रबुद्ध हो गया है, ऐसे तत्त्वज्ञ मुनि सदा सर्वदा जगत्के व्यवहारको करते हुए भी आत्मारूपी अद्वितीय तत्त्वमें परम निष्ठावाले होनेके कारण सदा समाधिसम्पन्न ही हैं ॥ ६ ॥

यदि आप मुझे अज्ञानी मानते हैं, तो भी समाधिका उपदेश अयुक्त है, ऐसा कहते हैं—**'बद्ध०'** इत्यादिसे ।

जिसका अन्तःकरण परमशान्तिरूपी विशुद्धिको प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसा पुरुष चाहे पद्मासन लगावे चाहे परब्रह्मको हाथ जोड़े, तो भी उसको किसी भी उपायसे किसी तरहकी समाधि नहीं लग सकती, क्योंकि जहाँ चित्तको लगाना है, उसको वह जानता ही नहीं, यह भाव है ॥ ७ ॥

भगवन्, चुपचाप बैठे रहना समाधि नहीं कहलाता, किन्तु समस्त आशारूपी तृणोंके लिए अग्निरूप जो आत्मतत्त्वका अपरोक्ष साक्षात्कार है, वही समाधि कहलाता है, क्योंकि 'सम्यक् आधानम् समाधिः' (सम्यक् यानी समस्त अभिलषित विषयोंके समूल बाधसे परमार्थिक स्वरूपमें चित्तका जो आधान—अवस्थान—है, वह समाधि है) यों समाधिशब्दकी व्युत्पत्ति है, यह भाव है ॥ ८ ॥

महात्मन्, मनीषी लोग समाधिशब्दका एकाग्र, सदा सर्वदा तृप्त, सत्य अर्थका ग्रहण करनेवाली परा प्रज्ञा ही (अबाधित आत्माका अपरोक्ष साक्षात्कारात्मक विज्ञान) अर्थ कहते हैं ॥ ९ ॥

उसीका फलतः वर्णन करते हैं—**'अक्षुब्धाः'** इत्यादिसे ।

निश्चिन्ताऽधिगताभीष्टा हेयोपादेयवर्जिता ।
प्रोक्ता समाधिशब्देन परिपूर्णा मनोगतिः ॥ ११ ॥
यतः प्रभृति बोधेन युक्तमात्यन्तिकं मनः ।
तदारभ्य समाधानमव्युच्छिन्नं महात्मनः ॥ १२ ॥
न हि प्रबुद्धमनसो भूत्वा विच्छिद्यते पुनः ।
समाधिर्दूरमाकृष्टो बिसतन्तुः शिशोरिव ॥ १३ ॥
समग्रं दिनमालोकाद् विरमत्यक्षयो यथा ।
आजीवितान्तं नो प्रज्ञा तथा तत्त्वावलोकनात् ॥ १४ ॥

क्षोभसे रहित, अहङ्कारसे शून्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें न गिरनेवाली और सुमेरुसे भी अधिक स्थिर आकारवाली प्रज्ञा समाधिशब्दसे कही गई है ॥ १० ॥

चिन्तासे वर्जित, अभीष्ट पदार्थको प्राप्त, हेय और उपादेयसे रहित तथा परिपूर्ण जो मानसिक वृत्ति है, वह समाधिशब्दसे कही गई है ॥ ११ ॥

वैसी समाधि तो मुझको पहलेसे ही सिद्ध है, अतः उसके अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'**यतः**' इत्यादिसे ।

जिस समयसे लेकर मन तत्त्वज्ञानके साथ अत्यन्त (सर्वदाके लिए) सम्बद्ध हो जाता है, उस समयसे लेकर महात्मा विद्वान्की समाधि लगातार बनी ही रहती है, कदापि विच्छिन्न नहीं होती ॥ १२ ॥

जैसे क्रीडा कर रहे बालकके हाथसे दूर खींचा गया कमलका तन्तु टूट जाता है, वैसे प्रबुद्ध अन्तःकरणवाले ज्ञानीकी समाधि लग कर पुनः टूट नहीं जाती, यहां व्यतिरेकी दृष्टान्त है ॥ १३ ॥

यदि शङ्का हो कि तत्त्ववेत्ताको भी ब्रह्माकार वृत्तिका विच्छेद होनेपर व्युत्थानावस्थामें समाधिका भङ्ग हो जायगा, तो इस पर कहते हैं—'**समग्रम्**' इत्यादिसे ।

जैसे सूर्य सारे दिन प्रकाशसे विराम नहीं करता, अपितु प्रकाशपूर्ण ही रहता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानीकी प्रज्ञा जीवनपर्यन्त यानी विदेहमुक्ति पर्यन्त तत्त्वके अवलोकनसे विराम नहीं करती, अपितु दृढ़ संस्कारके कारण सदा सर्वदा अनुवर्तन करती ही रहती है ॥ १४ ॥

अजस्रमम्बुवहनाद्यथा नद्या न रुद्ध्यते ।
तथा विज्ञानदृग्बोधात् क्षणमात्रं न रुद्ध्यते ॥ १५ ॥
न विस्मरत्यविरतं यथा कालः कलागतिम् ।
न विस्मरत्यविरतं स्वात्मानं प्राज्ञधीस्तथा ॥ १६ ॥
न विस्मरति सर्वत्र यथा सततगो गतिम् ।
न विस्मरति निश्चेयं चिन्मात्रं प्राज्ञधीस्तथा ॥ १७ ॥
गतिं कालकला यद्वच्चिन्वाना समवस्थिता ।
चिच्चितिश्चेत्यरहिता चिन्वाना गतयस्तथा ॥ १८ ॥

आत्मस्वरूपको आवृत करनेवाले अज्ञानका एकबार उदित हुई ब्रह्माकार-वृत्तिसे समूल नाश हो जाता है या तो फिर वह आवरण करनेकी शक्ति ही नहीं रखता, इसलिए तत्त्ववेत्ताको स्वरूपावरणरूप समाधिभङ्गका प्रसङ्ग ही नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'अजस्र०'** इत्यादिसे ।

जैसे नदी निरन्तर जलके प्रवाहसे क्षणमात्र भी रुक नहीं सकती, वैसे ही तत्त्ववित्की आत्मतत्त्वसाक्षात्कारात्मक दृष्टि स्वरूपज्ञानसे क्षणमात्र भी रुक नहीं सकती यानी तत्त्वज्ञका साक्षात्कारात्मक बोध किसी आवरणसे आवृत नहीं होता ॥ १५ ॥

अथवा परम प्रेमका भाजन होनेसे एक बार भी प्राप्त हुए तत्त्वज्ञानका विस्मरण नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—**'न विस्मरति'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जैसे काल अपनी कलाओंकी गतिका कभी भी विस्मरण नहीं करता, वैसे ही तत्त्ववित् पुरुषकी बुद्धि अपने आत्मस्वरूपका कभी भी विस्मरण नहीं करती । जैसे सर्वत्र सदा-गतिस्वभाव वायु अपनी गतिका विस्मरण नहीं करता, वैसे ही तत्त्ववित् ज्ञानीकी प्रज्ञा निश्चय करने योग्य चितिमात्रका कभी विस्मरण नहीं करती ॥ १६, १७ ॥

जिसका आवरण विनष्ट हो चुका है, ऐसा आत्मा स्वाकारवृत्तियोंको लगातार उत्पन्न करता ही स्थित रहता है, इस आशयसे कहते हैं—**'गतिम्'** इत्यादिसे ।

जैसे कालके मूर्तिरूप सूर्य आदि अपनी गतिको बटोरते हुए (निरन्तर गतिसम्पन्न होते हुए) ही सदा स्थित रहते हैं, वैसे ही विषयोंसे विनिर्मुक्त (अनावृत)

यथा सात्ताविहीनात्मा पदार्थो नोपलभ्यते ।
तथाऽऽत्मज्ञानहीनात्मा कालो ज्ञस्य न लभ्यते ॥ १९ ॥
न सम्भवति संसारे गुणहीनो गुणी यथा ।
न सम्भवत्यात्मसंविद्वर्जितो ह्यात्मवांस्तथा ॥ २० ॥
सर्वदैवाऽस्मि संबुद्धः सर्वदैवाऽस्मि निर्मलः ।
सर्वदैवाऽस्मि शान्तात्मा सर्वदाऽस्मि समाहितः ॥ २१ ॥
भेदः केन समाधेर्मे जन्यते कथमेव वा ।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण नित्यमेव सदात्मता ॥ २२ ॥
तस्मात् कदाचिदपि मे नाऽसमाधिमयं मनः ।
न वा समाहितं नित्यमात्मतत्त्वैकसम्भवात् ॥ २३ ॥

चैतन्यस्फूर्ति भी अपनी गतियोंको यानी स्वाकारवृत्तियोंको बटोरती हुई (निरन्तर आत्माकार-वृत्तियोंसे सम्पन्न होती हुई) ही रहती है ॥ १८ ॥

अथवा तत्त्वज्ञके जीवनकालका आत्मावबोध असाधारण धर्म है, अतः उससे तत्त्वज्ञका कभी भी वियोग नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे घट आदि पदार्थ सत्तासे (अस्तित्वसे) विहीन होकर कभी भी उपलब्ध नहीं होते, वैसे ही तत्त्वज्ञानीका समय आत्मज्ञानसे विहीन होकर कभी भी उपलब्ध नहीं होता ॥ १९ ॥

अथवा जैसे अग्निका उष्णत्व स्वभाव है, वैसे ही तत्त्वज्ञका आत्मबोध स्वभाव है, इसलिए तत्त्वज्ञका आत्मबोधसे विच्छेद नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं— **'न सम्भवति'** इत्यादिसे ।

जैसे संसारमें उष्णत्व आदि स्वाभाविक गुणोंसे युक्त अग्नि आदि गुणवान् पदार्थ कभी भी उक्त गुणोंसे विहीन नहीं रहते, वैसे ही आत्माकी पहचान कर चुकनेवाला आत्मवान् ज्ञानी कभी भी आत्मज्ञानसे विहीन नहीं रहता ॥ २० ॥

मैं सदा-सर्वदा ही आत्मज्ञानसे सम्पन्न हूँ, सदा-सर्वदा ही निर्मल-स्वभाव हूँ, सदा-सर्वदा ही शान्तात्मा हूँ और सदा-सर्वदा ही समाधियुक्त हूँ । मेरा समाधिसे विच्छेद किससे और कैसे हो सकता है ? क्योंकि मेरी समाधि आत्मस्वरूपसे भिन्न नहीं है, अतः उसका अस्तित्व सदा-सर्वदा बना हुआ ही है ॥ २१, २२ ॥

यदि आप यह मानते हैं कि मन है, तो वह सदा सर्वदा समाहित ही है और यदि यह मानते हैं कि मन नहीं है, तो समाधि भी नहीं ही है, क्योंकि

सर्वगः सर्वदैवाऽऽत्मा सर्वमेव च सर्वथा ।
असमाधिर्हि कोऽसौ स्यात्समाधिरपि कः स्मृतः ॥ २४ ॥

नित्यं समाहितधियः सुसमा महान्त-
स्तिष्ठन्ति कार्यपरिणामविभागमुक्ताः ।
तेनाऽसमाहितसमाहितभेदभङ्ग्या
मिथ्योदितः क्व नु स उत्तम वाक्प्रपञ्चः ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे समाधिनिश्चयो नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

विक्षेपका हेतु ही नहीं रहा, इस आशयसे सुरघु उपसंहार करते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

इसलिए यदि मेरा मन है, तो वह किसी भी समय समाधिसे वर्जित नहीं है और यदि नहीं है, तो मन किसी भी समय समाधिसे युक्त नहीं है, अर्थात् समाधि करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि विक्षेपकारणके न रहनेसे अद्वितीय आत्मतत्त्वकी एकरूपताका ही सदा सर्वदा संभव है ॥ २३ ॥

चूँकि यह जो कुछ दिखलाई पड़ता है, वह सभी कुछ सदा सब प्रकारसे सर्वव्यापक आत्मस्वरूप ही है, इसलिए यह समाधि क्या होगी और असमाधि भी क्या कही जायगी ? अर्थात् उन दोनोंके स्वरूपके विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता ॥ २४ ॥

उत्तम महात्मन्, जिनकी बुद्धिसे भेदका विघटन हो गया है यानी जिनकी बुद्धिमें तनिक भी भेदके लिए स्थान नहीं है अतएव जो कार्योंके परिणामोंसे यानी सुख-दुःख आदि विकारोंसे होनेवाली भेद-भावनाओंसे विनिर्मुक्त हो चुके हैं, ऐसे बड़े बड़े तत्त्ववित् सदा सर्वदा एक ही स्वरूपसे समदृष्टि होकर अवस्थित रहते हैं, इसलिए समाहित और असमाहितके भेदको मान कर प्रवृत्त हुआ आपका वह वाणीका प्रपञ्च किस अर्थका बोधक होगा ? किसी अर्थका नहीं अर्थात् आपका वाग्विलास मिथ्या ही है, यह भाव है ॥ २५ ॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

त्रिषष्टितमः सर्गः

परिघ उवाच

राजन्नूनं प्रबुद्धोऽसि प्राप्तवानसि तत्पदम् ।
संशीतलान्तःकरणः पूर्णेन्दुरिव राजसे ॥ १ ॥
आनन्दमधुसम्पूर्णलक्ष्म्या च परया श्रितः ।
शीतलः स्निग्धमधुरो राजीवमिव राजसे ॥ २ ॥
निर्मलो विततः पूर्णो गम्भीरः प्रकटाशयः ।
वेलानिलविलासेन मुक्तोऽब्धिरिव राजसे ॥ ३ ॥
स्वच्छ आनन्दसम्पूर्णो नष्टाहङ्कारवारिदः ।
स्फुटो विस्तीर्णगम्भीरः शरत्खमिव राजसे ॥ ४ ॥

तिरसठवाँ सर्ग

[राजा परिघके द्वारा परीक्षणके अनन्तर जिसकी स्तुति की गई है, ऐसे तत्त्ववित् सुरघुका अपनी सहज स्थितिका सविस्तर वर्णन]

परिघने कहा—राजन् , आप निश्चितरूपसे तत्त्वको जान चुके हैं और उस उत्तम परम पदकी प्राप्ति भी कर चुके हैं, अत्यन्त शीतल अन्तःकरणसे युक्त होनेके कारण आप ऐसे सुशोभित (प्रकाशित) हो रहे हैं, जैसे कि शीतलात्मा परिपूर्ण चन्द्रमा ॥१॥

हे महाराज, स्नेहके कारण अत्यन्त मधुर, सुशीतल, आनन्दरूपी पुष्परससे परिपूर्ण उत्तम श्रीसे सम्पन्न आप कमलके समान अत्यन्त भले लगते हैं ॥ २ ॥

जैसे तटके झंझावातके झकोरोंसे निर्मुक्त तथा निर्मलत्व आदि गुणोंसे युक्त विस्तृत समुद्र शोभित होता है, वैसे ही निर्मल अतएव विस्पष्टरूपसे दिखाई देनेवाले आशयसे—अन्तःकरणसे—(समुद्र-पक्षमें अन्तःप्रदेशसे—) युक्त, गम्भीर, पूर्ण, व्यापक स्वरूप तथा संसाररूपी वायुके झकोरोंसे निर्मुक्त आप सुशोभित हो रहे हैं ॥ ३ ॥

हे तत्त्वज्ञ, स्वच्छ, आनन्दसे परिपूर्ण, अहंकाररूपी काले बादलोंसे शून्य, विस्पष्ट, विस्तीर्ण और अतिगम्भीर होनेके कारण आप ऐसे शोभते हैं, जैसे शरत्-कालका आकाश ॥ ४ ॥

सर्वत्र लक्ष्यसे स्वस्थः सर्वत्र परितुष्यसि ।
सर्वत्र वीतरागोऽसि राजन् सर्वत्र राजसे ॥ ५ ॥
सारासारपरिच्छेदपारगस्त्वं महाधिया ।
जानासि सर्वमेवेदं यथास्थितमखण्डितम् ॥ ६ ॥
भावाभावपरिच्छेदतत्त्वज्ञ मुदिताशयम् ।
गमागमदशालौल्यमुक्तं तव वपुः स्थितम् ॥ ७ ॥
वस्तुना वस्तुनेवाऽन्तरमृतेनेव सागरः ।
अपुनःप्रक्षयायैव परे तृप्तोऽसि सुन्दर ॥ ८ ॥

सुरघुरुवाच

न तदस्ति मुने वस्तु यत्रोपादेयताऽस्ति नः ।
यावत्किञ्चिदिदं दृश्यं तावदेतन्न किञ्चन ॥ ९ ॥

हे राजन्, आप सभी इष्ट और अनिष्ट विषयोंमें एक-से दिखाई देते हैं, सभी विषयोंमें आप सन्तुष्ट रहते हैं, सभी विषयोंमें आसक्तिसे वर्जित हैं, अतएव सर्वत्र सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५ ॥

महाराज, आपने अपनी उत्तम बुद्धिसे क्या सार है एवं क्या असार है, इसका विचारपूर्वक निर्णय किया है और उसके पारङ्गत हो गये हैं एवं यह भी जानते हैं कि यह दृश्यमान समस्त प्रपञ्च एकरूपसे अवस्थित अखण्ड परब्रह्मस्वरूप ही है ॥६॥

सत् और असत्के निर्णयके तत्त्वको जाननेवाले हे राजन्, प्रसन्न चित्तसे युक्त तथा आरोह और अवरोहकी हेतु (संसारमें आवागमनकी हेतु) भोगासक्तिसे होनेवाली लालचसे शून्य आपका शरीर अवस्थित है ॥ ७ ॥

हे भाग्यवान्, जैसे समुद्र अपने अन्दरमें अवस्थित अमृतसे तृप्त रहता है, वैसे ही जिसकी अपेक्षा संसारमें दूसरी परमार्थ वस्तु है ही नहीं, ऐसी स्वात्मरूपी वस्तुसे ही आप पुनः संसार-प्राप्तिमें अहेतुभूत अपनी महिमामें ही परितृप्त रहते हैं ॥ ८ ॥

परिघ द्वारा कथित अर्थका सभी युक्तियोंसे समर्थन और अनुमोदन कर रहे सुरघु कहते हैं—'**न तदस्ति**' इत्यादिसे ।

सुरघुने कहा—हे मुने, संसारमें वह वस्तु ही नहीं है, जो कि हम लोगोंके

उपादेयस्य चाऽभावाद्धेयमप्यस्ति किं किल ।
प्रतियोगि व्यवच्छेद्यं विना हेयं किमुच्यते ॥ १० ॥
तुच्छत्वात् सर्वभावानामतुच्छत्वाच्च कालतः ।
चिरं मम परिक्षीणे तुच्छातुच्छे मनःस्थिती ॥ ११ ॥
देशकालवशादेव तुच्छस्याऽतुच्छतामिह ।
अतुच्छस्य तु तुच्छत्वं वर्ज्ये निन्दास्तुती बुधैः ॥ १२ ॥
रागान्निन्दास्तुती लोके रागश्च परिवाञ्छितम् ।
वाञ्छ्यते च महोदारं वस्तु शोभनबुद्धिना ॥ १३ ॥

लिए उपादेय हो, जो कुछ यह दृश्य है, वह सब कुछ भी नहीं है यानी मिथ्या ही है ॥ ९ ॥

उपादान करने योग्य वस्तुका अभाव होनेके कारण कुछ भी हेय यानी त्याज्य नहीं है, क्योंकि जिस वस्तुका ग्रहण कर लिया हो, उसका परित्याग ही तो हान है, ऐसी स्थितिमें भला आप बतलाइये कि त्यागके विरोधी और त्यागसे हट जानेवाले ग्रहणके (उपादानके) बिना 'यह हेय है' ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् कभी नहीं कहा जा सकता ॥ १० ॥

यदि शङ्का हो कि जो तुच्छ है, वह हेय और जो अतुच्छ है, वह उपादेय क्यों नहीं होगा ? तो इस पर कहते हैं—'तुच्छत्वात्' इत्यादिसे ।

महाराज, देश और कालवश सभी पदार्थ तुच्छ और अतुच्छ हो जाते हैं, इसलिए दीर्घकालसे मेरी तुच्छ और अतुच्छ विषयक मानस स्थिति नष्ट हो चुकी है । इसी विषयमें दृष्टान्त है—सम्पूर्ण भूमण्डलका राजा मुक्त हो जानेपर एक छोटेसे गाँवमें भी, जो कि पहले तुच्छ था, सन्तुष्ट रहता है और पहलेके विस्तृत राज्यको भी तुच्छ समझता है, अतः समयवश ही तुच्छत्व और अतुच्छत्वकी बुद्धि होती है ॥ ११ ॥

संसारमें देश और कालके प्रभावसे तुच्छमें अतुच्छत्व और अतुच्छमें तुच्छत्व भावना हो जाती है, इसलिए पण्डितोंको तुच्छ और अतुच्छ बुद्धिसे किसी-की निन्दा या स्तुति नहीं करनी चाहिए ॥ १२ ॥

लोकमें निन्दा और स्तुति दोनों रागसे होते हैं और राग इच्छाको कहते हैं, जिसकी बुद्धि निर्मल है, ऐसा पुरुष महोदार आत्मवस्तुकी ही इच्छा करता है, क्योंकि वहाँ स्तुति और निन्दाकी प्रसक्ति ही नहीं है ॥ १३ ॥

त्रैलोक्ये च स्त्रियः शैलाः समुद्रवनराजयः ।
भूतानि वस्तुशून्यानि सारो नाऽस्त्यत्र वस्तुतः ॥ १४ ॥
मांसास्थिदारुमृद्रत्नमये जगति जर्जरे ।
वाञ्छनीयविहीनेऽस्मिन् शून्ये किमिव वाञ्छयते ॥ १५ ॥
वाञ्छायां विनिवृत्तायां संक्षयो द्वेषरागयोः ।
दिनलक्ष्म्यां व्यपेतायामालोकातपयोरिव ॥ १६ ॥
अलमतिविततैर्वचःप्रपञ्चैरियमुचितेह सुखाय दृष्टिरेका ।
उपशमितरसं समं मनोऽन्तर्यदि मुदितं तदनुत्तमा प्रतिष्ठा ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सुरघुपरिघनिश्चयो नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस त्रिलोकीमें स्त्रियाँ, पर्वत, समुद्र, वनपंक्तियाँ आदि भूत सत्यतासे रहित हैं, वास्तवमें यहां कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है ॥ १४ ॥

इस मांस और अस्थिमय अध्यात्म जगत्में तथा काष्ठ, मृत्तिका और शिलामय अधिभूत जगत्में, जो कि जरजर, अवाच्छनीय तथा शून्यात्मक है, क्या चाहा जाय ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ १५ ॥

राजन्, जैसे दिवस-शोभाका विनाश हो जानेपर तदनुगामी प्रकाश और घाम दोनोंका विनाश हो जाता है, वैसे ही इच्छाका विनाश हो जानेपर तदनुगामी राग और द्वेष दोनोंका विनाश हो जाता है यानी राग-द्वेषमूलक प्रवृत्ति और निवृत्तिका निरास हो जाता है ॥ १६ ॥

यदि सभी वस्तुएँ असारभूत हैं, तो आश्रयण करने योग्य सारभूत वस्तु कौन है ? इस प्रश्न पर सारभूत वस्तु बतलाते हैं—'अलम०' इत्यादिसे ।

मित्रवर, अब इस विषयमें अधिक वाक्योंका प्रयोग करना व्यर्थ है । यदि अन्तःकरण चारों ओरसे रागमुक्त होकर तथा समस्त विक्षेपरूपी विषमतासे रहित होकर अपने आत्मस्वरूपमें ही परितृप्त रहे, तो वही सबसे उत्तम विश्रान्ति है । सर्वातिशायी सुखके लिए केवल इसी एक दृष्टिका सदा सर्वदा आश्रयण करना उचित है ॥ १७ ॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

चतुःषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सुरघुः परिघश्चैव विचार्येति जगद्भ्रमम् ।
मिथः प्रपूजितौ तुष्टौ स्वव्यापारपरौ गतौ ॥ १ ॥
तदेव राघव श्रुत्वा परमं बोधकारणम् ।
अनेनैव विबोधेन भव लब्धास्पदः स्फुटम् ॥ २ ॥
परया प्रज्ञया धीरविचारगततीक्ष्णया ।
गलत्यलमहङ्कारकालमेघे हृदम्बरे ॥ ३ ॥
समस्तलोकानुमते सफले ह्लादकारिणि ।
निर्मले वितते चेतःशरत्काल उपस्थिते ॥ ४ ॥

चौसठवाँ सर्ग

[उपायोंका परिज्ञान रखनेवाला पुरुष जिन उपायों द्वारा मानस दोषोंसे विचलित नहीं होता और अपनी आत्माका संसारदुःखसे उद्धार करता है, उन उपायोंका कथन]

श्रीवसिष्ठ महाराजने कहा—भद्र श्रीरामजी, तत्त्वज्ञ सुरघु और राजा परिघ दोनों पूर्व वर्णित प्रकारसे जगत्-विभ्रमका विचार कर अत्यन्त प्रसन्न हुए, उन्होंने परस्पर एक दूसरेका विशिष्ट पूजन किया और अपने-अपने कार्योंमें तत्पर हो यथास्थान प्रस्थान किया ॥ १ ॥

हे राघव, उस वर्णन किये गये संवादरूपी उत्तम बोध-हेतुका श्रवण कर किया गया निश्चय ही बोधके लिए पर्याप्त है । अतः इसी सुरघु और परिघके संवादके श्रवणसे जनित निश्चयात्मक ज्ञानसे आप प्रत्यक्ष-रीत्या प्राप्तपद हो जाइये । क्योंकि परमपदकी प्राप्तिके लिए उतना सुप्रतिष्ठित बोध ही पर्य्याप्त है ॥ २ ॥

पण्डितोंके साथ विचार करनेके कारण या निश्चल अपने विचारके कारण अत्यन्त तीव्र हुई उत्तम प्रज्ञासे हृदयाकाशमें अहङ्काररूपी काले मेघके निःशेष गल जानेपर; समस्त लोगोंसे अनुमोदित, फलात्मक बोधसे युक्त (शरत्-पक्षमें सस्यादि फलोंसे युक्त), अतएव प्रसन्नता बढ़ानेवाले, राग आदि मलोंसे रहित (शरत्-पक्षमें पङ्क आदि मलोंसे शून्य), विस्तृत चित्तरूपी शरत्कालके उपस्थित होनेपर ; जो

ध्येये शरण्ये सुगमे सकलानन्दसंपदि ।
सुप्रसन्ने चिदाकाशे स्थीयते परमात्मनि ॥ ५ ॥
यो नित्यमध्यात्ममयो नित्यमन्तर्मुखः सुखी ।
नित्यं चिदनुसन्धानो मनःशोकैर्न बाध्यते ॥ ६ ॥
व्यवहारपरोऽप्युच्चै रागद्वेषमयोऽपि सन् ।
नाऽन्तःकलङ्कमायाति पद्मो जलगतो यथा ॥ ७ ॥
सम्यग्विज्ञानवान् शुद्धो योऽन्तः शान्तमना मुनिः ।
न बाध्यते स मनसा करिणेव मृगाधिपः ॥ ८ ॥
भोगैकशरणं दीनं न चित्तं ज्ञस्य विद्यते ।
नन्दने दुर्द्रुम इव ज्ञचित्तं हि महावपुः ॥ ९ ॥

ध्यान करने योग्य, समग्र अनर्थोंके नाशक, आत्मरूपताके कारण सुगम, सम्पूर्ण आनन्दोंकी निधि, अत्यन्त प्रसन्न परमात्मारूपी चिदाकाशमें अवस्थित रहता है और जो सदा केवल आत्माके विचारमें निरत, सदा बाह्य आसक्तिसे शून्य, सुखी तथा पुनः पुनः आदरसे केवल चिन्मात्र वस्तुमें आस्वाद लेनेवाला है, वह मानसिक शोकोंसे कभी भी विचलित नहीं होता ॥ ३—६ ॥

रामजी, जैसे जलमें रहनेवाला कमल जलगत कीचड़ आदि कलङ्कोंसे कलङ्कित नहीं होता, वैसे ही तत्त्वज्ञ व्यवहारमें निरत अतएव अज्ञानी जनों द्वारा 'यह राग और द्वेषसे भरा है' यों कल्पित हो रहा भी राग, द्वेष आदि भीतरी कलङ्कोंसे कलङ्कित नहीं होता ॥ ७ ॥

जैसे हाथियोंसे मृगाधिप (सिंह) पराभवको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही जो सम्यक् ज्ञानसे युक्त, निर्मल, भीतरसे प्रसन्नमन मुनि है, वह कभी भी मनसे पराभवको प्राप्त नहीं होता ॥ ८ ॥

जैसे नन्दन वनमें बिसैले कांटोंसे युक्त वृक्ष नहीं होता, वैसे ही विज्ञानी पुरुषका केवल विषयोपभोगोंमें शरण लेनेवाला अतएव अत्यन्त दीनतासे युक्त मन नहीं होता, क्योंकि उसका चित्त बड़ा है यानी क्षुद्र विषयसुखोंकी अभिलाषासे वर्जित है ॥ ९ ॥

विरक्तो जन्ममरणे यथा दुःखी न मानवः ।
परीज्ञाताखिलाविद्यं तथा चित्तं न दुःखितम् ॥ १० ॥
परिज्ञातमनोमोहो जगद्भावोद्भवात्मना ।
स्पृश्यते नैनसा साधो रजसेव नभस्तलम् ॥ ११ ॥
अविद्यासम्परिज्ञातमिदमेव महौषधम् ।
अविद्याविततव्याधेस्तिमिरस्येव दीपकम् ॥ १२ ॥
अविद्या संपरिज्ञाता यदैव हि तदैव हि ।
सा परिक्षीयते भूयः स्वप्नेनेव हि भोगभूः ॥ १३ ॥
व्यवहारपरोऽप्यन्तरसक्तमतिरेकधीः ।
स्पृश्यते नैनसा साधुर्मत्स्येक्षणमिवाऽम्भसा ॥ १४ ॥

जैसे विरक्त पुरुष कामुक पुरुषके समान जाया आदिका मरण होनेपर दुःखी नहीं होता, वैसे ही जिसने चारों ओरसे विचार कर विषय, इन्द्रिय, शरीर आदि समस्त दृश्यरूप मिथ्याभ्रान्तिका परिज्ञान कर लिया है, ऐसा तत्त्वज्ञ पुरुषका अन्तःकरण दुःखी नहीं होता ॥ १० ॥

विज्ञाता पुरुषको भावी दुःखोंके हेतु पापोंका भी सम्बन्ध नहीं होता, यह कहते हैं—'**परिज्ञात०**' इत्यादिसे ।

हे साधो, जैसे धूली आकाश-तलको स्पर्श नहीं कर सकती, वैसे ही विचार-पूर्वक मनोमोहका स्वरूप भलीभाँति जान लेनेवाले पुरुषको पाप, जिनका कि स्वरूप जगत्में मिथ्याभूत कर्तृत्वाभिमानसे उत्पन्न हुआ है, स्पर्श नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे अन्धकाररूपी रोगका महान् औषध दीपक है, वैसे ही जगदाकारमें फैले हुए इस अज्ञानरूपी रोगका सबसे बड़ा औषध 'यह जगत् अविद्यामात्र है' इस प्रकारका विचारजनित ज्ञान ही है ॥ १२ ॥

जैसे यह स्वप्न है, इस प्रकार जाने गये स्वप्नसे स्वाप्निक भोगभूमिका सदा सर्वदाके लिए विनाश हो जाता है, वैसे ही ज्यों ही यह अविद्या है, इस प्रकार अविद्याका स्वरूपज्ञान हो गया, त्यों ही उसका सदा सर्वदाके लिए विनाश हो जाता है ॥ १३ ॥

जैसे जल मछलियोंके नेत्रोंको स्पर्श नहीं करता [यदि जल मछलियोंके नेत्रोंको स्पर्श करेगा, तो नेत्रोंके बन्द हो जानेके कारण जलमें उनके देखना

प्राप्ते चिद्भासुरालोके प्रक्षीणा ज्ञानयामिनी ।
शेमुषी परमानन्दमागता ज्ञस्य राजते ॥ १५ ॥
अज्ञाननिद्रोपशमे जनो ज्ञानार्कबोधितः ।
तत्प्रबोधमवाप्नोति पुनर्येन न मुह्यति ॥ १६ ॥
दिनानि जीव्यते तानि सानन्दास्ते क्रियाक्रमाः ।
आत्मचन्द्रोदिता येषु चिज्ज्योत्स्ना हृदयाम्बरे ॥ १७ ॥
नरो मोहसमुत्तीर्णः सततं स्वात्मचिन्तया ।
अन्तःशीतलतामेति स्वामृतेनेव चन्द्रमाः ॥ १८ ॥
तानि मित्राणि शास्त्राणि तानि तानि दिनानि च ।
विरागोल्लासवान् येभ्य आत्मचित्तोदयः स्फुटम् ॥ १९ ॥

आदि व्यवहार ही लुप्त हो जायँगे], वैसे ही व्यवहारमें निरत हुए भी साधु पुरुषको, जो कि अद्वितीय परब्रह्ममें बुद्धि रखता है और भीतरसे आसक्तिवर्जित है, अविद्यारूपी पाप स्पर्श नहीं करता ॥ १४ ॥

हे श्रीरामजी, देदीप्यमान चिद्रूपी प्रकाशका उदय हो जानेपर अज्ञानरूपी रात्रि सदाके लिए विलीन हो जाती है और परमानन्दको प्राप्त हुई ज्ञानीकी प्रज्ञा प्रकाशती रहती है ॥ १५ ॥

शास्त्ररूपी सूर्यसे बोधित हुआ पुरुष अज्ञानरूपी निद्राका विनाश होनेके बाद उस विज्ञानको प्राप्त करता है, जिसकी प्राप्तिसे मनुष्यको फिर कभी मोह नहीं होता ॥ १६ ॥

अब विद्याकी स्तुति करते हैं—**'दिनानि'** इत्यादिसे ।

वे ही दिन जीवनपूर्ण हैं और वे ही क्रियाएँ आनन्दसे युक्त हैं, जिन दिनों और क्रियाओं में सदा सर्वदा हृदयरूपी आकाशमें आत्मारूपी चन्द्रमासे उदित हुई चिद्रूपिणी ज्योत्स्ना खिल रही हो या प्रकाश रही हो ॥ १७ ॥

जैसे चन्द्रमा अपने अमृतसे भीतर शीतलताको प्राप्त करता है, वैसे ही मोहका अतिक्रमण कर लेनेवाला पुरुष निरन्तर आत्मचिन्तनरूपी अमृतसे अपने भीतर शीतलताको प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

वे ही मित्र मित्र हैं, वे ही शास्त्र शास्त्र हैं और वे ही दिन दिन हैं, जिनके कारण वैराग्यरूपी उल्लाससे युक्त आत्माकार-वृत्तिरूपी चित्ताभ्युदय विस्पष्ट रीतिसे सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

चिरं शोचन्ति ते दीना जन्मजङ्गलवीरुधः ।
आत्मावलोकने हेला येषामविगतैनसाम् ॥ २० ॥
आशापाशशतैर्बद्धं भोगोलपसुलालसम् ।
जराजर्जरिताकारं शोकोच्छ्वासकदर्थितम् ॥ २१ ॥
व्यूढदुःखमहाभारं जन्मजङ्गलजीवितम् ।
कुकर्मकर्दमालिप्तं मोहपल्वलशायिनम् ॥ २२ ॥
रागदंशावलीदष्टं कृष्टं तृष्णावरत्रया ।
मनोवणिङ्निकेतस्थं बन्धुबन्धननिश्चलम् ॥ २३ ॥
पुत्रदारजराजीर्णे मग्नोन्मग्नं कुकर्दमे ।
श्रान्तं विगतविश्रामं भग्नमादीर्घवर्त्मनि ॥ २४ ॥
गमागमपरिक्षीणं संसारारण्यचारिणम् ।
अलब्धशीतलच्छायं तीव्रतापोपतापितम् ॥ २५ ॥
आकारभासुरं दीनं बाह्यैराक्रान्तमिन्द्रियैः ।
कर्मघण्टारवाक्रान्तं क्रान्तं दुष्कृतताडनैः ॥ २६ ॥

पापके विनाशसे वर्जित अतएव जिन मनुष्योंकी आत्माको जाननेमें उपेक्षा है, वे जनमरूपी जङ्गलके प्रतान हैं, दीन हैं और चिरकाल तक संसारदुःखोंसे दुःखित होकर शोक किया करते हैं ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी, विषयाभिलाषारूपी सैकड़ों बन्धनोंसे बँधे, भोगरूपी तिनकोंमें अत्यन्त लालच कर रहे, बुढ़ौतीके कारण जर्जर आकारको प्राप्त हुए, शोकजनित उछाससे विडम्बित हो रहे; दुःखरूपी भारी बोझको ढो रहे, जन्मरूपी जङ्गलमें जी रहे, कुकर्मरूपी कीचड़से चारों ओर चुपड़े गये, मोहरूपी स्वल्प जलाशयमें सो रहे; रागरूपी दाँतोंकी पंक्तियोंसे चबाये गये, तृष्णारूपी चर्ममयी नासा रज्जूसे (नाथसे) खींचे गये, मनरूपी बनियेकी आज्ञामें स्थित रहे, बान्धवरूपी बन्धनोंके कारण चलने फिरनेमें अशक्त हुए; पुत्र और स्त्री की शिथिलतासे जनित जीर्णतारूपी गोबरमें बार बार डूब रहे, सदा थके हुए, विश्रान्तिसे वर्जित, आवागमनके दीर्घ मार्गोंमें भग्न; आवागमनके कारण चारों ओरसे क्षीण, संसाररूपी अरण्यमें चक्कर काट रहे, शीतल छायाको प्राप्त नहीं हुए, तीव्र विषयसंसर्गजन्य तापोंसे संतापित; केवल बाहरी आकारसे सुन्दर पर भीतरसे दीन, बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियोंसे प्रभावित,

आविर्भावतिरोभावचक्रावर्तधुरोद्वहम् ।
अज्ञानविकटाटव्यां लुठितं सन्नगात्रकम् ॥ २७ ॥
निजानर्थसदामग्नं सीदमानमकिञ्चनम् ।
सन्नाङ्गं कर्मभारेण करुणाक्रन्दकारिणम् ॥ २८ ॥
राम जीवबलीवर्दमिमं संसारपल्वलात् ।
परमं यत्नमास्थाय चिरमुत्तारयेद् बलात् ॥ २९ ॥
तत्त्वावलोकनात् क्षीणे चित्ते नो जायते पुनः ।
जीवः कदाचन तदा भवेत् तीर्णभवार्णवः ॥ ३० ॥
महानुभावसम्पर्कात् संसारार्णवलङ्घने ।
युक्तिः संप्राप्यते राम स्फुटा नौरिव नाविकात् ॥ ३१ ॥

काम्य कर्मोंमें रुचि बढ़ानेवाले अर्थवादरूपी घण्टानादोंसे भ्रमित, पापरूपी कोड़ोंके आघातोंसे पीड़ित; जन्म-मरणरूपी गाड़ीके बोझसे लदे हुए, अज्ञानरूपी विकट अटवीमें लुठित अतएव भग्न-शरीर; अपने अनर्थमें ही सर्वदा निमग्न, दुःखी, दीन, जडीभूत शरीर, कर्मोंके बोझसे सदा करुण क्रन्दन कर रहे इस जीवरूपी बैलका संसाररूपी स्वल्प तालाबसे दीर्घकाल तक उत्तम प्रयत्न करके ज्ञानरूपी बलसे उद्धार करना चाहिए ॥ २१–२९ ॥

उद्धार कर चुकनेपर जीवके फिर कीचड़में फँसनेकी शङ्काका निवारण करते हैं—**'तत्त्वावलोकनात्'** इत्यादिसे ।

हे रघुवीर, तत्त्वसाक्षात्कारसे चित्तके क्षीण हो जाने पर जीव संसारमें फिर कभी भी जन्म-ग्रहण नहीं करता और वह चित्तकी क्षयदशामें ही संसार-सागरसे पार हो जाता है ॥ ३० ॥

उद्धारके उपायोंका परिज्ञान तो सद्-गुरुओंके समीप जानेसे मिलता है, इस आशयसे कहते हैं—**'महानुभाव०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, बड़े बड़े सत्-पुरुषोंके समागमसे संसाररूपी समुद्रका उल्लङ्घन करनेकी युक्ति उस प्रकार प्राप्त होती है, जिस प्रकार समुद्रका उल्लङ्घन करनेके लिए नाविकसे नौका प्राप्त होती है ॥ ३१ ॥

यस्मिन् देशमरौ तज्ज्ञो नाऽस्ति सज्जनपादपः ।
सफलः शीतलच्छायो न तत्र निवसेद् बुधः ॥ ३२ ॥
स्निग्धशीतवचःपत्रे सच्छाये स्मितपुष्पके ।
क्षणाद् विश्रम्यते राम भृशं सुजनचम्पके ॥ ३३ ॥
तदभावे महामोहतापसम्पत्तिदायिनि ।
किञ्चिज्जातविवेकेन स्वप्तव्यं नेह धीमता ॥ ३४ ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मनाऽऽत्मैवमुद्धरेत् ।
नाऽऽत्मानमवलेपेन जन्मपङ्कार्णवे क्षिपेत् ॥ ३५ ॥
किमिदं कथमायातं किंमूलमिति किंक्षयम् ।
देहदुःखमिति प्राज्ञैः प्रेक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी, मरुभूमिकी नाईं जिस भूमिमें मोक्षरूपी फलको देनेवाला और मानसिक शान्तिरूपी शीतल छायाको करनेवाला तत्त्वज्ञ सत्-पुरुषरूपी वृक्ष विद्यमान न हो, वहाँ विद्वान्‌को नहीं रहना चाहिए ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, मनोहर और तापोपशामक शीतल वचन ही जिसके पत्ते हैं, परोपकारपरायणता ही जिसकी उत्तम छाया है और मुसकुराहट ही जिसके पुष्प हैं, ऐसे सत्पुरुषरूपी चम्पाके वृक्षके नीचे मनुष्यको क्षणभरमें ही आत्यन्तिक विश्रान्ति (आत्मलाभरूप विश्रान्ति) प्राप्त हो जाती है ॥ ३३ ॥

जिसको तनिक भी विवेक हुआ हो, ऐसे बुद्धिमान् पुरुषने इस संसारमें, जहाँ कि स्वात्मप्राप्तिरूप विश्रान्तिका अभाव है और जो महामोहसे जनित संताप-रूपी संपत्तिका देनेवाला है, स्वल्प भी निद्रा नहीं लेनी चाहिए ॥ ३४ ॥

आत्मा ही आत्माका मित्र है, इसलिए इन साधुसमागम आदि उपायोंसे अपने आप ही अपना उद्धार कर लेना चाहिए, न कि देहाभिमानके गर्वसे जन्म-कीचड़के समुद्रमें अपनेको फँसा देना चाहिए ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् व्यक्तियोंने अपनी बुद्धि, शास्त्र और सज्जनोंकी सहायता लेकर प्रबल प्रयत्नसे इस देहाधीन दुःखके विषयमें विचार करना चाहिए कि यह क्या है ? कैसे आया ? इसका मूल क्या है ? और इसका विनाश किससे हो सकता है ? इस श्लोकमें दो 'इति' शब्दोंका निर्देश विचार करने योग्य वस्तुके विचार अनेक तरहके हैं, यह बतलानेके लिए किया गया है ॥ ३६ ॥

न धनानि न मित्राणि न शास्त्राणि न बान्धवाः ।
नराणामुपकुर्वन्ति मग्नस्वात्मसमुद्धृतौ ॥ ३७ ॥
मनोमात्रेण सुहृदा सदैव सहवासिना ।
सह किञ्चित् परामृश्य भवत्यात्मा समुद्धृतः ॥ ३८ ॥
वैराग्याभ्यासयत्नाभ्यां स्वपरामर्शजन्मना ।
तत्त्वालोकनपोतेन तीर्यते भवसागरः ॥ ३९ ॥
शोच्यमानं जनैर्नित्यं दह्यमानं दुराशया ।
नाऽऽत्मानमवमन्येत प्रोद्धरेदेनमादरात् ॥ ४० ॥
अहङ्कारमहालानं तृष्णारज्जुं मनोमदम् ।
जन्मजम्बालनिर्मग्नं जीवदन्तिनमुद्धरेत् ॥ ४१ ॥

अज्ञानमें डूबी हुई अपनी आत्माका उद्धार करनेमें मनुष्योंको धन, मित्र, अनात्मशास्त्र और बान्धव—ये कुछ भी उपकार नहीं करते ॥ ३७ ॥

तब कौन उपकार करता है, इस प्रश्न पर कहते हैं—**'मनोमात्रेण'** इत्यादिसे ।

सदा सर्वदा ही साथ रहनेवाले विशुद्ध मनोरूपी मित्रके साथ कुछ परामर्श करनेसे आत्मा संसार-सागरसे उद्धृत हो जाता है ॥ ३८ ॥

वैराग्य और अभ्यासरूपी प्रयत्नोंके द्वारा किये गये आत्मविचारसे उत्पन्न आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूपी बड़े जहाजसे यह भवसागर पार किया जाता है ॥ ३९ ॥

अनेक मनुष्योंके द्वारा प्रतिदिन शोकको प्राप्त हो रहे तथा दुष्ट आशाओंके द्वारा दाहको प्राप्त हो रहे आत्माकी कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, किन्तु अत्यन्त आदरसे इसका उद्धार करना चाहिए ॥ ४० ॥

अहंकार ही जिसका मजबूत आलान (हाथी बाँधनेका खूँटा) है, तृष्णा ही जिसको बाँधनेकी रस्सी है, मन ही गण्डस्थलसे झरनेवाला जिसका मद है और जन्मरूप कीचड़में जो फँस गया है, ऐसे जीवरूपी हाथीका उद्धार करना चाहिए ॥ ४१ ॥

अयमेतावतैवाऽऽत्मा त्रातो भवति राघव ।
यदपास्य विमूढत्वमहङ्कारः प्रमार्ज्यते ॥ ४२ ॥
एतावतैव सन्मार्गे याति प्रकटतामलम् ।
यदपास्य मनोजालमहंभावो विलूयते ॥ ४३ ॥
एतावतैव देवेशः परमात्माऽवगम्यते ।
काष्ठलोष्टसमत्वेन देहो यदवलोक्यते ॥ ४४ ॥
अहङ्काराम्बुदे क्षीणे दृश्यते चिद्दिवाकरः ।
ततस्तत्परिणामेन तत्पदं समवाप्यते ॥ ४५ ॥
यथा ध्वान्तसमुच्छेदे स्वयमालोकवेदनम् ।
तथाऽहङ्कारविच्छेदे स्वयमात्मावलोकनम् ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस आत्माकी इतने ही यत्नसे रक्षा की जा सकती है, जितने कि यत्नसे अपने अज्ञानको दूर कर अहंकार निकाल दिया जाय ॥ ४२ ॥

मनके द्वारा रची गई बाह्य और आध्यात्मिक आसक्तिओंका निरसन कर जो अहंकारभाव काट दिया जाता है, बस उतने काटनेमात्रसे ही परमात्माका ज्ञान होने तक अनुष्ठित विचारमें आत्मा पूर्णरूपसे विस्पष्ट-रीत्या प्रकटभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

उसमें भी दुस्त्यज देहाभिमानका परित्याग ही मुख्य है, इस आशयसे कहते हैं—**'एतावतैव'** इत्यादिसे ।

काठ और मिट्टीके ढेलेकी तरह यह देह है, इस प्रकारका जो देखना है, उतनेमात्रसे ही देवाधिदेव परमात्मा जाना जाता है ॥ ४४ ॥

अहंकाररूपी मेघके विनष्ट हो जानेपर पहले चैतन्यरूपी दिवाकर दिखाई देता है, तदनन्तर उस परमात्मदर्शनकी भूमिकाका परिपाक हो जाता है और उससे परमपद प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

जैसे अन्धकारका उच्छेद हो जानेपर प्रकाशका परिज्ञान स्वतः हो जाता है, वैसे ही अहंकारका विच्छेद हो जानेपर आत्माका परिज्ञान स्वतः हो जाता है ॥ ४६ ॥

अहङ्कारे परिक्षीणे याऽवस्था सुखमोदजा ।
साऽवस्था भरिताकारा सा सेव्या संप्रयत्नतः ॥ ४७ ॥
परिपूर्णार्णवप्रख्या न वा गोचरमेति नः ।
नोपमानमुपादत्ते नाऽनुधावति रञ्जनम् ॥ ४८ ॥
केवलं चित्प्रकाशांशकलिता स्थिरतां गता ।
तुर्या चेत् प्राप्यते दृष्टिस्तत्तया सोपमीयते ॥ ४९ ॥
अदूरगतसादृश्यात् सुषुप्तस्योपलक्ष्यते ।
साऽवस्था भरिताकारा गगनश्रीरिवाऽऽतता ॥ ५० ॥

अहङ्कारके विनष्ट हो जानेपर जो निरतिशयानन्दविश्रान्तिकी स्वरूपभूत निर्विकल्पावस्था आविर्भूत होती है, वह परिपूर्ण अवस्था है, उसीका उत्तम प्रयत्नसे सेवन करना चाहिए ॥ ४७ ॥

उसी निर्विकल्प अवस्थाका वर्णन करते हैं—**'परिपूर्णा०'** इत्यादिसे ।

परिपूर्ण समुद्रकी तरह असीम वह निर्विकल्प अवस्था न तो सब लोगोंके मनकी विषय है, न तो किसी उपमानसे उपमित की जा सकती है और न विषयोंके सम्बन्धोंको प्राप्त करती है ॥ ४८ ॥

यदि चेतनके प्रकाशात्मक अंशसे गृहीत स्थिरताको प्राप्त तुरीय दृष्टि प्राप्त हो, तो उसी तुरीय दृष्टिसे निर्विकल्प अवस्थाका (परमेश्वर-स्वरूपाविर्भाव-दशाका) सादृश्य कहा जा सकता है, दूसरेका नहीं ॥ ४९ ॥

किस तरीकेसे तुर्यावस्थाकी संभावना होगी ? तो इस पर कहते हैं—**'अदूर०'** इत्यादिसे ।

तुर्यावस्थामें स्थित निर्विक्षेपत्व अंशको लेकर सुषुप्तिके पास पहुँचा हुआ जो सादृश्य है, उस सादृश्यसे सुषुप्ति अवस्थाके समीप तुर्यावस्था संभावित होती है यानी यदि सुषुप्ति अवस्थामें अज्ञानरूपी आवरण न होता, तो वह तुर्यावस्था ही होती, इस रीतिसे सुषुप्त अवस्थासे उसकी संभावना की जा सकती है । वह निर्विकल्प परमात्मभावावस्था सम्पूर्ण आकारोंसे परिपूर्ण तथा आकाश-शोभाकी नाईं सर्वत्र व्यापक है ॥ ५० ॥

मनोहङ्कारविलये सर्वभावान्तरस्थिता ।
समुदेति परानन्दा या तनुः पारमेश्वरी ॥ ५१ ॥
सा स्वयं योगसंसिद्धा सुषुप्तादूरभाविनी ।
न गम्या वचसां राम हृद्येवेहाऽनुभूयते ॥ ५२ ॥
अनुभूतिं विना तत्त्वं खण्डादेर्नाऽनुभूयते ।
अनुभूतिं विना रूपं नाऽऽत्मनश्चाऽनुभूयते ॥ ५३ ॥
अखिलमिदमनन्तमात्मतत्त्वं
दृढपरिणामिनि चेतसि स्थितेऽन्तः ।
बहिरुपशमिते चराचरात्मा
स्वयमनुभूयत एव देवदेवः ॥ ५४ ॥

घटका विनाश होनेपर जैसे घटाकाश महाकाशस्वरूप हो जाता है, वैसे ही मन, अहंकार आदि उपाधियोंका विनाश होनेपर त्वंपदसे लक्षित होनेवाला अर्थ 'तत्' पदसे लक्षित होनेवाले आत्माके स्वरूपभूत ही हो जाता है, ऐसा कहते हैं—**'मनो०'** इत्यादिसे ।

मन और अहंकारका विलय होनेपर समस्त पदार्थोंके भीतर रहनेवाली जिस निरतिशयानन्दात्मक परमात्मस्वरूपावस्थाका आविर्भाव होता है, उस अवस्थाका, जो स्वयं समाधिसे सिद्ध, तथा सुषुप्त अवस्थाके साथ पूर्वोक्तरूपसे किसी अंशमें मिलती जुलती है, वाणीसे परिज्ञान नहीं होता, केवल अपने इस हृदयमें ही उसका अनुभव होता है, अपने अनुभवके सिवा उसका दूसरा परिचायक नहीं है, यह भाव है ॥ ५१, ५२ ॥

जैसे साधारण खांड आदिके स्वरूपका अपने अनुभवके सिवा और किसी दूसरे प्रमाणसे परिज्ञान नहीं होता, वैसे ही आत्माके स्वरूपका भी अपने अनुभवके सिवा और किसी दूसरे प्रमाणसे परिज्ञान नहीं होता ॥ ५३ ॥

यह सब व्यापक आत्मस्वरूप ही है । [यदि यह सब आत्माका ही स्वरूप है, तो उसका किस तरह अनुभव होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं—**'दृढ०'** इत्यादि ।] जब चित्त बाह्य विषयोंसे उपरत हो जाता है और प्रत्यगात्मामें क्षीरोदकके समान एकरसरूपसे उसका निश्चल परिणाम हो जाता है, तब चर और अचरोंके

तदनु विषयवासनाविनाश-
स्तदनु शुभः परमः स्फुटप्रकाशः ।
तदनु च समतावशात् स्वरूपे
परिणमनं महतामचिन्त्यरूपम् ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे उपदेशो नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

स्वरूपभूत तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंका साक्षीरूपसे प्रकाश करनेवाला आत्मा स्वयं ही अनुभूत हो जाता है, इस विषयमें तनिक भी संशय नहीं करना चाहिए ॥५४॥

उस प्रकार चतुर्थ भूमिकामें आत्माका अनुभव होनेके अनन्तर पाँचवीं भूमिकामें विषयवासनाओंका आत्यन्तिक विनाश हो जाता है, उसके बाद छठी भूमिकामें किसी तरहके प्रयत्नके बिना ही शुभ परम पुरुषार्थरूप अपने आत्माका स्फुट प्रकाश यानी सदा ही पूर्णताका अनुभव सिद्ध होता है। उसके बाद सातवीं भूमिकामें समाधि और असमाधिकी समताके कारण विषमताका अत्यन्त निरास हो जानेसे, समुद्रके भीतर विलीन सैन्धवघनके सामान, स्व-स्वरूपमें सुखैकरसतास्वरूपसे परिणमन होता है अर्थात् अपनेमें ही परमात्मभाव हो जानेसे स्वरूपनिष्ठा सिद्ध हो जाती है। इस परिणमनके तत्त्वका ब्रह्मा आदि बड़े बड़े देवता भी इयत्तारूपसे परिज्ञान नहीं कर सकते, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतियाँ हैं, यह भाव है ॥ ५५ ॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

मनसैव मनश्छित्त्वा यद्यात्मा नाऽवलोक्यते ।
ममेत्यहमिति त्यक्त्वा तत्तामरसलोचन ॥ १ ॥
नाऽस्तमेति जगद्दुःखं यथा चित्रगतो रविः ।
आयात्यापदनन्तत्वं महार्णववदातता ॥ २ ॥
पुनः पुनरुपायाति जलकल्लोलकारणम् ।
मेघनीलतमःश्यामा संसृतिप्रावृडाकुला ॥ ३ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं सुहृदोः सह्यसानौ भासविलासयोः ॥ ४ ॥

पैंसठवाँ सर्ग

[सह्याद्रि पर्वतका, वहाँ स्थित अत्रि ऋषिके आश्रमका तथा महर्षि अत्रिके आश्रममें स्थित विलास और भास नामके दो तपस्वियोंके जन्म, कर्म और शोक का वर्णन]

आत्मदर्शनके उपायोंकी उपेक्षा करने पर शोक, मोह आदि दुःखोंकी परम्परा हट नहीं सकती, इस विषयमें भास और विलासकी आख्यायिकाका अवतरण करनेवाले महर्षि वसिष्ठजी कहते हैं—'**मनसैव**' इत्यादिसे ।

वसिष्ठजीने कहा—कमलेक्षण श्रीरामचन्द्रजी, 'पुत्र आदि मेरे हैं, यह देह आदि मैं हूँ' इत्यादि अभिमानका परित्याग कर शास्त्र आदिसे संस्कृत मनसे ही संकल्पात्मक चित्तका छेदन कर यदि आत्माका साक्षात्कार नहीं किया जाय, तो चित्रमें लिखित सूर्यके समान जगत्-रूपी दुःखका कभी भी अस्त नहीं होता। प्रत्युत महान् समुद्रकी नाईं असीम संसाररूपी विपत्ति अनन्तताको प्राप्त करती ही रहती है ॥ १, २ ॥

जलके तरङ्गोंकी क्रीडाओंकी हेतु, मेघोंसे और तज्जनित नील अन्धकारोंसे श्याम तथा दुःख-कारण संसाररूपी वर्षा ऋतु बार बार आती रहती है ॥ ३ ॥

इसी विषयमें सह्याद्रिके शिखरपर रहनेवाले भास और विलास नामके दो विशुद्धात्मा मित्रोंके संवादरूपी इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं ॥ ४ ॥

अस्त्युत्सेधजिताकाशः पीठेन जितभूतलः ।
तलेन जितपातालस्त्रिलोकविजयो गिरिः ॥ ५ ॥
असङ्ख्यकुसुमापूरोऽसङ्ख्यनिर्मलनिर्झरः ।
गुह्यकारक्षितनिधिः सह्यनामाऽविषह्यभाः ॥ ६ ॥
मुक्तापटलसम्पूर्णैर्भानुभासुरभित्तिभिः ।
भासुरः काञ्चनतटैः कटैरिव सुरद्विपः ॥ ७ ॥
क्वचित्पुष्पभरासारो धातुसाराततः क्वचित् ।
क्वचित्फुल्लसरःसारो रत्नशालिशिलः क्वचित् ॥ ८ ॥
इतो रटन्निर्झरवानितः क्वणितकीचकः ।
इतो रटद्गुहावात इतः षट्पदघुङ्घुमः ॥ ९ ॥
सानौ गीतोऽप्सरोवृन्दैर्वने मृगखगारवः ।
अधित्यकायां मत्ताभ्रो गगनेषु खगारवः ॥ १० ॥

अपनी ऊँचाईसे आकाशका अतिक्रमण कर लेनेवाला, उपत्यका भागसे (तराई या पर्वतके पासकी भूमिसे) पृथ्वीका अतिक्रमण कर लेनेवाला और भूमिके भीतर प्रविष्ट मूलभागसे पातालका अतिक्रमण कर लेनेवाला तीनों लोकोंमें विजयी एक पर्वत है। उसका नाम है—सह्य, उसमें भाँति भाँतिके असंख्य फूल हैं, असंख्य निर्मल झरने बह रहे हैं, गुह्यकों (देवविशेषों) द्वारा वहाँकी धन-सम्पत्तियोंकी चारों ओरसे रक्षा की गई है, वहाँके रत्नोंकी दीप्तियोंसे मनुष्योंकी दृष्टि चकाचौंध हो जाती है। मोतियोंके समूहसे भरे तथा मानिक आदि रत्नोंकी दीप्तियोंसे प्रकाशित हो रही भित्तियोंसे युक्त सुवर्णमय नितम्ब देशसे वह गण्डस्थलसे ऐरावतकी नाईं बड़ा भला लगता है। उस पर्वत पर कहीं अनेक तरहके पुष्पोंके समूह-के-समूह मिलकर प्रवाहित हो रहे हैं, कहीं हरिताल, गैरिक आदि धातुएँ भरी पड़ी हैं, कहीं विकसित कमलोंसे सुशोभित सरोवर हैं, कहीं रत्नोंसे युक्त शिलाएँ हैं। उस पर्वतपर किसी स्थानमें झरनोंकी गुनगुनाहट हो रही है, कहीं वायुप्रवेशसे बाँसोंके मधुर शब्द हो रहे हैं, कहीं गुफाओंसे निकला वायु सनसनाहट कर रहा है, कहीं भ्रमरोंका मञ्जुल घुंघुम शब्द हो रहा है। उसके शिखरपर अप्सराएँ कहीं गान गा रही हैं, उसके वन-प्रदेशमें मृग और पक्षियोंके सुन्दर शब्द हो रहे हैं। उसके ऊपरी प्रदेशमें मत्तोंकी नाईं मेघ गर्ज रहे हैं और आकाशप्रदेशमें पक्षियोंके शब्द हो रहे हैं ॥ ५-१० ॥

विद्याधराश्रितगुहो भृङ्गगीताम्बुजाकरः ।
किरातगीतपर्यन्तः खगगीतवनद्रुमः ॥ ११ ॥
स्कन्धेषु देवैर्वलितः पादेषु वलितो नरैः ।
पाताले वलितो नागैर्जगद्गृहमिवाऽपरम् ॥ १२ ॥
कन्दरेषु श्रितः सिद्धैर्निधानैरन्तराश्रितः ।
चन्दनेषु श्रितो नागैः सिंहैः शृङ्गशिखासु च ॥ १३ ॥
पुष्पाभ्रसंवीतवपुः पुष्परेण्वभ्रपांसुलः ।
पुष्पवात्याभ्रहृद्भ्रान्तः पुष्पपादपपाण्डुरः ॥ १४ ॥
धातुधूल्यभ्रकपिलो रत्नोपलतलस्थितैः ।
मन्दारगैरिव पुरस्त्रीगणैरलमाश्रितः ॥ १५ ॥
अभ्रनीलांशुकच्छन्ना मूकरत्नविभूषणाः ।
शिलाः कनकसुन्दर्यो यत्र शृङ्गाभिसारिकाः ॥ १६ ॥

उस पर्वतकी गुफाएँ विद्याधरोंसे आश्रित हैं, जिनमें भृङ्गोंके (भ्रमरोंके) मधुर गीत हो रहे हैं, ऐसे कमलोंका वह आकर है, उसके नीचे देशमें किरात अपना निराला गीत गा रहे हैं, वनोंके वृक्षोंमें पक्षियोंका मधुर कलनाद हो रहा है। सारे संसारका मानो यह दूसरा घर है, क्योंकि उस पर्वतका ऊपरी हिस्सा देवोंसे भरा है, नीचेका हिस्सा मनुष्योंसे भरा है और पृथ्वीके भीतरका हिस्सा नागोंसे भरा है। उसकी छोटी छोटी कन्दराओंमें सिद्ध लोग रहते हैं, भीतरी भागोंमें गड़ीं अनेक निधियाँ हैं। चन्दन-वृक्षोंमें सर्प रहते हैं और शिखरोंकी चोटियोंपर सिंह रहते हैं ॥ ११-१३ ॥

उस पर्वतका शरीर नीचे गिरे हुए पुष्परूपी अभ्रोंसे आच्छादित, तत्क्षण गिरे हुए पुष्पोंकी अन्तरिक्षस्थ धूलीरूपी अभ्रसे पांसुल (धूलीमय), गिर रहे (उड़ रहे) पुष्पोंके झंझावातरूपी अभ्रसे भ्रान्त-हृदय तथा पुष्पोंके वृक्षोंसे धवलवर्ण है। वह अनेक तरहकी धातुओंकी धूलीरूपी अभ्रोंसे कपिलवर्ण और रत्नोंकी शिलाओंके ऊपर अवस्थित मन्दारवृक्षके (कल्पवृक्ष-विशेषके) ऊपर आरूढ़ सिद्ध स्त्रियोंकी नाईं मनोहर नागरिक अङ्गनाओंका चारों ओरसे आश्रय-स्थान है ॥ १४, १५ ॥

उस पर्वतमें जिन्होंने मेघरूपी नील वस्त्रोंका परिधान किया है और मूक रत्नोंको धारण करनेसे अत्यन्त शोभित हो रही हैं, ऐसी सुवर्णमयी शिलारूपी

तत्रोत्तरतटे सानौ विनम्रफलपादपे ।
रत्नपुष्करिणीजालवहन्निर्झरवारिणि ॥ १७ ॥
चूतद्रुमलतोन्मुक्तपुष्पस्तबकदन्तुरे ।
विफुल्लाङ्कोलपुन्नागनीलनीरजदिक्तटे ॥ १८ ॥
लतावितानच्छन्नार्के रत्नांशुभरभास्वरे ।
स्रवज्जम्बूरसस्यूते स्वर्लोकाह्लादकारिणि ॥ १९ ॥
ब्रह्मलोकसमः स्वर्गरम्यः शिवपुरोपमः ।
अत्रेरस्त्याश्रमः श्रीमान् सिद्धश्रमहरो महान् ॥ २० ॥
महत्यत्राऽऽश्रमे तस्मिंस्तापसौ द्वौ बभूवतुः ।
कोविदौ तु नभोमार्गे इव शुक्रबृहस्पती ॥ २१ ॥
तयोरथैकास्पदयोस्तत्राऽभूतां सुतावुभौ ।
फुल्लाङ्कुरौ शुद्धतनू सरस्यम्बुजयोरिव ॥ २२ ॥

सुन्दरियां शिखररूपी पुरुषोंका आलिङ्गन करनेके कारण अभिसारिकाएँ बनी हुई हैं ॥ १६ ॥

उस पर्वतमें उत्तर किनारेके शिखर पर—जहां फलोंसे लदे विनम्र वृक्ष हैं, रत्नमयी अनेक बावड़ियोंसे जलके झरने बह रहे हैं और जो आम्रवृक्षकी शाखाओंके द्वारा ऊपरकी ओर विस्तारित फूलोंके गुच्छोंसे दन्तुर यानी ऊँचे दांतोंसे युक्त होकर स्थित है, तथा जिसकी दिशाओंके तटोंमें विकसित अंकोलक, पुन्नाग (श्वेत कमल) और नील कमल विद्यमान हैं। जिसपर सूर्य लताओंके विस्तारसे ढक जाता है, जो रत्नोंके दीप्ति-समूहोंसे अत्यन्त प्रकाशित हो रहा है, बह रहे जम्बूरसोंसे पूर्ण है और स्वर्गस्थानकी नाईं अत्यन्त आनन्द देनेवाला है—महान्, सिद्धोंका श्रम हरनेवाला, ब्रह्मलोकके सदृश, स्वर्गकी नाईं रमणीय, शिवजीके नगरकी उपमावाला अत्यन्त सुन्दर महामुनि अत्रिका आश्रम है ॥ १७-२० ॥

उस बड़े विस्तीर्ण आश्रममें आकाश मार्गमें रहनेवाले बृहस्पति और शुक्रकी नाईं शास्त्रोंको जाननेवाले दो विद्वान् तपस्वी, जिनके नाम भी बृहस्पति और शुक्र थे, रहते थे ॥ २१ ॥

किसी समयकी बात है— वहांपर एक ही आश्रममें रहनेवाले उन दोनों

विलासभासनामानौ वृद्धिमाययतुः क्रमात् ।
तौ पित्रोः पल्लवे दीर्घे लतापादपयोरिव ॥ २३ ॥
आस्तामन्योन्यसुस्निग्धौ सुहृदौ वल्लभौ मिथः ।
तिलतैलवदाश्लिष्टौ तौ पुष्पामोदवत्स्थितौ ॥ २४ ॥
नाऽयुक्तौ पुत्रयुक्तौ तु सुरक्ताविव दम्पती ।
एकं द्वित्वमिवाऽऽपन्नं सममासीत्तयोर्मनः ॥ २५ ॥
तौ तथाऽन्योन्यमुदितौ मनोहरतराकृती ।
तस्थतुः स्वाश्रमे मौने सरोज इव षट्पदौ ॥ २६ ॥
प्रापतुर्यौवनं बाल्यमुत्सृज्य नववल्लभौ ।
कालेनाऽल्पतरेणैव चन्द्रसूर्याविवोदितौ ॥ २७ ॥

तपस्वियोंके विशुद्धस्वरूपवाले दो पुत्र ऐसे उत्पन्न हुए जैसे कि तालाबमें दो कमलोंके पौधोंमें फूलोंकी प्रकृति कलियाँ उत्पन्न होती हैं ॥ २२ ॥

उनके नाम थे—विलास और भास । पिताओंके स्थानमें ही वे दोनों क्रमशः लता और वृक्षके दीर्घ पल्लवोंकी नाईं बढ़ने लगे ॥ २३ ॥

वे दोनों एक दूसरेके प्रति अत्यन्त स्नेह रखते थे, परस्पर प्यार करते थे और मित्र थे । जैसे तिलोंमें तेल और पुष्पोंमें आमोद (सुगन्ध) एक दूसरेसे मिले जुले रहते हैं, वैसे ही वे दोनों एक दूसरेसे मिलजुल कर रहते थे ॥ २४ ॥

जैसे पुत्रके लिए मिले हुए अनुरक्त पति-पत्नी एक दूसरेसे अलग नहीं होते, वैसे ही वे दोनों कभी भी एक दूसरेसे अलग नहीं होते थे, उन दोनोंके मन समान होनेके कारण ऐसा मालूम पड़ता था कि एक ही मनने मानो दो भागोंमें बटकर दो स्वरूप धारण कर लिया है ॥ २५ ॥

अत्यन्त मनोहर शरीरवाले वे दोनों बालक कमलमें दो भ्रमरोंकी नाईं एक दूसरेसे मुदित होकर मुनियोंसे विराजित उस सुन्दर आश्रममें उसी प्रकार प्रेमयुक्त होकर निवास करते थे ॥ २६ ॥

अल्प कालमें ही बाल्य अवस्थाका अतिक्रमण कर नवीनप्रिय उन दोनोंने उदयको प्राप्त सूर्य और चन्द्रमाके समान युवावस्था प्राप्त की ॥ २७ ॥

जग्मतुर्देहमुत्सृज्य ततस्तौ पितरौ तयोः ।
स्वर्गं जरार्तावुड्डीय नीडादिव विहङ्गमौ ॥ २८ ॥
पञ्चत्वं गतयोः पित्रोर्दीनवक्त्रौ बभूवतुः ।
तप्ताङ्गौ विगतोत्साहौ पद्माविव जलोद्धृतौ ॥ २९ ॥
तत्रौर्ध्वदैहिकं कृत्वा चक्राते परिदेवनम् ।
लोकस्थितिरलङ्घ्या हि महतामपि मानद ॥ ३० ॥
कृत्वौर्ध्वदैहिकमथो व्यथयाऽभिभूतौ
शोकोत्थया करुणयाऽर्तगिरा विलप्य ।
चित्रार्पिताविव निरस्तसमस्तचेष्टौ
तौ संस्थितौ सुखमशून्यहृदौ विवृत्तौ ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे भासविलासवृत्तान्ते सह्यगिरिवर्णनं नाम पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥६५॥

तदनन्तर जैसे अपने खोतेसे उड़कर दो पक्षी अन्यत्र चले जायँ, वैसे ही वृद्धावस्थासे पीड़ित उन दोनोंके वे दोनों पिता (शुक्र और बृहस्पति) शरीरको छोड़ परलोक चले गये ॥ २८ ॥

पिताओंके मर जाने पर पानीसे निकाले गये कमलकी भाँति वे दोनों चेहरेसे दीन, शरीरसे सन्तप्त और उत्साहसे रहित हो गये ॥ २९ ॥

हे रामजी, उक्त बालकोंने अपने पिताओंकी दाह आदि क्रिया कर अत्यन्त विलाप किया, क्योंकि बड़े बड़े भी विद्वान् लौकिक स्थितिका उल्लङ्घन करनेमें असमर्थ होते हैं ॥ ३० ॥

श्रीरामजी, तदनन्तर और्ध्वदैहिक (मरणके बादकी) क्रिया कर व्यथाग्रस्त उन दोनोंने शोकसे निकली करुणापूर्ण दीन वाणीसे [पिताओंके विषयमें] अत्यन्त विलाप किया, उनकी समस्त चेष्टाएँ निकल गईं, वे मरे नहीं, पर विलापके कारण एका-एक अशून्यहृदय हो गये यानी मूर्छित हो गये और उस समय चित्रमें लिखित मनुष्योंकी नाईं उनकी स्थिति हुई ॥ ३१ ॥

पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

षट्षष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अतिशोकपराभूतौ तस्थतुर्दृढतापसौ ।
तापसंशुष्कसर्वाङ्गौ तावरण्यद्रुमाविव ॥ १ ॥
विरक्तौ विपिने कालं क्षपयामासतुर्द्विजौ ।
वियूथाविव सारङ्गावनास्थामागतौ पराम् ॥ २ ॥
जग्मुर्दिनानि मासाश्च वर्षाण्यथ तयोस्तदा ।
क्रमाद् द्वावपि संयातौ जरां श्वभ्रद्रुमाविव ॥ ३ ॥
अप्राप्तविमलज्ञानौ चिराज्जर्जरतापसौ ।
तावेकदा संघटिताविदमन्योन्यमूचतुः ॥ ४ ॥

छाछठवाँ सर्ग

[तत्त्वज्ञानसे रहित भासके वचनोंसे उसके दुःखसागरमें पर्यावर्तनका विस्तारपूर्वक वर्णन]

महामुनि श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, ग्रीष्मके प्रचण्ड घामसे तथा दावाग्निके तापसे सर्वाङ्गीण सूखे हुए अरण्यमें उत्पन्न दो वृक्षोंके समान अत्यन्त शोकसे पराजित पिताके वियोगजन्य संतापसे सर्वाङ्गीण सूखे हुए वे दोनों दृढ़ तपस्वी अवस्थित थे ॥ १ ॥

घर, खेत, धन, आदि पदार्थोंमें अत्यन्त विरक्तिको प्राप्त हुए वे दोनों ब्राह्मण, झुण्डसे अलग हुए दो मृगोंकी नाईं, अलग अलग होकर जङ्गलमें अपना अपना कालक्षेप करते थे ॥ २ ॥

तदनन्तर उसी अवस्थामें क्रमशः उनके दिन, मास और वर्ष बीतते चले और वे दोनों, गड्ढेमें उत्पन्न दो वृक्षोंकी नाईं, बूढ़ापेको प्राप्त हुए ॥ ३ ॥

बहुत समय बीत जानेपर एक समय प्रारब्धवशसे कुछ समय बिछुड़े हुए वे दोनों जरजर तपस्वी, जिन्हें विशुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था, एक दूसरेसे फिर मिल गये और परस्पर यह कहने लगे ॥ ४ ॥

विलास उवाच

जीविताग्र्यद्रुमफल हृदावासामृताम्बुधे ।
जगत्यस्मिन्महाबन्धो भास स्वागतमस्तु ते ॥ ५ ॥
एतावत्यो दिनावल्यो मद्वियोगवता त्वया ।
वद क्व क्षपिताः साधो कच्चित्ते सफलं तपः ॥ ६ ॥
कच्चित्ते विज्वरा बुद्धिः कच्चिज्जातस्त्वमात्मवान् ।
कच्चित्फलितविद्यस्त्वं कच्चित्कुशलवानसि ॥ ७ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्तवन्तं संसारसमुद्विग्नमलं तथा ।
प्राहाऽप्राप्तमहाज्ञानं सुहृत् सुहृदमादरात् ॥ ८ ॥

भास उवाच

साधो स्वागतताऽद्यैव दिष्ट्या दृष्टोऽसि मानद ।
कुशलं तु कुतोऽस्माकं संसारे तिष्ठतामिह ॥ ९ ॥

विलासने कहा—हे मेरे उत्तम जीवनरूपी वृक्षके फल, हे मेरे हृदयमें सदा सर्वदा रहनेवाले अमृतके सागर (चन्द्रमा) और हे इस जगत्के महाबन्धो भास ! आपका स्वागत हो ॥ ५ ॥

प्रियवर, मुझसे अलग होकर तुमने इतने दिन कहाँ व्यतीत किये ? यह बतलाओ । क्या तुम्हारी तपश्चर्या सफल हुई ? ॥ ६ ॥

हे साधो, क्या तुम्हारी बुद्धि संसारानलसे जनित संतापसे रहित हो गई ? क्या तुमने तत्त्वज्ञानसे आत्मा प्राप्त कर लिया ? क्या तुम्हारी विद्या सफल हो गई ? अच्छा, कहो—तुम कुशल तो हो न ? ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, उस प्रकार प्रश्न पूछनेवाले तथा संसारसे उद्विग्न हुए अपने मित्र विलासके प्रति, जिसको कि श्रेष्ठ आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था, वह मित्र (भास) अत्यन्त आदरपूर्वक वक्ष्यमाण प्रकारसे स्पष्ट कहने लगा ॥ ८ ॥

भासने कहा—हे माननीय साधु पुरुष, मेरा तो आज ही आगमन शुभ हुआ,

यावन्नाऽधिगतं ज्ञेयं यावत्क्षीणा न चित्तभूः ।
यावत्तीर्णो न संसारस्तावन्मे कुशलं कुतः ॥ १० ॥
आशा यावदशेषेण न लूनाश्चित्तसंभवाः ।
वीरुधो दात्रकेणेव तावन्नः कुशलं कुतः ॥ ११ ॥
यावन्नाऽधिगतं ज्ञानं यावन्न समतोदिता ।
यावन्नाऽभ्युदितो बोधस्तावन्नः कुशलं कुतः ॥ १२ ॥
आत्मलाभं विना साधो विना ज्ञानमहौषधम् ।
उदेति पुनरेवेयं दुःसंसृतिविषूचिका ॥ १३ ॥
शैशवाङ्कुरितोज्जृम्भान्नवयौवनपल्लवः ।
जराकुसुमितोऽभ्येति पुनः संसारदुर्द्रुमः ॥ १४ ॥

क्योंकि उत्तम भाग्यवश मुझको तुम्हारा दर्शन हो गया । पर भैया, इस दुःखमय संसारमें चक्कर काट रहे हम लोगोंकी कुशलता कैसे हो सकती है ? ॥ ९ ॥

प्रिय बन्धो, जबतक ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान नहीं हो जाता, जबतक मनमें उत्पन्न होनेवाले काम, संकल्प आदि नष्ट नहीं हो जाते और जबतक इस संसारके पार नहीं लग जाते, तबतक मैं कुशल कैसे हो सकता हूँ ? ॥ १० ॥

जैसे लताओंके बन्धन सरोते आदिसे काटे जाते हैं, वैसे ही जबतक चित्तमें उत्पन्न हुई आशाएँ पूर्णरूपसे काटी नहीं जातीं, तबतक हमें कुशलता कहाँ ? । जबतक आत्मज्ञान (शोधित 'त्वम्' और 'तत्' पदार्थका परिज्ञान) प्राप्त नहीं हो जाता, जबतक समभावका उदय नहीं हो जाता और जबतक अखण्ड-वाक्यार्थ-बोध नहीं हो जाता, तबतक हम लोगोंकी कुशलता कहाँ ?॥ ११, १२ ॥

हे साधो, आत्माकी प्राप्तिके बिना और ज्ञानरूप महान् औषधके बिना यह संसाररूपी दुष्ट महामारी पुनः पुनः उत्पन्न होती ही रहती है ॥ १३ ॥

प्रियमित्र, यह संसाररूपी दुष्ट वृक्ष—जो पहले अङ्कुरित होनेपर शैशवरूप विकास (टहनीरूपी विकास) को पाता है, तदनन्तर उसका अतिक्रमण कर यौवनरूपी पत्ते धारण करता है और तदनन्तर जरारूपी कुसुमसे कुसुमित होता है—बार बार प्राप्त होता ही रहता है ॥ १४ ॥

कायजीर्णतरोरस्माद् बान्धवाक्रन्दषट्पदा ।
जराकुसुमितोदेति पुनर्मरणमञ्जरी ॥ १५ ॥
भुक्तकर्मर्तुविरसा पुराणदिवसोम्भिता ।
नीयते नीरसप्राया पुनः संवत्सरावली ॥ १६ ॥

इस शरीररूपी जीर्ण शीर्ण वृक्षसे मरणरूपी मञ्जरी (बौर), जिसपर बान्धवोंके आक्रन्दनरूपी भ्रमरोंके गुंजार शब्द होते रहते हैं और वृद्धावस्थारूपी पुष्प लगते हैं, बार बार उत्पन्न होती रहती है ॥ १५ ॥

जिनमें कर्मोंका उपभोग किया जा चुका है, ऐसी वसन्त आदि ऋतुओंसे सारहीन, प्राचीन दिवसोंसे पूरित अतएव प्रायः नीरस यह संवत्सरोंकी परम्परा पुनः व्यर्थ ही बिताई जाती है। भाव यह है कि यदि प्राणीका दुष्ट प्रारब्ध हुआ तो उसको मरणके बाद नरक, स्थावरभाव या पशु आदि निकृष्ट योनियोंमें जन्म प्राप्त हो जाता है और यदि अच्छा प्रारब्ध हुआ तो स्वर्ग प्राप्त होता है। मरणके अनन्तर यदि नरक आदि मिले, तो वहाँपर वसन्त आदि ऋतुओंमें—जिनमें कि ठंडी, गर्मी, वायु, वर्षा, सर्प, मच्छर आदि दुःखदायी असंख्य प्रति-बन्धक भरे पड़े हैं—दुष्कृत कर्मोंका उपभोग करना ही पड़ता है, अतएव इन ऋतुओंमें सरसता कहाँ रही, इन्हींके कारण वसन्त आदि छः ऋतुओंके मिलनेपर हुआ वर्ष भी विरस ही होगा और सुतरां वर्षपरम्परा भी, इस अभिप्रायसे 'भुक्तकर्मर्तुविरसा' यह 'संवत्सरावली' का विशेषण है। अच्छे प्रारब्धसे मरणके बाद यदि स्वर्ग मिला, तो वहाँपर गया हुआ प्राणी दूसरे पुण्य का साधन करने नहीं पाता, क्योंकि स्वर्गमें केवल भोग ही भोग होता है, पुण्यका संचय नहीं होता, जो पहलेका संचित पुण्य होगा, उसका तो व्यय ही होगा। दूसरी बात यह है कि स्वर्गमें अपने अपने पुण्योंके अनुसार ऊँचे नीचे फलोंका उपभोग कर रहे दूसरे जीवोंको देखकर प्राणीको हर्ष, असूया आदि होते हैं, ऐसी स्थितिमें हर्ष, अमर्ष, असूया, काम आदि दोषोंकी अधिकतासे शम, दम आदिका अनुष्ठान न हो सकनेके कारण आत्मज्ञानकी प्राप्ति भी स्वर्गमें दुर्लभ है, अतः विषयानुरक्तिसे जिन जिन विषयोंका वहाँपर बैठकर प्रतिदिन उपभोग किया जाता है, उन सबका पहले अनेक बार उपभोग किया जा चुका है, नवीन विषय तो कोई है नहीं, अतः प्राचीनानुभूत विषयोपभोगसे दिन भी प्राचीनप्राय हुए। वर्षात्मक काल दिवसोंसे

महादरीषु　देहाद्रेस्तृष्णाकण्टकितास्वपि ।
फलव्यालासु च पुनः क्रियासु परिलुठ्यते ॥ १७ ॥
दुःखैः सुखलवाकारैर्दीर्घादीर्घैः शुभाशुभैः ।
अपर्याप्तागमापायाः प्रयान्त्यायान्ति रात्रयः ॥ १८ ॥
अयथार्थक्रियारम्भैः　कदाशावेशपल्लवैः
क्षीयते　कर्मभिस्तुच्छैरायुराहतकर्मभिः ॥ १९ ॥
उन्मूलिताश्रयालानो　मनोमत्तमतङ्गजः ।
तृष्णाकरेणुकोन्निद्रो दूरं विपरिधावति ॥ २० ॥

पूर्ण है, अतः 'एवंविध प्राचीन दिनोंसे पूरित' एतदर्थक 'पुराणदिवसोम्भिता' यह दूसरा विशेषण 'संवत्सरावली' का है ॥ १६ ॥

यदि दैवात् मरणके बाद फिर मनुष्यका शरीर मिला, उसमें भी अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मण आदिका शरीर, तो भी वर्तमान शरीरके मिलने पर केवल विषयासक्तिके कारण हो रहा भ्रमण जैसे दुर्वार है, वैसे ही उसमें भी भ्रमण दुर्वार ही होगा, इस आशयसे कहते हैं—**'महादरीषु'** इत्यादिसे ।

फल ही—विषयोपभोग ही—जिनमें भयङ्कर सर्प रहते हैं, हजारों विषयोपभोगोंकी तृष्णाएँ ही जिनमें उत्पन्न काँटे भी हैं, ऐसी देहरूपी पर्वतकी महान् भीषण गुफाओंमें यानी गुफाओंके सदृश देहस्थ छिद्रोंमें अवस्थित इन्द्रियोंकी आसक्तियोंमें तथा ऐहिक एवं आमुष्मिक भोगोंकी हेतुभूत लौकिक और वैदिक क्रियाओंमें ही जीव सदा सर्वदा लुढ़कता रहता है, अतः उसमें भी आत्मा और अनात्माके विवेककी संभावना नहीं है, यह भाव है ॥ १७ ॥

सुखका लेशमात्र आकार ही जिनमें है, ऐसे चिरकाल और अल्पकाल तक भोग्य होनेके कारण दीर्घ एवं अदीर्घ पुण्य-पापात्मक कर्मरूपी दुःखोंसे कभी समाप्त न होनेवाले आगम और अपगमसे युक्त रात्रियाँ (कालमात्र) समस्त जन्मोंमें आती और जाती रहती हैं ॥ १८ ॥

जिनके फल मिथ्या ही हैं, तथा जो कुत्सित आशाओंके आवेशसे पल्लवित हैं, ऐसे तुच्छ कर्मोंके द्वारा मिथ्या आचरण करनेवाले पुरुष अपनी आयु यों ही नष्ट कर डालते हैं ॥ १९ ॥

जनमोजनम विवेकके विरोधियोंकी प्रबलता और विवेकके सहायकोंकी दुर्बलता है, इसका सविस्तर वर्णन करते हैं—**'उन्मूलिता०'** इत्यादिसे ।

जिह्वाचपलतालग्नः कायद्रुममहालये ।
पतच्चिन्तामणौ वृद्धो गर्द्धगृध्रो विवर्धते ॥ २१ ॥
नीरसा निःसुखा लघ्वी पतत्पेलवगात्रिका ।
जीर्णपर्णसवर्णेयं क्षीयते दिवसावली ॥ २२ ॥
अवमानरजोध्वस्तमस्तंगतवपुःश्रियम् ।
मुखं धूसरतामेति हिमैः पद्ममिवाऽऽहतम् ॥ २३ ॥
शुष्यतः कायसरसः प्रगलद्यौवनाम्भसः ।
राजहंसः क्षणादायुरनिवर्ति पलायते ॥ २४ ॥
कालानिलबलोद्‌धूताज्जर्जराज्जीवितद्रुमात् ।
भोगपुष्पाणि दिवसपर्णानि निपतन्त्यधः ॥ २५ ॥

जिसने परमात्मामें बन्धनके हेतु विवेकरूपी आलानको उखाड़ फेका है और जिसने तृष्णाविषयरूपी हथनीमें कामासक्त होनेके कारण निद्रा खो दी है, ऐसा मनरूपी मदोन्मत्त हाथी दूर दूर चारों ओर दौड़ता रहता है ॥ २० ॥

जिससे परमपुरुषार्थका हेतुभूत आयूरूप चिन्तामणि तथा विवेकरूप चिन्तामणि व्यर्थ गिर रहा है, ऐसे शरीरवृक्षके ऊपर अवस्थित हृदयरूपी बड़े घोंसलेमें रहनेवाला जीभकी चंचलतामें संलग्न अत्यन्त प्राचीन स्वादु अन्न आदिके अभिलाषरूपी गीध बढ़ता ही रहता है ॥ २१ ॥

जीर्ण शीर्ण पत्तेके सदृश, रसशून्य, सुखसे वर्जित, दिवसोंसे परिच्छिन्न यह तुच्छ शरीरलता—जिसके कि अवयव श्रम, दुर्बलता, रोग आदिसे कार्यमें असमर्थ हो गये हैं—नष्ट हो जाती है ॥ २२ ॥

जैसे कुहरेसे आहत (आक्रान्त) कमल धूसर (मटमैला) हो जाता है, वैसे ही वृद्धावस्थामें पुत्र, भृत्य आदिके द्वारा जनित अपमानरूपी धूलीसे आहत, शारीरिक शोभासे वर्जित मुख धूसर हो जाता है ॥ २३ ॥

जैसे सूख रहे सरोवरसे राजहंस तत्क्षण भाग जाता है, फिर कभी नहीं लौटता, वैसे ही यौवनरूपी जल जिसमेंसे नष्ट हो रहा है, ऐसे सूख रहे शरीररूपी सरोवरसे आयु भाग जाती है, पुनः कभी नहीं लौटती ॥ २४ ॥

कालरूपी पवनके द्वारा बलपूर्वक कँपाए गये जरजर जीवनरूपी वृक्षसे भोगरूपी फूल और दिवसरूपी पत्ते नीचे गिरते जाते हैं यानी विनष्ट हो जाते हैं ॥ २५ ॥

भोगभोगिश्रितेष्वन्तर्दुःखदर्दुरधारिषु ।
मनो मोहान्धकूपेषु पूरेषु विनिमज्जति ॥ २६ ॥
नानानुरञ्जनास्पृष्टा तृष्णातरलपेलवा ।
चैत्यमग्रपताकेव दूरं समधिरोहति ॥ २७ ॥
अस्य संसारतन्त्रस्य बृहत्कालबिलास्पदः ।
जीविताशामयं तन्तुमन्तकाखुर्निकृन्तति ॥ २८ ॥
यौवनोत्कटकल्लोला वहल्लोलासिफेनिला ।
परावर्तमहावर्ता याति जीवितदुर्नदी ॥ २९ ॥
कलाकुलजगत्कार्यकल्लोलाकुलसङ्कुला ।
क्रियासरिदपर्यन्ता वहत्याकुलकोटरा ॥ ३० ॥
अनन्ता बन्धुजनतानद्यो गम्भीरकोटरे ।
अजस्रं निपतन्त्येता वितते कालसागरे ॥ ३१ ॥

जिनमें भोग ही बड़े बड़े सर्प रहते हैं और जिन्होंने आन्तर दुःखात्मक मेडकोंको धारण किया है, ऐसे मोहोंके अन्धकूपोंमें अवस्थित जल-प्रवाहोंमें मन डूबता रहता है ॥ २६ ॥

अनेक तरहके अनुरागोंमें लगी हुई यह तरल तुच्छ तृष्णा, देवमन्दिरोंके ऊपर लगी पताकाकी नाईं, ऊँची ही चढ़ी रहती है ॥ २७ ॥

इस संसाररूपी तन्त्रके (ताँतोंके) जीवनाशासे भरे आयुरूपी तन्तुको महान् कालरूपी बिलमें रहनेवाला मृत्युरूप चूहा सदा कतरता रहता है ॥ २८ ॥

जिसमें यौवन ही बड़े बड़े तरङ्ग हैं; चल रही चंचल तलवारके सदृश काम, क्रोध, द्वेष, भय आदि ही जिसमें फेन हैं तथा लोभ, तृष्णा आदिसे यत्र तत्र होनेवाले परिभ्रमण ही जिसमें बड़े बड़े आवर्त हैं, ऐसी जीवितरूपी दुष्ट नदी व्यर्थ ही जा रही है ॥ २९ ॥

शिल्प, तर्क, नीतिशास्त्र आदि कौशलोंसे व्याप्त, जगत्के व्यवहाररूप तरङ्गोंसे परिपूर्ण, क्षुब्धतारूपी कोटरोंसे युक्त यह प्रवृत्तिरूपा नदी, जिसका पारावार ही नहीं है, प्रत्येक जन्ममें ऐसे ही निरर्थक बहती रहती है ॥ ३० ॥

ये बन्धुजनोंके समूहरूपी असंख्य नदियाँ गम्भीर कोटरवाले विशाल काल-सागरमें निरन्तर गिरती रहती हैं ॥ ३१ ॥

देहरत्नशलाकेयं नाशपङ्कार्णवोदरे ।
न ज्ञायते क्व मग्नेति तात जन्मनि जन्मनि ।। ३२ ।।
चिन्ताचक्रे चिरं बद्धं कुक्रियाचारचञ्चुरम् ।
चेतो भ्रमति सामुद्रे गर्तावर्ते तृणं यथा ।। ३३ ।।
उह्यमानमनन्तेषु चेतः कार्यमहोर्मिषु ।
क्षणमेति न विश्रान्तिं चिन्ताताण्डविताशयम् ।। ३४ ।।
इदं कृतं करोमीदं करिष्यामीदमित्यलम् ।
कलनाजालवलिता मूर्च्छिता मतिपक्षिणी ।। ३५ ।।
अयं सुहृदयं शत्रुरिति द्वन्द्वमहाद्विपः ।
विनिकृन्तति मर्माणि यथा नीलोत्पलानि मे ।। ३६ ।।
चिन्तानद्या महावर्ते वीचिकानिचये चिरम् ।
क्षणादुच्छूनतामेति मनोमीनः क्षणाद्गतिः ।। ३७ ।।

हे प्रियवर, जनम जनममें भी यह नहीं जाना जाता है कि परम पुरुषार्थकी साधानभूता यह देहरूपी रत्नशलाका विनाशरूपी कीचड़से पूर्ण सागरके पेटमें किस जगह समा गई है ।। ३२ ।।

चिरकालसे चिन्तारूपी चक्रमें बँधा हुआ तथा दुष्ट क्रियाओंके अनुष्ठानमें निरत यह चित्त, समुद्रके छिद्रवाले बड़े आवर्तमें घूम रहे तृणकी नाईं, घूमता रहता है ।। ३३ ।।

असंख्य कायरूपी तरङ्गोंमें बह रहा तथा चिन्तारूपी ताण्डव-नृत्यसे युक्त चित्त क्षणभर भी विश्रान्ति नहीं पा रहा है ।। ३४ ।।

मैंने यह किया, यह करता हूँ और यह करूँगा, इस प्रकारकी कल्पनाओंके जालमें फँसकर मतिरूपा पक्षिणी अत्यन्त मोहित हो जाती है ।। ३५ ।।

मित्र, जैसे मत्त हाथी नील कमलोंका उच्छेदन कर देता है, वैसे ही यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है, इस प्रकारके द्वन्द्वरूपी मदोन्मत्त हाथी मेरे मर्म-स्थानोंका भेदन कर रहा है ।। ३६ ।।

भद्र, चिरकालिक चिन्तानदीके महान् आवर्तमें, जिसमें तरङ्गोंके समूह भरे पड़े हैं, अत्यन्त चपल मनरूपी मत्स्य क्षण भरमें ही महती वृद्धिको प्राप्त हो जाता है ।। ३७ ।।

अनात्मीयानि दुःखानि बहून्येवंविधान्ययम् ।
आत्मबुद्ध्या विचिन्वानो जनो गच्छति दीनताम् ॥ ३८ ॥

बहुविधसुखदुःखमध्यपाती
वितत जरामरणप्रवातभग्नः ।
जगदुदयगिरौ लुठञ्जनोऽयं
गतरसपर्णवदेति जर्जरत्वम् ॥ ३९ ॥

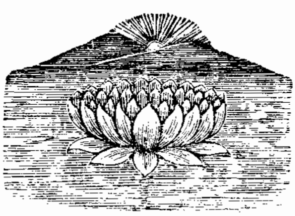
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे अनित्यताप्रतिपादनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

आत्माका तनिक भी स्पर्श नहीं करनेवाले तथा अनात्मभूत देह आदिकी ही शरण लेनेवाले उस प्रकारके असंख्य दुःखोंको देहात्मबुद्धिसे बटोर रहा पुरुष दीनताको प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

सब जन्मोंमें दुःखके स्थान अनेक हैं, यों बतला रहे महानुभाव भास प्रकृत विषयका उपसंहार करते हैं—'**बहुविध०**' इत्यादिसे ।

अनेकविध सुख और दुःखोंके बीचमें पड़ा हुआ, विशाल जरामरणरूपी आँधीसे बार बार मर्दित हुआ तथा जगत्-रूपी उदयाचल पर लोट रहा यह प्राणी सूखे पत्तेकी नाईं जरजरताको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

छाछठवाँ सर्ग समाप्त



सप्तषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं तौ कुशलप्रश्नं कृतवन्तौ परस्परम् ।
कालेनाऽऽसाद्य विमलं ज्ञानं मोक्षं ततो गतौ ॥ १ ॥
ततो वच्मि महाबाहो यथा ज्ञानेतरा गतिः ।
नाऽस्ति संसारतरणे पाशबन्धस्य चेतसः ॥ २ ॥
इदं भव्यमतेर्दुःखमनन्तमपि पेलवम् ।
कुखगस्याऽतरोऽम्भोधिः सपारिर्गोष्पदायते ॥ ३ ॥
देहातीता महात्मानश्चिन्मात्रस्वात्मनि स्थिताः ।
दूराद्देहं समीक्षन्ते प्रेक्षको जनतामिव ॥ ४ ॥

सड़सठवाँ सर्ग

[देह और आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसका समर्थन करनेके लिए बन्धन अन्तःकरणकी आसक्तिसे होता है और अन्तःकरणकी आसक्तिके त्यागसे उसका विनाश हो जाता है, यह कथन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, उन दोनोंने उस प्रकार संसारकी असारताके विचारसे ओत प्रोत कुशल प्रश्न एक दूसरेसे किया। तदनन्तर समयसे विशुद्ध ज्ञान पाकर वे दोनों मुक्त हो गये ॥ १ ॥

हे महाबाहो, इसलिए मैं कहता हूँ कि जालके समान बन्धनके हेतुओंसे परिपूर्ण चित्तको संसार-तरणमें यथार्थ आत्मज्ञानके सिवा और दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ २ ॥

जैसे साधारण तुच्छ पक्षीके लिए दुस्तर सागर गरुडजीके लिए गायके खुरमात्रके समान है, वैसे ही पहले जिस दुःखका वर्णन किया जा चुका है, वह यद्यपि असीम है, तथापि भव्यमति (विवेकी) पुरुषके लिए वह अत्यन्त कोमल है यानी वह उसका उच्छेद अनायास कर सकता है ॥ ३ ॥

स्थूल और सूक्ष्म दो देहोंमें होनेवाले अभिमानका परित्याग ही संसारके उच्छेदका उपाय है, इस आशयसे कहते हैं—'देहातीता' इत्यादिसे।

जैसे तटस्थ दर्शक पुरुष दूरसे ही जनसमूहको देखता है, वैसे ही देहा-

देहे दुःखातिसंक्षुब्धे का नः क्षतिरुपस्थिता ।
रथे विधुरिते भग्ने सारथेः केव खण्डना ॥ ५ ॥
मनसि क्षुब्धतां याते चित्त्वस्याऽङ्ग किमागतम् ।
तरङ्गजलसन्ताने वैपरीत्यं किमम्बुधेः ॥ ६ ॥
केऽभवन् पयसां हंसाः पयसामुपलाश्च के ।
काः शिलाः किल दारूणां के भोगाः परमात्मनः ॥ ७ ॥
सम्बन्धः क इव श्रीमन् शैलापरसमुद्रयोः ।
अन्तरे गिरिसम्बाधे कश्च चित्त्वबन्धयोः ॥ ८ ॥
अप्युत्सङ्गोह्यमानानि पद्मानि सरिदम्भसाम् ।
कानि नाम भवन्तीह शरीराणि तथाऽऽत्मनः ॥ ९ ॥

भिमानसे रहित, चिन्मात्रस्वरूप अपनी आत्मामें निष्ठा रखनेवाले महात्मा लोग दूरसे ही देहको देखते रहते हैं ॥ ४ ॥

भले ही देह दुखोंसे अत्यन्त क्षुब्ध हो जाय, उससे हमें (आत्मामें) कौनसी क्षति पहुँची । रथके धुरारहित होनेपर या टुट जानेपर सारथियोंको कौनसी क्षति पहुँचती है ॥ ५ ॥

हे श्रीरामजी, मनके क्षुब्ध हो जानेपर चित्स्वभाव आत्माके पूर्णत्व-स्वरूपमें क्या क्षति हुई ? क्या तरङ्गोंके रूपमें जलका विस्तार हो जानेपर पूर्णस्वभाव समुद्रमें वैपरित्य यानी पूर्णतास्वरूपकी हानि पहुँचती है ॥ ६ ॥

अहन्ताका त्याग होनेपर किसीको भी कहीं पर भी ममताकी प्राप्ती नहीं होती, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'केऽभवन्'** इत्यादिसे ।

भला बतलाइये कि हंस जलके कौन और पाषाण जलके कौन होते हैं और शिलाएँ काष्ठोंकी कौन होती हैं ? अर्थात् कोई नहीं होती, वैसे ही भोग परमात्माके कौन होते हैं ? अर्थात् अचेतन और असङ्ग चितिमें कभी भी ममता नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ ७ ॥

श्रीरामजी, जिस प्रकार बीच बीचमें अनेक पर्वतोंसे व्याप्त होनेपर भी उत्तर पर्वत और दक्षिण समुद्रका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही परमात्मा और संसारका भी परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है । क्या कहीं आकाश रज्जूसे बाँधा जा सकता है ? ॥ ८ ॥

अपनी गोदमें धारण किये गये भी कमल जलके कौन होते हैं ? अर्थात् जैसे कोई नहीं हैं, वैसे ही यहाँ आत्माके शरीर भी कोई नहीं हैं ॥ ९ ॥

संघट्टात् काष्ठपयसोर्यथोत्तुङ्गाः कणादयः ।
देहात्मनोः समायोगात् तथैताश्चित्तवृत्तयः ॥ १० ॥
सम्बन्धाद् दारुपयसां प्रतिबिम्बानि दारुणः ।
यथा पयसि लक्ष्यन्ते शरीराणि तथाऽऽत्मनि ॥ ११ ॥
यथा दर्पणवीच्यादौ प्रतिबिम्बानि वस्तुतः ।
नाऽसत्यानि च सत्यानि शरीराणि तथाऽऽत्मनः ॥ १२ ॥
दारुवार्युपलास्फोटे दुःखिता न यथा क्वचित् ।
संयुक्तेषु वियुक्तेषु न तथा पञ्चसु क्षतिः ॥ १३ ॥
दारुसंश्लेषितात्तोयात् कम्पशब्दादयो यथा ।
प्रजायन्ते तथैवाऽस्माद्देहाच्चित्परिबोधितात् ॥ १४ ॥

जैसे काठ और जलके अन्योन्य आघातसे बड़े बड़े उत्तुङ्ग कण आदि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही देह और आत्माके तादात्म्याध्याससे सुख, दुःख आदि चित्तकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ॥ १० ॥

आत्माका देहके साथ सम्बन्ध आध्यासिक है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—**'सम्बन्धात्'** इत्यादिसे ।

जैसे जल और काष्ठके केवल सान्निध्यसे ही जलमें काठके प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं, वैसे ही (अध्यासिक सम्बन्धसे) आत्मामें शरीर दिखाई देते हैं ॥ ११ ॥

जैसे दर्पण, तरङ्ग आदिमें पड़े हुए प्रतिबिम्ब वास्तवमें न सत्य हैं और न असत्य हैं, किन्तु अनिर्वचनीय हैं, वैसे ही आत्मामें प्रतीयमान शरीर भी न सत्य हैं और न असत्य हैं, किन्तु अनिर्वचनीय हैं ॥ १२ ॥

जैसे परस्पर आहत होनेपर काठ, जल और पत्थर कभी भी दुःखित नहीं होते, वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशरूपी पाँच भूतोंके, जो देह आदिके स्वरूपमें परिणत हुए हैं, कोड़ा, चन्दन आदिसे संयुक्त अथवा स्त्री, पुत्र आदिसे वियुक्त होने पर कभी भी दुःखित नहीं होते ॥ १३ ॥

जैसे काठके साथ सम्बन्धको प्राप्त जलसे कम्प, शब्द आदि क्रियाओंकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही सामीप्य संसर्गसे चैतन्यके द्वारा अधिष्ठित होकर चारों ओरसे बोधित इस देहसे कम्प, शब्द आदि क्रियाएँ होती हैं ॥ १४ ॥

न शुद्धजडयोरेताः संविदश्चिच्छरीरयोः ।
एता ह्यज्ञानमात्रस्य तस्मिन्नष्टे चिदेव नः ॥ १५ ॥
यथा न कस्यचिद् वारिदारुश्लेषेऽनुभूतयः ।
तथा न कस्यचिद् देहदेहिसङ्गेऽनुभूतयः ॥ १६ ॥
अज्ञस्याऽयं यथा दृष्टः संसारः सत्यतां गतः ।
न ज्ञस्याऽयं यथाभूतः संसारः सत्यतां गतः ॥ १७ ॥
अन्तःसङ्गविहीनास्तु यथा स्नेहा दृषज्जले ।
तथाऽसक्तमनोवृत्तौ बाह्यभोगानुभूतयः ॥ १८ ॥

भासमान सुख, दुःख आदिके अनुभव किसको होते हैं? इस शङ्कापर किसीको नहीं होते, ऐसा समाधान कहते हैं—**'न शुद्ध०'** इत्यादिसे ।

शुद्ध चैतन्य और जड़ देहको ये सुख, दुःख आदिके अनुभव नहीं होते, किन्तु केवल अज्ञानको ही होते हैं, जब अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब हम लोगोंकी केवल शुद्ध चिति ही अवशिष्ट रह जाती है ॥ १५ ॥

जैसे काठ और जलका सम्पर्क होनेपर उनमें से किसीको सुख और दुःखका अनुभव नहीं होता, वैसे ही देह और देहाभिमानी आत्माका सम्बन्ध होनेपर उनमें से किसीको भी सुख, दुःख आदिका अनुभव नहीं होता है ॥ १६ ॥

तब तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ दोनोंमें समानता ही रही, इस पर कहते हैं—**'अज्ञस्याऽयम्'** इत्यादिसे ।

अज्ञानी पुरुष जिस रूपसे इस संसारको देखता है, उसको उस रूपसे सत्य ही मान लेता है और ज्ञानी पुरुष जिस रूपसे इस संसारको देखता है उसको उस रूपसे सत्य नहीं मानता ॥ १७ ॥

तब ज्ञानी पुरुषको अपने प्रारब्धके अनुसार होनेवाले भोगानुभव किस तरहके रहते हैं? इस पर कहते हैं—**'अन्तःसङ्ग०'** इत्यादिसे ।

जैसे पत्थर और जलके सम्बन्ध भीतरके अनुप्रवेशसे वर्जित होते हैं, यानी जलके भीतर न पत्थरका प्रवेश होता है और न पत्थरके भीतर जलका प्रवेश होता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुषको आसक्तिवर्जित मानसिक वृत्तियोंके होनेपर जायमान बाह्य विषयोंके अनुभव भीतरी सङ्गसे (अभिमानसे) रहित होते हैं ॥ १८ ॥

अन्तःसङ्गेन रहितो यद्वत् सलिलकाष्ठयोः ।
सम्बन्धस्तद्वदेवाऽन्तरसङ्गो देहदेहिनोः ॥ १९ ॥
अन्तःसङ्गेन रहितः सम्बन्धो जलकाष्ठयोः ।
स देहदेहिनोश्चैवं प्रतिबिम्बाम्भसोस्तथा ॥ २० ॥
स्थिता सर्वत्र संवित्तिः शुद्धा संवेद्यवर्जिता ।
द्वित्वोपलाञ्छिता त्वन्या दुःसंवित्तिर्न विद्यते ॥ २१ ॥
अदुःखमेति दुःखित्वमन्तःसंवेदनात् स्फुटम् ।
स्फारो भवति वेतालो वेतालत्वेन भावितः ॥ २२ ॥

जैसे जल और काठका सम्बन्ध भीतरके सम्बन्धसे रहित होता है, वैसे ही देह और देही आत्माका सम्बन्ध भी भीतरके सम्बन्धसे (परमार्थ सम्बन्धसे) रहित होता है ॥ १९ ॥

जैसे जल और काठका तथा प्रतिबिम्ब और जलका सम्बन्ध अन्तःसङ्गसे रहित यानी तादात्म्यसम्बन्धसे शून्य होता है, वैसे ही देह और देहीका भी सम्बन्ध अन्तःसङ्गसे रहित यानी तादात्म्यसम्बन्धसे शून्य ही होता है। पूर्व श्लोकमें जल और काठका दृष्टान्त संसार्गाभावके बोधनके लिए और यहाँ तादात्म्याभावके बोधनके लिए दिया गया है, इसलिए पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिए ॥ २० ॥

शङ्का हो कि यदि सुख, दुःख आदिके ज्ञानका निषेध करते हैं, तो उनके ज्ञानको छोड़कर इस संसारमें दूसरे ज्ञानका अभाव होनेके कारण शून्यता ही प्रसक्त हो जायगी ? तो इस आशङ्का पर कहते हैं—**'स्थिता'** इत्यादिसे ।

वेद्य विषयोंसे रहित शुद्ध संवेदन ही सर्वत्र अवस्थित है, द्वैतसे कलङ्कित दूसरी तो संवित्ति है ही नहीं, क्योंकि द्वैत विषयका निरूपण ही नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

जो असत् है, उसका भी भ्रान्तिवश अस्तित्वरूपसे भान होता है, यह कहते हैं—**'अदुःख०'** इत्यादिसे ।

जैसे वेतालरूपसे भावना करनेपर अवेताल भी वस्तु विशाल वेताल स्वरूप हो जाती है, वैसे ही दुःखशून्य चैतन्यरूप आत्मा भी अन्तःकरणमें दुःखभावना करनेसे स्पष्ट दुःखित्वरूपसे भासने लगता है ॥ २२ ॥

असम्बन्धोऽपि सम्बन्धो भवत्यन्तर्विनिश्चयात् ।
स्वप्नाङ्गनासुरतवत् स्थाणुवेतालसङ्गवत् ॥ २३ ॥
असत्प्रायो हि सम्बन्धो यथा सलिलकाष्ठयोः ।
तथैव मिथ्यासम्बन्धः शरीरपरमात्मनोः ॥ २४ ॥
अन्तःसङ्गं विना नाऽम्बु काष्ठपातैः प्रगृह्यते ।
आत्माऽङ्गसङ्गरहितो देहदुःखैर्न दह्यते ॥ २५ ॥
देहभावनयैवाऽऽत्मा देहदुःखवशे स्थितः ।
तत्त्यागेन ततो मुक्तो भवतीति विदुर्बुधाः ॥ २६ ॥
अन्तःसङ्गविहीनत्वाद्दुःखवन्त्यङ्ग नो यथा ।
पत्राम्बुमलदारूणि श्लिष्टान्यपि परस्परम् ॥ २७ ॥
अन्तःसङ्गेन रहिता यान्ति निर्दुःखतां पराम् ।
श्लिष्टान्यपि तथैवाऽऽत्मदेहेन्द्रियमनांस्यलम् ॥ २८ ॥

जैसे वास्तवमें सम्बन्ध न होनेपर भी स्वाप्निक अङ्गनाके साथ क्रीडा आदि व्यापारमें आध्यासिक सम्बन्ध हो जाता है अथवा जैसे वेतालरूप न होनेपर भी ठूँठ अँधेरेमें आध्यासिक सम्बन्धवश वेतालरूप हो जाता है, वैसे ही आत्माके साथ वास्तवमें देह आदिका सम्बन्ध न होनेपर भी मनकी भावनासे उसके साथ देहादिका आध्यासिक सम्बन्ध हो जाता है ॥ २३ ॥

जैसे जल और काठका परस्पर सम्बन्ध असत्-प्राय (मिथ्यारूप ही) है वैसे ही शरीर और परमात्माका सम्बन्ध भी मिथ्या ही है ॥ २४ ॥

जैसे भीतरी सम्बन्धका (अहन्ताके अध्यासका) अभाव होनेके कारण काष्ठोंके पतनोंसे जल पीडित नहीं होता, वैसे ही देह आदिके अध्यासोंसे शून्य आत्मा शारीरिक दुःखोंसे पीडित नहीं होता ॥ २५ ॥

विद्वानोंका यह निश्चित मत है कि चूँकि देहमें अहंभावना करनेसे ही आत्मा देहके दुःखोंसे दुःखित है, इसलिए देहभावनाका परित्याग करनेसे ही पुरुष मुक्त हो जाता है ॥ २६ ॥

हे प्रिय श्रीरामचन्द्रजी, छोटे तालाबमें गिरे हुए पत्ते, जल, मल और काष्ठ एक दूसरेसे यद्यपि सम्बद्ध हैं, तथापि अहन्ताध्याससे रहित होनेके कारण जैसे दुःखी नहीं होते, वैसे ही आत्मा, देह, इन्द्रिय और मन एक दूसरेसे यद्यपि

अन्तःसङ्गो हि संसारे सर्वेषां राम देहिनाम् ।
जरामरणमोहानां तरूणां बीजकारणम् ॥ २९ ॥
अन्तःसंसङ्गवान् जन्तुर्मग्नः संसारसागरे ।
अन्तःसंसक्तिमुक्तस्तु तीर्णः संसारसागरात् ॥ ३० ॥
अन्तःसंसङ्गवच्चित्तं शतशाखमिवोच्यते ।
अन्तःसंसङ्गरहितं विलीनं चित्तमुच्यते ॥ ३१ ॥
भग्नस्फटिकवद्विद्धि मनः सक्तमपावनम् ।
अभग्नस्फटिकाभासमसक्तं विद्धि मे मनः ॥ ३२ ॥
असक्तं निर्मलं चित्तं मुक्तं संसार्यपि स्फुटम् ।
सक्तं तु दीर्घतपसा युक्तमप्यतिबन्धवत् ॥ ३३ ॥

पर्याप्तरूपसे सम्बद्ध हैं, तथापि अहन्ताध्यासका वास्तवमें अभाव होनेके कारण वे परमार्थतः दुःखसे रहित ही सदा सर्वदा रहते हैं ॥ २७, २८ ॥

हे श्रीरामजी, संसारमें अहन्ताध्यास ही समस्त प्राणियोंके जरा, मरण और मोह रूपी वृक्षोंका उपादान कारण यानी मूल कारण है ॥ २९ ॥

जो जीव अहन्ताध्याससे युक्त है, वह इस संसाररूपी सागरमें डूबा हुआ है और जो अहन्ताध्याससे निर्मुक्त है, वह संसाररूपी सागरसे पार हो चुका है ॥ ३० ॥

अहन्ताध्याससे युक्त मन, काम आदि वृत्तियोंकी असंख्यताके कारण, अनन्त शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त वृक्षके सदृश कहा जाता है और अहन्ताध्याससे वर्जित मन विलीन चित्त कहा जाता है ॥ ३१ ॥

श्रीरामजी, आप मुझसे यह जान लीजिए कि जैसे भीतरसे खण्डित हुए स्फटिक-निर्मित लिङ्ग आदि पूजाके लिए अपावन यानी अयोग्य हो जाते हैं, वैसे ही विषयासक्त हुआ यह मन अपवित्र हो जाता है और जैसे खण्डित न हुए स्फटिक आदिसे निर्मित लिङ्ग आदि पवित्र रहते हैं, वैसे ही विषयोंमें आसक्तिसे वर्जित यह मन सदा सर्वदा पवित्र ही रहता है ॥ ३२ ॥

विषयोंकी आसक्तिसे वर्जित और विक्षेप आदि मलोंसे रहित चित्त संसारी होता हुआ भी निःसंशय मुक्त ही है और विषयोंमें आसक्त चित्त चिरकालिक तपश्चर्यासे युक्त होता हुआ भी अत्यन्त बन्धनसे ग्रस्त ही है ॥ ३३ ॥

अन्तःसक्तं मनो बद्धं मुक्तं सक्तिविवर्जितम् ।
अन्तःसंसक्तिरेवैकं कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ ३४ ॥
अन्तःसंसक्तिमुक्तस्य कुर्वतोऽपि न कर्तृता ।
गुणदोषवती तोये दारुवाहननौर्यथा ॥ ३५ ॥
अन्तःसंसक्तितो जन्तोरकर्तुरपि कर्तृता ।
सुखदुःखवति स्वप्ने संभ्रमोन्मुखता यथा ॥ ३६ ॥
चित्ते कर्तरि कर्तृत्वमदेहस्याऽपि विद्यते ।
स्वप्नादाविव विक्षुब्धसुखदुःखदृशोपमम् ॥ ३७ ॥
अकर्तरि मनस्यन्तरकर्तृत्वं स्फुटं भवेत् ।
शून्यचित्तो हि पुरुषः कुर्वन्नपि न चेतति ॥ ३८ ॥

अहन्ता आदि अध्याससे युक्त मन संसाररूपी बन्धनसे बँधा है और अहन्ता आदि अध्याससे रहित मन संसाररूपी बन्धनसे छुटा हुआ है, अकेला अहन्ता अध्यास ही बन्ध और मोक्षमें कारण है ॥ ३४ ॥

जैसे बड़े बड़े काष्टभारोंको पार उतारनेवाली जलस्थ नौका स्वयं लकड़ीकी होती हुई भी लकड़ीके छेदन, भेदन, दहन आदि गुण-दोषोंसे तथा जलके चलन, परिवर्तन, निर्मलपन, गन्देपन आदि गुण-दोषोंसे गुण-दोषवती नहीं होती, वैसे ही अहन्ता आदि अध्याससे निर्मुक्त पुरुष, शरीरयात्रार्थ सब कुछ करता हुआ भी, कर्ता नहीं होता ॥ ३५ ॥

जैसे स्वप्नमें, जो सुख और दुःख दोनोंसे भरा है, वास्तवमें कुछ न रहनेपर भी स्वप्नावस्थायुक्त जीवको बाघ आदिसे जनित भय, पलायन आदिमें व्याकुलता हो जाती है, वैसे ही वास्तवमें कर्ता न होनेपर भी जीव अहन्ता आदिके अध्यासवश कर्ता हो जाता है ॥ ३६ ॥

जैसे स्वप्नावस्थामें देहकी चेष्टा न होनेपर भी चित्तकी कर्तृतासे आत्मामें कर्तृत्व विद्यमान है, वैसे ही पुत्र, भृत्य आदिको देख रहे जाग्रदवस्थायुक्त आत्मामें देहकी चेष्टा न होनेपर भी स्पष्टरूपसे चित्तकी कर्तृतासे कर्तृत्व विद्यमान है; यह कर्तृत्व भी मुख्य कर्तृत्वके सदृश ही एक तरहसे है, क्योंकि विक्षुब्धको (चञ्चल चित्तको) सुख दुःख देखे जाते हैं ॥ ३७ ॥

मनके कर्तृत्व न होनेपर आत्माका अकर्तापन स्पष्टरूपसे सिद्ध हो जाता है, क्योंकि शून्यचित्त पुरुष कर्ता होते हुए भी अभिमान नहीं करता ॥ ३८ ॥

चेतसा कृतमाप्नोषि चेतसा न कृतं तु न ।
न क्वचित्कारणं देहो न च चित्ते न कर्तृता ॥ ३९ ॥
असंसक्तमकर्त्रैव कुर्वदेव मनो विदुः ।
न कर्मफलभोक्तृत्वमसक्तं प्रतिपद्यते ॥ ४० ॥
ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यामसंसक्तो न लिप्यते ।
दूरस्थकान्तासंलीनमनाः कार्यैरिवाऽग्रगैः ॥ ४१ ॥
अन्तःसंसक्तिनिर्मुक्तो जीवो मधुरवृत्तिमान् ।
बहिः कुर्वन्नकुर्वन्वा कर्ता भोक्ता नहि क्वचित् ॥ ४२ ॥
अन्तःसंसक्तिमुक्तं यन्मनः स्यात्तदकर्तृकम् ।
तद्विमुक्तं प्रशान्तं तत्तद्युक्तं तदलेपकम् ॥ ४३ ॥

श्रीरामजी, चित्तसे जो किया गया है, उसीका आप फल पाते हैं और चित्तसे जो नहीं किया गया है, उसका फल नहीं पाते हैं । देह कहीं कर्मके प्रति कारण नहीं है, क्योंकि चित्तमें कर्तृत्वशक्ति नहीं है, यह बात नहीं है, अतएव चित्तकी कर्तृत्वशक्तिसे ही सब कर्मोंकी स्थिति हो जायगी, फिर देहमें कर्तृत्व माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ३९ ॥

यद्यपि मन भले ही कुछ करे, तथापि यदि वह उसमें आसक्त नहीं है, तो वह अकर्ताके सदृश ही है । आसक्तिवर्जित मन कर्मोंके फलोंका भोक्ता नहीं होता, यों तत्त्वज्ञ महानुभाव कहते हैं ॥ ४० ॥

दूर देशमें अवस्थित कान्तामें जिस पुरुषका मन आसक्त है, वह पुरुष जैसे सामनेके कार्योंसे (शीत, उष्ण आदिके अनुभवरूप कार्योंसे) लिप्त नहीं होता, वैसे ही आसक्तिवर्जित पुरुष ब्रह्महत्या, अश्वमेध आदिके पुण्य-पापोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ४१ ॥

अहन्ता आदि अनात्म अध्यासोंसे विनिर्मुक्त जीव विक्षेपोंसे शून्य सुखोंका पूर्ण अनुभव करता है । वह बाहरसे कुछ करे या कुछ न करे, पर सर्वथा कर्तृता और भोक्तृतासे रहित ही है ॥ ४२ ॥

आसक्तिका त्याग करनेसे ही सभी जीवन्मुक्त पुरुषके गुण मनमें सिद्ध हो जाते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'**अन्तःसंसक्ति०**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, जो अन्तःकरण भीतरी आसक्तियोंसे शून्य होगा, वह न कर्ता

तस्मात्सर्वपदार्थानां श्लिष्टानां निश्चितं बहिः ।
सर्वदुःखकरीं क्रूरामन्तःसक्तिं विवर्जयेत् ॥ ४४ ॥

विरहितमलमन्तःसङ्गदोषेण चेतः
शममुपगतमाद्यं व्योमवन्निर्मलाभम् ।
सकलमलविमुक्तेनाऽऽत्मनैकत्वमेति
स्थिरमणिनिभमम्भोवारिणीवारिनीले ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे अन्तःसंसङ्गविचारो नाम सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

होगा, न बद्ध होगा, न अयुक्त होगा और न लिप्त होगा अर्थात् अकर्ता, विमुक्त, प्रशान्त, युक्त और अलिप्त ही होगा ॥ ४३ ॥

उपसंहार करते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, इससे सबके भीतर रहनेवाले आत्मासे भिन्न बाहरसे लगे हुए पाँच कोशोंका तथा भोग्यवर्गरूप बन्धनमें डालनेवाले समस्त पदार्थोंका निरास करनेमें यही एक मुख्य उपाय निश्चित हुआ कि अखिल दुःखोंको देनेवाली क्रूर आसक्तिका परित्याग करना चाहिए यानी इतने विचारसे यही निश्चित हुआ—आसक्तिपरित्याग ही बन्धनके निरासमें हेतु है, यह तात्पर्य है ॥ ४४ ॥

हे राघव, तीखी धारवाले तलवार आदि शस्त्रके समान नीले यमुनाजलमें मिलित हुआ स्फटिक मणिकी नाईं अतिस्वच्छ गङ्गाजल जैसे (उसके साथ) एकरूपताको प्राप्त हो जाता है; वैसे ही आसक्ति दोषसे रहित, अतएव संसारदशासे प्राक्तन प्रत्यक्-तत्त्वको, जो आकाशके समान निर्मलकान्तिवाला है, प्राप्त हुआ मन समस्त प्रपञ्चोपशमरूप मलोंसे शून्य परमात्माके साथ एकरूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

अष्टषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

कीदृशो भगवन् सङ्गः कथं बन्धाय वा नृणाम् ।
कश्च मोक्षाय कथितः कथं वैष चिकित्स्यते ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

देहदेहिविभागैकपरित्यागेन भावनात् ।
देहमात्रे तु विश्वासः सङ्गो बन्धार्ह उच्यते ॥ २ ॥
अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य सपर्यन्तत्वनिश्चये ।
यत्सुखार्थित्वमन्तः स सङ्गो बन्धार्ह उच्यते ॥ ३ ॥

अड़सठवाँ सर्ग

[संसक्ति और असंसक्तिके लक्षण, वन्ध्यावन्ध्याविभाग तथा फल का वर्णन]

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, सङ्ग किस प्रकारसे होता है ? किस तरहका सङ्ग मनुष्योंको बन्धनमें डालता है ? कैसा सङ्ग मोक्षका कारण हैं ? और सङ्गकी विचिकित्सा (निवृत्ति) कैसे की जा सकती है ? ॥ १ ॥

वसिष्ठजीने कहा—भद्र, शरीर (क्षेत्र) और शरीरिका (क्षेत्रज्ञ आत्माका) जो विभाग है यानी शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है, यों जो उनकी विरुद्ध स्वभावता है, उसका भली प्रकार केवल पर्य्यालोचन न करने से ही एक दूसरेमें एक दूसरेका तादात्म्य और एक दूसरेमें एक दूसरेके धर्मोंका विनिमय होता है। इसी विनिमयभावनासे शरीरमें उत्पन्न हुआ जो आत्माभिमान है, यही सङ्ग कहलाता है और इसी सङ्गसे संसाररूपी बन्धन उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

सङ्गके अन्यान्य लक्षण कहते हैं—'**अनन्त०**' इत्यादिसे ।

आत्माका स्वरूप असीम है यानी उसका कालसे, देशसे और वस्तुसे किसी तरह परिच्छेद नहीं हो सकता, अज्ञानवश उसमें उक्त त्रिविध परिच्छिन्नताका निश्चय हो जाने पर जीवको अपनी अपरिच्छिन्नसुखस्वभावताका विस्मरण हो

सर्वमात्मेदमखिलं किं वाञ्छामि त्यजामि किम्।
इत्यसङ्गस्थितिं विद्धि जीवन्मुक्ततनुस्थितिम् ॥ ४ ॥
नाऽहमस्मि न चाऽन्योऽस्ति मा भवन्तु भवन्तु वा।
सुखान्यसक्त इत्यन्तः कथ्यते मुक्तिभाङ् नरः ॥ ५ ॥
नाऽभिनन्दति नैष्कर्म्यं न कर्मस्वनुषज्जते।
सुसमो यः फलत्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ ६ ॥
आत्मतत्त्वैकनिष्ठस्य हर्षामर्षवशं मनः।
यस्य नाऽऽयात्यसक्तोऽसौ जीवन्मुक्तः स कथ्यते ॥ ७ ॥

जाता है, इस प्रकारके उक्त विस्मरणसे इधर उधरके तुच्छ विषयोंसे वह आभ्यन्तर सुख चाहने लगता है, अतः जो वैषयिक सुखार्थिता है, यही बन्धनकी हेतु सङ्ग कहलाती है ॥ ३ ॥

बन्धनहेतु आसक्तिकी विरोधिनी असङ्ग स्थितिका लक्षण करते हैं— 'सर्व०' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, यह दिखाई दे रहा समस्त प्रपञ्च आत्मस्वरूप है, इसलिए मैं उसमेंसे किसको चाहूँ और किसको छोड़ दूँ, इस प्रकारकी परिपक्व विचारणासे जनित जीवन्मुक्तके शरीरकी जो अवस्था है, उसे आप असङ्ग-स्थिति जानिए ॥ ४ ॥

मैं अहङ्कारसे परिच्छिन्न (स्वल्पताको प्राप्त) नहीं हूँ, मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं है, इसलिए मिथ्याभूत शरीरमें विषयोंसे जनित सुख हों चाहें न हों, मैं तो देहादिकके साथ कभी सङ्गको प्राप्त न होनेवाले स्वभावसे युक्त हूँ, इस प्रकार जिसका भीतरसे दृढ निश्चय है, वह मनुष्य मुक्तिका अधिकारी कहलाता है ॥ ५ ॥

हे श्रीरामजी, जो अपने सर्वकर्मत्यागकी यत्र तत्र बड़ाई नहीं करता, जो फलके उद्देशसे कर्मोंमें अभिनिवेश नहीं करता, जो फलकी सिद्धि और असिद्धिमें सदा एक-सा रहता है और जो ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्मफलोंका परित्याग कर देता है, वही पुरुष असंसक्त कहलाता है ॥ ६ ॥

सदा सर्वदा केवल आत्मस्वरूपमें निष्ठा रखनेवाले जिस महात्माका अन्तःकरण

सर्वकर्मफलादीनां मनसैव न कर्मणा ।
निपुणं यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ ८ ॥
असंसङ्गेन सकलाश्चेष्टा नानाविजृम्भिताः ।
चिकित्सिता भवन्तीह श्रेयः संपादयन्ति च ॥ ९ ॥
संसक्तिवशतः सर्वे वितता दुःखराशयः ।
प्रयान्ति शतशाखत्वं श्वभ्रकण्टकवृक्षवत् ॥ १० ॥
रज्जुकृष्टघनघ्राणो यदृत्या पथि गर्दभः ।
भारं वहति भीतात्मा तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ ११ ॥

हर्ष और क्रोधके वशमें नहीं होता, वही लोकमें असक्त और जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ७ ॥

जो पुरुष अत्यन्त कुशलतापूर्वक सम्पूर्ण कर्म और तज्जनित फल आदिका केवल मनसे ही, न कि कर्मसे, परित्याग करता है, वह असंसक्त कहलाता है। साधारण लोगोंको अच्छे अच्छे कर्मोंमें प्रवृत्त करानेके लिए बाहरसे तो यह कर्म आदिका अनुष्ठान करता रहता है, पर भीतरसे उनमें आसक्ति नहीं रखता, यह 'न कर्मणा' इस वाक्यसे बतलाया ॥ ८ ॥

तीन प्रश्नोंका समाधान कर चतुर्थ प्रश्नका समाधान करते हैं—**'असंसङ्गेन'** इत्यादिसे ।

हे राघव, संसक्तिके अभावसे अनेक तरहके फलानुरागों द्वारा उत्पन्न हुई निखिल दुष्ट चेष्टाएँ विनष्ट हो जाती हैं और श्रवण आदि शुभ चेष्टाएँ निर्विघ्नतापूर्वक कल्याणका सम्पादन करती रहती हैं ॥ ९ ॥

अब आसक्तिसे होनेवाले परिणामोंका विस्तारपूर्वक निरूपण करते हैं—**'संसक्ति०'** इत्यदिसे ।

भद्र, आसक्तिसे विस्तारको प्राप्त हुई समस्त दुःखराशियाँ गड्ढेमें उत्पन्न काँटेवाले वृक्षोंकी नाईं हजारों शाखा-प्रशाखाओंमें फैल जाती हैं ॥ १० ॥

नाथसे खींचा गया है घना नाक जिसका, ऐसा गदहा भीतात्मा होकर जो अपनी गतिसे मार्गमें भार ढोता है, वह आसक्तिके फलका ही एक विस्तार है। किसी देशमें गदहेको भी नाथ लगाते हैं। अथवा 'गर्दभ' शब्दको बैल आदि भारवाहक ग्राम्य पशुओंमें उपलक्षण मान लेना चाहिए ॥ ११ ॥

शीतवातातपक्लेशमेकदेशनिषण्णया ।
तरुर्वहति यत्तन्वा तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १२ ॥
धराविवरनिर्मग्नो यत्कीटः पीडिताङ्गकः ।
क्षिणोति विकलः कालं तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १३ ॥
क्षुत्क्षामकुक्षिः क्षपयत्यायुर्व्याघातभीरुधीः ।
पक्षी वृक्षशिखाशायी तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १४ ॥
दूर्वाङ्कुरतृणाहारः किरातशरपीडया ।
जहाति यन्मृगो देहं तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १५ ॥
कृमिकीटत्वमायान्ति जायमानाः पुनः पुनः ।
यदिमा जनता जीर्णास्तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १६ ॥

वृक्ष एक स्थानमें चुपचाप खड़ा होकर अपने स्थावर शरीरसे ठंड, वायु और आतपके क्लेशको जो सहता (अनुभवता) रहता है, वह भी आसक्तिके फलका ही विस्तार है ॥ १२ ॥

भूमिके बिलमें पड़ा हुआ अतएव अपने अङ्गोंमें पीडाका अनुभव कर रहा बेचैन कीट जो काल काट रहा है, वह भी आसक्ति फलका विस्तार है ॥ १३ ॥

क्षुधासे जिसकी काँख कृश हो गई है तथा जिसकी बुद्धि बाण, पत्थर, मिट्टीके ढेले आदिके अभिघातसे भयग्रस्त हो गई है, ऐसा वृक्षकी शाखाओं पर शयन कर रहा पक्षी अपनी आयुको जो खपाता है, वह आसक्तिके फलका विस्तार है ॥ १४ ॥

दूब, कोंपोलों और तिनकों का आहार करनेवाला मृग भिल्लोंके बाणोंकी पीड़ासे अपनी देहको जो छोड़ देता है, वह भी आसक्तिके फलका विस्तार है ॥ १५ ॥

पुण्य और पापके अधिकारी ये जन-समूह ध्वस्त-विध्वस्त होकर बार बार जन्म धारण कर रहे कृमि और कीट भावको जो प्राप्त होते हैं, वह संसृतिके फलका विस्तार है ॥ १६ ॥

उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते तरङ्गिणि तरङ्गवत् ।
भूतानि यदनन्तानि तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १७ ॥

वीरुत्तृणदशां याता म्रियन्ते यत्पुनः पुनः ।
नरा विगतसंचारास्तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १८ ॥

रसातलरसायोगात् तृणगुल्मलतादयः ।
जनयन्ति यदाकारं तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ १९ ॥

स्वानर्थान्तरसंकाशपदार्थशतसंकुला ।
यत्संसारनदी मत्ता तत्संसक्तिविजृम्भितम् ॥ २० ॥

संसक्तिर्द्विविधा प्रोक्ता वन्द्या वन्ध्या च राघव ।
वन्ध्या सर्वत्र मूढानां वन्द्या तत्त्वविदां निजा ॥ २१ ॥

जलाशयमें तरङ्गोंकी नाईं ये असङ्ख्य भूत (प्राणी) उत्पन्न हो होकर जो विलीन हो जाते हैं, वह भी संसक्तिके फलका विस्तार है ॥ १७ ॥

लता और तिनकोंके समान शक्तिहीन दशाको प्राप्त अतएव चलने-फिरनेकी शक्तिसे शून्य मनुष्य पुनः पुनः जो मर जाते हैं, वह संसक्तिके फलका विस्तार है ॥ १८ ॥

भूमिके अन्दर स्थित जलको अपने अपने मूलोंसे पीकर तृण, गुल्म, लता आदि अपने अपने विजातीय स्वरूपको जो उत्पन्न करते हैं, वह भी संसक्तिके फलका विस्तार है ॥ १९ ॥

अपनी अनर्थ परम्पराओंके अनुरूप वियोग, भ्रान्ति, पतन आदि हजारों विक्षेपोंके हेतु असंख्य बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंसे परिपूर्ण यह संसाररूपी नदी जो बढ़ने पाई है, वह भी संसक्तिके फलका विस्तार है ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी, आसक्ति दो प्रकारकी कही गई है—एक वन्द्या यानी प्रशस्त और दूसरी वन्ध्या यानी पुरुषार्थ फलसे शून्य । इनमें पहली वन्द्या आसक्ति खुद तत्त्वज्ञ महात्माओंकी है और दूसरी वन्ध्या सर्वत्र प्रसिद्ध समस्त अज्ञानियों-की है ॥ २१ ॥

आत्मतत्त्वावबोधेन हीना देहादिवस्तुजा ।
भूयः संसारसक्तिर्या दृढा वन्ध्येति कथ्यते ॥ २२ ॥

आत्मतत्त्वावबोधेन सत्यभूतविवेकजा ।
वन्द्या हि कथ्यते सक्तिर्भूयःसंसारवर्जिता ॥ २३ ॥

शङ्खचक्रगदाहस्तो देवो विविधयेहया ।
वन्द्यसंसक्तिवशतः परिपाति जगत्रयम् ॥ २४ ॥

अनारतं निरालम्बं व्योमवर्त्मनि पान्थताम् ।
वन्द्यसंसक्तिवशतः करोति रविरन्वहम् ॥ २५ ॥

महाकल्पसमाधानचिरकल्पितकल्पनम् ।
वन्द्यसंसक्तिवशतो ब्राह्मं स्फुरति वै वपुः ॥ २६ ॥

आत्मतत्त्वज्ञानसे रहित, देह आदि असत्य वस्तुओंसे जनित जो अत्यन्त दृढ़ यानी चिरकालसे भावित पुनः पुनः संसारमें आसक्ति है, वह वन्ध्या आसक्ति कही जाती है ॥ २२ ॥

आत्माके स्वरूपज्ञानरूप हेतुके द्वारा यथार्थ और अयथार्थ वस्तुके (नित्या-नित्य वस्तुके) विवेकसे उत्पन्न हुई, अबाध्य आत्मतत्त्वका अवलम्बन करनेवाली जो पुनःसंसारसे शून्य आसक्ति है, वह वन्द्या आसक्ति कही जाती है ॥ २३ ॥

सर्वोत्कर्षत्वकी सम्पादक यही वन्द्य आसक्ति है, ऐसा कहते हैं—**'शङ्खचक्र०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, जिनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा है, ऐसे भगवान् विष्णु इसी वन्द्य संसक्तिके प्रभावसे विविध मत्स्य आदि अवतारोंमें की गई लीलाओं द्वारा तीनों लोकोंका पालन करते हैं ॥ २४ ॥

इसी वन्द्य संसक्तिकी सामर्थ्यसे भगवान् सूर्यनारायण आकाशमार्गमें किसी प्रकारका अवलम्ब किये बिना प्रतिदिन निरन्तर संचरण किया करते हैं ॥ २५ ॥

हे राघव, जिसने प्राकृत प्रलयमें विदेह-कैवल्यरूप परम शान्तिके लिए दो परार्ध वर्ष पर्यन्त सर्ग आदिकी कल्पना की है, ऐसा हिरण्य गर्भका शरीर वन्द्य संसक्तिकी ही सामर्थ्यसे व्यवहार करता है ॥ २६ ॥

लीलया ललनालानलीनं भूतिविभूषितम् ।
वन्ध्यसंसक्तिवशतः शरीरं शाङ्करं स्थितम् ॥ २७ ॥
विज्ञानगतयः सिद्धा लोकपालास्तथेतरे ।
वन्ध्यसंसक्तिवशतस्तिष्ठन्ति जगतोऽङ्गणे ॥ २८ ॥
धत्ते शारीरयन्त्रौघमन्या भुवनसन्ततिः ।
वन्ध्यसंसक्तिवशतो जरामृतिविवर्जितम् ॥ २९ ॥
मनः पतति भोगेषु गृध्रो मांसलवेष्विव ।
वन्ध्यसंसक्तिवशतो व्यर्थया रम्यशङ्कया ॥ ३० ॥
संसक्तिवशतो वाति वायुर्भुवनकोटरे ।
पञ्चभूतानि तिष्ठन्ति वहतीयं जगत्स्थितिः ॥ ३१ ॥

केवल लीलासे गौरीरूपी आलानमें (बन्धन-स्तम्भमें) आसक्त तथा भस्मसे अत्यन्त सुशोभित महादेवजीका शरीर इसी वन्ध्या संसक्तिकी सामर्थ्यसे अवस्थित है ॥ २७ ॥

जिन्होंने आत्मतत्त्वके विज्ञानमें दृढ़ प्रतिष्ठा पाई है, ऐसे सिद्ध, लोकपाल तथा अन्यान्य देवता जो इस जगत्‌के प्राङ्गणमें स्थित रहते हैं, वह भी वन्ध्या संसक्तिकी सामर्थ्य है ॥ २८ ॥

तीन लोकोंसे भिन्न अन्यान्य भुवन (महः, जनः, तपः आदि लोकोंमें रहनेवाले तत्त्वज्ञ महात्मा लोग) मरणसे रहित शरीरके यन्त्रोंके समूहोंको जो धारण करते हैं, वह भी वन्ध्या संसक्तिकी सामर्थ्य है ॥ २९ ॥

वन्ध्य संसक्तिमें वन्ध्यात्व (निष्फलत्व) ही है, इसका उपपादन करते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

माँसके टुकड़ोंमें गीधकी नाईं विषयोंमें झूठमूठ रम्यत्वकी कल्पना कर जो मन झपटता है, वह वन्ध्या संसक्तिकी सामर्थ्य है ॥ ३० ॥

मुक्त और अमुक्त दोनोंके सारे व्यवहार संसक्तिसे ही होते हैं, यों विस्तारपूर्वक बतलाते हैं—**'संसक्ति०'** इत्यादिसे ।

संसक्तिके प्रभावसे वायु समस्त भुवनोंके कोटरोंमें बहता है, पाँच भूत अपने अपने स्वरूपमें रहते हैं और यह जगत्-स्थिति चलती है ॥ ३१ ॥

दिवि देवा भुवि नराः पाताले भोगिनोऽसुराः ।
ब्रह्माण्डोदुम्बरफले स्फुरन्मशकवत्स्थिताः ॥ ३२ ॥
जायन्ते च म्रियन्ते च निपतन्त्युत्पतन्ति च ।
भूतानि यदनन्तानि तरङ्गिणि तरङ्गवत् ॥ ३३ ॥
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते तत्संसक्तिविजृम्भितम् ।
भूतानि विरसं भूयो निर्झराम्बुकणा इव ॥ ३४ ॥
परस्परनिगीर्णाङ्गा जनता जाड्यजर्जरा ।
संभ्रान्ता प्रभ्रमत्यङ्ग शीर्णपर्णमिवाऽम्बरे ॥ ३५ ॥
नक्षत्रचक्रं गगने द्रुमे मशकसन्ततिः ।
स्फुरत्यावर्तवृत्त्यैव पातालेऽङ्ग जलौघवत् ॥ ३६ ॥
पातोत्पातदशाजीर्णं कालबालककन्दुकम् ।
अद्याऽपि न जहातीन्दुर्जलमामलिनं वपुः ॥ ३७ ॥

संसक्तिके प्रभावसे ब्रह्माण्डरूपी गूलरके फलमें मच्छरोंकी नाईं अपना अपना व्यवहार कर रहे देवता स्वर्गमें, मनुष्य पृथ्वीमें, सर्प और असुर पातालमें अवस्थित हैं ॥ ३२ ॥

हे रामजी, समुद्रमें तरङ्गोंकी नाईं ये असङ्ख्य भूत जो उत्पन्न होते हैं, मरते हैं, गिरते हैं, उठते हैं, यह भी संसक्तिका विलास है ॥ ३३ ॥

झरनोंके जलकणोंके समान उड़ उड़कर विरसतापूर्वक ये भूत जो विलीन हो जाते हैं, वह भी संसक्तिका प्रताप है ॥ ३४ ॥

मछलीके सदृश एक दूसरेके अङ्गोंको निगल रहे, जड़तासे जरजर तथा भ्रमग्रस्त ये जनसमूह आकाशमें शीर्ण शुष्क पत्तेके समान जो भ्रमण कर रहे हैं, वह भी संसक्तिका प्रताप है ॥ ३५ ॥

प्रिय रामजी, वृक्षके ऊपर मच्छरोंकी पंक्तिकी नाईं पातालमें जल-प्रवाहके सदृश आवर्तवृत्ति धारण कर आकाशमें जो नक्षत्रचक्र घुम रहा है, वह भी संसक्तिकी सामर्थ्य है ॥ ३६ ॥

कभी उदय तो कभी अस्त, कभी वृद्धि तो कभी ह्रास, कभी उत्थान तो कभी पतन—इन विविध दशाओंसे सदा ही शिथिल; कालरूपी

नानापारयुगावर्तदुःखालोकनकर्कशम् ।
न लुनाति मनःखण्डं दुःखिगीर्वाणमण्डलम् ॥ ३८ ॥
वासनामात्रवशतः परे व्योमनि केनचित् ।
इदमारचितं चित्रं विचित्रं पश्य राघव ॥ ३९ ॥
मनःसङ्गकरङ्गेण शून्ये व्योम्नि जगन्मयम् ।
यदिदं रचितं चित्रं तत्सत्यं न कदाचन ॥ ४० ॥
संसक्तमनसामस्मिन् संसारे व्यवहारिणाम् ।
अत्ति तृष्णा शरीराणि तृणान्यग्निशिखा यथा ॥ ४१ ॥
परिसक्तमतेर्देहान् सिकताः पत्युरम्भसाम् ।
कः शक्तः परिसंख्यातुं त्रसरेणुगणं यथा ॥ ४२ ॥

बालकके कन्दुक (गेंद) रूप; जड़तायुक्त; जलमय तथा अनेकविध कलङ्कोंसे म्लान चन्द्रका शरीर यद्यपि इन बहुविध दोषोंके कारण परित्याग करने योग्य है, तथापि आज तक जो वह नहीं छोड़ता, यह संसक्तिका ही परिणाम है ॥ ३७ ॥

अनेक तरहके अपार युगावर्तोंके दुःखानुभवसे कठोर हुए मनोरूपी छेदनयोग्य व्रणविशेषके दुःखसे दुःखी भी इन्द्र आदि देवगण जो उच्छेदन द्वारा उसकी चिकित्सा नहीं करता, वह भी संसक्तिका फल है ॥ ३८ ॥

केवल आत्मा और अनात्माके विवेकसे उत्पन्न ज्ञानसे ही संसक्तिका उच्छेद हो सकता है, इसका दिग्दर्शन करानेके लिए आसक्तिका विषय जगत् केवल वासनासे ही कल्पित है, यह कहते हैं—**'वासना०'** इत्यादिसे ।

हे राघव, वासनाके वशसे किसीने सर्वोत्कृष्ट चिदाकाशमें इस विचित्र जगत्-रूपी चित्रकी रचना की है, उसे आप देखिए ॥ ३९ ॥

श्रीरामजी, शून्य आकाशमें केवल मनके आसङ्गरूपी रंगनेके द्रव्यसे यानी रंगसे बनाया गया जो जगद्रूपी विचित्र चित्र है, वह कभी भी सत्य नहीं हो सकता ॥४०॥

जैसे अग्निकी ज्वाला तिनकोंको खा डालती है, वैसे ही तृष्णा इस संसारमें आसक्त मनवाले व्यवहारी जीवोंके शरीरोंको खा डालती है ॥ ४१ ॥

आसक्ति दोषसे प्राप्त हुए तथा तृष्णाके द्वारा खाये गये शरीर असंख्य हैं, यह कहते हैं—**'परिसक्त०'** इत्यादिसे ।

मुक्तालतायाः गङ्गाया मेरोरापादमस्तकम् ।
तरङ्गमुक्ता गण्यन्ते न देहाः सक्तचेतसाम् ॥ ४३ ॥
संसक्तमनसामेता रम्यान्तःपुरपङ्क्तयः ।
रचिता रौरवावीचिकालसूत्रादिनामिकाः ॥ ४४ ॥
सक्तचित्तं जनं दुःखशुष्कमिन्धनसंचयम् ।
ज्वलतां नरकाग्नीनां विद्धि तेन ज्वलन्ति ते ॥ ४५ ॥
दुःखजालमिदं नाम यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।
संसक्तमनसामर्थे तत्सर्वं परिकल्पितम् ॥ ४६ ॥
संसक्तचित्तमायान्ति सर्वा दुःखपरम्पराः ।
जलकल्लोलवलिता महानद्य इवाऽम्बुधिम् ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भला बतलाइये कि समुद्रकी बालुका और त्रसरेणुओंका परिगणन करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् जैसे कोई नहीं हो सकता, वैसे ही चारों ओरसे विषयोंमें आसक्त मतिवाले जीवके शरीरोंका परिगणन करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

चोटीसे लेकर मूल तक मेरु पर्वतका अवलम्बन करनेवाली मोतियोंकी लतारूपी गङ्गाके तरङ्गरूपी मोतियोंकी गणना कदाचित् कोई कर सकता है, पर आसक्त चित्तवाले जीवोंके शरीरोंकी गणना तो कोई नहीं कर सकता ॥ ४३ ॥

जिनका चित्त संसारमें आसक्त है, उन्हीं जीवोंके लिए ये रम्य अन्तःपुरकी पंक्तियाँ, जिनके नाम रौरव, अवीचि, कालसूत्र आदि हैं, किसी कारिगरने बनाई हैं ॥ ४४ ॥

श्रीरामजी, आसक्त चित्तवाला अतएव दुःखोंसे सूखा हुआ पुरुष जल रही नरकरूपी अग्नियोंके लिए एक तरहसे इन्धनका संग्रह (समूह) है, यह आप जानिए, क्योंकि नरकरूपी अग्नियाँ उसी काष्ठ-संचयसे जलती हैं ॥ ४५ ॥

इस जगती-तलमें जो कुछ यह दुःखजाल है, वह सब आसक्तचित्त पुरुषोंके लिए ही कल्पित है ॥ ४६ ॥

जैसे जलके तरङ्गोंसे संवलित बड़ी बड़ी नदियाँ समुद्रके प्रति जाती हैं, वैसे ही सम्पूर्ण दुःखोंकी परम्पराएँ आसक्त चित्तवाले पुरुषके प्रति जाती हैं ॥ ४७ ॥

मनःसंसर्गरूपिण्या भारभूतशरीरया ।
क्षयोदयदशार्थिन्या सर्वं ततमविद्यया ॥ ४८ ॥
असंसङ्गेन भोगानां सर्वा राम विभूतयः ।
परं विस्तारमायान्ति प्रावृषीव महापगाः ॥ ४९ ॥
अन्तःसंसङ्गमङ्गनामङ्गारं विद्धि राघव ।
अनन्तःसङ्गमङ्गानां विद्धि राम रसायनम् ॥ ५० ॥
संसङ्गेनाऽन्तरस्थेन दह्यते प्रकृतिः स्वयम् ।
स्वकलोत्थैर्नैरकाङ्क्षी पावकेन यथौषधिः ॥ ५१ ॥
सर्वत्राऽसक्तमाशान्तमनन्तमिव संस्थितम् ।
असत्कल्पं सदाभासं सुखायैव मनो भवेत् ॥ ५२ ॥

चित्त-सक्ति ही जिसका स्वरूप है, जिसने भारभूत शरीरको धारण किया है और जो जीवके लिए जनम और मरणकी अवस्था चाहती है, उस अविद्याने ही इस समस्त प्रपञ्चका विस्तार किया है ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे वर्षाकालमें बड़ी बड़ी नदियाँ महान् विस्तारको प्राप्त होती हैं, वैसे ही विषयोपभोगोंमें आसक्ति न करनेसे सम्पूर्ण विभूतियाँ महान् विस्तारको प्राप्त होती हैं ॥ ४९ ॥

हे रामजी, भीतरी आसङ्ग शरीरोंके लिए अंगारे हैं और भीतरी आसङ्गका परित्याग अङ्गोंके लिए उत्तम रसायन है, यह आप जानिए ॥ ५० ॥

अवलम्बनके लिए तृणविशेषोंको चाहनेवाली लता जैसे अवलम्बित तृणोंसे जनित अग्निसे दग्ध हो जाती है, वैसे ही अन्दरमें अवस्थित संसक्तिरूपी अग्निसे प्रकृतिभूत जीव भी दग्ध हो जाता है। यहाँ प्रकृतिके कार्य देह आदिके साथ जीवका सम्बन्ध होनेके कारण जीव 'प्रकृति' कहा गया है ॥ ५१ ॥

आसक्तिसे शून्य अतएव आकाशके समान निर्मल-स्वरूपसे अवस्थित, चारों ओरसे शान्त, असत्के सदृश, सत्के समान भासमान मन सर्वत्र सुखका ही हेतु है ॥ ५२ ॥

पहले श्लोकमें मनके 'असत्कल्प' और 'सदाभास' ये जो दो विशेषण दिये गये हैं, उनका विषय-विभागसे निर्वचन करते हुए उपसंहार करते हैं—**'विद्यादृशि'** इत्यादिसे ।

विद्यादृशि प्रोदयमागतेन क्षयं त्वविद्याविषये गतेन ।
सर्वत्र संसक्तिविवर्जितेन स्वचेतसा तिष्ठति यः स मुक्तः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सङ्गविचारयोगोपदेशो नामाऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सर्वदा सर्वसंस्थेन सर्वेण सह तिष्ठता ।
सर्वकर्मरतेनाऽपि मनः कार्यं विजानता ॥ १ ॥

विद्या-विषयमें उत्तम उदयको प्राप्त हुए यानी प्रबुद्ध हुए, अविद्या-विषयमें (प्रपञ्चमें) क्षयको प्राप्त हुए यानी अनुसन्धानसे शून्य हुए तथा सर्वत्र दृश्य वस्तुओंमें आसक्तिसे वर्जित हुए अपने अन्तःकरणसे जो पुरुष सदा-सर्वदा अवस्थित रहता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ५३ ॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

[सम्पूर्ण अर्थोंमें आसक्तिके त्यागसे मन चिन्मात्रस्वरूपमें सुस्थिर तथा चिन्मात्रशेष जिस क्रमसे हो जाता है, उस क्रमका कथन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, विवेकी विद्वान् पुरुष भले ही सर्वदा तत्-तत् समयके योग्य समस्त व्यवहारोंमें निरत रहे, भले ही तत्-तत् व्यवहारमें उचित सभी प्रिय मित्र, पुत्र आदिके साथ रहे, भले ही अनिषिद्ध लौकिक एवं शास्त्रीय समस्त कार्योंमें व्यापृत रहे, तथापि उसने अपने मनको वैसा बनाना चाहिए, जैसा मैं अभी आगे जाकर कहूँगा। अथवा एक काल, एक देश और एक सेवक आदिके सहभाव-से कतिपय कर्मोंमें तत्परता-संपादक परिच्छिन्न संसक्तिका परित्याग करनेके लिए पहले सम्पूर्ण देश, काल आदि समस्त उपकरण सामग्रीसे निखिल जगत्‌के

न सक्तमिह चेष्टासु न चिन्तासु न वस्तुषु ।
नाऽऽकाशेनाऽप्यधो नाऽग्रे न दिक्षु न लतासु च ॥ २ ॥
न बहिर्विपुलाभोगे न चैवेन्द्रियवृत्तिषु ।
नाऽभ्यन्तरे न च प्राणे न मूर्धनि न तालुनि ॥ ३ ॥
न भ्रूमध्ये न नासान्ते न मुखे न च तारके ।
नाऽन्धकारे न चाऽऽभासे न चाऽस्मिन्हृदयाम्बरे ॥ ४ ॥
न जाग्रति न च स्वप्ने न सुषुप्ते न निर्मले ।
नाऽसिते न च वा पीतरक्तादौ शबले न च ॥ ५ ॥
न चले न स्थिरे नाऽऽदौ न मध्ये नेतरत्र च ।
न दूरे नान्तिके नाऽग्रे न पदार्थे न चाऽऽत्मनि ॥ ६ ॥

व्यवहाररूप कर्मोंमें स्वयं निरत हो कर भी पीछेसे अपने मनको वैसा बनाना चाहिए जैसा मैं आगे वर्णन करूँगा ॥ १ ॥

न साध्य पदार्थोंकी चेष्टाओंमें, न अतीत कालकी वस्तुओंकी चिन्ताओंमें, न वर्तमान कालीन वस्तुओंमें, न आकाशमें, न नीचे, न मध्यमें, न दिशाओंमें और न लताओंमें मनको आसक्त करना चाहिए ॥ २ ॥

न आधिभौतिक भार्या, भृत्य आदि विषयोंमें, न उनके उपभोगकी इन्द्रिय-वृत्तियोंमें, न आध्यात्मिक वस्तुओंमें और न प्राण, मूर्धा तथा तालुमें—जो योग-शास्त्रमें वर्णित काम्यसिद्धिके अनुकूल धारणाके स्थान-स्वरूप हैं—मनको कभी आसक्त करना चाहिए ॥ ३ ॥

न भौंके बीचमें, न नासिकाके मध्यमें, न मुखमें, न दक्षिण नेत्रकी कनीनिकामें, न अन्धकारमें, न प्रकाशमें और न इस हृदयरूपी आकाशमें मनको आसक्त करना चाहिए ॥ ४ ॥

न जाग्रत्में, न स्वप्नमें, न सुषुप्तमें, न शुद्ध सत्त्वगुणमें, न तमोगुणमें, न पीत, रक्त आदि रजोगुणमें और न गुणोंके समाहारमें मनको आसक्त करना चाहिए ॥ ५ ॥

न कार्यवर्गमें, न स्थिर कारण अव्यक्तमें, न सृष्टिके आदिकालमें, न मध्य-कालमें, न अन्तकालमें, न दूरमें, न समीपमें, न सामने, न नामरूपात्मक पदार्थमें और न जीवमें मनको आसक्त करना चाहिए ॥ ६ ॥

न शब्दस्पर्शरूपेषु न मोहानन्दवृत्तिषु ।
न गमागमचेष्टासु न कालकलनासु च ॥ ७ ॥
केवलं चिति विश्रम्य किञ्चिच्चेत्यावलम्बिनि ।
सर्वत्र नीरसमिव तिष्ठत्वात्मरसं मनः ॥ ८ ॥
तत्रस्थो विगतासज्ञो जीवोऽजीवत्वमागतः ।
व्यवहारमिमं सर्वं मा करोतु करोतु वा ॥ ९ ॥
अकुर्वन्नपि कुर्वाणो जीवः स्वात्मरतिः क्रियाः ।
क्रियाफलैर्न सम्बन्धमायाति खमिवाऽम्बुदैः ॥ १० ॥
अथवा तमपि त्यक्त्वा चेत्यांशं शान्तचिद्घनः ।
जीवस्तिष्ठतु संशान्तो ज्वलन्मणिरिवाऽऽत्मनि ॥ ११ ॥

न रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दमें; न विषयाभिलाषकी परवशतारूपी मोहमें, न विषयोपभोगफलरूपी आनन्दवृत्तियोंमें; न खेचरी आदि सिद्धियोंमें और न अतीत-अनागत वस्तुओंका परिज्ञान होना, दीर्घजीवी होना आदि सिद्धियोंमें मनको आसक्त करना चाहिए ॥ ७ ॥

निश्चल बुद्धिकी साक्षि-भूता चितिमें केवल विश्रान्ति कर परिपूर्ण भूमानन्दसे युक्त अतएव सर्वत्र दृश्य पदार्थोंमें नीरस-सा होकर अवस्थित होवे । 'इव' शब्दसे यह दिखलाया कि मनकी इस प्रकारकी स्थिति भी मिथ्या ही है ॥ ८ ॥

उस प्रकार चितिमें विश्रान्ति पाकर अवस्थित हुआ जीव समस्त सञ्ज्ञोंसे रहित होकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है । ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ यह जीव इन समस्त व्यवहारोंको चाहे करे, चाहे न करे, उससे कुछ भी उसका बिगड़ने नहीं पाता ॥ ९ ॥

जैसे आकाश मेघोंके साथ तनिक भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता, वैसे ही अपने स्वरूपमें निरत जीव, क्रियाओंका (विहित या निषिद्ध कर्मोंका) अनुष्ठान करे चाहे न करे, पर क्रियाजनित फलोंके यानी स्वर्ग, नरक आदिके साथ तनिक भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता ॥ १० ॥

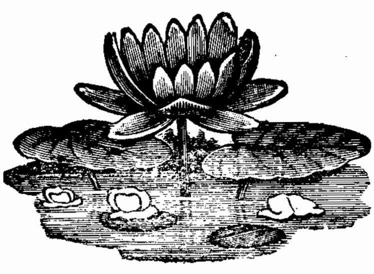
अथवा पूर्वोक्त बुद्धिसाक्षित्वका भी परित्याग कर निर्विकार चित्-स्वरूप जीव अपने ही स्वरूपमें उस प्रकार शान्त होकर अवस्थित रहे, जिस प्रकार कि प्रदीप्त हो रहा मणि अपने स्वरूपमें शान्त होकर अवस्थित रहता है ॥ ११ ॥

निर्वाणमात्मनि गतः सततोदितात्मा
जीवोऽरुचिर्व्यवहरन्नपि रामभद्र ।
नो सङ्गमेति गतसङ्गतया फलेन
कर्मोद्भवेन सहतीव च देहभारम् ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे शान्तिसमायातयोगोपदेशो नामैकोनसप्ततितमः सर्गः ॥६९॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिसने अपने स्वरूपमें परम विश्रान्ति प्राप्त कर ली है, जिसका अन्तःकरण आत्म-साक्षात्काररूप महान् उदयको प्राप्त कर चुका है एवं जिसकी व्यवहार और तन्निबन्धन फलोंमें तनिक भी इच्छा नहीं रह गई है, ऐसा जीव भले ही लोक-दृष्ट्या व्यवहार करे, तथापि वह कर्मजनित फलोंका स्वल्प भी सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह सम्बन्धकी हेतु अविद्या, काम और कर्मकी वासनाओंसे शून्य है । हाँ, उस समय वह तबतक देहभारको सहता रहता है, जतबक कि प्रारब्धका क्षय नहीं होता । श्रुति भी कहती है—'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' ॥ १२ ॥

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त



सप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

असंसङ्गसुखाभ्याससंस्थितैर्विततात्मभिः ।
व्यवहारिभिरप्यन्तर्वीतशोकभयैः स्थितम् ॥ १ ॥
प्रक्षुब्धाक्षुब्धदेहस्याऽविसंवादेन संविदः ।
अन्तःपूर्णस्य वदने श्रीरिन्दोरिव लक्ष्यते ॥ २ ॥

सत्तरवाँ सर्ग

[असङ्ग सुखमें परम शान्तिको प्राप्त कर रहा पुरुष व्यवहारसे उत्पन्न दोषोंसे जिस प्रकारसे दुःखी नहीं होता, उस प्रकारका सयुक्तिक उपपादन]

वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जो असंसङ्गसे उत्पन्न सुखके निरन्तर आस्वादमें संलग्न हैं और जिनके अन्तःकरण अत्यन्त विशाल हैं, ऐसे जीवन्मुक्त महानुभाव, चाहे व्यवहार करें, तो भी सदा-सर्वदा निर्भय और शोकशून्य ही होकर अवस्थित रहते हैं ॥ १ ॥

उनको वैसी स्थिति होती है, यह आपने किस प्रमाणसे जाना ? इस प्रश्न पर प्रमाण कहते हैं—**'प्रक्षुब्धा०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यद्यपि पुत्र और धनका विनाश तथा बन्धन, मान, अपमान आदि क्षोभके (घबड़ाहटके) हेतुओंसे साधारण लोगोंको क्षुब्धशरीर-सा मालूम पड़नेपर भी वास्तवमें क्षुब्धशरीरसे शून्य जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञ महाविद्वान्‌की चित्त-वृत्ति सदा-सर्वदा परमार्थ सुखमें ही संलग्न रहती है । उससे तनिक भी उसका वियोग नहीं होता, अतएव वह अन्दरसे परिपूर्ण रहता है, तथा उसके मुखमें पूर्ण-चन्द्रकी नाईं परम शोभा दीख पड़ती है, यही दीख पड़नेवाली पूर्णचन्द्रकी शोभा ही तत्त्वज्ञकी पूर्वोक्त अवस्थामें प्रमाण है । चन्द्रपक्षमें ज्योतिश्चक्र और रथादिकी गतिसे क्षुब्धशरीर-सा मालूम पड़नेपर भी वास्तवमें अपने ही स्थानमें स्थिर होनेके कारण क्षुब्धशरीरसे शून्य पूर्णचन्द्र पूर्णिमाकी रात्रिमें संमुख होनेसे सूर्यकी विषमता न होनेके कारण भीतर अमृतसे परिपूर्ण रहता है । उसके वदन-सदृश बिम्बमें उत्तम शोभा दीख पड़ती है ॥ २ ॥

चेत्यहीनं चिदालम्बं मनो यस्य गतज्वरम् ।
तेनाऽम्बु कतकेनेव जनता संप्रसीदति ॥ ३ ॥
नित्यमात्मदृशा लीनो ज्ञः स्वस्थश्चलोऽपि सन् ।
क्षुब्धो दृश्यत एवाऽसौ प्रतिबिम्बार्कवन्मुधा ॥ ४ ॥
आत्मारामा महात्मानः प्रबुद्धाः परमोदयाः ।
बहिः पिच्छाग्रतरला अन्तर्मेरुरिवाऽचलाः ॥ ५ ॥
चित्तमात्मत्वमायातं सुखदुःखानुरञ्जनम् ।
नोपैति रङ्गसंयुक्तो मसृणः स्फटिको यथा ॥ ६ ॥

जिस तत्त्ववित्‌के अनुग्रहसे दूसरे भी जब क्षोभरूपी मलिनतासे निर्मुक्त हो जाते हैं, तब उस तत्त्ववित्‌की क्षोभशून्यतामें तो कहना ही क्या ? इस आशयसे कहते हैं—**'चेत्यहीनम्'** इत्यादिसे ।

जिस महात्माका अन्तःकरण इन्द्रियोंकी आसक्तियोंसे वर्जित, केवल चैतन्य-मात्रका अवलम्ब करनेवाला तथा समस्त चिन्ताज्वरोंसे निर्मुक्त है, उस महात्मासे सम्पूर्ण जन, निर्मलीसे जलकी भाँति, प्रसन्न (विशुद्ध) हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सदा सर्वदा आत्मदृष्टिमें निमग्न रहनेवाला तत्त्ववित् बाहरसे चञ्चल होते हुए भी अपने स्वरूपसे तनिक भी टससे मस नहीं होता, अतएव साधारण जनों द्वारा यह जो क्षुब्ध-सा देखा जाता है, वह जलगत सूर्य-प्रतिबिम्बकी क्षुब्धताके दर्शनके समान मिथ्या ही है ॥ ४ ॥

स्वस्वरूपमें निरन्तर रमण करनेवाले तथा परम मोक्षरूपी उदयको प्राप्त हुए तत्त्ववित् महात्मा साधारण लोगोंको ऊपर ऊपरसे मोरके पंखकी नाईं चपल मालूम पड़ते हैं, परन्तु भीतरसे मेरु पर्वतकी नाईं अटल हैं ॥ ५ ॥

विक्षोभके प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः तत्त्ववित्‌में क्षोभ नहीं रहता, इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—**'चित्त०'** इत्यादिसे ।

जैसे रञ्जक जपाकुसुम आदि उपाधियोंसे चिकना स्फटिक मणि (वास्तवमें) रङ्गसे युक्त नहीं होता, वैसे ही आत्मस्वरूपको प्राप्त हुआ तत्त्ववित्‌का अन्तःकरण [उपाधियोंसे] सुख-दुःखके रङ्गसे युक्त नहीं होता ॥ ६ ॥

संसारदृष्टिरुदितं ज्ञातलोकपरावरम् ।
न रञ्जयति सच्चितं जलरेखा यथाऽम्बुजम् ॥ ७ ॥
आत्मध्यानमयोऽध्याने प्रबोधं परमात्मनः ।
कलनामलनिर्मुक्तः स्वसक्त इति कथ्यते ॥ ८ ॥
आत्मारामतया जीवो यात्यसंसङ्गतामिह ।
आत्मज्ञानेन संसङ्गस्तनुतामेति नाऽन्यथा ॥ ९ ॥
जाग्रत्येव सुषुप्तस्थो जीवो भवति राघव ।
अस्यां दृशि गतोऽद्वन्द्वो नित्यानस्तमयोदयः ॥ १० ॥

जैसे जलरेखा कमलको रञ्जित नहीं कर सकती, वैसे ही जिसने जीव और ईश्वरके स्वरूपको भलीभाँति जान लिया है अतएव जो परम निरतिशयानन्दरूप परम अभ्युदयको प्राप्त हुआ है, ऐसे तत्त्ववित्के चित्तको सांसारिक दृष्टि रञ्जित नहीं कर सकती ॥ ७ ॥

जबतक जीव भीतर भलीप्रकार आसक्तिसे वार्जित नहीं होता, तबतक उसका बाहरकी आसक्तिसे वर्जित होना दुर्लभ है, इस आशयसे असंसक्तका लक्षण कहते हैं—**'आत्मध्यान०'** इत्यादिसे ।

जब यह जीव परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर समस्त कल्पनाओंके हेतुभूत मलोंसे वर्जित होता हुआ ध्यानाभाव-दशामें भी आत्मध्यानकी तरह निरतिशय सुखमें निर्मग्न रहता है, तब 'स्वसक्त' कहलाता है। तत्त्ववित्को स्वभावतः निरतिशयानन्द आत्माका स्फुरण (प्रकाश) होनेके कारण वह निर्विकल्पक समाधिकी नाईं सदा-सर्वदा आत्मध्यान-में ही लगा हुआ रहता है, अतएव बाह्य ध्यान-व्यापारोंके न रहने पर भी तथोक्त स्फुरणकी सामर्थ्यसे निरतिशयानन्द सुखसमुद्रमें अवगाहन करनेवाला यह 'स्वसक्त' शब्दसे व्यवहृत किया जाता है, यह तात्पर्य है ॥ ८ ॥

ज्ञानकी परिपाकावस्थाके उत्कर्षसे आत्मसक्तिमें भी क्रमशः उत्कर्ष बढ़ता जाता है और तदनुसार संसङ्ग भी क्षीण होता जाता है, यह कहते हैं—**'आत्मा-रामतया'** इत्यादिसे ।

केवल आत्मामें विश्रान्ति होनेसे ही जीव संसारमें असंसङ्गभावको प्राप्त करता है । केवल आत्माके ज्ञानसे ही विषयासङ्ग क्षीणताको प्राप्त होता है, दूसरे किसी प्रकारसे नहीं ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त स्वरूपवाली असंसक्त दृष्टिमें परिणत, प्रियाप्रिय

अत्र प्रौढिमुपायातः सूर्यतामेति पावनीम् ।
परिणामवशादिन्दुरमावास्यार्कतामिव ॥ ११ ॥
चित्ते चित्तदशाहीने या स्थितिः क्षीणचेतसाम् ।
सोच्यते शान्तकलना जाग्रत्येव सुषुप्तता ॥ १२ ॥
तां सुषुप्तदशामेत्य जीवन् व्यहरन्नरः ।
सुखदुःखवरत्राभिर्न कदाचन कृष्यते ॥ १३ ॥
जाग्रत्येव सुषुप्तस्थो यः करोति जगत्क्रियाम् ।
तं यन्त्रपुत्रकमिव नाऽऽयाति सुखदुःखदृक् ॥ १४ ॥
चित्तस्य बाधिका शक्तिर्भावाभावोपतापदा ।
आत्मतामागते चित्ते तस्य किं बाधते कथम् ॥ १५ ॥

आदि द्वन्द्वोंसे शून्य तथा नित्य कभी अस्त न होनेवाले उदयसे युक्त जीव जाग्रत् अवस्थामें ही सुषुप्तिमें अवस्थित हो जाता है ॥ १० ॥

स्वसंसक्तिरूपी दृष्टिमें अभ्यासक्रमसे परम प्रौढताको प्राप्त हुआ जीव पवित्र सूर्यभावको (परम पावन स्वप्रकाश आत्मस्वरूपताको) ऐसे प्राप्त होता है, जैसे क्रमशः अपनी कलाके क्षयसे जलमय मण्डलमें पड़ा हुआ सूर्यप्रतिबिम्बस्वरूप चन्द्रमा अमावास्यामें सूर्यरूपताको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

जाग्रत् अवस्थामें ही सुषुप्तस्थ है, यह जो पहले कहा था, उसे विशद करते हैं—**'चित्ते'** इत्यादिसे ।

चित्तके विषयसंबन्धिनी वृत्तियोंसे शून्य हो जाने पर क्षीण वृत्तिवाले अन्तः-करणोंकी जो वासनाओंसे निर्मुक्त प्रशान्त स्थिति है, वही जाग्रत्-में सषुप्तता कही जाती है ॥ १२ ॥

हे श्रीरामजी, उक्त सुषुप्त-दशाको प्राप्त होकर जी रहा तथा व्यवहार कर रहा पुरुष सुखदुःखरूपी रस्सोंसे कभी भी आकृष्ट नहीं होता ॥ १३ ॥

जो पुरुष जाग्रत्में ही सुषुप्तस्थ होकर जगत्के व्यवहाररूपी कार्योंको करता है, निरहंभावके सादृश्यसे नर्तकप्रतिमाके तुल्य शरीरवाले उस पुरुषको सुख-दुःखका अनुभव प्राप्त नहीं होता ॥ १४ ॥

चित्तमें चोट (पीडा) पहुँचानेवाली अहंकाररूपा ही शक्ति है, क्योंकि वह

सुषुप्तबुद्धिः कर्माणि पूर्वमेवाऽवहेलया ।
कुर्वन्न बद्धयते जीवो जीवन्मुक्ततया स्थितः ॥ १६ ॥
सौषुप्तीं वृत्तिमाश्रित्य कुरु मा कुरु वाऽनघ ।
कर्म प्रकृतिजं पाकवशादुपगतं स्थितम् ॥ १७ ॥
नाऽऽदानं न परित्यागः कर्मणो ज्ञाय रोचते ।
तिष्ठन्त्यवगतात्मानो यथाप्राप्तानुवर्तिनः ॥ १८ ॥
कुर्वन्नपि न कर्ताऽसि सुषुप्त्यैकस्थया धिया ।
अकर्ताऽपि च कर्ताऽसि यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १९ ॥
यथा न किञ्चित्कलयन् मञ्चके स्पन्दते शिशुः ।
तथा फलान्यकलयन् कुरु कर्माणि राघव ॥ २० ॥

इष्ट और अनिष्टके संयोग और वियोगसे संताप देती है। परन्तु जब चित्त आत्मरूपता-को प्राप्त हो गया, तब वह चित्तमें क्या और कैसे चोट पहुँचा सकती है ॥ १५ ॥

पूर्वसे ही यानी साधन अवस्थासे ही लेकर अभिनिवेशका परित्याग कर कर्मोंका अनुष्ठान कर रहा निर्विकार बुद्धिवाला जीव जीवन्मुक्त-स्वरूपसे अवस्थित रहता है और उन कर्मोंके फलोंसे बद्ध नहीं होता ॥ १६ ॥

हे अनघ, सुषुप्तिकी विकारशून्य वृत्तिका अवलम्बन कर आप वर्णाश्रम-स्वभावके अनुसार प्रारब्धपरिपाकसे प्राप्त हुए लौकिक या शास्त्रीय कर्मोंका चाहे अनुष्ठान करिये चाहे मत करिये, उससे कुछ होनेवाला नहीं है ॥ १७ ॥

आश्रमोचित कर्मोंका भी परित्याग कर देना चाहिए, ऐसा जो लोग मानते हैं, उनके प्रति कहते हैं—**'नाऽऽदानम्'** इत्यादिसे ।

ज्ञानी पुरुषको कर्मका अनुष्ठान या परित्याग कुछ भी नहीं भाता, किन्तु जिन्होंने आत्मतत्त्वको जान लिया है, ऐसे महात्मा जिस समय जो प्राप्त हो जाता है, तदनुसार अनुवर्तन करते हुए अवस्थित रहते हैं ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सुषुप्ति अवस्थामें रहनेवाली निर्विकार बुद्धिसे युक्त यानी तत्त्वज्ञ होकर कुछ करते हैं, तो भी अकर्ता ही हैं और यदि उस बुद्धिसे शून्य यानी अतत्त्वज्ञ होकर आप कुछ नहीं करते हैं, तो भी कर्ता ही हैं, ऐसी परिस्थितिमें आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिये ॥ १९ ॥

हे राघव, जैसे किसी प्रयोजनकी अभिलाषा न रखकर केवल लीलावश ही

अचेत्यचित्पदस्वस्थो जाग्रत्यपि सुषुप्तधीः ।
यद्यत्करोति लब्धात्मा तस्मिंस्तस्य न कर्तृता ॥ २१ ॥
दशामासाद्य सौषुप्तीं स्वचित्ते च विवासनः ।
अन्तः शीतलतामेति ज्ञो रसेन यथा शशी ॥ २२ ॥
सुषुप्तस्थो महातेजाः पूर्णः पूर्णेन्दुबिम्बवत् ।
समः सर्वास्ववस्थासु भवत्यद्रिर्यथर्तुषु ॥ २३ ॥
सुषुप्तसंस्थो धीरात्मा बहिरायाति लोलताम् ।
क्रियासु नो भवन्कम्पः प्रस्पन्दित इवाऽचलः ॥ २४ ॥

बालक पलङ्गके ऊपर स्पन्दन क्रीडा करता है, वैसे ही आप भी किसी प्रयोजनकी अभिलाषा न करते हुए कर्मोंका अनुष्ठान कीजिये ॥ २० ॥

विषयसम्बन्धसे शून्य चैतन्यरूप परम पदमें प्रतिष्ठित हुआ अतएव बाह्य इन्द्रियोंके व्यापाररूप जाग्रत्-दशामें भी सौषुप्त निर्विकार वृत्तिमें समारूढ लब्धात्मा तत्त्वज्ञ जो जो कर्मानुष्ठान करता है, उसमें वस्तुतः उसकी कर्तृता नहीं रहती ॥ २१ ॥

सुषुप्तिकी विकारशून्य अवस्थाको प्राप्त कर और अपने चित्तमें समस्त वासनाओंसे रहित होकर ज्ञानी भीतरसे ऐसी शीतलता प्राप्त करता है, जैसे चन्द्रमा अमृतसे अपने भीतर शीतलता प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

जैसे छहों ऋतुओंमें अविकृत स्वभाव होनेके कारण पर्वत एक-सा रहता है, वैसे ही पूर्णचन्द्रके बिम्बकी नाईं महान् तेजस्वी पूर्णात्मा निर्विकारावस्थामें प्रतिष्ठित तत्त्वज्ञ समस्त आपत्तियोंकी अवस्थाओंमें सदा-सर्वदा एक-सा रहता है ॥ २३ ॥

जैसे वायुसे बाहरके वृक्ष, तृण आदिमें कम्पन होने पर ऊपर ऊपरसे पर्वतके प्रस्पन्दित (प्रकम्पित) होने पर भी वास्तवमें पर्वतका भीतरी प्रकम्पन नहीं होता, वैसे ही सुषुप्ति-दशामें अवस्थित धीरात्मा तत्त्वज्ञ लौकिक या वैदिक क्रियाओंके होने पर यों ही ऊपरसे चञ्चलताको प्राप्त हुआ-सा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें उसके भीतर कुछ भी कम्पन (चाञ्चल्य) नहीं रहता ॥ २४ ॥

सुषुप्तावस्थितो भूत्वा देहं विगतकल्मषः ।
पातयाऽथवा दीर्घं कालं धारय शैलवत् ॥ २५ ॥
एषैव राम सौषुप्ती स्थितिरभ्यासयोगतः ।
प्रौढा सती तुर्यमिति कथिता तत्त्वकोविदैः ॥ २६ ॥
आनन्दमय एवाऽन्तः प्रक्षीणसकलामयः ।
अत्यन्तास्तङ्गतमना भवति ज्ञो महोदयः ॥ २७ ॥

जैसे क्रियाओंमें उसकी निर्विकारिता है, वैसे ही मरण और जीवनमें भी उसकी निर्विकारिता है, इस आशयसे कहते हैं—'**सुषुप्ता०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त निर्विकार सुषुप्त अवस्थामें स्थित होकर तथा समस्त चित्तविक्षेप आदि पापोंसे निर्मुक्त होकर इस शरीरको गिरा दीजिये अथवा पर्वतके समान भीतरसे निष्कम्प होकर दीर्घकाल तक उसको धारण कीजिये ॥ २५ ॥

तत्त्वज्ञोंको सदा-सर्वदा ही तुर्यस्थिति होती है, यही कहना युक्तिसङ्गत हो सकता है, परन्तु यह कहना युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता कि तत्त्वज्ञोंको सुषुप्तिमें ही वह तुर्यस्थिति होती है, इस प्रकारकी आशङ्काको मनमें रख कर कहते हैं—'**एषैव**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यही सौषुप्ती-स्थिति अभ्यास-योगसे जब दृढ़ताको प्राप्त हो जाती है, तब तत्त्वज्ञ महात्माओंके द्वारा तुर्य-स्थिति कही जाती है, अतः उक्त शङ्काका अवसर नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

तब सौषुप्ती स्थिति कहनेका अभिप्राय क्या है ? इस प्रश्न पर वैसा कहनेका अभिप्राय कहते हैं—'**आनन्दमय**' इत्यादिसे ।

सुषुप्त-दशामें आनन्दमय प्रत्यगात्मामें अशेष दुःखोंका अभाव तथा निरतिशय सुखकी परिपूर्ण समृद्धि रहती है, अतः तत्त्वज्ञको दुःखशून्य निरतिशय सुख-समृद्धि है, इसे विस्पष्टरूपसे बतलानेके लिए सौषुप्ती-स्थितिका निर्देश किया गया है। इस निर्विकार सौषुप्ती स्थितिमें तत्त्वज्ञ भीतरसे निरतिशयानन्दसे ही परिपूर्ण रहता है, उसके समस्त दोष प्रक्षीण होकर रहते हैं, मन आत्यन्तिक विनाशको प्राप्त हुआ रहता है और महान् जीवन्मुक्ततालक्षण उदयसे परिपूर्ण रहता है ॥ २७ ॥

तत्रस्थो ज्ञः प्रमुदितः परमानन्दघूर्णितः ।
लीलामिवेमां रचनां सदा समनुपश्यति ॥ २८ ॥
वीतशोकभयायासो गतसंसारसंभ्रमः ।
तुर्यावस्थामुपारूढो भूयः पतति नाऽऽत्मवान् ॥ २९ ॥
प्राप्य स्वां पदवीं पुण्यां यथेदं भ्रमितं जगत् ।
शैलसंस्थ इवाऽधःस्थं हसन्पश्यति धीरधीः ॥ ३० ॥
अस्यां तु तुर्यावस्थायां स्थितिं प्राप्याऽविनाशिनीम् ।
आनन्दैकान्तलीनत्वादनानन्दपदं गतः ॥ ३१ ॥

निर्विकार सुषुप्ति-अवस्थामें स्थित तत्त्वज्ञको जगत्का अनुभव किस प्रकारका होता है ? उसे बतलाते हैं—**'तत्रस्थो'** इत्यादिसे ।

उक्त सौषुप्ती अवस्थामें सदा-सर्वदा स्थित रहनेवाला ज्ञानी अत्यन्त प्रमोदसे परिपूर्ण और निरतिशय आनन्दरूपी मदसे मत्त होकर इस जगत्की रचनाको सदा एक तरहकी मानो लीला ही देखता रहता है ॥ २८ ॥

यदि शङ्का हो कि उस प्रकारकी लीलाका अनुभव कर रहा ज्ञानी उस जगत्में फिर आसक्त भी हो जायगा ? तो नहीं, ऐसा समाधान करते हैं—**'वीतशोक०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जिसके शोक, भय एवं अन्यान्य सांसारिक मिथ्या प्रयत्न सदाके लिए निवृत्त हो गये हैं तथा जो संसाररूपी विभ्रमसे वर्जित है, ऐसा तुर्यावस्थामें सदा-सर्वदा आसीन हुआ आत्मज्ञानी फिर इस संसारचक्रमें कभी भी गिरता नहीं है ॥ २९ ॥

क्यों संसारमें नहीं गिरता ? इस प्रश्न पर कहते हैं—**'प्राप्य'** इत्यादिसे ।

पर्वतपर चढ़ा हुआ धीरबुद्धि पुरुष पर्वतको हरा भरा यानी दूरसे पर्वतको अत्यन्त सुन्दर समझनेवाले भ्रमग्रस्त नीचेके प्रदेशमें अवस्थित पुरुषको देखकर जैसे हँसता है, वैसे ही वह ज्ञानी अपनी पुण्यमयी तुर्य स्थितिको प्राप्त कर जैसा यह भ्रमित जगत् है, उसको दोषदृष्टिसे देखकर हँसता है, पुरुषार्थबुद्धिसे नहीं ॥ ३० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले अनानन्दको यानी अवस्थात्रयपदको प्राप्त हुआ ज्ञानी इस तुर्यावस्थामें तो सदा-सर्वदा केवल आनन्दमें ही नियतरूपसे लीन होनेके कारण विनाशशून्य स्थितिको (महानन्दपदको) प्राप्त कर अवस्थित रहता है ॥ ३१ ॥

अनानन्दमहानन्दकलातीतस्ततोऽपि हि ।
मुक्त इत्युच्यते योगी तुर्यातीतं पदं गतः ॥ ३२ ॥
परिगलितसमस्तजन्मपाशः
सकलविलीनतमोमयाभिमानः ।
परमरसमयीं प्रयाति सत्तां
जलगतसैन्धवखण्डवन्महात्मा ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे असंसङ्गविकल्पोपदेशो नाम सप्ततितमः सर्गः ॥७०॥

इस प्रकार जीवन भर ज्ञानीकी तुर्यावस्था रहती है, यह कह कर अन्तमें विदेह अवस्थाको प्राप्त हुए ज्ञानीकी तुर्यातीत अवस्था होती है, यह कहते हैं— **'अनानन्द०'** इत्यादिसे ।

अनानन्दपदकी (अवस्थात्रयपदकी) अपेक्षा महत् होनेसे तुर्यपद महानन्द कहलाता है, यह महानन्दपद जीवन्मुक्त पुरुषको सदा-सर्वदा ही रहता है । विदेह-मुक्तिमें तत्त्वज्ञको अनानन्दपदका स्मरण नहीं होता, अतः उसकी अपेक्षा महत्का भी आकलन न होनेसे अनानन्द और महानन्द दोनोंसे अतीत हो गया है, इससे भी मुक्त योगी तुर्यातीत पदको प्राप्त हुआ, ऐसा कहा जाता है ॥ ३२ ॥

उक्त स्थितिका ही वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं—**'परिगलित०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, जैसे जलमें प्रक्षिप्त सैन्धव नमकका टुकड़ा जलमय हो जाता है, वैसे ही जिसका सम्पूर्ण जन्म-हेतु काम और कर्मोंकी वासनारूपी फाँसी छिन्नभिन्न हो गई है और अखिल अज्ञाननिमित्तक देह, इन्द्रिय आदियोंमें अहमभिमान नष्ट हो गया है, ऐसा महात्मा योगी परमानन्दरूपी परमार्थ स्थितिको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एकसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यावत्तुर्यपरामर्शस्तावत् केवलतापदम् ।
जीवन्मुक्तस्य विषयो वचसां च रघूद्वह ॥ १ ॥
अत ऊर्ध्वमदेहानां मुक्तानां वचसां तथा ।
विषयो न महाबाहो पुरुषाणामिवाऽम्बरम् ॥ २ ॥
सा हि विश्रान्तिपदवी दूरेभ्योऽपि दवीयसी ।
गम्या विदेहमुक्तानां खलेखेव नभस्वताम् ॥ ३ ॥

एकहत्तरवाँ सर्ग

[पर चित्-वस्तु व्यवहार-विषय न होनेके कारण शरीर आदिके निरास द्वारा केवल तुर्यका वर्णन]

तुर्यातीत पद वाणी आदिका विषय नहीं है, इसे बतलानेके लिए भूमिका बाँधते हैं—**'यावत्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुश्रेष्ठ, जितने अंशमें तुर्यावस्थाका* साक्षात् अनुभव होता है, उतने ही अंशमें कैवल्यपद (केवल चिन्मात्रमें अवस्थति-स्वरूप कैवल्य-पद) जीवन्मुक्त और वेदवचनोंका विषय होता है यानी जीवन्मुक्तोंका अधिकृत तथा श्रुतिवाक्योंका प्रतिपाद्य विषय होता है, क्योंकि वाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्तिका उतने ही अंशमें पर्यवसान है, यह भाव है ॥ १ ॥

हे महाबाहो, जैसे वायु-प्राप्य आकाश पुरुषोंका प्राप्य विषय नहीं है, वैसे ही इससे ऊपरका तुर्यातीतपद यद्यपि विदेह मुक्तोंका प्राप्य है, तथापि जीवन्मुक्त और वेदवचनोंका अधिकृत या प्रतिपाद्य विषय नहीं है, क्योंकि विषयताके सम्पादक मनका उस अवस्थामें विनाश हो चुका है ॥ २ ॥

जैसे आकाशवीथी (मार्ग) वायुओंकी प्राप्य है, वैसे ही दूरसे भी अति दूर यानी अत्यन्त दुरधिगम्य उक्त विश्रान्तिस्थान (तुर्यातीतपद) विदेहमुक्त पुरुषोंका प्राप्य है ॥ ३ ॥

---

* जाग्रत् , स्वप्न और सुषुप्तिरूपी तीन पादोंका परामर्श कर अनन्तर जाग्रत् आदि अवस्थाओंके साक्षी चिन्मात्रमें उनके प्रविलापन-क्रमसे जो केवल चैतन्य-परिशेषात्मना अवस्थिति प्राप्त होती है, वह तुर्यावस्था कहलाती है ।

सुषुप्तावस्थया कञ्चित्कालं भुक्त्वा जगत्स्थितिम् ।
तुर्यतामेति तदनु परमानन्दघूर्णितः ॥ ४ ॥
तुर्यातीतदशां तज्ज्ञा यथाऽऽयान्त्यात्मकोविदाः ।
तथाऽधिगच्छ निर्द्वन्द्वं पदं रघुकुलोद्वह ॥ ५ ॥
सुषुप्तावस्थया राम भव संव्यवहारवान् ।
चित्रेन्दोरिव ते न स्तः क्षयोद्वेगावरिन्दम ॥ ६ ॥
शरीरसन्निवेशस्य क्षये स्थैर्ये च संविदः ।
मा गृहाण भ्रमो ह्येष शरीरमिति जृम्भते ॥ ७ ॥

इससे सदेहमुक्त पुरुषोंकी पञ्चम भूमिकासे लेकर सप्तम भूमिका तक ही स्थिति रहती है, यह कहते हैं—**'सुषुप्ता०'** इत्यादिसे ।

निरतिशयानन्दरूपी मदसे मत्त महाज्ञानी कुछ समय तक पूर्वोक्त निर्विकारात्मक सुषुप्त अवस्थासे जगत्स्थितिका अनुभव कर उसके बाद तुर्यावस्थाको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

तुर्यातीत पदमें जबतक विश्रान्ति प्राप्त न हो जाय, तबतक ज्ञानकी दृढ़ता करनी चाहिए, न कि केवल मध्यवर्ती भूमिकाओंमें विश्रान्ति प्राप्त हो जाने तक ज्ञानकी दृढ़ता करनी चाहिए, यों कहते हैं—**'तुर्यातीत०'** इत्यादिसे ।

हे रघुनायक, जिस प्रकार तुर्यातीत पदका परिज्ञान रखनेवाले आत्मतत्त्वज्ञानी महात्मा तुर्यातीत पदको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार आप भी सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे विनिर्मुक्त होकर उस परम पदको प्राप्त कीजिए ॥ ५ ॥

उसमें भी पहले पञ्चम भूमिकाका ही शास्त्रीय व्यवहारोंके निर्वाहके लिए अभ्यास करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**'सुषुप्तावस्थया'** इत्यादिसे ।

हे शत्रुसंतापक श्रीरामजी, निर्विकार सौषुप्ती अवस्थाको (पञ्चमभूमिकात्मिकाको) प्राप्तकर आप उसीसे शास्त्रीय आदि व्यवहारोंमें निरत होइये, यों व्यवहार करनेसे चित्रमें विद्यमान चन्द्रमाका जैसे कलाक्षय या राहुके साथ सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही आपका क्षय (मरण) या तज्जनित उद्वेग (भय) नहीं होगा ॥ ६ ॥

यदि शङ्का हो कि देहका विनाश हो जानेपर संवित्का विनाश अवर्जनीय

देहनाशेन कोऽर्थस्ते कोऽर्थस्ते देहसंस्थया ।
भव त्वं प्रकृतारम्भस्तिष्ठत्वेष यथास्थितम् ॥ ८ ॥
ज्ञातवानसि तत्सत्यं बुद्धवानसि तत्पदम् ।
प्राप्तवानसि रूपं स्वं विशोको भव भूतये ॥ ९ ॥
ईप्सितानीप्सितं त्यक्त्वा शीतलालोकशोभया ।
अन्धकारात्तथाऽम्भोदान्मुक्तं खमिव शोभसे ॥ १० ॥

होनेके कारण संवित्-स्वरूप मेरा विनाश क्यों नहीं होगा, तो इसपर कहते हैं—**'शरीर०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, शरीररूपी घरका विनाश होता है या नहीं होता ? इस प्रकारके सन्देहचक्रमें आप मत पड़िये, क्योंकि यह मेरा शरीर है, इत्यादि जो जृम्भण (अनुभव) है, वह केवल भ्रम है ॥ ७ ॥

यदि देहानुभव भ्रम है, तो वही नष्ट हो जाय, इसपर कहते हैं—**'देहनाशेन'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चाहे देह विनष्ट हो जाय, चाहे वह विनष्ट न हो जाय यानी स्थिर रहे, उससे आपको क्या प्रयोजन है ? आप तो केवल आत्मज्ञानकी स्थिरतामें प्रयत्नशील हो जाइये । यह देह जैसा है, वैसा भले ही बना रहे ॥ ८ ॥

स्वात्मबोधमें सन्देहका निराकरण करते हैं—**'ज्ञातवानसि'** इत्यादिसे ।

भद्र, आप जगत्के अधिष्ठानभूत सत्य तत्त्वको जान गये हैं, सुषुप्ति आदि तीन अवस्थाओंके अधिष्ठानको भी जान गये हैं और अखण्ड वाक्यार्थके स्वरूपको भी प्राप्त हो चुके हैं, इसलिए आप तुर्यातीतरूपी महान् उदयके लिए शोकशून्य हो जाइये ॥ ९ ॥

श्रीरामजी, अभीष्ट और अनभीष्ट विषयोंको छोड़कर आप शीतल साक्षात्कार-रूपी आलोककी शोभासे ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, जैसे कि अन्धकार और मेघमण्डलसे विनिर्मुक्त शरत्पूर्णिमाकी रात्रिका आकाशमण्डल सुशोभित हो रहा हो ॥ १० ॥

मनस्तवाऽऽत्मसंपन्नं नाऽधः समनुधावति ।
योगमन्त्रतपःसिद्धः पुरुषः खादिवाऽवनिम् ॥ ११ ॥

इह शुद्धा चिदेवाऽस्ति पारावारविवर्जिता ।
अयं सोऽहमिदं तन्म इति ते माऽस्तु विभ्रमः ॥ १२ ॥

आत्मेति व्यवहारार्थमभिधा कल्पिता विभोः ।
नामरूपादिभेदस्तु दूरमस्मादलं गतः ॥ १३ ॥

जलमेव यथाऽम्भोधिर्न तरङ्गादिकं पृथक् ।
आत्मैवेदं तथा सर्वं न भूतोयादिकं पृथक् ॥ १४ ॥

यथा समस्ताज्जलधौ जलादन्यन्न लभ्यते ।
तथैव जगतः स्फारादात्मनोऽन्यन्न लभ्यते ॥ १५ ॥

जैसे योग, मन्त्र और तपकी सामर्थ्यसे आकाशगमनकी सिद्धिको प्राप्त हुआ योगी आकाशको छोड़कर पृथ्वीमें अनुधावन नहीं करता, वैसे ही आत्मज्ञानसे सम्पन्न मन भी निम्नकोटीके विषयसुखोंमें अनुधावन नहीं करता ॥ ११ ॥

हे श्रीरामजी, समस्त ब्रह्माण्डमें देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे शून्य विशुद्ध चैतन्यकी ही सत्ता है, दूसरेकी नहीं, इसलिए आपको 'यह, वह, मैं, यह शरीर और वह पुत्र आदि मेरे हैं' इत्यादि विविध भ्रमोंमें नहीं पड़ना चाहिए ॥ १२ ॥

जब केवल विशुद्ध चित् ही है, तब उससे भिन्न 'आत्मा' यह दूसरा नाम कैसे हुआ ? इस पर कहते हैं—**'आत्मेति'** इत्यादिसे ।

सर्वत्र व्यापक चैतन्यका 'आत्मा' यह नाम केवल व्यवहारके लिए ही कल्पित है, नाम, रूप आदि भेद तो इस चैतन्यसे अत्यन्त दूर ही है ॥ १३ ॥

जैसे समुद्र जलस्वरूप ही है, उससे भिन्न तरङ्ग आदि कुछ भी नहीं हैं, वैसे ही यह सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न पृथ्वी, जल आदि कुछ भी नहीं हैं ॥ १४ ॥

जैसे समुद्रमें पूर्ण जलके सिवा दूसरा कुछ भी लब्ध नहीं होता, वैसे ही जगद्रूपसे विस्तृत आत्माके सिवा दूसरा कुछ भी लब्ध नहीं होता ॥ १५ ॥

अयं सोऽहमिति प्राज्ञ क्व करोषि व्यवस्थितिम्।
किं तत्त्वं किश्च वा ते स्यात्किं तत्त्वं किश्च वा न ते ।। १६ ।।

न द्वित्वमस्ति नो देहाः सम्बन्धो न च तैः स्थितः।
संभाव्यते कलङ्को वा भानोरिव तमःपटैः ।। १७ ।।

द्वित्वमभ्युपगम्याऽपि कथयामि तवाऽरिहन् ।
देहादिभिः सद्भिरपि न सम्बन्धो विभोर्भवेत् ।। १८ ।।

हे प्राज्ञ श्रीरामजी, यह देहादि, वह धनादि और मैं आदिकी व्यवस्था आप किसमें करते हैं? देह आदि भावोंमें से जो आप हैं और जो आपके साथ सम्बन्ध रखते हैं, उनका स्वरूप क्या है? और जिनमें आप हैं और जो आपके नहीं हैं, उनका स्वरूप क्या है? अधिष्ठान-दृष्टिसे किसीके साथ भवद्रूपता और भवत्सम्बन्धिता नहीं हो सकती। हाँ, अध्यास दृष्टिसे वैसा हो सकता है, पर वह तो तात्त्विक नहीं है, यह भाव है ।। १६ ।।

परमार्थमें भेद है ही नहीं, इसलिए भेदाधीन देह, देहके साथ सम्बन्ध और देहग्रहण आदि कलङ्कोंकी संभावना ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'न'** इत्यादिसे।

जैसे भगवान् भास्करमें अन्धकारपटसे किसी प्रकारके कलङ्ककी सम्भावना नहीं हो सकती, वैसे ही भेदाधीन कलङ्ककी आत्मामें भी किसी प्रकारसे सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि वास्तवमें न तो भेद है, न देह है और न उनका सम्बन्ध ही आत्मामें है ।। १७ ।।

कथञ्चित् भेद मान लिया जाय और देह आदि भी सत्य मान लिये जायँ, तो भी उनके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं ही हो सकता, यों प्रौढि बतलाते हुए कहते हैं—**'द्वित्व०'** इत्यादिसे।

हे शत्रुनिषूदन, भेदका अङ्गीकार करने पर भी और देह आदिको सत्य मान लेने पर भी व्यापक आत्माका उनके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह आपसे मैं कहता हूँ ।। १८ ।।

छायातपप्रसरयोः प्रकाशतमसोर्यथा ।
न संभवति सम्बन्धस्तथा वै देहदेहिनोः ॥ १९ ॥
यथा शीतोष्णयोर्नित्यं परस्परविरुद्धयोः ।
न संभवति सम्बन्धो राम देहात्मनोस्तथा ॥ २० ॥
अविनाभाविनोर्यस्तु सम्बन्धः कथमेतयोः ।
जडचेतनयोर्देहदेहिनोरनुभूयते ॥ २१ ॥
चिन्मात्रस्याऽऽत्मनो देहसम्बन्ध इति या कथा ।
सैषा दुरवबोधार्था दावाग्नौ जलधिर्यथा ॥ २२ ॥

जैसे छाया और आतपविस्तारका तथा प्रकाश और अन्धकारका परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही शरीर और आत्माका भी परस्पर सम्बन्ध नहीं होता ॥ १९ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे सदा-सर्वदा परस्पर विरुद्ध रहनेवाले शीत और उष्णका एक दूसरेसे सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही चैतन्य और जाड्य धर्मोंसे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध देह और आत्माका भी (एक दूसरेसे) कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ २० ॥

यदि शङ्का हो कि देह और आत्माका संयोग या तादात्म्य सम्बन्ध भले ही न हो, परन्तु समवाय तो हो सकता है, तो इस पर कहते हैं—**'अविनाभाविनोः'** इत्यादिसे ।

जो कि समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्ध पदार्थोंका है, वह इन जड़ देह और चेतन आत्माका कैसे अनुभूत हो सकता है, अर्थात् उनका समवाय सम्बन्ध है, यह अनुभव नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

श्रीरामजी, दावाग्निमें समुद्र है, यह उक्ति जिस प्रकार दुरवबोधार्थ है, उस प्रकार चिन्मात्रस्वरूप आत्माका देहके साथ सम्बन्ध है, यह जो उक्ति है, वह भी असम्भवार्थक है । यदि देहको चैतन्यका आश्रय माना जाय, तो विषय न हो सकनेके कारण उसका स्मरण ही नहीं हो सकेगा । यदि देहको आत्माका विषय मानेंगे, तो आश्रय न हो सकनेके कारण समवाय आदि असिद्ध हो जायँगे और विषयता सम्बन्ध तो मिथ्यावस्तुमें भी रहता है, ऐसी स्थितिसे उसमें सत्यत्व रह नहीं सकता, इसलिए तथोक्ति दुरवबोधार्थ है, यह भाव है ॥ २२ ॥

सत्यावलोकनेनैषा मिथ्यादृष्टिर्विनश्यति ।
अवलोकनया साम्यमातपे जलधिर्यथा ॥ २३ ॥
चिदात्मा निर्मलो नित्यः स्वावभासो निरामयः ।
देहस्त्वनित्यो मलवांस्तेन सम्बन्ध्यते कथम् ॥ २४ ॥
स्पन्दमायाति वातेन भूतैर्वा पीवरीकृतः ।
देहस्तेन न सम्बन्धो मनागेव सहाऽऽत्मना ॥ २५ ॥

तब अध्यस्त ही सम्बन्ध हो? इसपर कहते हैं—**'सत्यावलोकनेनैषा'** इत्यादिसे।

जैसे सूर्यकी किरणोंमें प्रतीत हुआ समुद्रविभ्रम किरणोंके यथार्थ साक्षात्कारसे विनष्ट हो जाता है, वैसे ही अधिष्ठान आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे यह देह और आत्माका परस्पर हुआ सम्बन्धविभ्रम भी विनष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

'शुद्धमपापविद्धम्' (आत्मा निर्मल और समस्त पापोंसे विवर्जित है) इत्यादि श्रुतियोंसे निश्चित स्वाभाविक विशुद्धिके साथ विरोध होनेसे भी आत्मा अशुद्ध देह आदिके साथ तनिक भी स्पर्श नहीं करता, ऐसा कहते हैं—**'चिदात्मा'** इत्यादिसे।

चिदात्मा समस्त मलोंसे विवर्जित, अविनाशी, स्वप्रकाश एवं समस्त विकारोंसे रहित है और देह विनाशी एवं समस्त मलोंसे परिपूर्ण है, ऐसी स्थितिमें विशुद्धि आदि गुणोंसे युक्त आत्मा अविशुद्धि आदिसे उपप्लुत शरीरके साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है ॥ २४ ॥

यदि शङ्का हो कि देहका आत्माके साथ सम्बन्ध नहीं है, तब देहमें क्रिया आदि कैसे हो सकते हैं, क्योंकि आत्मसम्बन्धसे शून्य मृत देहमें क्रिया आदि देखनेमें नहीं आते, तो इस पर कहते हैं—**'स्पन्द०'** इत्यादिसे।

श्रीरामजी, प्राणवायुसे अथवा प्राणस्थितिके प्रयोजक अन्न आदि भूतोंसे प्राप्तबल होकर ही देह स्पन्दनको प्राप्त करती है, इसलिए आत्माके साथ स्वल्प भी देहका सम्बन्ध नहीं है। तात्पर्य यह निकला कि देहगत स्पन्दमें प्राण अथवा बल ही प्रयोजक है, आत्मा नहीं ॥ २५ ॥

सिद्धे द्वित्वेऽपि देहस्य न सम्बन्धस्य संभवः ।
द्वित्वासिद्धौ तु सुमते कलनैवेदृशी कुतः ॥ २६ ॥
इत्येतदेव तत्सत्त्वे तत्रैवाऽन्तःस्थितिं कुरु ।
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति कदाचित्कस्यचित् क्वचित् ॥ २७ ॥

पूर्वोक्त रीत्या द्वैतको सत्य मानने पर भी जब आत्माके साथ देहादिका सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब उसको असत्य मानने पर आत्माके साथ देह आदिका सम्बन्ध नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या ? यों प्रौढिवादका उपसंहार कर रहे श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—**'सिद्धे'** इत्यादिसे ।

हे धीमन्, जब द्वैतकी सत्यता माननेपर भी आत्माके साथ [पूर्वोक्त प्रणालीसे] देहादिका सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब द्वैतकी असत्यतामें इस प्रकार सम्बन्धकी कल्पना ही कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ २६ ॥

द्वैतकी असिद्धि ही कैसे है ? ऐसी आशङ्का कर शरीर और आत्माके सम्बन्धमें दर्शाई गई दूषण युक्तिका वहाँपर (द्वैतासिद्धिमें) भी अतिदेश करते हैं—**'इत्येतदेव'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यदि कोई द्वैतमें सत्यताकी आशङ्का करे तो उसमें पूर्वोक्त इन्हीं युक्तियोंका आश्रयण करना चाहिए । तात्पर्य यह हुआ कि द्वितीय वस्तुकी सिद्धि होने पर ही द्वैतकी सिद्धि हो सकती है । यदि द्वितीय वस्तु चित् है, तो उसमें भेदकका अभाव होनेसे द्वैतसिद्धिकी आशा करना ही व्यर्थ है । यदि द्वितीय वस्तु जड़ है, तो छाया और आतपकी नाईं चित् और जड़का परस्पर विरोध होनेसे पूर्वसिद्ध चित्‌के विरुद्ध जड़ पदार्थ सिद्ध ही नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय कि चित् अपनेसे असम्बद्ध अर्थका साधन करती है, तो उससे भी कुछ मतलब सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि दावाग्निमें सागर है, इस कथनके सदृश ही तथोक्त कथन असंभवार्थक है । यदि द्वैतको अध्यस्त माना जाय, तो वह चित्साक्षात्कारसे विलीन हो जायगा । निर्मलत्व आदि आत्मस्वभावसे विरुद्ध, मलिन देहादि जड़ पदार्थोंकी असङ्ग आत्मासे सिद्धि कैसे हो सकती है इत्यादि पूर्वोक्त युक्तियोंका प्रकृतमें भी साम्य होनेके कारण उपन्यास करना चाहिए । इसलिए द्वैतभ्रमका परित्याग कर अद्वितीय चिन्मात्रमें ही आप निष्ठा कीजिये । उसमें न तो किसीका कभी बन्धन

सर्वमात्ममयं शान्तमित्येवं प्रत्ययं स्फुटम् ।
स बाह्याभ्यन्तरं राम सर्वत्र दृढतां नय ॥ २८ ॥
सुखी दुःखी विमूढोऽस्मीत्येता दुर्दृष्टयः स्मृताः ।
आसु चेद्वस्तुबुद्धिस्ते तच्चिरं दुःखमिच्छसि ॥ २९ ॥
यः क्रमः शैलतृणयोः कौशेयोपलयोस्तथा ।
साम्यं प्रति स एवोक्तः परमात्मशरीरयोः ॥ ३० ॥

होता है और न किसीका कभी मोक्ष होता है यानी उक्तावस्थामें बन्ध, मोक्ष आदिकी शङ्का ही नहीं हो सकती ॥ २७ ॥

वह कौन-सी स्थिति है, जो मुझे करनी है, इस प्रश्नपर उस स्थितिको कहते हैं—'**सर्वम्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पहलेसे ही शान्त हुआ यह समस्त बाह्य और आभ्यन्तर जगत् आत्मस्वरूप ही है, इस प्रकारके स्पष्ट अनुभवको सभी अवस्थाओंमें आप दृढ़ बनाइये ॥ २८ ॥

विरुद्ध दृष्टिका परित्याग करने पर ही सर्वत्र आत्मदृष्टि दृढ़ होती है, इस आशयसे कहते हैं—'**सुखी**' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, बड़े बड़े तत्त्ववेत्ताओंके द्वारा 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मूर्ख हूँ' इत्यादि प्रयत्योंका दुर्दृष्टि शब्दसे व्यवहार किया गया है, यदि आप इन प्रत्ययोंमें वस्तुबुद्धि रखते हैं, तो अवश्य आप दीर्घकालीन दुःखकी ही अभिलाषा रखते हैं, यह मुझे कहना पड़ेगा ॥ २९ ॥

यदि शङ्का हो कि देह, दुःख आदिका अनुभव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे होता है और आत्माका भी अनुभव श्रुति और तदनुकूल युक्तियोंसे होता है, इसलिए जब दोनों अनुभव प्रमाण-जनित होनेके कारण समान ही हैं, तब ऐसा कौन विशेष है, जिसके कि आधार पर आप यह कहते हैं—आत्मदृष्टिका अवलम्बन कर देहादिदृष्टिका परित्याग कर देना चाहिए, तो इस शङ्का पर कहते हैं—'**यः क्रमः**' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, पर्वत और तिनकेमें तथा रेशम और पत्थरमें जो विशेष कहा जाता है, वही विशेष परमात्मा और शरीरकी समानताके प्रति कहा जा सकता है । भाव यह है—जैसे पर्वत और तिनका—इन दोके मध्यमें दूरसे चक्षुके द्वारा पर्वतपर ही

यथा तेजस्तिमिरयोर्न सम्बन्धो न तुल्यता ।
अत्यन्तभिन्नयो राम तथैवाऽऽत्मशरीरयोः ॥ ३१ ॥
यथा शीतोष्णयोरैक्यं कथास्वपि न दृश्यते ।
जडप्रकाशयोः श्लेषो न तथाऽऽत्मशरीरयोः ॥ ३२ ॥

दृष्टि पड़ती है, क्योंकि पर्वत बड़ा और स्थिर है, इसलिए उसमें अनायास दृष्टि सुकर हो जाती है। तिनका अति चञ्चल और तुच्छ है, अतः दूरसे चक्षुके द्वारा तृण-दृष्टि दुष्कर हो जाती है। इसी प्रकार रेशम और पत्थरके बीचमें भी मृदु और सुखस्पर्श होनेके कारण त्वगिन्द्रियसे रेशमका स्पर्श ही उपादेय होता है, कठोर और दुःखद होनेके कारण पाषाणका स्पर्श उपादेय नहीं होता, प्रत्युत हेय ही होता है, बस इसी प्रकार परमात्मा और देहादि अनात्माके बीचमें भी अपरिच्छिन्न, सदा-सर्वदा स्वप्रकाश और आनन्दरूप होनेके कारण परात्मदृष्टि उपादेय एवं सुकर है और तुच्छ, अस्थिर और मन आदिसे सापेक्ष होनेके कारण देहादि अनात्मदृष्टि हेय और दुष्कर है, यों आत्मा और अनात्माकी दृष्टिमें महान् वैषम्य होनेसे साम्य नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

विरोध होनेसे भी शरीर और आत्माके सम्बन्धकी नाईं सादृश्य भी निरस्त किया जा सकता है, ऐसा कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जैसे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध तेज और तिमिरका एक दूसरेसे सन्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता, वैसे ही परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आत्मा और शरीरका भी एक दूसरेसे सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

विरोध होनेसे ही देह और देहीके परस्पर तादात्म्यकी शङ्का भी नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जैसा शीत और उष्णका ऐक्य वाणीके विलासमें भी कहीं नहीं दिखाई पड़ता, वैसे ही जड़ और प्रकाशस्वरूप देह और आत्माका भी संयोग नहीं हो सकता । जब आत्मा और अनात्माका संयोग ही असम्भव है, तब उनका ऐक्य तो दूरतः ही निरस्त है, यह भाव है ॥ ३२ ॥

देहश्चलति वातेन तेनैवाऽऽयाति गच्छति ।
शब्दं करोति वातेन देहनाडीविलासिना ॥ ३३ ॥
शब्दः कचटतप्रायः स्फुरत्यन्तः समीरणैः ।
यथा प्रजायते वंशाद्देहरन्ध्रात् तथैव हि ॥ ३४ ॥
कनीनिकापरिस्पन्दश्चक्षुःस्पन्दस्य मारुतात् ।
इन्द्रियस्फुरणात् सैव संवित्केवलमात्मनः ॥ ३५ ॥
आकाशोपलकुड्यादौ सर्वत्राऽऽत्मदशा स्थिता ।
प्रतिबिम्बमिवाऽऽदर्शे चित्त एवाऽत्र दृश्यते ॥ ३६ ॥

यह देह प्राणवायुसे ही चलती है, उसीसे आती और जाती रहती है एवं देहकी नाडियोंमें विलास करनेवाले प्राणवातसे ही शब्द करता है । पहले २५वें श्लोकसे आत्माके साथ संयोगादि सम्बन्धके बिना भी प्राणवायुसे देहचेष्टा होती है, इसका प्रतिपादन किया था और इस श्लोकसे आत्माके साथ ऐक्य न होनेपर भी देह-चेष्टा प्राणसे हो सकती है, यह प्रतिपादन किया, इसलिए पुनरुक्तिकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए ॥ ३३ ॥

जैसे छिद्रयुक्त बाँसोंसे वायुके द्वारा शब्द उत्पन्न होते हैं, वैसे ही शरीरके कण्ठरूप छिद्रसे उद्गत प्राणवायुओंसे [जब कि वे कण्ठ, तालु आदि स्थानोंमें जिह्वा आदिके द्वारा अभिघातसे निकाले जायँगे, तब] कवर्ग, चवर्ज, टवर्ग, तवर्ग आदि शब्द प्रकट होते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ॥ ३४ ॥

इसी युक्तिसे चक्षु आदि सम्पूर्ण इन्द्रियोंका स्पन्द भी वायुसे ही होता है, आत्माका तो कार्य केवल संवित् ही है, दूसरा नहीं, यह कहते हैं—**'कनीनिका०'** इत्यादिसे ।

विषय-प्रदेशमें होनेवाले चक्षुःस्पन्दमें हेतुभूत कनीनिकाका परिस्पन्द भी केवल प्राण-वायुसे ही होता है, यों समस्त इन्द्रियोंके स्फुरणसे उत्पद्यमान उक्त स्फूर्तिरूपा संवित्ति ही केवल आत्मासे होती है, दूसरा कुछ भी नहीं होता ॥ ३५ ॥

यद्यपि वह सर्वगत और नित्य है, तथापि चित्त और उसकी वृत्तियोंमें ही अभिव्यक्त होती है, अन्यत्र नहीं, ऐसा कहते हैं—**'आकाशो०'** इत्यादिसे ।

शरीरालयमुत्सृज्य यत्र चित्तविहङ्गमः ।
स्ववासनावशाद्याति तत्रैवाऽऽत्माऽनुभूयते ॥ ३७ ॥
यत्र पुष्पं तत्र गन्धसंविदः संस्थिता यथा ।
यत्र चित्तं हि तत्राऽऽत्मसंविदः संस्थितास्तथा ॥ ३८ ॥
सर्वत्र स्थितमाकाशमादर्शे प्रतिबिम्बति ।
यथा तथाऽऽत्मा सर्वत्र स्थितश्चेतसि दृश्यते ॥ ३९ ॥
अपामत्रनतं स्थानमास्पदं भूतले यथा ।
अन्तःकरणमेवाऽऽत्मसंविदामास्पदं तथा ॥ ४० ॥
सत्यासत्यं जगद्रूपमन्तःकरणबिम्बिता ।
आत्मसंवित्तनोतीदमालोकमिव सूर्यभा ॥ ४१ ॥

यद्यपि आकाश, पत्थर, भीत आदि सर्वत्र स्थानोंमें आत्माकी स्थिति (सत्ता) विद्यमान है, तथापि दर्पणमें प्रतिबिम्बकी नाईं इस चित्तमें ही वह दीखाई पड़ती है ॥ ३६ ॥

अतएव चित्तके गमनसे ही आत्माका परलोकमें गमन आदि व्यवहार भी होता है, ऐसा कहते हैं—**'शरीरालय०'** इत्यादिसे ।

शरीररूपी आलयको छोड़कर जहाँ चित्तरूपी पक्षी अपनी वासनाके अनुसार जाता है, वहीं पर आत्मा अनुभूत होता है ॥ ३७ ॥

जहाँ पुष्प रहता है, वहीं पर जैसे गन्धकी संवित् (ज्ञान) रहती है, वैसे ही जहाँ चित्त रहता है, वहीं पर आत्माकी संवित् रहती है ॥ ३८ ॥

जैसे सर्वत्र अवस्थित आकाश दर्पणमें प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सर्वत्र अवस्थित आत्मा चित्तमें दीखाई पड़ता है ॥ ३९ ॥

जैसे पृथ्वीमें नीचेका स्थान जलका आश्रय स्थान होता है, वैसे ही अन्तःकरण ही चैतन्य-प्रतिबिम्बिका आश्रय स्थान है ॥ ४० ॥

जैसे सूर्यकी प्रभा आलोकका विस्तार करती है, वैसे ही अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित आत्मसंवित् व्यावहारिक और प्रतिभासिक जगत्-स्वरूपका विस्तार करती है ॥ ४१ ॥

अन्तःकरणमेवाऽतः कारणं भूतसंसृतौ ।
आत्मा सर्वातिगत्वात्तु कारणं सदकारणम् ॥ ४२ ॥
अविचारणमज्ञानं मौर्ख्यमाहुर्महाधियः ।
संसारसंसृतौ सारमन्तःकरणकारणम् ॥ ४३ ॥
असम्यक्प्रेक्षणान्मोहाच्चेतः सत्तां गृहीतवत् ।
सम्मोहबीजकणिकां तमोऽर्कादिव दृश्यते ॥ ४४ ॥
यथाभूतात्मतत्त्वैकपरिज्ञानेन राघव ।
असत्तामेत्यलं चेतो दीपेनेव तमः क्षणात् ॥ ४५ ॥

अतः भूतोंकी उत्पत्तिमें (संसृतिमें) अन्तःकरण यानी समष्ट्यात्मा हिरण्यगर्भ ही कारण है, आत्मा तो समस्त पदार्थोंसे परे है, इससे प्रतिबिम्ब द्वारा भूतोत्पत्तिमें कारण होते हुए भी आत्मा स्वतः कारण नहीं है ॥ ४२ ॥

तब अन्तःकरणका कारण कौन है ? इस प्रश्न पर उसका कारण कहते हैं— **'अविचार०'** इत्यादिसे ।

प्रखर बुद्धिवाले विद्वान् लोग यह कहते हैं कि संसारकी सृष्टिमें अविचार, अज्ञान और मूढ़ता ही सारभूत है और यही अन्तःकरणमें हेतु है, ॥ ४३ ॥

अन्यथाग्रहणके संस्कारोंकी सामर्थ्यरूप मोहसे विभ्रमोंकी बीजकनीभूत सत्ताका (चित्तपरिणामका) अन्तःकरणने ग्रहण किया है, और जैसे मोहसे असम्भावित अन्धकार सूर्यसे दिखाई देता है, वैसे ही सम्मोहसे ही असंभावित जन्मादिपरम्परा आत्मामें दिखाई देती है। अथवा जैसे सूर्यसे ही उसको ग्रसनेवाला राहुरूप तम दिखाई देता है, वैसे ही तथोक्त कारणसे चित्तपरिणामको ग्रहण करनेवाला अज्ञान 'मैं अज्ञ हूँ' यों प्रत्यक्षरूपसे आत्मामें सभी पुरुषोंको दिखाई पड़ता है ॥ ४४ ॥

तब चित्तविनाश किस कारणसे होता है ? इस प्रश्न पर चित्तविनाशमें कारण कहते हैं—**'यथा०'** इत्यादिसे ।

हे रामजी, जैसे दीपसे अन्धकार तत्क्षण ही असत्ताको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही अबाधित आत्माके केवल स्वरूप-ज्ञानसे ही चित्त तत्क्षण असत्ताको पूर्णरूपसे प्राप्त यानी नष्ट हो जाता है ॥ ४५ ॥

संसारकारणमितः स्वयं चेतो विचारयेत् ।
जीवोऽन्तःकरणं चित्तं मनश्चेत्यादिनामकम् ॥ ४६ ॥

श्रीराम उवाच

एताः संज्ञाः प्रभो ब्रह्मंश्चेतसो रूढिमागताः ।
कथमित्येव कथय मयि मानद सिद्धये ॥ ४७ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वे भावा इमे नित्यमात्मतत्त्वैकरूपिणः ।
चित्तात्तरङ्गकगणा जलैककलिता यथा ॥ ४८ ॥
आत्मा स्पन्दैकरूपात्मा स्थितस्तेषु क्वचित् क्वचित् ।
तरङ्गेषु विलोलेषु पयोधेः सलिलं यथा ॥ ४९ ॥

इसी चित्तके कारणसे संसारका कारणभूत अज्ञान प्राप्त हुआ है, अतः अधिकारी जनको स्वयं उसके विषयमें विचार करना चाहिए अथवा इससे संसारके कारणभूत चित्तके विषयमें विचार करना चाहिए, जिसके कि जीव, अन्तःकरण, चित्त, मन आदि अनेक नाम हैं ॥ ४६ ॥

श्रीरामजीने कहा—मान्यतम हे भगवन् , चित्तके ये नाम किस योगसे यानी किस व्युत्पत्तिसे योगरूढ़िको प्राप्त हुए हैं, हे ब्रह्मन् , उसीको मुझसे इसलिए कहिए कि जिससे आपके द्वारा प्रतिपादित पूर्वोक्त विचारोंकी सिद्धि हो जाय ॥ ४७ ॥

उसमें पहले रूढि और योगांशसे जीव नामका निर्वचन करनेके लिए महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'सर्वे' इत्यादिसे ।

वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जैसे तरङ्गोंके समूह केवल जलसे ही उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ये समस्त पदार्थ, जो आत्मतत्त्वके साथ ऐक्याध्यास होनेके कारण आत्मतत्त्वस्वरूप प्रतीत होते हैं, केवल चित्तसे (समष्टि चित्तसे) ही सदा उत्पन्न होते हैं ॥ ४८ ॥

उत्पन्न पदार्थोंके स्थावर-विभागमें हेतु बतलाते हैं—'आत्मा' इत्यादिसे ।

जैसे समुद्रका जल चञ्चल तरङ्गोंमें स्पन्दात्मा होकर अवस्थित रहता है, वैसे ही आत्मा चित्तसे उत्पन्न उन पदार्थोंमें कहीं कहीं पर केवल स्पन्दरूपात्मा होकर अवस्थित रहता है ॥ ४९ ॥

क्वचिदस्पन्दरूपात्मा स्थितस्तेषु महेश्वरः ।
तरङ्गत्वमयातेषु जलभावो जलेष्विव ॥ ५० ॥
तत्रोपलादयो भावा अलोलाः स्वात्मनि स्थिताः ।
सुराफेनवदुत्स्पन्दा लोलास्तु पुरुषादयः ॥ ५१ ॥
तत्र तेषु शरीरेषु सर्वशक्तिस्तदात्मनः ।
कलिताज्ञानकलना तेनाऽज्ञानमसौ स्थितः ॥ ५२ ॥
तदज्ञानमनन्तात्मभूषितं जीव उच्यते ।
स संसारे महामोहमायापञ्जरकुञ्जरः ॥ ५३ ॥
जीवनाज्जीव इत्युक्तोऽहंभावः स्यात्त्वहन्तया ।
बुद्धिर्निश्चायकत्वेन संकल्पकलनान्मनः ॥ ५४ ॥

जैसे तरङ्गभावको प्राप्त न हुए जलोंमें जल अस्पन्दस्वरूप होकर रहता है, वैसे ही उन पदार्थोंमें कहीं पर परमात्मा अस्पन्दनस्वरूपात्मा होकर अवस्थित रहता है ॥ ५० ॥

उन भावोंमें अचञ्चल (स्थिर) पत्थर आदि पदार्थ तो अपने स्वरूपमें अवस्थित हैं और सुराके फेनकी नाईं अत्यन्त उत्कट स्पन्दसे युक्त पुरुष चञ्चल हैं यानी अपने स्वरूपमें अवस्थित नहीं हैं ॥ ५१ ॥

उसमें उन उन शरीरोंमें सर्वशक्ति तत्-तत् पदार्थ-स्वरूपापन्न आत्माके द्वारा कल्पित अज्ञानकी कलना प्रसिद्ध है, इसी कारणसे स्वयं आत्मा ही उक्त स्वकल्पित अज्ञानस्वरूप होकर सुषुप्ति और प्रलयमें अवस्थित रहता है ॥ ५२ ॥

प्रतिबिम्बभावको संप्राप्त अनन्त आत्माके द्वारा भूषित-सा होकर प्रस्फुरित हुआ उक्त अज्ञान ही रूढि अंशको लेकर जीव कहा जाता है। वही इस संसारमें महामोहरूपी मायाके पिंजड़ेमें फँसा हुआ हाथी है ॥ ५३ ॥

उसमें योगांशको कहते हैं—**'जीवनात्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, साभास अज्ञान ही प्राण-धारण करनेसे 'जीव' यों कहा गया है, अहन्ता होनेसे यानी सर्वप्रथम 'अहम्' (मैं हूँ) यों व्यवहार करनेके कारण अहंभावसे (अहंनामसे), निश्चय करनेके कारण बुद्धिनामसे और सङ्कल्प करनेके कारण मन-नामसे कहा गया है ॥ ५४ ॥

प्रकृतिः प्रकृतित्वेन देहो दिग्धतया स्थितः ।
जडः प्रकृतिभावेन चेतनः स्वात्मसत्तया ॥ ५५ ॥
जडाजडदृशोर्मध्यं यत्तत्त्वं पारमात्मिकम् ।
तदेतदेव नानात्वं नानासंज्ञाभिराततम् ॥ ५६ ॥
एवं स्वरूपं जीवस्य बृहदारण्यकादिषु ।
बहुधा बहुषु प्रोक्तं वेदान्तेषु किलाऽनघ ॥ ५७ ॥

जीव मन आदिकी प्रकृति (कारण) होनेसे प्रकृति, उपचित (वृद्धिंगत) होनेसे देह, अज्ञान अंशकी प्रधानतासे जड़ और चैतन्यकी प्रधानतासे चेतन कहा जाता है ॥ ५५ ॥

अज्ञान और अज्ञानके साक्षी दोनोंके बीचमें रहनेवाला साभास मन ही तत्-तत् नाना-रूपताको प्राप्त होकर जीव, बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार आदि अनेक नामोंसे व्यवहृत होता है ॥ ॥५६ ॥

परमात्माका ही उपाधिमें प्रवेश हो जानेसे उसके अनेक नाम हो जाते हैं, इसमें श्रुतियोंका प्रमाणरूपसे प्रदर्शन करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

हे अनघ, उस प्रकारके जीवके स्वरूपोंका बृहदारण्यक आदि अनेक वेदान्त-ग्रन्थोंमें अनेक तरहसे* निश्चित-रूपसे कथन किया गया है ॥ ५७ ॥

* 'स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः' (यह आत्मा ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब तकके देहोंमें नखाग्र पर्यन्त प्रविष्ट है यानी जलमें सूर्यकी नाईं प्रतिबिम्बित है), इसका उपक्रम कर 'प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन्वाक् पश्यँश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनाम-धेयानि' (प्राणन क्रियाको कर रहा आत्मा प्राण नामवाला, वदन क्रियाको कर रहा वाक् नामवाला, दर्शन क्रियाको कर रहा चक्षु नामवाला, श्रवणक्रियाको कर रहा श्रोत्र नामवाला मनन क्रियाको कर रहा मन नामवाला होता है, आत्माके ये सब नाम कर्मकृत हैं), इसी प्रकार 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमति-क्रामति मृत्यो रूपाणि' (स्वप्रकाश आत्मा संनिहितत्वादिसे बुद्धिके सदृश होकर अन्योन्यधर्मा-दिका अध्यास होनेपर प्राप्त और प्राप्तव्य दोनों लोकोंमें संचरण करता है, बुद्धिका ध्यान व्यापार होने पर आत्मा मानो ध्यान करता हुआ-सा, प्राणादि वायुओंके चलने पर चलता हुआ-सा प्रतीत होता है। स्वप्नाकारमें परिणत बुद्धिवृत्तिके अवभासकरूपसे स्वप्नाकार होकर जाग्रत्-व्यवहाररूप इस लोकका अतिक्रमण-करता है यानी उसका अभिमान छोड़ देता है। अज्ञानरूपी मृत्युके अहमभिमान आदि स्वरूपोंका अतिक्रमण करता है), इसी प्रकार 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ।', 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य

अज्ञैस्त्वेतासु संज्ञासु कुविकल्पकुतार्किकैः ।
मोहाय केवलं मूढैर्व्यर्थमास्थाः प्रकल्पिताः ॥ ५८ ॥
एवमेष महाबाहो जीवः संसारकारणम् ।
मूकेनाऽतिवराकेण देहकेनेह किं कृतम् ॥ ५९ ॥

अतएव वैदिक मार्गका अनुसन्धान न करनेवाले कुतार्किकों द्वारा की गई विरुद्ध विरुद्ध जीवस्वरूपकी कल्पनाओंका समादर नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'अज्ञैः'** इत्यादिसे ।

आज्ञानी मूढोंने, जो कुत्सित कल्प विकल्पोंकी सिद्धिके लिए दुष्ट तर्क-वितर्क करनेमें निपुण हैं, इन जीवादि संज्ञाओंमें केवल मोहके लिए व्यर्थ ही अभिनिवेशोंकी कल्पना कर रक्खी है ॥ ५८ ॥

इन युक्ति-प्रयुक्तियोंसे यह सिद्ध हुआ कि न तो शुद्ध आत्मा संसारी है और न देह ही संसारी है, किन्तु मध्यवर्ती जीव ही संसारी है, इस आशयसे कहते हैं—**'एवमेष'** इत्यादिसे ।

हे महाबाहो, इस प्रकार यह जीव ही संसारका कारण है, बिचारी वाणी आदिसे शून्य यानी जड़ देहने इसमें किया ही क्या ? अर्थात् जड़ शरीरसे संसार-स्थिति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ ५९ ॥

च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।', 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् ॥' (सङ्कल्प आदि बुद्धिके गुणोंसे तथा जरा, मृत्यु आदि शरीरके गुणोंसे ज्ञानरूप व्यापक आत्मा आरेके अग्रभागकी नाईं दिखाई पड़ता है,' 'केशके अग्रभागके सौबार किये गये भागका पुनः सौबार किया गया जो विभाग है, उसके नाईं जीवको सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानना चाहिए, वह जीवस्वरूपसे अनन्त हो जाता है, जगत्की सृष्टिकर उसीमें आत्माने अनुप्रवेश किया, उसमें प्रवेशकर आत्मा पृथ्वी आदि मूर्त और आकाश आदि अमूर्त स्वरूप हो गया ।), 'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत......तस्मादिदन्द्रो नाम । यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानम्' (उस परमेश्वरने मूर्धाके मध्यभागरूप सीमा प्रदेशमें छिद्र कर उसीके द्वारा शरीरमें प्रवेश किया,...इससे इन्द्र नाम हुआ, संकल्प आदिका साधनभूत मन और बुद्धि है, वह संज्ञान है, आज्ञप्ति, विज्ञान और प्रज्ञान है) तथा 'त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः ।', एको देवो बहुधा विचारः,' एक सन् बहुधा विचारः, (तुम एक अद्वितीय हो, अनेकमें प्रविष्ट हो, एक आत्मदेव बहुत प्रकारसे विचरण करता है) इत्यादि श्रुतियाँ इस तरहके आत्माके अनेकविध नामोंमें प्रमाण हैं ।

आधाराधेययोरेकनाशे नाऽन्यस्य नष्टता ।
यथा तथा शरीरादिनाशे नाऽऽत्मनि नष्टता ॥ ६० ॥
एकपर्णरसे क्षीणे रसो नैति यथा क्षयम् ।
याति पर्णरसश्चाऽर्करश्मिजालान्तरे यथा ॥ ६१ ॥
शरीरसंक्षये देही न क्षयं याति कस्यचित् ।
निर्वासनश्चेत्तद्व्योम्नि तिष्ठत्यात्मपदे तथा ॥ ६२ ॥
देहनाशे विनष्टोऽस्मीत्येवं यस्याऽमतेर्भ्रमः ।
मातुः स्तनतटात्तस्य मन्ये वेताल उत्थितः ॥ ६३ ॥

अतएव देहका विनाश होनेपर भी जीवका विनाश नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'**आधारा०**' इत्यादिसे ।

जैसे आधार (घट) और आधेय (जल) इन दोमें से किसी एकका विनाश होनेपर दूसरा नष्ट नहीं होता, वैसे ही शरीर आदिका नाश होनेपर आत्मा नष्ट नहीं होता ॥ ६० ॥

जैसे एक पत्तेके रसका विनाश होनेपर भी वृक्षव्यापी रसका विनाश नहीं होता, किन्तु अन्य पत्तेमें उसकी सत्ता रहती ही है, वैसे ही देहका विनाश होनेपर भी देहव्यापी आत्माका विनाश नहीं होता, किन्तु यदि वह वासनायुक्त है, तो शरीरनाशानन्तर वासनामें स्थित रहता है एवं जैसे क्षीण हुआ पत्तेका रस सूर्यकी किरणोंमें चला जाता है, वैसे ही यदि वह वासनाशून्य है, तो ब्रह्माकाशस्वभावमें स्थित रहता है ॥ ६१, ६२ ॥

जिस महामूर्खको इस प्रकार भ्रम हो कि शरीरके नष्ट होनेपर मैं नष्ट हो गया, तो उस मूर्खके लिए मैं यों मानता हूँ कि माताके स्तनसे उसके लिए वेतालका समुत्थान हो गया है । तात्पर्य यह है कि 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' (शरीरसम्बन्धसे रहित हुए आत्माको सुख या दुःख कुछ भी स्पर्श नहीं करते) इस श्रुतिसे देहविनाश भयका अहेतु प्रतीत होता है, ऐसी अवस्थामें अभयहेतु शरीर-विनाशमें भयहेतुत्वका मिथ्या परिज्ञान रखनेवाले महामूर्खको अपनी माताके स्तनसे भी वेतालके समुत्थानकी संभावना हो सकती है और उस सम्भावनासे स्तन्यपान न हो सकनेसे उसका जीवन भी दुर्लभ हो जायगा ॥ ६३ ॥

यस्य ह्यात्यन्तिको नाशः स्यादसावुदितः स्मृतः ।
चित्तनाशो हि नाशः स्यात्स मोक्ष इति कथ्यते ॥ ६४ ॥

मृतो नष्ट इति प्रोक्तो मन्ये तच्च मृषा ह्यसत् ।
स देशकालान्तरितो भूत्वा भूत्वाऽनुभूयते ॥ ६५ ॥

इहोह्यन्ते जनैरेवं तरङ्गान्तस्तृणैरिव ।
मरणव्यपदेशासु देशकालतिरोहितैः ॥ ६६ ॥

वासनावस्थितो जीवो यात्युत्सृज्य शरीरकम् ।
कपिर्वनतरुं त्यक्त्वा तर्वन्तरमिवाऽऽस्थितः ॥ ६७ ॥

यदि शङ्का हो कि देह जीवसे भिन्न है, इसलिए देहके विनाशसे जीवको भय न हो, तो भले ही मत हो, परन्तु चित्त जीवस्वरूप है, इसलिए चित्तके नाशसे तो जीवको भय हो सकता है, तो इसपर कहते हैं—**'यस्य'** इत्यादिसे ।

यदि उस उपाधिका, जो कि वज्रकी बेड़ीके समान अत्यन्त दृढ़ बन्धनभूत है, आत्यन्तिक नाश होगा, तो यह जीव अपनी ब्रह्मस्वरूपताका स्मरण कर निरतिशयानन्दरूपी अभ्युदयको प्राप्त हो जायगा, क्योंकि आप चित्तके नाशसे जीव-विनाशकी जो सम्भावना करते हैं, वह शास्त्रोंमें जीवके लिए मोक्ष कहा गया है ॥ ६४ ॥

'मैं नष्ट हो गया, मैं मर गया' यों लोगों द्वारा विनाशित्व आदिसे विशिष्ट जो जीव कहा जाता है, उसे निश्चितरूपसे मैं मिथ्या और असत् मानता हूँ, क्योंकि देश और कालसे व्यवहित होकर यानी पूर्व शरीर-त्यागानन्तर विभिन्न विभिन्न देश और कालमें जाकर वह अन्य देहको ग्रहण करके पुनः पुनः अनुभूत होता है ॥ ६५ ॥

इस संसारमें मरण नामकी नदियोंमें, तरङ्गोंके भीतर तृणके सदृश, प्रतीत होनेवाले जीवोंके द्वारा देश और कालवश तिरोहितस्वरूपोंसे उक्त प्रकारके भावोंकी—मर गया, नष्ट हो गया, उत्पन्न हुआ आदि पदार्थोंकी—भ्रान्तिवशसे कल्पना की जाती है ॥ ६६ ॥

कल्पनाकी विलक्षणतामें वासनाकी विलक्षणता हेतु है, इस आशयसे कहते हैं—**'वासना०'** इत्यादिसे ।

पुनस्तदपि संत्यज्य गच्छत्यन्यदपि क्षणात् ।
अन्यस्मिन्वितते देशे कालेऽन्यस्मिंश्च राघव ॥ ६८ ॥

इतश्चेतश्च नीयन्ते जीवा वासनया स्वया ।
चिरं तदपिजीविन्या धूर्त्या धात्र्येव बालकाः ॥ ६९ ॥

वासनारज्जुवलिता जीर्णाः पर्वतकुक्षिषु ।
जरयन्त्यतिदुःखेन जीवितं जीवजीविकाः ॥ ७० ॥

जरठजरदुपोढदुःखभाराः
परिणतिजर्जरजीविताश्च सत्यः ।
हृदयजनितवासनानुवृत्त्या
नरकभरे जनताश्चिरं पतन्ति ॥ ७१ ॥

जैसे बन्दर वनके एक वृक्षको छोड़ कर दूसरे वृक्षपर चला जाता है, वैसे ही वासनामें आरूढ़ जीव एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरपर चला जाता है ॥ ६७ ॥

हे राघव, जिस शरीरपर वह चला गया, उस शरीरको भी छोड़कर दूसरे विस्तृत देश और दूसरे कालमें दूसरे शरीरपर भी थोड़े ही समयमें चला जाता है ॥ ६८ ॥

जैसे आसक्त उपमाता बालकोंको इधर-उधर ले जाती है, वैसे ही अपनी ही वंचक वासना, जिसका कि जीवोंका यथार्थस्वरूप आवृत कर जीना ही स्वभाव है, बहुत काल तक इधर-उधर जीवोंको ले जाती है ॥ ६९ ॥

अपने अपने कार्योंकी सिद्धियोंमें एक दूसरेका परस्पर उपयोग करनेके कारण जो एक दूसरेके जीवनके उपाय यानी साधन हैं, ऐसे वासनारूपी रज्जुसे बँधे हुए जीव पहलेसे ही जीर्ण तो हैं ही, फिर भी पर्वतोंकी कुक्षियोंमें यानी पर्वततुल्य जड़ शरीरमें अत्यन्त दुःखपूर्वक प्राणोंको क्षीण कर रहे हैं ॥ ७० ॥

श्रीरामजी, जरठोंसे (जीर्णोंसे) भी अधिक जीर्ण होकर जिन्होंने दरिद्रता, रोग, वियोग आदिसे जनित दुःखोंके बोझोंको ढोया है तथा अनेक योनियोंमें दुर्दशाग्रस्त परिणामोंसे जरजर यानी दुःखोंसे शिथिल हुआ जिनका जीवन है,

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ७२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे संसारोपदेशो नामैकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

॥ त्रयोदशो दिवसः ॥

ऐसे जीव हृदयमें उत्पन्न वासनाओंकी परम्परासे नरकोंमें दीर्घकाल तक निवास करते हैं, आश्चर्य है कि वासनादोषसे जनित दुर्दशा असीम है, यह भाव है ॥ ७१ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—मुनि वसिष्ठ महाराजके ऐसा कहने पर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलकी ओर चले गये और सभा मुनिजीको नमस्कार कर सायंकालीन विधिके लिए चली गई और रात्रि बीतने पर सूर्यकी किरणोंके साथ फिर दूसरे दिन आ गई ॥ ७२ ॥

एकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ दिन

द्विसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

देहे जाते न जातोऽसि देहे नष्टे न नश्यसि ।
त्वमात्मन्यकलङ्कात्मा देहस्तव न कश्चन ॥ १ ॥
यः कुण्डबदरन्यायो या घटाकाशसंस्थितिः ।
तत्रैकस्मिन् क्षते क्षीणे द्वे इति व्यर्थकल्पना ॥ २ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग

[शरीर भौतिक है, अतः वह शोक, मोहके योग्य नहीं है, इसका तथा दृग्-दृश्यके सम्बन्ध और विशुद्ध साक्षीका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे महाभाग श्रीरामजी, आप देहके उत्पन्न होनेपर न तो उत्पन्न होते हैं और न देहके विनष्ट होनेपर नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि अपने स्वरूपमें आप किसी तरहके कलङ्कसे कलङ्कित नहीं हैं यानी निज स्वरूपसे आप विशुद्ध हैं, अतः आपकी देह कोई चीज नहीं है ॥ १ ॥

'मैं गोरा हूँ', 'मैं मोटा हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणसे आत्मामें देहरूपताका साक्षात् अनुभव होता है, अतः देहका विनाश होनेपर आत्माकी स्थिति कैसे हो सकती है ? तो इसपर कहते हैं—'**यः**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जो कुण्ड और बदरका (बेरके वृक्ष या फलका) न्याय है और जो घट और आकाशकी मर्यादा है, वही यहाँपर भी (देह और आत्म-स्थलमें भी) समझनी चाहिए। [तात्पर्य यह है कि जैसे 'कुण्डेमें बेर', 'घटाकाश' इत्यादि व्यवहारोंमें कुण्डे और बेरका तथा घट और आकाशका सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर उनका तादात्म्य प्रतीत नहीं होता, वैसे ही 'मैं गोरा हूँ' इत्यादि व्यवहारसे शरीर और आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर वास्तवमें वह नहीं है ।] ऐसी स्थितिमें एक कुण्ड या घटके नष्ट हो जानेपर कुण्ड और बदर तथा घट और आकाश दोनों भी नष्ट हो गये, इस प्रकार मूर्खोंकी व्यर्थ कल्पना है ॥ २ ॥

विनाशिनि विनष्टेऽस्मिन् देहे स्वां स्थितिमागते ।
विनश्यामीति यः खेदी तं धिगस्त्वन्धचेतसम् ॥ ३ ॥
यादृशो रश्मिरथयोः स्नेहोद्वेगविवर्जितः ।
सम्बन्धस्तादृशो देहचित्तेन्द्रियमुखैश्चितेः ॥ ४ ॥
गतेतरेतरापेक्षः सरःपङ्कामलाम्भसाम् ।
यथा राघव सम्बन्धस्तथा देहेन्द्रियात्मनाम् ॥ ५ ॥
यादृशोऽध्वा गताध्वानां निरास्थापरिदेवनः ।
संयोगो विप्रयोगश्च तादृशो देहदेहिनोः ॥ ६ ॥
यथा कल्पितवेतालविकारभयभीतयः ।
मिथ्यैव कल्पिता एते तथा स्नेहसुखादयः ॥ ७ ॥

नश्वर-स्वभाववाले इस देहके नष्ट हो जानेपर आत्मा अपनी सहज स्थितिको प्राप्त हो जाता है, ऐसी हालतमें 'देहका विनाश होनेपर मैं नष्ट हो जाता हूँ' इस प्रकारकी भावनासे जो दुःखी होता है, उस अन्धबुद्धिको धिक्कार है ॥ ३ ॥

यदि आत्माका देहके साथ तादात्म्य नहीं है, तो जैसे शाखाके कम्पनसे वृक्षमें कम्पन होता है, वैसे ही देहकी प्रवृत्तिसे आत्मा संसारका भागी क्यों होता है ? इसपर कहते हैं—**'यादृशो'** इत्यादिसे ।

जिस प्रकार घोड़े आदिकी लगाम और रथका सम्बन्ध प्रीति और द्वेषकी योग्यतासे रहित है, उसी प्रकार चितिका भी देह, चित्त, इन्द्रिय आदिके साथ सम्बन्ध प्रीति और द्वेषकी योग्यतासे रहित है ॥ ४ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे सरोवर, तद्गत पङ्क और निर्मल जलका सम्बन्ध किसी प्रकारके परस्परके अनुरागसे युक्त नहीं है, वैसे ही देह, इन्द्रिय और आत्माका भी सम्बन्ध किसी प्रकारके परस्परके अनुरागसे युक्त नहीं है ॥ ५ ॥

जैसे मार्ग बटोहियोंके संयोग और वियोगकी अवस्थामें आस्था (अहन्ता और ममताके अभिमान) एवं परिदेवनसे यानी उसके वियोगसे जनित (विलापसे) वर्जित है, वैसे ही देह और देहीका संयोग और वियोग अहन्ता-ममताभिमान एवं वियोग-जनित विलापसे वर्जित है ॥ ६ ॥

वैसा क्यों है ? इसपर कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

भूतपञ्चकसंपिण्डाद् रचिता जनताः पृथक् ।
एकस्मादेव विटपाद् विचित्रा इव पुत्रिकाः ॥ ८ ॥

काष्ठेतरत्काष्ठभारे किञ्चिदन्यन्न दृश्यते ।
भूतपिण्डेतरद्देहे किञ्चिदन्यन्न दृश्यते ॥ ९ ॥

भूतपञ्चकविक्षोभनाशोत्पादेषु हे जनाः ।
हर्षामर्षविषादानां किं भवन्तो वशं गताः ॥ १० ॥

को नामाऽतिशयः पुंसां स्त्रीनाम्न्यपरनाम्नि च ।
पेलवे भूतसङ्घाते प्रोद्भूतजनपातवत् ॥ ११ ॥

जैसे कल्पित वेतालके कराल वदन, दशन आदि विकारोंसे जनित प्राथमिक भयके पुनः पुनः स्मरणसे बालकको होनेवाली भीतियाँ मिथ्या ही हैं, वैसे ही ये कल्पित स्नेह, सुख आदि मिथ्या ही हैं ॥ ७ ॥

जैसे एक ही वृक्षसे विलक्षण विलक्षण पुतलियाँ (मूर्तियाँ) बनाई जाती हैं, वैसे ही पाँच भूतोंके सङ्घातसे विभिन्न विभिन्न जनसमूह बनाये गये हैं ॥ ८ ॥

जैसे लकड़ियोंके बोझेमें लकड़ियोंके सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता, वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज आदि पाँच भूतोंके शरीरमें पाँच भूतोंके पिण्डके सिवा और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता ॥ ९ ॥

हे मनुष्यों, तुम लोग पाँच भूतोंका क्षोभ, नाश और उत्पत्ति होनेपर हर्ष, अमर्ष और विषादके वशमें क्यों हो जाते हो ? ॥ १० ॥

अपनी देहमें स्नेह आदिकी अयोग्यता बतलाकर अब स्त्री आदिके शरीरोंमें भी स्नेह आदिकी अयोग्यता है, यह बतलाते हैं—**'को नामा०'** इत्यादिसे ।

जिसका स्त्रीनाम यह दूसरा अभिधेय है, ऐसे तुच्छ भूतोंके समूहमें यानी स्त्री-शरीरात्मक पाँच भूतोंके पिण्डमें पुरुषोंको ऐसा कौन विशेष प्रतीत होता है, जिससे कि उनकी अग्निमें फतिङ्गेकी नाईं, विषयाग्निमें व्यामोह और रागसे दृश्यमान गिरनेकी चेष्टा युक्तिसङ्गत कही जाय ॥ ११ ॥

संनिवेशांशवैचित्र्यमज्ञानामेव तुष्टये ।
तज्ज्ञानां तु यथाभूतभूतपञ्चकदर्शनम् ॥ १२ ॥
मिथः शिलापुत्रकयोर्यथैकोपलपुत्रयोः ।
श्लिष्टयोरपि नो रागस्तथा चित्तशरीरयोः ॥ १३ ॥
मृत्पुंसां यादृशोऽन्योन्यमाशयः सङ्गमे भवेत् ।
बुद्धीन्द्रियात्ममनसां सङ्गमे तादृशोऽस्तु ते ॥ १४ ॥
नाऽन्योन्यस्नेहसम्बन्धभाजनं शैलपुत्रकाः ।
देहेन्द्रियात्मप्राणाश्च कस्याऽत्र परिदेवना ॥ १५ ॥
इतश्चेतश्च जातानि यथा संश्लेषयन्त्यलम् ।
तरङ्गास्तृणजालानि तथा भूतानि देहदृक् ॥ १६ ॥

सुकुमार और सुन्दर अवयव-सन्निवेश ही स्त्रीके शरीरमें अतिशय है, तो इस-पर कहते हैं—'संनिवेशांश०' इत्यादिसे ।

सुकुमार और सुन्दर अवयवोंके संनिवेश अंशको लेकर वैलक्षण्यका जो उपपादन करते हैं, वह तो केवल अज्ञानियोंके लिए ही सन्तोषका विषय हो सकता है, पर जो तत्त्वज्ञ हैं, उनको तो उसमें उपस्थित पाँच भूतोंका ही दर्शन होता है ॥ १२ ॥

भाई आदिमें रागका निवारण करते हैं—'मिथः' इत्यादिसे ।

जैसे एक पत्थरसे उत्पन्न हुई दो पाषाण-प्रतिमाओंके परस्पर आलिङ्गित होने-पर भी राग नहीं होता, वैसे ही चित्त और शरीरके आलिङ्गित होनेपर भी राग नहीं होता ॥ १३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मिट्टीसे बनाई गई प्रतिमाओंका समागम होनेपर भी जिस प्रकार उनका परस्पर ममता आदिसे शून्य भाव होता है, उसी प्रकार बुद्धि, इन्द्रिय, आत्मा और मनका समागम होनेपर भी आपका ममता आदिसे शून्य ही भाव होवे ॥ १४ ॥

जैसे पत्थरकी बनाई गई प्रतिमाएँ अन्योन्य स्नेह-सम्बन्धकी भाजन नहीं हैं, वैसे ही देह, इन्द्रिय, आत्मा और प्राण भी अन्योन्य स्नेह-सम्बन्धके भाजन नहीं हैं, अतः उनमें से किसके विषयमें यहाँ शोक करना चाहिए ॥ १५ ॥

जैसे यत्र तत्र भिन्न भिन्न प्रदेशमें उत्पन्न हुए तिनकोंको तरङ्गें पर्याप्त-

संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तृणान्यब्धिजले यथा ।
मुक्तान्तःकलनं देहे भूतान्यात्मनि वै तथा ॥ १७ ॥
आत्मा चित्ततया देहभूतान्याश्लेषयन् स्थितः ।
तृणान्यावृत्तवृत्तान्तकलनोत्सिक्तमब्धिवत् ॥ १८ ॥
प्रबोधाच्चेत्यतां त्यक्त्वा व्रजत्यात्माऽऽत्मतां स्वयम् ।
स्वस्पन्दवशतो वारि त्यक्त्वाऽच्छत्वमिवाऽच्छताम् ॥ १९ ॥
ततो विश्लिष्टभूतौघो देहं सम्प्रति पश्यति ।
वायुस्कन्धगतो जन्तुर्वसुधामण्डलं यथा ॥ २० ॥

रूपसे एकत्र करती हैं, वैसे ही आत्मा भिन्न भिन्न प्रदेशमें उत्पन्न भूतोंको एकत्र करता है ॥ १६ ॥

जैसे समुद्रके जलमें तृण एक दूसरेसे मिल जाते हैं और पृथक् हो जाते हैं, वैसे ही रागाभिमानसे विनिर्मुक्ततापूर्वक ही पुत्र, पशु आदि प्राणी अथवा पृथ्वी आदि भूत स्वनिर्मित देहमें या स्वाधिष्ठान आत्मामें एक दूसरेसे मिल जाते हैं और पृथक् हो जाते हैं ॥ १७ ॥

जैसे सागर आवर्ताकारकी कल्पनासे वृद्धिंगत आकारको प्राप्तकर तृण, काठ आदि पदार्थोंको बटोरता हुआ रहता है, वैसे ही आत्मा भी चित्ताकृतिको प्राप्तकर देह, भूत आदिको बटोरता हुआ रहता है ॥ १८ ॥

तब किस उपायसे आत्मा भूतसम्बन्धके हेतुभूत चित्तभावसे मुक्त होता है ? इस प्रश्नपर उस उपायको बतलाते हैं—'**प्रबोधात्**' इत्यादिसे ।

जैसे जल अपनी स्पन्दन क्रियासे ही मलिनताका परित्याग कर स्वयं ही स्वच्छताको प्राप्त करता है, वैसे ही आत्मा प्रबोधसे विषयरूपताका परित्याग कर स्वयं ही आत्मरूपताको प्राप्त करता है। [प्रकृत श्लोकमें 'अच्छत्वम्' 'अनच्छत्वम्' का ही रूपान्तर समझना चाहिए, नञ्तत्पुरुषमें नकारका लोप होनेपर सवर्ण दीर्घ हुआ है और नुडागमका अभाव छान्दस है] ॥ १९ ॥

तदनन्तर प्रबोधकालमें ही मनके द्वारा सम्पादित भूताश्लेषसे विनिर्मुक्त होकर अपने देहको उस प्रकार देखता है, जिस प्रकार कि वायुके कन्धेपर चढ़े हुए देव आदि भूमण्डलको देखते हैं ॥ २० ॥

पृथक् भूतगणं दृष्ट्वा देहातीतो भवत्यजः ।
परं प्रकाशमायाति सूर्यकान्तिरिवाऽहनि ॥ २१ ॥
जानात्यथाऽऽत्मनाऽऽत्मानं मानमेयामयोज्झितम् ।
मुक्तक्षीबतयेवाऽन्तः स्वां संविदमनुस्मरन् ॥ २२ ॥
आत्मैव स्पन्दते विश्वं वस्तुजातैरिवोदितम् ।
तरङ्गकणकल्लोलैरनन्ताम्ब्वम्बुधाविव ॥ २३ ॥
एवंप्रायमहाबोधा वीतरागा गतैनसः ।
जीवन्मुक्ताश्चरन्तीह महासत्वपदं गताः ॥ २४ ॥
यथा चरन्ति विविधैर्मणिरत्नैर्महोर्मयः ।
निरस्तवासनाश्चित्तव्यवहारैस्तथोत्तमाः ॥ २५ ॥

दर्शनका फल बतलाते हैं—'**पृथक्**' इत्यादिसे ।

भूतसमूहको अपने से पृथक् देखकर अविनाशी आत्मा देहातीत हो जाता है और जैसे सूर्यकान्ति दिवसमें परम प्रकाशको प्राप्त करती है, वैसे ही वह परम प्रकाशको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

तदनन्तर जैसे मद्यके मदसे मत्त हुआ पुरुष मदके निकल जानेपर भीतर अपने पूर्व विज्ञानका स्मरण करता है, वैसे ही आत्मा अपने हीसे अपने प्रमाण-प्रमेयरूपी विकारोंसे विनिर्मुक्त स्वरूपको जान लेता है ॥ २२ ॥

जिस प्रकार समुद्रमें तरङ्गरूपी कणोंके कल्लोलोंसे असीम जल प्रस्पन्दित होता है, उसी प्रकार आत्मा ही समस्त वस्तुओंसे मानो उदित हुए विश्वके रूपसे प्रस्पन्दित होता है ॥ २३ ॥

हे श्रीरामजी, जिनका समस्त राग विनष्ट हो गया है, जिनके पाप दूर हो गये हैं तथा जो परब्रह्मपदको प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष उसी प्रकारके विशिष्ट विज्ञानसे युक्त होकर इस संसारमण्डलमें विचरण करते हैं ॥ २४ ॥

जैसे समुद्रकी ऊर्मियाँ विविध श्रेष्ठ रत्नोंसे सम्बद्ध होनेपर भी उनमें अनासक्तिके कारण सिल्लियोंके टुकड़ोंकी भाँति ही व्यवहार करती हैं, वैसे ही वासना-वर्जित उत्तम महात्मा लोग भी चित्तके व्यवहारोंसे सम्बन्ध होनेपर भी उनमें अनासक्तिके कारण ऊपर ऊपरसे ही व्यवहार करते हैं ॥ २५ ॥

न कूलकाष्ठैर्जलधिर्न रजोभिर्नभस्तलम् ।
न म्लायति निजैर्लोकव्यवहारैरिहाऽऽत्मवान् ॥ २६ ॥
गतैरभ्यागतैः स्वच्छैश्चपलैर्मलिनैर्जडैः ।
न रागो नाऽम्बुधेर्द्वेषो भोगैश्चाऽधिगतात्मनः ॥ २७ ॥
यन्मनो मननं किञ्चित्समग्रं जगति स्थितम् ।
तच्चेत्योन्मुखचित्तत्त्वविलासोल्लसनं विदुः ॥ २८ ॥
यदहं यच्च भूतादि कालत्रितयभावि यत् ।
दृश्यदर्शनसम्बन्धविस्तारैस्तद्विजृम्भते ॥ २९ ॥
यद् दृश्यं तदसत्सद्वा दृष्टिमेकामुपाश्रितम् ।
अन्यत्त्वलेपकं तस्माद् हर्षशोकदृशौ कुतः ॥ ३० ॥

जैसे तीर और काष्ठोंसे समुद्र म्लान नहीं होता तथा जैसे रजःकणोंसे आकाश म्लान नहीं होता, वैसे ही जिसने अपनी आत्माको भली प्रकार पहचान लिया है, ऐसा आत्मवान् (आत्मज्ञानी) पुरुष इस संसारमें निजी लौकिक व्यवहारोंसे म्लान नहीं होता ॥ २६ ॥

जैसे समुद्रको गत, आगत, स्वच्छ, चपल, मलिन एवं जड़ तरङ्गोंसे राग और द्वेष नहीं होता, वैसे ही तत्त्वज्ञानीको गत, अभ्यागत, स्वच्छ, मलिन, जड़ एवं चञ्चल भोगोंसे राग और द्वेष नहीं होता ॥ २७ ॥

तत्त्वज्ञको क्यों अनुराग नहीं होता ? इस शङ्कापर कहते हैं—**'यन्मनो'** इत्यादिसे ।

चूँकि तत्त्वज्ञ पुरुष इस जगत्‌में मन, मनन (सङ्कल्प) जो सब कुछ विद्यमान है, वह सब विषयोन्मुखताको प्राप्त चित्तत्त्वके विलासका एक उल्लास है, यों जानते हैं, इसलिए उनको किसीसे राग या द्वेष नहीं होता ॥ २८ ॥

जो अहम्, भूत आदि तथा तीनों कालोंमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ दृश्य और दर्शनके सम्बन्धोंसे दिखाई पड़ती हैं, वह सब केवल मनका ही विस्तार है, मनकी कल्पनाके सिवा और कुछ नहीं है ॥ २९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस जगत्‌में दो पदार्थ हैं—एक दृश्य और दूसरा द्रष्टा । इन दो पदार्थोंके बीचमें केवल दृष्टिके यानी दृष्टिस्वरूप साक्षीभूत आत्माके द्वारा

असत्यमेवाऽसत्यं हि सत्यं सत्यं सदैव हि ।
सत्यासत्यमसद्विद्धि तदर्थं किं नु मुह्यसि ॥ ३१ ॥
असम्यग्दर्शनं त्यक्त्वा सम्यक् पश्य सुलोचन ।
न कश्चिन्मुह्यति प्रौढः सम्यग्दर्शनवानिह ॥ ३२ ॥

सिद्ध हुआ जो दृश्य पदार्थ है, वह असत् है या सत् है ? इस विषयका अभीतक निर्णय न हो सकनेके कारण दृश्य हर्ष और शोकके लिए अयोग्य ही है । और दूसरा स्वतःसिद्ध जो साक्षीरूप आत्मा है, वह तो असङ्ग है, इसलिए उत्पन्न हुए भी हर्ष और शोकसे वह सम्बद्ध नहीं होता, ऐसी स्थितिमें दृक् और दृश्य दोनोंको सत् या असत् मानने पर भी हर्ष-शोककी संभावना नहीं हो सकती, यह तात्पर्य है ॥ ३० ॥

किञ्च, क्या असत्य वस्तुके विषयमें हर्ष और शोक होते हैं ? या सत्य वस्तुके विषयमें ? या सत्यासत्य वस्तुके विषयमें ? इन तीन भी विकल्पोंमें हर्ष और शोककी योग्यता नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'असत्यमेवा०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो असत्य वस्तु है, उसके विषयमें हर्ष-शोक करना व्यर्थ ही है, क्योंकि वह तो असत्य ही ठहरा । जो सत्य वस्तु है, उसके विषयमें भी हर्ष-शोक करना अनुचित है, क्योंकि सत्य वस्तु सदा-सर्वदा प्राप्त ही है, इसलिए ऐसी वस्तुके विषयमें लाभ-प्रयुक्त हर्ष और हानि-प्रयुक्त शोक ये कैसे हो सकते हैं ? अब तृतीय कल्प बचा, वह भी अयुक्त है, क्योंकि सत्यासत्य एक वस्तु हो ही नहीं सकती, कारण कि एक वस्तुमें सत्यत्व और असत्यत्व ये दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते । ऐसी परिस्थितिमें यह तृतीय कल्प प्रथम कल्पके सदृश हो जानेसे प्रथमकल्पोक्त दूषण ही इसमें आ गया । जब ऐसी वास्तवमें स्थिति है, तब जगत्में हर्ष-शोक-योग्य किसी वस्तुके न रहनेसे उसके लिए आपको शोक करना व्यर्थ ही है ॥ ३१ ॥

हे सुन्दरनेत्रवाले श्रीरामजी, मिथ्या दर्शनरूपी भ्रमको छोड़कर आप यथार्थ वस्तुका अवगम करिये । जब मनुष्य यथार्थ ज्ञानसे युक्त होकर प्रौढ बन जाता है, तब इस संसारमें कहींपर भी वह मोहको प्राप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

दृश्यदर्शनसम्बन्धविस्तारैस्तद्विजृम्भते ।
दृश्यदर्शनसम्बन्धे यत्सुखं पारमात्मिकम् ।
अनुभूतिमयं तस्मात् सारं ब्रह्मेति कथ्यते ॥ ३३ ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धे सुखसंविदनुत्तमा ।
ददात्यज्ञाय संसारं ज्ञाय मोक्षं सदोदयम् ॥ ३४ ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धसुखमात्मवपुर्विदुः ।
तद् दृश्यवलितं बन्धस्तन्मुक्तं मुक्तिरुच्यते ॥ ३५ ॥

किञ्च, भोग-सुखके लिए सभी लोग विषय और इन्द्रियोंका सम्बन्ध मानते हैं, उस सम्बन्धकी अवस्थामें अभिव्यक्त होनेवाला जो सुख है, उसका स्वतः प्रकाश होनेके कारण वह अनुभूतिस्वरूप है, वृत्तिरूप उपाधिके बलसे प्रतीयमान भेद, तारतम्य आदिके निराससे अखण्डके साथ ऐक्य होनेपर वह सुख ब्रह्मस्वरूप ही है, पृथक् नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'दृश्यदर्शन०'** इत्यादिसे ।

रम्य विषय और इन्द्रियजनित वृत्तियोंका परस्पर सम्बन्ध होनेपर अपनी आत्मामें उत्पन्न जो परमात्मस्वरूप सुख है, वह रम्य विषय और इन्द्रियोंके परस्पर सम्बन्धके विस्तारसे अभिव्यक्त (प्रकाशित) होता है । इसलिए अनुभूति-स्वरूप सुख ब्रह्म ही कहा जाता है ॥ ३३ ॥

विषय और इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेपर सर्वोत्तम जो सुखानुभूति होती है, वह अज्ञानी पुरुषको संसार प्रदान करती है और तत्त्वज्ञ ज्ञानी पुरुषको सर्वोत्तम सदा उदयस्वरूप मोक्ष प्रदान करती है यानी विषयाकार वृत्तिसे आस्वादित सुख विषयोंमें राग आदि दोषोंका उद्भावन कर संसार देता है और विषयोंका विवेक कर अखण्ड अद्वितीय आत्मभावसे गृहीत सुख मोक्ष देता है, यह भाव है ॥ ३४ ॥

रम्य विषयोंका और इन्द्रियवृत्तियोंका परस्पर सम्बन्ध होनेपर उत्पन्न होनेवाला जो सुख है, वह आत्मस्वरूप ही है, ऐसा महात्मा लोग कहते हैं । वह सुख विषयासङ्गसे युक्त होनेपर संसार कहलाता है और विषयसङ्गसे विनिर्मुक्त होनेपर मुक्ति कहलाता है ॥ ३५ ॥

दृश्यदर्शनसम्बन्धसुखसंविदनामया ।
क्षयातिशयमुक्ता चेत्तन्मुक्तिः सोच्यते बुधैः ॥ ३६ ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धे याऽनुभूतिः स्वगोचरा ।
दृश्यदर्शननिर्मुक्ता तामालम्ब्य भवाभवः ॥ ३७ ॥
सौषुप्ती दृष्टिरेषा हि यात्येवं संप्रकाशते ।
एवं च याति तुर्यत्वमेवं मुक्तिरिति स्मृता ॥ ३८ ॥
दृश्यदर्शनमुक्तायां युक्तायां परया धिया ।
दृश्यदर्शनसम्बन्धसंविदस्यां तु राघव ॥ ३९ ॥
नाऽऽत्मा स्थूलो न चैवाऽणुर्न प्रत्यक्षो न चेतरः ।
न चेतनो न च जडो न चैवाऽऽसन्न सन्मयः ॥ ४० ॥

दुःखरूपी बीमारीसे वर्जित दृश्य और ऐन्द्रियक वृत्तियोंके सम्बन्धसे जनित सुखानुभव, यदि क्षय और अतिशयसे यानी पुण्यके तारतम्यसे जनित वृत्तिनाश और वृत्तिवैशद्यके उत्कर्षसे होनेवाले क्षय और अतिशयसे शून्य हो जाय, तो वह मुक्तिस्वरूप हो जाता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ ३६ ॥

दृश्य और दर्शनके सम्बन्धसे होनेवाली जो अखण्डपूर्णानन्दस्फुरण-स्वरूप दृश्य और दर्शनसे वर्जित सुखानुभूति होती है, उसका अवलम्बन करनेसे संसारकी अनुत्पत्ति होती है ॥ ३७ ॥

उक्त प्रकारकी दृष्टिका (अखण्ड-पूर्णानन्द-स्फुरणात्मक सुखानुभूतिका) अव-लम्बन करनेपर आत्मस्वरूपको आवृत करनेवाली सौषुप्ती दृष्टिका विच्छेद हो जाता है और आत्मस्वरूप-दृष्टि प्रकाशती रहती है । उसी एकमात्र दृष्टिका अवलम्बन करनेपर ही तुर्यावस्था प्राप्त होती है और उसीके अवलम्बनसे मुक्ति कही जाती है ॥ ३८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जब दृश्य और दर्शनके सम्बन्धसे निर्मुक्त और परम बुद्धिसे युक्त यह स्वरूप दृष्टि होती है, तब दृश्य और दर्शनके सम्बन्धके असली तत्त्वको जानकर पुरुष तुर्यावस्थाको प्राप्त होता है। [तुर्यत्वरूपा मुक्तिमें आत्माका जो स्वरूप रहता है, उसे बतलाते हैं—] हे श्रीरामजी, तुर्यतारूप मुक्तिमें आत्मा न तो स्थूल रहता है, न अणु रहता है, न प्रत्यक्षात्मक वृत्तिका विषय रहता है, न अविषय रहता है, न चैतन्ययुक्त रहता है, न जड़ रहता है, न असत् ही रहता है और न अस्तित्वरूप भावविकारसे युक्त रहता है ॥ ३९, ४० ॥

नाऽहं नाऽन्यो न चैवैको नाऽनेको नाऽप्यनेकवान् ।
नाऽभ्याशस्थो न दूरस्थो नैवाऽस्ति न च नाऽस्ति च ॥ ४१ ॥
न प्राप्यो नाऽति चाऽप्राप्यो न वा सर्वो न सर्वगः ।
न पदार्थो नाऽपदार्थो न पञ्चात्मा न पञ्च च ॥ ४२ ॥
यदिदं दृश्यतां प्राप्तं मनःषष्ठेन्द्रियास्पदम् ।
तदतीतं पदं यत्स्यात्तन्न किञ्चिदिवेह तत् ॥ ४३ ॥
यथाभूतमिदं सम्यग्ज्ञस्य संपश्यतो जगत् ।
सर्वमात्ममयं विश्वं नाऽस्त्यनात्ममयं क्वचित् ॥ ४४ ॥
काठिन्यद्रवणस्पन्दखावकाशावलोकनैः ।
आत्मैव सर्वं सर्वेषु भूवार्यनिलखाग्निषु ॥ ४५ ॥

उक्त अवस्थामें आत्मा न अहंरूप रहता है, न अन्यस्वरूप रहता है, न एकत्व संख्यासे युक्त रहता है, न अनेकत्वसे यानी एकत्व संख्याके अभावसे युक्त रहता है, न समीपमें रहता है, न दूरमें रहता है, न सत्ताश्रय रहता है और न सत्ताश्रयत्वाभावसे युक्त रहता है ॥ ४१ ॥

तुर्यावस्थामें आत्मा न तो प्राप्य है, न अत्यन्त अप्राप्य है, न सर्वात्मक है, न व्यापक है, न पदोंका वाच्य है, न तो पदोंका अवाच्य है, [क्योंकि तुर्यत्वादि पदोंसे लक्षित होता है], न पाँच भूतोंका आत्मा (स्वभाव) है और न पाँच भूतोंके स्वरूपभूत ही है ॥ ४२ ॥

उक्त अर्थमें युक्ति कहते हैं—**'यदिदम्'** इत्यादिसे ।

मनके साथ जो चक्षु आदि छः इन्द्रियाँ हैं, उनका विषय जो यह दृश्यत्वको प्राप्त यानी जगत् है, उसका अतिक्रमण करनेवाला जो पद होगा, वह इस जगत्में विद्यमान किसी दृश्य पदार्थके स्वरूप नहीं हो सकता, किन्तु स्वस्वरूप हो सकता है ॥ ४३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकारका यह जगत् है, उस प्रकारके इस जगत्को भलीभाँति जाननेवाले पुरुषके लिए यह समस्त विश्व आत्मस्वरूप ही है, कहीं भी आत्मस्वरूपसे वर्जित वस्तु नहीं है ॥ ४४ ॥

तब क्यों भूमि आदि भूत दिखाई देते हैं ? इसपर कहते हैं—**'काठिन्य०'** इत्यादिसे ।

सत्तैवाऽस्ति न वस्तूनां या या राम चिता विना।
व्यतिरिक्तं ततोऽस्मीति विद्धि प्रोन्मत्तजल्पितम्॥ ४६ ॥
एको जगन्ति सकलानि समस्तकाल-
कल्पक्रमान्तरगतानि गतागतानि।
आत्मैव नेतरकलाकलनाऽस्ति काचि-
दित्थंमतिर्भव तयाऽतिगतो महात्मन्॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे मोक्षस्वरूपोपदेशो नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

हे श्रीरामजी, यह आत्मा ही अपने स्वरूपमें काठिन्य, द्रवता, स्पन्द, आकाशरूपी अवकाश और प्रकाशके अवलोकनों से क्रमशः पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेजरूप जगत्-भावोंमें विद्यमान है यानी नटके समान अवस्थित है, यह भाव है ॥ ४५ ॥

यह आपने कैसे निश्चय किया कि आत्मा ही उस प्रकारसे अवस्थित है ? इसपर कहते हैं—'**सत्तैवा०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चूँकि वस्तुओंकी जो जो सत्ता है, वह आत्माके प्रकाशके सिवा दूसरी वस्तु नहीं है, इसलिए जो कोई यह कहे कि मैं आत्मप्रकाशसे व्यतिरिक्त हूँ, तो उसका वैसा कहना उन्मत्तकी नाईं जल्पनमात्र ही है, यह आप जानिये ॥ ४६ ॥

जो कुछ पहले कहा, उस सबको एकत्रकर उपसंहार करते हैं—'**एको**' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, समस्त काल और असीम कालक्रमोंके बीचमें प्रविष्ट अनेक जगत् तथा उन अनेक जगतोंमें जीवके नैकविध संसार—यह सब एक आत्मा ही है, इसको छोड़ और कोई दूसरी कलाकी गणना है ही नहीं, अतः हे महानुभाव, आप पहले इस प्रकारकी बुद्धिसे युक्त होकर उक्त बुद्धिसे यानी तत्त्वदर्शनसे इस संसारसे अपना छुटकारा पा जाइये ॥ ४७ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

त्रिसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवंविचारया दृष्ट्या द्वैतत्यागेन राघव ।
स्वभावः प्राप्यते तज्ज्ञैस्तज्ज्ञैश्चिन्तामणिर्यथा ॥ १ ॥
अथेमामपरां दृष्टिं शृणु रामाऽनया यथा ।
दृश्यस्याऽऽत्मानमचलं भविष्यसि च दिव्यदृक् ॥ २ ॥
अहं खमहमादित्यो दिशोऽहमहमप्यधः ।
अहं दैत्या अहं देवा लोकाश्चाऽहमहं महः ॥ ३ ॥
अहं तमोऽहमभ्राणि भूः समुद्रादिकं त्वहम् ।
रजो वायुरथाऽग्निश्च जगत्सर्वमिदं त्वहम् ॥ ४ ॥

तिहत्तरवाँ सर्ग

[दो तरहकी अहंभावना ग्रहण करने योग्य है, तीसरी अहंभावना त्याग करने योग्य है, तीनों अहंभावनाओंके त्यागसे मुक्तिकी इच्छा नहीं होती, यह कथन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे चिन्तामणिके स्वरूपको जाननेवाले देवता चिन्तामणिको प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही पूर्वोक्त विचारात्मक दृष्टिसे द्वैतका परित्याग कर आत्माके स्वरूपको जाननेवाले तत्त्ववित् महात्मा स्वस्वरूपावस्थितिरूप मुक्तिको प्राप्त कर लेते हैं ॥ १ ॥

सर्वत्र अहंभाव-दृष्टिको बतलानेके लिए उपक्रम करते हैं—**'अथेमा०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, अब आप इस द्वितीय दृष्टिका श्रवण कीजिये, इसका श्रवण करनेसे आप अविचल अपने आत्माका साक्षात्कार कर लेंगे और दिव्यदृष्टिसे सम्पन्न हो जायँगे ॥ २ ॥

मैं आकाश हूँ, मैं आदित्य हूँ, मैं दिशाएँ हूँ, मैं अधः हूँ, मैं ऊर्ध्व हूँ, मैं दैत्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं लोक हूँ और मैं चन्द्र आदिकी प्रभा हूँ। मैं अन्धकार हूँ, मैं मेघ हूँ, मैं पृथ्वी हूँ, मैं समुद्र आदि हूँ तथा रेणु, वायु, अग्नि एवं यह समस्त जगत् मैं ही हूँ ॥ ३, ४ ॥

जगत्त्रयेऽहं सर्वत्र य आत्मैव किलाऽऽस्थितः ।
कोऽहं किमन्यद्देहादि द्वित्वमेकस्य कीदृशम् ॥ ५ ॥
इति निश्चयवानन्तर्भूतमात्मतया जगत् ।
पश्य हर्षविषादाभ्यां नाऽवशः परिभूयसे ॥ ६ ॥
तन्मयेऽस्मिन् किल जगत्यखिले संस्थितेऽनघ ।
किमात्मीयं परं किं स्यात् कमलेक्षण कथ्यताम् ॥ ७ ॥
किं तज्ज्ञव्यतिरेकेण विद्यते यदुपागतम् ।
हर्षमेतु विषादं वा विषादेऽज्ञो जगन्मयः ॥ ८ ॥
अहङ्कारदृशावेते सात्त्विके द्वेऽतिनिर्मले ।
तत्त्वज्ञानात् प्रवर्तेते मोक्षदे पारमार्थिके ॥ ९ ॥

तीनों लोकोंमें सब जगह जो स्वरूपभूत आत्मा अवस्थित है, वह मैं हीं हूँ । सर्वात्मक स्वरूपसे भिन्न परिच्छिन्न मैं कौन हूँ ? अर्थात् मैं कभी परिच्छिन्न नहीं हो सकता हूँ । देह आदि भी मुझसे भिन्न कौन हैं ? एक अद्वितीय वस्तुमें द्वित्व (स्वरूपगतभेद) किस प्रकार हो सकता है ? ॥ ५ ॥

हे रामजी, यों विचार कर आप निश्चयात्मक ज्ञानसे युक्त हो जाइये, तदनन्तर आत्माके भीतर रहनेवाले जगत्को स्वस्वरूपभूत देखिये । यों जगत्को स्वस्वरूपभूत देखनेके अनन्तर आप हर्ष और विषादसे पराजित नहीं होंगे ॥ ६ ॥

हे कमलेक्षण पापशून्य श्रीराघव, इस समस्त जगत्के आत्मस्वरूपसे अवस्थित हो जानेपर क्या अपना और क्या पराया रहेगा ? यह आप मुझसे कहिए अर्थात् अपना और पराया कुछ भी नहीं रहेगा ॥ ७ ॥

तत्त्वज्ञसे भिन्न ऐसी कौन वस्तु है, जो उसे यदि प्राप्त हो जाय, तो वह तन्निबन्धन हर्ष और विषादसे ग्रस्त हो जाय । यदि उसको ऐसी वस्तुके आ जानेसे विषाद दिखलाई पड़े तो वह तत्त्वज्ञ ही नहीं है, किन्तु अतत्त्वज्ञ ही है, क्योंकि ऐसा पुरुष जगन्मय ही होता है, चिन्मय नहीं, यह जानना चाहिए ॥ ८ ॥

ये आगे कही जानेवाली दो अहंकारकी दृष्टियाँ सात्त्विक और अत्यन्त निर्मल हैं, उनकी तत्त्वज्ञानसे प्रवृत्ति होती है, वे मोक्षको देनेवाली तथा पारमार्थिक हैं ॥ ९ ॥

परोऽणुः सकलातीतरूपोऽहं चेत्यहङ्कृतिः ।
प्रथमा सर्वमेवाऽहमित्यन्योक्ता रघूद्वह ॥ १० ॥
अहङ्कारदृगन्या तु तृतीया विद्यतेऽनघ ।
देहोऽहमिति तां विद्धि दुःखायैव न शान्तये ॥ ११ ॥
अथ चैतत्त्रयमपि त्यक्त्वा सकलसिद्धये ।
यच्छेषं तदुपालम्भ्य तिष्ठाऽत्रष्टब्धतत्परः ॥ १२ ॥
सर्वातीतस्वरूपोऽपि सर्वसत्तातिगोऽपि च ।
असत्तापूरितजगदस्त्येवाऽऽत्मा प्रकाशकः ॥ १३ ॥
स्वानुभूत्यैव पश्याऽऽशु स एवाऽसि सदोदितः ।
साशयं हृदयग्रन्थिं त्यज तत्त्वविदांवर ॥ १४ ॥

हे रघुकुलतिलक, उन दो अहंकार-दृष्टियोंमें पहली अहंकार-दृष्टि सबसे परे आकाशकी नाईं स्थूलस्वभाववर्जित, जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओंसे युक्त तथा दृश्योंसे शून्य 'मैं हूँ' इस प्रकारकी है और दूसरी 'सभी कुछ मैं हूँ' इस प्रकारकी है ॥ १० ॥

हे पापशून्य रामजी, इन दो से पृथक् एक तीसरी अहंकारदृष्टि स्वभावतः ही, न कि शास्त्रतः, चली आ रही है । उसका स्वरूप है—'देह मैं हूँ' । इस दृष्टिको आप केवल दुःखदायक ही जानिये, न कि विश्रान्तिदायक ॥ ११ ॥

अब आप इन तीनों अहंकारोंको भी छोड़कर जो अवशिष्ट रहनेवाला अहं-भावनाशून्य पूर्ण चित्स्वभाव है, उसका अवलम्बन कर उसी अवलम्बनयोग्य वस्तुमें निरत होकर अवस्थित रहिए ॥ १२ ॥

यद्यपि आत्मा शोधन द्वारा अखिल प्रपञ्चस्वरूपसे निर्मुक्त तथा बाधके द्वारा समस्त पदार्थोंकी सत्ताका अतिक्रमण करनेवाला है; तथापि जगत्के बाधस्वरूप उपायके द्वारा निखिल जगत्को पूर्ण करनेवाला सबका प्रकाशक यह आत्मा है ॥ १३ ॥

युक्ति, शास्त्र और गुरुवचन—ये तो केवल दिशामात्रका सूचन करनेके लिए हैं, उसका परिचय तो केवल अपने अनुभवसे ही होता है, इस आशयसे कहते है—स्वानुभूत्यैव' इत्यादिसे ।

नाऽऽत्माऽस्त्यनुमया राम न चाऽऽप्तवचनादिना ।
सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः ॥ १५ ॥
यदिदं स्पर्शनं स्पन्दं किञ्चिद्यत्संविदाद्यपि ।
तत्सर्वमात्मा भगवान् दृश्यदर्शनवर्जितः ॥ १६ ॥
न सन्नाऽसन्नसौ देवो नाऽऽणुर्नाऽपि महानसौ ।
नाऽप्येतयोर्दशोर्मध्यं स एवेदं च सर्वतः ॥ १७ ॥

हे तत्त्वज्ञश्रेष्ठ, अपने ही अनुभवसे शीघ्र देखिये कि आप सदा-सर्वदा उदित-स्वभाव तत्-पदलक्ष्य परब्रह्मस्वरूप ही हैं, अतः आप देह आदिकी वासनाओंसे युक्त अहंकारतादात्म्याध्यासका परित्याग कर दीजिये ॥ १४ ॥

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (उपनिषदेकप्रमाण-गम्य उस पुरुषके विषयमें पूछता हूँ) इत्यादि श्रुतिसे यह ज्ञात होता है कि धर्माधर्मके सदृश श्रुति और श्रुत्युक्त युक्तियोंमें केवल विश्वास रखनेसे ही अलौकिक आत्माका परिज्ञान होता है, ऐसी स्थितिमें आप यह कैसे कहते हैं कि आत्मा केवल अपने अनुभवसे ही वेद्य है ? तो इसपर कहते हैं—'**नाऽऽत्मा०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, आत्मा न तो अनुमानसे (युक्तिसे) स्फुट होता है और न आप्तवचन आदिसे स्फुट होता है, किन्तु वह सर्वदा सब प्रकारसे केवल अनुभव-से ही प्रत्यक्ष यानी स्फुट होता है। धर्म आदिके समान अत्यन्त परोक्ष आत्मवस्तुका प्रतिपादन करनेके लिए श्रुति आदियोंकी प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु सबके अनुभवसे सिद्ध सत्तावाले आत्माका विवेचन करनेके लिए ही उनकी प्रवृत्ति है ॥ १५ ॥

सबको आत्मा प्रत्यक्ष है, इसका उपपादन करते हैं—'**यदिदम्**' इत्यादिसे ।

बाह्य और आन्तर विषयोंमें अन्तःकरणकी वृत्तिके सम्बन्धसे अभिव्यक्त होने-वाला जो अर्थप्रकाशरूप साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान प्रसिद्ध है और जो अनुमिति, उपमिति और शाब्दज्ञान आदि भी प्रसिद्ध हैं, वह सब, विषय और अन्तःकरण-वृत्तिरूप उपाधिके परित्यागसे अपरोक्ष आत्मरूपसे ही अवशिष्ट रहते हैं । श्रुति भी कहती है—'प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते' ॥ १६ ॥

आत्मा प्रत्यक्ष और परोक्ष वेद्य, व्यक्त एवं अव्यक्त दोनोंसे विलक्षण है, इस

स एव चैवं वदति स च वक्तुं न युज्यते ।
न तदन्यदिदं तात पश्याऽऽत्मानमनामयम् ॥ १८ ॥
नाऽऽत्माऽयमयमप्यात्मा संज्ञाभेद इति स्वयम् ।
तेनैव सर्वगतया शक्त्या स्वात्मनि कल्पितः ॥ १९ ॥
संस्थितः स हि सर्वत्र त्रिषु कालेषु भास्वरः ।
सूक्ष्मत्वात् सुमहत्वाच्च केवलं न विभाव्यते ॥ २० ॥

कथनसे दृश्य और दर्शन दोनों से भी वह निर्मुक्त है, इसका उपपादन करते हैं—**'न सन्नाऽ०'** इत्यादिसे ।

यह प्रकाशात्मक आत्मदेव न तो सत् (सत्ताश्रय) है और न असत् है, न अणु है और न महान् है, न सत् और असत्की दृष्टिके मध्यमें यानि सत्यासत्य है, किन्तु वही द्योतनात्मक देव इस दृश्यमान समस्त जगत्का स्वरूपभूत है ॥ १७ ॥

इस प्रकार वाग् आदि कर्मेन्द्रियोंकी प्रवृत्तिमें निमित्त होनेके कारण वागादिसे व्यवहृत न होनेवाले आत्माका परिचय देकर अब वागादि और उनके (वागादिके) विषयोंका उसमें बाध करके उसीका परिशेष करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**'स एव'** इत्यादिसे ।

आत्मा ही इस प्रकार बोलता है, परन्तु वह कहा नहीं जा सकता । ये वाक् आदि और उनसे व्यवहृत होनेवाले पदार्थ आत्मासे अन्य नहीं हैं, हे रामजी, आप आत्माको अनामय (अविकारी) ही देखिए ॥ १८ ॥

आत्मा और अनात्मा, यह नाम-रूप जो विभाग है, उसकी भी उसी आत्माने अपनी अज्ञानशक्तिसे यानी मायाशक्तिसे कल्पना कर रक्खी है, अतः बाध्यत्वकी उपपत्ति है, इस आशयसे कहते हैं—**'नाऽऽत्मा०'** इत्यादिसे ।

यह आत्मा है और यह आत्मा नहीं है, यों जो संज्ञाभेद है, इसकी स्वयं आत्माने ही अपनेमें अपनी सर्वगत शक्तिसे (मायाशक्तिसे) कल्पना कर रक्खी है ॥१९॥

हे श्रीरामजी, वह प्रकाशमान परमात्मा तीनों कालोंमें सब जगह अवस्थित है, वह यद्यपि सदा नित्य, स्वप्रकाश, पूर्ण एवं अपरोक्षस्वभाव है, तथापि सूक्ष्म और व्यापक होनेके कारण स्थूल-विषयोंमें आसक्त बुद्धिवाले पुरुष उसका परिज्ञान नहीं कर सकते ॥ २० ॥

सत्स्वनन्तपदार्थेषु जीवत्वेनाऽभिबिम्बति ।
आत्मा पुर्यष्टकादर्शे स्वभाववशतः स्वतः ॥ २१ ॥
पुर्यष्टकोदयादेव स्वयमात्माऽनुभूयते ।
सर्वदा सर्वसंस्थः खे घनास्पन्दादिवाऽनिलः ॥ २२ ॥
चिदात्मा सर्वगो व्यापी न क्वचिन्नाम संस्थितः ।
यद्वत् सर्वपदार्थानां सत्ता तद्वन्महेश्वरः ॥ २३ ॥
सति पुर्यष्टके तस्मिञ्जीवः स्फुरति नोपले ।
सति वायाविव रजः सति दीप इवेक्षणम् ॥ २४ ॥
इयं पुर्यष्टके स्वेच्छा स्वात्मन्येवाऽऽत्मनि स्थिते ।
सति स्फुरत्यभ्युदिते भानाविव जनैषणा ॥ २५ ॥

स्थूल-विषयोंकी आसक्तिमें तो—मोहवश पुर्यष्टकरूप उपाधिमें (पाँच भूत, कर्म, वासना और विद्या—इन आठ वस्तुओंसे बने हुए लिङ्ग शरीरमें) प्रतिबिम्ब पड़नेसे—आत्माकी जायमान जीवभावापत्ति निमित्त है, इस आशयसे कहते हैं—**'सत्स्वनन्त०'** इत्यादिसे ।

सर्गके क्रमसे उत्पन्न भोग्य और भोगायतन आदि अनेक पदार्थोंमें पुर्यष्टकरूपी दर्पणमें अपनी मायावश स्वतः आत्मा ही जीवरूपसे प्रतिबिम्बित होता है ॥ २१ ॥

जैसे पंखे आदिके संयोगसे आकाशमें सर्वदा सर्वत्र स्थित वायु अभिव्यक्त किया जाता है, वैसे ही पुर्यष्टकके उदयसे ही सदा सर्वत्र स्थित स्वयं आत्मा 'अहम्' इस रूपसे अभिव्यक्त किया जाता है ॥ २२ ॥

जैसे सब पदार्थोंका अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है, वैसे ही महेश्वर चित्स्वरूप परमात्मा भी सर्वत्र विद्यमान है तथा व्यापी है, वह कहीं एक जगहपर ही यानी किसी एक देहमें ही रहता है, ऐसी बात नहीं है ॥ २३ ॥

परिच्छिन्न अहंस्वरूपसे परमात्माके स्फुरणमें तो पुर्यष्टक हेतु है, ऐसा कहते हैं—**'सति'** इत्यादिसे ।

जैसे वायु होनेपर रजःकण प्रस्फुरित होते हैं अथवा जैसे दीपक होनेपर दर्शन प्रस्फुरित होता है, वैसे ही पुर्यष्टकके होनेपर ही उसमें जीव प्रस्फुरित होता है, न कि पत्थरमें प्रस्फुरित होता है ॥ २४ ॥

जैसे आकाशमें सूर्यके रहनेपर ही सब मनुष्योंको तत्-तत् क्रियासे

यदि सूर्ये स्थिते व्योम्नि तादृशोचितसंस्थितिः ।
नश्यति व्यवहारोऽयं भास्करे तत्किमागतम् ॥ २६ ॥
यद्यात्मनि स्थिते देवे तत्सत्तालब्धसंस्थितिः ।
देहो नाशमुपायाति तत्किं नष्टमिहाऽऽत्मनि ॥ २७ ॥
न जायते न म्रियते नाऽऽदत्ते नाऽभिवाञ्छति ।
न मुक्तो न च बद्धोऽयमात्मा सर्वस्य सर्वदा ॥ २८ ॥
आत्माप्रबोधाभ्युदिता निरात्मन्यात्मतां गता ।
सर्परज्जुभ्रमाकारा भ्रान्तिर्दुःखाय केवलम् ॥ २९ ॥

होनेवाले फलोंकी अभिलाषा प्रस्फुरित होती है, वैसे ही पुर्यष्टकमें परमप्रेमास्पद निरतिशयानन्दात्मक स्वात्माके रहनेपर ही यह स्वेच्छाप्रीति और विचित्र भोगोंकी इच्छा प्रस्फुरित होती है । यद्यपि आत्मा सब व्यवहारोंसे दूर है, तो भी 'आत्म-नस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा ही प्रिय और अप्रियका निर्वाहक है, यह भाव है ॥ २५ ॥

वैसा भले ही हो, उससे क्या हुआ ? इसपर कहते हैं—**'यदि'** इत्यादिसे ।

आकाशमें सूर्यके स्थित होनेपर तत्-तत् इच्छाफलमें अनुरूप स्थिति रखनेवाला यह व्यवहार यदि विनष्ट हो जाता है, तो उससे सूर्यमें क्या आया ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ २६ ॥

स्वप्रकाशस्वरूप आत्माके अवस्थित होनेपर आत्मसत्तासे अपनी स्थितिको प्राप्त करनेवाली देह यदि नष्ट हो जाती है, तो उससे आत्मामें क्या हुआ ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ २७ ॥

तब आत्माका स्वाभाविक स्वरूप कैसा है ? तो उसपर कहते हैं—**'न जायते'** इत्यादिसे ।

सबका यह आत्मा किसी समय न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, न कुछ ग्रहण करता है, न कुछ चाहता है, न मुक्त होता है और न बद्ध होता है ॥२८॥

इसलिए आत्माको अज्ञानसे ही अनर्थकी भ्रान्ति-हुई है, यह कहते हैं—**'आत्मा०'** इत्यादिसे ।

अनादित्वान्न जातोऽयमजातत्वान्न नश्यति ।
आत्माऽऽत्मव्यतिरिक्तं तु नाऽभिवाञ्छत्यसंभवात् ॥ ३० ॥
दिक्कालाद्यनवच्छेदान्न बद्धोऽयं कदाचन ।
बन्धाभावे क्व मुक्तिः स्यादमोक्षस्तेन संस्थितः ॥ ३१ ॥
एवंगुणविशिष्टोऽयमात्मा सर्वस्य राघव ।
अविचारवशान्मूढो लोकोऽयं परिरोदिति ॥ ३२ ॥
सम्यगालोकिताशेषपूर्वापरजगत्क्रमः ।
मा शोकं गच्छ सुमते मौर्ख्योपगतलोकवत् ॥ ३३ ॥
द्वे एव कलने त्यक्त्वा मोक्षबन्धात्मिके यथा ।
विदुषा व्यवहर्तव्यं यन्त्रेणेवाऽऽत्ममौनिना ॥ ३४ ॥

आत्माके अप्रबोधसे उत्पन्न, आत्मशून्य वस्तुमें आत्मभावको प्राप्त हुई, रज्जुमें सर्पभ्रमके सदृश, भ्रान्ति केवल दुःखके लिए ही है ॥ २९ ॥

प्रबोध होनेपर आत्मा किस प्रकारका रहता है ? उसे कहते हैं—**'अनादित्वात्'** इत्यादिसे ।

यह आत्मा कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि इसका कोई आदि (कारण) नहीं है, और यह नष्ट भी नहीं होता क्योंकि उसकी उत्पत्ति नहीं हुई है । वह आत्मभिन्न वस्तुकी कभी भी अभिलाषा नहीं करता है, क्योंकि आत्मासे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं ॥ ३० ॥

यह आत्मा दिशा या कालसे परिच्छिन्न नहीं है, अतः कभी भी यह बद्ध नहीं होता, जब बन्ध ही नहीं है, तब मोक्ष कहाँसे होगा, इससे वास्तवमें आत्माका अमोक्ष ही स्थित है ॥ ३१ ॥

हे राघव, मैंने पहले जो आत्माके गुण बतलाये हैं, उन गुणोंसे युक्त ही यह आत्मा सबका है, इसलिए यह सब लोग अविचारसे जनित मोहको प्राप्त होकर चारों ओर रो रहे हैं ॥ ३२ ॥

हे सुमते, मेरे वचनोंसे आपने जगत्‌की पूर्वापर रचनाका निःशेषरूपसे भलीभाँति परिज्ञान कर लिया है, अतः मूर्खताको प्राप्त हुए मनुष्योंकी नाईं आप शोक मत कीजिये ॥ ३३ ॥

जैसे गेहूँ आदिको पीसनेके लिए विनिर्मित जल-चक्की आदि यन्त्रके द्वारा

न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले ।
मोक्षो हि चेतो विमलं सम्यग्ज्ञानविबोधितम् ॥ ३५ ॥
सकलाशास्वसंसक्त्या यत्स्वयं चेतसः क्षयः ।
स मोक्षनाम्ना कथितस्तत्त्वज्ञैरात्मदर्शिभिः ॥ ३६ ॥
यावत्प्रबोधो विमलो नोदितस्तावदेव सः ।
मौर्ख्यादीनतया राम भक्त्या मोक्षोऽभिवाञ्छयते ॥ ३७ ॥
परं प्रबोधमासाद्य चित्ते चित्तत्त्वतां गते ।
दश मोक्षा न वाञ्छयन्ते किमुतैको हि मोक्षकः ॥ ३८ ॥
अयं मोक्षस्त्वयं बन्धः पेलवां कलनामिति ।
परित्यज्य महात्यागी स त्वमेव भवाऽभव ॥ ३९ ॥

गेहूँ आदिका पेषण प्रवृत्त होनेपर पुरुष केवल संनिधिमात्रसे उक्त कार्यको करता हुआ-सा पर स्वतः तो काम आदि व्यापारोंसे शून्य होकर स्थित रहता है, वैसे ही विद्वान्‌को मोक्ष और बन्धरूपी दोनों ही कल्पनाओंका परित्याग कर तथा स्वतः समस्त व्यापारोंसे शून्य होकर देह आदिसे व्यवहार करना चाहिए ॥ ३४ ॥

मोक्ष न तो आकाशकी पीठके ऊपर है, न तो पातालमें है और न भूमिके तलपर है, किन्तु सम्यक् ज्ञानसे चिन्मात्रस्वरूपताको प्राप्त निर्मल चित्त ही मोक्ष है ॥ ३५ ॥

इच्छा करने योग्य बिषयोंमें अनासक्ति करनेसे अन्तःकरणका जो बोधात्मक वृत्तिसे स्वयं क्षय हो जाता है, वही आत्मतत्त्वको जाननेवाले तत्त्वज्ञों द्वारा मोक्षशब्दसे कहा जाता है ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी, जबतक निर्मल आत्माका प्रबोध उदित नहीं हुआ है, तबतक मूर्खतायुक्त कार्पण्यसे पुरुष नित्य-प्राप्त आत्मामें अप्राप्तिकी कल्पना कर मोक्ष-प्राप्तिकी इच्छा करता है ॥ ३७ ॥

सर्वातिशायी नित्य आत्माके ज्ञानको प्राप्त कर जब चित्त पारमार्थिक चिन्मात्र-स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, तब चाहे दस मोक्ष रहें, तो भी यह उनकी इच्छा नहीं करता, फिर स्वल्प एक मोक्षको चाहेगा ही कैसे ? ॥ ३८ ॥

हे अभव (संसारशून्य), यह मोक्ष है और यह बन्ध है, इस प्रकारकी

परिगलितविकल्पनां प्रयातः

सगरसुतौघनिखातमेखलाङ्कम् ।

अवनिवलयमन्तरस्तसङ्ग-

श्चिरमनुपालय सर्वदोदितश्रीः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे स्वात्मविचारो नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

तुच्छ कल्पनाका परित्याग कर महात्मा होकर उस मोक्षरूप आप ही हो जाइये ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामजी, समस्त कल्पनाएँ जिसमें से उच्छिन्न हो गई हैं, ऐसी अवस्था-को प्राप्त होकर आप सगरके पुत्रों द्वारा खोदी गई पृथिवीकी मेखला तक यानी समुद्रपर्यन्त पृथिवी-मण्डलका दीर्घ काल तक पालन कीजिये, क्योंकि आप समस्त आसक्तियोंसे परे हो चुके हैं तथा आपकी आत्मज्योति उदित हो चुकी है, इसलिए राज्य आदिका पालन आपके लिए किसी तरहसे दोषका हेतु नहीं हो सकता ॥ ४० ॥

तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

चतुःसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

लीलया पश्यति वपुः कालेनाऽऽत्मनि जायते ।
रम्यस्याऽपश्यतो वक्त्रं हृदि दौरूप्यधीरिव ॥ १ ॥
तद्वशादियमायाता महती मे दुरोदरा ।
माया मदमहाशक्तिः सुरास्वादलवादिव ॥ २ ॥
तयाऽनया विकारिण्या तदतद्भावभूतया ।
इदं संपन्नमखिलं तापादिव मरौ पयः ॥ ३ ॥

चौहत्तरवाँ सर्ग

[प्रमादसे संसार-भ्रान्ति, प्रबोधसे सदा पूर्णता तथा
जीवन्मुक्तके गुणों का वर्णन]

'यह मूढ़ लोग अविचारसे ही रोते हैं, यह जो पहले कहा था, उसीका आरम्भमें सविस्तर विचार करते हैं—'लीलया' इत्यादिसे ।

वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, जैसे रम्य रमणी, पुत्र आदिके मुखको न देख रहे विरही पुरुषके हृदयमें म्लानता, कृशता आदि विकृत स्वरूपको उत्पन्न करनेवाली उदासीनता निरन्तर उत्पन्न होती है, वैसे ही प्रलय और सुषुप्तिमें अज्ञानसे आवृत होनेके कारण निरतिशयानन्दस्वरूप अतएव परमप्रेमास्पद अपने स्वरूपको न देख रहे आत्मामें काम-कर्मोंकी वासनाके परिपाकक्रमसे सृष्टि और जागरकालमें चिद्विलाससे सूक्ष्म, स्थूल, समष्टि और व्यष्टि शरीर उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

जैसे मदिराके आस्वादसे मदकी महाशक्ति प्राप्त होती है, वैसे ही अहन्ता-ध्याससे जीव स्थूल और सूक्ष्म शरीरके अधीन हो जाता है और उससे यह निरतिशय निबिड स्नेहसे भरी अनर्थरूपा माया यानी मिथ्याभूत माया, जो कि राग, लोभ, मोह आदि मदकी महाशक्ति है, प्राप्त हुई है ॥ २ ॥

जैसे मरुभूमिमें सूर्य-किरणोंके तापसे जल प्रतीत हो जाता है, वैसे ही उक्त स्वरूपवाली इस रागादिकी शक्तिस्वरूपा महामायासे, जो प्रवृत्ति, भोग,

मनोबुद्धिरहङ्कारो वासनाश्चेन्द्रियाण्यपि ।
एवं कलितनामाङ्कैः स्फुरत्यात्माब्धिरम्बुभिः ॥ ४ ॥
चित्ताहङ्कारयोर्द्वित्वं वचस्यस्ति न वस्तुतः ।
यच्चित्तं स ह्यहङ्कारो योऽहङ्कारो मनो हि तत् ॥ ५ ॥
व्यतिरिक्तं हिमाच्छौक्ल्यमिति सङ्कल्प्यते यथा ।
मुधैव कल्प्यते भेदश्चित्ताहङ्कारयोस्तथा ॥ ६ ॥
मनोहङ्कारयोरन्तर्द्वयोरेकतरक्षये ।
क्षीणे द्वे एव हि यथा पटशौक्ल्ये पटक्षये ॥ ७ ॥

पुण्य, पाप, वासना आदि अनर्थपरम्परारूप विकारोंसे युक्त है तथा जिसने परमात्माके अन्यथाभावसे अपना अस्तित्व बना रक्खा है—यह समस्त जगत् प्रतीत हो रहा है ॥ ३ ॥

मन, बुद्धि, अहंकार, वासना और इन्द्रिय—इस प्रकारके नाम और रूपकी कल्पना करनेवाले स्वस्वरूपरूपी जलोंसे आत्मारूपी समुद्र प्रस्फुरित होता है ॥ ४ ॥

अनर्थप्राप्तिके प्रकारको बतलाकर अब उसके उच्छेदनका उपाय बतलानेके लिए जैसे एक ही वृक्ष अङ्कुर, काण्ड, मूल और शाखाओं आदिके प्ररोह-क्रमसे चारों ओर फैलकर अवस्थित होता है, वैसे ही एक ही अन्तःकरण पहले चिन्तन करनेसे चित्त, तदनन्तर मनन करनेसे मन, तदनन्तर निश्चय करनेसे बुद्धि और अनन्तर निश्चयाभिमानसे अहङ्कार—यों नामोंको धारणकर चारों ओर फैलकर अवस्थित है, ऐसा कहते हैं—**'चित्ता०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चित्त और अहङ्कार यों दो प्रकारका व्यवहार केवल वाणीमें ही है, वास्तवमें नहीं है, क्योंकि जो चित्त है, वही अहंकार है और जो अहंकार है, वही चित्त है ॥ ५ ॥

जैसे बरफसे भिन्न शुक्लत्वकी कल्पना की जाती है, पर वास्तवमें बरफ और शुक्लत्वमें परस्पर कोई पार्थक्य नहीं है, वैसे ही चित्त और अहंकारकी कल्पना व्यर्थ ही की जाती है, वास्तवमें उनका परस्पर कोई भेद नहीं है ॥ ६ ॥

चित्त और अहंकारकी एकताके उक्तिका फल कहते हैं—**'मनो०'** इत्यादिसे ।

तुच्छां मोक्षधियं त्यक्त्वा बन्धबुद्धिं तथैषणाम् ।
स्ववैराग्यविवेकाभ्यां केवलं क्षपयेन्मनः ॥ ८ ॥
मोक्षो मेऽस्त्विति चिन्ताऽन्तर्जाता चेदुत्थितं मनः ।
मननोत्के मनस्युच्चैर्वपुर्दोषाय केवलम् ॥ ९ ॥
आत्मन्यतीते सर्वस्मात् सर्वभूतेऽथवा तते ।
को बन्धः कश्च वा मोक्षो निर्मूलं मननं कुरु ॥ १० ॥

भद्र श्रीरामचन्द्रजी, जैसे पटका विनाश होनेपर पट और शुक्लत्व दोनोंका विनाश हो जाता है, वैसे ही मन और अहंकार इन दोनोंके बीचमें से किसी एकका विनाश हो जानेपर मन एवं अहंकार दोनोंका विनाश हो ही जाता है ॥ ७ ॥

अब उसके उच्छेदनका उपाय कहते हैं—**'तुच्छाम्'** इत्यादिसे ।

'मुझे मोक्ष मिले' इस प्रकारकी तुच्छ मोक्षेच्छा, सांसारिक बन्धबुद्धि तथा अन्यान्य इच्छाओं का परित्याग कर अपने वैराग्य और आत्मा-अनात्माके विवेकसे केवल मनको ही विनष्ट कर देना चाहिए ॥ ८ ॥

मोक्षेच्छाका त्याग क्यों करना चाहिए, इसपर कहते हैं—**'मोक्षो'** इत्यादिसे ।

हे रामभद्र, 'मुझे मोक्ष मिले' इस प्रकारकी यदि भीतर इच्छा उत्पन्न हो गई, तो मन सबल हो गया, यह जान लेना चाहिए । मननकी ओर मनके एकदम उत्कण्ठित हो जानेपर वही मन शरीरके आकारमें परिणत हो जाता है और फिर बहिर्मुखताका सम्पादन कराकर केवल दोषको ही उत्पन्न करता है । अतः किसी पदार्थकी इच्छा करनी ही नहीं चाहिए । चाहे वह पदार्थ मोक्ष हो, चाहे सांसारिक वस्तु हो । पदार्थकी इच्छा ही तुच्छ है ॥ ९ ॥

मनका परिच्छिन्न शरीरके आकारमें परिणत होना ही दोष है, न कि शुद्ध आत्माके आकारमें अथवा जगदात्माके आकारमें परिणत होना दोष है, इस आशयसे कहते हैं—**'आत्मन्यतीते'** इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण परिच्छिन्न वस्तुओंसे परे अथवा समस्त भूतगुणोंमें व्याप्त आत्मामें

वायुः स्पन्दनधर्मत्वाद् यदा चलति देहके ।
तदा स्फुरति हस्ताङ्घ्ररसनापल्लवावली ॥ ११ ॥
पादपे पल्लवश्रेणीं चालयत्यनिलो यथा ।
तथैवाऽङ्गावलीं वायुर्देहे सञ्चालयत्यलम् ॥ १२ ॥
चित् सर्वव्यापिनी सूक्ष्मा न चला नैव चाल्यते ।
न स्वतः स्पन्दमायाति देवाचल इवाऽनिलैः ॥ १३ ॥
प्रतिबिम्बितसर्वार्था केवलं स्वात्मनि स्थिता ।
प्रकाशयति बोधेन जगन्तीमानि दीपवत् ॥ १४ ॥

क्या बन्ध है और क्या मोक्ष है? इसलिए हे श्रीरामजी, आप परिच्छिन्नता-मननका ही निर्मूलन कर दीजिए ॥ १० ॥

प्राण आदि वायुओंसे होनेवाले चलन आदि धर्मोंसे युक्त देह प्रभृतिसे आत्मा विलक्षण है, यह बतलाते हैं—'**वायुः**' इत्यादिसे ।

वायु स्पन्दनरूप धर्मसे युक्त है, अतः जब वह इस तुच्छ देहमें चलता है, तब हाथ, पैर और रसनारूपी पल्लवोंकी पंक्ति चलने लगती है ॥ ११ ॥

जैसे वायु वृक्षमें पल्लवोंकी पंक्तिको चलाता है, वैसे ही प्राणादि वायु देहमें अङ्गोंकी पंक्तियोंको पर्याप्तरूपसे चलाता है ॥ १२ ॥

सब पदार्थोंको व्याप्त कर लेनेवाली अतिसूक्ष्म चित् न तो स्वतः चल है और न किसीसे चलायमान होती है । जैसे अचल मेरुपर्वत वायुओंसे कम्पित नहीं होता, वैसे ही यह चित् भी प्राण आदि वायुओंसे कम्पित नहीं होती ॥ १३ ॥

शुद्ध आत्मभावमें आत्माका संचलन नहीं होता तो भले ही न हो, पर सर्वात्मरूपताके भावमें तो उसका वैसे संचलन हो सकता है, जैसे शाखाके संचलनसे वृक्षका संचलन होता है, इसपर कहते हैं—'**प्रतिबिम्बित०**' इत्यादिसे ।

जैसे अपनी ज्योत्स्नाके द्वारा प्रदीप घट आदि पदार्थोंको प्रकाशित कर देता है, वैसे ही बोधके द्वारा अपने स्वरूपमें अवस्थित चिद्रूपी आत्मा, जिसमें समस्त अर्थ प्रतिबिम्बित हुए हैं, इन अखिल ब्रह्माण्डोंको प्रकाशित कर देता है । निष्कर्ष यह निकला कि जैसे स्फटिककी शिला चल रहे अनेक पदार्थोंके

तत्र कोऽयं मुधा मोहो भवतामतिदुःखदः ।
अयं सोऽहं ममाऽङ्गानि ममेदं चेति दुर्धियाम् ॥ १५ ॥
इति कल्लोलहतया दृशा नित्यमनित्यया ।
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वक्रिया समुपलभ्यते ॥ १६ ॥
तत्राऽयमहमागन्ता भोक्ता कर्तेति जायते ।
मुधैवाऽज्ञाततापोत्था मृगतृष्णेव वासना ॥ १७ ॥
अज्ञतैषा मनोमत्तमृगं विषयतर्षुलम् ।
असत्यैव हि सत्येव मृगतृष्णेव कर्षति ॥ १८ ॥

प्रतिबिम्बोंकी स्वरूपताको प्राप्त होती हुई भी स्वयं अचल रहती है, वैसे ही आत्मा चल रहे पदार्थोंकी स्वरूपताको प्राप्त होता हुआ भी स्वयं अचल ही रहता है ॥१४॥

आत्मा और देहकी तनिक भी समानता नहीं है, यह जब वस्तुस्थिति है, तब दुर्बुद्धियोंको 'यह देह ही मैं हूँ, हाथ आदि अङ्ग मेरे हैं तथा स्त्री, पुत्र आदि मेरे हैं' इत्यादि अत्यन्त दुःखप्रद व्यर्थ मोह नहीं है, तो फिर वह है क्या ? ॥ १५ ॥

आत्मा और शरीरका अत्यन्त वैधर्म्य होनेपर भी देहमें ज्ञातृत्व और आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विरुद्ध धर्म अविद्याके कल्लोलरूपी रागादिसे उपहत तथा देह आदिके साथ तादात्म्य और संसर्गाध्याससे जनित होनेके कारण अनित्य मिथ्या भ्रान्तिसे ही सदा प्रतीत होते हैं ॥ १६ ॥

उपलब्धिके अनुसार ही उत्तरोत्तर भ्रान्तिकी बीजभूत वासना भी बढ़ती जाती है, यों कहते हैं—'**तत्रा०**' इत्यादिसे ।

उसमें 'यह मैं आगन्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ'—इस प्रकारकी वासना, ऐसी व्यर्थ उत्पन्न होती है, जैसी तूलाज्ञानसे आवृत मरुभूमिस्थ आतपसे मृगतृष्णा उत्पन्न होती है ॥ १७ ॥

असलियतमें असत्य ही है, तथापि असत्यत्वरूपसे अज्ञात अतएव सत्य-सी दीखाई पड़नेवाली यह अज्ञतारूपा वासना (अविद्या) मनरूपी मत्त मृगको, जो विषयोंकी तृषासे आक्रान्त है, उस प्रकार खींचती है, जिस प्रकार जलकी तृषासे आक्रान्त मृगको मृगतृष्णा खींचती है ॥ १८ ॥

विज्ञाता सत्यरूपाऽङ्ग नाशं याति पलायते ।
विप्रमध्यात् परिज्ञाता यथा चाण्डालकन्यका ॥ १९ ॥

अविद्या संपरिज्ञाता न चैनं परिकर्षति ।
मृगतृष्णा परिज्ञाता तर्षुलं नाऽवकर्षति ॥ २० ॥

परमार्थविबोधेन समूलं राम वासना ।
दीपेनेवाऽन्धकारश्रीर्गलत्यालोक एति च ॥ २१ ॥

नाऽस्त्यविद्येति संजाते निश्चये शास्त्रयुक्तितः ।
गलत्यविद्या तापेन तुषारकणिका यथा ॥ २२ ॥

देहस्याऽस्य जडस्याऽर्थे किं भोगैरिति निश्चयः ।
भिनत्त्याशामलं ज्ञाता पञ्जरं केसरी यथा ॥ २३ ॥

हे रामजी, जैसे जिसका स्वरूप जान लिया गया हो, ऐसी चाण्डाल-कन्या ब्राह्मणोंकी पंक्तिमें से भाग जाती है, वैसे ही जिसका तात्त्विक स्वरूप जान लिया हो, ऐसी अविद्यारूपी वासना भाग जाती है और नष्ट हो जाती है ॥ १९ ॥

हे रामभद्र, जैसे 'यह मृगतृष्णा है' इस प्रकार तात्त्विक स्वरूपसे जानी गई मृगतृष्णा तृषार्त मृगको अपनी ओर नहीं खींचती, वैसे ही 'यह अविद्या है' इस प्रकार तत्त्वतः जानी गई अविद्या मनरूपी मृगको नहीं खींचती ॥ २० ॥

श्रीरामजी, जैसे दीपसे अन्धकारकी श्री नष्ट हो जाती है और प्रकाश आ जाता है, वैसे ही परमार्थरूप आत्माके अवबोधसे वासना समूल नष्ट हो जाती है और अपरिच्छिन्न आत्मप्रकाश आविर्भूत हो जाता है ॥ २१ ॥

जैसे आतपसे तुषारकणिका गल जाती है, वैसे ही 'अविद्याका अस्तित्व किसी तरह नहीं है', इस प्रकार शास्त्र और तदनुकूल युक्तिसे दृढ़ निश्चय हो जानेपर अविद्या तत्क्षण गल जाती है ॥ २२ ॥

इस जड़ देहके लिए भोगोंसे क्या प्रयोजन है ? इस प्रकारके निश्चयसे युक्त तत्त्वज्ञ पुरुष इच्छाओंके हेतुभूत मलको (अज्ञानको) ऐसे छिन्न भिन्न कर देता है, जैसे सिंह पीजड़ेको छिन्न भिन्न कर देता है ॥ २३ ॥

आशापरिकरे राम नूनं परिहृते हृदा ।
पुमानाऽऽगतसौन्दर्यो ह्लादमायाति चन्द्रवत् ॥ २४ ॥
परां शीतलतामेति वृष्टिधौत इवाऽचलः ।
निर्वृतिं परमां धत्ते प्राप्तराज्य इवाऽधमः ॥ २५ ॥
शोभते परया लक्ष्म्या शरदीव नभस्तलम् ।
आत्मन्येव न मात्युच्चैः कल्पस्याऽन्त इवाऽर्णवः ॥ २६ ॥
भवत्यपेतसंरम्भो वृष्टिमूक इवाऽम्बुदः ।
तिष्ठत्यात्मनि संवेत्ता प्रशान्त इव वारिधिः ॥ २७ ॥
परं धैर्यमुपादत्ते स्थैर्यं मेरुरिवाऽचलः ।
राजते स्वच्छया लक्ष्म्या शान्तेन्धन इवाऽनलः ॥ २८ ॥

हे श्रीरामजी, अपने हृदयसे इच्छाओंके परिवारभूत देहाभिमान आदिका निश्चितरूपसे परिहार हो जानेपर पुरुष चन्द्रमाकी नाईं सौन्दर्यसे परिपूर्ण हो जाता है और अत्यन्त प्रसन्नताको प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

हे मर्यादापुरुषोत्तम, जैसे वृष्टिसे धोया गया पर्वत परम शीतलताको प्राप्त करता है, वैसे ही उक्त देहाभिमानका विनाश हो जानेपर पुरुष निरतिशय शीतलताको प्राप्त करता है । जैसे राज्य मिल जानेपर दरिद्र परम विश्रान्तिको धारण करता है, वैसे ही यह परम विश्रान्तिको धारण करता है ॥ २५ ॥

जैसे शरत्कालमें निर्मलत्व आदि शोभासे आकाशतल अत्यन्त सुशोभित होता है, वैसे ही यह तत्त्वज्ञानरूपी उत्तम शोभासे सुशोभित होता है और जैसे कल्पके अन्तमें (महाप्रलयमें) समुद्र अपनी परिधिमें नहीं अमाता, वैसे ही यह अपनमें नहीं अमाता यानी उस समय किसीसे परिच्छिन्न नहीं होता ॥ २६ ॥

जैसे मेघ वर्षाकालमें बरस चुकनेके कारण शरत्कालमें गर्जन आदिसे शून्य हो जाता है, वैसे ही तत्त्ववेत्ता उक्त दशामें समस्त अभिनिवेशोंसे शून्य हो जाता है और जैसे प्रशान्त समुद्र अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, वैसे ही वह अपने स्वरूपमें ही अवस्थित रहता है ॥ २७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे अचल मेरु स्थिरता और धीरताको ग्रहण करता है, वैसे ही अचल तत्त्ववेत्ता स्थिरता और धीरताको ग्रहण करता है यानी न तो

भवत्यात्मनि निर्वाणः प्रशान्त इव दीपकः ।
तृप्तिमायाति परमां नरः पीतामृतो यथा ॥ २९ ॥
अन्तर्दीपो घट इव मध्यज्वाल इवाऽनलः ।
स्फुरद्दीप्तिर्मणिरिव प्रयात्यन्तः प्रकाशताम् ॥ ३० ॥
सर्वात्मकं सर्वगतं सर्वेशं सर्वनायकम् ।
सर्वाकारं निराकारं स्वमात्मानं प्रपश्यति ॥ ३१ ॥
हसत्यलमतीताः स्वाः पेलवा दिवसावलीः ।
यासु स्मरशरश्रेणीचपलं चित्तमास्थितम् ॥ ३२ ॥
सङ्गरङ्गविनिष्क्रान्तः शान्तमानमनोज्वरः ।
अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः ॥ ३३ ॥

किन्हीं विषयोंसे धर्षित होता है और न भयस्थानोंसे प्रकम्पित होता है। इन्धनोंके शान्त हो जानेपर अग्निकी नाईं अति स्वच्छ कान्तिसे विराजित होता है ॥ २८ ॥

तत्त्ववेत्ता मुनि अपने ही स्वरूपमें ऐसे उत्तम शान्तिसे समन्वित रहता है, जैसे वायुरहित प्रदेशमें दीपक अपने स्वरूपमें शान्त रहता है। और परम तृप्तिको ऐसे प्राप्त करता है, जैसे अमृत पी जानेवाला पुरुष परम तृप्तिको प्राप्त करता है ॥ २९ ॥

जैसे मध्यदीपवाला घट, मध्यज्वालावाला अग्नि और प्रस्फुरित कान्तिवाला मणि अपने भीतर प्रकाशको प्राप्त करते हैं, वैसे ही तत्त्ववेत्ता पुरुष अपने भीतर परम प्रकाश स्वरूपताको प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

तत्त्ववित् महानुभाव सब भूतोंके आत्मस्वरूप, सर्वत्र सत्तावाले, सबके नियन्ता, सबके नायक, व्यवहार-दशामें सर्वाकार और परमार्थ-दशामें निराकार अपने आत्माको देखता है ॥ ३१ ॥

आत्मतत्त्व स्वरूपको पहचान लेनेवाला महात्मा भूतपूर्व उन तुच्छ दिवसोंकी पंक्तियोंका स्मरण कर हँसता है, जिनमें काम-बाणोंकी परम्पराओंसे चंचल चित्त विद्यमान था ॥ ३२ ॥

तत्त्ववेत्ता पुरुष विषयी पुरुषोंके सङ्ग और विषयोंके अनुरञ्जनसे वर्जित, मान और मानसिक चिन्ताओंसे शून्य, आत्मविषयमें आसक्त, परिपूर्ण और विशुद्ध अन्तःकरणसे युक्त होता है ॥ ३३ ॥

निर्मृष्टकामपङ्काङ्कश्छिन्नबन्धनिजभ्रमः ।
द्वन्द्वदोषभयोन्मुक्तस्तीर्णसंसारसागरः ॥ ३४ ॥

प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्लब्धालभ्यपरास्पदः ।
अनिवृत्तिपदं प्राप्तो मनसा कर्मणा गिरा ॥ ३५ ॥

सर्वाभिवाञ्छितारम्भो न किञ्चिदपि वाञ्छति ।
सर्वानुमोदितानन्दो न किञ्चिदनुमोदते ॥ ३६ ॥

न ददाति न चाऽऽदत्ते न स्तौति न च निन्दति ।
नाऽस्तमेति न चोदेति न तुष्यति न शोचति ॥ ३७ ॥

सर्वारम्भपरित्यागी सर्वोपाधिविवर्जितः ।
सर्वाशासंपरित्यागी जीवन्मुक्त इति स्मृतः ॥ ३८ ॥

आत्मज्ञानी कामरूपी कीचड़के लाञ्छनसे रहित, बन्धनस्वरूप आत्मभ्रमसे शून्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे उन्मुक्त तथा संसाररूपी सागरसे तरा हुआ रहता है ॥ ३४ ॥

तत्त्वज्ञ विद्वान् सबसे उत्तम सार्वभौम शान्तिको, साधारण कोटीके जीवोंके लिए अत्यन्त दुर्लभ परम पदको तथा संसारानलमें पुनः पुनः सम्पात-स्वरूप आवृत्ति-से वर्जित यानी अनावृत्तिपदस्वरूप साम्राज्यको प्राप्त हुआ रहता है। समस्त लोगोंके द्वारा कर्म और वाणीसे इस महाविद्वान्का सुन्दर परम पावन चरित्र चाहा जाता है, पर यह कुछ भी नहीं चाहता। सभी मनुष्य इसके चरित्रफलोंका अनुमोदन करते हैं, पर यह किसीका अनुमोदन नहीं करता यानी उदासीन रहता है ॥ ३५, ३६ ॥

तत्त्वज्ञ न तो कुछ देता है, न किसीका ग्रहण करता है, न किसीकी स्तुति करता है, न किसीकी निन्दा करता है, न अपने स्वरूपके तिरोधानको प्राप्त होता है, न उदयको प्राप्त होता है यानी फिर स्वरूपाविर्भावको प्राप्त नहीं होता, न सन्तुष्ट होता है और न शोक करता है ॥ ३७ ॥

समस्त आरम्भोंका (लौकिक, वैदिक कर्मोंका) परित्याग करनेवाला, समस्त उपाधियोंसे वर्जित तथा समस्त आशाओंको तिलाञ्जलि देनेवाला पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ३८ ॥

सर्वैषणाः परित्यज्य चेतसा भव मौनवान् ।
धारा निरवशेषेण यथा त्यक्त्वा पयोधरः ॥ ३९ ॥
न तथा सुखयत्यङ्ग संलग्ना वरवर्णिनी ।
यथा सुखयति स्वान्तमिन्दुशीता निराशता ॥ ४० ॥
न तथेन्दुः सुखयति कण्ठलग्नोऽपि राघव ।
नैराश्यं सुखयत्यन्तर्यथा सकलशीतलम् ॥ ४१ ॥
पुष्पपूर्णनवलतो न तथा राजते मधुः ।
यथोदारमतिर्मौनी नैराश्यसममानसः ॥ ४२ ॥
न हिमाद्रेर्न मुक्ताभ्यो न रम्भाभ्यो न चन्दनात् ।
न च चन्द्रमसः शैत्यं नैराश्याद्यदवाप्यते ॥ ४३ ॥

महाराज वसिष्ठ श्रीरामभद्रको जीवन्मुक्तके लक्षणोंकी शिक्षा देते हैं—**'सर्वैषणाः'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जैसे जलधाराओंका निःशेषरूपसे परित्याग कर मेघ परिपूर्ण-रूपसे प्रशान्त हो जाता है, वैसे ही आप भी समस्त अभिलाषाओंका परित्याग कर अन्तःकरणसे मौन हो जाइये यानी प्रशान्त हो जाइये ॥ ३९ ॥

अभिलाषाके परित्यागकी प्रशंसा करते हैं—**'न तथा'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामभद्र, जिस प्रकार इन्दु-बिम्बकी नाईं अत्यन्त शीतल निराशा अपने अन्तरात्माको सुख-शान्ति पहुँचाती है, उस प्रकार अङ्गमें आलिङ्गित वरवर्णिनी (अपने पतिमें अनन्य भाव रखनेवाली अति कमनीय कान्ता) पुरुषके अन्तरात्माको सुख-शान्ति नहीं पहुँचाती है ॥ ४० ॥

हे राघव, जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत्को सुशीतल करनेवाला नैराश्य अन्तरात्मा-को सुख पहुँचाता है, उस प्रकार कण्ठमें संलग्न भी चन्द्रमा अन्तरात्माको सुख नहीं पहुँचाता ॥ ४१ ॥

श्रीरामजी, जिस प्रकार नैराश्यसे सम हुए अन्तःकरणसे युक्त उदारमति मौनी तत्त्वज्ञ सुशोभित होता है, विकसित कुसुमोंसे परिपूर्ण एवं नूतन लताओंसे विराजित कुसुमाकर—उस प्रकार सुशोभित नहीं होता ॥ ४२ ॥

श्रीरामजी, नैराश्यसे जैसी शीतलता प्राप्त होती है, वैसी शीतलता न तो

अपि राज्यादपि स्वर्गादपीन्दोरपि माधवात् ।
अपि कान्तासमासङ्गान्नैराश्यं परमं सुखम् ॥ ४४ ॥
तृणवन्नोपकुर्वन्ति यत्र त्रिभुवनश्रियः ।
सा परा निर्वृतिः साधो नैराश्यादुपलभ्यते ॥ ४५ ॥
आपत्करञ्जपरशुं पराया निर्वृतेः पदम् ।
पुष्पगुच्छं शमतरोरालम्बस्व निराशताम् ॥ ४६ ॥
गोष्पदं पृथिवी मेरुः स्थाणुराशाः समुद्रिकाः ।
तृणं त्रिभुवनं राम नैराश्यालङ्कृताकृतेः ॥ ४७ ॥
दानादानसमाहारविहारविभवादिकाः ।
क्रिया जगति हस्यन्ते निराशैः पुरुषोत्तमैः ॥ ४८ ॥

हिमालयसे, न मोतियोंसे, न कदलीकाण्डोंसे, न चन्दनसे और न हिमांशुसे प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

किञ्च, पुरुषको न तो राज्यसे, न तो स्वर्गसे, न तो चन्द्रमासे, न तो वसन्तसे और न कान्ताके कमनीय संसर्गसे वैसा उत्तम सुख मिलता है, जैसा निराशासे उत्तम सुख मिलता है यानी राज्य आदिकी अपेक्षा निराशा ही सबसे बढ़ चढ़-कर सुख है ॥ ४४ ॥

हे साधो, जिस मोक्षनामक परम सुखके लिए तीनों लोकोंकी सम्पत्तियाँ तिनकेकी नाईं कुछ भी उपकार नहीं कर सकतीं, वह मोक्षात्मक निरतिशय सुख नैराश्यसे ही प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

हे रघुकुलकमलदिवाकर, आपत्तिरूपी करञ्ज (करंजुवे) वृक्षके लिए परशुरूप, परम निरतिशय विश्रान्ति सुखके स्थानस्वरूप, शान्तिरूपी वृक्षके फूलोंके गुच्छ-स्वरूप नैराश्यका आप आश्रयण कीजिये ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामजी, नैराश्यसे अलङ्कृत आकृतिवाले महात्माकी दृष्टिमें पृथ्वी गायके खुरकी तरह, सुमेरु पर्वत स्थाणुकी तरह (काटे गये वृक्षके अवशिष्ट भागकी तरह), दिशाएँ साधारण पिटारियोंकी तरह और सारा त्रिभुवन तृणकी तरह प्रतीत होता है ॥ ४७ ॥

भद्र, इस जगत्‌में जो—लौकिक और शास्त्रीय दान, आदान यानी धन आदिका स्वीकार, समाहार यानी संग्रहवृत्तिसे कोश आदिका बढ़ाना, विहार यानी धनव्ययसे

पदं यस्य न बध्नाति कदाचित् कलना हृदि ।
तृणीकृतत्रिभुवनः केनाऽसावुपमीयते ॥ ४९ ॥
इदमेवाऽस्त्विदं माऽस्तु ममेति हृदि रञ्जना ।
न यस्याऽस्ति तमात्मेशं तोलयन्ति कथं जनाः ॥ ५० ॥
सर्वसङ्कटपर्यन्तमसङ्कटमलं सुखम् ।
सौभाग्यं परमं बुद्धेर्नैराश्यमवलम्ब्यताम् ॥ ५१ ॥
नाऽऽशास्ते न त्वमाशानां विद्धि मिथ्याभ्रमं जगत् ।
वहद्रथस्थदिक्चक्रपरावर्तवदुत्थितम् ॥ ५२ ॥

पुत्रके साथ क्रीडन, विभव यानी वस्त्र, अलङ्कार आदि सम्पत्ति—इत्यादि क्रियाएँ हैं, वे आशावर्जित महापुरुषके द्वारा हँसी जाती हैं, क्योंकि उनके लिए प्रयत्न तो अत्यन्त करना पड़ता है, पर उनसे जो फल होते हैं, वे अत्यन्त तुच्छ होते हैं और परिणाममें अनर्थके सम्पादक हैं, परन्तु मूढ पुरुषोंको उनमें वैसा ग्रह नहीं है, इसलिए वे हँसीके पात्र हैं, यह भाव है ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आशा जिसके हृदयमें अपना स्थान कभी नहीं जमा सकती, ऐसे सम्पूर्ण त्रिभुवनको तृणके सदृश समझनेवाले इस महात्माकी उपमा किससे दी जा सकती है ? ॥ ४९ ॥

भद्र, 'मुझे यही होना चाहिए और यह नहीं होना चाहिए' इस प्रकारकी इच्छा जिसके चित्तमें नहीं होती, ऐसे स्वाधीन चित्तवाले या सर्वेश्वरस्वरूपवाले विद्वान्‌की मनुष्य किस प्रकार तुलना कर सकते हैं ॥ ५० ॥

श्रीरामभद्र, समस्त सङ्कटोंके पारभूत, सङ्कट और मलसे वर्जित, सुखात्मक तथा बुद्धिकी परम सार्थकतास्वरूप नैराश्यका आप अवलम्बन कीजिये ॥ ५१ ॥

हे श्रीरामजी, असलियतमें आपमें (आत्मामें) न तो आशाओंका अस्तित्व है और न आपका (आत्माका) आशाओंसे किसी तरहका सम्बन्ध ही है । इस जगत्‌को अज्ञानवशसे उत्थित मिथ्या भ्रममात्र उस प्रकार जानिये, जिस प्रकार दौड़ रहे रथके ऊपर अवस्थित पुरुषको दोनों ओर बगलकी दिशाओंमें विद्यमान तरु, गुल्म आदिमें पहियोंके परिभ्रमणसे भ्रमवश परिभ्रमण होता दिखाई पड़ता है । अथवा हे श्रीरामजी, आप आशाओंका अवलम्ब मत कीजिये । आशाएँ एक तरहकी

किं मुह्यसि महाबाहो मूर्खवद्बोधितोऽपि सन् ।
ममेदं तदयं सोऽहमित्युद्भ्रान्तेन चेतसा ।। ५३ ।।

चोर हैं, क्योंकि आत्मा और अनात्माके विवेकविज्ञानरूपी धनसम्पत्तिका अपहरण कर वे पुरुषोंको आत्मसुखसे वंचित कर देती हैं। जगत्का वैषयिक सुख मूढ पुरुषोंसे ही सैकड़ों तरहकी अभिलाषाओंके द्वारा चाहा जाता है। जैसे दौड़ रहे रथमें लगे हुए पहियोंके ऊर्ध्व और नीचे प्रदेशमें होनेवाला घुमाव नेमीका आश्रयण करनेवाले पिपीलिका प्रभृति जीवोंके पतन, पेषण आदि अनर्थका कारण होता है, वैसे ही मिथ्या भ्रममात्र जगत् भी उसका आश्रयण करनेवाले यानी भ्रान्तिरूप जगत्में सत्यत्वमति रखनेवाले जीवोंके जनम, मरण आदि अनर्थोंका कारण है यानी अनर्थोंके लिए ही जगत् समुत्थित है, यह जानिए।

अथवा उत्तम सुखकी अभिलाषासे निम्न कोटीके सुखोंकी अभिलाषाका अपहरण करनेके लिए उत्तरोत्तर अन्य अन्य आशाओंका परिग्रह करना पड़ेगा, ऐसी स्थितिमें आशाओंकी अभिवृद्धि ही होगी, आशाकी अपहति नहीं होगी, इस प्रकारकी श्रीरामचन्द्रजीकी आशङ्काको ताड़कर महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—**'नाशा०'** इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, उत्कृष्ट आशाएँ निकृष्ट आशाओंकी अपहर्त्री हैं, इस अभिप्रायसे नैराश्यका कथन मैंने नहीं किया है? ऐसा आप जानिये, क्योंकि जगत् तो मिथ्याभ्रम है यानी मिथ्याभूत वस्तुओंमें अभिलाषाओंकी परम्पराका उत्पादन कर वह पुरुषोंको चक्करमें डालता है। और जैसे दौड़ रहे रथमें स्थित पुरुषको दिक्चक्रोंमें क्रमशः भ्रमण उत्पन्न होता है अथवा दौड़ रहे रथके वेगसे दिङ्मोह उत्पन्न होता है, वैसे ही भ्रान्तिवश जगत् उत्पन्न है, अतः इस प्रकारके मिथ्याभ्रमणशील जगत्में उत्कर्षप्रयुक्त अपकर्षकी कथा ही अप्रसिद्ध है। अथवा आशाएँ आशाओंकी चोरी नहीं करतीं, अतः आत्मवेत्ता किसीकी भी चाहना नहीं करता, क्योंकि जगत् भ्रममात्र है, इस जगत्में ऐसी कोई पुरुषार्थ-स्वरूप वस्तु नहीं है, जो चाहने योग्य हो सके, अतः आप आशाओंसे कुछ भी सम्बन्ध मत रखिये। इस पक्षमें श्लोकस्थ बाकी अंश पूर्वकी तरह समझ लेना चाहिए ।।५२।।

आशाओंके आत्यन्तिक निरासके हेतुका अन्वेषण करनेपर भी उसका परिज्ञान न होनेके कारण मोहको प्राप्त हुए-से श्रीरामजीको देखकर पूर्वोक्त देह

आत्मैवेदं जगत्सर्वं नानातेह न विद्यते।
एकरूपं जगज्ज्ञात्वा धीरैर्नाम न खिद्यते ॥ ५४ ॥
यथाभूतपदार्थौघदर्शनादेव राघव ।
परमाश्वासनं बुद्धेर्नैराश्यमधिगच्छति ॥ ५५ ॥
भावाभावविसंवादमुक्तमाद्यन्तयोः स्थितम् ।
यद्रूपं तत्समालम्ब्य पदार्थानां स्थितिं कुरु ॥ ५६ ॥
वैराग्यवीरमनसो मायेयमतिमोहिनी ।
पलाय्य याति संसारी मृगी केसरिणो यथा ॥ ५७ ॥

आदिमें अहम्भाव और ममताका परित्याग ही आत्यन्तिक नैराश्यमें हेतु है, इसका आग्रहपूर्वक स्मरण करा रहे महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—**'किम्'** इत्यादिसे ।

हे महाबाहो, बोधित होनेपर भी आप 'यह देह तथा देह-सम्बन्धी जरा आदि मेरे हैं, पूर्वोत्तरकालमें प्रसिद्ध और वर्तमान कालमें प्रत्यक्ष देह मैं ही हूँ,' इत्यादि-रूपसे मूर्खोंकी नाईं क्यों भ्रममें पड़े हुए हैं ॥ ५३ ॥

आपका वैसा कहना यद्यपि उचित है, तथापि आशारूपी दुःखकी निवृत्ति किस प्रकारसे होगी ? तो इसपर कहते हैं—**'आत्मैवेदम्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, यह सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप ही है, यहाँ नानारूपता है ही नहीं। जगत्को अद्वितीय परमात्मस्वरूप जानकर धीर महात्मा तनिक भी खिन्न नहीं होते ॥ ५४ ॥

हे राघव, इन पदार्थोंके समूहोंका जो यथार्थ आत्मभूत स्वरूप है, उसको जाननेसे ही पुरुष बुद्धिके परम विश्रान्तिस्वरूप नैराश्यको प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

समस्त पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप किस प्रकारका है ? इसे कहते हैं—**'भावा०'** इत्यादिसे ।

उत्पत्ति, विनाश और विकल्पोंसे विनिर्मुक्त, आदि और अन्तमें स्थित जो स्वरूप है, वही पदार्थोंका स्वरूप है, ऐसी भावना कर आप अपनी स्थिति कीजिये ॥ ५६ ॥

श्रीरामजी, जैसे वीर केसरीके पाससे मृगी पलायन कर भाग जाती है, वैसे ही समस्त विकल्पोंके परित्यागरूपी महावैराग्यसे वीरताको प्राप्त हुए अन्तःकरणसे युक्त

कान्तामुद्दाममदनां लोलां वनलतामिव ।
जर्जरोपलपाञ्चालीसमां पश्यति धीरधीः ॥ ५८ ॥
भोगा नाऽऽनन्दयन्त्यन्तः खेदयन्ति न चाऽऽपदः ।
दृश्यश्रियो हरन्त्यङ्ग नतमद्रिमिवाऽनिलाः ॥ ५९ ॥
रक्तबालाङ्गनस्याऽपि ज्ञस्योदारधिया मुनेः ।
कणशः पांसुतां यान्ति मनसः स्मरसायकाः ॥ ६० ॥
रागद्वेषैः स्वरूपज्ञो नाऽवशः परिकृष्यते ।
स्पन्द एवाऽस्य नैताभ्यां किमुताऽऽक्रमणं भवेत् ॥ ६१ ॥
समदृष्टलतालोलवनितोऽद्रिशिलाकृतिः ।
रमते नैष भोगेषु पान्थो मरुमहीष्विव ॥ ६२ ॥

पुरुषके पाससे यह मोहकरी संसरणशील माया पलायन कर भाग जाती है ॥ ५७ ॥

इसी प्रकार काम आदि दोष भी भाग जाते हैं, इस आशयसे कहते हैं—**'कान्ता०'** इत्यादिसे।

जिसकी बुद्धि धीर है, ऐसा तत्त्ववित् महात्मा वनलताकी नाईं अतिचपल उन्मत्त कामातुर कान्ताको जरजर प्रस्तरकी मूर्तिके तुल्य देखता है ॥ ५८ ॥

हे अङ्ग, जैसे वायु पर्वतको न आनन्द दे सकता है, न खेद दे सकता है और न धैर्यसे प्रच्युत कर सकता है, वैसे ही तत्त्ववित् पुरुषको विषयोपभोग न तो आनन्द पहुँचा सकते हैं, न तो आपत्तियाँ भीतर खेद पहुँचा सकती हैं और न दृश्य सम्पत्तियाँ धैर्यसे च्युत कर सकती हैं ॥ ५९ ॥

भद्र, जिसके विषयमें बाल अङ्गनाएँ अनुरक्त हैं, ऐसे भी तत्त्वज्ञ मुनिके अन्तःकरणमें उदार बुद्धिके कारण कामदेवके बाण छोटे छोटे टुकड़े होकर धूलीरूपताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६० ॥

आत्माके तत्त्वको पहचान लेनेवाले अपराधीन (इन्द्रियोंके अवशीभूत) विद्वान्‌को राग और द्वेष अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते। श्रीरामजी, इस प्रकार महाविद्वान्‌में उनके द्वारा जब तनिक-सा स्पन्दन भी नहीं हो सकता, तब उनके द्वारा आक्रमणकी तो कथा ही कैसे हो सकती है ॥ ६१ ॥

जैसे बटोही मरु भूमिमें रमण या विश्राम नहीं करता, वैसे ही विद्वान्, जो

अयत्नोपनतं सर्वं लीलयाऽसक्तमानसः ।
भुङ्क्ते भोगभरं प्राज्ञस्त्वालोकमिव लोचनम् ॥ ६३ ॥
काकतालीयवत् प्राप्ता भोगाली ललनादिका ।
स्वादिताऽप्यङ्ग धीरस्य न दुःखाय न तुष्टये ॥ ६४ ॥
सम्यग्दृष्टपथं तज्ज्ञं सुखदुःखमती मनाक् ।
द्वे वीच्याविव शैलेन्द्रं क्षोभं नेतुं न शक्नुतः ॥ ६५ ॥
हेलयाऽऽलोकयन् भोगान्मृदुर्दान्तो गतज्वरः ।
स्वमेव पदमालम्ब्य सर्वभूतान्तरस्थितम् ॥ ६६ ॥

लता और वनितामें एक-सी दृष्टि रखता है, तथा जिसका पर्वतकी नाईं विकारशून्य निष्कम्प आकार है, इन तुच्छ विषयोपभोगोंमें रमण नहीं करता ॥ ६२ ॥

तब क्या विद्वान् खाना, पीना आदिका परित्याग कर देता है? तो इसपर कहते हैं—**'अयत्नोप०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जैसे लोचन आसक्त न होकर आलोकका उपभोग करता है, वैसे ही जिसका अन्तःकरण किन्हीं भोग्य पदार्थोंमें आसक्त नहीं है, ऐसा तत्त्वज्ञ मुनि अयत्नसे प्राप्त अनिषिद्ध अन्न, पान आदि सब भोग्यजातका केवल देहमात्रके धारणके अनुकूल चेष्टासे (व्यापारसे) उपभोग करता है ॥ ६३ ॥

जो तत्त्वज्ञ गृहस्थ है, वह अपने स्त्री आदिके उपभोगका आस्वाद होनेपर भी रागी पुरुषकी नाईं भ्रमग्रस्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'काक०'** इत्यादिसे ।

हे भद्र, काकतालीयकी नाईं प्राप्त हुई ललना आदि भोगपंक्तियाँ आस्वादित होने पर भी तत्त्वज्ञ धीर पुरुषको न दुःखके लिए तथा न तुष्टिके लिए होती हैं ॥ ६४ ॥

जैसे दो वीचियाँ शैलेन्द्र मन्दराचलको क्षोभ नहीं पहुँचा सकतीं, वैसे ही जिसने प्रत्यक्-दृष्टिके मार्गका भली प्रकार परिज्ञान कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषको सुख-बुद्धि और दुःख-बुद्धि दोनों तनिक भी क्षोभ नहीं पहुँचा सकतीं ॥ ६५ ॥

अवहेलनासे यानी असत्यत्वबुद्धिसे विषयोंको देख रहा मृदु, दमनशील

ज्ञस्तिष्ठति गतव्यग्रो व्यग्रेणाऽपि समन्वितः ।
जगन्ति जनयन्नेव ब्रह्मेवाऽऽत्मपरायणः ॥ ६७ ॥
आपतत्सु यथाकालं यथादेशं यथाक्रमम् ।
सुखदुःखेषु न क्षोभमेति भूभृदृतुष्विव ॥ ६८ ॥
मज्जतोऽपि बहुज्ञस्य राम कर्मेन्द्रियभ्रमैः ।
असक्तमनसो नित्यं न किञ्चिदपि मज्जति ॥ ६९ ॥
कलङ्क्यन्तःकलङ्केन प्रोच्यते हेम नाऽन्यथा ।
भावासक्त्या समासक्त उक्तो जन्तुर्हि नाऽन्यथा ॥ ७० ॥

तथा समस्त चिन्ता आदि ज्वरोंसे विनिर्मुक्त तत्त्ववित् सब भूतोंमें अन्तरात्म-स्वरूपसे स्थित आत्मपदका ही अवलम्बन कर अवस्थित रहता है ॥ ६६ ॥

अनेक भुवनोंको उत्पन्न कर रहे अपनी आत्मामें परम विश्रान्ति लेनेवाले हिरण्यगर्भकी ही नाईं तत्-तत्-कालोचित क्रियाओंमें व्यापृत होनेपर भी देहादियुक्त तत्त्ववेत्ता किसी प्रकारके विक्षेपसे युक्त नहीं रहता यानी विक्षेपशून्य ही रहता है ॥ ६७ ॥

जैसे वसन्त आदि ऋतुओंके आनेपर पर्वत किसी प्रकारका क्षोभ प्राप्त नहीं करता, वैसे ही कालानुसार, देशानुसार एवं क्रमानुसार आपत्तियोंके तथा सुख-दुःखोंके आनेपर भी तत्त्ववित् क्षोभको प्राप्त नहीं होता ॥ ६८ ॥

हे श्रीरामजी, वाक् आदि कर्मेन्द्रियोंके व्यापारोंके विषयोंमें डूब रहे भी आत्मज्ञ विद्वान्का, जो सदा-सर्वदा अनासक्त मनसे युक्त है, कुछ भी विनष्ट नहीं होता ॥ ६९ ॥

भीतरी आसङ्ग ही दोषका उत्पादक है, ऊपर ऊपरका बनावटी आसङ्ग दोषका उत्पादक नहीं है, इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—'**कलङ्क्यन्तः**' इत्यादिसे ।

जैसे सुवर्ण भीतरके कलङ्कसे ही कलङ्कित कहा जाता है, ऊपरी पङ्क आदिके लेपनरूपी कलङ्कसे कलङ्कित नहीं कहा जाता, वैसे ही प्राणी भावासक्तिसे यानी भीतरी आसक्तिसे ही समासक्त कहा जाता है, ऊपरी बनावटी आसक्तिसे आसक्त नहीं कहा जाता ॥ ७० ॥

शरीराद्व्यतिरिक्तं ज्ञं पश्यतः प्रविवेकिनः ।
विकर्तिताङ्गकस्याऽपि न किञ्चित्प्रविकर्तितम् ॥ ७१ ॥
सकृत्प्रभातं विमलं यज्ज्ञातं ज्ञातमेव तत् ।
न हि बन्धुः परिज्ञातः पुनरज्ञाततां व्रजेत् ॥ ७२ ॥
सर्पभ्रान्तौ निवृत्तायां न रज्ज्वां सर्पभावना ।
पुनरेति यथा प्रावृण्नदी गिरितटाच्च्युता ॥ ७३ ॥
न हेम तापशुद्धाङ्गं स्वभावमलमागतम् ।
कर्दमे मग्नमपि सत्समादत्ते मलं पुनः ॥ ७४ ॥

आन्तर आसक्तिके त्यागसे देहदुःख आदिकी भी प्रसक्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं—**'शरीरात्'** इत्यादिसे ।

शरीरसे पृथक् यानी भिन्न आत्माका अपरोक्ष साक्षात्कार कर रहे नित्यानित्य-विवेकके विज्ञानसे सम्पन्न ज्ञानीके भले ही अङ्ग कतरे जायँ, तथापि उसका कुछ भी कर्तित नहीं होता ॥ ७१ ॥

देहसे अतिरिक्त आत्माका विस्मरण होनेपर तो फिर दुःख होगा ? इस आशङ्कापर कहते हैं—**'सकृत्'** इत्यादिसे ।

जैसे एकबार प्रिय बन्धुका परिज्ञान हो जानेके अनन्तर फिर वह अज्ञात नहीं हो जाता, वैसे ही विमल प्रकाशस्वरूप जो आत्मा है, उसका एकबार यदि ज्ञान हो गया, तो वह सदा ज्ञात ही रहता है, फिर उसका विस्मरण नहीं होता ॥ ७२ ॥

विस्मरणकी अप्राप्तिमें दृष्टान्त और उपपत्तिसे युक्त हेतु बतलाते हैं—**'सर्प०'** इत्यादिसे ।

जैसे पर्वतके तटसे चू रही वर्षाकालीन नदी वर्षाकी निवृत्ति हो जानेपर फिर नहीं चूती, वैसे ही सर्पभ्रान्तिकी निवृत्ति हो जानेपर रज्जुमें फिर सर्पभावना नहीं होती । निष्कर्ष यह निकला कि आत्मभ्रान्तिकी निवृत्ति हो जानेपर आत्माका विस्मरण फिर नहीं होता ॥ ७३ ॥

जैसे अग्निके तापसे जिसके अङ्ग विशुद्ध हो चुके हैं तथा जो निःशेषरूपसे अपने स्वभावको यानी केवल सुवर्ण-स्वरूपताको प्राप्त हुआ है, ऐसा कीचड़में निमग्न हो रहा भी सुवर्ण फिर मलको ग्रहण नहीं करता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ७४ ॥

क्षीणे स्वहृदयग्रन्थौ न बन्धोऽस्ति पुनर्गुणैः ।
यत्नेनाऽपि पुनर्बद्धं केन वृन्ते च्युतं फलम् ॥ ७५ ॥
अवच्छेदविचाराभ्यामभितः खण्डशो गतम् ।
पाषाणं च मणिं चैव सन्धातुं कस्य शक्तता ॥ ७६ ॥
विज्ञातायामविद्यायां कः पुनः परिमज्जति ।
परिज्ञाय श्वपाकानां यात्रां कः प्रेक्षते द्विजः ॥ ७७ ॥
शुद्धाम्भसि यथा क्षीरधीर्विचारान्निवर्तते ।
संसारवासना तद्वद्धीविचारान्निवर्तते ॥ ७८ ॥
मध्वम्बुशङ्कया तावद्विप्रवर्यैः प्रपीयते ।
यावन्नाऽत्र परिज्ञातं परिज्ञातं प्रहीयते ॥ ७९ ॥

हे श्रीरामजी, अपने हृदयकी ग्रन्थिका उच्छेद हो जानेपर फिर देहादिके गुणोंसे आत्माका बन्धन नहीं होता, क्या वृक्षस्थ वृन्तसे यानी डंठीसे टूट गये फलको कोई भी समर्थ पुरुष पुनः डंठलके साथ पूर्ववत् जोड़ सकता है ? अर्थात् नहीं जोड़ सकता ॥ ७५ ॥

पत्थरका छेदन और मणिके तात्त्विक स्वरूपका विचार—इन दोनोंकी सहायतासे जो मणिका अंश नहीं है, उस अंशको काटकर पत्थरके अन्तर्गत मणिकी प्राप्ति की जाती है । इस प्रकार प्राप्त हुई मणिका पुनः पूर्ववत् पाषाणके साथ सन्धान करनेके लिए कौन पुरुष सामर्थ्य रख सकता है ? अर्थात् कोई नहीं रख सकता ॥ ७६ ॥

अविद्याका असली स्वरूप जान लेनेके अनन्तर कौन बुद्धिमान् पुरुष फिर उसमें डूबता है यानी फँसता है ? चाण्डालोंके उत्सवविशेषका परिज्ञान हो जानेके अनन्तर कौन द्विजन्मा उस उत्सवमें संमिलित होनेकी प्रतीक्षा करेगा ॥ ७७ ॥

जैसे विशुद्ध सलिलमें हुई दुग्धभ्रान्ति दुग्धस्वरूपका विचार करनेके अनन्तर विनिवृत्त हो जाती है, वैसे ही सांसारिक वासना बुद्धिस्थ आत्माके स्वरूपका विचार करनेके अनन्तर विनिवृत्त हो जाती है ॥ ७८ ॥

इस लोकमें श्रेष्ठश्रेणीके ब्राह्मण लोग तबतक जलबुद्धिसे मद्य पी लेते हैं, जबतक

रूपलावण्ययुक्ताऽपि चित्रकान्तेव कामिनी ।
द्रव्यमात्रसमारम्भात् तत्त्वविद्भिर्विलोक्यते ॥ ८० ॥
यथा मषीकुसुम्भादि स्त्रियाश्चित्रे तथैव हि ।
जीवत्या अपि केशोष्ठं कस्तां परि किल ग्रहः ॥ ८१ ॥
अनुभूतो गुडः स्वादुरपि दाहविकर्तनैः ।
न शक्यतेऽन्यथाकर्तुं तत्त्वालोकस्तथाऽऽत्मनः ॥ ८२ ॥
परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि ।
तदेवाऽऽस्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥ ८३ ॥

उसका असली स्वरूप नहीं जान लेते । असली स्वरूपको जान लेनेपर तो उसका परित्याग कर देते हैं ॥ ७९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्ववेत्ता पुरुष रूपलावण्ययुक्त भी कामिनीको चित्रमें लिखित कान्ताकी प्रतिमाकी नाईं ही देखते हैं, क्योंकि वह द्रव्यमात्रसमारम्भ है यानी उसका तात्त्विक स्वरूप पञ्चभूतात्मक द्रव्यमात्र ही है ॥ ८० ॥

हे श्रीरामजी, जैसे चित्रमें चित्रित कामिनीके केश, ओष्ठ आदि अवयव मषी, कुंकुम आदि रङ्गस्वरूप पाँच भूतोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं हैं, वैसे ही रूप और लावण्यसे युक्त जीवित कामिनीके भी केश, ओष्ठ आदि पाँच भूतोंके स्वरूपसे अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है, इसलिए कान्ता-प्रतिमा और जीवित कान्तामें तत्त्वतः समानता होनेके कारण जीवित-कान्ताकी क्या उपादेयता हो सकती है ? ॥ ८१ ॥

यदि शङ्का हो कि जैसे स्त्री आदि विषयोंका अनुभूयमान जो स्वरूप है, उससे विपरीत ही उनका तात्त्विक स्वरूप है, वैसे ही स्वात्मानुभवका भी परम प्रेमास्पदत्वरूपसे अनुभूयमान जो आनन्दस्वरूप है, उससे विपरीत ही क्यों नहीं होगा ? तो इसपर कहते हैं—**'अनुभूतो'** इत्यादिसे ।

जैसे गुड़के अनुभूत स्वादु मधुर रसको—अनुभूत गुड़, अनुभव-करण जिह्वा तथा अनुभव करनेवाले देवदत्त आदिके दाह, कर्तन आदि सैकड़ों प्रयत्नोंसे भी 'यह माधुर्यका अनुभव नहीं है, किन्तु तिक्त आदिका अनुभव है' यों—अन्यथा नहीं कर सकते, वैसे ही आत्माके तात्त्विक आनन्दानुभवको भी अन्यथा नहीं कर सकते ॥८२॥

जब एकबार अनुभूत पदार्थको भी अन्यथा नहीं कर सकते, तब केवल उसी एक वस्तुमें व्यसनी पुरुषके द्वारा सदा-सर्वदा अनुभूयमान पदार्थको अन्यथा नहीं

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
न शक्यते चालयितुं देवैरपि सवासवैः ॥ ८४ ॥
परव्यसनिनी नारी केन भर्त्रा बलीयसा ।
विस्मारिता स्वसङ्कल्पकान्तसङ्गमहोत्सवम् ॥ ८५ ॥
जगत्समरसानन्दचिदालोकावलम्बनम् ।
केन विस्मार्यते बुद्धिस्तत्त्वज्ञस्य महात्मनः ॥ ८६ ॥
समग्रसुखदुःखाढ्यं व्यवहारमखण्डितम् ।
कुर्वन् कुलजनायत्तो भर्तृश्वशुरखेदितः ॥ ८७ ॥

कर सकते, इसमें तो कहना ही क्या है ? इस आशयसे कहते हैं—**'परव्यसनिनी'** इत्यादिसे ।

पर पुरुषमें व्यसन (आसक्ति) रखनेवाली नारी, घरके कार्यमें व्यग्र रहनेपर भी, उसी परपुरुषसम्बन्धरूपी रसायनका अपने अन्दर आस्वाद लेती है ॥ ८३ ॥

हे श्रीरामजी, इस प्रकार विशुद्ध पर ब्रह्मतत्त्वमें उत्तम विश्रान्तिको प्राप्त हुआ धीर तत्त्वज्ञ पुरुष इन्द्रके साथ हजारों देवताओंसे भी विचलित नहीं किया जा सकता ॥ ८४ ॥

भद्र, भला बतलाइये तो सही कि ऐसा कौन बलिष्ठ स्वामी है, जिसने पर-पुरुषके सङ्गमें व्यसन रखनेवाली अपनी पत्नीको उसके संकल्पमें अवस्थित पर-कान्तसङ्गमरूपी महोत्सवका विस्मरण कराया हो ॥ ८५ ॥

हे राघव, सांसारिक विभिन्न विषयानन्दरूपी जो अनेक पुण्यरस हैं, वे सब जिसमें शहदके छत्तेकी नाईं एकरस हो जाते हैं, ऐसे स्वात्मानन्दचिदालोकके निरन्तर आस्वादनधाराको प्राप्त हुई तत्त्वज्ञ महात्माकी मतिका विस्मरण कौन करा सकता है ? इस विषयमें शिवधर्मोत्तरमें भी कहा गया है—'ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत् । विहाय सर्वकार्याणि मनस्तत्रैव धावति ॥' यानी एकबार भी जिसने ज्ञानामृतरूपी रसका आस्वाद ले लिया हो, उसका मन समस्त व्यापारोंको छोड़कर उसीमें अनुधावन करता है ॥ ८६ ॥

समग्र सुख और दुःखसे युक्त व्यवहारोंको यानी घरके कामोंको विधिपूर्वक कर रही पति, सास और ससुरके द्वारा पीड़ित भी कुलजनोंके आश्रित वधू, जो पर-सङ्गमें आसक्ति रखनेवाली है, जिस प्रकार सङ्कल्प-कान्तसे आनन्दविभोर होती है,

यथा सङ्कल्पकान्तेन भवत्यानन्दमन्थरः ।
वधूलोको व्यसनवान् दुःखवृन्दैर्न बाध्यते ॥ ८८ ॥
तथा विगलिताविद्यो व्यवहारपरोऽप्यलम् ।
सम्यग्दृष्टिः सदाचारो मुदमेत्यन्तरात्मना ॥ ८९ ॥
छिद्यते न निकृत्ताङ्गो गलदश्रुर्न रोदिति ।
दह्यते न प्रदग्धोऽपि नष्टोऽपि न विनश्यति ॥ ९० ॥
व्यपगतसुखदुःखसन्निपातो विधिविधुरेष्वपि सङ्कटेष्वचित्तः ।
विलसतु सदने पुरोत्तमे वा विततगिरौ विपिने तपोवने वा ॥ ९१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे वैराग्योपदेशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

और दुःखोंसे पीड़ित नहीं होती, उसी प्रकार जिस महात्माकी अविद्या निवृत्त हो गई है, जिसकी भली प्रकारकी दृष्टि यानी तत्त्वबुद्धि है तथा जो सुन्दर आचरणोंसे युक्त है, ऐसा महात्मा पर्याप्तरूपसे व्यवहारमें निरत होनेपर भी अपने अन्तरात्मासे प्रसन्नताको प्राप्त करता रहता है ॥ ८७—८९ ॥

उसमें भी जो तत्त्वज्ञ सप्तम भूमिकामें आरूढ़ है, उसकी अत्यन्त स्थिरता रहती है, ऐसा कहते हैं—'छिद्यते' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, सप्तम भूमिकामें समारूढ़ योगी छिन्नाङ्ग हुआ भी छेदित नहीं होता, गिर रहे अश्रुओंसे युक्त होता हुआ भी रोता नहीं है, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता, विनष्टदेह होता हुआ भी नष्ट नहीं होता ॥ ९० ॥

हे राघव, मनके विनाशपर्यन्त भूमिकामें सुप्रतिष्ठित पुरुषधौरेय तत्त्वज्ञ यद्यपि पूर्वकालिक प्रारब्धफलरूपी कर्मसे विधुर भोगशून्य दरिद्र-अवस्थामें या माण्डव्यकी नाईं शूलाधिरोहणरूपी संकटावस्थाओंमें या उत्तमनगरस्थ सदनमें या भयङ्कर अटवीमें या तपोवनमें भले ही रहे, तथापि वह सदा-सर्वदा सुख-दुःखके संनिपातसे दूर ही रहता है, तनिक भी सांसारिक हर्ष, शोक के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता, यह भाव है ॥ ९१ ॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जनकः संस्थितो राज्ये व्यवहारपरोऽपि सन् ।
विगतज्वर एवाऽन्तरनाकुलमतिः सदा ॥ १ ॥
पितामहो दिलीपस्ते सर्वारम्भपरोऽप्यलम् ।
वीतरागतयैवाऽन्तर्बुभुजे मेदिनीं चिरम् ॥ २ ॥
निरञ्जनतया बुद्धो जनतां पालयंश्चिरम् ।
जीवन्मुक्ताकृतिर्नित्यं मनू राज्यमपालयत् ॥ ३ ॥
विचित्रबलयुद्धेषु व्यवहारेषु भूरिषु ।
मान्धाता सुचिरं तिष्ठन् प्राप्तवान् वै परं पदम् ॥ ४ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग

[बड़े बड़े अधिकारोंमें भी हर्ष, शोक आदिके साथ सम्बन्ध न रखनेवाले अनेक मुक्त देवता, असुर, मनुष्य आदि का वर्णन]

महाराज वसिष्ठने कहा—हे राघव, अपने राज्यमें समयोचित तत्-तत् व्यवहारमें तत्पर होते हुए भी राजा जनक निखिल मानसिक चिन्तारूपी ज्वरसे रहित तथा भीतर आकुलमतिसे वर्जित होकर ही सदा-सर्वदा अवस्थित हुए ॥ १ ॥

आपके पितामह महाराज दिलीपने अनेक तरहके उचित सांसारिक कर्मोंमें सर्वदा निरत होनेपर भी भीतर आसक्तिसे वर्जित होकर ही दीर्घकाल तक पृथ्वीका उपभोग किया ॥ २ ॥

राग आदिकी कालिमासे शून्य होनेके कारण आत्मज्ञानको प्राप्त हुए महाराज मनुने चिरकालतक प्रजाओंका पालन करते हुए तथा सर्वदा जीवन्मुक्तस्वरूप होकर राज्यका संरक्षण किया ॥ ३ ॥

विचित्र सैन्य तथा बाहुबल का जिनमें उपयोग होता था, ऐसे युद्धोंमें तथा अनेक व्यवहारोंमें दीर्घकालतक स्थित रहे महाराज मान्धाता आखिर परम पदको प्राप्त हुए ॥ ४ ॥

बलिः पातालपीठस्थः कुर्वन् सदिव संस्थितिम् ।
सदा त्यागी सदाऽसक्तो जीवन्मुक्त इति स्थितः ॥ ५ ॥
नमुचिर्दानवाधीशो देवद्वन्द्वपरः सदा ।
नानाचारविचारेषु क्वचिन्नाऽन्तरतप्यत ॥ ६ ॥
वासवाजौ तनुत्यागी वृत्रो विततमानसः ।
अन्तःशान्तमना मानी चकार सुरसङ्गरम् ॥ ७ ॥
कुर्वन् दानवकार्याणि पातालतलपालकः ।
अनपायं निराक्रोशं प्रह्लादो ह्लादमागतः ॥ ८ ॥
शम्बरैकपरोऽप्यन्तःशम्बरैकतयोदितः ।
संसारशम्बरं राम शम्बरस्त्यक्तवानिदम् ॥ ९ ॥

पातालकी पीठपर आसीन होकर बलिराज यथार्थ-से व्यवहारको करते हुए भी सदा त्यागी, सदा असक्त और जीवन्मुक्तरूपसे स्थित हैं । 'दिवसस्थितिम्' ऐसा यदि पाठ हो, तो 'पातालमें निवास करनेके लिए भगवान्‌के द्वारा नियमित दिवसोंका परिपालन करते हुए महाराज बलि जीवन्मुक्त होकर अवस्थित हैं' ऐसा अर्थ करना चाहिए ॥ ५ ॥

दानवोंका अधिपति नमुचि सदा-सर्वदा देवताओंके साथ युद्ध या मर्यादा-व्यतिक्रममें तथा अनेकविध देव और दानवोंके आचरण एवं विचार-विमर्शोंमें तत्पर होता हुआ भी भीतरसे सन्तप्त (खिन्न) नहीं होता था ॥ ६ ॥

इन्द्रके युद्धमें अपने शरीरका परित्याग करनेवाले मानी वृत्रासुरने, जिसका अन्तःकरण अत्यन्त उदार था, भीतर प्रशान्तमन होकर ही देवताओंके साथ युद्ध किया ॥ ७ ॥

पातालतलका परिपालन करनेवाले दानवोचित कर्मोंका अनुष्ठान कर रहे भक्तप्रवर प्रह्लाद अविनाशी, वाणीके अगोचर परम सुखको (मोक्षको) प्राप्त हुए ॥ ८ ॥

हे श्रीरामजी, यद्यपि केवल मायामें ही निरत रहता था, तथापि हृदयस्थ चिदाकाशकी एकरूपतासे आविर्भूत शम्बरासुरने इस संसाररूपी मायाका परित्याग कर दिया ॥ ९ ॥

असक्तबुद्धिर्हरिणा कुर्वन् दानवसङ्गरम् ।
परां संविदमासाद्य कुशलस्त्यक्तवानिदम् ॥ १० ॥
सर्वामरमुखो वह्निः क्रियाजालपरो ह्यपि ।
यज्ञलक्ष्मीश्चिरं भुङ्क्ते मुक्त एवेह तिष्ठति ॥ ११ ॥
पीयमानः सुरैः सर्वैः सोमः समरसाशयः ।
क्वचिदेति न संसङ्गमाक्रान्तावम्बरं यथा ॥ १२ ॥
बृहस्पतिर्देवगुरुर्दारार्थं चन्द्रयोध्यपि ।
आचरन् दिवि चित्रेहां मुक्त एव ह्यवस्थितः ॥ १३ ॥
शुक्रोऽम्बरतलद्योती बुधः सर्वार्थपालकः ।
निर्विकारमतिः कालं नयत्यसुरदेशिकः ॥ १४ ॥

दानवोंकी कार्यसिद्धिके लिए भगवान् नारायणके साथ युद्ध कर रहे कुशल शम्बरासुरने अथवा कुशलनामके एक अन्य दानवने परम तत्त्वज्ञानको प्राप्तकर इस संसारका परित्याग कर दिया ॥ १० ॥

समस्त देवताओंका मुखस्वरूप अग्नि क्रियासमूहमें तत्पर होता हुआ भी यज्ञीय लक्ष्मीका चिरकालतक उपभोग करता है, परन्तु मुक्त होकर ही इस त्रिभुवनमें रहता है ॥११॥

जैसे पैरोंसे आक्रमण करनेपर आकाश सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही समस्त देवताओंके द्वारा पीयमान सोम, जिसके भीतर ब्रह्मात्मक रसायन यानी (पुनरुज्जीवनका अमृत) विद्यमान है, सुख, दुःख आदिके संसर्गको प्राप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

पत्नीके लिए चन्द्रमाके साथ जिन्होंने युद्ध किया था, ऐसे देवताओंके गुरु बृहस्पति स्वर्गलोकमें देवताओंके पौरोहित्याधिकारकी विचित्र चेष्टाओंको कर रहे भी मुक्त होकर यहाँ अवस्थित है ॥ १३ ॥

आकाशतलमें चमकनेवाले, विद्वान् तथा नीतिशास्त्रकी रचनाके द्वारा समस्त अभिमत अर्थोंका परिपालन करनेवाले असुरदेशिक शुक्राचार्य निर्विकारबुद्धि होकर ही काल बिताते हैं ॥ १४ ॥

जगद्भूतगणाङ्गानि चिरं सञ्चारयन्नपि ।
सर्वदा सर्वसञ्चारी मुक्त एव समीरणः ॥ १५ ॥
लोकाजवंजवीभावप्रोद्वेगज्ञोऽप्यखिन्नधीः ।
ब्रह्मा सममना राम क्षिपयत्यायुराततम् ॥ १६ ॥
जरामरणयुद्धादिद्वन्द्वसङ्गरलीलया ।
चरतीह चिरं कालं मुक्तोऽपि भगवान्हरिः ॥ १७ ॥
मुक्तेनाऽपि त्रिनेत्रेण सौन्दर्यतरुमञ्जरी ।
देहार्धे धार्यते गौरी कामुकेनेव कामिनी ॥ १८ ॥
मुक्तयाऽपि गले बद्धो गौर्या गौरस्त्रिलोचनः ।
संशुद्ध इव मुक्तानां हारः शशिकलामलः ॥ १९ ॥

ऊपरके लोकोंका और प्राणिसमूहोंके अङ्गोंका चिरकालसे संचरण करा रहा भी वायु, जो सदा-सर्वदा सर्वत्र संचरण करनेवाला है, मुक्त ही स्थित है ॥ १५ ॥

हे श्रीरामजी, नैकविध प्राणियोंके समूहके अत्यन्त वेगपूर्वक ऊपर, नीचे और मध्य लोककी गतियोंसे होनेवाले निरन्तर आवर्तन एवं उनसे जनित उद्वेगोंके स्वरूपका परिज्ञान रख रहे भी ब्रह्मा अखिन्नबुद्धि तथा सममन होकर अपने दो परार्धवर्षपर्यन्त अतिविस्तृत आयुष्यका क्षपण करते हैं ॥ १६ ॥

भगवान् श्रीहरि यद्यपि नित्यमुक्त हैं, तथापि जरा, मरण, युद्ध आदि द्वन्द्वोंकी युद्धलीलासे इस संसारमण्डलमें बहुत काल तक संचरण करते हैं ॥ १७ ॥

जैसे कोई कामुक कामिनीको धारण करे, वैसे ही नित्यमुक्त, भगवान् त्रिनेत्र शङ्करजी सौन्दर्यतरुकी मञ्जरीरूपा भगवती गौरीको अपने देहार्धमें परिधारण करते हैं । इस श्लोकमें 'इव' शब्दसे भगवान् त्रिनेत्र न तो कामुक हैं और न भगवती गौरी कामिनी ही हैं, किन्तु एक ब्रह्म और दूसरी ब्रह्मविद्या है, यह ध्वनित किया है ॥ १८ ॥

मुक्त भी भगवती गौरीने त्रिनेत्र धूर्जटिको चन्द्रमाकी कलाकी नाईं अति स्वच्छ अत्यन्त धवलवर्ण मोतियोंके हारके सदृश अपने गलेमें लगाया है ॥ १९ ॥

गुहो गहनधीर्वीरस्तारकादिरणक्रियाम् ।
मुक्तोऽपि कृतवान् सर्वज्ञानरत्नैकसागरः ॥ २० ॥
भृङ्गीशो रक्तमांसं स्वं स्वमात्रे प्रवितीर्णवान् ।
मुक्तयैव धिया राम धीरया ध्यानधौतया ॥ २१ ॥
मुनिर्मुक्तस्वभावोऽपि जगज्जङ्गलखण्डकम् ।
नारदो विजहारेमं शीतया कार्यशीलया ॥ २२ ॥
जीवन्मुक्तमना मान्यो विश्वामित्रोऽप्ययं प्रभुः ।
वेदोक्तां मखनिर्माणक्रियां समधितिष्ठति ॥ २३ ॥
धारयत्यवनीं शेषः करोत्यर्को दिनावलीम् ।
यमो यमत्वं कुरुते जीवन्मुक्ततयैव हि ॥ २४ ॥

जिसकीविचित्र दुरवगाह बुद्धि थी यानी साधारण बुद्धिवाले लोग जिन पदार्थोंको समझ नहीं सकते उन पदार्थोंको शीघ्र समझ लेनेकी तीव्रातितीव्र बुद्धि जिसमें थी और जो वीर था, ऐसे ज्ञानरूपी रत्नके एकमात्र समुद्र स्वामी कार्तिकेयने मुक्त होते हुए भी तारकासुर आदियोंसे रणक्रीडा की ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी, ध्यानरूपी सलिलसे धोई गई, धीर मुक्त बुद्धिसे ही भृङ्गीशने (शिवजीके गणविशेषने) अपनी माताको अपने रुधिर और मांसका प्रदान किया था । इस विषयमें पुराणोंमें उल्लेख है कि जब भृङ्गीश गण भगवती देवीका अनादर कर केवल शिवजीकी आराधनामें तत्पर हुआ, तब कुपित देवीने माता और पिताके भागस्वरूप रुधिर और मांसरूप देहमें से अपने मातृभागको लौटानेकी याचना की, इस याचनाके अनुसार उसने शिवजीके प्रति एकनिष्ठ भक्तिके प्रकाशनार्थ अनायास माताके द्वारा अपने देहमें आये हुए रक्त, मांस आदिको नोचकर उनका प्रदान कर दिया ॥ २१ ॥

महामुनि नारदजी यद्यपि मुक्तस्वभाव हैं, तथापि इस जगत्‌रूपी जङ्गलके खण्डमें कलहकौतुकको प्रवृत्त करनेवाली शान्त बुद्धिसे यत्र तत्र विचरण करते भये ॥२२॥

भद्र श्रीरामजी, समस्त भुवनोंमें अत्यन्त मान्य, समर्थ यह विश्वामित्र महर्षि यद्यपि जीवन्मुक्तमानस हैं, तथापि वेदशास्त्रमें विहित यज्ञादि क्रियाओंका अनुष्ठान किया करते हैं ॥ २३ ॥

जीवन्मुक्त होकर ही सहस्रमुख, नागराज शेष पृथ्वीको धारण करते हैं, सूर्य

अन्येऽप्यस्मिंस्त्रिभुवने यक्षासुरनराः सुराः ।
शतशो मुक्ततां याताः सन्तस्तिष्ठन्ति संसृतौ ॥ २५ ॥
संस्थिता व्यवहारेषु विचित्राचारधारिषु ।
अन्तराशीतलाः केचित् केचिन्मूढाः शिलासमाः ॥ २६ ॥
परमं बोधमासाद्य केचित्काननमागताः ।
यथा भृगुभरद्वाजविश्वामित्रशुकादयः ॥ २७ ॥
केचिद्राज्येषु तिष्ठन्ति छत्रचामरपालिताः ।
यथा जनकशर्यातिमान्धातृसगरादयः ॥ २८ ॥
केचिद्व्योमनि तिष्ठन्ति धिष्ण्यचक्रान्तरस्थिताः ।
यथा बृहस्पत्युशनश्चन्द्रसूर्यमुनीश्वराः ॥ २९ ॥

भगवान् दिवसोंकी परम्पराओंका निर्माण करते हैं, यमराज धर्माधर्मविचारपूर्वक लोगोंका नियमन करते हैं ॥ २४ ॥

इन पूर्वोक्त महानुभावोंके सिवा दूसरे भी सैकड़ों महात्मा यक्ष, राक्षस मनुष्य और देवता इस त्रिभुवनमें विमुक्तस्वरूपताको प्राप्त होकर संसारमें अनासक्तस्वरूपसे अवस्थित हैं ॥ २५ ॥

विचित्र शोक, मोह आदि अनर्थोंके उत्पादक तथा पुत्र, स्त्री, धन-सम्पत्ति आदिका संग्रहकर युद्ध, वध, बन्धन आदि आचारोंसे युक्त भी इन सांसारिक राज्यादि व्यवहारोंमें संस्थित कुछ पुरुष भीतर शान्तिसे समन्वित यानी मुक्त रहते हैं, और कुछ मूढ तो शिलाके सदृश रहते हैं, यानी अज्ञानमें फँसे रहते हैं ॥ २६ ॥

कुछ महानुभावोंने उत्कृष्ट आत्मज्ञानका सम्पादन कर चित्तविक्षेपकी निवृत्तिके लिए तपोवनका आश्रयण किया। जैसे—भृगु, भरद्वाज, विश्वामित्र, शुक आदि ॥२७॥

कुछ तत्त्वज्ञ महात्मा आत्मज्ञान प्राप्त कर राज्यकर्ममें ही छत्र, चामर आदिसे रक्षित होकर रहते हैं। जैसे—जनक, शर्याति, मान्धाता, सगर आदि ॥ २८ ॥

कुछ तत्त्वज्ञ आकाशमें ग्रह, नक्षत्र आदिके आधारभूत ज्योतिश्चक्रके मध्यमें अवस्थित हैं। जैसे—बृहस्पति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य, सप्तर्षि आदि ॥ २९ ॥

केचित्सुरपदे याता विमानावलिमास्थिताः ।
यथाऽग्निवायुवरुणयमतुम्बुरुनारदाः ॥ ३० ॥
केचित्पातालकुहरे जीवन्मुक्ता व्यवस्थिताः ।
यथा बलिसुहोत्रान्धप्रह्लादा ह्लादपूर्वकाः ॥ ३१ ॥
तिर्यग्योनिष्वपि सदा विद्यन्ते कृतबुद्धयः ।
देवयोनिष्वपि प्राज्ञा विद्यन्ते मूर्खबुद्धयः ॥ ३२ ॥
सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वथा सर्वदैव हि ।
सम्भवत्येव सर्वात्मन्यात्मन्याततरूपिणि ॥ ३३ ॥
विधेर्विचित्रा नियतिरनन्तारम्भमन्थरा ।
सन्निवेशांशवैचित्र्यात् सर्वं सर्वत्र दृश्यते ॥ ३४ ॥

कुछ तो देवताओंके पदको प्राप्त होकर विमानोंकी पंक्तियोंके ऊपर आरूढ़ होकर स्थित हैं। जैसे—अग्नि, वायु, वरुण, यम, तुम्बरु, नारद आदि ॥ ३० ॥

कुछ महानुभाव पातालकी कन्दरामें जीवन्मुक्त होकर सुस्थित हैं। जैसे—बलि, सुहोत्र, अन्ध, प्रह्लाद तथा ह्लाद आदि ॥ ३१ ॥

तिर्यक् योनियोंमें भी सदा कृतबुद्धि महात्मा रहते हैं जैसे गरुड़, हनुमान जाम्बवान् आदि और देवयोनियोंमें भी मूर्खबुद्धिवाले बहुतसे महामूढ विद्यमान हैं ॥ ३२ ॥

यदि शङ्का हो कि जितने सात्त्विक हैं उन सबोंमें देवता अधिक सात्त्विक हैं, अतः जिनकी ज्ञान और ऐश्वर्यशक्ति स्वभावतः ही अभिव्यक्त होती है, ऐसी देवयोनियोंमें मूर्खोंकी संभावना कैसे हो सकती है? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वशक्ति ईश्वरकी सर्वभावसे सर्वत्र सब प्रकारसे सदा स्थिति होनेसे तथा सर्वस्वरूप आत्मामें स्वप्नादि अवस्थाओंमें सैकड़ों असंभावित वस्तुओंका भी दर्शन होनेके कारण कहींपर किसीकी भी असंभावना नहीं करनी चाहिए ऐसा कहते हैं—'**सर्वम्**' इत्यादिसे।

जिसका अत्यन्त व्यापक स्वरूप है, ऐसे सर्वस्वरूप आत्मामें सब कुछ सर्व भावसे सर्वत्र सब प्रकारसे सदा ही सम्भावित हो सकता है ॥ ३३ ॥

पूर्वोक्त अर्थको ही स्पष्टरूपसे कहते हैं—'**विधेः**' इत्यादिसे।

विधिर्दैवं विधिर्धाता सर्वेशः शिव ईश्वरः ।
इति नामभिरात्मा नः प्रत्यक् चेतन उच्यते ॥ ३५ ॥
अस्त्यवस्तुनि वस्त्वन्तः काञ्चनं सिकतास्विव ।
अस्ति वस्तुन्यवस्त्वन्तर्मलं हेमकणेष्विव ॥ ३६ ॥
अयुक्ते युक्तता युक्त्या प्रेक्ष्यमाणा प्रदृश्यते ।
पापस्य हि भयाल्लोको राम धर्मे प्रवर्तते ॥ ३७ ॥
असत्ये सत्यता साधो शाश्वती परिलक्ष्यते ।
शून्येन ध्यानयोगेन शाश्वतं पदमाप्यते ॥ ३८ ॥
यन्नाऽस्ति तदुदेत्याशु देशकालविलासतः ।
शशकाः शृङ्गवन्तो हि दृश्यन्ते शम्बरस्थितौ ॥ ३९ ॥

विधिकी नियति, जो अनन्त कार्योंके आरम्भमें निरत है, विचित्र है, अतः संनिवेशांशके वैचित्र्यसे सब कुछ सब जगह दीखाई पड़ता है ॥ ३४ ॥

विधि कौन है ? इसे कहते हैं—**'विधिः'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मा, दैव, विष्णु, हिरण्यगर्भ, शिव, ईश्वर आदि परमात्माके नामोंसे हम सब लोगोंका प्रत्यक् चेतनरूप आत्मा ही कहा जाता है ॥ ३५ ॥

जहाँपर अत्यन्त असंभावित भी वस्तु और अवस्तु दोनों एक दूसरेके भीतर संभावित हो जाती हैं, वहाँपर दूसरा क्या असंभावित हो सकता है ? इस आशयसे कहते हैं—**'अस्ति'** इत्यादिसे ।

अवस्तुमें भी भीतर वस्तु रहती है, जैसे—बालूमें सुवर्ण । तथा वस्तुमें भी अवस्तु रहती है, जैसे—सुवर्णके कणोंके भीतर मालिन्य ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी, जो युक्त नहीं है उसमें युक्तिसे विमर्श करनेपर युक्तता दीखाई पड़ती है, क्योंकि युक्तिसे विचार करनेपर फलतः भीषण होनेसे अत्यन्त अयुक्त पापमें भी पुरुषको धर्ममें प्रवृत्त करानेका महान् गुण दिखाई पड़ता है ॥ ३७ ॥

हे साधो, असत्यमें भी फलतः शाश्वती सत्यता दीखाई पड़ती है, क्योंकि शून्यात्मक ध्यान-योगसे शाश्वत (अविनाशी) पदकी प्राप्ति होती है ॥ ३८ ॥

असलियतमें जो नहीं है, उसका भी देश और कालके विलाससे शीघ्र

ये वज्रसाराः सुदृढा दृश्यन्ते ते क्षयं गताः ।
कल्पस्याऽन्ते यथेन्द्वर्कधराब्धिविबुधादयः ॥ ४० ॥
इति पश्यन् महाबाहो भावाभावभवक्रमम् ।
हर्षामर्षविषादेहाः संत्यज्य समतां व्रज ॥ ४१ ॥
असत्सदेव भातीह सदसच्चाऽपि दृश्यते ।
आस्थानास्थे परित्यज्य तेनाऽऽशु समतां व्रज ॥ ४२ ॥
मुक्तौ राघव लोकेऽस्मिन्न प्राप्तिः संभवत्यलम् ।
अप्रवृत्तौ विवेकस्य मग्ना हि जनकोटयः ॥ ४३ ॥

प्रादुर्भाव हो जाता है, जैसे ऐन्द्रजालिक सृष्टिमें सींगवाले खरगोश भी दिखाई पड़ते हैं ॥ ३९ ॥

जिनका विनाश कभी भी संभावित नहीं था, ऐसे सुदृढ भी पदार्थ कल्पके अन्तमें क्षयको प्राप्त हुए दिखाई पड़ते हैं। जैसे—चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, समुद्र, देवता आदि ॥ ४० ॥

असंभावितका भी संभव है, इसका प्रासङ्गिक जो उपपादन हुआ, उसका भी प्रकृत ही फल है, यह दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं—**'इति'** इत्यादिसे।

हे महाबाहो, इस प्रकारके भाव-अभावात्मक संसृतिक्रमको देख रहे आप हर्ष, अमर्ष, विषाद और अभिलाषाओंका परित्याग कर समभावको प्राप्त हो जाइए ॥ ४१ ॥

इस संसारमें जो असत् है, वह सत् भी प्रतीत होता है और जो सत् है, वह असत्-रूप भी प्रतीत होता है, इसलिए आस्था और अनास्थाका परित्याग कर आप शीघ्र समता प्राप्त कीजिए ॥ ४२ ॥

यदि शङ्का हो कि ऐसा होनेपर विदेह मुक्तिमें भी फिर संसारप्राप्तिकी संभावना हो जायगी, तो इसपर कहते हैं—**'मुक्तौ'** इत्यादिसे।

हे राघव, मुक्ति हो जानेपर फिर इस संसारमें किसी प्रकार जीवकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि करोड़ों मनुष्य असंसारी आत्माके विवेककी यानी तत्त्वज्ञानकी अप्रवृत्तिमें ही अज्ञान-दशामें—अत्यन्त असंभावित करोड़ों अनर्थोंकी संभावनारूपी

मुक्तौ राघव लोकेऽस्मिन् प्राप्तिरस्ति सदैव हि ।
प्रवृत्त्या हि विवेकस्य विमुक्ता भूतकोटयः ॥ ४४ ॥
प्रविवेकाविवेकाभ्यां सुलभाऽलभ्यतां गता ।
मुक्तिर्मनःक्षयप्राप्त्या विवेकं तेन दीपय ॥ ४५ ॥
आत्मावलोकने यत्नः कर्तव्यो भूतिमिच्छता ।
सर्वदुःखशिरश्छेद आत्मालोकेन जायते ॥ ४६ ॥
नीरागा निरुपासङ्गा जीवन्मुक्ता महाधियः ।
सम्भवन्तीह बहुशः सुहोत्रजनका इव ॥ ४७ ॥

भ्रममें—निमग्न रहते हैं, मुक्तिमें नहीं, क्योंकि संसारनिमज्जनके हेतु अज्ञानका विनाश हो चुका है ॥ ४३ ॥

मुक्ति नित्य-प्राप्त आत्मस्वरूप है, इससे भी उसके विनाशकी आशङ्का नहीं हो सकती। विस्मृत गलेके हारकी नाईं आत्माका आत्मानात्माके केवल विवेकसे ही लाभ हो जाता है, ऐसा कहते हैं—**'मुक्तौ'** इत्यादिसे ।

हे राघव, चूँकि इस संसारमें आत्मस्वरूप मुक्तिकी सदा ही प्राप्ति है, इसलिए आत्मानात्माके विवेक-विज्ञानकी उपलब्धि होनेपर करोड़ों मनुष्य विमुक्त हो चुके हैं ॥ ४४ ॥

हे श्रीरामजी, विवेक और अविवेकसे मुक्ति सुलभ और असुलभ हो जाती है, इसलिए आप मनोविनाशको प्राप्तकर विवेकका प्रदीपन कीजिए ॥ ॥ ४५ ॥

हे श्रीरामजी, जिसको मुक्तिकी अभिलाषा हो, उसे आत्माके अवलोकनमें यत्न करना चाहिए । समस्त दुःखोंका शिरच्छेद आत्माके अवलोकनसे ही होता है ॥ ४६ ॥

यदि शङ्का हो कि पहलेके महात्माओंकी जीवन्मुक्तिका संभव होनेपर भी वर्तमान कालके महात्माओंकी जीवन्मुक्तिका संभव नहीं है, तो इसपर कहते हैं—**'नीरागाः'** इत्यादिसे ।

रागसे शून्य, अभिनिवेशोंसे रहित तथा उत्तम मेधासे सम्पन्न सुहोत्र, जनक प्रभृतिके नाईं इस वर्तमान कालमें भी अनेक जीवन्मुक्त विद्यमान हैं ॥ ४७ ॥

तस्मात्त्वमपि वैराग्यविवेकोदितधीरधीः ।
जीवन्मुक्तो विहर भो समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ४८ ॥
द्विविधा मुक्तता लोके विद्यते देहधारिणाम् ।
सदेहैका विदेहाऽन्या विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ४९ ॥
असंसङ्गात् पदार्थानां मनःशान्तिर्विमुक्तता ।
सत्यसत्यपि देहे सा सम्भवत्यनघाकृते ॥ ५० ॥
स्नेहसंक्षयमेवाऽङ्ग विदुः कैवल्यमुत्तमम् ।
तत्सम्भवति देहस्य भावे चाऽभाव एव च ॥ ५१ ॥
यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ।
सस्नेहजीवितो बद्धो मुक्त एव तृतीयकः ॥ ५२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए आप भी वैराग्य और विवेकसे उदित धीरबुद्धिसे समन्वित मिट्टीके ढेले, पत्थर और काञ्चनमें समदृष्टि तथा जीवन्मुक्त होकर विहार कीजिये ॥ ४८ ॥

हे राघव, इस लोकमें देहधारी जीवोंकी दो प्रकारकी मुक्ति है—एक तो सदेह-मुक्ति और दूसरी विदेह-मुक्ति । अब आप उनका विभाग सुनिये ॥ ४९ ॥

उसमें पहले सदेह-मुक्ति और विदेह-मुक्ति इन दोनों मुक्तियोंमें घटनेवाले मुक्ति शब्दके अर्थका निर्वचन करते हैं—**'असंसङ्गात्'** इत्यादिसे ।

हे पापशून्य आकृतिवाले श्रीरामजी, पदार्थोंके (विषयोंके) असंसङ्गसे जो मनकी शान्ति होती है, वह विमुक्तता यानी मुक्तिशब्दका अर्थ है । वह विमुक्तता देहके अस्तित्व और नास्तित्व दोनों अवस्थाओंमें होता है ॥ ५० ॥

भद्र, उसमें स्नेहबन्धनका विनाश ही यानी देहादिमें आत्मस्वरूपत्वके विभ्रमसे हुई प्रीतिका विनाश ही उत्तम कैवल्य (मुक्ति) है, ऐसा तत्त्वज्ञ विद्वान् कहते हैं । वह कैवल्य देहकी सत्ता रहे चाहे न रहे, दोनों अवस्थाओंमें होता है ॥ ५१ ॥

जो विद्वान् विषय-स्नेहसे रहित होकर जीता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है, जो विषय-स्नेहसे समन्वित होकर जीता है, वह बद्ध कहलाता है और इन दोनोंसे जो परे है, वह तीसरा मुक्त कहलाता है ॥ ५२ ॥

यत्नो यत्नेन कर्तव्यो मोक्षार्थं युक्तिपूर्वकम् ।
यत्नयुक्तिविहीनस्य गोष्पदं दुस्तरं भवेत् ॥ ५३ ॥

न त्वनध्यवसायस्य दुःखाय विपुलात्मने ।
आत्मा परवशः कार्यो मोहमाश्रित्य केवलम् ॥ ५४ ॥

सुमहद्धैर्यमालम्ब्य मनसा व्यवसायिना ।
विचारयाऽऽत्मनाऽऽत्मानमात्मनश्चिरसिद्धये ।
वितताध्यवसायस्य जगद्भवति गोष्पदम् ॥ ५५ ॥

भद्र, मोक्षके लिए शम, दम आदि चार साधनोंके मध्यमें यत्नके द्वारा पूर्व-पूर्वकी सिद्धि हो जानेपर उत्तरोत्तरपर विजय पानेके लिए युक्तिपूर्वक (प्रमाणोंका तात्पर्य और प्रमेयके स्वरूपका अवधारण करनेके लिए अनुकूल जो तर्क है, तत्पूर्वक) प्रयत्न करना चाहिए । जो युक्तिपूर्वक प्रयत्नसे वर्जित है, ऐसे पुरुषके लिए गायका खुरमात्र प्रदेश भी अलङ्घ्य हो जाता है ॥ ५३ ॥

तथोक्त युक्तिपूर्वक प्रयत्नका अनुष्ठान वहाँतक करना चाहिए, जहाँतक कि आत्माके स्वरूपका अवधारण न हो जाय, जब कि आत्माका अध्यवसाय न हुआ हो, तब सहसा बीचमें ही विरक्तिसे प्रयत्नका उपरम कर उसे (आत्माको) पुनः अनर्थके वशमें नहीं कर देना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'न त्व०'** इत्यादिसे ।

केवल मोहका अवलम्बनकर अध्यवसायके न होनेपर प्रयत्नके अनादरसे असीम स्वरूपवाले दुःखके लिए आत्माको परवश नहीं करना चाहिए ॥ ५४ ॥

कथित अर्थको ही स्पष्टरूपसे कहते हैं—**'सुमहत्०'** इत्यादिसे ।

हे रामजी, बड़े धैर्यका आलम्बनकर फलकी प्राप्ति तक अनुष्ठित सतत प्रयत्नसे जनित दृढ निश्चयसे युक्त मनसे चिरकालिक सिद्धिके लिए यानी प्रतिबन्ध होनेपर अनेक जन्मोंसे होनेवाली मोक्षात्मक सिद्धिके उद्देश्यसे अपने द्वारा ही अपना विचार करना चाहिए । जो निरन्तर अध्यवसाय करनेवाला पुरुष है, उसके लिए जगत् गायका खुरमात्र हो जाता है ॥ ५५ ॥

यदुपगतः सुगतः पदं प्रधानं
यदपगतोऽध्रुवतां नृपश्च कश्चित् ।
यदुपगताः पदमुत्तमं महान्तः
प्रयतनकल्पतरोर्महाफलं तत् ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे मुक्तामुक्तविचारो नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

सुगम यानी बुद्ध और प्रकृतिपुरुषभिन्नत्वरूप शोभन विवेकको प्राप्त हुए महामुनि कपिल इन दोनोंने खूब विचार करके भी अध्यवसाय करनेकी सामर्थ्य न होनेके कारण आत्मतत्त्वसे विच्युत होकर क्षणिक विज्ञानोंके सन्तानरूप और सत्त्वादि गुणत्रयकी साम्यवस्थारूप प्रधानपदको प्राप्त किया, एवं किसी यानी वेदका निन्दक होनेके कारण जिसका नाम लेना समुचित नहीं है ऐसे अर्हद नामके क्षत्रिय राजाने भी असली ब्रह्मतत्त्वसे विच्युत होकर आत्माको चित्स्वभाव मानकर भी देहके तुल्य परिमाणवाला माननेसे हाथी, मच्छर आदियोंके शरीरोंमें प्रवेश करनेमें अवयवोंका उपचय प्राप्त होनेके कारण अध्रुव ही माना है, इसलिए ये तीनों अनुत्तम मिथ्यापदमें ही निमग्न हैं। और जो वेदके रहस्यमें निष्णात हैं, ऐसे महानुभावोंने तो उत्तम सत्यादिस्वरूप परमपदको यथार्थरूपसे प्राप्त किया है, वह वेदोक्त मार्गसे प्राप्त किया गया पद प्रयत्नलक्षण कल्पतरुका महान् फल है, इसलिए उसी प्रकार दूसरा भी प्रयत्न करे ॥ ५६ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

षट्सप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ब्रह्मणः समुपायान्ति जगन्तीमानि राघव ।
स्थैर्यं यान्त्यविवेकेन शाम्यन्त्येव विवेकतः ॥ १ ॥
जगज्जालजलावर्तवृत्तयो ब्रह्मवारिधौ ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते भासां च त्रसरेणवः ॥ २ ॥
असम्यक्प्रेक्षणं विद्धि कारणं जगतः स्थितौ ।
संसारशान्तये कान्त कारणं सम्यगीक्षणम् ॥ ३ ॥
अयं हि परदुष्पारो घोरः संसारसागरः ।
विना युक्तिप्रयत्नाभ्यामस्माद्राम न तीर्यते ॥ ४ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग

[संसाररूपी जलधि, स्त्रीरूपी तरङ्ग, उसके तरणका उपाय और तरनेके अनन्तर सुखपूर्वक विचरणका वर्णन]

महाराज वसिष्ठने कहा—हे राघव, ये समस्त जगत् अविज्ञात ब्रह्मसे ही आविर्भूत होते हैं, आत्मा और अनात्माके अविवेकसे वे स्थिरताको प्राप्त होते हैं और विवेकसे प्रशान्त (विनष्ट) ही हो जाते हैं ॥ १ ॥

ब्रह्मरूपी समुद्रमें जगत्-समूहरूपी जलके तरङ्गोंका परिगणन कौन कर सकता है ? क्या कोई जालके भीतर आई हुई सूर्यकिरणोंसे सम्बन्ध रखनेवाले त्रसरेणुओंका परिगणन कर सकता है ? ॥ २ ॥

हे रामजी, आत्माका यथार्थज्ञान न होना ही जगत्की स्थितिमें कारण है और आत्माका यथार्थज्ञान ही संसारके विनाशमें कारण है, यह आप जानिये ॥ ३ ॥

हे श्रीरामजी, यह संसार-सागर ऐसा घोर है कि इसके पार हो जाना अत्यन्त दुष्कर है, युक्ति और प्रयत्नके सिवा इसका तरण नहीं किया जा सकता ॥ ४ ॥

यस्याऽयं सागरः पूर्णो मोहाम्बुभरपूरितः ।
अगाधमरणावर्तकल्लोलाकुलकोटरः ॥ ५ ॥
प्रभ्रमत्पुण्यडिण्डीरो ज्वलन्नरकवाडवः ।
तृष्णाविलोललहरिर्मनोजलमतङ्गजः ॥ ६ ॥
आलीनजीवितसरित् भोगरत्नसमुद्गकः ।
क्षुब्धरोगोरगाकीर्ण इन्द्रियग्राहघर्घरः ॥ ७ ॥
पश्याऽस्मिन् प्रसृता राम वीचयश्चारुचञ्चलाः ।
इमा मुग्धाङ्गनानाम्न्यः शिखराकर्षणक्षमाः ॥ ८ ॥
छदश्रीपद्मरागाढ्या नेत्रनीलोत्पलाकुलाः ।
दन्तपुष्पफलाकीर्णाः स्मितफेनोपशोभिताः ॥ ९ ॥
केशेन्द्रनीलवलया भ्रूविलासतरङ्गिताः ।
नितम्बपुलिनस्फीताः कण्ठकम्बुविभूषिताः ॥ १० ॥
ललाटमणिपट्टाढ्या विलासग्राहसङ्कुलाः ।
कटाक्षलोलगहना वर्णकाञ्चनवालुकाः ॥ ११ ॥
एवं विलोललहरिभीमात् संसारसागरात् ।
उत्तीर्यते चेन्मग्नेन तत्परं पौरुषं भवेत् ॥ १२ ॥

उसी संसार-सागरका वर्णन करते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

जिसके मोहरूपी जलोंसे भरा गया, पूर्ण यह संसाररूपी सागर जो कि—मरणरूपी अगाध आवर्तसे और बड़े बड़े तरङ्गोंसे व्याप्त कोटरोंसे युक्त है और जिसमें चक्कर काट रहे पुण्यरूपी फेन हैं, धधकता हुआ नरकरूपी वडवानल है, और तृष्णारूप चंचल लहरियाँ हैं, तथा जलमें उत्पन्न हुआ मनरूपी जल-हाथी है, जिसमें जीवितरूपी नदियाँ लीन हो जाती हैं, एवं जो विषयोपभोगरूपी रत्नोंकी पिटारी है, क्षुब्ध रोगरूपी सर्पोंसे आक्रान्त है, जिसमें इन्द्रियरूपी मगरोंकी घरघर ध्वनि होती है । श्रीरामजी देखिये तो सही, इसमें अत्यन्त चपल, बड़े-बड़े शिखरोंकी नाईं धीर महानुभावोंका आकर्षण करनेकी क्षमता रखनेवाली मुग्ध अङ्गनारूपी विस्तृत वीचियाँ हैं, ये वीचियाँ दन्तच्छदोंकी शोभासे पद्मराग मणियोंसे समन्वित, नेत्ररूपी नील कमलसे व्याप्त, दाँतरूपी मुकुलोंसे युक्त, स्मितरूपी फेनसे सुशोभित, केशरूपी इन्दुनील मणिसे वेष्टित, भौंके विलासरूपी

सत्यां प्रज्ञामहानावि विवेके सति नाविके ।
संसारसागरादस्माद्यो न तीर्णो धिगस्तु तम् ॥ १३ ॥
अपारावारमाक्रम्य प्रमेयीकृत्य सर्वतः ।
संसाराब्धि गाहते यः स एव पुरुषः स्मृतः ॥ १४ ॥
विचार्याऽऽर्यैः सहाऽऽलोक्य धिया संसारसागरम् ।
एतस्मिंस्तदनुक्रीडा शोभते राम नाऽन्यथा ॥ १५ ॥
इह भव्यो भवान् साधो विचारपरया धिया ।
त्वयाऽधुनैव तेनाऽयं संसारः प्रविचार्यते ॥ १६ ॥

तरङ्गोंसे तरङ्गित, नितम्बरूपी पुलिनसे स्फीत, कण्ठरूपी शङ्खोंसे विभूषित, ललाटरूपी मणिपट्टोंसे (रत्नफलकोंसे) आढ्य, विलासरूपी मगरोंसे युक्त, कटाक्षोंकी चपलताके कारण अतिगहन, देहकान्तिरूपी सुवर्ण बालुकासे युक्त हैं, इस प्रकारकी अतिचंचल लहरियोंके कारण जो अत्यन्त भयंकर है—उसमें निमग्न हुआ पुरुष यदि पार हो जाय, तो वह परम पुरुषार्थ ही होगा ॥ ५–१२ ॥

प्रज्ञारूपी बड़ी नौका और विवेकरूपी नाविक के रहनेपर यदि इस संसाररूपी सागरसे जो पार नहीं हुआ, तो उस पुरुषको धिक्कार है ॥ १३ ॥

हे श्रीरामजी, अपारावार यानी असीम संसार-समुद्रका आत्मतत्त्वके दर्शनसे बाधकर उसको चारो ओरसे प्रमेय ब्रह्मस्वरूप बनाकर जो प्रवेश करता है यानी प्रत्यग् आत्माको भी जो तद्रूप प्राप्त करता है, वही पुरुष कहा जाता है ॥ १४ ॥

हे श्रीरामजी, आर्य यानी बड़े-बड़े तत्त्वज्ञोंके साथ ब्रह्मका विचार कर तथा वैसी बुद्धिसे संसार-सागरका अवलोकन कर, तदन्तर यानी तत्त्वज्ञानके अनन्तर ब्रह्मरूपताको प्राप्त हुए जगत्में क्रीडा शोभित होती है, अन्यथा नहीं ॥ १५ ॥

हे साधो, इस संसारमें आप धन्य हैं, क्योंकि विचारप्रवीण बुद्धिसे आप इसी बाल अवस्थामें धन्यताके कारण ही इस संसारके विषयमें विचार करते हैं ॥ १६ ॥

भवानिव विचार्याऽऽदौ संसारमतिक्रान्तया ।
मत्या यो गाहते लोको नेहाऽसौ परिमज्जति ॥ १७ ॥
पूर्वं धिया विचार्यैते भोगा भोगिभयप्रदाः ।
भोक्तव्याश्चरमं राम गरुडेनेव पन्नगाः ॥ १८ ॥
विचार्य तत्त्वमालोक्य सेव्यन्ते या विभूतयः ।
ता उदर्कोदया जन्तोः शेषा दुःखाय केवलम् ॥ १९ ॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च दृष्टतत्त्वस्य वर्धते ।
सवसन्तस्य वृक्षस्य सौन्दर्याद्या गुणा इव ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी, आपकी नाईं संसारका विचारप्रवीण अतिउत्तम बुद्धिसे पहले विचारकर जो अधिकारी पुरुष ब्रह्ममें अवगाहन करता है, वह कभी संसारमें फँसता नहीं है ॥ १७ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे गरुड़जीके द्वारा अमृत लानेके पहले सर्पोंकी उपेक्षा की गई थी, फिर माताके शापविमोचनके अनन्तर उनका निःशेष उपभोग किया जाता है, वैसे ही सबसे पहले सर्पके समान भय देनेवाले भोगोंके स्वरूपका बुद्धिसे विचारकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए, और फिर उनका उपभोग करना चाहिए ॥ १८ ॥

लोकमें भी राजकीय विभूतिके उपभोगमें यह न्याय प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'विचार्य' इत्यादिसे ।

विचारपूर्वक राजप्रसाद और राज-अनुग्रह आदि रहस्यका प्रत्यक्षकर जिन राज-विभूतियोंका उपभोग किया जाता है, वे जन्तुको महान् मोक्षात्मक उदय देनेवाली होती हैं और बाकीकी केवल दुःखके लिए हैं ॥ १९ ॥

तत्त्वज्ञानके बाद ही भोगजरणोपपादकविशेषणसम्पत्ति प्राप्त होती है उसके पूर्व नहीं, ऐसा कहते हैं—'बलम्' इत्यादिसे ।

जिसने तत्त्वको जान लिया है, ऐसे पुरुषके बल, बुद्धि और तेज उस प्रकार बढ़ते हैं, जिस प्रकार वसन्त ऋतुसे युक्त वृक्षके सौन्दर्य आदि गुण बढ़ते हैं ॥ २० ॥

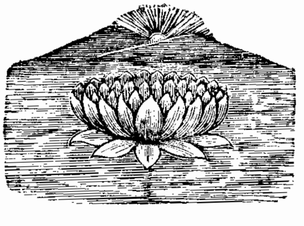
घनरसायनपूर्णसुशीतया
विमलया समया सततं श्रिया ।
शिशिररश्मिरिवाऽतिविराजसे
विदितवेद्य सुखं रघुनन्दन ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे संसारसागरसाम्यप्रतिपादनं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको भोगजरणकी सामर्थ्य नहीं है, इस आशङ्काका परिहार करने के लिए तत्त्वबोध-सम्पत्ति दिखलाते हैं—'घन०' इत्यादिसे ।

हे विदिततत्त्व श्रीरघुनन्दन, आप वेद्य वस्तुको जान लेनेके कारण इस समय घनीभूत आनन्दामृत रसायनसे परिपूर्ण, सुशीतल यानी त्रिविध तापोंसे शून्य, निर्मल, सम और विस्तृत श्रीसे पूर्णचन्द्रकी नाईं अत्यन्त विराजित हो रहे हैं ॥ २१ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त



सप्तसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

समासेन मुने भूयो दृष्टतत्त्वचमत्कृतेः ।
कथयोदारवृत्तान्तं कस्ते वचसि तृप्यति ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

जीवन्मुक्तस्य बहुधा कथितं लक्षणं मया ।
भूयोऽपि त्वं महाबाहो कथ्यमानमिदं शृणु ॥ २ ॥
सुषुप्तवदिदं नित्यं पश्यत्यपगतैषणः ।
असद्रूपमिवाऽसक्तं सर्वत्राऽखिलमात्मवान् ॥ ३ ॥

सतहत्तरवाँ सर्ग

[मन्दारमालाकी नाईं विद्वानोंको मस्तक और गलेमें धारण करने योग्य मालाका जीवन्मुक्तोंके गुणोंसे वसिष्ठजी द्वारा गुम्फन]

श्रीरामने कहा—हे मुनिवर, जिसने ब्रह्मतत्त्वरूप चमत्कारका अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञ विद्वान्का उदार चरित्र आप हमसे समासतः (यानी यत्र-तत्र जहाँ कहीं कहा गया हो, उसका संग्रहकर) कहिए, क्योंकि आपके वचनमें तृप्ति किसको हो सकती है ? ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठने कहा—हे महाबाहो, अनेक बार मैंने आपसे जीवन्मुक्तके लक्षण कहे हैं, फिर भी मैं जो यह संग्रहकर आपसे पुनः कह रहा हूँ, उसे सुनिये ॥ २ ॥

भद्र, जिसकी समस्त एषणाएँ यानी विषयाभिलाषाएँ निकल गई हैं, ऐसा आत्मवान् (तत्त्ववित्) पुरुष इस दृश्यमान अखिल जगत्को सर्वत्र सुषुप्तकी नाईं यानी व्यवहार दृष्टिसे सुषुप्तके समान तमःस्वरूपमात्र सदा देखता है और परमार्थ दृष्टिसे बाधितकी केवल अनुवृत्ति होनेके कारण असत्की नाईं अनासक्तिपूर्वक देखता है ॥ ३ ॥

कैवल्यमिव संप्राप्तः परिसुप्तमना इव ।
घूर्णमान इवाऽऽनन्दी तिष्ठत्यधिगतात्मदृक् ॥ ४ ॥
नाऽऽदत्तमप्युपादत्ते गृहीतमपि पाणिना ।
अन्तर्मुखतयोदात्तरूपया समया धिया ॥ ५ ॥
यन्त्रपुत्रकसञ्चार इतीमं जनताक्रमम ।
अन्तःसलीनया दृष्ट्या पश्यन् हसति शान्तधीः ॥ ६ ॥
नाऽपेक्षते भविष्यं च वर्तमाने न तिष्ठति ।
न संस्मरत्यतीतं च सर्वमेव करोति च ॥ ७ ॥
सुप्तः प्रबुद्धो भवति प्रबुद्धोऽपि च सुप्तवान् ।
सर्वं कर्म करोत्यन्तर्न करोति च किञ्चन ॥ ८ ॥

जिसने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसा आत्मज्ञानी पुरुष कैवल्यको प्राप्त हुआ-सा, चारों ओर प्रसुप्त मनसे युक्त-सा तथा घूर्णमान आनन्दवान्-सा अवस्थित रहता है ॥ ४ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुष पहले चक्षु आदिसे देखे गये और पीछे हाथ आदिसे परिगृहीत हुए भी अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओंका बुद्धिसे, जो कि अन्तर्मुख होनेके कारण अत्यन्त उदार और समस्वरूप है, ग्रहण नहीं करता ॥ ५ ॥

श्रीरामजी जो शान्त बुद्धिसे सम्पन्न विद्वान् है, वह अन्तरात्मामें लीन दृष्टिसे यह जनताका व्यवहार असङ्ग, उदासीन आत्माकी केवल सन्निधिसे प्रवृत्त होनेके कारण काष्ठानिर्मित जड़ प्रतिमाके सचारके सदृश है, ऐसा जानकर हँसता रहता है ॥ ६ ॥

तत्त्ववित् भविष्यकी न अपेक्षा करता है, न वर्तमानमें अवस्थिति यानी समासक्ति करता है, न भूतकालीन वस्तुका स्मरण करता है, और सब कुछ करता भी है ॥ ७ ॥

व्यावहारिक वस्तुओंके विषयमें सुप्तप्राय होता हुआ भी अपनी आत्मामें जाग्रत रहता है । भगवान्‌ने गीतामें कहा भी है—या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यानी अज्ञ जीवोंके प्रति सर्वथा अज्ञात होनेके कारण उनके लिए निशास्वरूप जो आत्मा है, उसमें ज्ञानी पुरुष जागता रहता है । सब कुछ कर्म

अन्तःसर्वपरित्यागी नित्यमन्तरनेषणः ।
कुर्वन्नपि बहिः कार्यं सममेवाऽवतिष्ठते ॥ ९ ॥

बहिः प्रकृतसर्वेहो यथाप्राप्तक्रियोन्मुखः ।
स्वकर्मक्रमसंप्राप्तबन्धुकार्यानुवृत्तिमान् ॥ १० ॥

समग्रसुखभोगात्मा सर्वाशास्विव संस्थितः ।
करोत्यखिलकर्माणि त्यक्तकर्तृत्वविभ्रमः ॥ ११ ॥

उदासीनवदासीनः प्रकृतः क्रमकर्मसु ।
नाऽभिवाञ्छति न द्वेष्टि न शोचति न हृष्यति॥ १२ ॥

करता है, तथापि भीतरसे कुछ नहीं करता। तात्पर्य यह हुआ कि व्यवहारमें अत्यन्त कुशल भी वह प्रसुप्त ही रहता है, अतः व्यवहारकौशलसे जनित फलसे सम्बद्ध नहीं होता ॥ ८ ॥

इसलिए उसकी स्थिति सदा ही एक-सी रहती है, ऐसा कहते हैं—**'अन्तः'** इत्यादिसे ।

अपने भीतर सम्पूर्ण वस्तुओंका परित्याग करनेवाला तथा सदा भीतर इच्छाओं-से वर्जित तत्त्ववित् बाहरसे यानी ऊपर-ऊपरसे उन्मना होकर कार्योंको कर रहा भी एक-रूपसे ही स्थित रहता है ॥ ९ ॥

जिसने बाहरसे समस्त वस्तुओंकी इच्छा की है, जो समयानुसार प्राप्त हुए तत्-तत् देह, वर्ण और आश्रमोंके उपयोगी कर्मोंमें तथा पिता, पितामह आदि क्रमपरम्परासे प्राप्त हुए राज्य आदि काम, बन्धुओंके कार्य तथा दान, मान आदि कर्मोंमें केवल अनुवृत्ति रखनेवाला, समस्त सुखभोगोंको आत्मस्वरूप समझनेवाला अथवा समस्त सुखभोगोंका स्वयं ही आत्मस्वरूप है, इसीलिए अज्ञानियोंकी दृष्टिमें भोगकालमें समस्त विषयाभिलाषाओंमें अवस्थित तत्त्ववित् समस्त कर्मोंको करता है, परन्तु उसने कर्तृत्वाभिमानका परित्याग कर रक्खा है ॥ १०, ११ ॥

प्रकृत तत्त्वज्ञ उदासीन पुरुषकी नाईं अवस्थित रहता है। परम्पराक्रमसे सम्प्राप्त कर्मोंमें प्राप्त हुए इष्ट और अनिष्ट फलोंको न चाहता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न प्रसन्न होता है ॥ १२ ॥

अनुबन्धपरे जन्तावसंसक्तेन चेतसा ।
भक्ते भक्तसमाचारः शठे शठ इव स्थितः ॥ १३ ॥
बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरेषु धैर्यवान् ।
युवा यौवनवृत्तेषु दुःखितेष्वनु दुःखितः ॥ १४ ॥
प्रवृत्तवाक्पुण्यकथो दैन्याद्व्यपगताशयः ।
धीरधीरुदितानन्दः पेशलः पुण्यकीर्तनः ॥ १५ ॥
प्राज्ञः प्रसन्नमधुरः पूर्णः स्वप्रतिभोदये ।
निरस्तखेददौर्गत्यः सर्वस्मिन् स्निग्धबान्धवः ॥ १६ ॥
उदारचरिताकारः समः सौम्यसुखोदधिः ।
सुस्निग्धः शीतलस्पर्शः पूर्णचन्द्र इवोदितः ॥ १७ ॥

जो तत्त्वज्ञ है, वह अनुकूल और प्रतिकूल आचरणमें तत्पर प्राणीके ऊपर अनासक्त चित्तसे, भक्तके विषयमें भक्तके आचरणसे और शठके विषयमें शठके सदृश स्थित है ॥ १३ ॥

बालकोंमें बालक, वृद्धोंमें वृद्ध, धीरोंमें धैर्यवान्, यौवनवृत्तिवालोंमें युवा, और दुःखितोंमें दुःखी-सा रहता है ॥ १४ ॥

पूर्वोक्त बालादिके सदृश आचरण करनेवाले तत्त्वज्ञमें जो विशेष है, उसे कहते हैं—**'प्रवृत्त०'** इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञ मुनि जब-जब अपने मुखसे वाणीको प्रवृत्त करता है, तब पवित्र कथाओंको ही कहता है, बालक आदिकी नाईं व्यर्थ भाषण नहीं करता । उसका अन्तःकरण दीनतासे वर्जित रहता है । वह धीर बुद्धिवाला, उदित आनन्दसे युक्त तथा दक्ष रहता है और लोकमें उसके पुण्य चरित्रोंका वर्णन होता है ॥ १५ ॥

प्राज्ञ प्रसन्न और मधुर रहता है, अपनी प्रतिभाके उदयमें पूर्ण, खेदरूपी दुर्गतिसे रहित तथा समस्त मनुष्योंमें स्निग्ध बन्धुभाव रखनेवाला होता है ॥ १६ ॥

तत्त्वज्ञ उदार चरित और उदार आकारसे युक्त है, सम है, सौम्य सुखका समुद्र है, सुस्निग्ध है, उसका स्पर्श सर्वविध संतापका अपहरण करनेवाला है और वह पूर्णचन्द्रकी नाईं पूर्ण उदयसे समन्वित है ॥ १७ ॥

न तस्य सुकृतेनाऽर्थो न भोगैर्न च कर्मभिः ।
न दुष्कृतैर्न भोगानां संत्यागेन न बन्धुभिः ॥ १८ ॥
न कार्यकारणारम्भैर्न निष्कृततया तथा ।
न बन्धेन न मोक्षेण न पातालेन नो दिवा ॥ १९ ॥
यथावस्तु यथादृष्टं जगदेकमयात्मकम् ।
तदा बन्धविमोक्षाणां न क्वचित्कृपणं मनः ॥ २० ॥
सम्यग्ज्ञानाग्निना यस्य दग्धाः सन्देहजालिकाः ।
निःशङ्कमलमुड्डीनः तस्य चित्तविहङ्गमः ॥ २१ ॥
यस्य भ्रान्तिविनिर्मुक्तं मनः समरसं स्थितम् ।
नाऽस्तमेति न चोदेति व्योमवत्सर्वदृष्टिषु ॥ २२ ॥

तत्त्वज्ञ महात्माको पुण्य कर्मोंके अनुष्ठानसे न कोई प्रयोजन है और न भोगोंसे एवं लौकिक कर्मोंसे प्रयोजन है । न निषिद्ध कर्मोंसे, न भोगोंके परित्यागसे और न बन्धुओंसे ही प्रयोजन है ॥ १८ ॥

उसका न आवश्यक कार्योंके और ऐहिक और आमुष्मिक फलके हेतु कर्मोंके आरम्भसे प्रयोजन सिद्ध होता है । एवं न कर्मोंके अभावसे, न बन्धसे, न मोक्षसे, न पातालसे और न स्वर्गसे ही उसको प्रयोजन है ॥ १९ ॥

तत्त्वज्ञ महानुभावने जब समस्त जगत्की स्वरूपभूत अद्वितीय आत्मरूप यथार्थ वस्तुका भलीप्रकार परिज्ञान कर लिया, तब उसका मन सांसारिक सुख और दुःख एवं दुःखकारणोंकी निवृत्ति-स्वरूप मुक्ति—इन दोनोंके बीचमें कहीं भी कार्पण्यसे युक्त नहीं होता ॥ २० ॥

सम्यक्-ज्ञानरूपी अग्निसे जिसके सन्देहरूपी जाल (पिंजड़े) विनष्ट हो गये हैं, उस महात्माका चित्तरूपी विहङ्गम (पक्षी) निःसंशय पर्याप्त-रूपसे उड़ जाता है, ऐसी स्थितिमें तत्त्वज्ञके मनमें कार्पण्यकी संभावना ही नहीं है ॥ २१ ॥

जिसका अन्तःकरण भ्रान्तिसे विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो गया हो, वह आकाशकी नाईं सभी दृष्टियोंमें न अस्तको प्राप्त होता है और न उदयको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

मञ्जूषायां निषण्णस्य यथा बालस्य चेष्टते ।
अङ्गावल्यनुसन्धानवर्जितं यस्य वै तथा ॥ २३ ॥
घूर्णन् क्षीब इवाऽऽनन्दी मन्दीभूतपुनर्भवः ।
अनुपादेयबुद्ध्या तु न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥ २४ ॥
सर्वं सर्वप्रकारेण गृह्णाति च जहाति च ।
अनुपादेयसर्वार्थो बालवच्च विचेष्टते ॥ २५ ॥
स तिष्ठन्नपि कार्येषु देशकालक्रियाक्रमैः ।
न कार्यसुखदुःखाभ्यां मनागपि हि गृह्यते ॥ २६ ॥

मनका यदि अभाव है, तो शरीरचेष्टा आदिकी उपपत्ति कैसे हो सकती है ? तो इसपर कहते हैं—**'मञ्जुषायाम्'** इत्यादिसे ।

दोलारूपी सुखशय्यामें उपविष्ट बालकका अन्तःकरण जैसे अङ्गोंकी आवलीके अनुसन्धानसे वर्जित होकर चेष्टा करता है, वैसे ही तत्त्वज्ञका अन्तःकरण भी किसी प्रकारके बाह्योंके अनुसन्धानसे वर्जित होकर चेष्टा करता है अर्थात् तत्त्वज्ञका अङ्गचलन स्वानन्दके आविर्भावके उल्लाससे ही होता है । श्रुति भी है—'तद्यथा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा महाकुमारो वा अतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत' (जैसे छोटा बालक, स्वाधीन प्रकृतिवाला महाराज एवं विद्याविनय-सम्पन्न शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान करनेवाला विद्वान् दुःखविनाशक आनन्दकी अवस्था प्राप्त कर सोता है, वैसे ही यह विज्ञानमय तत्त्ववित् समस्त संसारधर्मोंसे वर्जित होकर सोता है) ॥ २३ ॥

जिसका पुनर्जन्म मन्द हो गया है, ऐसा आनन्द-सागरमें निमग्न तत्त्ववित्, घूर्णमान मद्यपकी नाईं, अनुपादेय बुद्धिसे कृतका (किये गये कर्मोंका) और अकृतका स्मरण नहीं करता, क्योंकि अनुपादेय बुद्धिसे उसकी नियमतः कृताकृतकी स्मारक क्रियाफलोपादेयता-बुद्धि नष्ट हो गई है ॥ २४ ॥

श्रीरामजी, जिसके समस्त अर्थ अनुपादेय हो गये हैं, ऐसा तत्त्ववित् सब प्रकारसे समस्त वस्तुओंका ग्रहण भी करता है और परित्याग भी करता है, यों बालकके सदृश उसकी चेष्टा रहती है ॥ २५ ॥

देश और कालके अनुसार प्राप्त हुए क्रिया-कलापों एवं तत्-तत् कार्यों में स्थित हुआ भी वह कर्मोंसे जनित सुख और दुःखोंसे तनिक भी अभिभूत नहीं होता ॥ २६ ॥

बहिः प्रकृतसर्वार्थोऽप्यन्तः पुनरनीहया ।
न सत्तां योजयत्यर्थे न फलान्यनुधावति ॥ २७ ॥
नोपेक्षते दुःखदशां न सुखाशामपेक्षते ।
कार्योदये नैति मुदं कार्यनाशे न खिद्यते ॥ २८ ॥
अपि शीतरुचावर्के सुतप्तेऽपीन्दुमण्डले ।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ विस्मयोऽस्य न जायते ॥ २९ ॥
चिदात्मन इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः ।
इत्यस्याऽऽश्चर्यजालेषु नाऽभ्युदेति कुतूहलम् ॥ ३० ॥
न दयादैन्यमादत्ते न क्रौर्यमनुधावति ।
न लज्जामनुसन्धत्ते नाऽलज्जत्वं च गच्छति ॥ ३१ ॥

तत्त्वज्ञ ऊपर-ऊपरसे समस्त अर्थोंको करता है, पर भीतर किसी प्रकारकी इच्छा न रहनेके कारण बाह्य अर्थोंमें सत्यता-बुद्धिसे किसी तरहकी आस्था नहीं करता और न उससे जनित फलोंकी चाहना ही करता है ॥ २७ ॥

सन्निहित भी दुःखावस्थाकी उपेक्षा नहीं करता और न सुखावस्थाकी अपेक्षा ही करता है। कार्योंके सफल होनेपर न हर्ष करता है और न कार्योंके विनष्ट होनेपर खिन्न होता है ॥ २८ ॥

यदि सूर्य शीतकान्ति हो जाय, चन्द्रमाका मण्डल तपने लग जाय, अग्निकी ज्वाला नीचे की ओर हो जाय यानी अधोमुख होकर अग्नि जलने लगे, तो भी तत्त्वज्ञको आश्चर्य-बुद्धि नहीं होती ॥ २९ ॥

क्यों आश्चर्य-बुद्धि नहीं होती ? तो इसपर कहते हैं—**'चिदात्मनः'** इत्यादिसे ।

चूँकि तत्त्ववित् पुरुष यह जानता है कि परब्रह्म चिदात्माकी असीम ये मायाशक्तियाँ इस प्रकार प्रस्फुरित हो रही हैं, इसलिए सैकड़ों आश्चर्यजनक घटनाओंके होनेपर भी उसको आश्चर्य नहीं होता ॥ ३० ॥

तत्त्वज्ञ मुनि दया और दीनताका परिग्रह नहीं करता, न क्रूरताका अनुधावन (समाश्रयण) करता है, न लज्जाका अनुसन्धान (अनुभव) करता है और न निर्लज्जताका अनुभव करता है ॥ ३१ ॥

न कदाचन दीनात्मा नोद्धतात्मा कदाचन ।
न प्रमत्तो न खिन्नात्मा नोद्विग्नो न च हर्षवान् ॥ ३२ ॥
नाऽस्य चेतसि सुस्फारे शरदम्बरनिर्मले ।
कोपादयः प्रजायन्ते नभसीव नवाङ्कुराः ॥ ३३ ॥
अनारतपतज्जातभूतायां जगतः स्थितौ ।
क्व कथं किल काऽसौ स्यात् सुखिताऽसुखिताऽथवा ॥ ३४ ॥
फेनाजवं जवीभावे जले भूतक्रमे तथा ।
क्व किलेदं कुतः कोऽतः प्रसङ्गः सुखदुःखयोः ॥ ३५ ॥
भावाभावैरपर्यन्तैरजस्रं जन्तुसम्भवैः ।
न विशीर्यन्ति नोद्यन्ति दृष्टिसृष्टिक्षमा नराः ॥ ३६ ॥

वह कभी भी दीनतायुक्त स्वरूपवाला नहीं होता, कभी उद्धत स्वरूपवाला नहीं होता । और न कभी प्रमत्त, न खिन्नात्मा, न उद्विग्न और न हर्षयुक्त ही होता है ॥ ३२ ॥

शरत्कालिक आकाशकी नाईं अत्यन्त निर्मल, विस्तृत इसके चित्तमें उस प्रकार कोप आदि उत्पन्न नहीं होते, जिस प्रकार आकाशमें धानके अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते ॥ ३३ ॥

जिसमें प्राणी अविरत मरते और उत्पन्न होते हैं, ऐसी जगत्‌की स्थितिमें कहाँ, किस प्रकार और कौन यह सुखिता और दुःखिता होगी ?। 'किम्' शब्दका तीन बार विभिन्न रूपसे उपयोग इसलिए किया गया है कि देश-कालसे, प्रकारसे और स्वरूपसे असंभावितत्वका लाभ हो ॥ ३४ ॥

जो कहा गया है, उसका दृष्टान्तसे समर्थन करते हैं—**'फेनाजवम्'** इत्यादिसे ।

जलमें तरङ्गजनित फेनोंके वेगपूर्वक भ्रमणमें तथा प्राणियोंकी परम्परामें यह स्थिरता कहाँ और कैसे हो सकती है ? इसलिए सुख-दुःखका प्रसङ्ग क्या हो सकता है ? ॥ ३५ ॥

प्रातिभासिक जगत्‌की दृष्टिरूपी सृष्टिमें क्षम नर यानी 'मैं ही अपनी आत्मामें जगद्रूप मायाका सर्जन करता हूँ' इस प्रकार अनुभव कर रहे जीवन्मुक्त महापुरुष निरन्तर प्राणियोंसे जनित असीम भाव एवं अभावोंसे न नष्ट और खिन्न होते हैं तथा न उत्पन्न और प्रसन्न ही होते हैं ॥ ३६ ॥

निमेषं प्रतियामिन्यां यथाऽन्याः स्वप्नदृष्टयः ।
क्षणोत्पत्तिविनाशिन्यस्तथैता लोकदृष्टयः ॥ ३७ ॥
अनारतसमुत्पत्तावनारतविनाशिनि ।
कः क्रमो दग्धसंसारे कारुण्यानन्दयोरिह ॥ ३८ ॥
शुभाभावात् सुखाभावे स्थितिं याते विलक्षणाः ।
कीदृश्यः कथमायाताः क्व वा ता दुःखसंविदः ॥ ३९ ॥
सुखसंवेदनान्तोत्था स्वबीजं वितनोति या ।
शान्ता दुःखदशा सेयं कथमन्तर्हिते सुखे ॥ ४० ॥

किञ्च, 'प्रतिक्षणविपरिणामिनो हि सर्वे भावाः' (समस्त घट आदि पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं) इस न्यायसे हरएक क्षणमें रूपान्तरको प्राप्त होनेवाले जगत्के धर्मोंमें अनुवर्तमान स्थायी सत्स्वरूप आत्मा, स्वप्नकी नाईं, स्वस्वरूपमें ही छः प्रकारके भाव-विकारोंसे युक्त दृश्य पदार्थोंकी प्रतिक्षण कल्पना कर रहा अनुभव करता है, यही जीवन्मुक्तोंका निश्चय होनेके कारण उनको हर्ष आदिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—**'निमेषम्'** इत्यादिसे ।

जैसे रात्रिमें निमेष-निमेषमें यानी क्षण-क्षणमें होनेवाली भिन्न-भिन्न स्वप्नदृष्टियाँ क्षणभरमें उत्पत्ति और विनाशसे युक्त होती हैं, वैसे ही ये लोकदृष्टियाँ भी क्षण-क्षणमें उत्पत्ति और विनाशसे युक्त होती हैं ॥ ३७ ॥

इस दग्ध संसारमें, जो निरन्तर उत्पत्ति और निरन्तर विनाशसे समन्वित है, कारुण्य और आनन्दका क्या प्रसङ्ग हो सकता है ? ॥ ३८ ॥

यदि शङ्का हो कि प्रसिद्ध शुभ कर्मोंके फलोंके विद्यमान रहते उनके विरोधी पुत्र-वियोगजनित दुःख आदि भी अपना अस्तित्व रख सकेंगे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुषोंको शुभ कर्मोंका अभाव होनेसे उन दोनोंकी प्रसक्ति ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'शुभाभावात्'** इत्यादिसे ।

शुभ कर्मोंका अभाव होनेसे सुखाभावमें स्थितिको प्राप्त होनेपर शुभ फलोंसे विलक्षण दुःखसंविद् कैसी, किस प्रकारकी और कहाँ प्राप्त हो सकती है ? ॥ ३९ ॥

जो दुःखदशा सुखानुभवके बाद अपना अस्तित्व प्राप्तकर अपने कार्य शोक, मोह आदि कर्मोंका विस्तार करती है, वह दुःखदशा शुभ कर्मोंका अभाव होनेसे

क्षीणाभ्यां सुखदुःखाभ्यां हेयोपादेययोः क्षये ।
ईप्सितानीप्सिते क्व स्तो गलितेऽथ शुभाशुभे ॥ ४१ ॥
रम्यारम्यदृशोर्नाशाद्याते भोगाभिवाञ्छने ।
नैराश्ये सन्ततं प्रौढे हिमवद्विगलेन्मनः ॥ ४२ ॥
आमूलान्मनसि क्षीणे सङ्कल्पस्य कथा च का ।
तिलेष्विवाऽतिदग्धेषु तैलस्य कलना कुतः ॥ ४३ ॥
भावेष्वभावघनभावनया महात्मा
निर्मुक्तसङ्कलनमम्बरवत्स्थितेषु ।

सुखके शान्त हो जानेपर खुद भी शान्त ही हो जाती है, इसलिए बिना कारणके अस्तित्वसे वह कैसे हो सकती है, यों पूर्वोक्तार्थका ही स्पष्टीकरण किया गया है ॥ ४० ॥

सुख, दुःख दोनोंके क्षीण हो जानेसे हेय और उपादेय दोनोंका भी विनाश तथा शुभ और अशुभका विनाश हो जाता है, ऐसी स्थितिमें इष्ट और अनिष्ट कहाँ रहेंगे ? ॥ ४१ ॥

उससे क्या हुआ ? इसपर कहते हैं—**'रम्या०'** इत्यादिसे ।

रम्य और अरम्य दृष्टिके निराससे भोगाभिलाषाके निवृत्त हो जाने तथा नैराश्यके निरन्तर प्रौढ हो जानेपर अन्तःकरण हिमकी नाईं गल जाता है ॥ ४२ ॥

मनका भले ही विनाश हो जाय, इससे भी क्या हुआ ? इसपर कहते हैं—**'आमूलात्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, तिलोंके अत्यन्त दग्ध हो जानेपर तेलकी कल्पना ही कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार मूलपर्यन्त मनके क्षीण हो जानेपर सङ्कल्पकी कथा ही कैसे हो सकती है ? ॥ ४३ ॥

हे श्रीरामजी, आत्मासे पृथक् कुछ भी पदार्थ नहीं है, इस प्रकारकी दृढ भावनाके कारण यानी निश्चल निश्चयके कारण समस्त दृश्य पदार्थोंके सङ्कल्प-विकल्प-वर्जनपूर्वक व्यापक ब्रह्मैकस्वभाव महात्मा तत्त्ववित् नित्यतृप्त तथा अपने निरतिशयानन्द-स्वरूपसे आनन्दवान् होकर जाग्रत् और स्वप्नमें यथाप्राप्त

चित्तं प्रति स्वमुदितो विततैकरूपी
ज्ञस्तिष्ठति स्वपिति जीवति नित्यतृप्तः ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे जीवन्मुक्तस्वरूपवर्णनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यथाऽलातपरिस्पन्दादग्निचक्रं प्रदृश्यते ।
असदेव सदाभासं चित्तस्पन्दात्तथा जगत् ॥ १ ॥
यथा जलपरिस्पन्दाद्व्यतिरिक्त इवाऽम्भसः ।
दृश्यते वर्तुलावर्तश्चित्तस्पन्दात्तथा जगत् ॥ २ ॥

अर्थोंके आलोचनमात्ररूप चित्तके प्रति स्थित रहता है, उसका विलय होनेपर सुषुप्तिमें सोता है और जबतक प्रारब्ध कर्मोंका क्षय नहीं होता, तबतक जीवित रहता है ॥ ४४ ॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

—— * ——

अठहत्तरवाँ सर्ग

[चित्तके स्पन्दनसे होनेवाली जगत्की भ्रान्ति, चित्तस्पन्दनके स्वरूप और उसके निरोधमें हेतुभूत योग का भलीप्रकार वर्णन]

महाराज वसिष्ठने कहा—हे श्रीरामजी, जैसे रात्रिमें जलती हुई लकड़ीको (लुआठीको) गोल घुमानेसे असत् ही अग्निमय चक्र सत्-सा दिखाई पड़ता है, वैसे ही चित्तके प्रस्पन्दनसे असत् जगत् सत्-सा दिखाई पड़ता है ॥ १ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे जलके परितः स्पन्दनसे (भ्रमणसे) जलसे पृथक् वर्तुल (गोल)

यथा व्योम्नीक्षणस्पन्दात् पिच्छमौक्तिकमण्डलम् ।
दृश्यते सदिवाऽसत्यं चित्तस्पन्दात्तथा जगत् ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

येन प्रस्पन्दते चित्तं येन न स्पन्दते तथा ।
तद्ब्रह्मन् ब्रूहि मे येन चिकित्सेयं तदेव हि ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथा शौक्ल्यहिमे राम तिलतैललवौ यथा ।
यथा कुसुमसौगन्ध्ये तथौष्ण्यदहनौ यथा ॥ ५ ॥
तथा राघव संश्लिष्टौ चित्तस्पन्दौ तथैव हि ।
अभिन्नौ केवलं मिथ्या भेदः कल्पित एतयोः ॥ ६ ॥

नाभिके आकारका आवर्त (भँवरा) दीखाई पड़ता है, वैसे ही चित्तके स्पन्दनसे जगत् दीखाई पड़ता है ॥ २ ॥

जैसे आकाशमें घामके संमुख नेत्रोंके परिस्पन्दनसे यानी ईक्षणसे असत् पिच्छाकार (मोरके पंख) और दूसरी ओर उनके स्पन्दनसे असत् मौक्तिकमण्डल सत्य-सा दीखाई पड़ता है, वैसे ही चित्तके स्पन्दनसे असत् जगत् सत्य-सा दीखाई पड़ता है ॥ ३ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे ब्रह्मन्, जिस स्वभावविशेषसे चित्त प्रस्पन्दित होता है और जिस उपायविशेषसे वह वैसा प्रस्पन्दित नहीं होता है, उसे मुझसे कहिए, जिससे कि आपके दर्शित मार्गसे मैं उस चित्तको स्पन्दरहित बनाऊँ ॥ ४ ॥

चित्तके स्पन्दनस्वभावको चित्तसे अलगकर नहीं कह सकते, इसलिए दृष्टान्तोंके ही द्वारा उसका दिग्दर्शन कराते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जैसे शुक्लत्व और हिम, जैसे तिल और तेलका अंश, जैसे कुसुम और सौगन्ध्य तथा जैसे अग्नि और उष्णत्व परस्पर एक दूसरेसे सम्बद्ध और अभिन्नरूप हैं, वैसे ही हे राघव, चित्त और स्पन्दन परस्पर एक दूसरेसे सम्बद्ध और अभिन्नरूप हैं, उनके भेदकी केवल मिथ्या कल्पना की गई है । सर्वत्र गुण-गुणी आदि स्थलोंमें अविचारसे भेदसहिष्णु अभेद ही संश्लेष (सम्बन्ध) है, विचार करनेसे वहाँपर भेदांश मिथ्या और अभेदांश वास्तव है, यह 'अभिन्नौ' इससे बतलाया ॥ ५, ६ ॥

चित्तचित्तपरिस्पन्दपक्षयोरेकसंक्षये ।
स्वयं गुणगुणी स्थित्वा नश्यतो द्वौ न संशयः ॥ ७ ॥
द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

कदा कीदृक्कया युक्त्या प्राणापाननिबन्धया ।
योगनाम्न्या मनः शान्तिमेत्यनन्तसुखप्रदाम् ॥ ९ ॥

अभेदांश ही कल्पित क्यों नहीं है ? इस आशङ्काका परिहार कर रहे महाराज वसिष्ठजी 'येन न स्पन्दते तथा' (जिस उपायसे मन वैसे स्पन्दित नहीं होता) इस प्रश्नांशका उत्तर देते हैं—'**चित्त०**' इत्यादिसे ।

चित्त और चित्त-परिस्पन्द—इन दो पक्षोंमें से एक पक्षका संक्षय होनेपर जो—स्वयं गुण और गुणी इस रूपसे कारणात्मा विकल्पित है, उस रूपसे स्थित होकर ही दोनों गुण-गुणी नष्ट हो जाते हैं, इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिए । तात्पर्य यह है कि जो गुण और गुणी शब्दसे स्वयं कारण कल्पा गया है, उसी कारणके स्वरूपसे स्थित होकर ही गुण और गुणी दोनों विकल्पोंका भी विनाश मानना चाहिए, न कि निरन्वय विनाश मानना चाहिए । ऐसी स्थितिमें केवल कारणस्वरूपसे स्थिति पाकर ही गुण और गुणीके भेदका विनाश अनुभूत होनेसे भेदांश ही कल्पित है, अभेदांश नहीं, यह सिद्ध होता है और मन एवं मनःस्पन्द—इन दोनोंमें से एकतरके विनाशके अधीन आत्यन्तिक उभय-निवृत्तिसे ही चित्त प्रस्पन्दित नहीं होता, मनका अस्तित्व रहते उसमें से स्पन्दनका निवारण नहीं किया जा सकता, यह भी सिद्ध होता है । इस श्लोकमें 'गुणो गुणी' ऐसा पाठ युक्त प्रतीत होता है ॥ ७ ॥

अतएव स्पन्दके निरोधके द्वारा दोनोंका नाश करनेके लिए ज्ञानरूप उपाय शास्त्रमें दिखलाया गया है, ऐसा कहते हैं—'**द्वौ क्रमौ**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चित्तके विनाशके लिए दो उपाय शास्त्रोंमें दिखलाये गये हैं—एक योग और दूसरा ज्ञान । चित्तवृत्तिका निरोध योग है और आत्माका सम्यक् अपरोक्ष साक्षात्कार ज्ञान है ॥ ८ ॥

उन दोमें से पहले प्रथम उपायकी जिज्ञासा कर रहे श्रीरामजी पूछते हैं—'**कदा**' इत्यादिसे ।

वसिष्ठ उवाच

देहेऽस्मिन् देहनाडीषु वातः स्फुरति योऽभितः ।
स्पन्देष्विव भुवो वारि स प्राण इति कीर्तितः ॥ १० ॥
तस्य स्पन्दवशादन्तः क्रियावैचित्र्यमीयुषः ।
अपानादीनि नामानि कल्पितानि कृतात्मभिः ॥ ११ ॥
आमोदस्य यथा पुष्पं शौक्ल्यस्य तुहिनं यथा ।
तथैष रस आधारश्चित्तस्याऽभिन्नतां गतः ॥ १२ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे ब्रह्मन् , किस समय और कैसी प्राण और अपानके निरोध-रूप योगनामकी युक्तिसे मन असीम सुखको देनेवाली शान्तिको प्राप्त करता है ॥९॥

इस सर्गकी समाप्तिपर्यन्त इसी प्रश्नके उत्तरका वर्णन करनेवाले महाराज वसिष्ठ चित्तस्पन्द प्राण-स्पन्दनके अधीन है, यह बतलानेके लिए पहले प्राणके स्वरूपको कहते हैं—**'देहेऽस्मिन्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जैसे जलस्यन्दनमार्गभूत पृथ्वीके विवरोंमें जल चारों ओर व्याप्त होकर प्रस्फुरित होता है, वैसे ही इस देहमें विद्यमान हजारों नाडियोंमें चारों ओर जो वायु प्रस्फुरित होता है, वह प्राणवायु है ॥ १० ॥

यदि शङ्का हो कि प्राणवायु तो बाहर ही जाता है, हृदयमें तो अन्य अपान आदि वायु संचरण करते हैं ? तो इसपर कहते हैं—**'तस्य'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, स्पन्दनवशसे भीतर क्रियाके वैचित्र्यको प्राप्त हुए उसी प्राण-वायुके अपान आदि नामोंकी विद्वानोंने कल्पना की है, अतः अपान आदि प्राणके ही वृत्तिभेद हैं, उससे अन्य नहीं हैं, यह भाव है ॥ ११ ॥

जैसे आमोदका (सौगन्ध्यका) पुष्प तथा जैसे शुक्लत्वका हिम आश्रय है, वैसे ही चित्तका यह प्राण, जो चित्तके साथ अभिन्नताको प्राप्त हुआ है, आश्रय है [वारिदृष्टान्तकी उपपत्तिके लिए 'रस' यह विशेषण दिया गया है । श्रुति भी कहती है—'आपोमयः प्राणः', 'एतमेवाङ्गिरसं मन्यन्ते प्राणो वा अङ्गानां रसः (प्राण जलमय है और प्राणको ही अङ्गिरस मानते हैं, क्योंकि वह (प्राण) अङ्गोंका रस है) । कोशकी नाईं चारों ओर संश्लिष्ट

अन्तःप्राणपरिस्पन्दात् सङ्कल्पकलनोन्मुखी ।
संवित् सञ्जायते यैषा तच्चित्तं विद्धि राघव ॥ १३ ॥
प्राणस्पन्दाच्चितः स्पन्दस्तत्स्पन्दादेव संविदः ।
चक्रावर्तविधायिन्यो जलस्पन्दादिवोर्मयः ॥ १४ ॥
चित्तं प्राणपरिस्पन्दमाहुरागमभूषणाः ।
तस्मिन् संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः ॥ १५ ॥
मनःस्पन्दोपशान्त्याऽयं संसारः प्रविलीयते ।
सूर्यालोकपरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा ॥ १६ ॥

होनेसे चित्तके साथ मानो अभिन्नताको प्राप्त हुआ प्राण चित्तका आश्रय होता है । श्रुति भी कहती है—'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (हे सोम्य, मन प्राणके अधीन है)] ॥ १२ ॥

इसीलिए प्राणस्पन्द चित्तस्पन्दका हेतु है, ऐसा कहते हैं—**'अन्तः'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, भीतर प्राणके परिस्पन्दनसे सङ्कल्पके (वृत्तिमात्रके) आकलनमें उन्मुख जो संवित् उत्पन्न होती है, वही चित्त कहलाती है, यह आप जानिये ॥ १३ ॥

प्राणके स्पन्दनसे चित्तका स्पन्दन होता है यानी चिदाभाससे व्याप्त वृत्ति-विशेष उत्पन्न होता है और चित्तके स्पन्दनसे ही संवित् यानी तत्-तत् विषयाकारप्रथन उस प्रकार उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार जलके स्पन्दनसे चक्रकी तरह वर्तुल आकारकी रचना करनेवाली उर्मियाँ उत्पन्न होती हैं ॥ १४ ॥

चित्तका परिस्पन्द प्राणपरिस्पन्दके अधीन है, यह बात बड़े-बड़े महर्षि, जो 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इत्यादि वेदोंका रहस्य जानते हैं, कहते हैं । अतः प्राणका निरोध करनेपर मन अवश्य उपशान्त यानी निरुद्ध हो जाता है ॥ १५ ॥

भले ही ऐसा हो, उससे प्रकृतमें क्या हुआ, इसपर कहते हैं—**'मनः०'** इत्यादिसे ।

मनके स्पन्दनकी विश्रान्ति हो जानेपर यह संसार उस प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशरूप स्पन्दनकी विश्रान्ति हो जानेपर व्यवहार विलीन हो जाता है ॥ १६ ॥

श्रीराम उवाच

अनिशं चरतां देहगेहे गगनगामिनाम् ।
प्राणादीनां परिस्पन्दो वायूनां रोध्यते कथम् ॥ १७ ॥

वसिष्ठ उवाच

शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः ।
अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वसंसारवृत्तिषु ॥ १८ ॥
यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात् ।
एकतत्त्वघनाभ्यासात् प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ १९ ॥

श्रीरामजीने कहा—महाराज, देहरूपी अपने घरमें स्थित हृदयादि स्थानोंमें विद्यमान ७२ हजार नाडीरूपी छिद्रोंमें निरन्तर संचरण कर रहे तथा मुख, नासिका आदि छिद्रोंरूपी बाह्य आकाशोंमें निरन्तर गमनशील प्राण आदि वायुओंका परिस्पन्दन कैसे रोका जा सकता है ? ॥ १७ ॥

प्राणवायुकी चंचलताके निरोधमें निरालम्बन और सालम्बन आदि राजयोगरूपी उपायोंका उपदेश देनेके लिए महाराज वसिष्ठ उपक्रम करते हैं—**'शास्त्र०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, अध्यात्मशास्त्रका उपदेश, ब्रह्मवित् पुरुषोंका संसर्ग, विषयोंमें अनास्थारूपी वैराग्य तथा समाधिके प्रयोजक यम, नियम आदि नियमोंके अभ्यास—इन उपायोंसे हृदयमें पूर्वाभ्यस्त सांसारिक व्यवहारोंमें अत्यन्त अनादररूपी अनास्थाके दृढ़ हो जानेपर [निम्न श्लोकोक्त मार्गसे प्राणका परिस्पन्द निरुद्ध हो जाता है] ॥ १८ ॥

सबसे पहले स्थूल शिखरमें, चन्द्रबिम्बमें, मणि, देवताकी मूर्ति आदि स्थलोंमें अथवा जहाँ कहीं भी मन रमण करता हो, वहींपर चित्तका निरोध करनेके लिए अभ्यास करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'यथाभि०'** इत्यादिसे ।

चिरकालपर्यन्त एकाग्ररूपसे (एक-प्रकार-स्वरूपसे) उत्पन्न यानी एकाग्ररूप परिणामको प्राप्तकर उदित हुए अभिवाञ्छित ध्यानसे (जहाँ कहीं भी सरसवाहिनी इच्छा हुई, उसी पदार्थके ध्यानसे) जो एक वस्तुके स्वरूपका

पूरकादिनिजायामाद् दृढाभ्यासादखेदजात् ।
एकान्तध्यानसंयोगात् प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २० ॥
ओंकारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात् ।
सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २१ ॥
रेचके नूनमभ्यस्ते प्राणे स्फारे खमागते ।
न स्पृशत्यङ्गरन्ध्राणि प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २२ ॥

निरन्तर पुनः-पुनः अनुसन्धान होता है, उसी अनुसन्धानसे प्राणका स्पन्दन (प्राणवायुका चाञ्चल्य) निरुद्ध हो जाता है ॥ १९ ॥

अथवा पूरक, कुम्भक और रेचकके क्रमसे प्राणवायुका निरोध करके दुर्दान्त मनका निरोध करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'पूरकादि०'** इत्यादिसे ।

दृढ़तापूर्वक पुनः-पुनः परिशीलनरूप अभ्यासलक्षण हेतुसे प्रयासके बिना अनायास उत्पन्न हुए कुम्भककी सिद्धिपर्यन्त पूरक आदिके द्वारा किये गये अपने प्राणके नियमनसे होनेवाले एकान्त ध्यानयोगसे (नित्यानित्य वस्तुका यथार्थ-रूपसे विवेक कर नित्य अद्वितीय वस्तुमें प्रवर्तित ध्यानयोगसे) प्राणवायुकी समग्र चंचलता निरुद्ध हो जाती है ॥ २० ॥

उच्चस्वरसे प्रणवका उच्चारण होनेपर प्रान्तमें (अन्त्यमें) जो शेष तुर्यमात्रारूप शब्दतत्त्व अनुभूत होता है, उसका अनुसन्धान करनेसे बाह्य विषयोंके विज्ञानका (बहिर्मुख चित्तवृत्तिका) जब आत्यन्तिक उपराम हो जाता है, तब प्राणवायुका स्पन्दन रुक जाता है ॥ २१ ॥

अब रेचक और पूरक—इन दोमें से किसी एकके द्वारा श्वास और प्रश्वासका जब शिथिलीकरण हो जाता है तब दीर्घकालतक तथा अभिवर्धनसहित ध्यानका अभ्यास होता है, इससे भी प्राणस्पन्दनका निरोध होता है, यह कहते हैं—**'रेचके'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

रेचकका दृढ़ अभ्यास करनेसे, विच्छिन्न मेघोंकी आकाशरूपताकी नाईं, विपुलीभूत प्राणवायुकी शून्यरूपता हो जाती है और उससे जब नासिकाके छिद्रोंको प्राणवायुका स्पर्श नहीं होता, तब प्राणवायुका स्पन्दन रुक जाता है ॥ २२ ॥

पूरके नूनमभ्यस्ते पूराद्गिरिघनस्थिते ।
प्राणे प्रशान्तसञ्चारे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २३ ॥
कुम्भके कुम्भवत्कालमनन्तं परितिष्ठति ।
अभ्यासात् स्तम्भिते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ २४ ॥

पूरकका दृढ़ अभ्यास होनेपर, पर्वतके ऊपर मेघोंकी नाईं, शरीरके अभ्यन्तर विद्यमान हजारों नाडियोंके भीतर प्राणवायु तबतक धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, जबतक वह सर्वत्र व्याप्त होकर निश्चल नहीं हो जाता, इस प्रकार प्राणसंचरण शान्त हो जानेपर प्राणस्पन्दन रुक जाता है ॥ २३ ॥

पूर्तिके अनन्तर पूर्ण कुम्भकी नाईं कुम्भकके अनन्त काल तक स्थित होनेपर और अभ्याससे प्राणका निश्चल स्तम्भन हो जानेपर प्राणवायुके स्पन्दनका निरोध हो जाता है । [रेचक, पूरक और कुम्भक —इन त्रिविध प्राणायामोंके विषयमें पतञ्जलिनिर्मित योगशास्त्रमें विस्तारसे वर्णन किया गया है—'तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' (आसनके ऊपर विजय पा जानेपर श्वास—बाह्य वायुका आयमन—भीतर प्रवेश—, प्रश्वास—कौष्ठ्य वायुका निःसारण—इन दोनोंकी गतिका विच्छेद ही प्राणायाम है यानी श्वास और प्रश्वास दोनोंका अभाव ही प्राणायाम है, उसे करना चाहिए) । इस प्राणायामके अवान्तर भेद भी हैं—'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः' । जहाँ प्रश्वास-पूर्वक गतिनिरोध होता है, वह बाह्य है यानी बाह्यवृत्ति रेचक है । जहाँ श्वास-पूर्वक गतिनिरोध होता है, वह आभ्यन्तर है यानी आभ्यन्तरवृत्ति पूरक है । जहाँ पर श्वास और प्रश्वास दोनोंका अभ्यासनिरपेक्ष एकबारके प्रयत्नसे गतिनिरोध होता है, वह स्तम्भवृत्ति है यानी कुम्भक है । इस कुम्भकमें जैसे तप्त पत्थरके ऊपर प्रक्षिप्त जल चारों ओरसे संकुचित हो जाता है, वैसे ही श्वास, प्रश्वास दोनोंकी भी गति एक साथ निरुद्ध होकर स्तम्भित हो जाती है। ये तीनों प्राणायाम देशपरिदृष्ट हैं यानी इनका बाहर तूलवके स्पन्द आदिसे और आभ्यन्तर नाभि आदिके स्पन्दन आदिसे इतना देश विषय होता है, ऐसा निर्धारण किया गया है। कालसे परिदृष्ट हैं—यानी क्षणोंकी इयत्ताके अवधारणसे परिच्छिन्न हैं ।

तालुमूलगतां यत्नात् जिह्वयाऽऽक्रम्य घण्टिकाम् ।
ऊर्ध्वरन्ध्रगते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २५ ॥

संख्याओंसे परिदृष्ट है यानी इतनी संख्यावाले श्वास-प्रश्वासकालों तक पहला प्राणायाम, दूसरा प्राणायाम और तीसरा प्राणायाम, यों उद्बोधित है। इसी प्रकार मृदु, इसी प्रकार मध्य और इसी प्रकार तीव्र हैं। यह प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म है यानी दीर्घता और सूक्ष्मता युक्त प्राणोंसे दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है। 'अभ्यासात् स्तम्भिते प्राणे' इस वाक्यसे यह सूचित किया कि रेचकादि तीन प्रकारोंसे पृथक् चतुर्थ भी एक प्राणायामका प्रकार है। यह चतुर्थ प्रकार महर्षि पतञ्जलिने यों बतलाया है—'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः'। पूर्वोक्त रेचक, पूरकके ऊपर विजय पा जानेसे उनका आक्षेप करनेवाला यानी उन दोनोंका अतिक्रमण कर स्वयं ही वर्तमान प्राणगत्यभावरूप चतुर्थ प्राणायाम है। प्राणायामकी प्रतिष्ठाका फल भी कहा गया है—'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्', 'धारणासु च योग्यता मनसः' (प्राणामामके अभ्याससे योगियोंका विवेकज्ञानको आवृत करनेवाला कर्म क्षीण हो जाता है, प्राणायामके अभ्याससे धारणामें मनकी योग्यता होती है)। इन सूत्रोंके भाष्यमें लिखा है—'तपो न परमं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य' (प्राणायामसे बढ़कर तप नहीं है, प्राणायामसे मल शुद्ध हो जाते हैं और ज्ञानकी दीप्ति होती है) ॥ २४ ॥

जिह्वामूलके ऊपरी हिस्सेमें विद्यमान मुखान्तर्गत जो दो भाग हैं, उन्हें तालु कहते हैं। उन दो तालुओंके मध्यभागमें रहनेवाली घंटिकाको (मुख बाने पर जिह्वाके मूलभागमें स्तनकी नाईं लटक रही दृश्यमान इन्द्रयोनिको) प्रयत्न विशेषके द्वारा यानी वर्धनाभ्यास आदि यत्नोंसे भीतर प्राणके संचरणमार्गभूत मूर्धरन्ध्रमें प्रवेशित जिह्वासे नीचेकी ओर करनेसे जब प्राण ऊर्ध्वरन्ध्रमें (ब्रह्म-रन्ध्रमें अर्थात् कपालकुहरमें जो सुषुम्नाके ऊपरी भागका द्वार कहा जाता है) प्रविष्ट हो जाता है, तब प्राणवायुकी चंचलता निरुद्ध हो जाती है। इस श्लोकसे लम्बिकायोगसमुचित नभोधारणाका सूचन किया गया है। इसका प्रकारविशेष भगवान् स्कन्दने इन शब्दोंसे प्रकाशित किया है—'रसनां तालुविवरे निधायो-र्ध्वमुखोऽमृतम्। धयन्निर्जरतां गच्छेदाषण्मासान्न संशयः॥', ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो

समस्तकलनोन्मुक्ते न किञ्चिन्नाम सूक्ष्मखे ।
ध्यानात् संविदि लीनायां प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २६ ॥
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलाम्बरे ।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २७ ॥

भूत्वा सोमपानं करोति यः । मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥', आकाशं च मरीचिवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं यन्नाथेन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम् । प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा मोक्षकवाट-पाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥' (तालुछिद्रमें जिह्वाको धारण कर ऊर्ध्वमुख योगी अमृत पी रहा छः महीनोंके भीतर युवा बन जाता है । जिह्वाको ऊँची करके स्थिर होकर जो सोमपान करता है, वह आधे ही मासमें मृत्युके ऊपर विजय पा जाता है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए । मरीचिवारिके सदृश, ब्रह्मरन्ध्रमें अवस्थित, शान्त, हकार अक्षरवाला स्वामी सदाशिवसे समन्वित जो आकाश है, उसमें पाँच घटीपर्यन्त प्राणका विलय कर चित्तको धारण करे, तो वह मोक्षद्वारको खोलनेमें समर्थ नभोधारणा कही जाती है ।) मुखको फैलाने पर गलेके अन्दर लटक रही माँसका टुकड़ारूप जो घण्टी है, उसे इन्द्रयोनि कहते हैं, इसमें श्रुति प्रमाण है—'अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवालम्बते सेन्द्रयोनिः' (तालुओंके बीचमें जो स्तनकी नाईं लटकती है, वह इन्द्रयोनि है (इसीसे लम्बिकायोगकी भी सूचना होती है—जो 'खेचरी' शब्दसे भी कही जाती है । कहा भी है—'कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा । भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥' (तालुके बीचमें कपालकुहर नामकी एक गुफा है, उसीमें जीभको विपरीत भावसे पहुँचा कर भ्रूयुगलके मध्यमें अवलोकन करनेसे खेचरी मुद्रा होती है) इत्यादि योगशास्त्रमें सविस्तर निरूपित है, यह लघुयोगवासिष्ठकी टीकाके कर्ताका मत है ॥ २५ ॥

समस्त विकारोंसे वर्जित अतएव किसी भी नामसे शून्य सूक्ष्म आकाशमें यानी हृदयाकाशमें बाह्य और आन्तर संवेदनवृत्तिमात्रके निर्विकल्पक समाधिसे विलीन हो जानेपर प्राणवायुका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥

नासिकाके अग्रभागसे उपलक्षित बारह अंगुलमात्रसे परिमित बाह्य आकाशमें चक्षु और मनका निरोध होनेसे भी प्राणस्पन्दन निरुद्ध हो जाता है, यह कहते हैं—'द्वादशा०' इत्यादिसे ।

अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण तालूर्ध्वे द्वादशान्तगे ।
प्राणे गलितसंवृत्ते प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २८ ॥
भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते ।
चेतने केतने बुद्धे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २९ ॥
झटित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं तस्मिन् दृढाश्रिते ।
असंश्लिष्टविकल्पांशे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३० ॥

नासिकाके अग्रभागमें बारह अंगुलपर्यन्त यानी नासिकाके अग्रभागसे लेकर बारह अंगुलपरिमित निर्मल आकाशभागमें नेत्रोंकी लक्ष्यभूत संविद्दृष्टिके (वृत्ति-ज्ञानके) विलीन हो जानेपर प्राणका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥ २७ ॥

लम्बिका योगसे असमुच्चित अन्य उपायोंसे भी अभ्यस्त पूर्वोक्त नभोधारणा योगसे प्राणस्पन्दन रुक जाता है, ऐसा कहते हैं—'अभ्यासा ०' इत्यादिसे ।

अभ्याससे यानी योगशास्त्रोंमें प्रदर्शित पवननिरोधके अभ्याससे ऊर्ध्वरन्ध्रके द्वारा (सुषुम्नामार्गसे) तालुके ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें स्थित प्राण वायु जब गलितप्राय हो जाता है, तब प्राणवायुका स्पन्दन रुक जाता है ['तालूर्ध्वद्वादशान्तगे' इस प्रकारके लघुयोगवासिष्ठकारके पाठके अनुसार उक्तरीत्या प्राणवायुके तालु (विशुद्ध नामका षोडशार चक्र), ऊर्ध्व (ब्रह्मरन्ध्र) और द्वादशान्त (अनाहत नामक द्वादशार चक्र)—इनमेंसे किसी भी एकमें चले जानेपर जब बहिर्मुख संवित् गलित हो जाती है, तब प्राणवायुका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है, यह अर्थ है] ॥२८॥

इसी प्रकार खेचरी मुद्रा भी प्राणस्पन्दनके निरोधमें हेतु है, यह कहते हैं—'भ्रूमध्ये' इत्यादिसे ।

चिरकाल तक निरोध करनेपर चक्षुकी कनीनिकाओंके आलोकका यानी चक्षुरिन्द्रियका उपराम हो जानेसे तथा पूर्वोक्त रीतिसे कपालकुहरमें प्रवेश करनेसे जिह्वाके अग्रभागके और प्राणके द्वादशान्तमें प्राप्त हो जानेपर जब संकेतात्मक भ्रूमध्य यानी अविमुक्तस्थानात्मक चिन्मात्रस्वरूप परमेश्वरका आत्मस्वरूपसे ज्ञान हो जाता है तब प्राणका स्पन्दन रुक जाता है ॥ २९ ॥

गुरु या ईश्वरके अनुग्रहसे काकतालीयन्यायसे झटिति ज्ञानके उद्बुद्ध हो जानेपर तत्क्षण ही चित्तविकल्पके उपशमसे प्राणका निरोध होता है, ऐसा कहते हैं—'झटित्येव' इत्यादिसे ।

चिरं कालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने ।
अवासनान्मनोध्यानात् प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३१ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् जगति भूतानां हृदयं तत्किमुच्यते ।
इदं सर्वं महादर्शे यस्मिंस्तत्प्रतिबिम्बति ॥ ३२ ॥

वसिष्ठ उवाच

साधो जगति भूतानां हृदयं द्विविधं स्मृतम् ।
उपादेयं च हेयं च विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ३३ ॥

ईश्वर या गुरुके अनुग्रहसे झटिति उत्पन्न हुए आत्मज्ञानके दृढ़ीभूत तथा समस्त विकल्पांशोंसे विनिर्मुक्त हो जानेपर प्राणका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥ ३० ॥

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (उत्तम, मध्यम अधिकारीके प्रति ब्रह्मोपदेशके अनन्तर मन्द अधिकारीके प्रति ब्रह्म कहते हैं—ब्रह्मज्ञानके हेतुभूत शरीरमें यह प्रसिद्ध छोटा कमलसदृश हृदयरूपी घर है, इसके अन्दर सूक्ष्म आकाश है) इत्यादि श्रुतिसे प्रसिद्ध दहराकाशमें चिरकाल तक चित्तको लगानेसे ब्रह्मसाक्षात्कारके होनेपर भी प्राणस्पन्दन रुक जाता है, ऐसा कहते हैं—'चिरम्' इत्यादिसे ।

हे मननशील रामजी, हृदयमें चिरकालपर्यन्त श्रुतिप्रतिपादित दहराकाशकी नियत भावनासे जनित विषयवासनावर्जित चित्तसे होनेवाले ध्यानसे प्राणका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है । पातञ्जलयोगसूत्रमें भी कहा है—'हृदये चित्तसंवित्', '....स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्' (दहराकाशमें संयमसे सवासन चित्तसाक्षात्कार होता है, चित्स्वभावमें संयम करनेसे पुरुषका साक्षात्कार होता है) ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, इस जगत्में प्राणियोंका वह हृदय क्या है ? महाआदर्शस्वरूप जिसमें यह सब, दर्पणमें प्रतिबिम्बकी नाईं, स्फुरित होता है । हृदयशब्दका तीन जगह प्रयोग होता है—एक तो पुण्डरीकाकार मांसखण्डमें, दूसरा मनमें और तीसरा परमात्मामें । इन विभिन्न स्थानोंमें प्रयोग होनेके कारण सन्देहको प्राप्त हुए भगवान्का प्रश्न उचित ही है ॥ ३२ ॥

वसिष्ठजीने कहा—भद्र, इस जगत्में प्राणियोंके दो प्रकारके हृदय हैं—एक उपादेय और दूसरा हेय । अब आप इनका विभाग सुनिये । मांसखण्डरूप

इयत्तया परिच्छिन्ने देहे यद्वक्षसोऽन्तरम् ।
हेयं तद्धृदयं विद्धि तनावेकतटे स्थितम् ॥ ३४ ॥
संविन्मात्रं तु हृदयमुपादेयं स्थितं स्मृतम् ।
तदन्तरे च बाह्ये च न च बाह्ये न चाऽऽन्तरे ॥ ३५ ॥
तत्तु प्रधानं हृदयं तत्रेदं समवस्थितम् ।
तदादर्शः पदार्थानां तत्कोशः सर्वसम्पदाम् ॥ ३६ ॥
सर्वेषामेव जन्तूनां संविद्धृदयमुच्यते ।
न देहावयवैकांशो जडजीर्णोपलोपमः ॥ ३७ ॥
तस्मात् संविन्मये शुद्धे हृदये हृतवासनः ।
बलान्नियोजिते चित्ते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ ३८ ॥

हृदय और मनरूप हृदय परिच्छिन्न होनेके कारण उन दोनोंको एक मानकर दो विभाग यहाँ बतलाए हैं, यह समझना चाहिए ॥ ३३ ॥

हे श्रीरामजी, इयत्तारूपसे परिच्छिन्न इस देहमें वक्षःस्थलके भीतर शरीरके एकदेशमें अवस्थित जो हृदय है, उसे आप हेय हृदय जानिये ॥ ३४ ॥

संवित्-मात्रस्वरूपसे स्थित हृदय तो उपादेय कहा गया है। यदि शङ्का हो कि आत्माके लिए जो हृदयशब्दका प्रयोग होता है, वह गौण है, क्योंकि हृदयमें स्थिति करनेके कारण ही तो आत्मा हृदय कहा जाता है, इसपर कहते हैं—'तदन्तरे' इत्यादि। वह आत्मा सबके भीतर और बाह्य है और भीतर एवं बाह्य नहीं भी है ॥ ३५ ॥

वह उपादेय हृदय प्रधान हृदय है, उसीमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, वही समस्त पदार्थोंका आदर्श है और वही सम्पूर्ण संपत्तियोंका कोष है, क्योंकि 'अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (इसमें भीतर आकाश और पृथ्वीसे उपलक्षित समस्त वस्तुजात विद्यमान हैं) यह श्रुति है ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी, संवित् ही सभी प्राणियोंका हृदय कहा जाता है, न कि जड़ और जीर्ण पत्थरके सदृश देहके अवयवका एक अंश हृदय कहा जाता है ॥ ३७ ॥

इसलिए संवित्-स्वरूप विशुद्ध हृदयमें वासनाओंसे वर्जित होकर बलपूर्वक चित्तको लगानेसे प्राणका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है ॥ ३८ ॥

एभिः क्रमैस्तथाऽन्यैश्च नानासङ्कल्पकल्पितैः ।
नानादेशिकवक्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ ३९ ॥
अभ्यासेन निराबाधमेतास्ता योगयुक्तयः ।
उपायतामुपायान्ति भव्यस्य भवभेदने ॥ ४० ॥
अभ्यासाद् दृढतां यातो वैराग्यपरिलाञ्छितः ।
यथावासनमायामः प्राणानां सफलः स्मृतः ॥ ४१ ॥
भ्रूनासातालुसंस्थासु द्वादशाङ्गुलिकोटिषु ।
अभ्यासाच्छाम्यति प्राणो दूरे गिरिनदी यथा ॥ ४२ ॥

इन पूर्वोक्त उपायोंसे तथा सम्प्रदायक्रमसे चले आ रहे अन्यान्य आचार्योंके मुखसे उपदिष्ट नाना सङ्कल्पोंसे कल्पित उपायोंसे प्राणस्पन्द निरुद्ध हो जाता है ॥ ३९ ॥

सहसा हठयोगमें प्रवृत्तिका निरास करनेके लिए कहते हैं—**'अभ्यासेन'** इत्यादिसे ।

ये जो पूर्वोक्त योगात्मक युक्तियाँ कही गई हैं, वे अभ्यासके द्वारा ही भव्यमतिके लिए संसारका उच्छेदन करनेमें निराबाध उपाय हो सकती हैं, जबर्दस्ति निरोध करने पर तो रोग आदिकी संभावना हो जायगी ॥ ४० ॥

वैराग्यरूपी लाञ्छनसे समन्तात् लाञ्छित यानी संसारासक्तिसे वर्जित तथा अभ्याससे दृढ़ताको प्राप्त प्राणायाम वासनाके अनुसार सफल होता है यानी जिस समय जैसी-जैसी वासनाएँ होती हैं, उस समय उन-उन वासनाओंका निरोध करके सफल होता है अथवा मुमुक्षाकी वासना होनेपर मोक्षरूप फलसे और भोगकी वासना होनेपर तत्-तत् विचित्र फलभोगसिद्धिरूप फलसे सफल होता है ॥ ४१ ॥

अतएव तत्-तत्सिद्धिरूप फलभेदके लिए पातञ्जलशास्त्रमें भ्रूमध्य आदि स्थानभेदसे धारणाओंके भेद बतलाये गये हैं, इस आशयसे कहते हैं— **'भ्रूनासा०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जैसे पर्वतका झरना दूर जाकर वहींपर लीन हो जाता है, वैसे ही भ्रू, नासिका, तालुसंस्थान तथा कण्ठाग्र प्रदेशसे लेकर बारह अंगुलि-परिमित प्रदेशमें अभ्यासवशसे प्राण लीन हो जाता है । पतञ्जलिने कहा भी

भूयो भूयश्चिराभ्यासाज्जिह्वाप्रान्तेन तालुनि ।
घण्टिका स्पृश्यते प्राणो येनोच्चैर्निवहत्यलम् ॥ ४३ ॥
विकल्पबहुलास्त्वेते स्वाभ्यासेन समाधयः ।
परमोपशमायाऽऽशु संप्रयान्त्यविकल्पताम् ॥ ४४ ॥
आत्मारामो वीतशोको भवत्यन्तःसुखः पुमान् ।
अभ्यासादेव नाऽन्यस्मात्तस्मादभ्यासवान् भव ॥ ४५ ॥
अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते ।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥ ४६ ॥

है—'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्', कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः', 'कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्, 'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्' (नाभिचक्रमें प्राणका संयमन करनेसे कायव्यूहका—कायस्थ वातादि पदार्थका—परिज्ञान होता है, कण्ठके नीचे कूपप्रदेशमें प्राणके संयमनसे क्षुधा और पिपासाकी निवृत्ति हो जाती है, कूपके नीचे वक्षःस्थलमें कूर्माकार नाडी होती है, उस कूर्मनाडीमें प्राणका संयम करनेसे स्थिर पद प्राप्त हो जाता है, कपालमध्य प्रभास्वर मूर्धज्योतिमें संयम करनेसे स्वर्ग और पृथ्वीके अन्तरालवर्ती सिद्धोंका दर्शन होता है) ॥ ४२ ॥

'जिह्वयाऽऽक्रम्य घण्टिकाम्' यह जो पहले कहा गया था, उसमें उपाय कहते हैं—'भूयः' इत्यादिसे ।

पुनः पुनः चिरकालिक अभ्याससे यदि जिह्वाप्रान्तके द्वारा घण्टिका आक्रान्त हो जाय, तो उससे प्राण अधिक गति नहीं कर सकता ॥ ४३ ॥

ये जो समाधिभेद बतलाये गये हैं, उनका तत्-तत् सिद्धि-फलोंमें विकल्पोंका बाहुल्य होनेपर भी निष्काम पुरुषके लिए परमविश्रान्तिरूप फलमें उनकी विकल्पस्वरूपताका अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं—'विकल्प०' इत्यादिसे ।

यद्यपि ये समाधियाँ विकल्पप्रचुर हैं, तथापि निष्काम पुरुषके प्रति अपने अभ्यासके कारण परमविश्रान्तिके लिए झटिति विकल्पाभावरूपताको प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अभ्याससे ही पुरुष आत्मामें रमण करनेवाला, वीतशोक, भीतरी सुखसे पूर्ण होता है, अन्य उपायसे नहीं, इसलिए आप अभ्यासवान् हो जाइए ॥ ४५ ॥

श्रीरामजी, अभ्यासके द्वारा प्राणवायुओंका जब चाञ्चल्य विनष्ट हो जाता

वासनावलितं जन्म मोक्षं निर्वासनं मनः ।
प्राणं च राम गृह्णाति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ४७ ॥
प्राणस्पन्दो मनोरूपं तस्मात्संसृतिविभ्रमः ।
तस्मिन्नेव शमं याते दीयते संसृतिज्वरः ॥ ४८ ॥
विकल्पांशक्षयाज्जन्तोः पदं तदवशिष्यते ।
यतो वाचो निवर्तन्ते समस्तकलनान्विताः ॥ ४९ ॥
यत्र सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
यत्र नेदं यतो नेदं यन्नेदं नेदृशं जगत् ॥ ५० ॥

है, तब मन विश्रान्तिको प्राप्त करता है और निर्वाण (मोक्ष) अवशिष्ट रह जाता है ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामजी, वासनासे युक्त मन शरीरको ग्रहण करता है, तदनन्तर उसमें अभिमानसे प्राणको ग्रहण करता है और वासनासे रहित मन मोक्ष ग्रहण करता है, इसलिए आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिए ॥ ४७ ॥

चूँकि प्राणवायुका स्पन्दन मनका स्वरूप है और उससे संसाररूपी भ्रम उत्पन्न होता है, इसलिए तथोक्त अभ्याससे प्राणस्पन्दनका ही विनाश हो जानेपर संसाररूप ज्वर खण्डित हो जाता है यानी चिकित्सित हो जाता है ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामजी, प्राणीका विकल्पांश विनष्ट हो जानेपर केवल वह पद (ब्रह्म-पद) अवशिष्ट रह जाता है, जिस पदसे नैकविध कल्पनाओंसे समन्वित शब्द निवृत्त हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

वह पद ऐसा है कि उसमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, उससे यह सब उत्पन्न हुआ है, वह समस्त जगत्का स्वरूपभूत है और वह इस जगत्के चारों ओर विद्यमान है । परमार्थ दशामें उसमें न तो यह दृश्यमान समस्त जगत् विद्यमान है, न तो उससे उत्पन्न हुआ है और न उसके स्वरूपभूत ही जगत् है । वास्तवमें दृश्यमान इस प्रकारका जगत् है ही नहीं । इस श्लोकमें 'इदं दृश्यं यत्र न' इस वाक्यसे आधेयतारूपसे, 'यतो न' इससे उपादेयतारूपसे 'यन्न' इससे तादात्म्यसम्बन्धसे जगत्में सच्चिदानन्दात्मसम्बन्धका निषेध करनेसे किसी अंशसे भी जगत् और ब्रह्मका सादृश्य नहीं है, यह सूचित हुआ ॥ ५० ॥

विनाशित्वाद्विकल्पत्वाद्गुणित्वान्निर्गुणात्मनः ।
यस्य नो सदृशो दृष्टो दृष्टान्तः कश्चिदेव हि ॥ ५१ ॥
स्वादनी सर्वशालीनां दीपिका सर्वतेजसाम् ।
कलना सर्वकामानामन्तश्चिच्चन्द्रिकोदिता ॥ ५२ ॥
यस्मात्कल्पतरोर्बह्व्यः संसारफलपङ्क्तयः ।
अनारतं बहुरसा जायन्ते च पतन्ति च ॥ ५३ ॥
तत्पदं सर्वसीमान्तमवलम्ब्य महामतिः ।
यः स्थितः स्थिरधीस्तज्ज्ञः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५४ ॥

अतएव विनाशित्व आदि धर्मोंसे युक्त जगत्में कोई भी ब्रह्मका दृष्टान्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**विनाशित्वात्**' इत्यादिसे ।

यह जगत् विनाशी, विकल्पस्वरूप तथा अनेकविध गुणोंसे युक्त है, इसलिए समस्त गुणोंसे वर्जित उस आत्माका इस जगत्में कोई भी सदृश दृष्टान्त दिखाई नहीं पड़ता ॥ ५१ ॥

यदि शङ्का हो कि इस जगत्में ब्रह्मका कोई भी सदृश दृष्टान्त नहीं है, तो उसका परिचय कैसे होगा ? तो इसपर कहते हैं—'**स्वादनी**' इत्यादिसे ।

नित्य उदितस्वरूप यह चितिरूपी चन्द्रिका समस्त शालियोंका (अन्नोंका) आस्वाद देनेवाली, सूर्यादि समस्त तेजोंकी दीपिका (प्रकाशिका) और आभ्यन्तर समस्त कामोंकी कल्पनात्मिका है। निष्कर्ष यह निकला कि रूप, रस आदिको विषय करनेवाली बाह्य वृत्तियोंकी त्रिपुटीकी तथा आभ्यन्तर कामादि वृत्तियोंकी त्रिपुटीकी भासक होनेसे इस चितिरूपी चन्द्रिकाका परिचय करना चाहिए ॥ ५२ ॥

'फलमत उपपत्तेः' (इष्ट, अनिष्ट आदि कर्मोंका फल ईश्वरसे प्राप्त होता है, क्योंकि इसी अर्थमें युक्ति है) इस न्यायसे तथा विचित्र कर्मफलोंके उदय और क्षयके प्रति निमित्तरूप होनेसे भी उसका परिचय करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'**यस्मात्**' इत्यादिसे ।

कल्पवृक्षस्वरूप उसी आत्मासे ये अनेक संसारफलोंकी पंक्तियाँ, जो अनेक प्रकारके रसोंसे परिपूर्ण हैं, निरन्तर उत्पन्न और विनष्ट होती हैं ॥ ५३ ॥

उसका परिचय होनेपर पुरुषार्थसिद्धिको बतला रहे महाराज वसिष्ठ प्रकृत विषयका उपसंहार करते हैं—'**तत्पदम्**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

विगतसर्वसमीहितकौतुकः

समुपशान्तहिताहितकल्पनः ।

सकलसंव्यवहारसमाशयो

भवति मुक्तमनाः पुरुषोत्तमः ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे योगवर्णनं नाम अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

हे भद्र श्रीरामजी, निखिल सीमाओंके अन्तभूत उस पदका अवलम्बन कर जो महामति स्थित रहता है, वह निश्चलबुद्धि, तत्त्वज्ञ और जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ५४ ॥

हे श्रीरामजी, जिस महात्माकी समस्त कामोपभोगकी इच्छाएँ निवृत्त हो गई हैं, जिसकी कामोपभोगकी उत्कण्ठाओंके अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंमें हिताहित वासनाएँ निवृत्त हो गई हैं तथा जिसका अन्तःकरण समस्त हिताहित व्यवहारोंके होनेपर भी हर्ष और विषादसे वर्जित हो गया है, वह मुक्तान्तःकरण महात्मा सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ और साक्षात् नारायण हो जाता है ॥ ५५ ॥

अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एकोनाशीतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

योगयुक्तस्य चित्तस्य शम एव निरूपितः ।
सम्यग्ज्ञानमिदानीं मे कथयाऽनुग्रहात् प्रभो ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते ।
इत्येको निश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥
इमा घटपटाकाराः पदार्थशतपङ्क्तयः ।
आत्मैव नाऽन्यदस्तीति निश्चयः सम्यगीक्षणम् ॥ ३ ॥

उन्नासीवाँ सर्ग

[चित्तके विनाशके लिए जिन योग और ज्ञानरूपी दो उपायोंका उपक्रम किया था, उनमें से पहलेका पूर्व सर्गमें परिज्ञान हो जानेसे द्वितीयका वर्णन]

श्रीरामजीने कहा—हे भगवन्, पूर्व सर्गमें 'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य' इत्यादिसे उपक्रान्त दो उपायोंमें से आपने योगयुक्त पुरुषके चित्तका विनाश-प्रकार ही निरूपित किया है। अब आप अनुग्रह कर मुझसे सम्यक् ज्ञानको कहिये यानी सम्यक् ज्ञानका निरूपण कीजिए ॥ १ ॥

लक्षण, स्वरूप एवं साधन आदिसे सम्यक् ज्ञानका निरूपण करनेवाले महाराज श्रीवसिष्ठजी पहले 'आत्माके परिचयसे किया गया जगत्का बाध ही सम्यक् ज्ञान है, यों उसका (सम्यक् ज्ञानका) लक्षण करते हैं—**'अनाद्यन्ता०'** इत्यादिसे।

वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, इस जगत्में आदि और अन्तसे रहित अवभासस्वरूप परमात्माका ही केवल अस्तित्व है, इस प्रकारका असाधारण एवं अपरिच्छिन्न आकारवाला जो निश्चय है, विद्वान् लोग उसी निश्चयको सम्यक् ज्ञान कहते हैं ॥ २ ॥

इसी प्रकार जगत्का बाध कर आत्माका परिचय करना भी सम्यक् ज्ञानका लक्षण है, ऐसा कहते हैं—**'इमाः'** इत्यादिसे।

असम्यग्वेदनाज्जन्म मोक्षः सम्यगवेक्षणात् ।
असम्यग्वेदनाद्रज्जुः सर्पो नो सम्यगीक्षणात् ॥ ४ ॥
सङ्कल्पांशविनिर्मुक्ता संवित्संवेद्यवर्जिता ।
संविच्याऽभिसमाख्याता मुक्तावस्तीह नेतरत् ॥ ५ ॥
सा शुद्धरूपा विज्ञाता परमात्मेति कथ्यते ।
शुद्धा त्वशुद्धरूपान्तरविद्येत्युच्यते बुधैः ॥ ६ ॥
संविचिरेव संवेद्यं नाऽनयोर्द्वित्वकल्पना ।
चिनोत्यात्मानमात्मैव रामैवं नाऽन्यदस्ति हि ॥ ७ ॥

ये जो घट, पट आदि आकारोंसे युक्त पदार्थोंकी सैकड़ों पंक्तियाँ हैं, वे सब आत्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है, इस प्रकारका निश्चय सम्यक् ज्ञान है ॥ ३ ॥

सम्यक् ज्ञानमें मोक्ष देनेकी समर्थ्य है, ऐसा कहते हैं—**'असम्यक्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, आत्माका यथार्थज्ञान न होनेसे जन्म होता है और आत्माके यथार्थज्ञानसे मोक्ष होता है । रज्जुका यथार्थज्ञान न होनेसे रज्जु सर्परूप हो जाती है और उसका यथार्थज्ञान होनेसे रज्जु सर्परूप नहीं होती यानी सर्पभावसे रज्जुका मोक्ष हो जाता है, यह भाव है ॥ ४ ॥

तब मुक्तिमें क्या बच जाता है ? उसे बतलाते हैं—**'सङ्कल्पांश०'** इत्यादिसे ।

इस मुक्तिमें संकल्पांशोंसे विनिर्मुक्त, समस्त संवेद्योंसे (विषयोंसे) वर्जित तथा केवल स्वप्रकाशस्वभावसे ही चारों ओर प्रकाशमान केवल चिति ही बच जाती है, उससे अन्य कुछ भी नहीं बचता ॥ ५ ॥

हे श्रीरामजी, विद्वानोंके द्वारा समस्त मलोंसे विनिर्मुक्त वह संवित् जब विज्ञात हो जाती है, तब परमात्मा कही जाती है और स्वतः निखिल मलोंसे वर्जित होनेपर भी जब अध्यासवश भीतरसे अशुद्धरूप होती है, तब अविद्या कही जाती है ॥६॥

ऐसी स्थितिमें ज्ञान और विषयमें अविज्ञानजनित ही भेद है, ऐसा कहते हैं—**'संविचिरेव'** इत्यादिसे ।

यथाभूतात्मदर्शित्वमेतावद्भुवनत्रये ।
यदात्मैव जगत्सर्वमिति निश्चित्य पूर्णता ॥ ८ ॥
सर्वमात्मैव कौ दिष्टौ भावाभावौ क च स्थितौ ।
क्व बन्धमोक्षकलने किमन्यद्राम शोच्यते ॥ ९ ॥
न चेत्यमन्यन्नो चित्तं ब्रह्मैवेदं विजृम्भते ।
सर्वमेकं परं व्योम को मोक्षः कस्य बन्धता ॥ १० ॥
ब्रह्मेदं बृंहिताकारं बृहद्बृहदवस्थितम् ।
ज्ञानादस्तमितद्वित्वं भवाऽऽत्मैव त्वमात्मना ॥ ११ ॥
सम्यगालोकिते रूपे काष्ठपाषाणवाससाम् ।
मनागपि न भेदोऽस्ति क्वाऽसि सङ्कल्पनोन्मुखः ॥ १२ ॥

हे श्रीरामजी, संवित्ति (ज्ञान) ही संवेद्य (विषय) है, वास्तवमें इन दोनोंकी तनिक भी भेद-कल्पना नहीं है, आत्मा ही आत्माका चयन करता है यानी आत्मा ही अज्ञानसे आत्माको नानारूप बना देता है और ज्ञानसे आत्माकी एकरूपताका परिचय कर लेता है, आत्मासे पृथक् कुछ भी नहीं है ॥ ७ ॥

सम्यक् ज्ञानका निचोड़ स्वरूप कहते हैं—**'यथाभूता०'** इत्यादिसे ।

इन तीनों लोकोंमें यथार्थ आत्मदर्शिता इतनी ही है कि यह सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्णताको प्राप्त करे ॥ ८ ॥

हे श्रीरामजी, यह सब आत्मस्वरूप ही है, कौन भाव और अभाव अलग कर निरूपित हो सकते हैं ? वे कहाँ रह सकते हैं ? बन्ध और मोक्षकी कल्पना कहाँ हो सकती है ? आत्माको छोड़कर ऐसी कौन वस्तु है ? जिसके विषयमें मूढ लोग शोक करते हैं ॥ ९ ॥

आत्मासे भिन्न न तो चेत्य है और न चित्त है, दृश्यरूप यह सब ब्रह्म ही विजृम्भित हो रहा है, समस्त ब्रह्माण्ड अद्वितीय चिदाकाशस्वरूप ही है, अतः क्या मोक्ष है और किसको बन्ध है ? ॥ १० ॥

जितने बड़े-से-बड़े पदार्थ हैं, उन सबसे भी ब्रह्म बड़ा है । मायासे नटकी नाईं अपनी आत्मामें ही बढ़े हुए आकारसे युक्त यह जगत्-रूप दृश्य अवस्थित है । आत्माके ज्ञानसे जागतिक द्वित्व तत्क्षण विलीन हो जाता है, अतः आप अपनेसे ही आत्मस्वरूप हो जाइए ॥ ११ ॥

जैसे काष्ठ, पाषाण और वस्त्रोंके तात्त्विक स्वरूपका भलीभाँति परिज्ञान हो जानेपर

आदावन्ते च संशान्तं स्वरूपमविनाशि यत् ।
वस्तु नामाऽऽत्मनश्चैव तन्मयो भव राघव ॥ १३ ॥
परं व्योमेदमखिलं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सुखदुःखक्रमः कुत्र विज्वरो भव राघव ॥ १४ ॥
द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जरामरणविभ्रमैः ।
स्फुरत्यात्मभिरात्मैव चित्रैरम्बिवव वीचिभिः ॥ १५ ॥
शुद्धमात्मानमालिङ्ग्य नित्यमन्तःस्थया धिया ।
यः स्थितस्तं क आत्मेहं भोगा बन्धयितुं क्षमाः ॥ १६ ॥
कृतस्फारविचारस्य मनोभोगादयोऽरयः ।
मनागपि न भिन्दन्ति शैलं मन्दानिला इव ॥ १७ ॥

उनमें तनिक भी भेद नहीं रह जाता, वैसे ही अधिष्ठानभूत सन्मात्रस्वरूपका परिज्ञान हो जानेपर तनिक भी भेद नहीं रह जाता, ऐसी स्थितिमें आप संकल्प और विकल्पके उन्मुख कहाँ है ? यानी हेय और उपादेयकी एकरूपता होनेपर सङ्कल्प और विकल्पका प्रसङ्ग ही हो नहीं सकता ॥ १२ ॥

हे राघव, आदि और अन्तमें अविनाशी, पूर्ण शान्त जो स्वरूप है, वही प्रसिद्ध आत्मरूप वस्तु है, चूँकि आत्माका वैसा स्वरूप है, इसलिए आप उसी स्वरूपवाले हो जाइए ॥ १३ ॥

हे राघव, यह निखिल स्थावर और जङ्गमात्मक जगत् निरतिशयानन्दात्मक चिदाकाशस्वरूप ही है, अतः सुख और दुःखकी प्रसक्ति कहाँ होगी, अर्थात् कहीं नहीं होगी, इसलिए आप समस्त चिन्ताज्वरोंसे निर्मुक्त हो जाइए ॥ १४ ॥

जैसे जल विचित्र तरङ्गोंसे प्रस्फुरित होता है, वैसे ही द्वैत और अद्वैत विकल्पोंसे समुद्भूत जन्म, मरण और विभ्रम स्वरूप आत्माओंसे आत्मा ही अज्ञानियोंके लिए प्रस्फुरित होता है ॥ १५ ॥

जो महात्मा शुद्ध आत्माका आलिङ्गन कर अन्तःस्थबुद्धिसे सदा-सर्वदा अवस्थित रहता है, उस तत्त्वज्ञ आत्माभिलाषीको कौन भोग बाँधनेके लिए समर्थ हो सकते हैं ॥ १६ ॥

जैसे मन्द पवन पर्वतका भेदन नहीं कर सकते, वैसे ही जिस विद्वान्ने प्रकाशमान आत्माका पूर्णरूपसे विचार कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञके अन्तःकरणको काम प्रभृति छः शत्रु तनिक भी भेदन नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

अविचारिणमज्ञानं मूढमाशापरायणम् ।
निगिरन्तीह दुःखानि बका मत्स्यमिवाऽजलम् ॥ १८ ॥
जगदात्मैव सकलमविद्या नाऽस्ति कुत्रचित् ।
इति दृष्टिमवष्टभ्य सम्यग्रूपः स्थिरो भव ॥ १९ ॥
नानात्वमस्ति कलनासु न वस्तुतोऽन्त-
र्नानाविधासु सरसीषु जलादि नाऽन्यत् ।
इत्येकनिश्चयमयः पुरुषो विमुक्त
इत्युच्यते समवलोकितसम्यगर्थः ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सम्यग्ज्ञानलक्षणनिरूपणं नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥७९॥

जैसे जलसे निर्गत अथवा स्वल्प जलमें स्थित मत्स्यको बगुले निगल जाते हैं, वैसे ही इस संसारमें आशाओंमें निरत, मूढ़, अज्ञानी और अविचारी पुरुषको दुःख निगल जाते हैं ॥ १८ ॥

हे श्रीरामजी, समस्त जगत् आत्मस्वरूप ही है, कहींपर भी अविद्या नामकी कोई वस्तु है नहीं, इस प्रकारकी दृष्टिका अवलम्बन कर आप सम्यक् स्वरूपवाले होकर स्थित हो जाइए ॥ १९ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे अनेकविध सरोवरोंमें जल, फेन आदि जलसे पृथक् नहीं हैं, वैसे ही [दृश्य ब्रह्मसे पृथक् नहीं है] केवल कल्पनाओंमें यानी विकल्पात्मक बुद्धिमें ही नानात्व है, वास्तवमें नानात्व नहीं है, इस प्रकार विवेकपूर्वक भलीप्रकार अर्थको जान लेनेवाला उक्त एकविध निश्चयप्रधान पुरुष आत्यन्तिक चित्त-विनाशके कारण विमुक्त है, ऐसा कहा जाता है ॥ २० ॥

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इदमन्तः कलयतो भोगान्प्रति विवेकिनः ।
पुरस्थितानपि सदा स्पृहैवाऽङ्ग न जायते ॥ १ ॥
चक्षुरालोकनायैव जीवस्तु सुखदुःखयोः ।
भारायैव बलीवर्दो भोक्ता द्रव्यस्य नायकः ॥ २ ॥
नयने रूपनिर्मग्ने क्षोभः क इव देहिनः ।
गर्दभे पल्लवे मग्ने कैव सेनापतेः क्षतिः ॥ ३ ॥

अस्सी सर्ग

[जिस विचारके सुदृढ़ होनेपर संमुखस्थित भी दिव्य भोगोंमें इच्छा उत्पन्न नहीं होती, उस विचारका वर्णन]

महाराज वशिष्ठने कहा—हे श्रीरामजी अपने हृदयमें विचार (आगे कहा जानेवाला विचार) कर रहे विवेकी महात्माको सर्वदा संमुखस्थित भी दिव्य भोगोंमें अभिरुचि उत्पन्न ही नहीं होती ॥ १ ॥

उसमें पहले जिस स्थलमें चक्षुके द्वारा इष्ट एवं अनिष्ट विषय गृहीत होनेपर चक्षुमें अहन्ताके अभिमानसे जीवको सुख-दुःख अनुभूत होते हैं; उस स्थलमें चक्षुके प्रति जीवकी स्वामिता ही है, अहन्ता नहीं है, ऐसा विचार करनेसे जीवको दुःख आदिकी प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसा दिखलाते हैं—**'चक्षु०'** इत्यादिसे ।

नेत्र केवल रूप देखनेमें ही निमित्त हैं और चक्षुका केवल स्वामी जीव तो चक्षुमें अहन्ताके अभिनिवेशसे सुख-दुःखका भोक्ता होता है । जैसे बैल बोझा ढोनेके लिए ही है, उस ढोये हुए द्रव्यका उपभोग करनेवाला तो द्रव्यका स्वामी है ॥ २ ॥

जीवका स्वामित्व केवल चक्षुपर ही नहीं है, किन्तु कार्यकारणसमूह, काम, कर्म, वासना तथा उसके अनेकविध फलभेदों पर भी है । इस स्थितिमें अहंकार, बुद्धि, मन एवं प्राणकी परम्परासे कथञ्चित् स्वत्वकोटिमें प्रविष्ट एक चक्षुका

रूपकर्दममेतन्मा नयनाऽऽस्वादयाऽधम ।
नश्यत्येतन्निमेषेण भवन्तमपि हिंसति ॥ ४ ॥
येनैव संख्या क्रियते येनैवाऽस्वाऽनुगम्यते ।
तदीयैः कर्मभिः क्षिप्रं प्राज्ञः क्रूरो निबध्यते ॥ ५ ॥
उत्पन्नध्वंसि चाऽऽपातमात्रहृद्यमसन्मयम् ।
रूपमाश्रय मा नेत्र विनाशायाऽविनाशिने ॥ ६ ॥

कभी अनिष्ट रूपके साथ संबन्ध प्राप्त हुआ भी तो उसकी गणना ही क्या है और उससे जीवको दुःखकी प्रसक्ति ही कैसे हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'**नयने**' इत्यादिसे ।

नेत्रके अनिष्ट रूपमें निमग्न होनेपर जीवको क्षोभ ही कैसा ? सेनाके अन्तर्गत धोबीका गदहा अल्पजलाशयमें यानी छोटे तालाबमें डूबा, तो उससे सेनापतिकी क्षति ही क्या हुई ? ॥ ३ ॥

जीवका नेत्रपर स्वामित्व रहनेसे ही वह उसे रूप-मग्न होनेसे रोक सकता है, यह बतलाते हैं—'**रूप०**' इत्यादिसे ।

हे मूढ़तम नेत्र, स्त्री, पुत्र आदिके सौन्दर्यस्वरूप रूपात्मक कीचड़का तुम आस्वाद मत करो, यह तथोक्त रूप क्षणमें ही नष्ट हो जायगा और तुम्हें भी नष्ट कर डालेगा ॥ ४ ॥

शङ्का हो कि तब किस प्रकारका प्राज्ञ कहाँ निबद्ध होता है, तो उसपर कहते हैं—'**येनैव**' इत्यादिसे ।

तेज बुद्धिवाला प्राज्ञ पुरुष तो—भीतर निवास कर रहे जिस चिदात्मासे बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका उनके सम्बन्ध द्वारा प्रकाश होता है, तथा जिस तथोक्त चिदात्मासे अनात्मभूत पाँच कोशोंकी परम्पराका आत्माके तादात्म्यारोपसे अनुभव होता है, उस चिदात्माके उदासीनतया यथाप्राप्त पदार्थोंके प्रकाशन-रूप चरित्रोंसे—अभ्यासवश सम्बद्ध होता है, मूर्खोंकी नाईं तथाविध सौन्दर्यरूपी रूपकर्दमके आस्वादनरूप कर्मोंसे सम्बद्ध नहीं होता । तात्पर्य यह निकला कि श्रीरामजी, आप भी अपने उदासीन सत्स्वरूपका प्रकाशन कीजिए, उसका आस्वादन मत कीजिए ॥ ५ ॥

हे नेत्र, जो उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है और जो केवल ऊपर-ऊपरसे

साक्षिवत्त्वं स्थितं नेत्र रूपमात्मनि तिष्ठति ।
आलोकं कालवशतस्त्वमेकं किं प्रतप्यसे ॥ ७ ॥
सलिलस्पन्दवद्दृष्टिः पिच्छिकेवाऽम्बरोत्थिता ।
सुजातिबन्धा स्फुरति तव चित्त किमागतम् ॥ ८ ॥
कल्पाम्भसीव शफरी चित्ते स्फुरणधर्मिणि ।
स्वयं स्फुरत्यहङ्कारस्त्वमयं प्रोत्थितः कुतः ॥ ९ ॥

ही रमणीय प्रतीत होता है, ऐसे असत्-स्वरूप रूपका (सौन्दर्यका) उस अवश्यम्भावी मृत्युके मुखमें प्रवेश करनेके लिए आश्रयण मत करो ॥ ६ ॥

हे नेत्र, जब किसीकी अपेक्षा किये बिना समस्त अर्थोंके प्रकाशनमें सदा समर्थ परमात्मा रूप आदि विषयोंमें उदासीनस्वरूपसे स्थित है, तब कालवशसे यानी किसी समय दीप आदिके आलोकको पाकर प्रकाशन कर रहे तुम अकेले ही क्यों सन्तप्त होते हो ? इसलिए तुम भी साक्षीकी तरह स्थित सद्रूपको देखो, यह भाव है ॥ ७ ॥

सम्प्रति चक्षुके द्वारा भ्रान्तिसे रूपके देखे जानेपर भी चित्तको उसमें अभिनिवेश करनेमें कोई हेतु नहीं है, यह कहते हैं—'**सलिल०**' इत्यादिसे ।

हे चित्त, नदी आदिके जलमें दृश्यमान नाना प्रकारके विचित्र अनियत तरङ्गोंकी नाईं अनियत, आकाशमें सूर्यके संमुख साश्रुनेत्र पुरुषको दिखाई पड़नेवाली मयूर-पिच्छिकाकी (मोरके पंखकी) नाईं मिथ्याभूत एवं 'यह घोड़ा है', 'यह गाय है', 'यह स्त्री है' इस तरहकी अनेक अच्छी-बुरी जातियोंके विकल्पोंसे जनित यह नाना प्रकारकी रूपदृष्टि (सौन्दर्यानुभूति) चक्षुको स्फुरित होती है, ऐसी परिस्थितिमें तुम्हें क्या मिला, जिससे कि तुम उसमें अनुरक्त होते हो और वृथा सन्तप्त होते हो ? ॥ ८ ॥

चक्षुके द्वारा दृष्ट पदार्थाकार वृत्ति चित्तमें भले ही हो, तथापि उसमें अभिनिवेशके हेतु अहंकारके होनेमें कोई हेतु नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**कल्पा०**' इत्यादिसे ।

हे चित्त, प्रलयकालीन जलमें मछलीकी नाईं स्फुरणधर्मवाले चित्तमें स्वयं

आलोकरूपयोर्नित्यं जडयोः स्फुरतोर्मिथः ।
आधाराधेययोश्चित्तं व्यर्थमाकुलता तव ॥ १० ॥
रूपालोकमनस्काराः परस्परमसङ्गिनः ।
संपन्ना इव लक्ष्यन्ते वदनादर्शबिम्बवत् ॥ ११ ॥
अज्ञानजतुना ह्येते श्लिष्टा जाता निरन्तराः ।
अज्ञाने ज्ञानगलिते पृथक्तिष्ठन्त्यसन्मयाः ॥ १२ ॥

रूपादिविषयाकारका यदि स्फुरण होता है, तो वह भले ही हो, परन्तु अहमाकार-रूपसे तुम किस निमित्तको लेकर उत्थित हुए हो ? ॥ ९ ॥

हे चित्त, आधाराधेयभूत तथा जड़स्वरूप आलोक और रूपके परस्पर स्फुरित होने पर तुम निरर्थक ही व्याकुल हो रहे हो। तात्पर्य यह है कि स्त्री-शरीर आदि रूप सूर्य आदिके प्रकाशका आश्रयण कर स्फुरित होते हैं और सूर्यादि प्रकाश उक्त स्त्री-शरीरादिभूत रूपमें आश्रित होकर स्फुरित होते हैं, यों परस्पर एक दूसरेका सम्बन्ध होनेपर सुन्दरताकी भ्रान्तिसे कामादि दोष द्वारा चित्तमें व्याकुलता होती है, यह प्रसिद्ध है। परन्तु आलोक और रूपका चित्तके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण वह व्यर्थ ही है ॥ १० ॥

आलोक और रूपके साथ चित्तका सम्बन्ध ही नहीं है, इस विषयको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—**'रूपा०'** इत्यादिसे ।

जैसे वास्तवमें परस्पर एक दूसरेसे असंबद्ध मुख, दर्पण और प्रतिबिम्ब परस्पर एक दूसरेसे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, वैसे ही वास्तवमें परस्पर एक दूसरेसे असम्बद्ध रूप, आलोक और मन एक दूसरेसे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। चक्षुके द्वारा बाहर रूपका अवलोकन होता है और मनके द्वारा भीतर संकल्पादि मनस्कार ज्ञात होते हैं, यों भिन्नदेशता होनेके कारण वास्तवमें उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह भाव है ॥ ११ ॥

वास्तवमें असम्बद्ध होनेपर भी जो सम्बद्धत्व भ्रान्ति होती है, उसमें अज्ञान ही निमित्त है, ऐसा कहते हैं—**'अज्ञान०'** इत्यादिसे ।

हे चित्त, ये पूर्वोक्त रूपादि अज्ञानरूपी जतुके (लाखके) द्वारा ही निरन्तर एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध हुए हैं, जब अज्ञानरूपी जतु ज्ञानके तापसे पिघल जाता

मनःकल्पनया ह्येते सुसम्बद्धाः परस्परम् ।
रूपालोकमनस्कारा दारुणी जतुना यथा ॥ १३ ॥
स्वमनोमननं तन्तुर्मनोभ्यासेन यत्नतः ।
विचाराच्छेदमायाति च्छिन्नैवाऽज्ञानभावना ॥ १४ ॥
अज्ञानसंक्षयात् क्षीणे मनसीमे पुनर्मिथः ।
रूपालोकमनस्काराः संघट्टन्ते न केचन ॥ १५ ॥
सर्वेषां चित्तमेवाऽन्तरिन्द्रियाणां प्रबोधकम् ।
तदेव तस्मादुच्छेद्यं पिशाच इव मन्दिरात् ॥ १६ ॥
चित्त वल्गसि मिथ्यैव दृष्टोऽन्तो भवतो मया ।
आद्यन्तयोः सुतुच्छं त्वं वर्तमाने विनश्यसि ॥ १७ ॥

है, तब वे एक दूसरेसे असम्बद्ध और बाधित होकर अधिष्ठान सन्मात्ररूपमें अवस्थित रहते हैं ॥ १२ ॥

जैसे दो काठ लाखसे एक दूसरेसे श्लिष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये रूप, आलोक और संकल्प आदि मनस्कार परस्पर चित्तकी कल्पनासे एक दूसरेसे संश्लिष्ट हो जाते हैं ॥ १३ ॥

मकड़ीके जालेके समान अपने ही बन्धनमें हेतुभूत अपने चित्तके संकल्प-विकल्पात्मक तन्तु मन्द और मध्यम अधिकारीके लिए वैराग्य, शम, दम, निरोध आदिरूप मनोभ्याससे यत्नपूर्वक किये गये विचारसे विनष्ट हो जाता है। और उत्तम अधिकारीके लिए सहसा उत्पन्न नित्यानित्यविज्ञानसे उस तन्तुके विच्छिन्न हो जानेपर स्वभावतः ही अज्ञानभावना प्रवृत्त नहीं होती ॥ १४ ॥

अज्ञानके विनाशसे क्षीण हुए मनमें फिर ये रूप, आलोक और मनस्कार परस्पर एक दूसरेसे कोई भी संघटित नहीं होते ॥ १५ ॥

पहले यत्नसे तो चित्तका उच्छेद कर देना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'सर्वेषाम्'** इत्यादिसे ।

चित्त ही सभी इन्द्रियोंका भीतरसे प्रबोध (प्रेरणा) करता है, इसलिए जैसे मन्दिरसे पिशाचका उच्छेद कर देते हैं, वैसे ही चित्तका उच्छेद कर देना चाहिए ॥ १६ ॥

अब ललकार कर चित्तको ही बोधित करते हैं—**'चित्त'** इत्यादिसे ।

मुधा पञ्चभिराकारैः किमन्तः परिवल्गसि ।
यस्त्वां स्वमिति जानाति तस्यैव परिवल्गसि ॥ १८ ॥
त्वद्वल्गनं मे कुमनो न मनागपि तुष्टये ।
मायामनःस्पन्द इव व्यर्थं वृत्तिषु दह्यसे ॥ १९ ॥
तिष्ठ वा गच्छ वा चित्त नाऽसि मे न च जीवसि ।
प्रकृत्याऽसि मृतं नित्यं विचारात् सुमृतं स्मृतम् ॥ २० ॥
निस्तत्त्वं त्वं जडं भ्रान्तं शठं नित्यमृताकृते ।
मूढ एव त्वयाऽज्ञेन बाध्यो न प्रविचारवान् ॥ २१ ॥

हे चित्त, तुम मिथ्या ही प्रलाप करते हो, मैंने तुम्हारे उच्छेदके लिए उपाय ढूँढ़ निकाला है । तुम आदि और अन्त दोनों में नितान्त तुच्छ (असत्) हो, इसलिए वर्तमानकालमें भी असत् ही हो । पूर्व और उत्तरकालमें असत् वन्ध्यापुत्र वर्तमानकालमें सत् नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

हे चित्त, तुम इन्द्रियोंसे सम्बद्ध शब्द आदि पाँच आकारोंके द्वारा अपने भीतर क्या गर्ज रहे हो, जो तुम्हारा अभिमान करनेवाला प्रमाता तुम्हें 'यह मेरा है' इस रूपसे जानता है, उसीके विषयमें तुम उपकरणरूपसे गर्ज सकते हो, परन्तु असङ्ग, उदासीन, चिदेकरस मेरे विषयमें तुम नहीं गर्ज सकते ॥ १८ ॥

हे दुष्ट चित्त, तुम्हारा गर्जन मेरे लिए तनिक भी हर्ष और विषादके लिए नहीं है, ऐन्द्रजालिक मायासे जनित मनके अनेक तरहकी विषयदर्शनाकार चेष्टाओंकी नाईं तुम अनेकविध विषयाकार वृत्तियोंमें क्यों निरर्थक दग्ध हो रहे हो ॥ १९ ॥

हे चित्त, तुम रहो चाहे जाओ, तुम न तो मेरे हो और न तुम जीते हो । अपने मिथ्यास्वभावसे तुम सदा मृतक (निरात्मक) ही हो और विचारसे उस प्रकार स्मृत तुम अत्यन्त असत् हो ॥ २० ॥

हे चित्त, तुम तत्त्वरहित जड़, भ्रान्त और शठ हो, तुम्हारा आकार अत्यन्त असत् है, अज्ञानस्वरूप तुम्हारे द्वारा अज्ञानी पुरुषको ही बाधा पहुँच सकती है, न कि विचारवान् ज्ञानी पुरुषको ॥ २१ ॥

वयमज्ञातवन्तस्त्वां मौर्ख्येणाऽऽशु मृतं भवत् ।
मृतमस्माकमद्याऽसि दीपानां तिमिरं यथा ॥ २२ ॥
शठेन भवता दीर्घकालं देहगृहं मम ।
उपरुद्धमभूत् सर्वं साधुसंसर्गवर्जितम् ॥ २३ ॥
जडे प्रेतसमाकारे गते त्वयि मनःशठे ।
सर्वसज्जनसंसेव्यमिदं देहगृहं मम ॥ २४ ॥
पूर्वमेवाऽसि नाऽसीस्त्वं संप्रत्येव शठं जगत् ।
न भविष्यसि चेदानीं वेताल किं न लज्जसे ॥ २५ ॥
सह तृष्णापिशाचीभिः सह कोपादिगुह्यकैः ।
निर्गच्छ चित्तवेताल शरीरसदनान्मम ॥ २६ ॥

हे चित्त, 'तुम तत्त्वशून्य हो' यह आजतक हम लोगोंने नहीं जाना था। आज आत्मतत्त्वदर्शनके प्रभावसे हम लोगोंने यह जान लिया कि तुम तत्त्वरहित ऐसे हो, जैसे दीपोंके लिए अन्धकार ॥ २२ ॥

हे चित्त, तुम शठके द्वारा दीर्घकाल तक उपरुद्ध मेरा सम्पूर्ण देहरूपी घर शम, दम, विचार, प्रबोध आदि साधुओंके संसर्गसे वर्जित हुआ था ॥ २३ ॥

हे चित्त, प्रेतके सदृश आकारवाले जड़ तुम्हारे मनरूपी शठके चले जानेपर मेरा देहरूपी यह घर शम, दम आदि समस्त साधुओंके द्वारा सेवा करने योग्य हो गया ॥ २४ ॥

हे जगत्‌रूपी चित्तवेताल, शठरूप तुम पहले ही नहीं थे, वर्तमानकालमें भी नहीं हो और आगे भी नहीं रहोगे, इस प्रकार तीनों कालोंमें निषिद्ध किये गये भी तुम इस समय जो अपनी स्थिति बनाये रक्खे हो, उसके लिए तुम्हें क्या लज्जा नहीं आती, आश्चर्य है तुम्हारी निर्लज्जताका ॥ २५ ॥

यदि तुमको लज्जा है तो तुम मेरे घरसे बाहर निकल जाओ, ऐसा कहते हैं—'सह' इत्यादिसे।

हे चित्तरूपी वेताल, तृष्णारूपी पिशाचिनियोंके तथा क्रोध आदि गुह्यकोंके साथ तुम मेरे शरीररूपी घरसे बाहर निकल जाओ ॥ २६ ॥

दिष्टया विवेकमात्रेण निर्गतो देहमन्दिरात् ।
प्रमत्तश्चित्तवेतालः कुवृकः कन्दरादिव ॥ २७ ॥
अहो नु चित्रं सुमहज्जडेन क्षणभङ्गिना ।
मनःशठेन सर्वोऽयं नीतो विवशतां जनः ॥ २८ ॥
कस्ते पराक्रमः किं ते बलं कस्ते समाश्रयः ।
यदि वल्गसि मामेकं जनानां बाधसे मृतम् ॥ २९ ॥
सर्वथैवाऽसि न मया दीनचित्तक मार्यसे ।
मृतमित्यवबुद्धं त्वमद्य केवलमज्ञ हे ॥ ३० ॥
एतावन्तमहं कालं त्वां ज्ञात्वा जीवदास्थिति ।
श्लिष्टः प्रभूतसङ्गासु चिरं संसृतिरात्रिषु ॥ ३१ ॥

हे चित्त, भाग्यवश केवल आत्मा और अनात्माके विवेकमात्रसे तुम प्रमत्त चित्तरूपी वेताल मेरे देहरूपी मन्दिरसे ऐसे निकल गये हो जैसे गुफासे दुष्ट क्रूर भेड़िया ॥ २७ ॥

चित्तके द्वारा ठगे गये पुरुषोंके विषयमें शोक करते हैं—'**अहो**' इत्यादिसे ।

बड़े आश्चर्य कि बात है कि महान् जड़ एवं एकक्षणमात्रमें विनष्ट हो जानेवाले शठ मनके द्वारा यह समस्त जनसमूह विवशताको प्राप्त हो गया है ॥ २८ ॥

हे चित्त, मनुष्योंके बीचमें मरनेवाले देहमें आत्मबुद्धि रखनेवाले स्वतः मृत मनुष्यके प्रति यदि तुम गर्जते हो तो तुम्हारा क्या पराक्रम है, क्या बल है और क्या समाश्रय है ? यदि एक अद्वितीय आत्मतत्त्वस्वरूपको समझनेवाले मेरे प्रति आकर तुम गर्जो, तो मैं तुम्हारा पराक्रम, बल और समाश्रय समझूँ ॥ २९ ॥

हे अज्ञानी गरीब चित्त, मैं आज तुमको मारता नहीं हूँ यानी तुम्हारा वध नहीं करता, क्योंकि तुम पहलेसे ही मर चुके हो, यह मैंने जान लिया है । यही तुम्हारा वध है ॥ ३० ॥

हे चित्त, इतने कालतक तुम्हारा अस्तित्व (स्वरूपसत्ता) जीवितकी नाईं था, यह जानकर प्रभूतसङ्गवाली संसाररात्रियोंमें तुम्हारे साथ तादात्म्यभावको प्राप्त हुआ था ॥ ३१ ॥

चित्तं मृतं हि नाऽस्तीदमित्यद्याऽधिगतं मया ।
तेन त्वदाशां संत्यज्य तिष्ठाम्यात्मनि केवलम् ॥ ३२ ॥
दिष्ट्या चित्तं मृतमिति ज्ञातमद्य मया स्वयम् ।
न शठेन समं नेयं समग्रं जीवितं निजम् ॥ ३३ ॥
उत्सार्य देहसदनान्मनःशठमहं क्षणात् ।
अहं स्वस्थः स्थितोऽस्म्यन्तर्वेतालपरिवर्जितः ॥ ३४ ॥
चित्तवेताललब्धेन चिरं कालं मयाऽऽत्मना ।
कृता विकारा विविधाः स्वयं स्मृत्वा हसाम्यहम् ॥ ३५ ॥
चिरान्निपातितो दिष्ट्या विचारासिपरार्दितः ।
हृद्गेहाच्चित्तवेतालस्तालोत्तालसमुन्नतिः ॥ ३६ ॥

चित्त निस्तत्त्व है, अतः उसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता—यह मैंने आज जान लिया, इसलिए तुम्हारी आशाका परित्याग कर केवल अपने स्वरूपभूत आत्मामें स्थित रहता हूँ ॥ ३२ ॥

भाग्यवश चित्त निस्तत्त्व है, यह मैंने आज स्वयं जान लिया। बोधके अनन्तर जीवन्मुक्तोंको चित्तशून्य होकर ही अवशिष्ट आयुका क्षपण करना उचित है, यह कहते हैं—'न शठेन'से। अतः शठ मनके साथ अपने समस्त जीवनका क्षपण नहीं करना चाहिए ॥ ३३ ॥

काम, क्रोध, लोभ आदि शठोंके उत्सवभूत मनको देहरूपी घरसे क्षणभरमें निकालकर मैं वेतालसे शून्य होकर भीतरसे स्वस्थ होकर अवस्थित रहता हूँ ॥ ३४ ॥

चिरकालतक चित्तरूपी वेतालके द्वारा ठगे गये उसके स्वरूपभूत मैंने अनेक तरहके विकारोंको उत्पन्न किया; अब मैं स्वयं परमार्थभूत होकर उन विकारोंका स्मरण कर हँसता हूँ ॥ ३५ ॥

भाग्यवश बहुतकालके अनन्तर अब विचाररूपी तलवारसे कदर्थित चित्तरूपी वेतालको, जो तालवृक्षके सदृश उत्तुङ्ग ऊँचाईसे युक्त है, हृदयमन्दिरसे हटा दिया ॥ ३६ ॥

प्रशान्ते चित्तवेताले पवित्रां पदवीं गते ।
दिष्ट्या शरीरनगरे सुखं तिष्ठामि केवलम् ॥ ३७ ॥
मृतं मनो मृता चिन्ता मृतोऽहङ्काररराक्षसः ।
विचारमन्त्रेण समः स्वस्थस्तिष्ठामि केवलम् ॥ ३८ ॥
किं मनो मे ममाऽऽशा का को मेऽहङ्कारको भवेत् ।
दिष्ट्या व्यर्थं कलत्रं मे नष्टमेतदशेषतः ॥ ३९ ॥
एकस्मै कृतकृत्याय नित्याय विमलात्मने ।
निर्विकल्पचिदाख्याय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४० ॥
न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न चैवाऽहमहं स्वयम् ।
न च नाऽहं न चाऽन्योऽहं मह्यमेव नमो नमः ॥ ४१ ॥
न ममाऽऽशा न कर्माणि न संसारो न कर्तृता ।
न भोक्तृता न देहो मे मह्यमेव नमो नमः ॥ ४२ ॥

चित्तरूपी वेतालके शान्त हो जानेपर और काम आदि मलोंका अभाव होनेसे पवित्र पदवीके यानी इन्द्रियोंके द्वारभूत मार्गको प्राप्त करने पर अब उत्तम भाग्यसे शरीररूपी नगरमें केवल मैं सुखपूर्वक अवस्थित हूँ ॥ ३७ ॥

विचाररूपी मन्त्रसे मन मर गया, चिन्ता मर गई और अहंकाररूपी राक्षस भी मर गया, अब समस्त विषमताओंसे रहित तथा स्वस्थ होकर केवल मैं ही स्थित हूँ ॥ ३८ ॥

कौन मेरा मन है ? कौन मेरी आशा है और कौन मेरा तुच्छ अहङ्कार है ? भाग्यसे मेरा निरर्थक यह पोष्यवर्ग अशेषरूपसे विनष्ट हो गया ॥ ३९ ॥

अब अवशिष्ट निरतिशयानन्दैकरसस्वरूप आत्माको श्रद्धातिशयसे नमस्कार करते हैं—**'एकस्मै'** इत्यादिसे ।

एक, कृतकृत्य, अविनाशी, विमलस्वरूप तथा निर्विकल्प चैतन्यनामधारी मद्रूप ही आत्माको बार-बार नमस्कार हैं ॥ ४० ॥

मुझे न तो शोक है और न मोह है। न मैं अहमभिमानप्रधान जड़-अंशस्वरूप ही स्वयं हूँ । मैं अहंकार यानी प्रत्यक् चिदात्मस्वरूप नहीं हूँ, ऐसा नहीं है, किन्तु प्रत्यक्-चैतन्यस्वरूप हूँ । मैं भेदका आश्रय नहीं हूँ यानी अद्वितीय हूँ । मद्रूप ही आत्माको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ ४१ ॥

न मुझे इच्छा है, न मेरे कर्म हैं, न मेरा संसार है, न मुझमें कर्तृता

नाऽहमात्मा न वा कोऽन्यो नाऽहमस्मि न चेतरः ।
सर्वमेवाऽहमेतस्मै मह्यमेव नमो नमः ॥ ४३ ॥
अहमादिरहं धाता चिदहं भुवनान्यहम् ।
मम नाऽस्ति व्यवच्छेदो मह्यमेव नमो नमः ॥ ४४ ॥
निर्विकाराय नित्याय निरंशाय महात्मने ।
सर्वस्मै सर्वकालाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४५ ॥
नीरूपाय निराख्याय प्रकाशाय महात्मने ।
स्वयमात्मैकसंस्थाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४६ ॥
समां सर्वगतां सूक्ष्मां जगदेकप्रकाशिनीम् ।
सत्तामुपगतोऽस्म्यन्तर्मह्यमेव नमो नमः ॥ ४७ ॥

है, न मुझमें भोक्तृता है और न मेरी देह है। मद्रूप ही आत्माको नमस्कार हैं ॥ ४२ ॥

मैं आत्मा यानी आत्मशब्दजन्य प्रतीतिका विषय नहीं हूँ, मैं अनात्मा भी नहीं हूँ, तत्त्वदृष्टिसे अतिरिक्त ऐसे किस पदार्थकी संभावना की जा सकती है, जो मेरे स्वरूप हो सके, इसी प्रकार अहंशब्दजन्य प्रतीतिका विषय और उससे भिन्न मैं नहीं हूँ, ऐसी स्थितिमें स्वेतरकी अप्रसिद्धि होनेसे स्वयं ही मैं सर्वस्वरूप और सर्वात्मक ही हूँ, यह अर्थ है; ऐसे मद्रूप ही आत्माको नमस्कार हैं ॥ ४३ ॥

मैं ही आदि यानी भुवनोंका कारण हूँ, मैं ही धाता यानी धारण करनेवाला हूँ, मैं चित्स्वरूप हूँ, मैं भुवनस्वरूप हूँ, मेरा त्रिविधपरिच्छेद नहीं हो सकता, ऐसे मद्रूप आत्माको ही बार-बार नमस्कार हैं ॥ ४४ ॥

विकारशून्य, नित्य, अंशशून्य, विशालतम, सर्वस्वरूप तथा सर्वकालात्मक यानी सनातन मद्रूप आत्माको ही बार-बार नमस्कार हैं ॥ ४५ ॥

रूपशून्य, नामशून्य, प्रकाशरूप, महदाकृति तथा स्वयं एक आत्ममात्रमें स्थिति रखनेवाले मद्रूप आत्माको ही बार-बार नमस्कार हैं ॥ ४६ ॥

मैं सर्वत्र समरूप, सर्वत्र व्यापक, सूक्ष्म और जगत्को एकमात्र प्रकाशित करनेवाली सत्ताको भीतरसे प्राप्त हुआ हूँ, ऐसे मद्रूप प्रत्यगात्माको ही नमस्कार हैं ॥ ४७ ॥

सादृयब्ध्युर्वीनदी सेयं नाऽहमेवाऽहमेव वा ।
जगत्सर्वं पदार्थाढ्यं मह्यमेव नमो नमः ॥ ४८ ॥

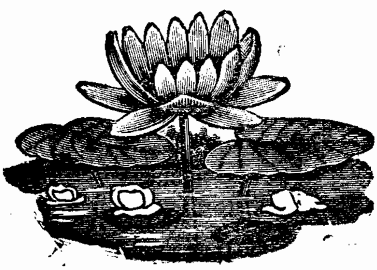
व्यपगतमननं समाभिरामं
प्रकटितविश्वमविश्वमप्यनन्तम् ।
स्वयमजमजरं गुणादतीतं
वपुरहमच्युतमीश्वरं नमामि ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे दृश्यदर्शनसम्बन्धो नामाऽशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, नदी—इनसे युक्त प्रसिद्ध यह वर्तमान दृश्यश्री मद्रूप नहीं ही है, इसी प्रकार अतीत, अनागत पदार्थोंसे परिपूर्ण यह जगत् भी मद्रूप नहीं ही है। अथवा उक्त सभी मद्रूप ही हैं, ऐसे मद्रूप प्रत्यगात्माको बार-बार नमस्कार हैं ॥ ४८ ॥

चूँकि मनके समस्त विकल्प विनष्ट हो चुके हैं, इसलिए सम और अत्यन्त अभिराम, समस्त विश्वका आविर्भाव करनेवाले, स्वतः विश्ववर्जित, अनन्त, स्वस्वरूप, अजन्मा, जरारहित, समस्त गुणोंसे शून्य तथा अविनाशी ईश्वरके स्वरूपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४९ ॥

अस्सी सर्ग समाप्त



एकाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं विचार्य बुद्ध्वाऽन्तः पुनरित्थं विचार्यते ।
तत्त्वविद्भिर्महाबाहो ज्ञेय आत्मा महात्मभिः ॥ १ ॥
आत्मैवेदं जगदिति सत्यं चित्तेन मार्जितम् ।
उत्थितं स्यात्कुतश्चित्तमहो चित्तमवस्तु यत् ॥ २ ॥
अविद्यत्वादचित्तत्वान्मायात्वाच्चाऽसदेव हि ।
ध्रुवं नाऽस्त्येव वा चित्तं भ्रमादन्यत्खवृक्षवत् ॥ ३ ॥
सिद्धः स्थाणुपरिस्पन्दो नौगतस्य यथा शिशोः ।
अबुद्धस्य न बुद्धस्य तथा चित्तमसन्मयम् ॥ ४ ॥

इक्यासी सर्ग

[पूर्वमें अनेक प्रयत्नोंसे देहरूपी घरसे निर्वासित हुए चित्तरूपी वेतालकी असत्ताका अनुभव और युक्तिसे उपपादन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे महाबाहो, पूर्वोक्त प्रकारसे भली प्रकार विचारके द्वारा भीतरसे तत्त्वज्ञानको प्राप्तकर 'आत्मा ही अवश्य ज्ञातव्य है' इसलिए विचार-तत्त्वको जाननेवाले महात्मा लोग फिर चित्तके विषयमें वक्ष्यमाण रीतिसे विचार करते हैं ॥ १ ॥

जिस चित्तके द्वारा 'यह समस्त जगत् आत्मस्वरूप ही है' इस प्रकारके अपरोक्ष साक्षात्कारसे जगत् परिमार्जित किया गया है, वह चित्त कहाँसे उत्पन्न हुआ ? यह अत्यन्त आश्चर्य है, क्योंकि जगत्के अवस्तुस्वरूप होनेसे उसके अन्तर्गत हुआ चित्त भी स्वयं अवस्तुस्वरूप ही है ॥ २ ॥

चित्त अवस्तुरूप ही है, इसका साधन करते हैं—'**अविद्यत्वात्**' इत्यादिसे । जैसे आकाशवृक्ष भ्रमवश अन्यरूपसे प्रतीत होता है, वास्तवमें वह विशुद्ध आकाशस्वरूप ही है, उससे पृथक् आकाशवृक्ष नहीं है यानी असत् है, वैसे ही चित्त जड़, चित्तान्तरसे शून्य और मायाका कार्य होनेसे निश्चयरूपसे असत् ही है, वह केवल विशुद्ध आत्मस्वरूप ही है ॥ ३ ॥

जैसे नौकामें अवस्थित अज्ञानी बालकको तटवर्ती स्थाणुमें प्रतीत होने-

मौर्ख्यमोहभ्रमे शान्ते चित्तं नोपलभामहे ।
चक्रारोहभ्रमस्याऽन्ते पर्वतस्पन्दनं यथा ॥ ५ ॥
एवं हि चित्तं नाऽस्त्येव ब्रह्मैवाऽस्ति तथात्मकम् ।
पदार्थभावनाश्चित्तात्तेनाऽसत्या मयोज्झिताः ॥ ६ ॥
जातोऽस्मि शान्तसन्देहः स्थितोऽस्मि विगतज्वरः ।
यथा तिष्ठामि तिष्ठामि तथैव विगतैषणः ॥ ७ ॥
चित्ताभावे परिक्षीणा बाल्यतृष्णादयो गुणाः ।
आलोकोपरमे चित्रा वर्णाख्या इव संविदः ॥ ८ ॥
मृतं चित्तं गता तृष्णा प्रक्षीणो मोहपञ्जरः ।
निरहङ्कारता जाता जाग्रत्यस्मिन्प्रबुद्धवान् ॥ ९ ॥

वाला गति आदि परिस्पन्द केवल भ्रान्तिसे ही दिखाई पड़ता है, वैसे ही यद्यपि अज्ञानीको चित्त दीखाई पड़ता है तो भी आत्मज्ञानी तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें वह है ही नहीं, किन्तु असन्मय ही है ॥ ४ ॥

मूर्खताप्रयुक्त मोहरूपी विभ्रमके शान्त हो जानेपर हम लोगोंको चित्तका वैसे अनुभव नहीं होता, जैसे तेल या ऊखको पेरनेके यन्त्रके ऊपर आरोहण करनेसे उत्पन्न परिभ्रमणके बाद आरोहीको पर्वतमें परिभ्रमणका अनुभव नहीं होता ॥ ५ ॥

उक्त युक्तियोंसे चित्तका अस्तित्व है ही नहीं, चित्तात्मक केवल ब्रह्मका ही अस्तित्व है, चूँकि बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंकी भावनाएँ असदात्मक चित्तसे ही विस्तारको प्राप्त होती हैं, इसलिए असत्स्वरूप उनका मैंने परित्याग कर दिया ॥ ६ ॥

मेरे समस्त सन्देह शान्त हो चुके हैं, समस्त चिन्ताज्वरोंसे वर्जित होकर मैं अवस्थित हूँ, जिस पारमार्थिक स्वभावसे मैं अवस्थित रहता हूँ, उसी पारमार्थिक स्वभावसे इस समय स्वानुभवसे भी इच्छाओंसे निर्मुक्त होकर स्थित हूँ ॥ ७ ॥

जैसे आलोकका उपराम हो जानेपर विभिन्न-विभिन्न रूपोंका प्रकाशन करनेवाली चक्षुरादिसे जनित संवित्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं, वैसे ही चित्तका उपराम हो जानेपर चंचल तृष्णा आदि दुर्गुण विनष्ट हो गये ॥ ८ ॥

चित्त मर गया, तृष्णाएँ चली गयीं, मोहरूपी पंजर भली प्रकार क्षीण हो

एकमेव जगच्छान्तं नानात्वं न सदित्यपि ।
किमन्यद्विमृशाम्यन्तः कथयैवाऽलमेतया ॥ १० ॥
निराभासमनाद्यन्तं पदं पावनमागतः ।
सौम्यः सर्वगतः सूक्ष्मः स्थित आत्माऽस्मि शाश्वतः ॥ ११ ॥
यदस्ति यच्च नाऽस्तीह चित्ताद्यात्माद्यवस्तु च ।
तत्खादच्छतरं शान्तमनन्ताग्राह्यमाततम् ॥ १२ ॥
चित्तं भवतु मा वाऽन्तर्म्रियतां स्थितिमेतु वा ।
को विचारणयाऽर्थो मे चिरं साम्योदितात्मनः ॥ १३ ॥
विचाराकारको मौर्ख्यादहमासं मितस्थितिः ।
विचारेणाऽमिताकारः क्व नामाऽहं विचारकः ॥ १४ ॥

गया, अहंभावना विशीर्ण हो गयी और इस अहंरूप आत्माके अज्ञानरूपी निद्रासे वर्जित होनेपर मैंने अपने स्वाभाविक स्वरूपको जान लिया ॥ ९ ॥

जगत् शान्त होकर अद्वितीय परब्रह्मस्वरूप ही हो गया और भेद वस्तुसत् है ही नहीं, इसलिए मैं दूसरे किस विषयका विचार करूँ ? इन असदर्थोंकी कथासे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥ १० ॥

चिदाभासस्वरूप, जीवस्वरूपसे वर्जित, आदि और अन्तसे शून्य, परमपावन पदको मैं प्राप्त हुआ हूँ । मैं सौम्य, सर्वत्र व्यापक, अतिसूक्ष्म, सनातन आत्मस्वरूपसे स्थित हूँ ॥ ११ ॥

इस लोकमें व्यवहारदृष्टिसे और श्रुतिदृष्टिसे क्रमशः चित्त आदि एवं आत्मा आदि जो अस्तित्वरूपसे प्रसिद्ध वस्तुरूप पदार्थ हैं तथा रज्जु-सर्प आदि एवं वन्ध्यापुत्र आदि जो नास्तित्वरूपसे प्रसिद्ध अवस्तुरूप पदार्थ हैं, वह सब आकाशसे भी अत्यन्त निर्मल, स्वप्रकाश, शान्त, असीम, व्यापकस्वरूप ब्रह्मात्मक ही हैं, क्योंकि उसीमें सत्-असद्रूप विकल्पोंका आरोप होता है ॥ १२ ॥

चित्त रहे या न रहे, वह भीतरसे मर जाय या जिन्दा रहे, उसके विषयमें विचार करनेसे मेरा कौन-सा प्रयोजन है ? क्योंकि मैं तो चिरकालसे समरूपसे उदित आत्मस्वरूप हूँ ॥ १३ ॥

मैं तो इतने समयतक मूर्खतावश नित्यानित्यवस्तुके विषयमें किसी प्रकारका

मृतेऽपि मनसीयं मे विकल्पश्रीर्निरर्थिका ।
मनोवेतालवृत्त्यर्थं किमर्थमुपजायते ॥ १५ ॥

तामिमां प्रजहाम्यन्तः सङ्कल्पकलनामिति ।
निर्णीयोमिति शान्तात्मा तिष्ठाम्यात्मनि मौनवत् ॥ १६ ॥

अश्नन् गच्छन्स्वपंस्तिष्ठन्निति राघव चेतसा ।
सर्वत्र प्रज्ञया तज्ज्ञः प्रत्यहं प्रविचारयेत् ॥ १७ ॥

प्रविचार्य स्वसंस्थेन स्वस्थेन स्वेन चेतसा ।
तिष्ठन्ति विगतोद्वेगं सन्तः प्रकृतकर्मसु ॥ १८ ॥

विचार न कर रहा केवल परिच्छिन्न देहादिके स्वभावसे युक्त होकर वर्तमान था । सम्प्रति विचारसे अपरिच्छिन्न आत्मस्वभाव होकर विचार करनेवाला मैं कहाँ चला गया, इसका निरूपण करनेमें असमर्थ हूँ ॥ १४ ॥

मनके मर जानेपर 'विचार करनेवाला है या नहीं' इस प्रकारकी निरर्थक विकल्पश्री भी मनरूपी वेतालके पुनर्जीवनके लिए क्यों उत्पन्न होती है, इसलिए उस विकल्पश्रीका मैं परित्याग करता हूँ ॥ १५ ॥

तथोक्त इस भीतरी संकल्प-कलनाका परित्याग करता हूँ, इस प्रकारका निश्चयकर ॐकारके लक्ष्यभूत तुरीय आत्मामें मौनकी नाई शान्तात्मा होकर स्थिर रहता हूँ ॥ १६ ॥

किये गये विचारका उपसंहार कर रहे महाराज वसिष्ठजी उसकी निरन्तर कर्तव्यताको कहते हैं—**'अश्नन्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, खाते, जाते, सोते और स्थित रहते सदा-सर्वदा सर्वत्र उस प्रकारकी प्रज्ञासे युक्त चित्तसे तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रतिदिन भली प्रकार विचार करे ॥ १७ ॥

आत्मस्वरूपमें अवस्थित, स्वस्थ अपने चित्तसे भली प्रकार विचार करके सत्पुरुष अपने-अपने वर्ण और आश्रमोंके अनुसार प्राप्त हुए कर्मोंमें किसी प्रकारका उद्वेग किये विना स्थित रहते हैं ॥ १८ ॥

विगतमानमदा मुदिताशयाः
शरदुपोढशशाङ्कसमत्विषः ।
प्रकृतसंव्यवहारविहारिण-
स्त्विह सुखं विहरन्ति महाधियः ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे चित्तासत्ताप्रतिपादनं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

विचार एवं विदुषा संवर्तेन कृतः पुरा ।
कथितो मम विन्ध्याद्रौ तेनैव विदितात्मना ॥ १ ॥

जिनका मान और मद विगलित हो चुका है, जिनका अन्तःकरण प्रमुदित है, जिनकी शरदृतुसे समन्वित चन्द्रमाकी नाईं चिक्कन प्रसन्न मुखकान्ति है और जो प्राप्त हुए शास्त्रानुमोदित व्यवहारोंमें विहार करनेवाले हैं, ऐसे असीम बुद्धिवाले महापुरुष इस संसारमें सुखपूर्वक विचरण करते हैं ॥ १९ ॥

इक्यासी सर्ग समाप्त

——:o:——

बयासी सर्ग

[आत्माकी एकाग्रताकी सिद्धिके लिए निरर्थक चेष्टादि हेतुओंसे देह, इन्द्रिय और मनको वीतहव्यके द्वारा बोधन]

पूर्वमें किया गया विचार साम्प्रदायिक है, इसे बतलाते हैं—**'विचारः'** इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, पहले आपके सामने मैंने जिस विचारका दिग्दर्शन किया है, उस विचारको पहले विद्वान् संवर्तने (बृहस्पतिके छोटे भाईने) किया था । विन्ध्याचल पर्वतके ऊपर उसी आत्मतत्त्वज्ञ संवर्तने उक्त विचारको मुझसे कहा था ॥ १ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य विचारपरया धिया ।
संसारसागरादस्मात् तारतम्येन संतर ॥ २ ॥
अथेमामपरां राम शृणु दृष्टिं पदप्रदाम् ।
मुनिना वीतहव्येन यया स्थितमशङ्कितम् ॥ ३ ॥
वीतहव्यो महातेजा विबभ्राम वने पुरा ।
विन्ध्यशैलदरीर्दीर्घा रविर्मेरुदरीरिव ॥ ४ ॥
अस्मात्क्रियाक्रमाद्घोरात् संसारभ्रमदायिनः ।
आधिव्याधिमयाकारात् कालेनोद्वेगमाययौ ॥ ५ ॥
निर्विकल्पसमाध्यंशलभ्योदारपरेच्छया ।
स जहार जगज्जीर्णां स्वव्यापारपरम्पराम् ॥ ६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारप्रचुर बुद्धिसे इसी दृष्टिका अवलम्बन कर आप इस संसारसागरके उत्तरोत्तर चित्तकी विश्रान्तिके प्रकर्ष-परिपाकसे जनित भूमिकारोहण-क्रमसे पार हो जाइये ॥ २ ॥

हे श्रीरामजी, अब आप इस दूसरी इन्द्रिय और मनकी प्रबोधरूपिणी दृष्टिका, जो परमपदको प्रदान करनेवाली है, श्रवण कीजिए, इसीसे महामुनि वीतहव्यने निःशङ्क परमपदको प्राप्त किया था ॥ ३ ॥

पहले महान् तेजस्वी वीतहव्य मुनि अरण्यमें समाधिके लिए अनुकूल विन्ध्य-पर्वतकी विस्तृत गुफाको खोजते हुए उस प्रकार परिभ्रमण कर रहे थे, जिस प्रकार सहस्रांशु (सूर्य) मेरुपर्वतकी गुफाओंको खोजते हुए परिभ्रमण कर रहे हो ॥ ४ ॥

वीतहव्यको समाधिकी इच्छा कैसे हुई, इसे कहते हैं—**'अस्मात्'** इत्यादिसे ।

किसी समयकी बात है कि संसाररूपी भ्रमको देनेवाले तथा घोर, आधि और व्याधिमय आकारवाले इस सांसारिक क्रियाकलापोंसे महामुनि वीतहव्य उद्विग्न हो उठे ॥ ५ ॥

केवल निर्विकल्पक समाधिसे प्राप्त होनेवाले उदार परब्रह्मको जाननेकी इच्छासे ही उक्त महामुनिने जगत्-रूपी जीर्ण-शीर्ण अपने व्यापारोंकी परम्पराका उपसंहार कर लिया यानी उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया ॥ ६ ॥

विवेश रम्भारचितं निजं पर्णोटजान्तरम् ।
कृतगौरं सुसौगन्ध्यमलिर्नीलमिवोत्पलम् ॥ ७ ॥

तत्राऽऽसने समे शुद्धे स्वास्तीर्णहरिणाजिने ।
विशश्रामाऽचले शान्ते वीतवर्ष इवाऽम्बुदः ॥ ८ ॥

बद्धपद्मासनस्तस्थौ पार्ष्ण्योरधिकराङ्गुलिः ।
शृङ्गवच्छान्तचलनमतिष्ठत् स्पष्टकन्धरम् ॥ ९ ॥

स जहाराऽलमालोकाद्दिग्विकीर्णं मनः शनैः ।
विशन्मेरुदरीं सायं भानुर्भास इवोत्करम् ॥ १० ॥

बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैव स्पर्शान्परिजहत् क्रमात् ।
इदमाकलयामास मनसा विगतैनसा ॥ ११ ॥

उसके बाद जैसे भ्रमर नीलकमलमें प्रवेश करता है, वैसे ही महामुनि वीतहव्यने कदली-पत्रोंसे विनिर्मित अपनी पर्णकुटीमें, जिसमें कदलीद्वारा श्वेत कर्पूरकी रचना की गयी थी अतएव जो सुगन्धसे पूर्ण थी, प्रवेश किया ॥७॥

महामुनि वीतहव्यने उस पर्णकुटीमें अपने द्वारा बिछाये गये सम और शुद्ध मृगचर्मके आसनके ऊपर उस प्रकार विश्रान्ति ली, जिस प्रकार बरस चुका मेघ तापशून्य पर्वतके ऊपर विश्रान्ति लेता है ॥ ८ ॥

पद्मासन बाँधकर, पैरके तलवोंके मूलके ऊपरी भाग पर हाथकी अंगुलियोंको रखकर तथा अपनी ग्रीवाको ऊँची तानकर उस प्रकार निश्चल होकर बैठे, जिस प्रकार निश्चल शृङ्ग (शिखर) ॥ ९ ॥

जैसे सायंकालके समयमें मेरुपर्वतकी कन्दरामें प्रवेश कर रहा भानु अपनी दीप्तिकिरणोंका अपनेमें उपसंहार कर लेता है, वैसे ही महामुनि वीतहव्यने इन्द्रियालोकरूपी कारणसे दिशाओंमें बिखरे हुए मनको उसके निग्रहके उपायोंसे धीरे-धीरे यानी आगे कहे जानेवाले प्रबोधन-क्रमसे अपने हृदयमें उपसंहार कर लिया ॥ १० ॥

तदनन्तर बाह्य और आभ्यन्तर स्पर्शोंका यानी बाह्य इन्द्रियोंके तथा भीतरी मनके विषयरूपी स्पर्शोंका परित्याग कर रहे उस महामुनिने पापशून्य मनसे क्रमशः यह (आगे कहा जानेवाला) विचार किया ॥ ११ ॥

अहो नु चञ्चलमिदं प्रत्याहृतमपि क्षणात् ।
न मनःस्थैर्यमायाति तरङ्गप्रौढपर्णवत् ॥ १२ ॥
चक्षुरादिभिरुद्दामै रूपैराहितसम्भ्रमैः ।
अजस्रमुत्पतत्येव वीटेव तलताडिता ॥ १३ ॥
त्यजदेवाऽनुगृह्णाति वृत्तीरिन्द्रियवर्धिताः ।
यस्मान्निवार्यते तस्मिन्प्रोन्मत्त इव धावति ॥ १४ ॥
घटात्पटमुपायाति पटाच्छकटमुत्कटम् ।
चित्तमर्थेषु चरति पादपेष्विव मर्कटः ॥ १५ ॥
पञ्चद्वाराणि मनसश्चक्षुरादीन्यमून्यलम् ।
दग्धेन्द्रियाभिधानानि तावदालोकयाम्यहम् ॥ १६ ॥

अत्यन्त आश्चर्यकी बात है कि यह मन इतना चंचल है—क्षणमात्रके लिए किसी एक निश्चित विषयमें लगाया हुआ भी उस प्रकार स्थिरताको प्राप्त नहीं होता, जिस प्रकार तरङ्गोंके द्वारा बहाया गया पत्ता स्थिरताको प्राप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

निरङ्कुश चक्षु आदि इन्द्रियोंसे सम्बद्ध संभ्रमरूप अनेकविध विषयस्वरूपोंको लेकर मन निरन्तर उस प्रकार नृत्य करता है, जिस प्रकार करतलसे विताडित गेंद नृत्य करता है ॥ १३ ॥

इन्द्रियोंके द्वारा वर्धित मन पूर्व-पूर्व वृत्तियोंका त्याग करते ही उत्तरोत्तर तदनुसारिणी वृत्तियोंको ग्रहण कर लेता है और जिस विषयसे उसको हटाया जाता है, उसी विषयमें अत्यन्त उन्मत्तकी नाईं दौड़ता है ॥ १४ ॥

मन घटसे पटके ऊपर और पटसे उत्कट शकटके ऊपर कूद जाता है यों यह चित्त अर्थोंके ऊपर उस प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार वृक्षोंके ऊपर बन्दर दौड़ता है ॥ १५ ॥

यों चित्तके दोषोंकी समालोचना करके मुनि वीतहव्यने उसके निर्गमनके द्वारोंकी समालोचना की, यह कहते हैं—'पञ्च०' इत्यादिसे ।

अतिनिन्दित इन्द्रियनामवाले ये चक्षु आदि मनके पाँच द्वार हैं, अब मैं उनके विषयमें भलीभाँति विचार करता हूँ ॥ १६ ॥

हे हे हतेन्द्रियगणाः किं मे बोधाय नेह वः ।
वेला विलुलिताम्बूनामब्धीनामिव चञ्चलाः ॥ १७ ॥
मा कुरुध्वमनर्थाय चापलं चपलाशयाः ।
स्मरताऽतीतवृत्तीनि दुःखजालानि भूरिशः ॥ १८ ॥
रूपाणि मनसो यूयं जडा एव किलाऽधमाः ।
जडे तृप्तिसक्तता व्यर्थं मृगतृष्णेव वल्गति ॥ १९ ॥
असारात्मस्वरूपाणामनालोकवती सदा ।
अन्धानामुद्धृतिर्येयं सादृश्यायैव जायते ॥ २० ॥
चिदात्मा भगवान् सर्वं साक्षित्वेन करोम्यहम् ।
हतेन्द्रियगणा यूयं किं निरर्थकमाकुलाः ॥ २१ ॥

अब इन्द्रियोंको ही भर्त्सनापूर्वक बोधन करते हैं—'हे हे' इत्यादिसे ।

सागरके विलुलित जलोंकी यानी तरङ्गोंकी नाईं अतिचंचल हे हतभाग्य इन्द्रियगण, इस जन्ममें समाधिके द्वारा आत्मदर्शनके लिए अभी तक तुम्हें अवसर प्राप्त नहीं हुआ क्या ? ॥ १७ ॥

हे चंचल-स्वभाववाले इन्द्रियगण, अब तुम लोग अनर्थके लिए चपलता मत करो, अपने दुःखदायक भूतकालीन कर्मोंका तुम बार-बार खूब स्मरण कर लो ॥ १८ ॥

हे इन्द्रियगण, तुम लोग मन ही के अलग-अलग द्वारके रूपोंमें कल्पित, हो, अतएव निश्चित अधम और जड़ ही हो, हम जानते हैं कि जड़में प्रवृत्ति और जलमें तरङ्गरूपी प्रवृत्तिका आश्रयत्व मृगतृष्णिकाकी नाईं मिथ्या है ॥ १९ ॥

अनृत स्वरूपवाले आप लोगोंकी दुर्विनयसे आत्मज्ञानशून्य कुमार्गमें जो प्रवृत्ति है, वह अन्धोंकी ही उपमाके लिए हो सकती है यानी अमार्गमें दौड़ रहे अन्धोंके कूप-पतनकी उपमा हो सकती है, यह भाव है ॥ २० ॥

यदि हम लोग जड़ हैं, तो कौन दर्शन आदिसे सब व्यवहारोंको करता है ? इसपर कहते हैं—'चिदात्मा' इत्यादिसे ।

चिदात्मा भगवत्-स्वरूप मैं साक्षीरूपसे सब कुछ करता हूँ । हे जघन्य इन्द्रियवृन्द, तुम क्यों निरर्थक व्याकुल हो रहे हो ॥ २१ ॥

मिथ्यैव मे विवल्गन्ति नीरूपा नयनादयः ।
अलातचक्रप्रतिमाः सर्परज्जुभ्रमोपमाः ॥ २२ ॥
तेनाऽऽत्मना बहुज्ञेन निर्ज्ञाताश्चक्षुरादयः ।
मनागपि न सम्बन्धो द्युपातालतलाद्रिवत् ॥ २३ ॥
भीतः पान्थ इवाऽहिभ्यः पुक्कसेभ्य इव द्विजः ।
दूरे तिष्ठति चिन्मात्रमिन्द्रियेभ्यस्त्वनामयम् ॥ २४ ॥
चित्सत्तामात्रकेणाऽलं संक्षोभो भवतां मिथः ।
तिष्ठति स्वैरमादित्ये दिनकार्यवतामिव ॥ २५ ॥
चित्तचारणचार्वाकचतुर्दिक्कुक्षिभिक्षुक ।
श्वेव व्यर्थमनर्थाय मैवं विहर हे जगत् ॥ २६ ॥

हे चक्षुरादि इन्द्रियगण, सत्यस्वरूपसे विरहित तुम लोग मेरे प्रति मिथ्या ही गरज रहे हो, तुम लोग अलातचक्रके सदृश और रज्जुमें सर्प-भ्रमके सदृश मिथ्यारूप ही हो ॥ २२ ॥

जिस सर्वावभासक साक्षीस्वरूप प्रत्यगात्माने चक्षु आदि इन्द्रियोंके स्वरूपका भली प्रकार परिज्ञान कर लिया है, उस प्रत्यगात्माके साथ उनका तनिक भी वैसे सम्बन्ध नहीं है, जैसे स्वर्ग और पातालतलमें विद्यमान पर्वतोंका परस्पर सम्बन्ध नहीं है अथवा पातालाद्रियोंके साथ स्वर्गका सम्बन्ध नहीं है ॥ २३ ॥

जैसे सर्पोंसे डरा हुआ पथिक उनसे दूर रहता है और चाण्डालोंसे डरा हुआ ब्राह्मण चाण्डालोंसे दूर रहता है, वैसे ही चिदेकरसस्वरूप दोषशून्य प्रत्यगात्मा इन्द्रियोंसे दूर रहता है ॥ २४ ॥

तब क्यों इन्द्रियोंके व्यापारोंमें आत्माकी कारणता प्रसिद्ध है, इसपर कहते हैं—**'चित्सत्ता०'** इत्यादिसे ।

हे इन्द्रियगण, केवल चैतन्यसत्ताकी सन्निधिसे ही तुम लोगोंकी परस्पर चेष्टा उस प्रकार पूर्णरूपसे रहती है, जिस प्रकार आदित्यके रहनेपर श्राद्ध और कृषि आदि कर्म करनेवाले पुरुषोंके उनके इच्छानुसार तत्-तत् कर्म रहते हैं ॥२५॥

अब ललकार कर चित्तको प्रबुद्ध करते हैं—**'चित्त०'** इत्यादिसे ।

अहं चिद्वदिति व्यर्थमसत्या तव वासना ।
अत्यन्तभिन्नयोरैक्यं नाऽस्ति चिन्मनसोः शठ ॥ २७ ॥
जीवाम्येवाऽहमित्येषा तवाऽहङ्कारदुर्मतिः ।
मिथ्यैव जाता दुःखाय न सत्यासत्यवर्जिता ॥ २८ ॥
अहङ्कारोदये सोऽस्मीत्येतां संरब्धतां त्यज ।
न किञ्चिदपि मूर्ख त्वं किं व्यर्थं तरलायसे ॥ २९ ॥

हे चित्तरूपी चारण (इन्द्रियोंकी बहिर्मुखताके प्रचारमें हेतुभूत), हे चार्वाक (देहमें आत्माभिमान करनेवाले), हे चारों दिशाओंमें उदरभरणके लिए भिक्षा माँगनेवाले, तुम इस जगत्में कुत्तेकी नाईं निरर्थक अनर्थके लिए इस प्रकार विचरण मत करो ॥ २६ ॥

हे शठ, 'मैं चेतनधर्मा हूँ' इस प्रकारकी तुम्हारी वासनारूपी भ्रान्ति मिथ्या और निरर्थक है, क्योंकि परस्पर एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न धर्मवाले चित् और मनकी एकता नहीं हो सकती ॥ २७ ॥

हे चित्त, 'मैं ही जीता हूँ' इस प्रकारकी यह तुम्हारी अहंकाररूपी दुर्बुद्धि दुःखके लिए मिथ्या ही उत्पन्न हुई है । वह सत्य नहीं है, क्योंकि वह परमात्म-स्वरूपसे वर्जित है । निष्कर्ष यह है कि अहंकारके अधीन जीवन सत्यभूत नहीं हो सकता, क्योंकि उसके (अहंकारके) न रहते हुए भी सुषुप्तिमें जीवन देखनेमें आता है । अहंबुद्धि मिथ्यास्वरूप ही है, क्योंकि सत्यभूत परमात्माका तनिक भी उसमें सम्बन्ध नहीं है । इस विषयमें श्रुति भी है—'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥' (मरणधर्मा न प्राणोंसे और न अपानसे जीता है, प्रत्युत दूसरी वस्तुसे—ब्रह्मसे—ही जीता है, जिसमें ये प्राण और अपान समाश्रित हैं) ॥ २८ ॥

हे चित्त, अहंकारका यानी अभिमानरूप तुम्हारे परिणामका जब आविर्भाव होता है, तब 'कार्य-कारणसंघातरूप मैं ही हूँ' इस प्रकारका जो तुम अभि-मान करते हो, उसे छोड़ दो । हे मूर्ख, तुम कुछ भी नहीं हो, इसलिए क्यों व्यर्थ चंचल हो उठते हो ॥ २९ ॥

संविच्चित्त्वमनाद्यन्तं संविदोऽन्यन्न विद्यते ।
देहेऽस्मिंस्तन्महामूर्ख किं त्वं स्याश्चित्तनामकम् ॥ ३० ॥
विषपर्यवसानेयं रसायनवदुत्थिता ।
भोक्तृताकर्तृताशङ्का बत चित्त मुधैव हि ॥ ३१ ॥
मोपहासपदं गच्छ मूर्खेन्द्रियगणाश्रयम् ।
न कर्ता त्वं न भोक्ता त्वं जडोऽस्यन्येन बोध्यसे ॥ ३२ ॥
कस्त्वं भवसि भोगानां के वा भोगा भवन्ति ते ।
जडस्याऽऽत्मैव ते नाऽस्ति बन्धुमित्रादि तत्कुतः ॥ ३३ ॥
यज्जडं तद्धि नाऽस्त्येव सदेवाऽसत्तयाऽन्वितम् ।
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वमन्यत्वानामसंभवात् ॥ ३४ ॥

जब तुम्हारा स्वरूप ही दुर्लभ है, तब तुम्हारा अभिमानके द्वारा दूसरोंकी रक्षा करना तो दूरतः ही निरस्त है, इस आशयसे कहते हैं—**'संविद्'** इत्यादिसे ।

संविद्रूपी चैतन्य अनादि और अनन्त है, संविद्से दूसरा कुछ भी नहीं है, इसलिए हे महामूर्ख, इस शरीरमें चित्तनामवाले तुम कौन हो ॥ ३० ॥

हे चित्त, दुःखका विषय है कि भोगके उत्तर क्षणमें विषमें पर्यवसित होनेवाली और भोगकालमें अमृतके समान उत्थित यह तुम्हारी कर्तृत्व, भोक्तृत्वकी आशंका (अभिमानिता) व्यर्थ ही है ॥ ३१ ॥

हे मूर्ख चित्त, चक्षु आदि इन्द्रिय-गणोंका आश्रयण कर तुम उपहासके पात्र मत होओ । तुम न तो कर्ता हो और न भोक्ता हो, किन्तु जड़ हो । तुम दूसरे साक्षीके द्वारा बोधित होते हो ॥ ३२ ॥

भोगानुभवकी सामर्थ्यसे वर्जित, जड़ एवं मिथ्याभूत तुम्हारी भोगाभिलाषा निरर्थक ही है, ऐसा कहते हैं—**'कस्त्वम्'** इत्यादिसे ।

हे चित्त, तुम भोगोंके कौन होते हो अथवा भोग तुम्हारे कौन होते हैं ? जड़स्वरूप तुम्हारा जब स्वरूप (अस्तित्व) ही नहीं है, तब बन्धु, मित्र आदि तुम्हारे कैसे हो सकते हैं ॥ ३३ ॥

जो जड़स्वरूप है, उसका अस्तित्व है ही नहीं । जैसे जपाकुसुमकी लालिमासे

प्रत्यक्चेतनरूपश्चेत्त्वं तदात्मैव ते वपुः ।
भावाभावमयी चित्त सत्ता ते केव दुःखदा ॥ ३५ ॥
यथा कर्तृत्वभोक्तृत्वे मिथ्यैवाऽधिगते त्वया ।
मया ते हि प्रमार्ज्येते शृणु युक्त्या कथं शनैः ॥ ३६ ॥
स्वयं तावद्भवानेष जडो नाऽस्त्यत्र संशयः ।
जडस्य कीदृक्कर्तृत्वं नृत्यन्तीह कथं शिलाः ॥ ३७ ॥
उपजीव चिरं तस्माच्छुद्धं तद्भागमैश्वरम् ।
जीवसीच्छसि हंसि त्वं वृथा यासि विवल्गसि ॥ ३८ ॥

स्फटिकमें लालिमा दिखाई पड़ती हैं, वैसे ही परमात्माके अस्तित्वसे जड़में अस्तित्व दिखाई पड़ता है। स्वयं तो असत्तासे समन्वित है। ज्ञातापन, कर्तापन, भोक्तापन और पूर्वापर अनुसन्धानका कर्तापन—ये सब चैतन्यके बिना नहीं हो सकते ॥ ३४ ॥

जब ऐसी स्थिति है, तब मैं (चित्त) प्रत्यक्-चेतनस्वरूप ही क्यों न कहा जाऊँ ? ऐसी आशङ्का होनेपर तब तो तुम्हारी निर्विकल्पक ही स्थिति युक्तियुक्त है, दुःखप्रद कर्तृत्व-भोक्तृत्वभावाभावरूपा विकल्पमयी स्थिति युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—'प्रत्यक्' इत्यादिसे ।

हे चित्त, 'प्रत्यक् चेतनस्वरूप ही मैं हूँ' इस प्रकार तुम अपनेको प्रत्यक्-चेतनरूप मानते हो, तो तुम्हारा स्वरूप आत्मा ही हुआ, ऐसी स्थितिमें दुःखप्रद भावाभावमयी तुम्हारी सत्ता कैसी ? निखिल विकल्पोंका त्याग हो जानेपर तुम्हारी चित्तस्वरूपता हो ही नहीं सकती, यह भाव है ॥ ३५ ॥

यदि तुम अपनेको अचेतनरूप मानोगे, तो अनायास ही कर्तृत्व आदिका परिमार्जन कर सकते हो, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

हे चित्त, तुमने जिस रीतिसे जिन मिथ्या कर्तापन और भोक्तापन दोनोंको जान लिया है, उनका मैं युक्तिसे किस प्रकार परिमार्जन कर देता हूँ, उसे धीरेसे सुनो ॥ ३६ ॥

हे चित्त, यह तुम अपने आप ही जड़भूत हो, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। भला बतलाओ तो सही, जड़में कैसे कर्तापन रह सकता है। क्या यहाँ पत्थरकी मूर्तियाँ भी किसी प्रकार नाच सकती हैं ॥ ३७ ॥

हे चित्त, यदि तुम यह कहो कि पत्थरकी प्रतिमा किसी अन्य चेतनके

क्रियते यत्तु यच्छक्त्या तत्तेनैव कृतं भवेत् ।
लुनाति दात्रं पुंशक्त्या लावकः प्रोच्यते पुमान् ॥ ३९ ॥
हन्यते यस्तु यच्छक्त्या स तेनैव हतो भवेत् ।
निहन्ति खड्गः पुंशक्त्या हन्तैव प्रोच्यते पुमान् ॥ ४० ॥
पीयते यस्तु यच्छक्त्या पीतं तेनैव तद्भवेत् ।
पात्रेण पीयते पानं पाता यस्तूच्यते नरः ॥ ४१ ॥
प्रकृत्यैवाऽसि सुजडः समस्तज्ञेन बोध्यसे ।
तेनाऽऽत्मैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं चिनोतीदं हि नो भवत् ॥ ४२ ॥

व्यापारसे नाच करती हुई देखी जाती है, तो इसपर मैं तुम्हें यह सदुपदेश देता हूँ कि तुम भी उस ईश्वरके चिदाभासरूपी अंशसे दीर्घकाल तक अपना जीवन-निर्वाह करो, स्वतः तुम अपना जीवन निभाह नहीं सकते । ऐसी स्थितिमें प्रतिमाके नर्तनरूपी फलका उपभोक्ता जैसे चेतन ही है, प्रतिमा नहीं है, वैसे ही तुम्हारे द्वारा किये गये जीवन आदि फलोंका उपभोक्ता चिदात्मा ही है, अतः तुम जीवन, अभिलाष, हनन, गमन और गर्जनके लिए वृथा ही दौड़-धूप करते हो ॥ ३८ ॥

जिसकी शक्तिसे जो किया जाता है, वह उसीके द्वारा किया हुआ होगा । पुरुषकी शक्तिसे हँसुआ काटता है, पर काटनेवाला पुरुष कहलाता है ॥ ३९ ॥

जिसकी शक्तिसे जिसका हनन किया जाता है, वह उसीके द्वारा हत कहा जायगा, पुरुषकी शक्तिसे तलवार हनन करती है, पर हनन करनेवाला पुरुष ही कहा जाता है ॥ ४० ॥

जिसकी शक्तिसे जो पिया जाता है, वह उसीके द्वारा पिया गया कहा जायगा, पात्रके द्वारा जल आदि पिये जाते हैं, पर जो मनुष्य है, वही पीनेवाला कहा जाता है, पात्र नहीं ॥ ४१ ॥

हे मेरे प्यारे चित्त, तुम स्वभावसे ही जड़ हो, पर उसी सर्वज्ञ साक्षीके द्वारा बोधित होते हो, क्योंकि आत्मा ही अपना अपनेसे भोक्ता, भोग्य, करण, उपकरण आदि जगत्के रूपसे स्वप्नकी नाईं सर्जन करता है ॥ ४२ ॥

अनारतं बोधयति त्वामात्मा परमेश्वरः ।
बोधनीया बुधैर्मूढाः किलाऽऽवृत्तिशतैरपि ॥ ४३ ॥
आत्मसत्तैव बोधैकरूपिणी स्फुरतीह हि ।
तयैव चित्तशब्दार्थावङ्गीकृत्य त्वया स्थितम् ॥ ४४ ॥
एवं चित्त त्वमज्ञानादात्मशक्तेरुपागतम् ।
ज्ञाने त्वया विगलितं तीव्रे हिममिवाऽऽतपे ॥ ४५ ॥
तस्मान्मृतं त्वं मूढं त्वं नाऽसि त्वं परमार्थतः ।
तदेवाऽहमिति व्यर्थमतो माऽस्त्वसुखाय ते ॥ ४६ ॥
असत्या चित्तकलना इन्द्रजाललता इव ।
विज्ञानमात्रमेवेह ब्राह्ममङ्गं विजृम्भितम् ॥ ४७ ॥

हे चित्त, आत्मारूपी परमात्मा ही निरन्तर तुम्हें चिदाभास-व्याप्तिसे बोध प्रदान करते हैं, क्योंकि सैकड़ों बार आवृत्ति करके भी पण्डित लोगोंने मूर्खोंको बोध देना ही चाहिए ॥ ४३ ॥

इसलिए बोधसत्ताके अधीन ही तुम्हारा नाम और रूपसे स्वरूप-लाभ है, ऐसा कहते हैं—'आत्मसत्तैव' इत्यादिसे ।

हे चित्त, चूँकि इस ब्रह्माण्डमें केवल बोधमात्रस्वरूप आत्मसत्ता ही स्फुरित होती है, इसलिए उसी आत्मसत्तासे तुमने नाम और अर्थको प्राप्त कर अपना अस्तित्व बना रक्खा है ॥ ४४ ॥

इस स्थितिमें हे चित्त, आत्मा ही अपने अज्ञानसे तुम्हारे जैसा हुआ है और अपने ज्ञानसे तुम्हारे भावसे मुक्त हो जाता है, ऐसा कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

हे चित्त, इस प्रकार तुम अज्ञानरूपी आत्मशक्तिसे ही प्राप्त हुए हो । ज्ञान होनेपर तुम ऐसे विगलित हो जाते हो, जैसे तीव्र आतपमें हिम ॥ ४५ ॥

इससे तुम तत्त्वरहित हो, तुम मूढ हो और परमार्थदशामें तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं है । इसलिए तुम्हें 'मैं तत्स्वरूप हीं हूँ' ऐसा निरर्थक तादात्म्याध्यास, जन्म आदि दुःखके लिए, मत होवे ॥ ४६ ॥

ऐन्द्रजालिक लताकी नाईं चित्तकी कल्पना मिथ्या है । इस ब्रह्माण्डमें विज्ञानमात्रस्वभाव ब्रह्मका ही स्वरूप सर्वोपरि विराजित है ॥ ४७ ॥

नरामरजगद्रूपैर्ब्राह्मी शक्तिरुदेत्यलम् ।
सामुद्रकणकल्लोलजालैर्वेलेव वल्गति ॥ ४८ ॥
चिन्मयश्चेद्भवेर्मूढ तत्तस्मात् परमात्पदात् ।
नित्यमव्यतिरिक्तं त्वं किमन्यत्परिशोचसि ॥ ४९ ॥
सर्वगं सर्वभावस्थं सर्वरूपं हि तत्पदम् ।
तत्प्राप्तौ सर्वमेवाऽज्ञ प्राप्तं भवति सर्वदा ॥ ५० ॥
न त्वमस्ति न देहोऽस्ति ब्रह्माऽस्तीह महत् स्फुरत् ।
अहं त्वमिति निस्पन्दे स्फुरत्यार्तिर्हि कस्य का ॥ ५१ ॥
आत्मा चेत्त्वं तदात्मैव सर्वगोऽस्तीह नेतरः ।
आत्मनोऽन्यज्जडत्वं चेत्तत्त्वं नाऽस्त्यस्ति तद्वपुः ॥ ५२ ॥

ब्राह्मी शक्तिसे यानी चितिशक्तिसे युक्त माया ही मनुष्य, देवता और समस्त जगत्के रूपोंसे आविर्भूत है । और तत्-तत् रूपोंसे वह ऐसी गर्जती है, जैसे समुद्रके तरङ्गोंके कल्लोलोंसे संवलित तट गर्जता हो ॥ ४८ ॥

हे मूढ, यदि तुम आत्मतत्त्वके परिज्ञानसे चिन्मय हो जाओगे, तो चिद्भेदके सम्पादक कारणके न रहनेसे तुम उस परम पदसे निरन्तर अव्यतिरिक्त-स्वरूपवाले ही हो जाओगे, फिर किसके विषयमें तुम शोक करते हो ॥ ४९ ॥

उस समय अप्राप्त विषयोंका अभाव होनेके कारण विषयशून्य शोककी संभावना ही नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'**सर्वगम्**' इत्यादिसे ।

हे अज्ञानी चित्त, वह परमपद सर्वत्र जानेवाला, अतीत एवं अनागत सब पदार्थोंमें स्थिति रखनेवाला यानी कालकृत परिच्छेदसे शून्य और सबका स्वरूपभूत है, उसकी प्राप्ति हो जानेपर सर्वदा सभी कुछ प्राप्त हो जाता है ॥ ५० ॥

हे चित्त, उस समय ब्रह्मसे न तो तुम पृथक् हो और न देह ही पृथक् है, किन्तु व्यापक एवं प्रकाशस्वभाव ब्रह्मरूप ही सब हैं । चूँकि यहाँ 'अहम्, त्वम्' इस प्रकारका व्यवहार क्रियारहित ब्रह्ममें स्फुरित होता है, इसलिए किसको क्या दुःख होगा ॥ ५१ ॥

कहे गये दोनों कल्पोंको फिर स्पष्ट कहते हैं—'**आत्मा**' इत्यादिसे ।

हे चित्त, तुम यदि आत्मस्वरूप हो जाओगे, तो तत्स्वरूप ही रहोगे, क्योंकि इस संसारमें सर्वत्र व्यापक केवल आत्माका ही अस्तित्व है, उससे भिन्न दूसरे

आत्मैव सर्वं त्रिजगत्तदन्यत्तु न किञ्चन ।
तत्त्वं किञ्चित्त्वमात्माऽन्यद्यदि तत्त्वं न किञ्चन ॥ ५३ ॥
अहं त्विदमहं तन्म इति व्यर्थं किमीहसे ।
असद्वपुः किं स्फुरति शशशृङ्गेण को हतः ॥ ५४ ॥
तृतीया कलना नाऽस्ति चिज्जडांशेतरा शठ ।
छायातपनयोर्मध्ये तृतीयेवाऽनुरञ्जना ॥ ५५ ॥

किसीका अस्तित्व नहीं है। यदि कहो कि जड़का अस्तित्व है? तो वह पृथक् तत्त्व ही नहीं है, परन्तु ब्रह्मरूप ही है। समस्त तीनों जगत् आत्मस्वरूप ही हैं, आत्मासे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं है। इसलिए यदि तुम आत्मासे पृथक् किसी वस्तुके रूपमें अपनेको मानोगे, तो तुम कुछ भी नहीं हो यानी तुम परमार्थ-रूप हो ही नहीं ॥ ५२, ५३ ॥

हे चित्त, मैं बालशरीर हूँ, मैं वृद्धशरीर हूँ, बालशरीरके सम्बन्धी क्रीडाके उपकरण आदि और वृद्धशरीरके सम्बन्धी पुत्र, पौत्र आदि मेरे हैं— इस प्रकार निरर्थक इच्छा क्यों करते हो, क्योंकि आत्मस्वरूप हो जानेवालेकी दृष्टिमें देह पारमार्थिक नहीं रहती, क्या असत्-शरीर यानी असत् स्वरूपवाला कहीं प्रस्फुरित होता है? यदि कहो कि हाँ, तो बतलाओ कि कौन शशशृङ्गके द्वारा मारा गया ॥५४॥

तब चित् और अचित्से पृथक् तृतीय स्वरूपवाला ही मैं क्यों न होऊँ, तो इसपर कहते हैं—'तृतीया' इत्यादिसे ।

हे शठ, जैसे इस जगत्में छाया और आतप इन दोके बीचमेंसे किसी एकका ही अनुरञ्जन (सम्बन्ध) सब पदार्थोंमें रहता है, तीसरे किसीका अनुरञ्जन नहीं रहता है, वैसे ही चित् और जड़ इन दो अंश-कलनाओंको छोड़कर भिन्न तीसरी कोई कलना ही नहीं रहती ॥ ५५ ॥

तब मेरा तात्त्विक स्वरूप क्या है? ऐसी चित्तकी आशङ्का होनेपर 'अन्तिम आत्मसाक्षात्कारात्मक वृत्तिसे अविद्याके साथ तुम्हारी जड़ता और तुम्हारे अन्दर रहनेवाले चिदाभासका क्षय हो जानेपर चरम साक्षात्कारसे आविर्भूत जो स्वप्रकाश पूर्णात्माका स्वरूप है, वही तुम्हारा तात्त्विक स्वरूप है, वही तुम हो, ऐसा कहते हैं —'सत्या०' इत्यादिसे ।

सत्यावलोकनाज्जाते चित्तजाड्यदृशोः क्षये ।
संपद्यते यत्तु तज्जं स्वसंवेदनमात्रकम् ॥ ५६ ॥
तेन मूढ न कर्तृत्वं न भोक्तृत्वं तवाऽपि हि ।
तदेवाऽसि परं ब्रह्म त्यज मौर्ख्यं भवाऽऽत्मवान् ॥ ५७ ॥
केवलं ज्ञत्वविषयमुपदेशार्थसिद्धये ।
त्वया करणभूतेन करोत्यात्मेति कथ्यते ॥ ५८ ॥
असत्स्वरूपं करणं जडं निरवलम्बनम् ।
निःस्पन्दनं न स्पन्देत कर्तृसम्बोधनं विना ॥ ५९ ॥

त्रिकालमें बाधित न होनेवाले आत्माके साक्षात्कारसे चित्त और उसकी जड़ताका क्षय हो जानेपर जो उससे (चरम यथार्थ साक्षात्कारसे) आविर्भूत स्वसंवेदनमात्र स्वरूप है, वही चित्तका तात्त्विक स्वरूप है ॥ ५६ ॥

हे मूढ, इस कारण तुम्हारेमें न तो कर्तृता है और न भोक्तृता भी है । तुम उक्त परब्रह्मस्वरूप ही हो, इससे मूर्खताका परित्याग करो और आत्मवान् हो जाओ ॥ ५७ ॥

यदि मैं आत्मस्वरूप ही हूँ, तो 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (मनसे ही आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए), 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' (मनसे ही इसको प्राप्त करना चाहिए) इत्यादि श्रुतियोंमें मुझको आत्म-प्राप्तिका उपकरण क्यों बतलाया गया है ? तो इसपर कहते हैं—**'केवलम्'** इत्यादिसे ।

अज्ञान-दशामें ही आत्मशास्त्र और आचार्यके द्वारा किये गये उपदेशोंके प्रयोजनकी सिद्धिके लिए करणरूपसे कल्पित तुम्हारे द्वारा आत्मा शुद्धस्वरूप अपने तत्त्वको अन्तिम साक्षात्कारका विषय करता है, यह उक्त श्रुति द्वारा कहा जाता है । जैसे अपने मुखके स्वरूपको देखनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष दर्पणरूप उपाधिके ऊपर अधिरूढ अपने मुखरूप ही करणसे मुखको देखता है, वैसे ही प्रकृतमें समझना चाहिए ॥ ५८ ॥

यदि तुम करणोंका स्वभाव ही अपना स्वभाव मानते हो, तो चलनेमें भी तुम्हारी स्वतः सामर्थ्य नहीं है, इसलिए तुम्हारा कर्तृत्व-अभिमान व्यर्थ ही है, ऐसा उपपादन करते हैं—**'असत्स्वरूपम्'** इत्यादिसे ।

स्वतः स्पन्दन-शक्तिसे रहित, असत्-स्वरूपवाला तथा अवलम्बनवर्जित जड़रूप

अकर्तुः करणस्याऽस्य शक्तिः काचिन्न विद्यते ।
दात्रस्य लावकाभावे कर्तुं किमिव शक्तता ॥ ६० ॥
खड्गप्रहारविच्छेदक्रियायां पुंसि शक्तता ।
न खड्गे सुजडे चित्त सर्वाङ्गेष्वपि शक्तता ॥ ६१ ॥
तस्मान्नाऽसि सखे कर्ता मा व्यर्थं दुःखभाग्भव ।
परार्थं क्लिशिता मूर्ख प्राकृतेषु न शोभते ॥ ६२ ॥
ईश्वरो नेदृशः शोच्यो यस्त्वया सदृशो भवेत् ।
न च तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ॥ ६३ ॥

करण चैतन्यके द्वारा सम्पादित कर्तव्यार्थ-प्रकाशके बिना स्पन्दन नहीं कर सकता ॥ ५९ ॥

कर्ताके द्वारा अधिष्ठित न हुए इस करणमें किसी प्रकारकी शक्ति नहीं रह सकती, काटनेवाला यदि न हो तो क्या हँसुएमें कुछ करनेकी शक्ति रह सकती है ॥ ६० ॥

हे चित्त, खड्गप्रहार और तदुत्तरभावी छेदन क्रियाके लिए पुरुषमें ही शक्ति है। अत्यन्त जड़ तलवारमें मूलसे लेकर समस्त अवयवरूप उपकरणोंके होते हुए भी उक्त शक्ति नहीं रह सकती ॥ ६१ ॥

हे मित्र, तुम कर्ता नहीं हो, इसलिए निरर्थक दुःखभागी मत होओ। हे मूर्ख, पामरके सदृश प्रकृतिके कार्योंमें दूसरेके लिए क्लेश सहना शोभा नहीं देता ॥ ६२ ॥

यदि शङ्का हो कि मोहसे जीवरूपताको प्राप्त हुए अशनाया आदिसे पीड्यमान ईश्वरकी मैं उपेक्षा कैसे कर सकता हूँ, अतः उसके लिए अनेक प्रयत्नोंसे संघटित हो रहा मैं ईश्वरके विषयमें शोक करता हूँ ? तो इसपर कहते हैं—'ईश्वरः' इत्यादिसे।

जो तुम्हारे सदृश होगा, उसीके लिए तुम्हें शोक करना चाहिए, ईश्वर तो तुम्हारे सदृश है नहीं, अतः उसका क्या शोक करोगे। क्योंकि न तो उसका कोई कृत कर्मसे ही यहाँ प्रयोजन है और न कोई अकृत अकर्मसे ही प्रयोजन है ॥ ६३ ॥

गर्वात्तूपकरोम्येनमिति केवलमल्पधीः ।
क्लिश्यते वसतां त्वर्थो न किञ्चिदुपयुज्यते ॥ ६४ ॥
कर्तुर्भोगेश्वरस्यैवमर्थे चेदनुवर्तसे ।
तदस्य काचिन्नेच्छेह तृप्तत्वात् सर्वदैव हि ॥ ६५ ॥
अकृत्रिमावभासेन सर्वगेन चिदात्मना ।
एकेनैवेदमापूर्णं कल्पनैवाऽस्ति नेतरा ॥ ६६ ॥
एकानेकावभासेन समस्तेन तदात्मना ।
आत्मन्येवाऽन्तरात्माऽन्तः क्रियते किं किमिष्यते ॥६७॥

हे चित्त, कार्यकारणसंघातके अभिमानसे 'इस आत्माका मैं उपकार करता हूँ' इस भ्रमसे तुम परिच्छिन्न बुद्धिको पीडित करते हो । संघातमें रहनेवाले पाँच प्राण, मन, बुद्धि और दस इन्द्रिय सभी अचेतन होनेके कारण उनका भोगोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है, इसलिए किसीका किसीके लिए कुछ भी उपयोग नहीं होता, यह भाव है ॥ ६४ ॥

अतः परिशेषसे ईश्वरके लिए ही तुम्हें प्रवृत्ति कहनी चाहिए, पर उसका तो उत्तर कहा ही गया है, ऐसा कहते हैं—**'कर्तुः'** इत्यादिसे ।

हे चित्त, यदि तुम्हारा यह अभिप्राय है कि भोगके स्वामी कर्ता परमात्मा-के लिए मेरी तथोक्त प्रकारकी अर्थोंमें प्रवृत्ति है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि भोगके स्वामी परमात्माकी कुछ भी इच्छा नहीं है, कारण कि वह सदा ही तृप्त है ॥ ६५ ॥

परमात्मा परिपूर्ण और अद्वितीय है, अतः उसको इच्छा नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—**'अकृत्रिमा०'** इत्यादिसे ।

स्वभातः प्रकाशस्वभाव, सर्वत्र व्यापक, अद्वितीय चैतन्यात्माने ही इस समस्त ब्रह्माण्डको व्याप्त कर भर रक्खा है, इसलिए दूसरी कोई कल्पना ही नहीं है ॥ ६६ ॥

समस्त जगत्की परमात्माने ही अपने स्वरूपमें कल्पना की है, अतः कोई वस्तु अलभ्य न होनेसे परमात्माको जगत्में किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'एका०'** इत्यादिसे ।

त्वादृशस्य तु दृष्टैव क्षुब्धता जायते मुधा ।
आलोक्य राजमहिषीं यूनो मदमयी तथा ॥ ६८ ॥
आत्मना सह सम्बद्धं चेतः कर्त्रसि सुन्दर ।
किन्तु नाऽस्याऽसि सम्बन्धि कुसुमस्य यथा फलम् ॥ ६९ ॥
द्वितीयेन समं यैषा तत्तावद्भवनैकता ।
सा सम्बन्धगतिः प्रोक्ता प्राग्द्वित्वादधुनैकता ॥ ७० ॥

अविद्याप्रयुक्त एक और अनेकके प्रकाशक, समस्तस्वरूप आत्माने अपनी ही आत्माके अन्दर जगत्का निर्माण किया है, ऐसी स्थितिमें सब कुछ प्राप्त होनेसे अन्तरात्मा किसकी इच्छा करेगा ॥ ६७ ॥

यदि सभी कुछ ईश्वरका ही है, तो उसमें मेरी इच्छा कैसे हुई ? इसपर कहते हैं—**'त्वादृशस्य'** इत्यादिसे ।

हे चित्त, तुम्हारे जैसे मूर्खोंकी दृष्टिसे ही इस जगत्में व्यर्थ क्षोभ उस प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार राजाकी स्त्रीको देखकर मूर्ख युवाको मदमयी अवस्था उत्पन्न होती है ॥ ६८ ॥

तब उस परमात्माके ही साथ सम्बन्ध स्थापन कर मैं उसके अनुग्रहसे भोगोंको प्राप्त करूँगा ? इसपर कहते हैं—**'आत्मना'** इत्यादिसे ।

[आत्माके साथ सम्बन्ध बाँधनेकी इच्छाके कारण] हे सुन्दर चित्त, तुम आत्माके साथ अपना सम्बन्ध करनेकी इच्छा रखते हो, परन्तु तुम उसके सम्बन्धी यानी सम्बन्धके योग्य उसी प्रकार नहीं हो सकते, जिस प्रकार कुसुमके सम्बन्धके योग्य फल नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि कुसुमसे उत्पन्न हुआ भी फल कुसुमसे बहिर्मुख होनेके कारण कुसुममें रहनेवाले सौगन्ध आदिके उपभोगहेतु सम्बन्धके योग्य नहीं होता, क्योंकि फलकी अभिवृद्धि होनेपर कुसुमका तिरोभाव हो जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए ॥ ६९ ॥

सम्बन्धकी अयोग्यताका उपपादन करनेके लिए मुख्य सम्बन्धका लक्षण कहते हैं—**'द्वितीयेन'** इत्यादिसे ।

हे चित्त, एक पदार्थकी क्रियासे या उभय पदार्थोंकी क्रियाओंसे एक पदार्थके दूसरे पदार्थमें मिल जानेसे एकका दूसरेमें जो अन्तर्भाव हो जाता है या उस

नानाप्रकाररचना नानारूपक्रियोन्मुखी ।
सुखदुःखदशाऽहेतुर्भवान्नैकविधा स्मृता ॥ ७१ ॥
सम्बन्धः समयोर्दृष्टस्तथाऽर्धसमयोरपि ।
न विलक्षणयोश्चाऽन्यस्तस्मिन् सति जगत्त्रये ॥ ७२ ॥
द्रव्यान्तरगुणा द्रव्याण्याश्रयन्ति बहून्यलम् ।
संविदश्च्यवनं दुःखं संविदो मा च्युतो भव ॥ ७३ ॥

अन्तर्भावसे जो ऐक्य हो जाता है, वही सम्बन्धका फलतः लक्षण है, यों सम्बन्ध-लक्षण विद्वानोंके द्वारा कहा गया है। वैसा सम्बन्ध द्वैतावस्थामें ही हो सकता है, पर अब द्वैत है नहीं, किन्तु अद्वैत है, अतः सम्बन्ध कैसे ? ॥ ७० ॥

हे चित्त, तुम उक्त मुख्य सम्बन्धमें हेतु नहीं हो यानी मुख्य सम्बन्धके लिए अयोग्य हो, क्योंकि तुम स्वतः एकप्रकारके नहीं हो, तुम्हारे कार्य भी नाना-प्रकारके हैं और नानाप्रकारकी विहित और निषिद्ध क्रियाओंकी ओर झुकी हुई तुम्हारी सुख-दुःखदशाएँ भी चारों ओरसे प्रसिद्ध हैं ॥ ७१ ॥

जो सम हैं, उनका यानी क्षीर और क्षीरका, जो अर्धसम हैं, उनका यानी क्षीर और नीरका भी परस्पर सम्बन्ध देखा गया है। परन्तु जो विलक्षण हैं यानी अग्नि और जलकी नाईं अत्यन्त विरुद्ध हैं, उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि विरोधियोंका जमघट होनेपर तो एकका विनाश ही देखा जाता है, सम्बन्धका अवस्थान नहीं देखा जाता ॥ ७२ ॥

यदि शङ्का हो कि शब्द, स्पर्श, रूप आदि परस्पर विरुद्ध गुणवाले भी सूक्ष्म भूतोंका पञ्चीकरण द्वारा जैसे सम्बन्ध होता है, वैसे ही मेरा आत्माके साथ सम्बन्ध क्यों नहीं होगा ? तो इसपर कहते हैं—'द्रव्यान्तर०' इत्यादिसे।

शब्द, स्पर्श आदि विरुद्ध गुणवान् पदार्थोंमें परस्पर विरुद्धता नहीं है, क्योंकि दूसरे द्रव्योंके गुण भी परस्पर मेलनमें पञ्चीकृत द्रव्योंका आश्रयण करते हैं। जैसे कहा है—

'शब्दैकगुणमाकाशं शब्दस्पर्शगुणो मरुत् ।
शब्दस्पर्शरूपगुणैस्त्रिगुणं तेज उच्यते ॥
शब्दस्पर्शरूपरसगुणैरापश्चतुर्गुणाः ।
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः पञ्चगुणा मही ॥'

एतावतैकध्यानेन नित्यध्यानोऽथवाऽऽत्मदृक् ।
अभावे दुःखदस्याऽन्तर्दशा दृश्यस्य वस्तुनः ॥ ७४ ॥
सङ्कल्पोन्मुखतां विद्धि दुःखदां संविदश्च्युतिम् ।
जडेषूपलभूतेषु मनोदेहेन्द्रियादिषु ॥ ७५ ॥
कीदृशी कर्तृता चित्त पुष्पं व्योम्नि कथं भवेत् ।
निरस्तकलनापङ्के मननध्वंसरूपिणि ॥ ७६ ॥

(आकाश केवल शब्द गुणवाला है, वायु शब्द और स्पर्श गुणवाला है, तेज शब्द, स्पर्श और रूप—इन तीन गुणोंसे तीन गुणवाला कहा जाता है, जल शब्द, स्पर्श रूप और रस—इन चार गुणोंसे युक्त है और पृथ्वी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँच गुणोंसे युक्त है)। प्रकृतमें संवित् और जड़ताका विरोध होनेसे जडरूप तुम्हारे द्वारा यदि संवित् च्युत हो जायगी तो साधकके अभावसे जड़ अंश सिद्ध ही नहीं होगा, ऐसी स्थितिमें तुम्हारी ही असिद्धिका प्रसङ्गरूप दुःख प्राप्त हो जायगा। यदि संवित्के द्वारा तुम च्युत हो जाओगे तो तुमने अपने ही विनाशके लिए आत्मसम्बन्धकी इच्छा की, यह प्राप्त होगा। इसलिए आत्माके साथ सम्बन्ध चाहनेवाले तुम उभयथा भी संवित्से च्युत न हो, यह तात्पर्य है ॥ ७३ ॥

अथवा आत्मज्ञानसे तुम्हारे जैसे दुःखप्रद दृश्योंका उच्छेद हो जानेपर दुःखशून्य निरतिशयानन्दात्ममात्रका परिशेष रह जाता है। यदि इतनेसे तुम सन्तुष्ट रह सकते हो, तो एकाग्र ध्यानसे दीर्घकाल तक अविच्छिन्न समाधिसे युक्त होकर आत्मदर्शी हो जाओ ॥ ७४ ॥

तुमको समाधिमें ही सुख है, न कि सङ्कल्पोन्मुखतामें, क्योंकि शिलाके ऊपर गिरा हुआ झरनेका जल जैसे शिलासे टकराकर अनेक तरह विभक्त हो जाता है, वैसे ही सङ्कल्पोंके द्वारा देह आदिके ऊपर गिरी हुई संवित् इन्द्रियोंके दरवाजोंसे अनेक तरह विभक्त होकर विशीर्ण-सी हो जाती है, अतः वही दुःख है, ऐसा कहते हैं—'**सङ्कल्पो०**' इत्यादिसे।

पाषाणके सदृश जड़ मन, देह, इन्द्रिय आदिमें सङ्कल्पोन्मुखताको तुम दुःखप्रद संवित्की च्युति समझो ॥ ७५ ॥

यदि शङ्का हो कि मैं सङ्कल्प नहीं करता, किन्तु कर्तृत्वस्वभावसे आत्मा ही

न चैवाऽऽत्मनि कर्तृत्वं संभवत्यम्बराङ्गवत् ।
अयं केवलमात्मैव नानानानातयाऽऽत्मनि ।। ७७ ।।
स्फुरत्यब्धिरिवाऽम्भोभिः फेनबुद्बुदवीचिभिः ।
आभासमात्रे सर्वस्मिन् स्फुरत्यस्मिंश्चिदात्मनि ।। ७८ ।।
द्वितीया नाऽस्ति कलना तप्ताङ्गार इवाऽम्बुधौ ।
कलनारहिते देवे देहे मनसि वा जडे ।। ७९ ।।
संवित्संवेद्यनिर्मुक्ता सारं सुन्दर नेतरत् ।
इदमन्यदिदं नाऽन्यच्छुभं वाऽशुभमेव च ।। ८० ।।
इत्यसत्कल्पना नाऽस्ति यथा नभसि काननम् ।
संवेद्यरहितं संविन्मात्रमेवेदमाततम् ।

सङ्कल्प करता है, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'कीदृशी'** इत्यादिसे ।

हे चित्त, कल्पनारूपी पङ्कसे वर्जित तथा सङ्कल्पादि मननके ध्वंसरूप आत्मामें कर्तृता कैसी, क्या कहीं आकाशमें पुष्प किसी तरह उत्पन्न हो सकता है?।। ७६ ।।

जैसे आकाशमें हाथ, पैर आदि अङ्ग हो ही नहीं सकते, वैसे ही आत्मामें कर्तृत्व हो ही नहीं सकता । हे चित्त, तुम्हारे ही द्वारा कल्पित अनेक-रूपता और एकरूपतासे यह आत्मा अपनेमें केवल स्फुरित ही होता है, कल्पना नहीं करता ।। ७७ ।।

जैसे समुद्र अपने अन्दर जलस्वरूप फेन, बुद्बुद और तरङ्गोंसे स्फुरित होता है, वैसे ही आभासमात्रस्वरूप सर्वात्मक इस चिदात्मामें जगत् स्फुरित होता है ।। ७८ ।।

जैसे समुद्रमें तप्त अङ्गार नहीं रह सकता, वैसे ही आत्मामें दूसरी कोई कल्पना ही नहीं रह सकती, इस प्रकार जब आत्मदेवमें कल्पनाका अभाव है तथा मन एवं देह जड़ हैं, तब विवेकदृष्टिसे 'यह अन्य है, यह अन्य नहीं है, यह शुभ है, यह अशुभ है' इत्यादि असत् कल्पनाएँ कल्पकके अभावसे ही नहीं रह सकती । ऐसी स्थितिमें हे सुन्दर चित्त, संवेद्यसे निर्मुक्त संवित् ही सारभूत वस्तु है, दूसरी नहीं ।। ७९, ८० ।।

हे चित्त, जैसे आकाशमें अरण्य नहीं है, वैसे ही पूर्वोक्त असत् कल्पनाएँ

तत्राऽयमहमन्योऽयमित्यसत्कलना कथम् ॥ ८१ ॥
अनादिमति नीरूपे सर्वगे विततात्मनि ।
आरोपयेत् कः कलनामृग्वेदं व्योम्नि को लिखेत् ॥ ८२ ॥
नित्योदिते सकलवस्तुपदार्थसारे
संवित्स्थिते भरितनिर्भरभूरिदिक्कम् ।
आत्मन्यसत्यमिव साधुगतेऽमलत्वात्
क्षीणौ सुखासुखलवौ मम वै स मोहः ॥ ८३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे इन्द्रियानुशासनयोगोपदेशो नाम द्व्यशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

आत्मामें हैं ही नहीं, संवेद्यसे वर्जित केवल संवित् ही इस जगत्के रूपमें विस्तृत हुई है, इसलिए उसमें 'यह मैं हूँ, यह अन्य है' इस प्रकारकी असत् कल्पनाओंका अवसर ही कैसे हो सकता है ? ॥ ८१ ॥

हे चित्त, अनादि, रूपवर्जित, सर्वगामी और व्यापक आत्मामें कल्पनाओंका कौन आरोप कर सकता है ? क्या आकाशमें ऋग्वेद आदि लेख्यमात्रको कोई लिपीबद्ध कर सकता है ? ॥ ८२ ॥

हे चित्त, अपने निर्मल स्वभावसे तुमने जब असंदिग्ध और प्रत्यक्ष रूपसे यह जान लिया कि वस्तुरूपसे प्रसिद्ध तथा पद और अर्थोंमें सारभूत केवल संवित्स्वभाव आत्मा ही समस्त दिशाओंको पूर्ण कर स्थित है, तब मेरे सुख-दुःखोंके लेश उस प्रकार क्षीण हो गये, जिस प्रकार मृगतृष्णामें प्रतीत उदक, रज्जुमें प्रतीत सर्प और शुक्तिमें प्रतीत रजत सत्यज्ञानसे क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि निश्चय ही पूर्वोक्त सुख-दुःखप्रत्यय भ्रान्तिरूप हैं, यथार्थ नहीं हैं ॥ ८३ ॥

बयासी सर्ग समाप्त

त्र्यशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भूयो मुनिवरो धीरो धिया धवलमेधया ।
स्वमिन्द्रियगणं गुप्तो बोधयामास साध्विदम् ॥ १ ॥
तच्चेन्द्रियगणस्याऽर्थे शृणु वक्ष्यामि ते स्फुटम् ।
श्रुत्वा तद्भावनामेत्य परां निर्दुःखतां व्रज ॥ २ ॥
भवतामात्मसत्तैषा दुःखायैवाऽन्तदायिनी ।
असत्यामात्मनः सत्तां तद्भवन्तस्त्यजन्त्विति ॥ ३ ॥
मदीयेनोपदेशेन सत्तैषा भवतां क्षयम् ।
गतैवेति स्फुटं मन्ये यूयं ह्यज्ञानसम्भवाः ॥ ४ ॥

तिरासी सर्ग

[चित्त और इन्द्रियोंके रहते समस्त दोषरूपी अनर्थोंकी प्राप्ति होती है और उनके अभावमें समस्त गुणरूपी सुखकी प्राप्ति होती है, यह वर्णन]

वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, मुनियोंमें श्रेष्ठ धीर उस वीतहव्य मुनिने विशुद्ध धारणासे समन्वित बुद्धिसे एकान्तमें स्थित होकर पुनः अपने इन्द्रियोंको सुन्दर रीतिसे यह बोधन किया ॥ १ ॥

हे श्रीरामजी, इन्द्रियोंके लिए उक्त मुनि वीतहव्यने एकान्तमें स्थित होकर जो बोध-प्रदान किया था, उसको मैं आपसे स्पष्ट कहता हूँ, उसे श्रवण कीजिये। श्रवण करनेसे आप उस भावनाको प्राप्त होकर मुक्त हो जाइए ॥ २ ॥

हे इन्द्रियवृन्द, आप लोगोंकी यह जो अविचारदृष्टिसे प्रसिद्ध आत्म-सत्ता है यानी अपना अस्तित्व है, वह जीवनकालमें अनर्थरूप दुःखका हेतु है और उसके बाद फिर-फिर मृत्यु, नरक आदिको देनेवाला है, इसलिए पूर्वमें प्रदर्शित सद्विचारसे आप लोग अपनी उक्त मिथ्याभूत सत्ताका परित्याग कर दीजिए ॥ ३ ॥

मेरे पूर्वमें किये गये आत्मतत्त्वके उपदेशसे आप लोगोंकी यह मिथ्याभूत सत्ता विनाशको प्राप्त ही हो गई, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि आप अज्ञानसे

स्वसत्ता स्फुटतां याति दुःखाय तव चित्तक।
तप्तकाञ्चनरुल्लासो दाहायैव स्वपार्श्वयोः ॥ ५ ॥
पश्य त्वयि सति भ्रान्तजलकल्लोलसङ्कुलाः।
विशन्ति कालजलधिं संसारसरितां गणाः ॥ ६ ॥
पतन्त्यहमहमिकाविहितान्योन्यचिन्तिताः।
कुतोऽपि दुःखावलयो धारा आसारगा इव ॥ ७ ॥
परिस्फुरत्यपर्यन्ता हृदयोन्मूलनोद्यता।
आक्रन्दकारिणी क्रूरा भावाभावविषूचिका ॥ ८ ॥

उत्पन्न हुए हैं, अतः उपदेशसे अज्ञानका विनाश हो जानेपर सत्ताको प्राप्त नहीं कर सकेंगे ॥ ४ ॥

अब चित्तके प्रति भी वैसा उपदेश देते हैं—'**स्वसत्ता**' इत्यादिसे।

हे तुच्छ चित्त, तुम्हारी अपनी सत्ता केवल तुम्हारे दुःखके लिए ही स्पष्ट-रूपताको उस प्रकार प्राप्त होती है, जिस प्रकार जलते समय तप्त कांचनकी नाईं प्रज्वलित होकर शब्द करनेवाली अग्निमें की गई क्रीड़ा बालक और पक्षियोंके पार्श्व-भागके दाहके लिए होती है ॥ ५ ॥

चित्त और इन्द्रियसमुदायकी सत्तासे हुई अनर्थ-परम्पराको दिखलाते हैं—'**पश्य**' इत्यादिसे।

हे चित्त, तुम देखो कि तुम्हारा अस्तित्व होनेपर भ्रमणशील मूर्खोंके राग, द्वेष आदि तरङ्गोंसे व्याप्त संसाररूपी नदियोंका समूह कालरूपी विशाल समुद्रमें प्रविष्ट हो रहा है ॥ ६ ॥

देखिए, परस्पर एक दूसरोंके अहंकारोंसे होनेवाले एक दूसरोंके वध, पराजय, उत्पीड़न आदिकी चिन्ताओंसे युक्त दुःखकी पंक्तियाँ कहींसे उस प्रकार गिर रहीं है, जिस प्रकार महावृष्टिकी धाराएँ गिर रही हों ॥ ७ ॥

असीम, हृदयका उन्मूलन करनेमें उद्यत, भीषण क्रन्दन करानेवाली तथा क्रूर संपत्ति-विपत्तिरूपी महामारी चारों ओरसे प्रस्फुरित हो रही है ॥ ८ ॥

कासश्वासरणद्भृङ्गा कलेवरजरद्द्रुमे ।
विकसत्यमलोद्योता जरामरणमञ्जरी ॥ ९ ॥
कल्लोलव्यालवलिते शरीरश्वभ्रकोटरे ।
घननीहारखे स्वान्तश्चिन्ताचपलमर्कटी ॥ १० ॥
लोभनाद्यारटत्पक्षी तीक्ष्णया द्वन्द्वतुण्डया ।
कायजीर्णद्रुमादस्माद्गुणखण्डं निकृन्तति ॥ ११ ॥
हृदयावकरं कीर्णमितश्चेतश्च कर्कशः ।
अपवित्रो दुराचारः कुरुते कामकुक्कुटः ॥ १२ ॥
महत्यां मोहयामिन्यामुल्बणोऽज्ञानकौशिकः ।
श्मशान इव वेतालः परिवल्गति हृद्द्रुमे ॥ १३ ॥
एताश्चाऽन्याश्च बह्वयोऽपि त्वयीन्द्रियगणे सति ।
पिशाच्य इव शर्वर्यां प्रवल्गन्त्यशुभश्रियः ॥ १४ ॥

इस शरीररूपी जरजर वृक्षके ऊपर निर्मल तथा प्रकाशमान जरा-मरणरूपी मञ्जरी, जिसमें कास-श्वासरूपी गूँज रहे भ्रमर विद्यमान हैं, विकसित हो रही है ॥९॥

मनोरथोंके तरङ्गरूपी सर्पोंसे वेष्टित, निहाररूपी यानी निबिड जड़तारूपी इन्द्रियोंके छिद्ररूपी द्वारोंसे युक्त शरीरके श्वभ्रकोटरमें (हृदयमें) जालनिर्माणमें व्यग्र, चपल चिन्तारूपी मकरी अपने भीतर घूम रही है ॥ १० ॥

लोभरूपी अपने विलासोंसे शब्द कर रहा चित्तरूपी पक्षी सुख-दुःखरूप तीक्ष्ण चञ्चुसे शम, दम, धर्म आदि फलोंके पुष्परूपी गुणसमुहोंको कतर रहा है ॥ ११ ॥

अपवित्र, दुष्ट आचरण करनेवाला कामरूपी कर्कश मुरगा राग आदि वासनाओंसे व्याप्त मनरूपी कूड़ेके ढेरको इधर-उधर विस्तृत कर देता है यानी बार-बार अपने पैरोंसे फैला देता है ॥ १२ ॥

मोहरूपी महारात्रिमें भयावह अज्ञानरूपी उल्लू हृदयरूपी वृक्षके ऊपर श्मशानमें वेतालकी नाईं चारों ओरसे गर्ज रहा है ॥ १३ ॥

हे इन्द्रियगण, आप लोगोंके विद्यमान रहते ये और इनसे दूसरी भी बहुतसी अशुभश्रियाँ रात्रिमें पिशाचिनियोंकी नाईं गर्जती रहती हैं ॥ १४ ॥

त्वयि त्वसति हे साधो सर्वा एव शुभश्रियः ।
प्रभात इव पद्मिन्यः सालोकं विलसन्त्यलम् ॥ १५ ॥

प्रशान्तमोहमिहिकं राजते हृदयाम्बरम् ।
निर्मलालोकवलितं नीरजस्कतरान्तरम् ॥ १६ ॥

अशङ्कितनभःकोशपतिताकुलपूरवत् ।
नाऽऽपतन्ति विकल्पौघाश्चिरं वैकल्यकारिणः ॥ १७ ॥

सर्वस्याऽऽह्लादनी शान्ता मैत्री परमपावनी ।
अभ्युदेति हृदो हृद्या सुतरोरिव मञ्जरी ॥ १८ ॥

अन्तश्छिद्रवती जाड्ययुक्तायुक्तगुणा स्वयम् ।
चिन्ता शोषमुपायाति हिमदग्धेव पद्मिनी ॥ १९ ॥

अब चित्त और इन्द्रियगणोंके न रहनेपर समस्त गुणोंकी सम्पत्ति दिखलाते हैं—'त्वयि' इत्यादिसे ।

हे साधो चित्त, तुम्हारे विद्यमान न रहते सम्पूर्ण शुभश्रियाँ (आगे कही जानेवाली गुणरूपी श्रियाँ) विवेकरूपी आलोकसे युक्त उस प्रकार पूर्णरूपसे विकसित होती हैं, जिस प्रकार प्रातःकालमें कमलिनियाँ ॥ १५ ॥

मोहरूपी तुषारसे वर्जित, निर्मल विवेकालोकसे समन्वित तथा मनरूपी रजोगुणसे शून्य अब हृदयाकाशरूप ब्रह्म शोभित हो रहा है ॥ १६ ॥

किसी प्रकारकी आशङ्काके बिना आकाशमण्डलमें पतित और वायु आदिसे आकुलित वृष्टिधाराओंकी नाईं विक्षेपोंके हेतु विकल्प-समूह अब नहीं गिरते हैं ॥ १७ ॥

सबको आनन्द देनेवाली, शान्त, परम पवित्र [सब भूतोंमें] मैत्री हृदयमें ऐसे उत्पन्न होती है, जैसे तरुवरमें मनोहर मञ्जरी उत्पन्न होती है ॥ १८ ॥

भीतरसे छिद्रवाली यानी अपूर्णतासे युक्त तथा जड़तासे भरे मूर्खोंमें विद्या, कौशल आदि गुणोंका सम्बन्ध करानेवाली चिन्ता उस प्रकार सूख रही है, जिस प्रकार हिमदग्ध कमलिनी ॥ १९ ॥

आलोकः स्फुटतामन्तरायात्यज्ञानसंक्षये ।
प्रशाम्यत्यम्बुदे व्योम्नि शरदीवाऽर्कमण्डलम् ॥ २० ॥
प्रसन्नं स्फारगाम्भीर्यमक्षुब्धमपराहतम् ।
हृदयं समतामेति शान्तवात इवाऽर्णवः ॥ २१ ॥
अमृतापूरपूर्णेन नित्यानन्दमयेन च ।
स्थीयते पुरुषेणाऽन्तः शीतेन शशिना यथा ॥ २२ ॥
संविदः स्फुटतामन्तरायान्त्यज्ञानसंक्षये ।
संविदंशैकविश्रान्तं समग्रं सचराचरम् ॥ २३ ॥
भाव्यते भरिताकारं वपुरानन्दमन्थरम् ।
न भवत्यसुसङ्ग्रानामाशापाशविधायिनाम् ॥ २४ ॥

अज्ञानका विनाश होनेपर हृदयमें अपने ज्ञानका प्रकाश उस प्रकार प्रकट-रूपताको प्राप्त हो रहा है, जिस प्रकार शरत्कालमें मेघोंके शान्त हो जानेपर आकाशमें सूर्यमण्डल प्रकटरूपताको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

वायुके शान्त होनेपर समुद्र जैसे समताको प्राप्त करता है, वैसे ही प्रसन्न, विशाल गाम्भीर्यसे युक्त, क्षोभशून्य तथा विषमताके सम्पादक हेतुओंसे पराजित न हुआ मन समताको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

आत्मारामरूपी अमृत-प्रवाहसे पूर्ण तथा अविनाशी आनन्दसे प्रचुर पुरुष शीतलतासे युक्त होकर भीतर उस प्रकार स्थित रहता है, जिस प्रकार शीतल चन्द्रमा ॥ २२ ॥

अज्ञानका विनाश हो जानेपर आत्माकार वृत्तियाँ भीतरसे पूर्णताके सम्पादक विकासको प्राप्त करती हैं और उससे समग्र चराचरयुक्त जगत् बाधित होकर केवल संविदंशमात्रमें विश्रान्त हो जाता है ॥ २३ ॥

केवल संविन्मात्रमें विश्रान्ति हो जानेपर आत्मस्वरूपका, जो निरतिशयानन्दसे व्याप्त है, पूर्णरूपसे अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव आशारूपी फाँसीको उत्पन्न करनेवाले प्राण-सम्बद्ध देह आदिकी विद्यमानता-दशामें नहीं होता । अथवा संविदेक-विश्रान्ति हो जानेपर शरीर ब्रह्मानन्दके आविर्भावसे मन्थर (भारी) होकर मानो अमृतके प्राशनसे भरिताकार (पूर्णरूप) अनुभूत होता है, परन्तु यह अनुभव

दग्धानामिव पर्णानां रसानां पुनरागतिः ।
पुंसां क्षपितसंसारजराजन्ममहाध्वनाम् ॥ २५ ॥
अपुनर्भ्रमणायाऽऽत्मद्रुमे विश्रम्यते चिरम् ।
एवंप्रायास्तथाऽन्याश्च भवन्ति गुणसम्पदः ॥ २६ ॥
असति त्वयि सर्वाशिन् सर्वाशाक्षयसंक्षये ।
पक्षयोरेतयोश्चित्त सत्तासत्तास्वरूपयोः ।
येनैव पश्यसि श्रेयस्तमेवाऽङ्गीकुरु क्षणम् ॥ २७ ॥

अन्न, पान आदि आशारूपी पाशोंका निर्माण करनेवाले आसक्ति-प्रयोजक प्राण आदि पापोंकी विद्यमानता-दशामें नहीं होता ॥ २४ ॥

दावाग्निसे जिन वृक्षोंके पत्ते और रस दग्ध हो गये हैं, उन वृक्षोंमें वर्षा होनेपर पुनः पल्लव और रसोंका जिस प्रकार आविर्भाव हो जाता है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्निसे जिनका संसार, जरा और जन्मोंसे उपलक्षित महामार्ग नष्ट हो गया है, उन तत्त्वज्ञोंमें भी आरोग्य, तुष्टि, पुष्टि, कान्ति आदि गुणोंका पुनः आविर्भाव हो जाता है ॥ २५ ॥

निरतिशयानन्दरूपी आत्मामें पुनरावृत्तिशून्य विश्रान्ति ही समस्त गुणोंकी अवधि है, उसके प्रसंगसे तत्त्वज्ञ महापुरुषमें दूसरे भी अनन्त गुण आ जाते हैं, पर उनका वर्णन नहीं किया जा सकता, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—**'अपुन०'** इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञ पुरुष अपना फिर जन्म न हो, इसलिए आत्मारूपी वृक्षके ऊपर चिरकाल तक विश्रान्ति करता है। [हे चित्त, तुम्हारा विनाश हो जानेपर] इस तरहकी एवं अन्य तरहकी अनेक शुभ गुणोंकी सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ २६ ॥

हे सर्वभक्षक चित्त, समस्त आशारूपी क्षयरोगको आश्रय देनेवाले तुम्हारे अस्तित्वके मिट जानेपर [सर्वविध गुण प्राप्त हो जाते हैं, यह बात निश्चित हुई ।] हे चित्त, अब तुमसे कहता हूँ कि इन दो पक्षोंमें से यानी आत्यन्तिक आत्मभावसे स्थिति और आत्यन्तिक निरात्मत्वका स्वीकार—इन दो पक्षोंमें से तुम जिस किसी पक्षसे अपना कल्याण देखो, उसीका क्षणभरमें आश्रयण कर लो ॥ २७ ॥

स्वात्मभावस्तव सुखं मन्ये मानवतां वर ।
तमेव भावयाऽभावं सुखत्यागो हि मूढता ॥ २८ ॥
यदि त्वस्ति भवेत्सत्यमन्तर्भावितचेतनम् ।
जीवतस्तत्तवाऽत्यन्तमभावं क इवेच्छति ॥ २९ ॥
किन्तु नाऽस्त्यसि सत्येन वदामि तव सुन्दर ।
तेन मिथ्यैव जीवामीत्याशया मा सुखी भव ॥ ३० ॥
पूर्वमेवाऽसि नाऽस्त्येव यावद्भ्रान्त्या त्वदस्तिता ।
सैवेदानीं विचारेण भृशं क्षयमुपागता ॥ ३१ ॥
एतावदेव ते रूपं साधो यदविचारणम् ।
विचारे विहिते सम्यक्समरूपं समं स्थितम् ॥ ३२ ॥

मैं तो यह मानता हूँ कि हे मानियोंमें श्रेष्ठ चित्त, आत्यन्तिक आत्मभावसे स्थिति ही तुम्हारे लिए सुखप्रद है। अतः हे चित्त, तुम उसी अभावकी (भावान्तरशून्य आत्मस्थितिकी) भावना करो, क्योंकि सुखका त्याग करना महामूर्खता है ॥ २८ ॥

यदि शङ्का हो कि चेतनका अपने अन्दर अन्तर्भाव करनेवाले पूर्वसिद्ध मनोरूपसे मेरा जीवन तुम क्यों नहीं चाहते और मेरा आत्यन्तिक अभाव क्यों चाहते हो, तो इसपर कहते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

हे चित्त, तुम्हारा अन्तर्भावितचेतनस्वरूप जो प्रसिद्ध रूप है, वह यदि सत्य होता, तो उस रूपसे जी रहे तुम्हारा अभाव कौन चाहता। हे सुन्दर, परन्तु तुम उस रूपसे नहीं हो, यानी असत् हो, यह मैं श्रुति, शास्त्र आदिके अनुभवसे विचार कर तुमसे कहता हूँ, ऊपर ऊपरसे नहीं कहता हूँ; [इस आत्यन्तिक आत्मभावसे अवस्थान तुम्हारे लिए हितकारक भी है, ऐसा कहते हैं—'तेन' से ।] हे चित्त, इससे 'मैं जीता हूँ' इस प्रकारकी मिथ्या आशासे तुम फूलो मत । जब तुम पहलेसे ही कल्पित हो, तुम्हारी सत्ता है ही नहीं, तब जो तुम्हारा अस्तित्व है, वह भ्रममूलक ही सिद्ध होता है । हे चित्त, अब वही भ्रान्ति विचारसे आत्यन्तिक विनाशको प्राप्त हो गई ॥ २९–३१ ॥

हे साधो, तुम्हारा स्वरूप इतना ही है कि आत्मस्वरूपका विचार न करना ।

अविचारात् प्रजातं त्वमनालोकात्तमो यथा।
विचारेणोपशान्तं त्वमालोकेन तमो यथा ॥ ३३ ॥
एतावन्तं सखे कालं बभूवाऽल्पविवेकिता।
तवाऽनेनाऽभिपीनत्वमभूद् दुःखैककारणम् ॥ ३४ ॥
मोहसङ्कल्पमात्रेण बालवेतालवद् भवेत्।
द्वन्द्वं चाऽद्यन्तसङ्कल्पक्षीणं क्षयि भवे स्थितम् ॥ ३५ ॥
इदानीमुदितं नित्यं स्वप्राग्रूपे क्षयं गते।
विवेकस्य प्रसादेन विवेकाय नमो नमः ॥ ३६ ॥
बहुधाऽपि प्रबुद्धस्त्वं चित्तकाऽप्यनुबोधितः।
चित्ततायां प्रनष्टायां स्थितस्त्वं परमेश्वरः ॥ ३७ ॥
प्राक्स्वरूपविलासस्ते श्रेयसे स्थितिमागतः।
समस्तवासनोन्मुक्तः संप्रत्यसि महेश्वरः ॥ ३८ ॥

आत्मा और अनात्माका भली प्रकार विचार करनेपर तुम्हारे स्वरूपकी सन्मात्ररूप तथा विक्षेपात्मक विषमतासे शून्य स्थिति हो जाती है ॥ ३२ ॥

विचार न करनेपर तुम उस प्रकार उत्पन्न होते हो, जिस प्रकार प्रकाशके न रहनेपर अन्धकार। हे चित्त, विचारसे तुम्हारा स्वरूप उस प्रकार शान्त हो जाता है, जिस प्रकार आलोकसे अन्धकारका स्वरूप ॥ ३३ ॥

हे सखे, इतने समय तक तुम्हारे स्वरूपके विषयमें बहुत कम विवेक रहा, इसलिए तुम्हारे स्वरूपका अल्प विवेक होनेके कारण ही दुःखकी हेतु तुम्हारी मोटाई उस प्रकार उत्पन्न हुई, जिस प्रकार मोहजनित सङ्कल्पमात्रसे बालकके शरीरमें वेताल उत्पन्न होता है, तुम्हारे मोटेपनसे सुख-दुःख आदि द्वन्द्व, जो ब्रह्माजीके द्वारा किये गये पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशके सङ्कल्पसे सङ्कल्प-समयमें ही नश्य सिद्ध हो जानेके कारण विनाशी हैं, संसारमें अवस्थित हैं। जिस विवेकके प्रसादसे ज्ञानोदयक्षणमें अविद्याजनित प्राक्तन अपने स्वरूपका विनाश होनेपर नित्य यानी आदि और अन्तसे शून्य आत्माके स्वरूपका आविर्भाव हुआ, उस विवेकको बार-बार नमस्कार हैं ॥ ३४—३६ ॥

हे तुच्छ चित्त, बहुत करके तुम स्वयं भी अब प्रबुद्ध हो चुके हो और शास्त्रसे भी बोधित हो गये हो। चित्तताके विनष्ट होनेपर तुम परमेश्वरस्वरूप

यस्याऽविवेकादुत्पत्तिः स विवेकाद्विनश्यति ।
प्रकाशेन प्रयात्यन्तमनालोके भवेत्तमः ॥ ३९ ॥
अनिच्छतोऽपि ते साधो विचारे स्थितिमागते ।
सर्वतोऽयमुपायातो विनाशः सुखसिद्धये ॥ ४० ॥
तस्मान्नाऽस्त्यसि निर्णीतमिति सिद्धान्तयुक्तिभिः ।
चित्तेन्द्रियेश्वर स्वस्ति भव तेऽस्त्वन्तमागतः ॥ ४१ ॥
नित्यं पूर्वमभूताय नाऽस्तिरूपाय सम्प्रति ।
भविष्यते च नोदर्के स्वमनः स्वस्ति तेऽस्त्विति ॥ ४२ ॥
परिनिर्वामि शान्तोऽस्मि दिष्ट्याऽस्मि विगतज्वरः ।
स्वात्मन्येवाऽवतिष्ठेऽहं तुर्यरूपपदे स्थितः ॥ ४३ ॥

हो । पूर्वमें भी परमेश्वरस्वरूप ही थे, वर्तमान कालमें भी कल्याणके लिए प्रबोधसे तुम्हें अपना वास्तविक स्वरूपविलास (परमेश्वरस्वरूपत्व) प्राप्त हुआ है, इसलिए समस्त वासनाओंसे मुक्त तुम साक्षात् महेश्वर ही हो, दूसरे नहीं हो ॥३७, ३८॥

जिसकी अविवेकसे उत्पत्ति होती है, उसका विवेकसे विनाश हो जाता है । प्रकाशसे अन्धकार विनाशको प्राप्त होता है और प्रकाशका अभाव होनेपर अन्धकार हो जाता है ॥ ३९ ॥

हे साधो, तुम्हारी इच्छा न रहनेपर भी विचारके दृढ़ होनेपर सुखकी सिद्धिके लिए तुम्हारा चारों ओरसे यह विनाश प्राप्त हुआ ॥ ४० ॥

इसलिए सिद्धान्तभूत युक्तियोंसे यह निर्णीत हुआ कि तुम असत् ही हो । हे इन्द्रियोंके स्वामी चित्त, तुम संसारसे पार हो जाओ, तुम्हारा कल्याण हो । चित्तेन्द्रियके स्थानमें यदि 'वित्त्वेन्द्रिय' यह पाठ हो तो सिद्धान्तभूत युक्तियोंसे अपने असली स्वरूपको प्राप्तकर संसारसे पार हो जाओ, यह अर्थ करना चाहिए ॥ ४१ ॥

मनकी तीनों कालोंमें सत्ता नहीं है, यह कहते हैं—'नित्यम्' इत्यादिसे ।

पहले जो कभी भी नहीं था, वर्तमानमें भी जो असत् है, उत्तरकालमें भी जिसकी होनेकी सम्भावना नहीं है, ऐसे हे स्वकीय मन, तुम्हारा कल्याण हो ॥४२॥

चित्तकी असत्तासे ही पुरुषार्थसिद्धि बतलाते हैं—'परिनिर्वामि' इत्यादिसे ।

अतो नाऽस्त्येव नाऽस्त्येव संसारे चित्तमस्थिति।
आत्मा त्वस्त्येव चाऽस्त्येव यस्मादन्यन्न विद्यते॥ ४४ ॥
अयमात्माऽहमेवाऽसौ नाऽस्त्यन्यन्मदृते क्वचित्।
स्फुरच्चिदेव बोधात्मा सर्वत्राऽहं स्थितः सदा ॥ ४५ ॥
अयमात्मेति कलना मन्ये नो निर्मलान्तरे।
प्रतियोगिव्यवच्छेदकलनैकस्य वै कुतः ॥ ४६ ॥
अहं तेनाऽयमात्मेति कलनामनुदाहरन्।
मौनी स्वात्मनि तिष्ठामि तरङ्ग इव वारिणि ॥ ४७ ॥

सौभाग्यवश मैं समस्त चिन्ता-ज्वरोंसे निर्मुक्त हुआ हूँ, शान्त हुआ हूँ, और चारों ओरसे तृप्त हो गया हूँ, तुरीयपदमें स्थित मैं अपनी आत्मामें अवस्थित हो गया हूँ ॥ ४३ ॥

इसलिए इस संसारमें जिसकी स्थिति हो ही नहीं सकती, वह चित्त है ही नहीं, है ही नहीं। आत्मा तो अवश्य ही है, अवश्य ही है, आत्माको छोड़ कर और कुछ भी उससे भिन्न नहीं है ॥ ४४ ॥

यह आत्मा है, मैं तत्स्वरूप ही हूँ, मुझसे पृथक् दूसरा कुछ भी कहीं नहीं है। प्रकाशमान चित्स्वरूप बोधात्मा मैं ही सदा सर्वत्र रहता हूँ ॥ ४५ ॥

शुद्धचिदेकरस आत्मामें 'यह आत्मा है' इस प्रकारकी जब कल्पना ही नहीं हो सकती, तब दूसरी कल्पनाओंके विषयमें तो कहना ही क्या? इस आशयसे कहते हैं—**'अयम्'** इत्यादिसे।

सर्व-विध मलोंसे वर्जित आत्माके अन्दर 'यह आत्मा है' इस प्रकारकी कल्पना ही नहीं हो सकती, यह मैं मानता हूँ, क्योंकि एक अद्वितीय आत्मामें प्रतियोगीके भेदसे होनेवाली यानी अन्य वस्तुकी सत्तासे होनेवाली कल्पना कैसे हो सकती है ॥ ४६ ॥

इसलिए परमात्मा वाणीका भी अविषय है, ऐसा कहते हैं—**'अहम्'** इत्यादिसे।

उसी कारणसे यानी अद्वितीय वस्तुमें कोई कल्पना नहीं हो सकती, इस कारणसे 'मैं यह आत्मा हूँ' इस प्रकार कल्पनाके अभिव्यञ्जक शब्दोंका उच्चारण

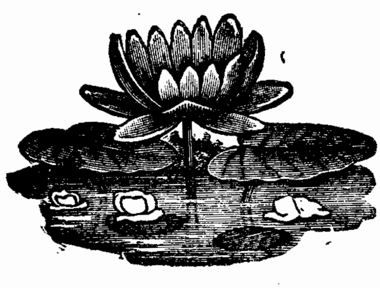
संशान्तवासनमनाश्रितचेतनांश-
मप्राणसञ्चरणमस्तमितांशदोषम् ।
संवेद्यवर्जितमुपेत्य सुसंविदंशं
शाम्यामि मौनमहमेव निरीहमन्तः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे
चित्तसत्ताविचारयोगोपदेशो नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

न करता हुआ मैं मौनी होकर उस प्रकार अपने स्वरूपमें स्थित रहता हूँ, जिस प्रकार जलमें तरङ्ग ॥ ४७ ॥

मैं अपने हृदयमें—जड़ अंशसे शून्य, जडांशकी हेतु अविद्याका भी बाध हो जानेके कारण वासनासे वर्जित, चिदाभासके भी पृथक् न रहनेसे चेतनांशताके आश्रयसे वर्जित, उसके अधीन क्रियाशक्तिका भी उपराम होनेके कारण प्राण-संचरणसे शून्य, भेदकका अभाव होनेके कारण भेदांशसे शून्य, एकरस, चिन्मात्र-स्वरूप, जगत्के बाधके आश्रयरूपसे परिशिष्ट संविदंशको—प्राप्त कर मनकी चेष्टा और वाणीके व्यापारसे शून्य होकर विश्रान्ति लेता हूँ ॥ ४८ ॥

तिरासी सर्ग समाप्त



चतुरशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति निर्णीय स मुनिर्वीतहव्यो विवासनः ।
आसीत् समाधावचलो विन्ध्यकन्दरकोटरे ॥ १ ॥
अपरिस्पन्दिताशेषसंविदानन्दसुन्दरः ।
बभावस्तङ्गतमनाः स्तिमिताम्भोधिशोभनः ॥ २ ॥
अन्तरेव शशामाऽस्य क्रमेण प्राणसन्ततिः ।
ज्वालाजालपरिस्पन्दो दग्धेन्धन इवाऽनलः ॥ ३ ॥
अनन्तर्निष्ठतां याते बाह्यार्थे चाऽप्यसंस्थिते ।
शेषेऽन्तर्लब्धसंस्थाने तस्याऽस्फुरितपक्ष्मणी ॥ ४ ॥

चौरासी सर्ग

[वीतहव्य महामुनिकी समाधिका, पृथ्वीके विवरमें स्थितिका तथा उसके हृदयमें विद्याधरत्व, इन्द्रत्व, गणत्व आदिके अनुभवका वर्णन]

वसिष्ठजीने कहा—भद्र, उस प्रकार निर्णय कर वह मुनि वीतहव्य समस्त वासनाओंको छोड़ कर विन्ध्याद्रिके गह्वरकोटरमें समाधि लगाकर उसमें अटल रहे ॥ १ ॥

उस समय महामुनि वीतहव्य किसी प्रकारके क्षोभसे शून्य परिपूर्ण संवित्-प्रकाशरूप आनन्दसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त सुन्दर मालूम पड़ते थे, उनका मन अत्यन्त विलीन हो गया था, अतएव वे ऐसे भले लगते थे, जैसे प्रशान्त समुद्र भला लगता है ॥ २ ॥

इस महामुनिका क्रमशः प्राणसंचार भीतर हृदयमें ही उस प्रकार शान्त हो गया, जिस प्रकार इन्धनोंके जल जानेपर अग्निमें ज्वालाओंके समूहका संचरण शान्त हो जाता है ॥ ३ ॥

महामुनि वीतहव्यके, अर्ध उन्मीलित नेत्रोंका वर्णन करते हैं—**'अनन्त॰'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

महामुनि वीतहव्यके चंचलताशून्य दो नेत्र अत्यन्त अन्तर्निष्ठ—निमी-

घ्राणप्रान्तगताल्पाल्पसमालोके इवेक्षणे ।
अर्धकुड्मलितैः पद्मैः श्रियमाययतुः समाम् ॥ ५ ॥
समकायशिरोग्रीवस्थानकः स महामतिः ।
आसीच्छैलादिवोत्कीर्णश्चित्रार्पित इवाऽथवा ॥ ६ ॥
तथाऽभितिष्ठतस्तस्य संवत्सरशतत्रयम् ।
कोटरे विन्ध्यकच्छस्य ययावर्धमुहूर्तवत् ॥ ७ ॥
एतावन्तमसौ कालं नाऽबुध्यत किलाऽऽत्मवान् ।
जीवन्मुक्ततया ध्यानी न च तत्याज तां तनुम् ॥ ८ ॥
तावत्कालं स सुभगो न प्राबुध्यत योगवित् ।
उदारैरम्बुदारावैरासारभरघर्घरैः ॥ ९ ॥

लित—नहीं थे अर्थात् आधे मूँदे हुए थे । [इससे उनके नेत्र बाह्य विषयोंमें लगे होंगे, यह भी नहीं] बाह्य विषयोंमें भी लगे नहीं थे, शेष यानी उन्मीलित अंशसे अतिरिक्त अंशोंसे उनके नेत्रोंने भीतर स्थिति प्राप्त की थी यानी अन्तर्मुख-स्थिति प्राप्त की थी ॥ ४ ॥

महामुनि वीतहव्यके दोनों नेत्र ऐसे लक्षित होते थे मानो उनका स्वरूपसे भी स्वल्प प्रकाश नासिकाके अग्रभागमें दोनों ओर बराबर फैला हुआ है । इससे वे आधे विकसित पद्मोंके सदृश शोभाको प्राप्त कर रहे थे ॥ ५ ॥

महाबुद्धि वीतहव्यने अपने आसनबन्धमें शरीर, शिर और ग्रीवाको समानरूपसे रक्खा था, इसलिए वे ऐसे मालूम पड़ते थे, जैसे पर्वतसे खोदी गई अथवा चित्रमें लिखी गई मूर्ति हो ॥ ६ ॥

श्रीरामजी, विन्ध्याद्रिके किसी झरनेके समीपस्थ प्रदेशके कोटरमें उस प्रकारकी समाधिका अनुष्ठान कर रहे उक्त महामुनिके तीन सौ संवत्सर आधे मुहूर्तकी नाईं व्यतीत हो गये ॥ ७ ॥

आत्मवान् ध्याननिमग्न उस मुनिने जीवन्मुक्तताके कारण इतने कालको कुछ भी नहीं समझा और अपने उस शरीरका त्याग भी नहीं किया ॥ ८ ॥

योगके रहस्यको जाननेवाले परमभाग्यशाली वह मुनि—महान् मेघोंके चारों ओर फैलनेवाले शब्दोंसे भी; बरस रही वृष्टिकी धाराओंके सम्पातसे जनित घरघर

पर्यन्तमण्डलाधीशमृगयागतबृंहितैः ।
पक्षिवानरनिर्ह्रादैर्मातङ्गास्फोटनिःस्वनैः ॥ १० ॥
सिंहसंरम्भरटितैर्निर्झरारावसीत्कृतैः ।
विषमाशनिसंपातैर्जनकोलाहलैर्घनैः ॥ ११ ॥
प्रमत्तशरभास्फोटैर्भूकम्पतटघट्टनैः ।
वनदाहधमध्वानैर्जलौघाहतिवल्गनैः ॥ १२ ॥
महोपलतटाघातैर्धरणीतलमृज्जलैः ।
जलौघान्दोलनायातैस्तापैरनलकर्कशैः ॥ १३ ॥
केवलं वहति स्वैरं काले गलितकारणम् ।
परियान्तीषु वर्षासु लहरीष्विव वारिणि ॥ १४ ॥
स्वल्पेनैव हि कालेन तस्मिन्पर्वतकन्दरे ।
प्रावृडोघविनुन्नेन पङ्केनोर्वीतले कृतः ॥ १५ ॥

शब्दोंसे भी; शिकार खेलनेके समय आये हुए समीपस्थ प्रदेशोंमें रहनेवाले सामन्तोंके मतवाले हाथियोंके गर्जनोंसे भी; पक्षी और वानरोंकी किलकिलाहटोंसे भी; जङ्गलके मातङ्गोंके [परस्पर सङ्घट्टनसे जनित] अव्यक्त शब्दोंसे भी; सिंहोंके क्रोधपूर्वक गर्जनोंसे भी; झरनोंकी दिग्व्यापी घर्घराहट ध्वनिसे भी; भयङ्कर वज्रपातोंसे भी, मनुष्योंके घन कोलाहलोंसे भी, प्रमत्त गेंडोंके भयङ्कर शब्दोंसे भी, भूकम्पके द्वारा छिन्न-भिन्न हुए पर्वत-तटोंके आस्फालनोंसे भी, वनदाहोंके समय अग्निके संयोग और उससे उत्पन्न शब्दोंसे भी; जल-प्रवाहोंसे आहत पशु आदिके आस्फालनों एवं गर्जनोंसे भी; बड़े-बड़े पर्वततटोंके आघातोंसे भी; जलप्रवाहोंके आन्दोलनोंसे प्राप्त धरणी-तलसे फिसले हुए मिट्टीसे मिले जलके शैत्यसे भी तथा अग्निकी नाईं कर्कश ग्रीष्म आदिके तापोंसे भी—उतने समय तक समाधिसे जागे नहीं ॥ ९–१३ ॥

श्रीरामजी, प्रयोजनके बिना केवल अपनी इच्छाके अनुसार समयके बीतनेपर और जलमें तरङ्गोंकी नाईं एक-के पीछे एक यों अनेकबार वर्षाओंके बरसनेपर थोड़े ही समयमें उक्त पर्वतकी कन्दरामें वर्षाके ओघसे प्राप्त हुए कीचड़ने इस महा-मुनिको पृथ्वीके भीतर यानी भूगर्भमें कर दिया अर्थात् प्रवेशित कर दिया । तात्पर्य यह हुआ कि वर्षासे बहाया गया कीचड़ इनके शरीरके चारों ओर ऐसा घना

तत्राऽसाववसद्भूमौ कोटरे सङ्कटोदरे ।
पङ्कसंपीडितस्कन्धः पर्वतेषु शिला यथा ॥ १६ ॥
शतत्रये स वर्षाणामथ याते स्वयंप्रभुः ।
व्यबुध्यताऽऽत्मरूपात्मा धराकोटरपीडितः ॥ १७ ॥
संविदेवाऽस्य तं देहं जग्राहोर्वीनिपीडितम् ।
तनुः प्राणमयस्पन्दः प्राणसंसरणं विना ॥ १८ ॥
उत्पत्तिप्रौढिमासाद्य कलना हृदयान्तरे ।
स्वमनोरूपिणी तस्य हृद्येवाऽनुबभूव सा ॥ १९ ॥

जम गया था, जिससे कि वे बाहरसे नहीं दिखाई पड़ते थे, पृथ्वीके भीतर प्रविष्ट हो गये थे ॥ १४, १५ ॥

जिसके भीतर अनेक सङ्कट भरे पड़े थे, ऐसे उक्त कोटरकी भूमिमें यह मुनि कीचड़से संश्लिष्ट कन्धेसे युक्त होकर उस प्रकार रहते थे, जिस प्रकार पर्वतके अन्दर शिला ॥ १६ ॥

तदनन्तर तीन सौ वर्षोंके बीत जानेपर पृथ्वीके कोटरमें संश्लिष्ट वे स्वयं ही निग्रहानुग्रहसमर्थ तथा आत्मस्वरूपताको प्राप्त हुए महामुनि समाधिसे जाग गये ॥ १७ ॥

उस प्रकार संकटोंके बीचमें रहनेवाले उक्त मुनिका जीवन कैसे रहा ? इस-पर कहते हैं—'संविदेवाऽस्य' इत्यादिसे ।

इस महामुनि वीतहव्यकी पृथ्वीसे दबी हुई देहको जीवनादृष्टसे प्राप्त लिङ्ग शरीरमें प्रतिबिम्बित संविद्ने ही ग्रहण कर पालन किया, प्राण-वृत्तिरूप स्पन्दनने पालन नहीं किया, क्योंकि वह सूक्ष्म था, इसलिए प्राण-संसरण नहीं हो सकता था ॥ १८ ॥

तीन सौ वर्षोंके बाद उनका जो व्यवहार रहा, उसे कहते हैं—'उत्पत्ति०' इत्यादिसे ।

तीन सौ वर्षोंकी समाधिके अनन्तर उसकी जीवरूपा संवित्ने अवशिष्ट प्रारब्धके भोगके लिए हृदयके भीतर उन्मेष-क्रमसे स्थूलताको प्राप्त कर अपने मनकी स्वरूपभूत होकर आगे कहे जानेवाले समस्त विषयोंका कल्पनाके द्वारा हृदयमें ही अनुभव किया ॥ १९ ॥

कैलासकानने कान्ते कदम्बस्य तरोस्तले।
मुनित्वं शतमब्दानां जीवन्मुक्तात्मनिर्मलम् ॥ २० ॥
विद्याधरत्वं वर्षाणां शतमाधिविवर्जितम्।
युगपञ्चकमिन्द्रत्वं प्रणतं सुरचारणैः ॥ २१ ॥

श्रीराम उवाच

शक्रत्वादिषु तेष्वस्य प्रतिभासेषु भो मुने।
नियमोऽनियमश्चैव दिक्कालनियतेः कथम् ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वात्मिकैषा चिच्छक्तिर्यत्रोदेति यथा यथा।
तथा तत्राऽऽशु भवति तथाऽऽत्मैकस्वभावतः ॥ २३ ॥

उन्होंने जिसका अनुभव किया, उसे ही कहते हैं—'कैलास०' इत्यादिसे।

कमनीय कैलास पर्वतके काननमें एक कदम्बवृक्षके नीचे सौ वर्षों तक उन्होंने अपने हृदयमें मुनित्वका, जो जीवन्मुक्त आत्माके कारण विमल था, अनुभव किया ॥ २० ॥

सौ वर्षों तक उन्होंने मानसी व्याधिसे वर्जित विद्याधरत्वका अनुभव किया और पाँच युगों तक देवताओं एवं चारणों से वन्दित देवराजत्वका अनुभव किया ॥ २१ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे मुने, उन इन्द्रत्व आदिके अनुभवोंमें देश और कालका नियम और अनियम कैसे हुआ, क्योंकि देश और कालकी नियतिको अन्यथा नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि—'कैलासकानने' इत्यादिसे देशका नियम, 'युगपञ्चकम्' इत्यादिसे कालका नियम तथा थोड़े ही समयमें और हृदय-प्रदेशमें ही उक्त अनुभव होनेसे देशकालका अनियम—यह कैसे हो सकता है, क्योंकि देश और कालके नियमका उल्लङ्घन कोई नहीं कर सकता, इस प्रकारका प्रश्नार्थ है ॥ २२ ॥

असर्वात्मकत्वरूपसे ज्ञात चितिमें स्वल्प-देश और कालमें अन्य विस्तृत देश और कालकी कल्पना करनेमें नियतिका विरोध होता ही है, पर सर्वात्मकता और

यथा यत्र यदा बुद्धौ नियमः स तदा स्थितः ।
देशकालादिनियमक्रमाणां तन्मयात्मता ॥ २४ ॥
तेन नानाविधान्येष जगन्ति परिदृष्टवान् ।
हृदि संवेदनाकाशे वीतहव्यो विवासनः ॥ २५ ॥
सम्यग्बोधवतामेषा वासनैव न वासना ।
ज्ञानाग्निदग्धादग्धस्य कैव बीजस्य बीजता ॥ २६ ॥

सर्वशक्तिसम्पन्नतारूपसे परिज्ञात चितिमें उक्त विरोध नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—'**सर्वात्मिकैषा**' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठने कहा—भद्र श्रीरामजी, यह सर्वात्मक चितिशक्ति जहाँपर जिस जिस प्रकारसे उदित होती है, वहाँपर उस उस प्रकारकी शीघ्र हो जाती है, क्योंकि सर्वात्मकत्वका अनुभव करनेवाले अनुभविताकी चितिका उक्त प्रकारसे बन जाना एक स्वभाव ही है ॥ २३ ॥

अपनी बुद्धिसे अनुभूयमान देशकालमें ही संकोच और वैपुल्यके नियम और अनियम परस्पर विरुद्ध होते हैं, पर अननुभूयमानके साथ अनुभूयमानके वे विरुद्ध नहीं होते, क्योंकि अत्यन्त अल्प नाडीछिद्रोंमें स्वल्प समयमें ही विस्तृत देश-कालवाले स्वप्नका अनुभव होता है, इस आशयसे कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जहाँपर जिस समय बुद्धिमें जिस प्रकारका अनुभव होता है, वहाँपर उस समय वैसा नियम रहता है, क्योंकि देश, काल आदिके नियमोंके क्रम बुद्धिमय आत्मामें अध्यस्त हैं ॥ २४ ॥

उन्हीं दो हेतुओंसे समस्त वासनाओंसे वर्जित इस महामुनि वीतहव्यने हृदयस्थ संविदाकाशमें अनेक तरहके लोकोंका अनुभव किया ॥ २५ ॥

हे श्रीरामजी, सम्यक् ज्ञानवान् पुरुषोंकी यह वासना (देवराजत्वाद्यनुभवकी हेतु वासना) वासना ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानरूप अग्निसे अपनी शक्ति खो देनेके कारण दग्ध और दीखाई पड़नेके कारण अदग्ध—भर्जित—हुए बीजकी बीजता ही क्या होगी ? ॥ २६ ॥

कल्पमेकं गणत्वं स चन्द्रमौलेश्चकार ह ।
समस्तविद्यानिपुणं त्रिकालामलदर्शनम् ॥ २७ ॥
यो यादृग्दृढसंस्कारः स तं पश्यति तादृशम् ।
जीवन्मुक्ततयैवैतद्वीतहव्योऽनुभूतवान् ॥ २८ ॥

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते मुनिश्रेष्ठ जीवन्मुक्तमतेरपि ।
बन्धमोक्षदृशः सन्ति वीतहव्यात्मनो यथा ॥ २९ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथास्थितमिदं विश्वं शान्तमाकाशनिर्मलम् ।
ब्रह्मैव जीवन्मुक्तानां बन्धमोक्षदृशः कुतः ॥ ३० ॥

महामुनि वीतहव्यने एक कल्प तक चन्द्रमौलि महादेवजीके गणता यानी शिवजीके गणोंकी स्वामिता, जो अशेष विद्याओंमें निपुण और तीनों कालोंमें ज्ञानपूर्ण थी, की ॥ २७ ॥

जीवन्मुक्त भी उस मुनिके भोगप्रद प्रारब्ध कर्मोंसे उद्बोधित दृढ़ संस्कार ही विलक्षण देहभोग आदिके अनुभवमें कारण था, यह कहते हैं—**'यो'** इत्यादिसे ।

जो जिस विषयके दृढ़ संस्कारसे युक्त होता है, वह उस विषयको उसी प्रकारका देखता है, क्योंकि उस प्रकारके दृढ़ संस्कारसे ही जीवन्मुक्त होकर मुनि वीतहव्यने उन-उन वस्तुओंका अनुभव किया था ॥ २८ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे मुनिवर, ऐसी स्थिति होनेपर तो जीवन्मुक्त पुरुषके अन्तःकरणमें भी बन्ध और मोक्षकी दृष्टियाँ होती हैं, यह मानना पड़ेगा, जैसे कि मुनि वीतहव्यके अन्तःकरणमें हुई ॥ २९ ॥

दग्ध पटके दृष्टान्तसे असत् पदार्थका प्रारब्धके शेषसे प्रतिभास बाधितकी अनुवृत्तिमात्रस्वरूप है, बन्ध-स्वरूप नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'यथास्थित०'** इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठने कहा—श्रीरामजी, जीवन्मुक्तोंकी दृष्टिमें जिस प्रकारका

एतत्संविन्नभो भाति यत्र यत्र यथा यथा ।
तत्र तत्र तथा तावत्तावत्तद्विन्दते ततम् ॥ ३१ ॥
तेनाऽनुभूतानि बहून्यनुभूयन्त एव च ।
जगन्ति सर्वात्मतया ब्रह्मरूपेण राघव ॥ ३२ ॥
धराकोटरनिर्मग्नवीतहव्यचिदात्मसु ।
जगत्सु तेष्वसंख्येषु नीरूपेषु महात्मसु ॥ ३३ ॥
यः शक्रोऽनवबुद्धात्मा सोऽद्य दीनेषु पार्थिवः ।
कर्तुं प्रवृत्तो मृगयां क्षणेऽस्मिन्नपि कानने ॥ ३४ ॥

यह जगत् विद्यमान है, वह प्रशान्त, आकाशकी नाईं अत्यन्त निर्मल ब्रह्मस्वरूप ही है, फिर उनको बन्ध और मोक्षकी दृष्टियाँ कैसे हो सकती हैं ॥ ३० ॥

जिस जिस स्थलमें जिस जिस प्रकारसे संविद्रूपी आकाश भासता है, उस उस स्थलमें उस उस प्रकारसे उतने उतने रूपोंमें व्याप्त होकर वह प्राप्त-सा हो जाता है ॥ ३१ ॥

जैसे ईश्वरको हमारे जगत्का प्रतिभास बन्धनका हेतु नहीं होता है, वैसे ही मुनि वीतहव्यको भी तत्-तत् स्वरूपका अनुभव बन्धनका हेतु नहीं हुआ, इस आशयसे कहते हैं—'तेना०' इत्यादिसे ।

हे राघव, महामुनि वीतहव्यने सब भूतोंमें आत्मभाव होनेके कारण अनेक लोकोंका ब्रह्मरूपसे अनुभव किया और वर्तमान समयमें कर भी रहे हैं ॥ ३२ ॥

महामुनि वीतहव्यका हृदय (हृदयसे उपलक्षित आत्मा) हम लोगोंके समस्त आत्माओंके स्वरूपभूत था, इसलिए सम्पूर्ण प्राणियोंको होनेवाले जगत्के अनुभव भी उन्हींके अनुभव हैं, ऐसा भी कहनेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'धरा०' इत्यादिसे ।

हे राघव, ब्रह्माण्डके एक कोनेमें अवस्थित महामुनि वीतहव्यकी आत्म-रूपताको प्राप्त हुए वास्तविक स्वरूपसत्तासे वर्जित और भ्रान्तिवश अत्यन्त विशाल मालूम पड़नेवाले उन असंख्य भुवनोंमें, जो आत्माके तत्त्वज्ञानसे वञ्चित अज्ञानी इन्द्र हुआ था, वही आज 'दीन' नामके देशोंमें राजा होकर इस समय भी जंगलमें शिकार खेलनेमें प्रवृत्त हुआ है ॥ ३३, ३४ ॥

यो हंसोऽनवबुद्धात्मा पाद्मे पैतामहेऽभवत् ।
स्थितः स एव दाशेन्द्रः कैलासवनकुञ्जके ॥ ३५ ॥
यो राजाऽनवबुद्धात्मा भूमेः सौराष्ट्रमण्डले ।
स एषोऽद्य स्थितोऽऽन्ध्राणां ग्रामे बहुलपादपे ॥ ३६ ॥

श्रीराम उवाच

मानसः किल सर्गोऽसौ वीतहव्यस्य तत्र ये ।
देहिनो भ्रान्तिमात्रं चेत्तद्देहाकारिणः कथम् ॥ ३७ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदि भ्रान्त्येकमात्रात्म वीतहव्यस्य तज्जगत् ।
तदिदं नाम ते राम किं भूयः परिभासते ॥ ३८ ॥

पितामहके पाद्मकल्पके समय, जब कि मुनि वीतहव्य शिवजीके गणोंके अधिपति थे, उनकी क्रीडाके लिए आत्मबोधसे शून्य जो हंस था, वही इस समय निषादोंका राजा होकर स्थित है ॥ ३५ ॥

इसी प्रकार उस समय पृथ्वीके सौराष्ट्र प्रदेशमें जो आत्मज्ञानसे रहित राजा था, वही आज आन्ध्र देशके एक गाँवमें, जहाँ अनेकविध वृक्ष हैं, अवस्थित है ॥ ३६ ॥

गुरु महाराज वसिष्ठजीकी उक्तिका अभिप्राय सर्वात्मताके प्रतिपादनमें है, इसको न समझ रहे मनुष्योंको, उनकी शङ्काके उद्घाटन द्वारा गुरुमुखसे ही, बोध करानेवाले श्रीरामजी पूछते हैं—**'मानसः'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर, मुनि वीतहव्यकी यह सृष्टि तो मानस सृष्टि है, उस सृष्टिमें विद्यमान देही यदि भ्रान्तिस्वरूप है, तो वे इन्द्र, हंस आदि देहोंके आकारवाले चेतनयुक्त कैसे हुए ? ॥ ३७ ॥

महाराज वसिष्ठने कहा—हे श्रीरामजी, महामुनि वीतहव्यका वह जगत् यदि केवल भ्रान्तिस्वरूप ही आपको मालूम पड़ता है, तो फिर आपका यह प्रसिद्ध जगत् किस हेतुसे यथार्थरूपसे भासित हो सकता है ? तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण जगत् मन ही का कार्य और केवल भ्रान्तिस्वरूप ही है, यह तत्-तत्

इदमप्यङ्ग चिन्मात्रं मनोमात्रभ्रमोपमम् ।
तदपि व्योम चिन्मात्रं मनोमात्रं भ्रमोपमम् ॥ ३९ ॥

वस्तुतस्तु न तद्राम जगन्नैवं न चेतरत् ।
तवाऽपि न जगत्सत्ता ब्रह्मेदं भाति केवलम् ॥ ४० ॥

भावि भूतं भविष्यच्च यथेदं च तथेतरत् ।
जगत्सर्वमिदं दृश्यं संविन्मात्रमनोमयम् ॥ ४१ ॥

एवंरूपमिदं यावन्न परिज्ञातमीदृशम् ।
वज्रसारदृढं तावज्ज्ञातं सत्परमाम्बरम् ॥ ४२ ॥

स्थलमें अनेक बार कहा गया है, इसलिए यह आपका प्रसिद्ध जगत् वीतहव्यकी मानसी सृष्टिके सदृश भ्रान्तिमात्रस्वरूप ही ठहरा, ऐसी स्थितिमें आप ही बतलाइए कि आपका भी यह जगत् चेतनोंसे भरा कैसे प्रतीत हो रहा है ? ॥ ३८ ॥

दोनों सृष्टियोंकी समानता बतलाते हैं—'**इदम०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, आपका यह भी जगत् मनोमय भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशामें जिस प्रकारसे चिन्मात्रस्वरूप है, उसी प्रकारसे महामुनि वीतहव्यका भी वह जगत् मनो-मय, भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशामें व्योमरूपी चिन्मात्रस्वरूप है ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामजी, वास्तवमें तो वह (मुनि वीतहव्यका) जगत् न तो आपके इस जगत्के सदृश है और न इस जगत्से विलक्षण ही है, क्योंकि वस्तुकी समानता और असमानता वस्तुकी सिद्धिके बिना नहीं हो सकती, आपके भी जगत्की सत्ता नहीं है, केवल ब्रह्म ही जगत्के रूपमें भासता है ॥ ४० ॥

जैसे यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान जगत् है, वैसे ही दूसरा भी जगत् है । समस्त दृश्यभूत जगत् संविन्मात्ररूपसे अवशिष्ट जो मन है, तत्स्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है ॥ ४१ ॥

हे श्रीरामजी, जबतक इस प्रकारके जगत्को संविन्मात्रस्वरूप नहीं जान लेते, तबतक वह वज्रसारकी नाईं अत्यन्त दृढ़ रहता है। और ज्ञात हो जानेपर त्रिकाला-बाधित परम चिदाकाश-स्वरूप हो जाता है ॥ ४२ ॥

अज्ञानान्मन एवेदमित्थं संप्रविजृम्भते ।
प्रत्युल्लासविलासाभ्यां जलमम्बुनिधाविव ॥ ४३ ॥

यथास्थितेनैव चिदम्बरेण
स्वचित्तमेवैति मनोऽभिधानम् ।
स्फारं कृतं तेन जगच्च दृश्य-
मेवं ततं नैव ततं च किञ्चित् ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे वीतहव्यमनोजगद्वर्णनं नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

अज्ञानसे यह मन ही उत्पत्ति और वृद्धि आदि परिणामोंसे जगत्‌के रूपमें ऐसे विकसित होता है, जैसे समुद्रमें जल ॥ ४३ ॥

हे श्रीरामजी, अविकृत चिदाकाशस्वभावसे अवस्थित ब्रह्म मायासे 'मैं किसीको मानो चेतन करनेवाला हूँ' यों अपनी कल्पना कर चित्तरूप हो जाता है, तदनन्तर उसीका पुनः-पुनः मनन करनेसे मन नामवाला हो जाता है। उसीसे यह विशाल जगत् प्राप्त हुआ है, इसीलिए इस प्रकार यह दृश्य जगत् विस्तृत है। वास्तवमें कुछ भी विस्तृत नहीं है ॥ ४४ ॥

चौरासी सर्ग समाप्त

पञ्चाशीतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अथ किं वीतहव्यः स्वं स्थितं तस्मिन् धरोदरे ।
कथमुद्धृतवान् देहं स संपन्नश्च किं कथम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अनन्तरमनन्तात्म वीतहव्याभिधं मनः ।
स्वमेवाऽऽत्मचमत्कारमात्रं समवबुद्धवान् ॥ २ ॥
शार्वस्याऽस्य गणस्याऽभूत् प्राग्ज्योतिःस्मरणे स्वयम् ।
इच्छा कदाचित्सकलप्राग्जन्मालोकनोन्मुखी ॥ ३ ॥
अशेषान् स ददर्शाऽथ नष्टानष्टान् स्वदेहकान् ।
अनष्टानां ततो मध्यात् तत्तत्कोटरसंस्थितम् ।
यदृच्छयैव प्रोद्धर्तुं देहं तस्याऽभवन्मतिः ॥ ४ ॥

पचासी सर्ग

[वीतहव्य मुनिकी सूर्यके पिङ्गलनामक गणमें प्रवेशकर अपनी देहकी उद्धृति, जीवन्मुक्तस्थिति और अन्तिम समाधिका वर्णन]

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, अब कृपापूर्वक मुझसे यह बतलाइए कि महामुनि वीतहव्यने उस भूगर्भमें स्थित अपनी देहका कैसे उद्धार किया ? उसका प्रकार क्या था ? उसके बाद उनकी दिनचर्या क्या रही और वेदहमुक्तिमें अवशिष्ट उनका स्वरूप कैसा था ? ॥ १ ॥

वसिष्ठजीने कहा—भद्र, तदनन्तर समाधिमें उक्त मुनिने अपने वीतहव्य नामक मनको आत्माका एक चमत्कारमात्र और अपरिच्छिन्न ब्रह्मस्वरूप समझ लिया ॥ २ ॥

जब वह महादेवजीके गण थे, तब किसी समय चिदात्माका ध्यान करते समय उनकी यह इच्छा हुई कि मैं पहलेके अपने समस्त जन्मोंका अवलोकन करूँ ॥ ३ ॥

तदनन्तर उन्होंने कुछ नष्ट हुई और कुछ नष्ट न हुई अपनी समस्त देहोंको

अपश्यत्तत्तथा तत्र पङ्के कीटमिव स्थितम् ।
शरीरं वीतहव्याख्यं धराकोटरपीडितम् ॥ ५ ॥
प्रावृडोघोपनीतं तत् पृष्ठस्थं पङ्कमण्डलम् ।
तृणजालावकीर्णत्वग्देहपृष्ठमृदं तथा ॥ ६ ॥
एतदृष्ट्वा महातेजा धराविवरयन्त्रितम् ।
भूयोऽपि चिन्तयामास धिया परमबोधया ॥ ७ ॥
सर्वसंपीडिताङ्गत्वात् कायो मे प्राणवायुभिः ।
मुक्तश्चलितुमाकर्तुं शक्नोति न मनागपि ॥ ८ ॥
तज्ज्ञात्वा प्रविशाम्याशु देहमेवं विवस्वतः ।
तदीयः पिङ्गलो देहमुद्धरिष्यति मे ततः ॥ ९ ॥

प्रत्यक्ष देखा । देखनेके बाद जो शरीर नष्ट नहीं हुए थे, उनके मध्यमें तत्-तत् कोटरमें अवस्थित यानी तत्-तत् अनष्ट देहोंके हृदयकोटरमें जीवटके उपाख्यानमें कही जानेवाली रीतिके अनुसार अपनी कल्पनासे ही अवस्थित वीतहव्य शरीरका उद्धार करनेके लिए अकस्मात् ही उनकी इच्छा हुई ॥ ४ ॥

वहाँपर पृथ्वीके उदर-कोटरमें पीड़ित उस वीतहव्यनामक शरीरको कीचड़में स्थित कीड़ेकी नाईं देखा । वह वर्षाके प्रवाहसे कुछ दूर बहाया गया था, उसके पृष्ठ भाग पर कीचड़का स्तर जम गया था और उनके त्वचा, हाथ आदि अवयव तथा पीठस्थ मिट्टी—ये सब काश आदि घासोंके समूहोंसे व्याप्त हो गये थे । 'पीठस्थ' शब्दसे यह सूचित होता है कि वे जलप्रवाहोंसे उलटे मुँह गिराये गये थे ॥ ५, ६ ॥

महान् तेजस्वी वीतहव्यने इस प्रकार धराके विवरमें पीड़ित अपनी देहको देखकर उत्तम बोधसे युक्त बुद्धिसे पुनरपि विचार किया ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण अवयवोंमें पीड़ा होनेके कारण प्राणवायुसे यानी प्राण-संचारोंसे निर्मुक्त मेरी देह चलने-फिरनेमें तथा कुछ करनेमें तनिक भी समर्थ नहीं है ॥ ८ ॥

इसलिए उद्धारके उपायको जानकर मैं परकीय शरीरमें प्रवेशके लिए योग-शास्त्रमें उपदिष्ट मार्गसे सूर्यके शरीरमें प्रवेश करता हूँ। उसमें प्रवेश करनेसे सूर्यका सेवक पिङ्गल नामका गण उनकी आज्ञासे मेरे शरीरका उद्धार कर देगा ॥ ९ ॥

अथवा किं ममैतेन शाम्याम्यहमविघ्नतः ।
निर्वामि स्वं पदं यामि कोऽर्थो मे देहलीलया ॥ १० ॥
इति संचिन्त्य मनसा वीतहव्यो महामते ।
तूष्णीं स्थित्वा क्षणं भूयश्चिन्तयामास भूतले ॥ ११ ॥
उपादेयो हि देहस्य न मे त्यागो न संश्रयः ।
यादृशो देहसंत्यागस्तादृशो देहसंश्रयः ॥ १२ ॥
तद्यावदस्ति देहोऽयं न यावदणुतां गतः ।
तावदेनमुपारुह्य किञ्चित्प्रविहराम्यहम् ॥ १३ ॥
पिङ्गलेन शरीरं स्वमुद्धर्तुं तापनं वपुः ।
प्रविशामि नभःसंस्थं मुकुरं प्रतिबिम्बवत् ॥ १४ ॥
इत्यसौ मुनिरादित्यं विवेशाऽनिलरूपधृक् ।
पुर्यष्टकवपुर्भूत्वा भस्त्राखमिव चाऽनिलः ॥ १५ ॥

उनकी दूसरी चिन्ता बतलाते हैं—'अथवा' इत्यादिसे ।

अथवा इस प्रपञ्चसे मेरा क्या प्रयोजन है ? मैं इस शरीरसे निर्विघ्नतापूर्वक विदेहमुक्तिके द्वारा शान्त हो जाता हूँ । मैं निर्वाणको प्राप्त कर लेता हूँ, अपने पदको जाता हूँ । देहलीलासे मेरा कौन प्रयोजन है ?॥ १० ॥

हे महामते, उस प्रकार मनसे विचार कर महामुनि वीतहव्य क्षणभर भूतलमें चुपचाप बैठकर फिर विचार करने लगे ॥ ११ ॥

मुझे देहका त्याग न तो उपादेय (अपेक्षणीय) है और न देहका आश्रयण ही उपादेय है, क्योंकि जैसा देहका परित्याग है, वैसे ही देहका समाश्रय है, दोनोंमें कुछ भी अन्तर नहीं है ॥ १२ ॥

इसलिए जबतक यह शरीर है और जबतक वह अणु-परमाणु रूप नहीं बन जाता, तबतक मैं इसका आश्रयण कर कुछ विहार कर लूँ ॥ १३ ॥

सूर्यसेवक पिङ्गलनामक गणके द्वारा अपने शरीरका उद्धार करनेके लिए आकाशमें स्थित सूर्यके शरीरमें मैं उस प्रकार प्रवेश करता हूँ, जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्ब ॥ १४ ॥

उस प्रकार विचारकर वायुरूपधारी यानी सूक्ष्मस्वरूप मुनि वीतहव्यने पूर्वमें

भगवान्मुनिरप्येनं हृद्गतं मुनिनायकम् ।
दृष्ट्वाऽसौ चिन्तयन्कार्यं पौर्वापर्यमुदारधीः ॥ १६ ॥
विन्ध्यभूधरभूकोशमन्तर्मुनिकलेवरम् ।
तृणोपलपरिच्छन्नं ददर्श गतसंविदम् ॥ १७ ॥
ऋषेश्चिकीर्षितं ज्ञात्वा भानुर्गगनमध्यगः ।
धरातो मुनिमुद्धर्तुमादिदेशाऽग्रगं गणम् ॥ १८ ॥
वीतहव्यमुनेः संवित्सा पुर्यष्टकरूपिणी ।
रविं वातमयी पूज्यं प्रणनामाऽऽशु चेतसा ॥ १९ ॥
भानुनाऽप्यभ्यनुज्ञातो मानपूर्वकमग्रगम् ।
विवेश पिङ्गलाकारं विन्ध्यकन्दरगामिनम् ॥ २० ॥

व्याख्यात पुर्यष्टक शरीर होकर सूर्यमें उस प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार भस्त्राकाशमें (चमड़ेकी धौकनीके अन्तर्गत आकाशमें) वायु प्रवेश करे ॥ १५ ॥

उदार बुद्धिवाले भगवान् मननशील सूर्यने भी हृदयमें प्रविष्ट उक्त मुनिनायकको देखा और उनके कार्यको तथा पूर्वापर शरीरोंको देखा। तदनन्तर विन्ध्यपर्वतके भूगर्भके अन्तर्गत तृण और पत्थरसे चारों ओर ढके हुए तथा मृतप्राय मुनि वीतहव्यके शरीरको देखा ॥ १६, १७ ॥

उसके बाद सूर्यने क्या किया ? उसे कहते—'**ऋषेः**' इत्यादिसे ।

आकाशके मध्यमें संचरण करनेवाले सूर्य भगवान्ने मुनि वीतहव्यके अभीष्टको जानकर पृथ्वीसे मुनिशरीरका उद्धार करनेके लिए अपने अग्रगामी पिङ्गलनामके गणको आदेश दिया ॥ १८ ॥

सूर्यके हृदयमें प्रविष्ट हुई मुनि वीतहव्यकी संवित्ने क्या किया ? उसे कहते हैं—'**वीतहव्य०**' इत्यादिसे ।

मुनि वीतहव्यकी पुर्यष्टकरूपी वायुमय उक्त संवित्ने पूजनीय भगवान् भास्करको अन्तःकरणसे झटिति प्रणाम किया ॥ १९ ॥

सूर्यके द्वारा अत्यन्त मानपूर्वक आज्ञाको प्राप्त हुए उक्त वीतहव्य मुनिने विन्ध्याद्रिकी गुफाकी ओर जा रहे अग्रगामी पिङ्गलनामक गणके शरीरमें पवेश किया ॥ २० ॥

पिङ्गलोऽसौ नभस्त्यक्त्वा कुञ्जकुञ्जरसुन्दरम् ।
प्राप विन्ध्यवनं प्रावृण्मत्ताभ्राम्बरभासुरम् ॥ २१ ॥
उद्धार धराकोशान्नखनिष्कृष्टभूतलः ।
कलेवरं मुनेः पङ्कान्मृणालमिव सारसः ॥ २२ ॥
मौनं पुर्यष्टकमथ स्वं विवेश कलेवरम् ।
नभस्तलपरिभ्रान्तो विहङ्गम इवाऽऽलयम् ॥ २३ ॥
प्रणेमतुर्मिथो मूर्तवीतहव्यनभश्चरौ ।
बभूवतुः स्वकार्यैकतत्परौ तेजसां निधी ॥ २४ ॥
जगाम पिङ्गलो व्योम मुनिश्च विमलं सरः ।
तारकाकारकुमुदं सूर्यांशुकवदाकृति ॥ २५ ॥
वीतहव्यो ममज्जाऽऽशु सरस्युद्भिन्नपङ्कजे ।
पङ्कपल्वलीलान्ते वने कलभको यथा ॥ २६ ॥

सूर्य भगवान्के गण पिङ्गलने आकाशका परित्याग कर लतागृह और कुंजरसे सुन्दर तथा वर्षा कालमें मत्त मेघोंसे युक्त आकाशकी नाईं देदीप्यमान विन्ध्याचलके अरण्यको प्राप्त किया ॥ २१ ॥

जिसने अपने नखोंसे भूतलको खोद दिया है, ऐसे पिङ्गलने भूगर्भसे मुनि वीतहव्यके कलेवरको उस प्रकार उद्धृत किया, जिस प्रकार सारस पक्षी कीचड़से मृणालको उद्धृत करता है ॥ २२ ॥

तदनन्तर मुनि वीतहव्य-सम्बन्धी पुर्यष्टक शरीर पिङ्गलके शरीरसे निकलकर अपने शरीरमें उस प्रकार प्रविष्ट हुआ, जिस प्रकार आकाशतलमें चारों ओर परिभ्रमण करनेवाला पक्षी अपने घोंसलेमें प्रवेश करता है ॥ २३ ॥

प्राप्तमूर्ति वीतहव्य तथा आकाशगामी पिङ्गल दोनोंने परस्पर प्रणाम किया। तदनन्तर तेजके निधि वे दोनों अपने अपने कार्योंमें ही तत्पर हो गये ॥ २४ ॥

पिङ्गल आकाशकी ओर चले गये और मुनि वीतहव्य निर्मल सरोवरकी ओर, जो कुमदरूपी ताराओंसे युक्त तथा बालसूर्यके रागसे रञ्जित उदकसे युक्त था, स्नानार्थ चले गये ॥ २५ ॥

विकसित कमलोंसे युक्त उस सरोवरमें मुनि वीतहव्यने झटिति उस प्रकार

तत्र स्नात्वा जपं कृत्वा पूजयित्वा दिवाकरम् ।
मनोभूषितया तन्वा पूर्ववत्पुनराबभौ ॥ २७ ॥
मैत्र्या तया समतया परया च शान्त्या
सत्प्रज्ञया मुदितया कृपया श्रिया च ।
युक्तो मुनिः सकलसङ्गविमुक्तचेता
विन्ध्ये सरित्तटगतो दिनमेव रेमे ॥ २८ ॥

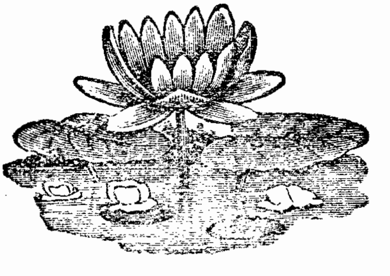
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे वीतहव्यसमाधियोगोपदेशो नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

मज्जन किया, जिस प्रकार कीचड़से भरे तालाबमें क्रीड़ाके अनन्तर हाथीका बच्चा बनमें मज्जन करता हो ॥ २६ ॥

उसमें स्नानकर तदनन्तर जपकर और उसके बाद सूर्यकी पूजा कर मनन आदि व्यवहारोंसे युक्त शरीरसे पुनः पूर्ववत् सुशोभित हो गये ॥ २७ ॥

पूर्वोक्त समानशीलोंमें मैत्री, एकरूप सर्वातिशायी शान्ति, सुन्दर प्रज्ञा, मुदित कृपा तथा उत्तम श्रीसे युक्त मुनि वीतहव्यने, सकल सङ्गोंसे निर्मुक्त चित्त वाले होकर विन्ध्याचलमें नदीके तटपर केवल एक ही दिन रमण किया यानी समाधिसे प्रच्युत होकर स्थित रहे ॥ २८ ॥

पच्चासी सर्ग समाप्त



षडशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

दिनान्ते स समाधातुं पुनरेव मनो मुनिः ।
विवेश काञ्चिद्विततां विज्ञातां विन्ध्यकन्दराम् ॥ १ ॥
तदेवाऽऽत्मानुसन्धानमत्यजन्सममिन्द्रियैः ।
चेतसा कलयामास दृष्टलोकपरावरः ॥ २ ॥
पूर्वमेवेन्द्रियगणो मया परिहृतः स्फुटम् ।
इदानीं चिन्तया नाऽर्थः पुनर्विततया मम ॥ ३ ॥
अस्ति नास्तीति कलनां भङ्क्त्वा मृद्वीं लतामिव ।
शेषं तु बद्धसंस्थानस्तिष्ठाम्यचलशृङ्गवत् ॥ ४ ॥

छियासी सर्ग

[मुनि वीतहव्यकी छः रात्रि तक पुनः समाधि, चिरकाल तक जीवन्मुक्त-स्थिति, राग आदिको तिलाञ्जलि और मुक्तिमें समाधि का वर्णन]

महाराज वसिष्ठने कहा—भद्र, दिनकी समाप्तिके बाद उक्त मुनिने पुनः भी मनकी एकाग्रतारूप समाधिके लिए किसी अतिविस्तृत पूर्वपरिचित विन्ध्याद्रिकी गुफामें प्रवेश किया ॥ १ ॥

लोकमें क्या सार है और क्या असार है, इसका भलीप्रकार परिज्ञान रखनेवाले महामुनि वीतहव्य उसी आत्माके अनुसन्धानका परित्याग न करते हुए इन्द्रियोंके साथ अन्तःकरणसे विचारने लगे ॥ २ ॥

उन्होंने क्या विचार किया ? उसे कहते हैं—'पूर्व०' इत्यादिसे ।

मैंने पहलेसे ही इन्द्रियोंका भलीप्रकार परित्याग कर दिया है, अब फिर उनके विषयमें अधिक चिन्ता करनेसे मेरा कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होनेवाला है ॥ ३ ॥

अस्ति और नास्ति—यों दो प्रकारकी दृश्य कल्पनाओंका, कोमल लताकी नाईं, विनाश कर उन दो कल्पनाओंके साक्षीरूपसे अवशिष्ट चैतन्यमात्रका अवलम्बन कर शरीर, शिर और ग्रीवाको समानरूपसे रखकर दृढासन होकर मैं उस प्रकार अचल बैठता हूँ, जिस प्रकार पर्वतका शिखर ॥ ४ ॥

उदितोऽस्तङ्गत इव स्वस्तङ्गत इवोदितः ।
समः समरसाभासस्तिष्ठामि स्वच्छतां गतः ॥ ५ ॥

प्रबुद्धोऽपि सुषुप्तस्थः सुषुप्तस्थः प्रबुद्धवत् ।
तुर्यमालम्ब्य कायान्तस्तिष्ठामि स्तम्भितस्थितिः ॥ ६ ॥

स्थितः स्थाणुरिवैकान्ते स्वान्तान्ते सर्वतः स्थिते ।
सत्त्वसामान्यसाम्ये हि तिष्ठाम्यपगतामयः ॥ ७ ॥

इति संचिन्त्य स ध्याने पुनस्तस्थौ दिनानि षट् ।
ततः प्रबोधमापन्नः क्षणसुप्त इवाऽध्वगः ॥ ८ ॥

ततः सिद्धः स भगवान् वीतहव्यो महातपाः ।
विजहार चिरं कालं जीवन्मुक्ततया तदा ॥ ९ ॥

मैं यद्यपि सदा उदितस्वभाव (प्रकाशस्वभाव) हूँ, तथापि अज्ञदृष्टिसे अन्धकारको प्राप्त हुआ-सा हूँ, एवं यद्यपि सदा जीवित-स्वभाव हूँ, तथापि अज्ञ-दृष्टिसे मृत-सा हूँ। तत्त्वदृष्टिसे तो उससे विपरीत निर्मल स्वभावको प्राप्त हुआ एकरस चिन्मात्रस्वरूप होकर अवस्थित हूँ ॥ ५ ॥

मैं यद्यपि प्रबुद्ध यानी उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न जाग्रत् अवस्थासे युक्त हूँ, तथापि सुषुप्तिमें ही स्थित रहता हूँ, क्योंकि घट आदि द्वैत पदार्थोंको अब मैं नहीं देख रहा हूँ। इसी प्रकार यद्यपि मैं सुषुप्तिमें स्थित रहता हूँ, तथापि जाग्रत् अवस्थासे युक्त ही हूँ, क्योंकि मुझे अपने स्वरूपका सदा स्पष्टरूपसे अनुभव हो रहा है। स्थूल, सूक्ष्म और कारणसे निर्मुक्त तुर्य पदका अवलम्बन कर अचल स्थितिवाला होकर शरीरके भीतर रहता हूँ ॥ ६ ॥

मनसे परे यानी मनके अविषय, चारों ओर अवस्थित, पूर्ण सत्तासामान्यरूप परम साम्यभूत परमात्मामें विकारमुक्त होकर स्थाणुकी तरह मैं स्थित हूँ ॥ ७ ॥

इस प्रकार विचार कर वह ध्यानमें छः दिन तक फिर बैठ गये। तदनन्तर उस प्रकार प्रबोधको प्राप्त हुए, जिस प्रकार क्षणभर सोया हुआ पथिक प्रबोधको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

तदनन्तर उस समय व्युत्थान-दशामें भी समाहित स्थितिवाले सिद्ध, महान्

वस्तु नाऽभिननन्दाऽसौ निनिन्द न कदाचन ।
न जगाम तथोद्वेगं न च हर्षमवाप सः ॥ १० ॥
गच्छतंस्तिष्ठतश्चैव तस्यैवमभवद्धृदि ।
विनोदाय विचित्तस्य कथा स्वमनसा सह ॥ ११ ॥
अव्ययेन्द्रियवर्गेश मनः शमवता त्वया ।
पश्याऽऽनन्दसुखं कीदृग्विधमासादितं ततम् ॥ १२ ॥
एषैवाऽविरतं तस्मान्नीरागैव दशा त्वया ।
अवलम्ब्या परित्याज्यं चापलं चलतां वर ॥ १३ ॥
भो भो इन्द्रियचौरा हे हताशा हतनामकाः ।
युष्माकं नाऽयमात्माऽस्ति न भवन्तस्तथाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥

तपस्वी, भगवान् वीतहव्यने जीवन्मुक्तस्वरूपसे चिरकाल तक यत्र-तत्र विचरण किया ॥ ९ ॥

ये महामुनि वीतहव्य न तो गुणदृष्टिसे किसी वस्तुकी स्तुति करते थे और न दोषदृष्टिसे किसीकी निन्दा भी कभी करते थे। वे न तो कभी उद्वेगको प्राप्त होते थे और न कभी हर्षको प्राप्त होते थे ॥ १० ॥

चलते-फिरते उठते-बैठते चित्तसे शून्य हुए उस वीतहव्य मुनिके हृदयमें अपने मनके (बाधित-अनुवृत्त मनके) साथ विनोदके लिए इस प्रकारकी कथा यानी वक्ष्यमाण विचारात्मक कथा हुई ॥ ११ ॥

विषयोंके उपभोगसे सामर्थ्यके व्ययसे रहित, इन्द्रियोंके स्वामी हे मन, देखो कि शमसे समन्वित तुमने किस प्रकारके समस्त जगत्को आनन्द देनेवाले व्यापक सुखको अथवा निरतिशयानन्दरूपी सुन्दर ब्रह्मरूप आकाशको प्राप्त किया है ॥ १२ ॥

हे चंचल पदार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ मन, इसलिए तुमको आगे भी इस रागशून्य दशाका ही अवलम्बन करना चाहिए और अपनी चंचल वृत्तिका परित्याग कर देना चाहिए ॥ १३ ॥

हे इन्द्रिय नामको धारण करनेवाले चोर और हे नष्ट आशावृन्द, यह मेरे द्वारा अनुभूयमान आत्मा तुम्हारा नहीं है और तुम लोग आत्माके नहीं हो ॥१४॥

व्रजतां वो विनाशांशमाशा वो विफलीकृताः ।
न समर्थाः समाक्रान्तौ भवन्तो भङ्गुराश्रयाः ॥ १५ ॥
वयमात्मेति यैषा वो बभूव किल वासना ।
तत्त्वविस्मृतिजाता हि दृष्टरज्जुभुजङ्गवत् ॥ १६ ॥
अनात्मन्यात्मता सैषा सैषा वस्तुन्यवस्तुता ।
अविचारेण वै जाता विचारेण क्षयं गता ॥ १७ ॥
भवन्तोऽन्ये वयं चाऽन्ये ब्रह्माऽन्यत्कर्तृता परा ।
अन्यो भोक्ताऽन्य आदत्ते को दोषः कस्य कीदृशः ॥ १८ ॥

हे इन्द्रियगण, इस प्रकार आत्माके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण अब तुम लोग अवशिष्ट अपने असत्त्व स्वरूपको ही प्राप्त हो जाओ। तुम्हारी समग्र अभिलाषाएँ निष्फल कर दी गई हैं। अब विनष्ट आश्रयवाले तुम लोग मेरे ऊपर आक्रमण करनेमें समर्थ नहीं हो ॥ १५ ॥

तब पहले हम लोगोंमें तुम्हारे ऊपर आक्रमण करनेकी सामर्थ्य कहाँसे थी ? तो आत्माके साथ तादात्म्य आदिके अध्याससे थी, ऐसा कहते हैं—**'वयमात्मेति'** इत्यादिसे।

हे इन्द्रियगण, 'हम आत्मा हैं' इस प्रकारकी जो यह तुम लोगोंको वासना हुई थी, वह आत्मतत्त्वकी विस्मृतिसे उस प्रकार उत्पन्न हुई, जिस प्रकार रज्जु-तत्त्वकी विस्मृतिसे रज्जुमें सर्पवासना उत्पन्न होती है ॥ १६ ॥

उक्त यह वासना अनात्मामें आत्मत्वरूपा भ्रान्ति और वस्तुमें अवस्तुत्वरूपा भ्रान्ति थी। वह आत्माके अविचारसे उत्पन्न हुई थी और आत्माके विचारसे विनाशको प्राप्त हो गई ॥ १७ ॥

इस प्रकार विवेकज्ञान हो जानेपर किसीको भी आपके द्वारा उत्पन्न दोषोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'भवन्तः' इत्यादिसे।

हे इन्द्रियगण, करणस्वरूप आप लोग दूसरे हैं, अभिमान करनेवाले हम लोग दूसरे हैं, अद्वितीय ब्रह्म दूसरा है, प्राणहेतुक क्रियाकारणता दूसरी है, चिदाभासरूपी भोक्ता दूसरा है और ग्रहण करनेवाला मन दूसरा है, ऐसी स्थितिमें किसका किस प्रकार कौन-सा दोष हो सकता है ॥ १८ ॥

वनेभ्यो दारु संजातं रज्जवो वेणुचर्मणः ।
वासी चाऽयःफलान्येव तक्षा ग्रासार्थमुद्यतः ॥ १९ ॥
इत्थं यथेह सामग्र्या स्वशक्तिस्थपदार्थया ।
संपन्ना काकतालीया दृढा वरगृहाकृतिः ॥ २० ॥
संपन्नाः काकतालीयात् स्वशक्तिनियतेन्द्रियाः ।
तथैव कलिका लोलं केव कस्याऽत्र खण्डना ॥ २१ ॥
विस्मृतिर्विस्मृता दूरं स्मृतिः स्फुटमनुस्मृता ।
सत्सज्जातमसच्चाऽसत् क्षतं क्षीणं स्थितं स्थितम् ॥ २२ ॥
एवंविधेन भगवान् विचारेण महातपाः ।
सोऽतिष्ठन् मुनिशार्दूलो बहून्वर्षगणानिह ॥ २३ ॥

यदि ऐसी बात है, तो व्यवहाररूपी कार्यकी सिद्धि किस रीतिसे होगी ? तो काकतालीय न्यायसे होगी, यों गृहदृष्टान्तसे कहते हैं—'वनेभ्यः' इत्यादिसे ।

अरण्यसे लकड़ी उत्पन्न हुई, बासोंकी त्वचासे लकड़ीके बोझको बांधनेकी रज्जु हुई, वसुला, कुठार आदि लोहेसे उत्पन्न हुए और बढ़ई अपने उदरकी पूर्तिके लिए ही प्रवृत्त हुआ, न कि घरकी सिद्धिके लिए ॥ १९ ॥

यों इस लोकमें अपने-अपने भिन्न-भिन्न प्रयोजनके लिए अवस्थित पदार्थोंकी यानी क्रिया-कारकरूप पदार्थोंकी सामग्रीसे अर्थतः उत्पद्यमान दृढ़ गृहाकृति जैसे काकतालीय ही है यानी काकतालीय न्यायसे ही सिद्ध होती है, वैसे ही प्रकृत कार्यकरणसंघातस्थलमें भी काकतालीय न्यायसे ही दर्शन, श्रवण, आदान आदि अपनी-अपनी शक्तियोंसे नियत ज्ञान-कर्मेन्द्रियोंसे समन्वित तत्-तत् उस प्रकारकी व्यवहाररूप कार्यकलिका चंचलतापूर्वक उत्पन्न हुई हैं, उसमें किसकी क्या क्षति है अर्थात् किसीकी कोई क्षति नहीं है ॥ २०, २१ ॥

अब अविद्या दूरसे ही विस्मृत हो गई, आत्मविद्या विस्पष्टरूपसे अनुभूत हो गई, जो सत् था वही सत् रहा, असत् असत् ही रहा, विघ्न क्षीण हो गया और जो स्थितिके योग्य था, वही स्थित रह गया ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी, इस प्रकारके विचारसे युक्त होकर उन महान् तपस्वी मुनि-श्रेष्ठ भगवान् वीतहव्यने अनेक बरसों तक इस लोकमें अपनी स्थिति की ॥ २३ ॥

अपुनर्भवनायैव यत्र चिन्ताऽन्तमागता ।
मूढता च सुदूरस्था तत्राऽसाववसत् सदा ॥ २४ ॥
यथाभूतपदार्थौघदर्शनोत्थमनर्थकम् ।
ध्यानाश्वासनमालम्ब्य सोऽवसत्सुखगः सदा ॥ २५ ॥
हेयादेयसमासङ्गत्यागादानदृशोः क्षये ।
वीतहव्यमुनेरासीदिच्छानिच्छातिगं मनः ॥ २६ ॥
विदेहकेवलीभावे सीमान्ते जन्मकर्मणाम् ।
संसारसङ्गसंत्यागरसासवनवेच्छया ।
विवेश स तयैवाऽन्ते सह्याद्रौ हेमकन्दरम् ॥ २७ ॥
अपुनःसङ्गमायाऽऽशु जगज्जालमवेक्ष्य सः ।
बद्धपद्मासनः स्थित्वा तत्रोवाचाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ २८ ॥

श्रीरामजी जिस पदके प्राप्त होनेपर पुनर्जन्मके लिए चिन्ता विनष्ट हो जाती है और मूढ़ता कोसों दूर भाग जाती है, उस परम पूर्णानन्द स्वप्रकाशरूप पदमें निरन्तर ये मुनि अवस्थित थे ॥ २४ ॥

किसी समय भ्रान्तिसे चित्र-विचित्र पदार्थोंके समूहके दर्शनसे प्राप्त हुए यथा-स्थित आत्मभूत वस्तुमें अविश्वासका वारण करनेके लिए बार-बार ध्यानमें विश्वासका अवलम्बन कर वह सुखानुभवको प्राप्त करते हुए सदा स्थित रहते थे ॥ २५ ॥

शेष प्रारब्धका विनाश हो जानेपर मुनि वीतहव्यका मन किस तरहका रहा, उसे कहते हैं—'हेया०' इत्यादिसे ।

त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थोंकी प्राप्ति हो जानेपर भी त्याग और ग्रहणकी बुद्धिका क्षय हो जानेके कारण महामुनि वीतहव्यका अन्तः-करण इच्छा और अनिच्छाका अतिक्रमण कर गया था ॥ २६ ॥

देहापगमदशामें एक अद्वितीयरूपसे स्थित, जन्म एवं कर्मोंकी अवधिके अवसानरूप तथा प्रतिभासमात्रसे भी अवस्थित देह आदि संसारके सङ्गका त्याग हो जानेपर परिशेषमें रहनेवाले ब्रह्मरसरूपी मकरन्दमें उनको उत्कण्ठा हुई और उसके बाद उन्होंने उसी इच्छाके साथ सह्य पर्वतकी सुवर्णकन्दरामें प्रवेश किया ॥२७॥

फिर देह आदिके साथ सङ्गति न हो, इसलिए शीघ्र जगत्रूप जालका

राग नीरागतां गच्छ द्वेष निर्द्वेषतां व्रज ।
भवद्भ्यां सुचिरं कालमिह प्रक्रीडितं मया ॥ २९ ॥
भोगा नमोऽस्तु युष्मभ्यं जन्मकोटिशतान्यहम् ।
भवद्भिर्लालितो लोके लालकैरिव बालकः ॥ ३० ॥
इमामपि परां पुण्यां निर्वाणपदवीमहम् ।
येन विस्मारितस्तस्मै सुखायाऽस्तु नमो नमः ॥ ३१ ॥
त्वदुत्तप्तेन हे दुःख मयाऽऽत्माऽन्विष्ट आदरात् ।
तस्मात्त्वदुपदिष्टोऽयं मार्गो मम नमोऽस्तु ते ॥ ३२ ॥
त्वत्प्रसादेन लब्धेयं शीतला पदवी मया ।
दुःखनाम्ने दुःखतत्त्व सुखदाऽऽत्मन्नमोऽस्तु ते ॥ ३३ ॥

भलीप्रकार अवलोकन कर वे महामुनि पद्मासन लगाकर बैठ गये और तदनन्तर वहाँ अपने आप ही अपने अन्दर कहने लगे ॥ २८ ॥

स्वाभाविक शत्रुभूत राग, द्वेष आदिमें भी द्वेषाभावरूपता और मैत्रीकी भावना करते हुए मोक्षपदको जानेकी इच्छावाले-से होकर हितका उपदेश कर रहे प्रणाम करके उनको संबोधित करते हैं—'**राग**' इत्यादिसे ।

हे राग, अब तुम नीरागस्वरूप हो जाओ । हे द्वेष, तुम द्वेषाभावरूप हो जाओ । आप दोनोंने इस लोकमें मेरे साथ दीर्घकाल तक क्रीड़ा की है ॥ २९ ॥

हे भोग, मैं आप लोगोंको प्रणाम करता हूँ, आप लोगोंने मेरा इस लोकमें सौ करोड़ों वर्ष तक उस प्रकार लालन-पालन किया है, जिस प्रकार प्यार करनेवाले पिता आदिने बालकका लालन-पालन किया हो ॥ ३० ॥

सबसे पुण्यतम इस मोक्षपदका भी जिसने मुझको विस्मरण कराया था, उस अंशरूप विषयसुखको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ॥ ३१ ॥

हे दुःख, तुम्हारे द्वारा सन्तप्त हुए मैंने अत्यन्त आदरसे आत्माका अन्वेषण किया है, इसलिए इस मोक्षमार्गका तुमने ही मुझको उपदेश दिया । अतः मेरा तुम्हें प्रणाम हो ॥ ३२ ॥

हे दुःखके तत्त्वभूत सुखद आत्मन्, तुम्हारी ही अनुकम्पासे मैंने यह

कल्याणमस्तु ते मित्र संसारासारजीवित ।
देहस्थितिरियं यामो वयमात्मीयमास्पदम् ॥ ३४ ॥
प्रयोजनानां जन्तूनामहो नु विषमा गतिः ।
देहेनाऽपि वियुज्येऽहं भूत्वा जन्मशतान्यपि ॥ ३५ ॥
मित्रकाय मया यत्त्वं त्यज्यसे चिरबान्धवः ।
त्वयैवाऽऽत्मन्युपानीता सात्मज्ञानवशात् क्षतिः ॥ ३६ ॥
अधिगम्याऽऽत्मविज्ञानमात्मनाशः कृतस्त्वया ।
देह नाऽन्येन भग्नोऽसि त्वयैवैतदुपासितम् ॥ ३७ ॥

अत्यन्त शीतल पदवी (निरतिशयसुखरूप मोक्षपदवी) प्राप्त की है, अतः दुःख-नामधारी तुम्हें मेरा प्रणाम हो ॥ ३३ ॥

अब ज्ञानके प्रादुर्भावमें उपकारक देहकी प्रार्थना कर उसको संबोधित करते हैं—'**कल्याण०**' इत्यादिसे ।

संसारमें सारहीन जीवनवाले हे मित्र देह, तुम्हारा कल्याण हो, क्योंकि तुम्हारी ही कृपासे हम अपने स्थानको जा रहे हैं । हे देह, यह अपने लोगोंकी वियोगकी अवस्था आजकी नहीं है, किन्तु अनादि नियतिका यही स्वभाव है, कारण कि जो संयोग होता है, उसका अन्तमें वियोगमें ही पर्यवसान होता है ॥ ३४ ॥

आश्चर्य है कि प्राणियोंके स्वार्थोंकी अत्यन्त विषम गति है, क्योंकि वस्तुकी प्राप्तिके लिए घनिष्ठ मित्र आदि स्वजनोंको भी छोड़कर पुरुष दूर-दूर दौड़ जाते हैं । इसी न्यायके अनुसार सैकड़ों जन्म तक साथी रहकर मैं भी आज अपने प्यारे मित्र शरीरसे अलग हो रहा हूँ ॥ ३५ ॥

हे मित्र देह, चिरकालसे बन्धुरूप तुम मेरे द्वारा जो त्यागे जा रहे हो वह एक स्वार्थकी ही लीला है । [यह मेरा अपराध नहीं है, किन्तु तुमने अपना ही नाश करनेके लिए मेरा उपकार किया है, यों मानो शोक कर रहे कहते हैं—'त्वयैव०' से ।] हे देह, तुमने ही अपने लिए आत्मज्ञानवश उस प्रकारकी क्षति उठा ली है ॥ ३६ ॥

तुमने आत्माके विज्ञानकी प्राप्तिकर अपना विनाश किया है, अतः

एकाकिन्याऽपि शुष्यन्त्या प्रशान्ते मयि दीनया।
त्वया दुःखं न कर्तव्यं मातस्तृष्णे व्रजाम्यहम् ॥ ३८ ॥
क्षन्तव्याः काम भगवन्विपरीतापराधजाः।
दोषा उपशमैकान्तं व्रजाम्यादिश मङ्गलम् ॥ ३९ ॥
चिराच्चिराय चेदानीमम्ब तृष्णे किलाऽऽवयोः।
वियोगो योगदोषेण प्रणामोऽयं स पश्चिमः ॥ ४० ॥
नमः सुकृतदेवाय भवतेऽस्तु त्वया पुरा।
नरकेभ्यः समुत्तार्य स्वर्गेऽहमभियोजितः ॥ ४१ ॥
कुकार्यक्षेत्ररूढाय नरकस्कन्धवाहिने।
शासनापुष्पभाराय नमो दुष्कृतशाखिने ॥ ४२ ॥

हे देह, तुम्हारे द्वारा ही यह तुम्हारा विनाश किया गया है, दूसरेके द्वारा नहीं किया गया है ॥ ३७ ॥

अब तृष्णाकी प्रार्थना करते हैं—'एकाकिन्याऽपि' इत्यादिसे।

हे मातृरूप तृष्णे, मैं अब जा रहा हूँ। मेरे जानेपर तुम अकेली, शुष्क और दीन हो जाओगी, पर दुःख मत करना ॥ ३८ ॥

हे काम भगवन्, तुम्हारे ऊपर विजय पानेके लिए मैंने तुम्हारे विरोधी वैराग्य-सेवन आदि दोष किये थे, उन दोषोंके लिए मुझे क्षमा-प्रदान कीजिए। अब मैं उत्तम विश्रान्तिकी ओर जा रहा हूँ। मेरी मङ्गलकामना करिए ॥ ३९ ॥

अब फिर पुनरावृत्तिके द्वारा तृष्णाके मुखका दर्शन न हो, इसलिए उसका निवारण कर रहे मुनि वीतहव्य कहते हैं—'चिरात्' इत्यादिसे।

हे मातृरूप तृष्णे, अबसे लेकर अपने दोनोंका संयोगके-दोषसे ही सदाके लिए वियोग हो रहा है। इसलिए मैं तुम्हें यह आखिरी प्रणाम कर रहा हूँ ॥ ४० ॥

हे पुण्यदेव, आपको मैं प्रणाम करता हूँ, आप ही ने पहले मेरा नरकोंसे उद्धार कर स्वर्गके साथ सम्बन्ध करवाया था ॥ ४१ ॥

निषिद्ध आचरणरूपी खेतमें उत्पन्न हुए, नरकरूपी बड़ी-बड़ी शाखाओंको

येन सार्धं चिरं बह्वयो भुक्ताः प्राकृतयोनयः ।
अद्यप्रभृत्यदृश्याय तस्मै मोहात्मने नमः ॥ ४३ ॥
प्रध्वनद्वंशमधुरवचसे पत्रवाससे ।
नमो गुहातपस्विन्यै वयस्यायै समाधिषु ॥ ४४ ॥
संसाराध्वनि खिन्नस्य त्वं ममाऽऽश्वासकारणम् ।
आसीर्वयस्या सुस्निग्धा सर्वलोभापहारिणी ॥ ४५ ॥
सर्वसङ्कटखिन्नेन दोषेभ्यो द्रवता मया ।
त्वमेका शोकनाशार्थमाश्रिता परमा सखी ॥ ४६ ॥
सङ्कटावटकुञ्जेषु हस्तालम्बनदायिने ।
वार्धकैकान्तसुहृदे दण्डकाष्ठाय ते नमः ॥ ४७ ॥

धारण करनेवाले और यातनारूपी पुष्प-समूहसे युक्त पापरूपी वृक्षको मेरा नमस्कार हो ॥ ४२ ॥

जिसके साथ मैंने दीर्घकालतक प्राकृत योनियोंका उपभोग किया था, आजतक प्रत्यक्ष नहीं हुए उस मोहस्वरूपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४३ ॥

शब्द कर रहे बाँस जिसके मधुर शब्द हैं और शीर्ण पत्ते ही जिसके पहननेके लिए वस्त्र हैं, समाधिमें प्रेयसी स्त्रीके सदृश व्यवहार करनेवाली उस गुहारूपी तपस्विनीको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४४ ॥

हे सखी गुहातपस्विनि, संसाररूपी महामार्गमें खिन्न हुए मेरे लिए तुम ही अकेली आश्वासन देनेमें समर्थ, अत्यन्त स्नेहसे समन्वित, पूर्ण आत्मांमें विश्रान्ति-प्रदान द्वारा समस्त लोभोंको नाश करनेवाली वयस्या (मित्र) हुई ॥ ४५ ॥

अनेक दुःखोंसे खिन्न तथा दोषोंसे (समाधिके विघ्नोंसे) द्रवीभूत हुए मैंने शोकका विनाश करनेके लिए उत्तम सखीभूत तुम अकेलीका ही आश्रयण किया ॥ ४६ ॥

अब दण्डकाष्ठके गुणोंका वर्णन कर उसको नमस्कार करते हैं—**'सङ्कटा०'** इत्यादिसे ।

कुत्ते, सर्प आदिसे होनेवाले भयोंमें, विषमप्रदेशोंमें तथा गड्ढे और

अस्थिपञ्जरमात्मीयं तथा रक्तान्त्रतन्तुकम् ।
एतावन्मात्रसारैकं गृहीत्वा गच्छ देहक ॥ ४८ ॥
पयःक्षोभप्रकारेभ्यः स्नानेभ्योऽपि नमोऽस्तु ते ।
नमोऽस्तु व्यवहारेभ्यः संसृतिभ्यो नमोऽस्तु ते ॥ ४९ ॥
एते भवन्तः सहजाः प्राक्तनाः सुहृदो मया ।
क्रमेणाऽद्योत्कृताः प्राणाः स्वस्ति वोऽस्तु व्रजाम्यहम् ॥ ५० ॥
भवद्भिः सह चित्रासु मया बह्वीषु योनिषु ।
विश्रान्तं गिरिकुञ्जेषु श्रान्तं लोकान्तरेषु च ॥ ५१ ॥

कुञ्जोंमें हाथको अवलम्बन देनेवाले, वृद्धावस्थाके एकमात्र मित्र दण्डरूप काष्ठ तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४७ ॥

अब सम्पूर्ण देहभाग देहको ही समर्पण करते हैं—'अस्थि०' इत्यादिसे ।

हे देह, एक अस्थिपञ्जर और दूसरा रक्त तथा आँतरूपी सूत्र—बस इन्हीं दो तत्त्वोंसे समन्वित तुम्हारा असाधारण विभाग है, इस अपने विभागको लेकर तुम अपनी प्रकृतिकी ओर चले जाओ ॥ ४८ ॥

हे देह, तुम्हारे मल, दौर्गन्ध्य, स्वेद आदिके द्वारा दूषित हो जानेके कारण हुए जो जलके अपराध हैं, उनके प्रकार-विशेष-स्वरूप तुम्हारी विशुद्धिका सम्पादन करनेवाले स्नानरूप उपायोंको भी मैं प्रणाम करता हूँ तथा तुम्हारे भोजन, शयन, अलंकरण आदि व्यवहारोंको एवं भोजनादि सामग्रीके सम्पादनके लिए इतस्ततः दौड़धूप करनेकी प्रवृत्तियोंको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४९ ॥

हे पुराने सहज मित्ररूप प्राण, आज मैंने मित्रोंकी नमस्कार-परम्परामें आप लोगोंको भी ऊँचा बना दिया है यानी आप लोगोंको भी नमस्कार किया है, आपका कल्याण हो, मैं जा रहा हूँ ॥ ५० ॥

पहलेके सुहृद्भावका वर्णन करते हैं—'भवद्भिः' इत्यादिसे ।

हे प्राणवृन्द, आप लोगोंके साथ मैंने चित्र-विचित्र अनेक योनियोंमें विश्राम किया और पर्वतके कुञ्जोंमें तथा लोकान्तरोंमें भी विश्राम किया था ॥५१॥

क्रीडितं पुरपीठान्तरुषितं पर्वतेषु च ।
स्थितं कार्यविलासेषु प्रस्थितं विविधाध्वसु ॥ ५२ ॥
न तदस्ति जगत्कोशे भवद्भिः सह यन्मया ।
न कृतं न हृतं यातं न दत्तं नाऽवलम्बितम् ॥ ५३ ॥
इदानीं स्वां दिशं यान्तु भवन्तो याम्यहं प्रियाः ।
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ॥ ५४ ॥
संयोगा विप्रयोगान्ताः सर्वे संसारवर्त्मनि ।
अयं चाक्षुष आलोको विशत्वादित्यमण्डलम् ॥ ५५ ॥
विशन्तु वनपुष्पाणि सौगन्ध्यानन्दसंविदः ।
प्राणानिलस्तथा स्पन्दं विशत्वद्य प्रभञ्जनम् ॥ ५६ ॥

आप लोगोंके साथ ही मैंने नगरोंमें और सिद्धोंके क्षेत्रोंमें क्रीडा की, पर्वतोंमें निवास किया, कार्योंके विलासोंमें स्थिति की और विविध प्रकारके मार्गोंमें प्रस्थान किया ॥ ५२ ॥

हे प्राणवृन्द, संसारके कोशमें ऐसा कोई भी नहीं है, जिसको आप लोगोंके साथ मैंने अपने हाथोंसे न किया हो, न अपहृत किया हो, न दिया हो, और जो पैरोंसे न गत हुआ हो और मनसे जो अवलम्बित न हुआ हो ॥ ५३ ॥

हे प्रिय प्राण-समुदाय, आप अपनी प्रकृतिमें जाइये और मैं ब्रह्ममें जाता हूँ, [आप लोग यह शङ्का न करें कि हम लोगोंका प्रकृतिमें प्रविलाप क्यों कराते हैं ? कार्यकरणसंघातरूपसे ही स्थित होकर भोग्यसमुदायको ही पहलेके समान क्यों न प्राप्त जायँ,] क्योंकि जितने भोग्यसमूह हैं, वे अन्तमें क्षयी हैं और जितने उन्नत हैं, वे अन्तमें पतनशील हैं। संसार-मार्गमें जितने संयोग हैं, वे सब अन्तमें वियोगको ही प्राप्त होते हैं। [अब प्रत्येक इन्द्रिय आदिके द्वारा प्राप्त करने योग्य प्रकृतिको विभागपूर्वक बतलाते हैं—'अयम्' से । यह चक्षुका आलोक आदित्यमण्डलमें प्रवेश करे ॥ ५४, ५५ ॥

सौगन्ध्यहेतुक आनन्दज्ञानकी करण घ्राणेन्द्रिय गन्धकी आश्रय पृथ्वीमें प्रविष्ट हो जाय, प्राणवायु तथा तदीय चेष्टा प्रभञ्जननामक वायुतत्त्वमें आज प्रविष्ट हो जाय ॥ ५६ ॥

विशन्त्वाकाशकुहरं शब्दश्रवणशक्तयः ।
इन्दुमण्डलमायान्तु रसनारसशक्तयः ॥ ५७ ॥
निर्मन्दर इवाऽम्भोधिर्गतार्क इव वासरः ।
शरदीव घनः स्वैरं प्राप्तः कल्पान्तसर्गवत् ॥ ५८ ॥
ओंकारान्ते स्वमननं प्रशाम्याम्यात्मनाऽऽत्मनि ।
दग्धेन्धन इवाऽर्चिष्मान्निःस्नेह इव दीपकः ॥ ५९ ॥
व्यपगताखिलकार्यपरम्परः
सकलदृश्यदशातिगतस्थितिः ।
प्रणवशान्त्यनुसंसृतिशान्तधी-
र्विगतमोहमलोऽयमहं स्थितः ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे इन्द्रियवर्गनिराकरणोपदेशो नाम षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

शब्दोंकी श्रवणशक्ति यानी श्रोत्रेन्द्रिय आकाशकुक्षिमें प्रविष्ट हो जाय और रसनाकी रसग्रहणशक्ति यानी रसनेन्द्रिय चन्द्रमण्डलरूपी जलमें प्रविष्ट हो जाय ॥ ५७ ॥

उस प्रकार उपाधिभूत आप लोगोंके अपनी-अपनी प्रकृतियोंमें प्रविष्ट हो जानेपर आपमें प्रतिबिम्बित चिदाभासस्वरूप मैं जीवात्मा भी अपने बिम्बरूप प्रणवकी चतुर्थ अर्धमात्रासे लक्षित ब्रह्मात्मामें प्रविष्ट हो जाता हूँ यानी विश्रान्ति लेता हूँ, यों कहते हैं—**'निर्मन्दर'** इत्यादिसे ।

मन्दराचलके अभावमें समुद्रकी नाईं, सूर्यके अभावमें दिनकी नाईं, शरत्-कालमें अपने उपादान कारणमें विलयको प्राप्त हुए मेघकी नाईं, इन्धनोंके दग्ध होनेपर अग्निकी नाईं तथा स्नेहके अभावमें दीपककी नाईं ओंकारकी अन्तिम अर्धमात्रासे लक्षित परब्रह्मस्वरूप अपनेमें अपने आपसे ही मैं आत्यन्तिक मनः-शान्तिपूर्वक विश्रान्ति लेता हूँ ॥ ५८, ५९ ॥

सम्पूर्ण कार्योंकी परम्परासे शून्य, समस्त दृश्योंकी अवस्थाको अतिक्रमण कर स्थिति रखनेवाला, दीर्घ उच्चारित प्रणवकी ब्रह्मरन्ध्रमें विश्रान्तिका अनुसरण कर ब्रह्म-

सप्ताशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं कलितवानन्तः प्रशान्तमननैषणः ।
शनैरुच्चारयंस्तारं प्रणवं प्राप्तभूमिकः ॥ १ ॥
मात्रादिपादभेदेन प्रणवं संस्मरन् यतिः ।
अध्यारोपापवादेन स्वरूपं शुद्धमव्ययम् ॥ २ ॥
स बाह्याभ्यन्तरान् भागान् स्थूलान्सूक्ष्मतरानपि ।
त्रैलोक्यसंभवांस्त्यक्त्वा सङ्कल्पाकल्पकल्पितान् ॥ ३ ॥

कारताकी प्राप्तिसे उपरतबुद्धि तथा प्रारब्धसे प्रतिबद्ध अवशिष्ट अविद्यारूपी मलसे रहित यह मैं पूर्णरूपसे अवस्थित हूँ ॥ ६० ॥

छियासी सर्ग समाप्त

सत्तासी सर्ग

[ॐकारकी अन्तिम मात्राका अवलम्बन कर जिस क्रमसे महामुनि वीतहव्य विदेहमुक्तिको प्राप्त हुए, उस क्रमका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, आगे कहे जानेवाले प्रकारसे अत्यन्त उच्च स्वरसे प्रणवका धीरे-धीरे दीर्घताके सम्पादन द्वारा उच्चारण कर रहे महामुनि वीतहव्यने मनन (सङ्कल्प) और एषणाओंसे (पुत्र आदिकी अभिलाषाओंसे) क्रमशः वर्जित होकर छठी या सप्तम भूमिकाको प्राप्त कर अपने हृदयमें ब्रह्मका लाभ किया ॥ १ ॥

'ओमित्येतदक्षरं सर्वम्' इत्यादि माण्डूक्य श्रुतिमें प्रदर्शित क्रमसे अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रासे कल्पित स्थूल, सूक्ष्म, अव्याकृत और तुरीयरूप पादोंके भेदसे ॐकारका स्मरण कर रहे महामुनि संन्यासी वीतहव्य पञ्चीकरण-प्रक्रियामें बतलाये गये विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृतरूप पादोंका पहले तुर्यमें 'जागरितस्थानो' इत्यादि श्रुति-प्रदर्शित रीतिके अनुसार अध्यारोप और तदनन्तर 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि श्रुति-प्रदर्शित रीतिके अनुसार अपवाद कर तीन लोकोंकी

तिष्ठन्नक्षुभिताकारश्चिन्तामणिरिवाऽऽत्मनि ।
सम्पूर्ण इव शीतांशुर्विश्रान्त इव मन्दरः ॥ ४ ॥
कुम्भकारगृहे चक्रं संरोधित इव भ्रमात् ।
अम्भोधिरिव सम्पूर्णस्तिमितस्फारनिर्मलः ॥ ५ ॥
शान्ततेजस्तमःपुञ्जं विगतार्केन्दुतारकम् ।
अधूमाभ्ररजः स्वच्छमनन्तं शरदीव खम् ॥ ६ ॥
सह प्रणवपर्यन्तदीर्घनिःस्वनतन्तुना ।
जहाविन्द्रियतन्मात्रजालं गन्धमिवाऽनिलः ॥ ७ ॥

रचनाके लिए किये गये ब्रह्माजीके सङ्कल्पसे कल्पपर्यन्त कल्पित बाह्य और आभ्यन्तर विभागसे युक्त स्थूल, सूक्ष्म और कारणस्वरूप पदार्थोंका भी परित्याग कर अविनाशी विशुद्ध ब्रह्मस्वरूपका अपरोक्ष साक्षात्कार कर [निम्न श्लोकोक्त दिशा इन्द्रिय और तन्मात्राओंका परित्याग कर दिया, यों सप्तमश्लोकस्थ क्रियासे सम्बन्ध है] ॥ २, ३ ॥

जिस प्रकार क्षोभशून्य चिन्तामणि अपने स्वरूपमें रहता है, वैसे ही क्षोभशून्य आकारवाले महामुनि वीतहव्य अपने स्वरूपमें ही स्थित थे, वे पूर्णचन्द्रकी नाईं परिपूर्ण थे तथा मन्थनरहित मन्दराचलकी नाईं स्थिर विश्रान्तिसे युक्त थे ॥ ४ ॥

भ्रमणसे रोकनेपर कुम्भकारके घरमें चक्र जिस प्रकार अक्षुब्ध आकारवाला रहता है, वैसे ही ये मुनि अक्षुब्ध आकारवाले थे और प्रशान्त अत्यन्त निर्मल समुद्रकी नाईं परिपूर्ण थे ॥ ५ ॥

[उस प्रकारके अनेक शुभ विशेषणोंसे सम्पन्न महामुनि वीतहव्यने पूर्वोक्तरीत्या अध्यारोप और अपवाद से समस्त कल्पनाओंका परित्याग कर विशुद्धि आदि गुणोंसे युक्त तथा] तेज और तम दोनोंके समूहसे रहित; सूर्य, चन्द्र और ताराओं से शून्य; धूम, अभ्र और धूलीसे वर्जित; शरत्कालीन आकाशके समान अत्यन्त स्वच्छ; असीम ब्रह्मात्माका साक्षात्कार कर प्रणवके अग्रभागके दीर्घनादरूपी सूत्रके साथ ही इन्द्रिय और शब्दादि तन्मात्राओंके जालको उस प्रकार त्याग दिया, जिसप्रकार वायुने गन्धको त्याग दिया हो ॥ ६, ७ ॥

ततो जहौ तमोमात्रं प्रतिभातमिवाऽम्बरे ।
उत्तिष्ठत्प्रस्फुरद्रूपं प्राज्ञः कोपलवं यथा ॥ ८ ॥
प्रतिभातं ततस्तेजो निमेषार्धं विचार्य सः ।
जहौ बभूव च तदा न तमो न प्रकाशकम् ॥ ९ ॥
तामवस्थामथाऽऽसाद्य मनसा तन्मनस्तृणम् ।
मनागपि प्रस्फुरितं निमिषार्धादशातयत् ॥ १० ॥
ततोऽङ्ग संविदं स्वस्थां प्रतिभासमुपागताम् ।
सद्योजातशिशुज्ञानसमानकलनामलम् ॥ ११ ॥
निमेषार्धार्धभागेन कालेन कलनां प्रभुः ।
जहौ चितश्चेत्यदशां स्पन्दशक्तिमिवाऽनिलः ॥ १२ ॥

तदनन्तर आकाश-मण्डलमें चक्षु द्वारा दिखाई पड़नेवाले तमोभागकी नाईं चिदाकाशमें साक्षीके द्वारा सिद्ध तथा प्रकाशित हो रहे तमोमात्रको (अविद्याके तामसवृत्ति-विशेषको) ऐसे त्याग दिया, जैसे बुद्धिमान् क्रोधांशको त्याग देता है ॥ ८ ॥

तदनन्तर आधे क्षण विचार कर उक्त मुनिने प्रकाशित हो रहे तेजका भी (अविद्याके सात्त्विकवृत्तिविशेषका भी) परित्याग कर दिया । तम और तेज दोनोंका परित्याग करनेसे वे मुनि न तम और न प्रकाशरूप थे यानी तम और प्रकाश दोनोंसे शून्य अवस्थाको प्राप्त हुए थे ॥ ९ ॥

अनन्तर तम और प्रकाशसे शून्य अवस्थाको प्राप्तकर मुनि वीतहव्यने कल्पनाके हेतुभूत मनरूपी तृणको, जो किञ्चित् प्रकाशित भी था, आधे निमेषमें मनसे ही काट दिया ॥ १० ॥

हे श्रीरामजी, तदनन्तर वातशून्य प्रदेशमें स्थित प्रदीपकी नाईं विस्पष्ट प्रकाश को प्राप्त हुई अपने स्वरूपमें स्थित संवित्का, जो तत्क्षण उत्पन्न हुए बालकके ज्ञान के सदृश वासनादिसे वर्जित थी, अवलम्बन कर चितिकी चेत्यदशारूप कल्पनाको उसकी उत्पत्तिके पहले ही समर्थ मुनि वीतहव्यने निमेषके चतुर्थ भागात्मक कालमें ही उस प्रकार परित्याग कर दिया, जिस प्रकार वायु स्पन्दन शक्तिका परित्याग कर देता है ॥ ११, १२ ॥

पश्यन्तीपदमासाद्य सत्तामात्रात्मकं ततः ।
प्रसुप्तपदमालम्ब्य तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ १३ ॥
ततः सुषुप्तसंस्थानं स्थित्वा स्थित्वा विभुर्मनाक् ।
सुषुप्ते स्थैर्यमासाद्य तुर्यरूपमुपाययौ ॥ १४ ॥
निरानन्दोऽपि सानन्दः सच्चाऽसच्चाऽपि तत्र सः ।
आसीन्न किञ्चित्किञ्चित्तत्प्रकाशस्तिमिरं यथा ॥ १५ ॥
अचिन्मयं चिन्मयं च नेति नेति यदुच्यते ।
ततस्तत्संबभूवाऽसौ यद्गिरामप्यगोचरः ॥ १६ ॥

श्रीरामजी, तदनन्तर इस रीतिसे साक्षिमात्रके परिशेषस्वरूप 'पश्यन्ती' पद-को प्राप्तकर अनन्तर 'पश्यन्ती' पद ही आकाश आदिके बाधाश्रयरूपसे अवशिष्ट सत्तामात्रस्वरूप कारणतत्त्व होनेके कारण तद्भावमें स्थितिरूप सुषुप्त स्थानको प्राप्त-कर मुनि वीतहव्य पर्वतकी नाईं अचल होकर स्थित हो गये ॥ १३ ॥

तदनन्तर समर्थ मुनि वीतहव्य पहले उक्त सुषुप्त स्थानमें किञ्चित् किञ्चित् स्थित होकर अनन्तर उसमें स्थिरताको प्राप्तकर तुर्यरूपमें लीन हो गये। 'तुर्यरूप-मुपाययौ' इस वाक्यसे पहले सदेहावस्थ छठी और सप्तम भूमिकाको बतलाकर साक्षीकी सदेकरसता सिद्ध हो जानेपर निरतिशय अखण्ड आनन्दके आविर्भावसे अवशिष्ट प्रारब्धके साथ जगत्-प्रतिभासका आत्यन्तिक विनाश और तदनन्तर विदेहकैवल्यकी प्राप्ति बतलाई गई है ॥ १४ ॥

तदनन्तर वे किंस्वरूप थे ? इस चतुर्थ प्रश्नका उत्तर देते हैं—'**निरानन्दः**' इत्यादिसे ।

जैसे रात्रिमें देखनेवाले उलूक आदिको अन्धकार ही प्रकाशरूप होता है, वैसे ही उस तुर्य अवस्थामें वे मुनि विषयप्रयुक्त आनन्दसे वर्जित होते हुए भी स्वरूपभूत आनन्दसे युक्त थे, स्वभिन्न सत्तासे शून्य होते हुए भी स्वरूपतः सत्तारूप थे, स्वभिन्न वस्तुस्वरूपसे अकिञ्चिद्रूप होते हुए भी स्वतः किञ्चि-द्रूप थे ॥ १५ ॥

वे चेत्यका अभाव होनेसे अचिन्मय और स्वतः चित्स्वरूप थे। तदनन्तर 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियोंसे बोधित जो अद्वैत तत्त्व है और जो वाणीका भी अगोचर है, उस तत्त्वको ये मुनि प्राप्त हो गये ॥ १६ ॥

तदसौ सुसमं स्फारं पदं परमपावनम् ।
सर्वभावान्तरगतमभूत्सर्वविवर्जितम् ॥ १७ ॥
यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम् ।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम् ॥ १८ ॥
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम् ।
शिवः शशिकलाङ्कानां कालः कालैकवादिनाम् ॥ १९ ॥
आत्माऽऽत्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम् ।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम् ॥ २० ॥

इसके अनन्तर ये मुनि समस्त पदार्थोंमें अवस्थित, समस्त भावोंसे वर्जित, निरतिशय समतासे पूर्ण प्रकाशमान परम पवित्र पदस्वरूप हो गये ॥ १७ ॥

इससे समस्त वादियोंके द्वारा नैकविध विकल्पोंसे अपने-अपने सिद्धान्त-रूपसे विकल्पित जो पद है, वही पद वीतहव्यका था, ऐसा कहते हैं—**'यत्'** इत्यादिसे ।

जो शून्यवादी बौद्धोंका शून्यरूप प्राप्य पद है, जो ब्रह्मज्ञानियोंका ब्रह्मरूप श्रेष्ठ प्राप्य पद है, जो विज्ञानवादी बौद्धोंका विज्ञानरूप निर्मल प्राप्य पद है, उस पदरूप होकर ही ये मुनि वीतहव्य स्थित थे ॥ १८ ॥

कपिलमुनि-निर्मित सांख्यशास्त्रमें प्रतिपादित पुरुषरूप, पतञ्जलिनिर्मित योग-शास्त्रमें प्रतिपादित क्लेश आदिसे वर्जित पुरुषविशेषात्मक ईश्वररूप, चन्द्रचिह्नवाले महादेवजीके अनुयायी पाशुपत मतमें प्रदर्शित शिवरूप और काल ही एक तत्त्व है, इस प्रकार प्रतिपादन करनेवाले कालवादियोंके मतमें प्रदर्शित कालरूप जो तत्त्व है, तत्स्वरूप होकर ये महामुनि वीतहव्य अवस्थित थे ॥ १९ ॥

आत्माके स्वरूपको भलीप्रकार जाननेवाले आत्मवादियोंके मतमें जो आत्म-तत्त्व है, सौत्रान्तिक और वैभाषिक मतमें प्रतिपादित स्थायित्वसे अभासमान क्षणिकविज्ञानरूपी जो नैरात्म्यतत्त्व है, चित् और अचित्के बीचमें शून्यात्मक तत्त्वका अङ्गीकार करनेवाले माध्यमिकोंके मतमें जो शून्यात्मक तत्त्व है, जीवन्मुक्त महापुरुषोंके मतमें परिपूर्ण ब्रह्मात्मक जो तत्त्व है, तत्स्वरूप होकर ही ये महा-मुनि अवस्थित थे । शून्यवादियोंसे उपक्रम कर सर्ववादियोंसे उपसंहार इसलिए किया गया है कि उनकी परिच्छिन्नता और अपरिच्छिन्नता-वादमें परम अवधि है

यत्सर्वशास्त्रसिद्धान्तो यत्सर्वहृदयानुगम् ।
यत्सर्वं सर्वगं सार्वं यत्तत्तत्सदसौ स्थितः ॥ २१ ॥
यदनुत्तमनिःस्पन्दं दीप्यते तेजसामपि ।
स्वानुभूत्येकमात्रं यद्यत्तत्तत्सदसौ स्थितः ॥ २२ ॥
यदेकं चाऽप्यनेकं च साञ्जनं च निरञ्जनम् ।
यत्सर्वं चाऽप्यसर्वं च यत्तत्तत्सदसौ स्थितः ॥ २३ ॥
अजमजरमनाद्यनेकमेकं
पदममलं सकलं च निष्कलं च ।
स्थित इति स तदा नभःस्वरूपा-
दपि विमलस्थितिरीश्वरः क्षणेन ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे वीतहव्यनिर्वाणो नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

और अन्यान्य मध्यपतित मतोंमें उभयका संमिश्रण है तथा तारतम्यसे उनका उत्थान हुआ है, यह द्योतन हो ॥ २० ॥

जो तत्त्व समस्त शास्त्रका सिद्धान्तभूत है, जो सबके हृदयमें अनुगत है, जो सर्वात्मक है और जो सबका स्वरूप है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि अवस्थित थे ॥ २१ ॥

जो सर्वथा स्पन्दनक्रियासे रहित है, जो समस्त प्रकाशमान सूर्य आदि तेजोंका भी भासक बनकर प्रकाशित हो रहा है तथा जो केवल अपने अनुभवके स्वरूपभूत है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि विराजित थे ॥ २२ ॥

जो तत्त्व वास्तवमें अद्वितीय होनेके कारण एक और मायावश अनेक भी है, जो आचार्य-वाक्यसे गम्य होनेके कारण व्यवहारमें अविद्यासे युक्त तथा परमार्थ-दशामें स्वतः प्रकाश होनेके कारण अविद्यासे रहित भी है, जो सर्वात्मक होनेसे सर्वस्वरूप तथा प्रपञ्चातीत होनेसे असर्वात्मक भी है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि अवस्थित थे ॥ २३ ॥

वह वीतहव्य मुनि उक्त क्रमसे मुक्त लोगोंकी दृष्टिमें आकाशके स्वरूपकी अपेक्षा निर्मल स्थितिवाले होकर उत्पत्तिशून्य, जरारहित, कारणवर्जित, अद्वितीय, मलसे रहित

अष्टाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

प्राप्य संसृतिसीमान्तं दुःखाब्धेः पारमागतः ।
वीतहव्यः शशामैवमपुनर्मनने मुनिः ॥ १ ॥
तस्मिंस्तथोपशान्ते हि परां निर्वृतिमागते ।
पयःकण इवाऽम्भोधौ स्वे पदे परिणामिनि ॥ २ ॥
तथैव तिष्ठन्निःस्पन्दः स कायो म्लानिमाययौ ।
अन्तर्विरसतां प्राप्य मार्गशीर्षान्तपद्मवत् ॥ ३ ॥

एवं अवयवरहित पदस्वरूप होकर अवस्थित थे और बद्ध लोगोंकी दृष्टिमें क्षणमें ईश्वर होकर अपने कार्योंके भेदसे अनेक और अवयवयुक्त होकर अवस्थित थे ॥ २४ ॥

सत्तासी सर्ग समाप्त

अट्ठासी सर्ग

[वीतहव्यके विमुक्त होनेपर हृदयमें उनके प्राणोंका लय हुआ, कारणमें देहका लय और कलाओंका लय हुआ, यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, उक्त रीतिसे संसारकी अवधिके अन्तिम स्थानभूत परब्रह्मको प्राप्त करनेके अनन्तर दुःखसागरके पारको प्राप्त हुए महामुनि वीतहव्य आत्यन्तिक मनोनाश होनेपर परम विश्रान्त हो गये ॥ १ ॥

महामुनि वीतहव्यके उस प्रकार परम विश्रान्त होनेपर निरतिशयसुखात्मक मोक्षको प्राप्त हो जानेपर तथा समुद्रमें जलकणकी नाईं अपने पदमें प्रतिष्ठित हो जानेपर उसी प्रकार अवस्थित हो रहा क्रियाशून्य वह देह भीतरी विरसताको प्राप्त होकर उस प्रकार म्लान हो गया, जिस प्रकार हेमन्त-ऋतुमें कमल म्लान हो जाता है ॥ २, ३ ॥

तस्य देहद्रुमान्तःस्थं त्यक्त्वा हृन्नीडमाययुः ।
प्रोड्डीय विहगायन्तो यन्त्रोन्मुक्ता इवाऽसवः ॥ ४ ॥
भूतेष्वेव प्रतिष्ठानि भूतानि सकलान्यलम् ।
मांसास्थियन्त्रदेहस्तु वनावनितलेऽवसत् ॥ ५ ॥

समस्त देहमें व्याप्त होकर रहनेवाले प्राणोंका हृदयमें उपसंहार कहते हैं—'**तस्य**' इत्यादिसे ।

देहरूपी वृक्षके भीतर अवस्थित, पक्षीकी नाईं आचरण करनेवाले उसके प्राण तत्-तत् नाड़ीस्थानका परित्याग कर हृदयरूपी घोंसलेकी ओर उस प्रकार आ गये, जिस प्रकार यन्त्रोंसे उन्मुक्त शिलाएँ । यहाँ 'देहरूपी वृक्षके अन्दर अवस्थित हृदयरूपी नीडका परित्याग कर प्राण बाहर आ गये' ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (तत्त्वज्ञके वाक् आदि प्राण जाते नहीं है, यहीं लीन हो जाते हैं, वह जीवित दशामें ही ब्रह्मरूप होकर ब्रह्मको प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुतिके साथ विरोध होगा और समस्त कर्म और तज्जनित वासनाओंका क्षय हो जानेके कारण उस प्रकारके उत्क्रमणमें कोई बीज या प्रयोजन नहीं है ॥ ४ ॥

'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादाय' इत्यादि श्रुतिके अनुसार तथा 'तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' इत्यादि बादरायण सूत्रके अनुसार पहलेके जन्मोंमें अनुष्ठित अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें समवायी अप्शब्दवाच्य सोम, आज्य, पय आदि भूतमात्राओंसे युक्त ही लिङ्गशरीरकी—जो चन्द्रमण्डलमें आरूढ़ है, भोगके अन्तमें आकाशादि क्रमसे पृथ्वीमें व्रीहि, यव, पुरुष और योषित्-रूपी अग्निमें प्रवेश करनेसे—पुरुषाकारताकी प्राप्तिका अवगम होनेसे उन भूतमात्राओंका कारणमें अनुप्रवेश कहते हैं -'**भूतेष्वेव**' इत्यादिसे ।

प्राणसे लेकर नामपर्यन्त सोलह कलाओंसे युक्त भूत पृथ्वी आदि महाभूतोंमें ही लीन हो गये और जो पिता और माताके मलसे उत्पन्न स्थूल अंशस्वरूप मांस, अस्थि और आंत-रूपी देह था, वह अरण्यमें पृथ्वीतलमें मिल गया ॥ ५ ॥

चिदर्णवप्रतिष्ठा चिद्धातवो धातुषु स्थिताः ।
स्वे स्वरूपे स्थितं सर्वं मुनावुपशमं गते ॥ ६ ॥
एषा ते कथिता राम विचारशतशालिनी ।
विश्रान्तिर्वीतहव्यस्य प्रज्ञयैनां विवेचय ॥ ७ ॥
एवंप्रकारया चार्व्या स्वविचारणयेद्धया ।
तत्त्वमालोक्य तत्सारमातिष्ठोत्तिष्ठ राघव ॥ ८ ॥
यदेतदखिलं राम भवते वर्णितं मया ।
यदिदं वर्णयाम्यद्य वर्णयिष्यामि यच्च वा ॥ ९ ॥
त्रिकालदर्शिना नित्यं चिरं च किल जीवता ।
विचारितं च दृष्टं च मया तदखिलं स्वयम् ॥ १० ॥

लिङ्गशरीरमें प्रतिबिम्बित जीवभूता चित् स्वबिम्बभूत चैतन्य-समुद्रमें जा मिली । त्वचा, असृक् , मांस आदि धातु अपने उपादानभूत धातुमें मिल गये । महामुनिके विश्रान्त हो जानेपर सब अपने-अपने उपादानोंमें ही अवस्थित हो गये ॥ ६ ॥

उपसंहार करते हैं—'एषा' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, महामुनि वीतहव्यकी यह सैकड़ों विचारोंसे समन्वित विश्रान्ति-कथा आपसे मैंने कही, अब आप अपनी प्रज्ञासे इसका विवेचन कीजिए ॥ ७ ॥

हे राघव, इस प्रकारकी रमणीय अपनी उत्कृष्ट विचारधारासे तत्त्वका अवलोकन कर उक्त सारका ग्रहण कीजिए और तैयार हो जाइए ॥ ८ ॥

अब भगवान् वसिष्ठजी—कृपाके आधिक्यसे कहे गये, कहे जा रहे और कहे जानेवाले ग्रन्थका; चिरायु और सर्वदर्शी हम लोगोंके द्वारा सब प्रकारोंसे अनेक बार किये गये विचारोंका ; लोक, शास्त्र, श्रुति तथा अन्वय और व्यतिरेक से परीक्षा करके किये गये पुनः-पुनः दर्शनका ऐकात्म्यदृष्टिको अवलम्बित कर ज्ञानप्रतिष्ठा प्राप्त करना ही फल है, इससे अधिक और कुछ पुरुषको सम्पादन करनेका नहीं है, यह निर्णीत हुआ,—यों विश्वासको दृढ़ करनेके लिए कहते हैं—'यदेतत्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जिसका आपके सामने मैंने वर्णन किया, जिसका वर्णन कर रहा हूँ और जिसका वर्णन करूँगा, त्रिकालको प्रत्यक्षरूपसे देख रहे

तदेताममलां दृष्टिमवलम्ब्य महामते ।
ज्ञानमासादय परं ज्ञानान्मुक्तिर्हि लभ्यते ॥ ११ ॥
ज्ञानान्निर्दुःखतामेति ज्ञानादज्ञानसंक्षयः ।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्नाऽन्यस्माद्राम वस्तुतः ॥ ११ ॥
ज्ञानेन सकलामाशां विनिकृत्य समन्ततः ।
शातिताशेषचित्तार्द्रिर्वीतहव्यो मुनीश्वरः ॥ १३ ॥
वीतहव्यात्मिका संवित् सङ्कल्पजगतीति सा ।
अनुभूतवती दृश्यमिदमेव च तज्जगत् ॥ १४ ॥

तथा चिरकालतक जीनेवाले हम लोगोंने उसके विषयमें विचार किया है और पूर्णरूपसे उसको स्वयं देखा भी है ॥ ९, १० ॥

हे महामते, इस निर्मल दृष्टिका अवलम्बन कर उत्कृष्ट ज्ञानको प्राप्त करो, क्योंकि ज्ञानसे ही मुक्ति प्राप्त की जाती है ॥ ११ ॥

हे श्रीरामजी, ज्ञानसे ही मनुष्य दुःखके अभावको प्राप्त होता है, ज्ञानसे अज्ञानका विनाश हो जाता है, ज्ञानसे ही परम सिद्धि मिलती है, वास्तवमें वह दूसरे किसीसे नहीं मिलती ॥ १२ ॥

ज्ञानसे समस्त आशाओंका चारों ओरसे खण्डनकर महामुनि वीतहव्य अपने चित्तरूपी पर्वतको निःशेषरूपसे खण्डनकर अवस्थित थे ॥ १३ ॥

महामुनि वीतहव्यने अपने हृदयमें सङ्कल्पमय जगत्का और उसमें गणत्वका अनुभव किया, ऐसा पहले कहा गया है, ऐसी स्थितिमें उन्होंने उस सङ्कल्पमय जगत्के अन्तर्गत सूर्यमें प्रवेशकर वहांके पिङ्गलनामक गणके द्वारा इस दृश्यमान जगत्के भूभागमें अवस्थित अपनी देहका उद्धार किस प्रकार किया ? क्योंकि स्वप्नके कुद्दालोंसे जाग्रत्की निधियोंका खनन नहीं देखा जाता है, इस प्रकारकी श्रीरामजीकी आशङ्काको चिन्होंसे ताड़कर वसिष्ठजी कहते हैं—'वीतहव्या०' इत्यादिसे ।

उस वीतहव्यात्मिका संवित्ने अपने हृदयसे उपलक्षित ब्रह्ममें हमलोगोंके साधारण दृश्यको ही अपना संकल्पमय जगत् है, ऐसा अनुभव किया, दूसरे अपूर्व जगत्का अनुभव नहीं किया ॥ १४ ॥

वीतहव्यो मनोमात्रं मनोऽहन्त्वमिवेन्द्रियः ।
मनो जगदिदं कृत्स्नमन्यताऽनन्यते तु के ॥ १५ ॥

अधिगतपरमार्थः क्षीणरागादिदोषः
सकलमलविकारोपाधिसञ्ज्ञाद्यपेतः ।
चिरमनुसृतमन्तः स्वं स्वभावं विवेकी
पदममलमनन्तं प्राप्तवान् शान्तशोकः ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे वीतहव्यविश्रान्तिर्नामाऽष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

इससे भी यही वह जगत् था, ऐसा कहते हैं—'**वीतहव्यः**' इत्यादिसे ।

हम लोगोंके चक्षु आदिसे दिखलाई पड़ रहे मुनि वीतहव्य हमलोगोंके मनोमात्रस्वरूप ही हैं, क्योंकि हम लोगोंका मन ही 'अहम्' और 'त्वम्'के रूपमें मानो भासता है, मन ही यह समस्त जगत् है, अतः उसमें अन्यत्व और अनन्यत्व क्या होगा ? वन्ध्याके भेदसे उसके पुत्रोंमें कहीं भेद हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीरामजीकी शङ्काका समाधान कर प्रकृत अर्थका ही उपसंहार करते हैं—'**अधिगत०**' इत्यादिसे ।

जिन्होंने परम प्रयोजनस्वरूप आत्मतत्त्वका ज्ञान कर लिया था, जिनके राग आदि दोष क्षीण हो चुके थे, जो समस्त अविद्या, काम, कर्म आदि मलोंसे, तत्प्रयुक्त इन्द्रिय-विकारोंसे, देहत्रयरूप उपाधियोंसे तथा इन उपाधियोंसे होनेवाले प्रियादि-सञ्ज्ञोंसे रहित थे, वह विवेकी वीतहव्य मुनि चिरकालतक चित्तशुद्धिके शोक-शून्य उपायोंके अनुष्ठानोंसे यानी श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साक्षात्कारप्रयोजक समाधिभूमिकाके अभ्यासोंसे अपने हृदयमें अनुसृत यानी अनुसरण द्वारा अभिमुखीकृत (साक्षात्कृत) अपने स्वभावभूत, निर्मल असीम मोक्षपदको प्राप्त हुए ॥ १६ ॥

अट्ठासी सर्ग समाप्त

एकोनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

वीतहव्यवदात्मानं नीत्वा विदितवेद्यताम् ।
वीतरागभयोद्वेगस्तिष्ठ राघव सर्वदा ॥ १ ॥
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि विजहार यथासुखम् ।
वीतहव्यो वीतशोकस्तथा विहर राघव ॥ २ ॥
अन्ये च राजन् मुनयो ज्ञातज्ञेया महाधियः ।
यथाऽवसन्स्वराष्ट्रे त्वं तथैवाऽऽस्व महामते ॥ ३ ॥
सुखदुःखक्रमैरात्मा न कदाचन गृह्यते ।
सर्वगोऽपि महाबाहो किं मुधा परिशोचसि ॥ ४ ॥

नवासी सर्ग

[जिनका मोह शान्त हो चुका है, ऐसे महात्माओंको आकाशगमन आदि सिद्धियों-में इच्छा नहीं होती तथा उनके शरीरोंको व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी धर्षित नहीं कर सकते, यह कथन]

महाराज वसिष्ठने कहा—भद्र श्रीरामजी, महामुनि वीतहव्यकी नाईं अपनेको ज्ञाततत्त्व बनाकर आप राग, भय और उद्वेगसे वर्जित होकर सदा स्थित रहिए ॥ १ ॥

हे राघव, इस ब्रह्माण्डमें तीस हजार वर्षोंतक महामुनि वीतहव्यने शोक-वर्जित होकर सुखपूर्वक विहार किया था, आप भी उसी प्रकार शोकशून्य होकर सुखपूर्वक विहार कीजिए ॥ २ ॥

हे दीप्तिसम्पन्न महामते, जिस प्रकार अन्य महामति विदितवेद्य मननशील महात्मा निवास करते थे, उसी प्रकार आप भी अपने राष्ट्रमें निवास कीजिए ॥ ३ ॥

हे महाबाहो, यद्यपि आत्मा सर्वत्र व्यापक है, तथापि सुख-दुःखोंकी परम्परासे कभी भी वह पराभूत नहीं होता, अतः आप निरर्थक क्यों शोक कर रहे हैं ? ॥ ४ ॥

बहवो विदितात्मानो विहरन्तीह भूतले ।
न केचन वशं यान्ति दुःखस्याऽङ्ग भवानिव ॥ ५ ॥
स्वस्थो भव भवोदारः समो भव सुखी भव ।
सर्वगस्त्वं त्वमात्मैव तव नाऽस्ति पुनर्भवः ॥ ६ ॥
हर्षामर्षविकाराणां जीवन्मुक्ता भवादृशाः ।
न केचन वशं यान्ति मृगेन्द्राः शिखिनामिव ॥ ७ ॥

श्रीराम उवाच

अनेनैव प्रसङ्गेन संशयोऽयं ममोदितः ।
शरत्काल इवाऽम्भोदं तं मे त्वं तनुतां नय ॥ ८ ॥
जीवन्मुक्तशरीराणां कथमात्मविदां वर ।
शक्तयो नेह दृश्यन्ते आकाशगमनादिकाः ॥ ९ ॥

हे प्रिय श्रीरामजी, आत्मस्वरूपको जान लेनेवाले बहुतसे महात्मा इस लोकमें विचरण कर रहे हैं, परन्तु उनमें से कोई भी आपकी नाईं दुःखके अधीन नहीं होते ॥ ५ ॥

हे श्रीरामजी, आप अपने ही स्वरूपमें स्थित हो जाइए, भीतरसे सम्पूर्ण वस्तुओंका त्याग करनेवाले हो जाइए, सर्वत्र समबुद्धि हो जाइए और सुखी हो जाइए । आप सर्वत्र व्यापक हैं, आप आत्मस्वरूप ही हैं, आपका पुनः जन्म नहीं है ॥ ६ ॥

जैसे मयूरोंके वशमें सिंह नहीं हो जाते, वैसे ही आपके सदृश जीवन्मुक्त कोई भी महानुभाव हर्ष, अमर्ष आदि विकारोंके वशमें नहीं हो जाते ॥ ७ ॥

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, इसी प्रसङ्गसे मुझको यह एक संशय हुआ है, उसको आप मेघको शरत्कालकी नाईं नष्ट कर दीजिए ॥ ८ ॥

हे आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, जीवन्मुक्त शरीरवाले महात्माओंकी आकाशगमन आदि शक्तियाँ यहाँ क्यों नहीं दीखलाई पड़ती हैं ? । 'शरीराणाम्' इस शब्दसे प्रारब्ध होनेपर वीतहव्य मुनिको अपनेमें जैसे विद्याधरत्व आदिका साक्षात्कार हुआ, वैसे ही मानसिक सिद्धियाँ भी हो ही सकती हैं, यह आशय है ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

आकाशगमनादीनि यान्येतानि रघूद्वह ।
प्रमाणिताः पदार्थानां सहजाः खलु शक्तयः ॥ १० ॥
यद्विचित्रं क्रियाजालं दृश्यते गम्यते पुनः ।
राम वस्तुस्वभावोऽसौ न तदात्मविदां मतम् ॥ ११ ॥
अनात्मविदमुक्तोऽपि नभोविहरणादिकम् ।
द्रव्यकर्मक्रियाकालशक्त्या प्राप्नोति राघव ॥ १२ ॥
नाऽऽत्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञो ह्यात्मवान् स्वयम् ।
आत्मनाऽऽत्मनि संतृप्तो नाऽविद्यामनुधावति ॥ १३ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे रघुकुलभूषण, जो ये देवताओंकी आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्रमाणोंसे उपलब्ध होती हैं, वे अग्निमें ऊर्ध्वज्वलनकी नाईं स्वभावतः सिद्ध हैं ॥ १० ॥

हे श्रीरामजी, जो चित्र-विचित्र आकाशगमन आदि क्रियाकलाप दिखाई पड़ता है या प्रमाणसे उपलब्ध होता है, यह तत्-तत् योनियोंमें उत्पन्न देहका स्वभाव है, क्योंकि मच्छर आदियोंमें भी आकाशगमन-शक्ति दिखाई पड़ती है, इसलिए वह आत्मतत्त्वज्ञोंको वाञ्छित नहीं है ॥ ११ ॥

तब मनुष्योंको योगकी सिद्धिके द्वारा आकाशगमन आदिकी प्राप्ति कैसे होती है ? इसपर कहते हैं—'अनात्मविद०' इत्यादिसे ।

हे राघव, आत्मतत्त्वज्ञानसे शून्य प्राकृत अमुक्त भी जीव—मणि, औषध आदि द्रव्योंकी शक्तिसे, योगाभ्यास आदि क्रियाओंकी शक्तिसे, उसके परिपाक-प्रयोजक कालकी शक्तिसे—आकाशगमन आदि किसी समय प्राप्त कर सकता है । जैसे कि चींटी ग्रीष्मकी समाप्तिमें कालशक्तिके प्रभावसे पंख-प्रादुर्भाव द्वारा आकाशगमन प्राप्त करती है । इस श्लोकमें कालग्रहण उपर्युक्त दृष्टान्तार्थक है, यह भी समझना चाहिए ॥ १२ ॥

तुच्छ होनेके कारण आकाशगमन आदि सिद्धियाँ आत्मज्ञ विद्वान्‌के अभिलाषाकी विषय नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मस्वरूपज्ञानी स्वयं आत्माको प्राप्त कर चुका है,

ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान् विदुः ।
कथं तेषु किलाऽऽत्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति ॥ १४ ॥
अविद्यामपि ये युक्त्या साधयन्ति सुखात्मिकाम् ।
ते ह्यविद्यामया एव न त्वात्मज्ञास्तथाक्रमाः ॥ १५ ॥
तत्त्वज्ञो वाऽप्यतत्त्वज्ञो यः कालद्रव्यकर्मभिः ।
यथाक्रमं प्रयतते तस्योर्ध्वत्वादि सिद्ध्यति ॥ १६ ॥
आत्मवानिह सर्वस्मादतीतो विगतैषणः ।
आत्मन्येव हि सन्तुष्टो न करोति न चेहते ॥ १७ ॥
न तस्याऽर्थो नभोगत्या न सिद्ध्या न च भोगकैः ।
न प्रभावेण नो मानैर्नाऽऽशामरणजीवितैः ॥ १८ ॥

इसलिए वह अपनी आत्मामें ही तृप्त रहता है, अतः आविद्यक तुच्छ फलवाले पदार्थोंकी ओर नहीं दौड़ता ॥ १३ ॥

संसारमें जो कोई भी पदार्थ हैं, उन सबको आत्मज्ञ अविद्यामय ही मानते हैं, इसलिए अविद्यासे वर्जित तत्त्वज्ञ उनमें कैसे डूब सकता है ॥ १४ ॥

जो योगाभ्यास आदि सैकड़ों परिश्रमोंसे अविद्याको भी आकाशगमन आदि सिद्धियोंके द्वारा सुखसाधन बना लेते हैं, वे आत्मतत्त्वज्ञ हैं ही नहीं, क्योंकि आकाशगमन आदि सिद्धियाँ अविद्यामय ही हैं ॥ १५ ॥

तब क्या तत्त्वज्ञ पुरुषोंमें आकाशगमन आदि सिद्धियोंको सम्पादन करनेकी सामर्थ्य है ही नहीं? इस शङ्कापर 'नहीं' ऐसा उत्तर देते हैं—'तत्त्वज्ञः' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, जो कोई भी चिरकालिक प्रयत्नपूर्वक द्रव्य-कर्मोंसे शास्त्रोक्त उपायका अनुष्ठान करता है, वह नभोगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है ॥ १६ ॥

यहाँ धन आदि की अभिलाषाओंसे वर्जित आत्मस्वरूपज्ञ पुरुष सबसे अतीत हो जाता है, वह अपने ही स्वरूपमें सदा सन्तुष्ट रहता है, इसलिए न कुछ चाहता है, और न कुछ करता है ॥ १७ ॥

आत्मज्ञ पुरुषको न तो कोई नभोगमनसे, न सिद्धिसे, न तुच्छ भोगोंसे,

नित्यतृप्तः प्रशान्तात्मा वीतरागो विवासनः ।
आकाशसदृशाकारस्तज्ज्ञ आत्मनि तिष्ठति ॥ १९ ॥
अशङ्कितोपयातेन दुःखेन च सुखेन च ।
तृप्यत्यपगतासङ्गो जीवेन मरणेन च ॥ २० ॥
समुद्रः सरितेवाऽन्तः क्रमसंप्राप्तवस्तुना ।
समेन विषमेणाऽपि तिष्ठत्यात्मानमर्चयन् ॥ २१ ॥
नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ २२ ॥
यस्तु वाऽभावितात्माऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति ।
स सिद्धिसाधकैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात् ॥ २३ ॥

न निग्रहानुग्रहसामर्थ्यसे, न अपने उत्कर्षके व्यापक अभिमानोंसे और न आशा, मरण तथा जीवन से ही प्रयोजन है ॥ १८ ॥

सदा सन्तुष्ट, प्रशान्तस्वरूप, रागवर्जित, वासनाशून्य तथा आकाशके सदृश निर्मल आकारवाला तत्त्वज्ञ विद्वान् अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है ॥ १९ ॥

अपने जीवन और मरणकी आसक्तिसे वर्जित तत्त्वज्ञ पुरुष आकस्मिक प्राप्त हुए सुख और दुःखसे अपनी स्वाभाविक तृप्तिका परित्याग नहीं करता ॥ २० ॥

जैसे समुद्र नदी-प्रवाह और नदी-प्रवाहसे प्राप्त तृण, काष्ठ आदिके अपने भीतर प्रवेशसे उपचयापचयरूप विकृति प्राप्त नहीं करता, वैसे ही तत्त्वज्ञ प्रारब्ध क्रमके अनुसार प्राप्त हुए अनुकूल और प्रतिकूल वस्तुओंसे भी किसी प्रकारकी विकृति प्राप्त न कर अपने आत्माकी अखण्डाकारवृत्तिरूपी पुष्पोंसे पूजा करता हुआ ही अपने स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ २१ ॥

तत्त्वज्ञको यहाँ न तो कृत कर्मसे (विध्युक्तानुष्ठानसे) ही प्रयोजन (पुण्य) है और न अकृत कर्मसे ही (विहिताकरणसे ही) प्रयोजन (प्रत्यवाय-प्राप्ति) है, क्योंकि विद्वान्‌को ब्रह्मासे लेकर स्थावर तक सब भूतोंमें कोई भी पदार्थ प्रयोजनके लिए आश्रयणीय नहीं है ॥ २२ ॥

जो आत्मज्ञानसे शून्य है, वह भी आकाशगमन आदि सिद्धियोंको चाहता है और वह तथाविध सिद्धियोंके साधक द्रव्योंसे क्रमशः उन्हें सिद्ध करता है ॥ २३ ॥

सिद्ध्यतीत्थमिदं युक्त्यैवेत्ययं नियतेः क्रमः ।
त्र्यक्षादिभिः सुरवरैर्व्यर्थीकर्तुं न शक्यते ॥ २४ ॥
स्वभाव एष वस्तूनां स्वतःसिद्धिर्हि नाऽन्यतः ।
नियतिं न जहात्येव शशाङ्क इव शीतताम् ॥ २५ ॥
सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि च ।
अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि ॥ २६ ॥
द्रव्यकालक्रियामन्त्रप्रयोगाणां स्वभावजाः ।
एतास्ताः शक्तयो राम यद्व्योमगमनादिकम् ॥ २७ ॥
यथा विषाणि निघ्नन्ति मदयन्ति मधूनि च ।
वमयन्ति च शुक्तानि मदनानि फलानि च ॥ २८ ॥

मणि, मन्त्र आदि युक्तियोंसे ही इस प्रकारकी आकाशगमन आदि सिद्धि हो सकती है। तत्-तत् शास्त्रोंमें प्रसिद्ध नियतिके क्रमको (स्वभावकी सामर्थ्यको) तत्-तत् नियतिका विधान करनेवाले त्रिनेत्र आदि श्रेष्ठ देवता भी व्यर्थ नहीं कर सकते ॥ २४ ॥

जो देवता आदियोंकी स्वतः आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं, यह वस्तु-स्वभाव ही है, अतएव उनमें वे उत्पत्तिसे लेकर जीवनपर्यन्त रहती ही हैं, ऐसा कहते हैं—'**स्वभावः**' इत्यादिसे ।

देवता आदियोंमें जो आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं, वह वस्तुस्वभाव ही है। दूसरे किसीसे वे नहीं आती। जैसे चन्द्रमा शीतताका परित्याग नहीं करता, वैसे ही नियतिका (स्वभावका) परित्याग कोई नहीं कर सकता ॥ २५ ॥

चाहे सर्वज्ञ हो, चाहे बहुज्ञ हो, चाहे भगवान् लक्ष्मीपति हों, चाहे उमापति हों, कोई भी नियतिको अन्यथा करनेमें समर्थ नहीं है ॥ २६ ॥

हे श्रीरामजी, मणि आदि द्रव्य, काल, योगाभ्यास आदि क्रिया और मन्त्र-प्रयोगोंमें उक्त प्रकारकी शक्तियाँ, जो आकाशगमन आदि शब्दोंसे कही जाती हैं, स्वभावतः सिद्ध हैं ॥ २७ ॥

जैसे विषको हरण करनेवाले औषध आदि द्रव्योंकी शक्ति अपने कार्यमें समर्थ है, वैसे मणि, मन्त्र आदियोंकी शक्ति भी अपने-अपने कार्यमें समर्थ है, ऐसा कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

तथा स्वभाववशतो द्रव्यकालक्रियाक्रमाः ।
नियतं साधयन्त्याशु प्रयोगं युक्तियोजिताः ॥ २९ ॥
एतस्मात् समतीतस्य त्यक्ताविद्यस्य राघव ।
आत्मज्ञानस्य नाऽस्त्यत्र कर्तृताऽकर्तृताऽनघ ॥ ३० ॥
द्रव्यदेशक्रियाकालयुक्तयः साधुसंविदः ।
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन ॥ ३१ ॥
यस्येच्छा विद्यते काचित्स सिद्धिं साधयत्यलम् ।
आत्मज्ञस्य तु पूर्णस्य नेच्छा संभवति क्वचित् ॥ ३२ ॥
सर्वेच्छाजालसंशान्तावात्मलाभोदयो हि यः ।
तद्विरुद्धा कथं कस्मादिच्छा सञ्जायतेऽनघ ॥ ३३ ॥

जैसे विषघ्न मणि, मन्त्र आदि द्रव्यकी शक्तियाँ विषका विनाश कर देती हैं, जैसे मदिरा मत्त कर देती है, जैसे माक्षिक मधु अथवा मदनफल खानेपर वमन करा देता है, वैसे ही योगादि उपायोंमें कुशल पुरुषों द्वारा प्रयुक्त मण्यादि द्रव्य, काल, क्रिया आदि उपाय स्वभाववशसे ही सिद्धियोंको अवश्य उत्पन्न करते हैं ॥ २८, २९ ॥

हे पापशून्य राघव, द्रव्य-काल-क्रियाक्रमस्वरूप आविद्यिक विषयोंसे परे तथा अज्ञानको बाधित कर देनेवाले आत्मज्ञानमें आकाशगमन आदि सिद्धियोंके प्रति कारणता और विरोधिता नहीं है ॥ ३० ॥

जैसे क्रिया-फल स्वर्गादिमें आत्मज्ञानका उपयोग नहीं है, वैसे ही ज्ञानफल मुक्तिमें द्रव्य, देश, क्रिया आदिका भी उपभोग नहीं है, ऐसा कहते हैं—'द्रव्य०' इत्यादिसे ।

आत्मतत्त्वज्ञानके फलभूत परमात्माके पदके लाभमें यानी मोक्षमें द्रव्य, देश, क्रिया, काल आदि युक्तियाँ कोई भी उपकार नहीं कर सकती ॥ ३१ ॥

यदि आकाशगमन आदिकी किसी पुरुषको इच्छा होती है, तो वह उसकी सिद्धिका साधन पूर्णरूपसे करता है । आत्मज्ञानी पूर्ण है, अतः उसको कहीं इच्छा नहीं होती ॥ ३२ ॥

आत्मज्ञानीको इच्छा क्यों नहीं होती ?, इसे कहते हैं—'सर्वेच्छा०' इत्यादिसे ।

यथोदेति च यस्येच्छा स तया यतते तथा ।
यथाकालं तदाप्नोति ज्ञो वाऽप्यज्ञतरोऽपि वा ॥ ३४ ॥
वीतहव्येन यतितं नो ज्ञानेच्छेन किञ्चन ।
ज्ञानेच्छेनाऽऽशु यतितं प्रोत्थितोऽसौ यथा वने ॥ ३५ ॥
एवं कालक्रियाकर्मद्रव्ययुक्तिस्वभावजाः ।
यथेच्छमेव सिद्ध्यन्ति सिद्धयः स्वाः क्रमार्जिताः ॥ ३६ ॥
याः फलावलयो येन संप्राप्ताः सिद्धिनामिकाः ।
तास्तेनाऽधिगता राम निजात्प्रयतनद्रुमात् ॥ ३७ ॥

हे निष्कलङ्क श्रीरामजी, जो आत्माकी प्राप्ति होती है, वह सब इच्छाओंकी शान्ति होनेपर ही होती है, अतः आत्मज्ञको आत्मलाभकी विरोधिनी इच्छा कैसे और किससे हो सकती है ? ॥ ३३ ॥

यद्यपि तत्त्ववित् इच्छासे वर्जित है, तथापि वह यदि कौतुकवश यत्नानुष्ठान करे, तो उसे आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती ही हैं, इस आशयसे कहते हैं—'यथा०' इत्यादिसे ।

चाहे तत्त्वज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, जिसकी जिस प्रकार इच्छा उदित होगी, वह उस प्रकारसे उसी इच्छासे यत्न करता है और समय आनेपर वह उस सिद्धिको प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

तब वीतहव्यको क्यों सिद्धियाँ नहीं हुई ?, तो इसपर कहते हैं—'वीतहव्येन' इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानकी इच्छावाले वीतहव्यने सिद्धियोंकी इच्छासे किसी प्रकारका यत्न नहीं किया और ज्ञानकी इच्छासे तो उसने शीघ्र यत्न किया था । जैसे कि इसने अरण्यमें ज्ञानाभ्यासके लिए उद्योग किया था, यह पहले वर्णित हो चुका है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार क्रिया, कर्म और द्रव्यरूपी युक्तियोंके स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली क्रमप्राप्त सिद्धियाँ अपनी इच्छाके ही अनुसार सिद्ध हो जाती हैं ॥ ३६ ॥

सिद्धिके विषयमें या ज्ञानके विषयमें अनुपरतप्रयत्न ही अवश्य फलवान् है, इसका मुमुक्षु-व्यवहारप्रकरणमें सविस्तर वर्णन किया जा चुका है, इस आशयसे कहते हैं—'याः' इत्यादिसे ।

महतां नित्यतृप्तानां तज्ज्ञानां भावितात्मनाम् ।
ईहितं सम्प्रयातानां नोपकुर्वन्ति सिद्धयः ॥ ३८ ॥

श्रीराम उवाच

अयं मे संशयो ब्रह्मन्वीतहव्यस्य सा तनुः ।
क्रव्यादैर्न कथं भुक्ता कथं क्लिन्ना न भूतले ॥ ३९ ॥
तदैव वीतहव्योऽसौ कथं वनगतः प्रभो ।
विदेहमुक्ततां शीघ्रं यथावदिति मे वद ॥ ४० ॥

वसिष्ठ उवाच

या संविद्दलिता साधो वासनामलतन्तुना ।
सुखदुःखदशादाहभागिनी भवतीह सा ॥ ४१ ॥

श्रीरामजी, जो जो आकाशगमन आदि सिद्धिनामक फलोंकी पंक्तियाँ जिस पुरुषके द्वारा प्राप्त की गईं देखी जाती हैं, वे उस पुरुषके द्वारा अपने प्रयत्नरूपी वृक्षसे ही प्राप्त की गई हैं ॥ ३७ ॥

जिन्होंने अपना अन्तःकरण पवित्र कर लिया है, जो आत्मतत्त्व-ज्ञानसे सम्पन्न हैं, जो सदा सन्तुष्ट हैं तथा जो सबके द्वारा अभिलषित परमप्रेमास्पद आत्म-सुखको प्राप्त हुए हैं, उन महात्माओंके लिए सिद्धियाँ कुछ भी उपकार नहीं करतीं ॥ ३८ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे ब्रह्मन् , मुझे यह एक संशय हो रहा है कि महामुनि वीतहव्यकी वह देह हिंसक बाघ आदि द्वारा भक्षित क्यों नहीं हुई और पृथ्वीमें कीचड़ आदिके क्लेदसे विशीर्ण क्यों नहीं हुई ॥ ३९ ॥

भगवन् , अरण्य-स्थित ये वीतहव्य मुनि उसी समय (जब पृथ्वीमें ढक गये थे, उसी समय) तत्काल विदेहमुक्त क्यों नहीं हुए ? इन दो प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर मुझसे कहिए ॥ ४० ॥

प्रथम प्रश्नका उत्तर देनेके लिए महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'या' इत्यादिसे ।

निर्मुक्तवासना शुद्धसंविन्मात्रमयी तु सा।
तनुस्तिष्ठति तच्छेदे शक्ता नेह हि केचन ॥ ४२ ॥
शृणु युक्त्या कया योगी तनुच्छेदादिविभ्रमैः।
नाऽऽक्रम्यते महाबाहो बहुवर्षशतैरपि ॥ ४३ ॥
चेतः पदार्थे पतति यस्मिन् यस्मिन् यदा यदा।
तन्मयं तद्भवत्याशु तस्मिंस्तस्मिंस्तदा तदा ॥ ४४ ॥
तथा दृष्टारि हि मनो विकारमुपगच्छति।
दृष्टमित्रं सुहृद्यत्वं स्वयमित्यनुभूयते ॥ ४५ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जो अज्ञानीकी संवित् राग आदि मलोंसे दूषित वासनारूपी ('देह ही मैं हूँ' इस प्रकार देहमें अहंभावकी वासनारूपी) तन्तुसे बँधी हुई रहती है, वही यहाँ देहके छेदन-भेदनसे जनित सुख-दुःख-दशारूपी दाहकी आश्रय होती है ॥ ४१ ॥

देहाभिमान-वासनासे विनिर्मुक्त जीवन्मुक्त महात्माकी देह बाधित होनेसे अधिष्ठानभूत विशुद्ध संवित्-स्वरूप रहती है, अतः उसके छेदनमें कोई भी हिंसक प्राणी समर्थ नहीं होते, क्योंकि 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च' (यह आत्मरूपा संवित् न छेद्य है, न दाह्य है, न क्लेद्य है और न शोष्य है) इत्यादि भगवान्‌का वाक्य है ॥ ४२ ॥

उपपत्ति बतलानेके अनन्तर अब वक्तव्यके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'शृणु' इत्यादिसे।

हे महाबाहो, अब आप यह सुनिये कि किस युक्तिसे योगी हजारों बरसों तक भी शरीरच्छेदन आदि विभ्रमोंके द्वारा आक्रान्त नहीं होता ॥ ४३ ॥

श्रीरामजी, चित्त जिस जिस पदार्थमें जब जब गिरता है यानी आसक्त होता है, तब तब उस उस पदार्थमें आसक्त होकर वह तत्काल ही तद्रूप हो जाता है ॥ ४४ ॥

जैसे—जब मन शत्रुको देख लेता है, तब वह उस शत्रुके द्वेषके प्रतिबिम्बसे युक्त-सा होकर द्वेष आदि विकार प्राप्त कर लेता है और जब मित्रको देख लेता है, तब वह उसके हृदयके प्रेमके प्रतिबिम्बसे युक्त-सा होकर उत्तम प्रीति प्राप्त कर लेता है, यह विषय सब लोगोंको प्रत्यक्षरूपसे अनुभूत है ॥ ४५ ॥

रागद्वेषविहीने तु पथिके पादपे गिरौ ।
भवत्यरागद्वेषं च स्वयमित्यनुभूयते ॥ ४६ ॥
मृष्टे लौल्यमुपादत्ते दुर्भोज्ये याति निःस्पृहम् ।
वैरस्यं याति कटुनि स्वयमित्यनुभूयते ॥ ४७ ॥
समसंविद्विलासाढ्ये यद्यदा यतिदेहके ।
हिंस्रचेतः पतत्याशु समतामेति तत्तदा ॥ ४८ ॥
समसङ्गविमुक्तत्वाच्छेदादौ न प्रवर्तते ।
पान्थो व्यर्थं पथि ग्रामे यथा ग्रामीणकर्मणि ॥ ४९ ॥

इसीलिए यदि एक राग-द्वेषसे शून्य रहता है, तो दूसरेमें भी राग, द्वेष आदि अनुभूत नहीं होते, यह कहते हैं—**'राग०'** इत्यादिसे ।

राग और द्वेषसे वर्जित बटोही यानी उदासीन पुरुष, वृक्ष और पर्वतके विषयमें तो मन राग और द्वेषसे रहित होता है, यह भी सबको अनुभूत है ॥ ४६ ॥

इसी प्रकार अचेतन भोज्य आदि पदार्थोंके विषयमें भी प्रीति, अप्रीति और औदासीन्य ये सब—उनमें रहनेवाले गुण-दोष और गुण-दोष दोनोंके अभावका मनमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे ही—प्रसिद्ध हैं, इस आशयसे कहते हैं—**'मृष्टे'** इत्यादिसे।

सरस स्वादु पदार्थके विषयमें यह मन लालची बन जाता है, नीरस अस्वादु पदार्थके विषयमें स्पृहारहित हो जाता है और कटु पदार्थके विषयमें विरस हो जाता है, यह स्वयं सब लोग अनुभव करते हैं ॥ ४७ ॥

वैसा मन भले ही हो, एतावता प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—**'सम०'** इत्यादिसे ।

हे भद्र, जो हिंसक जन्तुओंका मन है, वह जब—राग, द्वेष एवं विषमतासे रहित संवित्के (चैतन्यके) विलाससे नितान्त समन्वित योगीकी देहमें गिरता है, तब वह तत्काल ही योगीके चैतन्यकी समताका प्रतिबिम्ब पड़नेसे मानो समता प्राप्त कर लेता है, इसलिए उनके द्वारा हिंसाकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इस विषयमें पतञ्जलिमुनिने हिंसाप्रतिष्ठाका उपक्रम कर कहा है—'तत्संनिधौ वैरत्यागः' (अहिंसा-सिद्धि होनेपर योगीकी संनिधिमें हिंसक प्राणी वैरका त्याग कर देते हैं) ॥ ४८ ॥

हिंसक प्राणी समदर्शी यतिके संसर्गसे द्वेष आदिसे मुक्त हो जाता है,

योगिदेहसमीपात्तु गत्वा प्राप्नोति हिंस्रताम् ।
यद्यद्भवति तत्राऽऽशु तथारूपं न संशयः ॥ ५० ॥
इति हिंस्रैर्मृगव्याघ्रसिंहकीटसरीसृपैः ।
न च्छिन्ना वीतहव्यस्य तनुर्भूतलशालिनी ॥ ५१ ॥
सर्वत्र विद्यते संवित्काष्ठलोष्टोपलादिके ।
सत्तासामान्यरूपेण संस्थिता मूकबालवत् ॥ ५२ ॥
पोप्लूयमाना तरला केवलं परिदृश्यते ।
तन्वी पुर्यष्टकेष्वेव प्रतिबिम्बजलेष्विव ॥ ५३ ॥

इसलिए वह किसीकी भी हिंसा करनेमें उस प्रकार प्रवृत्त नहीं होता, जिस प्रकार बटोही गाँवके समीपस्थ वनमें उत्पन्न लता आदिके छेदनमें प्रवृत्त नहीं होता ॥ ४९ ॥

योगीके शरीरके समीपसे हिंसक प्राणी जब अन्यत्र चला जाता है, तब वहाँ जाकर द्वेष आदिसे भरा जैसा जैसा जन्तु-समूह मिलता है, वैसा वैसा तदनुरूप वह हिंसकभावको प्राप्त कर लेता है ॥ ५० ॥

हे श्रीरामजी, इन्हीं दो कारणोंसे हिंसक मृग, बाघ, सिंह, कीट और सर्पोंने भूगर्भमें प्रकाशित हो रही महामुनि वीतहव्यकी देहको क्षत-विक्षत नहीं किया ॥ ५१ ॥

'कथं क्लिन्ना न भूतले' (वीतहव्यकी देह पृथ्वीमें सड़ क्यों नहीं गई) इसका उत्तर देते हैं—'सर्वत्र' इत्यादिसे ।

काष्ठ, लोष्ट (मिट्टीका ढेला), पत्थर आदि सर्वत्र स्थानोंमें मूक बालकके समान सामान्यरूपसे संवित्-सत्ता अवस्थित रहती है ॥ ५२ ॥

तब पुर्यष्टकोंमें (सूक्ष्म शरीरोंमें) ही वह क्यों उपलब्ध होती है ? इसपर कहते हैं—'पोप्लूयमाना' इत्यादिसे ।

जैसे जलमें सूर्यादिका प्रतिबिम्ब दीखाई पड़ता है, वैसे ही असमाहित चित्तसे संयुक्त पुरुषोंको वह संवित्-सत्ता केवल पुर्यष्टकोंमें ही हजारों विषम परिणामोंवाली, परिच्छिन्न तथा तैर रहे पदार्थकी नाईं चपल दीखाई पड़ती है ॥ ५३ ॥

तेन भूजलवाय्वग्निसंवित्त्या समरूपया ।
निर्विकारं तनुर्नीता वीतहव्यस्य राघव ॥ ५४ ॥

अन्यच्च शृणु मे राम स्पन्दो नाशस्य कारणम् ।
विकारः स च चित्तोत्थो वातजो वा जगत्स्थितौ ॥ ५५ ॥

प्राणानां प्राणनं स्पन्दस्तच्छान्तौ ते दृषत्समाः ।
यतः स्थिता धारणया तेनाऽनष्टाऽस्य सा तनुः ॥ ५६ ॥

सबाह्याभ्यन्तरे स्पन्दश्चित्तजो वातजोऽथवा ।
न यस्य विद्यते तस्य दूरस्थौ प्रकृतिक्षयौ ॥ ५७ ॥

सबाह्याभ्यन्तरे शान्ते स्पन्दे तत्त्वविदां वर ।
धातवः संस्थितिं देहे न त्यजन्ति कदाचन ॥ ५८ ॥

हे राघव, उस वीतहव्य-सम्बन्धी पुर्यष्टकने तत्त्वज्ञान और तदनुकूल समाधिसे अविषम स्वभावको प्राप्त की गई पृथ्वी, जल, वायु और तेजकी संवित्तिके द्वारा उक्त मुनि-शरीरको समस्तविकारोंसे शून्य ब्रह्मभाव प्राप्त कराया था, इसलिए वह विकृत नहीं हुआ, यह भाव है ॥ ५४ ॥

हे श्रीरामजी, इस विषयमें मुझसे आप दूसरी भी युक्ति सुनिए। वह यह है कि स्पन्दन ही नाशमें कारण है और यह स्पन्द चित्तसे जनित अथवा वातसे जनित एक प्रकारका विकार है, यह बात लौकिक व्यवहारमें प्रसिद्ध है ॥ ५५ ॥

प्राणन-वृत्ति ही प्राण-वायुओंका स्पन्द है। हे राघव, चूँकि वीतहव्यकी देहमें धारणा द्वारा उक्त प्राणन-वृत्तिके शान्त हो जानेपर वे प्राण पत्थरकी नाईं दृढ़ होकर स्थित थे, इसलिए मुनिकी वह देह नष्ट नहीं हुई ॥ ५६ ॥

जिस महामतिके हाथ, पैर तथा प्राण आदिसे युक्त शरीरमें चित्तजनित अथवा वातजनित स्पन्दन नहीं रहता, उसके शरीरमें वृद्धि आदि तथा क्षय आदि विकार उत्पन्न नहीं होते ॥ ५७ ॥

हे तत्त्वज्ञ-शिरोमणे, हाथ आदि बाह्य और प्राण आदि आन्तर अवयवोंसे युक्त शरीरमें स्पन्दन-वृत्तिके प्रशान्त हो जानेपर त्वचा आदि धातुएँ अपनी पूर्वावस्थाका कभी भी परित्याग नहीं करतीं ॥ ५८ ॥

संशान्ते देहप्रस्पन्दे चित्तवातमये तथा ।
धातवो मेरवं स्थैर्यं यान्ति संस्तम्भितात्मकाः ॥ ५९ ॥
तथा च दृश्यते लोके स्पन्दशान्तौ दृढा स्थितिः ।
दारूणामिव धीराणां शवाङ्गानामचोपता ॥ ६० ॥
इति वर्षसहस्राणि देहा जगति योगिनाम् ।
न क्लिद्यन्ते न भिद्यन्ते मग्नवज्जलदा इव ॥ ६१ ॥
तदैव वीतहव्योऽसौ शृणु किं नोपशान्तवान् ।
देहमुत्सृज्य तत्त्वज्ञो ज्ञातज्ञेयवतां वरः ॥ ६२ ॥
ये हि विज्ञातविज्ञेया वीतरागा महाधियः ।
विच्छिन्नग्रन्थयः सर्वे ते स्वतन्त्रास्तनौ स्थिताः ॥ ६३ ॥

इसी तरह चित्तजनित और वातजनित देह-स्पन्दनके शान्त हो जानेपर त्वचा आदि धातुएँ अपने चंचल स्वरूपसे भली भाँति स्तम्भित होकर मेरु पर्वतके सदृश दृढ़ स्थिरता धारण करती हैं ॥ ५९ ॥

इसीलिए प्राणस्पन्दके शान्त हो जानेपर काष्ठके सदृश योगियोंके शरीरोंमें दृढ़ स्थिति और मुड़देमें कम्पन-शून्यता लोकमें देखी जाती है ॥ ६० ॥

इस युक्तिसे हजारों बरसोंतक योगियोंके शरीर इस लोकमें मेघोंकी नाईं न तो क्लिन्न (गीले) होते हैं और न भूगर्भस्थित शिलाकी नाईं विशीर्ण होते हैं ॥ ६१ ॥

अन्तिम प्रश्नका अनुवादपूर्वक उत्तर देते हैं—'**तदैव**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, अब आप यह सुनिये कि जिन उपायोंसे ब्रह्म ज्ञात होता है, उन उपायोंसे समन्वित बड़े बड़े महात्माओंमें सर्वश्रेष्ठ यह महामुनि वीतहव्य उसी समय अपनी देहका उत्सर्जन कर मुक्त क्यों नहीं हो गये ॥ ६२ ॥

हे भद्र, जो विषयाभिलाषाओंसे वर्जित, अज्ञानग्रन्थिसे निर्मुक्त तथा विदित-वेद्य महामति महात्मा हैं, वे सब अपनी देहके विषयमें स्वतन्त्र होकर स्थित रहते हैं यानी देहको रखना या छोड़ना उनकी इच्छाकी बात है। क्योंकि श्रुति भी है—'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति' (तत्त्वज्ञ महाविद्वान्‌को देवता अभूतिके लिए यानी सर्वात्मक ब्रह्मभाव-प्राप्तिके निराकरणके लिए समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह देवताओंके आत्मस्वरूप हो जाता है) ॥ ६३ ॥

दैवं वाऽपि च कर्माणि प्राक्तनान्यैहिकानि च ।
वासना वा न तेषां तच्चेतो नियमयन्त्यलम् ॥ ६४ ॥
तेन तत्त्वविदां तात काकतालीयवन्मनः ।
यद्यद् भावयति क्षिप्रं तत्तदाशु करोत्यलम् ॥ ६५ ॥
काकतालीययोगेन वीतहव्यस्य संविदा ।
साम्प्रतं जीवितं बुद्धं तदेवाऽऽशु स्थिरीकृतम् ॥ ६६ ॥
यदा तु तस्य प्रतिभा विदेहोन्मुक्ततां गता ।
तदा विदेहमुक्तोऽभूदसौ स्वातन्त्र्यसंस्थितिः ॥ ६७ ॥
विगतवासनमाशु विपाशता-
मुपगतं मन आत्मतयोदितम् ।

अब योगियोंकी स्वतन्त्रताका ही उपपादन करते हैं—'**दैवम्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, दैव (पूर्वके अनुष्ठित कर्मोंका फल देनेवाला ईश्वर), कर्मोंकी प्रधानतावादमें प्रतिपादित प्राक्तन या वर्तमान कर्म और वासना—ये सब उन योगियोंके चित्तको, जो अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मोंका उपभोग करनेके लिए प्रवृत्त है, अन्यथारूपसे प्रवृत्त करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ६४ ॥

हे प्रीतिपात्र श्रीरामजी, इसलिए तत्त्वज्ञोंका अन्तःकरण काकतालीयकी नाईं अकस्मात् जिस क्षणमें जिस किसीकी यानी प्रारब्धप्राप्त जीवन या मरणकी भावना करता है, उसी क्षणमें उसको ठीक रूपसे कर डालता है ॥ ६५ ॥

काकतालीय न्यायसे वीतहव्यकी संवित्ने उस समय जीनेकी भावना की और उसीको तत्काल स्थिर कर डाला ॥ ६६ ॥

प्रारब्धकी समाप्ति हो जानेपर जब वीतहव्यकी प्रतिभा (संवित्) विदेह-मुक्तताकी ओर झुक गई यानी उसने विदेहमुक्तिकी भावना की, तब वह विदेहमुक्त हो गये, क्योंकि यह मुनि अपने जीवन आदिमें स्वतन्त्र थे ॥ ६७ ॥

उक्त अर्थका ही संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—'**विगत०**' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, समस्त वासनाओंसे विनिर्मुक्त तथा अज्ञानरूपी बन्धनसे वर्जित होनेके कारण तत्काल ही अन्तःकरणोपाधिक वीतहव्यका जीव पारमार्थिक आत्म-

यदभिवाञ्छति तद् भवति क्षणात्
सकलशक्तिमयो हि महेश्वरः ॥ ६८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे सद्विलासविचारयोगोपदेशो नामैकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

नवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यदा ह्यस्तङ्गतप्रायं जातं चित्तं विचारतः ।
तदा हि वीतहव्यस्य जाता मैत्र्यादयो गुणाः ॥ १ ॥

स्वभावसे उदित हुआ; चूँकि वह सकल शक्तियोंके निधि महेश्वर ही थे, अतः जो चाहते थे, उसी समय वह हो जाते थे। कहा भी है—

'तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात् तुषाभावे तु तण्डुलः ।
पाशबद्धः सदा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥'

जैसे छिलकोंसे युक्त चावल धान कहा जाता है और छिलकोंके अभावमें यानी शुद्ध तण्डुल कहा जाता है, वैसे ही अज्ञानरूपी पाशसे युक्त चेतन सदा जीव कहा जाता है और अज्ञानपाशसे वर्जित चेतन शुद्ध सदाशिव कहा जाता है ॥ ६८ ॥

नवासी सर्ग समाप्त

नब्बे सर्ग

[मैत्री आदि गुणोंसे उपेत तथा निष्कल भावको प्राप्त दो प्रकारके चित्त-नाशका विस्तारपूर्वक वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—महाभाग, वीतहव्यका चित्त जब विचारसे, भुँजे बीजकी नाईं, अङ्कुरशक्तिसे रहित हो गया था और प्रतिभाससे रहित नहीं हुआ था, तब उसमें मैत्री आदि गुणोंका आविर्भाव हो गया ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

विचाराभ्युदयाच्चित्तस्वरूपेऽन्तर्हिते मुनेः ।
मैत्र्यादयो गुणा जाता इत्युक्तं किं त्वया प्रभो ॥ २ ॥
ब्रह्मण्यस्तङ्गते चित्ते कस्य मैत्र्यादयो गुणाः ।
क्व वा परिस्फुरन्तीति वद मे वदतां वर ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च ।
जीवन्मुक्तः सरूपः स्यादरूपोऽदेहमुक्तिजः ॥ ४ ॥

श्रीरामजीने कहा—भगवन् , आत्मा और अनात्माके विचारकी अभ्युन्नतिसे महामुनि वीतहव्यके बाधित हुए अन्तःकरण-स्वरूपमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए, आपके इस कथनका क्या अभिप्राय है ? ॥ २ ॥

हे वाग्मियोंके शिरोमणे, जब चित्तका ब्रह्ममें बाध हो गया, तब किसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न होंगे और कहाँ वे प्रस्फुरित होंगे, यह आप मुझसे कहिए । तात्पर्य यह है कि उस परिस्थितिमें यह शङ्का होती है कि क्या जिसका बाध हुआ है, उसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए ? या क्या जिस अधिष्ठानमें बाध हुआ, उसमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए । एवं उक्त गुण क्या चिदाभासमें प्रस्फुरित होते हैं अथवा बिम्बभूत चैतन्यमें ? इनमें से किसी भी पक्षकी उपपत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि बाधित मृगतृष्णानदीमें या उसके अधिष्ठान मरुभूमिमें शैत्य आदि गुण उत्पन्न होते नहीं देख जाते । इसी प्रकार वहाँ उनका भासक कोई पदार्थ भी उपलब्ध नहीं होता ॥ ३ ॥

महाराज वसिष्ठने कहा—भद्र, चित्तका विनाश दो प्रकारका होता है—एक सरूप विनाश और दूसरा अरूप विनाश, सारांश यह है कि स्फटिक आदि स्वच्छ पदार्थोंमें पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बमें जिस प्रकार पुरुषान्तरत्वभ्रमका आभास होता है, उस प्रकार चित्तमें पड़े हुए चित्प्रतिबिम्बमें चिदन्तरत्वका आभास होता है, उस भासमानरूपसे युक्त एक चित्तविनाश होता है और दूसरा तादृश रूपसे शून्य चित्तविनाश होता है । पहला सरूप विनाश तो जीवनमुक्ति होनेसे हो जाता है और दूसरा अरूप विनाश विदेहमुक्तिसे हो जाता है ॥ ४ ॥

चित्तसत्तेह दुःखाय चित्तनाशः सुखाय तु ।
चित्तसत्तां क्षयं नीत्वा चित्तं नाशमुपानयेत् ॥ ५ ॥
तामसैर्वासनाजालैर्व्याप्तं यज्जन्मकारणम् ।
विद्यमानं मनो विद्धि तद् दुःखायैव केवलम् ॥ ६ ॥
प्राक्तनं गुणसम्भारं ममेति बहु मन्यते ।
यत्तु चित्तमतत्त्वज्ञं दुःखितं जीव उच्यते ॥ ७ ॥
विद्यमानं मनो यावत्तावद् दुःखक्षयः कुतः ।
मनस्यस्तङ्गते जन्तोः संसारोऽस्तमुपागतः ॥ ८ ॥
दुःखमूलमवष्टब्धमस्मिन्नेव विनिश्चलम् ।
विद्यमानं मनो विद्धि दुःखवृक्षवनाङ्कुरम् ॥ ९ ॥

इस संसारमें चित्तका अस्तित्व (चित्तदर्शनपूर्वक आत्माका अदर्शन) दुःखका कारण है और चित्तका विनाश (चित्तादर्शनपूर्वक आत्मदर्शन) सुखका कारण है। अतः पहले चित्तकी अस्तिताका विनाश कर तदनन्तर चित्तका विनाश कर देना चाहिए ॥ ५ ॥

तब किस तरहकी चित्तसत्ता है ? उसे कहते हैं—'**तामसै०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जिसका बाध नहीं हुआ है, उस अज्ञानसे उत्पन्न हुई वासनाओं-से व्याप्त जो जन्मकारण मन है, वही विद्यमान मन है, यह आप जानिए। वह विद्यमान मन केवल दुःखका ही कारण है ॥ ६ ॥

प्राक्तन अनादि अध्याससे सिद्ध देह, इन्द्रिय, विषय आदिके धर्मोंमें आत्माके संसर्गाध्याससे ममता होती है और उससे 'वे मेरे हैं' यों जीव घना अभिमान कर लेता है। इसी एकमात्र अभिमानसे जो आत्मतत्त्वको न पहचाननेवाला दुःखग्रस्त अज्ञानी चित्त है, वही जीव कहा जाता है ॥ ७ ॥

जबतक मनका अस्तित्व है, तबतक दुःखका विनाश कैसे ? जब मन अस्त हो जाता है, तब प्राणीका संसार भी अस्त हो जाता है ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस अज्ञानी जीवमें ही वासनारूपी अङ्कुरोंके समूहोंसे दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हुआ विद्यमान मन ही दुःखरूपी वृक्षका मूल है, यह आप जानिए। दुःखरूपी वृक्षोंके जङ्गलके अङ्कुर उसी मनसे उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

नष्टं कस्य मनो ब्रह्मन्नष्टं वा कीदृशं भवेत् ।
कीदृशश्चाऽस्य नाशः स्यात्सत्ता नाशस्य कीदृशी ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

चेतसः कथिता सत्ता मया रघुकुलोद्वह ।
अस्य नाशमिदानीं त्वं शृणु प्रश्नविदांवर ॥ ११ ॥
सुखदुःखदशा धीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम् ।
निःश्वासा इव शैलेन्द्रं चित्तं तस्य मृतं विदुः ॥ १२ ॥
अयं सोऽहमयं नाऽहमिति चिन्ता नरोत्तमम् ।
खर्वीकरोति यं नाऽन्तर्नष्टं तस्य मनो विदुः ॥ १३ ॥
आपत्कार्पण्यमुत्साहो मदो मान्द्यं महोत्सवः ।
यं नयन्ति न वैरूप्यं तस्य नष्टं विदुर्मनः ॥ १४ ॥

श्रीरामजीने कहा—ब्रह्मन्, किस महात्माका मन विनष्ट हुआ था ? विनाशको प्राप्त हुए मनका स्वरूप किस प्रकारका होगा ? चित्तका नाश कैसा है ? और नाशको प्राप्त हुए मनकी व्यवहारक्षमताका लक्षण क्या है ? ॥ १० ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे प्रश्नवेत्ताओंमें श्रेष्ठ रघुकुलवाहक श्रीरामजी, मैंने 'तामसैर्वासनाजालैः' इत्यादि पूर्व वाक्यसे चित्तकी सत्ताका स्वरूप बतलाया है। अब आप इसके विनाशका स्वरूप सुनिए ॥ ११ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे निःश्वासवायु पर्वतराजको अपने स्वरूपसे विचलित नहीं करते, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर सुख-दुःख-दशाएँ जिस धीर पुरुषको सम-स्वभाव तथा पूर्णानन्दैकरस स्वात्मनिष्ठासे विचलित नहीं करतीं, विद्वान् लोग उस महात्माके चित्तको नष्ट चित्त कहते हैं ॥ १२ ॥

'यह सात बित्तेका शरीर ही प्रसिद्ध मैं हूँ', 'यह उससे अतिरिक्त घट आदि सब मैं नहीं हूँ', इस प्रकारकी तुच्छ भावना जिस पुरुषाग्रणीको भीतरसे संकुचित नहीं करती, विद्वान् उस पुरुषके चित्तको नष्ट चित्त कहते हैं ॥ १३ ॥

जिस नररत्नको आपत्ति, कार्पण्य यानी दरिद्रता, उत्साह यानी पुत्रादि-

एष साधो मनोनाशो नष्टं चेह मनो भवेत् ।
चित्तनाशदशा चैषा जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥ १५ ॥
मनस्तां मूढतां विद्धि यदा नश्यति साऽनघ ।
चित्तनाशाभिधानं हि तदा सत्त्वमुदेत्यलम् ॥ १६ ॥
तस्य सत्त्वविलासस्य चित्तनाशस्य राघव ।
जीवन्मुक्तस्वभावस्य कैश्चिच्चित्ताभिधा कृता ॥ १७ ॥
मैत्र्यादिभिर्गुणैर्युक्तं भवत्युत्तमवासनम् ।
भूयो जन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तमनोऽनघ ॥ १८ ॥
व्याप्तं वासनया यत्स्याद् भूयोजननमुक्तया ।
जीवन्मुक्तमनःसत्ता राम तत्सत्त्वमुच्यते ॥ १९ ॥

प्राप्तिप्रयुक्त हर्ष, मद, मन्दता (अपटुता) और महोत्सव यानी विवाह आदि विरूपताकी (विकारिताकी) ओर नहीं ले जाते, विद्वान् लोग उसके चित्तको नष्ट चित्त कहते हैं ॥ १४ ॥

लक्षणकी उक्तिका उपसंहार करते हैं—'**एष**' इत्यादिसे ।

हे साधो, इस लोकमें यही चित्तका विनाश है और इसीको नष्ट चित्त भी कहते हैं । यही जीवन्मुक्त महानुभावकी चित्तनाश-दशा है ॥ १५ ॥

हे निष्पाप श्रीरामजी, मनस्ता (परमार्थरूपताकी भ्रान्तिसे घटादि दृश्य पदार्थोंका मनन करना) ही मूढता है, यह आप जानिए । जब उसका विनाश हो जाता है, तब चित्तविनाशनामक शुद्धसत्त्वभावताका भली प्रकार उदय होता है ॥ १६ ॥

हे राघव, उस विशुद्ध सत्स्वभावत्वरूप चित्तविनाशका, जो जीवन्मुक्तस्वभावात्मक है, किन्हीं लोगोंने (तादृशव्यवहाररूपी आभासकी दृष्टि रखनेवालोंने) चित्तनाम रक्खा है ॥ १७ ॥

हे पापशून्य रामजी, जीवन्मुक्त मन मैत्री आदि शुभ गुणोंसे सम्पन्न, उत्तम वासनाओंसे युक्त तथा पुनर्जन्मसे शून्य होता है ॥ १८ ॥

हे श्रीरामजी, ब्रह्माकार वासनासे ओतप्रोत, पुनर्जननसे निर्मुक्त जो जीवन्मुक्त मनकी सत्ता है, वह सत्त्वनामसे व्यवहृत होती है ॥ १९ ॥

सम्प्रत्येवाऽनुभूतत्वात् सत्त्वाप्त्या तन्वसंयुतः ।
सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥ २० ॥
मैत्र्यादयोऽथ मुदिताः शशाङ्क इव दीप्तयः ।
जीवन्मुक्तमनोनाशे सर्वदा सर्वथा स्थिताः ॥ २१ ॥
जीवन्मुक्तमनोनाशे सत्त्वनाम्नि हिमालये ।
वसन्त इव मञ्जर्यः स्फुरन्ति गुणसम्पदः ॥ २२ ॥
अरूपस्तु मनोनाशो यो मयोक्तो रघूद्वह ।
विदेहमुक्त एवाऽसौ विद्यते निष्कलात्मकः ॥ २३ ॥
समग्राग्र्यगुणाधारमपि सत्त्वं प्रलीयते ।
विदेहमुक्ते विमले पदे परमपावने ॥ २४ ॥

भद्र, व्युत्थानकालमें ही प्रतिभासतः अनुभूत होनेसे मानो साकार स्वरूपको प्राप्त तथा सन्मात्रस्वभावकी प्राप्ति होनेके कारण देह आदि-परिच्छेदके संस्पर्शसे शून्य जो जीवन्मुक्तका स्वरूप है, यह मननीय विषयके न रहनेसे उसका सरूप मनोनाश है। इससे 'सत्ता नाशस्य कीदृशी' इस प्रश्नांशका समाधान हुआ, यह समझना चाहिए ॥ २० ॥

इसीलिए मैत्री आदि गुणोंकी भी वहाँ प्रतिभासतः उपपत्ति हो सकती है, यह कहते हैं—**'मैत्र्यादयः'** इत्यादिसे ।

तदनन्तर जिस प्रकार चन्द्रमामें प्रसन्न ज्योत्स्नाएँ रहती हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त मनोविनाशमें प्रसन्न मैत्री आदि गुण सदा सब तरहसे रहते हैं ॥ २१ ॥

संतोषरूपी शीतलताके आश्रय, सत्त्वनामक जीवन्मुक्तस्वरूप मनोनाश-दशामें गुणरूपी सम्पत्तियाँ उस प्रकार प्रस्फुरित होती हैं, जिस प्रकार हिमालयमें बसन्त-ऋतुमें मञ्जरियाँ प्रस्फुरित होती हैं ॥ २२ ॥

दूसरे अरूप मनोनाशका दिग्दर्शन कराते हैं—**'अरूपस्तु'** इत्यादिसे ।

हे रघूद्वह, जो मैंने पहले अरूप मनोनाश कहा था, वह विदेहमुक्तका ही विषय है तथा अवयवादि विकारोंसे वर्जित है ॥ २३ ॥

श्रीरामजी, परम पवित्र विदेहमुक्तिरूपी निर्मल पदमें समस्त श्रेष्ठ गुणोंका आश्रय भी प्रातिभासिक मन विलीन हो जाता है ॥ २४ ॥

विदेहमुक्तविषये तस्मिन्सत्त्वक्षयात्मके ।
चित्तनाशे विरूपाख्ये न किञ्चिदपि विद्यते ॥ २५ ॥
न गुणा नाऽगुणास्तत्र न श्रीर्नाऽश्रीर्न लोलता ।
न चोदयो नाऽस्तमयो न हर्षामर्षसंविदः ॥ २६ ॥
न तेजो न तमः किञ्चिन्न सन्ध्या दिनरात्रयः ।
न दिशो न च वाऽऽकाशो नाऽधो नाऽनर्थरूपता ॥ २७ ॥
न वासना न रचना नेहानीहे न रञ्जना ।
न सत्ता नाऽपि वाऽसत्ता न च साध्यं हि तत्पदम् ॥ २८ ॥
अतमस्तेजसा व्योम्ना वितारेन्द्वर्कवायुना ।
तत्समं शरदच्छेन निःसन्ध्येनाऽरजस्त्विषा ॥ २९ ॥

भद्र, विदेहमुक्त महात्माओंके प्राप्य विषय उस सत्त्वविनाशरूप अरूप चित्तनाश-दशामें किसी भी दृश्य पदार्थका अस्तित्व नहीं रहता, क्योंकि 'यत्र नाऽन्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (जिस पर ब्रह्मपदकी प्राप्ति-दशामें न दूसरा दिखाई पड़ता है, न दूसरा सुनाई पड़ता है, न दूसरा ज्ञात होता है, वह भूमा है) इत्यादि श्रुति है ॥ २५ ॥

कथित अर्थका ही विस्तार करते हैं—'न गुणाः' इत्यादिसे ।

वहाँ यानी अरूपचित्तविनाशदशामें न मैत्री आदि गुण हैं, न गुणाभाव यानी मनोदोष हैं, न श्री (गुणसमृद्धि) है, न श्रीका अभाव (दोषसमृद्धि) है, न चपलता है, न उदय है, न अस्त है, न हर्ष है, न अमर्ष है और न पृथक् तदीय परिज्ञान है ॥ २६ ॥

न तेज (मायिक सत्त्ववृत्ति) है, न कुछ तम (मायिक तमोवृत्ति) है, न सन्ध्या है, न दिन वा रात है, न दिशाएँ हैं, न आकाश है, न नीचा प्रदेश है और न अनर्थरूपता है ॥ २७ ॥

न कोई वासना है, न किसी प्रकारकी रचना है, न इच्छा है, न अनिच्छा है, न राग है, न भाव है, न अभाव है और न उक्त पद साध्य है ॥ २८ ॥

वह परमपद—तम और तेजसे शून्य; तारे, चन्द्र, सूर्य और वायुसे वर्जित; सन्ध्या, रजःकण और सूर्य-कान्तिसे रहित शरत्कालीन स्वच्छ आकाशके सदृश—अत्यन्त निर्मल है ॥ २९ ॥

ये हि पारं गता बुद्धेः संसाराचरणस्य च ।
तेषां तदास्पदं स्फारं पवनानामिवाऽम्बरम् ॥ ३० ॥
संशान्तदुःखमजडात्मकमेव सुप्त-
मानन्दमन्थरमपेतरजस्तमो यत् ।
आकाशकोशतनवोऽतनवो महान्त-
स्तस्मिन्पदे गलितचित्तलवा वसन्ति ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे चित्तोपदेशविचारयोगोपदेशो नाम नवतितमः सर्गः ॥९०॥

जिस प्रकार वायुका विशाल आकाश प्रतिष्ठा-स्थान है, वैसे ही वह विशाल पद उन लोगोंका प्रतिष्ठा स्थान है, जो लोग संसारके कारण चित्त और तज्जनित निरन्तर भ्रमणसे परे हो गये हैं ॥ ३० ॥

त्रिविध दुःखसे निर्मुक्त, स्वयं चैतन्यरूप होता हुआ ही सुप्त पुरुषकी नाईं उन्मेष आदि क्रियाओंसे शून्य, ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण तथा रज और तमसे रहित जो पद है, उस पदमें वे महात्मा अपुनरावृत्तिसे स्थिरता पूर्वक रहते हैं, जो प्रातिभासिक चित्तांशसे भी शून्य, विदेहमुक्त (स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरोंसे रहित) एवं आकाशकोशके सदृश सूक्ष्म (इन्द्रियागम्य) हो गये हैं ॥ ३१ ॥

नब्बे सर्ग समाप्त

एकनवतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

परमाकाशकोशाद्रिरूढलोकान्तरद्रुमम् ।
तारकापुष्पशबलं देवासुरविहङ्गमम् ॥ १ ॥
विद्युन्मञ्जरितोपान्तनीलनीरदपल्लवम् ।
सर्वर्तुरम्यचन्द्रार्कगणरम्यकदन्तुरम् ॥ २ ॥
सप्ताब्धिवापीवलितं सरिच्छतमनोहरम् ।
चतुर्दशविधानन्तभूतजातोपजीवितम् ॥ ३ ॥

इक्यानवें सर्ग

[संसाररूपी लताका कारण शरीर है, शरीरका कारण मन है तथा मनके कारण प्राणस्पन्द और वासना—ये दो हैं, यह वर्णन]

परब्रह्ममें अध्यस्त चौदह भुवन-स्वरूप जगत्‌में विस्तृतरूपसे फैली हुई जीव सृष्टिरूपी लताके बीजोंकी परम्पराकी सीमा कहाँ तक है ? इसको—मूलका-उच्छेद करनेमें उपाय जाननेकी अभिलाषासे—पूछनेकी इच्छावाले श्रीरामजी पहले जगत्‌का वनके रूपमें वर्णन करते हैं—**'परमा०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—महाराज, [यह जगत् एक तरहका बड़ा भारी वन है, वहाँपर] निर्विशेष परब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें पर्वतकी नाईं प्रतिबन्धक होनेसे पर्वततुल्य आव्याकृतमें उत्पन्न चित्रविचित्र पृथक् पृथक् ब्रह्माण्ड ही वृक्ष हैं, उन वृक्षों पर तारागण ही फूल लगे हैं, देवता और असुर पक्षी हैं। विद्युत्-रूपी मञ्जरियोंसे समन्वित दिशारूपी शाखाओंके अग्रभागोंमें नील आदि वर्णवाले मेघ ही पल्लव हैं। वह सब ऋतुओंमें सुन्दर चन्द्रमा और सूर्यरूपी विकास-रमणीय पुष्पोंसे उन्नत दाँतसे युक्त होकर हँसता हुआ-सा स्थित है, सात समुद्ररूपी बावडियोंसे वेष्टित है, सैकड़ों नदियोंसे मनोहर है, लोकभेदसे चौदह प्रकारके और व्यक्तिशः असंख्य भूतगणोंसे उपजीवित है यानी उनके जीवनका साधन है ॥ १—३ ॥

जगत्काननमाक्रम्य स्थितायाः कृतजालकम् ।
ब्रह्मन् संसृतिमृद्वीकालताया वितताकृतेः ॥ ४ ॥
जरामरणपर्वायाः सुखदुःखफलावलेः ।
मायाप्ररूढमूलाया मोहसेकजलाञ्जलेः ॥ ५ ॥
किं बीजमथ बीजस्य तस्य किं बीजमुच्यते ।
अथ तस्याऽपि किं बीजं बीजं तस्याऽपि किं भवेत् ॥ ६ ॥
सर्वमेतत् समासेन पुनर्बोधविवृद्धये ।
सिद्धये ज्ञानसारस्य वद मे वदतां वर ॥ ७ ॥

वसिष्ठ उवाच

अन्तर्लीनघनारम्भशुभाशुभमहाङ्कुरम् ।
संसृतिव्रततेर्बीजं शरीरं विद्धि राघव ॥ ८ ॥
शाखाप्रतानगहना फलपल्लवशालिनी ।
तेनेयं भवति स्फीता शरदीव वसुन्धरा ॥ ९ ॥

हे ब्रह्मन्, इस प्रकारके जगत्-रूपी महारण्यका आक्रमण करके यानी वासना-प्रतानोंसे चारों ओर संवेष्टन करके जालरचनापूर्वक स्थित हुई जीव-सृष्टिरूपी द्राक्षालताका—जिसका विस्तृत आकार है, जरा और मरण ही जिसकी पर्व—काण्ड-ग्रन्थियाँ—(पोर) हैं, जिसपर सुख-दुःखरूपी फलोंकी लगी पंक्तियाँ हैं, माया ही जिसका दृढ़ मूल है, मोह ही जिसकी सिंचन-साधन जलोंकी अंञ्जलियाँ हैं—बीज क्या है ? उस बीजका भी बीज क्या है, उस बीजके बीजका बीज क्या है और तृतीय बीजका भी बीज क्या है ? ॥ ४—६ ॥

हे वाग्मियोंमें सर्व-श्रेष्ठ, संक्षेपसे इन चार प्रश्नोंका मुझको उत्तर दीजिए, जिससे कि फिर मुझमें ज्ञानकी अभिवृद्धि हो और ज्ञानरूप तत्त्वांशकी सिद्धि हो ॥ ७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—राघव, लिङ्गदेहमें प्रच्छन्न (छिपे हुए) चित्र-विचित्र अनन्त कार्योंके उत्पादक शुभाशुभ कर्म ही जिसके बड़े-बड़े अङ्कुर हैं, वह शरीर ही जीव-सृष्टिरूपी लताका बीज है, यह आप जानिए ॥ ८ ॥

जिस प्रकार शरत्-कालमें शाखाओंके प्रतानोंसे गहन तथा फल और पल्लवोंसे

भावाभावदशाकोशं दुःखरत्नसमुद्गकम् ।
बीजमस्य शरीरस्य चित्तमाशावशानुगम् ॥ १० ॥

चित्तादिदमुदेत्युच्चैः सदसच्चाऽङ्गजालकम् ।
तथा चैतत्स्वयं स्वप्नसम्भ्रमेष्वनुभूयते ॥ ११ ॥

यथा गन्धर्वसङ्कल्पात् पुरमेवं हि चेतसः ।
सवातायनमाकारभासुरं जायते वपुः ॥ १२ ॥

यदिदं किञ्चिदाभोगि जागतं दृश्यतां गतम् ।
रूपं तच्चेतसः स्फारं घटादित्वं मृदो यथा ॥ १३ ॥

शोभित होकर पृथ्वी सस्य-सम्पत्तिसे बढ़ जाती है, वैसे ही यह जीव-संसृति-लता उससे यानी उक्त शरीरसे अत्यन्त बढ़ जाती है ॥ ९ ॥

'तस्य किं बीजमुच्यते' (उस शरीरका बीज क्या है ?) इस द्वितीय प्रश्नका उत्तर देते हैं—**'भावा०'** इत्यादिसे ।

वैभवकी वृद्धि और क्षति—इन दो दशाओंके निधिभूत तथा विविध दुःखरूपी रत्नोंकी पिटारीस्वरूप चित्त, जो कि आशाओंका वशमें रहनेवाला एक तरहसे अनुचरभूत है, उक्त शरीरका बीज है ॥ १० ॥

एकमात्र तथोक्त सर्वोपरि चित्तसे ही यह वर्तमान, भूत और भविष्यत्‌के शरीरसमूह उत्पन्न हुए हैं । और यह बात सबको स्वप्नके भ्रमोंमें स्वयं अनुभूत होती है ॥ ११ ॥

हे रघुश्रेष्ठ, जिस प्रकार मुमूर्षु (आसन्नमरण) पुरुषके उत्पातप्रदर्शनसङ्कल्प-से युक्त चित्तसे ही झरोखे आदिसे युक्त तथा सुन्दर आकारवाला गन्धर्व-नगर उत्पन्न होता है, वैसे ही तत्-तत् शरीरसङ्कल्पसे युक्त चित्तसे ही तत्-तत् शरीर उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

किञ्च, इस प्रतिपादित अर्थकी असंभावना करना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि समस्त जगत् हिरण्यगर्भका एकमात्र मनोविकाररूप है, यह सब श्रुति और पुराणोंमें प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—**'यदिदम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, सम्पूर्ण उपचारोंसे परिपूर्ण जो यह मिथ्या जगत्‌का स्वरूप दृश्यता-

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः ।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढभावना ॥ १४ ॥
यदा प्रस्पन्दते प्राणो नाडीसंस्पर्शनोद्यतः ।
तदा संवेदनमयं चित्तमाशु प्रजायते ॥ १५ ॥
यदा न स्पन्दते प्राणः शिरासरणिकोटरे ।
असंवित्तिवशात्तेन चित्तमन्तर्न जायते ॥ १६ ॥
प्राणस्पन्दनमेवेदं चित्तद्वारेण दृश्यते ।
जगन्नामाऽऽगतं व्योम्नि नीलत्वादिवदीदृशम् ॥ १७ ॥

को प्राप्त है, वह चित्तसे उस प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मृत्तिकासे घट आदि स्वरूप उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

तदनन्तर उसका भी बीज क्या है, इस तृतीय प्रश्नका उत्तर देते हैं—'द्वे' इत्यादिसे ।

राघव, अनेक तरहकी वृत्तियाँ धारण करनेवाले चित्तरूपी वृक्षके दो बीज हैं—एक प्राणपरिस्पन्द और दूसरा दृढ़ वासना ॥ १४ ॥

प्रथम बीजका उपपादन करते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जब हृदयकी मनोवहार्थों नाडियोंमें संचरणके लिए उद्युक्त होकर प्राणवायु अपना व्यापार करने लगता है, तब चेतनविकार-प्राय (वृत्तिज्ञानप्रचुर) चित्त तत्काल ही उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

जब बाह्य पदार्थोंके अनुभवसे जनित संस्कारोंका उद्बोध न होनेके कारण बहत्तर हजार नाडीमार्गोंके छिद्रोंमें प्राण अपना व्यापार छोड़ देता है, तब उससे चित्त अन्दर उत्पन्न नहीं होता ॥ १६ ॥

हिरण्यगर्भकी चितिकी जगदाकारता भी समष्टि-प्राणके परिस्पन्दनसे ही युक्त होती है, यह बात अपने चित्तके स्पन्दनके दृष्टान्तसे लक्षित होती है, यह कहते हैं—'प्राण०' इत्यादिसे ।

यह प्राण-प्रस्पन्दन-स्वरूप ही इस प्रकारका जगत्-नाम धारी पदार्थ चित्तके द्वारा उस प्रकार लक्षित होता है, जिस प्रकार आकाशमें नीलत्व आदि लक्षित होते हैं ॥ १७ ॥

प्राणस्पन्दनसुप्ता च तच्छान्तिः शान्तिरुच्यते ।
प्राणसंस्पन्दनात्संविद्याति वीटेव चोदिता ॥ १८ ॥
संवित्स्फुरति देहेषु प्राणस्पन्दप्रबोधिता ।
चक्रावर्तैरङ्गणेषु वीटेव करताडिता ॥ १९ ॥
सती सर्वगता संवित्प्राणस्पन्देन बोध्यते ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतराकारा गन्धलेखेव वायुना ॥ २० ॥
संवित्संरोधने श्रेयः परमं विद्धि राघव ।
कारणाक्रमणं यत्र क्षोभस्तत्र न विद्यते ॥ २१ ॥
संवित्समुदितैवाऽऽशु याति संवेद्यमादरात् ।
संवेदनादनन्तानि ततो दुःखानि चेतसः ॥ २२ ॥

समष्टि प्राणस्पन्दनके विषयमें उपरत उस चितिकी शान्ति यानी निष्क्रियता ही शान्ति अर्थात् जगत्-प्रलय या मोक्ष कहा जाता है, प्राणके स्पन्दनसे संवित्, करतलसे विताडित गेंदकी नाईं, ऊपर नीचे होती रहती है ॥ १८ ॥

श्रीरामजी, प्राण-स्पन्दनसे बोधको प्राप्त हुई संवित् देहोंमें चक्राकार आवर्तोंसे उस प्रकार प्रस्फुरित होती है, जिस प्रकार करतलसे विताडित गेंद आँगनोंमें चक्राकार आवर्तोंसे प्रस्फुरित होता है ॥ १९ ॥

जिस प्रकार सूक्ष्मसे सूक्ष्म-स्वरूपवाली गन्धलेखा वायुसे बोधित होती है, वैसे ही सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर आकारवाली सत्स्वरूपिणी सर्वगता संवित् प्राणप्रस्पन्दनसे बोधित होती है ॥ २० ॥

हे राघव, संवित्की विक्षिप्तता न होनेपर मोक्षरूप सर्वातिशायी कल्याण प्राप्त होता है, यह आप जानिए। क्षोभ-हेतु प्राणस्पन्दनका जहाँपर प्राणायामके अभ्याससे विनाश हो जाता है, वहाँपर क्षोभ होता ही नहीं है ॥२१॥

संवित्का संरोध करनेसे क्या फल है ? और संवित् यदि चित्ताकार हो जाय तो कौन दोष है ? इसपर कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

भली प्रकार उदित हुई संवित् तत्काल ही बाह्य विषयोंकी ओर रागवश चली जाती है, तदनन्तर उनके उपभोगके संवेदनसे चित्तको अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

संसुप्तान्तरबोधाय संवित् संतिष्ठते यदा ।
लब्धं भवति लब्धव्यं तदा तदमलं पदम् ॥ २३ ॥
तस्मात् प्राणपरिस्पन्दैर्वासनाचोदनैस्तथा ।
नो चेत्संविदमुच्छूनां करोषि तदजो भवान् ॥ २४ ॥
संविदुच्छूनतां चित्तं विद्धि तेनेदमाततम् ।
अनर्थजालमालूनविशीर्णजनजीवकम् ॥ २५ ॥
योगिनश्चित्तशान्त्यर्थं कुर्वन्ति प्राणरोधनम् ।
प्राणायामैस्तथा ध्यानैः प्रयोगैर्युक्तिकल्पितैः ॥ २६ ॥
चित्तोपशान्तिफलदं परमं साम्यकारणम् ।
सुभगं संविदः स्वास्थ्यं प्राणसंरोधनं विदुः ॥ २७ ॥

जब संवित् बाह्य विषयोंमें संसुप्त यानी उदासीन होकर आत्मबोधके लिए उद्युक्त होती है, तब प्राप्त करने योग्य वह निर्मल मोक्षरूप पद प्राप्त हो जाता है ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए जिस प्रकार मूढ़ पुरुष प्राण-परिस्पन्दोंसे तथा रागातिशयके द्वारा वासनाओंके उत्पादनोंसे संवित्को विस्तृत यानी विस्तृत-त्वप्रयुक्त मनस्त्वकी संपत्तिसे युक्त करते हैं, उस प्रकार यदि आप संवित्को विस्तृत नहीं करते हैं, तो जन्म आदि समस्त विकारोंसे शून्य होकर आप संवित्को मुक्त ही होजायँगे ॥ २४ ॥

श्रीरामजी, संवित्की उच्छूनताको (मोटेपनको) आप चित्त जानिये, संवित्के उच्छूनतारूपी उसी चित्तने इस अनर्थजालका, जिसने कि मनुष्य जीवोंको खण्डित और जरजर कर डाला है, विस्तार किया है ॥ २५ ॥

योगी लोग चित्तकी शान्तिके लिए योगशास्त्रमें बतलाये गये प्राणायाम, ध्यान तथा सद्गुरुके सम्प्रदाय आदिसे सिद्ध युक्ति-कल्पित शान्तिकारक उपायोंके अभ्याससे प्राणका निरोध करते हैं ॥ २६ ॥

फलकी एकताके रूपसे प्राणके संरोधनकी ही प्रशंसा करते हैं—**'चित्त०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, बड़े बड़े विद्वान् लोग प्राण-निरोधको ही चित्त-शान्ति-

ज्ञानवद्भिः प्रकटितामनुभूतां च राघव ।
चित्तस्योत्पत्तिमपरां वासनाजीवितां शृणु ॥ २८ ॥
दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥ २९ ॥
भावितस्तीव्रसंवेगादात्मना यत्तदेव सः ।
भवत्याशु महाबाहो विगतेतरसंस्मृतिः ॥ ३० ॥

रूप फलका दाता, उत्तम समताका हेतु, छः प्रकारके ऐश्वर्योंसे उपेत तथा संवित्‌की स्वस्थता कहते हैं ॥ २७ ॥

चित्तके अन्य बीजका वर्णन करनेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—**'ज्ञानवद्भिः'** इत्यादिसे ।

हे राघव, ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा भलीप्रकार उपदिष्ट तथा स्वयं अनुभूत वासनाओंसे जीवन पर्यन्त उज्जीवित इस चित्तकी दूसरे प्रकारसे उत्पत्ति सुनिए ॥ २८ ॥

उसमें पहले वासनाका स्वरूप कहते हैं—**'दृढ़०'** इत्यादिसे ।

पहलेके जन्मोंकी दृढ भावनासे देह आदि जड़ पदार्थोंका जो 'अहम्' 'मम' इत्यादि संस्काररूपसे आदान (ग्रहण) होता है, वह यदि पूर्वापर विचारसे शून्य हो जाता है तो वह वासनाशब्दसे व्यवहृत होता है । 'वासयति भावयति इति वासना' इस व्युत्पत्तिसे आत्माको देह आदि भावोंमें भावित करने वाला संस्कार वासना कहा जाता है । पूर्वापरके विचारोंसे युक्त जीवन्मुक्त महात्माओंका देह आदि संस्कार वासना नहीं है, क्योंकि विरोधी पूर्वापर विचारोंसे समन्वित होनेके कारण उनको उक्त संस्कार देहादि भावोंमें भावित नहीं कर सकता, यह भाव है ॥ २९ ॥

अज्ञानी आत्माओंको तो वह संस्कार, किसी प्रकारका विरोध न होनेके कारण, तीव्र संवेग और भावनाकी दृढ़ताके देहादिभावमें भावित कर सकता है, इस आशयसे कहते हैं—**'भावित०'** इत्यादिसे ।

हे महाबाहो, तीव्र संवेगसे आत्माके द्वारा जिस पदार्थकी भावना की जाती है, तत्काल ही वह आत्मा अन्य संस्मरणोंको छोड़कर तद्रूप ही हो जाता है ॥ ३० ॥

तादृग्रूपः स पुरुषो वासनाविवशीकृतः ।
यत्पश्यति तदेतत्तत्सद्वस्त्विति विमुह्यति ॥ ३१ ॥

वासनावेगवैवश्यात् स्वरूपं प्रजहाति तत् ।
भ्रान्तं पश्यति दुर्दृष्टिः सर्वं मदवशादिव ॥ ३२ ॥

असम्यग्ज्ञानवानेव भवत्याधिपरिप्लुतः ।
अन्तःस्थया वासनया विषेणेव वशीकृतः ॥ ३३ ॥

असम्यग्दर्शनं यस्मादनात्मन्यात्मभावनम् ।
यदवस्तुनि वस्तुत्वं तच्चित्तं विद्धि राघव ॥ ३४ ॥

वह भावना जिस प्रकार देहमें आत्मता दीखलाती है, उसी प्रकार बाह्य अर्थोंमें सत्ता भी दीखलाती है, ऐसा कहते हैं—**'तादृक्'** इत्यादिसे ।

वासनाके द्वारा अत्यन्त वशीकृत उस भावनासे भावित वह पुरुष जिस किसीको देख लेता है, उस सबको वह यह सत्-वस्तु है, इस प्रकार मोह कर लेता है ॥ ३१ ॥

वासनाके वेगसे पुरुष अपने रूपको छोड़ देता है और जिस प्रकार मदिराके मदसे दुष्टदृष्टि पुरुषको सब कुछ भ्रमणशील दीख पड़ता है, वैसे ही वासनासे दुष्टदृष्टि होकर वासनाके द्वारा उपस्थापित समस्त भ्रान्त जगत्के रूपको देखता है ॥ ३२ ॥

२९ वें श्लोकमें 'त्यक्तपूर्वापरविचारणम्' इस वाक्यके द्वारा होनेवाले व्यावर्त्य अंशको कहते हैं—**'असम्यक्'** इत्यादिसे ।

आत्ममिथ्याज्ञानसे युक्त ही पुरुष भीतरीवासनाओंसे वशीकृत होकर, विषसे वशीकृत पुरुषकी नाईं, अनेक मानसी आपत्तियोंसे विकल रहता है ॥ ३३ ॥

वही चितिकी चित्तताके रूपसे वासनाप्रयुक्त उत्पत्ति है, इस आशयसे कहते हैं—**'असम्यक्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जिससे आनात्म-वस्तुमें आत्मत्वबुद्धिरूप अयथार्थ ज्ञान और अवस्तुमें वस्तुत्व-रूप अयथार्थ ज्ञान होता है, उसको आप चित्त जानिए ॥ ३४ ॥

दृढाभ्यासपदार्थैकवासनादतिचञ्चलम् ।
चित्तं संजायते जन्मजरामरणकारणम् ॥ ३५ ॥
यदा न वास्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत् ।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥ ३६ ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा ॥ ३७ ॥
यदा किञ्चिन्न संवित्तौ स्फुरत्यभ्रमिवाऽम्बरे ।
तदा पद्म इवाऽऽकाशे चित्तमन्तर्न जायते ॥ ३८ ॥
यदा न भाव्यते भावः क्वचिज्जगति वस्तुनि ।
तदा हृदम्बरे शून्ये कथं चित्तं प्रजायते ॥ ३९ ॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव ।
यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥ ४० ॥

हे भद्र, दृढ़ अभ्यासके कारण देह आदि पदार्थोंमें 'अहम् , मम' आदि आत्माध्यासरूप एकमात्र वासनासे ही जन्म, जरा और मरणमें हेतुभूत अति चपल चित्तकी उत्पत्ति होती है ॥ ३५ ॥

इसीलिए वासनाके विनाशसे चितिकी स्वस्थतारूप मुक्ति होती है, ऐसा कहते हैं—'**यदा**' इत्यादिसे ।

जो कुछ भी हेयस्वरूप और उपादेयस्वरूप वस्तु है, वह जब अस्तित्व प्राप्त नहीं करती और सबका परित्याग कर अवस्थित रहती है, तब चित्त उत्पन्न नहीं होता ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी, निरन्तर वासनाका अभाव होनेसे जब मन मनन नहीं करता, तब अमनस्ताका, जो निरतिशय मोक्षस्वरूप शान्ति प्रदान करती है, उदय होता है ॥ ३७ ॥

आकाशमें मेघकी नाईं संविदाकाशमें जब कुछ भी स्फुरित नहीं होता, तब आकाशमें कमलकी नाईं चिदाकाशमें चित्त उत्पन्न नहीं होता ॥ ३८ ॥

जब जगद्रूप वस्तुमें किसी पदार्थकी भावना नहीं होती, तब शून्य हृदयाकाशमें चित्त कैसे उत्पन्न होगा ? ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बस, इतना ही चित्तका स्वरूप मैं मानता हूँ कि रागसे जगत्-रूपी वस्तुके अन्दर आत्मरूप वस्तुत्वसे भावना करना ॥ ४० ॥

न किञ्चित्कल्पनायोग्यं दृश्यं भावयतस्ततः ।
आकाशकोशस्वच्छस्य कुतश्चित्तोदयो भवेत् ॥ ४१ ॥
यदभावनमास्थाय यदभावस्य भावनम् ।
यद्यथावस्तुदर्शित्वं तदचित्तत्वमुच्यते ॥ ४२ ॥
सर्वमन्तः परित्यज्य शीतलाशयवर्ति यत् ।
वृत्तिस्थमपि तच्चित्तमसद्रूपमुदाहृतम् ॥ ४३ ॥
वासनाया रसाध्यानाद्रागो यस्य न विद्यते ।
तस्य चित्तमचित्तत्वं गतं सत्त्वं तदुच्यते ॥ ४४ ॥
घना न वासना यस्य पुनर्जननकारिणी ।
जीवन्मुक्तः स सत्त्वस्थश्चक्रभ्रमवदास्थितः ॥ ४५ ॥

हे श्रीरामजी, इस कारण कोई भी दृश्य युक्तियोंसे समर्थन करने योग्य नहीं है, इस प्रकारकी भावना कर रहे तथा आकाशकोशकी नाईं अति स्वच्छ आत्मपदार्थमें चित्तका उदय कैसे होगा ? ॥ ४१ ॥

अब अचित्तत्वका लक्षण करते हैं—'यद०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, बाह्य वस्तुओंके अस्मरणरूप निरोधयोगका अवलम्बन करनेसे समस्त दृश्योंके परिमार्जन-स्वरूप अभावका सम्पादक पारमार्थिक आत्मदर्शनसे जो स्वरूप आविर्भूत होता है, वह अचित्त कहा जाता है ॥ ४२ ॥

तब वृत्तिसे विशिष्ट चित्तके रहनेपर जीवन्मुक्त अचित्त कैसे ? इसपर कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, भीतरसे सब कुछका परित्याग कर सुशीतल ब्रह्मरूपी आशयमें लगा हुआ जो चित्त है, वह कदाचित् वृत्तिसे युक्त हो भी गया, तो भी वह असत्-स्वरूप ही है। दग्धपटके अवभाससे सत्यपटरूपता नहीं कही जा सकती, किन्तु असत्यपटरूपता ही कही जा सकती है, यह तात्पर्य है ॥ ४३ ॥

हे श्रीरामजी, जिस महामति पुरुषको संस्कारसे जनित विषयरसास्वादके संस्मरणसे विषयानुरक्ति उत्पन्न नहीं होती, उस महामति पुरुषका चित्त अचित्तरूपता-को तथा विशुद्ध सत्त्वको यानी पटभस्मकी नाईं अवशिष्ट अधिष्ठानभूत सत्ताको प्राप्त हुआ है, ऐसा कहा जाता है ॥ ४४ ॥

तब जीवन्मुक्त पुरुष व्यवहार क्यों करता है ? इस शङ्कापर कृतकार्य

भ्रष्टबीजोपमा येषां पुनर्जननवर्जिता ।
वासना रसनिर्हीना जीवन्मुक्ता हि ते स्थिताः ॥ ४६ ॥
सत्त्वरूपपरिप्राप्तचित्तास्ते ज्ञानपारगाः ।
अचित्ता इति कथ्यन्ते देहान्ते व्योमरूपिणः ॥ ४७ ॥
द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासने ।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥ ४८ ॥
मिथः कारणमेते हि बीजे जन्मनि चेतसः ।
जलाङ्गीकरणे राम जलाशयघटाविव ॥ ४९ ॥

कुम्भकारके चक्रभ्रमणकी नाईं वह व्यवहार करता है, ऐसा समाधान देते हैं—'घना' इत्यादिसे ।

जिस महापुरुषमें पुनर्जन्मकी उत्पादक वासना है नहीं, वह चक्रकी भ्रमिके सदृश जगत्‌के व्यवहारमें निरत होता हुआ भी जीवन्मुक्त और सत्त्वस्थ है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कुम्भकारके व्यापारके अभावमें भी चक्रका भ्रमण तबतक होता रहता है, जबतक कि उसमें संस्कार रहता है, उसी प्रकार अविद्याके क्षीण होनेपर भी संस्कारके अवशिष्ट रहनेसे जीवन्मुक्त-शरीर और उसका व्यवहार—दोनों प्रारब्धभोगपर्यन्त विद्यमान रहते हैं ॥ ४५ ॥

जिन महानुभावोंकी वासना भुँजे बीजके सदृश पुनर्जन्मसे शून्य और रससे वर्जित यानी विषयानुरक्तिसे रहित है, वे महानुभाव जीवन्मुक्त होकर अवस्थित रहते हैं ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिनका चित्त सत्त्वरूपता प्राप्त कर चुका है, ऐसे ज्ञानके पारङ्गत हुए वे महात्मा 'अचित्त' शब्दसे व्यवहृत होते हैं । प्रारब्धका क्षय हो जानेपर वे चिदाकाशस्वरूप हो जाते हैं ॥ ४७ ॥

वासनाके बीजका विनाश होनेपर अन्य बीजसे चित्तकी उत्पत्ति क्यों नहीं होगी ? तो इसपर कहते हैं—'द्वे' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चित्तके दो कारण हैं—एक प्राणस्पन्दन और दूसरा वासना । उन दो कारणोंमें से किसी एकका विनाश हो जानेपर तत्काल दोनों भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे घटाकाशके द्वारा जलका स्वीकार करनेमें घट और

घना न वासनाऽऽयस्य पुनर्जननकारिणी ।
बीजाङ्कुरवदेते हि संस्थिते तिलतैलवत् ।
अविनाभाविनी नित्यं कालाकाङ्क्षिक्रमे तथा ॥ ५० ॥
सर्वमुत्पादयत्येतच्चित्तकः संविदात्मकः ।
यथा प्राणेन्द्रियानन्दमानन्दपवनावुभौ ॥ ५१ ॥
चित्तस्योत्पादिके सार्धं यदैते वासने तदा ।
आमोदपुष्पवत्तैलतिलवच्च व्यवस्थिते ॥ ५२ ॥
वासनावशतः प्राणस्पन्दस्तेन च वासना ।
जायते चित्तबीजस्य तेन बीजाङ्कुरक्रमः ॥ ५३ ॥

जलाशय दोनों मिलकर कारण होते हैं, वैसे ही चित्तकी उत्पत्तिमें ये दोनों परस्पर मिल कर ही कारण होते हैं, एक कारण नहीं होता ॥ ४९ ॥

श्रीरामजी, केवल एकमात्र घनीभूत वासना ही बलपूर्वक पुनर्जन्म उत्पन्न नहीं करती। 'उसका भी क्या बीज है' इस चतुर्थ प्रश्नका भी, अनवस्थाका परिहार करते हुए, उत्तर देते हैं—'बीजाङ्कुर०' से। ये प्राणस्पन्दन और वासना दोनों, तिलोंमें तेलकी नाईं, एक दूसरेके भीतर स्थित हैं और बीजाङ्कुरन्यायसे कालकी अपेक्षा रखनेवाले क्रमसे युक्त होकर एक दूसरेके कारण हैं ॥ ५० ॥

इसी प्रकार चित्तकी भी उन दोनोंके प्रति और ऐन्द्रियक सुख-दुःख आदिके प्रति कारणता है, ऐसा कहते हैं—**'सर्वम्'** इत्यादिसे।

संवित्-स्वरूप यह चित्त सबको यथाक्रमसे यानी पहले प्राणको, तदनन्तर इन्द्रियोंको और तत्-प्रयुक्त आनन्दको उत्पन्न करता है, इसी प्रकार पूर्वमें उपभुक्त विषयानन्द और तात्कालिक जीवनस्वरूप पवनस्पन्दमें वासनारूपसे भी चित्तकी उत्पादकता है, ऐसा कहते हैं—'आनन्दपवनौ' से। जब आनन्द और पवन दोनों वासनास्वरूप हो गये, तब उन्होंने साथ मिल कर ही चित्तका उत्पादन किया। वे पुष्पमें आमोद तथा तिलमें तेलके समान व्यवस्थित हैं, इसलिए एक दूसरेका एक दूसरा आश्रय और एक दूसरेका एक दूसरा हेतु हो सकता है, अनवस्था दोषका प्रसङ्ग नहीं हो सकता ॥ ५१–५२ ॥

हे श्रीरामजी, चित्तरूप बीजमें वासनासे ही प्राणस्पन्दन होता है

वासनोत्प्लवमानत्वात् संवित्प्रक्षोभकर्मणा ।
प्राणस्पन्दं बोधयति तेन चित्तं प्रजायते ॥ ५४ ॥
प्राणः स्पन्दनधर्मित्वात् स्पन्दते स्पृष्टहृद्गुणः ।
संविदं बोधयंस्तेन चित्तबालः प्रजायते ॥ ५५ ॥
एवं हि वासनाप्राणस्पन्दौ द्वौ तस्य कारणम् ।
तयोरेकक्षये नाशो द्वयोश्चित्तस्य राघव ॥ ५६ ॥
सुखदुःखमनःस्पन्दं शारीरकबृहत्फलम् ।
कार्यपल्लविताकारं कृतिव्रततिवेष्टितम् ॥ ५७ ॥
तृष्णाकृष्णाहिवलितं रागरोगबकालयम् ।
अज्ञानमूलं सुदृढं लीनेन्द्रियविहङ्गमम् ॥ ५८ ॥

प्राण-स्पन्दनसे वासना होती है और उससे बीजका अङ्कुरक्रम उत्पन्न होता है ॥ ५३ ॥

दोनोंमें चित्तोत्पादकता है, इसका प्रकार बतलाते हैं—'**वासनो०**' इत्यादिसे।

वासनाका ऊर्ध्वगतिस्वभाव होनेसे वह संवित्के क्षोभकारक कर्मसे प्राण-प्रस्पन्दनका उद्बोधन करती है और उससे चित्त उत्पन्न होता है ॥ ५४ ॥

स्पन्दनधर्मवान् होनेसे हृदयगत राग आदि गुणोंकी प्रेरणा करनेवाला प्राण संवित्का उद्बोधन करता है और क्रमसे चित्तरूपी बालक उत्पन्न होता है ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामजी, उस प्रकार वासना और प्राणस्पन्द दोनों चित्तके कारण हैं, उनमें से किसी एकका क्षय हो जानेपर दानोंका और उनके कार्य चित्तका विनाश हो जाता है ॥ ५६ ॥

चित्तका वृक्षरूपसे वर्णन कर रहे महाराज वसिष्ठजी वासनाके क्षयसे चित्त-विनाश होता है, यों कहते हैं—'**सुख०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, सुख और दुःखके मननात्मक स्पन्दनसे युक्त, शरीररूपी महान् फलसे समन्वित, कार्यरूपी पल्लवोंसे पूर्ण आकारको धारण करनेवाला, तृष्णारूपी काले साँपोंसे वेष्टित, राग तथा रोग रूपी बगुलोंका आश्रय, अज्ञानरूपी दृढ़ मूलसे संयुक्त, इन्द्रियरूपी विहङ्गमोंसे (पक्षियोंसे) आक्रान्त चित्तरूपी वृक्षको

वासना क्षयमानीता चित्तवृक्षं क्षणेन हि ।
प्रपातयति वातौघः कालपक्वफलं यथा ॥ ५९ ॥
पाण्डुरीकृतसर्वाशं स्थगिताखिलदर्शनम् ।
विलोलजलदाकारमज्ञानावकरोत्थितम् ॥ ६० ॥
तृष्णातृणलवव्याप्तं स्तम्भाकृति शरीरकम् ।
स्फुरत्तनुतनुक्षुब्धं सुखमुत्प्लवनं प्रति ॥ ६१ ॥
अन्तःस्थितमहालोकमपश्यत् प्रविलीयते ।
पवनस्पन्दरोधाच्च राम चित्तरजः क्षणात् ॥ ६२ ॥
वासनाप्राणपवनस्पन्दयोरनयोर्द्वयोः ।
संवेद्यं बीजमित्युक्तं स्फुरतस्तौ यतस्ततः ॥ ६३ ॥

क्षीणता-प्रापित वासना उस प्रकार गिरा देती है, जिस प्रकार कालसे परिपक्व फलको वायुप्रवाह गिरा देता है ॥ ५७–५९ ॥

उसी चित्तका अंधड़से उड़ाये गये धूलिके ढेरके रूपमें वर्णन करते हुए, जिस प्रकार पवनके निरोधसे धूलिपटलका नाश हो जाता है, उसी प्रकार प्राणस्पन्दनके निरोधसे मनरूपी धूलि-पटलका विनाश हो जाता है, यों कहते हैं—'**पाण्डुरीकृत०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, समस्त दिशाओंको पाण्डुर (मलिन) करनेवाली, पूर्ण चैतन्यरूपी (पक्षमें सर्वजननेत्ररूपी) अखिल दर्शनको ढक देनेवाली, चंचल मेघके सदृश आकारवाली, अज्ञानरूपी उत्करसे उत्थित, तृष्णारूपी तृणखण्डोंसे व्याप्त, स्तम्भके सदृश आकारवाली देहसे (पक्षमें वात्यासंस्थानसे यानी धूलिस्तम्भसे) युक्त, प्रस्फुरित हो रहे स्वल्प स्वल्प वृत्तियोंसे (पक्षमें विभिन्न दिशाओंसे आनेवाले वायुओंके झुण्डोंसे) क्षुब्ध, सब दिशाओंमें उत्प्लवनके प्रति अनायास दक्ष और भीतरमें स्थित ब्रह्मके (पक्षमें सूर्यके आलोकके) प्रत्यक्षीकरणमें असमर्थ पवनसे उड़ाई गई चित्तरूपी धूलि प्राणस्पन्दनके निरोधसे अनायास क्षणभरमें विलीन हो जाती है ॥ ६०–६२ ॥

अब दूसरे बीजका निर्वचन करते हैं—'**वासना०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, वासना और प्राणस्पन्दन—इन दोनोंका संवेद्य यानी प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषय बीज हैं, क्योंकि उन्हींसे वे दोनों प्रस्फुरित होते हैं ॥ ६३ ॥

हृदि संवेद्यमाप्यैव प्राणस्पन्दोऽथ वासना ।
उदेति तस्मात्संवेद्यं कथितं बीजमेतयोः ॥ ६४ ॥
संवेद्यसम्परित्यागात् प्राणस्पन्दनवासने ।
समूलं नश्यतः क्षिप्रं मूलच्छेदादिव द्रुमः ॥ ६५ ॥
संविदं विद्धि संवेद्यं बीजं धीरतया विना ।
न सम्भवति संवेद्यं तैलहीनस्तिलो यथा ॥ ६६ ॥
न बहिर्नाऽऽन्तरे किञ्चित्संवेद्यं विद्यते पृथक् ।
संवित्स्फुरन्ती सङ्कल्पात् संवेद्यं पश्यति स्वतः ॥ ६७ ॥
स्वप्ने यथाऽऽत्ममरणं तथा देशान्तरस्थितिः ।
स्वचमत्कारयोगेन संवेद्यं संविदस्तथा ॥ ६८ ॥
स्ववेदनं स्वसङ्कल्पात् संविदो यत्र वर्तते ।
जगज्जालमतो भाति तदिदं रघुनन्दन ॥ ६९ ॥

हृदयमें प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयोंका स्मरण करके ही प्राणस्पन्द और वासना दोनों आविर्भूत होते हैं, इसलिए संवेद्य ही उन दोनोंका बीज है ॥ ६४ ॥

हे भद्र, जिस प्रकार मूलके उच्छेदसे वृक्ष तत्काल नष्ट हो जाता है, उस प्रकार संवेद्यका (प्रियाप्रिय विषयका) परित्याग करनेसे प्राणस्पन्दन और वासना दोनों ही तत्काल समूल नष्ट हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

संवित्के साथ अभेद-भावना ही संवेद्यका परित्याग है, ऐसा कहते हैं—'**संविदम्**' इत्यादिसे ।

हे राघव, संवित् ही अपनी धीरताका परित्याग कर संवेद्यस्वरूप-सी बनकर चित्तकी बीजरूप हो जाती है, यह आप जानिए, जिस प्रकार तिल तेलसे रहित नहीं है, उस प्रकार संवित्से रहित कोई भी संवेद्य पदार्थ प्रसिद्ध नहीं है ॥ ६६ ॥

न बाहर और न तो भीतर कोई भी संवेद्य संवित्से अलग रहता है, अपने सङ्कल्पसे संवित् ही प्रस्फुरित होती हुई स्वयं संवेद्यको देखती है ॥ ६७ ॥

जिस तरह स्वप्नमें अपना मरण और भिन्न देशमें स्थिति दोनों अपने चमत्कारके योगसे ही होते हैं, उसी तरह जाग्रत्कालीन संवेद्य भी संवित्के चमत्कारमात्रसे ही होते हैं ॥ ६८ ॥

हे रघुनन्दन, जिस विवेक अवस्थामें अपने पारमार्थिक स्वरूपका अनुभव

यथा बालस्य वेतालः स्वसङ्कल्पोद्भवाद्भवेत् ।
पुरुषत्वं यथा स्थाणोः संवेद्यं संविदस्तथा ॥ ७० ॥

यथा चन्द्रार्करश्मीनां दण्डता रेणुता तथा ।
यथा नौस्थाचलस्पन्दः संवेद्यं संविदस्तथा ॥ ७१ ॥

एतन्मिथ्या हि दुर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानाद्विलीयते ।
रज्ज्वामिव भुजङ्गत्वं द्वीन्दुत्वं स्वीक्षितादिव ॥ ७२ ॥

शुद्धैव संवित्रिजगत्संवेद्यं नाऽन्यदस्त्यलम् ।
इत्यन्तर्निश्चयो रूढः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ ७३ ॥

होता है, वह स्वस्वरूपानुभव भी अपने सङ्कल्पसे जनित स्वप्नके सदृश ही है, क्योंकि अद्वय परमात्मामें स्वस्वरूपानुभव और विवेक आदि परमार्थतः नहीं हो सकते हैं ॥ ६९ ॥

हे राघव, जैसे बालकको अपने सङ्कल्पसे जनित भ्रमसे ही वेतालका उद्भव होता है अथवा जैसे स्थाणुमें पुरुषरूपता होती है, वैसे ही सङ्कल्पजनित भ्रमसे ही संवित्‌की संवेद्यरूपता होती है ॥ ७० ॥

जैसे खिड़की आदि छिद्रोंमें से प्रविष्ट चन्द्र या सूर्यकी किरणोंकी दण्डाकारता और उसके भीतर घूम रहे त्रसरेणुओंकी आकाररूपता प्रतीत होती है अथवा जैसे नौकामें अवस्थित पुरुषको पर्वत आदि अचल पदार्थोंमें स्पन्दन दीखाई पड़ता है, वैसे ही संवित्‌से संवेद्य प्रतीत होता है ॥ ७१ ॥

श्रीरामजी, यह भ्रान्तिज्ञान मिथ्यारूप है, उसका यथार्थ आत्मज्ञानसे उस प्रकार विलय हो जाता है, जिस प्रकार रज्जु और चन्द्रके निर्दोष दर्शनसे रज्जुमें सर्पभ्रान्ति और एक चन्द्रमें दो चन्द्ररूपताकी भ्रान्तिका विलय हो जाता है ॥ ७२ ॥

तब यथार्थ ज्ञान किस तरहका है, उसे कहते हैं—'शुद्धैव' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, ये जो तीन लोक हैं, वे विशुद्ध संवित्-स्वरूप ही हैं, उससे पृथक् नहीं हैं, इस प्रकारका भीतरी जो दृढ़ ज्ञान है, वही यथार्थ ज्ञान है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं ॥ ७३ ॥

पूर्वं दृष्टमदृष्टं वा यदस्याः प्रतिभासते ।
संविदस्तत्प्रयत्नेन मार्जनीयं विजानता ॥ ७४ ॥
तदमार्जनमात्रं हि महासंसारसङ्गतम् ।
तत्प्रमार्जनमात्रं तु मोक्ष इत्यनुभूयते ॥ ७५ ॥
संवेदनमनन्ताय दुःखाय जननात्मने ।
असंवित्तिरजाड्यस्था सुखायाऽजननात्मने ॥ ७६ ॥
अजडो गलितानन्दस्त्यक्तसंवेदनो भव ।
असंवेद्यप्रबुद्धात्मा यस्तु स त्वं रघूद्वह ॥ ७७ ॥

श्रीराम उवाच

अजडश्चाऽप्यसंवित्तिः कीदृशो भवति प्रभो ।
असंवित्तौ च जाड्यं तत्कथं वा विनिवर्तते ॥ ७८ ॥

उस यथार्थ ज्ञानसे जिसका मार्जन करना है, उसे बतलाते हैं—**'पूर्वम्'** इत्यादिसे ।

पहले देखा गया या नहीं देखा गया पदार्थ इस संवित्को जो भासता है, उसका इस यथार्थ ज्ञानसे विद्वान्को परिमार्जन कर देना चाहिए ॥ ७४ ॥

उक्त प्रतिभासका मार्जन न करना ही बड़े भारी संसारके साथ आत्माका संसर्ग करना है और उसका परिमार्जन करना ही मोक्ष है, यह अनुभवसिद्ध बात है ॥ ७५ ॥

श्रीरामजी, प्रिय-अप्रिय शब्द आदि विषयोंका अनुभव जन्मरूप अनन्त दुःखका हेतु है और चिदेकरसस्वभावमें प्रतिष्ठित असंवित्ति यानी विषयोंका अदर्शन पुनर्जन्मसे वर्जित नित्य आत्मस्वरूप सुखका हेतु है ॥ ७६ ॥

हे रघूद्वह, इसलिए आप भी शब्द आदि प्रिय-अप्रिय विषयोंके दर्शनसे विमुख होकर जड़तारहित, एकरसस्वरूप तथा पूर्णानन्दात्मक हो जाइए । जो असंवेद्य भी स्वतः प्रबुद्ध आत्मा है, तद्रूप ही आप हो जायँगे, अन्यरूप नहीं हो जायँगे ॥ ७७ ॥

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, एक ही पदार्थ अजड़ भी और असंवित्तिरूप

वसिष्ठ उवाच

यः सर्वत्राऽनवस्थास्थो विश्रान्तास्थो न कुत्रचित् ।
जीवो न विन्दते किञ्चिदसंविदजडो हि सः ॥ ७९ ॥
संविद्वस्तुदृशालम्बः स यस्येह न विद्यते ।
सोऽसंविदजडः प्रोक्तः कुर्वन्कार्यशतान्यपि ॥ ८० ॥
संवेद्येन हृदाकाशो मनागपि न लिप्यते ।
यस्याऽसावजडा संविज्जीवन्मुक्तश्च कथ्यते ॥ ८१ ॥

भी कैसे हो सकता है। असंविचिरूप होनेपर वह जड़ता कैसे निवृत्त होगी ? तात्पर्य यह है कि जड़ताका परित्याग होनेपर संवेदनका शेष अवश्य रहेगा और संवेदनका परित्याग होनेपर जड़ताका शेष अवश्य रहेगा, ऐसी स्थितिमें एक ही पदार्थ अजड़ और असंविति रूप—यों विरुद्ध स्वभाववाला कैसे हो सकता है ? यह आप मुझसे कहिए ॥ ७८ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, संवित्-शब्दका एक अर्थ है—बाह्य अर्थोंको सत्यरूपसे जानना। इस अर्थको लेकर बाधित अर्थोंके अनुभवोंसे व्यवहाराभासको दिखला रहा भी जीवन्मुक्त महात्मा समस्त वर्तमान विषयोंमें आस्था नहीं रखता एवं वासनाका क्षय हो जानेके कारण भूत और भविष्यत्की वस्तुओंमें भी कहीं आस्था नहीं रखता, इसलिए किसी भी वेद्यको सत्यरूपसे न जाननेके कारण उतने अंशको लेकर काष्ठ-लोष्टकी नाईं असंवित्-रूप और स्वतः तो स्वप्रकाश चिदेकरससे पूर्ण होनेके कारण अजड़ रूप कहा जाता है, यह तात्पर्यार्थ है ॥ ७९ ॥

संवित्-शब्दका पूर्वोक्त अर्थ बतलाते हुए कथित भावका ही समर्थन करते हैं—**'संवित्'** इत्यादिसे।

श्रीरामजी, सत्यत्वबुद्धिसे चितिका बाह्य अर्थोंका अवलम्बन करना ही संवित् कहा जाता है, उक्त प्रकारकी संवित् जिस महापुरुषको नहीं रहती, वह असंवित् अजड़ कहा जाता है, फिर वह सैंकड़ों कार्योंमें व्याप्त ही क्यों न हो ? इससे 'सर्वत्रानवस्थास्थः' इस पदका तात्पर्य प्रकट किया ॥ ८० ॥

'विश्रान्तास्थो न कुत्रचिद्' इस अंशका भी अतीत विषयोंमें तात्पर्य खोलते हुए उसे ही कहते हैं—**'संवेद्येन'** इत्यादिसे।

यदा न भाव्यते किञ्चिन्निर्वासनतयाऽऽत्मनि ।
बालमूकादिविज्ञानमिव च स्थीयते स्थिरम् ॥ ८२ ॥
तदा जाड्यविनिर्मुक्तमच्छवेदनमाततम् ।
आश्रितं भवति प्राज्ञो यस्माद् भूयो न लिप्यते ॥ ८३ ॥
समस्तवासनात्यागी निर्विकल्पसमाधितः ।
नीलत्वमिव खात्स्फार आनन्दः सम्प्रवर्तते ॥ ८४ ॥
योगिनस्तत्र तिष्ठन्ति संवेदनमसंविदः ।
तन्मयत्वादनाद्यन्तं तदप्यन्तर्विलीयते ॥ ८५ ॥

हे श्रीरामभद्र, जिस महात्माकी बुद्धि प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयोंसे तनिक भी आसक्त नहीं होती, वही अजड़ संवित् और जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ८१ ॥

उक्त वाक्यका अनागत विषयोंमें भी तात्पर्य खोलते हुए उसे कहते हैं—**'यदा'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

वासनावर्जित होनेके कारण अपनी आत्मामें जब किसी भविष्यत् पदार्थकी भावना नहीं की जाती और बालक एवं मूकके विज्ञानके सदृश स्थिर होकर स्थिर रहता है, तब जड़तासे विनिर्मुक्त, विशाल एवं स्वच्छ विज्ञानका अवलम्बन हो जाता है, इससे प्राज्ञ पुनः लिप्त नहीं होता ॥ ८२, ८३ ॥

शङ्काका समाधान कर अब प्रकृत विषयका समर्थन कर रहे महात्मा वसिष्ठजी कहते हैं—**'समस्त०'** इत्यादिसे ।

समस्त वासनाओंके त्यागके अनन्तर होनेवाली निर्विकल्पात्मक समाधिसे असीम आनन्द उस प्रकार प्रतीत होता है, जिस प्रकार आकाशसे असीम नीलापन प्रतीत होता है ॥ ८४ ॥

श्रीरामभद्र,'संवेदनसे रहित (घटाद्याकार वृत्तियोंसे वर्जित) योगी लोग उसी असीम आनन्दमें स्थित रहते हैं। यदि शङ्का हो कि अन्याकार संवेदनका अभाव होनेपर भी ब्रह्माकार वृत्तिरूप संवेदनका समाधिमें तो निवारण नहीं कर सकते, ऐसी स्थितिमें असंवित्त्व कैसे ? तो इसपर कहते हैं—'तन्मयत्वात्' से । आनन्दमय ध्येयरूप होनेसे अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार वह संवेदन भी

गच्छंस्तिष्ठन्स्पृशञ्जिघ्रन्नपि तेन स उच्यते ।
अजडोऽगलितानन्दस्त्यक्तसंवेदनः सुखी ॥ ८६ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य कष्टया यत्नचेष्टया ।
तर दुःखाम्बुधेः पारमपारगुणसागर ॥ ८७ ॥
यथा बीजाद् बृहद्वृक्षो व्योम व्याप्नोति कालतः ।
तथैवेदं स्वसङ्कल्पात् संवेद्यमसदुत्थितम् ॥ ८८ ॥
यदा सङ्कल्प्य सङ्कल्प्य संवित्संविन्दते वपुः ।
तदाऽस्य जन्मजालस्य सैव गच्छति बीजताम् ॥ ८९ ॥
जनयित्वाऽऽत्मनाऽऽत्मानं मोहयित्वा पुनः पुनः ।
स्वयं मोक्षं नयत्यन्तः संवित्स्वं विद्धि राघव ॥ ९० ॥

अपने द्वारा प्रदीप्त ब्रह्मरूपज्योतिसे बाधित होकर उसीके अन्दर लीन हो जाता है ॥ ८५ ॥

इसलिए वह घटाद्याकार वृत्तियोंका त्याग करनेवाला योगी चलते, बैठते, स्पर्श करते और सूँघते इन सब अवस्थाओंमें भी अजड़, आनन्दसे पूर्ण और सुखी कहा जाता है ॥ ८६ ॥

हे असीम गुणोंके सागर श्रीरामजी, प्राणायाम आदि परिश्रमसे साध्य यत्नपूर्वक चेष्टासे इस जाड्यरहित संविद्रूपी दृष्टिका अवलम्बन कर आप दुःख-सागरके पार तैर जाइए ॥ ८७ ॥

चिदात्मा स्वयं ही अपने मिथ्याभूत बन्ध और मोक्षकी कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे काल पाकर बीजसे महान् वृक्ष होकर आकाशको व्याप्त कर लेता है, वैसे ही यह अपने सङ्कल्पसे ही उत्पन्न हुआ असत् विषय-समूह काल पाकर चिदाकाशको व्याप्त कर लेता है ॥ ८८ ॥

कब किस प्रकार उत्थित हुआ ? उसे कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

बार बार सङ्कल्प करके जब संवित् अपना सङ्कल्पमय स्वरूप प्राप्त कर लेती है, तब वही इस जन्मजालकी बीजताको प्राप्त हो जाती है ॥ ८९ ॥

हे राघव, अपने आपसे अपना उत्पादन कर और अपने आपसे ही अपनेको बार बार मोहित कर तदनन्तर हृदयस्थ आत्मतत्त्वको जान रही संवित्

यदेव भावयत्येषा तदेव भवति क्षणात् ।
न भवद्भूमिकामुक्ता समायाति चिराद्वपुः ॥ ९१ ॥
देवो नाऽसौ सुरो रक्षो यक्षः किं किन्नरो जनः ।
आत्मैवाऽऽद्यविलासिन्या जगन्नाट्यं प्रनृत्यति ॥ ९२ ॥
बध्वाऽऽत्मानं रुदित्वा च कोशकारकृमिर्यथा ।
चिरात् केवलतामेति स्वयं संवित्स्वभावतः ॥ ९३ ॥

स्वयं अपनेको मोक्षकी ओर ले जाती है, यह बात विद्वानोंके अनुभवसे प्रसिद्ध है ॥ ९० ॥

हे श्रीरामजी, यह संवित् जिसकी भावना करती है, तत्काल ही तद्रूप हो जाती है। [तब उसी समय सब प्राणियोंकी संवित् अपने स्वरूपकी भावनासे अपने स्वरूपभूत मोक्षको यथेच्छ क्यों प्राप्त नहीं होती, तो इसपर कहते हैं—'न' से ।] राग आदिकी भूमिकाओंसे मुक्त नहीं हुई संवित् दीर्घ-काल होनेपर भी अपना स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकती ॥ ९१ ॥

इसीलिए देव, गन्धर्व आदि स्वरूप भी इसके कल्पित वेष ही हैं, वास्तव नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—'देवो' इत्यादिसे ।

न यह देव है, न सुर है, न राक्षस है, न यक्ष है, न किन्नर है और न तो मनुष्य ही है, किन्तु आदिसिद्ध विलासिनी अपनी मायासे आत्मा जगत्-रूपी नाटक खेलता है जैसे मायावी नट ॥ ९२ ॥

जैसे कोशकारकृमि अपने आपको बाँधता हुआ तथा छुड़ाता हुआ देखा जाता है, वैसे ही प्रकृत आत्माके विषयमें भी जानना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'बध्वा०' इत्यादिसे ।

जैसे कोवेका निर्माण करनेवाला रेशमका कीट अपने आपको स्वभाववशसे बाँध कर और दुःखभोग कर दीर्घकालके अनन्तर केवलता प्राप्त करता है, वैसे ही संवित् भी अपने आपको संसारमें बाँध कर और दुःखभोग कर दीर्घकाल-के अनन्तर स्वभाववशसे स्वयं ही बन्धन आदिसे निर्मुक्त होकर केवलता प्राप्त करती है ॥ ९३ ॥

जगज्जलधिजालानां संविज्जलमलं गता ।
एषैवाऽपूर्वदिक्चक्रं स्फुरत्यद्र्यादितां गता ॥ ९४ ॥
द्यौः क्ष्मावायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
इत्यस्या वीचयः प्रोक्ताः संवित्सलिलसन्ततेः ॥ ९५ ॥
संविन्मात्रं जगत्सर्वं द्वितीया नाऽस्ति कल्पना ।
इत्येव सम्यग्ज्ञानेन संविद्गच्छति नाऽन्यताम् ॥ ९६ ॥
यदा न विन्दते किञ्चित्स्पन्दते न न वेपते ।
स्वात्मन्येव स्थितिं याति संविन्नो लिप्यते तदा ॥ ९७ ॥
अथाऽस्याः संविदो राम सन्मात्रं बीजमुच्यते ।
संविन्मात्रादुदेत्येषा प्राकाश्यमिव तेजसः ॥ ९८ ॥

जगत्रूपी जलधियोंका संवित् ही पर्याप्त जल है, यही अपूर्व दिङ्मण्डल है और यही पर्वत आदि भावोंको प्राप्त होकर प्रस्फुरित होती है ॥ ९४ ॥

हे श्रीरामजी, संवित्-रूपी जलसंततिके द्युलोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ—ये सब तरङ्ग हैं ॥ ९५ ॥

हे भद्र, जगत् केवल संविन्मात्रस्वरूप ही है, उससे पृथक् दूसरी कोई कल्पना ही नहीं है, इस प्रकारके ज्ञानसे ही संवित् अद्वयरूपता प्राप्त करती है ॥ ९६ ॥

कब संवित्को सम्यक् ज्ञान होता है, इसपर कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जब संवित् कुछ विषय प्राप्त नहीं करती, जब साधारण चलन और असाधारण कम्पन नहीं करती एवं जब अपने स्वरूपमें अवस्थान करती है, तब वह लिप्त नहीं होती ॥ ९७ ॥

पूर्वोक्त प्रणालीसे भली प्रकार शोधन करनेके अनन्तर परिशेषरूपसे अवशिष्ट हुई संवित् अन्तःकरणमें संवित्-प्रतिबिम्बस्वरूप ही है, इस प्रकारकी श्रोतृ-वर्गकी भ्रान्तिका निरास कर रहे श्रीवसिष्ठ महाराज अग्निविस्फुलिङ्गन्यायसे प्रतिबिम्बकी बीजभूत सन्मात्रस्वरूप ब्रह्मसंवित् ही उक्त संवित् है, यों दिखलाते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, इस संवित्का सन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही बीज कहा जाता है ।

द्वे रूपे तत्र सत्ताया एकं नानाकृति स्थितम् ।
द्वितीयमेकरूपं तु विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ९९ ॥
घटता पटता चैव त्वत्ता मत्तेति कथ्यते ।
सत्तारूपविभागेन यत्तन्नानाकृति स्थितम् ॥ १०० ॥
विभागं तु परित्यज्य सत्तैकात्मतया ततम् ।
सामान्येनैव सत्ताया रूपमेकमुदाहृतम् ॥ १०१ ॥
विशेषं सम्परित्यज्य सन्मात्रं यदलेपकम् ।
एकरूपं महारूपं सत्तायास्तत्पदं विदुः ॥ १०२ ॥

जिस प्रकार सूर्य आदि तेजसे प्रभा उदित होती है, उस प्रकार यह प्रतिबिम्बभूत संवित् बिम्बभूत संविन्मात्रस्वरूप ब्रह्मसे ही उदित होती है ॥ ९८ ॥

जो पहले श्लोकमें 'सन्मात्ररूप ब्रह्म बीज है' ऐसा कहा गया है, वहाँपर घट, पट आदिमें रहनेवाली अर्थक्रियाकारित्वरूप व्यावहारिक सत्ता ही उसकी बीज है, ऐसा किसीको भ्रम न हो, इसलिए व्यावहारिक सत्त्वसे विलक्षण सत्त्व बतलानेके लिए पहले सत्ताकी द्विविधता बतलाते हैं—'द्वे रूपे' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, सत्ताके दो रूप स्थित हैं—एक तो अनेक आकारवाला होकर स्थित है और दूसरा एकरूप होकर स्थित है। अब उनका विभाग सुनिए ॥ ९९ ॥

घटादिरूपोंके विभागसे जो घटत्व, पटत्व, त्वत्त्व, मत्त्व आदि उपाधिभूत सत्ता कही जाती है, वह नानाकृति सत्तास्वरूप है। घटत्व, पटत्व आदि उपाधियाँ, जो अर्थक्रियाओंका भेद होनेपर स्वरूपयोग्यतारूप हैं, वे व्यावहारिक सत्तारूप ही हैं, यह आशय है ॥ १०० ॥

विभागका परित्याग कर सत्तारूपसे व्याप्त समस्त जगत्के अधिष्ठानस्वरूप साधारण स्वभावसे जो सत्ताका रूप विद्यमान है, वह एकरूप कहलाता है ॥ १०१ ॥

विशेषांशका परित्याग कर सन्मात्रस्वरूप जो लिप्त न करनेवाला सत्ताका एक रूप स्वरूप है, वही व्यापकरूप और वस्तुतत्व हैं, ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥ १०२ ॥

रूपं नानाकृतित्वेन सत्ताया न कदाचन।
असंवेद्यं सम्भवति तस्मादेतदवस्तुकम् ॥ १०३ ॥
एकरूपं तु यद्रूपं सत्ताया विमलात्मकम्।
न कदाचन तद्याति नाशं नाऽपि च विस्मृतिम् ॥ १०४ ॥
कालसत्ता कलासत्ता वस्तुसत्तेयमित्यपि।
विभागकलनां त्यक्त्वा सन्मात्रैकपरो भव ॥ १०५ ॥

व्यावहारिक सत्ता तो वास्तव नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'रूपम्'** इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, सत्ताका रूप नाना आकारके रूपमें कभी नहीं है, चूँकि तद्धटत्व आदि रूप कपाल, चूर्ण, धूलि आदि अवस्थाओंमें असंवेद्य होकर अनुवर्तमानताके रूपसे दीखाई नहीं पड़ता है, अतः वह सत्यरूप नहीं हो सकता ॥ १०३ ॥

समस्त अवस्थाओंमें अनुगत सद्रूप तो वैसा नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'एकरूपम्'** इत्यादिसे।

सत्ताका जो विमलात्मा एकरूप स्वरूप है, वह कभी भी नाश प्राप्त नहीं करता और न कभी विस्मृति प्राप्त करता है, अर्थात् सदा प्रकाशमान-रूप होनेसे वह नित्य चैतन्यैकरसस्वरूप हैं ॥ १०४ ॥

हे श्रीरामजी, यह कालसत्ता है, यह कलासत्ता है और यह वस्तुसत्ता है, इस प्रकारकी भी विभागकल्पनाका परित्याग कर आप एकमात्र सत्स्वरूपमें ही आश्रित हो जाइए। तात्पर्य यह है—कुछ लोग कहते हैं कि अतीत और अनागत वस्तुओंमें 'अस्ति' इस प्रकारका व्यवहार न होनेके कारण वर्तमान काल ही सब वस्तुओंकी सत्ता है यानी सब पदार्थोंकी सत्ता वर्तमानकाल-सत्ता है। कुछ लोग कहते हैं कि समूह बन कर अवयव ही अवयवीके रूपमें स्फुरित होते हैं अतः कला ही—परमाणुरूप अवयव ही—जगत्‌की सत्ता है, और कुछ लोग यह कहते हैं कि अवयवी पदार्थोंमें भी अनुगत सत्ता जाति है, इसी प्रकार अन्यान्य लोग भी अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार अन्यान्य सत्ताओंकी कल्पना करते हैं, हे श्रीरामजी इस तरहकी तत्-तत् मतमें कल्पित विभाग-कल्पनाका त्याग कर आप सन्मात्रस्वरूप एकमात्र ब्रह्मका ही अवलम्बन कीजिए, इसीसे आपके मनोरथोंकी सिद्धि हो जायगी ॥ १०५ ॥

कालसत्ता स्वसत्ता च प्रोन्मुक्तकलना सती ।
यद्यप्युत्तमसद्रूपा तथाऽप्येषा न वास्तवी ॥ १०६ ॥
विभागकलना यत्र विभिन्नपददायिनी ।
नानाताकारणं दृष्टा तत्कथं पावनं भवेत् ॥ १०७ ॥
सत्तासामान्यमेवैकं भावयत्सकलं वपुः ।
परिपूर्णपरानन्दी तिष्ठाऽऽभरितदिग्भरः ॥ १०८ ॥
सत्ता सामान्यमात्रस्य या कोटिः कोविदेश्वर ।
सैवाऽस्य बीजतां याता तत एव प्रवर्तते ॥ १०९ ॥
सत्ता सामान्यपर्यन्ते यत्तत्कलनयोज्झितम् ।
पदमाद्यमनाद्यन्तं तस्य बीजं न विद्यते ॥ ११० ॥
सत्ता लयं याति यत्र निर्विकारं च तिष्ठति ।
भूयो नाऽऽवर्तते दुःखे तत्र लब्धपदः पुमान् ॥ १११ ॥

हे भद्र, जिस प्रकार अध्यस्त भेदका परित्याग करनेपर अधिष्ठान सन्मात्रके परिशेषसे समस्त जगत् उत्तम सत्तास्वरूप है, वैसे ही अध्यस्त भेदकल्पनाका परित्याग करनेपर यद्यपि कालादि सत्ता भी उत्तम सत्तास्वरूप ही हो जाती है, तथापि वह विभक्तरूपसे बाधयोग्य होनेके कारण पारमार्थिक नहीं है ॥ १०६ ॥

जहाँ विभिन्न-विभिन्न पदोंको देनेवाली विभाग कल्पना नानारूपताका कारण देखी जाती है, वहां वह पावन पद कैसे हो सकता है ॥ १०७ ॥

हे श्रीरामजी, एकमात्र सामान्य सत्तात्मक ही समस्त जगत् है, इस प्रकारकी भावना करते हुए आप परिपूर्ण आनन्दसे युक्त तथा सब दिशाओं और उनमें स्थित पदार्थोंको व्याप्त करनेवाले हो जाइए ॥ १०८ ॥

हे विज्ञ जनोंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी, सामान्य सत्तामात्रकी परम अवधिभूत जो सत्ता है, वही इस जगत्की और प्रतिबिम्ब चित्की बीजरूप हुई है और उसीसे यह समस्त जगत् प्रवृत्त हुआ है ॥ १०९ ॥

हे श्रीरामभद्र, समस्त सत्ताओंकी चरम अवधिमें जो कल्पनाओंसे निर्मुक्त पद है, वही पद आदि (उत्पत्ति) और विनाशसे शून्य हैं, उसका कोई बीज है नहीं ॥ ११० ॥

जिस पदमें सद्धर्मता भी लीन हो जाती है और जो निर्विकाररूपसे

तद्धेतुः सर्वहेतूनां तस्य हेतुर्न विद्यते ।
संसारः सर्वसाराणां तस्मात्सारं न विद्यते ॥ ११२ ॥
तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः ।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥ ११३ ॥
सर्वे भावा इमे तत्र स्वदन्ते स्वादुवारिधेः ।
षड्रसा इव जिह्वायाः प्रकटत्वं प्रयान्ति च ॥ ११४ ॥
तस्मादच्छतरस्याऽपि चिदाकाशस्य वै पदम् ।
सर्वेषां स्वादुजातीनामलमास्वादनं च तत् ॥ ११५ ॥
जायते वर्तते चैव वर्धते स्पृश्यतेऽथ वा ।
तिष्ठन्ति च गलन्तीह तत्राऽङ्ग जगतां गणाः ॥ ११६ ॥

अवस्थित है, उस पदमें अपना दृढ़ स्थान कर लेनेवाला पुरुष कभी इस दुःखमय संसारमें आता नहीं है और वही असलियतमें पुरुष है, दूसरा तो स्त्रीप्राय है, यह भाव है ॥ १११ ॥

परमपुरुषार्थरूपता बतलानेके लिए उसीकी प्रशंसा करते हैं—'तद्' इत्यादिसे ।

वही पद समस्त हेतुओंका हेतु है, उसका कोई दूसरा हेतु नहीं है, वही सम्पूर्ण सारोंमें सारभूत है, उससे बढ़कर दूसरी सारभूत वस्तु नहीं है ॥ ११२ ॥

श्रीरामजी, जैसे तालाबमें तटस्थ वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही उस प्रत्यग्रूप असीम ब्रह्मात्मक दर्पणमें ये सब वस्तुदृष्टियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं ॥११३॥

उसी प्रत्यग्रूप ब्रह्ममें अध्यस्त होनेके कारण ये सब पदार्थ इन्द्रियप्रीति उत्पन्न करते हैं । जिस प्रकार जीभसे छः रस स्फूर्ति या सत्ता प्राप्त करते हैं, वैसे ही आनन्दके सागर उसी ब्रह्मसे सभी प्रकारके आनन्द स्फूर्ति या सत्ता प्राप्त करते हैं ॥ ११४ ॥

चूँकि अस्वादु भी पदार्थ आनन्दसमुद्र ब्रह्मके संसर्गसे इन्द्रिय-प्रीति उत्पन्न करते हैं, इसलिए वह चिदाकाशका पद यानी स्वरूप स्वादु और प्रिय पदार्थोंके बीचमें सबसे बढ़ चढ़ कर आनन्दरूप और प्रियतम है ॥ ११५ ॥

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि०' (आनन्दात्मा ब्रह्मसे ही ये सब भूत पदार्थ

तत्तद्गुरु गरिष्ठानां तत्तल्लघु लघीयसाम् ।
तत्तत्स्थूलं स्थविष्ठानामणीयस्तदणीयसाम् ॥ ११७ ॥

दवीयसां दविष्ठं तदन्तिकानां तदन्तिकम् ।
कनीयसां कनीयस्तत्तज्ज्येष्ठं ज्यायसामपि ॥ ११८ ॥

तेजसामपि तत्तेजस्तमसामपि तत्तमः ।
वस्तूनामपि तद्वस्तु दिशामप्यङ्ग दिक्परा ॥ ११९ ॥

तन्न किञ्चिच्च किञ्चिच्च तत्तदस्तीव नाऽस्ति च ।
तत्तद्दृश्यमदृश्यं च तत्तदस्मि न चाऽस्मि च ॥ १२० ॥

उत्पन्न होते हैं, उसीसे उत्पन्न होकर उसीसे जीवित रहते हैं और उसीकी ओर जाकर उसीमें लीन हो जाते हैं) इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपादित जगत्के जन्म आदिके कारणत्वरूप ब्रह्म-लक्षणका समन्वय भी उसीमें है, यह दिखलाते हैं— **'जायते'** इत्यादिसे ।

हे प्रिय श्रीरामजी, उसी आनन्दाब्धि ब्रह्ममें सब जगतोंके समूह उत्पन्न होते हैं, स्थित रहते हैं, वृद्धिंगत होते हैं, विपरिणामसे युक्त होते हैं, अपक्षयोन्मुख रहते हैं और लीन हो जाते हैं ॥ ११६ ॥

यह भारी है, यह हलका है, इत्यादि वैचित्र्यका वही सामान्यात्मक पद निर्वाहक है, इस आशयसे कहते हैं—**'तत्तत्'** इत्यादिसे ।

वह ब्रह्म भारी पदार्थोंमें अत्यन्त भारी, हलके पदार्थोंमें अत्यन्त हलका, स्थूलोंमें अत्यन्त स्थूल (मोटा) और सूक्ष्मोंमें अत्यन्त सूक्ष्म प्रसिद्ध है ॥ ११७ ॥

वह दूरवर्त्तियोंमें अत्यन्त दूरतम, समीपवर्तियोंमें अत्यन्त समीपतम, छोटोंमें अत्यन्त छोटा, और बड़ोंमें अत्यन्त बड़ा भी है ॥ ११८ ॥

हे प्रिय श्रीरामजी, वह सूर्य आदि तेजोंका भी तेज, अन्धकारोंका भी अन्धकार, वस्तुओंका भी वस्तु और दिशाओंका भी पर दिशारूप है ॥ ११९ ॥

वह ब्रह्मात्मक पद लोकमें प्रसिद्ध कोई वस्तुरूप नहीं है और स्वल्पसे भी स्वल्पतर प्रसिद्ध वस्तुरूप भी है, वह सत्ताश्रय (भावात्मक) और असत्ताश्रय (अभावात्मक) भी है, वह दृश्यरूप और अदृश्यरूप भी है, वह अहंरूप और अहंरूप नहीं भी है ॥ १२० ॥

राम सर्वप्रयत्नेन तस्मिन्परमपावने ।
पदे स्थितिमुपायासि यथा कुरु तथाऽनघ ॥ १२१ ॥

तदमलमजरं तदात्मतत्त्वं
तदवगतावुपशान्तिमेति चेतः ।
अवगतविततैकतत्स्वरूपो
भवभयमुक्तपदोऽसि तच्चिराय ॥ १२२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे संसृतिबीजविचारयोगोपदेशो नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

हे निष्पाप श्रीरामजी, सम्पूर्ण प्रयत्नोंसे उस परम पावन पदमें जिस प्रकार आप स्थित हों, उस प्रकार यत्न कीजिए ॥ १२१ ॥

हे श्रीरामजी, उक्त सत्तासामान्यकोटिमें (शोधित तत्पदार्थकी चरमावधिमें) स्थित वह पद निर्मल और विकारवर्जित है, वही आत्माका पारमर्थिक स्वरूप है, उसका साक्षात्कार करनेपर चित्त बाधित हो जाता है। इसलिए ज्यों ही आप एकमात्र व्यापक उक्त स्वरूप अवगत कर लेंगे, त्यों ही चिरकालिक अपुनरावृत्तिके लिए संसाररूप भयसे निर्मुक्त परमपदस्वरूप ही हो जायँगे ॥ १२२ ॥

इक्यानबे सर्ग समाप्त ।

द्विनवतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

एतानि तानि प्रोक्तानि त्वया बीजानि मानद ।
कतमस्य प्रयोगेण शीघ्रं तत्प्राप्यते पदम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

एतेषां दुःखबीजानां प्रोक्तं यद्यन्मयोत्तरम् ।
तस्य तस्य प्रयोगेण शीघ्रमासाद्यते पदम् ॥ २ ॥
सत्तासामान्यकोटिस्थे द्रागित्येव पदे यदि ।
पौरुषेण प्रयत्नेन बलात्सन्त्यज्य वासनाम् ॥ ३ ॥

बानबे सर्ग

[पूर्वोक्त स्थितिविशेषोंमें यत्नके गौरव और लाघवका तथा वासना आदिके प्रक्षयपूर्वक ज्ञानके सहाभ्यासका वर्णन]

श्रीरामजीने कहा—मान्यतम, आपने ये जो पूर्वोक्त जीवसृष्टि-लताके बीज बतलाये, उनमें से किस बीजकी निवृत्ति करनेसे परमपद प्राप्त किया जा सकता है, यह तो एक अर्थ हुआ । दूसरा अर्थ इस प्रकार है—हे भगवन्, आपने ये जो अभी मोक्षके 'अथाऽस्याः संविदो राम' इत्यादिसे भूमिकाविशेषरूप बीज बतलाये, उनमें से किस बीजका अवलम्बन करनेसे परमपद प्राप्त किया जा सकता है, यह कृपाकर मुझसे कहिए ॥ १ ॥

श्रीरामजीके इस प्रश्नपर महाराज वसिष्ठजी पहले अर्थके अनुसार उत्तर देते हैं—**'एतेषाम्'** इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, मैंने आपसे इन दुःखोंके बीजोंके विषयमें जो जो उत्तर दिया है उस उसकी निवृत्ति करनेसे तत्काल ही पुरुष परमपद प्राप्त करता है ॥ २ ॥

अब द्वितीय अर्थके अनुसार उत्तर देते हैं—**'सत्ता०'** इत्यादिसे ।

हे रामभद्र, शोधित तत्पदार्थरूप सत्तासामान्यकी पराकाष्ठामें स्थित पदमें

स्थितिं बध्नासि तत्त्वज्ञ क्षणमप्यक्षयात्मिकाम् ।
क्षणेऽस्मिन्नेव तत्साधु पदमासादयस्यलम् ॥ ४ ॥
सत्तासामान्यरूपे वा करोषि स्थितिमङ्ग चेत् ।
तत्किञ्चिदधिकेनेह यत्नेनाऽऽप्नोषि तत्पदम् ॥ ५ ॥
संवित्तत्त्वे कृतध्यानो यदि तिष्ठसि चाऽनघ ।
तद्यत्नेनाऽधिकेनोच्चैरासादयसि तत्पदम् ॥ ६ ॥
संवेद्ये केवले ध्यानं न सम्भवति राघव ।
सर्वत्र सम्भवादस्याः संवित्तेरेव सर्वदा ॥ ७ ॥

यानी चैतन्यरूप शोधित त्वंपदार्थका अभेद होनेके कारण अखण्ड एकरसरूप पदमें यदि आप बलपूर्वक वासनाका परित्याग कर पुरुष-प्रयत्नसे क्षणभरके लिए भी स्थिति—चित्तकी निश्चलता—बाँधे, तो हे तत्त्वज्ञ, आप उसी क्षणमें उक्त उत्तम पदको पूर्णरूपसे प्राप्त कर लें ॥ ३, ४ ॥

यदि वैसी स्थिति बनानेमें शक्ति न हो, तो भी कहते हैं—**'सत्ता'** इत्यादिसे ।

हे प्रिय श्रीरामजी, अथवा यदि सत्तासामान्यरूप शोधित जगत्कारणात्मक तत्त्वमें आप स्थिति (चित्तकी निश्चलता) करते हैं, तो कुछ अधिक प्रयत्नसे यहाँ उक्त आत्मपद प्राप्त कर लेंगे । अखण्ड ऐक्यके बोधमें यत्नकी कुछ अधिक आवश्यकता होती है, इससे 'अधिकेन यत्नेन' कहा ॥ ५ ॥

हे अघशून्य श्रीरामजी, शोधित त्वंपदार्थरूप संवित्-तत्त्वमें ध्यानसम्पन्न होकर यदि स्थित रहते हैं तो और कुछ ऊँचे अधिक प्रयत्नसे उक्त पद प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

यदि शङ्का हो कि शोधनसे संवित्-अंशका त्याग होनेपर एकमात्र संवेद्यांशका ध्यान भी उपाय क्यों नहीं होगा, तो नहीं, क्योंकि वह अशक्य है, ऐसा उत्तर देते हैं—**'संवेद्ये'** इत्यादिसे ।

हे राघव, केवल संवेद्यके विषयमें यानी केवल विषयमें ध्यान ही नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वत्र सब अवस्थाओंमें इसी संवित्तिका ही संभव है यानी

यच्चिन्तयसि यद्यासि यत्तिष्ठसि करोषि च ।
तत्र तत्र स्थिता संवित्संविदेव तदेव सा ॥ ८ ॥
वासनासम्परित्यागे यदि यत्नं करोषि च ।
तत्ते शिथिलतां यान्ति सर्वाधिव्याधयः क्षणात् ॥ ९ ॥
पूर्वेभ्यस्तु प्रयत्नेभ्यो विषमोऽयं हि संस्मृतः ।
दुःसाध्यो वासनात्यागः सुमेरून्मूलनादपि ॥ १० ॥
यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ।
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ॥ ११ ॥

विषयोंसे पहले प्रस्फुरित हो रही संवित्तिका तिरोधान अशक्य है और उसका यदि तिरोधान हो जायगा, तो विषयकी स्फूर्ति न होनेसे उसका ध्यान ही नहीं हो सकेगा ॥ ७ ॥

चिन्तन, चिन्तनीय आदि जो पदार्थ हैं, उन सबकी सिद्धि संवित्के अधीन है, यह दिखलाते हैं—'यद्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जो आप चिन्तन करते हैं, जाते हैं, स्थित रहते हैं और करते हैं, वहाँ वहाँ स्थित संवित् ही वह सब कुछ करती है, अतः चिन्तन, चिन्तनीय आदि सभी संवित्स्वरूप हैं, क्योंकि सभीका तत्त्व संवित् ही है, यह भाव है ॥८॥

अन्य उपाय भी कहते हैं—'वासना०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप यदि वासनाके परित्यागमें प्रयत्न करते हैं, तो आपकी सम्पूर्ण आधि-व्याधियाँ क्षण भरमें विनष्ट हो जायँगी ॥ ९ ॥

क्या यह उपाय पहले बतलाए गये उपायोंसे सरल है ? 'नहीं' यह कहते हैं—'पूर्वेभ्यः' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, पूर्वमें प्रदर्शित प्रयत्नोंकी अपेक्षा यह प्रयत्न अत्यन्त कठिन कहा गया है, क्योंकि वासनाका परित्याग सुमेरु पर्वतके उन्मूलनसे भी अधिक दुष्कर है ॥ १० ॥

असौकर्यका उपपादन करनेके लिए परस्पराधीनत्वका उपपादन करते हैं—'यावत्' इत्यादिसे ।

जबतक मन नष्ट नहीं होता, तबतक वासनाका विनाश नहीं होता और जबतक वासना विनष्ट नहीं होती, तबतक चित्तकी शान्ति नहीं होती ॥ ११ ॥

यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः ।
यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ॥ १२ ॥
यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ।
यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ॥ १३ ॥
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः ॥ १४ ॥
तस्माद्राघव यत्नेन पौरुषेण विवेकिना ।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाश्रयेत् ॥ १५ ॥
सर्वथा ते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः ।
तावन्न पदसम्प्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः ॥ १६ ॥

इसी प्रकार इनकी तत्त्वज्ञानके साथ भी परस्पराश्रयता है, यह कहते हैं—**'यावन्न'** इत्यादिसे ।

जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक चित्तकी शान्ति कहाँ ? और जबतक चित्तकी शान्ति नहीं होती, तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता ॥ १२ ॥

जबतक वासनाका नाश नहीं होता, तबतक तत्त्वज्ञान कहाँसे होगा ? और जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक वासनाका क्षय नहीं होगा ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—ये तीनों ही एक दूसरेके प्रति कारणभावको प्राप्त होकर अवस्थित हैं, अतः अत्यन्त दुःसाध्य हैं ॥ १४ ॥

तब कौन ऐसा उपाय है, जिससे उनकी सिद्धि हो सके ? इस प्रश्नपर 'वैराग्यपूर्वक एक साथ तीनोंका अभ्यास ही उनकी सिद्धिमें उपाय है' ऐसा उत्तर देते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

हे राघव, विवेकसे युक्त पौरुष प्रयत्नसे भोगेच्छाका दूरसे ही परित्याग कर इन तीनोंका आश्रयण करना चाहिए ॥ १५ ॥

हे श्रीरामजी, जबतक उन तीन उपायोंका साथमें भली प्रकार बार बार अभ्यास न किया जाय, तबतक सैकड़ों बरसों तक भी परम पदकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १६ ॥

वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते ।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने ॥ १७ ॥
एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलम् ।
तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मन्त्राः संकीलिता इव ॥ १८ ॥
चिरकालोपरचिता अप्येते सुधियाऽपि च ।
एकशः परमभ्येतुं न शक्ताः सैनिका इव ॥ १९ ॥
सममुद्योगमानीताः सन्त एते हि धीमता ।
संसाराब्धिं निकृन्तन्ति जलान्यद्रितटानिव ॥ २० ॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशाः प्रयत्नतः ।
समं सेव्यास्तव चिरं तेन तात न लिप्यसे ॥ २१ ॥

हे महामुने, वासनाक्षय, आत्मविज्ञान और मनोनाश—इन तीनोंका एक साथ दीर्घकाल तक अभ्यास जब किया जाता है, तब वे मननशील महात्माके लिए फलप्रद होते हैं ॥ १७ ॥

श्रीरामजी, जिस प्रकार मन्त्रशास्त्रोक्त मूर्च्छा, मरण आदि प्रतिबन्धकोंसे प्रतिबद्ध मन्त्र फलप्रद नहीं होते, वैसे ही उन तीनोंमें से एकका चिरकाल तक अभ्यास यद्यपि किया जाय, तो भी वे फलप्रद नहीं हो सकते ॥ १८ ॥

जैसे पारितोषिक आदिसे स्वाधीन बनाकर दीर्घकाल तक तत्-तत् कार्यमें प्रेरित भी सेनाके वीरयोद्धा लोग एक एक करके अपने स्वामी राजाके अभिमुख जानेमें समर्थ नहीं होते, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुषके द्वारा दीर्घ कालतक सेवा आदिसे स्वाधीन कर तत्-तत् कार्योंमें योजित भी ये वासनाक्षय आदि एक एक करके अपने स्वामी परमात्माके पास जानेमें समर्थ नहीं होते ॥ १९ ॥

बुद्धिमान् पुरुषके द्वारा एकसाथ तत्-तत् कार्योंमें योजित हुए वासनाक्षय आदि संसाररूपी सागरको उस प्रकार विशीर्ण कर देते हैं, जिस प्रकार वारि-प्रवाह पर्वततटको विशीर्ण कर देते हैं ॥ २० ॥

हे प्रिय श्रीरामजी, वासनाक्षय, आत्मविज्ञान और मनोनाश—इन तीनोंका एक साथ प्रयत्नपूर्वक आपको सेवन करना चाहिए, उस सेवनसे आप लिप्त नहीं होंगे अर्थात् लिप्त नहीं करनेवाले स्वभावमें स्थित हो जायँगे ॥ २१ ॥

त्रिभिरेतैश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः ।
निःशेषमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद्गुणा इव ॥ २२ ॥
जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥ २३ ॥
गच्छन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रंस्तिष्ठन् जाग्रत्स्वपंस्तथा ।
श्रेयसे परमायाऽस्य त्रयस्याऽभ्यासवान् भव ॥ २४ ॥
वासनासम्परित्यागसमं प्राणनिरोधनम् ।
विदुस्तत्त्वविदस्तस्मात् तदप्येवं समाहरेत् ॥ २५ ॥
वासनासम्परित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २६ ॥

जिस प्रकार कमलनालके उच्छेदनसे बिसतन्तु टूट जाते हैं, वैसे ही भलीप्रकार उन तीनोंका चिरकाल तक अभ्यास करनेसे अत्यन्त दृढ हृदय-ग्रन्थियाँ (अन्तःकरण एवं उसके धर्म आदिके अध्यास) निःशेषरूपसे टूट जाती हैं ॥ २२ ॥

वासनाक्षय आदि तीनोंका भी चिरकाल तक अभ्यास क्यों करना चाहिए ? इसपर कहते हैं—'जन्मान्तर०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यह संसारकी स्थिति सैकड़ों जन्मान्तरोंसे मनुष्योंके द्वारा अभ्यस्त है, अतः उन उपायोंका चिरकाल तक अभ्यास किये बिना कहींपर भी वह नष्ट नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

हे भद्र, जाते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूंघते, स्थित रहते, जागते, सोते सब अवस्थाओंमें उत्तम मोक्षरूपी कल्याणके लिए इन तीन उपायोंके अभ्यासमें ही आप निरत हो जाइए ॥ २४ ॥

तीनोंके साथ चतुर्थ प्राणायामका भी अभ्यास करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'वासना०' इत्यादिसे ।

हे रामभद्र, तत्त्वज्ञोंका मत है कि वासनाओंके परित्यागके सदृश प्राणायाम भी उपाय है । इसलिए वासनापरित्यागके साथ साथ प्रणनिरोधका भी अभ्यास करना आवश्यक है ॥ २५ ॥

वासनाओंका भलीप्रकार परित्याग करनेसे चित्त अचित्तरूप हो जाता है

प्राणायामचिराभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया ।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ २७ ॥

यथाभूतार्थदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ।
आदावन्ते च वस्तूनामविसंवादि यत्स्थितम् ।
रूपं तद्दर्शनं ज्ञानं क्षीयते तेन वासना ॥ २८ ॥

निःसङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥ २९ ॥

वासनाविभवे नष्टे न चित्तं सम्प्रवर्तते ।
संशान्ते पवनस्पन्दे यथा पांसुर्नभस्तले ॥ ३० ॥

और प्राणवृत्तियोंका परित्याग करनेसे भी चित्त अचित्तरूप हो जाता है, इसलिए आप जैसा चाहें वैसा कीजिए ॥ २६ ॥

चिरकाल तक प्राणायामके अभ्यासोंसे, योगाभ्यासमें कुशल गुरुजीके द्वारा दी गई यानी उपदिष्ट युक्तिसे तथा स्वस्तिक आदि आसनोंके जय और हित, मित एवं मेध्य पदार्थोंके अशनसे प्राण-स्पन्दन रुक जाता है ॥ २७ ॥

हे श्रीरामजी, यथाभूत अर्थके यानी त्रिकालमें बाधित न होनेवाले अर्थके साक्षात्कारसे वासना अपने कार्यके लिए प्रवृत्त नहीं होती । आदि, मध्य और अन्तमें कभी भी पृथक् न होनेवाला सत्तामात्रस्वरूप जो पदार्थ सर्वत्र स्थित रहता है, वही सत्यभूत अर्थ है, उसको भलीभाँति जान लेना ज्ञान कहलाता है । यही ज्ञान वासनाका विनाश कर देता है ॥ २८ ॥

भद्र, केवल बाह्य विषयोंमें आसक्ति रखनेवाले मनुष्योंका संसर्ग छोड़कर या सङ्कल्प छोड़कर समयानुसार प्राप्त हुए व्यवहारोंके अनुष्ठानसे, सांसारिक मनोरथोंके वर्जनसे तथा शरीरमें विनाशित्वबुद्धिसे वासना प्रवृत्त नहीं होती ॥ २९ ॥

जिस प्रकार पवन-स्पन्दके शान्त हो जानेपर आकाश-तलमें धूलि नहीं उड़ती, वैसे ही वासनारूपी धनसम्पत्तिका विनाश हो जानेपर लज्जावश चित्त यत्र-तत्र उड़ता नहीं है ॥ ३० ॥

यः प्राणपवनस्पन्दः चित्तस्पन्दः स एव हि ।
तस्माज्जगति जायन्ते पांसवोऽवकरादिव ॥ ३१ ॥
प्राणस्पन्दजये यत्नः कर्तव्यो धीमतोच्चकैः ।
उपविश्योपविश्यैकचित्तकेन मुहुर्मुहुः ॥ ३२ ॥
अथवैनं क्रमं त्यक्त्वा चित्ताक्रमणमेव चेत् ।
रोचते तत्तदाप्नोषि कालेन बहुना पदम् ॥ ३३ ॥
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ।
अङ्कुशेन विना मत्तं यथा दुष्टं मतङ्गजम् ॥ ३४ ॥
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥ ३५ ॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ।
याभिस्तज्जीयते क्षिप्रं धाराभिरिव भूरजः ॥ ३६ ॥

जो प्राणवायुका व्यापार है, वही चित्तस्पन्दन है, उसीसे समस्त जगत् उस प्रकार उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार धूलि आदिके ढेरसे रज उत्पन्न होती है ॥ ३१ ॥

हे श्रीरामजी, बुद्धिमान् पुरुषने एकाग्र चित्तसे एकान्तमें बैठ बैठकर प्राणवायुके स्पन्दनकी ऊपर विजय पानेके लिए बारबार खूब यत्न करना चाहिए ॥ ३२ ॥

हठयोगके अभ्यासमें यदि शक्ति न रहे, तो राजयोगका अभ्यास करना चाहिए, यह कहते हैं—'**अथवैनम्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, अथवा इस उपायको छोड़कर अन्य उपायसे यदि आप चित्तके ऊपर आक्रमण करना चाहते हैं, तो बहुत कालके अनन्तर उस पदको प्राप्त करेंगे ॥ ३३ ॥

अध्यात्मविद्या और साधुसङ्गति—इन दो उपायोंसे युक्त प्रदर्शित दो प्रकारके योगोंको छोड़कर अन्य किसी उपायसे दुर्दान्त मनका जय उस प्रकार नहीं कर सकते, जिस प्रकार मदमत्त दुष्ट हाथीका अंकुशके बिना दूसरे उपायसे जय नहीं कर सकते ॥ ३४ ॥

उसीका दिग्दर्शन करते हैं—'**अध्यात्म०**' इत्यादिसे ।

अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति, साधुसङ्गति, वासनाका परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तके ऊपर विजय पानेके लिए निश्चितरूपसे पुष्ट

सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥ ३७ ॥
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम् ।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ॥ ३८ ॥
चित्तं चित्तस्य वाऽदूरं संस्थितं स्वशरीरकम् ।
साधयन्ति समुत्सृज्य युक्तिं ये तान् हठान् विदुः ॥ ३९ ॥
भयाद्भयमुपायान्ति क्लेशात्क्लेशं व्रजन्ति ते ।
निर्वृतिं नाऽधिगच्छन्ति दुर्भगा इव जन्तवः ॥ ४० ॥

उपाय हैं । इनसे तत्काल ही चित्त उस प्रकार विजित हो जाता है, जिस प्रकार जलधाराओंसे भूमिकी धूलि विजित हो जाती है ॥ ३५, ३६ ॥

इन सुन्दर युक्तियोंके रहते जो पुरुष हठयोगसे चित्तको वशीभूत करना चाहते हैं, उनके लिए मेरा यही मत है कि वे प्रदीपका परित्याग कर अञ्जनोंसे अन्धकारका निवारण करना चाहते हैं । [एक बात यहां यह जान लेनी चाहिए, वह यह कि पहले बतलाया गया प्राणनिरोध भी दुर्दान्त मनके दमनमें हेतु होनेसे एक तरहका हठरूप ही उपाय है, तथापि सत्-शास्त्र और सद्गुरुसे बोधित मार्गसे शून्य जो दूसरे उपवेशन, शयन, शरीरशोषण, मन्त्र, यन्त्र, श्मशानसाधन आदि साहसस्वरूप हठात्मक उपाय हैं, उन्हींका यहां निवारण किया गया है] ॥ ३७ ॥

जो मूढ पुरुष हठयोगसे चित्तका जय करनेके लिए उद्योगशील रहते हैं, वे उन्मत्त नागेन्द्रको मानो कमलतन्तुओंसे बाँधनेके लिये उद्युक्त हैं ॥ ३८ ॥

बतलाई गई इन चार युक्तियोंका त्यागकर जो पुरुष चित्त या चित्तके निकटवर्ती अपने शरीरको स्थिर करनेके लिए दूसरा यत्न करते हैं, उन पुरुषोंको साम्प्रदायिक लोग वृथा परिश्रमी कहते हैं ॥ ३९ ॥

किञ्च, सत्-शास्त्रोदित मार्गसे भ्रष्ट होनेके कारण उन्हें अनर्थपरम्परा ही प्राप्त होती है, चित्तजय प्राप्त नहीं होता, यह कहते हैं—'भयात्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, वे वृथाश्रमी लोग, एक भयसे दूसरा भय, एक दुःखसे दूसरा

भ्रमन्ति गिरिकूटेषु फलपल्लवभोजनाः ।
मुग्धमुग्धधियो भीता वराका हरिणा इव ॥ ४१ ॥
मतिराल्लूनशीर्णाङ्गी तदीया पेलवाङ्गिका ।
न क्वचिद्याति विश्वासं मृगी ग्रामगता यथा ॥ ४२ ॥
कल्लोलकलितं चेतस्तेषां जल इवाऽहिते ।
प्रोह्यते प्रपतद्दूरं तृणं गिरिनदीष्विव ॥ ४३ ॥
कालं यज्ञतपोदानतीर्थदेवार्चनभ्रमैः ।
चिरमाधिशतोपेताः क्षपयन्ति मृगा इव ॥ ४४ ॥

दुःख प्राप्त करते हैं । भाग्यहीन पापी जन्तुओंकी नाईं वे कहीं भी उत्तम धैर्यरूपी विश्रान्ति प्राप्त नहीं करते ॥ ४० ॥

पर्वत-प्रान्तोंमें फल और पत्तोंका भक्षण कर रहे वे अत्यन्त मुग्धबुद्धि एवं भीरु होकर बिचारे हरिणोंकी नाईं इतस्ततः परिभ्रमण किया करते हैं ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार गाँवमें आई हुई मृगी किसीका विश्वास नहीं करती, वैसे ही उन पुरुषोंकी चारों ओरसे छिन्न, शीर्ण तथा तुच्छ अङ्गवाली बुद्धि किसी पदार्थमें विश्वास नहीं करती ॥ ४२ ॥

उनका तरङ्गसदृश अतिचपल मन, जलमें तरङ्गोंकी नाईं, भयस्थानोंमें ही उत्तरोत्तर जाता रहता है और पर्वतकी चोटीसे गिर रही प्रबल प्रवाहसे युक्त नदियोंमें निपतित तृण जिस प्रकार अतिदूर बह जाता है, वैसे ही उनका विषयानुपातिस्वभाव चित्त राग आदिसे बलपूर्वक अतिदूर खिंच जाता है ॥ ४३ ॥

अब मोक्षरूप फल जिसका निश्चित है, उस धर्ममेघनामक (आत्मविवेक-ज्ञान-प्रवाहरूप) समाधिका परित्याग कर यज्ञ, दान आदिका, जिनके अनुष्ठानमें क्लेश अधिक, फल कम तथा मोक्षफलकत्वमें सन्देह है, अनुष्ठान भी केवल क्लेशमय ही है, यों प्रकृत विषयकी प्रशंसाके लिए कहते हैं—**'कालम्'** इत्यादिसे ।

जिस प्रकार मृग कालक्षेप करते हैं, वैसे ही यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, देवार्चन आदि भ्रमोंके कारण असंख्य मानस पीड़ाओंसे युक्त होकर मनुष्य वृथा काल-क्षेप करते हैं ॥ ४४ ॥

आत्मतत्त्वं विधिवशात् कदाचित्केचिदेव ते ।
दुःखदोषशतादग्धा विदन्ति न विदन्ति वा ॥ ४५ ॥

आगमापायिनोऽनित्या नरकस्वर्गमानुषैः ।
पातोत्पातकराकाराः क्षीयन्ते कन्दुका इव ॥ ४६ ॥

इतो गच्छन्ति नरकं ततः स्वर्गमिहैव च ।
आवृत्तिभिर्निवर्तन्ते सरसीव तरङ्गकाः ॥ ४७ ॥

तस्माच्चैतां परित्यज्य दुर्दृष्टिं रघुनन्दन ।
शुद्धां संविदमाश्रित्य वीतरागः स्थिरो भव ॥ ४८ ॥

ज्ञानवानेव सुखवान् ज्ञानवानेव जीवति ।
ज्ञानवानेव बलवांस्तस्माज्ज्ञानमयो भव ॥ ४९ ॥

संवेद्यवर्जितमनुत्तममाद्यमेकं
संवित्पदं विकलनं कलयन्महात्मन् ।

श्रीरामजी, राग आदि सैकड़ों दोषोंसे झुलस गये वे आत्मस्वरूप नहीं जान पाते और उनमें से कोई लोग ही कभी दैववश आत्मस्वरूप जान पाते हैं ॥ ४५ ॥

उत्पत्ति एवं विनाशशील, एकत्र स्थिर न रहनेवाले तथा स्वर्ग, नरक और मनुष्यके भोगविशेषोंके कारण, गेंदकी नाई, निपतन और उत्पतन कारक शरीर-वाले होकर वे मरण आदिसे पीड़ित हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार तालाबमें तरङ्गें आती जाती रहती हैं, वैसे ही वे इस मृत्युलोक-से नरककी ओर जाते हैं, तदनन्तर वहाँसे स्वर्गकी ओर आते हैं और फिर यहीं मृत्युलोकमें आते हैं, यों सैकड़ों आवर्तनोंसे घूमते रहते हैं ॥ ४७ ॥

हे रघुनन्दन, इसलिए आप वर्णित हठादिरूप दुष्टबुद्धिका परित्याग कर शुद्ध संवित्तिका आश्रयण (परिज्ञान) कर रागशून्य होकर सुस्थिर हो जाइए ॥ ४८ ॥

इस संसारमें ज्ञानी ही सुखी है, ज्ञानी ही जीवित है और ज्ञानी ही बलवान् है, इसलिए आप ज्ञानप्रचुर बन जाइए ॥ ४९ ॥

हे महात्मन्, विषयोंसे शून्य, अति-उत्तम, समस्त पदार्थोंके हेतु तथा विकल्पों-से वर्जित अद्वितीय संवित्-पदकी भावना करते हुए तथा चित्तके संकल्प-विकल्पोंसे

हृद्येव तिष्ठ कलनारहितः क्रियां तु
कुर्वन्नकर्तृपदमेत्य शमोदितश्रीः ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे संसृतिनिराकरणक्रमयोगोपदेशो नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥९२॥

त्रिनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः ।
मनागपि कृतो येन तेनाऽऽप्तं जन्मनः फलम् ॥ १ ॥

विमुख यानी चित्तकी बहिर्मुखतासे शून्य होकर आप ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हो जाइए । और व्युत्थानकालमें तो विहित कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए भी असङ्ग एवं शमसे प्राप्त हुई जीवन्मुक्त-गुण-सम्पत्तिसे राजित होकर अकर्तृपदकी प्राप्ति करके स्थित होइए ॥ ५० ॥

बानबे सर्ग समाप्त

तिरानबे सर्ग

[विचारकी प्रौढता, वैराग्य एवं सद्‌गुणोंसे तत्त्वज्ञान होनेपर विषयोंसे धर्षित न होनेके कारण ज्ञानीकी एकरूप स्थिति होती है, यह वर्णन]

उसमें पहले थोड़ेसे भी विचार और मनोनिग्रहका रुचिके उत्पादन और प्रवृत्तिके द्वारा क्रमशः मोक्षमें पर्यवसान होता है, यह कहते हैं— **'मनागपि'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, थोड़ेसे भी विचारसे जिसने अपने चित्तका तनिक भी निग्रह कर लिया, उसने जन्मका फल पा लिया । इससे यह ध्वनित हुआ कि मनुष्यजन्म पाकर जो आत्मविचारपूर्वक मनोनिग्रह नहीं करता, उसका जन्म निष्फल है ॥ १ ॥

विचारकणिका यैषा हृदि स्फुरति पेलवा।
एषैवाऽभ्यासयोगेन प्रयाति शतशाखताम् ॥ २ ॥
किञ्चित्प्रौढविचारं तु नरं वैराग्यपूर्वकम्।
संश्रयन्ति गुणाः शुद्धाः सरः पूर्णमिवाऽण्डजाः ॥ ३ ॥
सम्यग्विचारिणं प्राज्ञं यथाभूतावलोकिनम्।
आसादयन्त्यपि स्फारा नाऽविद्याविभवा भृशम् ॥ ४ ॥
किं कुर्वन्तीह विषया मानस्यो वृत्तयस्तथा।
आधयो व्याधयो वाऽपि सम्यग्दर्शनसन्मतेः ॥ ५ ॥
क्व भ्रमत्पवनापूरास्तडित्पटलपाटलाः।
पुष्करावर्तजलदा गृहीता बालमुष्टिभिः ॥ ६ ॥

विचार एवं चित्तनिग्रहका जन्मकी सफलतामें उपयोग बतलाते हैं—**'विचार०'** इत्यादिसे।

श्रीरामजी, यदि हृदयमें प्रागुक्त इस विचाररूपी कल्पवृक्षका कोमल अङ्कुर प्रस्फुरित हो जाय, तो वही अङ्कुर अभ्यासयोगसे सैकड़ों शाखाओंमें फैल जाता है ॥ २ ॥

जिसने वैराग्यपूर्वक कुछ प्रौढ़-विचार कर लिया है, उस नररत्नका तो पूर्वोक्त शम, दम आदि शुद्ध गुण उस प्रकार आश्रयण करते हैं, जिस प्रकार जलसे परिपूर्ण सरोवरका पक्षी और मत्स्य आश्रयण करते हैं ॥ ३ ॥

श्रीरामजी, भलीप्रकार आत्म-विचारसे युक्त तथा स्वस्वरूप परब्रह्मका अवलोकन करना ही जिसका स्वभाव है ऐसे मेधावी विद्वान्‌को प्रचय और प्रकर्षसे विख्यात भी हिरण्यगर्भपद आदि अविद्याकार्यरूप वैभव लुब्ध नहीं करते ॥ ४ ॥

आत्माके यथार्थ ज्ञानसे जिसकी बुद्धि परिष्कृत हो गई है, उस महात्माको यहाँ विषय, मानसिक वृत्तियाँ, आधि और व्याधि—ये सब कौन विकार उत्पन्न कर सकते हैं अर्थात् कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि वह निर्विकार आत्म-स्वरूप है ॥ ५ ॥

हिरण्यगर्भ आदिके वैभव वीतराग महात्माको लुब्ध करनेमें समर्थ नहीं हैं, इसी विषयको अन्योक्तियोंसे दृढ़ करते हैं—**'क्व'** इत्यादिसे।

हे भद्र श्रीरामजी, भला बतलाइए तो सही कि खूब चल रहे पवनोंसे

क्व नभोमध्यसंस्थेन्दुर्मुग्धैर्मणिसमुद्गकैः ।
मुग्धयाऽङ्गनया बद्धो मुग्धेन्दीवरशङ्कया ॥ ७ ॥
क्व कटप्रोच्चलद्भृङ्गमण्डलोत्पलशेखराः ।
मुग्धस्त्रीश्वासमधुरैर्मशकैर्मथिता गजाः ॥ ८ ॥
क्वेभमुक्ताफलोल्लासलसत्सन्नखपञ्जराः ।
सिंहाः समरसंरब्धा हरिणैः प्रविमर्दिताः ॥ ९ ॥
क्व विषोल्लासनिर्यासदग्धोन्नतवनद्रुमाः ।
क्षुधिताजगराः क्षुब्धैर्निगीर्णा बालदर्दुरैः ॥ १० ॥
क्व प्राप्तभूमिको धीरो ज्ञातज्ञेयो विवेकवान् ।
आक्रान्तः किल विक्रान्तो विषयेन्द्रियदस्युभिः ॥ ११ ॥

व्याप्त तथा विद्युत्-समूहसे श्वेतरक्त प्रलयकालका पुष्करावर्तनामक मेघ बालकोंकी मुष्टियोंसे कहीं निगृहीत हुआ है ? ॥ ६ ॥

श्रीरामजी, भला बतलाइए कि क्या विकाशरम्य रात्रि-कमलोंसे अपने नेत्रोंका पराभव हो जायगा, इस शङ्कासे मुग्ध अङ्गनाओंने सुन्दर मणिमय पिटारियोंसे कमल-विकासमें हेतुभूत गगन-मध्यगत चन्द्रमा कहीं बद्ध किया ? ॥ ७ ॥

श्रीरामजी, भला बतलाइए कि गण्डस्थलोंसे चलायमान भ्रमरमण्डलरूपी नील कमल जिनके मस्तकोंमें हैं, ऐसे हाथियोंका मुग्ध अङ्गनाओंके श्वासोंके द्वारा गजवधके लिए प्रेरित होनेके कारण उत्साहरम्य मच्छरोंने कहाँ मन्थन किया ? ॥ ८ ॥

अपनेसे विदारित हुए मत्त गजोंके मुक्ताफलोंकी कान्तियोंसे सुशोभित हो रहे जिनके नखपञ्जर हैं, ऐसे युद्धमें निपुण सिंह हरिणोंके द्वारा कहीं मर्दित हुए हैं ? ॥ ९ ॥

विषकी अधिकताके कारण आपो आप निकलनेवाले रसके सदृश स्वयं निकलनेवाले बड़े बड़े विष-बिन्दुओंसे अरण्यवृक्ष जिन्होंने दग्ध किये हैं, ऐसे क्षुधित अजगरोंको कहीं क्षुद्र मेढ़कोंने निगल लिया ? ॥ १० ॥

जिसने चतुर्थ, पञ्चम आदि भूमिका प्राप्त कर ली है और जिसने ज्ञेय तत्त्व जान लिया है, ऐसा विवेकी वीर विद्वान्, जो आगेकी भूमिकाओंके ऊपर विजय पानेके लिए प्रयत्नशील है, विषय तथा इन्द्रियरूपी चोरोंके द्वारा कहीं पर अभिभूत हो सकता है ? ॥ ११ ॥

विचारधियमप्रौढां हरन्ति विषयारयः ।
प्रचण्डपवना मृद्वीं कृत्तवृन्तां लतामिव ॥ १२ ॥
न विवेकलवं प्रौढं भङ्क्तुं शक्ता दुराशयाः ।
कल्पक्षोभमहाधीरं शैलं मन्दानिला इव ॥ १३ ॥
अगृहीतमहापीठं विचारकुसुमद्रुमम् ।
चिन्तावात्या विधुन्वन्ति नाऽऽस्थिरस्थितिसुस्थितम् ॥१४॥
गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
न विचारमयं चेतो यस्याऽसौ मृत उच्यते ॥ १५ ॥
किमिदं स्याज्जगत् किं स्याद्देहमित्यनिशं शनैः ।
विचारयाऽध्यात्मदृशा स्वयं वा सज्जनैः सह ॥ १६ ॥

अतः जिनका चित्त परिपक्व नहीं हुआ है, वे पहलेकी भूमिकाओंमें ही विघ्नोंसे आक्रान्त होते हैं, आगेकी भूमिकाओंमें जाने ही नहीं पाते, ऐसा कहते हैं—'**विचार०**' इत्यादिसे ।

विषयरूपी शत्रु अप्रौढ विचारबुद्धिका उस प्रकार अपहरण कर डालते हैं, जिस प्रकार प्रचण्ड पवन छिन्नवृन्त (छिन्नाश्रय) लताका अपहरण कर डालते हैं ॥ १२ ॥

जिस प्रकार अवान्तर कल्पोंके क्षोभोंमें महान् धीर होकर रहनेवाले मेरु आदि पर्वतोंका उच्चाटन करनेमें मन्द पवन समर्थ नहीं होते, उस प्रकार प्रौढता-प्राप्त विवेकके लवमात्रका भी विनाश करनेमें दुष्ट राग आदि वृत्तियाँ समर्थ नहीं होती ॥ १३ ॥

श्रीरामजी, जिसने दृढ़ मूल ग्रहण नहीं किया है, ऐसे विचाररूपी पुष्प-वृक्षको चिन्तारूपी झंझावात कँपा देते हैं, परन्तु चारों ओरकी सुदृढ़ स्थितिसे भली प्रकार सुस्थित हुए विचाररूपी पुष्पवृक्षको नहीं कँपाते ॥ १४ ॥

अतएव विचारके विच्छेदकालमें प्रमादसे राग आदि रूप मृत्युसे यह आक्रान्त होता है, इस आशयसे कहते हैं—'**गच्छतः**' इत्यादिसे ।

जिस पुरुषका अन्तःकरण जब जाते या बैठते, जागते या सोते—इन सभी अव-स्थाओंमें आत्मविचारसे ओतप्रोत नहीं रहता, तब वह मृत कहा जाता है ॥ १५ ॥

श्रीरामजी, इस जगत्का स्वरूप क्या होगा ? इस देहका स्वरूप क्या होगा,

अन्धकारहरेणाऽऽशु विचारेण परं पदम् ।
दृश्यते विमलं वस्तु प्रदीपेनेव भास्वता ॥ १७ ॥
ज्ञानेन सर्वदुःखानां विनाश उपजायते ।
कृतालोकविलासेन तमसामिव भानुना ॥ १८ ॥
ज्ञाने प्रकटतां याते ज्ञेयं स्वयमुदेत्यलम् ।
रवावभ्युदिते भूमावालोक इव निर्मलः ॥ १९ ॥
येन शास्त्रविचारेण ब्रह्मतत्त्वं प्रबुध्यते ।
तज्ज्ञानमुच्यते ज्ञेयादभिन्नमिव संस्थितम् ॥ २० ॥

यों निरन्तर धीरे धीरे एकान्तमें आप स्वयं अकेले या गुरु, सतीर्थ्य आदिके साथ अध्यात्मदृष्टिसे विचार कीजिए ॥ १६ ॥

विचार करनेसे फल अवश्य होता है, यह कहते हैं—**'अन्धकार०'** इत्यादिसे ।

प्रमादरूपी अन्धकारका अपहरण करनेवाले आत्मविचारसे तत्काल ही सर्वातिशायी निर्मल ब्रह्मरूप पद उस प्रकार दिखाई पड़ता है, जिस प्रकार प्रकाशमान दीपकसे घटादि वस्तु दिखाई पड़ती है ॥ १७ ॥

ज्ञानसे दो फल होते हैं, यह कहते हैं—**'ज्ञानेन'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

श्रीरामजी, आत्मस्वरूपके विज्ञानसे समस्त दुःखोंका विनाश उस प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार आलोकके द्वारा मनोरञ्जन करनेवाले सूर्यसे तमोभागका विनाश हो जाता है ॥ १८ ॥

जब ज्ञान अपनी प्रकाशरूपता प्राप्त कर लेता है, तब ज्ञेय ब्रह्मका पूर्णरूपसे उदय उस प्रकार स्वतः हो जाता है, जिस प्रकार सूर्यका अभ्युदय हो जानेपर भूभाग पर विमल प्रकाशका उदय स्वतः हो जाता है ॥ १९ ॥

ज्ञानका स्वरूप बतलाते हैं—**'येन'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, जिस शास्त्रसम्बन्धी विचारसे ब्रह्मस्वरूप अवगत हो जाता है, वही शास्त्रीय भाषामें ज्ञान कहा जाता है । ज्ञेय ब्रह्मका आकाररूप और भेदका बाधरूप होनेके कारण ज्ञेय ब्रह्मसे वह अभिन्न ही बनकर दृढ़ प्रतिष्ठित रहता है ॥ २० ॥

विचारोत्थात्मविज्ञानं ज्ञानमङ्ग विदुर्बुधाः ।
ज्ञेयं तस्याऽन्तरेवाऽस्ति माधुर्यं पयसो यथा ॥ २१ ॥
सम्यग्ज्ञानसमालोकः पुमान् ज्ञेयमयः स्वयम् ।
भवत्यापीतमैरेयः सदा मदमयो यथा ॥ २२ ॥
समं स्वरूपममलं ज्ञेयं ब्रह्म परं विदुः ।
ज्ञानाभिगममात्रेण तत्स्वयं सम्प्रसीदति ॥ २३ ॥
ज्ञानवानुदितानन्दो न क्वचित्परिमज्जति ।
जीवन्मुक्तो गतासङ्गः सम्राडात्मेव तिष्ठति ॥ २४ ॥
ज्ञानवान्हृद्यशब्देषु वीणावंशरवादिषु ।
कामिन्याः कान्तगीतेषु सम्भोगमलिनेषु च ॥ २५ ॥
वसन्तमदमत्तानां षट्पदानां स्वनेषु च ।
प्रावृट्प्रसरपुष्पेषु जलदस्तनितेषु च ॥ २६ ॥

हे भद्र, पण्डित लोग आत्मविचारसे उत्पन्न आत्मविज्ञानको ही ज्ञान कहते हैं। उसी ज्ञानके अन्दर ज्ञेय उस प्रकार प्रच्छन्न रहता है, जिस प्रकार दूधके अन्दर माधुर्य प्रच्छन्न रहता है ॥ २१ ॥

जैसे मैरेय (मदिराविशेष) पी लेनेवाला पुरुष सदा मदप्रचुर रहता है, वैसे ही सम्यक् ज्ञानरूपी सुन्दर आलोकसे (प्रकाशसे) युक्त पुरुष स्वयं अनुभूयमान ब्रह्मानन्दसे प्रचुर रहता है ॥ २२ ॥

जिसका स्वरूप सैन्धवघनकी नाईं एकरस है, ऐसा निर्मल परब्रह्म ही ज्ञेय कहा जाता है। वह ज्ञेयरूप ब्रह्मज्ञानके आविर्भावमात्रसे ही स्वयं समस्त अविद्या और उसके कार्यरूपी मलोंसे निर्मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

ज्ञानसम्पन्न तथा आनन्दप्राप्त विद्वान् किसी भी विषयमें लिप्त नहीं होता। समस्त सङ्गोंसे निर्मुक्त एवं जीवन्मुक्त वह ज्ञानी, राजाधिराज सम्राट्की आत्माकी नाईं, परिपूर्णमनोरथ होकर स्थित रहता है ॥ २४ ॥

रागी जनों द्वारा स्पृहणीय भावोंमें उस विद्वान्की अनासक्ति बतलाते हैं—
'ज्ञानवान्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, जो ज्ञानी पुरुष है, वह—वीणा, वंशीकी मधुरध्वनि आदि मनोहर शब्दोंमें, कामिनियोंके शृङ्गाररसमिश्रित कमनीय गीतोंमें; वसन्तकालमें मद-

उत्ताण्डवशिखण्डेषु केकाकलरवेषु च ।
रणिताम्भोदखण्डेषु सारसक्वणितेषु च ॥ २७ ॥
कर्तर्यादिकरान्तेषु गम्भीरमुरजेषु च ।
ततावनद्धसुषिरचित्रवाद्यस्वनेषु च ॥ २८ ॥
केषुचिन्न निबध्नाति रूक्षेषु मधुरेषु च ।
रणितेषु रतिं राम पद्मेष्विव निशाकरः ॥ २९ ॥
ज्ञानवान् बालकदलीस्तम्भपल्लवपालिषु ।
सुरगन्धर्वकन्याङ्गलतानन्दनकेलिषु ॥ ३० ॥
केषु कचिन्न बध्नाति स्वायत्तेष्वप्यसक्तधीः ।
राम स्पर्शरतिं धीरो हंसो मरुमहीष्विव ॥ ३१ ॥
ज्ञानवान्पिण्डखर्जूरकदम्बपनसादिषु ।
मृद्वीकौर्वारुकाक्षोटबिम्बजम्बीरजातिषु ॥ ३२ ॥

मत्त हुए भ्रमरोंकी गुंजार ध्वनियोंमें, वर्षाके विस्तारसे जनित पुष्पोंमें, मेघोंके गर्जनोंमें; मयूरोंके ताण्डव नृत्यों तथा उनकी मधुर कूकध्वनियों में, शब्द किये हुए मेघोंके खण्डोंमें, सरोवरस्थ सारस पक्षियोंके श्रवणप्रिय शब्दोंमें; करताल आदि वाद्यविशेषोंमें, चमड़ेसे मढ़े गये गम्भीर मृदङ्ग आदि वाद्योंमें, तन्त्रीसे निर्मित वीणा आदि, भीतरके छिद्रसे युक्त वंशी आदि तथा चित्रविचित्र कांस्यताल आदि वाद्योंकी ध्वनियोंमें; कहीं पर भी—चित्त नहीं लगाता, श्रीरामजी, चाहे ध्वनि रूक्ष हो चाहे मधुर, कहीं भी यह उस प्रकार प्रेम नहीं करता, जिस प्रकार कमलोंमें निशाकर (चन्द्रमा) प्रेम नहीं करता ॥ २५–२९ ॥

भद्र, आसक्तिवर्जित ज्ञानी पुरुष कोमल कदलीके स्तम्भोंकी पल्लवपङ्क्तियोंसे युक्त तथा देवता एवं गन्धर्वोंकी कन्याओंके अङ्गोंके सदृश अतिकोमल अवयव-वाली लताओंसे युक्त नन्दनवनकी क्रीडाओंमें कहीं किसी समय भी चित्त नहीं लगाता । हे श्रीरामजी, जिस प्रकार हंस मरुभूमिमें भोगकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार स्वाधीन विषयोंमें भी आसक्ति नहीं रखनेवाला धीर तत्त्वज्ञ किसी भी विषयमें भोगकी इच्छा नहीं करता ॥ ३०, ३१ ॥

ज्ञानवान् पुरुष—पिण्डखजूर (एक प्रकारकी खजूर) कदम्ब, कटहर, द्राक्षा, खरबूजा, अखरोट, बिम्ब (कुँदरू) तथा नारङ्गी आदि जातिके फलोंमें; मद्य, मधु,

मदिरामधुमैरेयमाध्वीकासवभूमिषु ।
दधिक्षीरघृतामिक्षानवनीतौदनादिषु ॥ ३३ ॥
षड्रसेषु विचित्रेषु लेह्यपेयविलासिषु ।
फलेष्वन्येषु मूलेषु शाकेष्वप्यामिषेषु च ॥ ३४ ॥
केषुचिन्नाऽनुबध्नाति तृप्तमूर्त्तिरसक्तधीः ।
आस्वादनरतिर्विप्रः स्वशरीरलवेष्विव ॥ ३५ ॥
ज्ञानवान्यमचन्द्रेन्द्ररुद्रार्कानिलसद्मसु ।
मेरुमन्दरकैलाससह्यदर्दुरसानुषु ॥ ३६ ॥
कौशेयदलजालेषु चन्द्रबिम्बकलादिषु ।
कल्पपादपकुञ्जेषु देहशोभाविलासिषु ॥ ३७ ॥
रत्नकाञ्चनकुड्येषु मुक्तामणिमयेषु च ।
तिलोत्तमोर्वशीरम्भामेनकाङ्गलतासु च ॥ ३८ ॥
केषुचिद्दर्शनं श्रीमान्नाऽभिवाञ्छत्यसक्तधीः ।
परिपूर्णमना मानी मौनी शत्रुषु चाऽचलः ॥ ३९ ॥

मैरेय, माध्वीक, आसव आदि मद्यविशेषोंमें; दहीं, दूध, घी, आमिक्षा, मक्खन, ओदन आदि भोज्य पदार्थोंमें; लेह्य, पेय आदि विलास-पूर्ण चित्र-विचित्र छः प्रकार-के रसोंमें; अन्यान्य फल, कन्दमूल, शाक एवं मांस आदि पदार्थोंमें —कहीं पर चित्त नहीं लगाता। वह तृप्तस्वरूप एवं असक्तमति है, अतः वह भोग्य पदार्थोंमें प्रवृत्त उस प्रकार नहीं होता, जिस प्रकार आस्वादनमें प्रेम रखनेवाला ब्राह्मण अपने-शरीरके टुकड़ोंमें प्रवृत्त नहीं होता ॥ ३२—३४ ॥

श्रीरामजी जो ज्ञानी श्रीमान् महात्मा है, वह—यमराज, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य और वायुके स्थानोंमें; मेरु, मन्दराचल, कैलास, सह्याद्रि तथा दर्दुर पर्वतके कौशेय-सदृश मृदु एवं चिक्कन पल्लवसमूहोंसे युक्त शिखरोंमें; चन्द्रबिम्बकी कला आदिमें, दिव्य शरीरसम्पत्तिसे क्रियमाण क्रीडाओंसे युक्त कल्पवृक्षोंके निकुञ्जोंमें; रत्नयुक्त सुवर्णभित्तिसे निर्मित मोति और मणिप्रचुर सुन्दर घरोंमें; तिलोत्तमा, उर्वशी, रम्भा, मेनका आदिकी अङ्गलताओंमें—कहीं पर भी असक्तमति होनेके कारण दृष्टि-पात नहीं चाहता, वह परिपूर्ण, अमानी, मौनी एवं शत्रुओंके विषयमें अचल है यानी द्वेषसे कम्पित नहीं होता ॥ ३५—३९ ॥

ज्ञानवान् कुन्दमन्दारकह्लारकमलादिषु ।
कुमुदोत्पलपुन्नागकेतक्यगुरुजातिषु ॥ ४० ॥
कदम्बचूतजम्ब्वाम्रकिंशुकाशोकशाखिषु ।
जपातिमुक्तसौवीरबिम्बपाटलजातिषु ॥ ४१ ॥
चन्दनागुरुकर्पूरलाक्षामृगमदेषु च ।
काश्मीरजलवङ्गैलाकङ्कोलतगरादिषु ॥ ४२ ॥
केषुचिन्न निबध्नाति सौगन्ध्यरतिमेकधीः ।
समबुद्धिरविक्षोभो मद्यामोदेष्विव द्विजः ॥ ४३ ॥
अब्धौ गुडगुडारावे प्रतिश्रुत्खस्वने गिरौ ।
निनादे च मृगेन्द्राणां न क्षुभ्यति मनागपि ॥ ४४ ॥
द्विपद्भेरीनिनादेन पटहारणितेन च ।
कटुकोदण्डघोषेण न बिभेति मनागपि ॥ ४५ ॥
मत्तवारणबृंहासु वेतालकलनासु च ।
पिशाचरक्षःक्ष्वेडासु मनागपि न कम्पते ॥ ४६ ॥

जो समबुद्धि, प्रिय, अप्रिय सब स्थानोंमें समदृष्टि रखनेवाला तथा अप्रियमें-क्षोभशून्य ज्ञानवान् पुरुष है, वह कनेर, मन्दार, कल्हार, कमल आदिमें; कुईं, नील-कमल, चंपा, केतकी, अगर, जाति (मालती) आदि पुष्पोंमें; कदम्ब, आम्र, जामुन, पलाश एवं अशोक वृक्षोंमें; जपा, माधवी, बेर, बिम्ब, पाटल तथा चमेली आदिमें; चन्दन, अगुरु, कपूर, लाह एवं कस्तुरीमें; केसर, लवङ्ग, एला, कङ्कोल (शीतल चीनीके वृक्षका भेद), तगर आदि अङ्गरागोंमें से किसीकी सुगन्धमें प्रेम उस प्रकार नहीं करता, जिस प्रकार मदिराकी गन्धमें श्रोत्रिय द्विज प्रेम नहीं करता ॥ ४०—४३ ॥

इसी प्रकार भयजनक ध्वनियोंमें उसको भय नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'अब्धौ' इत्यादिसे ।

गड़गड़ाहट ध्वनिसे युक्त सागरके, प्रतिध्वनिरूप आकाशजनित शब्दके, पर्वतमें सिंहोंके गर्जनोंके होनेपर ज्ञानी तनिक भी क्षुब्ध नहीं होता ॥ ४४ ॥

शत्रुओंके नगारे आदिके शब्दोंसे, डमरूके शब्दसे, कर्णकटु धनुषके टङ्कारसे ज्ञानी तनिक भी भीत नहीं होता ॥ ४५ ॥

मदोन्मत्त हाथियोंके चिंघाड़नेके शब्द, बेतालोंकी कलह आदि ध्वनि तथा पिशाच एवं राक्षसोंका सिंहनाद होनेपर ज्ञानी पुरुष जरा भी कम्पित नहीं होता ॥ ४६ ॥

अशनिस्वनघोषेण नगस्फोटरवेण च ।
ऐरावणनिनादेन सम्यग्ध्यानी न कम्पते ॥ ४७ ॥
वहत्क्रकचकाषेण सितासिदलनेन च ।
शराशनिनिपातेन कम्पते न स्वरूपतः ॥ ४८ ॥
नाऽऽनन्दमेत्युपवने न खेदमुपगच्छति ।
न खेदमेति मरुषु नाऽऽनन्दमुपगच्छति ॥ ४९ ॥
पूताङ्गारसमाकल्पसैकतेष्वपि धन्वसु ।
पुष्पप्रकरसञ्छन्नमृदुशाद्वलभूमिषु ॥ ५० ॥
क्षुरधारासु तीक्ष्णासु शय्यासु च नवोत्पलैः ।
उन्नताचलदेशेषु कूपकोशतलेषु च ॥ ५१ ॥
शिलास्वर्कांशुरूक्षासु मृद्वीषु ललनासु च ।
सम्पत्स्वापत्सु चोग्रासु रमणेषूत्सवेषु च ॥ ५२ ॥
विहरन्नपि नोद्वेगी नाऽऽनन्दमुपगच्छति ।
अन्तर्मुक्तमना नित्यं कर्मकर्तेव तिष्ठति ॥ ५३ ॥

जो परब्रह्ममें ध्यान लगानेवाला विद्वान् है, वह वज्रके भयावह शब्दसे, पर्वतके विस्फोटसे एवं ऐरावतके चिंघाड़नेसे कम्पित नहीं होता ॥ ४७ ॥

ज्ञानी पुरुष चल रहे आरेके घर्षणसे, चमचमाती हुई तलवारके विदलनसे, बाण एवं वज्रके सम्पातसे अपनी स्वरूपस्थितिरूप समाधिसे विचलित नहीं होता ॥ ४८ ॥

ज्ञानी पुरुष वाटिकामें न आनन्द प्राप्त करता है और न तो खेद। एवं मरुभूमिमें न खेद प्राप्त करता है और न तो आनन्द ॥ ४९ ॥

भस्मसे रहित उज्वल अङ्गारोंके सदृश असह्य बालूसे युक्त मरुप्रदेशोंमें, पुष्पोंके समूहोंसे आच्छादित मृदु घासमय भूमियोंमें, तीक्ष्ण छुरेकी धारोंमें, नवीन कमलोंसे निर्मित शय्याओंमें, उन्नत पर्वतके प्रदेशोंमें, कुओंके अन्दरकी निम्न भूमियोंमें, सूर्यकिरणोंसे प्रतप्त शिलाओंमें, कोमल ललनाओंमें, संपत्तियोंमें, उग्र विपत्तियोंमें, क्रीड़ाओंमें तथा उत्सवोंमें विहार कर रहा भी ज्ञानी न उद्वेग प्राप्त करता है और न तो आनन्द प्राप्त करता है। वह भीतरसे सदा मुक्त और बाहरसे कर्मकर्ताकी नाईं स्थित रहता है ॥ ५०—५३ ॥

अयःसङ्कुचिताङ्गासु नरकारण्यभूमिषु ।
परस्परेरितानन्तकुन्ततोमरवृष्टिषु ॥ ५४ ॥
न बिभेति न वाऽऽदत्ते वैवश्यं न च दीनताम् ।
समः स्वस्थमना मौनी धीरस्तिष्ठति शैलवत् ॥ ५५ ॥
अपवित्रमपथ्यं च विषसिक्तं मलाद्यपि ।
भुक्त्वा जरयति क्षिप्रं क्लिन्नं नष्टं च मृष्टवत् ॥ ५६ ॥
बिम्बप्रतिविषाकल्कक्षीरेक्षुसलिलान्धसाम् ।
असक्तबुद्धिस्तत्त्वज्ञो भवत्यास्वादने समः ॥ ५७ ॥
मैरेयमदिराक्षीररक्तमेदोरसासवैः ।
रूक्षास्थितृणकेशान्तैर्न हृष्यति न कुप्यति ॥ ५८ ॥

ज्ञानी पुरुष महर्षि माण्डव्यकी नाईं प्रारब्ध कर्मोंसे प्राप्त हुई अङ्गोंको संकुचित करनेवाली नरककी अरण्य भूमियोंमें, जहाँ पर एक दूसरोंके द्वारा अनेक बर्छी तोमर आदि शस्त्रविशेषोंकी वृष्टि हो रही है, न भीत होता है, न व्याकुल होता है और न तो दीन होता है, परन्तु वह सम, स्वस्थमन, मौनी और धीर होकर पर्वतकी नाईं अटल रहता है ॥ ५४ , ५५ ॥

ज्ञानी पुरुष अपवित्र, अपथ्य, विषयुक्त, गोमय आदि मल, आर्द्र तथा रसवर्जित पदार्थोंको खाकर भी तत्क्षण उस प्रकार पचा देता है, जिस प्रकार साधारण मनुष्य परिष्कृत अन्नको खाकर पचा देता है ॥ ५६ ॥

श्रीरामजी, जिसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारकी विषया-सक्ति नहीं है, वह तत्त्वज्ञ तत्क्षण बुद्धिका विनाश करनेवाला बिम्बका फल (कुन्दरूका फल), विषप्राय सब ओरसे कषाय लगनेवाला फल, क्षीर, इक्षुरस, जल और ओदन— इन सब विषयोंके आस्वादनमें सम यानी तुल्यचित्त रहता है ॥ ५७ ॥

राक्षस, पिशाच आदिमें भी जीवन्मुक्त हो सकते हैं, इसलिए उनका भी संग्रह करनेके लिए तत्साधारण कहते हैं—'मैरेय०' इत्यादिसे ।

मैरेय (मद्यविशेष), मदिरा, क्षीर, रक्त, चरबी, आसव, रूक्ष हड्डी, तृण और केश—इन सबसे ज्ञानी न प्रसन्न होता है और न तो कुपित ही होता है ॥ ५८ ॥

जीवितस्याऽपि हर्तारं दातारं चैकरूपया ।
दृशा प्रसादमाधुर्यशालिन्या परिपश्यति ॥ ५९ ॥
स्थिरास्थिरशरीरेषु रम्यारम्येषु वस्तुषु ।
न हृष्यति ग्लायति वा सदा समतयेद्धया ॥ ६० ॥
मुक्तास्थत्वादनास्थेयरूपत्वाज्जगतः स्थितौ ।
नूनं विदितवेद्यत्वान्नीरागत्वात्स्वचेतसः ॥ ६१ ॥
न कस्यचिन्नो कदाचिदक्षस्य विषयस्थितौ ।
ददाति प्रसरं साधुराधिप्रोज्झितया धिया ॥ ६२ ॥
अतत्त्वज्ञमविश्रान्तमलब्धात्मानमस्थितम् ।
निगिरन्तीन्द्रियाण्याशु हरिणा इव पल्लवम् ॥ ६३ ॥

तत्त्वज्ञकी शत्रु और मित्रमें समदृष्टि रहती है, ऐसा कहते हैं—**'जीवितस्या०'** इत्यादिसे ।

जीवनका विनाश करनेवाला तथा जीवनका दान देनेवाला—इन दोनों पुरुषोंको ज्ञानी पुरुष प्रसन्नता एवं मधुरतासे शोभित दृष्टिसे यानी समदृष्टिसे देखता है ॥५९॥

ज्ञानवान् चिरस्थायी देवशरीर तथा कुछ काल तक स्थायी मर्त्य शरीर, एवं उनके भोग्य रमणीय तथा अरमणीय वस्तु—इन सबके विषयमें न हर्ष करता है और न तो ग्लानि करता है, क्योंकि उसकी समभावना सदा प्रदीप्त रहती है ॥ ६० ॥

श्रीरामजी, अपने चित्तमें आसक्तिका अभाव तथा विषयस्वरूपका भली प्रकार ज्ञान हो जानेके कारण जगत्की स्थितिमें ज्ञानी आस्था नहीं रखता । एवं मिथ्या-विषय आस्थाके आयोग्यरूप होनेसे ज्ञानी साधु पुरुष किसी भी समय किसी इन्द्रियको विषयप्रवृत्तिके लिए अवसर नहीं देता, क्योंकि उसकी बुद्धि समस्त मानस पीडाओंसे निर्मुक्त हो चुकी है ॥ ६१,६२ ॥

तब इन्द्रियाँ किसको निगल जाती हैं, इसपर कहते हैं—**'अतत्त्वज्ञम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जिस प्रकार हरिण पल्लव निगल जाते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ तत्त्वज्ञानसे शून्य, विश्रान्तिसे वर्जित, अप्राप्त-आत्मा तथा स्थितिशून्य मनुष्यको तत्काल निगल जाती हैं ॥ ६३ ॥

उह्यमानं भवाम्भोधौ वासनावीचिवेल्लितम् ।
निगिरन्तीन्द्रियग्राहा महाक्रन्दपरायणम् ॥ ६४ ॥
विचारिणं भव्यपदं विश्रान्तधियमात्मनि ।
न हरन्ति विकल्पौघा जलौघा इव पर्वतम् ॥ ६५ ॥
सर्वसङ्कल्पसीमान्ते विश्रान्ता ये परे पदे ।
तेषां लब्धस्वरूपाणां मेरुरेव तृणायते ॥ ६६ ॥
जगज्जरत्तृणलवो विषं चाऽमृतमेव च ।
क्षणः कल्पसहस्रं च सममाततचेतसाम् ॥ ६७ ॥
संविन्मात्रं जगदिति मत्वा मुदितबुद्धयः ।
संविन्मयत्वादन्तःस्थजगत्का विहरन्त्यमी ॥ ६८ ॥

संसार-समुद्रमें बह रहे, वासनारूपी वीचियोंसे वेष्टित अतएव निरन्तर महान् क्रन्दन करनेमें तत्पर उस अज्ञानीको इन्द्रियरूपी मगर निगल जाते हैं ॥ ६४ ॥

लोभ आदि विकल्प भी आत्मज्ञको विचलित नहीं करते, ऐसा कहते हैं—**'विचारिणम्'** इत्यादिसे ।

जैसे जलप्रवाहोंसे पर्वत बहाया नहीं जा सकता, वैसे ही विचारवान्, एकमात्र ब्रह्मरूप पदमें समासीन तथा आत्मामें बुद्धिकी विश्रान्ति लेनेवाला महामति लोभ आदि विकल्पसमूहोंसे बहाया नहीं जा सकता ॥ ६५ ॥

समस्त संकल्पोंकी सीमाके अन्तभूत परम पदमें जो महानुभाव विश्रान्ति कर चुके हैं, उन प्राप्तस्वरूप महात्माओंकी दृष्टिमें मेरुपर्वत ही तृणके सदृश है ॥ ६६ ॥

श्रीरामजी, जिन महात्माओंका चित्त परिपूर्ण आत्माकारके प्रतिफलनसे विशाल हो गया है, उनकी दृष्टिमें जगत्, जीर्ण तिनकेका टुकड़ा, विष, अमृत, क्षण और हज़ारों कल्प—ये सभी समानरूप हैं ॥ ६७ ॥

जगत् चिन्मात्रस्वरूप है, यों जानकर ये प्रमुदितमति तथा समस्त जगत्में आन्तर प्रत्यगात्मरूपताके अवलोकनसे अन्तःस्थ जगत्-वाले महात्मा संविन्मय होकर सर्वत्र विहार करते हैं ॥ ६८ ॥

संविन्मात्रपरिस्पन्दे जागते वस्तुपञ्जरे ।
किं हेयं किमुपादेयमिह तत्त्वविदां मतम् ॥ ६९ ॥
संविदेवेदमखिलं भ्रान्तिमन्यां त्यजाऽनघ ।
संविन्मयवपुः स्फारं किं जहाति किमीहते ॥ ७० ॥
यदेतज्जायते भूमेर्भविष्यत्पल्लवाङ्कुरम् ।
तत्संविदेव प्रथते तथा तत्त्वाङ्कुरस्थितम् ॥ ७१ ॥
आदावन्ते च यन्नाऽस्ति वर्तमानेऽपि तस्य च ।
कश्चित्काललवं दृष्टा सत्ताऽसौ संविदो भ्रमः ॥ ७२ ॥
इति मत्वा धियं त्यक्त्वा भावाभावानुपातिनीम् ।
निःसङ्गसंविद्धारूपो भव भावान्तमागतः ॥ ७३ ॥

संविन्मात्रके परिस्पन्दनस्वरूप जगत्के पिंजड़ेमें क्या हेय और क्या उपादेय हो सकता है ? अर्थात् न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय है, यह तत्त्वज्ञोंका मत है ॥ ६९ ॥

हे पापशून्य श्रीरामजी, यह समस्त जगत् संविदात्मक ही है, अतः आप अन्यता-भ्रान्तिका परित्याग कर दीजिए । जो प्रकाशात्मक चित्प्रचुर स्वरूप-वाला तत्त्व है, वह क्या त्यागेगा और क्या ग्रहण करेगा ? ॥ ७० ॥

भूतकालीन पदार्थोंमें किसीकी इच्छा नहीं होती, अतः अज्ञानीरूपी हरिणोंके द्वारा वर्तमानकालीन जो कुछ भूमिसे पल्लवाङ्कुरप्राय पदार्थ उत्पन्न होते हैं और भविष्यत्कालीन जो कुछ भूमिसे पल्लवाङ्कुररूप पदार्थ उत्पन्न होनेवाले हैं, ये ही स्पृहणीय हैं, उन सबका जैसे तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे संविद्रूपसे प्रथन होता है, वैसे ही आकाशादि तत्त्वोंके अङ्कुरकी नाईं स्थित शब्द, स्पर्श आदि अन्य विषयोंका भी तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे संविद्रूपसे ही प्रथन होता है ॥ ७१ ॥

प्रतिपादित अर्थकी सिद्धिमें युक्ति बतलाते हैं—'आदावन्ते' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, जिसकी आदि और अन्तमें अस्तिता है नहीं; उसकी यदि वर्तमान कालमें यानी बीचमें कुछ-काल तक सत्ता देखी जाय, तो वह संवित्-का एक भ्रम ही है ॥ ७२ ॥

श्रीरामभद्र, इस उक्त अर्थका युक्तिपूर्वक मननसे दृढीकरण कर तथा 'यह भावरूप है और यह अभावरूप है' इस प्रकार विकल्पयुक्त मतिका त्यागकर

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
कर्म कुर्वन्न कुर्वन्वा निःसङ्गः सन्न लिप्यते ॥ ७४ ॥
गतसङ्गेन मनसा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।
सुखदुःखैर्महाबाहो मनोरथदशास्विव ॥ ७५ ॥
गतसङ्गां मतिं कुर्वन् कुर्वन्नप्यङ्गयष्टिभिः ।
न लिप्यते सुखैर्दुःखैर्मनोरथदशास्विव ॥ ७६ ॥
गतसङ्गमना दृष्ट्या पश्यन्नपि न पश्यति ।
एतदन्यस्थचित्तत्वाद् बालेनाऽप्यनुभूयते ॥ ७७ ॥
गतसङ्गमना जन्तुः पश्यन्नेव न पश्यति ।
न शृणोत्यपि शृण्वंश्च न स्पृशत्यपि च स्पृशन् ॥ ७८ ॥

भावके बाधस्वरूप ब्रह्ममें प्राप्त होकर आप सङ्गशून्य प्रकाशमान संविद्रूप हो जाइए ॥ ७३ ॥

शरीर, मन, बुद्धि तथा आसक्ति दोषसे वर्जित इन्द्रियोंसे व्युत्थानकालमें चाहे कर्म करे या समाधिकालमें चाहे न करे, ज्ञानी असङ्ग होनेके कारण कर्म या अकर्म किसीसे लिप्त नहीं होता ॥ ७४ ॥

हे महाबाहो, जिस प्रकार कोई भी मनोराज्यकी संपत्तियोंके नष्ट होने या न होनेपर, तज्जनित सुख-दुःखोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सङ्ग-रहित मनसे कर्मानुष्ठान करे, चाहे न करे, तज्जनित सुखदुःखोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ७५ ॥

आत्मामें अकर्तापन और अभोक्तापनका अनुभव हो जानेके कारण बुद्धि-को वीतसङ्ग बना रहा तथा शरीर आदि उपकरणोंसे व्यवहार निरत हो रहा भी ज्ञानी सुखदुःखात्मक अनुकूल प्रतिकूल भावोंसे उस तरह लिप्त नहीं होता, जिस तरह मनोराज्यके वैभवोंके आगमापायोंसे अज्ञानी लिप्त नहीं होता ॥ ७६ ॥

विषयोंके साथ संसर्गसे शून्य अन्तःकरणवाला महात्मा चक्षुसे विषयोंको देख रहा भी उन्हें नहीं देखता, क्योंकि उसका चित्त तो अन्यत्र परब्रह्ममें लगा हुआ है। जिसका चित्त अन्यत्र रहता है, वह विषय नहीं देखता, यह बात बालकको भी ज्ञात है ॥ ७७ ॥

विषयसंसङ्गसे शून्य मनवाला प्राणी सुनता हुआ भी नहीं सुनता, स्पर्श

न जिघ्रत्यपि संजिघ्रन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
पदार्थे च पतत्येव बलात्पतति नाऽप्ययम् ॥ ७९ ॥
देशान्तरस्थचेतोभिरेतदात्मगृहस्थितैः ।
अप्रौढमतिभिः साधु मूर्खैरप्यनुभूयते ॥ ८० ॥
सङ्गः कारणमर्थानां सङ्गः संसारकारणम् ।
सङ्गः कारणमाशानां सङ्गः कारणमापदाम् ॥ ८१ ॥
सङ्गत्यागं विदुर्मोक्षं सङ्गत्यागादजन्मता ।
सङ्गं त्यज त्वं भावानां जीवन्मुक्तो भवाऽनघ ॥ ८२ ॥

करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता । इस अर्थकी प्रतिपादक श्रुति भी है—'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' (अन्यत्रमना था, अतएव मैंने नहीं देखा, अन्यत्रमना था, अतएव मैंने नहीं सुना ॥ ७८ ॥

यह अन्यत्रमना योगी भलीप्रकार सूँघ रहा भी नहीं सूँघता, नेत्र उन्मीलित कर रहा भी उन्मीलित नहीं करता, पदार्थोंमें यानी अपने अपने विषयोंमें संस्कार वश कर्मेन्द्रियोंके संसृष्ट होनेपर भी यह संसृष्ट नहीं होता ॥ ७९ ॥

भद्र, जिनका मन अन्यत्र चला गया है, ऐसे अपने घरमें रहनेवाले मूर्ख एवं अप्रौढ़मति बालक, पशु आदि इस विषयका यानी देख रहा भी नहीं देखता आदि उक्त अर्थका अनुभव करते हैं, इस विषयमें उनको किसी प्रकारका विवाद नहीं है ॥ ८० ॥

इन पूर्वोक्त वाक्योंसे यह निष्कर्ष निकला कि आसक्तिपूर्वक पदार्थोंका अनुभव करना ही बन्धनमें हेतु है, वह आसक्तिशून्य ज्ञानीको होता नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'सङ्गः' इत्यादिसे ।

आसक्ति ही संसारकी कारण है, आसक्ति ही समस्त पदार्थोंकी हेतु है, आसक्ति ही रम्य विषयोंकी अभिलाषाओंकी जनक है और आसक्ति ही समस्त विपत्तियोंकी उत्पादिका है ॥ ८१ ॥

हे निर्मल श्रीरामजी, सङ्गपरित्याग मोक्ष (वर्तमान देह आदिसे सम्बन्धकी निवृत्ति) है, यह महर्षियोंका मन्तव्य है । सङ्गत्यागसे जन्म (भावी देहादिबन्धन) छूट जाता है, अतः आप पदार्थोंका संसर्ग छोड़ दीजिए और जीवन्मुक्त हो जाइए ॥ ८२ ॥

श्रीराम उवाच

सर्वसंशयनीहारशरन्मारुत हे मुने ।
सङ्गः किमुच्यते ब्रूहि समासेन मम प्रभो ॥ ८३ ॥

वसिष्ठ उवाच

भावाभावे पदार्थानां हर्षामर्षविकारदा ।
मलिना वासना यैषा सा सङ्ग इति कथ्यते ॥ ८४ ॥
जीवन्मुक्तशरीराणामपुनर्जन्मकारिणी ।
मुक्ता हर्षविषादाभ्यां शुद्धा भवति वासना ॥ ८५ ॥
तामसङ्गाभिधां विद्धि यावद्देहं च भाविनी ।
तया यत्क्रियते कर्म न तद् बन्धाय वै पुनः ॥ ८६ ॥
अजीवन्मुक्तरूपाणां दीनानां मूढचेतसाम् ।
युक्ता हर्षविषादाभ्यां बन्धनी वासना भवेत् ॥ ८७ ॥
सैवोक्ता सङ्गशब्देन पुनर्जननकारिणी ।
तया यत्क्रियते कर्म तद् बन्धायैव केवलम् ॥ ८८ ॥

श्रीरामजीने कहा—अखिल संशयरूपी कुहरेके लिए शरत्कालके वायुरूप हे महामुने, सङ्ग किसे कहते हैं? हे प्रभो, यह मुझसे कहिये ॥ ८३ ॥

महाराज विसिष्ठजीने कहा—भद्र, इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति तथा अप्राप्ति होनेपर हर्ष और विषादरूप विकार उत्पन्न करनेवाली मलिन जो यह रागादि वासना है, वही सङ्ग है, ऐसा मुनि कहते हैं ॥ ८४ ॥

जीवन्मुक्त स्वरूपवाले तत्त्ववेत्ताओंको पुनर्जन्म न देनेवाली हर्ष एवं विषाद दोनोंसे निर्मुक्त शुद्ध वासना होती है ॥ ८५ ॥

रामभद्र, उस शुद्ध वासनाका दूसरा नाम असङ्ग है, इसे आप जानिये। वह तब तक रहती है, जबतक अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मोंका विनाश नहीं हो जाता। उस वासनासे जो कुछ किया जाता है, वह पुनःसंसारका कारण नहीं होता ॥८६॥

जो जीवन्मुक्त स्वरूपसे सम्पन्न नहीं हैं, अतएव जो दीन एवं मूढमति हैं, उनकी वासना हर्ष तथा विषाद—इन दोनोंसे मिली हुई रहती है, यह वासना बन्ध (संसार) देनेवाली होती है ॥ ८७ ॥

श्रीरामजी, इसी बन्धकारक वासनाका दूसरा नाम सङ्ग है, यह पुनर्जन्म

एवंरूपं परित्यज्य सङ्गं स्वात्मविकारदम् ।
यदि तिष्ठसि निर्व्यग्रः कुर्वन्नपि न लिप्यसे ॥ ८९ ॥
हर्षामर्षविषादाभ्यां यदि गच्छसि नाऽन्यताम् ।
वीतरागभयक्रोधस्तदसङ्गोऽसि राघव ॥ ९० ॥
दुःखैर्न ग्लानिमायासि यदि हृष्यसि नो सुखैः ।
आशावैवश्यमुत्सृज्य तदसङ्गोऽसि राघव ॥ ९१ ॥
विहरन्व्यवहारेषु सुखदुःखदशासु च ।
न विमुञ्चसि सत्साम्यं तदसङ्गोऽसि राघव ॥ ९२ ॥
संवेद्यो यदि चैवाऽऽत्मा वेदिते लक्ष्यते समः ।
यथाप्राप्तानुवर्ती च तदसङ्गोऽसि राघव ॥ ९३ ॥
असङ्गतामनायासाज्जीवन्मुक्तस्थितिं स्थिराम् ।
अवलम्ब्य समः स्वस्थो वीतरागो भवाऽनघ ॥ ९४ ॥

प्रदान करती है, इस वासनासे जो कुछ किया जाता है, वह केवल बन्धनका ही हेतु होता है ॥ ८८ ॥

श्रीरामजी, अपनी आत्मामें विकार पैदा करनेवाले उक्त स्वरूपके सङ्गका त्यागकर यदि आप स्वस्थ होकर स्थित रहें, तो व्यवहार निरत होते हुए भी आप उससे लिप्त नहीं होंगे ॥ ८९ ॥

हे राघव, यदि हर्ष, अमर्ष एवं विषादसे आप अन्यरूपता प्राप्त नहीं करेंगे, तो राग, भय और क्रोधसे वर्जित होकर असङ्गरूप हो जायेंगे, यह निश्चित है ॥ ९० ॥

हे राघव, यदि दुःखोंसे ग्लानि नहीं करते, सुखोंसे फूल नहीं जाते, तो आशाओंकी परवशताका परित्याग कर असङ्ग ही हो जायँगे ॥ ९१ ॥

व्यवहारों एवं सुख-दुःखकी अवस्थाओंमें विचरण करते हुए भी आप यदि ब्रह्मैकरसता छोड़ते नहीं, तो आप असङ्ग ही हैं ॥ ९२ ॥

हे राघव, संवेद्य पदार्थ चित्तस्वभाव ही है, ज्ञान होनेपर वह यदि आपको एकरूप लक्षित होता है और यदि आप जिस समय जैसा व्यवहार प्राप्त हुआ, तदनुसार वर्तन करते हैं, तो आप असङ्ग हैं ॥ ९३ ॥

हे अनघ, असङ्गता ही बिना परिश्रमसे सिद्ध हुई सुदृढ जीवन्मुक्तकी

जीवन्मुक्तमतिर्मौनी निगृहीतेन्द्रियग्रहः ।
अमानमदमात्सर्यमार्यस्तिष्ठति विज्वरम् ॥ ९५ ॥
सदा समग्रेऽपि हि वस्तुजाले
समाशयोऽप्यन्तरदीनसत्वः ।
व्यापारमात्रात्सहजात्क्रमस्था-
न्न किञ्चिदप्यन्यदसौ करोति ॥ ९६ ॥
यदेव किञ्चित्प्रकृतं क्रमस्थं
कर्तव्यमात्मीयमसौ तदेव ।
संसर्गसम्बन्धविहीनयैव
कुर्वन्नखेदं रमते धियाऽन्तः ॥ ९७ ॥
अथाऽऽपदं प्राप्य सुसम्पदं वा
महामतिः स्वप्रकृतं स्वभावम् ।
जहाति नो मन्दरवेल्लितोऽपि
शौक्ल्यं यथा क्षीरमयाम्बुराशिः ॥ ९८ ॥

अवस्था है, अतः उसका अवलम्बन कर आप एकरूप, स्वस्थ और वीतराग हो जाइए ॥ ९४ ॥

जीवन्मुक्तोंके ज्ञानसे सम्पन्न, मौनव्रतधारी और इन्द्रियरूपी पाशोंको वशमें रखनेवाला ज्ञानवान् आर्य पुरुष मान, मद और मात्सर्य से रहित तथा चिन्ताज्वरसे शून्य होकर स्थित रहता है ॥ ९५ ॥

श्रीरामजी, भोग, विक्षेप आदिके हेतुभूत प्रचुरतर पदार्थोंके सदा रहते हुए भी सबमें समान भाव रखनेवाला तथा बाहर एवं भीतर इच्छा एवं याञ्चा आदि दीनतासे शून्य अन्तःकरणवाला यह महात्मा एकमात्र अपने वर्णाश्रमोचित स्वाभाविक क्रम-प्राप्त व्यापारसे पृथक् दूसरा कुछ भी व्यापार नहीं करता ॥ ९६ ॥

जो कुछ भी वर्णाश्रमानुसार परम्परा-प्राप्त अपना कर्तव्य रहता है, यह ज्ञानी उसीका क्रियाभिनिवेश और फलाभिलाषासे वर्जित बुद्धिसे खेद छोड़कर अनुष्ठान करता हुआ अपनी आत्मामें रमण करता है ॥ ९७ ॥

जिस प्रकार मन्दराचल पर्वतसे मथित क्षीरप्रचुर वारिसमुद्र अपना स्वाभाविक शुक्लपन नहीं छोड़ता, उस प्रकार आपत्ति पाकर अथवा उत्तम सम्पत्ति पाकर

सम्प्राप्य साम्राज्यमथाऽऽपदं वा
सरीसृपत्वं सुरनाथतां वा ।
तिष्ठत्यखेदोदयमस्तहर्षं
क्षयोदयेष्विन्दुरिवैकरूपः ॥ ९९ ॥
निरस्तसंरम्भमपास्तभेदं
प्रशान्तनानाफलवल्गुवेषम् ।
विचारयाऽऽत्मानमदीनसत्वो
यथा भवस्युत्तमकार्यनिष्ठः १०० ॥
तयोदितप्रसरविलासशुद्धया
गतज्वरं पदमवलम्बयाऽलम् ।

महामति तत्त्वज्ञ अपना पूर्वसिद्ध शम, दम, प्रसन्नता, समदर्शन आदि स्वभाव नहीं छोड़ता ॥ ९८ ॥

जैसे चन्द्रमा कलाओंकी वृद्धि और कलाओंके ह्रास या उदय एवं अस्तमय कालमें एकरूप रहता है, वैसे ही ज्ञानी साम्राज्य और दरिद्रता आदि आपत्ति तथा सर्पादियोनि अथवा देवताओंकी स्वामिता प्राप्तकर खेदशून्य तथा हर्षशून्य होकर एक रूपसे स्थित रहता है ॥ ९९ ॥

बतलाये गये लक्षणोंसे युक्त जीवन्मुक्तिरूपी सुखकी प्राप्तिमें राग, द्वेष और भेदवासनाके विनाश तथा ज्ञानके अभ्याससे युक्त आत्मविचार ही उपाय है, इसलिए उसीका श्रीरामचन्द्रजीको उपदेश दे रहे महर्षि वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं—'निरस्त०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, मनमें दीनताका त्यागकर आप क्रोधके, आत्मा और अनात्माके भेदके तथा नानाफलक तुच्छस्वरूप कर्मोंके त्यागपूर्वक आत्माका विचार कीजिए, जिस विचारसे उत्तम कार्यनिष्ठ हो जायँ यानी अवश्य सम्पादन करनेके लिए योग्य अन्तिम पुरुषार्थमें स्थित हो जायँ ॥ १०० ॥

श्रीरामजी, उक्त आत्म-विचारके द्वारा प्राप्त समाधिके विलाससे समस्त वासनाओंका विनाश हो जानेसे अतिस्वच्छ, समाधिगत आत्मतत्त्वरूप अवश्यद्रष्टव्य पदार्थसे युक्त तथा अविद्या और अविद्याकार्यके विनाशमें समर्थ होनेके कारण दीप्त बुद्धिसे

धियेद्धया पुनरिह जन्मबन्धनै-
नैबध्यसे समधिगतात्मदृश्यया ॥ १०१ ॥

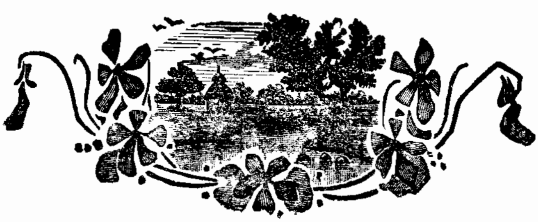
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उपशमप्रकरणे समदर्शनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

उपशमप्रकरणं सम्पूर्णम् ।

दुःखवर्जित निरतिशयात्मक सुख-स्वरूप परमपदका अवलम्बन कर आप अवस्थित हो जाइए। परम पदका अवलम्बन करनेसे पुनरावृत्तिकी शङ्का नहीं जाती रह, ऐसा कहते हैं—'पुनरिह' से। भद्र, आप फिर इस संसारमें जन्मोंके बन्धनोंसे बद्ध न होंगे। इससे एकमात्र तत्त्वसाक्षात्कारसे ही अविद्या और उसके कार्यरूप समस्त अनर्थोंके उपशमके अनन्तर नित्य निरतिशयानन्दस्वरूपमें प्रतिष्ठा होती है, यह सिद्ध हुआ ॥ १०१ ॥

तिरानबे सर्ग समाप्त

इति श्रीमूलशङ्करशास्त्रिव्यासविरचितयोगवासिष्ठ-
हिन्दीभाषानुवादमें उपशमप्रकरण समाप्त ।



श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस सिटी ।